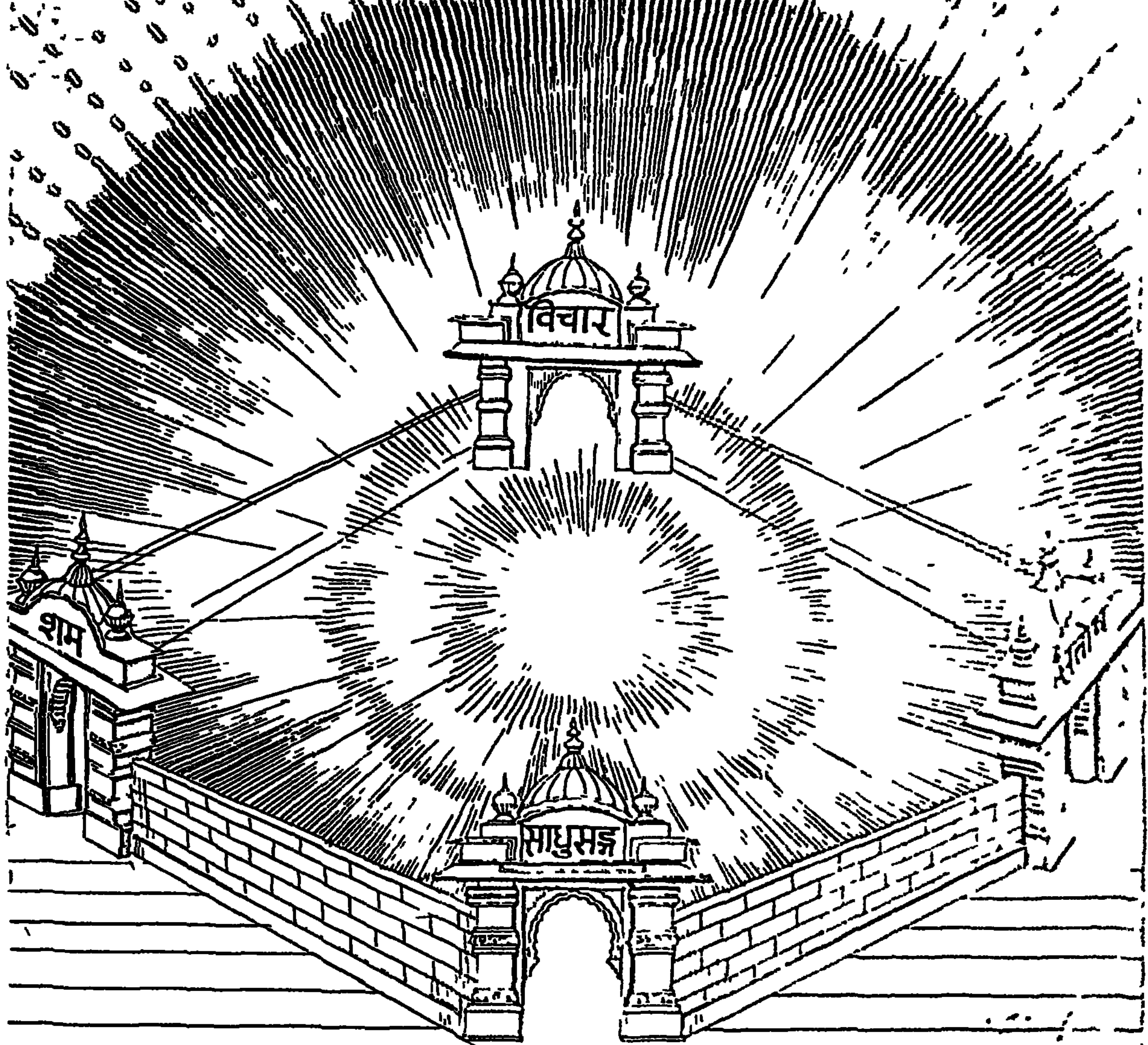
कल्याण



वर्ष ३५ **संक्षिप्त योगवासिष्ठ-अङ्क** संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश, जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरी-शंकर सीता-राम ॥
जय रघुनन्दन जय सिया-राम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

सं० २०५० द्वितीय संस्करण ५,०००

मूल्य—पैंसठ रुपये

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें ।

कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते ।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें ।

कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है ।

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशि

॥ श्रीहरिः ॥

संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क



श्रीराम तीर्थयात्राके लिये पिता दशरथसे आज्ञा माँग रहे है (वैराग्य-प्रकरण, सर्ग ३) (पृष्ठ-संख्या १)



दशरथकी सभामें दिव्य महर्षियोंका अवतरण (वैराग्य-प्रकरण, सर्ग ३३) (पृष्ठ-संख्या १८)



लीलापर देवी सरस्वतीकी कृपा (उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १५) (पृष्ठ-संख्या ९६)



ब्रह्माजी और बालक वसिष्ठमें बातचीत (मुमुक्षु-प्रकरण, सर्ग १०) (पृष्ठ-संख्या १४४)



ब्रह्माका राजहंसोंपर दस ब्रह्माओंको देखना (उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ८५) (पृष्ठ-सख्या ३०४)



प्रह्लादके द्वारा भगवान् विष्णुकी पूजा (उपशम-प्रकरण, सर्ग ३२) (पृष्ठ-संख्या ३८४)



संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्ककी विषय-सूची

मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण

उत्पत्ति-प्रकरण

स्थिति-प्रकरण

उपशम-प्रकरण

निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध

निर्वाण-प्रकरण (उत्तरार्ध)

चित्र-सूची

सादे

रेखा-चित्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादा



यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते स

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर माघ २०१७, जनवरी १९६

महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्म ॥
—सुतीक्ष्ण (नि० प्र० उ० २१६ । २६)

भगवान्

आद्यन्तवर्जितवि
सम्पीडचि
स्वस्थो
लीलास्थि
—

योगवासिष्ठमें भगवान् श्रीरामके स्वरूप तथा माहात्म्यका प्रतिपादन

महर्षि वसिष्ठकी प्रेरणासे दशरथके दरबारमें समस्त ऋषि मुनियों-महानुभावोंको सम्बोधन करके महर्षि विश्वामित्र भगवान् श्रीरामके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

अत्रैव कुरु विश्वासमयं स पुरुषः परः।
विश्वार्थमथिताम्भोधिर्गम्भीरागमगोचरः ॥
परिपूर्णपरानन्दः समः श्रीवत्सलाञ्छनः।
सर्वेषां प्राणिनां रामः प्रदाता सुप्रसादितः ॥
अयं निहन्ति कुपितः सृजत्ययमसत्सकान्।
विश्वादिर्विश्वजनको धाता भर्ता महासखः ॥

(नि० प्र० पूर्वार्ध १२८ । ८१—८३)

सज्जनो ! आप सब लोग यह विश्वास कीजिये कि ये श्रीरामचन्द्रजी ही परम पुरुष परमात्मा हैं। इन्होंने ही विश्वहितके लिये विष्णुरूपसे क्षीरसागरका मन्थन किया था। गम्भीर रहस्यसे भरे उपनिषदादि शास्त्रोंके तत्त्वगोचर साक्षात् परब्रह्म ये ही हैं। परिपूर्ण परमानन्द, सम-स्वरूप, श्रीवत्सके चिह्नसे सुशोभित भगवान् श्रीरामचन्द्र जब भलीभाँति प्रसन्न हो जाते हैं, तब अपनी कृपासे सम्पूर्ण प्राणियोंको मोक्ष प्रदान कर देते हैं। यही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कुपित होकर रुद्र-रूपसे जगत्‌का संहार करते हैं, यही ब्रह्मारूपसे इस विनाशी जगत्‌का सृजन करते हैं। यही विश्वके आदि, विश्वके उत्पादक, विश्वके धाता, पालनकर्ता और महान् सखा भी हैं।

अयं त्रयीमयो देवस्त्रैगुण्यगहनातिगः।
जयत्यङ्गैरयं षड्भिर्वेदात्मा पुरुषोऽद्भुतः ॥
अयं चतुर्बाहुरयं विश्वस्रष्टा चतुर्मुखः।
अयमेव महादेवः संहर्ता च त्रिलोचनः ॥
अजोऽयं जायते योगाज्जागरूकः सदा महान्।
बिभर्ति भगवानेतद्विरूपो विश्वरूपवान् ॥

(नि० प्र० पूर्वार्ध १२८ । ८६—८८)

यही भगवान् श्रीराम ऋक्-यजु-सामवेदमय हैं, तीनों गुणोंसे अतीत अतिगहन यही हैं और छः अङ्गोंसे युक्त वेदात्मा अद्‌भुत पुरुष भी यही हैं। विश्वका पालन करनेवाले चतुर्भुज विष्णु यही हैं, विश्वके स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और समस्त विश्वका संहार करनेवाले त्रिलोचन भगवान् महादेव भी यही हैं। ये अजन्मा रहते हुए ही अपनी योग-माया—लीलासे अवतार लेते हैं, ये सर्वदा सबसे महान् हैं, ये सदा जागते रहते हैं, त्रिगुणात्मकरूपसे रहित हुए भी ये विश्वरूपवान् हैं। यही भगवान् इस विश्वको अपने संकल्पसे धारण करते हैं।

अयं दशरथो धन्यः सुतो यस्य परः पुमान्।
धन्यः स दशकण्ठोऽपि चिन्त्यश्चित्तेन योऽमुना ॥
राम इत्यवतीर्णोऽयमर्णवान्तःशयः पुमान्।
चिदानन्दघनो रामः परमात्मायमव्ययः ॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामा रामं जानन्ति योगिनः।
वयं त्ववरमेवास्य रूपं रूपयितुं क्षमाः ॥

(निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध १२८ । ९०, ९२, ९३)

ये महाराज दशरथ धन्य हैं, जिनके पुत्र परमपुरुष परमात्मा स्वयं हुए। यह दशकण्ठ रावण भी धन्य है, जिसका ये भगवान् अपने चित्तसे चिन्तन करेंगे। क्षीरसागरमें शयन करनेवाले श्रीविष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतीर्ण हैं। ये श्रीराम साक्षात् सच्चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं। मन इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये हुए योगीजन ही इन श्रीरामजीको यथार्थरूपमें जानते हैं। हमलोग तो इनके बाहरी स्वरूपके निरूपणकी ही क्षमता रखते हैं।

इसके पहले महर्षि विश्वामित्रजीने भगवान् श्रीरामकी भावी लीलाओंका वर्णन करते हुए समस्त ऋषि-मुनि, सिद्ध-देवताओंसे यहाँतक कह दिया था—

यैर्दृष्टो यैः स्मृतो वापि यैः श्रुतो बोधितस्तु यैः।
सर्वावस्थागतानां तु जीवन्मुक्तिं प्रदास्यति ॥

× × ×

अनेन रामचन्द्रेण पुरुषेण महात्मना।
नमोऽस्मै जितमेवैते कोऽप्येवं चिरमेधताम् ॥

(निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध १२८ । ७४-७६)

जो लोग भगवान् श्रीरामका दर्शन करेंगे, उनके लीला-चरित्रका स्मरण या श्रवण करेंगे और जो लोग इनके स्वरूप तथा लीलाचरित्रोंका परस्पर बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओंमें स्थित पुरुषोंको भगवान् श्रीराम जीवन्मुक्ति प्रदान करेंगे।

× × ×

सज्जनो ! आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार कीजिये। इनके नमस्कारसे ही आपलोग अनायास ही समस्त अज्ञानजनित जगत्‌पर विजय प्राप्त करेंगे। किसी भी दूसरे साधनकी आवश्यकता नहीं होगी। आपलोग चिर-कालतक प्रगति करें !

कल्याण

याद रक्खो—मैं, तुम, यह, वह, सृष्टि, संहार आदि रूपसे जो दृश्यप्रपञ्च दिखायी दे रहा है, वह एकमात्र अद्वितीय नित्य निर्मल शान्त चिन्मय ब्रह्मकी ही अभिव्यक्ति है। इन समस्त सत्-रूपसे दीखनेवाले असत् पदार्थोंमें एकमात्र सत् परमात्मा ही प्रकट है। वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है। उसके अतिरिक्त जगत् नामकी कोई सत् वस्तु कभी न थी, न है।

याद रक्खो—आकाशकी शून्यता आकाश ही है, जलकी द्रवता जल ही है, प्रकाशकी आभा प्रकाश ही है, वायुका स्पन्दन वायु ही है, समुद्रकी तरङ्गें समुद्र ही हैं, बर्फकी शीतलता बर्फ ही है, काजलकी कालिमा काजल ही है—ठीक वैसे ही जैसे ब्रह्ममें दीखनेवाला यह समस्त जगत् भी ब्रह्म ही है।

याद रक्खो—जैसे स्वप्नमें दीखनेवाले दृश्य, बालकको दीखनेवाला वेताल, रज्जुमें दीखनेवाला सर्प, स्वर्णमें दीखनेवाले कड़े-बाजूबंद, प्रशान्त महासागरमें उठनेवाली तरङ्गें और आवर्त, मिट्टीमें दीखनेवाले घड़े-सिकोरे और आकाशमें दीखनेवाले नगर-घर आदि सब उपाधिमात्र हैं, भ्रममात्र हैं। वैसे ही ब्रह्ममें दीखनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् भ्रममात्र है। वस्तुतः उसकी कोई भिन्न सत्ता है ही नहीं।

याद रक्खो—यह समस्त जगत् वस्तुतः भ्रान्तिसे ही जगद्रूप दीखता है। यथार्थ तत्त्वका ज्ञान होनेपर यह जगद्भ्रम वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे रस्सीका ज्ञान होनेपर सर्पकी भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। अथवा आकार तथा नामकी व्यावहारिक विभिन्नता प्रतीत होते हुए भी जैसे स्वर्णका ज्ञान होनेपर स्वर्ण-भूषणोंके नाम-रूपके कारण होनेवाली विभिन्नता तथा भिन्नरूपता नष्ट हो जाती है—एकमात्र स्वर्ण ही दीखने लगता है, वैसे ही ब्रह्मका ज्ञान होनेपर विभिन्न नामरूपात्मक यह विशाल विश्व ब्रह्मरूप ही दीखने लगता है, कहीं भी कोई भिन्न सत्ता रहती ही नहीं। वास्तवमें तो सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

याद रक्खो—यह समस्त दृश्य जगत् तथा इसमें होनेवाली सभी क्रियाएँ चिदानन्दघन ब्रह्मका ही संकल्प हैं। वह संकल्प भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है, क्योंकि जगत्रूपी कार्य सर्वथा असत् ही है। नित्य सत्य ब्रह्मसे अनित्य असत् जगत्की उत्पत्ति, नित्य निरतिशय दिव्य परमानन्दघन परमात्मासे दुःखपूर्ण जगत्की उत्पत्ति, प्रकाशमय परब्रह्मसे तमोमय जगत्की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं। अतएव ब्रह्म तथा जगत्में कारण-कार्यभाव नहीं है, ब्रह्म ही जगत्रूपमें भासित हो रहा है। उस चिदाकाशमें ही चिदाकाशसे यह सब खेल हो रहे हैं। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

याद रक्खो—जब एक ब्रह्मके अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं रह जाती, तब भिन्न अहंकार कहाँ रहेगा और अहंकारका अभाव होते ही राग-द्वेष, ममता-मोह, मेरा-तेरा आदि सब मिथ्या विकार मिट जाते हैं जैसे स्वप्नसे जागते ही स्वप्नका सारा संसार सर्वथा मिट जाता है। फिर जगत्में रहता हुआ भी इस ज्ञानको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष नित्य निरन्तर ब्रह्ममें ही स्थित रहता है। वह जगत्के आदि, मध्य, अन्त सभी अवस्थाओंमें समचित्त रहता है; क्योंकि तब उसका चित्त ही नहीं रह जाता। अतएव वह न तो प्राप्त हुई प्रिय कहलानेवाली वस्तुका अभिनन्दन करता है, न अप्रियसे द्वेष करता है, न नष्ट हुई प्रिय वस्तुके लिये शोक करता है और न अप्राप्त वस्तुकी इच्छा ही करता है।

याद रक्खो—ऐसा परमतत्त्वको प्राप्त—परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष जगत्की क्षणभंगुर अवस्थाको अपनी प्रशान्त ब्राह्मी स्थितिके अंदर हँसता हुआ देखता है। उसके लिये न कुछ पाना शेष रह जाता है, न कुछ करना रह जाता है। वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मस्वरूप ही बन जाता है यही योगवासिष्ठकी शिक्षा है।

'शिव'

एकश्लोकी योगवासिष्ठ

(लेखक—तत्त्वचिन्तक स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी वेंकटाचार्यजी महाराज)

एक बार भगवान् रामने महर्षि वसिष्ठसे पूछा कि सार्थक एवं सफल जीवनवाले मानवकी पहचान क्या है ? इसके उत्तरमें रघुकुलगुरु ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मर्षि वसिष्ठने जो अल्पाक्षरा किंतु अर्थबहुला, एकश्लोकी वाणी, जिसमें 'बीजे वृक्षमिव' सारा 'योगवासिष्ठ' भरा हुआ है, समुच्चारित की थी, वह सचमुच गागरमें सागरकी तरह योगवासिष्ठका समग्र उपादेय तत्त्व निचोड़कर एक श्लोकमें भर देती है। महर्षि-प्रवरकी अर्थ-भारवती वह वाणी इस प्रकार है—

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति॥

(योगवासिष्ठ)

महर्षि वसिष्ठका अनुभूत कथन है कि जीवनतत्त्व, (प्राणशक्ति) जिसे 'वैशेषिकदर्शन' ने 'सञ्ज्ञाकर्म त्वस्मद्-विशिष्टाना लिङ्गम्' इस सूत्रद्वारा 'अध्यात्म वायु' और साख्यने 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' कहकर 'अन्तः-करण-क्रिया' की सज्ञा दी है, मानव, पशु-पक्षी आदि सबमें साधारणतया समान है। किंतु मनुष्यको मृगादि पशु-पक्षियोंसे विभक्तकर उच्चश्रेणीमें समासीन करनेवाली मनन-शक्ति ही है, जिसके विकसित होनेपर ही प्राणी 'मानव' कहला सकता है। महर्षि यास्कने भी निरुक्तमें 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति इति मनुष्यः' कहकर वासिष्ठी उक्तिका समर्थन किया है।

वेदके मतमें जीवनका अर्थ है—प्राण। यह प्राणिमात्रमें सामान्य है। केवल इसीका विकास जबतक मानवमें है, तबतक मानव जन्तु ही है। सस्कृत भाषाने 'मानव और माणव' के भेदको व्यक्त करते हुए कहा है कि केवल प्राण-शक्तिका विकास-स्थल 'माणव' (जन्तु-विशेष) और प्राणशक्ति तथा मनन शक्ति दोनोका विकासकेन्द्र मानव है। मानवको द्विपाटी जन्तुविशेषकी हीन कक्षासे निकालकर मानवताकी उच्चश्रेणीमें पहुँचानेवाली तो मननशक्ति ही है। वेदने भी मननशक्तिको ही 'मानवता' माना है। अतः 'योगवासिष्ठ' के मतसे मानवता-पालनपूर्वक जीवन-यापन करनेवाला ही मानव है। इसी विशिष्ट उपदेशको आत्मसात् करानेके उच्च उद्देश्यसे समग्र 'योगवासिष्ठ' प्रवृत्त हुआ है। प्रस्तुत विशिष्ट उपदेशको विश्वहितके लिये प्रसारित करनेके कारण ही ग्रन्थका नाम 'वासिष्ठ' रखा गया है। वैदिक भाषामें विशिष्टका बोधक वसिष्ठ शब्द है।

वासिष्ठ-बोध-सार

जग कहते हो जिसे जगमग ब्रह्म ही है,
जन्मका जगत्के न कारण है क्रम है।
चित्से अचित्के विकासकी हो आस किसे,
होता कहीं प्रकट प्रकाशसे भी तम है ?
कैसे बना, किसने बनाया, किससे है बना—
यह सब जाननेका व्यर्थ सभी श्रम है।
मिथ्या कल्पनाका एक नूतन निकेतन है,
चेतन आकाशमें अचेतनका भ्रम है॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

योगवासिष्ठकी श्रेष्ठता और समीचीनता

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

योगवासिष्ठके अध्येता तथा मननकर्ताओंसे यह बात छिपी नहीं है कि यह ग्रन्थ भारत ही नहीं, विश्वसाहित्यमें ज्ञानात्मक, सूक्ष्मविचार-तत्त्वनिरूपक तथा श्रेष्ठ सदुक्तिपूर्ण ग्रन्थोंमें सर्व-श्रेष्ठ है। यह महारामायण, वासिष्ठरामायण आदि नामोंसे भी विख्यात है। स्वयं भगवान् वसिष्ठने ही कहा है कि 'संसार-सर्पके विषसे विकल तथा विषयविषूचिकासे पीड़ित मृतप्राय प्राणियोंके लिये योगवासिष्ठ परम पवित्र अमोघ गारुड़-मन्त्र है। इसे सुन लेनेपर जीवन्मुक्ति सुखका अनुभव होता है।'* स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे कि 'योगवासिष्ठ मेरे लिये सर्वाधिक आश्चर्य एवं चमत्कारपूर्ण ग्रन्थ है।'† डा० भगवानदासने 'मिस्टिक एक्सपिरियन्सेज' पुस्तककी प्रस्तावनामें लिखा है 'योगवासिष्ठ सिद्धावस्थाका ग्रन्थ है। इसके विचार, दर्शन, रहस्य, निरूपण-प्रणाली, भाषा, अलंकार—सब एक-से-एक आश्चर्यकर हैं।' लाला बैजनाथजीने इसके हिंदी-भाषान्तरकी भूमिकामें लिखा था कि 'वेदान्त-ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठकी कोटिका कोई भी ग्रन्थ नहीं है' (भाग २ की भूमिका)। पिछले दिनों स्वामी भूमानन्दजी (जगद्गुरु आश्रम चटगाँव, बंगाल) डा० भीखनलालजी आत्रेय, श्रीक्षितीशचन्द्रजी चक्रवर्ती आदि महान् विद्वानोंने इसकी बड़ी प्रशंसा की तथा इसपर पर्याप्त मनन-अनुसंधान कर स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी हैं।

तथापि आजके जगत्में कुछ ऐसे मतवादी भी हैं, जिनकी योगवासिष्ठके विरुद्ध स्वाभाविक उपेक्षा है। वे लोग कहते हैं कि योगवासिष्ठ १७ वीं शतीकी रचना है। कई लोगोंका मत है कि यह स्वामी विद्यारण्यजीकी कृति है। कुछ भावुक वैष्णवों-का कथन है कि इसमें श्रीरामचन्द्रको शोकविकल दिखलाया गया है, शिष्यरूपमें दिखलाया गया है, इसमें भक्तिकी महिमा नहीं है अतः सर्वथा उपेक्षणीय है। जे० एन० फर्क्यूहरका मत था कि 'योगवासिष्ठ ईसाकी १३वीं तथा १४वीं शतीके बीचमें लिखा गया था।'(Religious Lectures of India pp 228) प्रोफेसर शिवप्रसाद भट्टाचार्यका मत है कि यह १० से १२ वीं शतीके मध्यकी कृति है (The Proceedings of the Madras Oriental Conference P 545)। जर्मन विद्वान् डा० विंटर्नीजके मतानुसार 'यह शंकराचार्यके अनुयायियोंकी कृति है और ७से ८ शतीतककी रचना है‡।' डा० भीखनलाल आत्रेय इसे ईसाकी ६ ठी शतीकी रचना मानते हैं। उनका कथन है कि भर्तृहरिके वाक्यपदीयमें तथा योगवासिष्ठमें कुछ समान पद हैं। इनमें योगवासिष्ठ ही पुराना हो सकता है। अतः योगवासिष्ठ कालिदासके बाद और भर्तृहरिके पहलेकी रचना है, इसलिये लगभग ६ ठी शतीमें ही इसको रखना युक्तिसंगत होगा।§

शङ्काओंका समुचित समाधान

वस्तुतः ये सब शङ्काएँ आलस्य (योगवासिष्ठको तथा अन्य ग्रन्थोंको देखनेका कष्ट न करने) प्रमाद, मानसिक मतभेद तथा पाश्चात्त्योंके प्रभावके कारण ही हैं। ये सब कथन एक प्रकारसे अयुक्तिपूर्णमात्र भी हैं। जो लोग कहते हैं कि योग-वासिष्ठ १७वीं शतीकी रचना है, उन्हें देखना चाहिये कि १७वीं शतीके आस-पासकी आनन्दबोधेन्द्र सरस्वतीकी वासिष्ठरामायण-तात्पर्य-प्रकाश नामकी टीका है[1]। इसीके आसपासकी अन्य-यारण्य, आत्मसुख, आनन्दवर्धन, गङ्गाधरेन्द्र, माधव-सरस्वती तथा सदानन्द यतिकी टीकाएँ हैं। १६ वीं शतीके आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तविन्दु, अद्वैतरत्न-

---

* (क) दुस्सहा राम संसारविषावेशविषूचिका ।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेन प्रशाम्यति ॥
(? । १? । १०)

(ख) जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते ।
स्वयमेव यथा पीते नीरोगत्वं वरौषधे ॥
(३ । ८ । २५)

† One of the greatest books and the most wonderful according to me ever written under the sun is 'Yoga Vasistha'
(In the Woods of God-Realisation, Delhi edition, Vol- III, p 295)

‡ As Shankara does not mention the work, it is probably written by one of his contemporaries. (Geschichte der Indischen Literature- Vol. III, pp 44'

§ Hence we may place it after Kalidas and before Bhartrihari, is somewhere in the 6 th century A.D. (Vasistha Darshanam, the Probable Date of Composition of Yoga Vasistha, p 18)

१ ऋतुरसतुरगमही(१७६६)शकविकारिद्युमवत्सरस्य शिशिरर्तौ,
(तात्पर्यप्रकाशोपसंहार)

२. यह टीका १४ वीं शतीकी होनी चाहिये, क्योंकि इनकी 'रामार्चनचन्द्रिका'का उल्लेख 'निर्णयसिन्धु'आदिमें बार-बार हुआ है।

एकश्लोकी योगवासिष्ठ

(लेखक—तत्त्वचिन्तक स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी वेंकटाचार्यजी महाराज)

एक बार भगवान् रामने महर्षि वसिष्ठसे पूछा कि सार्थक एवं सफल जीवनवाले मानवकी पहचान क्या है ? इसके उत्तरमें रघुकुलगुरु ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मर्षि वसिष्ठने जो अल्पाक्षरा किंतु अर्थबहुला, एकश्लोकी वाणी, जिसमें 'बीजे वृक्षमिव' सारा 'योगवासिष्ठ' भरा हुआ है, समुच्चारित की थी, वह सचमुच गागरमें सागरकी तरह योगवासिष्ठका समग्र उपादेय तत्त्व निचोड़कर एक श्लोकमें भर देती है। महर्षि-प्रवरकी अर्थ-भारवती वह वाणी इस प्रकार है—

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥
(योगवासिष्ठ)

महर्षि वसिष्ठका अनुभूत कथन है कि जीवनतत्त्व, (प्राणशक्ति) जिसे 'वैशेषिकदर्शन' ने 'सञ्ज्ञाकर्म त्वस्मद्-विशिष्टाना लिङ्गम्' इस सूत्रद्वारा 'अध्यात्म वायु' और साख्यने 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' कहकर 'अन्तः-करण-क्रिया' की सज्ञा दी है, मानव, पशु-पक्षी आदि सबमें साधारणतया समान है। किंतु मनुष्यको मृगादि पशु-पक्षियोंसे विभक्तकर उच्चश्रेणीमें समासीन करनेवाली मनन-शक्ति ही है, जिसके विकसित होनेपर ही प्राणी 'मानव' कहला सकता है। महर्षि यास्कने भी निरुक्तमें 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति इति मनुष्यः' कहकर वासिष्ठी उक्तिका समर्थन किया है।

वेदके मतमें जीवनका अर्थ है—प्राण। यह प्राणिमात्रमे सामान्य है। केवल इसीका विकास जबतक मानवमें है, तबतक मानव जन्तु ही है। सस्कृत भाषाने 'मानव और माणव' के भेदको व्यक्त करते हुए कहा है कि केवल प्राण-शक्तिका विकास-स्थल 'माणव' (जन्तु-विशेष) और प्राणशक्ति तथा मनन-शक्ति दोनोंका विकासकेन्द्र मानव है। मानवको द्विपादी जन्तुविशेषकी हीन कक्षासे निकालकर मानवताकी उच्चश्रेणीमें पहुँचानेवाली तो मननशक्ति ही है। वेदने भी मननशक्तिको ही 'मानवता' माना है। अतः 'योगवासिष्ठ' के मतसे मानवता-पालनपूर्वक जीवन-यापन करनेवाला ही मानव है। इसी विशिष्ट उपदेशको आत्मसात् करानेके उच्च उद्देश्यसे समग्र 'योगवासिष्ठ' प्रवृत्त हुआ है। प्रस्तुत विशिष्ट उपदेशको विश्वहितके लिये प्रसारित करनेके कारण ही ग्रन्थका नाम 'वासिष्ठ' रखा गया है। वैदिक भाषामें विशिष्टका बोधक वसिष्ठ शब्द है।

वासिष्ठ-बोध-सार

जग कहते हो जिसे जगमग ब्रह्म ही है,
जन्मका जगत्के न कारण है क्रम है।
चित्से अचित्के विकासकी हो आस किसे,
होता कहीं प्रकट प्रकाशसे भी तम है ?
कैसे बना, किसने बनाया, किससे है बना—
यह सब जाननेका व्यर्थ सभी श्रम है।
मिथ्या कल्पनाका एक नूतन निकेतन है,
चेतन आकाशमें अचेतनका भ्रम है ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

योगवासिष्ठकी श्रेष्ठता और समीचीनता

(लेखक—प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

योगवासिष्ठके अध्येता तथा मननकर्ताओंसे यह बात छिपी नहीं है कि यह ग्रन्थ भारत ही नहीं, विश्वसाहित्यमें ज्ञानात्मक, सूक्ष्मविचार-तत्त्वनिरूपक तथा श्रेष्ठ सदुक्तिपूर्ण ग्रन्थोंमें सर्वश्रेष्ठ है। यह महारामायण, वासिष्ठरामायण आदि नामोंसे भी विख्यात है। स्वय भगवान् वसिष्ठने ही कहा है कि 'ससार-सर्पके विषसे विकल तथा विषयविषूचिकासे पीड़ित मृतप्राय प्राणियोंके लिये योगवासिष्ठ परम पवित्र अमोघ गारुड़-मन्त्र है। इसे सुन लेनेपर जीवन्मुक्ति सुखका अनुभव होता है।'* स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे कि 'योगवासिष्ठ मेरे लिये सर्वाधिक आश्चर्य एवं चमत्कारपूर्ण ग्रन्थ है।'† डा० भगवानदासने 'मिस्टिक एक्सपिरियन्सेज' पुस्तककी प्रस्तावनामें लिखा है 'योगवासिष्ठ सिद्धावस्थाका ग्रन्थ है। इसके विचार, दर्शन, रहस्य, निरूपण-प्रणाली, भाषा, अलंकार—सब एक-से-एक आश्चर्यकर हैं।' लाला बैजनाथजीने इसके हिंदी-भाषान्तरकी भूमिकामें लिखा था कि 'वेदान्त-ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठकी कोटिका कोई भी ग्रन्थ नहीं है' (भाग २ की भूमिका)। पिछले दिनों स्वामी भूमानन्दजी (जगद्गुरु आश्रम चटगाँव, बगाल) डा० भीखनलालजी आत्रेय, श्रीक्षितीशचन्द्रजी चक्रवर्ती आदि महान् विद्वानोंने इसकी बड़ी प्रशसा की तथा इसपर पर्याप्त मनन-अनुसधान कर स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी हैं।

तथापि आजके जगत्में कुछ ऐसे मतवादी भी हैं, जिनकी योगवासिष्ठके विरुद्ध स्वाभाविक उपेक्षा है। वे लोग कहते हैं कि योगवासिष्ठ १७ वीं शतीकी रचना है। कई लोगोंका मत है कि यह स्वामी विद्यारण्यजीकी कृति है। कुछ भावुक वैष्णवोंका कथन है कि इसमें श्रीरामचन्द्रको शोकविकल दिखलाया गया है, शिष्यरूपमें दिखलाया गया है, इसमें भक्तिकी महिमा नहीं है अतः सर्वथा उपेक्षणीय है। जे० एन० फर्कूहरका मत था कि 'योगवासिष्ठ ईसाकी १३वीं तथा १४वीं शतीके बीचमें लिखा गया था।' (Religious Lectures of India pp 228) प्रोफेसर शिवप्रसाद भट्टाचार्यका मत है कि यह १० से १२ वीं शतीके मध्यकी कृति है (The Proceedings of the Madras Oriental Conference P 545)। जर्मन विद्वान् डा० विंटर्नीजके मतानुसार 'यह शकराचार्यके अनुयायियोंकी कृति है और ७से ८ शतीतककी रचना है‡।' डा० भीखनलाल आत्रेय इसे ईसाकी ६ ठी शतीकी रचना मानते हैं। उनका कथन है कि भर्तृहरिके वाक्यपदीयमें तथा योगवासिष्ठमें कुछ समान पद हैं। इनमें योगवासिष्ठ ही पुराना हो सकता है। अतः योगवासिष्ठ कालिदासके बाद और भर्तृहरिके पहलेकी रचना है, इसलिये लगभग ६ ठी शतीमें ही इसको रखना युक्तिसगत होगा।§

शङ्काओंका समुचित समाधान

वस्तुतः ये सब शङ्काएँ आलस्य (योगवासिष्ठको तथा अन्य ग्रन्थोंको देखनेका कष्ट न करने) प्रमाद, मानसिक मतभेद तथा पाश्चात्त्योंके प्रभावके कारण ही हैं। ये सब कथन एक प्रकारसे अयुक्तिपूर्णमात्र भी हैं। जो लोग कहते हैं कि योगवासिष्ठ १७वीं शतीकी रचना है, उन्हें देखना चाहिये कि १७वीं शतीके आस-पासकी आनन्दबोधेन्द्र सरस्वतीकी वासिष्ठरामायण-तात्पर्य-प्रकाश नामकी टीका है[१]। इसीके आसपासकी अन्त्यारण्य, आत्मसुख, आनन्दवर्धन, गङ्गाधरेन्द्र, माधव-सरस्वती तथा सदानन्द यतिकी टीकाएँ हैं। १६ वीं शतीके आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैतरत्न-

---

* (क) दुस्सहा राम ससारविषावेशविषूचिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेन प्रशाम्यति ॥
(२ । १ । १०)

(ख) जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते।
स्वयमेव यथा पीते नीरोगत्व वरौषधे ॥
(३ । ८ । २५)

† One of the greatest books and the most wonderful according to me ever written under the sun is 'Yoga Vasistha'
(In the Woods of God-Realisation, Delhi edition, Vol. III, p 295)

‡ As Shankara does not mention the work, it is probably written by one of his contemporaries. (Geschichte der Indiochen Literature-Vol. III, pp 44'

§ Hence we may place it after Kalidas and before Bhartrihari, is somewhere in the 6 th century A D. (Vasistha Darshanam, the Probable Date of Composition of Yoga Vasistha, p 18)

१. ऋतुरसतुरगमही(१७६६)शकविकारिशुभवत्सरस्य शिशिरर्तौ,
(तात्पर्यप्रकाशोपसंहार)

२. यह टीका १४ वीं शतीकी होनी चाहिये; क्योंकि इसकी 'रामार्चनचन्द्रिका'का उल्लेख 'निर्णयसिन्धु'आदिमें बार-बार हुआ है।

रक्षण, वेदान्तकल्पलतिका, संक्षेपशारीरक-व्याख्या तथा गीताकी 'गूढार्थदीपिका' व्याख्यामें—प्रायः सर्वत्र योगवासिष्ठके हजारों वचन उद्धृत किये हैं। केवल गीताके ६। ३२ तथा ३६ वें श्लोकोंकी व्याख्यामें ही इन्होंने योगवासिष्ठके पचासों श्लोकोंको उद्धृत किया है[3]। इनसे भी पूर्व चौदहवीं शताब्दीके सर्वोपरि विद्वान् वेदान्ताचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामीने अपने 'जीवन्मुक्ति-विवेक' तथा 'पञ्चदशी' ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठके श्लोकोंको बड़े आदरसे बार-बार उद्धृत किया है[4]। इनके गुरु श्रीशंकरानन्द भी 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्' (गीता १३। ४) की व्याख्यामें लिखते हैं—'वासिष्ठविष्णुपुराणादिषु ऋषिभिर्वसिष्ठपराशरादिभिर्बहुप्रकारं प्रतिपादितम्'। यहाँ वसिष्ठनिर्मित

३. (क) अत एवाह वसिष्ठः—'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।' (६। ३३। पर मधुसूदनी)

(ख) वासिष्ठरामायणादिषु तदेव तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षयश्चेति त्रयमभ्यसनीयम्। तदुक्तं वाशिष्ठे—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

(गीता ६। ३२ पर मधुसूदन)

४. परास्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानफलात्मिका।

(क) इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाब्रवीत्।
सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम्॥
ययोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेषूपलभ्यते॥
स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्।
यन्मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥

इत्यादि (पञ्चदशी १३। ४से ८वें श्लोकतक सब योगवासिष्ठके ही श्लोक हैं)

'वसिष्ठश्च तथाब्रवीत्' की व्याख्यामें रामकृष्णपण्डित लिखते हैं—'वासिष्ठाभिधे ग्रन्थे।'

(ख) वसिष्ठः—अतएव हि राम त्वं श्रेयः प्राप्नोषि शाश्वतम्।
स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नान्यथा॥

(जीवन्मुक्तिविवेक पृष्ठ ३५)

यह श्लोक योगवासिष्ठ, मुमुक्षु-व्यवहारप्रकरणका है।

सच्ची बात तो यह है कि 'जीवन्मुक्तिविवेक' योगवासिष्ठपर ही आधारित है। इसमें योगवासिष्ठको वाल्मीकिलिखित भी बतलाया है—"वासनाभेदो वाल्मीकिना दर्शितः वासिष्ठे—वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा' इत्यादि" ये सब योगवासिष्ठके ही श्लोक हैं। इसमें प्रायः आधे ग्रन्थमें योगवासिष्ठके श्लोक ही हैं।

५. नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने। (पञ्चदशी १। १)

'योगवासिष्ठ' का सुस्पष्ट उल्लेख है। इनसे भी बहुत पहलेके १२ वीं शतीके विद्वान् श्रीश्रीधर स्वामीने अपनी सुबोधिनी नामक गीता-व्याख्यामें योगवासिष्ठके श्लोकोंको कई बार उद्धृत किया है[6]। इससे भी पूर्व गौड़ अभिनन्द नामक काश्मीरी विद्वान्ने जिसका समय ९वीं शतीका मध्यकाल माना जाता है, 'योगवासिष्ठसार' नामका ग्रन्थ लिखा था। इसमें उसने प्रायः ६ सहस्र श्लोकोंमें ही द्वात्रिंशत्सहस्रात्मक (३२००० वाले) योगवासिष्ठ ग्रन्थके सारभूत श्लोकोंका संग्रह किया है। इससे सिद्ध है कि योगवासिष्ठ इससे भी बहुत पहलेका ग्रन्थ है।

श्रीशंकराचार्य और योगवासिष्ठ

जो लोग कहते हैं कि शंकराचार्यके अनुयायियोंमेंसे ही किसी एकने 'योगवासिष्ठ' बना दिया, वह भी केवल उनका अविचारित निर्णयमात्र है। जिस प्रकार शंकरानन्द, नीलकण्ठ, श्रीधरस्वामी, मधुसूदन सरस्वती आदिने गीताके १३। ४ श्लोकके 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्' की व्याख्यामें 'वसिष्ठादिभिः प्रतिपादितम्' लिखा है, उसी प्रकार शंकराचार्य भी लिखते हैं—ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्बहुधा बहुप्रकारं गीतं कथितम्। मधुसूदन सरस्वती तथा भाष्योत्कर्षदीपिकाकारने इन्हीं शब्दोंकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'वसिष्ठाभिधे योगशास्त्रे'

इतना ही नहीं, 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (१। ८) के भाष्यमें वे सुस्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं—

तथा च वासिष्ठे योगशास्त्रे प्रश्नपूर्वकं दर्शितम्—
यथाऽऽत्मा निर्गुणः शुद्धः सदानन्दोऽजरोऽमरः॥
संसृतिः कस्य तात स्यान्मोक्षो वा विधया विभो।

और लगातार दो श्लोकोंमें प्रश्न करके पुनः 'वसिष्ठः' लिखकर 'तस्यैव नित्यशुद्धस्य सदानन्दमयात्मनः' आदि योगवासिष्ठके दो श्लोकोंको उत्तररूपमें लिखते हैं। इसी प्रकार वे 'सनत्सुजातीयभाष्य' (१। १५) में भी लिखते हैं—तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

६. (क) तदुक्तं वसिष्ठेन—

प्राणे गते यथा देहः सुखदुःखे न विन्दति।
तथा चेत् प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥

(५। ३३ गीता-व्याख्या)

(ख) वसिष्ठेन चोक्तम्—'न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।' (गीता १८। ७ की व्याख्या)

(ग) ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु निरूपितम्'

(गीता १३। ४ की व्याख्या)

चतुर्वेदोऽपि यो विप्रः सूक्ष्मं ब्रह्म न विन्दति ।
वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः ॥

वे पुनः इसी ग्रन्थके इसी अध्यायके ३१ वें श्लोकके भाष्यमें लिखते हैं—तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

यत्र सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः ॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये ग्रन्थ शंकराचार्यकृत नहीं हैं, क्योंकि 'शंकरदिग्विजयकार' ने भी लिखा है—सनत्सुजातीयमसत्सु दूरं ततो नृसिंहस्य च तापनीयम् ।

स्वामी भूमानन्दजीने Influence of the Yoga-vasistha on Shankaracharya नामकी पुस्तिकामें तुलनात्मक अध्ययनद्वारा यह भी दिखलाया है कि शंकराचार्यकी विवेकचूडामणि, सारतत्त्वोपदेश, लघुवाक्यवृत्ति, प्रबोधानुभूति, प्रबोधसुधाकर आदि कृतियोंपर योगवासिष्ठके किन-किन श्लोकोंकी छाप या प्रभाव है । उदाहरणार्थ—'प्राणस्पन्दनिरोधात् सत्सङ्गाद् वासनात्यागात् । हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः ॥' इस प्रबोधसुधाकर (७७) के श्लोक पर 'अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च । वासना-सम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥ एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।' योगवासिष्ठ (५ । ९२ । ३५) इस श्लोककी छाप है । इससे सिद्ध है कि योगवासिष्ठ शंकराचार्यके समय इस समयसे कहीं अधिक निर्भ्रान्त तथा समादरणीय ग्रन्थ था । यह स्मरणार्ह है कि शंकराचार्यका समय आजसे २३ सौ वर्ष पूर्व है । देखिये 'कल्याण' वर्ष ११, अङ्क ८, 'सिद्धान्त' ७ । २७ ।

श्रीरामका तिरस्कार नहीं

कुछ वैष्णवजनोंको यह आपत्ति है कि श्रीरामका इसमें शोकाकुल होना—शोकसे पीला पड़ना बतलाया गया है, परमात्मा शोकयुक्त या शिष्य नहीं बनता । इसके उत्तरमें नम्र निवेदन है कि श्रीरामका शोक जैसा वाल्मीकि आदि रामायणोंमें सीताहरण या लक्ष्मणमूर्च्छा आदिके बाद है, वैसी तो योगवासिष्ठमें कोई बात भी नहीं है । योगवासिष्ठमें राम समारसे खिन्न होकर खाना-पीना छोड़ रहे हैं, एकान्तवास करते हैं । यह भोगोंसे वैराग्य उत्तम अधिकारीका लक्षण है । भोजन छोड़नेसे उनका पीला हो जाना स्वाभाविक है । बाल्यावस्थामें विद्याग्रहणार्थ उनके द्वारा भगवान् वसिष्ठका शिष्यत्व स्वीकार करना सभी रामायणोंमें वर्णित है, उसी बाल्यावस्थामें विश्वामित्रके यागसंरक्षणके पूर्व ही इनका योगवासिष्ठका ग्रहण, तदुचित अधिकारसम्पादन, सम्पूर्ण विश्वको एकदम चकित कर देनेवाले प्रश्न-भाषण योगवासिष्ठद्वारा मत्रपिसया रामके माहात्म्याधिक्यके प्रतिपादक तथा साधक ही हैं, बाधक नहीं ।

योगवासिष्ठमें श्रीरामका महाविष्णुत्व-निरूपण

योगवासिष्ठमें महर्षि वाल्मीकिने बार-बार श्रीरामको महाविष्णु बतलाया है । कुछ थोड़े प्रसङ्ग यहाँ उदाहरणस्वरूप उपस्थित किये जा रहे हैं—

चिदानन्दस्वरूपे हि रामे चैतन्यविग्रहे ।
(१ । १ । ५६)

शापव्याजवशादेव राजवेशधरो हरिः ।
(१ । १ । ५५)

वृन्दया शापितो विष्णुस्तेन मानुषतां गतः ।
(१ । १ । ६५)

अहं वेद्मि महात्मानं रामं राजीवलोचनम् ।
वसिष्ठश्च महातेजा ये चान्ये दीर्घदर्शिनः ॥
(१ । ७ । ११)

बालक रामके ज्ञानपूर्ण भाषण सुनकर सभी मुनि अनेकानेक लोकोंसे दौड़ पड़ते हैं और आश्चर्यचकित होकर कहने लग जाते हैं—

न रामेण समोऽस्तीह दृष्टो लोकेषु कश्चन ।
विवेकवानुदारात्मा न भावी चेति नो मतिः ॥
(योग० १ । ३३ । ४५)

अर्थात् तीनों लोकोंमें आजतक श्रीरामके समान ज्ञानी एवं उदार व्यक्ति न तो कोई हुआ और न भविष्यमें होनेवाला है ऐसी हमलोगोंकी बुद्धि कहती है,—हमारा निश्चय है ।

इतना ही नहीं, श्रीरामके अमृतमय प्रवचनको सुनकर घोड़े घास खाना छोड़ देते हैं, रानियाँ गवाक्षमें देखती हुई चित्रलिखित-सी खड़ी रह जाती हैं, देरतक लगातार पुष्पवृष्टि होती रहती है, सभी मन्त्री, सामन्त, नागरिक, राजकुमार एकटक देखते रह जाते हैं । पिंजरेके पक्षी, राजमहलके क्रीडामृग भी कान खड़े करके ध्यानसे सुनते रह जाते हैं । सिद्धमुनियोंकी परम्परा सभाभवनमें सुदूरसे दौड़ पड़ती है—

सामन्तैः राजपुत्रैश्च ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
तथा भृत्यैरमात्यैश्च पञ्जरस्थैश्च पक्षिभिः ॥
क्रीडामृगैर्गतस्पन्दैस्तुरङ्गैस्त्यक्तचर्वणैः ।
कौसल्याप्रमुखैश्चैव निजवातायनस्थितैः ॥
संशान्तभूषणारावैरस्पन्दैर्वनितागणैः ।

सिद्धैर्नभश्चरैश्चैव तथा गन्धर्वकिन्नरैः ।
रामस्य ता विचित्रार्था महोदारा गिरः श्रुताः ॥
(१ । ३२ । ७—११)

श्रीरामके शिष्यत्वका भी उत्तर है । योग्य अधिकारी श्रीरामसे दूसरा कौन मिलता ? अतः स्वयं प्रश्न करके वसिष्ठके हृदयमें प्रविष्ट होकर उन्होंने यह ज्ञान प्रकट किया । देखिये वासिष्ठमहारामायण-तात्पर्यटीकाका उपोद्घात, श्लोक ११—

आविश्यान्तर्वसिष्ठं बहिरपि कलयन् शिष्यभावं वितेने ।
यः संवादेन शास्त्रामृतजलधिममुं रामचन्द्रं प्रपद्ये ॥

योगवासिष्ठके अन्तमें भी 'नारायण' कहकर श्रीरामको नमस्कार किया गया है ।

योगवासिष्ठमें भक्ति

योगवासिष्ठमें भक्तिकी बात भी बहुत है । यों तो उपरिनिर्दिष्ट प्रकरण भी, जिसकी छाया सम्भवतः भागवतकारके वेणुगीतपर पड़ती है और जिसमें कहा गया है कि 'श्रीकृष्णके वेणुगीतको श्रवणकर बछड़े दूध पीना भूल जाते हैं, नदियोंका वेग भग्न हो जाता है, गौएँ कवल नहीं लेतीं, कम भक्तिरससे ओतप्रोत नहीं है । तथापि इस तरहके अन्य भी कई प्रसङ्ग योगवासिष्ठमें हैं । उपशम-प्रकरणके ३३ वें अध्यायकी प्रह्लादकृत विष्णुस्तुति संस्कृतसाहित्यकी अद्भुत निधि है । वह सब स्तुतियोंको एक बार मात कर देती है । श्रीवसिष्ठकी भगवान् शंकरसे मिलनेके बादकी प्रार्थना भी अत्यद्भुत भक्तिरससे परिपूर्ण है । कई स्थानोंपर भगवत्स्मरणकी बड़ी महिमा है । ध्यानकी प्रशंसा तो सर्वत्र है ही ।

भक्तशिरोमणि तुलसीदासजीको भी योगवासिष्ठ मान्य था । उनके उत्तरकाण्डके भुशुण्डिचरित्रपर भुशुण्डोपाख्यान (योगवासिष्ठ-निर्वाणप्रकरण पूर्वार्द्ध १४ से २८ अध्याय) की छाया है । भुशुण्डके दीर्घजीवित्वका क्रम, कारणादि यहाँ बड़े विस्तारसे निरूपित है । विनयपत्रिकाके २०५ वें पदमें वे लिखते हैं—

जौं मन भज्यो चहै हरि सुरतरु ।
सम,संतोष,बिचार, बिमल अति सतसंगति,ये चारि दृढ़ करि धरु

इसपर योगवासिष्ठके 'शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसंगमः ।' (२ । ११ । ६०) 'तथा संतोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा ।' (२ । १६ । १८) आदि मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरणके १२ से १६ वें अध्यायतकके उपदेशोंका ही प्रभाव है । 'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं । सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं ॥' आदिसे भी इसका समर्थन-सा होता है ।

योगवासिष्ठ किसकी रचना ?

यों योगवासिष्ठको वाल्मीकिकी रचना बतलाया गया है । कई लोग इसमें 'उवाच' आदि अलकारोंकी भरमार देखकर अन्यकी कृति समझते हैं । पर जो हो, यह तो उन्हें भी मानना पड़ेगा कि पदमाधुर्य, भावगाम्भीर्य, निरूपणशैली, तत्त्वप्रदर्शन, सूक्ष्मेक्षिका, प्रखरविचार, सर्वत्र नवीनता तथा अमृतोपम पवित्रतम साधु उपदेशोंकी शृङ्खला देखते हुए यह वाल्मीकिरामायण या विश्वके किसी भी ग्रन्थसे निम्नकोटिका नहीं है । अतः इसका रचयिता जो भी हो, साक्षात् ईश्वर है या ईश्वरप्राप्त है । ग्रन्थ सर्वथा निर्दोष है । कई प्रकरण तो वाल्मीकिसे मिलते भी हैं । विश्वामित्र-दशरथ-सवादमें प्रायः वाल्मीकिके ही श्लोक हैं । जो अधिक हैं, वे रम्यतर हैं । 'उवाच' आदि लिखना—भिन्न शैली अपनाना भी एक लेखकद्वारा सम्भव है ही । अतः वाल्मीकिरचित मानना युक्तिसंगत ही है ।

उपसंहार

ध्यानसे देखा जाय तो भागवत, वाल्मीकिरामायण तथा अन्य पुराणोंसे योगवासिष्ठका वर्णन अधिक ही मिलता है । वस्तुतः भाषा, छन्दरचना तथा विचार-प्रवणताकी दृष्टिसे योगवासिष्ठ सर्वोत्तम ग्रन्थ प्रतीत होता है । इसलिये श्रेष्ठ साधक इसके कालनिर्णयके चक्करमें न पड़कर इससे वास्तविक लाभ उठानेके प्रयत्नमें लग जाते हैं । यही होना भी चाहिये । किंतु साधारण व्यक्ति इससे वञ्चित न रह जायँ तथा व्यापक भ्रान्त धारणा शान्त हो जाय, इसीलिये यह यत्किंचित् प्रयास किया गया है ।

वस्तुतः योगवासिष्ठ भारतीय ज्ञानरविकी एक अनुपम रश्मि है । इसमें ससार, उसके तरनेके उपाय, दैव, पुरुषार्थ, तत्त्वज्ञान एव उसके साधनोंके प्रत्येक अङ्गपर इतना क्रम-क्रमसे विचार किया गया है कि देखते हुए आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है । कल्याणकामी मनुष्योंको इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये यही प्रार्थना है ।

योगवासिष्ठकी आजके आत्म-शान्ति, विश्व-शान्तिके इच्छुक विश्वको चुनौती तथा इस क्षणका ज्ञान-बन्धुत्व एवं ज्ञानाभास

(लेखक—प० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

शास्त्र कहते हैं ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं।[1] आधुनिक विद्वान् भी प्रकारान्तरसे यही कहते हैं—

Knowledge is power

परंतु ज्ञान और ज्ञान-शक्तिमें अन्तर है। ज्ञानसे शक्ति भी प्राप्त होती है जब कि मनुष्य ज्ञानार्थमें ढल जाता है। क्रियाहीन ज्ञान तो शक्तिहीन ही होता है। यह भी न भुलाना चाहिये कि ज्ञानसे शक्ति और मुक्ति तभी प्राप्त होती है, जब कि वह अध्यात्म हो। आजका ज्ञान तो—

१—भौतिक है
२—तर्कमात्र है
३—शिल्पिवत् है
४—अवास्तविक है
५—केवल प्रवृत्तप्राण है
६—यश और जीविकाका साधन है

आजका ऐसा सारहीन अनात्म-ज्ञान योगवासिष्ठके मतसे ज्ञानाभास है और ऐसे ज्ञानका धनी व्यक्ति ज्ञानबन्धु है तथा ज्ञानशिल्पी। वह वास्तविक ज्ञानी नहीं, उससे तो अज्ञानी ही अच्छा है—

आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधनात्॥
(यो० वा० ६/२। २१। ७)

अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम्॥
व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्॥
(यो० वा० ६/२। २१। १—३)

हम देखते हैं आज भारत भी ज्ञान-बन्धुता और ज्ञानाभासका शिकार हो रहा है। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनोंके ही मतसे यह चरित्रहीन होता जा रहा है। भारतेतर देशोंकी दशा तो इससे भी बुरी है। वे तो इस दिशाके गुरु ही हैं, अतः उनका जीवन एकमात्र प्रवृत्ति-प्रधान है एवं समधिक भोगप्रधान।

योगवासिष्ठकारके मतसे तो ज्ञानी वही है जो जानने योग्य वस्तुको जानकर वासनामुक्त तथा कर्मतत्पर होता है—

ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥
(यो० वा० ६। २२। २)

[1] ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

योगवासिष्ठकार यह भी कहते हैं कि जिसकी इच्छाएँ शान्त हो गयी हों एवं जिसकी शीतलता कृत्रिम न होकर वास्तविक हो तथा जिसका पुनर्जन्मका खटका मिट गया हो, वही ज्ञानी है, अन्यथा खाना-पहनना और लेना-देना आदि तो शिल्पीकी जीविकामात्र है—

अन्तःशीतलतेहासु प्राज्ञैर्यस्यावलोक्यते।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥
(यो० वा० ६/२। २२। ३)

अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक्।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका॥
(यो० वा० ६/२। २२। ४)

योगवासिष्ठकारका यह भी मत है कि जो मनुष्य कामना तथा संकल्प-विकल्पसे मुक्त होकर शान्तचित्तसे अवसरानुसार कार्य करता है वही पण्डित है—

प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते॥
(यो० वा० ६/२। २२। ५)

योगवासिष्ठके मतसे सच्चा आर्यपुरुष वही है जो कर्तव्यका पालन करता है और अकर्तव्यसे बचता है एवं प्रकृत आचारविचारमें सलग्न रहता है—

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः॥
(यो० वा० ६। १२६। ५४)

योगवासिष्ठकारकी आर्यपुरुषलक्षण-विषयक यह भी समुद्घोषणा है कि जो व्यक्ति शास्त्र-सदाचार एवं परिस्थिति-सम्मत तथा मनःपूत व्यवहार करता है वही आर्य है—

यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम्।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥
(यो० वा० ६। १२६। ५०)

किस विज्ञसे यह बात छिपी हुई है कि आजका मानव आर्योचित योगवासिष्ठ-अभिमत व्यक्तित्वसे सर्वथा दूर होता जा रहा है अपितु वह मानवोचित व्यक्तित्वसे न पहचाना जाकर विद्वान्, प्रशास्ता, बाबू, हाकिम, वकील आदि विशेषणोंसे पहचाना और पुकारा जाता है। पाश्चात्य देशोंमें भी बाइबलके इस वाक्यका सम्मान दृष्टिगोचर नहीं होता—

Man it does not mean this or that but humanity.

ऐसा क्यों हो रहा है। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे विश्वविद्यालयोंका आमूल-चूल परिवर्तन नहीं हो पाता। सच्ची सुधार-योजनाओंपर भी अमल नहीं किया जाता और न घर और बाहर बालकोंकी शिक्षा-दीक्षापर ही समुचित ध्यान दिया जाता है। ऐसी दशामें तथाकथित आर्य-व्यक्तित्व बालकोंमें कैसे उत्पन्न हो सकता है ? इसी सत्यपर प्रकारान्तरसे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजीके ये शब्द पूर्णतः चरितार्थ होते हैं—

हम अपने सामने कितने भी महान् व उच्च आदर्शोंको लेकर जिस-किसी तरहकी राज-व्यवस्था क्यों न स्थापित कर लें, हमारी आर्थिक व सामाजिक विचारधारा कितनी भी समान व उदार क्यों न हो, पर जबतक हमारी अगली पीढ़ीका शारीरिक एवं मानसिक सौष्ठव व गठन शिशु-जीवनमें ही ठीक न होगा, तबतक देशमें हम सुख व शान्ति स्थापित करनेमें सफल नहीं हो सकते।

यहाँ योगवासिष्ठ-सम्मत यह बात भी विचारणीय है कि ज्ञान-विकास और आत्म-ज्ञानप्राप्ति न केवल शास्त्र और गुरु-वचन-साध्य ही है प्रत्युत स्वानुभवका भी विषय है—

शास्त्रार्थे बुध्यते नात्मा गुरुर्वचनतो न च।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः॥
(यो० वा०)

इस समय हम देखते हैं हमारे विद्यार्थी आत्मनिर्भर नहीं हो पाते। वे केवल पुस्तक-कीट और परप्रत्ययनेय मति ही बने रहते हैं। वे यह भी नहीं समझते कि पेड़ भीतरसे बढ़ता है, माली और उपकरण तो उसके निमित्तमात्र होते हैं। वे प्रायः इस वैदिक सत्यसे भी अनभिज्ञ-से ही रहते हैं—

'आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत्।'

एतद्विषयक योगवासिष्ठकी तो यह सम्मति है कि आत्म-शान्ति और विश्व-शान्ति आत्म-विकास और आत्म-ज्ञानसे ही प्राप्त होती है, दूसरे किसी उपायसे नहीं। अतएव सर्वदुःख-हर्ता आत्मावलोकनमें ही भूति-विभूतिके इच्छुक व्यक्ति लगा रहे—

करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बुवत्।
आत्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति॥
(यो० वा० ५।५।७४)

आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता।
सर्वदुःखशिरश्छेद आत्मालोकेन जायते॥
(यो० वा० ५।७५।४६)

योगवासिष्ठसम्मत आत्मावलोकनसे न केवल आत्म-शान्ति प्राप्त होती है अपितु योगवासिष्ठके बार-बारके पाठ और अवलोकनसे विश्वबन्धुता—प्राणस्पृहणीय नागरिकता भी प्राप्त होती है, जो आजकी अत्यधिक वाञ्छनीय वस्तु है—

एतच्छास्त्रश्रवणाभ्यासात् पौनःपुन्येन वीक्षणात्।
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी॥
(यो० वा० २।१८।३६,८)

योगवासिष्ठकारके मतसे योगवासिष्ठ-ग्रन्थावलोकनका एकान्त फल यह भी है—

बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः।
जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुतिः समनुभूयते[1]॥
(यो० वा० ३।८।१३।१५)

भगवान् वसिष्ठकी जय

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी (डाँगीजी))

योगवासिष्ठके प्रवक्ता भगवान् वसिष्ठका परिचय कराना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उनके पारमार्थिक स्वरूपका मनन करना हो तो उनका भगवान्के अवतारोंके साथ क्या सम्बन्ध है ? उसे स्मरण किया जाना अनिवार्य आवश्यक है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामके गुरु, भगवान् परशुरामके पिता महर्षि जमदग्नि और भगवान् दत्तात्रेयके मौसा, परम सिद्ध भगवान् कपिल और परमहंस नग्नयोगीश्वर तथा जड-भरतके पिता भगवान् ऋषभदेवके दादा, राजर्षि आग्नीध्रके बहनोई, भगवान् मनुके पुत्र, आद्य नरेन्द्र प्रियव्रतकी बहन देवी देवहूतिके जामाता भगवान् वसिष्ठकी सदा काल जय हो, विजय हो, जिन्होंने संसार-चक्रको छेदन करनेके लिये पुण्य-कर्मका चक्र बताया और पुण्यकर्मके चक्रको भग करनेके लिये धर्मचक्र चलाया और फिर गुरुचक्रका प्रवर्तन करके सिद्धचक्रमें प्रवेश करा दिया—अजातवादके परम रहस्यमय सिद्धान्तके आद्य प्रणेता भगवान् वसिष्ठ ही हैं।

इस अद्वैत, तुरीय और अज तत्त्वसे भी परे तुरीयातीत, द्वैताद्वैतातीत और अनाख्ययधर्मातीत परमतत्त्वके प्रणेता भगवान् वसिष्ठ सर्वत्र सर्वथा, सर्वदा सम्पूर्ण आराध्य बनें।

१. इस ग्रन्थके श्रवणसे परम ज्ञान प्राप्त होता है, फिर जीवन्मुक्तिका अनुभव होने लगता है।

योगवासिष्ठका साध्य-साधन

योगवासिष्ठ महारामायणका प्रारम्भ होता है—देवराज इन्द्रके द्वारा, महर्षि वाल्मीकिके पास राजा अरिष्टनेमिके भेजे जानेके प्रसङ्गसे। अरिष्टनेमि महर्षि वाल्मीकिसे मोक्षका साधन पूछते हैं। उसके उत्तरमें वाल्मीकिजी महाराज अपने शिष्य भरद्वाजके साथ हुए संवादका वर्णन करते हुए भगवान् रामके प्राकट्यकी बात सुनाते हैं। तदनन्तर महर्षि विश्वामित्रके दशरथ-दरबारमें आकर यज्ञरक्षार्थ रामको माँगनेका प्रसङ्ग सुनाकर रामके वैराग्य तथा राम-वसिष्ठ-संवादके रूपमें छः प्रकरणोंमें 'योगवासिष्ठ' नामक विशाल ग्रन्थका श्रवण कराते हैं।

योगवासिष्ठ अजातवाद या केवल ब्रह्मवादका ग्रन्थ है। इसके सिद्धान्तानुसार एकमात्र चेतनतत्त्व परब्रह्मके अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता ही नहीं है। जैसे समुद्रमें अनन्त तरङ्गें उठती-मिटती रहती हैं, वे समुद्रसे भिन्न नहीं हैं, इसी प्रकार नित्य समरूप अनादि अनन्त सच्चिदानन्दघन परमात्म-चैतन्यरूप समुद्रमें नाना प्रकारके अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी लीला-तरङ्गें दीखती रहती हैं। चित्त या अहंकार—जो वास्तवमें चेतन-ब्रह्मसे अभिन्न तथा ब्रह्मरूप ही है—इस दृश्य-प्रपञ्चका—सृष्टि, स्थिति-विनाशका कारण है। अहंकारका नाश होते ही, जो अहंकारकी सत्ता न माननेसे ही नाश हो जाता है, केवल एक ब्रह्म-चैतन्य ही रह जाता है। इसी एक तत्त्वका विभिन्न आख्यानों, इतिहासों, कथाओंके द्वारा इस विशाल ग्रन्थमें प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ पुनरुक्तिपूर्ण है। एक ही सत्य तत्त्वको दृढ़तापूर्वक हृदयमें जमा देनेके लिये, एक ही सत्य तत्त्वकी अनुभूति या प्राप्ति करा देनेके लिये बार-बार विभिन्न रूपोंसे एक-सी ही युक्तियों तथा उपमाओंका उल्लेख किया गया है।

सृष्टि न कभी हुई, न है—एकमात्र ब्रह्म ही है। इस प्रकार सृष्टिका अभाव प्रतिपादन करनेपर भी इस ग्रन्थमें कहीं भी यथेच्छाचार, शास्त्रनिषिद्ध व्यवहार, रागद्वेष-कामक्रोधादि-जनित अनाचार, अत्याचार, दुष्ट-सङ्ग आदिका समर्थन नहीं किया गया है, वर बड़ी कड़ाईके साथ शास्त्राज्ञापालन-रूप सदाचारपरायणता एवं त्यागमय पुण्यमय जीवनकी आवश्यकता बतायी गयी है। राग, ममता, कामना, तृष्णा, इच्छा और इनके मूल अहंकारके त्यागकी महत्ता स्थान-स्थानपर बतलायी गयी है। इन्द्रियभोगोंमें फँसे हुए मनुष्योंकी घोर दुर्दशाका वर्णन करते हुए वैराग्यकी अत्यन्त प्रयोजनीयताका प्रतिपादन किया गया है। साधक पुरुषको अहंभावनारूप ग्रन्थिका यथार्थ ब्रह्मज्ञानके द्वारा भेदन करके सच्चा ज्ञानी बननेका उपदेश दिया गया है, केवल ज्ञानका कथनमात्र करनेवाले 'ज्ञानबन्धु' (नकली ज्ञानी) बननेका नहीं। महर्षि वसिष्ठने यहाँतक कहा है कि 'वे ज्ञानबन्धु (नकली ज्ञानी) से तो अज्ञानीको अच्छा समझते हैं (क्योंकि वह बेचारे अपनेको तथा दूसरोंको धोखा तो नहीं देते।) महर्षि कहते हैं—

> ज्ञानिनैव सदा भाव्यं राम न ज्ञानबन्धुना।
> अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम् ॥
>
> (निर्वाण-प्रकरण उ० २१ । १)

फिर भगवान् श्रीरामके पूछनेपर नकली ज्ञानी (ज्ञान-बन्धु) के लक्षण बतलाते हैं।

> व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
> यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥
> कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते।
> बोधशिल्पोपजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥
> वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये।
> जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः ॥
>
> (निर्वाण-प्रकरण उ० २१ । ३—५)

'जैसे शिल्पी जीविकाके लिये ही शिल्पकला सीखता है, वैसे ही जो मनुष्य केवल भोगप्राप्तिके लिये ही शास्त्रको पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, स्वयं शास्त्रके अनुसार आचरणके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह ज्ञानबन्धु कहलाता है। शास्त्राध्ययनसे जिसको शाब्दिक बोध हो गया है, परन्तु उस बोधका फल जो विनाशशील भोगों—व्यवहारोंमें वैराग्य होना चाहिये, सो नहीं हुआ तो उसका वह शास्त्रज्ञान शिल्पमात्र है—तत्त्वज्ञानकी बातें बनाकर दूसरोंको ठगनेके लिये चातुर्यपूर्ण कलामात्र है। उस कलासे केवल जीविका चलानेवाला होनेके कारण वह मनुष्य ज्ञानबन्धु कहलाता है। जो केवल भोजन-वस्त्रमें ही संतुष्ट रहकर भोजनादिकी प्राप्तिको ही शास्त्राध्ययनका फल समझते हैं, वे शास्त्रोंके अर्थको एक

शिल्पकला ही मानते हैं। ऐसे लोगोंको ज्ञानबन्धु जानना चाहिये।' फिर कहते हैं—

अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञानशब्दभाक्।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका॥

(निर्वाण-प्रकरण उ० २२। ४)

'जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है, पुनर्जन्मकी नहीं, उसीका नाम ज्ञान है। उसके अतिरिक्त दूसरा जो शब्दज्ञानका चातुर्य है, वह तो रोटी-कपड़ा प्राप्त करनेकी कलामात्र है। उसे केवल भोजन-वस्त्र जुटानेवाली व्यवस्था समझना चाहिये।'

इस परम ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शम (मनकी स्ववशता), दम (इन्द्रियनिग्रह), शास्त्रीय सदाचारका सेवन, दैवी सम्पत्तिके गुणोंका अर्जन तथा भोग-वैराग्यपूर्वक ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छासे सद्गुरुके शरणमें जाना आवश्यक है। सद्गुरु वही है, जो शिष्यके अज्ञानान्धकारको अपने निर्मल स्वप्रकाश ज्ञानकी विमल ज्योतिसे हर ले और शिष्य वही है, जो विनय तथा सेवापरायण होकर ज्ञानी गुरुसे प्रश्न करे और उनके आज्ञानुसार अपना जीवन निर्माण करे। महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—

अतत्त्वज्ञमनादेयवचनं वाग्विदांवर।
यः पृच्छति नरं तस्मान्नास्ति मूढतरोऽपरः॥
प्रामाणिकस्य तज्ज्ञस्य वक्तुः पृष्टस्य यत्नतः।
नानुतिष्ठति यो वाक्यं नान्यस्तस्मान्नराधमः॥

(मुमुक्षु प्रकरण ११। ४५-४६)

''वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ राम! जो तत्त्वका ज्ञान नहीं रखता, उसके वचन मानने योग्य नहीं हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानहीन मनुष्यसे जो तत्त्वविषयक प्रश्न करता है, उससे बढ़कर दूसरा कोई 'मूर्ख' नहीं है।'' (साथ ही, जो मनुष्य किसी सच्चे ज्ञानी महात्मासे) ''पूछकर भी उस प्रमाणकुशल तथा तत्त्वज्ञानी वक्ताके उपदेशके अनुसार यत्नपूर्वक आचरण नहीं करता, उससे बढकर 'नराधम' भी दूसरा कोई नहीं है।''

अतएव न तो विना जाने-समझे किसीसे पूछना चाहिये तथा न तत्त्वज्ञ महात्माका उपदेश प्राप्त करके उसकी अवहेलना ही करनी चाहिये। साथ ही तत्त्वज्ञ पुरुषको भी चाहिये कि वे यथार्थ अधिकारीको ही तत्त्वका उपदेश दें। महर्षि कहते हैं—

पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाधमे पशुधर्मिणी॥
प्रामाणिकार्थयोग्यत्वं पृच्छकस्याविचार्य च।
यो वक्ति तमिह प्राज्ञाः प्राहुर्मूढतरं नरम्॥

(मुमुक्षु-प्रकरण ११। ४९-५०)

'ज्ञानी महात्माको चाहिये कि पूर्वापरका विचार करके यथार्थ निश्चय करनेमें जिसकी बुद्धि समर्थ हो, जिसके आचरण निन्दनीय न हों, ऐसे ही पुरुषको उसके पूछे हुए तत्त्वका उपदेश दे। जो आहार-निद्रा, भय-मैथुन आदि पशुधर्मसे संयुक्त है, ऐसे अधमको उपदेश न दे। प्रश्नकर्त्तामें श्रुति आदि प्रमाणोंके द्वारा निर्णय किये हुए तत्त्व-पदार्थको ग्रहण करनेकी योग्यता है या नहीं, इसका विचार किये बिना ही जो वक्ता उसे उपदेश देता है, उसको ज्ञानीजन इस लोकमें महान् मूढ बतलाते हैं।'

इसीलिये महर्षि वसिष्ठ आदर्श गुरु हैं तथा भगवान् रामचन्द्र आदर्श शिष्य हैं। गुरु-शिष्यको इन्हींका अनुसरण करनेवाले होना चाहिये।

मुमुक्षुके जीवनमें सहज ही शास्त्रानुकूल आचरण, संयम, सत्य, शम, दम, विषय-वैराग्य और मोक्षकी तीव्र इच्छा होनी ही चाहिये। महर्षि वसिष्ठ तो शम, दम, सत्यादि गुणोंसे रहित मनुष्यको मनुष्य ही नहीं मानते। वे कहते हैं—

येषां गुणेष्वसंतोषो रागो येषां श्रुतं प्रति।
सत्यव्यसनिनो ये च ते नराः पशवोऽपरे॥

(स्थिति-प्रकरण ३२। ४७)

'जिनका (इन शम-दमादि) गुणोंके विषयमें संतोष नहीं है (इनको जो बढाना ही चाहते हैं), जिनका शास्त्रके प्रति अनुराग है तथा जिनको सत्यके आचरणका ही व्यसन है, वे ही वास्तवमें मनुष्य हैं, दूसरे तो पशु ही हैं।'

अतएव सच्चे कल्याणकामी पुरुषोंको इन शास्त्रानुमोदित गुणोंसे सम्पन्न होकर परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये पूर्णरूपसे साधनाभ्यास करना चाहिये। इसके लिये सच्चे महात्मा पुरुषोंका सङ्ग तथा सेवन (उनके कथनानुसार जीवन-निर्माण) आवश्यक है। इसके बिना कोरे तप, तीर्थ या शास्त्राध्ययनसे सफलता नहीं मिलती। पर महात्मा सच्चे होने चाहिये। और कुछ न हो तो इतना अवश्य देख ले कि हम जिनका सङ्ग करते हैं, उनकी संगतिसे दुर्गुणों-दुराचारोंका

नाश होता है या नहीं । उनके जीवनगत सहज शास्त्रप्रतिपादित आचरणोंसे हमें दुराचार-दुर्गुणोंके त्याग और सदाचार-सद्गुणोंके ग्रहणके लिये प्रेरणा मिलती है या नहीं । महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—

लोभमोहरुषां यस्य तनुतानुदिनं भवेत् ।
यथाशास्त्रं विहरति स्वकर्मसु स सज्जनः ॥

(स्थिति-प्रकरण ३३ । १५)

'जिसके सङ्गसे लोभ, मोह और क्रोध प्रतिदिन क्षीण होते हों और जो शास्त्रके अनुसार अपने कर्मोंका आचरण करनेमें लगा रहता हो, वह सत् पुरुष है ।'

मोक्षके द्वारपर निवास करनेवाले ये चार द्वारपाल बतलाये गये हैं—शम, विचार, संतोष और साधुसङ्ग । इन चारोंकी भलीभाँति सेवा की जाती है तो ये मोक्षरूपी राज-प्रासादका द्वार खोल देते हैं ।

ऐसे सैकड़ों, हजारों वचन इस महान् ग्रन्थमें हैं, जिनमें शास्त्रोक्त आचरण, संयम, नियम आदि साधनोंकी उपादेयता और नितान्त प्रयोजनीयताका उपदेश भरा है ।

योगवासिष्ठमें दैवकी बड़ी निन्दा तथा पौरुषकी प्रशंसा की गयी है । एवं निष्कामभावसे सावधानीके साथ शास्त्रानुकूल सत्कर्म करनेपर बहुत जोर दिया गया है । महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान् ।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव ॥

(मुमुक्षु-प्रकरण ६ । २८)

व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च ।
यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे ॥
यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झतः ।
उपतिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव ॥
स्वार्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः ।
प्रोक्ता पौरुषशब्देन सा सिद्ध्यै शास्त्रयन्त्रिता ॥

(मुमुक्षु-प्रकरण ६ । ३०—३२)

'जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्मके सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्‌के मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह । संसारमें आने-जानेवाले सहस्रों व्यवहार हैं । उनमें सुख और दुःख-बुद्धिका त्याग करके शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये । शास्त्रके अनुकूल और कभी उच्छिन्न न होनेवाली अपनी मर्यादाका जो त्याग नहीं करता, उस पुरुषको समस्त अभीष्ट वस्तुएँ वैसे ही प्राप्त हो जाती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रत्नोंका समूह । जिसमें अपना मानव-जीवनका प्रधान कार्य—स्वार्थ सधता हो, उस स्वार्थकी प्राप्ति करानेवाले साधनोंमें ही तत्पर हो रहनेको विद्वान्‌लोग 'पौरुष' कहते हैं' ।

ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः ।
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः ॥

(मुमुक्षु प्रकरण ७ । ३)

'जो लोग उद्योगका त्याग करके केवल दैवके भरोसे बैठे रहते हैं, वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका नाश कर डालते हैं । वे आलसी मनुष्य आप ही अपने शत्रु हैं ।'

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः ॥
यच्छ्रेयो यदतुच्छं च यदपायविवर्जितम् ।
तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरवः स्थिताः ॥

(मुमुक्षु-प्रकरण ७ । १२-१३)

'अशुभ कर्मोंमें लगे हुए मनको वहाँसे हटाकर प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मोंमें लगाना चाहिये । यह सब शास्त्रोंके सारका संग्रह है । जो वस्तु कल्याणकारी है, वह तुच्छ नहीं है (वही सबसे श्रेष्ठ है) । तथा जिसका कभी नाश नहीं होता, उसीका यत्नपूर्वक आचरण करना चाहिये—गुरुजन यही उपदेश देते हैं ।'

जीवन्मुक्तके लक्षण बतलाते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तं गतं स्थितं व्योम जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥
बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥
नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥
यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
यस्योन्मेषनिमेषार्द्धाद्विदः प्रलयसम्भवौ ।
पश्येत् त्रिलोक्याः स्वसमः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
(उत्पत्ति-प्रकरण ९ । ४—७, ९—१२)

'यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी दृष्टिमें यह जगत् ज्यों-का-त्यों बना हुआ ही विलीन हो जाता है और आकाशके समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जो व्यवहारमें लगा हुआ ही एकमात्र बोधनिष्ठाको प्राप्त होकर जाग्रद्-अवस्थामें भी सुषुप्त पुरुषकी भाँति राग-द्वेष, हर्ष-शोकादिसे रहित हो जाता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं । जिसके मुखकी कान्ति सुखमें उदित नहीं होती—जगमगाती नहीं और दुःखमें अस्त—फीकी नहीं हो जाती और जो कुछ मिल जाय उसीमें संतोषपूर्वक जो जीवन-निर्वाह करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है । जो निर्विकार आत्मामें सुषुप्तिकी तरह स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूप निद्राका निवारण हो जानेसे सदा जागता रहता है, पर जो जाग्रत् भी नहीं है, भोग-जगत्में सदा सोया हुआ है अर्थात् भोगबुद्धिसे जो किसी भी पदार्थका उपभोग नहीं करता और जिसका ज्ञान वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जिसमें अहङ्कारका भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्वके और कर्म न करते समय अकर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जो ज्ञानस्वरूप परमात्माके किञ्चित् उन्मेष तथा निमेषमें ही तीनों लोकोंकी प्रलय तथा उत्पत्ति देखता है और जिसका सबके प्रति समान आत्मभाव है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । न तो जिससे लोगोंको उद्वेग होता है और न लोगोंसे जिसको उद्वेग होता है तथा जो हर्ष, अमर्ष और भयसे रहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है । जिसकी संसारके प्रति सत्यता-बुद्धि नहीं रही है, जो अवयवयुक्त दीखनेपर भी वस्तुतः अवयवरहित है । जो चित्तयुक्त होकर भी वास्तवमें चित्तसे रहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ।' जीवन्मुक्तकी इस स्वरूप-व्याख्यासे पता लगता है कि यथार्थ ज्ञान ही जीवन्मुक्तका स्वरूप होता है । केवल मौखिक ज्ञान तो प्रदर्शनमात्र तथा धोखेकी चीज है ।

योगवासिष्ठमें योगके साधन तथा योगसिद्धियोंका एवं योगभूमिकाओंका भी महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है । उनका मर्म बिना अनुभवी योगसिद्ध गुरुके समझमें आना बहुत कठिन है । योगवासिष्ठमें दर्शन तथा योगसम्बन्धी ऐसे-ऐसे शब्द आये हैं, जिनका अर्थ समझना केवल भाषाज्ञानसाध्य नहीं, परंतु साधन-साध्य है ।

योगवासिष्ठमें कर्म और भक्तिका कहीं निषेध नहीं है । कर्मकी तो परमावश्यकता ही बतलायी है । पौरुष कर्ममय ही होता है । अवश्य ही वह कर्म होना चाहिये कामना, आसक्ति तथा अहंकारसे रहित । यद्यपि भक्तिका वैष्णवशास्त्रों-जैसा वर्णन नहीं है, तथापि सदाचार-सत्सङ्गमूलक उपासनाका जगह-जगह प्रतिपादन है । प्रह्लादके प्रसङ्गसे भक्तिकी भी बहुत बातें आयी हैं । भगवान् श्रीरामचन्द्रको पूर्णब्रह्म बतलाकर स्वयं वसिष्ठने नमस्कार किया है । महर्षि भरद्वाजने अपने तथा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें भेद बतलाते हुए महर्षि वाल्मीकिजीसे कहा है—

श्रीरामचन्द्रजी तो परम योगी, समस्त विश्वके वन्दनीय, देवताओंके ईश्वर, अजन्मा, अविनाशी, विशुद्ध ज्ञान-स्वभाव, समस्त गुणोंके निधान, सम्पूर्ण ऐश्वर्योंके आधार एवं तीनों लोकोंके उत्पादन, संरक्षण और अनुग्रह करनेवाले हैं—

स खलु परमयोगी विश्ववन्द्यः सुरेशो
जननमरणहीनः शुद्धबोधस्वभावः ।
सकलगुणनिधानं सन्निधानं रमाया-
स्त्रिजगदुदयरक्षानुग्रहाणामधीशः ॥
(नि० प्र० पूर्वार्ध० १२७ । ७)

महर्षि विश्वामित्रने भगवान् श्रीरामचन्द्रकी बहुत बड़ी महिमाका गान किया है और वसिष्ठादि सभी उसे सुनकर अत्यन्त आह्लादित हुए हैं ।

इन्हीं श्रीरामचन्द्रजीका अज्ञानी बनकर ज्ञान प्राप्त करनेकी

बात, सो लीलामय भगवान्‌के लिये इसमें कौन-सी दोषकी बात है । जो भगवान् श्रीरामचन्द्र विद्यार्थी बनकर गुरु वसिष्ठसे विद्याध्ययन करते हैं, विश्वामित्रसे अस्त्र-शिक्षा ग्रहण करते हैं, सच्चे पतिके रूपमें सीताके दुःखसे महान् दुखी होते हैं, स्त्रैण तथा अज्ञकी भाँति सीताके लिये वन-वन रोते फिरते और जिस किसीसे सीताका पता पूछते हैं, लक्ष्मणके लिये विलाप-प्रलाप करते हैं, वे भगवान् यदि लोक-संग्रहके लिये अज्ञानी, वैराग्यवान् तथा मुमुक्षु मजकर आदर्श शिष्य लीलामें प्रवृत्त होकर महर्षि वसिष्ठको ज्ञानशास्त्रके प्रतिपादनमें प्रवृत्त करते हैं और उसे सुनकर अपनेको कृतार्थ मानते हैं तो इससे उनकी परात्परता, परब्रह्मरूपता, विशुद्धज्ञानस्वरूपता, ईश्वरता आदिमें कहीं कुछ कमी आ जाती हो, यह तो मानना ही भूल है ।

कुछ सज्जनोंका कथन है कि योगवासिष्ठमें बहुत अनुचित रूपसे नारी-निन्दा की गयी है, पर वस्तुतः ऐसी भी बात नहीं है । यों तो मोक्षदृष्टिसे जो कुछ भी आसक्ति-कामना बढ़ानेवाली चीजें हैं, परमार्थ क्षेत्रमें वे सभी निन्दनीय तथा त्याज्य हैं—नारी, धन, राज्य, इन्द्रियोंके प्रत्येक विषय । पर योगवासिष्ठमें 'नारी-गौरव' की प्रतिष्ठा है । शिखिध्वज-जैसे राज्यत्यागी अरण्यवासी तपोमूर्ति पुरुषको चूडाला नारी ही विशुद्ध ज्ञानका उपदेश करके उन्हें परमपद प्राप्त करवाती है तथा अहंकारशून्य होकर राजकर्मके प्रतिपालनमें प्रवृत्त कराती है । चूडाला-जैसी योगसिद्धा, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्ना, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मस्वरूपा नारीका जिस ग्रन्थमें विशद वर्णन हो और नारी इतनी उच्च स्तरतक पहुँच सकती है, इसका जिसमें प्रतिपादन हो, उस ग्रन्थको नारी-निन्दक मानना कभी युक्तिसंगत नहीं है ।

योगवासिष्ठमें सुन्दर-सुन्दर आख्यानों, इतिहासोंके द्वारा बड़ी ही सुन्दर रीतिसे ब्रह्मैकत्वका प्रतिपादन हुआ है, जो एक महान् कार्य है । इसमें दोषदृष्टि न करके सभीको अपनी रुचि तथा भावके अनुसार यथासाध्य लाभ उठाना चाहिये ।

योगवासिष्ठका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

'कल्याण'का विशेषाङ्क योगवासिष्ठाङ्क निकल रहा है, यह बड़े ही आनन्दकी बात है । यह बड़ा ही उपादेय सर्वश्रेष्ठ ज्ञानप्रतिपादक महान् ग्रन्थ है । इसमें आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत्, बन्धन-मोक्ष आदि दुरूह विषयोंका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक स्वयं परमात्मा भगवान् श्रीराघवेन्द्र और परम पूज्य ज्ञानस्वरूप महर्षि वसिष्ठके संवादरूपमें यह निस्संदेह अत्युत्कृष्ट रचना है । इसलिये इसका प्रकाशन बहुत ही आदरणीय है । परंतु बड़े खेदके साथ निवेदन करते हुए मैं यह नम्रताके साथ चेतावनी देता हूँ कि इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये । मैंने देखा है कि ढोंगी लोग संतोंका वेष बनाकर 'योगवासिष्ठ' और 'विचारसागर' लिये गाँव-गाँव घूमते हैं, चेला-चेली बनाते हैं । शास्त्रीय वर्णाश्रमधर्म, सदाचार, शम, दम, ईश्वरभक्ति, भगवत्पूजन, नामजप-कीर्तन, संध्या-अर्चना, श्राद्ध-तर्पण आदिका घोर विरोध करके लोगोंको उच्छृङ्खल बनाते हैं । उनको मनमाना आचरण करनेके लिये प्रेरणा देते हैं और अपना उल्लू सीधा करनेके लिये जगत्‌को तथा जागतिक व्यवहारोंको मिथ्या बताकर 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट लगाकर 'एक ब्रह्म' बने हुए ये अनधिकारी कलियुगी पाखण्डीलोग खुले-आम शास्त्राचारके सर्वथा विरुद्ध आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता, विलास, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षणका प्रचार करते हैं और जनताको ब्रह्मज्ञानके नामपर नरकानलमें झोंकते हैं । ऐसे लोगोंके द्वारा इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये । यही मेरा नम्र निवेदन है ।

श्रीगुरुवर-वसिष्ठ-स्तवन

(रचयिता—प० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

तप-तेज-पुंज जगदभिराम।
गुरुवर वसिष्ठ! तुमको प्रणाम॥

चारों वेदोंका रस वरिष्ठ।
वेदान्त विषय जो था गरिष्ठ॥
कर सरल कथाओंमें प्रविष्ट।
कर दिया उसे लघुतम सुमिष्ट॥

यह देख तुम्हारा कलित काम।
गुरुवर वसिष्ठ! तुमको प्रणाम॥

यह युक्ति दिखाकर तुम न्यारी।
बन गये विश्वके हितकारी॥
अतएव ज्ञानके अधिकारी।
हैं सभी तुम्हारे आभारी॥

गा रहे तुम्हारे गुणग्राम।
गुरुवर वसिष्ठ! तुमको प्रणाम॥

जिस समय सूर्यवंशी नरेश।
संचालित करते थे स्वदेश॥
उस समय उन्हें दे सदुपदेश।
हरते थे तुम मानसिक क्लेश॥

पाते थे वे जगसे विराम।
गुरुवर वसिष्ठ! तुमको प्रणाम॥

श्रीरामचन्द्रको पात्र जान।
जो दिया उन्हें था महाज्ञान॥
मुनि वाल्मीकिने अमृत मान।
वह भरा सुछन्दोंमें निदान॥

रच ग्रन्थ योगवासिष्ठ नाम।
गुरुवर वसिष्ठ! तुमको प्रणाम॥

यह ग्रन्थ मिटा विष-विषय चाव।
अध्यात्म ओर करता झुकाव॥
हर जीव ब्रह्मका भेदभाव।
बन रहा भवाम्बुधि हेतु नाव॥

यह श्रेय तुम्हींको है ललाम।
गुरुवर वसिष्ठ! तुमको प्रणाम॥

हैं इसमें वर्णित वे सुयोग।
हरते हैं जो भवजनित रोग॥
जिनका समयोचित कर प्रयोग।
पाते हैं शुभगति साधु लोग॥

खण्डित कर माया मोह दाम।
गुरुवर वसिष्ठ! तुमको प्रणाम॥

उपदेश तुम्हारा है विचित्र।
जो करता है हियको पवित्र॥
जिससे जन बनकर सच्चरित्र।
हो जाते हैं ब्रह्मज्ञ 'मित्र'॥

मिलता है उनको परम धाम।
गुरुवर वसिष्ठ! तुमको प्रणाम॥

श्रीपरमात्मने नमः

संक्षिप्त योगवासिष्ठ

वैराग्य-प्रकरण

सुतीक्ष्ण और अगस्ति, कारुण्य और अग्निवेश्य, सुरुचि तथा देवदूत और अरिष्टनेमि एवं वाल्मीकिके संवादका उल्लेख करते हुए भगवान्‌के श्रीरामावतारमें ऋषियोंके शापको कारण बताना

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः॥

सृष्टिके आरम्भमें सम्पूर्ण भूत जिनसे प्रकट होकर प्रतीतिके विषय होते हैं, स्थितिकालमें जिनमें ही स्थित होते हैं और प्रलयकाल आनेपर जिनमें ही लीन हो जाते हैं, उन सत्यस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात् तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तथा कर्ता, कारण और क्रिया—इन सबका जिनसे ही आविर्भाव होता है, उन ज्ञानस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः॥

जिनसे स्वर्ग और भूतल आदि सभी लोकोंमें आनन्द-रूपी जलके कण स्फुरित होते हैं—प्राणियोंके अनुभवमें आते हैं तथा जो समस्त जीवोंके जीवनाधार हैं, उन पूर्ण चिन्मय आनन्दके महासागररूप परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है! ✓

पूर्वकालमें सुतीक्ष्ण नामसे प्रसिद्ध कोई ब्राह्मण थे, जिनके मनमें संशय छा गया था; अतः उन्होंने महर्षि अगस्तिके[1] आश्रममें जाकर उन महामुनिसे आदरपूर्वक पूछा—'भगवन्! आप धर्मके तत्त्वको जानते हैं। आपको सम्पूर्ण शास्त्रोंके सिद्धान्तका सुनिश्चित ज्ञान है। मेरे हृदयमें एक महान् संदेह है, आप कृपापूर्वक इसका समाधान कीजिये। मोक्षका साधन कर्म है या ज्ञान है अथवा दोनों ही हैं? इन तीनों पक्षोंमेंसे किसी एकका निश्चय करके जो वास्तवमें मोक्षका कारण हो, उसका प्रतिपादन कीजिये।'



अगस्तिने कहा—ब्रह्मन्! जैसे दोनों ही पंखोंसे पक्षियोंका आकाशमें उड़ना सम्भव होता है, उसी प्रकार ज्ञान और निष्काम कर्म दोनोंसे ही परमपदकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास है, जिसका

१. अगस्ति और अगस्त्य एक ही महर्षिके नाम हैं।

मैं तुम्हारे समक्ष वर्णन करता हूँ। पहलेकी बात है, कारुण्य नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो अग्निवेश्यके पुत्र थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया था तथा वे वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे। गुरुके यहाँसे विद्या पढ़कर अपने घर लौटनेके बाद वे संध्या-वन्दन आदि कोई भी कर्म न करते हुए चुपचाप बैठे रहने लगे। उनके मनमें संशय भरा हुआ था। पिता अग्निवेश्यने देखा कि मेरा पुत्र शास्त्रोक्त कर्मोंका परित्याग करके निन्दनीय हो गया है, तब वे उसके हितके लिये इस प्रकार बोले।

अग्निवेश्यने कहा—बेटा! यह क्या बात है? तुम अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन क्यों नहीं करते? बताओ तो सही। यदि सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें नहीं लगोगे तो तुम्हें परम सिद्धि कैसे प्राप्त होगी? तुम जो इस कर्तव्य-कर्मसे निवृत्त हो रहे हो, इसमें क्या कारण है? यह मुझसे कहो।



कारुण्य बोले—पिताजी! आजीवन अग्निहोत्र और प्रतिदिन संध्योपासना करे—इस प्रवृत्तिरूप धर्मका श्रुति और स्मृतिने विधान अथवा प्रतिपादन किया है। साथ ही एक दूसरी श्रुति भी है, जिसके अनुसार न धनसे, न कर्मसे और न संतानके उत्पादनसे ही मोक्ष प्राप्त होता है। मुख्य-मुख्य यतियोंने एकमात्र त्यागसे ही अमृतस्वरूप मोक्ष सुखका अनुभव किया है[१]। पूज्य पिताजी! इन दो प्रकारकी श्रुतियोंमेंसे मुझे किसके आदेशका पालन करना चाहिये?' इस संशयमें पड़कर मैं कर्मकी ओरसे उदासीन हो गया हूँ।

अगस्ति कहते हैं—तात सुतीक्ष्ण! पितासे यों कहकर वे ब्राह्मण कारुण्य चुप हो गये। पुत्रको इस प्रकार कर्मसे उदासीन हुआ देख पिताने पुनः उससे कहा।

अग्निवेश्य बोले—बेटा! मैं तुमसे एक कथा कहता हूँ, उसे सुनो और उसके सम्पूर्ण तात्पर्यको अपने हृदयमें निश्चय कर लेनेके पश्चात् तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

सुरुचि नामसे प्रसिद्ध कोई देवलोककी स्त्री थी, जो अप्सराओंमें श्रेष्ठ समझी जाती थी। एक दिन वह मयूरोंके झुंडसे घिरे हुए हिमालयके एक शिखरपर बैठी थी। उसी समय उसने अन्तरिक्षमें इन्द्रके एक दूतको कहीं जाते देखा। उसे देखकर अप्सराओंमें श्रेष्ठ महाभागा सुरुचिने इस प्रकार पूछा—'महाभाग देवदूत! आप कहाँसे आ रहे हैं और इस समय कहाँ जायँगे? यह सब कृपा करके मुझे बताइये।'

देवदूतने कहा—भद्रे! सुनो; जो वृत्तान्त जैसे घटित हुआ है, वह सब मैं तुम्हें विस्तारसे बता रहा हूँ। सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी! धर्मात्मा राजा अरिष्टनेमि अपने पुत्रको राज्य देकर स्वयं वीतराग हो तपस्याके लिये वनमें चले गये और अब गन्धमादन पर्वतपर वे तपस्या

१. न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (कैवल्य० २ तथा महानारायणोपनिषद् १० । ५)

कर रहे हैं। वहाँ वनमें ज्यों ही उन्होंने दुस्तर तपस्या आरम्भ की, त्यों ही देवराज इन्द्रने मुझे आदेश दिया—'दूत! तुम यह विमान लेकर शीघ्र वहाँ जाओ। इस विमानमें अप्सराओंके समुदायको भी साथ ले लो। नाना प्रकारके वाद्य इसकी शोभा बढ़ाते रहें। गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष और किंनर आदिसे भी यह सुशोभित होना चाहिये। इसमें ताल, वेणु और मृदङ्ग आदि भी रख लो। इस प्रकार भाँति भाँतिके वृक्षोंसे भरे हुए सुन्दर गन्धमादन पर्वतपर पहुँचकर तुम राजा अरिष्टनेमिको इस विमानपर चढ़ा लो और उन्हें स्वर्गका सुख भोगनेके लिये अमरावती नगरीमें ले जाओ।'

देवराज इन्द्रकी यह आज्ञा पाकर मैं सामग्रियोंसे संयुक्त विमान ले उस पर्वतपर गया। वहाँ पहुँचकर राजा अरिष्टनेमिके आश्रमपर गया; फिर मैंने देवराज इन्द्रकी सारी आज्ञा राजासे कह सुनायी। शुभे! वे मेरी बात सुनकर संदेहमें पड गये और इस प्रकार बोले—'देवदूत! मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ, आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दें। स्वर्गमें कौन-कौन-से गुण हैं और कौन-कौन-से दोष? आप मेरे सामने उनका सुस्पष्ट वर्णन कीजिये। स्वर्गलोकमें रहनेके गुण-दोषको जाननेके पश्चात् मेरी जैसी रुचि होगी, वैसा करूँगा।'

मैंने कहा—'राजन्! स्वर्गलोकमें जीव अपने पुण्यकी सामग्रीके अनुसार उत्तम सुखका उपभोग करता है। उत्तम पुण्यसे उत्तम स्वर्गकी प्राप्ति होती है, मध्यम पुण्यसे मध्यम स्वर्ग मिलता है और इनकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके पुण्यसे उसके अनुरूप स्वर्ग सुलभ होता है। इसके विपरीत कुछ नहीं होता। स्वर्गमें भी दूसरोंको अपनेसे ऊँची स्थितिमें देखकर लोगोंके लिये उनका उत्कर्ष असह्य हो उठता है। जो लोग समान स्थितिमें होते हैं, वे भी अपने बराबरवालोंके साथ स्पर्धा (लागडाँट) रखते हैं तथा जो स्वर्गवासी अपनेसे हीन स्थितिमें होते हैं, उनको अपनी अपेक्षा अल्पसुखी देखकर अधिक सुखवालोंको संतोष होता है। इस प्रकार असहिष्णुता, स्पर्धा और संतोषका अनुभव करते हुए पुण्यात्मा पुरुष तभीतक स्वर्गमें रहते हैं, जबतक उनके पुण्योंका भोग समाप्त नहीं हो जाता। पुण्योंका क्षय हो जानेपर वे जीव पुनः इस मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं और पार्थिव-शरीर धारण करते रहते हैं। राजन्! स्वर्गमें इसी तरहके गुण और दोष विद्यमान हैं।'

भद्रे! मेरी यह बात सुनकर राजाने इस प्रकार उत्तर दिया—'देवदूत! जहाँ ऐसा फल प्राप्त होता है, उस स्वर्गलोकमें मैं नहीं जाना चाहता। आप इस विमानको लेकर जैसे आये थे, वैसे ही देवराज इन्द्रके पास चले जाइये। आपको नमस्कार है।'

भद्रे! जब राजाने मुझसे ऐसी बात कही, तब मैं इन्द्रके समक्ष यह वृत्तान्त निवेदन करनेके लिये लौट गया। वहाँ जब मैंने सब बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं, तब देवराज इन्द्रको महान् आश्चर्य हुआ और वे स्निग्ध एवं मधुर वाणीमें मुझसे पुनः बोले।

इन्द्रने कहा—दूत! तुम फिर वहाँ जाओ और उस विरक्त राजाको आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये तत्त्वज्ञ महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें ले जाओ। वहाँ महर्षि वाल्मीकिसे मेरा यह संदेश कह देना—'महामुने! इन विनयशील, वीतराग तथा स्वर्गकी भी इच्छा न रखनेवाले नरेशको आप तत्त्वज्ञानका उपदेश दीजिये। ये जन्म-मरणरूप संसार-दुःखसे पीड़ित हैं; अतः आपके दिये हुए तत्त्वज्ञानके उपदेशसे इन्हें मोक्ष प्राप्त होगा।'

यों कहकर देवराजने मुझे राजा अरिष्टनेमिके पास भेजा। तब मैंने पुनः वहाँ जाकर राजाको वाल्मीकिजीके पास पहुँचाया, उनसे देवराज इन्द्रका संदेश कहा तथा राजाने उन महर्षिसे मोक्षका साधन पूछा। तदनन्तर वाल्मीकिजीने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कुशलप्रश्नकी दान आरम्भ करते हुए राजासे उनके आरोग्यका समाचार पूछा।

राजाने कहा—भगवन्! आपको धर्मके तत्त्वका ज्ञान है। जाननेयोग्य जितनी भी बातें हैं, वे सब आपको ज्ञात हैं। विद्वानोंमें श्रेष्ठ महर्षे! आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया। यही मेरी कुशल है। भगवन्! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। आप बिना किसी विघ्न-बाधाके मेरी शङ्काका समाधान करें। संसार-बन्धनके दुःखसे मुझे जो पीड़ा हो रही है, उससे किस प्रकार मेरा छुटकारा होगा? यह बताइये।



श्रीवाल्मीकिजीने कहा—राजन्! सुनो; मैं तुमसे अखण्ड रामायणकी कथा कहूँगा। उसे सुनकर यत्नपूर्वक हृदयमें धारण कर लेनेपर तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। राजेन्द्र! वह रामायण महर्षि वसिष्ठ और श्रीरामके संवादरूपमें वर्णित है। वह मोक्षप्राप्तिके उपायकी मङ्गलमयी कथा है। मैंने तुम्हारे स्वभावको समझ लिया है; अतः तुम्हें अधिकारी मानकर मैं तुमसे वह कथा कहूँगा। विद्वान् नरेश! सुनो।

राजाने पूछा—तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महामुने! श्रीराम कौन हैं? उनका स्वरूप कैसा है? वे किसके वंशज थे? वे बद्ध थे या मुक्त? पहले आप मुझे इन्हीं बातोंका निश्चित ज्ञान प्रदान कीजिये।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—स्वयं भगवान् श्रीहरि ही शापके पालनके बहाने राजा श्रीरामके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। वे प्रभु सर्वज्ञ होनेपर भी (अपने भक्त महर्षियोंकी वाणीको सत्य करनेके लिये ही) आरोपित अथवा स्वेच्छासे गृहीत अज्ञानसे युक्त हो साधारण मनुष्योंकी भाँति अल्पज्ञ-से हो गये।

राजाने पूछा—महर्षे! श्रीराम तो सच्चिदानन्द-स्वरूप चैतन्यघनविग्रह थे। उन्हें शाप प्राप्त होनेका क्या कारण था? यह बताइये। साथ ही यह भी कहिये कि उन्हें शाप देनेवाला कौन था?

श्रीवाल्मीकिजीने कहा – राजन्! (ब्रह्माजीके मानस पुत्र) सनत्कुमार, जो सर्वथा निष्काम थे, ब्रह्मलोकमें निवास करते थे। एक दिन त्रिलोकीनाथ सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु वैकुण्ठलोकसे वहाँ पधारे। उस समय ब्रह्माजीने वहाँ उनका पूजन किया। सत्यलोकमें निवास करनेवाले दूसरे-दूसरे महात्माओंने भी उनका स्वागत-सत्कार किया। केवल सनत्कुमारने उनके आदर-सत्कारमें कोई भाग नहीं लिया—वे चुपचाप बैठे ही रह गये। तब उनकी ओर देखकर सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिने कहा—'सनत्कुमार! तुम अपनेको निष्काम समझकर अहंकारी हो गये हो, इसीलिये जडवत् स्तब्ध बने बैठे हो। इस गर्वयुक्त चेष्टाके कारण तुम शाप या दण्ड पानेके योग्य हो, अतः शरजन्मा कुमारके नामसे विख्यात हो दूसरा शरीर धारण करो।' यह सुनकर सनत्कुमारने भी भगवान् विष्णुको शाप दिया—'देवेश्वर! आप भी अपनी सर्वज्ञताको कुछ कालके लिये छोड़कर अज्ञानी जीवके समान हो जायँगे।' एक समय अपनी पत्नीको श्रीहरिके चक्रसे मारी गयी देख महर्षि भृगुका क्रोध बहुत बढ़ गया। वे उन्हें शाप देते हुए बोले—'विष्णो!

आपको भी कुछ कालके लिये अपनी पत्नीसे वियोगका कष्ट सहना पड़ेगा।' इस प्रकार सन्तकुमार और भृगुके शाप देनेपर (उनकी वाणी सत्य करनेके लिये) भगवान् विष्णु उस शापसे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए। राजन्! भगवान् विष्णुको शापका बहाना क्यों लेना पड़ा, इसका सब कारण मैंने तुम्हें बता दिया, अब तुम्हारे प्रश्नके अनुसार अन्य सारी बातें भी बता रहा हूँ। तुम सावधान होकर सुनो। (सर्ग १)

इस शास्त्रके अधिकारीका निरूपण, रामायणके अनुशीलनकी महिमा, भरद्वाजको ब्रह्माजीका वरदान तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे वाल्मीकिका भरद्वाजको संसार-दुःखसे छुटकारा पानेके निमित्त उपदेश देनेके लिये प्रवृत्त होना

दिवि भूमौ तथाऽऽकाशे बहिरन्तश्च मे विभुः।
यो विभात्यवभासात्मा तस्मै सर्वात्मने नमः॥

जो प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप सर्वव्यापी परमात्मा स्वर्गमें, भूतलमें, आकाशमें तथा हमारे अदर और बाहर—सर्वत्र प्रकाशित हो रहे हैं, उन सर्वात्माको नमस्कार है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते है— राजन्! मैं संसाररूपी बन्धनमें बँधा हुआ हूँ, किंतु इससे मुक्त हो सकता हूँ—ऐसा जिसका निश्चय है तथा जो न तो अत्यन्त अज्ञानी है और न तत्त्वज्ञानी ही है, वही इस शास्त्रको सुनने अथवा पढ़नेका अधिकारी है। जो पहले कथारूपी उपायसे युक्त रामायणके बाल, अयोध्या आदि सभी काण्डोका विचार (परिशीलन) करके मोक्षके उपायभूत इन वैराग्य आदि छः प्रकरणोंका विचार (अनुशीलन) करता हैं, वह विद्वान् पुरुष फिर इस संसारमें जन्म नही लेता (वह यहाँके जन्म आदि दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है)। शत्रुओंका मर्दन करनेवाले नरेश! यह रामायण पूर्व और उत्तर—दो खण्डोंसे युक्त है। इसमें राग-द्वेष आदि दोषोंको दूर करनेके लिये रामकथारूपी प्रबल उपाय बताये गये हैं। पहले इन बाल आदि सात काण्डोकी रचना करके मैंने एकाग्रचित्त हो अपने बुद्धिमान् एवं विनयशील शिष्य भरद्वाजको इसका ज्ञान प्रदान किया; ठीक उसी तरह, जैसे समुद्र मणि या रत्नकी इच्छा रखनेवाले याचकको मणि प्रदान करता है। बुद्धिमान् भरद्वाजने मुझसे कथारूपी उपायवाले इन सात काण्डोंका अध्ययन करनेके पश्चात् मेरुपर्वतके किसी गहन वनमें ब्रह्माजीके सामने इनका वर्णन किया। इससे महान् आशयवाले लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा भरद्वाजके ऊपर बहुत संतुष्ट हुए और उनसे बोले—'बेटा! तुम मुझसे कोई वर माँग लो।'



भरद्वाजने कहा—भगवन् ! भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी पितामह ! जिस उपायसे यह समस्त मानव-समुदाय सम्पूर्ण दुःखसे छुटकारा पा जाय, वह मुझे बताइये । आज मुझे यही वर अच्छा लगता है ।

श्रीब्रह्माजीने कहा—वत्स ! तुम इस विषयमें शीघ्र ही प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु वाल्मीकिजीसे प्रार्थना करो । उन्होंने जिस निर्दोष रामायणकी रचना आरम्भ की है, उसका श्रवण कर लेनेपर मनुष्य सम्पूर्ण मोहसे पार हो जायँगे ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाजसे यों कहकर सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा भगवान् ब्रह्मा उनके साथ ही मेरे आश्रमपर आये । उस समय मैंने शीघ्र ही अर्घ्य, पाद्य आदिके द्वारा उन भगवान् ब्रह्माजीका पूजन किया । तत्पश्चात् समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले ब्रह्माजीने मुझसे कहा—'श्रेष्ठ महर्षे ! श्रीरामचन्द्रजीके स्वभाव एवं स्वरूपका वर्णन करनेवाले इस निर्दोष रामायणका आरम्भ करके जबतक इसकी समाप्ति न हो जाय, तबतक कितना ही उद्वेग क्यों न हो, तुम इसका परित्याग न करना । इस ग्रन्थके अनुशीलनसे यह जगत् इस संसाररूपी क्लेशसे उसी प्रकार शीघ्र पार हो जायगा, जैसे जहाजके द्वारा लोग अविलम्ब समुद्रसे पार हो जाते हैं । तुम लोकहितके लिये इस रामायण नामक शास्त्रकी रचना करो । इसी बातको कहनेके लिये मैं स्वयं यहाँतक आया हूँ ।' तत्पश्चात् वे मेरे उस पवित्र आश्रमसे उसी क्षण अदृश्य हो गये । तब भरद्वाजने कहा—'भगवन् ! महामना श्रीरामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, यशस्विनी सीतादेवी तथा श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करनेवाले परम बुद्धिमान् मन्त्रिपुत्र—इन सबने इस संसाररूपी संकटमें पड़कर कैसा व्यवहार किया था, यह बात मुझे बताइये । इसे सुनकर अन्य लोगोंके साथ मैं भी वैसा ही बर्ताव करूँगा ।'

राजेन्द्र ! जब भरद्वाजने आदरपूर्वक मुझसे पूर्वोक्त विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनुरोध किया, तब मैं भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञाका पालन करनेके लिये उक्त विषयके वर्णनमें प्रवृत्त हुआ और बोला—'वत्स भरद्वाज ! सुनो; तुमने जैसा पूछा है, उसके अनुसार तुम्हें सब कुछ बताता हूँ । मेरे उपदेशको सुननेसे तुम अपना सारा मोह दूर कर सकोगे । बुद्धिमान् भरद्वाज ! तुम वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि आनन्दस्वरूप कमलनयन भगवान् श्रीरामने समस्त संसारमें अनासक्तभावसे रहकर किया था ।'

महामना भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, सीता, राजा दशरथ, श्रीरामसखा कृतास्त्र और अविरोध, पुरोहित वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्यान्य आठ मन्त्री—ये सभी ज्ञानमें पारंगत थे । धृष्टि, जयन्त, भास, सत्यवादी विजय, विभीषण, सुषेण, हनुमान् और इन्द्रजित्—ये श्रीरामके आठ मन्त्री बताये गये हैं । ये सब-के-सब समदर्शी थे । इनका चित्त विषयोंमें आसक्त नहीं था । ये सभी जीवन्मुक्त महात्मा थे और प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त होता, उसीमें संतुष्ट रहकर तदनुकूल व्यवहार करते थे । बेटा ! इन लोगोंने जिस प्रकार होम, दान और आदान-प्रदान किया था, इन्होंने जगत्में जिस प्रकार निवास किया था और जिस प्रकार स्मरण-चिन्तन अथवा श्रौत-स्मार्त कर्मोंका पालन किया था, उसी प्रकार यदि तुम भी बर्ताव करते हो तो संसाररूपी संकटसे छूटे हुए ही हो । उदार एवं सत्त्वगुणसे सम्पन्न पुरुष अपार संसार-समुद्रमें गिरनेपर भी यदि उपर्युक्त उत्कृष्ट साधनको अपना ले तो उसे न तो शोक प्राप्त होता है और न वह दीनता अथवा दुःखमें ही पड़ता है । सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त हो वह परमानन्द-सुधाका पान करके सदाके लिये परम तृप्त हो जाता है ।

(सर्ग २)

जीवन्मुक्तके स्वरूपपर विचार, जगत्‌के मिथ्यात्व तथा द्विविध वासनाका निरूपण तथा भगवान् श्रीरामकी तीर्थ-यात्राका वर्णन

भरद्वाज बोले—ब्रह्मन् ! आप श्रीरामचन्द्रजीकी कथासे आरम्भ करके क्रमशः जीवन्मुक्तकी स्थितिका मुझसे वर्णन कीजिये जिससे मैं सदाके लिये परम सुखी हो जाऊँ ।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—साधु पुरुष भरद्वाज ! जैसे रूपरहित आकाशमें नील-पीत आदि वर्णोंका भ्रम होता है उसी प्रकार निर्गुण निराकार ब्रह्ममें अज्ञानवश जगत्‌की सत्ताका भ्रम होता है । यह जो जगत्सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हो गया है, इसे इस तरह भुला दिया जाय कि फिर कभी इसका स्मरण ही न हो—इसीको मैं उत्तम ज्ञान मानता हूँ । इस दृश्य-प्रपञ्चका अत्यन्त अभाव है—यह बिना हुए ही भासित हो रहा है, जबतक ऐसा बोध नहीं होता, तबतक कोई कभी भी उस उत्कृष्ट आत्मज्ञानका अनुभव नहीं कर सकता; इसलिये आत्मज्ञानका अन्वेषण—उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये । इस (योग-वासिष्ठरूप) शास्त्रका ज्ञान होनेपर इसी जीवनमें उस आत्मतत्त्वका बोध हो जाय—यह सर्वथा सम्भव ही है—वह होकर ही रहेगा । इसी उद्देश्यसे इस शास्त्रका विस्तार (प्रचार-प्रसार) किया जाता है । यदि तुम (श्रद्धा-भक्तिके साथ) इस शास्त्रका श्रवण करोगे तो निश्चय ही तुम्हें उस आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो जायगा; अन्यथा उसकी प्राप्ति असम्भव है ।

निष्पाप भरद्वाज ! यह जगत्‌रूपी भ्रम यद्यपि प्रत्यक्ष दिखायी देता है, तो भी इस शास्त्रके विचारसे अनायास ही ऐसा अनुभव हो जाता है कि 'यह है ही नहीं'—ठीक उसी तरह जैसे आकाशमें नील आदि वर्ण प्रत्यक्ष दीखनेपर भी विचार करनेसे बिना परिश्रमके ही यह समझमें आ जाता है कि इसका अस्तित्व नहीं है । यह दृश्य-जगत् वास्तवमें है ही नहीं, ऐसा बोध होनेपर जब मनसे दृश्य-प्रपञ्चका मार्जन (निवारण या अभाव) हो जाय, तब परमनिर्वाणरूप शान्तिका स्वत अनुभव होने लगता है । ब्रह्मन् ! सम्पूर्णरूपसे वासनाओंका जो परित्याग (अत्यन्त अभाव) है, वही उत्तम मोक्ष कहलाता है । उसे अविद्यारूपी मलसे रहित ज्ञानी ही प्राप्त कर सकते हैं । विप्रवर ! जैसे शीतके नष्ट होनेपर हिमकण तुरंत गल जाते हैं, उसी प्रकार वासनाओंके क्षीण हो जानेपर (वासना-पुञ्जरूप) चित्त भी शीघ्र ही गल जाता है (उसका अभाव-सा हो जाता है) ।

वासना दो प्रकारकी बतायी गयी हैं—एक शुद्ध वासना और दूसरी मलिन वासना । मलिन वासना जन्मकी हेतुभूत है—उसके द्वारा जीव जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ता है और शुद्ध वासना जन्मका नाश करनेवाली (अर्थात् मोक्षकी साधिका) है । विद्वानोंने मलिन वासनाको पुनर्जन्मकी प्राप्ति करानेवाली बताया है । अज्ञान ही उसकी घनीभूत आकृति है तथा वह बढ़े हुए अहंकारसे सुशोभित होती है । जो भुने हुए बीजके समान पुनर्जन्मरूपी अङ्कुरको उत्पन्न करनेकी शक्तिको त्यागकर केवल शरीरधारण मात्रके लिये स्थित रहती है, वह वासना 'शुद्धा' कही गयी है । जो लोग शुद्ध वासनासे युक्त है, वे फिर जन्मरूप अनर्थके भाजन नहीं होते । जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले वे परम बुद्धिमान् पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहलाते हैं ।

महामते भरद्वाज ! अब तुम श्रीरामचन्द्रजीकी जीवन-चर्यासे सम्बन्ध रखनेवाली इस मङ्गलकारिणी कथाका क्रमशः श्रवण करो । मैं उसका वर्णन करूँगा, उसीके द्वारा तुम सदाके लिये सम्पूर्ण तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लोगे । वत्स ! जिन्हें कहींसे भी कोई भय नहीं है, वे कमल-नयन भगवान् श्रीराम जब अध्ययनके पश्चात् विद्यालयसे निकलकर घरको लौटे, तब भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते हुए उन्होंने राजभवनमें कुछ दिन व्यतीत किये । तदनन्तर

कुछ समय बीतनेपर, जब कि राजा दशरथ भूमण्डलके पालनमें लगे थे और प्रजावर्गके लोग रोग-शोकसे रहित हो बड़े सुखसे दिन बिता रहे थे, एक दिन अनन्त कल्याणमय गुणोंसे सुशोभित होनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके मनमें तीर्थों तथा पुण्यमय आश्रमोंके दर्शनकी अत्यन्त उत्कण्ठा जाग उठी। तब श्रीरामने पिताके पास जाकर उनके चरण-कमलोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा।



श्रीराम बोले—पिताजी ! मेरे स्वामी महाराज ! मेरे मनमें तीर्थों, देवमन्दिरों, वनों तथा आश्रमोंका दर्शन करनेके लिये बड़ी उत्कंठा हो रही है। आपके समक्ष मेरी यह पहली याचना है, आप इसे सफल करने योग्य हैं। नाथ ! संसारमें ऐसा कोई याचक नहीं है, जिसे अभीष्ट वस्तु देकर आपने उसका आदर न किया हो।

श्रीराम पहली बार प्रार्थी होकर राजाके समक्ष उपस्थित हुए थे। उनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर राजा दशरथने वसिष्ठजीके साथ विचार करके उन्हें तीर्थ-दर्शनके लिये आज्ञा दे दी। उस समय शुभ नक्षत्र और शुभ दिनमें ब्राह्मणोंने आकर उनके लिये स्वस्तिवाचन किया। उनके शरीरको माङ्गलिक वेष-भूषासे अलङ्कृत किया गया। माताओंने उन्हें हृदयसे लगा-लगाकर आशीर्वाद दिये और आभूषण पहनाये। फिर वे रघुनाथजी तीर्थ-यात्राके लिये उद्यत हो लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन दो भाइयों, वसिष्ठजीके भेजे हुए शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों तथा अपने ऊपर स्नेह रखनेवाले कुछ इने-गिने राजकुमारोंके साथ अपने उस राजभवनसे बाहर निकले। श्रीरामचन्द्रजी दान-मान आदिसे ब्राह्मणोंको अपने अनुकूल बनाते, सब ओरसे प्रजाओंके आशीर्वाद सुनते और सम्पूर्ण दिशाओंके दृश्योंपर दृष्टिपात करते वन्य-प्रदेशोंमें भ्रमण करने लगे। उन्होंने अपने निवास-स्थान उस कोसल जनपदसे आरम्भ करके स्नान, दान, तप और ध्यानपूर्वक क्रमशः समस्त तीर्थ-स्थानोंका दर्शन किया। नदियोंके पवित्र तट, पुण्य वन, पावन आश्रम, जंगल, जनपदोंकी सीमाओंमें स्थित समुद्र और पर्वतोंके तट, चन्द्रमाके समान उज्ज्वल आभावाली गङ्गा, नील कमलकी-सी कान्तिवाली निर्मल कलिन्दनन्दिनी यमुना, सरस्वती, शतद्रू (सतलज), चन्द्रभागा (चिनाब), इरावती (रावी), वेणी, कृष्णवेणी[1], निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती (चम्बल), वितस्ता (झेलम), विपाशा (व्यास), बाहुदा[2], प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, वाराणसी (काशीपुरी), श्रीशैल, केदारनाथ, पुष्कर, क्रमप्राप्त मानस सरोवर, उत्तरमानस, वडवामुख, अन्य तीर्थसमुदाय, अग्नितीर्थ, महातीर्थ, इन्द्रद्युम्न सरोवर आदि पुण्यतीर्थ, सरोवर, सरिताएँ, नद, तालाब या कुण्ड—इन सबका उन्होंने आदरपूर्वक दर्शन किया।

१. वेणी नदी कृष्णामें मिलनेसे पहले केवल वेणी कहलाती है, कृष्णामें संगम होनेके पश्चात् उसका नाम कृष्णवेणी हो जाता है।

२. कुछ लोगोंकी मान्यताके अनुसार बाहुदा सुप्रसिद्ध रावी नदीकी एक सहायक नदी है।

स्वामी कार्तिकेय, शालग्रामस्वरूप श्रीविष्णु, भगवान् विष्णु और शिवके चौसठ स्थान, नाना प्रकारके आश्चर्यजनक दृश्योंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाले चारों समुद्रोंके तट, विन्ध्यपर्वत और मन्दराचलके कुञ्ज, हिमालय आदि सात कुल-पर्वतोंके स्थान तथा बड़े-बड़े राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, देवताओं और ब्राह्मणोंके मङ्गलकारी पावन आश्रमोंका भी श्रीरामचन्द्रजीने श्रद्धापूर्वक दर्शन किया । दूसरोंको मान देनेवाले श्रीरघुनाथजी अपने भाइयोंके साथ बारंबार चारों दिशाओंके प्रान्तभा[ग] तथा भूमण्डलके सभी छोरोंमें घूमते फिरे । जैसे देव[ता] आदिसे सम्मानित भगवान् शंकर सम्पूर्ण दिशाओं[में] विहार करके पुनः शिवलोकमें लौट आते हैं, उसी प्रक[ार] रघुनन्दन श्रीराम देवताओं, किंनरों तथा मनुष्योंसे सम्मानि[त] हो इस सम्पूर्ण भूमण्डलका अवलोकन करके फिर अ[पने] घर लौट आये । (सर्ग ३

तीर्थ-यात्रासे लौटे हुए श्रीरामकी दिनचर्या एवं पिताके घरमें निवास; राजा दशरथके यहाँ विश्वामित्रका आगमन और राजाद्वारा उनका सत्कार

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब श्रीमान् रामचन्द्र नगरको लौटे, उस समय (उनका स्वागत करते हुए) पुरवासीजन उनके ऊपर राशि-राशि पुष्प बिखेरने लगे । उस अवस्थामें, जैसे इन्द्र-पुत्र जयन्त अपने स्वर्गीय भवनमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने अपने महलमें प्रवेश किया । वहाँ पहुँचकर रघुनाथजीने पहले पिताको प्रणाम किया, फिर क्रमशः कुलगुरु



वसिष्ठजीको, बड़े बन्धु-बान्धवोंको, ब्राह्मणोंको तथा कुलके बड़े-बूढ़े लोगोंको मस्तक झुकाया । फिर सुहृदों, बन्धुओं, पिता तथा ब्राह्मणसमुदायने श्रीरामको बारंबार हृदयसे लगाया और श्रीरामने भी उनके प्रति अभिवा[दन] एवं प्रिय-भाषण आदि यथोचित आचार व्यवहा[रका] निर्वाह किया । उस समय श्रीरघुनाथजी आनन्दोल्ला[ससे] फूले नहीं समाते थे । अयोध्यामें श्रीरामचन्द्र[जीके] शुभागमनके उपलक्ष्यमें लगातार आठ दिनोंतक आनन्दो[त्सव] मनाया गया । उस समय हर्षसे मतवाली जनताके [द्वारा] सुखपूर्वक किये गये गीत-वाद्य आदिका मधुर कोला[हल] सब ओर व्याप्त हो गया था । [तदनन्तर] श्रीरघुनाथजी विभिन्न देशोंमें प्रचलित [नाना] प्रकारके रहन-सहनका जहाँ-तहाँ वर्णन [करते] हुए घरमें ही सुखपूर्वक रहने लगे ।

श्रीरामचन्द्रजी प्रतिदिन सवेरे उ[ठकर] (स्नान आदिके पश्चात्) विधिपूर्वक स[न्ध्या]वन्दन करके राजसभामें बैठे हुए [अपने] इन्द्रतुल्य तेजस्वी पिता महाराज दशरथक[ा दर्शन] किया करते थे । वहाँ एक पहरतक [वसिष्ठ] आदिके साथ बैठकर आदरपूर्वक ज्ञा[नमयी] कथा-वार्ता सुना करते थे । भाइयोंके साथ तीर्थयात्रासे [लौटने] पर श्रीरघुनाथजी प्रायः ऐसी ही दिनचर्याको अप[नाकर] पिताके घरमें सुखपूर्वक रहते थे । निष्पाप भर[द्वाज !]

श्रीरामचन्द्रजीकी प्रत्येक चेष्टा राजोचित व्यवहारके कारण बड़ी मनोहर प्रतीत होती थी; वह सत्पुरुषोंके चित्तमें चन्द्रमाकी चाँदनीके समान आह्लाद उत्पन्न करती थी। सभी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे तथा वह अमृत-रसके समान मधुर, सुन्दर एवं कोमल होती थी। ऐसी ही चेष्टाके द्वारा वे दिन व्यतीत करते थे।

भरद्वाज ! तदनन्तर जब श्रीरघुनाथजीकी अवस्था सोलह वर्षसे कुछ ही कम थी, शत्रुघ्न और लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीका निरन्तर अनुसरण करते थे, भरत सुख-पूर्वक अपने नानाके यहाँ विराज रहे थे, महाराज दशरथ इस सारी पृथ्वीका यथोचित रूपसे पालन कर रहे थे तथा वे महाप्राज्ञ नरेश प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ बैठकर अपने पुत्रोंके विवाहके लिये भी परामर्श करने लगे थे, उन्हीं दिनों तीर्थयात्रा पूरी करके अपने घरमें रहते हुए श्रीराम दिन-पर-दिन कृश होने लगे।

भरद्वाज ! महाराज दशरथ श्रीरामसे बारंबार स्नेह-युक्त मधुरवाणीमें पूछते—'बेटा ! तुम्हारे मनमें कैसी बड़ी भारी चिन्ता पैदा हो गयी है ?' वे उत्तर देते—'पिताजी ! मुझे कोई कष्ट नहीं है।' इतना ही कहकर कमलनयन श्रीराम पिताजीकी गोदमें चुपचाप बैठ जाते थे।

तदनन्तर एक दिन राजा दशरथने समस्त कार्योंका ज्ञान रखनेवाले, वक्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीसे पूछा—'गुरुदेव ! श्रीराम क्यों खिन्न हैं ?' उनके इस प्रकार पूछनेपर वसिष्ठ मुनिने कुछ सोचकर राजासे कहा—'श्रीमन् ! महाराज ! इसमें कुछ कारण है; किंतु इसके लिये आपके मनमें दुःख नहीं होना चाहिये।'

इसी समय महर्षि विश्वामित्र अयोध्यानरेश दशरथसे मिलनेके लिये वहाँ आये। उन दिनों धर्मकार्यमें तत्पर रहनेवाले उन बुद्धिमान् महर्षिके यहाँ एक यज्ञ हो रहा था। माया, बल और वीर्यसे उन्मत्त रहनेवाले राक्षसोंने एक साथ आक्रमण करके उनके उस यज्ञका विध्वंस कर डाला। उस यज्ञकी रक्षाके लिये ही उन्होंने महाराज



दशरथसे मिलनेकी इच्छा की थी; क्योंकि राक्षसोंके उत्पातके कारण वे मुनि अपने उस यज्ञको बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण नहीं कर पाते थे। तब उन निशाचरोंके विनाशके लिये उद्यत हो वे तपोनिधि महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि अयोध्यापुरीमें आये। वहाँ पहुँचकर राजासे मिलनेकी अभिलाषा लिये वे द्वारपालोंसे बोले—'तुमलोग शीघ्र जाकर महाराजको मेरे आनेकी सूचना दो। उनसे कहना—गाधिके पुत्र कुशिकवंशी विश्वामित्र आये हैं।'

मुनिका यह वचन सुनकर राजद्वारपर रहनेवाले पहरेदारोंने राजमहलमें जाकर अपने स्वामी छड़ीदारको बताया—'प्रभो ! महर्षि विश्वामित्र पधारे हैं। तब उस छड़ीदारने सभामण्डपमें राजाओंकी मण्डलीसे घिरे बैठे हुए महाराजके पास तुरंत जाकर सूचना दी—'देव ! राजद्वारपर नवोदित सूर्यके समान महातेजस्वी तथा अग्निकी ज्वालाके सदृश अरुण जटाजूटधारी एक दीप्तिमान् पुरुष आकर खड़े हैं। वे महामुनि विश्वामित्र हैं।' राजाकी ओर देखकर छड़ीदारने नम्रता

वचनोंमें ज्यों ही यह बात कही, उसकी उस बातको सुनते ही मन्त्री और सामन्तोंसहित वे राजशिरोमणि दशरथ तत्काल सोनेके सिंहासनसे उठकर खड़े हो गये।

राजाओंके समुदायसे घिरे तथा सामन्तोंसे प्रशंसित होते हुए वे नरेश वसिष्ठ और वामदेवजीके साथ सहसा पैदल ही उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ महामुनि



विश्वामित्र खड़े थे। राजाने ड्योढ़ीपर खड़े हुए उन मुनिश्रेष्ठको देखा। वे ब्राह्मणोचित तेज तथा महान् क्षात्र-बलसे भी सम्पन्न थे। वृद्धावस्थाके कारण अधिक पकी हुई और तपस्यामें ही लगे रहनेसे रूखी जटावल्लरीके द्वारा उनके कंधे ढके हुए थे। उन्होंने शान्त (सौम्य), कान्तिमान्, उद्दीप्त, प्रतिघातरहित, विनयशील, हृष्ट-पुष्ट अवयवोंसे युक्त तथा तेजस्वी शरीर धारण कर रक्खा था। उनका तेज सुन्दर होनेके साथ ही अत्यन्त भयंकर था, प्रसादगुणसे युक्त तथा दूरतक फैला हुआ था, गम्भीर एवं अतिशय पूर्णताको प्राप्त था। उस तेजसे ऋषिकी अङ्ग-कान्ति अनुरञ्जित थी। उन्होंने अपने हाथमें एक कुण्डी (कमण्डलु) ले रक्खी थी, जो चिकनी, निर्दोष एवं उत्तम थी। वह उनके कल्पान्तस्थायी जीवनकालकी सभी अवस्थाओंमें सहचरीकी भाँति उनका साथ देती थी। मुनिका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल था। उनके चित्तमें करुणा भरी थी, इसलिये उनकी वाणी बड़ी मधुर एवं प्रसन्नतासूचक होती थी। वे अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टिसे इस प्रकार देखते थे, मानो सामने खड़ी हुई जनताको अमृतसे सींच रहे हों। उनके अङ्गमें सुन्दर यज्ञोपवीत शोभा पा रहा था। वे दर्शकोंके मनमें अत्यन्त आश्चर्यका संचार-सा कर रहे थे। उन महर्षिको दूरसे ही देखकर राजाका शरीर विनयसे झुक गया और उन्होंने मुकुटमण्डित मस्तकसे उनके चरणोंमें प्रणाम किया। मुनिने भी, जैसे सूर्यदेव इन्द्रका प्रत्यभिवादन करते हैं, उसी प्रकार मधुर एवं उदारतापूर्ण वचनोंद्वारा आशीर्वाद देकर पृथ्वीनाथ दशरथका प्रत्यभिवादन किया। तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणोंने स्वागत आदिके क्रमसे विश्वामित्रजीका सत्कार किया।

दशरथने कहा—महात्मन्! जैसे भगवान् सूर्य अपने तेजस्वी स्वरूपका दर्शन देकर कमलोंसे भरे हुए सरोवरों-पर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आज आपका जो यह असम्भावित तेजोमय दर्शन प्राप्त हुआ है, इससे हम सब लोग अत्यन्त अनुगृहीत हैं।

मुनिके प्रति ऐसी ही बातें कहते हुए अन्य राजा तथा महर्षि, सब लोग राजसभामें आकर यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये। राजा दशरथने स्वयं ही मुनिको अर्घ्य निवेदन किया।

राजाके अर्घ्यको स्वीकार करके महर्षिने शास्त्रोक्त विधिसे प्रदक्षिणा करते हुए नरेशकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजा दशरथद्वारा पूजित हो विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। उनका मुखारविन्द खिल उठा। उन्होंने राजासे उनकी कुशल पूछी। तदनन्तर मुनिवर विश्वामित्र हँसकर वसिष्ठजीसे मिले और यथायोग्य सत्कार करके उनके आरोग्यका समाचार पूछने लगे। क्षणभरमें एक दूसरेसे

मिलकर यथायोग्य आदर-सत्कार करके वे सब लोग प्रसन्न-चित्त हो महाराजके महलमें यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये। एक दूसरेके सम्पर्कमें आनेसे उन सबके तेज बढ़ गये थे। वे सब आदरपूर्वक आपसमें एक दूसरेकी कुशल पूछने लगे। तदनन्तर प्रसन्नचित्त एवं पवित्र राजा दशरथने हाथ जोड़कर मुनिसे कहा—

"विप्रवर! आप परम धर्मात्मा तथा दानके उत्तम पात्र हैं और सौभाग्यवश यहाँ पधार गये हैं। बताइये आपकी सर्वोत्तम अभिलाषा क्या है? मैं आपकी कौन-सी सेवा करूँ? भगवन्! पहले आप 'राजर्षि' कहे जाते थे, किंतु तपस्याने आपके ब्राह्मतेजको प्रकाशित कर दिया। आपने 'ब्रह्मर्षि'का पद प्राप्त कर लिया, अतः आप मेरे द्वारा सर्वथा पूजनीय हैं। जैसे गङ्गाजीके जलमें स्नान करनेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार आपके दर्शनसे भी हो रही है। वह प्रसन्नता मेरे हृदयको शीतल-सा किये देती है। ब्रह्मन्! आपके अन्तः-करणसे इच्छा, भय और क्रोध निकल गये हैं, राग-द्वेष दूर हो गये हैं, आप सर्वथा रोगरहित हैं; तो भी मेरे पास आये, यह अत्यन्त अद्भुत बात है। यहाँ पधारे हुए आप-का दर्शन, पूजन और वन्दन करके मैं अपनेमें ही फूला नहीं समाता—वैसे ही, जैसे समुद्र अपने ही भीतर पूर्ण चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब देखकर अपने आपमें नहीं समाता, तटकी सीमाको लाँघकर आगे बढ़ आता है। मुनिवर! आपका जो कार्य हो, जिस प्रयोजनसे आप यहाँ पधारे हों, उसे आप सिद्ध हुआ ही समझिये; क्योंकि आप सर्वदा मेरे माननीय हैं। कुशिक-कुलनन्दन! आप कोई विचार न कीजिये। भगवन्! आपके लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है; क्योंकि दी हुई वस्तु आप-जैसे सत्पात्रको प्राप्त होकर ही सार्थक होती है। मैं आपका सारा कार्य पूर्ण करूँगा। आप मेरे परम देवता हैं।'

आत्मज्ञानी महाराज दशरथके द्वारा विनयपूर्वक कहे हुए इस अत्यन्त मधुर, श्रवणसुखद एवं गुणविशिष्ट वचनको सुनकर विख्यातगुण और प्रख्यात यशवाले मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई।

(सर्ग ४—६)

विश्वामित्रका अपने यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीरामको माँगना और राजा दशरथका उन्हें देनेमें अपनी असमर्थता दिखाना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! तदनन्तर महातेजस्वी विश्वामित्रजीने पुलकित होकर कहा—'नृपश्रेष्ठ! आप महान् कुलमें उत्पन्न हुए हैं और महर्षि वसिष्ठजीकी आज्ञाके अधीन रहते हैं; अतः आपके मुखसे जो बात निकली है, वह इस भूतलपर आपके ही योग्य है। महाराज! अब मैं अपना हार्दिक अभिप्राय आपसे निवेदन करता हूँ। जब-जब मैं यज्ञके द्वारा देवसमूहोंका पूजन करता हूँ, तब-तब कुछ निशाचर आकर मेरे उस यज्ञको नष्ट कर देते हैं। मैंने अनेक बार यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया, किंतु राक्षसनायकोंने उस यज्ञ-मण्डपकी भूमिमें रक्त और मांस बिखेर दिये। मैं यज्ञके लिये परिश्रम करके भी उसमें सफल नहीं हो रहा हूँ, इसलिये विघ्न-निवारणके उद्देश्यको लेकर मैं उस स्थानसे यहाँ आपके पास आया हूँ। पृथ्वीनाथ! मेरे मनमें यह विचार नहीं होता कि मैं क्रोध करके उन्हें शाप दे दूँ। मैं चाहता हूँ, आपके प्रसादसे उस यज्ञको बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण करके उसके महान् पुण्य-फलका भागी होऊँ। अतः आर्त होकर शरण पानेकी इच्छासे आपके पास आया हूँ, आप (उस यज्ञकी रक्षाद्वारा) मेरा संकटसे उद्धार करनेके योग्य हैं। आपके पुत्र श्रीमान् राम मतवाले सिंहके समान पराक्रमी हैं। उनका बल-विक्रम देवराज इन्द्रके तुल्य है। वे उन राक्षसोंको विदीर्ण करनेमें पूर्ण समर्थ हैं। अतः राजसिंह! आपके जो ज्येष्ठ पुत्र काकपक्षधारी

सत्यपराक्रमी, शूरवीर श्रीराम हैं उनको मुझे सौंप दीजिये। ये मुझसे सुरक्षित रहकर अपने दिव्य तेजसे उन यज्ञ-विध्वंसक एवं समस्त संसारका अपकार करनेवाले राक्षसोंका मस्तक काटनेमें समर्थ होंगे। मैं इन श्रीरामको (अस्त्र-विद्या प्रदान करके) अनेक प्रकारसे अनन्त कल्याणका भागी बनाऊँगा, जिससे ये तीनों लोकोंके पूजनीय होंगे।

'वे पापी राक्षस युद्धमें कालकूटके समान भयानक हैं, उन्हें अपने बल और पराक्रमपर बड़ा गर्व है, वे खर और दूषणके भृत्य हैं तथा कुपित होनेपर यमराजके समान जान पड़ते हैं। किंतु राजसिंह! वे श्रीरामके सायकोंको उसी प्रकार नहीं सह सकेंगे, जैसे धूलिकण निरन्तर गिरती हुई मेघकी जलधाराको नहीं सह सकते। महाराज! मैं अपनी तपःशक्तिसे इस बातको निश्चित रूपसे जानता हूँ, आप भी मेरे कथनानुसार उन राक्षसोंको मरा हुआ ही समझिये; क्योंकि हम तथा हमारे-जैसे दूसरे विज्ञ पुरुष संदिग्ध विषयमें नहीं प्रवृत्त होते। कमलनयन श्रीराम कोई साधारण पुरुष नहीं, साक्षात् परमात्मा हैं; इन्हें मैं जानता हूँ, महातेजस्वी वसिष्ठजी जानते हैं तथा दूसरे-दूसरे दीर्घदर्शी महर्षि भी जानते हैं।* यदि आपके हृदयमें धर्म, महत्ता और यशके लिये विशेष स्थान है तो अपने प्रिय पुत्र श्रीरामको आप मुझे दे दीजिये। मेरा वह यज्ञ, जिसमें श्रीरामको यज्ञद्रोही, विघ्नकर्ता राक्षसोंका वध करना है, दस दिनोंमें पूरा हो जायगा। काकुत्स्थ! इसके लिये भी आपके वसिष्ठ आदि सभी मन्त्री आपको अवश्य अनुमति दे देंगे, अतः आप श्रीरामको मेरे साथ भेज दीजिये। ठीक समयपर किया हुआ थोड़ा-सा भी कार्य बहुत उपकारी होता है और समय बीतनेपर किया हुआ महान् उपकारी भी व्यर्थ हो जाता है।†

इस प्रकार धर्म और अर्थसे युक्त बात कहकर धर्मात्मा, महातेजस्वी मुनीश्वर विश्वामित्र चुप हो गये। मुनिवर विश्वामित्रका वचन सुनकर उन्हें युक्तियुक्त उत्तर देनेके लिये कुछ सोचते हुए महानुभाव राजा दशरथ थोड़ी देरतक चुपचाप बैठे रहे; क्योंकि जिसका मनोरथ पूर्ण न किया गया हो, वह बुद्धिमान् पुरुष युक्तिसंगत उत्तर पाये बिना संतुष्ट नहीं होता है।

भरद्वाज! विश्वामित्रजीका वह भाषण सुनकर (वात्सल्य-भावापन्न) नृपश्रेष्ठ दशरथ दो घड़ीतक निश्चेष्ट बैठे रहे, फिर इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन बोले—'मुनीश्वर! कमलनयन श्रीरामकी अवस्था अभी सोलह वर्षसे भी कम है। ये राक्षसोंके साथ युद्ध कर सकें, ऐसी योग्यता मैं इनमें नहीं देखता। प्रभो! मेरे पास यह पूरी एक अक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं ही स्वामी हूँ। इस सेनाके साथ चलकर मैं ही उन पिशाचोंके साथ युद्ध करूँगा। ये सभी सैनिक मेरे भृत्य हैं—मेरे द्वारा पोषित हुए हैं। ये शूरवीर, पराक्रमी और उचित सलाह देनेमें भी चतुर हैं। मैं युद्धके मुहानेपर हाथमें धनुष लेकर इन सबकी रक्षा करूँगा। इनके साथ रहकर मैं महेन्द्रसे भी बढ़े-चढ़े वीरोंको उसी तरह युद्धका अवसर दूँगा, जैसे सिंह मतवाले हाथियोंको देता है। श्रीराम अभी बालक हैं। इन्हें न तो उत्तम शस्त्रोंका ज्ञान है और न ये युद्धकी कलामें ही निपुण हुए हैं। समराङ्गणमें कोटि-कोटि शूरवीरोंके साथ अस्त्रोंद्वारा कैसे युद्ध किया जाता है, इसका भी इनको ज्ञान नहीं है। केवल फुलवाड़ियोंमें, नगरके उपवनोंमें तथा उद्यानवर्ती वनकुञ्जोंमें इनका

* अहं वेद्मि महात्मानं रामं राजीवलोचनम्।
वसिष्ठश्च महातेजा ये चान्ये दीर्घदर्शिनः॥
(यो० वै० ७। २१)

† कार्यमण्वपि काले तु कृतमेत्युपकारताम्।
महानप्युपकारोऽपि रिक्ततामेत्यकालतः॥
(यो० वै० ७। २६)

घूमना-फिरना होता है। ये राजकुमारोंके साथ आँगनकी उस भूमिमें विचरण करना जानते हैं, जिसपर फूल बिछे होते हैं।

'ब्रह्मन्! आजकल तो मेरे भाग्यके उलट-फेरसे ये उसी तरह अत्यन्त कृश और पाण्डु वर्णके हो गये हैं, जैसे पाला पड़नेसे कमल पीला पड़कर गलने लगता है। अपने चारों पुत्रोंमें मेरा सबसे अधिक प्रेम इन श्रीरामपर ही है। अतः मेरे धर्मात्मा ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको आप यहाँसे न ले जायँ। मुने! यदि आपको निशाचर-सेनाका नाश ही अभीष्ट है तो मेरे साथ मेरी चतुरङ्गिणी सेनाको ले चलिये। सुना जाता है कि रावण नामसे प्रसिद्ध एक महापराक्रमी राक्षस है, जो साक्षात् कुबेरका भाई और विश्रवा मुनिका पुत्र है। यदि वही दुर्बुद्धि राक्षस आपके यज्ञमें विघ्न डालता है, तब तो हमलोग उस दुरात्माके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हैं।' (सर्ग ७८)



विश्वामित्रका रोष, वसिष्ठजीका राजा दशरथको समझाना, राजा दशरथका श्रीरामको बुलानेके लिये द्वारपालको भेजना तथा श्रीरामके सेवकोंका महाराजसे श्रीरामकी वैराग्यपूर्ण स्थितिका वर्णन करना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! स्नेहवश नेत्रोंमें आँसू भरकर राजाके द्वारा कही गयी इस बातको सुनकर विश्वामित्र कुपित हो उठे और उन भूपालसे इस प्रकार बोले—"राजन्! 'मैं आपकी माँग पूरी



करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके आप उसे तोड़ रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आप सिंह होकर अब सियार बनना चाहते हैं। रघुवंशियोंके लिये यह व्यवहार अनुचित है। इससे तो इस कुलकी मर्यादा ही उलट जायगी। शीतरश्मि चन्द्रमासे कभी उष्ण किरणें नहीं प्रकट होतीं (आपसे ऐसे व्यवहारकी कदापि आशा नहीं की जाती थी)। राजन्! यदि आप अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्ति करनेमें असमर्थ हैं तो मैं जैसे आया था, उसी तरह लौट जाऊँगा। ककुत्स्थवंशी नरेश! आप अपनी प्रतिज्ञासे भ्रष्ट होकर बन्धु-बान्धवोंके साथ सुखी होइये।"

महामुनि विश्वामित्रको क्रोधसे आक्रान्त जान उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धैर्यवान् और बुद्धिमान् वसिष्ठजी बोले—"राजन्! आप इक्ष्वाकुकुलमें साक्षात् दूसरे धर्मके समान उत्पन्न हुए हैं। आप श्रीमान् दशरथ तीनों लोकोंमें सज्जनोचित सद्गुणोंसे विभूषित हैं। धैर्यवान् तथा उत्तम व्रतके पालक हैं। आपको धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। आप धर्म और यशसे सम्पन्न होकर ही तीनों लोकोंमें विख्यात हुए हैं।

अपने धर्मको समझिये। उसका परित्याग न कीजिये।



ये मुनि तीनों लोकोंका शासन करनेमें समर्थ हैं, आपको इनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। राजन्! 'करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके यदि आप उसका पालन नहीं करते तो यह मिथ्याभाषण आपके इष्ट और आपूर्त (यज्ञ-यागादि तथा वापी, कूप आदिके निर्माणसे होनेवाले पुण्य) को हर लेगा। इसलिये श्रीरामको विश्वामित्रजीके हाथमें सौंप दीजिये। आप इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए हैं और स्वयं विख्यात राजा दशरथ हैं। यदि आप अपने वचनका पालन नहीं करते तो दूसरा कौन करेगा? ये विश्वामित्रजी धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। ये बल और पराक्रमसे सम्पन्न वीरपुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। संसारमें सबसे अधिक बुद्धिमान् हैं तथा तपस्याके परम आश्रय हैं। चराचर प्राणियोंसहित त्रिलोकीमें यह प्रसिद्ध है कि ये विश्वामित्रजी नाना प्रकारके अस्त्रोंको जानते हैं। जिन अस्त्रोंका इन्हें ज्ञान है, उन्हें दूसरा कोई पुरुष न तो जानता है और न भविष्यमें जान सकेगा। देवता, ऋषि, असुर, राक्षस, नाग, यक्ष गन्धर्व—ये सब एक साथ मिलकर आ जायँ, तो भी विश्वामित्र मुनिकी समानता नहीं कर सकते। जिन दिनों ये विश्वामित्रजी राज्य करते थे, उन दिनों इनकी तपस्यासे संतुष्ट हुए रुद्रदेवने कृशाश्वद्वारा [illegible] किये गये अस्त्रोंका दान किया था। वे अस्त्र दूस[रों]के लिये अत्यन्त दुर्जय हैं। उन अस्त्रोंके अभिमानी दे[वता] कृशाश्वके पुत्र हैं और संहार करनेमें प्रजापतिके [पुत्र] रुद्रदेवकी समानता करते हैं। उन कान्तिम[ान्], महातेजस्वी और बल-विक्रमशाली अस्त्र-देवताओंने [सदा] इनका अनुसरण किया है (क्योंकि इन्होंने अपनी तप[स्या]के प्रभावसे उन्हें सदाके लिये वशमें कर लिया है)। ये विश्वविख्यात महातेजस्वी विश्वामित्र ऐसे म[हान्] शक्तिशाली हैं, अतः श्रीरामको इनके साथ भेजनेमें [आप] अपने हृदयको व्याकुल न होने दें। ये महामुनी [बड़े] महान् प्रभावशाली हैं। साधु स्वभाववाले नरेश [ये] जिस पुरुषके समीप खड़े हों, वह मृत्युके आ जा[नेपर] भी अमरत्वको ही प्राप्त होगा। अतः आप मूढ़ मनु[ष्य]की भाँति अपने मनमें दीनताको स्थान न दीजिये।

भरद्वाज! जब वसिष्ठजी ऐसी बातें कहकर सम[झाने] लगे, तब राजा दशरथका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपने पुत्र श्रीराम तथा लक्ष्मणको बुला[नेके] लिये द्वारपालको पुकारा—'प्रतीहार! तुम सत्य-परा[क्रमी] महाबाहु श्रीराम और लक्ष्मणको विश्वामित्रके पुण्य यज्ञकी निर्विघ्न सिद्धिके लिये शीघ्र यहाँ बुला ले आ[ओ]।'

महाराजके इस प्रकार आज्ञा देनेपर वह द्वार[पाल] अन्तःपुरके श्रीराम-मन्दिरमें गया और दो ही घ[ड़ीमें] वहाँसे लौटकर उन भूपालसे बोला—'देव! [अपने] बाहुबलसे समस्त शत्रुदलका दर्प दलन करने[वाले] महाराज! जैसे भ्रमर रातको कमलमें बंद होकर [व]हाँ बैठा रहता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी भी [अपने] भवनमें अनमने होकर बैठे हुए हैं।'

द्वारपालके यह कहनेपर उसके साथ आये हुए श्रीरामके समस्त सेवकोंको महाराजने आश्वासन दिया और क्रमशः उनका समाचार पूछा—'राम कैसे हैं ? उनकी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी है ?' भूपालके इस तरह पूछनेपर श्रीरामके सेवकोंने दुखी होकर उनसे कहा—"देव ! आपके पुत्र श्रीरामका शरीर अत्यन्त कृश



हो गया है। उनके खेदसे हमलोग भी इतने खिन्न हो गये हैं कि हमलोगोंका शरीर भी गलकर छड़ीके समान पतला हो गया है और हम किसी तरह इसे ढोये जा रहे हैं। कमलनयन श्रीराम जबसे ब्राह्मणोंके साथ तीर्थयात्रासे लौटकर आये हैं, तभीसे उनका मन बहुत उदास रहता है। जो वस्तु उपयोगमें लानेके योग्य, स्वादिष्ठ, सुन्दर और मनोहर है, उसीसे वे इस तरह खिन्न हो उठते हैं, मानो उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये हों। भोजन, शय्या, सवारी, विलास, स्नान, आसन आदि उत्तम कार्य या वस्तुके प्रस्तुत होनेपर भी वे उसका अभिनन्दन नहीं करते (उसकी ओरसे विरक्त हो जाते हैं)। 'सम्पत्तिसे, विपत्तिसे, घरसे अथवा विभिन्न चेष्टाओंसे क्या होने-जानेवाला है ? क्योंकि सब कुछ मिथ्या है।' यह कहकर वे चुप हो जाते हैं और अकेले बैठे रहते हैं। परिहास होनेपर वे प्रसन्न नहीं होते। भोगोंमें उनकी आसक्ति नहीं है। किसी प्रकारके कार्योंमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। वे सदा मौनभावका ही अवलम्बन किये रहते हैं। एकान्तमें, विभिन्न दिशाओंमें, नदियोंके तटोंपर, जंगलोंमें तथा गहन वनोंमें उन्हें सुख मिलता है—वहीं उनका मन लगता है। भूपाल ! वे पहननेके वस्त्र तथा खाने-पीनेकी वस्तुएँ न लेकर सदा उनकी ओरसे विमुख ही रहते हैं तथा उस विमुखता या विरक्तिके द्वारा संन्यासी या तपस्वीके आचारका अनुसरण करते हैं। जनेश्वर ! श्रीरामचन्द्रजी निर्जन स्थानमें अकेले ही रहकर न कभी हँसते हैं न गाते हैं और न रोते ही हैं। सदा पद्मासन लगाये शून्यचित्त (संकल्परहित) हो केवल बैठे रहते हैं। न किसी बातका अभिमान करते हैं न राजा होनेकी अभिलाषा रखते हैं, न सुख प्राप्त होनेपर प्रसन्न होते हैं और न दुःख मिलनेपर विषाद ही करते हैं। हम नहीं समझ पाते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, क्या चाहते हैं, किसका ध्यान करते हैं, कहाँ आते हैं और किस तरह किसका अनुसरण करते हैं। वे प्रतिदिन दुबले हो रहे हैं। रोज-रोज पीले पड़ते चले जा रहे हैं और नित्यप्रति उनका वैराग्य बढ़ता ही जाता है। राजन् ! सदा श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करनेवाले ये शत्रुघ्न और लक्ष्मणजी भी उन्हींके समान दुर्बल होते जा रहे हैं। श्रीराम अपने पास रहनेवाले सुहृज्जनों—मित्रोंको यह उपदेश देते हैं कि 'ये भोग ऊपर-ऊपरसे मनोरम दिखायी देते हैं, वास्तवमें नश्वर हैं। अतः इनमें तुमलोग अपना मन न लगाओ। हमलोगोंने आयासरहित परम पदकी प्राप्तिसे दूर हटानेवाली चेष्टाओंद्वारा ही अपनी सारी आयु व्यर्थ बिता दी।' इस प्रकार मधुर और स्फुट वाणी-

द्वारा वे बारंबार गुनगुनाते रहते हैं। यदि पास बैठा हुआ कोई सेवक उनका अभिनन्दन करते हुए यह कहे कि 'आप सम्राट् हों तो वे उसके इस कथनको उन्मत्त प्रलाप-सा समझकर अन्यमनस्क हो हँसने लगते हैं तथा सदा मुनिवृत्तिसे रहते है। न तो किसीकी कही हुई बातको सुनते हैं और न सामने पड़ी हुई वस्तुकी ओर दृष्टिपात ही करते हैं। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु प्राप्त होनेपर भी सर्वत्र उसकी अवहेलना ही करते हैं। जैसे मेघद्वारा बरसाये गये जलकी धाराएँ किसी बड़े भारी दुर्भेद्य पत्थरका भेदन नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार कामदेवके बाण कान्तिमती वनिताओंके बीचमें रहते हुए भी श्रीरामचन्द्रजीके मनका भेदन नहीं कर पाते। 'धन आपत्तियोंका एकमात्र स्थान है। तू इसकी इच्छा क्यों करता है?' श्रीरामचन्द्रजी सबको ऐसी ही शिक्षा देते हैं और अपना सारा धन उसकी इच्छा रखनेवाले दीन याचकोंको बाँट देते हैं। 'यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है—इस प्रकारकी कल्पनाओंके रूपमें केवल मनका मोह (अज्ञान) ही प्रकट होता है।' इस तरहके श्लोकोंका वे सदा गान किया करते हैं। 'हाय! मैं मारा गया, मैं अनाथ हो गया—इस प्रकार सब लोग चीखते-चिल्लाते रहते हैं, तो भी किसीको इस संसारसे वैराग्य नहीं होता—यह कितने आश्चर्यकी बात है!' श्रीराम प्रायः ऐसी ही बातें कहा करते हैं।' (सर्ग ९-१०)

विश्वामित्र आदिकी प्रेरणासे राजा दशरथका श्रीरामको सभामें बुलाकर उनका मस्तक सूँघना और मुनिके पूछनेपर श्रीरामका अपने विचारमूलक वैराग्यका कारण बताना

तब विश्वामित्रजीने कहा—परम बुद्धिमान् सत्पुरुषो! यदि ऐसी बात है तो जैसे मृगोंका झुंड अपने यूथपतिको ले आता है, उसी प्रकार आपलोग भी रघुकुलनन्दन श्रीरामको शीघ्र यहाँ बुला लाइये। श्रीरामचन्द्रजीको यह मोह न तो किसी आपत्तिसे हुआ है और न आसक्तिसे ही। वे विवेक और वैराग्यसे सम्पन्न हैं अतः उन्हें मोह नहीं, बोध ही प्राप्त हुआ है, जो महान् अभ्युदयकारक है। इस विचारमूलक मोहका युक्तिद्वारा निवारण कर देनेपर रघुकुलनन्दन श्रीराम हमलोगोंकी ही भाँति परम पदमें प्रतिष्ठित हो जायँगे। हमारे उपदेशसे वास्तविक बोधका उदय हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अमृत पीये हुए पुरुषकी भाँति सत्यता (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपता), मुदिता (परमानन्दस्वरूपता), प्रज्ञा (अपरिच्छिन्न ज्ञानरूपता) को प्राप्त होकर विश्रान्ति-सुखसे सम्पन्न, संतापशून्य, शरीरसे हृष्ट-पुष्ट और उत्तम कान्तिसे युक्त हो जायँगे। फिर तो मनमें अपनी पूर्णताका अनुभव करते हुए माननीय श्रीरामचन्द्रजी अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त होनेवाली व्यवहार-परम्पराका निर्बाधरूपसे पालन करने लगेंगे। वे महान् सत्त्वगुणसे युक्त तथा लोकव्यापी निर्गुण-सगुणरूप परब्रह्म परमात्माके ज्ञानसे सम्पन्न हो जायँगे। उन्हें सुख-दुःखकी दशाएँ नहीं प्राप्त होंगी। वे मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें कोई अन्तर नहीं देखेंगे—इन सबको समान समझने लगेंगे।

मुनीश्वर विश्वामित्रके यों कहनेपर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए, मानो उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो गया। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको बुला लानेके लिये बारंबार दूत-पर-दूत भेजना आरम्भ किया। जब राजा और मुनिका संवाद हो रहा था, उसी समय श्रीरामचन्द्रजी अपने थोड़े-से सेवकों और दोनों भाई लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके साथ अपने पिताके पवित्र स्थान—राजसभामें गये। श्रीरामने दूरसे ही महाराज दशरथको देखा। जैसे इन्द्र देवसमूहसे

१—३. अमृत पीये हुए पुरुषके पक्षमें सत्यताका अर्थ यथार्थ स्वर्गसुख, मुदिताका अर्थ आनन्द तथा प्रज्ञाका अर्थ उत्तम बुद्धि समझना चाहिये। अन्य शब्दोंके अर्थ उभय पक्षमें समान ही हैं।

घिरकर बैठते हैं, उसी प्रकार वे भी राजाओंकी मण्डलीसे घिरे हुए बैठे थे। उनके दोनों ओर महर्षि वसिष्ठ और विश्वामित्रजी विराजमान थे। सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थका ज्ञान रखनेवाले मन्त्रीगण मालाकी भाँति उन्हें सब ओरसे घेरकर बैठे थे। इधर वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों तथा दशरथ आदि राजाओंने भी कुमार कार्तिकेयके समान सुन्दर श्रीरामचन्द्रजीको दूरसे ही अपने पास आते देखा। वे सौम्य और समदर्शी थे। उनकी आकृति मङ्गलमयी थी। उनका हृदय विनीतभावसे युक्त और उदार था। शरीर कान्तिमान् और शान्त (सौम्य) दिखायी देता तथा वे परम पुरुषार्थके भाजन (परमार्थस्वरूप) थे। पवित्र गुणवाले पुरुषोंके आश्रय थे। समस्त सद्‌गुणोंने मानो एकमात्र महान् सत्त्वगुणके लोभसे उनका आश्रय ले रक्खा था।

मुनीश्वर विश्वामित्र जब राजासे पूर्वोक्त बात-चीत करते हुए श्रीरामको बुलानेका अनुरोध कर रहे थे, उसी समय कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पिताके चरणोंमें प्रणाम करनेके लिये उनके सामने आये। सबके सुहृद् श्रीरामने पहले पिताके चरणोंमें मस्तक झुकाया। तदनन्तर माननीय पुरुषोंद्वारा भी मुख्यरूपसे सम्मानित होनेवाले दोनों मुनि वसिष्ठ और विश्वामित्रजीको प्रणाम किया। इसके बाद अन्य ब्राह्मणों, बन्धु-बान्धवों तथा गुरुजनोंका अभिवादन किया। तत्पश्चात् राजाओंके समूहद्वारा की जानेवाली प्रणाम-परम्पराको उन्होने प्रसन्न दृष्टिसे उनकी ओर देखकर अपने मस्तकको किंचित् झुकाकर तथा मधुर वाणीके द्वारा कुछ बोलकर स्वीकार किया।

इसके बाद दोनों महर्षियोंने श्रीरामचन्द्रजीको आशीर्वाद दिया। तदनन्तर जिनके हृदयमें अत्यन्त समताका भाव भरा हुआ था, वे देवोपम सुन्दर श्रीराम अपने पिताकी पवित्र संनिधिमें आये। उस समय भूपाल दशरथने अपनी चरण-वन्दना करनेवाले पुत्रको हृदयसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा। इसी तरह शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले राजा दशरथने घनीभूत स्नेहसे युक्त हो लक्ष्मण और शत्रुघ्नको भी हृदयसे लगाया (और उनके मस्तक सूँघे)। फिर श्रीरामचन्द्रजी पृथ्वीपर ही परिजनों-द्वारा बिछाये गये वस्त्रके ऊपर बैठ गये।





तत्पश्चात् राजा बोले—बेटा! तुम्हें विवेक प्राप्त हो

गया है । तुम विविध कल्याणमय गुणोंके भाजन हो । तुम्हारे-जैसे पुरुष बड़े-बूढ़े लोगों, ब्राह्मणों तथा गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करते हुए ही पवित्र परमपद प्राप्त कर लेते हैं । जो लोग मोहका अनुसरण करते हैं, उन्हें वह पद नहीं प्राप्त होता । वत्स ! तभीतक आपत्तियाँ दुर्बल एवं तुच्छ होकर दूर ही रहती हैं (पास नहीं फटकने पातीं) जबतक कि मोहको फैलनेका अवसर नहीं दिया जाता ।

इसके बाद *श्रीवसिष्ठजीने कहा*—महाबाहु राजकुमार ! तुम बड़े शूरवीर हो । तुमने उन विषयरूपी शत्रुओंपर भी विजय पा ली है, जो दुःखकी परम्पराके उत्पादक तथा बड़ी कठिनाईसे नष्ट होनेवाले हैं ऐसे प्रभावशाली होनेपर भी तुम अज्ञानी मनुष्योंके योग्य विक्षेपरूपी अगणित तरङ्गमालाओंसे युक्त तथा आवरणरूपी जडता (जलरूपता) से सुशोभित होनेवाले व्यामोहके समुद्रमें आत्मज्ञानशून्य पुरुषकी भाँति क्यों डूबे जा रहे हो ?

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—राजकुमार ! हिलते हुए नील कमलोंके समूहकी भाँति जो तुम्हारे नेत्र चञ्चल हो रहे हैं, इसमें तुम्हारे चित्तकी व्यग्रता ही कारण है । इस व्यग्रताजनित नेत्रोंकी चञ्चलताको त्यागकर बताओ, क्यों मोहित हो रहे हो ? तुम्हारे इस मोह अथवा भ्रमका क्या कारण है ? निष्पाप श्रीराम ! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, उसे शीघ्र बताओ । तुम्हे वह सब मनोरथ प्राप्त होगा, जिससे मानसिक व्यथाएँ फिर तुम्हे कष्ट नहीं पहुँचायेंगी ।

उत्तम बुद्धिवाले विश्वामित्रजीका यह वचन, जिसके भीतर अपनी अभिलाषाके अनुरूप अर्थका प्रकाश निहित था, सुनकर रघुकुलकेतु श्रीरामने खेद त्याग दिया ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! मुनीश्वर विश्वामित्रके इस प्रकार पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीने धैर्य धारण करके परिपूर्ण अर्थके गौरवसे दबी हुई-सी मन्द-मन्द मनोहर वाणीमें कहा—

श्रीराम बोले—मुनीश्वर ! मैं अपने पिताजीके इस महलमें उत्पन्न हुआ, क्रमशः बढ़ा और फिर मैंने विद्या भी प्राप्त की । तत्पश्चात् सदाचारके पालनमें तत्पर रहकर तीर्थयात्राके उद्देश्यसे समुद्रोंद्वारा घिरी हुई सारी पृथ्वीपर भ्रमण किया । इतने समयमें मेरे मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ, वह इस संसारविषयक आस्थाको उठा देनेवाला है । तीर्थयात्रा करनेके अनन्तर मेरा मन विवेकसे पूर्ण हो गया, जिससे मेरी बुद्धि भोगोंकी ओरसे नीरस (विरक्त) हो गयी और उसके द्वारा मैंने इस प्रकार विचारना आरम्भ किया—

'यह जो संसारका विस्तार है, इसमें क्या सुख है ? (कुछ भी तो नहीं है ।) चर और अचर प्राणियोंकी चेष्टाओंके विषय तथा केवल वैभवकालमें ही रहनेवाले ये जितने भोगके साधनभूत पदार्थ है, सब-के-सब अस्थिर (क्षणभङ्गुर), आपत्तियोंके स्वामी (अर्थात् केवल विपत्तिमें ही डालनेवाले) तथा पापस्वरूप हैं । जैसे मरीचिकामें जल न होनेपर भी भ्रमसे उसे जल समझकर उसके द्वारा मोहित हुए मृग वनमें बड़ी दूरतक खिंचे चले जाते है, उसी प्रकार मूढ़बुद्धि हुए लोग संसारके पदार्थोंमें सुख न होनेपर भी उनमें सुख मानते हैं और उसीके लोभसे आकृष्ट होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं । यद्यपि यहाँ लोग किसीके द्वारा बेंचे नहीं गये हैं तथापि बिके हुएके समान परवश हो रहे हैं । इस बातको जानते हुए भी कि यह सब कुछ मायाका खेल है, हम सब लोग मूढ बने बैठे हैं (इस मायासे मुक्त होनेका प्रयत्न नहीं करते), यह कितने खेदकी बात है !

संसारके इस प्रपञ्चमें जो अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण भोग दिखायी देते हैं, ये क्या हैं—इसपर विचार करना चाहिये । सब लोग व्यर्थ ही उनके मोहमें पड़कर भ्रान्तिवश अपनेको बद्ध मानकर बैठे हुए हैं । जैसे वनमें किसी गड्ढेके भीतर गिरे हुए मूढ़ मृग दीर्घकालके पश्चात् यह जान पाते हैं कि हम गड्ढेमें पड़े हैं, उसी प्रकार लोगोंने

बहुत समयके बाद यह जाना है कि हम मूढ जीव व्यर्थ ही मोहमें पड़े हुए हैं। मुझे राज्यसे क्या लेना है और भोगोंसे भी क्या प्रयोजन है ? मैं कौन हूँ ? यह दृश्य-प्रपञ्च क्या है और किस लिये सामने आया है ? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहे। उसके मिथ्या होनेसे किसकी क्या हानि होनेवाली है। ब्रह्मन्! जैसे यत्र-तत्र भ्रमण करनेवाले पथिकको मरुभूमिसे विरक्ति हो जाती है, वैसे ही इस प्रकार विचार करते-करते सभी भोग्य पदार्थोंसे मेरी अरुचि हो गयी है।

मुनीश्वर! देखिये, भिन्न-भिन्न रूपोंमें उपलब्ध होनेवाले उन तुच्छ भोगोंने हमको उसी प्रकार जर्जर बना दिया है, जैसे प्रचण्ड वायु पर्वतीय वृक्षोंको जर्जर कर देती है। सब लोग अचेतन-से होकर प्राणनामधारी पवनसे प्रेरित हो व्यर्थ ही शब्दोच्चारण कर रहे हैं, जैसे कीचक नामक बाँस अपने छेदोंमें हवा भर जानेसे बाँसुरीकी-सी ध्वनि करने लगते हैं। संसारकी सम्पदाएँ सदा सबकी वञ्चना करती रहती हैं। ये मनुष्योंकी मनोवृत्तिको मोह लेती हैं, उनकी सद्गुण-राशिका नाश कर देती हैं और तरह-तरहके दुःख दिया करती हैं। दुःखोंका जाल-सा बिछाती रहती हैं। ये धन-वैभव चिन्ताओंके चक्करमें डालनेवाले हैं, इसलिये मुझे आनन्द नहीं देते तथा बच्चोंवाली स्त्रियोंसे भरे हुए घर भी भयानक विपत्तियोंके आवास-स्थानकी भाँति मुझे दुःख ही प्रदान करते हैं, सुख नहीं। मुने! जैसे बाँस और तिनकोंसे आच्छादित गर्तमें गिरनेके कारण प्राप्त होनेवाले क्षुधा, पिपासा आदि दोषोंका तथा बन्धन आदि दुर्दशाओंका विचार करते रहनेसे बँधे हुए हाथीको कभी सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार देह आदि पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताके कारण उनमें अनेक प्रकारके दोषों और दुर्दशाओंका स्मरण करके मेरे मनको भी शान्ति नहीं मिल रही है। अज्ञानरूपी रात्रिमें तीव्र मोहरूपी कुहरेसे लोगोंकी ज्ञानरूपी ज्योतिके नष्ट हो जानेपर दूसरोंको दुःख देनेमें परम चतुर विषयरूपी सैकड़ों चोर हर समय और प्रत्येक दिशामें विवेकरूपी श्रेष्ठ रत्नका अपहरण करनेके लिये जी-जानसे लगे हुए हैं। युद्धमें उन्हें मार भगानेके लिये तत्त्वज्ञानी पुरुषोंको छोडकर दूसरे कौन-से सुभट समर्थ हो सकते हैं (तत्त्वज्ञानी ही उनको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, दूसरे नहीं)। (सर्ग ११-१२)

धन-सम्पत्ति तथा आयुकी निस्सारता एवं दुःखरूपताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुने! यह लक्ष्मी, यह धन-सम्पत्ति संसारमें यदि स्थिर होकर रहे तो बहुत-से सुखोंकी साधनभूत होनेके कारण वह सबसे उत्कृष्ट वस्तु है—यह मूढ मनुष्योंकी ही कल्पना है। वास्तवमें न तो वह कभी स्थिर रहती है और न उत्कृष्ट ही कहलाने योग्य है; क्योंकि वह सबको व्यामोहमें ही डालती रहती है। अतः (विषयोंकी भाँति) वह भी निश्चय ही अनर्थकी प्राप्ति करानेवाली है। जैसे नदीसे असंख्य चञ्चल तरङ्गें प्रकट होती और वायुकी सहायतासे बढ़ती रहती हैं, उसी प्रकार इस श्री अथवा सम्पत्तिसे बहुत-सी चिन्तारूपिणी पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं और विविध दुश्चेष्टाओंद्वारा वृद्धिको प्राप्त होती रहती हैं। यह सम्पत्ति शास्त्रोक्त सदाचारसे रहित पुरुषको पाकर इधर-उधर दौड़ती रहती है, कहीं एक जगह पैर जमाकर स्थिर नहीं रहती। यह मूढ सम्पत्ति किसी गुणवान् पुरुषके द्वारा बड़े दुःखसे उपार्जित होनेपर भी प्रायः उसके उपभोगमें नहीं आती और राजाओंकी प्रकृतिके समान (श्रेष्ठ पुरुषकी उपेक्षा करके भी) गुण-अवगुणका विचार किये बिना ही जो कोई भी अपने पास रहता है, उसीका अवलम्बन कर लेती है। लोग तभीतक अपने और पराये जनोंके प्रति शीतल-मृदुल (दया, उदारता और स्नेह आदिसे सम्पन्न) बने रहते हैं जबतक कि वे प्रबल

वायुके वेगसे बर्फकी भाँति धन-सम्पत्तिके द्वारा कठोर एवं दुस्सह नहीं बना दिये जाते। जैसे मुट्ठीभर धूल मणियोंको मलिन कर देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्तिने बड़े-बड़े विद्वान्, शूरवीर, कृतज्ञ, सुन्दर और कोमल-स्वभाववाले पुरुषोंको भी मलिन (कलङ्कित) कर दिया है। भगवन्! धन-सम्पत्ति सुख देनेके लिये नहीं, दुःख देनेके लिये ही बढ़ती है; जैसे विषकी बेल सुरक्षित रक्खी जाय तो वह मौत ही देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्तिकी रक्षा करनेपर भी वह विनाशका ही कारण होती है।

जो धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर भी जनताकी निन्दाका पात्र न हो, शूरवीर होकर भी अपने ही मुँहसे अपनी बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा न करता हो तथा स्वामी होकर भी समस्त सेवकों अथवा प्रजा-जनोंपर समान दृष्टि रखता हो—ये तीन तरहके पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं। यह धन-सम्पत्ति दुःखरूपी सर्पोंके रहनेके लिये विषम (भयंकर) और गहन (दुर्गम) गुफा है तथा महान् मोहरूपी गजराजोंके निवासके लिये विन्ध्याचलकी विशाल तटभूमि है। अर्थात् यह महान् दुःख देनेवाली और महान् मोहसे आवृत करनेवाली है। सत्कर्मरूपी कमलोंको संकुचित करनेके लिये यह रात्रिके समान है। दुःखरूपी कुमुदोंके विकासके लिये चाँदनीका काम करनेवाली है तथा उत्तम दृष्टि (श्रेष्ठ बुद्धि) रूपी दीपकको बुझानेके लिये वायुके तुल्य है। धन-सम्पत्ति भय और भ्रान्तिरूपी बादलोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धि करनेवाली है, विषादरूपी विषको बढ़ानेवाली है, विकल्प (संशय) रूपी खेतीकी उपजके लिये क्यारीके समान है तथा खेद या कष्ट प्रदान करनेके लिये भयंकर सर्पिणीके तुल्य है। वैराग्यरूपी लताओंको नष्ट करनेके लिये ओलेके समान है। काम आदि मनोविकाररूपी उल्लुओंको सबल बनानेके लिये अँधेरी रात्रिके तुल्य है। विवेकरूपी चन्द्रमाको ग्रस लेनेके लिये राहुकी दाढ़ है और सौजन्यरूपी कमलको सकुचित कर देनेके लिये चन्द्रमाकी चाँदनी है। इतना ही नहीं, यह इन्द्र-धनुषके समान क्षणस्थायी विविध रंगों (रागों)के कारण मनोहर जान पड़ती है तथा बिजलीके समान चपल तथा उत्पन्न होते ही नष्ट हो जानेवाली है। प्रायः जड[1] ही इसके आश्रय हैं। यह एक रूपसे कहीं क्षणभर भी नहीं ठहरती। पानीकी लहर और दीपककी लौके समान चञ्चल है तथा जिन्हें जानना अत्यन्त कठिन है, ऐसी असंख्य दुर्दशाओंकी प्राप्ति करानेवाली है। यह धन-सम्पत्ति मनोरम होनेके कारण चित्त-वृत्तिको अपनी ओर खींच लेती है। प्रायः अनर्थकारी कर्मोंसे इसकी प्राप्ति होती है और प्राप्त होकर भी यह क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाली है।

मुने! जीवकी आयु पत्तेके सिरेपर लटकते हुए जल-बिन्दुके समान अस्थिर है। वह उन्मत्तके समान असमयमें ही इस कुत्सित शरीरको छोड़कर चल देती है। जिनका चित्त विषयरूपी विषधर सर्पोंके संसर्गसे सर्वथा जर्जर हो गया है और जिनमें प्रौढ़ आत्म-विवेकका अभाव है, उन लोगोंकी आयु उन्हें क्लेश देनेवाली ही है। जो जानने योग्य वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) को जान चुके हैं और उस अपरिच्छिन्न ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित हैं, ऐसे महापुरुषोंकी आयु लाभ-हानि एवं सुख-दुःखमें चित्तको समानभावसे सुस्थिर रखनेवाली होनेके कारण सुखदायिनी है। महर्षे! हमलोग नपे-तुले आकारवाले शरीरमें ही 'यह आत्मा है' ऐसा निश्चय किये बैठे हैं। अतः संसाररूपी मेघमें बिजलीके समान चमककर विलुप्त हो जानेवाली इस क्षणभङ्गुर आयुमें हम सुखी नहीं हैं। शरद्-ऋतुके छिटफुट बादल, तेलरहित दीपक तथा जलकी तरङ्गके समान चञ्चल आयु गयी हुई ही देखी जाती है। तरङ्गको, जल आदिमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको, विद्युत्–पुञ्जको और आकाशकमलको हाथसे पकड़नेका तो मैं विश्वास रख सकता हूँ; परंतु इस अस्थिर आयुपर मेरा कोई भरोसा

१. यहाँ जड़के दो अर्थ हैं—जल और मूर्ख। बिजलीका आश्रय जल होता है और धन-सम्पत्तिका आश्रय मूर्ख।

नहीं है (असम्भव बातें भी भले ही सम्भव हो जायँ, पर आयुको पकड़े रखना असम्भव है)। जैसे खच्चरी दुःख भोगनेके लिये ही गर्भ-धारणकी इच्छा करती है, उसी प्रकार जिसका मन विश्रान्त (तृष्णाओंसे अत्यन्त उपरत) नहीं है, ऐसा मूर्ख मनुष्य कष्ट उठानेके लिये ही व्यर्थ आयुका विस्तार (अधिक कालतक जीना) चाहता है। ब्रह्मन्! इस संसार-चक्रमें जो देहरूपी लता है, यह सृष्टिरूपी समुद्रके जलका विकारभूत फेन ही है (क्योंकि उसीके समान अत्यन्त अस्थिर है)। अतः इसमें अधिक कालतक जीवित रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। वास्तवमें वही जीवन उत्तम जीवन कहलाता है, जिससे अवश्य पाने योग्य वस्तु (परमात्म-ज्ञान) की प्राप्ति होती है, जिससे फिर शोक नहीं करना पड़ता तथा जो परम निर्वाणरूप सुखका स्थान है। यों तो वृक्ष भी जीते हैं, पशु और पक्षी भी जीवित रहते हैं; परंतु वास्तवमें उसी पुरुषका जीवन सफल है, जिसका मन मननके द्वारा जीवित न रहे—अमनीभावको प्राप्त हो जाय। संसारमें उन्हीं जीवोंका जन्म लेना सफल है और उन्हींका जीवन श्रेष्ठ है, जो फिर यहाँ जन्म नहीं लेते। शेष प्राणी तो बूढ़े गदहोंके समान हैं (जैसे गदहे अधिक कालतक जीनेपर भी उत्तम जीवन नहीं बिताते, उसी प्रकार उन प्राणियोंका भी जीवन है, जो इस अपवित्र देहको ही आत्मा माने बैठे है)।

अविवेकी मनुष्यके लिये शास्त्रोंका अध्ययन भाररूप है। रागी (विषयासक्त) पुरुषके लिये तत्त्वज्ञान भार है। अशान्त मनुष्यके लिये मन भार है तथा जो आत्मज्ञानसे शून्य है, उसके लिये शरीर भार है। जिसकी बुद्धि दूषित है, उस पुरुषके लिये रूप, आयु, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा,—ये सब-के-सब उसी प्रकार दुःखदायक हैं, जैसे बोझ ढोनेवाले मनुष्यके लिये उसके सिरका बोझ कष्टदायक होता है। आयु कठोर परिश्रम एवं सुदृढ़ कष्टको ही देनेवाली है। इसमे श्रमकी निवृत्ति कभी नहीं होती, कामनाओंकी पूर्तिका भी अभाव ही रहता है। यह आपत्तियोका परम आश्रय और रोगरूपी पक्षियोंका घोंसला है। जैसे बिलमें विश्राम करनेवाले तथा विषके द्वारा संताप देनेवाले भयंकर सर्प वनकी वायुका पा [illegible] करते हैं, उसी प्रकार शरीररूपी बिलमें रहकर विषतुल्य दाह पैदा करनेवाले भीषण रोगरूपी सर्प जीवकी आयुका पान करते हैं। जैसे काठके छोटे-छोटे कीड़े उसके भीतर रहकर पुराने पेड़को सदा काटते और उससे धूल-सी गिराते रहते हैं, उसी प्रकार सदा पीब, रक्त और मल बहानेवाले तथा देहके भीतर निवास करनेवाले दुष्ट रोग आदि दुःख निरन्तर आयुका उच्छेद करते रहते हैं। जैसे बिल्ली चूहेको शीघ्र निगल जानेके लिये उत्कट अभिलाषाके साथ निरन्तर उसकी ओर ताकती रहती है, उसी प्रकार मृत्यु भी आयुको अपना ग्रास बनानेके लिये ही सदा उसकी ताकमें बैठी रहती है। इस संसारमे यह आयु जिस प्रकार स्थिरता और सुखके द्वारा सदाके लिये परित्यक्त, अत्यन्त तुच्छ, गुणहीन तथा मृत्युकी भाजन है, वैसी दूसरी कोई वस्तु नही है। (सर्ग १३-१४)

अहंकार और चित्तके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ! यह अनेक रूप-वाला संसार दीनोंसे भी दीन विषयलम्पट लोगोंको अहंकार-के वशीभूत होनेके कारण ही निरन्तर राग-द्वेष आदि दोषोंके कोशरूप अनर्थकी प्राप्ति कराता रहता है। अहंकारके वशमें होनेसे ही मनुष्यपर आपत्ति आती है—उसे शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। अहंकारसे ही अनेक दुःखद मानसिक व्यथाएँ होती हैं तथा अहंकारसे ही राग अथवा दुश्चेष्टाएँ होती हैं। जैसे बहेलियेके द्वारा मृगोंको पकड़नेके लिये बहुत बडा जाल बिछाया जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी दोषके कारण

संसाररूपी अँधेरी रातमें जीवोंके मनको मोहित करनेवाली विशाल माया बिछी हुई है। अहंकार शान्तिरूपी चन्द्रमाको निगलनेके लिये राहुका मुख है, पुण्यरूपी कमलोंका विनाश करनेके लिये हिमरूप वज्र है। और सब भूतोंमें समदर्शितारूपी मेघका विध्वंस करनेके लिये शरद् ऋतु है। ऐसे अहंकारका मैं त्याग करता हूँ*। न मैं अमुक नामवाला हूँ, न विषयोंमें मेरी रुचि है और न मन ही मेरा है। मैं शान्त होकर मनको जीतनेवाले महात्मा पुरुषकी भाँति अपने-आपमे ही स्थित रहना चाहता हूँ। ब्रह्मन्! यदि अहंकार रहता है तो आपत्तिकालमें मुझे दुःख होता है और यदि नहीं रहता तो मैं निरन्तर सुखका अनुभव करता हूँ। इसलिये अहंकाररहित होना ही श्रेष्ठ है।

मुने! मैं अहंकारका त्याग करके शान्तचित्त हो उद्वेगशून्य होकर बैठा रहता हूँ; क्योंकि भोगोंके समूहका आधार ही क्षणभङ्गुर है। इस देहरूपी विशाल वनमें जो घनीभूत अहंकाररूपी मोटा-ताजा सिंह है, उसीने इस जगत्का विस्तार किया है (इसे अपनी क्रीडास्थली बनाया है)। मुने! जैसे शत्रु किसीको मारनेके लिये मन्त्र-तन्त्रके द्वारा मारण-उच्चाटन आदिका जाल फैलाता हैं, उसी प्रकार इस अहंकाररूपी महान् शत्रुने संसारमें जीवका पतन करनेके लिये बिना मन्त्र-तन्त्रके ही स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके जाल फैला रक्खे हैं। इस अहंकारका मूलोच्छेदपूर्वक निराकरण कर देनेपर ये सभी मानसिक दुश्चिन्ताएँ तुरत अपने-आप विलीन हो जाती हैं। अहंकाररूपी बादलके फट जानेपर शान्तिका विनाश करनेवाला एवं हृदयाकाशमें छाया हुआ महान् मोहरूपी कुहासा धीरे-धीरे न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। महानुभाव मुनीश्वर! जो सम्पूर्ण आपत्तियोंका घर, शान्ति आदि उत्तम गुणोंसे रहित तथा हृदयके भीतर निवास करनेवाला है, उस अनित्य अहंकारका मैं आश्रय लेना नहीं चाहता (उसके अधीन होना नहीं चाहता)। अपने सुदृढ़ विवेकके द्वारा मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि यह अहंकार नामक वस्तु सब ओरसे अतिशय दुःखरूप ही है। अतः अब मेरे लिये जो कुछ भी कर्तव्य शेष रह गया हो, उसे बताते हुए आप मुझे अध्यात्मविषयक उपदेश दीजिये।

मुनीश्वर! जैसे वायुके प्रवाहमें पड़कर मोर-पंखका अग्रभाग वेगसे हिलता रहता है, उसी प्रकार यह चञ्चल चित्त भी अत्यन्त व्यग्र होकर व्यर्थ ही इधर-उधर दौड़ता रहता है। जैसे कुत्ता अपना पेट भरनेके लिये व्याकुल हो गाँवमें दूर-से-दूरतकके घरों या स्थानोंका चक्कर लगाया करता है, वही दशा इस चञ्चल मनकी है। इसे कहीं भी कोई अनुकूल वस्तु नहीं प्राप्त होती। इसलिये यह दीन बना रहता है। यदि इसे कभी विशाल धनका भंडार प्राप्त हो जाय, तो भी यह भीतरसे तृप्त नहीं होता। जैसे बाँस या बेंतकी बनी हुई पिटारी कभी जलसे नहीं भरती, उसी प्रकार धनसे मनुष्यका जी नहीं भरता। मुने! जैसे अपने झुंडसे बिछुड़कर जालमें जकड़े हुए मृगको कभी सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार समस्त साधनोंसे शून्य (एवं सत्सङ्गरहित) मन सदा दुर्वासनाओंके जालमें जकड़ा रहता है। इसलिये उसे कभी सुख और संतोष नहीं प्राप्त होता। मुने! तरङ्गोंके समान चञ्चल वृत्तिको धारण करनेवाला यह मन अपने स्थूल-सूक्ष्म अवयव-विभागको छोड़कर एक क्षणके लिये भी हृदयमें स्थिर नहीं रहता। विषयोंके चिन्तनसे क्षोभको प्राप्त हुआ यह मन मन्दराचलके आघातसे उछलती हुई क्षीरसागर-की दुग्धराशिके समान दसों दिशाओंमें दौड़ता या

* जैसे चन्द्रमाको राहु निगल जाता है, कमलोंको हिम या ओलोंकी वर्षा नष्ट कर देती है और शरद् ऋतु मेघोंका विध्वंस कर डालती है, उसी प्रकार अहंकार शान्ति, क्षमा, दया तथा प्राणिमात्रमें समभावको नष्ट कर देता है।

भटकता फिरता है, किंतु कहीं भी शान्तिको नहीं पाता।

ब्रह्मन्! जैसे मूढ़ मृग गड्ढेमें गिरनेकी कोई चिन्ता न करके हरी-हरी दूब चरनेकी इच्छासे प्रेरित हो बहुत दूरतक दौड़ लगाता रहता है, उसी प्रकार यह मन मायाके गड्ढेमें गिरनेकी परवा न करके भोग-सामग्रीकी इच्छासे बड़ी दूरतक चक्कर लगाता रहता है (इन्द्रियोंके मनसूबे बाँधता रहता है)। जैसे पिंजड़ेमें बंद किया हुआ सिंह चिन्ताके कारण एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता, उसी तरह नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे अत्यन्त व्यग्र हुआ मन अपनी चञ्चल वृत्तिके कारण कहीं स्थिर नहीं रह पाता। जैसे हंस जलसे दूधको निकाल लेता है, वैसे ही देहरूपी रथपर आरूढ़ हुआ यह मन भी इस शरीरसे उद्वेगशून्य समताके सुखका अपहरण कर लेता है। ब्रह्मन्! मनरूपी ग्रह अग्निसे भी अधिक उष्ण है। उसके ऊपर चढ़ना पर्वतपर चढ़नेसे भी अधिक कठिन है तथा यह वज्रसे भी बढ़कर कठोर है। उसको वशमें लाना बहुत ही कठिन है। जैसे मांसभक्षी पक्षी मांसपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार मन भी इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध होनेवाले विषयोंकी ओर दौड़ पड़ता है। परंतु जैसे बालक पहले तो खिलौनेकी ओर लपकता है, फिर उसे पाकर थोड़ी ही देरमें उससे मुँह मोड़ लेता है, उसी तरह यह मन प्राप्त हुए विषयसे क्षणभरमें ही खिन्न हो जाता है (और नये-नये विषयकी खोज करने लगता है)।

समुद्रको पी जाना, सुमेरु पर्वतको जड़से उखाड़ फेंकना तथा अग्निका ही आहार करना—ये महान् एवं दुस्साध्य कार्य हैं। परंतु चञ्चल चित्तको वशमें कर लेना इनसे भी महान् एवं कठिन कार्य है। सम्पूर्ण पदार्थोंका कारण चित्त ही है। जबतक चित्त है, तभीतक तीनों लोकोंकी सत्ता है, उसके क्षीण होते ही जगत् क्षीण हो जाता है। इसलिये इस चित्तरूपी रोगकी यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये। मुने! जैसे महान् पर्वतसे अनेकानेक वनों एवं काननोंकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मनसे ये सैकड़ों सुख-दुःख पैदा हुए हैं—इसमें संशय नहीं है। अध्यात्मविषयक विवेकसे जब यह मन दुर्बल हो जाता है, तब ये सारे सुख-दुःख निश्चय ही पूर्णरूपसे गल जाते हैं—ऐसा मेरा विश्वास है। महान् मुमुक्षु पुरुष जिसके जीते जानेपर शम, दम, क्षमा, दया, समता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि समस्त सद्गुणोंके स्वाधीन होनेकी आशा करते रहे हैं, उस शत्रुरूप चित्तको जीतनेके लिये मैं सब प्रकारसे उद्यत हुआ हूँ। अतएव जैसे चन्द्रमा मेघमालाका अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार मैं तीव्र वैराग्य-सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण जड और मलिन विलासवाली लक्ष्मीका अभिनन्दन नहीं करता। (सर्ग १५-१६)

तृष्णाकी निन्दा

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर! चेतन जीवरूपी आकाशमें हृदयके अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण दुस्तर तृष्णारूपिणी रात्रिका प्रसार पाकर नाना प्रकारके दोषरूपी उल्लुओंकी जमातें क्रियाशील हो उठती हैं। जैसे रातके अँधेरेके स्पर्शसे अभिषिक्त तथा ओस-बाष्पके कणोंसे भिगे हुए, काञ्चन पुष्प (धतूरेके फूल) की उज्ज्वल शोभासे सुशोभित चनेकी फलियाँ निश्चय ही अधिक विकासको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार अनेक तरहके दुःखमय विलापोंसे प्रकट हुए अश्रुबिन्दुओंसे आर्द्र तथा निकटवर्ती सुवर्ण आदिकी अभिलाषाद्वारा उज्ज्वल हुई चिन्ता या तृष्णा अवश्य अधिकाधिक बढ़ने लगती है। जैसे समुद्रके भीतर

भँवर एवं हलचल उत्पन्न करनेके लिये ही तरङ्गें उठा करती हैं, उसी तरह हृदयको चञ्चल बना देनेवाली तृष्णा अन्तःकरणमें भ्रम एवं आकुलता पैदा करनेके लिये ही उस सीमातक आ पहुँचती है, जहाँ वह धनादिकी प्राप्तिके लिये कष्टप्रद उत्साहको बढ़ावा देती है। यद्यपि तृष्णाके वेगको रोकनेके लिये यह चित्तरूपी चातक नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, तथापि जैसे आँधी सड़े-गले तिनकेको न जाने कहाँ-से-कहाँ उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार कलङ्किनी तृष्णाने इसे न जाने कहाँ—किस अयोग्य अवस्थामें पहुँचा दिया। जैसे जालमें फँसे हुए पक्षी अपने घोंसलेमें जानेकी शक्तिसे वञ्चित हो वहीं शोक-दुःखसे मोहित हो जाते हैं, वैसे ही हमलोग चिन्ता या तृष्णाके जालमें फँसकर अपने पारमार्थिक स्वरूपको प्राप्त करनेमें असमर्थ हो मोहमें डूबे रहते हैं।

तृष्णा एक पागल घोड़ीके समान है, जो यहाँसे दूर-दूर जाकर बारंबार लौट आती और फिर तुरंत ही सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर काटने लगती है। जैसे घटीयन्त्र (रहट) के ऊपर लगी हुई रस्सी घटके साथ सदा ऊपर-नीचे आती रहती है, जड या जलसे सम्बन्ध रखती है, अपने भीतर गाँठें रखती है और चञ्चल बनी रहती है, उसी तरह यह तृष्णा धर्म और अधर्मके अनुसार सदा स्वर्ग और नरकमें गमनागमन कराती, चेतन और जडकी ग्रन्थिसे जुड़ी रहती, जड पदार्थोंसे सम्बन्ध रखती और सदा विक्षुब्ध बनी रहती है। जो देहके भीतर मनमें गुँथी हुई है, जिसका छेदन करना प्रायः सभीके लिये अत्यन्त कठिन है, उस तृष्णाके द्वारा मनुष्य उसी प्रकार शीघ्र भारवाही बना लिया जाता है, जैसे रासकी रस्सी बैलको तत्काल भार ढोनेके लिये विवश कर देती है। जैसे बहेलियेकी स्त्री पक्षियोंको फँसानेके लिये जाल बनाती है, उसी प्रकार सदा आकर्षणशील स्वभाववाली तृष्णा लोगोंको फँसानेके लिये स्त्री, पुत्र और मित्र आदिकी परम्परा रचती रहती है। यद्यपि मैं धीर हूँ, तथापि भयानक काली रातके समान तृष्णा मुझे भयभीत-सा कर देती है। विवेकरूपी नेत्रसे सम्पन्न हूँ, तो भी वह मुझे अंधा-सा बना देती है और सच्चिदानन्दघनरूप होनेपर भी मुझे वह मानो खेदमें डाल देती है।

तृष्णाको काली नागिनके समान समझना चाहिये। वह सहस्रों कुटिलताओंसे भरी हुई है। विषयभोग-सुख ही उसका कोमल स्पर्श है। वह विषमतारूपी विषको ही उगलती है और तनिक-सा स्पर्श हो जानेपर भी डँस लेती है (अपने सम्पर्कमें आये हुए प्राणीका नाश कर देती है*)। इतना ही नहीं, तृष्णा काली-कलूटी राक्षसीके समान भी बतायी गयी है। वह पुरुषोंके हृदयका भेदन करनेवाली तथा मायामय जगत्को रचनेवाली है। दुर्भाग्य प्रदान करनेवाली तथा दीनताकी प्रतिमूर्ति है। पर्वतकी गुफामें एक प्रकारकी लता होती है, जो सूर्य-किरणोंके न मिलनेसे सदा अत्यन्त मलिन रहती है। वह खानेमें कड़वी और परिणाममें उन्मादका रोग पैदा करनेवाली है। उसकी बेल बहुत लंबी होती है और उसमें रसकी मात्रा अधिक रहती है। यह तृष्णा भी उसी लताके समान निरन्तर अत्यन्त मलिन, परिणाममें दुःखसे पागल बना देनेवाली, वासनारूपी विशाल ताँतोंसे युक्त तथा विषयोंमें गहरा स्नेह पैदा करनेवाली है। जैसे ऊँचे वृक्षोंकी शाखाके अग्रभागमें स्थित सूखी हुई मञ्जरी पुष्पशून्य, निष्फल तथा कण्टकाकीर्ण होनेके कारण आनन्ददायिनी नहीं होती, उसी प्रकार तृष्णा सर्वथा सूनी, निष्फल, व्यर्थ विस्तारको प्राप्त होनेवाली, अमङ्गलकारिणी और क्रूर है। यह कभी सुखदायिनी नहीं होती। संसाररूपी विशाल वनमें तृष्णारूपिणी विषकी बेल फैली हुई है। जरा-मृत्यु आदि ही इसके फूल तथा

* नागिनकी भी चाल टेढ़ी और स्पर्श कोमल होता है तथा वह थोड़ा-सा छू जाय तो भी छूनेवालेको डँसकर मार डालती है।

विनिपात और उत्पात (अधःपतन और उपद्रव) ही फल हैं ।

मुने ! चिन्ता (तृष्णा) चञ्चल मोरनीके समान है । मोरनी वर्षाकी बूँदें पड़नेपर बारंबार नृत्य करती है, शरद्-ऋतुका प्रकाश आ जानेपर शान्त हो जाती है और दुर्गम-स्थानोंमें भी पैर रखती है, इसी तरह तृष्णा भी कुहरेके समान मोहके आवरणमें स्फुरित होती है—नाच उठती है, विवेकका प्रकाश छा जानेपर शान्त हो जाती है और असाध्य वस्तुओंमें भी पाँव रख देती है । केवल वर्षा कालमें इतराकर बहनेवाली छोटी नदी और तृष्णामें बहुत कुछ समानता है । वह नदी वर्षाके अतिरिक्त समयमें चिरकालतक जलशून्य पड़ी रहती है । वर्षा-ऋतुमें भी बीच-बीचमें जब वृष्टि रुक जाती है, वह जलसे खाली हो जाती है; परंतु पानी बरसनेपर उसमें क्षणभरमें बाढ़ आ जाती है और जलकी बहुत-सी उत्ताल तरङ्गें उठने लगती हैं । इसी प्रकार तृष्णा भी चिरकालतक फलशून्य ही रहती है, कभी-कभी सफल होनेपर भी बीच-बीचमें फलशून्य हो जाती है । जड पदार्थोंमें ही इसे अधिक आनन्द मिलता है और क्षणभरमें ही यह उल्लसित हो उठती है । चारेके लोभसे चञ्चल हुई चिड़िया जैसे फलशून्य खड़े हुए वृक्षको छोड़कर दूसरे-दूसरे फलयुक्त वृक्षपर चली जाती है, उसी प्रकार तृष्णा भी विवेकी एवं विरक्त पुरुषको छोड़कर विषयासक्त पुरुषके पास चली जाती है ।

तृष्णा और चञ्चल बँदरिया दोनोंका स्वभाव एक-जैसा है । वे अलङ्घ्यस्थानमें भी पैर रख देती हैं, तृप्त हो जानेपर भी नये-नये फलकी इच्छा करती हैं और विषयरूप एक स्थानपर अधिक कालतक नहीं ठहरतीं । तृष्णा हृदयरूपी कमलमें निवास करनेवाली भ्रमरी है । यह क्षणभरमें पातालको चली जाती है, फिर दूसरे ही क्षण आकाशकी सैर करने लगती है और क्षण-भरमें ही दिगन्तरूपी निकुञ्जमें मड़राती दिखायी देती है । संसारमें जितने दोष हैं, उन सबमें एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है, जो दीर्घकालतक दुःख देती रहती है । वह अन्तःपुरमें रहनेवाले मनुष्यको भी भीषण संकटमें डाल देती है । तृष्णारूपिणी मेघमाला मोहरूपी नीहार-पुञ्जसे घनीभूत होकर परम ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशको ढँक देती है और जगत्को केवल जडता (जल अथवा अज्ञान) ही प्रदान करती है । तृष्णा सांसारिक व्यवहारमें फँसे हुए समस्त प्राणियोंको बाँधनेके लिये एक मजबूत रस्सीके समान है । उसने सबके मनको बाँध रक्खा है । इन्द्र-धनुष जिन लक्षणों अथवा धर्मोंसे युक्त दिखायी देता है; वे ही तृष्णाके भी लक्षण अथवा धर्म हैं । वह इन्द्र-धनुषकी ही भाँति बहुरंगी, गुणहीन[1], विशाल, मलिन (मेघ अथवा अशुद्ध अन्तःकरणवाले प्राणीके) आधारपर स्थित, शून्यरूप और शून्यमें ही पैर रखनेवाली है । तृष्णा गुणरूपी हरी-भरी खेतीको नष्ट करनेके लिये वज्रपातके समान है । आपत्तियोंको बढ़ानेके लिये उस शरद्-ऋतुके तुल्य है, जिसके आनेपर धान आदिकी खेती पकी हुई बालोंसे सम्पन्न हो जाती है । तत्त्व-ज्ञानरूपी कमलोंका विध्वंस करनेके लिये ओलेके सदृश और अज्ञानरूपी अन्धकारकी वृद्धिके लिये वह हेमन्तकी लंबी रातके समान है ।

तृष्णा इस संसाररूपी नाटककी नटी है, प्रवृत्तिरूप नीडमें निवास करनेवाली पक्षिणी है, मनोरथ-रूपी महान् वनमें विचरनेवाली हरिणी है और कामरूपी संगीतको उद्बुद्ध करनेवाली वीणा है । वह व्यवहाररूपी समुद्रकी लहर है । मोहरूपी मतवाले गजराजको बाँधे रखनेके लिये साँकल है, सृष्टिरूपी वटवृक्षकी सुन्दर बरोह है और दुःखरूपी कुमुदोंको विकसित करनेवाली चाँदनी है । इतना ही नहीं, तृष्णा जरा-मृत्युरूप दुःखमय रत्नोंका संग्रह करनेके लिये एकमात्र रत्न-पेटिका है तथा आधि-व्याधिरूप विलासोंका नित्य विस्तार करनेवाली मदमत्त विलासिनी है । तृष्णाको व्योमवीथी (आकाश)

१. इन्द्र-धनुषके पक्षमें गुणका अर्थ प्रत्यञ्चा है ।

के समान समझना चाहिये। जैसे आकाश कभी सूर्यके प्रकाशसे निर्मल हो जाता है, कभी मेघोंकी घटा घिर आनेसे वहाँ कुछ क्षणोंके लिये कुछ-कुछ अँधेरा छा जाता है और कभी वह कुहरेसे ढक जाता है, उसी प्रकार तृष्णा भी कभी किंचित् विवेकका प्रकाश पाकर निर्मल हो जाती है, विवेक न होनेपर अज्ञानसे मलिन रहती है और कभी कुहरेके समान मोहसे आवृत हो जाती है। जबतक विष-विशेषके उद्भवसे प्रकट होनेवाले विसूचिका (हैजा) नामक रोगके समान मृत्युकी हेतुभूता तृष्णा पीछे लगी रहती है, तभीतक यह चञ्चल-चित्त मूढ़ जन-समुदाय मोहको प्राप्त होता रहता है।

लोग विषयोंका चिन्तन त्याग देनेसे ही अपने सम्पूर्ण दुःखको दूर कर सकते हैं। विषय-चिन्तनका त्याग ही तृष्णारूपिणी विसूचिकाके निवारणका मन्त्र कहा गया है। तृष्णा वेणुलता (बाँस) बतायी जाती है। जैसे बाँस भीतरसे खोखला, बीच-बीचमें गाँठोंसे युक्त और कोंपलरूपी बड़े-बड़े काँटोंसे भरा होता है तथा उसमें सबको प्रिय लगनेवाले मोती उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार तृष्णा भी भीतरसे खोखली, कपट-दुराग्रह आदि गाँठोंसे भरी, चिन्ता और दुःखरूपी कण्टकोंसे परिपूर्ण तथा मोती-मणि आदि धन-सम्पत्तिमें अधिक प्रेम रखनेवाली है। फिर भी यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि परम बुद्धिमान् ज्ञानीजन विवेककी चमचमाती हुई तलवारसे उस दुश्छेद्य चिन्ताको भी काट डालते हैं। ब्रह्मन्! जीवोंके हृदयमें रहनेवाली यह तृष्णा जैसी तीखी है, वैसी तीखी न तो तलवारकी धार है न वज्राग्निकी लपटें हैं और न आगमें तपाये हुए लोहकणोंकी चिनगारियाँ ही हैं। तृष्णा दीप-शिखाके समान कही गयी है। जैसे दीपककी शिखा बीचमें उज्ज्वल, अन्तमें काली होती है, उसका अग्रभाग तीखा होता है, उसमें तेल और लंबी-सी बत्ती रहती है, वह प्रकाशमान होती है, और दाहके कारण उसका स्पर्श दुस्सह होता है, उसी प्रकार तृष्णा भी बीचमें भोग-वैभवसे उज्ज्वल और अन्तमें दुःख एवं मृत्यु देनेवाली होनेके कारण काली होती है, उसका अग्रभाग या आरम्भ भी असह्य होता है। वह स्त्री-पुत्र आदिके स्नेहसे पूर्ण तथा बाल्य, यौवन, बुढ़ापा नामक अवस्था-विशेषरूपी बत्तियोंसे युक्त होती है, इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा इष्ट वस्तुके वियोग-जनित अन्तर्दाह उत्पन्न करनेके कारण यह सबके लिये असह्य हो उठती है। महर्षे! मेरुपर्वतके समान परम उन्नत, विद्वान्, शूरवीर, सुस्थिर और श्रेष्ठ मनुष्यको भी यह एकमात्र तृष्णा ही पलभरमें याचक बनाकर तिनकेके समान हल्का कर देती है। (सर्ग १७)

शरीर-निन्दा

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महामुने! गीली आँतों (मल-मूत्र आदिकी थैलियों) और नाड़ियोंसे भरा हुआ, नाना प्रकारके विकारोंसे युक्त तथा अन्तमें पतनशील (मरणधर्मा) जो शरीर संसारमें सबके सामने प्रकाशित हो रहा है, वह भी केवल दुःख भोगनेके लिये ही है। यह थोड़े-से खान-पान आदिके द्वारा ही आनन्दित हो उठता है और थोड़े-से ही शीत, घाम आदिसे खिन्न हो जाता है; अतः इस शरीरके समान गुणहीन, शोचनीय और अधम दूसरा कोई नहीं है। यह शरीर वृक्षके तुल्य है। दोनों भुजाएँ इसकी दो शाखाएँ हैं, परिपुष्ट कंधा तना है। दो नेत्र इसके बिल या खोडर हैं। मस्तकका स्थान इसका बड़ा भारी फल है। यह दाँतरूपी श्रेणीबद्ध पक्षियोंके बैठनेके लिये स्तम्भके समान सुन्दर आधार है। दोनों कान शब्दरूपी कठफोरवा पक्षियोंके प्रवेश करनेके लिये खोखले हैं। हाथ और पैरोंकी अंगुलियाँ

इसके सुन्दर पल्लव हैं। गुल्म नामक (पेटका) रोग ही इसपर फैली हुई लताएँ अथवा झाड़ियाँ हैं। यह कर्म करनेके लिये पञ्चभूतोंके समूहसे संगठित हुआ है। जीव तथा ईश्वररूप पक्षियोंने इसपर अपने घोंसले बना रक्खे हैं। दाँतरूपी केसरोंसे सुशोभित, उत्पत्ति-विनाश-शील तथा मन्द हासमय विकाससे युक्त हर्षरूपी फूलों-द्वारा यह शरीर-वृक्ष सदा अलंकृत होता रहता है। सुन्दर कान्ति ही इसकी छाया है। यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी पथिकोंका विश्राम-स्थान है। इसे किसका आत्मीय कहा जाय और किसका पराया? इसके ऊपर आस्था और अनास्था ही क्या हो सकती है? तात! भवसागर तथा नदी आदिको पार करनेके लिये बारंबार अपनायी गयी देहलता एवं नौकामें कौन आत्मीयताकी भावना कर सकता है? जहाँ रोमरूपी असंख्य वृक्ष उगे हुए हैं, जो इन्द्रियरूपी बहुसंख्यक गड्ढोंसे भरा हुआ है, उस देहरूपी निर्जन वनमें कौन विश्वस्त (निर्भय) होकर रह सकता है?

जो संसाररूपी वनमें उगा और बढ़ा है, जिसपर चित्तरूपी चञ्चल वानर उछलता-कूदता रहता है, जिसका प्रत्येक अवयव विषय-चिन्तनरूपी मञ्जरीसे अलंकृत है, महान् दुःखरूपी घुनोंके लग जानेसे जिसमें सब ओर छेद या घाव हो गये हैं, जो तृष्णारूपिणी सर्पिणीका घर है, जिसपर कोपरूपी कौएने घोंसला बना रक्खा है, जिसमें मन्द मुसुकानरूपी पुष्प प्रकट होते और खिलते हैं, इसीलिये जिसकी बड़ी शोभा होती है, शुभ और अशुभ (सुख और दुःख) जिसके महान् फल हैं, सुन्दर कंधे और बाँहें जिसकी शाखाएँ हैं, अङ्गुलियोंसे युक्त हाथरूपी पुष्प-गुच्छोंके कारण जो बड़ा सुन्दर जान पड़ता है, प्राणवायुरूपी पवनके स्पन्दनसे जिसके सम्पूर्ण अवयवरूपी पल्लव हिलते रहते हैं, जो समस्त इन्द्रियरूपी पक्षियोंका आधार है, सुन्दर घुटनोंसे युक्त शरीरका निचला भाग जिसका तना है, जो बहुत ऊँचा है, यौवनकी कान्तिरूपी छायासे युक्त होनेके कारण जो सरस प्रतीत होता है, कामरूपी पथिक जिसका सेवन करता है, मस्तकपर उगे हुए बड़े-बड़े केश-कलाप जिसपर जमे हुए तिनकोंके समुदाय हैं, अहंकाररूपी गीध जिसपर घोंसला बनाकर रहता है, जो भीतरसे खोखला (छिद्रयुक्त) है, नाना प्रकारकी वासनारूपिणी जटाओंके जालका उद्गम-स्थान होनेके कारण जिसे काटना अत्यन्त कठिन है तथा परिश्रमरूपी शाखा-विस्तारके कारण जो विरस (रूखा) दिखायी देता है, वह शरीररूपी वृक्ष मुझे सुखद नहीं प्रतीत होता।

मुने! शरीर अहंकाररूपी गृहस्थका विशाल गृह है। यह गिरकर सदाके लिये धरतीपर लोट जाय अथवा चिरकालतक स्थिर बना रहे, इससे मेरा क्या प्रयोजन है? जहाँ इन्द्रियरूपी पशु कतार बाँधकर खड़े रहते हैं, तृष्णारूपिणी गृहस्वामिनी बारंबार (घर-आँगनमें) डोलती-फिरती है तथा जिसके समस्त अवयवोंको आसक्तिरूपी गेरु आदिके रंगसे रँगा गया है, वह शरीररूपी गृह मुझे अभीष्ट नहीं है। पीठकी हड्डी (रीढ़) रूपी शहतीरोंके परस्पर मिलनेसे जिसके भीतर खाली स्थान बहुत थोड़ा रह गया है तथा जो आँतकी रस्सियोंसे बाँधकर खड़ा किया गया है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जिसमें सब ओर नस नाड़ी और आँतोंकी रस्सियाँ फैली हुई हैं, जिसे रक्तरूपी जलसे बनाये गये गारेके द्वारा लीपा गया है तथा बुढ़ापा-रूपी चूनेसे जिसपर सफेदी की गयी है, वह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। चित्तरूपी भृत्यने नाना प्रकारकी अनन्त चेष्टाओंद्वारा जिसकी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ कर दी है तथा मिथ्या और मोह (असत्य और अज्ञान)—ये दो जिसके बड़े-बड़े खंभे हैं, वह देहरूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। दुःखरूपी छोटे-छोटे बच्चोंने जहाँ रो-रोकर कोलाहल मचा रक्खा है,

गाढ़ निद्रारूपी सुख-शय्याके कारण जो मनोरम प्रतीत होता है तथा जिसमें दुश्चेष्टारूपिणी दग्ध[1] दासी निवास करती है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। मुनीश्वर! जो मल आदि दोषोंसे युक्त विषय-समूहरूपी बर्तनों तथा अन्यान्य उपकरणोंसे ठसाठस भरा हुआ है तथा जिसमें अज्ञानरूपी नोनछा लगा हुआ है, वह देहरूपी गेह मुझे अभीष्ट नहीं है। गुल्फरूपी[2] आधार-काष्ठपर स्थित जो पिंडलियाँ हैं, वे मानो खंभे हैं। घुटना उनका मस्तक है, वह भी जिसके ऊरुस्तम्भका आधार है तथा दोनों बड़ी-बड़ी भुजाएँ दो आड़ी लकड़ियोंके समान जिसे दृढ़तापूर्वक धारण करती हैं, वह देहरूपी घर मुझे इष्ट नहीं है।

ब्रह्मन्! जहाँ ज्ञानेन्द्रियरूपी झरोखोंके भीतर प्रज्ञारूपिणी गृहस्वामिनी क्रीडा कर रही है तथा चिन्ता-रूपिणी पुत्रियाँ खेल रही हैं, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है। जो सिरके केशरूपी छाजनसे छाया हुआ है, कानरूपी शोभाशाली चन्द्रशालाओंसे सुशोभित है तथा कुछ लंबी अङ्गुलिरूप काष्ठचित्रोंसे सुसज्जित है, वह शरीररूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। जिसके समस्त अङ्गरूपी भित्तियोंके समूहमें रोमरूपी घने जौके अङ्कुर उगे हैं और जहाँ पेटका गड्ढा कभी भरता नहीं, ऐसा देहरूपी गेह मुझे नहीं चाहिये। जिसमें नखरूपी मकड़ियोंका निवास है, जहाँ भूखरूपी कुतिया निरन्तर शोर मचाये रहती है तथा जिसमें भयानक शब्द करनेवाली प्राणवायु सदा चलती रहती है, ऐसे देह-गेहकी प्राप्ति मुझे प्रिय नहीं है। जहाँ श्वास-प्रश्वासके रूपमें वायुके वेगका निरन्तर भीतर-बाहर आना-जाना लगा रहता है और जिसकी इन्द्रियरूपी खिड़कियाँ सदा खुली रहती हैं, वह देहरूपी घर मुझे कभी इष्ट नहीं है। जिसके मुखरूपी दरवाजेपर जिह्वारूपिणी वानरी सदा डटी रहती है, अतएव जो भयङ्कर दिखायी देता है तथा जिसके दाँतरूपी हड्डियोंके टुकड़े स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं, वह शरीररूपी घर मुझे नहीं चाहिये। यह देह गेह त्वचारूपी चूनेके लेप (या पलस्तर) से चिकना किया हुआ है। नाड़ीरूप यन्त्रोंके संचारसे यह चञ्चल बना रहता है और मनरूपी सुन्दर चूहेने इसमें सब ओर बिल खोद रक्खे हैं; इसलिये यह मुझे प्रिय नहीं है। जो मन्द मुसकानरूपी दीपककी प्रभासे क्षणभरके लिये उद्भासित हो उठता है, एक ही क्षणमें आनन्दोल्लाससे सुन्दर दिखायी देता है और फिर क्षणमात्रमें ही अज्ञाना-न्धकारसे व्याप्त हो जाता है, वह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जो समस्त रोगोंका घर है, झुर्रियों तथा पके बालोंका नगर है और समस्त मानसिक चिन्ताओंका दुर्गम वन है, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है।

यह शरीर एक भयानक वन है। इन्द्रियाँ ही इस जंगलके भालू हैं, जो अपने रोषके कारण इसे दुर्गम बनाये हुए हैं। यह भीतरसे सूना है तथा अनेकानेक निस्सार खोडरोंसे युक्त है। इसकी दिशारूपी कुंजें घोर अज्ञानान्धकारसे व्याप्त होनेके कारण गहन जान पड़ती हैं; अतः यह मुझे कदापि प्रिय नहीं है। यहाँ धन-सम्पत्ति, राज्य, शरीर, नाना प्रकारकी चेष्टाओं और मनोरथोंसे क्या लेना-देना है; क्योंकि काल कुछ ही दिनोंमें इन सबको अपना ग्रास बना लेता है। मुने! यह शरीर केवल रक्त और मांसका ही बना हुआ है। इसका एक ही धर्म है—विनाश। फिर इसके बाहरी और भीतरी स्वरूपपर विचार करके बताइये, इसमें कौन-सी रमणीयता है?

तात! जो शरीर मरनेके समय जीवका अनुसरण नहीं करते—उसका साथ छोड़ देते हैं, वे कितने बड़े कृतघ्न हैं। फिर आप ही कहिये, उनपर बुद्धिमान् पुरुषोंकी क्या आस्था हो सकती है? यह शरीर उस कोमल पल्लवके समान है, जो तनिक-सी वायुका संचार

१. दाह और घावसे पीड़ित।
२. एड़ीके ऊपरकी गाँठ।

होते ही जोर-जोरसे हिलने लगता है, यह आधिव्याधिरूपी सैकड़ों कण्टकोंसे क्षत-विक्षत होनेके कारण जर्जर हो जाता है। इसका स्वभाव क्षुद्र है तथा यह कड़वा और नीरस है; अतएव मुझे प्रिय नहीं है। चिरकालतक यत्नपूर्वक खा-पी लेनेके बाद भी नूतन पल्लवोंके समान कोमल कृशताको प्राप्त हो यह बारंबार विनाशकी ओर ही दौड़ता है। दीर्घकालतक लोगोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके धन-सम्पत्तिका सेवन करनेके बाद भी न तो यह ऊँचे उठता है और न स्थिरताको ही प्राप्त होता है, फिर इस शरीरका किसलिये पालन किया जाता है ? कोई भोग-वैभवसे सम्पन्न हो या दरिद्र—दोनोंका शरीर समान ही होता है, बुढ़ापेके समय बूढ़ा होता और मृत्युकालमें मर जाता है। उसे अपनेमें किसी विशेषताका अनुभव नहीं होता। जो लोग इन नाशवान् शरीरोंमें आस्था रखते हैं—इन्हें नित्य स्थिर रहनेवाला मानते हैं तथा जो संसारकी स्थिरतापर भी विश्वास करते हैं, वे मोहरूपी मदिराका पान करके उन्मत्त हो गये हैं। उन्हें बारंबार धिक्कार है।

मुने! 'मैं न तो इस शरीरका कोई सम्बन्धी हूँ और न शरीर हूँ। न यह शरीर मेरा है और न मैं ही यह शरीर हूँ।' ऐसा विचार करके जिनका चित्त परमात्मामें विश्राम ले रहा है, वे ही लोग पुरुषोंमें उत्तम हैं। जो मान और अपमानसे वृद्धिको प्राप्त हुई हैं और प्रचुर लाभसे मनोरम प्रतीत होती हैं, वे दोषपूर्ण दृष्टियाँ केवल शरीरमें नित्यत्वका विश्वास रखनेवाले मनुष्यको नष्ट कर देती हैं। जो शरीररूपी गड्ढेमें सोती है और अहंकारका चमत्कारपूर्ण कार्य है, उस मनोहर अङ्गवाली (भोगतृष्णामयी दोषदृष्टिरूपिणी) पिशाचीने छलसे हमारा सर्वस्व हर लिया है। शरीरमें ही नित्यताका विश्वास रखनेवाली इस मिथ्या-ज्ञानरूपिणी दुष्ट राक्षसीने अकेली (असहाय) दीन-हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूपसे ठग लिया, यह कितने दुःखकी बात है!

कुछ ही दिनोंमें जीर्णताको प्राप्त होकर यह शरीररूपी पल्लव झरनेके जलकी बूँदोंके समान बिना किसी यत्नके अपने आप गिर पड़ता है। समुद्रमें उत्पन्न हुए पानीके बुलबुलोंकी तरह इस शरीरका बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। ब्रह्मन्! यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञानका विकार है और स्वप्नरूपी भ्रान्तियोंका भंडार है। इसका विनाश बहुत स्पष्ट दिखायी देता है। इसलिये इसमें मेरा क्षण-भरके लिये भी विश्वास नहीं है। जिस पुरुषने बिजली, शरद् ऋतुके बादल और गन्धर्व-नगरके चिरस्थायी होनेका निर्णय कर लिया है, वही इस शरीरकी नित्यतापर विश्वास करे (मैं तो नहीं कर सकता)। शीघ्रतापूर्वक नष्ट हो जानेमें हठपूर्वक अपना उत्कर्ष जतानेके लिये जो होड़ लगाकर प्रवृत्त हुए हैं, उन सतत विनाशशील पदार्थोंकी अपेक्षा भी जो अधिक क्षणभङ्गुर है, उस प्रबल दोषयुक्त शरीरकी तिनकेके समान उपेक्षा करके मैं सुखी हो गया हूँ। (सर्ग १८)

बाल्यावस्थाके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर! असमर्थता, आपत्तियाँ, तृष्णा, मूकता (बोल न सकना), मूढ़-बुद्धिता (बुद्धिके द्वारा कुछ जान न पाना), खिलौने आदिकी अभिलाषा, चञ्चलता और दीनता आदि सारे दोष बाल्यावस्थामें ही प्रकट होते हैं। बाल्यावस्थामें पशु-पक्षियोंकी-सी चेष्टाएँ होती हैं। बालक सभी लोगोंके द्वारा तिरस्कृत होता है। बालकोंकी चपल चेष्टा मृत्युसे भी बढ़कर दुःख देनेवाली होती है। बाल्यावस्थामें अज्ञानवश जल, अग्नि और वायुसे निरन्तर उत्पन्न होनेवाले भयके कारण पग-पगपर जो दुःख प्राप्त होता है, वह आपत्तिकालमें भी किसको होता होगा? बालक भाँति-भाँतिकी लीलाओं, दुर्विलासों, दुश्चेष्टाओं तथा दूषित

अभिप्रायमें हठात् प्रवृत्त होकर बड़े भारी मोहमें पड़ जाता है । बाल्यावस्थामें बालक जिस किसीके भी कहनेसे निष्फल कार्यमें प्रवृत्त हो जाते हैं, अनेक प्रकारकी दुश्चेष्टाएँ करते हैं तथा किसी प्रकार भी प्रतिष्ठाकी प्राप्ति उनके लिये दुर्लभ है । इस तरह मनुष्यका शैशवकाल केवल गुरुजनोंका शासन स्वीकार करनेके लिये ही है, सुख और शान्ति प्रदान करनेके लिये नहीं । जैसे उल्लू दिनमें अन्धकारसे भरे हुए दूषित गड्ढोंमें छिपे रहते हैं, उसी प्रकार जो-जो दोष, जितने दुराचार तथा जो-जो दुर्लङ्घ्य दुश्चिन्ताएँ हैं, वे सब-के-सब बाल्यावस्थामें ही जीवके हृदयमें छिपकर बैठे रहते हैं ।

ब्रह्मन् ! जो लोग 'बाल्यावस्था बड़ी रमणीय है' ऐसी कल्पना करते हैं, उन सबकी बुद्धि व्यर्थ है । उन हतचित्त मूढबुद्धि लोगोंको बारंबार धिक्कार है । जहाँ झूलेके समान चञ्चल मन विविध विषयोंके आकारको प्राप्त होता है तथा जो तीनों लोकोंमें अमङ्गलरूप है, वह बाल्यावस्था कैसे संतोषदायक हो सकती है ? मुने ! सभी प्राणियोंका मन अन्य सब अवस्थाओंकी अपेक्षा बाल्यावस्थामें ही दसगुना चञ्चल हो उठता है । मन स्वभावसे ही चञ्चल है और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चञ्चल पदार्थोंमें सबसे बढ़कर है । जहाँ उन दोनोंका संयोग हो, वहाँ अन्तःकरणमें चपलताजनित अनर्थसे बचानेवाला कौन है ! बचपन और मन—ये दोनों सभी वृत्तियों (व्यवहारों) में सदा दो सहोदर भाइयोंके समान दृष्टिगोचर होते हैं । इन दोनोंकी ही स्थिति क्षणभङ्गुर है । बालक कुत्तेके समान थोड़ा-सा ही खाना देने या पुचकारनेसे वशमें हो जाता है और थोड़ा-सा ही घुड़कने या छड़ी आदि दिखानेसे बिगड़ जाता या डर जाता है । वह सदा अपवित्र स्थानमें ही रमता या खेलता है ।

बाल्यावस्थामें प्राणी केवल दूसरोंसे डरता और खाता-पीता रहता है । वह सदा दीन रहता है, देखी और बिना देखी सभी वस्तुओंकी इच्छा करता है । उसकी बुद्धि और शरीर दोनों चञ्चल होते हैं । ऐसी बाल्यावस्थाको मनुष्य केवल दुःख भोगनेके लिये ही धारण करता है । निर्बल बालक अपने मानसिक संकल्पसे जिन पदार्थोंको पानेकी इच्छा करता है, उन्हें न पाकर उसकी बुद्धि सदा संतप्त होती रहती है और उसे इतना दुःख होता है मानो किसीने उसके हृदयमें घाव कर दिया है, जबतक बाल्यावस्था रहती है, तबतक असत्य पदार्थोंमें ही सत्यताकी बुद्धि बनी रहती है, हृदयमें नाना प्रकारके मनोरथ उदित होते रहते हैं तथा अन्तःकरण बड़ा कोमल होता है । अतः बाल्यकाल अत्यन्त दीर्घ दुःख प्रदान करनेके लिये ही होता है, सुख देनेके लिये नहीं । परम बुद्धिमान् मुनीश्वर ! जिसके अन्तःकरणमें सर्दी, गरमीका अनुभव तो होता है, परंतु जो उनका निवारण करनेमें समर्थ नहीं होता, उस बालक और वृक्षमें क्या अन्तर है ? बाल्यकालमें गुरुसे, माता-पितासे, अन्य लोगोंसे तथा अपनी अपेक्षा बड़े बालकोंसे भी भय प्राप्त होता है । अतः बाल्यावस्था भयका मन्दिर ही है । महामुने ! बाल्यावस्थामें समस्त दोषपूर्ण दशाओंद्वारा अन्तःकरण दूषित होता है और बाल्यकाल अविवेक-नामधारी विलासीका विलासभवन है । इसलिये इस जगत्‌में यह बाल्यावस्था किसीके लिये भी पूर्ण संतोषदायक नहीं है ।

(सर्ग १९)

युवावस्थाके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महर्षे ! बचपनके बाद मनुष्य बाल्यावस्थाके अनर्थोंका त्याग कर भोग भोगनेके उत्साह, भ्रान्ति अथवा कामरूप पिशाचसे दूषित-चित्त होकर नरकमें गिरनेके लिये ही यौवनारूढ होता है । यौवनावस्थामें मूर्ख मनुष्य अनन्त विलास (चेष्टा) वाले अपने चञ्चल चित्तकी राग-द्वेषादि वृत्तियोंका अनुभव

करता हुआ एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। अपने चित्तरूपी बिलमें स्थित हो नाना प्रकारकी भ्रान्ति पैदा करनेवाला कामरूपी पिशाच अपने वशमें हुए पुरुषका बलपूर्वक तिरस्कार करता है। मुने! युवावस्थामें स्त्री, द्यूत और कलह आदि दुर्व्यसनोंको उत्पन्न करनेवाले वे राग-लोभ आदि प्रसिद्ध एवं दुष्ट दोष वैसे (काम, चिन्ता आदिके वशीभूत) अन्तःकरणवाले पुरुषको, जो काम आदिमें तन्मय हो रहा है, यौवनके ही सहारे नष्ट कर डालते हैं। जो महान् नरकका बीज है और सदा भ्रान्ति पैदा करनेवाला है, उस यौवनके द्वारा जिनका नाश नहीं हुआ, वे मनुष्य दूसरे किसीसे नष्ट नहीं हो सकते। शृङ्गार आदि नाना प्रकारके रसोंसे पूर्ण और अनेक प्रकारके आश्चर्यजनक वृत्तान्तोंसे युक्त भीषण यौवनरूपा भूमिको जिसने पार कर लिया, वही पुरुष धीर कहलाता है। जो क्षणभरके लिये प्रकाशमान, चञ्चल मेघोंकी गम्भीर गर्जना (अभिमान-पूर्ण वचन) से व्याप्त और बिजलीकी तरह चमककर लुप्त हो जानेवाला है वह अमङ्गलमय यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जो भोगके समय मधुर अतएव स्वादिष्ट (मनोरम) और अन्तमें दुःखदायी होनेके कारण तिक्त प्रतीत होता है, जिसमें दोष-ही-दोष भरे हैं, जो सब दोषोंका आभूषण तथा मदिराके मद-विलासके समान मोहक है, वह यौवन मुझे कदापि अच्छा नहीं लगता। जो असत्य होकर भी सत्य-सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही धोखा देनेवाला है तथा स्वप्नावस्थामें किये गये स्त्री-सहवासके समान है, वह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। यह क्षणभरके लिये सुन्दर प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण वस्तुओंमें अग्रगण्य है। सारी आयु बीत जानेपर दिखायी देनेवाले गन्धर्वनगरके समान है। यह सब लोगोंको क्षणमात्रके लिये मनोहर प्रतीत होता है। अतः यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

यह यौवन ऊपरसे तो रमणीय प्रतीत होता है, किंतु भीतरसे सद्भावशून्य है। अतः वेश्या स्त्रीके समागमके समान घृणित होनेके कारण मुझे रुचिकर नहीं जान पड़ता। जैसे प्रलयकालमें सबको दुःख देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात सब ओरसे उमड़ उठते हैं, उसी प्रकार युवावस्थामें सबको कष्ट प्रदान करनेवाले जो कोई भी अयोजन हैं, वे सब निकट आ जाते हैं। युवावस्थाका मोह मङ्गलमय आचारको भुला देनेवाले और बुद्धिको कुण्ठित कर देनेवाले भ्रमका अतिशय मात्रामें उत्पादन करता है। जैसे दावाग्नि वृक्षको जला देती है, उसी प्रकार युवावस्थामें जीव प्रियतमाके वियोगजनित दुस्सह शोकाग्निसे मन-ही-मन जलता रहता है। जैसे अत्यन्त निर्मल, विस्तृत एवं पवित्र नदी भी वर्षा ऋतुमें मलिन हो जाती है, उसी प्रकार परम निर्मल, विशाल एवं शुद्ध बुद्धि भी युवावस्थामें कलुषित हो जाती है। बहुत-सी उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त भयानक नदी लाँघी जा सकती है, परंतु भोगतृष्णाकी चपलतासे युक्त युवावस्था नहीं लाँघी जा सकती। वह प्राणवल्लभा, उसके वे मोटे-मोटे स्तन, वे मनोहर विलास और वह सुन्दर मुख कितना मनोरम है!' युवावस्थामें इसी तरहकी चिन्ताओंसे मनुष्य जर्जर हो जाता है। रजोगुण और तमोगुणसे पूर्ण यह विषम यौवनरूप आँधी सम्पूर्ण सद्गुणोंकी स्थिरताको नष्ट करनेमें दक्ष है। मनुष्योंके यौवनका उल्लास (विकास) दोष-समूहोंको जगाता और सद्गुण-समुदायका मूलोच्छेद करता है अतएव उसे पाप-वैभवका विलास कहा गया है। शरीररूपी उपवनमें उत्पन्न हुई यौवनकी बेल बड़ी रमणीय है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती या ऊँचे चढ़ती है, त्यों-ही-त्यों अपनेसे सटे हुए मनरूपी भ्रमरको उन्मत्त बना देती है। शरीररूपी मरुभूमिमें कामरूपी घामके तापसे प्रकट हो भ्रान्तिरूपमें प्रतीत होनेवाली जो यौवनरूपिणी मृगतृष्णा है, उसकी ओर दौड़ते हुए मनरूपी मृग विषयोंके गड्ढेमें गिर जाते हैं। यह युवावस्था देहरूपी जंगलमें कुछ दिनोंके लिये प्रकाशित होनेवाली शरद्ऋतुके समान है।



तीर्थयात्रासे लौटनेपर श्रीरामचन्द्रजीका स्वागत (वैराग्य-प्रकरण सर्ग ४)

लोगो ! तुम इसपर विश्वास न करो ।

जब-जब यौवन अपनी चरम सीमापर आरूढ़ हो जाता है, तब-तब संतापयुक्त कामनाएँ केवल विनाशके लिये ही बढ़ने या नृत्य करने लगती हैं । ये राग-द्वेषरूपी पिशाच तभीतक विशेषरूपसे नाचते फिरते हैं, जबतक कि यह यौवनरूपिणी रात्रि पूर्णरूपसे नष्ट नहीं हो जाती। जो महामुग्ध पुरुष मोहवश क्षणभङ्गुर यौवनसे हर्षको प्राप्त होता है, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही माना गया है । जो मनुष्य अभिमान या अज्ञानके कारण मदोन्मत्त यौवनावस्थाकी अभिलाषा करता है, उस दुर्बुद्धिको शीघ्र ही पश्चात्तापका भागी होना पड़ता है । साधो ! इस भूतलपर वे ही पुरुष पूजनीय और महात्मा हैं, जो यौवनरूपी संकटसे सुखपूर्वक पार हो गये हैं । बड़े-बड़े मगरोंसे भरे हुए महासागरको सुखपूर्वक पार किया जा सकता है, किंतु विषय-चिन्तन आदि महातरङ्गोंके कारण उमड़े हुए और दुर्गुण दुराचाररूप अनेक दोषोंसे भरे हुए इस निन्दनीय यौवनके पार जाना बहुत ही कठिन है । ब्रह्मन् ! विनयसे अलङ्कृत, श्रेष्ठ पुरुषोंको आश्रय देनेवाला, करुणासे प्रकाशित तथा शम, दम, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, सरलता आदि विविध गुणोंसे युक्त उत्तम यौवन इस संसारमें उसी तरह दुर्लभ है, जैसे आकाशमें वन । (सर्ग २०)

स्त्री-शरीरकी रमणीयताका निराकरण

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर ! इधर केश हैं, इधर रक्त और मांस है, यही तो युवती स्त्रीका शरीर है । जिसका हृदय विवेकसे विशाल हो गया है, उस ज्ञानी पुरुषको इस निन्दित नारी-शरीरसे क्या काम ? आदरणीय मुने ! बहुमूल्य वस्त्र और केसर-कस्तूरी आदिके लेपसे जिन्हें बारबार सजाकर दुलराया गया था, समस्त देहधारियोंके उन्हीं अङ्गोंको किसी समय गीध और सियार आदि मांसाहारी जीव नोचते और घसीटते हैं । जिस स्तनमण्डलपर मेरु पर्वतके शिखरप्रान्तसे सोल्लास प्रवाहित होनेवाली गङ्गा-जीके जलकी धाराके समान मोतियोंके हारकी शोभा देखी गयी थी, मृत्युके पश्चात् सम्पूर्ण दिशाओंकी श्मशान-भूमियोंमें नारीके उसी स्तनका कुत्ते अन्नके छोटे-से पिण्डकी भाँति आस्वादन करते हैं । जैसे वनमें चरनेवाले गदहे या ऊँटके अङ्ग रक्त-मांस और हड्डियोंसे सम्पन्न हैं, उसी प्रकार कामिनियोंके अङ्ग भी उन्हीं उपकरणोंसे युक्त हैं । फिर नारीके प्रति ही लोगोंका इतना आग्रह या आकर्षण क्यों है ?

मुने ! लोग केवल स्त्रीके शरीरमें जिस आपात-रमणीयताकी कल्पना करते हैं, मेरी मान्यताके अनुसार वह भी उसमें है नहीं । उसमें जो रमणीयताकी प्रतीति होती है, उसका एकमात्र कारण मोह ही है । मनमें विकार उत्पन्न करनेवाली मदिरामें और युवती स्त्रीमें क्या अन्तर है ? एक जहाँ मद (नशे) के द्वारा मनुष्यको प्रचुर उल्लास प्रदान करती है, वहाँ दूसरी कामका भाव जगाकर पुरुषके लिये आनन्ददायिनी बनती है (अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषके लिये दोनों ही सामान्यरूपसे त्याज्य हैं) । जैसे धूमको ही केशके रूपमें धारण करनेवाली प्रज्वलित अग्निशिखा, जो देखनेमें सुन्दर किंतु छूनेमें दुस्सह है, तिनकोंको जला डालती है, उसी प्रकार केश और काजल धारण करनेवाली तथा नेत्रोंको प्रिय लगनेवाली नारियाँ, जिनका स्पर्श परिणाममें दुःख देनेवाला है, पुरुषको वासनाकी आगसे जलाती रहती हैं ।

जैसे विषकी लता सुन्दर फूलोंसे मनोहर लगती, नये-नये पल्लवोंसे सुशोभित होती, भ्रमरोंकी क्रीडास्थली

बननी, पुष्प-गुच्छ धारण करती, फूलोंके केसरसे पीले रंगकी प्रतीत होती, अपना सेवन करनेवाले मनुष्यको मार डालती या पागल बना देती है, उसी प्रकार कमनीया कामिनी फूलोंका शृङ्गार धारण करनेके कारण मनोहारिणी लगती, करपल्लवोंसे सुशोभित होती, भ्रमरोंके समान चञ्चल नेत्रोंके कटाक्ष-विलासका प्रदर्शन करती, पुष्प-गुच्छोंके समान स्तनोंको वक्षपर धारण करती, फूलोंके केसरकी भाँति सुनहरी गौर-कान्तिसे प्रकाशित होती, मनुष्योंके विनाशके लिये तत्पर रहती और काम-भावसे अपना सेवन करनेवालोंको उन्माद एवं मृत्यु आदिके अधीन कर देती है। मुनिश्रेष्ठ! कामरूपी किरात (बहेलिये) ने मूढ़-चित्त मानवरूपी पक्षियोंको फँसानेके लिये स्त्रीरूपी जालको फैला रक्खा है। जन्म-स्थान-रूपी छोटे-छोटे जलाशयोंमें उत्पन्न हो धनरूपी पङ्कमें विचरनेवाले पुरुषरूपी मत्स्योंको फँसानेके लिये नारी वंशीके काँटेमें लगी हुई आटेकी गोलीके समान है और दुर्वासना ही उस बंसीकी डोर है।

नारीके स्तनसे, नेत्रसे, नितम्बसे अथवा भौंहसे, जिसमें सार वस्तुके नामपर केवल मांस है, अतएव जो किसी कामकी वस्तु नहीं है, मेरा क्या प्रयोजन है? मैं वह सब लेकर क्या करूँगा? ब्रह्मन्! इधर मांस, इधर रक्त और इधर हड्डियाँ हैं; यही नारीका शरीर है, जो कुछ ही दिनोंमें जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। संसारके मनुष्यो! नारीके अङ्गोंका थोड़े ही समयमें होनेवाला यह परिणाम मैंने तुम्हें बताया है, फिर तुम क्यों भ्रमके पीछे दौड़ रहे हो? पाँच भूतोंके सम्मिश्रणसे बना हुआ अङ्गोंका संगठन ही नारी नामसे प्रसिद्ध हो रहा है; अतः विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न कोई भी पुरुष आसक्तिसे प्रेरित होकर क्यों उसकी ओर टूट पड़ेगा? जैसे हथिनीके लिये चञ्चल हुआ हाथी विन्ध्याचल पर्वतपर उसे फँसानेके लिये बनाये हुए गड्ढेमें गिरकर बँध जाता और परम शोचनीय अवस्थाको पहुँच जाता है, यही दशा तरुणी स्त्रीके मोहमें फँसे हुए तरुण पुरुषकी होती है। (सर्ग २१)

वृद्धावस्थाकी दुःखरूपता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महर्षे! जैसे हिमरूपी वज्र कमलको, आँधी ओसकणको और नदी तटवर्ती वृक्षको नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वृद्धावस्था शरीर-का नाश कर डालती है। जैसे लेशमात्र विषका भक्षण शरीरको शीघ्र ही कुरूप बना देता है, उसी प्रकार बुढ़िया जरावस्था मनुष्यके सारे अङ्गोंको जर्जर करके शीघ्र ही कुरूप कर देती है। जिनके सारे अङ्ग शिथिल होकर झुर्रियोंसे भर गये हैं और जरा-वस्थाने जिनके सारे अङ्गोंको जर्जर बना दिया है, उन समस्त पुरुषोंको कामिनियाँ ऊँटके समान समझती हैं। वृद्धावस्थाके कारण जिसके अङ्ग काँपते रहते हैं, ऐसे मनुष्यको नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव तथा सुहृद्गण भी उन्मत्तके समान समझकर उसकी हँसी उड़ाते हैं। जो दीनतारूपी दोषसे परिपूर्ण, हृदयमें संताप पहुँचानेवाली तथा समस्त आपत्तियोंकी एकमात्र सहचरी है, वह विशाल तृष्णा वृद्धावस्थामें बढ़ती ही जाती है। 'हाय! बड़े खेदकी बात है, मैं परलोकमें क्या करूँगा?' इस प्रकारका अत्यन्त दारुण भय, जो प्रतीकारके योग्य नहीं है, वृद्धावस्थामें बढ़ता जाता है। बुढ़ापेमें 'मैं बेचारा कौन हूँ? मेरी हस्ती ही क्या है? मैं किस प्रकार क्या करूँ? अच्छा, मैं चुप ही रहता हूँ।' इस प्रकारकी दीनताका उदय होता है। 'मुझे किसी स्वजनसे कब, क्या और किस प्रकारका स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हो सकता है?' इस प्रकार चिन्तारूपिणी दूसरी जरावस्था बुढ़ापेमें निरन्तर चित्तको जलाती रहती है। वृद्धावस्थामें मनुष्य अपनी शक्तिका संतुलन खो बैठता है—कभी खानेकी शक्ति होनेपर पचानेकी शक्ति नहीं रहती और कभी पचानेकी

शक्ति होनेपर खानेकी ही शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार शक्तिह्रासके कारण भोगकी इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, परंतु उपभोग किया नहीं जा सकता। उस दशामें निश्चय ही हृदय जलता रहता है। मुने! शरीररूपी वृक्षके सिरेपर बैठी हुई जरावस्थारूपिणी बूढ़ी बगुली, जो नाना प्रकारके क्लेशोंसे शरीरका अपकार करनेवाली है, रोगरूपी सर्पोंसे आक्रान्त होकर ज्यों ही चें-चें करने लगती है, त्यों ही मूर्छारूपी गहरे अन्धकारकी इच्छा रखनेवाला मृत्युरूपी उल्लू कहींसे झटपट आया हुआ ही दिखायी देता है।

जैसे सायंकालकी संध्याके प्रकट होते ही अन्धकार दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार शरीरमें जरावस्थाको देखते ही मृत्यु दौड़ी चली आती है। सूना नगर, जिसकी लताएँ कट गयी हों वह वृक्ष तथा जहाँ वर्षा न हुई हो, वह देश भी कुछ-कुछ शोभित होता है, किंतु जरासे जर्जर हुए शरीरकी तनिक भी शोभा नहीं होती। वृद्धावस्थाकी मार खाकर जर्जर हुआ शरीर हिमसमूहसे आक्रान्त हो मुरझाये हुए कमलकी-सी शोभाको धारण करता है।

मस्तकरूपी पर्वतके शिखरपर उगी हुई यह वृद्धावस्था-रूपिणी चाँदनी वातरोग और खाँसीरूपिणी कुमुदिनी-को यत्नपूर्वक विकसित कर देती है। यह बुढ़ापारूपिणी वेगवती गङ्गा आयुके समाप्त होनेपर शरीररूपी तटवर्ती वृक्षकी जड़ोंको तुरंत ही काट गिराती है। तात! जैसे श्वेत पत्रवाली और फूलोंसे लदी हुई पतली लता कुछ टेढ़ी हो जाती है, उसी प्रकार जिसके सारे अवयव सफेद हो गये हैं, मनुष्योंका वह दुबला-पतला शरीर वृद्धावस्थासे टेढ़ा हो जाता है—कमानकी तरह झुक जाता है। मुने! जैसे कपूरसे सफेद हुए केलेके पेड़को हाथी क्षणभरमें उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार मृत्युरूपी गजराज वृद्धावस्थासे कपूरकी भाँति सफेद हुई देहको निश्चय ही क्षणभरमें उखाड़ फेंकता है। तात! जो वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर भी जीता है, उस दुष्ट जीवनके लिये दुराग्रह रखनेसे क्या लाभ? भूतलपर किसीसे पराजित न होनेवाली यह जरावस्था मनुष्योंकी समस्त एषणाओंका तिरस्कार कर देती है—उनकी किसी भी इच्छाको सफल नहीं होने देती। (सर्ग २२)

कालके स्वरूपका विवेचन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर! 'यह मेरी भोग्य वस्तु है। मैं इसका भोक्ता हूँ। ये भोगके साधन हैं। इस साधनसे इस तरह भोग्य वस्तुको प्राप्त करके मैं चिरकालतक इसका उपभोग करूँगा। आज यह वस्तु मैंने प्राप्त कर ली और अब इस मनोरथको प्राप्त करूँगा' इत्यादि असंख्य मानसिक संकल्प-विकल्पोंद्वारा जो अनन्त व्यावहारिक वचनोंका प्रयोग करते हैं तथा अज्ञ (तुच्छ) शरीरमें महत्त्व-बुद्धि (आत्मभाव) रखते हैं, उन मूढ़ जनोंने हेयोपादेय, शत्रु-मित्र तथा राग-द्वेषादि भेदोंद्वारा इस संसाररूपी गुफामें भ्रमको अत्यन्त गौरवपूर्ण (दुश्छेद्य) बना दिया है। जैसे बड़वाग्नि उमड़े हुए समुद्रको सोखती है, उसी प्रकार यह सर्वभक्षी काल भी उत्पन्न हुए जगत्‌को अपना ग्रास बना लेता है। भयंकर कालरूपी महेश्वर इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको निगल जानेके लिये सदा उद्यत रहते हैं; क्योंकि सारी वस्तुएँ उनके लिये सामान्यरूपसे ग्रास बना लेनेके योग्य हैं। युग, वर्ष और कल्पके रूपमें काल ही प्रकट है। इसका वास्तविक रूप कोई देख नहीं सकता। वह सब संसारको अपने वशमें करके बैठा है। संसारमें जो रमणीय, शुभ कर्म करनेवाले तथा उच्चता या गौरवमें सुमेरु पर्वतके भी गुरु थे, उन सबको कालने उसी तरह

निगल लिया है, जैसे गरुड़ सर्पोंको निगल जाते हैं। यह काल बड़ा निर्दय, कठोर, क्रूर, कर्कश, कृपण और अधम है। संसारमें अबतक ऐसी कोई वस्तु नहीं हुई, जिसे यह काल उदरस्थ न कर ले। इस कालका विचार सदा सबको निगल जानेका ही रहता है। यह एकको निगलता हुआ भी दूसरेको चबा जाता है। अबतक असंख्य लोग इसकी उदर-दरीमें प्रवेश कर चुके हैं, तो भी यह महाखाऊ काल तृप्त नहीं होता। यह रात्रिरूपी भौंरोंसे भरी हुई और दिनरूपी मञ्जरियोंसे सुशोभित वर्ष, कल्प और कलारूपिणी लताओंकी निरन्तर सृष्टि करता रहता है, किंतु कभी थकता नहीं।

मुने! यह काल धूर्तोंका शिरोमणि है। इसे कितना ही तोड़ा जाय, टूटता नहीं। जलानेपर भी जलता नहीं और दृश्य होनेपर भी दीखता नहीं। यह मनोराज्यकी भाँति फैला हुआ है। एक ही निमेषमें किसी वस्तुको उत्पन्न कर देता है और पलभरमें किसी भी वस्तुका पूर्णतः विनाश कर डालता है। काल केवल अपना ही पेट भरनेमें संलग्न रहनेके कारण तिनका, धूल, इन्द्र, सुमेरु, पत्ता और समुद्र—सबको अपने अधीन करने—निगल जानेके लिये उद्यत रहता है। केवल इस कालमें ही पर्याप्त क्रूरता भरी है, लोभ भी इसीके भीतर डेरा डाले हुए है। सारा-का-सारा दुर्भाग्य भी इसीमें निवास करता है तथा दुस्सह चपलता भी इसीमें उपलब्ध होती है। यह काल महाकल्प नामक वृक्षोंसे देवता, मनुष्य और असुर आदि प्राणिसमूहरूपी फलोंके भारोंको गिराता हुआ-सा खड़ा है। सैकड़ों महाकल्प बीत जानेपर भी यह काल न तो खिन्न होता है, न किसीके द्वारा समादृत होता है, न कहीं आता है न जाता है, न अस्त होता है और न इसका उदय ही होता है। यौवनरूपी कमलिनीको संकुचित करनेके लिये यह चन्द्रमाके समान है, आयुरूपी गजराजका मस्तक विदीर्ण करनेके लिये सिंहके सदृश है। इस संसारमें तुच्छ या महान् कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे यह कालरूपी चोर चुरा न ले जाता हो; यह काल ही व्यावहारिक अवस्थामें संसारका कर्ता, भोक्ता, संहार करनेवाला और स्मरणकर्ता आदि सभी पदोंपर प्रतिष्ठित होता है। किसीने भी बुद्धिकौशलद्वारा इस कालके रहस्यका निश्चय नहीं किया है। पुण्य और पापके फलभोगके अनुसार सुन्दर और कुरूप रूप धारण करनेवाले समस्त शरीरोंको काल ही उत्पन्न करता, काल ही उनकी रक्षा करता और काल ही सहसा उनका संहार कर देता है।

इस प्रकार इस जगत्में सर्वत्र कालका विलास देखा जाता है। मनुष्योंमें तो कालका बल प्रसिद्ध ही है।

इस कालकी पत्नी है—चण्डी (अत्यन्त कोपवती कालरात्रि), जो बड़ी चतुराईसे चलती है। इसे कालने संसाररूपी वनमें विहार करनेके लिये नियुक्त किया है, इसके साथ सारी मातृकाएँ (डाकिनी, शाकिनी आदि) रहती हैं। यह कालरात्रि बाघिनके समान प्राणिसमूहका विनाश करनेवाली है। कालके धनुषका नाम है—अभाव या संहार। वह निरन्तर टंकार करता रहता है, उससे दुःखरूपी बाणोंकी झड़ी लगी ही रहती है। वह धनुष सब ओर स्फुरित होता रहता है। ब्रह्मन्! यह कालरूपी राजकुमार संसारमें दौड़ते हुए प्राणियोंके पीछे दौड़ता है और उनको बाणोंसे विदीर्ण करता रहता है। इस कालसे बढ़कर शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है। यही सबसे अधिक विलास करनेमें प्रवीण है और समस्त लक्ष्यभेदियोंसे ऊपर उठकर अनुपम शोभा पाता है।

यह जो कुछ भी विस्तृत जगन्मण्डल दिखायी देता है, वह उस कालकी नृत्यशाला है। इसमें वह खूब

जी भरकर नृत्य करता है। जैसे बालक गीली मिट्टीको लेकर नाना प्रकारके खिलौने बनाते हैं, उसी प्रकार काल भी बारंबार चौदह भुवन, विभिन्न वन, लोक-लोकान्तर, जीव-समुदाय तथा उनके नाना प्रकारके आचार-विचारोंकी सृष्टि करता है। उन आचार-विचारोंकी प्रवृत्ति सत्ययुग और त्रेतामें अचल तथा द्वापर और कलिमें चल होती है। इन सबकी सृष्टि करनेमें काल कभी थकता नहीं। (सर्ग २३—२५)

कालका प्रभाव और मानव-जीवनकी अनित्यता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महामुने! जब जगत्‌में काल आदिके चरित्र ऐसे हैं, तब आप ही बताइये इस संसार-नामधारी प्रपञ्चमें मेरे-जैसे लोगोंकी क्या आस्था हो सकती है। मुने! इन दैव (प्रारब्धकर्म) आदिके द्वारा की हुई सुख-दुःख आदिरूप प्रपञ्च-रचनाओंसे मोहित हुए हमलोग किसीके हाथ बिके हुए दासों तथा वनके मृगोंकी भाँति पराधीन हो रहे हैं। जैसे सर्प वायुको पीता है, उसी प्रकार यह क्रूर आचरण करनेवाला काल तरुण शरीरको बुढ़ापेमें पहुँचाकर समस्त प्राणि-समुदायको निरन्तर अपना ग्रास बनाता रहता है। काल निर्दयोंका राजा है। वह किसी भी आर्त प्राणीके ऊपर दया नहीं करता। सम्पूर्ण भूतोंपर दया करनेवाला उदार पुरुष तो इस संसारमें दुर्लभ हो गया है। मुने! जगत्‌में जितनी भी प्राणियोंकी जातियाँ हैं, उन सबका वैभव अल्प एवं तुच्छ है तथा जितने भी भोगके स्थान हैं, वे सभी भयंकर और परिणाममें दुरन्त दुःखकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं। प्राणियोंकी आयु अत्यन्त चपल (अस्थिर) है, मृत्यु बहुत ही निर्दय है। जवानी भी अधिक चञ्चल होती है और बाल्यावस्था मोहमें ही बीत जाती है। संसारी मनुष्य गाने-बजानेकी कलाके रस (अथवा विषयानुसंधान) से कलङ्कित हैं। बन्धु-बान्धव संसारमें बाँधनेके लिये रस्सीके समान हैं। भोग इस जगत्‌के महान् रोग हैं तथा सुख आदिकी तृष्णाएँ मृगतृष्णाके समान हैं। बिना जीती हुई इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं। सत्यस्वरूप आत्मा असत्य-सा हो गया अर्थात् जीवात्मा अज्ञानके कारण देहको ही अपना स्वरूप मानने लग गया। बिना जीता हुआ मन बन्धनका हेतु होनेसे आत्माका शत्रु है एवं अज्ञानवश यह जीवात्मा स्वयं ही अपने-आपपर उस मनके द्वारा प्रहार करता है। अहंकार ही कलङ्कका कारण है। बुद्धियाँ अत्यन्त कोमल (आत्मनिष्ठासे रहित) हैं। क्रियाएँ शास्त्रविरुद्ध होनेसे दुःखरूप फल देनेवाली हैं और लीलाएँ (शरीर और मनकी चेष्टाएँ) स्त्रीकी प्राप्तिमें ही केन्द्रित हैं, केवल स्त्रियाँ ही उनका विषय हो गयी हैं। इच्छाएँ विषयोंमें ही शोभा पाती हैं—वे भोगोंकी ओर ही दौड़ती हैं। परमात्म-स्फूर्तिरूप चमत्कार नष्ट हो गये हैं। स्त्रियाँ दोषोंकी सेनाएँ हैं तथा सम्पूर्ण विषय-रस वास्तवमें नीरस हैं।

महात्मन्! दूषित बुद्धिने सबके अन्तःकरणको व्याकुल कर रक्खा है। अज्ञानके कारण सभी संतप्त हो रहे हैं। रागरूपी रोग दिनोंदिन बढ़ रहा है और वैराग्य दुर्लभ हो रहा है। आत्मदर्शनकी शक्ति रजोगुणसे नष्ट हो गयी है। अतः सत्त्वगुण नहीं प्राप्त होता, केवल तमोगुण बढ़ रहा है। इसलिये तत्त्व (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) अत्यन्त दूर है। जीवन अस्थिर हो गया है। मृत्यु जल्दी ही आनेके लिये उत्सुक है। धैर्य शिथिल हो गया है और तुच्छ विषय-भोगोंके प्रति लोगोंकी आसक्ति प्रतिदिन बढ़ रही है। बुद्धि मूढ़तासे मलिन हो गयी है। शरीरका अन्तिम परिणाम एकमात्र पतन (विनाश) ही है। देहमें जरावस्था प्रज्वलित हो उठी है और पापकी ही बारंबार स्फुरणा होती है। जवानी यत्नपूर्वक भागी जा रही है। सत्सङ्ग दुर्लभ हो गया है।

कभी कोई उत्तम आश्रय नहीं मिलता और सत्यभावका उदय तो कहीं हो ही नहीं रहा है। मन मोहसे आच्छन्न-सा हो रहा है। दूसरेको सुखी देखकर होनेवाला आत्म-संतोष मानो दूर चला गया है। उज्ज्वल करुणाका उदय नहीं हो रहा है और नीचता दूरसे निकट चली आ रही है। धीरता अधीरतामें परिणत हो रही है। जीवोंका काम केवल आवागमन—जन्मना-मरना रह गया है। दुष्टोंका सङ्ग पद-पदपर सुलभ है; परंतु सत्पुरुषोंका सङ्ग अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। सम्पूर्ण पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। वासना संसारमें बाँधनेवाली है और काल प्राणियोंकी परम्पराको नित्य कहीं अज्ञात स्थानमें लिये जाता है। दिशाएँ भी नहीं दिखायी देतीं।

देश भी विदेश-सा हो जाता है और पर्वत भी बिखर-कर ढह जाते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतामें क्या विश्वास है। सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, वह काल आकाशको भी खा जाता है। चौदहों भुवनोंको भी अपना भोजन बना लेता है। पृथ्वी भी विनाशको प्राप्त हो जाती है। फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास किया जा सकता है। कालवश समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूटकर बिखर जाते हैं, सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या आस्था हो सकती है ? बड़े-बड़े दानव भी विदीर्ण हो जाते हैं। ध्रुव भी अध्रुवजीवी बन जाते हैं और अमर भी मरणको प्राप्त होते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास हो सकता है ? काल अपने अगणित मुखोंसे इन्द्रको भी चबा जाता है, यमराजको भी वशमें कर लेता है और उसीके प्रभावसे वायु भी अवायु हो जाता है—अपना अस्तित्व खो बैठता है; फिर मुझ-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास हो सकता है ?

सोम (चन्द्रमा) भी कालवश व्योम (आकाश)में विलीन हो जाता है। मार्तण्ड (सूर्य)के भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और अग्नि भी भग्नता (विनाश) को प्राप्त हो जाती है; फिर मुझ-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या आस्था की जा सकती है ? जो काल (मृत्यु) को भी कवलित कर लेता है, नियतिको भी टाल देता है और अनन्त आकाशको भी अपने आपमें विलीन कर लेता है, उस महाकालके होते हुए मुझ जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास किया जा सकता है ? जिसका कानोंसे श्रवण, वाणीसे वर्णन और नेत्रोंसे दर्शन नहीं होता, ऐसे अज्ञातस्वरूप एवं मायाके उत्पादक किसी सूक्ष्म तत्त्वके द्वारा चौदहों भुवन अपने-आपमें ही मायाद्वारा दिखाये जा रहे हैं। वह तत्त्व निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। समष्टि अहंकाररूप कलाको प्राप्त होकर सबके भीतर निवास करनेवाला वह कालका भी कालरूप परमात्मतत्त्व सबसे महान् है। तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो उसके द्वारा नष्ट न किया जा सके। स्वर्गमें देवता, भूतलपर मनुष्य और पातालमें सर्पोंकी सृष्टि उसीने की है। वही अपने संकल्पमात्रसे इन सबको जर्जर दशामें पहुँचा देता है। अनुरागयुक्त कामिनियोंने अपने चञ्चल लोचनोंद्वारा कटाक्षपूर्वक जिसकी ओर देखा है, उस पुरुषके मनको महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर पाता। जो दूसरोंका उपकार करनेवाली है और दूसरोंकी पीड़ा देखकर संतप्त हो उठती है, अपनी आत्माको शान्ति प्रदान करनेवाली उस शीतल बुद्धिसे युक्त ज्ञानी महात्मा ही सुखी है—ऐसा मेरा विश्वास है। जैसे समुद्रमें उत्पन्न हो बड़वाग्निके मुँहमें गिरकर नष्ट होनेवाली असंख्य लहरोंको कोई गिन नहीं सकता, उसी तरह संसारमें उत्पन्न हो कालके मुँहमें पड़नेवाले अनन्त प्राणियोंकी गणना कौन कर सकता है। जैसे झाड़ियोंमें बैठे हुए मृग या पक्षी अपनी जिह्वाकी लोलुपताके कारण मोहवश जालमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह दुराशा-पाशमें बँधे हुए सभी मनुष्य दोषरूपी झाड़ियोंके मृग बने हुए हैं। सब-के-सब मोह-जालमें

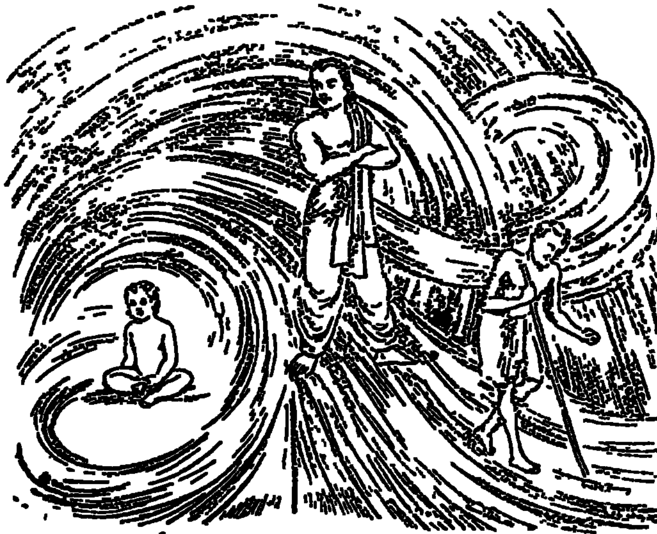
फँसकर पुनर्जन्मरूपी जंगलमें नष्ट हो जाते हैं। इस संसारमें लोगोंकी आयु विभिन्न जन्मोंमें किये गये कुकर्मोंसे नष्ट हो रही है। यदि आकाशमें वृक्ष हो, उस वृक्षमें लता हो और उस लतासे गलेमें फाँसी लगाकर मनुष्यको लटका दिया जाय तो उससे जो दुःख होगा, वैसा ही दुःखमय फल उन कुकर्मोंका भी बताया गया है। उस दुःखकी निवृत्तिके लिये उपाय करना तो दूरकी बात है, उस उपायका विचार करनेवाले लोग भी यहाँ हैं या नहीं, हमें इसीका पता नहीं है। मुनीश्वर! इस संसारमें लोगोंकी बुद्धि चञ्चल और मूढ़ है। उसी बुद्धिसे युक्त मनुष्य व्यर्थ ही अनेक संकल्प-विकल्पोंका जाल रचते हुए कहते हैं—'आज उत्सव है।' यह बड़ी सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिये, वे लोग हमारे भाई-बन्धु हैं और यह सुख विशिष्ट भोगोंसे युक्त है, इन्हीं संकल्पोंमें पड़े-पड़े वे सब लोग एक दिन कालके गालमें चले जाते हैं। (सर्ग २६)

सांसारिक वस्तुओंकी निस्सारता, क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका तथा सत्पुरुषोंकी दुर्लभताका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—तात! मुनीश्वर! इस जगत्का स्वरूप अत्यन्त अरमणीय (अभद्र) है, तो भी यह ऊपरसे मनोरम प्रतीत होता है। इसमें कोई ऐसा पदार्थ मेरी दृष्टिमें नहीं आता, जिसके प्राप्त होनेसे चित्तको अत्यन्त विश्राम (परम सुख) मिल सके। बाल्यावस्था विविध प्रकारसे कल्पित क्रीडा-कौतुकमें ही चपलतापूर्वक बीत जाती है। युवावस्था आनेपर मनरूपी मृग स्त्रीरूपिणी गुफाओंमें ही रमता हुआ जीर्ण हो जाता है; फिर वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर जब यह शरीर जर्जर हो जाता है, उस समय जनसमुदाय केवल दुःख-ही-दुःख भोगता रहता है (उसे कहीं कभी भी सुख-शान्तिका लेश भी प्राप्त नहीं होता)। बुढ़ापारूपी हिमकी वर्षासे जब देहरूपिणी कमलिनी नष्ट हो जाती है, उस समय प्राणरूपी भ्रमर इसे छोड़कर दूर, बहुत दूर चला जाता है। उस दशामें उस मनुष्यके लिये यह संसाररूपी सरोवर शुष्क (नष्ट) हो जाता है। इस संसारमें तृष्णा नामकी नदी निरन्तर बहती रहती है, जिसने अपने प्रबल प्रवाहके वेगसे यहाँके समस्त अनन्त पदार्थोंको ग्रस लिया है (नष्ट कर दिया है)। यह संतोषरूपी तटवर्ती वृक्षकी जड़ खोदनेमें बड़ी दक्ष है। संसाररूपी समुद्रमें चमड़ेसे मढ़ी हुई शरीररूपिणी नौका क्षुधा, पिपासा आदि विविध तरङ्गोंसे आहत हो हिलती-डोलती हुई इधर-उधर घूम रही है। पाँच इन्द्रिय नामक ग्राह इसे टक्कर मारकर डुबानेके लिये उद्यत रहते हैं। इस तरह यह नौका क्रमशः नीचे जा रही है—डूबना चाहती है। इसमें धैर्य और वैराग्यसे सुशोभित होनेवाले विवेकी जीव नहीं बैठे हैं। जहाँ तृष्णारूपिणी लताओंका ही प्राधान्य है, ऐसे संसाररूपी वनोंमें विचरनेवाले ये मनरूपी बंदर कामरूपी वृक्षोंकी सैकड़ों शाखाओंपर भटकते हुए अपनी आयु नष्ट करते हैं, परंतु कभी मनोवाञ्छित फल नहीं पाते। महर्षे! आपत्तियोंकी प्राप्ति होनेपर भी दुःख और मोह जिनसे दूर ही रहते हैं, स्वास्थ्य और सम्पत्तिमें भी जो अहंकारशून्य मनसे सुशोभित होते हैं तथा सुन्दरी रमणियाँ जिनके अन्तःकरणमें चोट नहीं पहुँचातीं (विकार नहीं उत्पन्न करतीं), ऐसे महात्मा पुरुष इस समय अत्यन्त दुर्लभ हैं। जो हाथियोंकी सेनारूपी तरङ्गोंसे उद्वेलित होनेवाले समरसागरको अपने बल-विक्रमके द्वारा पार कर जाते हैं, मेरी दृष्टिमें वे शूरवीर नहीं हैं। मैं तो उन्हींको शूरवीर मानता हूँ, जो मनरूपी उत्ताल तरङ्गोंसे पूर्ण इस देह और इन्द्रियरूपी समुद्रको विवेक, वैराग्य आदिके द्वारा लाँघ जाते हैं।*

* कृच्छ्रेषु दूरास्तविषादमोहाः स्वास्थ्येषु नोल्लिक्तमनोऽभिरामाः।
सुदुर्लभाः सम्प्रति सुन्दरीभिरनाहतान्तःकरणा महान्तः॥
तरन्ति मातङ्गघटातरङ्गं रणाम्बुधिं ये मयि ते न शूराः।
शूरास्त एवेह मनस्तरङ्गं देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति॥
(वैराग्य० २७। ८-९)

जो कीर्तिसे जगत्को, प्रतापसे सम्पूर्ण दिशाओंके प्रदेशोंको, सम्पत्तिसे याचकोंके घरोंको और सात्त्विक बल (क्षमा, विनय, उदारता आदि) से लक्ष्मीको परिपूर्ण करते हैं तथा जिनके धैर्यका बन्धन कभी टूटता नहीं, वे महापुरुष इस पृथ्वीपर सुलभ नहीं हैं (परम दुर्लभ हैं)।* कोई पर्वतकी प्रस्तरमयी दीवारके भीतर (गहन गुफामें) निवास करता हो या वज्रनिर्मित अभेद्य दुर्गमें रहता हो, सभी मनुष्योंके पास प्रारब्धके अनुसार पुण्यके फल-स्वरूप सम्पत्तियाँ अणिमा आदि सिद्धियोंको साथ लिये सदा वेगपूर्वक चली आती हैं और पापके फलस्वरूप आपत्तियाँ भी निरन्तर अपने-आप आ जाती हैं। तात! पुत्र, स्त्री और धन—इन सबको मनुष्य भ्रमवश अपनी बुद्धिके द्वारा रसायनके समान सुखद मान लेता है; परंतु मृत्युकाल आनेपर वे सब-के-सब कोई उपकार नहीं करते, अपितु अत्यन्त रमणीय भोग भी उस समय विषपान करनेसे होनेवाली मूर्छाके समान दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं। शरीरकी बाल्य और युवावस्थाओंके अन्तमें बुढ़ापेकी विषम अवस्थाको पहुँचा हुआ जराजीर्ण शरीरवाला जीव विषादमग्न हो इस लोकमें अपने संचित किये हुए धर्मशून्य (पापपूर्ण) भावों (कर्मों एवं विचारों) का स्मरण करके दुस्सह अन्तर्ज्वालासे जलता रहता है। जीवनके प्रारम्भमें केवल काम, अर्थ और सकाम धर्मकी प्राप्तिके लिये ही जिन्होंने हृदयमें स्थान बना रक्खा है, उन क्रियाओंद्वारा ही अपने दिन बिताकर वृद्धावस्थाको पहुँचे हुए उन मनुष्योंका हिलते हुए मोरपंखके समान चञ्चल चित्त किस उपायसे विश्राम (सुख-शान्ति) लाभ करे? (अर्थात् निष्काम धर्म या परमार्थ-साधनके बिना सुख-शान्तिका मिलना कठिन है)। इनको अभी करना है और उन्हें बादमें—इस प्रकार जिनके लिये चिन्ता की जाती है, वे आपात-रमणीय एवं परिणाममें अनर्थरूप सिद्ध होनेवाले कार्य स्त्रियों तथा अन्य लोगोंका मनोरञ्जनमात्र करते हुए वृद्धा-वस्थाके अन्ततक लोगोंके चित्तको वेगपूर्वक जीर्ण-शीर्ण (विवेकभ्रष्ट) करते रहते हैं। जैसे वृक्षोंके पत्ते उत्पन्न होकर थोड़े ही दिनोंमें पीले पड़कर झड़ जाते या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मविवेकसे रहित मनुष्य इस लोकमें जन्म ले एक दूसरेसे मिलकर कुछ ही दिनोंमें साथ छोड़कर चल देते हैं।



भला, कौन समझदार मनुष्य दिनमें दूर-दूरतक व्यर्थ इधर-उधर घूमता हुआ ज्ञानी महापुरुषोंका सङ्ग एवं सत्कर्मका अनुष्ठान न करके सायंकाल घरमें लौटनेपर रातमें सुखकी नींद सो सकेगा? समस्त शत्रुओंको मार भगानेपर जब चारों ओरसे धन-सम्पत्ति प्राप्त होने लगती है, उस समय पुरुष, जबतक इन विषयसुखोंके सेवनमें लगता है, तबतक ही मृत्यु कहींसे सहसा आ धमकती है। जो किसी कारणसे वृद्धिको प्राप्त होकर भी क्षणभरमें ही नष्ट होते देखे गये हैं, उन अत्यन्त तुच्छ विषय-भोगोंद्वारा इधर-उधर भटकायी जाती हुई जनता इस भूतलपर अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान

* कीर्त्या जगद्दिक्कुहर प्रतापैः श्रिया गृहं सत्त्वबलेन लक्ष्मीम्।
ये पूरयन्त्यक्षतधैर्यबन्धा न ते जगत्यां सुलभा महान्तः॥
(वैराग्य० २७। ११)

पाती, यह कितने आश्चर्यकी बात है। समुद्रकी क्षणभङ्गुर लहरोंके समान यह चपल जनता इस भूतलपर निरन्तर कहींसे वेगपूर्वक आती और फिर सदा वेगसे ही चली जाती है। जैसे चञ्चल भ्रमररूपी नेत्रों और लाल पल्लवरूपी अधरोंवाली तथा विष-वृक्षपर चढ़कर फैली हुई चञ्चल विष-लताएँ देखनेमें अति सुन्दर होनेके कारण पहले मनको हर लेती हैं, पीछे सेवन करनेपर प्राणोंका नाश कर देती हैं, उसी प्रकार लाल अधरों और भ्रमरतुल्य चञ्चल नेत्रोंसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी स्त्रियाँ मनोहारिणी होनेके कारण पहले तो मनुष्योंके चित्तको चुराती हैं, फिर सर्वथा उनके प्राणोंका अपहरण करनेवाली बन जाती हैं। जैसे तीर्थयात्रा अथवा देवोत्सवमें बहुत-से मनुष्योंका मेला जुट जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोकसे व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थानपर हमलोगोंकी भेंट होगी, इस तरह आपस-के संकेतयुक्त अभिप्रायसे एकत्र हुए लोगोंका जो स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके रूपमें यहाँ मिलन होता है, यह व्यवहार मायामय ही है। यह संसार वेगपूर्वक घूमनेवाले कुलालचक्रके[1] समान है। यद्यपि यह वर्षा ऋतुके पानीके बुलबुलोंके समान क्षणभङ्गुर है, तथापि असावधान मनुष्यों-की बुद्धिमें अपनी चिरस्थायिताकी ही प्रतीति कराता है।

जहाँ दैववश बारंबार जन्म लेकर अपने शरीरको धारण करके छाया, पत्र और पुष्प आदिके द्वारा निरन्तर प्राणियोंका उपकार करनेवाला वृक्ष भी कुल्हाड़ीसे काट दिया जाता है, उस संसारमें मनुष्य-जैसा अपराधी और उपकारशून्य प्राणी सदा जीवित ही रहेगा, ऐसा विश्वास करनेके लिये कौन-सा कारण है? विषका वृक्ष और विषयासक्त मनुष्य दोनों ऊपरसे बड़े मनोहर लगते हैं, किंतु उनके भीतर बड़ा भारी दोष भरा रहता है। एक (विषवृक्ष) हृदयस्थित प्राणोंके विनाशके लिये खड़ा है तो दूसरा (विषयासक्त मनुष्य) आन्तरिक शान्तिके विघातके लिये तैयार रहता है। इनके सङ्गसे तत्काल मूर्छा या मूढ़ता ही प्राप्त होती है। संसारमें ऐसी कौन-सी दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष नहीं है? वे कौन-सी दिशाएँ हैं, जहाँ दुःख और दाह नहीं है? वे कौन-से जीव-शरीर हैं, जो क्षणभङ्गुर नहीं है? और कौन-सी लौकिक क्रियाएँ हैं, जिनमें छल-कपट नहीं है? बीते हुए और आनेवाले अनन्त कल्पोंकी संख्याका परिज्ञान नहीं होता। इसलिये जैसे क्षण अनन्त हैं, उसी प्रकार कल्प भी अनन्त हैं। भगवान् विष्णु और रुद्र आदिकी दृष्टिमें कल्प भी क्षण ही हैं। अतः ब्रह्मलोकके निवासी भी कल्प नामधारी एक क्षणतक ही जीनेवाले हैं। इसलिये कलाओं (विभिन्न अंशो) से सुशोभित होनेवाले कालसमूहमें लघुत्व और दीर्घत्व—चिरजीवन और क्षणजीवनकी बुद्धि भी द्रष्टाकी कल्पनाके अधीन होनेके कारण असत्य ही है। सर्वत्र पत्थरके ही पहाड़ हैं—उनमें पत्थरके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसी तरह सब जगह मिट्टीकी ही पृथ्वी हैं, काष्ठके ही वृक्ष हैं और हाड़-मांसके ही मनुष्य हैं। लोगोंके बनाये हुए संकेतके अनुसार ही उनके विशेष नाम आदि भाव नियत हो गये हैं। इस भोग्यवर्गमें कोई भी वस्तु विकारसे हीन अथवा अपूर्व नहीं हैं। सब कुछ विकार-रूप होनेके कारण ही असत्य है। जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर घट-पट आदि नाना पदार्थोंके रूपमें अविवेकी पुरुषोंको प्रतीत होते हैं। चेतनके सांनिध्यसे ही उन्हें पदार्थोंकी प्रतीति होती है। विवेक-दृष्टिसे पृथक्-पृथक् विभाग-पूर्वक आलोचना करनेपर यह जगत् पाँच भूतोंसे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं सिद्ध होता।

महात्मन्! मिथ्या होनेपर भी इस पदार्थ-समूहके विषयमें व्यवहार-कुशलताके कारण विद्वान् पुरुषोंके भी मनमें भोगसम्बन्धी चमत्कार (चेष्टा) को उत्पन्न करनेवाली जो व्यवहार-चमत्कृति या प्रवृत्ति देखी जाती है,

१. कुम्हारका चाक।

यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि कभी-कभी स्वप्नमें मिथ्याभूत विषयको लक्ष्य करके भी किन्हीं लोगोंकी उस प्रकार चमत्कारपूर्ण प्रवृत्ति होती देखी जाती है।

जैसे पशु किसी हरी-हरी लताके फलको पानेकी इच्छासे ही आगे बढ़नेपर निस्संदेह पर्वतशिखरसे गिर जाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंके पद (स्थान या धन-वैभव आदि) को हठात् लेनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष राग-लोभ आदि दोषोंसे दूषित हुए अपने चित्तके द्वारा ही मारा जाकर अवश्य पतनके गर्तमें गिर जाता है।

(सर्ग २७)

जागतिक पदार्थोंकी परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—ब्रह्मन्! यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गमरूप दृश्य जगत् दिखायी देता है, वह सब सपनेमें लगे हुए मेलेके समान अस्थिर है—चिरकालतक टिकनेवाला नहीं। आज जिस शरीरको रेशमी वस्त्र, फूलोंके हार तथा भाँति-भाँतिके अनुलेपनोंसे सजाया गया है, वही कल नंगा होकर ग्राम या नगरसे बहुत दूर किसी गड्ढेमें पड़ा-पड़ा सड़ जायगा। जिस स्थानमें आज विचित्र आहार-व्यवहार और चहल-पहलसे भरा हुआ चञ्चल-सा नगर देखा गया है, वहीं कुछ ही दिनोंमें सूने वनके धर्मका उदय हो जायगा—वह भूमि गहन वनके समान निर्जन एवं अगम्य हो जायगी। जो पुरुष आज तेजस्वी है और अनेक मण्डलोंपर शासन करता है, वही कुछ दिनोंके अनन्तर राखका ढेर बन जाता है। आज जो आकाशमण्डलके समान नीला और महाभयंकर वन है, वही कुछ कालके पश्चात् ध्वजा-पताकाओंसे आकाशको ढक देनेवाला विशाल नगर बन जाता है। आज जो लता-वल्लरियोंसे आवेष्टित भयंकर वनश्रेणी दृष्टिगोचर होती है, वही कतिपय दिनोंमें ही मरुभूमि (रेगिस्तान) का स्थान ग्रहण कर लेती है। जल स्थल हो जाता है और स्थल जल। काठ, जल और तिनकोंसहित सारा जगत् ही विपरीत अवस्थाको प्राप्त होता रहता है। जवानी, बचपन, शरीर और द्रव्यसंग्रह—ये सब-के-सब अनित्य हैं और तरङ्गकी भाँति निरन्तर एक भावसे दूसरे भावको प्राप्त होते रहते हैं। इस संसारमें प्राणियोंका जीवन हवासे भरे स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लौके समान चञ्चल (शीघ्र ही बुझ जानेवाला) है और तीनों लोकोंके सम्पूर्ण पदार्थोंकी शोभा (चमक-दमक) बिजलीकी चमकके समान क्षणिक है।

महर्षे! वे उत्सव और वैभवसे सुशोभित होनेवाले दिन, वे महाप्रतापी पुरुष, वे प्रचुर सम्पत्तियाँ तथा वे बड़े-बड़े कर्म—सब-के-सब दृष्टिपथसे दूर हो केवल स्मरणके विषय रह गये हैं। इसी तरह हम भी क्षणभरमें अज्ञात स्थानको चले जायँगे और लोगोंके लिये केवल स्मरणीय बनकर रह जायँगे। यह संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन पुनः उत्पन्न हो जाता है। अतः आजतक इस नष्टप्राय जले हुए संसारका अन्त नहीं हुआ। प्रभो! मनुष्य पशु-पक्षियोंकी योनिको प्राप्त होते हैं। पशु-पक्षी मानवजन्म धारण करते हैं तथा देवता भी देवेतर योनियोंमें जन्म लेते हैं। फिर इस संसारमें कौन-सी वस्तु स्थिर है? स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ—ये सब-के-सब विनाशरूपी वड़वानल[1]के लिये सूखे ईंधनके समान हैं। धन, भाई-बन्धु, भृत्यवर्ग, मित्र तथा वैभव—ये सब-के-सब विनाशके भयसे डरे हुए पुरुषके लिये नीरस ही हैं। मुनीश्वर! जगत्‌में मनुष्य क्षणभरमें ऐश्वर्य (धन-वैभव) प्राप्त कर लेता है और क्षणभरमें दरिद्र हो जाता है। वह क्षणभरमें ही रोगी और क्षणभरमें नीरोग हो जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण विपरीत अवस्था प्रदान करनेवाले इस नश्वर जगद्रूपी भ्रमसे कौन

१. यहाँ वडवानलका अर्थ अग्निमात्र समझना चाहिये।

बुद्धिमान् मनुष्य मोहित नहीं हुए हैं ? (इस भ्रमने सभी लोगोंको मोहमें डाल रक्खा है ।)

आकाशमण्डल क्षणभरमें ही अन्धकाररूपी कीचड़से ढक जाता है, फिर क्षणभरमें ही सुवर्णद्रवके समान शीतल मृदुल चाँदनी आदिके उज्ज्वल प्रकाशसे उद्भासित हो परम सुन्दर दिखायी देने लगता है। दूसरे ही क्षण मेघरूपी नील कमलोंकी मालासे उसका अन्तःप्रदेश (वक्ष एवं उदर) ढक जाता है। क्षणभरमें ही वहाँ उच्चस्वरसे मेघोंकी गम्भीर गर्जना होने लगती है और क्षणमें ही वह मूककी भाँति नीरव हो जाता है। क्षणमें ही ताराओंकी हारावलीसे अलंकृत और क्षणमें ही सूर्यरूपी मणिसे विभूषित हो जाता है। क्षणमें ही वहाँ चन्द्रमाकी चटकीली चाँदनीसे आह्लाद छा जाता है और क्षणभरमें ही वह सबसे सूना हो जाता है। इस तरह जैसे आकाशकी स्थिति क्षण-क्षणमें बदलती रहती है, उसी प्रकार संसारके सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। महर्षे ! संसारमें कौन ऐसा पुरुष है, जो धीर होता हुआ भी क्षणभरमें स्थित और क्षणभरमें नष्ट होनेवाली, आवागमनकी परम्परासे युक्त इस सांसारिक स्थितिसे भयभीत नहीं होता ? मुने ! यहाँ क्षणभरमें आपत्तियाँ आती हैं और क्षणभरमें सम्पत्तियाँ। क्षणमें ही जन्म होता है और क्षणमें ही मृत्यु। इस जगत्‌में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो क्षणिक न हो ? भगवन् ! यहाँ उत्पन्न हुआ मनुष्य पहले कुछ और ही था और थोड़े दिनों बाद अन्य प्रकारका हो जाता है। यहाँ सदा एकरूप रहनेवाली सुस्थिर वस्तु कोई नहीं है। यहाँ कायरके द्वारा शूरवीर मारा जाता है। एक ही व्यक्तिके हाथसे सैकड़ों मनुष्य मारे जाते हैं और साधारण लोग भी राजा बन बैठते हैं। इस प्रकार यह सारा जगत् विपरीत अवस्थामें परिवर्तित होता रहता है। बाल्यावस्था थोड़े ही दिनोंमें चली जाती है, फिर यौवनकी शोभा छा जाती है और कुछ ही दिनोंमें वह भी समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् वृद्धावस्थाका पदार्पण होता है। जब हमारे शरीरमें भी एकरूपता (स्थिरता) नहीं है, तब बाह्य वस्तुओंमें एकरूपताका विश्वास क्या हो सकता है ? उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले संसारी पुरुषोंकी न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही। यह काल चतुर मनुष्योंको भी अवहेलनापूर्वक विपरीत स्थितियोंमें परिवर्तित करनेके कार्यमें अत्यन्त कुशल है। प्रायः सब लोगोंको आपत्तिमें ढकेलकर यह क्रीड़ा करता है।

(सर्ग २८)

श्रीरामकी प्रबल वैराग्यपूर्ण जिज्ञासा तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिये प्रार्थना

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर ! विषयभोग दुःखरूप और अनित्य हैं, इस प्रकार विषयोंमें दोष-दर्शनरूपी दावानलके द्वारा मेरा चित्त दग्ध हो निर्मल एवं महान् हो गया है। अतः जैसे जलाशयोंमें मृगतृष्णाका उदय नहीं होता, उसी तरह मेरे उस चित्तमें भोगोंकी आशा अङ्कुरित नहीं होती। जैसे नीमके वृक्षपर फैली हुई रसहीन गिलोय काल पाकर उत्तरोत्तर कड़वी होती जाती है, उसी प्रकार यह सांसारिक स्थिति भी दिन-प्रति-दिन तीव्र वैराग्यके कारण मेरे लिये अधिकाधिक कटुताको प्राप्त हो रही है। मुनीश्वर ! विविध चिन्ताओंसे परिपूर्ण भोग-समूहों एवं राज्योंकी अपेक्षा चिन्तारहित महात्मा पुरुषोंद्वारा स्वीकृत एकान्त-सेवन ही मुझे अच्छा लगता है। सुन्दर उद्यान मुझे आनन्द नहीं देता, स्त्रियोंसे मुझे सुख नहीं मिलता और धनकी आशापूर्तिसे मुझे हर्ष नहीं होता। मनके साथ-साथ शान्ति मैं पाना चाहता हूँ। मैं न तो मृत्युका अभिनन्दन और न जीवनका ही स्वागत करता हूँ। जिस तरह संतापरहित होकर स्थित हूँ, उसी तरह रह रहा हूँ; मुझे राज्यसे, भोगोंसे, धनसे और नाना प्रकारकी

चेष्टाओंसे भी क्या प्रयोजन है ? अहंकारवश ही मनुष्य इन राज्य आदिसे सम्बन्ध रखता है, किंतु मेरा वह अहंकार ही गल गया है (अतः मेरे लिये इनकी आवश्यकता नहीं रह गयी है) । जैसे हाथी अपने खुरोंके प्रहारसे कोमल कमलको कुचल डालता है, उसी प्रकार कामदेवने मानवती कामिनियोंके द्वारा मनुष्योंके मनको मथ डाला है । मुनीन्द्र ! यदि अभी निर्मल बुद्धिके द्वारा इस चित्तकी चिकित्सा नहीं की जाती तो फिर इसकी चिकित्साका अवसर ही कहाँ रह जायगा ? (क्योंकि रोग बढ़ जानेपर उसकी चिकित्सा कठिन हो जाती है ।) विषयोंकी विषमता ही विष है । लोकप्रसिद्ध विषको वास्तवमें विष नहीं कहा जाता, क्योंकि विष एक ही शरीरका (जिसके द्वारा उसका सेवन किया जाता है, उसीका) नाश करता है, परंतु विषय (-विष) जन्म-जन्मान्तरोंतक जीवको मौतके मुँहमें डालते रहते हैं । सुख-दुःख, मित्र, भाई-बन्धु, जीवन और मरण—ये सब (बन्धनके कारण होते हुए भी) ज्ञानी पुरुषके चित्तको नहीं बाँधते (अज्ञानीका ही मन इससे बँधता है) ।

ब्रह्मन् ! आप प्राचीन और अर्वाचीन बातोंके जाननेवाले महात्माओंमें श्रेष्ठ हैं । इसलिये जिस प्रकार मैं शोक, भय और खेदसे मुक्त हो यथार्थ ज्ञानसे सम्पन्न हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र प्रदान कीजिये । अज्ञान एक भयकर वनके समान है । जैसे वनमें मृगोंको फँसानेके लिये जाल बिछे होते हैं, काँटेदार झाड़-झंखाड़ फैले रहते हैं तथा जगह-जगह बहुत-से ऊँचे-नीचे स्थान रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानरूपी वन भी विषयवासनाके जालसे आवेष्टित, दुःखरूपी कण्टकोंसे व्याप्त तथा सम्पत्ति-विपत्ति-रूपी ऊँचे-नीचे स्थानोंसे युक्त है । महात्मन् ! जैसे रातमें ऐसी अन्धकार-राशि नहीं होती, जो चन्द्रमाकी चाँदनीसे नष्ट न हो जाती हो, उसी प्रकार संसारमें ऐसी दुश्चिन्ताएँ नहीं हैं, जो उत्तम अन्तःकरणवाले महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे क्षीण न हो जायँ । आयु वायुसे टकरायी हुई मेघोंकी घटासे झरते हुए जल-बिन्दुओंके समान क्षणभङ्गुर है । भोग मेघमालाके बीचमें चमकती हुई बिजलीके समान चञ्चल हैं तथा युवावस्थाके मनोरञ्जन जलके वेगके समान चपल हैं—ऐसा विचारकर मैंने इन सबको त्याग दिया और तुरंत ही चिरकालतक बनी रहनेवाली शान्तिको आजसे अपने चित्तपर शासन करनेके लिये सुदृढ़ अधिकार-मुद्रा समर्पित कर दी है ।*

जैसे मृग तुच्छ तृणोंके लोभसे ठगे जाकर गड्ढोंमें गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्तियाँ निस्सार विषयोंद्वारा ठगी जाती और विक्षेपरूपी दुःखोंको भोगनेके लिये उनके गहरे गर्तमें गिर जाती हैं । जैसे देवता विविध भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण तथा चतुर्दश भुवनोंके भीतर विचरण करनेवाले अपने शीघ्रगामी विमानका परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार विविध भोगवासनाओंसे विस्तारको प्राप्त हुआ और समस्त लोकोंमें बे रोक-टोक विचरनेवाला मनुष्योंका यह चञ्चल चित्त भी कभी चपलताको नहीं छोड़ता ।

अतः महात्मन् ! जन्म-मरण आदि दुःखोंसे रहित, देह आदि उपाधियोंसे शून्य तथा भ्रान्ति-रहित वह महान् विश्रान्तिदायक परमपद कौन सा है, जहाँ पहुँच जानेसे शोकका अभाव हो जाता है ? समस्त कर्मोंका सुचारुरूपसे अनुष्ठान करनेवाले तथा सदा लौकिक व्यवहारमें ही तत्पर रहनेवाले जनक आदि महापुरुष कैसे उत्तम पदको प्राप्त हुए ? दूसरोंको अधिक मान देनेवाले महामुने ! वह कौन-सा उपाय है, जिससे संसाररूपी पङ्कका अनेक अङ्गोंसे सम्पर्क हो जानेपर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता ? किस दृष्टि (बुद्धि) का

* जैसे राजा दुष्ट अधिकारियोंसे शासनका अधिकार छीनकर किसी गुणवान्‌को उस पदपर प्रतिष्ठित करनेके लिये अधिकार-पत्र देता है, उसी प्रकार मैंने चित्तभूमिसे भोगवासना आदिका अधिकार हटाकर वहाँ शाश्वत शान्तिको प्रतिष्ठित किया है ।

आश्रय लेकर आप-जैसे पापरहित महामना महापुरुष इस जगत्में जीवन्मुक्त होकर विचरते हैं? जिसे मोहरूपी मतवाले हाथीने मथ डाला है, जिसके भीतर काम आदि दोषोंकी कीचड़ भरी पड़ी है, वह प्रज्ञारूपी महान् सरोवर किस उपायसे अत्यन्त निर्मल हो जाता है? जैसे कमलके पत्तेसे जलका लगाव नहीं होता, उसी प्रकार प्रवाहरूपसे बने रहनेवाले इस संसारमें समस्त व्यवहारोंका निर्वाह करता हुआ भी मनुष्य बन्धनमें न पड़े—इसका क्या उपाय है? सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्माके समान तथा इस समस्त भोग-प्रपञ्चको तिनकेके समान समझनेवाला और मनकी कामादि वृत्तियोंका स्पर्श न करनेवाला मनुष्य कैसे श्रेष्ठ पदको प्राप्त हो सकता है? जिसने संसाररूपी महासागरको पार कर लिया हो, ऐसा कौन-सा महापुरुष है, जिसके चरित्रका अनुसरण करके मनुष्य कभी दुखी नहीं होता? वह प्राप्त करने योग्य कल्याण और फल क्या है? इस विषय-संसारमें (इसे पार करनेके लिये) कैसे व्यवहार करना चाहिये? प्रभो! मुझे तत्त्वका कुछ उपदेश दीजिये, जिससे मैं ब्रह्माजीके द्वारा रचित इस अव्यवस्थित जगत्का पूर्वापर (आदि-अन्त) समझ सकूँ। इस संसारमें ग्रहण करने योग्य वस्तु क्या है? त्याज्य वस्तु क्या है? तथा इन दोनोंसे भिन्न अग्राह्य एवं अत्याज्य वस्तु क्या है? मनुष्योंका यह चञ्चल चित्त किस प्रकार पर्वतके समान स्थिरता एवं शान्तिको प्राप्त करे? किस पावन मन्त्रसे सैकड़ों क्लेशोंकी सृष्टि करनेवाला यह दोष-युक्त संसाररूपी विसूचिका (हैजा) का रोग अनायास शान्त हो सकता है? महात्मन्! जैसे वनमें कुत्ते विभिन्न जन्तुओंके अधमरे शरीरको पीडित करते रहते हैं, उसी तरह नाना प्रकारके संशय मर्मो कष्ट आनन्दमय ब्रह्मपदमें आत्यन्तिक निष्ठासे रहित पुरुषको सदा कष्ट देते रहते हैं।

मुनीश्वर! ऐसा कौन-सा उपाय है, क्या गति है, कौन-सा चिन्तन है, क्या आश्रय है तथा कौन-सा साधन है, जिसका अवलम्बन करनेसे यह जीवनरूपी वन भविष्यमें अमङ्गलकारी न हो? भगवन्! इस पृथ्वीपर, स्वर्गमें अथवा देव-समाजमें कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे तुच्छ होनेपर भी आप-जैसे परम बुद्धिमान् महात्मा रमणीय न बना दें। यह नश्वर संसार निरन्तर दुःखोंसे परिपूर्ण और नीरस है। कृपया यह बताइये कि यह किस उपायसे अज्ञानके निवारणपूर्वक परमानन्दरूप उत्तम स्वादसे युक्त हो जाता है। मुने! यह मनरूपी चन्द्रमा कामसे कलङ्कित हो रहा है। इसे किस साधन एवं विधिसे धोया जाय कि उससे अत्यन्त निर्मल एवं परम आह्लादमयी दिव्य चाँदनीका उदय हो। जिसे संसारकी गतिका अनुभव है और जिसने निष्कामभावके द्वारा दृष्ट एवं अदृष्ट कर्मफलोंका विनाश कर दिया है, ऐसे किस महापुरुषकी भाँति हमें इस संसाररूपी वनकी गलियोंमें विचरते समय व्यवहार करना चाहिये? प्रभो! किस उपायका आश्रय लिया जाय, जिससे संसाररूपी वनमें विचरनेवाले जीवको राग-द्वेषरूपी बड़े-बड़े दोष तथा भोग-समूह एवं ऐश्वर्यरूपी हिंसक जन्तु कष्ट न दे सकें? मुनिश्रेष्ठ! तीनों लोकोंमें मनकी जो मननशालिनी सत्ता (विषय-चिन्तनरूप अस्तित्व) है, उसे किसी साधनरूप युक्तिके बिना नष्ट नहीं किया जा सकता। अतः आप उस उत्तम युक्तिका पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये। अथवा जिसका अवलम्बन करनेसे लोकव्यवहारमें तत्पर रहनेपर भी मुझे दुःख प्राप्त न हो सके, उस व्यवहार-सम्बन्धिनी उत्तम युक्तिका प्रतिपादन कीजिये। किस उत्तम चित्तवाले महापुरुषने पहले युक्तिके द्वारा मोहका निवारण किया था? उसने किस प्रकार और क्या किया था; जिससे उसका मन परम पवित्र होकर शान्तिको प्राप्त हो गया? भगवन्! मोहकी निवृत्तिके लिये आप-जैसा, जो कुछ भी जानते हैं, उसका उसी रूपमें मुझे उपदेश कीजिये। वह कौन-सा साधन है, जिसका आश्रय लेनेसे अनेक श्रेष्ठ पुरुष दुःखरहित स्थिति (कल्याण) को प्राप्त हो गये हैं?

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! जैसे मोर महान्

मेघोंकी घटाओंके सम्मुख केकारव[1] करके थक जानेके कारण चुप हो जाता है, उसी प्रकार निर्मल चन्द्रमाके समान मनोहर एवं महान् तत्त्वविचारसे विकसित चित्तवाले श्रीरामचन्द्रजी वसिष्ठ आदि महान् गुरुजनोंके समक्ष उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये।

(सर्ग २९–३१)

श्रीरामचन्द्रजीका भाषण सुनकर सबका आश्चर्यचकित होना, आकाशसे फूलोंकी वर्षा, सिद्ध पुरुषोंके उद्गार, राजसभामें सिद्धों और महर्षियोंका आगमन तथा उन सबके द्वारा श्रीरामके वचनोंकी प्रशंसा

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! कमलनयन राजकुमार श्रीराम जब इस प्रकार मनके मोहका निवारण करनेवाली बात कहने लगे, तब वहाँ बैठे हुए सब लोगोंके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उनकी समस्त सांसारिक वासनाएँ वैराग्यकी वासनासे नष्ट हो गयीं और वे सब लोग दो घड़ीके लिये मानो अमृतमय समुद्रकी तरङ्गोंमें डूबने-उतराने लगे। श्रीरामचन्द्रजीकी वे बातें जिन लोगोंने सुनीं, वे निश्चलताके कारण चित्रलिखित-से प्रतीत होते थे। उनका हृदय आनन्दसे भर गया था। सभामें बैठकर जिन श्रवणसमर्थ पुरुषोंने श्रीरामकी बातें सुनीं, उनके नाम इस प्रकार हैं—वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रणाकुशल जयन्त और धृष्टि आदि मन्त्री, दशरथ आदि नरेश, पुरवासी, पारशव आदि संकर जातिके लोग, विभिन्न सामन्त, लक्ष्मण आदि राजकुमार, वेदवेत्ता ब्राह्मण, भृत्य और अमात्य। अपने महलकी खिड़कियोंमें बैठी हुई महारानी कौसल्या आदि वनिताएँ भी निश्चल होकर श्रीरामकी बातें सुन रही थीं। उस समय उनके आभूषणोंकी खनखनाहटतक नहीं होती थी। आकाशचारी सिद्ध, गन्धर्व, किंनर, नारद, व्यास और पुलह आदि श्रेष्ठ मुनियोंने तथा देवता, देवराज इन्द्र, विद्याधरगण एवं महान् दिव्य नागोंने भी श्रीरामचन्द्रजीकी वे विचित्र अर्थसे परिपूर्ण और परम उदार बातें सुनी थीं।

रघुकुलरूपी आकाशके चन्द्रमा तथा शशिसे भी सुन्दर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी जब उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये, तब 'साधुवाद' के गम्भीर घोषके साथ आकाशसे सिद्धसमूहोंद्वारा ऐसी पुष्पवृष्टि की गयी, जिससे वहाँ चँदोवा-सा तन गया। फूलोंकी उस वर्षामें ढेर-के-ढेर केवड़ेके फूल चक्कर काट रहे थे। कमलोंके गुच्छ अपनी अद्भुत छटा दिखा रहे थे। कुन्दपुष्पोंकी राशि झड़ रही थी तथा हवामें उड़ते हुए नील कमलोंके पुञ्ज बिखर रहे थे। उस महलके आँगनकी भूमि पट गयी। घर, छत और चबूतरे आच्छादित हो गये तथा नगरके सभी स्त्री-पुरुष अपनी गर्दन ऊँची करके उस पुष्पवर्षाकी शोभा निहारने लगे। आकाशमें खड़े हुए अदृश्य सिद्ध-समूहोंद्वारा की गयी वह पुष्पवृष्टि आधी घड़ीतक लगातार होती रही। सभा और उसमें बैठे हुए लोगोंको आच्छादित-सा करके जब वह पुष्पवर्षा बंद हुई, तब सभासदोंने सिद्धसमूहोंका यह वार्तालाप अपने कानोंसे सुना—

"सृष्टिके आरम्भसे लेकर अबतक सिद्धोंके समुदायमें रहकर स्वर्गके सारे प्रदेशोंमें घूमते हुए हमलोगोंने आज ही वेदोंका सारभूत एवं कानोंके लिये अमृतके समान सुखद यह अपूर्व प्रवचन सुना है। वीतराग होनेके कारण इन रघुकुलचन्द्र श्रीरामने जो उदार बातें कही हैं, उन्हें सम्भवतः बृहस्पतिजी भी नहीं जानते होंगे। अहो! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज हमलोगोंने श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दसे प्रकट हुआ यह परम पुण्यमय प्रवचन सुना है, जो अन्तःकरणको

[1] मोरकी बोलीको केका कहते हैं।

परम आह्लाद प्रदान करनेवाला है। इन रघुनन्दनने इस समय आदरपूर्वक जो उचित भाषण किया है, वह शान्तिरूपी अमृतसे भरा होनेके कारण परम मनोहर है। इस भाषणने श्रेष्ठताका पद प्राप्त कर लिया है—यह प्रवचन सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है। इसके द्वारा हमें भी तत्काल यह ज्ञान हो गया कि स्वर्ग आदिके सुख भी निस्सार हैं।

'रघुकुलतिलक श्रीरामके द्वारा उठाये गये इन पावन प्रश्नवाक्योंका महर्षिलोग जो निर्णय करेंगे, उसे भी सुनना उचित होगा। नारद, व्यास और पुलह आदि मुनीश्वरो! आप सभी महर्षि उस निर्णयको निर्विघ्नरूपसे सुननेके लिये शीघ्र यहाँ पधारें। जैसे केसरकी शोभासे परिपूर्ण हो सुवर्णकी भाँति उद्दीप्त होनेवाली कमलिनीपर भ्रमर चारों ओरसे टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार हम भी धन-वैभवसे पूर्ण तथा सुवर्णमयी सामग्रियोंसे प्रकाशित होनेवाली राजा दशरथकी इस पुण्यमयी सभामें सब ओरसे प्रवेश करें।'

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! सिद्धोंके ऐसा कहनेपर विमानोंमें निवास करनेवाले दिव्य महर्षियोंकी वह सारी मण्डली उस राजसभामें उतरी। उस मण्डलीमें सबसे आगे मुनीश्वर नारद थे, जो अपनी बजती हुई वीणाको उस समय भी छोड़ न सके थे और सबसे पीछे सजल जलधरके समान श्याम कान्तिवाले महर्षि व्यास थे। इन दोनोंके बीचमें शेष ऋषियोंकी मण्डली थी। भृगु, अङ्गिरा और पुलस्त्य आदि मुनीश्वर उस मण्डलीकी शोभा बढ़ाते थे। च्यवन, उद्दालक, उशीर तथा शरलोम आदि महर्षियोंने उसे सब ओरसे घेर रक्खा था।

एक दूसरेके शरीरकी रगड़से उन सबके मृगचर्म अपने स्थानसे खिसककर अस्त-व्यस्त हो गये थे। उन महर्षियोंके हाथोंमें बल पाकर रुद्राक्षमाला हिल रही थी तथा उन सबने सुन्दर कमण्डलु धारण कर रक्खे थे। आकाशमें अपने तेजःपुञ्जके प्रसारसे श्वेत एवं रक्त प्रभा धारण करनेवाली वह मुनिमण्डली तारोंकी पङ्क्तिके समान प्रकाशित हो रही थी। परस्परके तेजसे उन सबके मुखमण्डल ऐसे उद्भासित हो रहे थे, मानो अनेक सूर्योंकी पङ्क्तियाँ प्रकट हो गयी हों। उस मण्डलीमें व्यासजी ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो तारोंके समुदायमें श्याम मेघ घिर आया हो और देवर्षि नारद तारिकाओंके समूहमें शीतरश्मि चन्द्रमाकी-सी शोभा धारण करते थे। महर्षि पुलस्त्य देवमण्डलीके बीच देवराज इन्द्रके समान विराज रहे थे। महर्षि अङ्गिरा ऐसे प्रकाशित होते थे, मानो देवताओंके समूहमें साक्षात् सूर्य उपस्थित हों। आकाशमण्डलसे वह सिद्ध-सेना ज्यों ही भूतलपर उतरी त्यों ही मुनियोंसे भरी हुई दशरथ-सभाके सभी लोग उठकर खड़े हो गये। वसिष्ठ और विश्वामित्रने अर्घ्य-पाद्य तथा मधुर वचनोंद्वारा क्रमशः उन सभी आकाशचारी सिद्धों तथा महर्षियोंकी पूजा की। आकाशचारी सिद्ध आदिके उस महान् समुदायने भी अर्घ्य-पाद्य एवं मधुर वचनोंद्वारा वसिष्ठ और विश्वामित्रका आदरपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् भूपाल दशरथने सम्पूर्ण आदरभावके साथ उस सिद्ध-समुदायका पूजन किया। फिर उस सिद्ध-समुदायने भी कुशल-प्रश्न-सम्बन्धी वार्तालापद्वारा महाराज दशरथका सत्कार किया। उस समय प्रेमोचित दान, मान आदि क्रियाओंद्वारा एक दूसरेसे सत्कार पाकर सभी आकाशचारी तथा भूमण्डलमें विचरनेवाले महर्षि यथायोग्य आसनोंपर बैठे। उन लोगोंने सामने नत-मस्तक होकर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीका चारों ओरसे मधुर भाषण, फूलोंकी वर्षा और साधुवादके द्वारा पूर्ण सत्कार किया।

श्रीरामचन्द्रजी राज्यलक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए वहीं बैठे तथा विश्वामित्र, वसिष्ठ, वामदेव, राजमन्त्रीगण, ब्रह्माके पुत्र नारदजी, मुनिवर व्यास, मरीचि, दुर्वासा, अङ्गिरा और उनके पुत्र आङ्गिरस मुनि, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मुनीश्वर शरलोमा, वात्स्यायन, भरद्वाज, मुनिवर वाल्मीकि, उद्दालक, ऋचीक, शर्याति और च्यवन—ये तथा और भी बहुत-से वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान्

तत्त्वज्ञानी महात्मा, जो उन सबमें प्रधान थे, वहाँ विराजमान हुए। तत्पश्चात् वसिष्ठ और विश्वामित्रजीके साथ नारद आदि, जो साङ्गवेदोंका अध्ययन कर चुके थे, मस्तक झुकाये हुए श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्य करके इस प्रकार बोले—'अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि राजकुमार श्रीरामने इस प्रकार अनेक कल्याणमय गुणोंसे सुशोभित वैराग्यरससे पूर्ण तथा परम उदारतासे युक्त बातें कही हैं। श्रीरामके भाषणमें वक्तव्य अर्थ 'इदमित्थम्' रूपसे व्यवस्थापूर्वक निहित है। उसे ऐसी सुबोध भाषामें कहा गया है, जिसे सुनते ही श्रोता वास्तविक अभिप्रायको समझ ले। जो बात कही गयी है, वह सर्वथा उचित और स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादित है। श्रीरामकी यह वाणी उदार है—इसके भीतर बहुत-से उत्कृष्ट अभिप्राय छिपे हुए हैं। यह सुननेमें प्रिय और श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य है। इसमें जो कुछ कहा गया है, वह चञ्चल चित्तसे नहीं, स्थिरबुद्धिसे विचारकर व्यक्त किया गया है। इसका भाव स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता है। इस भाषणका प्रत्येक पद अभिव्यक्त (व्याकरण-विशुद्ध) तथा सुस्पष्ट—ग्रस्त[1] आदि दोषोंसे रहित है। यह वाणी इष्ट (प्रिय एवं हितकर) तथा आन्तरिक संतोष-की सूचक है। श्रीरघुनाथजीके मुखसे निकला हुआ यह वचन किसको आश्चर्यमें नहीं डाल देता? सैकड़ोंमें किसी एक पुरुषकी ही वाणी सम्पूर्णतः उत्कृष्ट, चमत्कारपूर्ण और अभीष्ट अर्थको प्रकट करनेमें समर्थ होती है।

'राजकुमार! आपके सिवा दूसरा कौन है, जिसकी बाणके समान सूक्ष्म अर्थका भेदन करनेवाली कुशाग्र बुद्धिरूपिणी लता विवेकरूपी फलसे सुशोभित हो विचार-वैराग्यरूपी उत्तम विकासको प्राप्त हो रही हो। श्रीरामकी भाँति जिसके हृदयमें अनुपम प्रकाश फैलानेवाली प्रज्ञा-रूपिणी दीप-शिखा प्रज्वलित हो रही हो, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है। जिनमें ऐसी प्रज्ञा नहीं है, वे मनुष्य रक्त, मांस और हड्डियोंके यन्त्ररूपी देहमें आत्मबुद्धि रखनेके कारण रक्त-मांसादिरूप ही बहुत-से शब्द-स्पर्शादि पदार्थोंका उपभोग करते रहते हैं। ऐसा लगता है, उनके भीतर कोई चेतन पदार्थ है ही नहीं—वे जड़के तुल्य हो गये हैं। जो लोग सर्वथा मोहाच्छन्न होनेके कारण संसारका विचार नहीं करते, वे निरे पशु हैं। वे ही बारंबार जन्म, मृत्यु और जरा आदि रूपोंको प्राप्त होते हैं। जैसे लोकमें सर्वोत्तम मधुर फल और सुन्दर आकृतिवाले आमके वृक्ष विरले ही होते हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट चमत्कारसे पूर्ण तत्त्व-साक्षात्काररूप फलसे सम्पन्न एवं सुन्दर शरीरवाले भव्य पुरुष इने-गिने ही होते हैं। इन आदरणीय बुद्धिवाले श्रीराममें अभी इसी अवस्थामें अपने ही विवेकके कारण उस तत्त्वदर्शनरूप चमत्कारका उदय देखा जाता है, जिसके द्वारा जगत्‌के व्यवहारका सम्यक्‌रूपसे समीक्षण हुआ है। जो देखनेमें सुन्दर हों, जिनपर सरलतासे चढ़ा जा सके तथा जो उत्तम फलों और पल्लवोंसे सुशोभित हों, ऐसे वृक्ष प्रायः सभी देशोंमें उत्पन्न होते हैं; परंतु चन्दनके वृक्ष सर्वत्र नहीं होते (इसी तरह श्रीराम-जैसे पुरुष सर्वत्र दुर्लभ हैं)। फल और पल्लवोंसे भरे-पूरे वृक्ष प्रत्येक वनमें सदा सुलभ होते हैं। परंतु अपूर्व चमत्कारसे युक्त लौंगका वृक्ष सदा और सर्वत्र सुलभ नहीं है (इसी तरह श्रीराम-जैसे पुरुष सर्वत्र दुर्लभ है)। जैसे चन्द्रमासे शीतल चाँदनी उत्पन्न होती है, सुन्दर वृक्षसे मञ्जरी प्रकट होती है और फूलसे सुगन्धका प्रवाह प्रादुर्भूत होता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीसे यह तत्त्वदर्शनरूपी चमत्कारका आविर्भाव देखा गया है। जो लोग सदा तत्त्वचिन्तनमें तत्पर हो विवेकके द्वारा आत्मज्ञान या परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सार पदार्थके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, वे ही सुयशके भंडार, सत्पुरुषोंमें अग्रगण्य, धन्य एवं समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। तीनों लोकोंमें श्रीरामचन्द्रजीके समान विवेकशील और उदारचित्त पुरुष न तो अबतक कोई देखा गया है और न भविष्यमें ही कोई होगा, ऐसी हमारी मान्यता है।' (सर्ग ३२-३३)

वैराग्य-प्रकरण सम्पूर्ण

१. अर्द्धोच्चारित शब्द या वाक्य, जिससे पूरी बात समझमें नहीं आती, ग्रस्तदोषसे युक्त माना गया है।

मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण

विश्वामित्रजीका श्रीरामको तत्त्वज्ञानसम्पन्न बताते हुए उनके सामने शुकदेवजीका दृष्टान्त उपस्थित करना, शुकदेवजीका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके परमात्मामें लीन होना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! इस प्रकार सभामें आये हुए सिद्ध पुरुषोंने जब उच्चस्वरसे श्रीरामके भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, तब विश्वामित्रजीने अपने सामने बैठे हुए श्रीरामसे प्रेमपूर्वक कहा—'ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! तुम्हारे लिये और कुछ जानना शेष नहीं है। तुम अपनी ही सूक्ष्मबुद्धिसे सब कुछ जान चुके हो—सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माको तत्त्वसे जानते हो। तुम्हारी बुद्धि भगवान् व्यासके पुत्र शुकदेवजीकी-



सी है। उसे जाननेयोग्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो चुका है। श्रीराम ! मैं तुमसे व्यासपुत्र शुकदेवजीका यह वृत्तान्त कह रहा हूँ, जो तुम्हारे अपने ही वृत्तान्तके समान है, इसे सुनो। यह सुननेवाले मनुष्योंके जन्म-मरणरूप संसारके अन्त (मोक्ष) का कारण है। ये जो तुम्हारे पिताके बगलमें अञ्जनगिरिके समान श्याम तथा सूर्यतुल्य तेजस्वी भगवान् व्यास बैठे हैं, इनके शुकदेव नामसे प्रसिद्ध एक महाज्ञानी पुत्र हुआ, जिसका मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर था। शुकदेवजी सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता थे। वे एक दिन मन-ही-मन इस लोकयात्रा (जागतिक व्यवहार) पर विचार कर रहे थे। उस समय उनके हृदयमें भी तुम्हारी ही तरह विवेकका उदय हुआ। उन महामना शुकदेवने अपने विवेकसे स्वयं ही चिरकालतक विचार करके जो परम मनोहर परमार्थ सत्य वस्तु (या परमार्थ—साधनकी उच्च स्थिति) है, उसे प्राप्त कर लिया। उसे प्राप्त करके भी उनके हृदयमें 'यही परमार्थ वस्तु (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) है' ऐसा पूर्ण विश्वास नहीं हुआ; इसलिये उस परम वस्तुके स्वतः प्राप्त हो जानेपर भी उनके मनको शान्ति नहीं मिली। इतना अवश्य हुआ कि उनके चित्तकी चञ्चलता दूर हो गयी और जैसे चातक वर्षाकी जलधाराके अतिरिक्त अन्य जलधाराओंसे मुँह मोड़ लेता है, उसी प्रकार उनका मन अत्यन्त क्षणभङ्गुर भोगोंसे विरत हो गया।

एक दिन निर्मल बुद्धिवाले शुकदेवजीने मेरुगिरि-पर एकान्त स्थानमें बैठे हुए अपने पिता मुनिवर श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्याससे भक्तिभावके साथ पूछा—'मुने ! यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है ? कैसे इसकी शान्ति या नाश होता है ? यह कितना बड़ा है ? किसका है ? और कबतक रहेगा ?' पुत्रके इस प्रकार प्रश्न करने-पर आत्मज्ञानी मुनिवर व्यासने उन्हें जो कुछ बताने योग्य

बात थी, वह सब यथावत् एवं विशुद्ध रूपसे बता दी। उनका उपदेश सुननेके अनन्तर शुकदेवजीने सोचा, यह तो मैं पहले ही जान गया था। ऐसा विचारकर उन्होंने पिताजीके उस उपदेश-वाक्यका अपनी शुभ बुद्धिके द्वारा अधिक आदर नहीं किया। भगवान् व्यास भी अपने पुत्रके इस अभिप्रायको समझकर उससे बोले—'बेटा! भूतलपर जनक नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो जाननेयोग्य तत्त्व (सच्चिदानन्दघन परमात्माको) यथार्थरूपसे जानते हैं। उनसे तुम्हें सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायगा।'



पिताके ऐसा कहनेपर शुकदेवजी सुमेरु पर्वतसे उतरकर पृथ्वीपर आये और महाराज जनकके द्वारा पालित विदेहपुरीमें जा पहुँचे। वहाँ छड़ीदार द्वारपालोंने महात्मा जनकको यह सूचना दी—'राजन्! राजद्वारपर व्यासजीके पुत्र शुकदेवजी खड़े हैं।' उन्होंने शुकदेवजीकी परीक्षा लेनेके लिये द्वारपालोंसे अवहेलनापूर्वक कहा—'शुकदेवजी आये हैं तो वहीं ठहरें।' ऐसा कहकर राजा सात दिनोंतक चुपचाप बैठे रहे—उनकी कोई खोज-खबर नहीं ली। तत्पश्चात् राजा जनकने शुकदेवजीको राजमहलके आँगनमें बुलवाया। वहाँ आनेपर भी शुकदेवजी पूरे सात दिनोंतक उसी प्रकार उपरत होकर बैठे रहे। इसके बाद जनकने शुकदेवजीको अन्तःपुरमें ले आनेकी आज्ञा दी, किंतु वहाँ भी राजाने सात दिनोंतक उन्हें दर्शन नहीं दिया। वे चन्द्रमाके समान मुखवाले शुकदेवजीका अन्तःपुरमें यौवनके मदसे उन्मत्त कमनीय कान्तिवाली सुन्दरियोंद्वारा भाँति-भाँतिके भोजनों तथा भोगसामग्रियोंसे लालन-पालन कराते रहे।



परंतु जैसे मन्द गतिसे बहनेवाली वायु दृढमूल अविचल वृक्षको नहीं उखाड़ सकती, उसी प्रकार वे भोग तथा अनादर एवं उपेक्षाजनित दुःख भी व्यासपुत्रके मनको अपनी ओर खींच न सके, उसमें विकार पैदा न कर सके। शुकदेव वहाँ पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्विकार, भोग और अनादरमें भी समान (हर्ष-विषादसे रहित), स्वस्थ, मौन तथा प्रसन्न-चित्त बने रहे।

इस प्रकार परीक्षाद्वारा शुकदेवजीके स्वभावको जानकर राजा जनकने उन्हें सादर अपने पास बुलवाया और प्रसन्नचित्त देखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक उनका स्वागत करके राजाने उनसे कहा—'ब्रह्मन्! जगत्में परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जो-जो आवश्यक कर्तव्य हैं, वे सब आपने पूर्ण कर लिये हैं। सारे मनोरथोंको प्राप्त कर लिया है (इस तरह आप कृतकृत्य तथा आप्तकाम हो चुके हैं)। अब आपको किस वस्तुकी इच्छा है?'

श्रीशुकदेवजीने कहा—महाराज! मैं जानना चाहता हूँ कि यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है और इसकी शान्ति या विनाश कैसे होता है। आप शीघ्र ही मुझसे इस विषयका यथावत् रूपसे प्रतिपादन कीजिये।

श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं—महाराज! इस प्रकार पूछे जानेपर राजा जनकने शुकदेवजीको उस समय वही बात बतायी, जो पहले उनके महात्मा पिता व्यासजीके द्वारा बतायी गयी थी।

तब शुकदेवजीने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाराज! मैंने पहले विवेकसे स्वयं ही यह बात जान ली थी। फिर जब पिताजीसे इसके विषयमें पूछा, तब उन्होंने भी मुझे यही बात बतायी और आज आपने भी यही बात कही है। शास्त्रोंमें भी महावाक्योंका यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है। वह इस प्रकार है—'यह विनाशशील संसार अपने संकल्पसे उत्पन्न हुआ है और संकल्पका आत्यन्तिक विनाश होनेसे नष्ट हो जाता है अतः सर्वथा निस्सार है। यही शास्त्रोंका निश्चय है।' महाबाहो! क्या यही अविचल सत्य है? यदि हाँ, तो इसका इस तरह उपदेश कीजिये, जिससे यह मेरे हृदयमें अचल—असंदिग्धरूपसे बैठ जाय। संसारके विषयोंमें भटकते हुए चित्तके द्वारा इधर-उधर भटकाया जाता हुआ मैं आज आपसे शान्ति लाभ करना चाहता हूँ।

राजा जनकने कहा—मुने! इस ब्रह्माण्डमें एक अखण्ड चिन्मय परम पुरुष परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आपने स्वयं विवेकके द्वारा इस तत्त्वको जाना है और फिर गुरुस्वरूप पिताके मुखसे इसको सुना है। इससे बढ़कर दूसरा कोई निश्चय (जानने योग्य तत्त्व) नहीं है। मुनिकुमार! आप बालक होते हुए भी विषयभोगोंके त्यागमें शूरवीर होनेके कारण महान् वीर हैं। आपकी बुद्धि दीर्घ कालतक बने रहनेवाले रोगरूपी भोगोंसे पूर्णतः विरक्त हो गयी है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? ब्रह्मन्! जो प्राप्त करने योग्य वस्तु है, उसे पूर्णरूपसे आपने पा लिया है। आपका चित्त पूर्णकाम हो गया है। आप दृश्य वस्तु (बाह्य विषय) की ओर दृष्टिपात नहीं करते हैं, अतः मुक्त हैं। अभी और कुछ पाना या जानना शेष रह गया है, इस भ्रमको त्याग दीजिये।

(विश्वामित्रजी कहते हैं—श्रीराम!) महात्मा जनकके द्वारा इस प्रकार उपदेश पाकर शुकदेवजी अत्यन्त शुद्ध परम वस्तु परमात्मामें चुपचाप स्थित हो गये। उनके शोक, भय और श्रम—सभी नष्ट हो गये। वे सर्वथा निरीह एवं संशयरहित हो गये। तदनन्तर वे मेरुगिरिके प्रशस्त शिखरपर समाधि लगानेके लिये चले गये। वहाँ दस हजार वर्षोंतक निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहे और जैसे तेल समाप्त होनेपर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार वे प्रारब्ध क्षीण हो जानेपर परमात्मामें लीन हो गये। (सर्ग १)

विश्वामित्रजीका वसिष्ठजीसे श्रीरामको उपदेश करनेके लिये अनुरोध करना और वसिष्ठजीका उसे स्वीकार कर लेना

श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं—मुनीश्वरो ! श्रीरामचन्द्रजीने ज्ञातव्य वस्तुको पूर्णतः जान लिया है; क्योंकि इन शुद्ध-बुद्धिवाले श्रीरामको भोग अच्छे नहीं लगते । वे इन्हें रोगके समान प्रतीत होते हैं । जिसने ज्ञेय वस्तुको जान लिया है, उसके मनका अवश्य ही यही लक्षण है कि उसे सारे भोगसमूह फिर कभी रुचिकर नहीं जान पड़ते हैं । भोगोंके चिन्तनसे अज्ञान-जनित बन्धन दृढ़ होता है और भोग-वासनाके शान्त हो जानेपर संसार-बन्धन क्षीण हो जाता है । *

श्रीराम ! विद्वान् लोग भोगवासनाके क्षयको ही मोक्ष कहते हैं और विषयोंमें होनेवाली सुदृढ़ वासनाको ही बन्धन बताते हैं । जिसकी दृष्टि राग आदि दोषोसे रहित है, वही तत्त्वज्ञ है । उसीने जाननेयोग्य वस्तुको जाना है और वही विद्वान् है । उस महात्मा पुरुषको भोग हठात् अच्छे नहीं लगते । जैसे मरुभूमिमें लता नहीं उगती, उसी प्रकार जबतक जाननेयोग्य तत्त्वका कुछ भी ज्ञान नहीं होता, तबतक मनुष्यके हृदयमें विषयोंकी ओरसे वैराग्य नहीं होता । अतः मुनिवृन्द ! आपलोग यह निश्चितरूपसे समझ लें कि रघुकुलतिलक श्रीरामको ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान हो गया है; क्योंकि इन्हें ये भोगोंके रमणीय स्थान आनन्दित नहीं कर रहे हैं । मुनीश्वरो ! श्रीरामचन्द्रजी जिस तत्त्वको बुद्धिके द्वारा जानते हैं, उसके विषयमें जब सद्गुरुके मुखसे यह सुन लेंगे कि 'यही परमार्थ वस्तु है' तब इनके चित्तको अवश्य विश्राम प्राप्त होगा । जैसे शरत्कालकी शोभा मेघरहित निर्मल आकाशमात्रकी अपेक्षा रखती है, उसी तरह श्रीरामचन्द्रजीकी बुद्धिको केवल अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परमात्माके तत्त्वमें विश्रामकी अपेक्षा है । अतः महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके चित्तके विश्रामके लिये ये पूज्यपाद श्रीवसिष्ठजी ही यहाँ युक्तिका प्रतिपादन करें; क्योंकि ये समस्त रघुवंशियोंके ही (नहीं, समूचे इक्ष्वाकुवंशियोंके) सदासे प्रभु (नियन्ता एवं शिक्षक) और कुलगुरु हैं । इसके सिवा ये सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी तथा तीनों कालोंमें मोह आदिसे रहित निर्मल दृष्टिवाले हैं ।



पूज्यपाद वसिष्ठजी ! क्या वह पहलेकी बात आपको स्मरण है, जब कि हम दोनोंके वैरकी शान्ति तथा परम बुद्धिमान् मुनियोंके कल्याणके लिये देवदारुके वृक्षोंसे आवृत निषद पर्वतके शिखरपर साक्षात् पद्मयोनि भगवान् ब्रह्माने महत्त्वपूर्ण ज्ञानका उपदेश दिया था ? ब्रह्मन् ! उस युक्तियुक्त ज्ञानसे यह सांसारिक वासना अवश्य उसी तरह नष्ट हो जाती है, जैसे भगवान् भास्करके उदयसे अँधेरी रात । विप्रवर ! आप उसी युक्तियुक्त ज्ञेय वस्तुका

---

* भोगभावनया याति बन्धो दार्ढ्यमवस्तुजः ।
तदुपशान्तया याति बन्धो जगति तानवम् ॥

अपने शिष्य श्रीरामको शीघ्र उपदेश दीजिये, जिससे ये विश्राम (शान्ति) को प्राप्त हों । इसमें आपको अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी सर्वथा निष्पाप हैं । अतः जैसे निर्मल दर्पणमें बिना यत्नके ही मुँहका प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीको अनायास ही ज्ञेय वस्तुका बोध एवं विश्राम प्राप्त हो जायगा । महात्मन् ! वही ज्ञान, वही शास्त्रार्थ और वही पाण्डित्य सार्थक एवं प्रशंसित है, जिसका वैराग्ययुक्त उत्तम शिष्यके लिये उपदेश दिया जाता है । जिसमें वैराग्य नहीं है तथा जो शिष्यभावसे रहित है, उसे जो कुछ भी उपदेश दिया जाता है, वह कुत्तेके चमड़ेसे बने हुए कुप्पेमें रक्खे हुए गायके दूधकी भाँति अपवित्रताको प्राप्त हो जाता है । जहाँ आप-जैसे वीतराग, निर्भय, क्रोधशून्य, अभिमानरहित तथा निष्पाप महापुरुष तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हैं, वहाँ तत्काल बुद्धिको विश्राम प्राप्त होता है ।

गाधिनन्दन विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर व्यास और नारद आदि उन सभी मुनियोंने साधु-साधु कहकर उनके उस कथनकी ही भूरि-भूरि प्रशंसा की । तत्पश्चात् राजा दशरथके बगलमें बैठे हुए ब्रह्माजी के पुत्र महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने, जो ब्रह्माजीके समान ही ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न थे, कहा ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—मुने ! आप जिस कार्यके लिये मुझे आज्ञा दे रहे हैं, उसे मैं बिना किसी विघ्न-बाधाके आरम्भ कर रहा हूँ । शक्तिशाली होकर भी संतोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? पूर्वकालमें निषद पर्वतपर पूजनीय पद्मयोनि ब्रह्माजीने संसाररूपी भ्रमको दूर करनेके लिये जिस ज्ञानका उपदेश किया था, वह सब अविकलरूपसे मुझे याद है । (सर्ग २)

जगत्की भ्रमरूपता एवं मिथ्यात्वका निरूपण, सदेह और विदेह मुक्तिकी समानता तथा शास्त्रनियन्त्रित पौरुषकी महत्ताका वर्णन

श्रीवसिष्ठजीने कहा—पूर्वकालमें सृष्टिके प्रारम्भके समय भगवान् ब्रह्माने संसाररूपी भ्रमके निवारणके लिये जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसीका मैं यहाँ वर्णन करता हूँ । यह जगत् संकल्पके निर्माण, मनोराज्यके विलास, इन्द्रजालद्वारा रचित पुष्पहार, कथा-कहानीके अर्थके प्रतिभास, वातरोगके कारण प्रतीत होनेवाले भूकम्प, बालकको डरानेके लिये कल्पित पिशाच, निर्मल आकाशमें कल्पित मोतियोंके ढेर, नावके चलनेसे तथा प्रतीत होनेवाली वृक्षोंकी गति, स्वप्नमें देखे गये नगर अन्यत्र देखे गये फूलोंके स्मरणसे आकाशमें कल्पित हुए पुष्पकी भाँति भ्रमद्वारा निर्मित हुआ है । मृत्युकालमें पुरुष स्वयं अपने हृदयमें इसका अनुभव करता है ।

इस प्रकार जगत् मिथ्या होनेपर भी चिरकालतक अत्यन्त परिचयमें आनेके कारण घनीभाव (दृढ़ता) को प्राप्त होकर जीवके हृदयाकाशमें प्रकाशित हो बढ़ने लगता है । यही 'इहलोक' कहलाता है । जन्मसे लेकर मृत्युतककी चेष्टाओं तथा मरण आदिका अनुभव करनेवाला जीव वही (हृदयाकाशमें ही) इहलोककी कल्पना करता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है । फिर मरनेके अनन्तर वह वहीं परलोककी कल्पना करता है । वासनाके भीतर अन्य अनेक शरीर और उनके भीतर भी दूसरे-दूसरे शरीर—ये इस संसारमें केलेके वृक्ष-की त्वचा (छिलके या वल्कल) के समान एकके पीछे एक प्रतीत होते हैं (वस्तुतः इस संसारमें कोई सार नहीं है) । न तो पृथिवी आदि पञ्च महाभूतोंके समुदाय हैं और न जगत्की सृष्टिका कोई क्रम ही है । ये सब-के-सब मिथ्या हैं । तथापि मृत और जीवित जीवोंको

इनमें संसारका भ्रम होता है। यह अविद्यारूपिणी नदी ही है, जिसका कहीं अन्त नहीं है। यह विभिन्न धाराओंके रूपमें फैलती हुई शोभा पाती है। मूढ़ पुरुषोंके लिये यह इतनी विशाल है कि वे इसे पार नहीं कर सकते। सृष्टिरूपी चञ्चल तरङ्गोंसे ही यह तरङ्गवती जान पड़ती है।

श्रीराम! परमार्थ सत्य (परमात्मा) रूपी विशाल महासागरमें बारंबार वे पुरानी और नयी सृष्टिरूप असंख्य तरङ्गें उठती और विलीन होती रहती हैं। इस समय ब्रह्मकल्पका अवयवभूत बहत्तरवाँ त्रेतायुग चल रहा है। यह पहले भी अनेक बार हो चुका है और आगे भी होता रहेगा। यह वही पहलेवाला त्रेतायुग है और उससे विलक्षण भी। ये जितने लोक हैं, वे भी पूर्ववत् हुए हैं और उनकी अपेक्षा नवीन भी हैं। इसी प्रकार तुम श्रीराम भी अनेक वार त्रेतायुगमें अवतार ले चुके हो और भविष्यमें भी लोगे। मैं भी कितनी ही बार वसिष्ठ-रूपमें उत्पन्न हो चुका हूँ और आगे भी होऊँगा। हमारे ये सभी रूप पूर्वके तुल्य होंगे और उनसे भिन्न भी। इस बातको मै अच्छी तरह जानता हूँ। सभी प्राणी कभी धन-वैभव, बन्धु-बान्धव, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओंमें पूर्वकल्पोंके समान होते हैं और कभी नहीं भी होते। जो अविद्यारूपी आवरणसे रहित है, जिसका अन्तःकरण एकाग्र हो चुका है, जिसके सभी संकल्प-विकल्प शान्त हो चुके हैं तथा जो स्वरूपभूत सारतत्त्व (सच्चिदानन्दघन)-मय हो गया है, वह विद्वान् पुरुष परम शान्तिरूपी अमृतसे तृप्त रहता है।

सौम्य श्रीराम! समुद्रकी जलराशि शान्त हो या उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त, दोनों दशाओंमें उसकी जलरूपता समान ही है— उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं है। उसी तरह देहके रहते हुए और उसके न रहनेपर भी मुक्त महात्मा मुनिकी स्थिति एक-सी ही होती है, उसमें कोई भेद नहीं होता है। सदेह मुक्ति हो या विदेहमुक्ति, उसका विषयोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसने सत्य मानकर भोगोंका आस्वादन ही नहीं किया, उस पुरुषमें भोगोंकी अनुभूति कहाँसे होगी? जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त दोनों ही प्रकारके महात्मा बोधस्वरूप हैं। उनमें क्या भेद है? (इन दोनोंमें भेद करानेवाला है अज्ञान। उसके नष्ट हो जानेपर जब केवल ज्ञान ही अवशिष्ट रह जाता है, तब उन दोनोंमें भेद कौन हो सकता है?) जैसे समुद्रकी तरङ्गावस्थामें जो जल है, वही उसकी प्रशान्ता-वस्थामें भी है—उसमें कोई अन्तर नहीं है। सदेह और विदेहमुक्तमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। पवन सस्पन्द (वेगवान्) हो या निष्पन्द (शान्त अथवा वेगहीन), दोनों ही दशाओंमें वह है वायु ही।

अतः अब मैं जिसका प्रकरण चल रहा है, उस उत्तम ज्ञानका ही उपदेश कर रहा हूँ, तुम इसका निरूपण सुनो। यह ज्ञान कानोंका आभूषण है और अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करनेवाला है। रघुनन्दन! इस संसारमें सदा अच्छी तरह पुरुषार्थ (प्रयत्न) करनेसे सबको सब कुछ मिल जाता है। (जहाँ कहीं किसीको असफल देखा जाता है, वहाँ उसके सम्यक् प्रयत्नका अभाव ही कारण है।) साधनके परिपक्व होनेपर हृदयमें, जैसे चन्द्रमासे शीतलतायुक्त आह्लाद प्राप्त होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अतिशय शीतल आनन्दका उदय होता है। यह आत्यन्तिक आनन्द पुरुषके प्रयत्नसे ही प्राप्त हो सकता है, अन्य हेतु (प्रारब्ध) से नहीं। (इसलिये पुरुषको प्रयत्नपर ही निर्भर रहना चाहिये।) शास्त्रज्ञ सत्पुरुषोंके बताये हुए मार्गसे चलकर अपने कल्याणके लिये जो मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा की जाती है, वही पुरुषार्थ है और वही सफल चेष्टा है। उससे भिन्न जो शास्त्र-विपरीत मनमाना आचरण है, वह पागलोंकी-सी चेष्टा है। जो मनुष्य जिस पदार्थको पाना चाहता है, उसकी

प्राप्तिके लिये यदि वह क्रमशः यत्न करता है और बीचमें ही उससे मुँह नहीं मोड़ लेता तो अवश्य उसे प्राप्त कर लेता है। कोई एक विशेष प्राणी ही पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा तीनों लोकोंके ऐश्वर्यसे युक्त होनेके कारण परम सुन्दर प्रतीत होनेवाली इन्द्रपदवीको प्राप्त हो गया है। निरन्तर यत्नमें लगे रहकर सुदृढ़ अभ्यासमें तत्पर हुए बुद्धिमान् और साहसी पुरुष मेरुपर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रसे नियन्त्रित पुरुषार्थके सम्पादनमें तत्पर जो पुरुषका पौरुष (उद्योग) है, वही मनोवाञ्छित फलकी सिद्धिका कारण होता है। शास्त्रके विपरीत किया हुआ प्रयत्न अनर्थकी ही प्राप्ति करानेवाला होता है। कोई पुरुष जब शास्त्रीय प्रयत्नको शिथिल कर देता है, तब स्वयं दरिद्रता, रोग और बन्धन आदि अपनी दुर्दशाके कारण वह ऐसी अवस्थामें पहुँच जाता है, जहाँ उसके लिये पानीकी एक बूँद भी बहुत समझी जाती है। (दुर्लभ हो जाती है); परंतु किसीको शास्त्रानुसार आचरणके प्रभावसे ऐसी उत्तम अवस्था प्राप्त होती है, जहाँ समुद्र, पर्वत, नगर और द्वीपोंसे व्याप्त विशाल भूमण्डलका साम्राज्य भी अधिक नहीं समझा जाता (वह अनायास सुलभ हो जाता है)। (सर्ग ३-४)

शास्त्रके अनुसार सत्कर्म करनेकी प्रेरणा, पुरुषार्थसे भिन्न प्रारब्धवादका खण्डन तथा पौरुषकी प्रधानताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे नीले, पीले आदि भिन्न-भिन्न रंगोंकी अभिव्यक्तिमें प्रकाश ही मुख्य कारण है, उसी प्रकार शास्त्रके अनुसार मन, वाणी और शरीरद्वारा व्यवहार करनेवाले अधिकारी पुरुषोंके समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति ही प्रधान साधन है। मनुष्य केवल मनसे किसी वस्तुकी इच्छा करता है, शास्त्रानुसार कर्मसे नहीं, वह पागलोंकी-सी चेष्टा करता है। उसकी वह चेष्टा केवल मोहमें डालनेवाली है, पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाली नहीं। जो मनुष्य जैसा प्रयत्न (कर्म) करता है, वह वैसा ही फल भोगता है, (जो यह कहते हैं कि दैववश फलमें विपरीतता भी आ जाती है तो उनका कथन ठीक नहीं; क्योंकि) अपना पूर्वकृत कर्म ही फल देनेके लिये उन्मुख होनेपर दैव कहलाता है। उससे अतिरिक्त दैव नामकी कोई वस्तु नहीं दिखायी देती। पुरुषार्थ दो प्रकारका है—एक शास्त्रानुमोदित (पुण्य-कर्म) और दूसरा शास्त्रविरुद्ध (पाप-कर्म)। इन दोनोंमें जो शास्त्रविरुद्ध पुरुषार्थ है, वह अनर्थका कारण होता है और शास्त्रानुमोदित पौरुष परमार्थ वस्तुकी प्राप्तिमें कारण है। इसलिये पुरुषको शास्त्रीय प्रयत्नसे तथा साधु पुरुषोंके सङ्गसे ऐसा उद्योग करना चाहिये कि इस जन्मका पौरुष पूर्वजन्मके पौरुष (प्रारब्ध) को शीघ्र जीत ले। अपने उत्तम पुरुषार्थका आश्रय लेकर दाँतोंसे दाँतोंको पीसते हुए (तत्परता-पूर्वक प्रयत्नमें लगे हुए) पुरुषको अपने शुभ पौरुषके द्वारा विघ्न करनेके लिये उद्यत पूर्वजन्मके अशुभ पौरुषको जीत लेना चाहिये। 'यह पूर्व जन्मका पुरुषार्थ (प्रारब्ध) मुझे प्रेरित करके विशेष परिस्थितिमें डाल देता है, इस प्रकारकी बुद्धिको बलपूर्वक कुचल डालना चाहिये; क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्नसे अधिक प्रबल नहीं है। तबतक प्रयत्नपूर्वक उत्तम पुरुषार्थके लिये सचेष्ट रहना चाहिये, जबतक कि पूर्वजन्मका अशुभ पौरुष स्वयं पूर्णतः शान्त न हो जाय। अर्थात् जबतक पहले जन्मोंका किया हुआ अशुभ कर्म समूल नष्ट न हो जाय, तबतक तत्परतासे उत्साहपूर्वक साधन करते रहना चाहिये।

जैसे अपने द्वारा कल घटित हुए दोषका आज

प्रायश्चित्त कर लेनेपर नाश हो जाता है, उसी प्रकार इस जन्मके गुणोंसे (शुभ पौरुषसे) पूर्व-जन्मका दोष (अशुभ पौरुष) अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है । पूर्वजन्मके अशुभ या दुःखदायक प्रारब्धको इस जन्मके शुभ कर्मोंसे विशुद्ध एवं पुष्ट हुई बुद्धिके द्वारा तिरस्कृत करके संसार-सागरसे पार होनेके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने भीतर दैवी सम्पत्तिके संग्रहके निमित्त सदा यत्न करना चाहिये । उद्योगशून्य आलसी मनुष्य गदहोंके समान गये-बीते हैं । अतः स्वयं भी उद्योग छोड़कर उन्हींकी श्रेणी या तुलनामें नहीं जाना चाहिये । शास्त्रके अनुसार किया हुआ उद्योग इहलोक और परलोक दोनोंकी सिद्धिमें कारण है । मनुष्यको पुरुषार्थरूपी प्रयत्नका आश्रय लेकर इस संसाररूपी गड्ढेसे स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिये । अपने शरीरको प्रतिदिन नाश होता हुआ समझे । पशुओं-के समान आचरणका त्याग करे और सत्पुरुषोंके योग्य आचार-व्यवहारका आश्रय ले । जैसे कीड़ा घावमें पीब आदिका आस्वादन करके ही अपना जीवन समाप्त कर देता है, उसी तरह मनुष्यको घरमें स्त्री, अन्न, पान आदि द्रवयुक्त एवं कोमल तुच्छ पदार्थोंका किंचित् आस्वाद लेकर सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके साधनभूत आयुको भस्म नहीं कर देना चाहिये (मानव-जीवनको व्यर्थ नहीं गवाँ देना चाहिये)। शुभ पुरुषार्थसे शीघ्र ही शुभ फलकी प्राप्ति होती है और अशुभ पुरुषार्थसे सदा अशुभ फल ही मिलता है । इन शुभ-अशुभ पुरुषार्थोंके सिवा दैव नामकी दूसरी कोई वस्तु नहीं है (इन्हींका नाम दैव या प्रारब्ध है)। इसलिये पहले पुरुषार्थके द्वारा विवेकका आश्रय लेकर आत्मज्ञानरूपी महान् प्रयोजनवाले शास्त्रोंका विचार करना चाहिये । जो शास्त्रके अनुसार अपनी श्रवण, मनन आदि चेष्टाओंद्वारा साधन नहीं करते और चित्तमें विषयोंका ही चिन्तन करते रहते हैं, उन मूढ़ पुरुषोंकी अत्यन्त दूषित भोगेच्छाको धिक्कार है । पूर्वोक्त पुरुषप्रयत्न यदि सत्-शास्त्रके अनुकूल तथा सत्सङ्ग और सदाचारसे युक्त होता है तो वह परमात्मसाक्षात्काररूप अपने फलको देता है । यह उसका स्वभाव है । अन्यथा (सत्-शास्त्रके प्रतिकूल तथा सत्सङ्ग और सदाचारसे रहित होनेपर) उससे परमात्म-साक्षात्काररूप परम फलकी सिद्धि नहीं होती । यही पौरुषका स्वरूप है । इस प्रकार व्यवहार करनेवाले किसी भी पुरुषका प्रयत्न कभी विफल नहीं होता । बाल्यावस्था-से लेकर भलीभाँति अभ्यासमें लाये हुए सत्-शास्त्रानुशीलन और सत्पुरुषोंके सङ्ग आदि सद्गुणोंद्वारा पुरुषार्थ करनेसे परम स्वार्थरूप परमात्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष देखी हुई, अनुभवमें आयी हुई, सुनी हुई और साधनोंद्वारा प्राप्त की हुई परमार्थ वस्तुको जो लोग दैवके अधीन मानते हैं, उनकी बुद्धि कुत्सित है और वे साधनसे नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं । निरन्तर कल्पित क्रीडाओं (खेल-कूद) के कारण अत्यन्त चञ्चलतापूर्ण बाल्यावस्थाके व्यतीत हो जानेपर जब (दुखी और गुरुजनोंकी सेवामें समर्थ) बाहुदण्डसे अलंकृत यौवन-अवस्थाका आरम्भ हो जाय, तभीसे मनुष्यको पद-पदार्थके ज्ञानसे विशुद्ध-बुद्धि होकर सत्पुरुषोंके सङ्गसे अपने गुणों और दोषोंका विचार करना चाहिये । तात्पर्य यह कि विचारपूर्वक दोषोंको त्याग करके गुणोंको ग्रहण करना चाहिये ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! मुनिवर वसिष्ठजीके इस प्रकार प्रवचन करनेपर वह दिन व्यतीत हो गया । सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये तथा उस सभाके लोग वसिष्ठजीको नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य (संध्योपासना और अग्निहोत्र आदि) करनेके लिये चले गये और रात्रि व्यतीत होनेपर पुनः सूर्यदेवकी किरणोंके साथ ही उस सभाभवनमें आ गये । (सर्ग ५)

ऐहिक पुरुषार्थकी श्रेष्ठता और दैववादका निराकरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! पूर्वजन्मके पौरुषसे भिन्न दैव कोई वस्तु नहीं है (पूर्वजन्मोंका पुरुषार्थ ही दैव है) । इसलिये 'मैं दैवके अधीन हूँ, कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं हूँ' ऐसी बुद्धि या विचारधाराको सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्रके अभ्यासद्वारा मनसे दूर करके जीवात्माका इस संसार सागरसे बलपूर्वक उद्धार करे (आलस्यवश सत्कर्म अथवा साधन कभी नहीं छोड़े) । जैसे-जैसे प्रयत्न होगा, वैसे-ही-वैसे शीघ्रतापूर्वक फल प्राप्त होगा। इसीका नाम पौरुष है । पूर्वजन्मके उस पौरुषको ही कोई दैवकी संज्ञा देना चाहे तो दे सकता है । जो तुच्छ विषय-सुखोंके क्षणिक लोभमें फँसकर उस पूर्वकृत पौरुष या दैवको वर्तमान जन्मके पुरुषार्थद्वारा जीतनेका प्रयत्न नहीं करते और सदा दैवके भरोसे बैठे रहते हैं, वे दीन, पामर और मूढ़ हैं (क्योंकि पुरुषार्थके बिना आत्म-कल्याण सिद्ध नहीं होता) । पूर्वजन्मके तथा इस जन्मके पुरुषार्थ (कर्म) दो मेढ़ोंकी तरह आपसमें लड़ते हैं । उनमें जो भी बलवान् होता है, वही दूसरेको क्षणभरमें पछाड़ देना है* । इस जन्ममें किया गया प्रबल पुरुषार्थ अपने बलसे पूर्वजन्मके पौरुष या दैवको नष्ट कर देता है और पूर्वजन्मका प्रबल पौरुष इस जन्मके पुरुषार्थको अपने बलसे दबा देता है । पूर्वकृत कर्मोंके फलरूप प्रारब्ध और वर्तमान जन्मके पुरुषार्थ—इन दोनोंमें वर्तमान जन्मका पुरुषार्थ ही प्रत्यक्षतः बलवान् है, इसलिये अधिकारी मनुष्यको पुरुषार्थका सहारा लेकर सत्-शास्त्रोंके अभ्यास और सत्सङ्गद्वारा बुद्धिको निर्मल बनाकर संसार-सागरसे अपना उद्धार कर लेना चाहिये । इस जन्मके और पूर्व-जन्मके दोनों पुरुषार्थ पुरुषरूपी वनमें उत्पन्न हुए फल देनेवाले वृक्ष हैं । उन दोनोंमें जो अधिक बलवान् होता है, वही विजयी होता है (अर्थात् धर्माचरण और मुक्तिके विषयमें तो इस जन्मका पुरुषार्थ बलवान् है और अर्थ एवं कामके विषयमें पूर्वजन्मका फलदानोन्मुख कर्म या दैव प्रबल है ।)

जो पुरुष उदार स्वभावसे युक्त एवं सत्कर्मके लिये प्रयत्न करनेमें कुशल है, सदाचार ही जिसका लीला-विहार है, वह जगत्के मोहरूपी फंदेसे उसी प्रकार निकल जाता है, जैसे सिंह पिंजड़ेसे । जो मनुष्य दृष्ट (पुरुषार्थ या परम कल्याणके लिये प्रयत्न) का त्याग करके 'मुझे तो कोई ऐसा करनेके लिये प्रेरित कर रहा है' ऐसी अनर्थकारिणी कुत्सित कल्पनामें स्थित है, उसे दूरसे ही त्याग देना चाहिये; क्योंकि वह मनुष्योंमें अधम है । संसारमें सहस्रों व्यवहार हैं, जो आते-जाते रहते हैं । उनमें सुख और दुःख बुद्धि (अनुकूलता तथा प्रतिकूलता जनित राग-द्वेष) का त्याग करके शास्त्रके अनुसार आचरण करना चाहिये । शास्त्रके अनुकूल और कभी उच्छिन्न न होनेवाली अपनी मर्यादाका जो त्याग नहीं करता, उस पुरुषको सारी अभीष्ट वस्तुएँ उसी प्रकार प्राप्त होती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रत्न । सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति—यही मनुष्यका स्वार्थ है । उस स्वार्थकी प्राप्ति करानेवाले जो आवश्यक कर्तव्य या साधन हैं, एकमात्र उन्हींमें तत्पर रहनेको ही विद्वान् लोग पौरुष कहते हैं । वह तत्परता यदि शास्त्रसे नियन्त्रित हो तो परम पुरुषार्थकी

---

* जैसे पूर्वजन्मके किसी प्रतिबन्धक कर्मके कारण किसी मनुष्यको पुत्रकी प्राप्ति नहीं होनेवाली है; परंतु यदि वह पुत्र-प्राप्तिके लिये शास्त्रीय विधानके साथ पुत्रेष्टि-यज्ञ अथवा उसी कोटिके दूसरे किसी सत्कर्मका अनुष्ठान करता है तो उसे पुत्रकी प्राप्ति हो जाती है । यहाँ पूर्वजन्मके प्रतिबन्धक कर्मसे इस जन्मका पुरुषार्थ अधिक बलवान् होनेके कारण नवीन प्रारब्धका निर्माण करके विजयी हो जाता है । इसी प्रकार पूर्वजन्मके कर्मानुसार यदि किसीकी मृत्यु अवश्यम्भावी है तो उसके प्रतीकारके लिये अनेक प्रकारके उपाय करनेपर भी मनुष्य उसे टाल नहीं पाता । अतः यहाँ पूर्वकृत कर्म (दैव या प्रारब्ध) ही प्रबल होनेके कारण विजयी होता है ।

प्राप्ति करानेवाली होती है। कर्तव्यपालनके लिये जो शरीर आदिका संचालन होता है, वही जिसका धर्म है, उस क्रिया (श्रवण-मनन आदि साधन) से, सत्सङ्गसे और सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायसे शुद्ध एवं तेज की हुई अपनी बुद्धिके द्वारा जो स्वयं ही आत्माका उद्धार किया जाता है, वही परम स्वार्थकी सिद्धि है। विद्वान्लोग अन्तररहित, समतारूप परमानन्दसे पूर्ण परमार्थ वस्तु (परब्रह्म) को जानते हैं। जिन साधनोंसे उसकी प्राप्ति होती है, उनका नित्य-निरन्तर सेवन करना चाहिये। वे साधन हैं शास्त्रोंका स्वाध्याय और सत्सङ्ग आदि। जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक आत्म-कल्याणके साधनमें संलग्न होता है, उसे अपने पुरुषार्थसे ही हाथपर रक्खे हुए आँवलेकी भाँति वह अभीष्ट फल प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जो इस प्रत्यक्ष पुरुषार्थको छोड़कर दैवरूपी मोहमें निमग्न होता है, वह मूढ़ है।

अतः शुभाशय श्रीराम! अपनी कोरी कल्पनाके बलसे उत्पन्न, मिथ्याभूत तथा सम्पूर्ण कारण और कार्यसे रहित दैवकी अपेक्षा न रखकर आत्मकल्याणके लिये अपने उत्तम पुरुषार्थका आश्रय लो। शास्त्रोंद्वारा तथा महापुरुषोंके सदाचारसे विस्तारको प्राप्त हुए विविध देश धर्मोंद्वारा समर्थित जो परमात्माकी प्राप्तिरूप अतिशय प्रसिद्ध फल है, उसके लिये हृदयमें अत्यन्त उत्कट अभिलाषा होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये चित्तमें स्पन्दन या चेष्टा होती है। तत्पश्चात् इन्द्रियों और हाथ-पैर आदि अङ्गोंमें क्रिया होती है—इनके द्वारा श्रवण-मनन आदि एवं यम-नियमादि साधनोंका आरम्भ होता है, इसीको उत्तम पुरुषार्थ कहते हैं। अधिकारी पुरुषका जन्म पुरुषार्थके सिद्ध होनेपर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं—ऐसा जानकर सदा आत्मकल्याणके प्रयत्नमें ही संलग्न रहना चाहिये। तत्पश्चात् साधनविषयक उस तत्परताको सत्-शास्त्रोंके अभ्यास एवं संत-महात्माओं तथा ज्ञानी पुरुषोंके सेवनद्वारा आत्मज्ञानरूप फलकी प्राप्तिसे सफल बनाना चाहिये। आत्मकल्याणके विषयमें यदि परम पुरुषार्थका आश्रय लिया जाय तो यह अवश्य दैवको जीत लेता है, ऐसी धारणा रखकर दैव और पौरुषके बलाबलका विचार करनेके कारण जो परम सुन्दर प्रतीत होते हैं तथा जिनमें शम, दम आदि साधन भी विद्यमान हैं एवं श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवासे जिनका अन्त करण सदा भावित रहता है, ऐसे अधिकारी पुरुषोंको तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये अवश्य उद्यम करना चाहिये। इस जन्ममें सम्पादन करनेयोग्य स्वाभाविक प्रयत्न ही परम पुरुषार्थकी सिद्धिका हेतु है, ऐसा निश्चितरूपसे जानकर यह अधिकारी जीव नित्य संतुष्ट एवं उत्तम ज्ञानीजनोंकी सेवारूप अमोघ, मधुर और उत्कृष्ट औषधसे जन्म मरणकी परम्परारूप भवरोगको शान्त करे। (सर्ग ६)

विविध युक्तियोंद्वारा दैवकी दुर्बलता और पुरुषार्थकी प्रधानताका समर्थन

जो लोग उद्योगका त्याग करके केवल दैवके भरोसे बैठे रहते हैं, वे आलसी मनुष्य स्वयं ही अपने शत्रु हैं। वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका नाश कर डालते हैं।* बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियोंके द्वारा की जानेवाली चेष्टाएँ पौरुषके रूप हैं। इन्हींसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। साक्षी चेतनमें पहले जैसी विषयकी अनुभूति होती है, मन वैसी ही चेष्टा करता है। मनके व्यापारके अनुसार शरीर चलता है—शारीरिक क्रिया होती है और उसके अनुसार ही फलकी सिद्धि होती है। लोकमें जहाँ-जहाँ जैसे-जैसे पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है, वहाँ-वहाँ वैसे-ही-वैसे पौरुषके उपयोगसे तदनुरूप लौकिक या वैदिक फलकी सिद्धि होती है। पुरुषार्थसे ही बृहस्पति देवताओंके गुरु बने हुए हैं और पुरुषार्थसे शुक्राचार्यने दैत्यराजोंके गुरुका पद प्राप्त किया

* ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः॥
(मुमुक्षु० ७ । ३)

है। जो नाना प्रकारके आश्चर्यजनक वैभवके आश्रय (अधिपति) थे और वैभवभोगकी दृष्टिसे महान् समझे जाते थे, ऐसे पुरुष भी अपने दोषयुक्त पौरुष (पापाचरण) से ही नरकोंके अतिथि हुए हैं—उच्च पदवीसे भ्रष्ट हो गये हैं। सहस्रों सम्पदाओं और हजारों विपत्तियोंसे पूर्ण नाना प्रकारकी अनुकूल-प्रतिकूल दशाओंमें पड़े हुए विभिन्न जातियोंके प्राणी अपने पुरुषार्थसे ही उन्हें लाँघकर कल्याणके मार्गपर अग्रसर होते हैं। शास्त्रोंके अभ्यास, गुरुके उपदेश और अपने प्रयत्न—इन तीनोंसे ही सर्वत्र पुरुषार्थकी सिद्धि देखी जाती है। कल्याणकामी पुरुष अशुभ कर्मोंमें लगे हुए मनको वहाँसे हटाकर प्रयत्न-पूर्वक शुभ कर्मोंमें ही लगाये। यही सम्पूर्ण शास्त्रोंके साराशका संग्रह है। वत्स! जो वस्तु कल्याणकारी है, जो तुच्छ नहीं (सबसे उत्कृष्ट) है तथा जिसका कभी विनाश नहीं होता, उसीका यत्नपूर्वक आचरण करो। यही सब गुरुजन उपदेश देते हैं। पौरुषसे ही अभीष्ट वस्तुकी सिद्धि होती देखी जाती है। पौरुषसे ही बुद्धिमानोंकी कल्याणमार्गमें प्रगति होती है। दैव तो दुःख-सागरमें डूबे हुए कोमल एवं दुर्बल चित्तवाले लोगों-के लिये आश्वासनमात्र है।

लोकमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंद्वारा पुरुषका प्रयत्न सदा सफल होता देखा जाता है। पुरुष अपने पौरुषसे ही देशान्तरमें आता-जाता है। उत्तम बुद्धिवाले मनुष्य पौरुषसे ही उन भीषण संकटोंसे अनायास पार हो जाते हैं, जिनसे पार पाना अत्यन्त कठिन होता है। यह जो व्यर्थ दैवकी कल्पना की गयी है, उसके भरोसे वे संकटोंसे पार नहीं होते। जो मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। इस जगत्में चुपचाप बैठे रहनेवाले किसी भी मनुष्यको अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती। श्रीराम! शुभ पुरुषार्थसे शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ पुरुषार्थसे अशुभ। अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। अपने परम अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करानेवाले एकमात्र कार्यके प्रयत्नमें जो तत्पर हो जाना है, उसीको विद्वान् पुरुष पौरुष कहते हैं। उस तत्परतासे ही सब कुछ प्राप्त किया जाता है। अपने पैरोंद्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना, हाथका किसी द्रव्यको धारण करना तथा दूसरे-दूसरे अङ्गोंका तदनुकूल व्यापारमें प्रवृत्त होना—यह सब पुरुषार्थसे ही सम्भव होता है, दैवसे नहीं। अनर्थकी प्राप्ति करानेवाले एकमात्र कार्यके प्रयत्नमें जो तत्पर होना है, उसे विद्वानोंने पागलोंकी-सी चेष्टा बतायी है। उससे कोई भी शुभ फल नहीं प्राप्त होता (अशुभ फलकी ही प्राप्ति होती है)। कर्तव्य-पालनके लिये जो शरीर आदिका संचालन होता है, वही जिसका धर्म है, उस क्रियासे, सत्सङ्गसे और सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायसे शुद्ध एवं तेज की हुई अपनी बुद्धिके द्वारा जो स्वयं ही आत्माका उद्धार किया जाता है, वही परम स्वार्थकी सिद्धि है। विद्वान्‌लोग अनन्त, समतारूप परमानन्दसे पूर्ण अपने परम प्राप्य अर्थ (परब्रह्म परमात्मा) को जानते हैं। जिन साधनोंसे उसकी प्राप्ति होती है, उन्हींका नित्य-निरन्तर सेवन करना चाहिये। वे साधन हैं शास्त्रोंके स्वाध्याय और सत्सङ्ग आदि। जैसे शरत्कालमें सरोवर और कमल एक दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार सद्बुद्धिसे सत्-शास्त्रोंका अभ्यास और सत्सङ्गरूपी गुण विकसित होता है तथा सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और सत्सङ्ग-रूपी गुणसे सद्बुद्धिकी वृद्धि होती है। चिरकालके अभ्याससे ये दोनों एक दूसरेके वर्धक और पोषक होते हैं। बाल्यावस्थासे ही पूर्णतः अभ्यासमें लाये गये शास्त्र और सत्सङ्ग आदि गुणोंसे पौरुषद्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है। (सर्ग ७)

पुरुषार्थकी प्रबलता बताते हुए दैवके स्वरूपका विवेचन तथा शुभ वासनासे युक्त होकर सत्कर्म करनेकी प्रेरणा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! बताओ तो सही, इस लोकमें जो शूरवीर, पराक्रमी, बुद्धिमान् और पण्डित हैं, वे किस दैवकी प्रतीक्षा करते हैं ? इन महामुनि विश्वामित्रजीने दैवको दूरसे ही त्यागकर पौरुषसे ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, और किसी साधनसे नहीं। हमने तथा दूसरे-दूसरे पुरुषोंने, जो इस समय मुनि-पदवीको प्राप्त हैं, चिरकालतक किये गये पौरुषसे ही आकाशमें विचरण करनेकी शक्ति प्राप्त की है। हिरण्यकशिपु आदि दानवेन्द्रोंने पुरुषोचित प्रयत्नसे ही देवसमुदायको दूर भगाकर त्रिलोकीका साम्राज्य प्राप्त किया था। फिर इन्द्र आदि देवेश्वरोंने पुरुषोचित प्रयत्नसे ही शत्रुसेनाको छिन्न-भिन्न एवं जर्जर करके दानवोंसे बलपूर्वक इस विशाल जगत्‌का राज्य छीन लिया था।

श्रीरामने पूछा—भगवन् ! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। ब्रह्मन् ! लोकमें जो बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है, वह दैव क्या है ? किसे दैव कहते हैं, यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अवश्यम्भावी फलसे सुशोभित होनेवाले पुरुषार्थके द्वारा प्राप्त हुए फलका जो शुभ और अशुभ भोग है, उसीको 'दैव' शब्दसे कहा जाता है। अथवा पौरुषद्वारा इष्ट और अनिष्ट कर्मका जो प्रिय और अप्रियरूप फल प्राप्त होता है, उसीको 'दैव' नाम दिया गया है। एकमात्र पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाला जो अवश्यम्भावी फल है, वही इस जनसमुदायमें 'दैव' शब्दसे प्रतिपादित होता है। सिद्ध पुरुषार्थके शुभ और अशुभ फलका उदय होनेपर जो यह कहा जाता है कि 'यह इसी रूपमें मिलनेवाला था—यही होनहार थी,' इसीको 'दैव' कहते हैं। कर्मफलकी प्राप्ति होनेपर जो यह कहा जाता है कि 'ऐसी ही मेरी बुद्धि हुई थी, ऐसा ही मेरा निश्चय था,' इसीका नाम 'दैव' है। इष्ट और अनिष्ट फलके प्राप्त होनेपर जो आश्वासनमात्रके लिये यह कहा जाता है कि 'मेरा पूर्वजन्मका कर्म ही ऐसा था' इस तरहकी भावनाको व्यक्त करनेवाला वचन ही 'दैव' कहलाता है।

श्रीराम ! मनुष्योंके मनमें पहले जो अनेक प्रकारकी वासनाएँ थीं, वे ही इस समय कायिक, वाचिक, कर्म-रूपमें परिणत हुई हैं। जीवमें जिस प्रकारकी वासना होती है, वह शीघ्र वैसा ही कर्म करता है। मनमें वासना और हो और वह कर्म किसी और ही प्रकारका करे, यह सम्भव नहीं। जो गाँवमें जानेकी इच्छा रखता है, वह गाँवमें और जो नगरमें जाना चाहता है, वह नगरमें पहुँचता है। जो-जो मनुष्य जिस-जिस वासनासे युक्त होता है, वह-वह उसी-उसीके लिये सदा प्रयत्न करता है। पूर्वजन्ममें फलकी उत्कट अभिलाषा होनेसे जो कर्म प्रबल प्रयत्नके द्वारा किया जाता है, वही इस जन्ममें 'दैव' शब्दसे कहा जाता है। पूर्वजन्मके उस कर्मका पर्यायवाची शब्द 'दैव' है। कर्म करनेवालोंके सभी कर्म इसी रीतिसे होते हैं। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है। वासना मनसे भिन्न नहीं है और मन ही पुरुष है, अर्थात् पुरुषका सकल्प होनेसे वह पुरुषरूप ही है। मन आदि भावको प्राप्त हुआ यह प्राणी ही अपने हितके लिये जो जो प्रयत्न करता है, 'दैव' नामसे प्रसिद्ध अपने उस कर्मसे ही वह तदनुरूप फल पाता है। श्रीराम ! मन, चित्त, वासना, कर्म, दैव और निश्चय—ये सब कठिनतासे समझमें आनेवाले मनकी (मनोरूपताको प्राप्त हुए पुरुषकी) संज्ञाएँ हैं, ऐसा सत्पुरुषोंका कथन है।

श्रीराम ! इस प्रकार पूर्वोक्त संज्ञाएँ धारण करनेवाला पुरुष अपनी सुदृढ़ वासनाके द्वारा प्रतिदिन जैसा प्रयत्न करता है, उसके अनुसार ही उसे पर्याप्त फल मिलता

है। रघुनन्दन! इस प्रकार पौरुषसे मनुष्य इस जगत्में सभी कुछ प्राप्त कर सकता है, दैवसे नहीं। अतः वह पुरुषार्थ तुम्हारे लिये शुभफल देनेवाला हो। तुम अपने प्रयत्नसे प्राप्त परम पुरुषार्थद्वारा ही सदा बने रहनेवाले परम कल्याणको प्राप्त होओगे, अन्यथा नहीं। श्रुतिमें जो चैतन्यमात्रस्वरूप प्राज्ञ पुरुष बताया गया है, वही तुम हो, जड शरीर नहीं हो। तुम स्वयंप्रकाशरूप चेतन हो। अन्य चेतनसे प्रकाशित होनेकी योग्यता तुममें कहाँ है? यदि तुम्हें दूसरा कोई चेतन प्रकाशित करता है, ऐसा मान लिया जाय तो फिर उसे दूसरा कौन प्रकाशित करता है, यह प्रश्न खड़ा हो जायगा। यदि उसका भी कोई अन्य चेतन प्रकाशक हो तो फिर इसको कौन प्रकाशित करेगा? इस प्रकार अनवस्था-दोष प्राप्त होता है, जो वस्तुका साधक नहीं है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह शुभ और अशुभ मार्गोंसे बहती हुई वासनारूपिणी नदीको पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें ही लगाये।

मनुष्यका चित्त शिशुके समान चञ्चल होता है, उसे अशुभ मार्ग (पाप) से हटा दिया जाय तो शुभ मार्ग (पुण्य) में जाता है और यदि शुभ मार्गसे हटाया जाय तो अशुभ मार्गमें चला जाता है। इसलिये उसे बलपूर्वक पापमार्गसे हटाकर पुण्यके मार्गमें लगाना चाहिये। इस प्रकार मनुष्यके लिये उचित है कि वह पूर्वोक्त क्रमसे चित्तरूपी बालकको शीघ्र ही समतारूप सान्त्वना देकर पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा धीरे-धीरे आत्मस्वरूपमें लगाये, हठपूर्वक एकाएक उसका निरोध न करे। यही उसका लालन-पालन है। लोकमें मनुष्य जिस-जिस विषयका अभ्यास करता है, निस्संदेह उसीमें तन्मय हो जाता है। यह बात बालकोंसे लेकर बड़े बड़े विद्वानोंतकमें देखी गयी है। अतः श्रीराम! तुम परम कल्याणकी प्राप्तिके लिये उत्तम पुरुषार्थका आश्रय ले पाँचों इन्द्रियोंको जीतकर यहाँ शुभ वासनासे युक्त हो जाओ। तुम श्रेष्ठतम पुरुषोंद्वारा सेवित और अत्यन्त सुन्दर शुभ वासनाका अनुसरण करके मनोरम भावयुक्त बुद्धिसे परम पुरुषार्थद्वारा सदा शोकरहित पदको प्राप्त करो। तत्पश्चात् उस शुभ वासनाका भी परित्याग करके परब्रह्म परमात्मामें भलीभाँति स्थित हो जाओ।

(सर्ग ८-९)

श्रीवसिष्ठजीद्वारा ब्रह्माजीके और अपने जन्मका वर्णन, ज्ञानप्राप्तिका विस्तार, श्रीरामजीके वैराग्यकी प्रशंसा, वक्ता और प्रश्नकर्ताके लक्षण आदिका विशेषरूपसे वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जो सर्वत्र नित्य समतारूपसे स्थित सच्चिदानन्दमय ब्रह्मतत्त्व है, उससे सम्बन्ध रखनेवाली सत्ताको नियति कहते हैं। वही नियन्ताकी नियन्त्रण-शक्ति है तथा नियन्त्रणमें रहनेवाले पदार्थोंमें जो नियन्त्रित होनेकी योग्यता है, वह भी सत्ता ही है। अब मैं उस सारगर्भित संहिताका वर्णन करूँगा, जो इहलोक तथा परलोककी सिद्धिके लिये परमपुरुषार्थ-रूप फल प्रदान करनेवाली और मोक्षके उपायभूत साधनोंसे सम्पन्न है। उसे तुम सावधानतया श्रवण करो।

प्राचीन कालकी बात है—सृष्टिके आदिमें परमेष्ठी ब्रह्माने इस मोक्षकथाका वर्णन किया था। यह सम्पूर्ण दुःखों-का विनाश करनेवाली है और बुद्धिको परम शान्ति प्रदान करती है। सारे विवेकशील पुरुषोंके साथ इस मोक्ष-कथाको सुनकर तुम उस दुःखरहित सच्चिदानन्दमय परमपदको प्राप्त कर लोगे, जहाँ पहुँच जानेपर पुनः विनाशका भय नहीं रह जाता।

श्रीरामने पूछा—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने किस लिये इस कथाका वर्णन किया था? और आपको इसकी प्राप्ति कैसे हुई? प्रभो! यह वृत्तान्त मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! परब्रह्म परमात्मा

सर्वव्यापक, सबका आश्रय-स्थान, नित्य चेतन, अविनाशी, समस्त प्राणियोंमें प्रकाशकरूपसे वर्तमान और अनन्त विलासोंका एकमात्र अधिष्ठान है। प्रकृतिकी साम्यावस्था तथा विषमावस्थामें भी वह निर्विकाररूपसे स्थित रहता है। उसी परमात्मासे विष्णुका प्राकट्य हुआ, ठीक उसी तरह जैसे प्रवहणशील जलसे परिपूर्ण सागरसे तरङ्ग उत्पन्न होती है। उन विष्णुके हृदयकमलसे ब्रह्मा प्रकट हुए, जो वेद तथा वेदार्थके तत्त्वज्ञ हैं। उन्होंने देवताओं और मुनियोंके समुदायोंसे संयुक्त होकर अनेकविध विकल्पोंकी सृष्टि करनेवाले मनकी भाँति विभिन्न प्रकारकी सृष्टि-रचना की। जम्बूद्वीपके इस भागमें, जो भारतवर्ष नामसे प्रसिद्ध है, ब्रह्माजीद्वारा रचित सारा प्राणिसमुदाय आधि-व्याधिसे संयुक्त, लाभ-हानिसे पीड़ित और जन्म मरणशील था। प्राणियोंकी इस सृष्टिमें सारे जनसमुदायको नाना प्रकारके व्यसनजन्य कष्टोंसे पीड़ित देख सर्वलोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माका हृदय उसी प्रकार दयार्द्र हो गया, जैसे पुत्रको दुखी देखकर पिताको दया आ जाती है। फिर तो वे उनके कल्याणके लिये क्षणभर एकाग्रचित्त हो यों विचार करने लगे कि इन हताश तथा अल्पायु जीवोंके दु:खका अन्त किस प्रकार होगा ऐसा विचारकर सामर्थ्यशाली स्वयं भगवान् ब्रह्माने उनके कष्टापहरणके लिये तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ-सेवन आदि साधनोंका निर्माण किया। इन्हें उत्पन्न करके सृष्टिकर्ता ब्रह्माने पुनः स्वयं विचार किया कि इन साधनोंसे लोगोंके सांसारिक दुःखका समूल विनाश नहीं हो सकता; बल्कि परम निर्वाणरूप मोक्ष ही परम सुख है, जिसकी प्राप्ति हो जानेपर जीव जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाता है। उस मोक्षकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है। इसलिये जीवके लिये संसार-सागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। तप, दान और तीर्थसेवन आदि भव-तरणके लिये सीधे उपाय नहीं कहे गये हैं। अतः मैं इस हताश जनसमुदायके दुःखकी निवृत्तिके लिये संसारसे उद्धार पानेका एक नूतन उपाय शीघ्र ही प्रकट करूँगा।

यों विचारकर कमलपर विराजमान भगवान् ब्रह्माने अपने मानसिक संकल्पद्वारा तुम्हारे सामने बैठे हुए मुझको उत्पन्न किया। निष्पाप श्रीराम! जैसे एक तरङ्गसे शीघ्र ही दूसरी तरङ्ग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार मैं भी अनिर्वचनीय मायासे उत्पन्न हुआ और फिर तुरंत ही अपने उन पितृदेवके समीप जा पहुँचा, जिनके हाथमें कमण्डलु और रुद्राक्षकी माला शोभा पा रही थी। मैंने नम्रतापूर्वक उनको प्रणाम किया। उस समय मैं भी कमण्डलु और रुद्राक्षकी मालासे संयुक्त था। तब 'बेटा! यहाँ आओ' मुझसे यों कहकर उन्होंने अपने आसनभूत कमलके ऊपरी पत्तेपर श्वेत बादलपर बैठे हुए चन्द्रमाकी भाँति मुझे अपने हाथसे पकड़कर बैठा लिया। फिर मृगचर्म ही जिसका परिधान था, ऐसे मुझसे मृगचर्मधारी



मेरे पितृदेव ब्रह्माजीने कहा—'बेटा! जैसे चन्द्रमामें कलङ्क प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार वानरके समान

चञ्चल अज्ञान दो घड़ीके लिये तुम्हारे चित्तमें प्रवेश करे।'

यों पिताद्वारा अभिशप्त हुआ मैं उनके संकल्पके अनन्तर अपने सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूपको भूल गया। फिर तो मेरी बुद्धि तत्त्वज्ञानसे रहित हो गयी और मैं दुःख-शोकसे संतप्त हो दीनताको प्राप्त हो गया। उस समय मैं 'हाय! बड़े कष्टकी बात हुई। यह संसार नामक दोष मुझे कहाँसे प्राप्त हो गया?' यों हृदयमें विचार करके चुपचाप बैठा रहता था। मेरी यह दशा देखकर मेरे पिताजीने मुझसे कहा—'बेटा! तुम क्यों दुखी हो रहे हो? अपने इस दुःखके नाशका उपाय मुझसे पूछो। उसे जानकर तुम नित्य परमात्माको प्राप्त हो जाओगे।' तब मैंने उनसे पूछा—'नाथ! यह महान् दुःखमय संसार मुझ प्राणीको कहाँसे प्राप्त हो गया? और इसका विनाश किस प्रकार होता है?' मेरे यों प्रश्न करनेपर उन्होंने मुझे ऐसे प्रचुर ज्ञानका उपदेश दिया, जिस परम पावन ज्ञानको प्राप्तकर मैं पिताजीके अभिप्रायके अनुरूप अधिक ज्ञानसम्पन्न हो गया। इस प्रकार जब मुझे ज्ञातव्य तत्त्वकी जानकारी हो गयी और मैं अपनी प्रकृतिमें स्थित हो गया, तब जगत्-स्रष्टा तथा सबकी उत्पत्तिके कारणस्वरूप और उपदेष्टा ब्रह्माजीने मुझसे कहा—'पुत्र! मैंने प्रथमतः तुम्हें शापद्वारा ज्ञान-हीन करके पुनः समस्त अधिकारी जनोंकी ज्ञान-सिद्धिके लिये इस सारभूत ज्ञानका पिपासु बनाया है। अब तुम्हारा शाप शान्त हो गया है और तुम्हें परमोत्कृष्ट ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है, जिससे तुम मेरे ही सदृश अद्वितीय आत्मस्वरूप हो गये हो। साधो! अब तुम प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये भूलोकमें जम्बूद्वीपके मध्यभागमें स्थित भारतवर्षमें जाओ। परोपकारनिष्ठ पुत्र! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो; अतः वहाँ जो लोग कर्मकाण्ड-परायण हों, उन्हें कर्मकाण्डके क्रमसे शिक्षा देना और जो लोग विवेकशील, विरक्तचित्त तथा महाबुद्धिमान् हों, उन्हें परमानन्ददायक ज्ञानका उपदेश करना।'

रघुकुलभूषण राम! इस प्रकार मैं अपने पिता ब्रह्माजीद्वारा नियुक्त होकर इस लोकमें निवास कर रहा हूँ और जबतक यह सृष्टिपरम्परा रहेगी, तबतक यहाँ रहूँगा। जिस प्रकार भगवान् ब्रह्माने मुझे यहाँ आनेका आदेश दिया, उसी प्रकार उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा नारद आदि अन्यान्य बहुत-से महर्षियोंको



भी यह कहकर प्रेरित किया कि तुमलोग भारतवर्षमें जाकर पवित्र कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डके उपदेशद्वारा वहाँके निवासियोंका, जो अन्तःकरणके अज्ञानरूपी रोगके वशीभूत होकर महान् कष्ट भोग रहे हैं, उद्धार करो।

प्राचीन कालमें सत्ययुगके समाप्त होनेपर जब भूतलपर कालक्रमसे पवित्र कर्मकाण्डका ह्रास हो गया, तब उन महर्षियोंने कर्मकाण्डकी स्थापना तथा मर्यादाकी रक्षाके लिये पृथक्-पृथक् देशोंका विभाजन किया और उन देशोंपर भूपालोंकी स्थापना की। तदनन्तर उन्होंने भूतलपर धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये उन-उन कर्मोंके

उपर्युक्त बहुत-से स्मृति-ग्रन्थों तथा यज्ञविधायक शास्त्रोंका निर्माण किया। तत्पश्चात् इस कालचक्रके चलते रहनेपर जब उस क्रमका विनाश हो गया तथा लोग प्रतिदिन भोजनमात्रपरायण और खाद्य पदार्थोंके उपार्जनमें तत्पर हो गये, तब हमलोगोंने उनकी दीनताका विनाश करने तथा लोकमें आत्मतत्त्वज्ञानके प्रचारके लिये बड़े-बड़े ज्ञानोत्पादक शास्त्रोंका उपदेश किया। यह अध्यात्मविद्या प्रथमतः राजसमाजमें उपदिष्ट हुई। तदनन्तर इसका प्रसार लोकमें हुआ। इसी कारण इसे 'राजविद्या' कहा गया है। रघुनन्दन! राजविद्या एवं राजगुह्य नामसे जिसकी प्रसिद्धि है, उस उत्तम अध्यात्मज्ञानको पाकर राजालोग दुःखरहित हो परमानन्दको प्राप्त हो गये। श्रीराम! कालक्रमानुसार निर्मल कीर्तिवाले बहुसंख्यक राजाओंके स्वर्गवासी हो जानेपर इस समय तुम इस भूतलपर इन महाराज दशरथके यहाँ प्रकट हुए हो। शत्रुओंका मर्दन करनेवाले राम! तुम्हारा मन अत्यन्त निर्मल है, इसीलिये किसी निमित्तके बिना स्वाभाविक ही तुम्हारे मनमें यह परम पावन तथा उत्तम वैराग्य जाग उठा है; क्योंकि समस्त विवेकशील पुरुषोंमें जिसकी ख्याति है, उस श्रेष्ठ पुरुषका भी वैराग्य किसी निमित्तको लेकर होता है, इसलिये वह राजस कहलाता है, परंतु तुम्हारे मनमें उत्पन्न हुआ यह वैराग्य अपूर्व है। यह किसी निमित्तकी अपेक्षा न रखकर स्वतः अपने विवेकसे उत्पन्न हुआ है और सत्पुरुषोंको आश्चर्यमें डालनेवाला है, अतः सात्त्विक है। जिन्हें निमित्तके बिना ही वैराग्य हो जाता है, वे ही महापुरुष तथा ज्ञानवान् हैं और उन्हींका अन्तःकरण शुद्ध है।* जो लोग ज्ञानद्वारा इस सृष्टिपरम्पराका विचार करके वैराग्यको प्राप्त होते हैं, वे ही उत्तम पुरुष हैं।

श्रीराम! जो लोग इस संसारकी असारता एवं दुःखरूपताको देखकर अपनी सांसारिक बुद्धिका परित्याग कर देते हैं, वे साँकलसे छूटे हुए गजराजोंकी भाँति संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। यह जगत्-परम्परा विषम और अनन्त है। इसमें पड़ा हुआ महान् जीव देहाध्याससे युक्त रहता है, अतएव ज्ञानके बिना उसे परमपदकी प्राप्तिका मार्ग नहीं सूझता। परंतु रघुनन्दन! जिनकी बुद्धि अगाध है—ऐसे विवेकशील पुरुष इस दुस्तर भवसागरको ज्ञानरूपी नौकाद्वारा क्षणमात्रमें ही पार कर जाते हैं। संसार-सागरसे उबारनेवाले उस ज्ञानरूप उपायको तुम अपनी बुद्धिसे, जो नित्य विवेक-वैराग्य आदिसे समन्वित है, एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो; क्योंकि इस निर्दोष ज्ञानयुक्तिके बिना अनन्त विक्षेपोंसे परिपूर्ण ये सांसारिक दुःख और भय चिरकालतक हृदयको संतप्त करते रहते हैं। राघव! श्रेष्ठ पुरुषोंमें शीत, उष्ण, वात आदि द्वन्द्वजनित दुःखोंको सहन करनेकी क्षमता ज्ञानके बलपर ही आती है, अन्यथा ज्ञानयुक्तिके अतिरिक्त वे किसी प्रकार सह्य नहीं हो सकते। दुःखकी चिन्ताएँ अज्ञानी मनुष्यको पद-पदपर आ घेरती हैं और समयानुसार उसे उसी प्रकार संतप्त करती रहती हैं, जैसे अग्निकी लपटें तृणको जलाकर भस्म कर डालती हैं; परंतु जिस प्रकार वर्षाके जलसे अभिषिक्त हुए वनपर उन अग्नि-ज्वालाओंका प्रभाव नहीं पड़ता, उसी तरह जिसे जाननेयोग्य अध्यात्मशास्त्रका ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिसने भलीभाँति ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषको मानसिक व्यथाएँ संताप नहीं पहुँचा सकतीं। इस संसाररूपी मरुस्थलमें बहनेवाली वायु शारीरिक तथा मानसिक कष्टरूपी आवर्तोंसे परिपूर्ण है। यह क्षुब्ध होकर भी तत्त्वज्ञानीको वैसे ही पीड़ित नहीं कर सकती, जैसे प्रचण्ड आँधी कल्पवृक्षका कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह तत्त्वज्ञानकी

---

* ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि।
वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमलमानसम्॥
(मुमुक्षु० ११। २४)

प्राप्तिके लिये, जो श्रुति आदिका प्रमाण देनेमें कुशल और आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञाता हो, ऐसे ज्ञानी पुरुषके पास जाकर प्रयत्नपूर्वक विनयभावसे प्रश्न करे। फिर जैसे केसरसे रँगा हुआ वस्त्र उसके रंगको पकड़ लेता है, उसी प्रकार जिससे प्रश्न किया गया है, उस प्रमाणकुशल तथा विशुद्ध चित्तवाले उपदेष्टाके वचनको प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिये। किंतु वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ राम! जो तत्त्वका ज्ञाता नहीं है, अतएव जिसके वचन अग्राह्य हैं, ऐसे पुरुषसे जो तत्त्वविषयक प्रश्न करता है, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कोई नहीं है। इसी प्रकार जिससे पूछा गया है, उस प्रमाणकुशल तथा तत्त्वज्ञानी वक्ताके उपदेशका जो पुरुष यत्नपूर्वक अनुसरण नहीं करता, उससे बढ़कर दूसरा कोई नराधम नहीं है। अतः वक्ताके व्यवहार आदि कार्योंसे उसकी अज्ञता तथा तत्त्वज्ञताका पहले निर्णय करके जो पुरुष उससे प्रश्न करता है, वह प्रश्नकर्ता उत्कृष्ट बुद्धिवाला माना जाता है; परंतु जो मूर्ख जिज्ञासु उत्तम वक्ताका निर्णय किये बिना ही उससे प्रश्न करता है, वह अधम कहलाता है और उसे तत्त्वज्ञानरूप महान् अर्थकी प्राप्ति भी नहीं होती। ज्ञानीको भी चाहिये कि पूर्वापरका विवेचन करके उसका निश्चय करनेमें जिसकी बुद्धि समर्थ हो और जो निन्दनीय न हो, ऐसे पुरुषको उसके पूछे हुए तत्त्वका उपदेश दे; परंतु जो आहार-निद्रा-भय-मैथुन आदि पशुधर्मसे संयुक्त है, ऐसे अधमको तत्त्वका उपदेश न दे। क्योंकि प्रश्नकर्ताकी श्रुति आदि प्रमाणोंद्वारा निर्णीत पदार्थके ग्रहणकी योग्यताका विचार किये बिना ही जो वक्ता उसे उपदेश देता है, उस पुरुषको ज्ञानीजन इस लोकमें महान् मूर्ख बतलाते हैं। रघुनन्दन! तुम प्रशंसनीय गुणोंसे युक्त अत्यन्त श्रेष्ठ प्रश्नकर्ता हो और मैं उपदेश देना जानता हूँ, अतः हम दोनोंका यह समागम उचित ही है। शब्दार्थके ज्ञाता राम! जनसमाजमें तुम महापुरुष माने जाते हो। तुममें रागका लेशमात्र भी नहीं है। तुम तत्त्वके ज्ञाता हो। इसीलिये तुम्हारे प्रति किया हुआ उपदेश तुम्हारे अन्तर्हृदयमें चिपक जाता है, ठीक उसी तरह जैसे घोला हुआ रंग वस्त्रमें लग जाता है। तुम्हारी तीक्ष्ण बुद्धि उक्त पदार्थके ग्रहण करनेमें निपुण और परमार्थका विवेचन करनेवाली है। वह परमार्थ-विषयमें उसी प्रकार प्रवेश करती है, जैसे सूर्यकी किरणें जलके भीतर घुस जाती हैं। इसलिये मैं जिस पदार्थका उपदेश करूँ, उसे तुम 'यह तत्त्व-वस्तु है' यों निश्चय करके यत्नपूर्वक अपने हृदयमें पूर्णतया धारण कर लो।

मनुष्यको चाहिये कि वह विवेकहीन, अज्ञानी और दुर्जनोंसे प्रेम करनेवाले मनुष्यका दूरसे ही परित्याग करके साधु-महात्माओंकी सेवा करे; क्योंकि सदा सज्जनोंके सम्पर्कमें रहनेसे विवेककी उत्पत्ति होती है। यह विवेक एक वृक्षके समान है और भोग तथा मोक्ष उसके फल कहे गये हैं। उस मोक्षके द्वारपर निवास करनेवाले चार द्वारपाल बतलाये जाते हैं जिनके नाम हैं—शम, विचार, संतोष और चौथा साधुसंगम। मनुष्यको इन चारोंका ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये; क्योंकि इनका भलीभाँति सेवन होनेपर ये मोक्षरूपी राजमहलके द्वारको खोल देते हैं। यदि चारोंका सेवन न हो सके तो तीनका या दोका सेवन अवश्य करना चाहिये। दोका भी सेवन न हो सके तो सभी उपायोंद्वारा प्राणोंकी बाजी लगाकर भी एकका आश्रय तो अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि जब एक वशमें आ जाता है, तब शेष तीनों भी अधीन हो जाते हैं।* विवेकी पुरुष तप, दान और

* मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसंगमः॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा॥

शास्त्रके श्रवण-मनन आदिका उत्तम पात्र होता है। जैसे तेजस्वियोंमें सूर्य सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार वह लोगोंमें आभूषणके समान आदरणीय होता है। जैसे शीतकी अधिकताके कारण जल जमकर पत्थरके सदृश हो जाता है, उसी प्रकार अविवेकियोंकी बुद्धि मन्दता—घनताको प्राप्त होकर अत्यन्त जड हो जाती है। रघुकुलभूषण राम! तुम्हारा अन्तःकरण तो सूर्योदय होनेपर खिले हुए कमलकी भाँति सौजन्य आदि गुण एवं शास्त्रार्थकी दृष्टियोंसे विकसित हो गया है। मनुष्यको उचित है कि वह पहले आवागमनके चक्रसे छूटनेके लिये शास्त्राभ्यास और सत्संगतिपूर्वक तपस्या एवं इन्द्रियनिग्रहद्वारा अपनी बुद्धिका ही सवर्द्धन करे। यह संसार विषवृक्षके समान है। यह विपत्तियोंका एकमात्र स्थान है, जो अज्ञानी मनुष्यको सदा मोहित करता रहता है; इसलिये यत्नद्वारा अज्ञानका विनाश कर डालना ही उचित है।* जैसे मेघरहित आकाशमें निर्मल एवं पूर्ण मण्डलवाले चन्द्रमाको देखकर दृष्टि प्रसन्न होती है, उसी प्रकार यह पूर्वोक्त परमार्थ वस्तुदृष्टि ज्ञानीमें यथार्थ वस्तुके साथ एकरसताको प्राप्त होकर प्रसन्न हो जाती है। जिसकी बुद्धि पूर्वापरके विचारसे सूक्ष्मतम अर्थको ग्रहण करनेमें निपुण और चतुरतासे शोभित होकर पूर्ण विकसित हो गयी है, वही 'पुमान्' अर्थात् पुरुष कहा जाता है। श्रीराम! तुम्हारा हृदय अज्ञानसे रहित अतएव विशुद्ध शान्ति आदि गुणोंसे विकसित एवं उत्तम विचारकी शीतल चाँदनीसे प्रकाशित है। उस हृदयसे युक्त होकर तुम उसी प्रकार सुशोभित हो रहे हो, जैसे निर्मल चन्द्रमासे आकाशकी शोभा होती है।

(सर्ग १०-११)

संसारप्राप्तिकी अनर्थरूपता, ज्ञानका उत्तम माहात्म्य, श्रीराममें प्रश्नकर्ताके गुणोंकी अधिकताका वर्णन, जीवन्मुक्तिरूप फलके हेतुभूत वैराग्य आदि गुणोंका तथा शमका विशेषरूपसे निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तुम्हारा मन उत्तम गुणोंसे परिपूर्ण है। तुम हमारे योग्य शिष्य हो और प्रश्न करनेका ढंग भी तुम्हें भलीभाँति ज्ञात है। तुम कही हुई बातको विशेषरूपसे समझ लेते हो, इसीलिये मैं आदरपूर्वक तुम्हें उपदेश देनेको उद्यत हुआ हूँ। अब तुम अपनी बुद्धिको, जो रजोगुण और तमोगुणसे रहित और शुद्ध सत्त्वगुणका अनुसरण करनेवाली है, आत्मामें स्थापित करके ज्ञानोपदेश श्रवण करनेके लिये तैयार हो जाओ। प्रश्नकर्तामें जितने गुण होने चाहिये, वे सभी गुण तुममें वर्तमान हैं और जैसे समुद्रमें रत्न आदि सम्पत्तियाँ भरी रहती हैं, उसी तरह वक्ताके सभी गुण मुझमें विद्यमान हैं। वत्स! जैसे चन्द्रमाकी किरणोंके सम्पर्कसे चन्द्रकान्तमणिमें आर्द्रता आ जाती है, उसी तरह तुम भी ज्ञानके संसर्गसे उत्पन्न हुए वैराग्यको प्राप्त हुए हो। तुम तो सर्वथा शुद्ध हो। तुम्हारा बाल्यावस्थासे ही शुद्ध, विस्तृत तथा अविच्छिन्न सद्गुणोंके साथ सम्बन्ध चला आ रहा है—ठीक उसी तरह जैसे कमलका अपने विस्तारवाले, निर्मल एवं दीर्घ तन्तुओंसे लगाव रहता है। इसलिये तुम्हीं इस कथाको सुननेके योग्य अधिकारी हो। अब मैं इस मोक्षकथाका वर्णन करूँगा, तुम सावधान होकर इसे सुनो। यह कथा उस परमपदसे सम्बन्ध रखनेवाली है, जिसका साक्षात्कार हो जानेपर जितने लौकिक कार्य तथा जितनी लौकिक दृष्टियाँ हैं, वे सब-के-सब पूर्णतया शान्त हो जाते हैं।

एक वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत्। एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः॥
(मुमुक्षु० ११। ५९—६१)

* संसारविषवृक्षोऽयमेकमास्पदमापदाम्। अज्ञं सम्मोहयेन्नित्यं मौर्ख्यं यत्नेन नाशयेत्॥
(मुमुक्षु० ११। ६९)

श्रीराम ! संसाररूपी विषके आवेशसे उत्पन्न हुई विषूचिका बड़ी दुस्सह होती है। विषनिवारक गारुडमन्त्रसे ही उसका समूल नाश होता है। जीव और ब्रह्मका एकात्मबोध ही वह गारुडमन्त्र है। वही परमार्थज्ञानका भी मूलमन्त्र है। सत्पुरुषोंके साथ शास्त्रानुशीलन करनेसे निस्सदेह उस योगकी प्राप्ति होती है।

शास्त्रचिन्तन करनेपर इसी जन्ममें अवश्य ही सम्पूर्ण दुःखोंका समूल विनाश होता है—ऐसा मानना चाहिये; इसलिये उन विवेकशील सत्पुरुषोंको अवहेलनाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये। जिस विवेकी पुरुषको सम्यग्दृष्टिकी उपलब्धि हो चुकी है, वह पुरानी केंचुलका त्याग करके संतापरहित हुए सर्पकी भाँति मानसिक व्यथाओंसे परिपूर्ण इस संसारके अनुरागका परित्याग करके संतापरहित हो जाता है। उसका अन्तःकरण शीतल हो जाता है। वह सम्पूर्ण जगत्‌को विनोदपूर्वक इन्द्रजालकी तरह सुखरूप देखता है; परन्तु जो उस सम्यग्दृष्टिसे रहित है, उसके लिये यह संसार परम दुःखदायी ही है। यह संसारानुराग बड़ा ही कष्टदायक है। यह अनर्थकी आशङ्का किये बिना ही मोहवश विषयोंमें फँसे हुए पुरुषोंको सर्पकी तरह डँस लेता है, खड्गकी भाँति काट डालता है, भालेके समान बेध देता है, रस्सीकी तरह आवेष्टित कर लेता है, आगके सदृश जला देता है, रात्रिकी तरह अंधा बना देता है, सिरपर गिरे हुए पत्थरके समान मूर्च्छित कर देता है, विचार-शक्तिको हर लेता है, मर्यादाका विनाश कर देता है और मोहरूपी अन्धकूपमें गिरा देता है। तृष्णा तुम्हें जर्जर कर देती है। अधिक क्या, ससारमें ऐसा कोई दुःख नहीं है जो ससारी मनुष्यको तृष्णासे न प्राप्त होता हो। यह विषयभोगरूपिणी विषूचिका दुष्परिणाम-वाली है। यह नरक-नगररूप शरीर-समुदायके साथ अनुराग उत्पन्न करनेवाली है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो यह अवश्य ही उन-उन हजारों नारकीय दुर्गतियोंको प्राप्ति कराती है, जहाँ नरकोंमें पाषाणभक्षण, खड्गद्वारा अङ्गोंका छेदन, पर्वतशिखरसे निपातन, पत्थरद्वारा दर्पीटन और अग्निदाहको हिमाभिषेककी भाँति, अङ्गोंके कुतरनेको चन्दनके लेपकी तरह, असिपत्रवाले वृक्षोंके वनमें दौड़ने, कीड़ोंके द्वारा शरीरमें छिद्र किये जाने और लोहेकी गरम जजीरोंद्वारा देहके लपेटनेको शरीर-संस्कारके समान, युद्धमें काम आनेवाले अग्नि-बुझे बाणोंकी धारावाहिक वृष्टिको ग्रीष्मऋतुमें विनोदके लिये किये गये जलयन्त्रोंके फव्वारोंकी बूँद-वर्षाके सदृश, सिरके काटे जानेको सुखनिद्राके तुल्य, मुख बंद करके बलपूर्वक किये गये मूकीभावको स्वाभाविक मुखमुद्राके समान और अकिंचित्करताको महती सम्पद्‌वृद्धिकी तरह सहन करना पड़ता है। राघव ! इस प्रकार सहस्रों कष्टप्रद चेष्टाओंसे परिपूर्ण इस दारुण संसारचक्रमें उपर्युक्त उपदेशकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; बल्कि ऐसा विचार और निश्चय अवश्य करना चाहिये कि शास्त्रानुशीलनसे निश्चय ही कल्याण होता है। सत्पुरुषोंके साथ शास्त्रचिन्तन करनेसे जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, उसे तत्त्वका ज्ञान हो जानेसे सर्वव्यापक आत्माका स्वरूप विदित हो जाता है। वह शुद्ध बुद्धिद्वारा परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है और अज्ञानरूपी घने बादलके विलीन हो जानेपर उसके मोहका विनाश हो जाता है। फिर तो उसके लिये यह जगत्‌में विचरण करना रमणीय हो जाता है।

श्रीराम ! जिन्हें आत्मस्वरूपका ज्ञान हो गया है, ऐसे उत्तम बुद्धिसम्पन्न महापुरुष इस पूर्वोक्त दृष्टिका अवलम्बन करके इस ससारमें विचरते हैं। उन्हें न शोक होता है, न कामना होती है और न वे शुभाशुभकी याचना ही करते हैं। वे इस संसारमें सब कुछ करते हुए भी अकर्ताके समान रहते हैं। वे हेय और उपादेयके पक्षपातसे रहित होकर अपने आत्मामें स्थित रहते हैं, पवित्रतासे रहते हैं और सत्-शास्त्रोंमें प्रतिपादित स्वच्छ कर्म करते हुए सन्मार्गपर चलते हैं। अन्य लोगोंकी दृष्टिसे वे जाते हैं,

जाते हैं, कर्म करते हैं और बोलते हैं; परन्तु वास्तवमें वे न आते हैं न जाते हैं, न कर्म करते हैं और न बोलते ही हैं। क्योंकि परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हुआ पुरुष न तो इन्द्रजालरूप मायिक कार्य करता है और न सांसारिक वासनाओंके पीछे ही दौड़ता है। वह बालकोंकी-सी भ्रममूलक चपलताका परित्याग करके पूर्वकथित परमात्माके स्वरूपमें ही सदा विराजमान रहता है। इस प्रकारकी स्थितियाँ आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके अतिरिक्त अन्य उपायसे नहीं उपलब्ध होतीं। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह जीवनपर्यन्त आत्माकी ही खोज करे, उसीकी उपासना करे और उसीका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त उसके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है।

जिस पुरुषको अपने अनुभव, शास्त्रवचन और गुरुके उपदेशकी एकवाक्यताका निश्चय हो गया है वह निरन्तर किये गये उपर्युक्त अभ्यासके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है। चाहे भारी-से-भारी आपत्ति क्यों न आ पड़े, परन्तु जो शास्त्र और उसके अर्थकी अवहेलना करनेवाले तथा तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंकी अवज्ञा करनेवाले हैं—ऐसे मूर्खोंका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि भूतलपर मनुष्योंको जितना कष्ट अपने शरीरमें स्थित अकेली मूर्खतासे प्राप्त होता है, उतना दुःख शारीरिक क्लेश, विघ्न, आपत्ति और मानसिक व्यथाएँ नहीं दे सकतीं। जिनकी बुद्धि कुछ भी उत्तम संस्कारोंसे सस्कृत हो चुकी है, उनकी मूर्खताका विनाश करनेमें जैसा यह शास्त्र समर्थ है, वैसा अन्य कोई शास्त्र नहीं है। जैसे खैरसे काँटे उत्पन्न होते है, उसी तरह जितनी दुस्तर आपत्तियाँ और अधम कुत्सित योनियाँ हैं, वे सभी मूर्खतासे पैदा होती हैं। जिस संसारी पुरुषको मोक्षके उपायभूत इस शास्त्ररूप प्रकाशकी प्राप्ति हो गयी है वह मोहान्धकारमें भी पुनः अन्धताको नहीं प्राप्त होता। तृष्णा मानवरूपी कमलको तभीतक संकुचित करती है, जबतक विवेकरूपी सूर्यकी निर्मल प्रभाका उदय नहीं होता। रघुनन्दन! जैसे इस संसारमें भगवान् विष्णु एवं शंकर आदि तथा अन्यान्य महर्षिगण जीवन्मुक्त हो विचरते रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सांसारिक दुःखसे छुटकारा पानेके लिये मेरे-जैसे आत्मीयजनोंके साथ बैठकर गुरूपदेश एवं शास्त्रप्रमाणद्वारा अपने स्वरूपको जानकर जगत्में विहार करो। इस जगत्में सुख तो तुच्छ-से-तुच्छ तिनकेके सदृश है, परंतु दुःखोंका तो अन्त ही नहीं है; इसलिये जो दुःखरूप परिणामसे परिपूर्ण है, उन लौकिक सुखोंमें आस्था नहीं करनी चाहिये।

ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जो अनन्त और आयासरहित है, उस परम पदको प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करे; क्योंकि जिनका मन संतापरहित होकर सर्वोत्कृष्ट परम पदरूप परमात्मामें लीन हो गया है, वे ही पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं और उन्हींको परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। जो दुरात्मा पुरुष राज्य आदि जागतिक सुखोंके उपलब्ध होनेपर उनके उत्तम भोगोंके आस्वादनमात्रसे ही तृप्त बने रहते हैं, उन्हें तो तुम अंधे मेढक समझो।* जिनकी बुद्धि अज्ञानके कारण मन्द पड़ गयी है, वे मूर्ख वञ्चकों, प्रबल दुराचारियों, लौकिक भोगोंमें रचे-पचे रहनेवालों और मित्रका-सा व्यवहार करनेवाले शत्रुओंमें आसक्ति करने लगते हैं, जिससे उन्हें एक संकटसे दूसरे संकटकी, एक दुःखसे दूसरे दुःखकी, एक भयसे दूसरे भयकी और एक नरकसे दूसरे नरककी प्राप्ति होती रहती है।† इसलिये उत्तम विवेकका आश्रय

---

* सम्भोगाशनमात्रेण राज्यादिषु सुखेषु च।
संतुष्टा दुष्टमनसो विद्धि तानन्धदर्दुरान्॥
(मुमुक्षु० १३। २६)

† ये शठेषु दुरन्तेषु दुष्कृतारम्भशालिषु।
द्विषत्सु मित्ररूपेषु भक्ता वै भोगभोगिषु॥
ते यान्ति दुर्गमाद् दुर्गं दुःखाद् दुःखं भयाद्भयम्।
नरकान्नरकं मूढा मोहमन्थरबुद्धयः॥
(मुमुक्षु० १३। २७-२८)

लेकर अभ्यास और वैराग्यके सहयोगसे दुःखस्वरूपिणी इस भयंकर संसार-नदीको पार करना चाहिये। जिसे प्राप्त कर लेनेपर पुनर्जन्म नहीं होता और जहाँ पहुँच जानेपर शोकका अस्तित्व मिट जाता है, वह परम पद ज्ञानद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इस संसारमें जब पुरुषकी शीघ्र मोक्ष-प्राप्तिके उपायके चिन्तनमें प्रवृत्ति होती है, तब वह मोक्षप्राप्तिका पात्र कहा जाता है। उस प्रवृत्तिके प्राप्त हो जानेपर उत्तम कैवल्य-पदकी प्राप्तिमें कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उस केवलरूप परमात्माकी प्राप्तिमें धन-सम्पत्ति, मित्र, भाई-बन्धु, हाथ-पैरका संचालन, देशान्तरगमन, शारीरिक कष्ट-सहन और तीर्थसेवन आदि उपकारी नहीं हो सकते। वह तो एक मात्र पुरुषार्थसे साध्य केवल परमात्माकी प्राप्तिकी वासनारूप कर्मसे एवं मनोजयसे प्राप्त किया जा सकता है। सुखपूर्वक सेवन करनेयोग्य आसनपर बैठकर उस परब्रह्मका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उपर्युक्त परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। फिर तो उसे न शोक करना पड़ता है और न संसारमें उसका पुनर्जन्म ही होता है। जैसे मृगतृष्णामें जलाभास दीखता है, वास्तवमें वहाँ जल नहीं रहता, उसी तरह स्वर्गलोक और मनुष्य-लोकके सम्पूर्ण भावोंके विनाशी होनेके कारण इन दोनों लोकोंमें वास्तविक सुख नहीं है।

इसलिये जो शम और संतोषका साधन है, उस मनोजयकी प्राप्तिके लिये उपाय सोचना चाहिये। उससे वह आनन्द उपलब्ध होता है, जो परमात्माके साथ ऐकात्म्य-सम्बन्धसे मिलता है। अतः देवता, दानव, राक्षस और मनुष्यको बैठते, चलते, गिरते-पड़ते अथवा घूमते हुए सदा ही मनोजय-जनित उस परम सुखको अवश्य प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि वह शान्तिरूप विकसित पुष्पोंसे लदे हुए विवेकरूप महान् वृक्षका फल है। पूर्णरूपसे शान्त मन अत्यन्त निर्मल और भ्रमरहित हो जाता है। उस विश्रान्त मनमें किसी प्रकारकी स्पृहा नहीं रह जाती। उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते [illegible] उस समय वह न तो किसी वस्तुकी अभिलाषा [illegible] है और न किसीका त्याग ही करता है।

राघव! अब मोक्षद्वारपर स्थित रहनेवाले द्वारपालोंको क्रमशः सुनो, जिनमेंसे एकके प्र[illegible] प्रीति हो जानेसे मोक्षद्वारमें प्रविष्ट होनेका अ[illegible] प्राप्त हो जाता है। शम मङ्गलमय, शान्तिदायक [illegible] भ्रमका निराकरण करनेवाला है। शमसे परम क[illegible] की प्राप्ति होती है और शम ही परम पद है। [illegible] प्राप्तिसे पूर्णतया तृप्त हुए जिस पुरुषका चित्त शम[illegible] होनेके कारण शीतल एवं निर्मल हो गया है, [illegible] शत्रु भी मित्र बन जाता है। जैसे चन्द्रोदय [illegible] क्षीरसागरकी शुभ्रता बढ़ जाती है, उसी प्रकार [illegible] चित्त शमरूपी चन्द्रमासे भलीभाँति शोभित हो[illegible] है, उनकी परम शुद्धताकी अभिवृद्धि होती है। [illegible] कलङ्करहित मुखचन्द्रमें शमश्री शोभित होती [illegible] अपने गुणरूप सौन्दर्यसे दूसरेकी इन्द्रियोंको वश[illegible] लेते हैं तथा वे ही कुलीनशिरोमणि एवं वन्दनी[illegible] त्रिलोकीकी राज्यलक्ष्मी भी वैसा आनन्द नहीं कर सकती, जैसी आनन्ददायिनी साम्राज्य-स[illegible] सदृश शम-विभूतियाँ होती हैं। लोकमें जितने जितनी दुस्सह तृष्णाएँ और जितनी दुःख [illegible] मानसिक व्यथाएँ हैं, वे सब शान्तचित्तवाले [illegible] निकट जाकर वैसे ही विलीन हो जाती हैं, जैसे [illegible] किरणोंके सम्पर्कसे अन्धकारका विनाश हो जा[illegible] शमपरायण पुरुषके दर्शनसे समस्त प्राणियोंका म[illegible] आह्लादपूर्ण एवं प्रसन्न होता है, वैसा चन्द्रमाके [illegible] नहीं होता। इस जगत्‌में जैसे अपनी मातापर विश्वास रहता है, उसी प्रकार शमयुक्त पुरुषपर अथवा धर्मात्मा—सभी प्राणी विश्वास करते [illegible] इसलिये रघुकुलभूषण राम! तुम भी अपने मन[illegible] समस्त शारीरिक क्लेशों तथा मानसिक [illegible]

कम्पित और तृष्णारूपी रस्सीसे आबद्ध है, शमरूपी अमृतके अभिषेकसे प्रकृतिस्थ करो; क्योंकि जो शमनिष्ठ है, उस पुरुषसे पिशाच, राक्षस, दैत्य, शत्रु, व्याघ्र अथवा सर्प—कोई भी द्वेष नहीं करते।

जिसके समस्त अङ्ग उत्कृष्ट शमरूपी अमृत-कवचसे भलीभाँति सुरक्षित हैं, उसे दुःख उसी प्रकार पीड़ा नहीं पहुँचा सकते, जैसे बाण हीरेको बेधनेमें असमर्थ होते हैं। निर्मल तथा शमविभूषित समबुद्धिसे पुरुषकी जैसी शोभा होती है, वह शोभा अन्तःपुरमें विराजमान राजाको भी नसीब नहीं होती। शमयुक्त अन्तःकरणवाले पुरुषका दर्शन करनेसे मनुष्यको जो शान्ति प्राप्त होती है, वह प्राणोंसे भी अधिक प्रिय स्वजनके मिलनेसे भी नहीं उपलब्ध होती। इस लोकमें जो शमसे सुशोभित तथा लोगोंद्वारा प्रशंसित समवृत्तिसे सबके साथ उत्तम बर्ताव करता है, उसीका जीवन सार्थक है; इसके विपरीतका जीवन तो निरर्थक ही है। जिसका मन उद्दण्डतारहित हो गया है, ऐसा शमपरायण श्रेष्ठ पुरुष जो कर्म करता है, उसके उस कर्मकी ये समस्त प्राणी प्रशंसा करते हैं।

जो पुरुष प्रिय और अप्रियको सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो हर्षित होता है और न खिन्न होता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। जो प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियोंको अपने वशमें करके समस्त प्राणियोंके साथ समतापूर्ण व्यवहार करता है तथा न तो भविष्यकी आकाङ्क्षा करता है और न प्राप्तका परित्याग करता है, वह 'शान्त' कहलाता है। जिसका मन मरण, उत्सव और युद्धके अवसरपर भी व्याकुल न होकर चन्द्रमण्डलके समान निर्मल आभासे युक्त रहता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। हर्ष और कोपका अवसर उपस्थित होनेपर भी जो पुरुष वहाँ अनुपस्थितके समान न तो हर्षको प्राप्त होता है और न क्रोध ही करता है, बल्कि उसका मन गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषके मनके समान निर्विकार रहता है, वह 'शान्त' पदसे व्यवहृत होता है। जिसकी अमृत-प्रवाहके सदृश सुखदायिनी तथा प्रेमपूर्ण दृष्टि सभी प्राणियोंपर समानरूपसे पड़ती है, उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। जिसका अन्तःकरण शीतल हो गया है एवं जिसकी बुद्धि मोहाच्छन्न नहीं है तथा जो लौकिक विषयोंके साथ व्यवहार करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता, उसे लोग 'शान्त' कहते हैं। सम्यक् प्रकारसे व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी बुद्धि आकाशके सदृश निर्विकार रहती है, राग-द्वेषरूप कलङ्कसे लिप्त नहीं होती, उसे 'शान्त' कहा जाता है।

तपस्वियों, विद्वानों, याजको, नरेशों, बलवानों और गुणियोंके समुदायमें शमयुक्त पुरुषकी ही विशेष शोभा होती है। जिन गुणशाली महापुरुषोंका मन शममें आसक्त हो गया है, उनके चित्तसे निवृत्तिका उदय होता है, ठीक उसी तरह जैसे चन्द्रमासे चाँदनी प्रकट होती है। जो गुणसमूहोंकी परमावधि है तथा जो पुरुषार्थका मुख्य भूषण है, वह श्रीसम्पन्न शम संकटों तथा सम्पूर्ण स्थानोंमें भी अपने प्रभावसे सुशोभित होता रहता है। रघुनन्दन! जिसका अन्य पुरुष अपहरण नहीं कर सकते, जो पूज्य जनोंद्वारा सावधानीके साथ सुरक्षित एवं अमृतस्वरूप है, उस शमरूप उत्कृष्ट साधनका आश्रय लेकर बहुत-से महानुभाव जिस क्रमसे परम पदको प्राप्त हो चुके हैं, तुम भी परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये उसी क्रमका अनुसरण करो।

(सर्ग १२-१३)

विचार, संतोष और सत्समागमका विशेषरूपसे वर्णन तथा चारों गुणोंमेंसे एक ही गुणके सेवनसे सद्गतिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! (विषय, संदेह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और प्रयोजनरूप) कारणोंके ज्ञाता पुरुषको शास्त्रज्ञानसे निर्मल हुई अतएव परम पवित्र बुद्धिद्वारा निरन्तर आत्मचिन्तन करना चाहिये; क्योंकि आत्मविषयक विचार करनेसे बुद्धि तीव्र होकर परम पदका साक्षात्कार कर लेती है। संसाररूपी महारोगके लिये विचार ही महौषध है। जो अनन्त कामनारूपी पल्लवोंसे सुशोभित है, ऐसा आपत्तिरूपी वन विचाररूपी आरेसे काट दिये जानेपर पुनः अङ्कुरित नहीं होता। लौकिक दुःखसे पार होनेके लिये विद्वानोंके पास विचारके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। सत्पुरुषोंकी बुद्धि विचारसे अशुभका परित्याग करके शुभको प्राप्त होती है। बुद्धिमानोंके बल, बुद्धि, सामर्थ्य, कर्तव्यका ज्ञान, क्रिया और उसका फल—ये सभी विचारसे ही सफल होते हैं। अतः जो उचित-अनुचितके रहस्योद्घाटनके लिये महान् दीपकके समान है तथा अभीष्टकी सिद्धि करनेवाला है, उस उत्कृष्ट विचारका आश्रय लेकर संसार-सागरको पार करना चाहिये। क्योंकि विशुद्ध विचाररूपी सिंह हृदयस्थित विवेकरूपी कमलोंको उखाड़ फेंकनेवाले महामोहरूपी गजराजोंको विदीर्ण कर डालता है। जो लोग विचारका अभ्युदय करनेवाली बुद्धिद्वारा सबके साथ व्यवहार करते हैं, वे निश्चय ही अत्यन्त श्रेष्ठ फलोंके भागी होते हैं। सद्विचारपरायण मनुष्य अत्यन्त विस्तृत महान् आपत्तियोंसे युक्त मोहकी परिस्थितियोंमें उसी प्रकार निमग्न नहीं होता, जैसे सूर्य अन्धकारमें नहीं डूबते। जितने क्रूर कर्म, निषिद्धाचरण और कुत्सित मानसिक कष्ट हैं, वे सभी विचारहीनतासे ही आविर्भूत होते हैं। जिस अधिकारी पुरुषका मन आशाकी परवशतासे रहित और विचारयुक्त है, वह पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति अपने आत्मामें परमानन्दका अनुभव करता है। जब मनमें विवेकशीलताका उदय होता है, तब वह सारे विश्वको शीतल एवं सुशोभित करनेवाली चन्द्रमाकी चाँदनीकी भाँति सबको अत्यन्त शीतल और अलंकृत कर देती है। जगत्‌के सारे पदार्थ तभीतक सत्यकी तरह रमणीय प्रतीत होते हैं, जबतक विचार नहीं किया जाता। वस्तुतः इनका कोई अस्तित्व नहीं है, अतः विचार करनेपर वे नष्ट हो जाते हैं। जो समस्वरूप, आनन्दमय, अक्षय, अनन्त और अनन्याधीन है, उस कैवल्य पदको तुम विचाररूप महान् वृक्षका फल समझो। जो चित्तमें स्थित होकर उत्तम अचल स्थिति प्रदान करनेवाली है, उस आत्म-विचाररूपी महौषधिसे युक्त श्रेष्ठ पुरुष न तो अप्राप्तकी आकाङ्क्षा करता है और न प्राप्तका परित्याग ही। विचारशील पुरुष गयी हुई वस्तुकी उपेक्षा कर देता है और प्राप्त वस्तुका शास्त्रानुसार उपयोग करता है। वह मनकी प्रतिकूलतामें न तो क्षुब्ध होता है और न अनुकूलतामें प्रसन्न ही। उस समय जलसे परिपूर्ण सागरकी तरह उसकी शोभा होती है। इस प्रकार जिन उदाराशय महात्मा योगियोंका मन पूर्णकाम हो गया है, वे जीवन्मुक्त होकर इस जगत्‌में विचरण करते हैं। बुद्धिमान् पुरुषको आपत्तिकालमें भी 'मैं कौन हूँ ! यह संसार किसका है !' यों उसके प्रतीकारके लिये प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिये। जैसे रात्रिमें भूतलपर पदार्थोंका ज्ञान दीपकसे होता है, उसी प्रकार परमात्मस्वरूपमें स्थिति प्राप्त करनेके लिये वेद-वेदान्तके सिद्धान्तोंकी स्थितियोंका निर्णय विचारद्वारा होता है। विचाररूपी सुन्दर नेत्र अन्धकारमें नष्ट नहीं होता, उस तेजस्वी सूर्य आदिकी ओर देखनेपर भी उसकी ज्योति प्रतिहत नहीं होती और वह व्यवधानयुक्त पदार्थोंको

भी देख लेता है । यह विचार-चमत्कृति परमात्ममयी, आदरणीया और परमानन्दकी एकमात्र साधिका है; अतः एक क्षणके लिये भी इसका परित्याग नहीं करना चाहिये । जैसे पक जानेके कारण मधुर-रससे परिपूर्ण आमका फल सबके लिये रुचिकर होता है, उसी तरह उत्तम विचारसे युक्त पुरुष, सामान्य जनोंकी तो बात ही क्या, महापुरुषोंके लिये भी आदरणीय हो जाता है । विचारद्वारा जिनकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है और विचारसे ही जिन्हें ज्ञानमार्गमें जानेकी युक्ति ज्ञात है, वे मनुष्य नाना प्रकारके दुःखरूप गड्ढोंमें बार-बार नहीं गिरते अर्थात् आवागमनसे मुक्त हो जाते हैं । सैकड़ों अनर्थोंके सयोगसे जिसका शरीर जर्जर हो गया है तथा जो रोगग्रस्त है, वह वैसा रुदन नहीं करता, जैसा वह मूर्ख विलाप करता है, जिसने विचारहीनतासे अपने आत्माका हनन कर दिया है । विचारहीनता सारे अनर्थोंका निजी निवासस्थान है । सभी सत्पुरुष उसका तिरस्कार करते हैं और वह सारी दुर्गतियोंकी चरम सीमा है, अतः उसका परित्याग कर देना चाहिये । विचारपूर्वक स्वयं ही अपनी बुद्धिद्वारा अपने मनको वशमें करके मोहमय संसारसागरसे अपने मनरूपी मृगका उद्धार करना चाहिये । मैं कौन हूँ और यह संसारनामक दोष मेरे निकट कैसे आ गया—इस विषयमें न्यायपूर्वक किया गया अनुसंधान 'विचार' कहलाता है । रघुनन्दन ! इस जगत्‌में सत्यके ग्रहण और असत्यके त्यागकी बुद्धिसे सम्पन्न पुरुषोंको विचारके बिना उत्तम तत्त्वका कुछ भी ज्ञान नहीं होता । विचारसे ही तत्त्वका ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञानसे मनकी निश्चलता प्राप्त होती है और मनके शान्त हो जानेसे सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश हो जाता है । भूतलपर सभी लोग स्पष्ट विचारदृष्टिसे ही समस्त कर्मोंकी सफलता लाभ करते हैं तथा उत्तम परमात्मसाक्षात्कारता भी विचारसे ही उपलब्ध होती है, इसलिये श्रीराम ! शमादि साधनसम्पन्न तुम्हें उपर्युक्त विचारशीलता रुचिकर होनी चाहिये ।

परंतप राम ! संतोष ही परम श्रेय है और संतोष परम सुख भी कहा जाता है । संतोषयुक्त पुरुष परम विश्राम-को प्राप्त होता है । जो संतोषरूपी ऐश्वर्यके सुखसे सम्पन्न हैं तथा जिनका चित्त निरन्तर विश्रामपूर्ण रहता है, ऐसे शान्त पुरुषोंको विशाल साम्राज्य भी पुराने घासके टुकड़ेके समान प्रतीत होता है । श्रीराम ! संतोष-युक्त बुद्धि संसारकी विषम परिस्थितियोंमें भी न तो उद्विग्न होती है और न कभी उसका विनाश ही होता है । जो शान्त पुरुष संतोषामृतके पानसे पूर्णतः तृप्त हो चुके हैं, उनके लिये यह अपरिमित भोगसम्पत्ति विष-सी जान पड़ती है । रागादि दोषोंका विनाशक तथा अत्यन्त मधुर आस्वादसे युक्त संतोष जैसा सुखद होता है, वैसा सुख ये अमृतरसकी लहरियाँ नहीं दे सकतीं । जो अप्राप्त वस्तुकी आकाङ्क्षाका परित्याग करके प्राप्त हुई वस्तुमें समभाव रखनेवाला है तथा जिसमें हर्ष-शोकके विकार परिलक्षित नहीं होते, वह मनुष्य इस लोकमें संतुष्ट कहा जाता है । जबतक मन आत्माके द्वारा आत्मामें संतुष्ट नहीं हो जाता, तबतक उस मनरूपी गड्ढेसे उसी प्रकार आपत्तियाँ उद्भूत होती रहती हैं, जैसे गड्ढेसे लताएँ । संतोषसे शीतल हुआ मन विशुद्ध विज्ञानकी दृष्टियोंसे अत्यन्त विकासको प्राप्त होता है—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे कमल विकसित हो जाता है । जैसे मलिन दर्पणमें मुखकी छाया नहीं दीखती, उसी प्रकार आशाकी परवशतासे व्याकुल एवं संतोषरहित चित्तमें ज्ञानका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता । जिसका मन शारीरिक तथा मानसिक क्लेशोंसे मुक्त एवं संतुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होते हुए भी सच्चे साम्राज्य-सुखका उपभोग करता है । अपने आत्मामें आत्मासे ही स्वयं सम्यक् प्रकारसे निरतिशय पूर्णानन्दका आश्रय लेकर पुरुषार्थद्वारा प्रयत्नपूर्वक सभी विषयोंमें तृष्णा-

का परित्याग कर देना चाहिये। चन्द्रमाकी भाँति संतोषामृतसे परिपूर्ण मनुष्यका मन शान्त एवं शीतल बुद्धिद्वारा स्वयं ही शाश्वती स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जब संतोषसे सम्पन्न पुरुष अपने आत्मामें आत्माद्वारा स्वस्वरूपसे स्थित हो जाता है, उस समय उसकी सारी मानसिक व्यथाएँ उसी प्रकार अपने-आप शीघ्र ही समूल विनष्ट हो जाती हैं, जैसे वर्षा-ऋतुमें धूल शान्त हो जाती है। श्रीराम! जिसकी वृत्ति सदा शीतल और कलङ्कसे सर्वथा रहित है, वह पुरुष अपनी उस शुद्ध वृत्तिद्वारा चन्द्रमाकी भाँति पूर्णतया शोभित होता है। रघुनन्दन! इस जगत्‌में जो पुरुषश्रेष्ठ गुणी पुरुषोंद्वारा अभिमत समतासे सुशोभित है, उस विशुद्ध पुरुषको आकाशचारी देवता और महामुनि भी प्रणाम करते हैं।

महाबुद्धिमान् राम! इस संसारमें श्रेष्ठ संत-समागम मनुष्योंका संसार-सागरसे उबारनेमें सर्वत्र विशेषरूपसे उपकार करता है। जो महात्मा पुरुष सत्संगतिरूपी वृक्षसे उत्पन्न हुए विवेक नामक निर्मल पुष्पकी रक्षा करते हैं, वे मोक्ष-फलरूपी सम्पत्तिके अधिकारी होते हैं। जो आपत्तिरूपी कमलिनीके लिये हिम और मोहरूपी कुहरेके लिये वायुके समान है, वह उत्तम संत-समागम ही इस जगत्‌में सर्वोत्कृष्ट है। श्रीराम! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि संत-समागम विशेषरूपसे बुद्धि-वर्धक, अज्ञानरूपी वृक्षका उच्छेदक और मानसिक व्यथाओंको दूर भगानेवाला है। सत्सङ्गसे प्राप्त हुई दिव्य विभूतियाँ ऐसा परम उत्तम निर्वाण-सुख प्रदान करती हैं, जो सतत वर्धनशील, अविनाशी और बाधारहित होता है। अतएव अत्यन्त कष्टदायिनी दशामें पड़कर विवशताको प्राप्त हुए मनुष्योंको भी थोड़े समयके लिये भी सत्सगतिका परित्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि लोकमें सत्संगति सन्मार्गको प्रकाशित करनेवाली और हृदयान्धकारको दूर करनेके लिये ज्ञानरूपी सूर्यकी प्रभा है। जिसने सत्संगतिरूपी गङ्गामें, जो शीतल एवं निर्मल है, स्नान कर लिया, उसे दान, तीर्थ, तप और यज्ञोंसे क्या लेना है अर्थात् सत्संगति इन सबसे बढ़कर है। जो रागशून्य और संशयरहित हैं तथा जिनकी चिज्जड-ग्रन्थियाँ विनष्ट हो चुकी हैं, ऐसे संत पुरुष यदि लोकमें विद्यमान हैं तो तप एवं तीर्थोंके संग्रहसे क्या लाभ! अर्थात् वह फल तो उन संतोंकी संगतिसे ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये जिनकी चिज्जडग्रन्थियोंका विनाश हो गया है एवं जो ब्रह्मज्ञानी हैं, उन सर्वसम्मत संतोंकी सभी उपायोंद्वारा भलीभाँति सेवा करनी चाहिये, क्योंकि वे भवसागरसे पार होनेके लिये साधन हैं। किंतु जो लोग नरकाग्निको बुझानेके लिये मेघस्वरूप संतोंको अवहेलना-की दृष्टिसे देखते हैं, वे स्वय उस नरकाग्निकी सूखी लकड़ी बन जाते हैं।

संतोष, सत्सगति, विचार और शम—ये ही चारों मनुष्योंके लिये भवसागरसे तरनेके साधन हैं। इनमें संतोष परम लाभ है। सत्सगति परम गति है। विचार उत्तम ज्ञान है और शम परमोत्कृष्ट सुख है। ये चारों संसारका समूल विनाश करनेके लिये विशुद्ध उपाय हैं। जिन्होंने इनका भलीभाँति सेवन किया, वे मोह-जलसे परिपूर्ण भवसागरसे पार हो गये। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राम! इन चारों साधनोंमेंसे विशुद्ध प्रकाशवाले एक ही साधनका अभ्यास हो जानेपर शेष तीनों भी अवश्य अभ्यस्त हो जाते हैं; क्योंकि इनमेसे एक-एक भी क्रमशः इन चारोंकी जन्मभूमि है। अत. सबकी सिद्धिके लिये यत्नपूर्वक एकका तो पूर्णरूपसे आश्रय लेना ही चाहिये। जैसे प्रशान्त सागरमें जलयान स्वच्छन्द गतिसे चलते हैं, उसी प्रकार शमद्वारा निर्मल हुए हृदयमें सत्समागम, संतोष और विचार उत्तम धारणापूर्वक प्रवृत्त होते हैं। जो प्राणी विचार, संतोष, शम और सत्समागमसे सम्पन्न है, उसे दिव्य ज्ञान-सम्पत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं—ठीक उसी तरह, जैसे कल्पवृक्षका आश्रय लेनेवाले पुरुषको लौकिक

सम्पत्तियाँ सुलभ होती हैं। पूर्ण चन्द्रमामें परिलक्षित हुए सौन्दर्य आदि गुणोंकी तरह विचार, शम, सत्समागम और संतोषयुक्त मानवमें प्रसाद आदि गुण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। जैसे श्रेष्ठ मन्त्रिगणोंसे युक्त राजाके पास विजयलक्ष्मी उपस्थित होती है, उसी तरह जिस पुरुषकी बुद्धि सत्सङ्ग, संतोष, शम और विचारसे युक्त होनेके कारण उत्तम हो गयी है, उसे दिव्य ज्ञान-सम्पत्ति सुलभ हो जाती है। इसलिये रघुनन्दन ! मनुष्यको चाहिये कि वह पुरुषार्थसे मनको वशमें करके इनमेंसे एक गुणका नित्य यत्नपूर्वक उपार्जन करे; क्योंकि जबतक मनुष्य परम पुरुषार्थके आश्रयसे अपने चित्तरूपी गजराजको जीतकर हृदयमें एक गुण भी धारण नहीं कर लेता, तबतक उत्तम गतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके चित्तमें उत्तम फलदायक एक ही गुण सुदृढ़ हो गया है, उसके सारे दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि एक ही गुणकी विशेष वृद्धि होनेपर दोषोंपर विजय प्रदान करनेवाले अनेक गुणोंकी वृद्धि होती है और एक दोषके अधिक बढ़ जानेपर बहुत-से गुण-विनाशक दोष बढ़ जाते हैं। (सर्ग १४—१६)

प्रकरणोंके क्रमसे ग्रन्थ-संख्याका वर्णन, ग्रन्थकी प्रशंसा, शान्ति, ब्रह्म, द्रष्टा और दृश्यका विवेचन, परस्पर सहायक प्रज्ञा और सदाचारका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिसका हृदय पूर्वोक्त प्रकारके विवेकसे युक्त है, वही इस जगत्में महान् है और वही ज्ञानोपदेश सुननेका योग्य अधिकारी है—ठीक उसी तरह, जैसे राजा नीति-शास्त्रके श्रवणका उत्तम पात्र होता है। जैसे मेघजालसे रहित शरत्काल-का आकाश चन्द्रमाके लिये योग्य होता है, उसी तरह जो मूर्खोंके सङ्गसे रहित एवं महान् आशयवाला है, वह निर्मल पुरुष विशुद्ध विचारका योग्य भाजन है। श्रीराम ! तुम इस समग्र गुणलक्ष्मीसे सम्पन्न हो; अतः मैं आगे जिसका वर्णन करूँगा, उस मनके मोहको हरनेवाले वाक्यको सुनो। जिसका पुण्यरूपी कल्पवृक्ष फलोंके भारसे अत्यन्त झुका हुआ खड़ा है, वही पुरुष मुक्ति-प्राप्तिके निमित्त इसे श्रवण करनेके लिये उद्योग करता है। अतः उपर्युक्त गुणसम्पन्न पुरुष ही कल्याण-प्राप्तिके लिये पवित्र, उदार तथा परायेको ज्ञान प्रदान करनेवाले वचनोंके सुननेका अधिकारी होता है।

यह संहिता मोक्ष-साधनकी प्रतिपादिका, सारभूत अर्थोंसे परिपूर्ण और मोक्षदायिनी है। इसमें बत्तीस हजार* श्लोक बतलाये जाते हैं। जैसे गाढ निद्राके वशीभूत हुए पुरुषके सामने दीपक जला दिये जानेपर यद्यपि उसे प्रकाशकी कामना नहीं रहती तो भी प्रकाश होता है, उसी प्रकार इस संहिताके परिशीलनसे इच्छा न रहने-पर भी निर्वाणकी प्राप्ति हो जाती है। यह संहिता स्वयं सम्यक् प्रकारसे परिशीलन करके जानी गयी हो अथवा अन्यद्वारा वर्णन किये जाते समय सुनी गयी हो, तो भी पाप-तापकी शान्तिद्वारा सुखकी हेतुभूता

* इस ग्रन्थके छहों प्रकरणोंमें क्रमशः वैराग्यप्रकरणमें ११४५, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणमें ८०७, उत्पत्तिप्रकरणमें ५४०४, स्थितिप्रकरणमें २४०४, उपशमप्रकरणमें ४२७७ और निर्वाणप्रकरणमें १४२७५ श्लोक-संख्या है—इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें श्लोकोंकी सख्या २८३१२ मिलती है। किंतु यहाँ इस सर्गमें, वैराग्यप्रकरणमें १५००, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण-में १०००, उत्पत्तिप्रकरणमें ७०००, स्थितिप्रकरणमें ३०००, उपशमप्रकरणमें ५००० और निर्वाणप्रकरणमें १४५००—इस प्रकार कुल ३२००० श्लोक बताये गये हैं। ग्रन्थमें आये हुए बड़े श्लोकोंके और गद्यभागके अक्षरोंकी सख्याको ३२ अक्षरके एक अनुष्टुप् श्लोकके हिसाबसे गिननेपर यह संख्या प्रायः ठीक हो सकती है।

देवनदी गङ्गाके समान यह अज्ञानके उपशमद्वारा तुरंत सुख प्रदान करती है। जैसे रस्सीका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे उसमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रान्ति विनष्ट हो जाती है, उसी तरह इस संहिताके सम्यक् परिशीलनसे संसार-दुःख शान्त हो जाता है। इस संहितामें पृथक्-पृथक् रचे गये छ प्रकरण हैं, जो युक्तियुक्त अर्थवाले वाक्यों-से युक्त और सार-सार दृष्टान्तोंसे भरी हुई सूक्तियोंसे समन्वित हैं। उनमें पहला प्रकरण 'वैराग्य' नामसे कहा गया है, जिसके अध्ययनसे उसी प्रकार विरागकी वृद्धि होती है, जैसे मरुस्थलमें भी जलके सिंचनसे वृक्ष बढ़ता है। जैसे मणिके भलीभाँति मार्जित किये जानेके कारण उत्पन्न हुए प्रकाशसे उसमें निर्मलता प्रकट हो जाती है, उसी तरह डेढ़ हजार श्लोकोंसे युक्त इस वैराग्य-प्रकरणका विचार करनेसे विषयोंके दोषोंका परिज्ञान होनेके कारण उत्पन्न हुए विवेकके प्रकाशसे हृदयमें शुद्धताका उदय हो जाता है। तदनन्तर 'मुमुक्षुव्यवहार' नामक प्रकरणकी रचना की गयी है। इस प्रकरणमें केवल एक हजार श्लोक हैं। युक्तियोंसे भरा होनेके कारण यह अत्यन्त सुन्दर है और इसमें मुमुक्षु पुरुषोंके स्वभावका वर्णन किया गया है। इसके बाद तीसरा 'उत्पत्तिप्रकरण' आता है, जो दृष्टान्त और आख्यायिकाओं-से परिपूर्ण तथा विज्ञानका प्रतिपादक है। उसमें सात हजार श्लोक हैं। इस प्रकरणमें 'अहं' और 'त्वं' जिसका स्वरूप है एवं जो वास्तवमें उत्पन्न न होकर भी प्रकट हुई-सी प्रतीत होती है, द्रष्टा और दृश्यके भेदसे समन्वित उस सांसारिक सम्पत्तिका वर्णन किया गया है। इस प्रकरणके सुननेपर श्रोता इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपने हृदयमें ऐसा समझता है कि यह 'त्वं' और 'अहं'के विस्तारसे युक्त, लोक, पर्वत और आकाशसे समन्वित, संकल्पमय नगरके तुल्य क्षणध्वंसी, स्वप्नमें प्राप्त हुए पदार्थोंके समान सत्तारहित, मनोराज्यकी तरह विस्तारवाला, अर्थशून्य होनेके कारण गन्धर्वनगरके सदृश, दो चन्द्रमाओंकी भ्रान्तिके समान मृगतृष्णामें जलभ्रान्तिकी तरह, नौकाके चलनेसे पर्वतादिके संचलन भ्रमकी भाँति चञ्चल और यथार्थ लाभसे रहित है तथा जैसे सुवर्णमें कङ्कण, जलमें तरङ्ग और आकाशमें नीलिमा असत् है, वस्तुतः ये क्रमशः अपने-अपने अधिष्ठानके ही अङ्ग हैं, उसी तरह यह जगत् असत् होकर भी सत्-रूपसे उत्पन्न हुआ है। परमार्थ दृष्टिसे तो यह उस विज्ञानरूपी शरत्कालके आकाशके समान है, जिसका अज्ञानरूपी कुहरा पूर्णरूपसे शान्त हो गया है।

तत्पश्चात् चौथे 'स्थितिप्रकरण'की अवतारणा की गयी है। इस प्रकरणमें तीन हजार श्लोक हैं और यह व्याख्यान और आख्यायिकाओंसे भरा हुआ है। ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्य भावको स्वीकार करके इस प्रकार जगत्-रूप एवं अहंरूपसे स्थितिको प्राप्त हुआ है—ऐसा इस प्रकरणमें कहा गया है। इसी तरह यह जगद्भ्रम जो दसों दिशाओंके मण्डलकी विशालतासे देदीप्यमान है और चिरकालसे वृद्धिको प्राप्त होता आया है, यह विषय भी उस प्रकरणमें समझाया गया है।

तदुपरान्त पाँचवाँ 'उपशान्ति' प्रकरण कहा गया है। इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। यह परम पावन तथा विविध युक्तियोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुन्दर है। इस प्रकरणमें 'यह जगत् है, यह मैं हूँ, यह तुम हो और यह वह है—यों उत्पन्न हुई भ्रान्ति किस प्रकार पूर्णरूपसे शान्त होती है' यह विषय बहुत-से श्लोकों-द्वारा बतलाया गया है। उपशमप्रकरणका श्रवण करनेसे यह संसार प्रायः शान्त हो जाता है; क्योंकि जिसका भ्रान्त स्वरूप सम्यक् प्रकारसे शान्त हो गया है—ऐसी संसृतिका शतांशमात्र अवशिष्ट रह जाता है।

तदनन्तर 'निर्वाण' नामक छठे प्रकरणका वर्णन किया गया है। उसमें शेष साढ़े चौदह हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् पुरुषार्थका देनेवाला है। उसे जान लेनेपर सारी कल्पनाएँ शान्त हो जाती

हैं और परमात्माकी प्राप्तिरूप परम कल्याण हस्तगत हो जाता है। अधिक क्या, उक्त प्रकरणके ज्ञाता पुरुषके सम्पूर्ण सांसारिक भ्रम मिट जाते हैं। वह निर्विषय चैतन्य प्रकाशरूप, विज्ञानस्वरूप, आधि-व्याधियोंसे रहित और आकाशमण्डलके समान निर्विकार हो जाता है। उसकी सभी जगद्‌यात्राएँ शान्त हो जाती हैं और वह कृतकृत्य होनेके कारण स्वस्थ हो जाता है। वह प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्यभूत सम्पूर्ण विषयोंमें कर्ताके अभिमान और ग्रहण-त्यागकी दृष्टिसे रहित हो जाता है, इसलिये वह देहधारी होते हुए विदेह-सा एवं संसारी होनेपर भी असंसारी-सा प्रतीत होता है। उसका अहंकाररूप पिशाच नष्ट हो जाता है और वह देहयुक्त होते हुए भी शरीर-रहित-सा रहता है। चैतन्यघन परमात्मा अपने अंदर कल्पित आकाशमें प्रत्येक परमाणुमें सहस्रों लोकोंकी रचना करके उन्हें धारण करता है और स्वयं उन्हें देखता है।

श्रीराम! जैसे उपजाऊ खेतमें उचित समयपर बोये गये उत्तम बीजसे अवश्य ही श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, उसी तरह इस संहिताको हृदयगम कर लेनेसे परमार्थ-विषयक ज्ञान सुलभ हो जाता है। जैसे प्रातःकाल होनेपर प्रकाशका होना अवश्यम्भावी है, वैसे ही इस संहिताको चित्तमें धारण कर लेने मात्रसे निश्चय ही उत्तम विवेककी उपलब्धि होगी। विद्वानोंके मुखसे इसका श्रवण करके अथवा स्वयं ही इसे समझकर धीरे-धीरे विचार करनेसे जब बुद्धि सुदृढ़रूपसे संस्कृत हो जाती है, तब पहले हृदयमें सभास्थानको विभूषित करनेवाली ऊँची लताके समान संस्कारयुक्त विशुद्ध वाणीका उदय होता है। फिर महान् गुणोंसे सुशोभित वह श्रेष्ठ चतुरता प्रकट होती है, जिससे राजा तथा देवगण भी प्रसन्न होते हैं। जैसे सुन्दर नेत्रोंसे युक्त पुरुष रात्रिके समय दीपक हाथमें लेकर सभी पदार्थोंको देख लेता है, उसी तरह बुद्धिमान् मनुष्य सर्वत्र पूर्वा-परका ज्ञाता हो जाता है। इस ग्रन्थके अभ्याससे जिसका अज्ञानान्धकाररूप आवरण फट गया है अतएव जो पदार्थोंके प्रविभाजनमें समर्थ हो गयी है, ऐसी प्रज्ञा कालिमारहित रत्नदीपककी लौके समान उत्कृष्ट प्रकाशवाली हो जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थका ज्ञाता पुरुष चाहे भयहेतुओंके सम्मुख ही क्यों न खड़ा हो, फिर भी जैसे बाण बड़ी-बड़ी चट्टानोंको विदीर्ण नहीं कर सकते, उसी तरह भयंकर सांसारिक भय उसके हृदयको पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। इस ग्रन्थके अध्ययनसे जन्ममें प्रारब्धकी और कर्ममें पुरुषार्थकी कारणता कैसे होगी?—इस प्रकारके संशय-समुदाय दिनमें अन्धकार-की भाँति विलीन हो जाते हैं। इस ग्रन्थका विचार करनेवाले पुरुषके हृदयमें समुद्रकी-सी गम्भीरताका, सुमेरुगिरिकी-सी धीरताका और चन्द्रमाकी-सी शीतलता-का उदय हो जाता है। जब हृदयाकाशमें शमके आलोकसे विभूषित विवेकरूपी निर्मल सूर्यका उदय हो जाता है, तब निश्चय ही अनर्थसूचक कामादि धूमकेतु अपना उदय नहीं ले पाते। धैर्यकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुई जो बुद्धि धर्मरूपी दीवालमें गाढ़रूपसे संलग्न हो गयी है, उसे मानसिक चिन्ताएँ विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे वायु चित्रलिखित लताको नहीं कँपा सकती। तत्त्वज्ञ पुरुष विषयासक्तिरूप गड्ढेमें नहीं गिरता; क्योंकि जिसे उत्तम मार्गका ज्ञान है, वह भला गड्ढेकी ओर क्यों दौड़ेगा। सत्-शास्त्रोंके परिशीलनसे जिनका चरित्र उत्तम हो गया है, उनकी बुद्धि यथायोग्य प्राप्त शास्त्रानुकूल कर्ममें ही रमण करती है—ठीक उसी तरह, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने अन्तःपुरके आँगनमें ही प्रसन्न रहती है। जिस पुरुषका अन्तःकरण मोक्ष-साधनके अनुभवसे शुद्ध हो गया है, उसे भोगसमुदाय न तो कभी पीडित ही करते हैं और न आनन्द ही देते हैं। वह अनिष्ट कार्योंके प्राप्त होनेपर न तो द्वेष करता है और न इष्ट कार्योंके नष्ट हो जानेपर उनकी आकाङ्क्षा

ही करता है; बल्कि वह कार्य-फलादिके स्वरूपका ज्ञाता होकर भी जड वृक्षकी भाँति अनभिज्ञका-सा आचरण करता है। वह साधारण जनकी तरह समयानुकूल प्राप्त हुए पदार्थोंसे ही निर्वाह करता हुआ देखा जाता है—यहाँतक कि अथवा अनिष्ट फलके प्राप्त होनेपर भी उसके हृदयमें स्वल्पमात्र भी विकार नहीं होता। राघव! इस सम्पूर्ण शास्त्रको बँचवाकर और समझकर फिर इसपर विचार करो। यह कथनमात्र नहीं है, बल्कि देवोंके वरदान और शापकी भाँति इसका फल अवश्य प्राप्त होता है। यह सुन्दर शास्त्र उत्तम ज्ञानसे युक्त अलंकारोंसे विभूषित, काव्यस्वरूप और सरस है। इसमें दृष्टान्तोंद्वारा विषयका प्रतिपादन किया गया है। जिसे थोड़ा भी पद पदार्थका ज्ञान है, वह स्वयं ही उसे समझ लेता है; किंतु जो स्वयं इसे जाननेमें असमर्थ है, उसे पण्डितके मुखसे सुनना चाहिये। जैसे संकल्पद्वारा निर्मित नगरमें पुरुषको हर्ष-विषाद बाधा नहीं पहुँचाते उसी तरह संसार-भ्रमका परिज्ञान हो जानेपर यह भी कष्टदायक नहीं होता। जैसे यह चित्रलिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं है—ऐसा जान लेनेपर वह सर्प-जनित भयका दाता नहीं होता, उसी तरह इस दृश्य संसाररूपी सर्पका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर यह भी सुख अथवा दुःख नहीं देता। जैसे चित्रलिखित सर्पका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर उसका सर्पत्व ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संसारका वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जानेपर यह स्थित रहते हुए भी शान्त हो जाता है अर्थात् इसका प्रभाव नहीं पड़ता।

रघुनन्दन! यह शास्त्र ज्ञानका विस्तार करनेवाला और बुद्धिद्वारा ग्रहण किये जानेवाले सारभूत पदार्थोंकी परमावधि है। अब मैं इसका वर्णन करता हूँ, सुनो। पहले जिस विधिसे यह शास्त्र श्रवण किया जाता है तथा जिस परिभाषासे इसका यथार्थरूपसे विचार करनेका विधान है, वह अवतरणिका श्रवण करो। जिस देखे हुए पदार्थके सादृश्यसे अनुभवमें न आये हुए पदार्थका ज्ञान कराया जाता है, बोधोपकाररूप फल प्रदान करनेवाले उस सादृश्यको विद्वान् लोग दृष्टान्त कहते हैं। श्रीराम! जैसे रात्रिमें दीपकके बिना घरमें रक्खे हुए बर्तन आदि सामग्रियोंका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह दृष्टान्तके बिना अपूर्व अर्थका बोध होना असम्भव है। उपमान और उपमेयके जिस कार्य-कारणभावका प्रतिपादन किया गया है, वह परब्रह्मको छोड़कर शेष सभी पदार्थोंके साथ लागू होता है। मैं यहाँ ब्रह्मोपदेशके प्रसङ्गमें तुमसे जो दृष्टान्त कह रहा हूँ, उसमें एकदेशके साधर्म्यसे प्रकृतार्थका परिग्रहण किया जाता है। यहाँ ब्रह्मतत्त्वका बोध करानेके लिये जो-जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंकी तरह मिथ्याभूत जगत्के अन्तर्गत ही है—ऐसा समझना चाहिये। उत्पत्तिके पूर्व और विनाशके उत्तरकालमें जैसे यह जगत् अभावग्रस्त था, उसी तरह वर्तमान कालमें भी विचार करनेपर अवस्तुभूत ही है; अतः मिथ्यात्वके कारण जाग्रत् और स्वप्न—इन दोनोंकी समानता है। यह प्रसिद्ध बात बालकोंतककी समझमें आ सकती है। मोक्षसाधनोंके निर्माता ग्रन्थकर्ता महर्षि वाल्मीकिने दूसरे भी जिन ग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें भी ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान करानेके लिये केवल यही व्यवस्था रक्खी है कि दृष्टान्तोंके जिस अंशमें समता सम्भव हो, उसी अंशके साथ समता रक्खी जाय। चूँकि यह जगत् स्वप्न, संकल्प और ध्यानसे कल्पित नगरके समान मिथ्या है, इसी कारण यहाँ वे ही दृष्टान्त दिये गयें हैं, दूसरे नहीं। ज्ञानप्राप्तिके लिये कारणरहित ब्रह्ममें जो कारणताकी उपमा दी जाती है, वहाँ उपमाप्रयुक्त पदार्थोंके साथ सर्वांशमें साधर्म्य सम्भव नहीं हो सकता। अतः विवादरहित बुद्धिमान् पुरुषको ज्ञानप्राप्तिके लिये उपमानसे उपमेयका एक अंशमें ही साधर्म्य स्वीकार करना चाहिये। पदार्थोंके

अवलोकनमें दीपकके प्रकाशमात्रके अतिरिक्त उसके पात्र, तेल और बत्ती आदि किसीका भी उपयोग नहीं होता। केवल एकदेशके सादृश्य... उपमान उपमेयका ज्ञान करा देता है। जैसे 'मणिर्दीप इव' इस दृष्टान्तमें उपमान दीपक केवल प्रकाशसे उपमेय मणिका बोधक होता है। दृष्टान्तके अंशमात्रसे ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थका निश्चय उपादेयरूपसे ग्रहण करना चाहिये। कुतार्किकताका आश्रय लेकर अनुभवविरुद्ध अपवित्र विकल्पोंद्वारा प्रबुद्धताका नाश नहीं करना चाहिये।

श्रीराम! दृष्टान्तके द्वारा अद्वितीय आत्मज्ञानस्वरूप शास्त्रार्थके ज्ञानसे महावाक्यार्थभूत ब्रह्मस्वरूपसे सम्यक् प्रकारसे सिद्ध हुई शान्तिको ही निर्वाण कहा जाता है। इसलिये दृष्टान्त और दार्ष्टान्तके विविध विकल्पोंके पचड़ेसे कोई प्रयोजन नहीं है। किंतु जिस किसी भी युक्तिसे महावाक्यार्थका भलीभाँति आश्रय लेना चाहिये। राघव! तुम शान्तिको ही परम श्रेय जानो, अतः उसकी प्राप्तिके लिये यत्नशील हो जाओ; क्योंकि शान्ति और शास्त्र-ज्ञानसे विभूषित विचारपरायण पुरुषको दृष्टान्त एवं शास्त्रोपदेश, सौजन्य, उत्तम बुद्धि और शास्त्रज्ञ पुरुषोंके समागमद्वारा यत्नका आश्रय लेकर उत्तम परम पदको प्राप्त करना चाहिये। विद्वान् पुरुषको तबतक विचार करते रहना चाहिये, जबतक पुनः नष्ट न होनेवाली तुर्यपद नामक शान्तिमयी आत्मविश्रान्ति प्राप्त न हो जाय। जो पुरुष तुर्यपद नामक शान्तिसे युक्त होकर भवसागरसे पार हो गया है, वह गृहस्थ हो या संन्यासी, उसका जीने या न जीनेसे अथवा कर्म करने या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। जैसे सम्पूर्ण जलोंका अधिष्ठान समुद्र है, उसी तरह सारे प्रमाणोंकी सत्ताका प्रमाण एकमात्र प्रत्यक्ष ही है; अतः अब तुम उसके विषयमें श्रवण करो। श्रेष्ठ पुरुष सारी इन्द्रियोंके सारभूत ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस इन्द्रियके प्रति जो ज्ञान सिद्ध होता है, वही प्रत्यक्ष कहा जाता है। अनुभूति, वेदन और प्रतिपत्तिके नामानुसार इस शास्त्रमें उसीका प्रत्यक्ष नाम रक्खा गया है। वही हमलोगोंका जीव है, वही संवित् है, वही 'अहंता' की प्रतीतिका विषयभूत साक्षी पुरुष है। वह जब संवित्के सहयोगसे उदित होता है, तब उसे पदार्थ कहा जाता है। जैसे जल तरङ्ग आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार वह परमात्मा संकल्प-विकल्प आदि नाना प्रकारके भ्रमोंके कारण जगद्रूपसे प्रकाशित होता है। सृष्टिके पूर्व जो कारणरहित था, वही सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिलीलावश स्वयं ही अपनेमें स्फुरित होकर प्रत्यक्ष कारण हुआ। जीवका अज्ञानजनित कारण यद्यपि असत् है, तथापि वह सत्-सा प्रतीत होता है। वही इस प्रकृतिमें जगद्रूपसे व्यक्त हुआ है। विचार तो स्वयं ही स्वकर्मा-नुसार प्राप्त हुए अपने शरीरका नाश करके शीघ्र ही महान् परम पदको प्रकट कर देता है। विचारवान् पुरुष जब परमात्माको प्राप्त कर लेता है, तब उसका विचार भी उसीमें विलीन हो जाता है, उस समय वर्णनातीत केवल परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

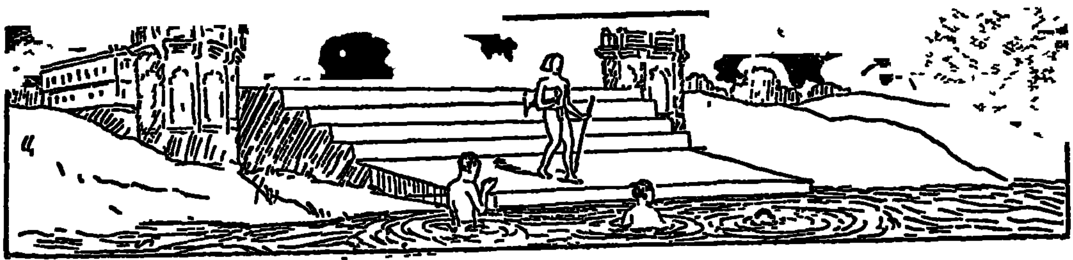
इस प्रकार प्रपञ्चका अभाव हो जानेके कारण अपने बुद्धि, इन्द्रिय और कर्मोंद्वारा मनके इच्छारहित अतएव शान्त हो जानेपर उसका न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न न करनेसे ही। फिर तो जैसे संचालकके द्वारा बिना चलाया हुआ यन्त्र काम नहीं देता, उसी तरह इच्छारहित मनके शान्त हो जानेपर कर्मेन्द्रियाँ कर्म आदिमें प्रवृत्त ही नहीं होतीं। बाह्य इन्द्रियोंद्वारा विषय-ग्रहण एवं मनद्वारा विषयानुसंधान-रूप पदार्थोंसे समाकुल यह जगत् विचारके अन्तर्गत विद्यमान है—ठीक उसी तरह, जैसे स्पन्दन वायुके भीतर ही होता है। शुद्ध सर्वात्मविषयक विचार जिस प्रकार कर्मानुसार भोगके लिये प्रकट होता है, तदनुरूप ही वह दिशा, काल तथा बाह्य एवं आन्तर पदार्थोंके

रूपमें विस्तृतरूपसे शोभित होता है। वह विचार शरीर आदिमें दृश्यताभासको देखकर 'यही मेरा स्वरूप है' यों मोहवश धारणा करके स्थित है। उसको अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकारका प्रतीत होता है, वह वैसा ही हो जाता है। वह सर्वात्मा जहाँ जिस प्रकार आविर्भूत होना है, वहाँ वैसे ही तत्काल स्थिर हो जाता है और उसे अपना ही स्वरूप मानकर सुशोभित होता है। सर्वात्मकताके कारण द्रष्टामें दृश्यत्वका आरोप होता है। वह दृश्यत्व द्रष्टाकी उपस्थितिमें ही सम्भव है, अन्यथा दृश्यता भी वास्तविक नहीं है। अत. प्रत्यक्ष ही कारणरहित अद्वितीय ब्रह्मरूपसे सिद्ध हुआ स्थित है। वही सभी प्रमाणोंका निर्माता है, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होनेके कारण उसीके अंश हैं। साधुस्वभाव राम! अपने कर्ममात्रको दैव—प्रारब्ध मानकर उसकी उपासना करनेवाला इन्द्रियजयी पुरुष उस दैव-शब्दार्थ अर्थात् प्रारब्धको दूर हटाकर अपने पुरुषार्थ-द्वारा उस परम पदको अपने भीतर ही प्राप्त करता है।

रघुनन्दन! पहले संत-समागमरूपी युक्तिके द्वारा बलपूर्वक अपनी बुद्धिको बढ़ाना उचित है। तत्पश्चात् महापुरुषोंके लक्षणोंके अनुकरणसे अपनेमें महापुरुषता लानी चाहिये। इस जगत्में जो-जो पुरुष जिस-जिस गुणसे विशेषरूपसे सम्पन्न है, वह उसी गुणके द्वारा विशिष्ट समझा जाता है; अतः शीघ्र ही उस पुरुषसे वह गुण प्राप्त करके अपनी बुद्धिकी वृद्धि करनी चाहिये। जैसे कमलसे सरोवर और सरोवरसे कमल परस्पर उन्नति-लाभ करते हैं, उसी तरह ज्ञानसे शम आदि गुण और शम आदि गुणोंसे ज्ञान—ये परस्पर वृद्धिगत होते रहते हैं। सत्पुरुषोंके सदाचरणसे ज्ञानकी और ज्ञानसे सत्पुरुषोंके आचरणकी वृद्धि होती है। यों ज्ञान और सत्पुरुषोंके आचरण परस्पर एक-दूसरेके सहयोगसे बढ़ते रहते हैं। तात! जबतक इस संसारमें ज्ञान और सदाचारका समानरूपसे अभ्यास नहीं किया जाता, तबतक पुरुषको इन दोनोंमेंसे एककी भी सिद्धि नहीं होती। रघुनन्दन! जिस प्रकार मैंने सदाचारके क्रमका वर्णन किया है, उसी तरह अब आगे ज्ञानक्रमका भलीभाँति उपदेश करूँगा। यह सत्-शास्त्र कीर्तिकारक, आयुवर्धक और परम पुरुषार्थरूप फल प्रदान करनेवाला है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको इस शास्त्रके ज्ञानसे सम्पन्न आप्त पुरुषसे इसका श्रवण करना चाहिये।

(सर्ग १७—२०)

॥ मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण सम्पूर्ण ॥



उत्पत्ति-प्रकरण

दृश्य जगत्के मिथ्यात्वका निरूपण, दृश्य ही बन्धन है और उसका निवारण होनेसे ही मोक्ष होता है, इसका प्रतिपादन तथा द्रष्टाके हृदयमें ही दृश्यकी स्थितिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जिसमें मुमुक्षुओंके व्यवहारोंका ही प्रधानरूपसे वर्णन है, उस मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरणके बाद अब मैं इस उत्पत्ति-प्रकरणका वर्णन करता हूँ। जबतक दृश्य जगत्की सत्ता है, तभीतक यह जन्म-मृत्युरूप संसारका बन्धन है। दृश्यका अभाव हो जानेसे बन्धन कदापि नहीं रह सकता। यह दृश्य जगत् जिस प्रकार उत्पन्न होता है, वह बता रहा हूँ। तुम क्रमशः ध्यान देकर सुनो। संसारमें जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि एवं क्षयको प्राप्त होता है। वही बँधता और मोक्षको प्राप्त होता है तथा वही स्वर्ग या नरकमें पड़ता है। अपने स्वरूपका बोध न होनेसे ही बन्धन है। इसलिये स्वरूपके बोधके लिये ही मैं आगेकी बात बता रहा हूँ (इससे तुम्हें यह ज्ञात होगा कि यह दृश्य प्रपञ्च कभी हुआ ही नहीं)। उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध इस दृश्य जगत्से ही है (आत्मासे नहीं)। आत्मा तो दृश्यकी उत्पत्तिसे पहले जैसा रहा है, वैसा ही उसकी उत्पत्तिके बाद भी है (वह सदा ही एकरस रहता है) जैसे सुषुप्तिमें स्वप्नके संसारका अभाव हो जाता है, उसी तरह यह जो समस्त चराचर जगत् दिखायी देता है, इसका कल्पके अन्तमें विनाश (अभाव) हो जाता है। तत्पश्चात् निष्क्रिय गम्भीर (अपरिच्छिन्न), नाम-रूपसे रहित और अव्यक्त कोई अनिर्वचनीय सद् वस्तु ही शेष रह जाती है वह तेजस्तत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके रूप नहीं होता। तथा वह तमोमय भी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। विद्वानोंने व्यवहार-निर्वाहके लिये उस सत्-स्वरूप परमात्माके ऋत, आत्मा, परब्रह्म तथा सत्य इत्यादि नाम रख छोड़े हैं।

सोनेका बना हुआ कड़ा सोना ही है। उस सोनेसे 'कटक' शब्दका अर्थ (कड़ा) जैसे पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार 'जगत्' शब्दका जो अर्थ है वह परब्रह्मपर ही आधारित है, अतः उससे पृथक् नहीं है। जैसे कड़ेका स्वरूप सुवर्णके स्वभावके ही अन्तर्गत है, कड़ेके स्वभावके अन्तर्गत नहीं, उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत् भी अपने परिच्छिन्न स्वभावको त्याग देनेपर ब्रह्मभावमें ही प्रतिष्ठित है, 'जगत्' शब्दके अर्थमें नहीं। (तात्पर्य यह कि सोनेमें ही कड़ेकी कल्पना हुई है, कड़ेमें नहीं। इसी तरह ब्रह्ममें ही जगत्की कल्पना हुई है, जगत्में नहीं; अतः वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।) जैसे मरु-मरीचिकामें प्रतीत होनेवाली नदी अपने भीतर न होनेपर भी चञ्चल तरङ्गोंका विस्तार करती है और वे तरङ्गें सच्ची सी जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मन ही इस जगत्रूपी इन्द्रजालकी सम्पत्तिका विस्तार करता है और वह सम्पत्ति असत् होनेपर भी सत्य-सी प्रतीत होती है। जिसके कारण असत् वस्तु भी सत्-सी प्रतीत होती है, वह माया है। सर्वज्ञ विद्वानोंने उसके अविद्या, संसृति, बन्ध, माया, मोह, महत् और तम आदि अनेक नामोंकी कल्पना की है।

प्रिय श्रीराम ! दृश्य-प्रपञ्चका अस्तित्व ही द्रष्टाका बन्धन कहा गया है। दृश्यके बलसे ही द्रष्टा बन्धनमें पड़ा है। दृश्यका निवारण हो जानेपर वह उस बन्धनसे मुक्त हो जाता है। 'त्वम्' (तू), 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) इत्यादि रूपोंमें कल्पित जो मिथ्या जगत् है, उसीको दृश्य कहते हैं। जबतक वह दृश्य बना रहता है, तबतक मोक्ष नहीं होता। यदि यह दृश्यजगत् वास्तवमें है, तब तो किसीके लिये उसका

निवारण नहीं हो सकता; क्योंकि जो असत् वस्तु है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो सत् वस्तु है, उसका कभी अभाव नहीं होता। चित्-स्वरूप आत्माका जिसे बोध नहीं है, वह द्रष्टा जहाँ कहीं भी रहता है, वहीं उसकी दृष्टिके समक्ष इस दृश्य जगत्का वैभव प्रकट हो जाता है। इस दृश्य-प्रपञ्चके रहते हुए निर्विकल्प समाधि कैसे हो सकती है? निर्विकल्प समाधि होनेपर ही चेतनता और तुरीय पदकी उपपत्ति होती है। जैसे सुषुप्ति (प्रगाढ निद्रा) के पश्चात् यह सारा सांसारिक दुःख अनुभवमें आने लगता है, उसी प्रकार समाधिसे उठनेपर यह सम्पूर्ण दुःखमय जगत् जैसेका तैसा प्रतीत होने लगता है। इस मनरूप दृश्यके रहते हुए कोई समाधिके लिये कितना ही प्रयत्नशील क्यों न हो, क्या उसे दृश्य प्राप्त नहीं होता? (अवश्य होता है); क्योंकि जहाँ-जहाँ इसकी चित्तवृत्ति जाती है, वहाँ-वहाँ उससे सम्बन्ध रखनेवाले जगत्रूपी भ्रमका निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे कमलगट्टेके भीतर कमलिनीका वह बीज विद्यमान है, जिसमें उसका मृणालमय रूप छिपा हुआ है, उसी प्रकार अज्ञानी द्रष्टामें वह बुद्धि रहती है, जिसमें दृश्य जगत् अन्तर्हित होता है। जैसे पदार्थोंमें रस, तिल आदिमें तेल और फूलोंमें सुगंध रहती है, उसी प्रकार उपद्रष्टामें दृश्य बुद्धि रहती ही है। कपूर या कस्तूरी आदि जहाँ कहीं भी हों, उनकी सुगंध प्रकट हो ही जाती है, उसी प्रकार द्रष्टा कहीं भी हो, उसके उदरमें दृश्य जगत्का प्रादुर्भाव होता ही है। जैसे तुम्हारे हृदयमें स्थित मनोराज्य-बुद्धि अपने अनुभवसे ही देखी गयी है और जैसे हृदयस्थित स्वप्न एवं संकल्प तुम्हारे द्वारा अनुभवसे ही देखे जाते हैं, उसी प्रकार यह दृश्य जगत् तुम्हारे हृदयमें ही स्थित है और अपने अनुभवसे ही दृष्टिगोचर होता है। (सर्ग १)



ब्रह्माकी मनोरूपता और उसके संकल्पमय जगत्की असत्ता तथा ज्ञाताके कैवल्यकी ही मोक्षरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! मन्वन्तर आरम्भ होनेपर जब सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना ग्रास बनानेवाली मृत्यु प्रजाका संहार करती हुई सबल हो उठी, तब उसने स्वयं ही ब्रह्माजीपर आक्रमण करनेका उद्योग आरम्भ किया। उस समय धर्मराज यमने उसे शीघ्र ही इस प्रकार शिक्षा दी—'मृत्यो! ब्रह्मा परम (चिन्मय) व्योमस्वरूप हैं। उनकी आकृति पृथ्वी आदि पाँचों भूतोंसे रहित है। वे मनोमय और संकल्परूप हैं। भला, उनपर कैसे आक्रमण किया जा सकता है? जो चेतन आकाशके समान चमत्कारपूर्ण और चिन्मय आकाशके समान अनुभवरूप हैं, वे ब्रह्मा चिन्मय आकाश ही हैं। उनमें कार्य-कारण-भाव नहीं है। जैसे आकाशमें इन्द्रनील मणिसे बने हुए तथा औंधे रक्खे हुए महान् कड़ाहका-सा आकार पृथ्वी आदिसे रहित प्रतीत होता है और जैसे संकल्पनिर्मित पुरुष भी पृथ्वी आदिसे रहित ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार स्वयम्भू ब्रह्मा भी पृथ्वी, जल आदि तत्त्वोंसे रहित ही भासित होते हैं। केवल (अद्वितीय) परमात्मामें न दृश्य है और न द्रष्टा ही है। यह स्वयं चिन्मात्रस्वरूप ही है, तथापि 'स्वयम्भू' नामसे प्रकाशित होता है। आदि, मध्य और अन्तसे रहित चिदाकाशरूप अद्वितीय ब्रह्म ही अपने संकल्पके कारण स्वयम्भू ब्रह्माके नामसे पुरुष अथवा देहधारी-सा भासित होता है।'

श्रीराम! जिसका पूर्वजन्मोंमें उपार्जित कर्मोंसे युक्त पूर्व-शरीर रहा है, उसीको इस जन्ममें संसार-स्थितिकी कारणभूत स्मृतिका होना सम्भव है। जब ब्रह्माका कोई प्राक्तन कर्म है ही नहीं, तब उन्हें पूर्वजन्मकी स्मृतिका उदय कहाँसे और कैसे होगा?

इसलिये ब्रह्माका शरीर पृथ्वी आदि कारणोंसे रहित है। ब्रह्मा अपने कारणभूत परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न एवं स्वयं आत्मस्वरूप हैं। श्रीराम! स्वयम्भू ब्रह्माका वह शरीर आतिवाहिक ही है। जो अजन्मा है, उसे आधिभौतिक शरीरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—गुरुदेव! सभी प्राणियोंके एक 'आतिवाहिक' शरीर होता है और दूसरा 'आधिभौतिक'। किंतु ब्रह्माके केवल आतिवाहिक ही शरीर क्यों है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! सभी भूत कारणात्मा हैं—पञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न देह आदिसे युक्त हैं; इसलिये उनके दो-दो शरीर होते हैं; परतु अजन्मा ब्रह्माके लिये ऐसा कोई कारण नहीं है। इसलिये उनके एक ही आतिवाहिक शरीर है। एकमात्र अजन्मा ब्रह्मा ही सभी जातिके प्राणियोंके परम कारण हैं। उसका दूसरा कोई कारण नहीं है। इसलिये भी उनके एक ही शरीर है। संकल्परूप ही उनका शरीर है। पृथ्वी आदि भूतोंके क्रमशः सम्मिश्रणसे उनके शरीरका निर्माण नहीं हुआ है। वे चिदाकाशस्वरूप आदि-प्रजापति ब्रह्मा ही विविध जीवोंकी सृष्टि करके उनका विस्तार करते हैं। वे जीव ब्रह्माके संकल्पके सिवा अन्य कारणोंसे उत्पन्न नहीं हुए हैं। अतः वे भी चिदाकाश-स्वरूप ही हैं। जिस उपादानसे जिसकी उत्पत्ति होती है, वह तद्रूप ही होता है (जैसे मृत्तिकासे निर्मित हुआ घट मृत्तिकारूप ही है)। स्वर्णके कटक-कुण्डल आदि दृष्टान्तोंके द्वारा इस बातका सभीको अनुभव होता है। संसारमें व्यवहार करनेवाले समस्त प्राणियोंमें ब्रह्मा ही सबसे प्रथम चेष्टाशील चेतन भूत हैं। अन्तःकरण ही उनका स्वरूप है। उन्हींसे अहंकारका उदय होता है। जैसे वायुसे हिलना-चलना आदि चेष्टाएँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार उन प्रथम प्रतिस्पन्द (पहले प्रकट हुए चेष्टाशील चेतन भूत) ब्रह्मासे अभिन्न रूपवाली यह सृष्टि प्रकट हुई और फैली है। प्रतिभास ही जिनकी आकृति है, उन ब्रह्मासे उत्पन्न होनेके कारण यह दृश्यमान सृष्टि भी प्रतिभास-रूप ही है। फिर भी लोगोंकी दृष्टिमें यह सत्य-सी प्रतीत होती है। इस विषयमें दृष्टान्त है—स्वप्नमें दीखने-वाले स्वप्नान्तरमें प्राप्त होनेवाला स्त्रीका समागम। जैसे स्वप्नमें स्त्री-समागमका स्वप्न देखा जाय तो उससे भी वीर्यपात होता है, उसी प्रकार व्यवहार और प्रयोजन-की सिद्धिकी दृष्टिसे असत् वस्तु भी सत्य वस्तुके समान व्यवहारका प्रकाश करती है। तात्पर्य यह कि स्वप्नमें स्त्रीका समागम जाग्रत्-कालमें सर्वथा असत्य सिद्ध होता है, तो भी उससे सत्यके समान कार्य होता देखा जाता है। इसी प्रकार प्रतिभासमात्र शरीरवाले ब्रह्मासे उत्पन्न यह सृष्टि भी यद्यपि प्रतिभासरूपा ही है, तथापि सत्यके समान प्रयोजनको सिद्ध करती है।

जिनका शरीर पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे नहीं बना है, जो चिदाकाशस्वरूप और निराकार हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके अधिपति स्वयम्भू ब्रह्मा सशरीर पुरुषकी भाँति प्रतीत होते हैं। पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे शून्य आकारवाले संकल्प-पुरुष ब्रह्माका शरीर चित्तमात्र है। वे ही तीनों लोकोंकी स्थितिके कारण हैं। स्वयम्भू ब्रह्माका यह संकल्प प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार जिस-जिस प्रकारसे विकासको प्राप्त होता है, चिदाकाश-स्वरूप आत्मा उसी प्रकारसे प्रतीत होता है। ब्रह्मा मनोमय ही हैं, पृथ्वी-आदि-निर्मित नहीं हैं। इसलिये उनसे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी मनोमय ही है; क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही होता है। (जैसे सोनेका बना हुआ कटक-कुण्डल आदि सुवर्णरूप ही होता है।) अजन्मा ब्रह्माके कोई सहकारी कारण

१. अर्चि आदि मार्गके द्वारा लोकान्तरमें पहुँचना 'अतिवहन' कहलाता है। इस अतिवहन कर्ममें कुशल अत्यन्त सूक्ष्म शरीरको 'आतिवाहिक' कहते हैं।

नहीं हैं। सुतरां उनसे उत्पन्न हुए जगत्के भी कोई सहकारी कारण नहीं है। अतः यहाँ कारणसे कार्यमें कोई विचित्रता या विलक्षणता नहीं है। इसलिये जैसे कारण शुद्ध है, वैसे कार्य भी शुद्ध ब्रह्म ही है—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। इस जगत्के विषयमें कार्य-कारण-भावकी किंचिन्मात्र भी संगति नहीं है। जैसा परब्रह्म है वैसे ही तीनों लोक हैं। जल द्रवत्वसे अभिन्न ही है। उस अभिन्नरूप जलसे जिस तरह द्रवत्वका विस्तार होता है, उसी प्रकार मनोरूपताको प्राप्त हुए ब्रह्मा अपने शुद्ध आत्मा (स्वरूप) से ही जगत्का विस्तार करते हैं। वह जगत् उनके विशुद्ध आत्मस्वरूपसे भिन्न नहीं है जैसे ज्ञानियोंकी दृष्टिमें रस्सीमें सर्पभाव नहीं है, उसी प्रकार जगत्में आधिभौतिकता (जडता) नहीं है। फिर वे प्रबुद्ध ब्रह्मा आदि आधिभौतिक देहमें कैसे रह सकते हैं।

मन ही ब्रह्माके स्वरूपको प्राप्त हुआ है। वह मन संकल्परूप है। मन अपने ही स्वरूपको विकसित करके इस जगत्का निर्माण एवं विस्तार करता है। मनका रूप ब्रह्मा है और ब्रह्माका रूप मन। इसमें पृथ्वी आदिका प्रवेश नहीं है। मनने ही परमात्मामें पृथ्वी आदिकी कल्पना की है। जैसे कमलगट्टेके अदर कमलिनी (भावी कमल-नाल) विद्यमान है उसी प्रकार मनके भीतर सम्पूर्ण दृश्यवर्ग स्थित है। मन, दृश्यवर्ग और इन दोनोंका द्रष्टा—इनका कभी किसीने विवेक नहीं किया। (जबतक द्रष्टा और दृश्यका विवेक न किया जाय, तबतक अज्ञानका उच्छेद न होनेसे मनमें दृश्यवर्गकी प्रतीति होती ही है।) यदि दृश्यरूप दुःख सत् हो तो उसकी कभी शान्ति नहीं हो सकती और दृश्यकी शान्ति न होनेपर ज्ञातामें कैवल्य (मोक्ष) की सिद्धि नहीं हो सकती। दृश्यका अभाव हो जानेपर ज्ञातामें ज्ञातृभाव स्थित हो, तो भी वह शान्त या निवृत्त हो जाता है। वही (ज्ञाताका कैवल्य ही) उसका मोक्ष कहा गया है। (सर्ग २-३)



मनके स्वरूपका विवेचन, मन एवं मनःकल्पित दृश्य जगत्की असत्ताका निरूपण तथा महाप्रलय-कालमें समस्त जगत्को अपनेमें लीन करके एकमात्र परमात्मा ही शेष रहते हैं और वे ही सबके मूल हैं, इसका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! मनका स्वरूप कैसा है, यह मुझे स्पष्टरूपसे बताइये; क्योंकि मन ही इस सम्पूर्ण लोकमञ्जरी[1]का विस्तार करता है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जैसे शून्य तथा जड आकारवाले आकाशका नाममात्रके अतिरिक्त दूसरा कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार शून्य एवं जड रूप इस संकल्पात्मक मनका नामके सिवा कोई भी वास्तविक रूप नहीं दिखायी देता। यह जगत् क्षणिक संकल्परूपी मनसे उत्पन्न हुआ है। मृगतृष्णामें प्रतीत होनेवाले जल तथा चन्द्रमामें भ्रमसे दीखनेवाले द्वितीय चन्द्रमाके समान ही इस मनःकल्पित जगत्का स्वरूप है। रघुनन्दन! संकल्पको ही मन समझो। जैसे द्रवत्व (द्रवरूपता) से जलका भेद नहीं है और जैसे वायुसे स्पन्दन (चेष्टा या गतिशीलता) भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सकल्पसे मन भिन्न नहीं है। प्रियवर श्रीराम! जिस विषयके लिये सङ्कल्प होता है, उसमें मन सङ्कल्प-रूपसे स्थित रहता है। तात्पर्य यह कि जो सङ्कल्प है वही मन है। सङ्कल्प और मनको कभी कोई पृथक् नहीं कर पाया है (इन दोनोंके पार्थक्यका अनुभव किसीको नहीं हुआ है)। मनको सङ्कल्पमात्र समझो।

वह समष्टिगत मन ही पितामह ब्रह्मा है। आतिवाहिक देह

[1] जगत्-रूपिणी लता।

(सङ्कल्पमय शरीर) रूपी ब्रह्माको लोकमें समष्टिगत मन कहा गया है । अविद्या, संसार, चित्त, मन, बन्धन, मल और तम—इन्हें श्रेष्ठ विद्वानोंने दृश्यके पर्यायवाची नाम माना है । संकल्परूप दृश्यसे अतिरिक्त मनका कुछ भी स्वरूप नहीं है । यह दृश्य-प्रपञ्च वास्तवमें उत्पन्न ही नहीं हुआ है, यह बात मैं आगे चलकर फिर बताऊँगा। जैसे प्रकाशका आलोक* स्वभाव है, जैसे चपलता वायुका स्वभाव है और जिस प्रकार द्रवीभूत होना जलका स्वभाव है, उसी प्रकार द्रष्टामें दृश्यत्व स्वभावसे ही विद्यमान है (अर्थात् द्रष्टासे दृश्य भिन्न नहीं है), जैसे सुवर्णमें बाजूबंद और कटक-कुण्डल आदिकी स्थिति है, जैसे मृगतृष्णाकी नदीमें जलकी स्थिति है और जैसे सपनेकी नगरीमें उठायो गयी दीवारकी स्थिति है, उसी प्रकार द्रष्टामें दृश्यकी स्थिति मानी गयी है। अर्थात् जैसे उपर्युक्त वस्तुएँ अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार द्रष्टासे दृश्यकी पृथक् सत्ता नहीं है ।

द्रष्टासे दृश्यकी पृथक् सत्ता न होनेके कारण दृश्यका अभाव हो जानेपर जो द्रष्टामें बलात् द्रष्टापनका अभाव प्राप्त होता है, उसीको तुम असत् (मिथ्या दृश्य) के बाधित होनेसे सन्मात्र चिन्मयरूपमें अवशिष्ट हुए आत्माका केवलीभाव (या कैवल्य) समझो । जब चित्त आत्माके कैवल्य (अद्वितीय चिन्मात्रस्वरूपता) के बोधसे तदाकार (कैवल्यभावको प्राप्त) हो जाता है, तब उसकी राग-द्वेष आदि वासनाएँ उसी तरह शान्त हो जाती हैं, जैसे हवाके न चलनेपर वृक्षोंमें कम्पन और जलाशय आदिमें लहरोंका उठना बंद हो जाता है । दिशा, भूमि और आकाशरूपी सभी प्रकाशनीय पदार्थोंके न रहनेपर जिस तरह प्रकाशका शुद्ध रूप ही अवशिष्ट रहता है, उसी प्रकार तीनों लोक, तू और मैं इत्यादि दृश्य प्रपञ्चकी सत्ता न होनेपर शुद्धरूपसे अवशिष्ट चिन्मय द्रष्टाका केवलीभाव (कैवल्य) ही रह जाता है ।

* अन्धकारकी निवृत्तिपूर्वक समस्त पदार्थोंको नेत्रोंके समक्ष ला देना ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! यदि दृश्य सत् है, तब तो यह शान्त या निवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि सत्‌का कभी अभाव नहीं होता और यदि यह दोष प्रदान करनेवाला दृश्य असत् है, तब यह बात हमारी समझमें आती नहीं। इसलिये यह दृश्यरूपिणी विषूचिका (हैजा), जो मनसे जन्म आदिके भ्रमको उत्पन्न करनेवाली और दुःखकी परम्पराको देनेवाली है, कैसे शान्त होगी ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिस वस्तुकी सत्ता है, उसका कभी नाश नहीं होता । यह जो कुछ आकाश आदि भूत और अहंकारके रूपमें लक्षित होता है, वह सब व्यवहार-दशामें जगत् है, किंतु परमार्थ दशामें ब्रह्म है । ब्रह्मके सिवा 'जगत्' शब्दका दूसरा कोई वास्तविक अर्थ है ही नहीं । हमारे सामने यह जो कुछ दृश्य-प्रपञ्च दृष्टिगोचर होता है, वह सब अजर, अमर एवं अव्यय परब्रह्म ही है। सर्वत्र पूर्णका प्रसार हो रहा है । शान्त परब्रह्ममें शान्त जगत् स्थित है । आकाशमें ही आकाशका उदय हुआ है तथा ब्रह्ममें ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है * । वास्तवमें न तो दृश्य सत्-रूप

* परब्रह्म परमात्माके साथ जीवात्माओंकी एकताका जो बोध है, वही पूर्णमें पूर्णका प्रसार या प्रवेश है। परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र व्यापक होनेके कारण पूर्ण है । जीवात्मा भी उससे अभिन्न होनेके कारण पूर्ण ही है। इनमें जो भेदका भ्रम था, उसका मिट जाना ही उनकी एकता है । इस एकताकी अनुभूति ही पूर्णमें पूर्णका प्रवेश है । वास्तवमें जीवात्मा न तो कभी ब्रह्मसे पृथक् होता है और न वह कहीं अन्यत्रसे आकर ब्रह्ममें प्रविष्ट ही होता है । ये प्रवेश और निर्गम औपचारिक हैं, वह (जीवात्मा) ब्रह्मरूप होकर ही ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि श्रुतिका कथन है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।' मूल ग्रन्थमें जो 'शान्ते शान्तं व्यवस्थितम्' कहा गया है, इसमें प्रथम 'शान्त' शब्द ब्रह्मके लिये प्रयुक्त हुआ है और दूसरा 'शान्त' शब्द जगत्‌के लिये । जहाँ तीनों अवस्थाओं तथा सब प्रकारकी भेद-भ्रान्तियोंका सदाके लिये शमन हो गया है, वह ब्रह्म शान्तस्वरूप कहा गया है । ब्रह्मदृष्टि प्राप्त होनेपर जगत-दृष्टि शान्त हो जाती है, इसलिये जगत्‌को भी शान्त कहा गया

है, न द्रष्टा, न दर्शन, न शून्य, न जड और न चित् ही सद्रूप है। केवल शान्तस्वरूप ब्रह्म ही सद्रूप है, जो सर्वत्र व्याप्त है।

यह जगत् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न नहीं हुआ था, इसलिये इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं है। जैसे स्वप्न आदिमें मनसे ही नगरकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनसे ही उत्पन्न होकर प्रतीतिका विषय हो रहा है। स्वयं मन ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न न होनेके कारण असत्-स्वरूप है, उस असत्-रूप मनसे कल्पित होनेके कारण भी यह जगत् असत् ही है। फिर जिस प्रकार इसका अनुभव होता है, वह बता रहा हूँ, सुनो। मन निरन्तर क्षीण होनेवाले इस दृश्यरूपी दोषका विस्तार करता है। वह स्वयं असत्-रूप ही है, तो भी सत्-सा प्रतीत होनेवाले जगत्‌की सृष्टि करता है—ठीक उसी तरह, जैसे स्वप्न असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होनेवाले जगत्‌की सृष्टि करता है। मन ही अपनी इच्छाके अनुसार स्वयं शीघ्र ही शरीरकी कल्पना कर लेता है। वही चिरकालकी भावनासे विस्तारको प्राप्त होकर इस ऐन्द्रजालिक वैभवरूप दृश्य-जगत्‌का विस्तार करता है। चञ्चल शक्तिसे युक्त होनेके कारण केवल यह मन ही स्वयं स्फुरित होता, उछलता, कूदता, जाता, आता, याचना करता, घूमता, गोते लगाता, संहार करता और अपकर्षको प्राप्त होता है।

श्रीराम! महाप्रलय होनेपर जब जगत् अति सूक्ष्म रूपसे स्थित होनेके कारण अपने कार्यमें असमर्थ हो जाता है, उस समय वह सम्पूर्ण भावी दृश्यवर्गकी सृष्टिसे पहले विक्षेपरहित शान्तावस्थामें ही शेष रहता है। उस प्रलयकालमें केवल कभी अस्त न होनेवाले सूर्यदेव—स्वयज्योति, अजन्मा, रोग-शोकसे रहित, सदा सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वरूप, परमात्मा महेश्वर ही विराजमान होते हैं। जहाँसे वाणी उन्हें न पाकर लौट आती है अर्थात् जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती, जो जीवन्मुक्त महात्माओंके द्वारा जाने जाते हैं, साङ्ख्यदर्शनके अनुयायी जिन्हें 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्तवादी 'ब्रह्म' नामसे जिनका चिन्तन करते हैं, विज्ञानवेत्ताओंकी दृष्टिमें जो परम निर्मल विज्ञानमात्र हैं, जिन्हें शून्यवादी शून्य कहते हैं, जो सूर्यके प्रकाशकके भी प्रकाशक हैं; जैसे नदी-नाले आदिके जल अन्ततोगत्वा महासागरमें ही गिरते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्यसमूह महाप्रलयकालमें जिनमें ही विलीन होते हैं; जो आकाशमें, विभिन्न शरीरोंमें, प्रस्तरोंमें, जलमें, लताओंमें, धूलिकणोंमें, पर्वतोंमें, वायुमें और पाताल आदि सभी देश, काल एवं वस्तुओंमें समान भावसे स्थित हैं; जिन्होंने आकाशको शून्य पर्वतोंको घनीभूत और जलको द्रवीभूत बनाया है, जगत्‌को दीपककी भाँति प्रकाशित करनेवाले सूर्य जिनके अधीन हैं; जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी तपती हुई किरणोंके भीतर जलराशि लहराती दिखायी देती है, उसी प्रकार जिन अत्यन्त व्यापक परमात्मारूपी महासागरमें आविर्भाव और तिरोभाव (उत्पत्ति और प्रलय)-से युक्त त्रिलोकरूपिणी तरङ्गें उठती रहती हैं, जो सम्पूर्ण व्यावहारिक सत्ताओंसे ऊँचे उठे हुए—सर्वविलक्षण पारमार्थिक सत्तासे सम्पन्न हैं, जिनसे ही नियति, देश, काल, चलन, चेष्टा और क्रिया आदि समस्त भावोंको कार्य निर्वाहकी क्षमता प्राप्त हुई है—वे एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही उक्त महाप्रलयके समय शेष रहते हैं। वे परमात्मा उत्पत्ति-स्थिति आदिसे रहित, कभी अस्त न होनेवाले, नित्य प्रकाशमान ज्ञानसे परिपूर्ण एवं विकारशून्य अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं। वे एकमात्र—अद्वितीय ही हैं। अतएव वे मायासे अनेक विशाल संसारों—अगणित ब्रह्माण्डोंकी रचना करते हुए भी वास्तवमें न कोई कार्य करते हैं और न उनसे कोई चेष्टाएँ ही बनती हैं।

(सर्ग ४-५)

है। मृत्तिकामें घटकी भाँति ब्रह्ममें ही जगत्‌की कल्पना हुई है; इसलिये वह उसीमें स्थित है। घट आदि उपाधियोंके नष्ट होनेपर घटाकाश, मठाकाश आदिकी जो महाकाशमें प्रतिष्ठा होती है, वही आकाशमें आकाशका उदय है। इसी तरह जगत्-दृष्टिका निवारण होकर जो ब्रह्मभावका साक्षात्कार होता है, वही ब्रह्ममें ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है।

ज्ञानसे ही परासिद्धि या परमात्मप्राप्तिका प्रतिपादन तथा ज्ञानके उपायोंमें सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायकी प्रशंसा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! परब्रह्म परमात्मा देवताओंके भी देवता हैं। उनके ज्ञानसे ही परम सिद्धि (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, क्लेशयुक्त सकाम कर्मोंके अनुष्ठानसे नहीं। संसार-बन्धनकी निवृत्ति या मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञान ही साधन है, ज्ञानके अतिरिक्त सकाम कर्म आदिका इसमें कोई भी उपयोग नहीं है; क्योंकि मृगतृष्णामें होनेवाले जलके भ्रमका निवारण करनेके लिये ज्ञानका ही उपयोग देखा गया है—ज्ञानसे ही उस भ्रमकी निवृत्ति होती है, किसी कर्मसे नहीं। सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर होना ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु है। वह स्वाभाविक साधन ही मोहजालका नाशक होता है। यह परमात्मा सत्स्वरूप ही है, ऐसे ज्ञानमात्रसे ही जीवके दुःखका निवारण होता है तथा वह जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—गुरुदेव ! सबके आत्मस्वरूप इन परमात्माके ज्ञानमात्रसे कष्टप्रद जन्म-मरण आदि फिर कभी बाधा नहीं देते। अतः बताइये, ये महान् देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा किस उपायसे शीघ्र प्राप्त होते हैं ? किस तीव्र तपस्यासे अथवा कितने महान् क्लेश उठानेसे इनके ज्ञानकी उपलब्धि हो सकती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! अपने पौरुषजनित प्रयत्नसे विकासको प्राप्त हुए विवेकके द्वारा उन परमात्मदेवका यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा भवरोगके निवारणके लिये मुख्य औषधोंका संग्रह करना चाहिये। सत्-शास्त्रोंका अभ्यास और सत्पुरुषोंका सङ्ग—ये दो प्रधान औषधें संसाररूपी रोगका नाश करनेवाली हैं। इस जगत्में सम्पूर्ण दुःखोंके विनाशकी सिद्धिके लिये एकमात्र पुरुषप्रयत्न ही प्रधान साधन है। उसे छोड़कर दूसरी कोई गति या उपाय काम दे सके, यह सम्भव नहीं। रघुनन्दन ! आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये अपेक्षित उस पुरुषप्रयत्नका स्वरूप कैसा है, जिसका पूर्णतया पालन करनेसे राग-द्वेषमयी महामारी शान्त हो जाती है—यह बताता हूँ, सुनो। मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि वह यथासम्भव ऐसी वृत्तिके द्वारा जो लोक और शास्त्रके विरुद्ध न हो, निष्काममावसे जीवन-निर्वाह करता हुआ संतुष्टचित्त हो भोगवासनाका परित्याग करे। अपनी अनुद्विग्नता (उद्वेगशून्यता अथवा शान्तवृत्ति) के द्वारा यथासम्भव उद्योग करके सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अभ्यास—इन दो साधनोंकी सबसे पहले शरण लेनी चाहिये। जो पुरुष प्रारब्धके अनुसार जो कुछ भी मिल जाय, उसीसे संतुष्ट रहता है, सत्पुरुषों अथवा शास्त्रोंद्वारा निन्दित वस्तुकी ओर आँख उठाकर नहीं देखता और सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर रहता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। देशमें प्रायः सज्जन (शास्त्रोक्त सदाचारमें प्रतिष्ठित) पुरुष जिसे श्रेष्ठ महात्मा कहते हैं, वह यदि ज्ञान-वैराग्य आदि उत्तम गुणोंसे युक्त हो तो अवश्य ही श्रेष्ठ महात्मा है। ऐसे महात्माकी प्रयत्नपूर्वक शरण लेनी चाहिये। सम्पूर्ण विद्याओंमें अध्यात्मविद्या प्रधान है। उस अध्यात्मतत्त्वकी चर्चासे युक्त जो उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता आदि सद्ग्रन्थ हैं, उन्हींको सत्-शास्त्र कहते हैं। उनका विवेकपूर्वक विचार करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। जैसे निर्मलीके चूर्णके संसर्गसे जलकी मैल साफ हो जाती है तथा जिस प्रकार योगके अभ्याससे लोगोंकी बुद्धि शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार सत्-शास्त्र और सत्सङ्गसे प्राप्त हुए विवेकके द्वारा अज्ञानका बलपूर्वक निवारण हो जाता है। (सर्ग ६)

परमात्माके ज्ञानकी महिमा, उसके स्वरूपका विवेचन, दृश्य-जगत्के अत्यन्ताभाव एवं ब्रह्मरूपताका निरूपण तथा आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये योगवासिष्ठ ही सर्वोत्तम शास्त्र है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिन परमात्मदेवकी चर्चा की गयी है, वे कहीं दूर नहीं रहते, सदा शरीरमें ही स्थित हैं और चिन्मय (चेतन)रूपसे विख्यात हैं। वे ही चिन्मय चन्द्रशेखर शिव हैं। वे ही चिन्मय गरुड़वाहन विष्णु हैं। वे ही चिन्मय सूर्य हैं तथा वे ही चिन्मय ब्रह्मा हैं। कार्य-कारणरूप इन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इस साधनपरायणके हृदयकी गाँठ (चिज्जडग्रन्थि) खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

श्रीराम ! जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब विषके वेगके शान्त होनेपर जैसे विषूचिका मिट जाती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दुःखोंकी परम्परा नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जिनका ज्ञान या साक्षात्कार होनेपर मन सम्पूर्ण मोह-महासागरके पार हो जायगा, उन परब्रह्म परमात्माका यथार्थ स्वरूप कैसा है ? इसका मेरे समक्ष वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिस ज्ञानरूपी महासागरमें नाश आदि विकारके बिना ही ज्यों-के-त्यों स्थित हुए इस संसारका अत्यन्त अभाव ही सिद्ध होता है, वही परमात्माका स्वरूप है। जो परम चिन्मय होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी अज्ञानी जनोंकी दृष्टिमें विशाल पाषाणकी भाँति स्थूलरूपसे स्थित प्रतीत होता है तथा अजड (चिन्मय) होता हुआ भी मूढ़ मनुष्योंके अन्तःकरणमें जडके तुल्य ही जान पड़ता है, वह परमात्माका स्वरूप है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुने ! परमात्मा सत् है, यह कैसे जाना जाता है ? तथा इतने बड़े इस जगत् नामक दृश्यको असत् कैसे समझा जाता है ? आप कहते हैं इसकी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है; यह बात कैसे समझमें आये ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे रूपहीन आकाशमें भ्रमवश नील, पीत आदि वर्णोंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्ममें यह जगत्-सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस भ्रमके अत्यन्ताभावके ज्ञानमें यदि पूरी दृढ़ता हो जाय, तभी ब्रह्मका स्वरूप ज्ञात होता है, दूसरे किसी कर्मसे नहीं। दृश्यके अत्यन्ताभावके सिवा दूसरी कोई शुभ गति नहीं है। ज्यों-के-त्यों स्थित हुए इस दृश्य-जगत्के अत्यन्ताभावका निश्चय हो जानेपर जो शेष रह जाता है, उसी परमार्थ वस्तुका बोध होता है। जिसका बोध होता है, वह परमात्मा उस जाननेवाले पुरुषका आत्मा ही हो जाता है। जबतक इस जगत् नामक दृश्यकी अपनी सत्ताका अत्यन्ताभाव अथवा मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो जाता, तबतक परम तत्त्वरूप परमात्माको कभी कोई जान नहीं सकता। असत् पदार्थकी सत्ता नहीं होती और सत् वस्तुका कभी अभाव नहीं होता। जो वस्तु स्वभावसे है ही नहीं, उसके निवारणमें—उसे मिथ्या समझकर त्याग देनेमें कौन-सी कठिनाई है ? यह जो विस्तृत जगत् दिखायी देता है, पहले उत्पन्न नहीं हुआ था। यह चिन्मात्र होनेके कारण निर्मल आत्मामें ही कल्पित है, अतः ब्रह्मरूप ही है। उससे अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं है। जगत् नामसे न यह कभी उत्पन्न हुआ, न है और न दिखायी ही देता है। जैसे सुवर्णमें कल्पित कटक-कुण्डल आदिका सुवर्ण-दृष्टिसे अभाव ही है, उसी प्रकार ब्रह्ममें कल्पित जगत्का ब्रह्मदृष्टिसे अभाव ही सिद्ध होता है। अतः इसके परिमार्जनमें—इसे असत् समझ लेनेमें क्या परिश्रम है ?

अब मैं बहुत-सी युक्तियोंद्वारा इस विषयका कुछ विस्तारके साथ इस तरह प्रतिपादन करूँगा, जिससे अबाधित (परमार्थ) तत्त्वका स्वयं ही अनुभव हो जाता है। जो पहले (सृष्टिके आरम्भमें) ही उत्पन्न नहीं हुआ, उसका यहाँ अस्तित्व कैसे हो सकता है। मरुभूमिमें जलपूर्ण नदीकी सत्ता कैसे सम्भव है। भ्रमसे प्रतीत होनेवाले द्वितीय चन्द्रमामें ग्रहभाव कैसे हो सकता है। जैसे वन्ध्याका पुत्र नहीं होता, जैसे मरुभूमिमें जलकी सरिता नहीं बहती और जैसे आकाशमें वृक्ष नहीं होता, उसी तरह जगत्-रूप भ्रमकी भी कहीं सत्ता नहीं है। श्रीराम ! यह जो कुछ दिखायी देता है, वह सब रोग-शोकसे रहित ब्रह्म ही है। इस विषयका मैं आगे चलकर केवल वाणीद्वारा ही नहीं, युक्तियोंसे भी प्रतिपादन करूँगा। उदारबुद्धि रघुनन्दन ! तत्त्वज्ञ पुरुष जिस विषयका युक्तियोंद्वारा वर्णन करते हैं, उसकी अवहेलना करना कदापि उचित नहीं है। जो मूढ़बुद्धि मानव युक्तियुक्त वस्तुका अनादर करके कष्टसाध्य (युक्तिशून्य) वस्तुमें आग्रह रखता है, उसे विद्वान् लोग अज्ञानी ही समझते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! यह किस युक्तिसे जाना जाता है कि यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है ? यह बात कैसे सिद्ध होती है ? यदि युक्तियोंद्वारा इस विषयका अनुभव हो जाय, तब तो फिर जाननेयोग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! यह मिथ्याज्ञान-रूपिणी विषूचिका चिरकालसे दृढमूल हो गयी है। इसीका नाम जगत् है और इसीको अविचार कहते हैं। यह ज्ञानके बिना निवृत्त नहीं होती। जो जिस पदार्थको पाना चाहता है और उसके लिये पूरा प्रयत्न करता है, वह उस पदार्थको अवश्य प्राप्त कर लेता है। परंतु यह बात तभी सम्भव होती है, जब वह बीचमें ही थककर या ऊबकर प्रयत्नसे मुँह न मोड़ ले।

श्रीरामजीने पूछा—शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गुरुदेव ! आत्मज्ञानकी प्राप्ति करानेके लिये कौन-सा शास्त्र मुख्य है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर मनुष्यको फिर कभी शोक नहीं होता ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते ! जिन शास्त्रोंमें मुख्यतः आत्मज्ञानका ही प्रतिपादन हुआ है, उनमें यह महारामायण नामक शास्त्र ही सबमें श्रेष्ठ और शुभ है। इस उत्तम इतिहासका श्रवण करनेसे बोध प्राप्त हो जाता है। इसे समस्त इतिहासोंका सार कहा गया है। इस वाङ्मय (शास्त्र) का श्रवण कर लेनेपर कभी क्षीण न होनेवाली जीवन्मुक्ति स्वयं ही प्रकट हो जाती है। इसलिये यही सबकी अपेक्षा अत्यन्त पावन है। जैसे स्वप्न आदिके रहते हुए ही यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान हो जानेपर उस स्वप्नके सच्चे होनेकी भावना नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार इस शास्त्रका विचार करनेसे जब यह समझमें आ जाता है कि सारा जगत् स्वप्नके समान मिथ्या है, तब यह दृश्य-जगत् ज्यों-का-त्यों स्थित रहकर भी ज्ञानीकी दृष्टिमें अस्तको प्राप्त हो जाता है। आत्मज्ञानके लिये अपेक्षित जो-जो युक्तियाँ इस शास्त्रमें हैं, वे ही दूसरे ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध होती हैं। इसीलिये विद्वान् पुरुष इस महारामायणको सम्पूर्ण विज्ञान-शास्त्ररूपी धनका कोष (खजाना) मानते हैं। जो पुरुष प्रतिदिन इस महारामायणका श्रवण करता है, उसमें उत्कृष्ट चमत्कार आ जाता है। उसकी बुद्धि अन्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे उत्पन्न हुए बोधकी अपेक्षा उत्तम बोधको प्राप्त कर लेती है, इसमें संशय नहीं। किसी दुष्कर्मके फलका उदय होनेके कारण जिसकी इस ग्रन्थके प्रति रुचि अथवा श्रद्धा नहीं है, जिसे यह शास्त्र नहीं रुचता, वह दूसरे किसी ज्ञानप्रधान सत्-शास्त्रका विचार करे (उससे हमारा कोई द्वेष नहीं है)। जैसे उत्तम औषधका पान करनेपर स्वयं ही नीरोगता प्राप्त हो जाती है, उसी तरह इस योगवासिष्ठ महारामायणका श्रवण कर लेनेपर जीवन्मुक्तिका स्वयं अनुभव होने लगता है। (सर्ग ७-८)

जीवन्मुक्तिका लक्षण, जगत्की असत्ता तथा ब्रह्मसे उसकी अभिन्नताका प्रतिपादन, परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिनके चित्त परमात्मचिन्तनमें लगे हुए हैं, जिनके प्राण उन्हींमें रम रहे हैं, जो परस्पर परमात्मतत्त्वका बोध कराते हुए सदा परमात्माकी ही चर्चा करते हैं, उसीसे ही संतुष्ट होते हैं और उसीमें निरन्तर रत रहते हैं, एकमात्र ज्ञानमें ही जिनकी निष्ठा है तथा जो सदा परमात्मज्ञानका ही विचार करते हैं, उन पुरुषोंको ही वह जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, जो देह-त्यागके अनन्तर विशुद्ध मुक्ति ही है।

शास्त्रानुकूल व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी दृष्टिमें ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह जगत् विलीन हो जाता है और आकाशके समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो व्यवहारमें लगा हुआ ही एकमात्र बोध-निष्ठाको प्राप्त हो, जाग्रत् अवस्थामें भी सुषुप्त-पुरुषकी भाँति राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकादिसे शून्य हो जाता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जिसके मुखकी कान्ति सुखमें उदित (अथवा वृद्धिको प्राप्त) नहीं होती तथा दु:खमें अस्त नहीं हो जाती और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे जो सन्तोषपूर्वक जीवननिर्वाह करता रहता है, वही जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो निर्विकार आत्मामें सुषुप्तकी भाँति स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूपिणी निद्राका निवारण हो जानेसे सदा जागता रहता है, जिसकी जाग्रत् अवस्था नहीं है (अर्थात् देह, इन्द्रिय आदिका बाध हो जानेसे जो इन्द्रियोंद्वारा पदार्थोंका उपभोग नहीं करता) और जिसका ज्ञान सर्वथा वासना-रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसमें अहंकारका भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्वके और न करते समय अकर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञानस्वरूप परमात्माके किंचित् उन्मेष और निमेषसे ही तीनों लोकोंकी प्रलय और उत्पत्ति देखता है तथा जिसका सबके प्रति अपने समान ही भाव है अर्थात् जो सबके प्रति आत्मभाव रखता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिससे लोगोंको उद्वेग नहीं होता और जिसको लोगोंसे उद्वेग नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष और भयसे रहित है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसकी संसारके प्रति सत्यता-बुद्धि नष्ट हो गयी है, जो दूसरोंकी दृष्टिमें अवयवोंसे युक्त होनेपर भी वास्तवमें अवयवरहित है तथा जो चित्तयुक्त होकर भी वस्तुतः चित्तसे शून्य है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्रीराम ! विदेहमुक्ति ही मुक्ति कहलाती है। इसीको ब्रह्म कहा गया है और इसीको निर्वाण कहते हैं। इसकी प्राप्ति कैसे होती है, यह बता रहा हूँ; सुनो। मैं, तुम, यह, वह इत्यादि रूपसे जो यह दृश्य-प्रपञ्च दिखायी देता है, यह यद्यपि सत्-रूपसे प्रतीत होता है, तथापि वन्ध्यापुत्रके समान इसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं—ऐसा निश्चय हो जानेपर यह मुक्ति प्राप्त होती है। जो अद्वितीय, शान्त, चिन्मय और आकाशके समान निर्मल है, वह ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है; क्योंकि सबमें सत्तामात्रका ही तो बोध होता है। रघुनन्दन ! मैंने सोनेके कड़ेमें बहुत विचार करनेपर भी विशुद्ध सुवर्णके सिवा कहीं कोई कड़ा नामकी वस्तु नहीं देखी। जलकी तरङ्गमें मैं जलके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं देखता; क्योंकि जहाँ वैसी तरङ्ग नहीं दिखायी देती, वहाँ भी जल ही है (अतः जहाँ तरङ्ग है, वहाँ भी जलके अतिरिक्त कुछ नहीं है) वायुके अतिरिक्त कभी कहीं भी स्पन्दन (गतिशीलता) नामकी कोई वस्तु नहीं है। स्पन्दन सदा वायुरूप ही है। अतः इन दृष्टान्तोंके अनुसार यह जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। जैसे आकाशमें शून्यता है, मरुभूमिमें ताप ही जल है और प्रकाशमें सदा तेज

स्थित है, उसी प्रकार ये तीनों लोक परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुने! जिस युक्तिसे इस दृश्य-जगत्के अत्यन्ताभावका बोध होकर मुक्तिका उदय हो, उस उत्तम युक्तिका आप मुझे उपदेश कीजिये। द्वैतका अभाव होनेपर ही निर्वाण सुलभ होता है, इसलिये जिस प्रकार इस दृश्य-जगत्की अत्यन्त असत्ता सिद्ध हो और इसके रूपमें स्वभावनिष्ठ ब्रह्म ही विराजमान है—यह बोध हो जाय, वैसा ही उपदेश मुझे दीजिये। महर्षे! किस युक्तिसे इस बातका ज्ञान होता है और कैसे यह बात सिद्ध होती है? इस ज्ञानके सिद्ध हो जानेपर तो फिर कुछ साध्य (कर्तव्य) शेष नहीं रह जायगा।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! यह मिथ्याज्ञान-रूपिणी विषूचिका चिरकालसे दृढमूल हो गयी है। निश्चय ही विचाररूपी मन्त्रसे इसका समूल नाश हो जाता है। सब प्रकारकी वस्तुओंसे युक्त तथा देवता, असुर और किंनर आदिसहित यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गमरूप सारा जगत् दिखायी देता है, वह महाप्रलय-कालमें असत् एवं अदृश्यरूप होकर न जाने कहाँ चला जाता और नष्ट हो जाता है। तदनन्तर नाम और रूपसे रहित, शान्त, गम्भीर एवं अनिर्वचनीय 'सत्' अवशिष्ट रहता है। वह न तो तेज है न फैला हुआ अन्धकार है; न शून्य है न आकारवान् है; न दृश्य है न दर्शन है और न भूतों तथा भौतिक पदार्थोंका समूह ही है। वह विलक्षण सद्वस्तु अनन्तरूपसे स्थित है। नाम-रूपसे रहित होनेके कारण ही उसके स्वरूपका विशेषरूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका स्वरूप पूर्णसे भी पूर्णतर है। वह दृश्य-शून्य, चिन्मात्र, असीम, अजर, शिव, आदि, मध्य और अन्तसे रहित, कारणशून्य तथा रोग-शोक आदिसे रहित है। उसके न कान हैं न जीभ, न नासिका है न त्वचा है और न नेत्र ही हैं; तथापि वह सदा सभी जगह सुनता है, रसका आस्वादन करता है, सूँघता है, स्पर्श करता है और देखता है। जिस प्रकाशसे पूर्वोक्त सदसत्-स्वरूप प्रपञ्च दिखायी देता है, वह चैतन्यमय प्रकाश भी वही है। विविध सृष्टियोंसे विचित्ररूप धारण करनेवाला भी वही है। आदि-अन्तसे शून्य स्वरूपको पाकर सर्वत्र प्रकाशित होनेवाला नित्य चेतन ब्रह्म भी वही है।

जो सामान्यतः तो सर्वत्र प्रकाशित होते हैं, परंतु अन्तःकरणमें विशेषरूपसे निरन्तर प्रकाशित होते हुए विद्यमान रहते हैं, जो चिन्मय दीप हैं तथा जिनके ही प्रकाशसे तीनों लोक प्रकाशित होते हैं, जिनके विना ये सूर्य आदि सारे प्रकाश अन्धकारके तुल्य हैं, जिनके रहनेपर ही त्रिभुवनरूपी मृग-तृष्णाकी प्रवृत्ति होती है (अर्थात् जैसे सूर्यकी किरणोंके प्रकाशित होनेपर ही उनमें मृग-तृष्णाके जलकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार जिन चिन्मय परमात्मामें ही त्रिलोकीरूपी भ्रमका उदय होता है), जगत्की सृष्टि और संहार जिनके विलास हैं, जो सबसे महान् और व्यापक हैं, स्पन्द और अस्पन्द (चल और अचल) जिनके स्वरूप हैं, जिनका स्वभाव निर्मल और अविनाशी है, वायुके समान जिनकी गतिशील और गतिहीन सर्वव्यापिनी सत्ता व्यवहारवश केवल नामसे ही भिन्न है, वास्तवमें भिन्न नहीं है, वही चिन्मय परमात्मा है।

जो सदा ही जगा हुआ है, सर्वदा ही सोया हुआ है तथा जो सर्वत्र और सदा ही न तो सोया है और न जगा ही हुआ है, जिसका स्पन्दरहित (निश्चल) रूप कल्याणस्वरूप और शान्त है, जिसका स्पन्दनशील स्वरूप ही तीनों लोकोंकी स्थिति है, स्पन्द और अस्पन्दका विलास ही जिसका स्वरूप है; जो अद्वितीय एवं परिपूर्णस्वरूप है, फूलोंमें सुगन्धकी भाँति सब पदार्थोंमें साररूपसे स्थित है, विनाशशील वस्तुओंमें भी अविनाशी रूपसे विद्यमान है, सम्पूर्ण वस्तुओंका प्रत्यक्ष करनेवाली वृत्तियोंमें प्रकाश-रूपसे स्थित होकर भी जो श्वेतवस्त्रमें स्थित श्वेतताकी भाँति अग्राह्य है, जो वाग् आदि इन्द्रियोंसे रहित होनेके कारण गूँगेके समान होता हुआ भी सबकी वाणीकी

प्रवृत्तिमें कारण होनेसे गूँगा नहीं है; जो मननरूप विकारसे रहित होनेके कारण पाषाणके समान होता हुआ भी मननशील है, नित्यतृप्त होता हुआ भी भोक्ता है और अकिंचन (क्रिया आदिसे रहित) होता हुआ भी कर्ता है; जो अङ्गरहित है तथापि सम्पूर्ण लोकोंके अङ्ग जिसके अपने ही अङ्ग हैं; जो सहस्रों भुजाओं और नेत्रोंसे युक्त है, अकिंचनरूपसे स्थित होनेपर भी जिसने सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है; जो इन्द्रिय-बलसे हीन है तो भी जिससे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापार होते रहते हैं; जो मननशून्य है तथापि जिससे ये मनोनिर्माणकी रीतियाँ प्रकट होती हैं; जिसका साक्षात्कार न होनेसे भ्रान्तिजनित संसाररूपी सर्पका भय बना रहता है तथा जिसका दर्शन (ज्ञान) हो जानेपर सारी आशाएँ और सम्पूर्ण भय सब ओर भाग जाते हैं; जैसे समुद्रसे छोटी छोटी लहरोंके समूहसे युक्त चञ्चल उत्ताल तरङ्गें प्रकट होती रहती हैं, उसी तरह जिससे घट-पट आदिके रूपमें सैकड़ों पदार्थोंकी श्रेणियाँ प्रादुर्भूत होती हैं; जैसे कड़े, बाजूबंद, बहूँटा और नूपुर आदिके रूपमें सुवर्ण ही अन्य-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार शत-शत घटादि पदार्थोंके भ्रमसे जो अन्य-सा भासित होता है; जैसे जलमें प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली तरङ्गमाला प्रकट होती रहती है, उसी प्रकार जिससे अन्य-सी, अतिरिक्त-सी, पहले-जैसे और नूतन-सी क्षणभङ्गुर दृश्यपरम्परा स्फुरित होती है, उसे चिन्मय परमात्मा ही समझो।

रघुनन्दन! तुम जिस रूपमें स्थित होकर क्रिया, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और चेतनको जानते हो, वह प्रमाता चेतन भी वही है और जिससे जानते हो, वह भी परमात्मदेव ही है। साधो! द्रष्टा, दर्शन और दृश्यके मध्यमें साक्षी-रूपसे जिसका दर्शन होता है, उसे तुम एकाग्रचित्त होकर अपना आत्मा ही समझो। श्रीराम! वह परब्रह्म परमात्मा अजन्मा, अजर, अनादि, सनातन, नित्य, कल्याणमय, निर्मल, अमोघ, सबका परम वन्दनीय, अनित्य, समस्त कलनाओंसे शून्य, कारणोंका भी कारण, अनुभव-रूप, अवेद्य, ज्ञानस्वरूप, विश्वरूप तथा अन्तर्यामी है।

(सर्ग ९)



जगत्की ब्रह्मसे अभिन्नता, परमार्थ-तत्त्वका लक्षण, महाप्रलयकालमें जगत्के अधिष्ठानका विचार तथा जगत्की ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह जगत् न तो कभी परब्रह्मसे उत्पन्न होता है और न उसमें लीन ही होता है। इस प्रकार केवल यह सद्ब्रह्म ही सदा अपने आपमें प्रतिष्ठित है। ब्रह्ममें जो शून्य-शब्दार्थकी कल्पना की गयी है अर्थात् उसे जो शून्य कहा गया है, वह अशून्यकी अपेक्षासे है। वास्तवमें वह अशून्यरूप (सत्) है। उसमें शून्यता और अशून्यताकी कल्पनाएँ कैसे सम्भव हैं। चेतन आकाशरूप इस ब्रह्मका प्रकाश केवल अपने अनुभवका ही विषय है। जो बुद्धि आदिके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित है, उसका वही अनुभव करता है, दूसरा नहीं (क्योंकि वह स्वानुभवैकवेद्य है)। निश्चल होनेके कारण सौम्य (शान्त) आकारवाले महासागरके जलमें जिस प्रकार बड़ी-बड़ी लहरें विद्यमान होती हैं, उसी प्रकार निराकार ब्रह्ममें उसीके समान यह विश्व स्थित है। पूर्णसे पूर्णका ही प्रसार होता है; जो पूर्णमें स्थित है, वह पूर्ण ही है। अतः विश्व कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है, वह तत्स्वरूप (ब्रह्मरूप) ही है। वह परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त अणुसे भी अधिक अणु, परम शुद्ध, सूक्ष्म, शान्त और आकाशके मध्यभागसे भी बढ़कर निर्मल है। दिशा, काल और परिमाणसे उसका स्वरूप सीमित नहीं है; अतएव वह अत्यन्त विस्तृत (सर्वव्यापक) है। उसका

आदि-अन्त नहीं है । वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दूसरे किसी प्रकाशसे प्रकाशित होने योग्य नहीं है ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! अनन्त चेतनस्वरूप उस परमात्मतत्त्वका कैसा रूप है—इस विषयको आप फिर मुझसे कहिये, जिससे उसका भलीभाँति बोध हो जाय ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! महाप्रलय होनेपर सम्पूर्ण कारणोंका भी कारण परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है । उसका वर्णन किया जाता है, सुनो । समाधिमें निरोधके द्वारा जब मनकी वृत्तियोंका क्षय हो जाता है, तब मनके अपने स्वरूपका नाश करके जो अनिर्वचनीय स्वप्रकाश सद्रूप अवशिष्ट रहता है, वही उस अनन्त चिन्मय परमार्थ-वस्तुका रूप है । जब दृश्य जगत् नहीं रहता और दृश्यके अभावसे द्रष्टा भी विलीन हुआ-सा प्रतीत होता है, उस समय जो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इस त्रिपुटीके लयका प्रकाशक साक्षीरूपसे अवशिष्ट रहता है, वह चिन्मय ब्रह्म ही उस परमार्थ-वस्तुका स्वरूप है । जीवस्वरूपा चित्-सत्ताका जो अचिन्तनीय चिन्मय निर्मल एवं शान्त स्वरूप है, वही उस परमार्थ वस्तु या परमात्माका रूप है । आकाशका जो रहस्य (व्यापकत्व) है, शिलाका जो तात्त्विक रूप घनत्व है तथा वायुका जो गूढ़ रूप अन्तर-बाहरमें परिपूर्ण होना है, वही उस चेत्य-भिन्न (दृश्यरहित) चेतन आकाशस्वरूप परमात्माका स्वरूप है वेदन (बुद्धि-वृत्ति) का, प्रकाश (पदार्थोंकी स्फुरणा) का, दृश्य (विषय) का और तम (अज्ञान)-का साक्षीभूत जो अनादि-अनन्त वेदन (ज्ञान) है, वही उस परमात्माका रूप है । ज्ञेय, ज्ञान, और ज्ञाता—सामने प्रतीत होनेवाली यह त्रिपुटी जहाँ उदित होती है, जिसमें स्थित रहती है और जिसमें ही लीन हो जाती है, वही उस परमात्माका परम दुर्लभ रूप है ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जो 'इदम्' रूपसे प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है और जिसका आप ब्रह्ममें अभाव कहते हैं, वह यह दृश्य-जगत् महाप्रलय होनेपर कहाँ स्थित होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे वन्ध्याके पुत्र और आकाशमें वन कभी नहीं होते, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण दृश्यजगत् तीनों कालोंमें कभी अस्तित्वमें नहीं आता । जगत् न कभी उत्पन्न हुआ है और न उसका कभी नाश ही होता है । जिसकी पहले सत्ता ही नहीं है, उसकी उत्पत्ति कैसी, और उसके विनाशकी चर्चा कैसी ?

श्रीरामजीने पूछा—वन्ध्यापुत्र और आकाश-वृक्षकी कल्पना तो की ही जाती है । वह कल्पना जैसे उत्पत्ति और विनाशसे युक्त है, उसी प्रकार यह जगत् भी जन्म और नाशसे युक्त क्यों नहीं होगा ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे सोनेके कड़ेमें सुस्पष्ट दिखायी देनेवाला यह कटकत्व वास्तवमें है नहीं, सुवर्ण ही उसके रूपमें भासित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है (जिसे हम जगत् कहते हैं, वह ब्रह्म ही है) । जैसे आकाशमें जो शून्यता है वह आकाशसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्ममें प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेपर भी यह जगत् उससे भिन्न नहीं है। जैसे कालिमा काजलसे भिन्न नहीं है और जैसे शीतलता बर्फसे पृथक् नहीं है, उसी तरह परमपद-परमात्मामें पृथक् प्रतीत होनेवाला जगत् नहीं है । जैसे शीतलता चन्द्रमासे और हिमसे अलग नहीं होती, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं है । जैसे मरुभूमिमें प्रतीत होनेवाली मृग-तृष्णाके नदीमें जल नहीं है तथा जैसे नेत्रदोषसे प्रतीत होनेवाले द्वितीय चन्द्रमामें चन्द्रत्व नहीं है, उसी प्रकार निर्मल परमात्मामें प्रत्यक्ष दीखनेपर भी जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है । स्वप्नमें—स्वप्न देखनेवाले पुरुषके अन्तः-करणमें जो स्वाप्निक जगत्की भ्रान्ति होती है, वह जैसे संवित् (ज्ञान) का विकासमात्र है, उसी तरह सृष्टिके

प्रारम्भिक कालमें ब्रह्ममें ही इस जगत्का विकास हुआ है। अतः यह उससे भिन्न नहीं है। जैसे द्रवत्व (तरलता) जलरूप ही है, स्पन्दन (कम्पन) वायुरूप ही है और जैसे आभास प्रकाशरूप ही है, उसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंमें प्रतीत होनेवाला जगत् ब्रह्मरूप ही है। जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुषके भीतरका चैतन्य ही ग्राम नगर आदि-जैसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार परमात्मामें उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही जगत्-सा भासित होता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यदि यह दृश्यरूपी विष उत्पन्न होकर भी स्वप्नगत जगत्के समान मिथ्या ही है, तो इसकी इतनी सुदृढ़ प्रतीति कैसे हो रही है—यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! यह जगत् सर्वात्मक (ब्रह्ममय) ही है, ब्रह्मसे भिन्न कदापि नहीं। जगत्-रूपमें जो इसकी प्रतीति होती है, वह सर्वथा असत् है। रघुनन्दन! यह प्रसिद्ध परमात्मा एक ही है। उसके विषयमें द्वितीय होनेकी कोई कल्पना नहीं है। उस अद्वितीय परमात्मामें यह जगत् जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, वह तुम्हें आगे चलकर बताऊँगा। प्रिय श्रीराम! उसीसे ये सारे दृश्य-पदार्थ विस्तारको प्राप्त हुए हैं। वह परमात्मा ही यह व्यष्टि और समष्टिरूप जगत् है। दृश्य वस्तुओंके दर्शन और मननीय वस्तुके मननके जो-जो प्रकार हैं, उनके रूपमें वह स्वयं ही उदित और विलीन होता रहता है—उसीके आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं।

(सर्ग १०-११)

ब्रह्ममें जगत्का अध्यारोप, जीव एवं जगत्के रूपमें ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे सुषुप्ति ही स्वप्नवत् प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म ही इस सृष्टिके रूपमें प्रतीतिका विषय हो रहा है। एक पुरुषकी वासना-मात्रका कार्य होनेसे स्वप्नकी घनी (सुदृढ़) प्रतीति नहीं होती; परंतु यह प्रपञ्च समष्टिकी वासनाका कार्य होनेके कारण इसकी सुदृढ़ एवं क्रमबद्ध प्रतीति होती है। सर्वात्मक ब्रह्म ही इस प्रपञ्चका अधिष्ठान है। असीम प्रकाशस्वरूप जो अनन्त चैतन्यमणि (ब्रह्म) है, उसका सत्तामात्र रूप ही यह सम्पूर्ण विश्व है।

पञ्चभूतोंकी जो तन्मात्राएँ हैं, वे ही जगत्का बीज हैं। पञ्चतन्मात्राओंका बीज आदिमाया शक्ति है, जिसका परमात्मासे व्यवधान-रहित (साक्षात्) सम्बन्ध है तथा वही जगत्की स्थितिमें हेतु है। इस प्रकार वह चिन्मय, अजन्मा एवं सबका आदिभूत परमात्मा ही मायाद्वारा जगत्का बीज होता है। मायाके हट जानेपर वही अपने विशुद्ध रूपसे सदा अनुभवमें आता है। इसलिये यह जगद्-वैभव चिन्मय परमात्मरूप ही है।

जैसे स्वप्नमें बिना बनाये ही नगर बन जाता है उसी प्रकार महाकाशरूपी महान् वनमें जगद्रूपी वृक्ष बारंबार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष अपने लिये नगरका निर्माण-सा कर लेता है, उसी प्रकार यह चेतन आत्मा भी पृथ्वी आदिकी सृष्टि कर लेता है। वास्तवमें उस समय भी वह अज चेतन आत्मा ही रहता है। जगत्का बीज हैं पञ्चतन्मात्राएँ और उनका बीज है अविनाशी चेतन आत्मा। जो बीज है, उसीको फल समझो (क्योंकि उपादान कारण और कार्यमें भेद नहीं है)। इसलिये सारा जगत् ब्रह्ममय ही है। जो स्वरूप कल्पित है, वह सत्य कैसे हो सकता है। यदि पञ्चभूतोंकी तन्मात्राएँ ब्रह्मस्वरूपा हैं तो उनके कार्यरूप स्थूल पाँच महाभूतोंको भी ब्रह्म ही समझो। इससे यह सिद्ध हुआ कि सदासे दृढमूल यह त्रिलोकी ब्रह्म ही है।

इस प्रकार यह जगत् न कभी उत्पन्न होता है न उत्पन्न हुआ दिखायी देता है। जैसे स्वप्न एवं मनोरथ-

द्वारा निर्मित पुर असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्माकाशरूपी परम व्योममय चिन्मय आत्मामें जीवाकाशत्व असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, अर्थात् उस ब्रह्ममय महाकाशसे अविभक्त होनेपर भी विभक्त-सा दीखता है । चिदात्मा परमेश्वरमें कल्पित समष्टि-जीवाकाश अत्यन्त विस्तृत होता हुआ भी 'मैं चिनगारोकी भाँति अत्यन्त सूक्ष्म तेजका कण हूँ' ऐसी भावना करनेसे वह अपनेको वैसा ही (अणुरूप ही) अनुभव करने लगता है । आकाशमें आत्मरूपसे जिस स्थूलताका चिन्तन करता है, भावनाद्वारा अपनेको वैसा ही स्थूल समझने लगता है । जैसे संकल्पसे कल्पित चन्द्रमा सत् नहीं है, वैसे ही भावनाद्वारा भावित वह रूप भी सत् नहीं है, तथापि सत्-सा प्रतीत होता है । जैसे स्वप्न देखनेवाला मनुष्य सपनेमें अपनेको पथिकके रूपमें देखता है, उसी प्रकार वह चित्तकी कल्पनासे अपनेमें लिङ्ग देह और भावी स्थूल शरीरकी प्रतीतिको भी धारण करता है । जैसे पर्वत बाहर स्थित होनेपर भी दर्पणके भीतर स्थित हुआ-सा प्रतीत होता है, जैसे कुएँके जलमें प्रतिबिम्बित हुआ शरीर वही व्यवहारकर्ता-सा जान पड़ता है, जैसे दूरतक सुनायी देने योग्य शब्द भी सम्पुट (गुफा आदि) में अवरुद्ध होकर उसके भीतर ही रह जाता है, बाहर नहीं फैलने पाता तथा जैसे स्वप्न और मनोरथविषयक संवित् देहके भीतर ही स्वप्न आदि देखती है—वे विषय बाहर होनेपर भी अपने बाह्य रूपको त्यागकर ही शरीरके भीतर अन्तःकरणमें भासित होते हैं, उसी प्रकार आगकी चिनगारीके समान अणु उपाधिमें स्वरूपतः कल्पित जो सूक्ष्मशरीर है, उसके भीतर स्थित हुआ यह जीवात्मा वासनामय देहादि-व्यवहारका अनुभव करता है ।

मनोमय शरीरवाला जीव अपने मनोमय देहाकाशमें ही स्थूलताकी भावना करके स्थूल-देहधारी हो गया है । वह अपनी कल्पनाके भीतर ही स्थित हुए ब्रह्माण्डका दर्शन करता है । मनोमय शरीरधारी जीव मनको ही आत्मा समझता है । उस आत्मभूत चित्तसे अपने संकल्पके अनुसार अपने ही लिये गर्भरूपी गृह, देश, काल, कर्म तथा द्रव्य आदिकी कल्पनाओंकी भावना करता हुआ नाम आदिका निर्माता बनकर वह आतिवाहिक देहधारी जीव अपने द्वारा कल्पित विभिन्न नामोंसे उन-उन पदार्थोंको और अपनेको भी असत्य जगत्-रूपी भ्रममें बाँधता है । जैसे मिथ्याभूत स्वप्नमें झूठे ही अपना उड़ना प्रतीत होता है, उसी प्रकार असत्य जगत्-रूपी भ्रममें ही यह जीवात्मा मिथ्या विकासको प्राप्त होता जान पड़ता है । वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है । इस ब्रह्माण्डरूपी भ्रमके उदित होनेपर भी इसमें कभी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ । उत्पन्न हुई कोई वस्तु दिखायी नहीं देती; केवल अनन्त, निर्मल ब्रह्माकाश ही सर्वत्र विद्यमान है । संकल्पद्वारा निर्मित नगरके समान यह दृश्य-प्रपञ्च सत्-सा प्रतीत होनेपर भी सत् नहीं है । स्वयं उदित हुआ यह प्रपञ्च उस चित्रके समान है, जिसका किसी चित्रकारने न तो निर्माण किया है और न उसमें रंग ही भरा है । यह बिना बनाये ही बनकर अनुभवमें आ रहा है और सत्य न होकर भी सत्य-सा स्थित है । महाकल्पके अन्तमें ब्रह्मा आदिके मुक्त हो जानेके कारण निश्चय ही वर्तमान कल्पके ब्रह्माको कोई पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं रह जाती, अतः वह स्मृति इस जगत्की उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकती । इसलिये वर्तमान कल्पमें जैसे ब्रह्मा संकल्पमय हैं, वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ यह जगत् भी संकल्पजन्य ही माना गया है । इस पृथ्वी आदिकी सृष्टिके विषयमें जो इस तरह साक्षीका अनादिकालका अनुभव है, उसीको यदि कारण माना जाय तो साक्षिवेद्य स्वप्नदृष्ट पृथ्वी आदि पदार्थ जैसे जागरण-अवस्थामें मिथ्या सिद्ध होते हैं उसी प्रकार अनादि साक्षीके संस्कारसे उत्पन्न जगत् भी मिथ्या ही सिद्ध होगा ।

जैसे जिस किसी भी देश या कालमें द्रवत्व जलसे

भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी देश या कालमें यह सृष्टि परमात्मासे भिन्न नहीं है। इस प्रकार यह सृष्टि भ्रमसे ही प्रौढ (सुदृढ या घनीभूत) प्रतीत होती है। वास्तवमें यह विभ्रमतारहित परमात्मा ही इसके रूपमें स्थित है। जो ब्रह्माण्ड प्रतीत होता है, वह अत्यन्त निर्मल चिन्मय ब्रह्म ही है (उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है)। इसी तरह यह दृश्य-जगत्, जो आत्मामें सर्वथा कल्पित भ्रमरूप है, शान्त, आधाररहित, आधेय-शून्य, अद्वैत तथा एकत्वके व्यवहारसे भी शून्य ब्रह्मरूप ही है। यद्यपि इस जगत् रूपी भ्रमकी प्रतीति होती है, तथापि उसके रूपमें कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई है। चारों ओरसे शून्य जो निर्मल चेतनाकाश (ब्रह्म) प्रतिष्ठित है, वही सदा सर्वत्र अपने स्वरूपसे स्थित है। उसमें न सम्पूर्ण संसार है, न उसका कोई आधार है, न आधेय है; न दृश्य है न उसमें द्रष्टापन है; न ब्रह्माण्ड है न ब्रह्मा है और न कहीं कोई वितण्डावाद ही है। न जगत् है न पृथ्वी है। यह सम्पूर्ण दृश्य शान्तस्वरूप निर्मल ब्रह्म ही है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा ही अपनेमें अपनेसे विकासको प्राप्त होता है।

जैसे तरल होनेके कारण जल ही अपनेमें आवर्त रूपसे प्रतीत होता है, उसी प्रकार चित्-रूप होनेके कारण आत्मा ही अपनेमें जगत्-सा प्रतीत होता है। जगत् इससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। असत् होता हुआ ही यह प्रतीतिका विषय होता और यहाँ सत्-सा अनुभवमें आता है। अन्तमें (महाप्रलयके समय) यह असत् होता हुआ ही नष्ट होता है। जैसे स्वप्नमें जो अपना मरण दिखायी देता है, वह जाग्रत्कालमें असत् ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार अज्ञान अवस्थामें प्रतीत होनेवाला यह दृश्य-प्रपञ्च ज्ञान होनेपर असत् ही सिद्ध होता है। (अथवा प्रलयकालमें जो इसका संहार होता है, वह स्वप्नावस्थामें प्रतीत होनेवाले अपने ही मरणके समान मिथ्या है।) अथवा ब्रह्मका अपना ही स्वरूप होनेके कारण यह दृश्य-प्रपञ्च सन्मात्र, अनामय, अखण्डित (परिपूर्ण), अनादि, अनन्त तथा चेतन आकाशरूप ब्रह्म ही है। (उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है।) (सर्ग १२-१३)



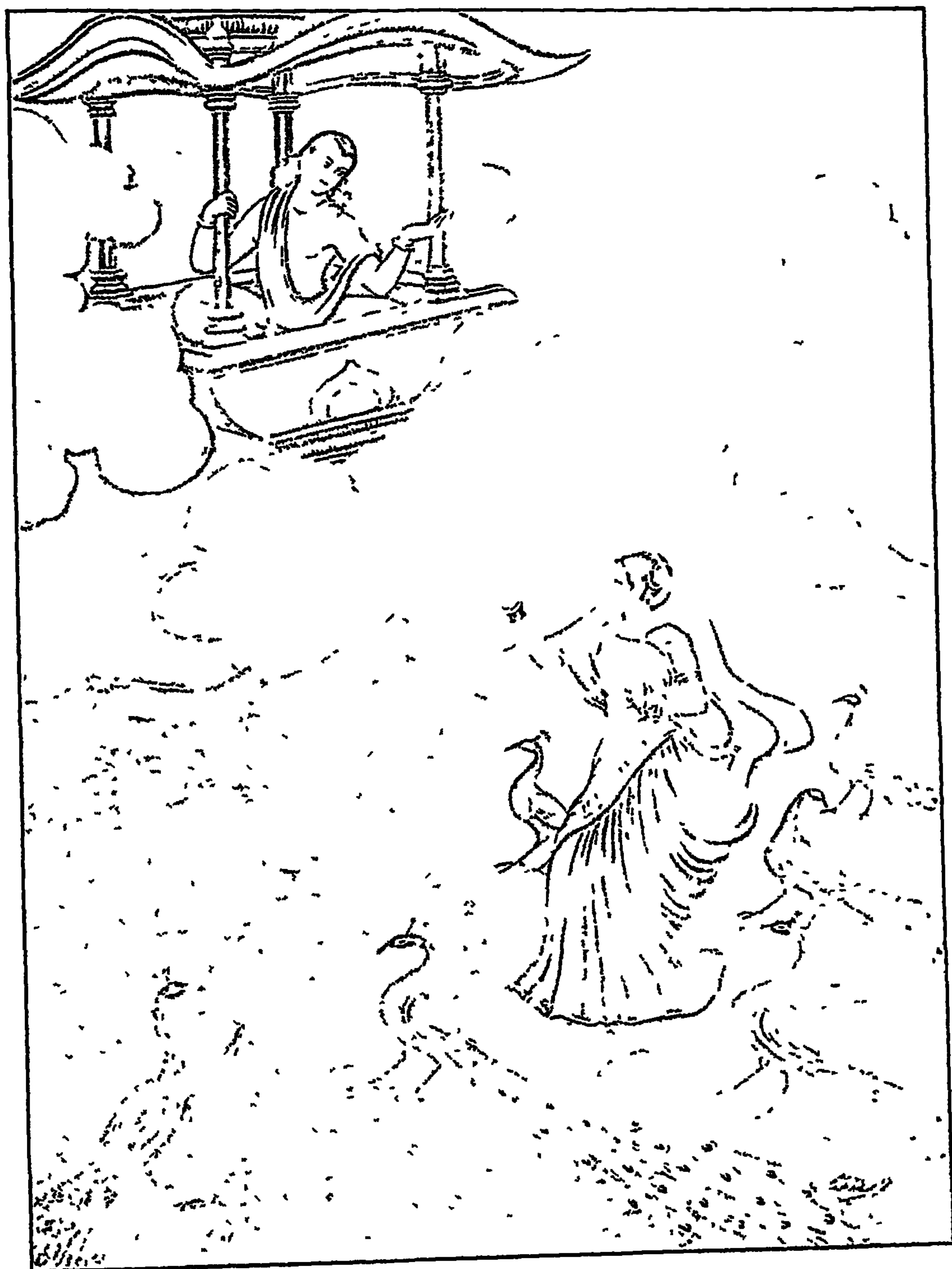
भेदके निराकरणपूर्वक एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन तथा जगत्की पृथक् सत्ताका खण्डन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार अहंता आदि दृश्यसमूहभूत जगत् वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। कभी उत्पन्न न होनेके कारण इसका अस्तित्व है ही नहीं और जिसका अस्तित्व है, वह तो परब्रह्म परमात्मा ही है। यदि स्वप्नमें दिखायी देनेवाला पर्वत अविनाशी हो तो यह जगत् उसीके समान अविनाशी है। यदि स्वप्नमें प्रतीत होनेवाला नगर स्थिर हो तो उसी तरह यह जगत् भी स्थिर है। (तात्पर्य यह कि जैसे वे अविनाशी और स्थिर नहीं हैं, वही दशा इस जगत्की भी है।) यदि चित्रकारका चित्त स्थिर हो और उसमें वासनामय स्थिर चित्र बने तो उस चित्रमें कल्पनाद्वारा अङ्कित सेनाके समान ही इस जगत्की आकृति है अर्थात् जैसे उस चित्रमें अङ्कित सेना अस्थिर एवं असत्य है, उसी तरह यह जगत् भी है। आदि-प्रजापतिका भी, जो स्वयंभू नामसे पहले-पहल विख्यात हुआ, कोई कारण नहीं है; क्योंकि उसके पूर्वजन्मके कर्म शेष नहीं हैं। महाप्रलय होनेपर पूर्वकालके सभी प्रजापति मुक्त हो जाते हैं, अतः उनमें पूर्वजन्मका कर्म कैसे रह सकता है। ब्रह्म ही सबसे प्रथम होनेवाला हिरण्यगर्भ है। वही विराट् है और विराट् ही सृष्टिस्वरूप है। इस तरह वह चिन्मय परमात्मा ही जीवाकाशरूपसे स्थित है, जिससे पृथ्वी आदि सत् प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। (तात्पर्य यह कि समस्त जगत् ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं।)

केवल एकमात्र शुद्ध चिद्घन निर्मल एवं सर्वव्यापक ब्रह्म ही सदा सर्वत्र विराजमान है। वह सर्वशक्तिमान् होनेसे जिन-जिन कौशलपूर्ण कल्पनाओंकी भावना करता है, उन्हें स्वयं ही प्राप्त करता है—स्वयं तद्रूप हो जाता है। जैसे हाथमें दीपक लेकर ढूँढ़ा जाय या देखा जाय तो अन्धकार अदृश्य हो जाता है, उसका कहीं पता नहीं लगता, उसी प्रकार ज्ञानका प्रकाश छा जानेपर अज्ञानरूपी अन्धकारका तत्त्व ज्ञात नहीं होता—उसका पता ही नहीं चलता। इसी प्रकार अखण्ड, व्यवधानशून्य, अनादि, अनन्त तथा सर्वशक्तिमान् जीवात्मा जो कभी बाधित न होनेवाले महाचैतन्यरूपी सारभूत अंशसे रूपवान् प्रतीत होता है, ब्रह्म ही है—उससे भिन्न नहीं है। वह ब्रह्म सब प्रकारसे महान् है—देश, काल और परिणामसे परिच्छिन्न नहीं है। इसलिये कहीं उसमें भेद-की कल्पना नहीं है और जो भेदकी कल्पना होती है, वह भी ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं; क्योंकि सर्वत्र ऐसा ही अनुभव होता है। चेतनकी जो यह आकाशसे भी सूक्ष्म शक्ति सब ओर फैली है, वह स्वभावसे ही पहले इस अहंता (अहंकार) का दर्शन (अनुसंधान) करती है। जैसे जल अपने आपमें स्वयं ही बुद्बुद और तरङ्ग आदिके रूपमें स्फुरित होता है, उसी प्रकार जब आत्मा अपने आपमें स्वयं ही स्फुरणशील होता है, तब उस चेतन आत्माकी यह चिच्छक्ति उस सूक्ष्म अहंताका दर्शन (अनुसंधान) करती है, जो उत्तरोत्तर स्थूलताको प्राप्त होती हुई अन्तमें ब्रह्माण्डका आकार धारण कर लेती है। चेतनकी चमत्कारकारिणी जो चितिशक्ति है, वह स्वयं अपने आपमें जिस सुन्दर चमत्कारकी सृष्टि करती है, उसीका नाम जगत् रख दिया गया है। रघुनन्दन! चेत्य (दृश्य) भूत जो अहंकार है, उसकी कल्पना चैतन्यके अधीन है अर्थात् चैतन्यकी ही वह कल्पना है। तथा तन्मात्रा आदि जो जगत् है, उसकी कल्पना अहंकारके अधीन है, इस प्रकार अहंकार और जगत् चैतन्यरूप ही हैं। फिर उस चैतन्यमें द्वैत और अद्वैत कहाँ रहे।

ईहा अर्थात् मनकी चेष्टा (संकल्प)-रूप जो सारा सूक्ष्म जगत् है, वह शून्य ही है तथा इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देवताओंका निवासभूत जो साकार एवं स्थूल विश्व है, वह भी शून्य ही है; क्योंकि दोनों ही चैतन्य-के चमत्काररूप (चैतन्य ही) हैं। इसलिये वे चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं। जो वस्तु जिस वस्तुका विलास होती है, वह उससे कभी भी भिन्न नहीं होती। अवयवयुक्त जल आदिके विलासभूत तरङ्ग आदिमें भी ऐसा देखा गया है। फिर अवयवरहित चेतनके विलासमें अभिन्नता हो, इसके लिये तो कहना ही क्या है। सदा अचेत्य (अदृश्य अथवा रूपसे रहित), नामरहित और सर्वव्यापक चैतन्यशक्तिका जो रूप है, उससे स्फूर्ति प्राप्त करनेवाले जगत्का भी वही रूप है। (चैतन्यकी ही जो भिन्न-भिन्न आकारमें स्फुरणाएँ होती हैं, वे ही जगत् कही गयी हैं; अतः यह जगत् उस चैतन्यशक्ति या चेतन आत्मासे भिन्न नहीं है।) श्रीराम! चेतन आत्माका जो चैतन्य है, उसीको जगत् समझो। वह चैतन्य जगत्से पृथक् नहीं है। यदि चैतन्यको जगद्भावसे रहित या भिन्न माना जाय तो चित् चित् नहीं रह जायगा—चेतनको चेतन नहीं कहा जा सकेगा। (क्योंकि अपने धर्म या स्वरूपभूत जगत्को चेतित—प्रकाशित करनेके कारण ही उसको 'चित्' या 'चेतन' कहते हैं।) अतः चेतनसे जगत्का प्रतीतिमात्रसे ही भेद है, वास्तवमें भेद नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें जगत्की पृथक् सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है।

चैतन्यप्रधान अहंकार कर्ता है और स्पन्दप्रधान (हिलना-चलना आदि चेष्टामय) प्राण कर्म (क्रिया) है। इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्ताका अपनी क्रियासे भेद नहीं देखा जाता। चित्का स्पन्दनमात्र ही क्रिया (प्राण) है, उससे संयुक्त पुरुष ही 'जीव' कहा गया



सुरुचि और देवदूत (वैराग्य-प्रकरण सर्ग १)

है। इस प्रकार जीव और जगत्‌में भी भेद नहीं है।) कार्य-कारण आदि भावरूप चेतन जगत् आत्मासे भिन्न नहीं है। वह चैतन्य प्रकाशकी एक झलकमात्र है। अतः जहाँ सब भेदोंका लय हो गया है, वह परमात्मा ही जगत् है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार तत्त्वज्ञान हो जानेपर यह निश्चय हो जाता है कि मैं अच्छेद्य हूँ (कोई शस्त्र मुझे काट नहीं सकता), मैं अदाह्य हूँ (मुझे आग जला नहीं सकती), मैं अशोष्य हूँ (हवा मुझे सुखा नहीं सकती) तथा मैं नित्य सर्वव्यापी, सुस्थिर और अचल हूँ। जैसे अपने भ्रमसे औरोंको भ्रममें डालते हुए विवादशील मनुष्य परस्पर विवाद करते हैं, उसी प्रकार जो अज्ञानी हैं, वे ही इस परमात्मतत्त्वके विषयमें वाद-विवाद करते हैं। हमलोग तो भ्रमरहित हो गये हैं। अतः हमारे लिये विवादका अवसर ही नहीं है। अज्ञानी लोगोंने जिसकी सत्ताको दृढ़तापूर्वक मान रक्खा है, वह दृश्य जगत् उनकी दृष्टिमें मूर्त एवं सत्य है; अतः उन्हींकी भावनाके अनुसार उसमें पृथक् विकार आदि हो सकते हैं। परंतु आत्मज्ञानीकी दृष्टिसे जो निराकार, असत्य एवं चिन्मय आकाशरूप है, उसमें आत्मासे पृथक् विकार आदिकी प्रतीति कैसे सम्भव है।

चेतन आत्मा स्वयं अपने स्वरूपमें किसी प्रकारका विकार न आने देकर विचित्र आकाशके रूपमें आविर्भूत होता है। तत्पश्चात् वह चेतन स्वयं ही आकाशजनित वायु होकर विलक्षण स्पन्दन (कम्पन) के साथ प्रकट होता है। इसके बाद (जिसकी उत्पत्तिकी चर्चा अभी की जायगी, उस तेजस्तत्त्वके रूपमें प्रादुर्भूत हुआ) चेतन स्वयं जलतत्त्व बनकर विचित्र विकासको प्राप्त होता है। वह जल धरती खोदकर निकाले गये कूप, तड़ाग आदिके जलसे भिन्न होता है (क्योंकि पृथ्वीकी सृष्टिसे पहले उसका उस कूप आदिसे सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है)। जलतत्त्वकी सृष्टिके बाद वह चेतन स्वयं ही सुवर्ण, रजत आदि विचित्र धातुओंसे पूर्ण पृथ्वी-तत्त्वको—देवता, असुर एवं मनुष्य आदिके शरीरभावको भी प्राप्त हुआ।

सदा उदित रहनेवाला चेतनरूपी चन्द्रमा स्वयं ही अपने विचित्र रसोल्लाससे युक्त चाँदनी और महान् चिन्मय प्रकाश बनकर प्रकट हुआ। अपने चैतन्यस्वरूपके ज्ञानके आलोकसे दृश्य-प्रपञ्चरूपी अज्ञानान्धकारके नष्ट हो जानेपर वह चेतन आत्मारूपी चन्द्रमा स्वयं ही पूर्णताको प्राप्त होकर उदित एवं प्रकाशित होता है और स्वयं ही जडतावश स्थावर आदि पदार्थोंमें अहंभाव करनेसे सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है। चिन्मय महाकाशरूप ब्रह्म स्वयं ही *अविचार-दशामें स्पन्दनशील प्राण आदिमें आत्म*-भावकी कल्पना करनेपर स्पन्दी अर्थात् संसारी हो जाता है। फिर विचार करनेसे 'मैं चेतन ही हूँ' इस प्रकार जब चैतन्य ज्ञानका उदय होता है, तब वह पुनः पूर्ववत् अपने स्वरूपभूत चैतन्यमें ही प्रतिष्ठित होता है। यह जगत् चेतनरूपी तेजका प्रकाश है। अतः ब्रह्मदृष्टिसे तो यह ब्रह्मस्वरूप है, किंतु जगत्-दृष्टिसे यह सर्वथा अस्तित्व-शून्य है। जगत् चेतनरूपी एकमात्र आकाशकी शून्यता है। ब्रह्मरूपसे यह सत् है और जगत्-रूपसे असत्। जगत् चेतनरूपी आलोकका महान् रूप है। ब्रह्मदृष्टिसे वह सत् है और उससे भिन्न रूपमें उसकी सत्ताका सर्वथा अभाव है। जगत् चेतनरूपी वायुका स्पन्दनमात्र है। यह जगन्मयी रेखा चेतनरूपी अग्निकी उष्णता है (जैसे अग्निका उष्णतासे भेद नहीं है, उसी प्रकार चेतनका जगत्से)। यह जगत् चेतनरूपी जलका द्रवत्व (तरलता है, चिन्मय इक्षुदण्डका माधुर्य है, चैतन्यरूप हिमकी शीतलता है, चेतनरूपी ज्वालाकी लपट है, चैतन्यमयी सरिताकी तरङ्ग है और चेतनरूपी सुवर्णका बना हुआ कङ्कण है, चेतनकी सत्ता ही इस जगत्की सत्ता है। जैसे आकाशमें मल नहीं है—वह सर्वथा निर्मल है उसी प्रकार चेतन परमात्मामें भेद और विकार आदि नहीं हैं—वह सर्वथा अखण्ड एवं निर्विकार है।

इस प्रकार ये तीनों लोक सत् आत्माका स्वरूपभूत होनेसे सत् है, अन्यथा इनका कोई अस्तित्व नहीं है ।

चिन्मय परमात्मामें अवयव और अवयवी—इन दोनों शब्दोंके अर्थ खरगोशके सींगकी भाँति असत् हैं । सम्पूर्ण पदार्थ-समूहोंके अधिष्ठानभूत चेतन आकाशमय परमात्मामें इस भूताकाशजनित वायु आदि जगत्‌रूपी मलकी प्रतीति होती है; परंतु जब असङ्ग भूताकाशसे ही उसके कार्यभूत वायु आदिका सम्बन्ध नहीं है, तब चेतन महाकाशस्वरूप परमात्मामें इस प्रपञ्चकी सत्ता, असत्ता तथा तू, मैं आदि भावोंके सम्बन्ध कैसे हो सकते हैं ? संसारमें जितने कार्य हैं, उन सबके समस्त कारण-समूहोंका आदिकारण ब्रह्म है । चित्तसे उत्पन्न मनोरथजनित सारे संकल्प-विकल्प असत् होते हैं, अतः चित्त स्वभावसे ही किसीका कारण नहीं है । वह अकारणरूप ही है और वही ब्रह्म है । यदि हम कहें कि 'चेत्य जगत्‌के असत् होनेपर चेतन भी असत् हो जायगा; क्योंकि वह अपने स्वरूपभूत चेत्यसे पृथक् नहीं है', तो यह ठीक नहीं । चेतनकी असत्ता तो वाणीमात्रसे भी सिद्ध नहीं की जा सकती; क्योंकि चेतन आत्मा अनुभवसे सिद्ध है । जो है, उसका अवश्य उदय होता है, जैसे बीजसे अङ्कुरका । यह बात प्रत्यक्ष देखी गयी है । (अतः यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि परमात्माकी सत्तासे ही जगत्‌की सत्ता है, स्वतन्त्र नहीं ।)

महर्षि वसिष्ठ जब इतनी बात कह चुके, तब दिन बीत गया । सूर्य अस्ताचलको चले गये । मुनियोंकी वह सभा सायंकालिक नित्यकर्म करनेके लिये स्नान करनेके उद्देश्यसे महर्षिको नमस्कार करके उठ गयी । फिर जब रात बीती, तब प्रातःकालके सूर्यकी किरणोंके साथ-साथ वह मुनिमण्डली पुनः सभाभवनमें आकर बैठ गयी । (सर्ग १४)

जगत्‌के अत्यन्ताभावका प्रतिपादन, मण्डपोपाख्यानका आरम्भ, राजा पद्म तथा रानी लीलाका परस्पर अनुराग, लीलाका सरस्वतीकी आराधना करके वर पाना और रणभूमिमें पतिके मारे जानेसे अत्यन्त व्याकुल होना

जैसे समुद्रके भीतर जलके स्पन्द (हलन-चलन आदि) जलके स्वभावसे च्युत हुए बिना ही लहरोंके वेगके रूपमें प्रकट होते हैं, उसी प्रकार चेतन परमात्मामें दृश्यजगत्‌की प्रतीतियाँ होती रहती हैं । जैसे स्वप्न और संकल्प (मनोरथ) में प्रतीत होनेवाले घट-पट आदि पदार्थ अनुभवमें आनेपर भी वास्तवमें हैं नहीं, उसी प्रकार चेतनाकाशरूपी परब्रह्म परमात्मामें दृष्टिगोचर होनेवाले ये पृथ्वी आदि जगत् इन्द्रियोंके अनुभवमें आनेपर भी वास्तवमें हैं नहीं । जैसे मरुभूमि सूर्यकी किरणोंके अन्तर्गत दीखनेवाली जलकी नदी (मृगतृष्णा) में कहीं भी जलका होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार इस विज्ञानाकाशस्वरूप जगत्‌में मूर्तरूप होना कदापि सम्भव नहीं है । जिसमें मूर्त रूपका ग्रहण नहीं होता तथा जो सङ्कल्पकल्पित नगरके समान मिथ्या है, उस जगत्‌में जो दृश्यताकी प्रतीति होती है, वह मरुमरीचिकामें दृष्टिगोचर होनेवाली नदीके समान भ्रान्तिरूप ही है । इस जगत्‌का जो दर्शनीय-सा दृश्य-वैभव है, उसे साक्षिभूत चैतन्यमयी तराजूके एक पलड़ेमें रक्खा जाय और दूसरी ओर स्वप्नको रखकर सार और असारका विवेचन करनेवाली बुद्धिरूप काँटेसे यदि तौला जाय तो वह दृश्य-वैभव स्वप्नकी भाँति कलनारहित (असत्य) होकर आकाशकी भाँति शून्यरूप अथवा चेतनाकाशमय ब्रह्मरूपमें ही स्थित होता है ।

अज्ञानियोंकी जो समझ है, उसीमें 'जगत्' शब्दका ब्रह्मसे भिन्न अर्थ भासित होता है । वास्तवमें जगत्,

ब्रह्म और स्व (आत्मा)—इन शब्दोंके अर्थमें कोई भेद है ही नहीं। इसलिये यहाँ जगत् आदि कोई भी दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ है। नाम और रूपसे रहित चेतन ब्रह्म ही ज्यों-का-त्यों (निर्विकार भावसे विराजमान है। इस रीतिसे मायामय महाकाशमें स्थित यह जगत् आवरणशून्य चेतन आकाशरूप परमात्मा ही है। इस विषयमें मण्डपाख्यान सुनाया जाता है, जो कानोंके लिये आभूषणरूप है। तुम ध्यान देकर इसे सुनो।



पूर्वकालमें इस भूतलपर पद्म नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो अपने कुलरूपी सरोवरमें प्रफुल्ल कमलके समान शोभा पाते थे। वे राजलक्ष्मीसे सम्पन्न और अनेक पुत्रोंसे युक्त होते हुए भी विवेकशील थे। वे मर्यादाका पालन करनेमें समुद्र और दोषरूपी तिनकोंको जला डालनेके लिये अग्निके समान थे। जैसे मेरुपर्वत देवताओंका आश्रम है, वैसे ही वे विद्वानोंके समुदायको आश्रय देनेवाले थे। जैसे पूर्ण चन्द्रमाके उदयसे महासागर उल्लसित हो उठता है, उसी प्रकार उनके सुयशके विस्तारसे संसारका आनन्द-वर्धन होता था। वे सद्गुणरूपी हंसोंके लिये मानसरोवर थे। संग्राम-भूमिमें शत्रुरूपी झाड़ियोंको कम्पित कर देनेके लिये प्रचण्ड पवन थे। मनरूपी मतवाले हाथीको वशमें करनेके लिये सिंह थे। समस्त विद्यारूपी वनिताओंके प्राणवल्लभ और सम्पूर्ण आश्चर्यमय गुणोंकी खान थे। देवद्रोही दैत्योंके सैन्य-समुद्रको मथ डालनेके लिये शोभाशाली मन्दराचल थे। भगवान् विष्णुके समान साहस और उत्साहसे सम्पन्न थे। सौजन्यरूपी कुमुदिनीके विकासके लिये शीतरश्मि चन्द्रमा थे तथा दुराचाररूपी विषकी बेलोंको भस्म करनेके लिये धधकती हुई आग थे।

राजा पद्मकी पत्नीका नाम था लीला। वह बड़ी सुन्दरी तथा सब प्रकारके सौभाग्यसे सम्पन्न थी। लीला इस भूतलपर प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पाती थी। पति-सेवाके जितने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण होनेके कारण उसकी मनोरमता बढ़ गयी थी (अथवा सबके अनुकूल बर्ताव करनेके कारण वह सभीको प्रिय एवं मनोहर जान पड़ती थी)। वह सदा मीठे वचन बोला करती थी और आनन्दमग्न होकर मन्द-मन्द गतिसे चलती थी। जब वह मुस्कराती, उस समय ऐसा लगता, मानो दूसरे चन्द्रमाका उदय हो गया है। उसके अङ्ग गौर वर्णके थे। पतिकी प्राणवल्लभा लीला राजाके खिन्न होनेपर खिन्न हो उठती थी, उनके प्रसन्न होनेपर आनन्दमग्न हो जाती थी और जब वे किसी चिन्तासे व्याकुल होते, तब वह भी चिन्ताके कारण घबरा उठती थी। इस प्रकार सारी बातोंमें तो वह पतिके प्रतिबिम्बकी भाँति उनका अनुकरण एवं अनुसरण करती थी; परंतु उनके कुपित

होनेपर वह केवल भयभीत होती थी (क्रोध नहीं करती थी)।

रघुनन्दन ! लीला अपने पतिकी अनन्यप्रिया—एकमात्र वल्लभा थी अथवा उसका अपने पतिमें अनन्य अनुराग था। ऐसी भार्याके पति महाराज पद्मने भूतलकी अप्सरा-सी मनोहर अपनी उस प्रेयसीके साथ स्वाभाविक प्रेम-रसका आस्वादन करते हुए विहार किया। इस प्रकार सुखमें पली हुई राजाकी प्रणयिनी और प्रियतमा, सुन्दर भौंहों और शुभ संकल्पसे सुशोभित होनेवाली लीलाने एक दिन मन-ही-मन विचार किया कि 'ये मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पतिदेव पृथ्वीनाथ महाराज, जो जवानीके उल्लाससे परिपूर्ण और परम कान्तिमान् हैं, किस उपायसे अजर-अमर हो सकते हैं ? मैं तप, जप और यम-नियम आदि चेष्टाओंसे ऐसा प्रयत्न करूँ, जिससे ये चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले राजा अजर-अमर हो जायँ। पहले मैं ज्ञान, तपस्या और विद्यामें बढ़े-चढ़े ब्राह्मणोंसे पूछती हूँ कि कौन-सा ऐसा उपाय



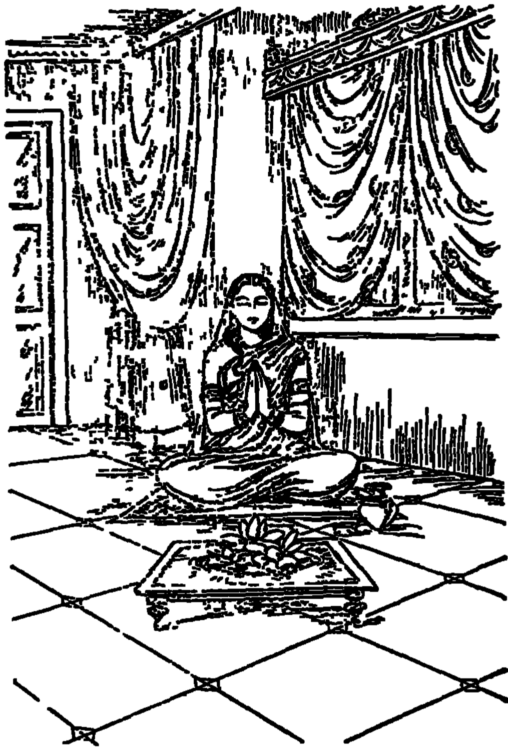
है, जिससे मनुष्योंकी मृत्यु न हो।' ऐसा विचार करके उसने पूर्वोक्त गुणवाले ब्राह्मणोंको बुलवाया और उनकी पूजा करके नतमस्तक हो बारंबार पूछा—'विप्रगण ! (मुझे और मेरे पतिको) अमरत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ?'

ब्राह्मण बोले—देवि ! तप, जप और यम-नियमोंका पालन करनेसे सिद्धोंकी समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं; परंतु उनसे अमरत्व कदापि नहीं मिल सकता।

ब्राह्मणोंके मुखसे यह बात सुनकर अपने प्रियतमके भावी वियोगसे भयभीत हो लीलाने अपनी बुद्धिसे ही फिर तत्काल इस प्रकार सोचना आरम्भ किया—'यदि दैववश पतिके सामने मेरी मृत्यु हो गयी, तब तो मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे छूटकर परमात्मामें सुखपूर्वक स्थित हो जाऊँगी; किंतु यदि एक सहस्र वर्षके बाद पहले मेरे पति ही चल बसे तो मैं ऐसा यत्न करूँगी, जिससे उनका जीव घरसे बाहर न जा सकेगा। फिर तो मैं अपने अन्तःपुरके मण्डपमें, जहाँ मेरे पतिदेवका जीव विचर रहा होगा, पतिके दृष्टिपथमें रहकर सदा सुखपूर्वक निवास करूँगी। अपने संकल्पकी सिद्धिके लिये मैं आजसे ही जप, उपवास और नियमोंद्वारा ज्ञानमयी सरस्वती देवीकी तबतक आराधना करती रहूँगी, जबतक कि वे पूर्णरूपसे संतुष्ट न हो जायँ।'

ऐसा निश्चय करके उस श्रेष्ठ नारीने अपने स्वामीको बताये बिना ही नियमपरायण हो शास्त्रीय विधिके अनुसार उग्र तपस्या आरम्भ कर दी। तीन-तीन रात बीत जानेपर वह भोजन करती और देवता, ब्राह्मण, गुरु, ज्ञानी एवं विद्वानोंकी पूजामें तत्पर रहती थी। वह अपने शरीरको सदा स्नान, दान, तप और ध्यानमें लगाये रखती थी। सम्पूर्ण शास्त्रीय कर्मोंका फल अवश्य मिलता है, ऐसी आस्तिकतापूर्ण बुद्धिसे युक्त हो वह सदाचारका पालन करती और पतिके क्लेशोंका निवारण

करनेमें दत्तचित्त रहती थी। उन दिनों भी वह पहलेकी ही भाँति ठीक समयपर पूरी चेष्टा और लगनके साथ शास्त्रोक्त रीतिसे क्रमशः पतिकी सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें संतुष्ट रखती थी। अतः अपनी वर्तमान स्थितिका उसने पतिको पता नहीं लगने दिया। इस तरह नियम-पालनसे सुशोभित होनेवाली उस भोली-भाली लीलाने लगातार तीन सौ रातोंतक कष्टप्रद चेष्टाओंके द्वारा तपस्याका निर्वाह किया। सौ त्रिरात्र व्रतोंकी



पूर्ति हो जानेपर उसके द्वारा पूजित और सम्मानित हो गौरवर्णा भगवती वागीश्वरी सरस्वती संतुष्ट हो उसके सामने प्रकट हुई और बोलीं।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—बेटी! तुमने जो निरन्तर तपस्या की है, वह तुम्हारी पति-भक्तिके कारण अधिक उत्कर्षशालिनी हो गयी है। उससे मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हुई हूँ। अतः तुम मुझसे कोई मनोवाञ्छित वर ग्रहण करो।

रानी बोली—देवि! आप जन्म और जरारूपी अग्निकी ज्वालाओंसे उत्पन्न दाहरूपी दोषका शमन करनेके लिये चन्द्रमाकी प्रभाके समान हैं, आपकी जय हो। आप हृदयको अज्ञानान्धकार-राशिका निवारण करनेके लिये सूर्यदेवकी प्रभाके तुल्य हैं, आपकी जय हो। अम्ब! मातः! जगदम्बिके! इस दीन सेविकाका आप संकटसे उद्धार करें। शुभे! मैं आपसे जो दो वर माँगती हूँ, उन्हें मुझे देनेकी कृपा कीजिये। उनमें पहला वर तो यह है कि जब मेरे पतिदेवका शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इस अन्तःपुरके मण्डपसे बाहर न जाय। और महादेवि! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि जब-जब मैं आपसे वर पानेके उद्देश्यसे दर्शन देनेकी प्रार्थना करूँ तब-तब आप मुझे अवश्य दर्शन दें।

लीलाकी यह बात सुनकर जगन्माता सरस्वतीने कहा—'बेटी! तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो।' यह कहकर वे स्वयं वहाँसे अदृश्य हो गयीं—ठीक वैसे ही जैसे महासागरमें लहर उठकर स्वयं ही शान्त हो जाती है। तदनन्तर जिसकी इष्टदेवी संतुष्ट हो गयी थीं, वह राजरानी लीला संगीत सुनकर मस्त हुई मृगीके समान आनन्दमें मग्न हो गयी। इसके बाद पक्ष जिसके नेमिगोलक, मास जिसके मध्यगोलक तथा ऋतु जिसके नाभिगोलक हैं, दिन जिसके अरे हैं, वर्ष जिसका अक्षदण्ड (धुरा) है और क्षण जिसके नाभिका छेद है, ऐसे गतिशील कालचक्रके चलते रहनेसे लीलाके पतिकी चेतना सूखे पत्तेके रसकी भाँति देखने-ही-देखते शरीरमें सहसा अदृश्य हो गयी।



बात यह हुई कि किसी शत्रुने आक्रमण किया और युद्धमें घायल होकर उनका शरीर धराशायी हो गया। (वे अन्तःपुरमें लाये गये और वहीं मर गये।) इस प्रकार राजाकी मृत्यु हो जानेपर लीला अन्तःपुरके मण्डपमें जलशून्य कमलिनीकी भाँति मुरझा गयी—उसका मुख मलिन हो गया। विषतुल्य उस निःश्वाससे उसका सारा अधर-पल्लव सूख गया। वह बेचारी बाणसे बिंधी हुई हरिणीके समान छटपटाती हुई मृत्यु-तुल्य अवस्थाको पहुँच गयी। तत्पश्चात् जलाशयके सूख जानेसे व्याकुल हुई मछलीके ऊपर जैसे आषाढ़की पहली वर्षा अनुकम्पा करती है, उसी प्रकार पतिके वियोगसे अत्यन्त विह्वल हुई लीलाके ऊपर दयामयी सरस्वतीने आकाशवाणीके रूपमें कृपा की। (सर्ग १५–१६)

सरस्वतीकी आज्ञासे पतिके शवको फूलोंके ढेरमें रखकर समाधिस्थित हुई लीलाका पतिके वासनामय स्वरूप एवं राजवैभवको देखना तथा समाधिसे उठकर पुनः राजसभामें सभासदोंका दर्शन करना



श्रीसरस्वतीजीने कहा—बेटी! अपने पतिके शवको तुम फूलोंके ढेरमें छिपाकर रक्खो। ऐसा करनेसे तुम फिर अपने इस पतिको प्राप्त कर लोगी। न तो ये फूल मुरझायेंगे और न तुम्हारे पतिका यह शव ही सड़-गलकर नष्ट होने पायेगा। फिर थोड़े ही दिनोंमें यह शव पुनः जीवित होकर तुम्हारे पतिका उत्तरदायित्व सँभालेगा। इसका जीव जो आकाशके समान निर्मल है तुम्हारे इस अन्तःपुरके मण्डपसे शीघ्र बाहर नहीं निकल सकेगा।

तब अपने पतिको वहीं अन्तःपुरमें फूलोंके ढेरमें छिपाकर रखनेके पश्चात् रानीको कुछ आश्वासन मिला, परंतु घरमें निधि (खजाने) को रखकर भी उसके उपयोगसे वञ्चित होनेके कारण दरिद्रतापूर्ण जीवन बितानेवाली स्त्रीके समान लीला भी पतिकी सेवाके सुखसे वञ्चित होनेके कारण उस विषयमें दरिद्र ही बनी रही।

फिर उसी दिन आधीरातके समय जब सभी परिजन (सेवकगण) निद्रासे अचेत हो गये, लीलाने अन्त:पुर-के उस मण्डपमें विशुद्ध ध्यानसे युक्त अन्त:करण के द्वारा ज्ञानमयी भगवती सरस्वतीदेवीका बड़े दु:खसे आवाहन किया। देवी उसके पास आ गयीं और बोलीं—

बेटी ! तुमने क्यों मेरा स्मरण किया है ? तुम क्यों अपने मनमें शोकको स्थान देती हो ? जैसे मृगतृष्णामें झूठे ही जलकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ये संसार-रूपी भ्रम मिथ्या ही प्रतीत होते हैं।'



लीलाने कहा—देवि ! मेरे पति कहाँ हैं ? क्या करते हैं और कैसे हैं ? मुझे उनके पास ले चलिये। मैं उनके बिना अकेली नहीं जी सकती।

श्रीसरस्वतीजी बोलीं—सुमुखि ! एक शुद्ध चेतन परमात्मरूप आकाश है, दूसरा मनरूप आकाश है और तीसरा यह सुप्रसिद्ध भूताकाश है। चित्ताकाश और भूताकाश—इन दोनोंसे जो सर्वथा शून्य है उसीको तुम चिन्मय आकाश समझो। तुमने जो अपने पतिके रहने आदिका स्थान पूछा है, वह चेतन आकाशमय कोश ही है (उससे अतिरिक्त नहीं है); अत: चेतन आकाशका एकाग्रमनसे जब चिन्तन किया जाता है, तब पृथक् विद्यमान न होनेपर भी वह शीघ्र दिखायी देता और अनुभवमें आता है। भद्रे ! यदि तुम सम्पूर्ण सङ्कल्पोंको त्यागकर उस चेतनाकाशरूप परब्रह्ममें स्थित हो जाओ—उसीमें मनको एकाग्र कर दो तो तुम उस सर्वात्मपदको, जो परम तत्त्वरूप है, अवश्य प्राप्त कर लोगी—इसमें संशय नहीं है। सुन्दरि ! उक्त तत्त्व यद्यपि इस जगत्के अत्यन्ताभावका बोध होनेपर ही सुलभ होता है, दूसरे किसी उपायसे नहीं, तथापि तुम मेरे वरदान-के प्रभावसे उसे शीघ्र प्राप्त कर लोगी।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यह कहकर देवी सरस्वती अपने दिव्य धामको चली गयीं और लीला लीलापूर्वक (अनायास) ही निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो गयी।

रानीने निर्विकल्प समाधिके द्वारा चेतनाकाशमें स्थित होकर अपने उसी राजप्रासादके आकाशमें राजा पद्मको सिंहासनपर विराजमान देखा। (वे अपनी वासना और



कर्मोंके अनुसार देह-गेह एवं वैभवसे सम्पन्न थे ।) अनेक राजाओंसे घिरे हुए सभामण्डपमें सिंहासनपर बैठे हुए राजाकी वन्दीजन 'महाराजकी जय हो, हमारे राजाधिराज चिरजीवी हों' इत्यादि कहकर स्तुति करते थे । वे अपने अधीनस्थ जनपद तथा सेनाके कार्यकी देख-भाल करनेमें सादर जुटे हुए थे । पताकारूपिणी मञ्जरियोंसे व्याप्त राजधानीके जिस सुन्दर सभाभवनमें राजा बैठे थे, उसके पूर्व दरवाजेपर असंख्य मुनियों और ब्रह्मर्षियोंकी मण्डली विराज रही थी । दक्षिण द्वारपर असंख्य राजे-महाराजे विद्यमान थे । पश्चिम द्वारपर अगणित सुन्दरी ललनाओंका समूह शोभा पाता था और उत्तर द्वारपर असंख्य रथ, हाथी एवं घोड़ोंकी भीड़ लगी थी । राजाने गुप्तचरकी बातें सुनकर दक्षिण देशके युद्धको गतिविधिका निर्णय किया । पंक्तिबद्ध खड़े हुए अगणित भूपालोंकी प्रभासे उस राजभवनका सारा आँगन जगमगा रहा था । यज्ञमण्डपमें वेदमन्त्रोंका उच्चारण करते हुए ब्राह्मणोंकी वेदध्वनिसे श्रेष्ठ वाद्योंका मधुर घोष दब गया था । अनेक सामन्तनरेश आरम्भमें मन्द गतिसे चलनेवाले उत्तम कार्योंमें संलग्न थे । अनेक शिल्पियोंके सरदार वहाँ नाना नगरोंके निर्माणकी तैयारीमें लगे हुए थे । उस समय आकाशस्वरूपा लीला उस आकाशरूपिणी राजसभामें प्रविष्ट हुई । जैसे दूसरेके सङ्कल्पसे निर्मित हुई नगरीको दूसरा नहीं देखता, उसी प्रकार अपने आगे-आगे विचरती हुई लीलाको उस सभामें रहनेवाले लोगोंमेंसे किसीने नहीं देखा । वहाँ उसने अपने उन्हीं सब लोगोंको सभामें बैठे देखा, जो पहले देखे गये थे, मानो वे सब-के-सब राजाके साथ ही एक नगरसे दूसरे नगरमें चले आये हों । जो पहले जहाँपर बैठते थे, वे वहीं बैठे थे । वैसा ही उनका आचरण था । लीला जिन्हें पहले देख चुकी थी, उन्हीं बालकों, उन्हीं मन्त्रियों, उन्हीं सामन्त-नरेशों, उन्हीं विद्वानों, उन्हीं विदूषकों तथा उन्हीं पहलेवाले सेवकोंसे मिलते-जुलते भृत्योंको भी देखा ।

तदनन्तर उसने कुछ दूसरे पण्डितों और सुहृदोंको भी देखा, जो सर्वथा नये थे—पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे; कुछ व्यवहार भी पहलेसे भिन्न दिखायी दिये । बहुत-से पुरवासी तथा अन्य लोग भी अपरिचित दृष्टिगोचर हुए । पहलेकी सारी जनता और समस्त पुरवासियोंको भी वहाँ देखकर सुन्दरी लीला चिन्ताके वशीभूत हो गयी । वह सोचने लगी—'क्या उस नगरमें रहनेवाले सब-के-सब मर गये ।' फिर सरस्वतीदेवीकी कृपासे बोध प्राप्त हुआ । उसकी समाधि टूट गयी और वह क्षणभरमें पहलेके अन्तःपुरमें अवस्थित हो गयी । उसने वहाँ आधीरातके समय सब लोगोंको पूर्ववत् सोते देखा । फिर उसने नींदमें पड़ी हुई सखियोंको उठाया और कहा—'मुझे बड़ा दुःख हो रहा है, अतः तुमलोग सभाभवनमें मुझे स्थान दो । यदि मैं पतिदेवके सिंहासनके पास बैठूँ और समस्त सभासदोंको वहाँ पूर्ववत् उपस्थित देखूँ, तभी जीवित रह सकती हूँ, अन्यथा नहीं ।'

रानीके यों कहनेपर सारा-का-सारा राजपरिवार



जाग उठा और क्रमशः सब लोग अपने-अपने सर्वस्व-भूत कार्य-कलापमें जुट गये । जैसे सूर्यकी किरणें लोगोंको अपने-अपने व्यवहारमें लगानेके लिये पृथ्वीपर आती हैं, वैसे ही समूह-के-समूह छड़ीदार राजसेवक पुरवासी सभासदोंको बुलानेके लिये चारों ओर चल दिये। दूसरे-दूसरे सेवक आदरपूर्वक सभाभवनकी उसी तरह सफाई करने लगे, जैसे शरद्-ऋतुके दिन मेघोंसे मलिन हुए आकाशको स्वच्छ कर देते हैं । जैसे महाप्रलयके बाद जब त्रिलोकीकी पुनः सृष्टि होती है, तब सारे लोकपाल अपनी-अपनी दिशाओंमें अधिष्ठित हो जाते हैं, उसी तरह निर्दोष मन्त्री और सामन्तगण उस सभाभवनमें अपने-अपने स्थानपर आ बैठे । राजाके सिंहासनके पास ही रानी लीला एक नूतन सुवर्णमय विचित्र आसनपर विराजमान हुई । उसने पहलेकी ही भाँति यथास्थान बैठे हुए पूर्वपरिचित समस्त नरेशों, गुरुजनों, श्रेष्ठ पुरुषों, मित्रों, सदस्यों, सुहृदों, सम्बन्धियों और बन्धु-बान्धवोंको देखा । राजाके राष्ट्रमें निवास करनेवाले सभी लोगोंको वहाँ पूर्ववत् ही देखकर रानीको बड़ी प्रसन्नता हुई । (सर्ग १७)



लीलाका सरस्वतीसे कृत्रिम और अकृत्रिम सृष्टिके विषयमें पूछना और सरस्वतीका इस विषयको समझानेके लिये लीलाके जीवनसे मिलते-जुलते एक ब्राह्मण-दम्पतिके जीवनका वृत्तान्त सुनाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर रानी लीला सभाभवनसे उठ गयी और अन्तःपुरमें प्रवेश करके रनवासके पूर्वोक्त मण्डपमें फूलोंसे ढके हुए पतिके पास जा पहुँची तथा मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी—'अहो ! यह तो बड़ी विचित्र माया है । ये हमारे पुरवासी मनुष्य इस बाह्य प्रदेशमें और उस अन्तर-देशमें भी विद्यमान हैं । ताल, तमाल और हिंताल आदि वृक्षोंसे घिरे हुए ये पर्वत जैसे वहाँ हैं, उसी तरह यहाँ भी हैं । यह बड़ी ही आश्चर्यजनक माया फैली हुई है। जैसे दर्पणमें पर्वत उसके भीतर और बाहर भी स्थित प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतन-आकाशरूपी दर्पणमें भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है । उनमेंसे कौन सृष्टि भ्रान्तिमयी है और कौन वास्तविक, इस संदेहको मैं वागीश्वरी देवीकी पूजा करके उन्हींसे पूछती हूँ, जिससे उनके उपदेशसे संशयका निवारण हो जाय ।' ऐसा निश्चय करके रानीने उस समय देवीका पूजन किया और देखा—देवी सरस्वती कुमारीरूप



धारण करके सामने आ गयी हैं। तब लीला परमार्थ-महाशक्तिस्वरूपा देवीको सिंहासनपर विराजमान करके स्वयं उनके सामने पृथ्वीपर खड़ी हो गयी और इस प्रकार पूछने लगी।

लीलाने कहा—परमेश्वरि! मैं आपके सामने विनम्र होकर जो कुछ पूछ रही हूँ, उसे बताइये। यह त्रिलोकी-का प्रतिबिम्ब-वैभव बाहर भी स्थित है और भीतर भी। इनमेंसे कौन कृत्रिम (झूठा) है और कौन अकृत्रिम (सच्चा)? देवि अम्बिके! जैसे मैं यहाँ खड़ी हूँ और आप यहाँ बैठी हैं, देवेश्वरि! इसीको मैं सच्ची सृष्टि समझती हूँ। परंतु जहाँ इस समय मेरे पतिदेव विराजमान हैं, उस सृष्टिको मैं कृत्रिम समझती हूँ; क्योंकि वह सूना है। उससे देश, काल और व्यवहारकी पूर्ति (सिद्धि) नहीं होती।

देवीने कहा—बेटी! अकृत्रिम सृष्टिसे कदापि कृत्रिम सृष्टि नहीं उत्पन्न होती। कहीं भी कारणसे विलक्षण (सर्वथा भिन्न) कार्यका उदय नहीं होता।

लीलाने कहा—माताजी! मुझे तो कारणसे कार्य सर्वथा विलक्षण दिखायी देता है। मिट्टीका लोंदा जल धारण करनेमें असमर्थ है; किंतु उसीसे उत्पन्न हुआ घड़ा जलका आधार बन जाता है।

देवीने कहा—सुमुखि! बताओ तो सही—इस सृष्टिके अन्तर्गत जो पृथ्वी आदि तत्त्व हैं, उनमेंसे कौन-सा तत्त्व तुम्हारे पतिकी सृष्टिका कारण है?

लीला बोली—देवि! मेरे पतिकी वह स्मृति ही उस रूपमें वृद्धिको प्राप्त हुई है, अतः मैं स्मृतिको ही उस सृष्टिका कारण समझती हूँ। उसीसे यह सृष्टि हुई है, ऐसा मेरा निश्चय है।

देवीने कहा—अबले! स्मृति तो आकाशकी भाँति शून्यरूप है। जैसे स्मृति शून्य है, उसी प्रकार उससे उत्पन्न तुम्हारे पतिकी सृष्टि भी शून्य ही है। वह उस रूपमें अनुभवमें आनेपर भी शून्यके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

लीलाने कहा—देवि! जैसे आपने मेरे पतिकी सृष्टिको स्मृतिमात्र—शून्यरूप बताया है, उसी तरह मैं इस सृष्टिको भी स्मृतिमात्र एवं शून्यरूप ही समझती हूँ। समाधिमें देखी गयी वह सृष्टि ही मेरी ऐसी मान्यतामें उदाहरण है।

देवीने कहा—बेटी! ठीक ऐसी ही बात है। वह सृष्टि असत् होनेपर भी (उसका आश्रयभूत चेतन आत्मा ही) तुम्हारे पतिके उन-उन भावोंसे उस रूपमें प्रकाशित होता है। इसी तरह यहाँ यह सृष्टि भी मिथ्या ही है (तथापि उसका आश्रय-भूत चेतन आत्मा) जीवके विभिन्न भावोंके अनुसार इस रूपमें भासित होता है।

लीला बोली—देवि! जैसे इस सृष्टिसे मेरे पतिकी भ्रमरूप अमूर्त सृष्टि हुई, वह प्रकार मुझे बताइये; जिससे मेरा यह जगत्‌रूपी भ्रम दूर हो जाय।

देवीने कहा—जिस प्रकार पूर्व सृष्टिकी स्मृतिसे उत्पन्न हुई यह भ्रमरूपिणी सृष्टि स्वप्न-भ्रमके तुल्य प्रतीत होती है, उस प्रकार मैं तुमसे इस विषयका प्रतिपादन करती हूँ, सुनो। चिन्मय आकाशमें कहीं (अज्ञानसे आवृत भागमें और उसके भी) किसी एक देशमें (विधाताके अन्तःकरणके एक अंशमें) संसाररूपी मण्डप है, उस मण्डपके किसी एक आकाशरूपी कमरेके भीतर एक कोनेमें पर्वतरूपी मिट्टीके ढेलेके नीचे एक छोटा-सा गड्ढा है, जो पर्वतसम्बन्धी छोटा-सा गाँव है। नदी, पर्वत और वनोंसे घिरे हुए उस ग्रामके भीतर एक धर्मपरायण नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण अपने स्त्री-पुत्रोंके साथ रहते थे। उन्हें वहाँ गायका दूध सुलभ था। वे राजाके भयसे सर्वथा मुक्त थे तथा वहाँ आनेवाले सभी प्राणियोंका वे आतिथ्य-सत्कार करते थे।

बेटी! वे ब्राह्मण धन-सम्पत्ति, वेश-भूषा, अवस्था, कर्म,

विद्या, विभव और चेष्टाओंकी दृष्टिसे साक्षात् वसिष्ठ मुनिके समान थे। उनका नाम भी वसिष्ठ ही था। उन्हें चाँद-जैसी भार्या प्राप्त थी, जिसका नाम अरुन्धती था। एक दिन उन ब्रह्मर्षिने, जो उस पर्वतके शिखरपर हरी-हरी घासोंसे ढकी हुई समतल भूमिपर बैठे हुए थे, नीचे एक राजाको देखा, जो अपने सारे परिवारके साथ शिकार खेलनेकी इच्छासे जा रहे थे। वे अपनी उस विशाल सेनाके महान् घोषसे मानो मेरु पर्वतको भी विदीर्ण कर देना चाहते थे। उस सेनाके महान् कोलाहलसे दिग्भ्रम-सा हो जानेके कारण सभी दिशाओंके प्राणियोंके समुदाय भाग रहे थे—जलके भँवरके समान एक-एक स्थानपर चक्कर काट रहे थे। उन भूपालको देखकर ब्राह्मणने मन-ही-मन यह विचार किया—'अहो! राजाका पद बड़ा



ही रमणीय है। उस पदपर प्रतिष्ठित मनुष्य सम्पूर्ण सौभाग्योंसे उद्भासित हो उठता है। कब ऐसा समय आयेगा जब कि मैं भी पैदल, रथ, हाथी और घोड़ोंसे संकुल चतुरंगिणी सेना, पताका, छत्र और चँवरसे सम्पन्न हो दस दिशारूपी कुञ्जोंको परिपूर्ण करनेवाला राजा होऊँगा।' उसी दिनसे ब्राह्मणके मनमें इस तरहका संकल्प होने लगा। वे जबतक जीवित रहे, प्रतिदिन आलस्य छोड़कर स्वधर्म-पालनमें लगे रहे। तत्पश्चात् उनके शरीरको जर्जर बना देनेके लिये जर्जरित अङ्गवाली जरावस्था बड़े आदरके साथ उन ब्राह्मण देवताके पास आयी। जब वे मृत्युके निकट पहुँच गये, तब उनकी पत्नीको बड़ी चिन्ता हुई। उस कल्याणमयी ब्राह्मणपत्नीने तुम्हारी ही भाँति मेरी आराधना की। अमरत्वको अत्यन्त दुर्लभ मानकर उसने मुझसे यह वर माँगा—'देवि!



मरनेपर मेरे पतिका जीव अपने मण्डपसे बाहर न जाय।' अतः मैंने उसके उसी वरको स्वीकार कर लिया। तदनन्तर कालवश ब्राह्मणका शरीर छूट गया। फिर उसी वरके आकाशमें वह ब्राह्मणका जीवात्मा स्थित रहा। पूर्व-जन्मके सुदृढ़ एवं महान् संकल्पसे वह ब्राह्मणीका पति स्वयं सर्वशक्तिशाली राजा बन गया। उसने अपने प्रभावसे

भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर ली। उसका प्रताप स्वर्गलोकतक फैल गया और उसने कृपा करके पाताललोकका भी पालन किया। इस प्रकार वह त्रिलोकविजयी नरेश हो गया। वह याचकोंको मुँहमाँगा दान देनेके लिये कल्पवृक्षके समान था, धर्मरूपी चन्द्रमाके पूर्ण विकासके लिये पूर्णिमाकी रात्रिके सदृश था। उधर उस ब्राह्मणके मृत्युमुखमें पहुँच जानेपर उसकी पत्नी ब्राह्मणी शोकसे अत्यन्त कृश हो गयी। उड़दकी सूखी छीमीके समान उसके हृदयके दो टुकड़े हो गये। पतिके साथ ही मरकर अपने शरीरको दूर छोड़ वह आतिवाहिक देह (मानस-शरीर) के द्वारा पतिके पास जा पहुँची। जैसे नदी गर्तमें गिरती है, उसी प्रकार पतिका अनुसरण करके उनके पास जा वह वासंती लताके समान शोक-रहित हो गयी। उस पर्वत ग्राममें मरे हुए इस ब्राह्मणके घर हैं, भूमि-वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हैं तथा मृत्युके बादसे उसका जीव उस पर्वतीय ग्रामके गृह-मण्डपमें विद्यमान है। (सर्ग १८-१९)



लीला और सरस्वतीका संवाद—जगत्‌की असत्ता एवं अजातवादकी स्थापना

देवी सरस्वतीने कहा—कल्याणि! वही ब्राह्मण अब राजा होकर तुम्हारा पति हुआ है और जो अरुन्धती नामवाली ब्राह्मणी थी, वह तुम हो। तुम्हीं दोनों सुन्दर दम्पति यहाँपर राज्य करते हो। तुम्हारे पूर्वजन्मका यही सारा सृष्टिक्रम है, जिसे मैंने कह सुनाया। ब्रह्मरूप आकाशमें जीवभावकी भ्रान्ति होनेसे ही यह सब कुछ प्रतीत होता है। इसलिये कौन सृष्टि भ्रमरूप है और कौन भ्रमसे रहित है? सुतरां सारी सृष्टि ही अनर्गल अनर्थ-बोधके सिवा दूसरा कुछ नहीं है।



श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! देवी सरस्वतीका यह वचन सुनकर लीलाके सुन्दर नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। वह इस प्रकार बोली।

लीलाने कहा—देवि! आपकी बात तो सत्य ही होगी। मैं उसे मिथ्या कहनेका साहस नहीं कर सकती; परंतु ऐसी विरुद्ध बात कैसे सम्भव हो सकती है?

कहाँ ब्राह्मणका जीव अपने घरमें है और कहाँ इतने बड़े विशाल प्रदेशमें हमलोग स्थित हैं। (फिर वे ब्राह्मण-दम्पति और हमलोग एक कैसे हो सकते हैं ?) मेरे स्वामी जहाँ स्थित हैं वैसा वह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे विशाल पर्वत और वे दसों दिशाएँ एक घरके भीतर कैसे प्रतीत हो सकती हैं ? सर्वेश्वरेश्वरि ! यदि कोई कहे कि एक सरसोंके दानेके भीतर मतवाला ऐरावत हाथी बँधा हुआ है, परमाणुके भीतर बैठे हुए एक मच्छरने सिंह-समूहोंके साथ युद्ध किया, सुमेरु पर्वत कमलगट्टेके भीतर रक्खा हुआ है तो जैसे ये सारी बातें असम्भव होनेके कारण असमञ्जस प्रतीत होती हैं—ठीक नहीं लगतीं, उसी प्रकार उस घरके अन्दर ये विशाल भूलोक और पर्वत हैं, यह कथन भी असम्भव एवं असंगत ही जान पड़ता है।

देवी सरस्वती बोलीं—सुन्दरि ! मैं यह झूठ नहीं कह रही हूँ। तुम ध्यान देकर यथावत् रूपसे इस विषयको सुनो। दूसरोंके द्वारा तोड़ी जानेवाली धर्मकी जिस मर्यादाको मैं स्वयं ही स्थापित करती हूँ, उसीका यदि मैं भेदन करूँ तो दूसरा कौन पालन करेगा ? उस पर्वतीय गाँवके ब्राह्मणका वह जीवात्मा अपने उसी घरके आकाशमें चिदाकाशरूप होकर ही इस कल्पित महान् राष्ट्रको देख रहा है। कल्याणि ! जैसे स्वप्नमें जाग्रत्कालकी स्मृति लुप्त हो जाती है और दूसरी स्मृति उदित होती है, उसी प्रकार तुम दोनोंकी पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट हो गयी है और उससे विपरीत दूसरी स्मृति उदित हुई है। यही उस शरीरका मरण है। जैसे स्वप्नमें तीनों लोकोंका दीखना, संकल्पमें त्रिलोकीका उदय होना तथा मरु-मरीचिकामें जलका होना असत्य है, फिर भी वहाँ उन वस्तुओंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्राह्मणके घरके भीतर पर्वत, वन और नगरोंसहित भूमिका होना यद्यपि असत् है तो भी वहाँ इन सबकी प्रतीति होती है। जो असत्यसे उत्पन्न हुआ है, वह असत् है, जो स्मृतिसे उत्पन्न हुआ है, वह भी असत् है—जैसे मृग तृष्णाकी नदीमें जलका होना मिथ्या है; फिर उस जलमें जो तरङ्गकी प्रतीति होती है, वह सत् कैसे हो सकती है ?

बेटी ! उस पर्वतीय गृहके आकाशरूपी कोशमें स्थित तुम्हारा जो यह घर है तथा जो मैं हूँ और तुम हो—यह सब कुछ तुम केवल चिन्मय आकाशरूप ब्रह्म ही समझो। इस विषयको स्पष्टरूपसे समझने और समझानेके लिये स्वप्न, भ्रम, संकल्प और अपने-अपने अनुभवकी परम्पराएँ ही मुख्य प्रमाण (उदाहरण) हैं। ब्राह्मणके उस पर्वतीय घरके भीतर उस ब्राह्मणका जीव है। उस जीवाकाशमें (अर्थात् उस जीवात्माके संकल्पमें) समुद्र और वनोंसे परिपूर्ण यह पृथ्वी है। कृशाङ्गि ! उस ब्राह्मणके घरके भीतर इस नूतन सृष्टिमें जो यह नगर निर्मित हुआ है, यह यद्यपि मनमें बैठ गया है, तथापि ब्राह्मणका वह पहला घर आज भी मौजूद ही है—नष्ट नहीं हुआ। जैसे इस जगत्-सृष्टिकी प्रतीति आभासमात्र है, उसी प्रकार क्षण, कल्प आदिकी प्रतीति भी आभास-मात्र ही है, वास्तविक नहीं। परमात्मामें जो तू-मैं इत्यादि भावोंका अध्यास है, उसके अधीन जो अपने जन्मका भ्रम होता है, ऐसा भ्रम जिन लोगोंको है, उन्हीं पुरुषोंको क्षण, कल्प आदि सम्पूर्ण जगत्‌की प्रतीति होती है।

उत्तम व्रतका पालन करनेवाली लीले ! मरणकालकी मिथ्याभूत मूर्च्छाका अनुभव करके जब जीव पूर्वजन्मके सभी भावोंको भुला देता और दूसरे नूतन भावको देखने या अनुभव करने लगता है, तभी वह पलक मारते-मारते मनमें यह स्मरण करने लगता है कि मैं आधेय हूँ और इस आधारमें स्थित हूँ। यद्यपि वह उस समय (चेतन) आकाश (परमात्मा) में आकाश (चिदाकाश जीवात्मा)-रूपसे ही स्थित होता है (इसलिये उसमें आधाराधेय-भावकी कल्पना मिथ्या ही है), तथापि उसके चित्तमें वैसा संस्कार प्रकट होता है। उसे यह भान होता है कि हाथ, पैर आदि अवयवोंसे युक्त यह शरीर मेरा ही

है। उसके मनमें जो शरीर स्थित होता है अर्थात् उसमें जैसे शरीरका संस्कार रहता है, उसी या वैसे ही इस शरीरको वह आत्मीयभावसे देखता है। उसे जान पड़ता है कि 'मैं इस पिताका पुत्र हूँ। इतने वर्षोंकी मेरी अवस्था हो गयी। ये मेरे मनोरम भाई-बन्धु हैं। यह मेरा रमणीय घर है। जब मेरा जन्म हुआ, तब मैं बालक था और अब बढ़कर ऐसा हो गया हूँ।'

स्वप्नमें द्रष्टा और दृश्यरूपसे जो विभिन्न पदार्थ कल्पित होते हैं, उन सबमें अदृश्यरूपसे जो चेतन स्थित होता है, वही उन स्वप्नगत पदार्थोंका बाध होनेपर एक-रस चेतनरूपसे पुनः दृष्टिगोचर (अनुभवका विषय) होता है। अतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ था—बिना उत्पन्न हुए ही स्वप्नावस्थामें उन वस्तुओंके दर्शन हुए थे। इस तरह जैसे स्वप्नमें वह चेतन ही द्रष्टा, दृश्य आदिके रूपमें उदित होता है, उसी प्रकार परलोकमें भी उदित होता है और जैसे परलोकमें उदित होता है, उसी तरह इस लोकमें भी वह चेतन ही द्रष्टा, दृश्य आदिके रूपमें आविर्भूत होता है। इसलिये स्वप्न, परलोक और इहलोक—इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। ये सब-के-सब असत् होते हुए भी भ्रमवश सत्-से प्रतीत होते हैं—ठीक उसी तरह जैसे जलमें उठनेवाली तरङ्गोंका एक दूसरेसे भेद नहीं होता और वे सब असत् होती हुई ही सत्-सी प्रतीत होती हैं। चूँकि जलमें लहरोंके समान चेतनमें ही यह जगत् भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

(सर्ग २०)



लीला और सरस्वतीका संवाद—सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन

श्रीसरस्वतीजीने कहा—जैसे आँख खोलनेपर प्राणीको सारे रूप अच्छी तरह दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार मृत्युरूपी मूर्च्छाके दूर होनेपर जीवको शीघ्र ही सम्पूर्ण लोकोंका पूर्णतः भान होने लगता है। जैसे स्वप्नमें अपनेको अपने ही मरणकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार जीवको, संसारमें जिसका अनुभव या दर्शन नहीं हुआ है, ऐसा कार्य भी इस तरह तत्काल याद आने लगता है कि इसे मैंने किया है। चिन्मय आकाशरूप परमात्माके भीतर मायारूपी आकाशमें इस तरहकी अनन्त भ्रान्तियाँ भासित होती हैं। यह जगत् नामकी नगरी जो बिना दीवालके ही प्रतीत होती है, वास्तवमें कल्पनामात्र है (सत्य नहीं)। यह जगत्, यह सृष्टि इत्यादि रूपसे स्मृति (वासना) ही विस्तारको प्राप्त हो रही है। कृशाङ्गी लीले! यह त्रिभुवन आदि दृश्य-प्रपञ्च कुछ लोगोंके अनुभवमें आकर उनकी स्मृतिमें स्थित है और कुछ लोगोंके अनुभवमें आये बिना ही उनकी स्मृतिमें विद्यमान है। विश्वका अत्यन्त विस्मृत हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। उस अवस्थामें किसीके लिये भी कोई प्रिय और अप्रिय नहीं रह जाते। अहंता और जगत्की आधारभूत अविद्याका अत्यन्त अभाव हुए बिना मोक्ष स्वाभाविक रूपसे विद्यमान होता हुआ भी उदित नहीं होता। जैसे रज्जुमें जो सर्पका भ्रम होता है, वह वास्तविक नहीं है; तो भी जबतक उसमें 'सर्प' शब्द और उसके अर्थकी सम्भावनाका पूर्णरूपसे बाध नहीं हो जाता, तबतक वह शान्त होनेपर भी शान्त नहीं होता। यह जो विशाल संसार है, परब्रह्म ही है—यह निश्चित सिद्धान्त है। अविद्याका अभाव हो जानेपर भी यदि अनुवृत्तिवश इसकी प्रतीति होती है तो उसे प्रतीतिमात्र ही समझना चाहिये। वह वास्तवमें नहीं है (जैसे स्वप्नसे जागनेपर स्वप्नके संसारकी आकृति प्रतीत हो तो भी वह मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं)। इसी प्रकार जगत्के उदित होनेपर

भी कहीं कभी कुछ भी उदित नहीं हुआ, केवल चिन्मय आकाशरूप परमात्मा ही स्थित है।

इस तरह विचार करनेसे यह सिद्ध हुआ कि कभी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूपसे प्रतीत होता है, वह भी चिन्मय परमात्मा ही है। केवल चेतन आकाशरूप ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है।

लीला बोली—देवि! जैसे प्रातःकालकी प्रभासे जगत्‌की रूप-सम्पत्ति सुस्पष्ट दिखायी देने लगती है, उसी प्रकार आपने मुझे यह बहुत ही उत्तम और अद्भुत दृष्टि प्रदान की है। इस समय जबतक मैं तीव्र अभ्यास न होनेके कारण इस दृष्टिमें सुदृढ़ स्थिति नहीं प्राप्त कर लेती, तबतक आप अपने उपदेशद्वारा इस दृश्य-कौतुकका—इस संसारका बाध करती रहें। देवि! वह ब्राह्मण अपनी ब्राह्मणीके साथ पूर्वसृष्टिके जिस गाँव और घरमें रहता था, उस सृष्टिके उसी पर्वतीय ग्राममें आप मुझे ले चलिये। मैं उसे देखना चाहती हूँ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—लीले! चेत्यरहित चिन्मय परमात्मरूप जो परम पावन दृष्टि है, उसका अवलम्बन करके तुम इस आकारका—इस देहके अभिमानका त्यागकर निर्मल हो जाओ। (तात्पर्य यह कि पूर्व-सृष्टिकी उस वस्तुको देखनेके लिये इस शरीरको भूल जाना आवश्यक है।) इस प्रकार जब तुम देहाभिमान-रूप मलसे रहित हो जाओगी, तब हम दोनों साथ-साथ रहकर बिना किसी रुकावटके उस सृष्टिको देखेंगे। यह शरीर उस सृष्टिके दर्शनरूपी गृहद्वारके लिये एक सुदृढ़ अर्गला (रुकावट) के रूपमें स्थित है।

बेटी! ये तीनों लोक मायामय होनेके कारण अमूर्त हैं। मिथ्या आग्रह या अज्ञानके कारण ये तुम्हें मूर्ति-मान् प्रतीत होते हैं, जैसे सुवर्णको लोग अँगूठीके रूपमें देखते हैं। जैसे अँगूठीका रूप धारण करनेवाले सुवर्णमें अँगूठीपना नहीं है, उसी प्रकार जगत्‌का रूप धारण किये हुए ब्रह्ममें जगत् नहीं है। यह जगत् आकाशकी भाँति शून्य ही है; इसके रूपमें यहाँ जो कुछ दिखायी देता है, वह ब्रह्म ही है। ब्रह्ममें भ्रमवश माया दृष्टिगोचर होती है। यह सारा प्रपञ्च झूठा ही है। केवल अद्वितीय ब्रह्म ही, जिसका अहं (आत्मा)-रूपसे अनुभव होता है, परमार्थ सत्य है। इस विषयमें उपनिषदोंके वाक्य, गुरुजनोंके उपदेश और अपना अनुभव प्रमाण है। जो ब्रह्म है, वही ब्रह्मको देखता है। जो ब्रह्म नहीं है, वह कदापि ब्रह्मको नहीं देख सकता। ब्रह्मका ही जो ऐसा स्वभाव है (जो उसकी आवृत सत्ता है), वही सृष्टि आदिके नामसे प्रसिद्ध है। जबतक अभ्यासयोगके द्वारा तुम्हारी भेदबुद्धि शान्त नहीं हो जाती, तबतक अब्रह्मरूप होनेके कारण निश्चय ही तुम ब्रह्मको नहीं देख सकती। ब्रह्मज्ञानका बारंबार अभ्यास करनेके कारण ब्रह्ममें अद्वैतभावसे जिनकी दृढ स्थिति हो गयी है, ऐसे हमलोग ही उस परमपदका साक्षात्कार करते हैं। जब अपने संकल्प (मनोरथ) से निर्मित हुआ नगर भी अपने इस शरीरसे प्राप्त नहीं हो सकता, तब दूसरेके संकल्पसे निर्मित नगरको दूसरा शरीर कैसे प्राप्त करेगा। अतः कार्यको समझनेवाली स्त्रियोंमें श्रेष्ठ लीले! तुम इस देहाध्याससे रहित होकर चेतन ब्रह्ममय आकाशरूपिणी हो जाओ। तब तत्काल ही उस ग्रामका दर्शन करोगी। अतः शीघ्र वही कार्य करो।

लीलाने कहा—देवि! आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणीके जगत्‌में हम दोनों साथ-साथ चलेंगी; परंतु माताजी! मैं यह पूछती हूँ कि हम दोनोका साथ-साथ चलना कैसे हो सकता है। मैं तो इस शरीरको यहीं स्थापित करके शुद्ध सत्त्वका अनुसरण करनेवाले

चित्तके द्वारा उस उत्तम आकाशमय लोकमें चली जाऊँगी । परंतु आप अपने इसी शरीरसे वहाँ कैसे जायेंगी ?

देवी सरस्वतीने कहा—बेटी ! जैसे तुम्हारा संकल्पमय आकाश, वृक्ष आदि सांकल्पिक सत्तासे सत् होता हुआ भी वास्तवमें शून्यरूप ही है, उसी तरह शुद्ध सत्त्वगुणका कार्यभूत जो मेरा शरीर है, यह चेतन परमात्माका ही प्रकाश है—इसके रूपमें चेतन परमात्माकी ही प्रतीति होती है । अतः इसका उससे भेद नहीं है । ऐसा जो मेरा यह दिव्य शरीर है, इसका त्याग करके मैं नहीं जाऊँगी । जैसे वायु गन्धको प्राप्त होती है, उसी तरह मैं इसी शरीरसे ब्राह्मण-ब्राह्मणीके उस देशमें पहुँच सकती हूँ । भद्रे ! ये देह आदि परब्रह्मसे परिपूर्ण होकर ही स्थित हैं, अतः अपनी उत्कृष्ट महिमामें स्थित परब्रह्म ही हैं । इस सत्यको हमलोग विना किसी विघ्न-बाधाके देखते हैं, किंतु तुम ऐसा नहीं देखती (क्योंकि तुम्हें अभी दृढ तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है) ।

जैसे सुवर्णमें कटकत्व, जलमें तरङ्गत्व और स्वप्नके नगर एवं संकल्प-कल्पित पुर आदिमें सत्यत्व नहीं है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्ममें कल्पनातीत अनामय आत्मस्वभावसे पृथक् कोई वस्तु नहीं है । जो कुछ भी यह दृश्य प्रपञ्च भासित हो रहा है, वह सब ब्रह्मका ही निर्मल विकास है । जैसे परम उत्तम चन्द्रकान्तमणिकी भ्रमवश काचके समान प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मके विशुद्ध विकासकी भ्रान्तिवश दृश्यरूपसे प्रतीति हो रही है ।

लीलाने पूछा—देवि ! कृपया यह बताइये कि इतने दीर्घकालसे किसने हमलोगोंको द्वैत और अद्वैतके द्विविध विकल्पोंद्वारा भ्रममें डाल रक्खा है ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—चञ्चले ! तुम चिरकालसे अविचारद्वारा व्याकुल होकर भटक रही हो । अविचार स्वभावसे उत्पन्न होता है और विचारसे उसका नाश हो जाता है । विचारद्वारा अविचारका पलक मारते-मारते नाश हो जाता है । यह अविचाररूप अविद्या विचार या विवेकसे बाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है—ब्रह्मके सत्-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । इसलिये अविद्याका अस्तित्व नहीं है । अतः न तो कहीं अविचार है न अविद्या है, न बन्धन है और न मोक्ष ही है । यह जगत् शुद्ध बोधस्वरूप (चिन्मय ब्रह्म) ही है । चूँकि इतने समयतक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिये तुम्हें बोध नहीं हुआ । तुम भ्रान्त एवं व्याकुल ही बनी रह गयी । आजसे तुम्हारे चित्तमें वासनाका क्षयरूप बीज पड़ गया है । इसलिये अब तुम विवेकशालिनी, प्रबुद्ध एवं विमुक्त हो । एकमात्र ब्रह्मके चिन्तनरूप उत्तम निर्विकल्प समाधिके मनमें आरूढ होनेपर जब द्रष्टा, दृश्य और दृष्टिका अत्यन्ताभाव हो जायगा तथा हृदयमें यह वासना-क्षयरूप बीज कुछ अङ्कुरित हो जायगा, तब राग-द्वेष आदि दृष्टियाँ क्रमशः उदित नहीं होंगी, संसारकी उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायगी और निर्विकल्प समाधि पूर्णतः स्थिरताको प्राप्त होगी । इस तरह निर्विकल्प समाधिके स्थिर होनेपर कुछ कालके अनन्तर मायाकाश और उसके कार्योंके अधिष्ठान-स्वरूप निर्मल आत्माके साक्षात्कारसे तुम भ्रान्ति-ज्ञानरूप कालिमाके कलङ्कसे शून्य होकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी भ्रान्तियोंका, उनकी कार्यभूत वासनाओंका और उनकी कारणभूत अविद्याका जहाँ अन्त हो जाता है, उस मोक्षरूप परम पुरुषार्थमें प्रतिष्ठित हो जाओगी ।

(सर्ग २१)

वासनाओंके क्षयका उपाय और ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासका निरूपण

श्रीसरस्वतीजीने कहा—लीले ! यद्यपि स्वप्नावस्थामें स्वप्नके शरीरका अनुभव होता है, तथापि यह स्वप्न है—ऐसा ज्ञान होनेसे जैसे स्वप्न-शरीर वास्तविक नहीं रहता, मिथ्या ठहरता है, उसी तरह यद्यपि इस स्थूल शरीरका पहले अनुभव होता है, तथापि इसे स्वप्नवत् मान लेनेपर वासनाओंका क्षय होनेसे यह भी 'असत्' (बाधित) ही हो जाता है। जैसे स्वप्नके ज्ञानसे स्वप्नावस्थाका शरीर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थाके शरीरको भी स्वप्नवत् समझ लेनेपर वासनाओंके क्षीण होनेसे यह शान्त हो जाता है। जैसे स्वप्न-शरीरका और मनोरथ-कल्पित कल्पनामय शरीरका अन्त होनेपर इस जाग्रत्-शरीरका भान होता है, उसी प्रकार जगद्-भावना (स्थूल शरीरमें अहं-भावना) का अन्त होनेपर आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीरका उदय (अनुभव) होता ही है। जैसे स्वप्नावस्थाके वासनाबीजसे रहित होनेपर सुषुप्ति अवस्था उदित (प्राप्त) होती है, उसी तरह जाग्रत्-अवस्था भी जब वासनाबीजसे रहित हो जाती है, तब जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। जिसमें वासनाएँ सुप्त अथवा विलीन हो जाती हैं, उस प्रगाढ़ निद्राका नाम सुषुप्ति है। जिस अवस्थामें वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जाता है, उसे 'तुरीय' कहते हैं। जाग्रत्-अवस्थामें भी परम पदका अनुभव होनेपर (वासनाओंका समूल नाश हो जानेके कारण) तुर्यावस्था होती ही है। जीवित पुरुषोंके जीवनकी वह अवस्था, जिसमें वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जाता है, जीवन्मुक्ति कहलाती है। अज्ञानी बद्ध जीव इसका अनुभव नहीं कर पाते।

लीले ! जब पूर्ण अभ्यास करनेसे तुम्हारा यह अहम्भाव शान्त हो जायगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चैतन्यरूपता, जो इस दृश्य-प्रपञ्चकी चरम अवधिभूत है, उदित एवं विकसित हो जायगी। जब आतिवाहिकता (शरीरकी सूक्ष्मता) का ज्ञान सदाके लिये स्थायी हो जायगा, तब तुम संकल्पदोषसे रहित पावन लोकोंका साक्षात्कार कर सकोगी। अतः सती साध्वी लीले ! तुम वासनाको क्षीण करनेका प्रयत्न करो। जब तुम्हारी वासना-शून्य स्थिति अत्यन्त दृढ़ हो जायगी, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी। जबतक तुम्हारा यह शीतल (शान्तिप्रद) ज्ञानरूपी चन्द्रमा पूर्णताको नहीं प्राप्त हो जाता, तबतक तुम इस शरीरको यहीं स्थापित करके लोकान्तरोंके दर्शन करो। मैंने तुमसे जो बात कही है, यह बालकोंसे लेकर सिद्ध पुरुषोंतकमें प्रसिद्ध, सबके अनुभवसे सिद्ध एवं यथार्थ है। यह शरीर न तो मरता है और न जीता ही है। स्वप्न और संकल्पसम्बन्धी भ्रममें मरण और जीवनकी चर्चा ही क्या है ? बेटी ! जैसे मनोरथकल्पित पुरुषमें जीवन और मरण असत्य ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस स्थूलशरीरमें भी जीवन-मरण मिथ्या ही हैं।

लीला बोली—देवि ! आपने मुझे यहाँ उस निर्मल ज्ञानका उपदेश दिया है, जिसके श्रवणमात्रसे ही दृश्य-रूपी हैजेकी बीमारी शान्त हो जाती है। अब इस विषयमें मेरा एक उपकार और कीजिये। कृपया मुझे यह बताइये कि वह अभ्यास क्या है, कैसा है, अथवा कैसे वह पुष्ट होता है और उसके पुष्ट हो जानेपर क्या होता है।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—बेटी ! जिस पुरुषके द्वारा जिस-जिस साधनसे जब-जब जो भी कार्य किया जाता है, वह अभ्यासके बिना कभी सिद्ध नहीं होता। सच्चिदा-नन्दघन परमात्माका चिन्तन करना, जिज्ञासुओंके प्रति उसका वर्णन करना, आपसमें एक-दूसरेको ब्रह्मके तत्त्वका बोध कराते रहना तथा उस एकमात्र ब्रह्मके ही परायण हो जाना—इसे ही विद्वान् लोग ब्रह्मविषयक अभ्यास समझते हैं। जो विरक्त महात्मा पुरुष मुक्तिके लिये अपने अन्तःकरणमें भोग-वासनाओंके क्षीण होनेकी भावना करते

हैं, वे ही भव्य (कल्याणके भागी) पुरुष भूमण्डलमें विजयी होते—उत्कृष्ट पद पाते हैं । जिनकी बुद्धि उदारता (परिग्रह-त्याग)-रूपी सौन्दर्य और वैराग्यके रससे रञ्जित हो आनन्दका स्पन्दन करनेवाली है, वे ही उत्तम अभ्यासी कहे गये हैं । जो लोग युक्ति तथा शास्त्रोंके ज्ञाताके द्वारा जाननेमें आनेवाली लौकिक ज्ञेय वस्तुओंके अत्यन्ताभावकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहे गये हैं । यह दृश्य जगत् सृष्टिके आरम्भमें ही उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये कभी भी इसका अस्तित्व है ही नहीं । जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह मैं ही हूँ—मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे यह भिन्न नहीं है, ऐसे अभ्यासको बोध (ब्रह्मज्ञान) का अभ्यास कहा गया है । दृश्यकी उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं, इस बोधसे राग-द्वेष आदिका क्षय हो जानेपर ब्रह्मचिन्तनके बलसे उत्पन्न हुई जो परमात्मरति है, वह ब्रह्माभ्यास है । जैसे शरद् ऋतुमें हिमके समान शीतल ओस-जलके अभिषेकसे सब ओर फैला हुआ भारी कुहरा मिट जाता है, उसी प्रकार चित्तमें पूर्वोक्त रीतिसे अभ्यासमें लाये हुए विवेक-बोधरूपी जलके निरन्तर सिञ्चनसे, जो सम्पूर्ण तापोंको शान्त करनेवाला होनेके कारण हिमके समान शीतल है, संसाररूपी कृष्णपक्षकी अँधेरी रातमें उत्पन्न हुई मोहमयी गाढ़ निद्रा सर्वथा गल जाती (मिट जाती) है।

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—जब मुनिवर वसिष्ठ इस प्रकार यह प्रसङ्ग सुना चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्त हो गये, मुनियोंकी वह सभा वसिष्ठजीको नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य करनेके लिये चली गयी और रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके साथ ही फिर सभा-स्थानमें आ गयी । (सर्ग २२)



सरस्वती और लीलाका ज्ञानदेहके द्वारा आकाशमें गमन और उसका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! वे दोनों श्रेष्ठ देवियाँ सरस्वती और लीला उस आधी रातके समय जब कि समस्त परिजन सो गये थे, पूर्वोक्तरूपसे बातचीत करके अन्तःपुरके मण्डपमें जो मुरझाये नहीं थे, ऐसे फूलोंकी मालारूपी वस्त्रसे ढके हुए राजाके शवके पास ही एक आसनपर बैठ गयीं । वे समाधिमें स्थित हो ऐसी निश्चल हो गयीं मानो रत्नके बने हुए खंभेमें खुदी हुई दो मूर्तियाँ हों अथवा दीवालमें अङ्कित किये गये दो सुन्दर चित्र हों । निर्विकल्प समाधि लग जानेसे वे बाह्यज्ञानसे शून्य हो गयीं । पहले उन दोनोंको 'मैं जगत्' इस भ्रमरूप दृश्यकी अनुत्पत्तिका बोध हुआ, अर्थात् उन्होंने भी अनुभव किया कि जगत्की कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं । जब ऐसा अनुभव हुआ, तब उन्हें इस दृश्य-प्रपञ्चके अत्यन्ताभावका निश्चयात्मक ज्ञान हो गया । फिर तो उन दोनोंकी दृष्टिसे यह दृश्य-रूपी पिशाच पूर्णतया ओझल हो गया—किसी आडमें छिप गया हो, ऐसी बात नहीं । उसकी सत्ता है ही नहीं, इसलिये वह सर्वथा अदृश्य हो गया । निष्पाप रघुनन्दन ! जैसे हमलोगोंकी दृष्टिमें खरगोशके सींग नहीं हैं और न होनेके कारण ही वे दीखते नहीं, उसी तरह यह दृश्य-पिशाच न होनेके कारण ही उनके लिये सर्वथा तिरोहित हो गया । जो वस्तु पहलेसे ही नहीं है, वह वर्तमानमें भी अस्तित्वशून्य ही है । इस जगत्की यही स्थिति है । यह प्रतीत हो तो मृगतृष्णामें जलकी प्रतीतिके समान असत् है और यदि प्रतीत न हो तो खरगोशके सींगकी भाँति असत् है । तात्पर्य यह कि किसी भी दशामें इसकी सत्ता नहीं है ।

ज्ञानकी देवी सरस्वती अपने उसी ज्ञानमय शरीरसे विचरण करने लगीं । परंतु मानवी रानी लीलाने मानव-देहके अभिमानका त्याग करके ध्यान और ज्ञानके अनुरूप दिव्य शरीरका आश्रय ले उसीके द्वारा तीव्र गतिसे आकाशमें विचरना आरम्भ किया । उन दोनोंने उद्बुद्ध

हुए पूर्वसंकल्पजनित संस्कार-ज्ञानसे गृहाकाशमें ही एक बित्ता ऊँचे उठकर आकाश-गमनमें समर्थ चिन्मय आकृतियाँ धारण कर लीं। दोनों ही चेतन आकाश (ब्रह्म)-रूपिणी हो गयीं। यद्यपि वे उसी घरमें बैठी रहीं, तथापि चिन्मय चित्तके संकल्पसे कोटि योजन विस्तृत दूर-से-दूर आकाशस्थलमें उड़ने लगीं—उड़नेका अनुभव करने लगीं। यद्यपि ये दोनों सखियाँ वास्तवमें चेतन आभासमय शरीरवाली थीं, तो भी पूर्वसंकल्पित दृश्यके अनुसंधानमें लगे रहनेवाले चित्तके साथ अभिन्नताको प्राप्त हुए अपने स्वभावके कारण वे एक दूसरेके शरीरको देखती और परस्पर स्नेहमग्न होती थीं।

तदनन्तर वे दोनों देवियाँ यथाशक्ति यत्र-तत्र विश्राम करती हुई धीमी चालसे आगे बढ़ने लगीं। उन्होंने शून्यमें ही देखा आकाशमण्डल बड़े-बड़े भुवनों और वहाँके निवासियोंके निर्माण कार्यसे अत्यन्त भर गया है—अवकाशशून्य हो रहा है। ऊपर-ऊपरका आकाश भिन्न-भिन्न भुवनोंसे अलग-अलग घिरा हुआ था। वे सुन्दर विमानोंसे सुशोभित भुवन विचित्र आभूषणोंके समान प्रतीत होते थे। उसमें कहींपर वज्र, चक्र, शूल, खड्ग और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रोंके अधिष्ठाता देवता मूर्तिमान् होकर विचर रहे थे। उनसे युक्त वह लोक बिना भीतके ही भवनोंसे विभूषित था और वहाँ नारद, तुम्बुरु आदि गन्धर्व गीत गाते थे। कहीं मेघोंके मार्गमें (पुष्कर और आवर्तक आदि) महामेघोंके वृष्टि-सम्बन्धी महान् आयोजनसे वहाँ सब ओर हलचल मची थी और कहींपर प्रलयकालके मेघ चित्रलिखितकी भाँति निश्चेष्ट एवं नीरव दिखायी देते थे। कहीं उठते हुए कज्जलगिरिके समान सुन्दर मेघोंकी घटा घिरी आ रही थी। कहीं सुवर्ण-द्रवके समान मनोहर सूर्यके तापको दूर करनेवाले बादल छा रहे थे और कहीं दिशाओंके दाहसे उत्पन्न हुई गरमी फैल रही थी। कहीं शून्यतारूपी जलसे परिपूर्ण आकाश प्रशान्त महासागरके समान शोभा पाता था। कहीं विमानोंपर बैठे हुए देवताओंकी बहुरंगी प्रभासे आकाशकी रूप-रेखा चितकबरी-सी जान पड़ती थी। कहीं वह शान्त, समाधिस्थ तथा परम पदमें विश्रान्त मुनियोंकी मण्डलीसे घिरा हुआ था और कहीं जिन्होंने क्रोधको दूरसे ही त्याग दिया है, उन साधु-महात्माओंके चित्तके समान वह सुन्दर एवं सम था। कहीं रुद्रपुर, कहीं ब्रह्मपुर और कहीं मायानिर्मित पुर वहाँ दृष्टिगोचर होते थे। कहीं सिद्धोंके समुदाय विचर रहे थे। कहीं वह आकाश ज्ञानी पुरुषके हृदयकी भाँति दृश्यभ्रमसे अत्यन्त शून्य, उज्ज्वल, आवरणरहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त, स्वच्छ एवं विस्तृत था।

जहाँ गूलरके फलके भीतर रहनेवाले छोटे-छोटे मच्छरोंके समान त्रिभुवनवासी प्राणियोंका समुदाय घूम रहा था, उस आकाशको बहुत ऊँचेतक लाँघकर वे दोनों ललनाएँ फिर भूतलपर जानेको उद्यत हुईं। (सर्ग २३-२४)

लीलाका भूतलमें प्रवेश और उसके द्वारा अपने पूर्वजन्मके स्वजनोंके दर्शन, ज्येष्ठशर्माको माताके रूपमें लीलाका दर्शन न होनेका कारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! आकाशसे किसी पर्वतीय ग्रामको जाती हुई उन दोनों स्त्रियोंने उसी भूतलको देखा, जो ज्ञानकी देवी सरस्वतीके मनमें था—जिसे वे लीलाको दिखाना चाहती थीं। सागर, बड़े-बड़े पर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतलसे परिवेष्टित जगत्‌के मध्यभागका अवलोकन करके मानव-कन्या रानी लीलाने तुरंत ही अपने मन्दिरके आधारभूत पर्वतीय ग्रामका वह स्थान देखा।

इस प्रकार वे दोनों सुन्दरियाँ, जहाँ राजा पद्म रहते थे, उस ब्रह्माण्डमण्डलसे निकलकर दूसरे ब्रह्माण्डमें

हैं, वे ही भव्य (कल्याणके भागी) पुरुष भूमण्डलमें विजयी होते—उत्कृष्ट पद पाते हैं । जिनकी बुद्धि उदारता (परिग्रह-त्याग)-रूपी सौन्दर्य और वैराग्यके रससे रञ्जित हो आनन्दका स्पन्दन करनेवाली है, वे ही उत्तम अभ्यासी कहे गये हैं । जो लोग युक्ति तथा शास्त्रोंके ज्ञाताके द्वारा जाननेमें आनेवाली लौकिक ज्ञेय वस्तुओंके अत्यन्ताभावकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहे गये हैं । यह दृश्य जगत् सृष्टिके आरम्भमें ही उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये कभी भी इसका अस्तित्व है ही नहीं । जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह मैं ही हूँ—मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे यह भिन्न नहीं है, ऐसे अभ्यासको बोध (ब्रह्मज्ञान) का अभ्यास कहा गया है । दृश्यकी उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं, इस बोधसे राग-द्वेष आदिका क्षय हो जानेपर ब्रह्मचिन्तनके बलसे उत्पन्न हुई जो परमात्मरति है, वह ब्रह्माभ्यास है । जैसे शरद् ऋतुमें हिमके समान शीतल ओस-जलके अभिषेकसे सब ओर फैला हुआ भारी कुहरा मिट जाता है, उसी प्रकार चित्तमें पूर्वोक्त रीतिसे अभ्यासमें लाये हुए विवेक-बोधरूपी जलके निरन्तर सिञ्चनसे, जो सम्पूर्ण तापोंको शान्त करनेवाला होनेके कारण हिमके समान शीतल है, संसाररूपी कृष्णपक्षकी अँधेरी रातमें उत्पन्न हुई मोहमयी गाढ़ निद्रा सर्वथा गल जाती (मिट जाती) है ।

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—जब मुनिवर वसिष्ठ इस प्रकार यह प्रसङ्ग सुना चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्त हो गये, मुनियोंकी वह सभा वसिष्ठजीको नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य करनेके लिये चली गयी और रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके साथ ही फिर सभा-स्थानमें आ गयी । (सर्ग २२)

सरस्वती और लीलाका ज्ञानदेहके द्वारा आकाशमें गमन और उसका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! वे दोनों श्रेष्ठ देवियाँ सरस्वती और लीला उस आधी रातके समय जब कि समस्त परिजन सो गये थे, पूर्वोक्तरूपसे बातचीत करके अन्तःपुरके मण्डपमें जो मुरझाये नहीं थे, ऐसे फूलोंकी मालारूपी वस्त्रसे ढके हुए राजाके शवके पास ही एक आसनपर बैठ गयीं । वे समाधिमें स्थित हो ऐसी निश्चल हो गयीं मानो रत्नके बने हुए खंभेमें खुदी हुई दो मूर्तियाँ हों अथवा दीवालमें अङ्कित किये गये दो सुन्दर चित्र हों । निर्विकल्प समाधि लग जानेसे वे बाह्यज्ञानसे शून्य हो गयीं । पहले उन दोनोंको 'मैं जगत्' इस भ्रमरूप दृश्यकी अनुत्पत्तिका बोध हुआ, अर्थात् उन्होंने भी अनुभव किया कि जगत्की कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं । जब ऐसा अनुभव हुआ, तब उन्हें इस दृश्य-प्रपञ्चके अत्यन्ताभावका निश्चयात्मक ज्ञान हो गया । फिर तो उन दोनोंकी दृष्टिसे यह दृश्य-रूपी पिशाच पूर्णतया ओझल हो गया—किसी आड़में छिप गया हो, ऐसी बात नहीं । उसकी सत्ता है ही नहीं, इसलिये वह सर्वथा अदृश्य हो गया । निष्पाप रघुनन्दन ! जैसे हमलोगोंकी दृष्टिमें खरगोशके सींग नहीं हैं और न होनेके कारण ही वे दीखते नहीं, उसी तरह यह दृश्य-पिशाच न होनेके कारण ही उनके लिये सर्वथा तिरोहित हो गया । जो वस्तु पहलेसे ही नहीं है, वह वर्तमानमें भी अस्तित्वशून्य ही है । इस जगत्की यही स्थिति है । यह प्रतीत हो तो मृगतृष्णामें जलकी प्रतीतिके समान असत् है और यदि प्रतीत न हो तो खरगोशके सींगकी भाँति असत् है । तात्पर्य यह कि किसी भी दशामें इसकी सत्ता नहीं है ।

ज्ञानकी देवी सरस्वती अपने उसी ज्ञानमय शरीरसे विचरण करने लगीं । परंतु मानवी रानी लीलाने मानव-देहके अभिमानका त्याग करके ध्यान और ज्ञानके अनुरूप दिव्य शरीरका आश्रय ले उसीके द्वारा तीव्र गतिसे आकाशमें विचरना आरम्भ किया । उन दोनोंने उद्बुद्ध

हुए पूर्वसंकल्पजनित संस्कार-ज्ञानसे गृहाकाशमें ही एक बित्ता ऊँचे उठकर आकाश-गमनमें समर्थ चिन्मय आकृतियाँ धारण कर लीं । दोनों ही चेतन आकाश (ब्रह्म)-रूपिणी हो गयीं । यद्यपि वे उसी घरमें बैठी रहीं, तथापि चिन्मय चित्तके संकल्पसे कोटि योजन विस्तृत दूर-से-दूर आकाशस्थलमें उडने लगीं—उडनेका अनुभव करने लगीं । यद्यपि ये दोनों सखियाँ वास्तवमें चेतन आभासमय शरीरवाली थीं, तो भी पूर्वसंकल्पित दृश्यके अनुसंधानमें लगे रहनेवाले चित्तके साथ अभिन्नताको प्राप्त हुए अपने स्वभावके कारण वे एक दूसरेके शरीरको देखती और परस्पर स्नेहमग्न होती थीं।

तदनन्तर वे दोनों देवियाँ यथाशक्ति यत्र-तत्र विश्राम करती हुई धीमी चालसे आगे बढ़ने लगीं । उन्होंने शून्यमें ही देखा आकाशमण्डल बड़े-बड़े भुवनों और वहाँके निवासियोंके निर्माण कार्यसे अत्यन्त भर गया है—अवकाशशून्य हो रहा है । ऊपर-ऊपरका आकाश भिन्न-भिन्न भुवनोंसे अलग-अलग घिरा हुआ था । वे सुन्दर विमानोंसे सुशोभित भुवन विचित्र आभूषणोंके समान प्रतीत होते थे । उसमें कहींपर वज्र, चक्र, शूल, खड्ग और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रोंके अधिष्ठाता देवता मूर्तिमान् होकर विचर रहे थे । उनसे युक्त वह लोक बिना भीतके ही भवनोंसे विभूषित था और वहाँ नारद, तुम्बुरु आदि गन्धर्व गीत गाते थे । कहीं मेघोंके मार्गमें (पुष्कर और आवर्तक आदि) महामेघोंके वृष्टि-सम्बन्धी महान् आयोजनसे वहाँ सब ओर हलचल मची थी और कहींपर प्रलयकालके मेघ चित्रलिखितकी भाँति निश्चेष्ट एवं नीरव दिखायी देते थे । कहीं उठते हुए कज्जलगिरिके समान सुन्दर मेघोंकी घटा घिरी आ रही थी । कहीं सुवर्ण-द्रवके समान मनोहर सूर्यके तापको दूर करनेवाले बादल छा रहे थे और कहीं दिशाओंके दाहसे उत्पन्न हुई गरमी फैल रही थी । कहीं शून्यतारूपी जलसे परिपूर्ण आकाश प्रशान्त महासागरके समान शोभा पाता था । कहीं विमानोंपर बैठे हुए देवताओंकी बहुरंगी प्रभामें आकाशकी रूप-रेखा चितकबरी-सी जान पड़ती थी । कहीं वह शान्त, समाधिस्थ तथा परम पदमें विश्रान्त मुनियोंकी मण्डलीसे घिरा हुआ था और कहीं जिन्होंने क्रोधको दूरसे ही त्याग दिया है, उन साधु महात्माओंके चित्तके समान वह सुन्दर एवं सम था । कहीं रुद्रपुर, कहीं ब्रह्मपुर और कहीं मायानिर्मित पुर वहाँ दृष्टिगोचर होते थे । कहीं सिद्धोंके समुदाय विचर रहे थे । कहीं वह आकाश ज्ञानी पुरुषके हृदयकी भाँति दृश्यभ्रमसे अत्यन्त शून्य, उज्ज्वल, आवरणरहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त, स्वच्छ एवं विस्तृत था ।

जहाँ गूलरके फलके भीतर रहनेवाले छोटे छोटे मच्छरों-के समान त्रिभुवनवासी प्राणियोंका समुदाय घूम रहा था, उस आकाशको बहुत ऊँचेतक लाँघकर वे दोनों ललनाएँ फिर भूतलपर जानेको उद्यत हुईं । (सर्ग २३-२४)

लीलाका भूतलमें प्रवेश और उसके द्वारा अपने पूर्वजन्मके स्वजनोंके दर्शन, ज्येष्ठशर्माको माताके रूपमें लीलाका दर्शन न होनेका कारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! आकाशसे किसी पर्वतीय ग्रामको जाती हुई उन दोनों स्त्रियोंने उसी भूतलको देखा, जो ज्ञानकी देवी सरस्वतीके मनमें था—जिसे वे लीलाको दिखाना चाहती थीं। सागर, बड़े-बड़े पर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतलसे परिवेष्टित जगत्के मध्यभागका अवलोकन करके मानव-कन्या रानी लीलाने तुरंत ही अपने मन्दिरके आधारभूत पर्वतीय ग्रामका वह स्थान देखा ।

इस प्रकार वे दोनों सुन्दरियाँ, जहाँ राजा पद्म रहते थे, उस ब्रह्माण्डमण्डलसे निकलकर दूसरे ब्रह्माण्डमें

ना पहुँचीं, जहाँ वसिष्ठ नामक ब्राह्मणका घर था। वे दोनों ही स्त्रियाँ सिद्ध थीं। उन्होंने दूसरे लोगोंसे अदृश्य रहकर ही ब्राह्मणके निवासभूत मण्डपको, जो उनका अपना ही घर था, देखा। वह घर गृहस्वामीके वियोगसे हतप्रभ हो गया था। उसके मुख अर्थात् द्वारकी कान्ति करुणासे व्याप्त थी और उसका विनाश निकट था।

रघुनन्दन! सुन्दरी लीला चिरकालतक सुन्दर ज्ञानका अभ्यास करनेके कारण देवताकी भाँति सत्यसंकल्प और सत्यकाम हो गयी थी। (वह जो चाहती, वही हो जाता था।) उसने सोचा, ये मेरे बन्धुजन मुझको और इन देवी सरस्वतीको साधारण स्त्रीके रूपमें देखें। उसके ऐसा संकल्प करते ही उस घरके लोगोंने वहाँ दो दिव्याङ्गनाओंको देखा, जो उस घरको अपनी प्रभासे उद्भासित कर रही थीं। वे दोनों लक्ष्मी और पार्वतीकी जोड़ी-सी जान पड़ती थीं। तदनन्तर ज्येष्ठशर्माने घरके अन्य लोगोंके साथ यह कहकर कि 'आप दोनों वनदेवियोंको नमस्कार है' उन दोनोंके लिये पुष्पाञ्जलि छोड़ी।



उस समय ज्येष्ठशर्मा आदि बोले—वनदेवियो! आप दोनोंकी जय। निश्चय ही आप हमारे दुःखोंका नाश करनेके लिये आयी हैं; क्योंकि प्रायः दूसरोंका संकटसे उद्धार करना ही सत्पुरुषोंका अपना कार्य होता है।

ज्येष्ठशर्मा आदिके ऐसा कहनेके पश्चात् वे दोनों देवियाँ बड़े आदरसे बोलीं—'तुम सब लोग अपना वह दुःख बताओ, जिससे यह सारा जनसमुदाय दुखी दिखायी देता है।' तब उन ज्येष्ठशर्मा आदिने उन दोनों देवियोंसे क्रमशः ब्राह्मणदम्पतीके मरणरूप अपना सारा दुःख निवेदन किया।

ज्येष्ठशर्मा आदि बोले—देवियो! यहाँ दो ब्राह्मण पति-पत्नी रहते थे, जिनका आपसमें बड़ा स्नेह था। वे यहाँ पधारे हुए सभी लोगोंका आतिथ्य-सत्कार करते थे। हमारी इस कुल-परम्पराके प्रवर्तक भी वे ही थे। द्विजातियोंकी मर्यादाके तो वे स्तम्भ ही थे। वे ही दोनों हमारे माता-पिता थे। इस समय पुत्रों, बन्धु-बान्धवों और पशुओंसहित इस घरको त्यागकर वे दोनों स्वर्गलोकको चले गये हैं, इससे हमें तीनों लोक सूने दिखायी देते हैं। इसलिये देवियो! आप दोनों पहले हमारे इस शोकका निवारण करें, क्योंकि महात्माओंके दर्शन कभी निष्फल नहीं होते।

पुत्र ज्येष्ठशर्मा जब ऐसा कह चुका, तब माता लीलाने अपने हाथसे उसके मस्तकका स्पर्श किया। उसके उस स्पर्शसे ज्येष्ठशर्माके दुःख-दुर्भाग्यरूपी संकटका तत्काल निवारण हो गया। घरके सभी लोग उन दोनों देवियोंके दर्शनसे अमृत पीनेवाले देवताओंके समान दुःखसे मुक्त हो दिव्य शोभासे सम्पन्न हो गये।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! माता लीलाने अपने पुत्र ज्येष्ठशर्माको उसकी माताके रूपमें ही उसे क्यों नहीं दर्शन दिया? आप पहले मेरे इस मोह (संदेह) का ही निराकरण कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! मनुष्य जैसी भावना करता है, उसके अनुसार ही इन पदार्थोंका

अभ्यासजनित स्वरूप दिखायी देता है, किसी भी पदार्थका वास्तवमें कोई एक रूप नहीं है। लीलाने तो यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि पृथ्वी आदि भूतोंका अस्तित्व कदापि नहीं है। चेतन आकाशरूप जो ब्रह्म है, वही कल्पनाद्वारा मिथ्या प्रपञ्चरूपसे प्रकट हो भासित हो रहा है (उसका ज्येष्ठशर्माके प्रति पुत्र-सम्बन्धी-स्नेह नहीं रह गया था, इसलिये उसे अपनी माताके रूपमें लीलाका दर्शन नहीं हुआ) सर्वत्र सभी रूपोंमें केवल एक चेतनाकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही विराजमान है— जिसे ऐसा बोध प्राप्त हो गया है, उस मुनिके लिये कौन, किस प्रकार, कब और किस निमित्त-से पुत्र, मित्र एवं कलत्र हो सकते हैं। दृश्य-प्रपञ्च तो सृष्टिके आदिमें ही उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह अजन्मा ब्रह्म ही है। ऐसे यथार्थ ज्ञानवाले लोगोंको राग-द्वेषसे युक्त दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है।

(सर्ग २५-२६)

लीलाकी सत्य-संकल्पता, उसे अपने अनेक जन्मोंकी स्मृति, लीला और सरस्वतीका आकाशमें भ्रमण तथा परम व्योम—परमात्माकी अनादि-अनन्त सत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं— रघुनन्दन! उस पर्वतके तट-प्रान्तमें बसे हुए ग्रामके भीतर उस ब्राह्मणके गृहरूपी आकाश-में ही खड़ी हुई वे दोनों स्त्रियाँ सहसा अदृश्य हो गयीं। उस घरके लोगोंने समझा कि दोनों वनदेवियोंने हमपर बड़ी भारी कृपा की है, अतः उनका सारा दुःख मिट गया और वे अपने-अपने काम-धंधोंमें लग गये। तत्पश्चात् उस मण्डपाकाशमें दूसरोंकी दृष्टिसे तिरोहित हुई लीलासे, जो वहाँ मुस्कराती हुई चुपचाप खड़ी थी, सरस्वतीने कहा—



श्रीसरस्वतीजी बोलीं—बेटी! तुमने ज्ञातव्य वस्तुको पूर्णरूपसे जान लिया है, द्रष्टव्य पदार्थोंको देख लिया है। इस प्रकारकी यह ब्रह्मसत्ता है। बताओ, अब और क्या पूछती हो?

लीलाने पूछा—देवि! मेरे मृत-पतिका जीव जहाँपर राज्य करता है, वहाँपर मुझे उन लोगोंने क्यों नहीं देखा? और यहाँ मेरे पुत्रने कैसे देख लिया?

श्रीसरस्वतीजीने कहा—सुन्दरी! मैं लीला हूँ—ऐसा जो तुम्हारा दृढ़ संस्कार था, वह पहले नष्ट नहीं हुआ था; क्योंकि उस संस्कारको मिटानेके लिये तुमने वैसा अभ्यास नहीं किया। जबतक वह संस्कार बना था, तबतक तुम्हारी सत्य-सकल्पता प्रकट नहीं हुई थी। अब वह संस्कार मिट जानेसे तुम सत्य-संकल्प हो गयी हो। इसलिये जब तुमने यह अभिलाषा की कि मेरा पुत्र मुझे देखे, तब तुम्हारा वह मनोरथ तत्काल सफल हुआ। इस समय यदि तुम अपने पतिके समीप जाओ तो उसके साथ भी तुम्हारा सारा व्यवहार पहलेकी ही भाँति होने लगेगा।

लीला बोली—देवि! इसी मण्डपके आकाशमें मेरे पतिदेव ब्राह्मण उत्पन्न हुए और इसीमें मृत्युको प्राप्त होकर राजा हो गये। अन्य भूमण्डलरूप उनका वह ससार भी यहीं है। इसमें जो उनकी राजधानीका

नगर है, उसमें मैं उनकी राजमहिषीके रूपमें स्थित हूँ। यहीं उस अन्तःपुरमें मेरे पति राजा पद्मकी मृत्यु हुई और इसी अन्तःपुरके आकाशमें वह नगर है, जिसमें वे पुनः राजा हुए हैं। ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके पश्चात् आजतक विभिन्न योनियोंमें जो मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, उनमेंसे आठ सौ जन्मोंको तो मैं इस समय पुनः देख-सी रही हूँ, उनकी सारी बातोंका स्पष्टरूपसे स्मरण कर रही हूँ। देवि! पहले किसी दूसरे संसार-मण्डलमें मैं लोकान्तररूपी कमलकी भ्रमरी—विद्याधर-राजकी धर्मपत्नी हुई थी। उन दिनों मेरा हृदय दुर्वासनाओंसे दूषित था। इसलिये उसके बाद मैं मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुई, तदनन्तर दूसरे संसार-मण्डलमें मैं नागराजकी भार्या हुई। इसके बाद कदम्ब, कुन्द, जम्बीर और करञ्जोंके वनमें निवास करनेवाली तथा वृक्षोंके पत्तोंको ही वस्त्रके रूपमें धारण करनेवाली काली-कलूटी भीलनी हुई।

तदनन्तर पुरुषत्वरूपी फल देनेवाले कर्मोंके परिणाममें-से मैं सौ वर्षोंतक सौराष्ट्र देशमें श्रीसम्पन्न राजा होकर रही। फिर राजा-शरीरसे बने हुए दुष्कर्म-दोषके कारण ताड़ वृक्षके नीचे किसी नदीके कछारमें नौ वर्षोंतक नेवलीकी योनिमें रही। उस समय मेरे सारे अङ्ग कुष्ठ-रोगसे नष्टप्राय हो गये थे। देवि! उसके बाद मैं सौराष्ट्र देशमें आठ वर्षोंतक गौका शरीर धारण करके रही। उस योनिमें दुर्जन, दुष्ट, अज्ञ और बालक ग्वालों-की मारने-पीटने आदि क्रीडाओंका साधन बनी रही। फिर क्रमशः पक्षिणी, भ्रमरी, मनोहर नेत्रवाली हरिणी, मछली, पुलिन्द जातिकी स्त्री सारसी और राजहंसी हुई। इस प्रकार नाना प्रकारके शत-शत दुःखोंसे संकुल अनेकानेक योनियोंमें मैंने भ्रमण किया है। तराजूके पलड़ेकी भाँति कभी ऊँचे उठने और कभी नीचे गिरनेसे मेरे सारे अङ्ग व्याकुल होते रहे हैं। मैं संसाररूपी विशाल सरिताकी चञ्चल तरङ्ग बनकर उठती और विलीन होती रही हूँ। जैसे वातप्रमी जातिकी हरिणीकी गतिको रोकना कठिन है, उसी प्रकार मैं दुर्निवार्य आवागमन-की परम्परामें पड़कर क्रमशः विभिन्न योनियोंमें भटकती आयी हूँ।

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करती हुई वे दोनों सुन्दरी ललनाएँ मनोहारिणी गतिसे उस घरके बाहर निकलीं। उस समय गाँवके लोग उन्हें नहीं देख पाते थे, परंतु वे दोनों अपने सामनेके पर्वतको अच्छी तरह देख रही थीं।

लीला बोलीं—देवि! इस देशको देखकर मैं आपकी कृपासे अपने पूर्वजन्मकी उन सभी विविध चेष्टाओंका स्मरण करती हूँ, जो यहाँ घटित हुई हैं; मैं यहाँ बूढ़ी ब्राह्मणीके रूपमें रहती थी। मेरे सारे अङ्ग उभरी हुई नस-नाड़ियोंसे



व्याप्त दिखायी देते थे। मैं बहुत दुबली-पतली थी। मेरा शरीर गौर और बाल सफेद थे। मेरी हथेली सूखे कुशों-के अग्रभागसे छिन्न-भिन्न होती रहनेके कारण रूखी हो गयी थी। मैं अपने पतिदेवके कुलकी वृद्धि करनेवाली

भार्या थी । दूध और मथानी मेरी शोभा बढ़ाते थे । मैं सारे पुत्रोंकी अकेली माता और अतिथियोंका सत्कार करनेवाली गृहिणी थी । देवताओं, ब्राह्मणों और संत-महात्माओंके प्रति मेरे मनमें बड़ी भक्ति थी । मैं मर्जनपात्र, चरुस्थाली तथा कलश आदि पात्रों एवं यज्ञके अन्य उपकरणोंको धो-पोंछकर साफ-सुथरा रखती थी । जमाई, बेटी, भाई, पिता और माताकी सदा सेवा-शुश्रूषा करती थी । जबतक मेरा शरीर रहा, तबतक घरकी ही सेवा-टहलमें मेरे दिन-रात बीतते थे । 'ओह ! इस काममें बहुत देर हो गयी, बड़ा विलम्ब हुआ' इत्यादि बातें कहती और निरन्तर कार्यमें व्यस्त रहती थी । 'मैं कौन हूँ, यह संसार कैसा है ?' इस बातकी चर्चा या इन प्रश्नोंपर विचार कभी स्वप्नमें भी मैंने नहीं किया । मेरे पति श्रोत्रिय होनेके साथ ही तत्त्व-विचारमें मूढ़ थे । मेरे ही समान उनकी भी घरमें आसक्ति बनी हुई थी । उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं थी । समिधा, साग, गोबर और ईंधनके संग्रहमें ही मेरी एकमात्र निष्ठा थी । घरके पास खेतोंमें जो साग-सब्जीकी क्यारियाँ थीं, उन्हें सींचनेके लिये मैं जल्दी-जल्दी जलपात्र लेकर आनेके निमित्त नौकरोंको पुकारा करती थी । जलकी लहरोंके किनारे जो हरी-हरी घासें उगी होती थीं, उन्हें स्वयं लाकर मैं अपनी छोटी-सी बछियाको तृप्त किया करती थी । प्रतिक्षण घरके दरवाजेको लीपकर वहाँ चौक बनाती और उसमें भाँति-भाँतिके रंग भरकर सजा देती थी । घरके नौकरोंको शिक्षा देनेके लिये मैं कुछ दीनताके साथ नम्रतापूर्वक समझाती कि 'लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे, इसलिये तुम्हें विनय और सदाचारसे रहना चाहिये ।' जैसे समुद्र अपनी तटभूमिका लङ्घन न करके निरन्तर मर्यादामें स्थित रहता है, उसी प्रकार मैं भी धर्म-मर्यादाके नियमसे कभी च्युत नहीं होती थी ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यों कहकर उस पर्वतीय ग्रामके भीतर भ्रमण करती हुई लीलाने अपने साथ विचरती हुई सरस्वती देवीको मन्द मुस्कान-के साथ वहाँकी एक-एक वस्तुको दिखाया । फिर वह इस प्रकार बोली—'देवि ! इस घरके आकाशमें ही वह मेरे पतिका जीव राजाके रूपमें रह रहा है । यहीं अङ्गुष्ठमात्र गृहाकाशके भीतर ही स्थित परमार्थ वस्तु (परब्रह्म) को मैंने भ्रमसे करोड़ों योजन विस्तृत पति-का राज्य समझा था । जगदीश्वरि ! हम दोनों चेतन-आकाशरूप परमात्मा ही हैं । मेरे पतिदेवका राज्य, जो सहस्रों पर्वतोंसे भरा हुआ है आकाशमें ही स्थित है । यह बहुत बड़ी माया फैली हुई है । इसलिये देवि ! अपने पतिके नगरमें जानेकी पुनः मेरी इच्छा हो रही है । अतः चलिये, हम दोनों वहाँ चलें । जिन्होंने कहीं जानेका निश्चय कर लिया हो, उनके लिये वह स्थान क्या दूर है ?'

यों कहकर लीलाने देवीको प्रणाम किया और शीघ्र ही गृह-मण्डपमें प्रवेशकर सरस्वती देवीके साथ



वह आकाशमें उड़ चली । भगवान् विष्णुकी अङ्गकान्ति-

के समान नीले मेघपथको लाँघकर वे प्रवह आदि सात वायुओंके लोकमें जा पहुँचीं। फिर वहाँसे सौरमार्ग तथा चन्द्रमार्गको लाँघती हुई वे ध्रुवमार्गसे भी ऊपर पहुँच गयीं। इसके बाद साध्योंके मार्गसे ऊपर उठकर सिद्धोंकी भूमिको भी लाँघ गयीं और स्वर्गमण्डलको भी लाँघकर अत्यन्त दूर जानेपर लीलाको कुछ बोध हुआ। फिर उसने पीछे फिरकर पार किये हुए आकाश-स्थलका अवलोकन किया। वहाँसे नीचे देखनेपर चन्द्रमा, सूर्य और तारा आदि कुछ भी नहीं दिखायी देते थे। केवल अन्धकार-ही-अन्धकार था।

तब लीलाने पूछा—देवि! बताओ, सूर्य आदिका तेज नीचे कहाँ चला गया? पत्थरके मध्यभागकी भाँति सुदृढ एवं घनीभूत होनेके कारण मुट्ठीमें लेने योग्य यह अन्धकार कहाँसे आ गया?

श्रीसरस्वती देवीने कहा—बेटी! तुम इतनी दूर आकाश-मार्गमें आ गयी हो कि यहाँसे सूर्य आदि तेज भी नहीं दिखायी देते।

लीला बोली—देवि! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है। क्या हम दोनों आकाश-मार्गमें इतनी दूर आ गयीं जहाँसे नीचे सूर्यदेव भी परमाणुके कणकी भाँति तनिक भी दिखायी नहीं देते? माताजी! इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा? देवि! यह सब मुझे बताइये।

श्रीसरस्वती देवीने कहा—बेटी! इसके बाद आगे तुम्हें ब्रह्माण्ड-सम्पुटके ऊपरी कपालमें जाना है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वतकी चट्टानोंसे बनी हुई घनीभूत मण्डपवाली दीवालपर पहुँच जायँ, उसी प्रकार आपसमें उपर्युक्त बातें करती हुई वे दोनों देवियाँ ब्रह्माण्ड-सम्पुटके ऊपरवाले कपालतक पहुँच गयीं। साथ ही जैसे कोई आकाशसे निकले, उसी तरह वे वहाँसे अनायास ही बाहर निकल गयीं। जो वस्तु सत्यताके दृढ निश्चयसे युक्त होती है, वही वज्रके समान ठोस और भारी होती है और जो इससे भिन्न कल्पित दीवार आदि वस्तु है, वह मिथ्यात्व-बुद्धिसे बाधित हो जाती है। लीलाका विज्ञान आवरणशून्य था। इसलिये वह ब्रह्माण्ड-सम्पुटके ऊपरवाले कपालको मिथ्यात्व-बुद्धिसे बाधित करके उससे बाहर निकल गयी। ब्रह्माण्डके पार जानेपर उसे अत्यन्त प्रकाशमान जल आदिका आवरण दिखायी दिया, जो सब ओर व्याप्त था। उस आवरण-समुदायमें जो जलका आवरण है, उसमें ब्रह्माण्डकी अपेक्षा दसगुना जल विद्यमान है। उसके बाद उससे भी दसगुना अग्निमय आवरण है। फिर उससे भी दसगुनी वायु और उससे भी दसगुने आकाशके आवरण हैं। तदनन्तर विशुद्ध चिन्मय आकाश है। उस परम व्योम (चेतनाकाश) रूप परब्रह्म परमात्मामें आदि, मध्य और अन्तकी कोई कल्पनाएँ नहीं उदित होतीं (वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण एवं अपरिच्छिन्न है)। वह अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्त, आदि अथवा कारणसे रहित, भ्रमशून्य, अनादि, अनन्त, मध्यरहित तथा अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित है। उस निर्मल चेतनाकाशस्वरूप परमात्मामें यदि एक कल्पतक बड़े भारी वेगसे ऊपरसे नीचेको पत्थरकी शिला गिरती रहे और नीचेसे पक्षिराज गरुड़ भी अपना सारा बल लगाकर ऊपरको उड़े तथा उनके बीचमें सबको मापनेमें समर्थ वायु समान वेगसे दोनों ओर बहे तो वह भी उन दोनोंका संयोग नहीं पा सकती। (सर्ग २७–२९)



लीलाद्वारा ब्रह्माण्डोंका निरीक्षण, दोनों देवियोंका भारतवर्षमें लीलाके पतिके राज्यमें जाना और वहाँ युद्धका आयोजन देखना; शूरके लक्षण तथा डिम्भाहवकी परिभाषा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर लीलाने उस अपरिमित चेतन आकाशस्वरूप परमात्मामें इस जगत्‌की ही भाँति फैले हुए अनन्त ब्रह्माण्डोंको देखा। जैसे धूप निकलनेपर जँगलेके छेदसे जो किरणें घरमें आती हैं, उनके अन्तर्गत आकाशमें असंख्य त्रसरेणु दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार लीलाने उन सभी ब्रह्माण्डोंमें सृष्टियोंको देखा, जो स्वयं-प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्यसे भासित थीं। अविद्यारूपी जलसे भरे हुए महाकाशरूपी महासागरमें महाचैतन्यके स्फुरणरूप द्रवीभावसे प्रकट हुए असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुद्‌बुदोंको लीलाने लक्ष्य किया।

जिसकी दृष्टि अज्ञानसे दूषित है, उसी पुरुषका असीम एवं महान् चेतन आकाशरूप परमात्मामें सम्पूर्ण आवरणोंसे युक्त ये ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं। सारे ही पदार्थ परतन्त्र होनेके कारण वेगपूर्वक इधर-उधर भाग रहे हैं (उनमें परस्पर आकर्षण होनेके कारण वे गिरते नहीं।) ब्रह्माण्डमें जो महापृथ्वीरूप भाग है, वह उसका अधोभाग है और उससे भिन्न जो आकाश है, वह उसका ऊपरीभाग है। जैसे गोल मिट्टीके ढेलेमें दसों दिशाओंकी ओरसे सटी हुई चींटियोंके जो पैर होते हैं, वे ही उनके लिये अधोभाग हैं और जिस ओर उनकी पीठ रहती है, वही ऊपरका भाग है, उसी प्रकार दसों दिशाओंमें संलग्न जो पैर हैं, वे ही नीचेके भाग कहलाते हैं और आकाशकी ओर जो पीठ या सिर होते हैं, उन्हें ऊर्ध्वभागमें स्थित बताया गया है—यह बड़े-बड़े विद्वानोंका कथन है। किन्हीं-किन्हीं ब्रह्माण्डोंके भीतरकी भूमि वृक्षों और वल्मीकोंके समूहसे व्याप्त है (उसमें मनुष्य नहीं हैं) और उन ब्रह्माण्डोंका निर्मल आकाश देवता, किन्नर तथा दैत्योंसे युक्त विभिन्न लोकोंसे वेष्टित है। जैसे पका हुआ अखरोटका फल छिलकेसे ढका रहता है, उसी प्रकार कुछ ब्रह्माण्ड तत्काल कल्पित जरायुज, उद्‌भिज्ज, अण्डज और स्वेदज—चार प्रकारके प्राणियों तथा ग्राम, नगर और पर्वतोंसे युक्त होकर उत्पन्न हुए हैं। स्थितिकालमें सम्पूर्ण पदार्थ चेतन परब्रह्म परमात्मामें रहते हैं। सृष्टिकालमें उससे उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें सब उसीमें लीन हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण दिशाओं, कालों और वस्तुओंमें वही हैं। उससे अतिरिक्त कोई नहीं है। वही नित्य, सर्वमय आत्मा है। उस परम प्रकाशके सागर शुद्ध बोधमय चेतन आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें ब्रह्माण्ड नामक तरङ्गें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती हैं। किन्हीं ब्रह्माण्डोंमें महाप्रलयकी प्राप्ति होनेपर जैसे सूर्यका ताप लगनेसे हिमकण गल जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य, अग्नि, विद्युत् और पर्वत भी गलने लगते हैं। कुछ ब्रह्माण्डोंके आदिपुरुष (सृष्टिकर्ता) ब्रह्मा हैं। कुछके आदिस्रष्टा और पालक भगवान् विष्णु हैं। कुछ ब्रह्माण्डोंके प्रजापति दूसरे (रुद्र एवं दुर्गा आदि हैं) तथा कुछ ब्रह्माण्डोंमें जो जीव जन्तु हैं, उनका कोई भी नाथ (रक्षक या नियन्त्रण करनेवाला) नहीं होता। इसी तरह कुछ ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि और प्रजापति विचित्र ही हैं। महामते ! जगत्‌के वर्णनके विषयमें हमारी बुद्धिका जो सम्पूर्ण वैभव था, उसे हम दिखला चुके। उसके बाद जो जगत् है, वह हमारी बुद्धिका विषय नहीं है। अतः उसका वर्णन करनेमें हम असमर्थ हैं।

अपने पूर्वजन्मके संसारसे निकलकर पूर्वोक्त रीतिसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी विचित्रताको देखती हुई उन दोनों स्त्रियोंने किसी ब्रह्माण्डमें प्रवेश करके वहाँके अन्तःपुरको देखा और फिर वहाँ वे शीघ्र ही बाहर निकल आयीं। उस अन्तःपुरमें पुष्पराशिसे आच्छादित महाराज पद्मका

महान् शव रक्खा था। उस शवके पास ही बैठी हुई लीलाका स्थूलशरीर था, जिसका चित्त समाधि-अवस्थामें आरूढ़ था। शोकके कारण रात्रि बड़ी प्रतीत होनेसे वहाँके लोग कुछ-कुछ प्रगाढ़ निद्रासे युक्त थे। वह अन्तःपुर धूप, चन्दन, कपूर और केसरकी सुगन्धसे भरा था। उसे देखकर लीलाको पतिके दूसरे संसारमें जानेकी इच्छा हुई (अर्थात् राजा पद्म मृत्युके पश्चात् जहाँ उत्पन्न हुए थे, वहाँ जानेके लिये वह उत्कण्ठित हुई) तब वे दोनों देवियाँ विभिन्न लोकों, पर्वतों और आकाशको लाँघकर भूतलपर पहुँचीं, जो पर्वतमालाओं तथा समुद्रोंसे घिरा हुआ था। तत्पश्चात् मेरुपर्वतसे अलंकृत जम्बूद्वीपमें गयीं, जिसका भीतरी भाग नौ खण्डोंमें विभक्त है। जम्बूद्वीपके भीतर भारतवर्षमें लीलाके पतिका राज्य था। वहीं वे दोनों जा पहुँचीं। इसी समय जो भूमण्डलका मण्डन था, उस राज्यमें किसी राजाने आक्रमण



किया। अपने सहायभूत सामन्तोंके कारण उस आक्रमणकारी भूपालकी शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उस राजाके साथ संग्राम छिड़नेपर उसे देखनेके लिये आये हुए तीनों लोकोंके प्राणियोंसे वहाँका आकाश ठसाठस भर गया। उक्त दोनों देवियाँ निश्शङ्क होकर वहाँ आ गयीं। उन्होंने उस आकाशको आकाशचारी प्राणियोंके समुदायसे इस तरह आक्रान्त देखा, मानो वहाँ मेघोंकी घटा घिर आयी हो। स्वर्गलोकमें स्थान पाने योग्य शूरवीरोंको लानेके लिये व्यग्र हुए इन्द्रके भट वहाँके आकाशको उद्भासित कर रहे थे।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! 'शूर' शब्दसे किस तरहके योद्धाका प्रतिपादन किया जाता है? कौन स्वर्गका अलंकार है अथवा कौन डिम्भाहव (बच्चोंका युद्ध) कहलाता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जो शास्त्रोक्त सदाचारसे युक्त स्वामीके लिये रणभूमिमें युद्ध करता है, वह चाहे मरे या विजयी हो दोनों अवस्थाओंमें शूर कहा गया है। वही स्वर्गलोकका भागी होता है। पूर्वोक्त विधिसे विपरीत अत्याचारी स्वामीके लिये युद्ध करके जो रणभूमिमें किसी प्राणीके द्वारा अङ्गोंके कट जानेसे मृत्युको प्राप्त होता है, वह डिम्भाहवमें मारा गया कहलाता है। ऐसा मनुष्य नरकगामी होता है। जिसका आचरण शास्त्रके अनुकूल नहीं है, उसके लिये जो मनुष्य युद्ध करता है, वह यदि संग्राममें मारा जाय तो उसे सदा बने रहनेवाले नरककी प्राप्ति होती है। यथासम्भव शास्त्रकी आज्ञा और लोकाचारका पालन करनेवाला जो व्यक्ति रणभूमिमें (धर्म) युद्ध करता है तथा वैसे ही सदाचारी स्वामीका भक्त होता है, वह शूर कहलाता है। शुद्ध-बुद्धिवाले रघुनन्दन! जो गौ, ब्राह्मण तथा मित्रकी रक्षाके लिये प्राण देता है अथवा शरणागतकी रक्षाके लिये यत्न करते हुए मारा जाता है, वह शूरवीर स्वर्गलोकका अलंकार है।* राजाके लिये अपना देश सदा ही रक्षणीय होता

---

* गोरर्थे ब्राह्मणस्यार्थे मित्रस्यार्थे च सन्मते।
शरणागतयत्नेन स मृतः स्वर्गभूषणम्॥
(उत्पत्ति० ३१। २८)

है। जो राजा एकमात्र उसीकी रक्षामें लगा रहता है, उसके लिये जो युद्धमें मारे जाते हैं, वे ही वीर हैं और उन्हींको वीरलोककी प्राप्ति होती है। जो प्रजाके प्रति उपद्रव करनेमें ही लगा रहता है, वह राजा हो या न हो, वैसे स्वामीके लिये जो युद्धमें प्राण देते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी हैं। जो शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करनेवाले हैं, वे राजा हों या न हों, उनके लिये जो युद्धमें अपने अङ्गोंको कटाकर मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे निस्संदेह नरकमें गिरते हैं। जो सदाचारी पुरुषोंके लिये तलवारकी धारको सहते हैं, वे शूरवीर कहे जाते हैं। शेष सभी लोग डिम्भाहवमें मारे गये कहलाते हैं।

(सर्ग ३०-३१)

लीला और सरस्वतीका आकाशमें विमानपर स्थित हो युद्धका दृश्य देखना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर आकाशमें स्थित हुई सरस्वती-देवीसहित लीलाने भूतल-पर पतिदेवके द्वारा सुरक्षित, सैन्यबलसे सम्पन्न राष्ट्रमण्डलमें आमने-सामने दो सेनाएँ देखीं, जो एक दूसरेके प्रति क्षोभसे भरी हुई थीं। दोनों ही मतवाली दिखायी देती थीं। दोनों महान् आयोजनमें संलग्न एवं बनी थीं। उनमें उभय पक्षोंके दो राजा विद्यमान थे। दोनों सेनाएँ युद्धके लिये सुसज्जित थीं, कवच और शिरस्त्राण आदिसे संनद्ध थीं तथा प्रज्वलित अग्निके समान अद्भुत दिखायी देती थीं। पहले कौन प्रहार अथवा अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करता है, यह देखनेके लिये क्षुब्ध हुए असंख्य नेत्र उन्हें एकटक दृष्टिसे देख रहे थे। ऊपर उठी हुई चमचमाती तलवारोंकी धारें ही मानो धारावाहिक वृष्टि थीं, जिसे दोनों सेनाओंके सैनिक अपने अङ्गोंपर वहन करते थे। फरसे, भाले, भिन्दिपाल, ऋष्टि और मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्र वहाँ चमक रहे थे।

जिन्हें रोकना असम्भव था, ऐसी उन दोनों विशाल सेनाओंके तुमुल नादसे लोगोंको आपसकी बातचीत तक नहीं सुनायी देती थी। राजाकी आज्ञाके बिना कोई पहले प्रहार न कर बैठे, इस आशङ्कासे बहुत देरतक दोनों सेनाओंमें रणदुन्दुभि न बज सकी। अपने-अपने स्थानमें श्रेणीबद्ध होकर खड़े हुए सैनिक ही जिनके अङ्ग थे, उन सम्पूर्ण टुकड़ियोंसे भरी-पूरी होनेके कारण वे दोनों सेनाएँ मन्थरगतिसे आगे बढ़ रही थीं। उनमें असंख्य सैनिक अपने प्राणरूपी सर्वस्वको लुटा देनेके लिये उद्यत थे। सभी धनुर्धर वीर कानतक खींचे गये बाणसमूहोंकी धारावाहिक वृष्टि करनेके लिये उत्सुक थे। प्रहार करनेके आदेशकी प्रतीक्षामें अगणित योद्धा वहाँ निश्चल खड़े थे।

तदनन्तर लीला और सरस्वती दोनों देवियाँ उस युद्धको देखनेके लिये वहीं रुके हुए एक सुन्दर, सुस्थिर एवं मनःकल्पित विमानपर आरूढ़ हुईं। इतनेमें ही दोनों सेनाओंमें आमने-सामने संघर्ष आरम्भ होनेपर शत्रु-पक्षकी सेनासे प्रलयकालिक समुद्रसे उठी हुई एक तरङ्गकी भाँति कोई निर्भय योद्धा निकला और आगे बढ़ा। वह प्रहार करना ही चाहता था कि लीलाके पतिने, जो पूर्वजन्ममें पद्म था और वर्तमान जन्ममें विदूरथके नामसे विख्यात था, उसके आक्रमणको सहनेमें असमर्थ होकर पर्वतके शिखरपर गिरायी हुई शिलाकी भाँति उस विपक्षी योद्धाकी छातीपर मुद्गरका प्रहार किया। फिर तो दोनों



सेनाओंमें प्रलयकालीन समुद्रके समान वेगसे बलपूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार आरम्भ हुआ । अग्नि-तुल्य तेजस्वी आयुधोंकी प्रभा चपलाकी चमकके समान सब ओर चकाचौंध पैदा करने लगी । चञ्चल अस्त्र-शस्त्रोंकी धारके अग्रभागसे आकाश रेखाङ्कित-सा प्रतीत होने लगा । घरघराते हुए रथोंके वेगसे जो लीकें बन गयी थीं, वे ही योद्धाओंके शरीरसे निकलकर बहनेवाली खूनकी नदीके लिये मार्ग थीं । सैनिकोंकी दौड़-धूपसे इतनी धूल उड़ी कि वहाँ सब ओर कुहरा-सा छा गया । धारावाहिकरूपसे बरसते हुए अस्त्र-शस्त्र चमचमाहट पैदा करते थे । उस सेनारूपी समुद्रका कोलाहल एकत्र हुए सम्पूर्ण मेघोंकी क्षोभपूर्ण गर्जनाके समान प्रतीत होता था । क्षेपणास्त्रोंद्वारा फेंके गये पत्थरों और चक्रसमूहोंसे भयभीत हो आकाशचारी पक्षी दूर भाग गये थे । कुठारोंके आघातसे योद्धाओंके मस्तक विदीर्ण हो गये थे । पूरी शक्ति लगाकर चलायी गयी शक्तियोंके समूहसे छिन्न-भिन्न होकर गिरे हुए हाथियोंकी लाशोंसे धरती पट गयी थी ।

बड़े-बड़े ताड़ वृक्षोंके समान ऊँचे पुरुषोंने हाथमें कुदाल ले वनभूमि खोदकर उसे समतल कर दिया था । जहाँतक बाण फेंका जा सकता है, उससे दूने प्रदेशमें सब ओरसे लोगोंको हटा दिया गया था और पत्थरोंकी चट्टानें भी काट-छाँटकर वहाँसे दूर फेंक दी गयी थीं । नाराचरूपी श्रेष्ठ जलकी वर्षा करनेवाले वीरसमूहरूपी मतवाले मेघोंके घिर आनेसे जहाँ कबन्धरूपी मोर नाचने लगे थे तथा वेगसे चक्कर काटते हुए मदमत्त गजराजरूपी पर्वतोंसे जो आवेष्टित था, वह वेगपूर्वक चलता हुआ युद्ध वहाँ प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर रहा था ।

तदनन्तर युद्धकी इच्छा रखनेवाले राजाओं, योद्धाओं, मन्त्रियों तथा आकाशसे संग्रामका दृश्य देखनेवाले देव, गन्धर्व आदिके मुखसे वहाँ इस तरहकी बातें निकलने लगीं—'देखो, तुरंतके कटे हुए मस्तकोंके मुखरूपी गड्ढेमें गोते लगाती हुई सफेद चीलोंसे व्याप्त हुए ये कबन्ध (धड़) समराङ्गणमें बजते हुए वाद्योंके तालपर उछल-उछलकर नाच रहे हैं ।' देवताओंकी गोष्ठियोंमें परस्पर यह चर्चा चल रही थी कि 'कौन धीर पुरुष कब, कैसे और क्यों स्वर्ग आदि लोकोंमें जायँगे ?' कुछ लोग ऐसी बातें कह रहे थे—'मूढो ! आगे बढ़कर युद्ध करो । अधमरे मनुष्योंको उठा ले जाओ । नराधमो ! इन अपने ही लोगोंको पैरोंके प्रहारसे कुचल न डालो ।'

जैसे सोया हुआ मनुष्य थोड़ी देरमें स्वप्न-देहको प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार युद्धमें मारा गया योद्धा मरण-कालिक मूर्छाके पश्चात् एक ही निमेषमें अपने कर्मरूपी शिल्पी (स्रष्टा) द्वारा रचित देवशरीरको प्राप्त कर लेता था । उस युद्धस्थलमें परस्पर छेदन-भेदनके लिये उठे हुए हस्त-समूहोंसे भुशुण्डि, शक्ति, शूल, खड्ग, मुसल और प्रांस नामक अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा हो रही थी । परस्पर चलाये गये युद्धहेतुक अस्त्र-शस्त्र आपसमें टकराकर चूर-चूर हो जाते थे । उन भयंकर आयुधोंके चूर्णसे हुआ वह संग्रामरूपी समुद्र बालुका-राशिसे परिपूर्ण-सा जान पड़ता था । कटकर गिरे हुए छत्र उस रणसिन्धुमें उठती हुई तरङ्गके समान प्रतीत होते थे ।

युद्धमें थका हुआ कोई सैनिक अपने दूसरे साथीसे कह रहा था—'मित्र ! संग्राममें थक जानेके कारण मेरी ही तरह तुम्हारी भी लड़नेकी इच्छा शान्त हो गयी होगी; अतः मैं एक अच्छी बात बता रहा हूँ, सुनो । जलती हुई आगके समान उज्ज्वल बाण जबतक हमलोगोंके अङ्गोंके टुकड़े-टुकड़े नहीं कर डालते, तभीतक हमारे लिये निकल भागनेका अवसर है । इसलिये आओ, हम लोग शीघ्र ही यहाँसे भाग चलें; क्योंकि यह जो चौथा पहर बीत रहा है, यमराजका ही दिन है (अतः इस समय यहाँ रहनेसे प्राणोंकी रक्षा असम्भव हो जायगी) ।'

रघुनन्दन ! तदनन्तर वह समर-सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करनेवाले उन्मत्तके समान प्रतीत होने लगा । उड़ जानेके लिये उद्यत हुए तुरंगम (अश्व) ही उसमें उत्ताल

तरङ्गके समान जान पड़ते थे । बाणरूपी जलकी धारासे घनीभूत हुए सैन्यरूपी मेघोंने वहाँके भूतल और आकाशको आच्छादित करके एक-सा कर दिया था । दोनों विशाल सेनारूपी महासागरोंकी क्षोभजनित टक्करसे वहाँ लोगोंमें भाग दौड़ मच गयी । जैसे समुद्रके गर्भमें स्थित पर्वत जलीय सर्पोंसे व्याप्त होता है, उसी प्रकार एक दूसरे दलका दलन करनेमें लगे हुए और प्रलयकालमें उठे हुए-से अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा वह समराङ्गण व्याप्त हो रहा था । शूल, खड्ग, चक्र, बाण, शक्ति, गदा, भुशुण्डि और प्रास आदि सैकड़ों चमकीले आयुध परस्पर टकराते, काटते और अद्भुत ध्वनि उत्पन्न करते हुए दसों दिशाओंमें घूम-घूमकर प्रलयकालीन प्रचण्ड वायुके झोंकेसे टूटकर आकाशमें चक्कर काटते हुए वृक्ष आदि पदार्थोंकी लीला धारण करते थे । (सर्ग ३२--३५)



युद्धका वर्णन तथा उभयपक्षको सहायता देनेवाले विभिन्न जनपदों और स्थानोंका उल्लेख

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं--रघुनन्दन ! दोनों सेनाओंमें जो महान् धर्मनिष्ठ, सुशील, ओजस्वी, धैर्यशाली, शुद्ध, कुलकमल और युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले शूरवीर थे, उनमें परस्पर द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। वे मेघोंके समान गर्जना करते हुए एक दूसरेको निगल जानेके लिये उत्सुक हो दो नदियोंके वेगयुक्त प्रवाहोंके समान एक दूसरेसे भिड़ते और टकराते थे । चक्रधारी योद्धा चक्रधारियोंसे उलझ गये । धनुर्धर वीर धनुर्धरोंसे भिड़ गये । खड्गसे युद्ध करनेवाले सैनिक खड्गधारियोंसे जूझने लगे । भालेवाले भालेवालोंसे, मुद्गरधारी मुद्गरधारियोंसे, गदाधारी गदाधारियोंसे, शक्तिसे युद्ध करनेवाले शक्तिधारी योद्धाओंसे, छुरेवाले छुरेवालोंसे, त्रिशूलधारी त्रिशूलधारियोंसे और लोहेकी जंजीरोंका जालीदार कोट पहननेवाले योद्धा अपने-जैसे ही विपक्षी योद्धाओंसे इस तरह वेगपूर्वक युद्ध करने लगे, मानो प्रलयकालके विक्षुब्ध महासागरोंकी तरङ्गें आपसमें टकरा रही हों । वह युद्धाकाशरूपी महासागर वहाँ अद्भुत शोभा पा रहा था । क्षोभपूर्वक चलाये गये चक्रसमूह उसमें भँवरके समान जान पड़ते थे । वहाँ बहनेवाली वायुमें बाणरूपी जलके कण व्याप्त हो रहे थे और आयुधरूपी मगर उसमें सब ओर विचर रहे थे । विद्या, बुद्धि, बल, शौर्य, अस्त्र-शस्त्र, अश्व, रथ और धनुष---ये युद्धके दिव्य आठ साधन जिनके पास मौजूद थे, ऐसे सैन्यसमूह दो पक्ष होनेके कारण आधे-आधे भागसे दोनों पक्षोंमें बँटकर क्रोधपूर्वक युद्धके लिये खड़े थे । वे दोनों नरेश विदूरथ और सिन्धुराज भी तदनुसार ही स्थित थे ।

रघुनन्दन ! मध्यदेशको आदि (मुख्य) स्थान मानकर वहींसे दिशाकी गणना करनेपर लीलाके पति महाराज पद्म (जो वर्तमान जन्ममें विदूरथ थे) के पक्षमें उनकी सहायताके लिये पूर्व दिशासे जिस-जिस जनपदके लोग आये थे, उन सबके नाम बताता हूँ, सुनो ! पूर्व दिशामें स्थित जो कोसल, काशि, मगध, मिथिला, उत्कल, मेखल, कर्कर, मुद्र, संग्राम-शौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताम्रलिप्त, प्राग्ज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ठ, पुरुषादक, वर्णकोष्ठ, सविश्वोत्र, आममीनाशन, व्याघ्रवक्त्र, किरात, सौवीर और एकपादक--ये चौबीस जनपद हैं । इनके निवासी योद्धा राजाकी सहायताके लिये आये थे । इनके सिवा पूर्व दिशामें जो माल्यवान्, शिबि, आञ्जन, वृषल, ध्वज, पद्म तथा उदयगिरि नामक सात पर्वत हैं, वहाँके निवासी भी राजा पद्मके पक्षमें पधारे थे ।*

* यहाँ जो देशोंके नाम आये हैं, वे पुराणों तथा महाभारत आदिमें उल्लिखित नामोंसे कुछ-कुछ भिन्नता रखते हैं । कितने ही प्रसिद्ध नाम छूट गये हैं और नये नाम आ गये हैं, जो कभी सुने नहीं गये । इनके लिये जो दिशा निर्धारित की गयी है उसमें भी बड़ा मतभेद है । जैसे वङ्गदेशको पूर्वमें न बताकर पूर्व और दक्षिण दिशाओंके बीचमें

पूर्व-दक्षिण दिशामें जो ये विन्ध्य आदिके निवासी हैं, वे भी आये थे। इनके अतिरिक्त चेदि, वत्स, दशार्ण, अङ्ग, वङ्ग, उपवङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, जठर, विदर्भ, मेखल, शबराननवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पूरक, कण्टकस्थल, पृथग् दीपक, कोमल, कर्णान्ध्र, चौलिक, चार्मण्यवत (चर्मण्वती नदीके तटवर्ती), काकक, हेमकुण्ड, श्मश्रुधर, बलिग्रीव, महाग्रीव, किष्किन्ध और नालिकेरी—इन देशोंके निवासी वीर भी लीला-पतिकी सहायतामें आये थे।

रघुनन्दन! दक्षिण दिशामें जिन-जिन देशोंके नरेश लीला-पतिके सहायक थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—विन्ध्य, कुसुमापीड, महेन्द्र, दर्दुर, मलय और सूर्यवान्—इन छः पर्वतोंके आस-पास जो समृद्धिशाली गणतन्त्र राज्य थे, वहाँके सैनिक भी वहाँ पधारे थे। इनके सिवा अवन्ती और शाम्बवती नामसे विख्यात देश, दशपूर, कथाचक्कार, ईषिक, आतुर, कच्छप, वनवासोपगिरि, भद्रगिरि, नागर, दण्डक, गणराष्ट्र (गणतन्त्रराज्य), नृराष्ट्र (जनतन्त्र राज्य), साह, शैव, ऋष्यमूक, कर्कोट, वनबिम्बल, पम्पानिवासी, कैरक, कर्कवीरक, स्वैरिक, यासिक, धर्मपत्तन, पञ्चिक, काशिक, तृण-खल्लूल, याद, ताम्रपर्णक, गोनर्द, कनक, दीनपत्तन, मामक, ताम्रीक, दम्भर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुण्डक, तुम्बवनाल, अजिनद्वीप, कर्णिक, कर्णिकाभ, शिबि, कोङ्कण, चित्रकूट, कर्णाट, मण्टवटक, महाकटकिक, आन्ध्र, कोलगिरि, अवन्तिक, निचेरिक, चण्डायत्त, देवनक, क्रौञ्च, वाह, शिलाक्षारोद, भोनन्द, मर्दन, मलय और चित्रकूट शिखरके वासी मनुष्य तथा लङ्काके राक्षसगण भी उस युद्धमें सम्मिलित हुए थे।

अब पश्चिम-दक्षिण दिशाके देश बताये जाते हैं (जहाँके निवासी लीला-पतिके सहायक थे)—महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, शूद्र, आभीर, द्रविड़, कीकट, सिद्धखण्ड, कालिरुह, हेमगिरि, रैवतक पर्वत, जयकच्छ, मयवर, जहाँ यवन जातिके लोग रहते थे, बाह्लीक, मार्गणावन्त, धूम्र, तुम्बक, लाजगण, उक्त दिशाके पर्वतवासी, समुद्रतटवर्ती तथा तोकनियुत नामक स्थानके निवासी—ये सब लीला-पतिकी सहायतामें आये थे।

रघुनन्दन! जो लोग लीला-पतिके विपक्षमें आये थे। उनके इन जनपदोंका वर्णन सुनो। पश्चिम दिशामें जो ये ऊँचे और बड़े-बड़े पर्वत हैं, पहले उनके नाम बताये जाते हैं—गिरिराज मणिमान्, कुरार्पणगिरि, वन, अर्कह, मेघभव, चक्रवान् और अस्ताचल—इन सबके निवासी उक्त नरेशके विपक्षमें आये थे। इनके अतिरिक्त जो काश नामक गणों और ब्राह्मणसमूहोंका अन्त करनेवाले हैं, वे पञ्चजन नामक गणतन्त्र राज्यके सैनिक भी युद्धके लिये आये थे। इसी प्रकार भारक्षतथ, पारक, शान्तिक, शैब्य, आरमरकाय, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैहय, सुह्मगाय, ताजिक, हूणक, दक्षिण कतक और उत्तर कतक देशोंके पार्श्वभागमें स्थित कर्क देश, गिरिपर्ण और अत्रम—इन सब देशोंके निवासी म्लेच्छ जातिके अन्तर्गत हैं; क्योंकि इन्होंने धर्मकी मर्यादाका सर्वथा त्याग कर दिया है। (ये सभी राजा विदूरथके विपक्षमें आये थे।) तदनन्तर दो सौ योजनतककी भूमि जनपदोंसे रहित है। तत्पश्चात् महेन्द्र पर्वत है, जिसकी भूमिमें मोती और मणियोंकी अधिकता है। उसके बाद अश्वगिरि है, जो सैकड़ों पर्वतोंसे युक्त है। उससे आगे भयंकर महासागर है, जिसके तटपर पारियात्र नामक पर्वत है। (इन सब स्थानोंके निवासी सिन्धुराजकी ओरसे युद्ध करने आये थे।)

बताया है। सौवीर देश पश्चिममें है, तथापि इसे पूर्वदिशाके अन्तर्गत बताया गया है। माल्यवान् पर्वत दक्षिण दिशामें है; किंतु इसे पूर्व दिशामें बताया गया है—इत्यादि। यद्यपि इस तरह देशों और दिशाओंके नाममें वैपरीत्य देखा जाता है, तथापि यह वर्णन किसी दूसरे ब्रह्माण्डका है; इसलिये इस ब्रह्माण्डके भारतवर्षकी स्थितिसे कुछ भिन्नता भी मिले तो दोषकी बात नहीं; क्योंकि ब्रह्माण्डभेदसे देशों और दिशाओंकी स्थितिमें कुछ भेद होना असम्भव नहीं है।

पश्चिमोत्तर दिशामें पर्वतीय प्रदेशके भीतर वेणुपति और नरपति नामक देश हैं, जहाँ अनेक प्रकारके उत्सव होते रहते हैं। इनके सिवा जो फल्गुणक, माण्डव्य, अनेकनेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन, दीर्घ—जहाँके निवासियोंके केश, अङ्ग और भुजाएँ दीर्घ (बड़ी) होती हैं, रङ्ग, स्तनिक, गुरुह और लुह नामवाले देश हैं (उनके निवासी भी सिन्धुराजकी ओरसे आये थे)। तदनन्तर अनुपम स्त्रीराष्ट्र है, जहाँके लोग गाय-बैल और अपनी संतान-तकको खा जाते हैं। (इन सब स्थानोंके निवासी उस युद्धमें सम्मिलित हुए थे।)

उत्तर दिशामें जो हिमवान्, क्रौञ्च, मधुमान्, कैलास, वसुमान् और मेरु पर्वत हैं तथा इन सबके आस-पास जो शाखापर्वत हैं, उनपर जो लोग निवास करते हैं (वे सब योद्धा सिन्धुराजकी ओरसे युद्ध करनेके लिये आये थे)। इनके सिवा मद्र, वारेव, यौधेय, मालव, शूरसेनिक, राजन्य, अर्जुनातनय, त्रिगर्त, एकपाद, क्षुद्र, आमबल, स्वस्तवासी, अबल, प्रखल, शाक, क्षेमधूर्ति, दशधान, गावसन्य, दड, हन्यसन, धनद, सरक, वटधान, अन्तरद्वीप, गन्धार, अवन्ति, सुर, तक्षशिला, बीलव, गोघनी, पुष्करावर्त, देशार्क, आर्द्र, यशोवती, नाभिमती, तिक्षा, काल्वरा, काश्मीर, सुरभूतिपुर, रतिकादर्श, अन्तरादर्श, पिङ्गल, पाण्डव्य, यामुन, यातुधानक, मानव, नाङ्गन, हेमताल, स्वस्तमुख—इन देशोंके निवासी भी उस युद्धमें सिन्धुराजकी ओरसे आये थे। (उपर्युक्त देश पर्वतसे नीचे हैं इनसे ऊपरकी ओर) पूर्वोक्त हिमवान्, वसुमान्, क्रौञ्च और कैलास नामक पर्वत हैं। उनसे आगे बढ़नेपर आठ हजार योजनतककी भूमि जनपदोंसे रहित है।

पूर्वोत्तर दिशामें जो जनपद हैं, क्रमशः उनके नाम सुनो—कालुत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खदिन, मालव, रन्ध्रराज्य, वन, राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन, सावाकद, चापलवह, कामिर, दरद, अभिसासद, जार्वाक, पलोल, कुवि, कौतुक, किरात, यामुपात और दीन नामक जनपद हैं (इन सबके निवासी युद्धके लिये आये थे) इससे आगे ईशानकोणमें सुवर्णमयी भूमि है। उससे आगे अत्यन्त शोभाशाली देवस्थलीय उपवनकी भूमि है। तत्पश्चात् गन्धर्वराज विश्वावसुका उत्तम मन्दिर है। उससे आगे कैलासभूमि है। उससे भी आगे मञ्जुवन नामक पर्वत है, जहाँकी भूमि विद्याधरों और देवताओंके विमानके समान है। (सर्ग ३६)

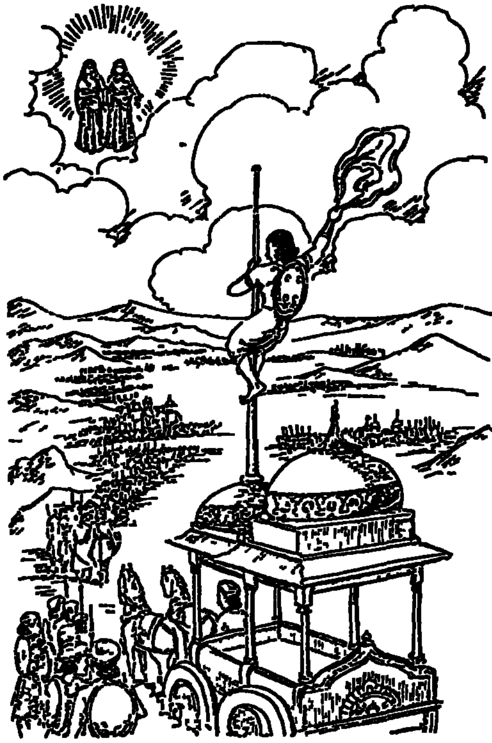
युद्धका उपसंहार, राजा विदूरथके शयनागारमें गवाक्षरन्ध्रसे लीला और सरस्वतीका प्रवेश तथा सूक्ष्म चिन्मय शरीरकी सर्वत्र गमनशक्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! कितना कहा जाय, वासुकी (शेषनाग) भी अपनी दो हजार जिह्वाओंसे यदि आकुलतापूर्वक (शीघ्रतासे) बताना चाहें तो वे भी इस श्रेष्ठ संग्रामका पूर्णतया वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते।

इस प्रकार वहाँ बड़ा घमासान युद्ध हो रहा था। विजयी वीर भुजाओंपर ताल ठोक रहे थे और पराजित योद्धा भयसे हाहाकार कर रहे थे। इन दोनों प्रकारके शब्दोंसे वह युद्धस्थल गूँज उठा था। धूलरूपी अन्धकारसे आच्छादित हुए सूर्यदेव वृद्ध (मन्दगामी या अस्तोन्मुख) से प्रतीत होने लगे। योद्धाओंके रुधिरके प्रवाहको रोकने या ढकनेवाले कठोर कवचके भीतरसे खून टपक रहा था।

तदनन्तर उभयपक्षके सेनापतियोंने मन्त्रियोंके साथ विचार करके एक-दूसरेके पास दूत भेजे और यह संदेश कहलाया कि अब युद्ध बंद किया जाय। उस युद्धस्थलमें विशेष परिश्रमके कारण सभीके यन्त्र, शस्त्रास्त्र और पराक्रम मन्द पड़ गये थे। अतः उस समय सब लोगोंने युद्ध बंद करनेकी बात हृदयसे स्वीकार की। तत्पश्चात् विशाल रथके ऊँचे ध्वजके पास ही स्थापित हुए लंबे बाँसके खंभेपर दोनों सेनाओंका एक-एक योद्धा उसी

प्रकार चढ़ा, जैसे ध्रुव उच्चतम स्थानको आरूढ़ हुए हों।



ऊँचे चढ़े हुए उन योद्धाओंने सम्पूर्ण दिशाओंमें उसी प्रकार श्वेत वस्त्र हिलाया, जैसे रात्रि शुभ्र किरणोंसे सुशोभित पूर्ण चन्द्रमाको समस्त दिशाओंमें घुमाती है। वस्त्र हिलाकर उन्होंने यह सूचना दी कि 'अब युद्ध बंद करो।'

इसके बाद जैसे प्रलयके अन्तमें तत्कालीन एकार्णवसे जलका प्रवाह चारों दिशाओंमें निकलने लगता है, उसी प्रकार उस युद्धस्थलसे दोनों सेनाएँ बाहर जाने लगीं। सारी रणभूमि मुर्दोंके ढेरसे पट गयी थी। जहाँ-तहाँ खूनकी नदियाँ बह रही थीं और सब ओर घायल योद्धाओंके चीत्कार सुनायी पड़ते थे। वह रणभूमि मृत्युके उद्यानकी भाँति जान पड़ती थी। वहाँ मरकर गिरे हुए असंख्य घोड़ों, हाथियों, मनुष्यों, राजाओं, सारथि-सहित रथों और कटी हुई ऊँटोंकी गर्दनोंसे जो रक्तका प्रवाह सब ओर फैल रहा था, उससे एक सुन्दर नदी प्रवाहित हो चली थी। खूनसे भीगे हुए अस्त्र-शस्त्र ही वहाँ जलसे सींची हुई हरी-भरी लताओंके समान जान पड़ते थे। वह रणोद्यान प्रलयकालमें पर्वतोंसहित विध्वस्त हुए सम्पूर्ण जगत्‌की भाँति दृष्टिगोचर हो रहा था।

(सूर्यास्तके पश्चात्) आकाश, पर्वत उसके निकुञ्ज और उसकी गुफाके भीतर फैलकर पिण्डके समान एकत्र हुए घने अन्धकारका समूह काले मेघोंकी घटाके समान वहाँ सब ओर छा गया था। चञ्चल भूतोंके वेगसे व्याकुल हुआ वह रणक्षेत्र प्रलयकालकी वायुसे कम्पित लोकों और उनके उपकरणोंसे युक्त ब्रह्माण्डके समान जान पड़ता था।

तदनन्तर जब सर्वत्र नीरवता छा गयी, अन्धकारका संचार हो गया, सम्पूर्ण दिशाओंके लोगोंकी आँखें निद्रासे बंद हो गयीं, उस समय उदारहृदय लीला-पति कुछ खिन्नचित्त-से होकर चन्द्रमाके मध्यभागके सदृश मनोहर तथा शीतल कमरोंवाले अपने सुन्दर महलमें पूर्ण चन्द्रमाके समान आकारवाली और बर्फके समान शीतल श्वेत शय्यापर अपने नेत्र-कमलोंको बंद करके सो गये और दो ही घड़ीमें उन्हें गहरी नींद आ गयी।

तत्पश्चात् वे दोनों ललनाएँ उस युद्धस्थलके आकाशको छोड़कर उस राजमहलमें खिड़कियोंके छेदोंसे उसी प्रकार घुस गयीं, जैसे वायुकी दो रेखाएँ इसी छोटे रन्ध्रमार्गसे



अधखिले कमलके भीतर प्रविष्ट हुई हों ।

श्रीरामजीने पूछा—विद्वान् वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रभो ! यह इतना बड़ा स्थूलशरीर तन्तुके समान सूक्ष्म छेदकी राहसे किस प्रकार उस घरमें प्रविष्ट हुआ ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिस पुरुषने पहले दीर्घकालसे यह अनुभव किया हो कि 'मै स्थूल शरीर नहीं हूँ, शुद्ध चिन्मय आत्मा हूँ, अत. सभी स्थानोंमें जा सकता हूँ' वह पीछे चलकर स्थूलदेहकी अवरोध आदि क्रियाओंसे कैसे युक्त हो सकता है ? क्योंकि वह उसी चेतनका अंश है, जो सर्वत्र जानेमें समर्थ है । जिसकी आकृति स्वप्नगत पुरुष या संकल्पकल्पित पुरुषके समान है, आकाशमात्र ही जिसका आकार है अर्थात् जो वास्तवमें स्थूल आकारसे रहित है, उसे कौन कैसे रोक सकता है । जीव जहाँ मरता है, उसी स्थानको शीघ्र देखता है और वहीं उसे अनेक भुवनोंसे युक्त यह विस्तृत प्रपञ्च इसी रूपमें स्थित-सा दिखायी देता है । आगन्तुक गेह आदिसे आत्मवान् हुआ-सा यह चेतन आकाशरूपी जीव देह आदिको ही आत्मा समझकर निर्मल चिन्मय आकाशमें ही 'यह मैं हूँ, यह जगत् है' इस आकाशरूप (शून्य) भ्रमका अनुभव करता है । इस जगत्‌रूपी भ्रममें देवताओं, अमरावती आदि श्रेष्ठ नगरों, मेरु आदि पर्वतों, सूर्य, चन्द्रमा और तारासमूहके कारण अपूर्व सौन्दर्य प्रतीत होता है । इस भ्रमरूपी वृक्षके खोखलेमें जरा, मृत्यु, व्याकुलता तथा नाना प्रकारकी आधि-व्याधियाँ ठूँस-ठूँसकर भरी हुई हैं । इसमें अपने अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्ट वस्तुके निवारणके लिये स्थूल-सूक्ष्म, चर-अचर सभी प्राणी उद्योगशील हैं तथा यह भ्रमरूपी प्रपञ्च समुद्र, पर्वत, नदी, उनके अधिपति, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय—इन सबसे युक्त है । इस प्रकार यद्यपि यह विश्व दीवालकी तरह स्थूल एवं स्थिर दिखायी देता है, तथापि मनन—मनके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं है । मनन करनेपर यह चल (अस्थिर) ही सिद्ध होता है । तुम इस समय मनमें अपने अनुभवके अनुसार इसके स्वरूपपर विचार करो । जो ही चेतन आकाशरूप परमात्मा है, वही मननरूप कहा गया है और जो ही चेतन आकाशरूप परमात्मा है, वही परमपद है । चेतन आकाशस्वरूप परमात्माका अभूत (असत्य अथवा अनादि) मायाकाशमें या सूक्ष्म भूतोंके कार्यरूप चित्ताकाशमें जो स्फुरण है, वही नाम और रूपसे नाना भावको प्राप्त होनेवाला जगत् कहा जाता है । लीला और सरस्वती दोनों निष्पाप देवियाँ परमात्माके तुल्य विशुद्ध एवं चिदाकाशमय शरीरसे युक्त थीं; इसलिये वे सर्वत्र जा सकती थीं । उनके लिये कहीं भी प्रवेश करनेमें कोई बाधा नहीं थी । वे चिदाकाशमें जहाँ-जहाँ अपनेको प्रकट करनेकी इच्छा करती थीं, वहाँ-वहाँ सदा ही अपनी रुचि और अभिलाषाके अनुसार प्रकट हो जाती थीं । इसलिये राजा विदूरथके घरमें उन दोनोंका जाना सम्भव हुआ । चिन्मय आकाश सर्वत्र विद्यमान है, उसमें जिसे आतिवाहिक कहते हैं, वह चिदाकाशमय सूक्ष्मशरीर सर्वत्र विचरण कर सकता है; क्योकि वह यथार्थ ज्ञानस्वरूप, धारणात्मक एवं मननरूप है । तुम्हीं बताओ, उस सूक्ष्मदेहको कौन, कैसे और किस लिये रोक सकता है !

(सर्ग ३७—४०)

राजा पद्मके भवनमें सरस्वती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका पूजन, मन्त्रीद्वारा राजाका जन्मवृत्तान्त-वर्णन, राजा विदूरथ और सरस्वती देवीकी बातचीत, वसिष्ठजीद्वारा अज्ञानावस्थामें जगत् और स्वप्नकी सत्यताका वर्णन, सरस्वतीद्वारा विदूरथको वरप्रदान, नगरपर शत्रुका आक्रमण और नगरकी दुरवस्थाका कथन, भयभीत हुई राजमहिषीका राजाकी शरणमें आना, लीलाको दूसरे वररूप राजा पद्मकी प्राप्ति



श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! उन दोनों देवियोंके प्रवेश करनेपर राजा पद्मके भवनका भीतरी भाग उज्ज्वल छटासे सुशोभित हो गया, मानो वहाँ दो चन्द्रमा उदय हो गये हों। उसमें मन्दार पुष्पका स्पर्श करके आयी हुई शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलने लगी। उन देवियोंके प्रभावसे राजाके अतिरिक्त अन्य स्त्री-पुरुष निद्राके वशीभूत हो गये, परंतु चन्द्रद्रवके समान शीतल उन दोनोके शरीरके प्रभा-पुञ्जसे आह्लादित होकर राजा पद्मकी निद्रा भङ्ग हो गयी, मानो उसपर अमृत छिड़क दिया गया हो। उठते ही उसने दो दिव्य नारियोको देखा, जो दो आसनोंपर विराजमान थी। उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो मेरुपर्वतके दो शिखरोंपर दो चन्द्रमण्डल उदित हो गये हों। यह देखकर राजाका मन विस्मयाविष्ट हो गया, फिर क्षणभर मन-ही-मन विचार करके वह अपनी शय्यासे उठ पड़ा—ठीक उसी तरह, जैसे चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु शेषशय्यासे उठते हैं। तत्पश्चात् उसने सोते समय अस्त-व्यस्त हुए अपने माला, हार और अधोवस्त्रको यथास्थान ठीक किया। फिर सिरहाने रक्खी हुई फूलोंकी डलियामेंसे मालीकी तरह स्वयं ही अत्यन्त खिले हुए पुष्पोंसे अपनी अञ्जलि भर ली और भूमिपर ही पद्मासन लगाकर वह नम्रतापूर्वक देवियोंसे कहने लगा—'देवियो ! आप दोनों जन्म, दुःखमय जीवन और त्रिविध तापरूपी दोषका शमन करनेके लिये चाँदनीके समान तथा बाह्य और आन्तरिक अज्ञानान्धकारका विनाश करनेके लिये सूर्यकी प्रभाके तुल्य हैं। आपकी जय हो।' यों कहकर राजाने उन देवियोंके चरणोंपर पुष्पाञ्जलि समर्पित की। तदनन्तर देवी सरस्वतीने लीलासे राजाका जन्म-वृत्तान्त वर्णन करनेके लिये पार्श्वमें सो पड़े हुए मन्त्रीको अपने संकल्पसे जगाया। जागनेपर मन्त्रीने उन दोनो दिव्य नारियोंको देखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि समर्पित करके विनयपूर्वक वह उनके आगे खड़ा हो गया। तब देवीने राजासे पूछा—'राजन् ! तुम कौन हो ? किसके पुत्र हो ? और यहाँ कब पैदा हुए हो ?' ऐसा प्रश्न सुनकर मन्त्रीने उत्तर देना आरम्भ किया—

'देवियो ! यह आपलोगोका ही कृपा-प्रसाद है, जो मैं आपके समक्ष भी बोलनेमें समर्थ हो सका हूँ; अतः अब आप मेरे स्वामीका जन्म-वृत्तान्त सुनिये। प्राचीन काल-

में एक कुन्दरथ नामके राजा हो गये हैं, जो इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए थे। वे परम शोभाशाली थे। उनके नेत्र कमलके समान सुन्दर थे। उन्होंने अपनी भुजाओंकी छायासे सारे भूमण्डलको आच्छादित कर लिया था। उन्हीं नरेशके भद्ररथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके मुखकी कान्ति चन्द्रमाके समान थी। उन भद्ररथके विश्वरथ, विश्वरथके बृहद्रथ, बृहद्रथके सिन्धुरथ, सिन्धुरथके शैलरथ, शैलरथके कामरथ, कामरथके महारथ, महारथके विष्णुरथ और विष्णुरथके पुत्र नभोरथ हुए। ये हमारे राजा उन्हीं महाराज नभोरथके पुत्र हैं। ये अपने पिताके महान् पुण्यपुञ्जोंके फलस्वरूप क्षीर-सागरसे उत्पन्न हुए चन्द्रमाकी भाँति प्रकट हुए हैं। जैसे पार्वतीजीसे गुहकी उत्पत्ति हुई थी, उसी प्रकार ये अपनी माता सुमित्राके गर्भसे दूसरे स्कन्दकी भाँति पैदा हुए हैं। इनकी आकृति पूर्णचन्द्रमाके समान निर्मल है इन्होने अपने अमृत-तुल्य गुणोंसे जनताको भलीभाँति तृप्त कर दिया है। ये विदूरथ नामसे विख्यात हैं। जब इनकी अवस्था दस ही वर्षकी थी, तभी इनके पिता इन्हें राज्यभार सौंपकर वनवासी हो गये थे। ये तभीसे इस भूमण्डलका धर्मपूर्वक पालन कर रहे हैं। आज पुण्यरूपी वृक्षके फलित होनेपर आप दोनो देवियोका यहाँ शुभागमन हुआ है; क्योंकि दीर्घ तप आदि सैकड़ों क्लेश उठानेपर भी आपका दर्शन मिलना कठिन है। इस प्रकार विदूरथ नामसे प्रसिद्ध ये महीपाल आज आपके दर्शन-प्रदानरूप प्रसादसे परम पवित्र हो गये।'

यों कहकर जब मन्त्री चुप हो गया तथा भूपाल भूतलपर पद्मासन लगाकर हाथ जोडे सिर नीचा किये बैठे रहे, उसी समय सरस्वती देवीने 'राजन्! तुम विवेकद्वारा स्वयं ही अपने पूर्वजन्मका स्मरण करो' यों कहकर उनके मस्तकपर अपना हाथ रखा। देवी सरस्वतीके करस्पर्शसे राजा पद्म (विदूरथ) का हृदयान्धकार एवं माया—सबके सब नष्ट हो गये। उनका हृदय अत्यन्त विकसित हो गया। उन्हें अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त इस प्रकार स्मरण हो आया, जैसे वह उनके अन्तःकरणमें स्फुरित होता हुआ-सा स्थित था। फिर लीलाके कर्तव्यके साथ-साथ शरीर और एकच्छत्र राज्यके त्याग, सरस्वतीके वृत्तान्त, लीलाकी विशेष उन्नति और आत्मकथाको जानकर राजा समुद्रमें गोते लगाते हुएकी तरह विस्मय-में पड़ गया। वह मन-ही-मन कहने लगा—'खेद है, सारे संसारमें यह माया ही व्याप्त है। इस समय इन देवियोंकी कृपासे मुझे इसका पूर्ण ज्ञान हुआ है।'

राजाने पूछा—देवियो! मुझे जो अपने अनेक कार्यों-का, परदादाका तथा अपनी बचपन एवं युवावस्थाका और मित्र तथा बन्धु-बान्धवोंका स्मरण हो रहा है, इसका क्या कारण है?



श्रीसरस्वती देवीने कहा—राजन्! मृत्युरूपी महा-मोहमयी मूर्च्छाके अनन्तर उसी मुहूर्तमें गिरिग्रामनिवासी उस ब्राह्मणके घरके भीतर आकाशमें ही स्थित गृहके मध्यभागमें जो मण्डप है, उसीके अन्दर तुम्हारा यह

जन्मादि दृश्य-प्रपञ्च आभासित हो रहा है। वहीं निर्मल आकाशकी भाँति स्वच्छ तुम्हारे चित्तमें यह विस्तृत व्यवहार-भ्रम स्फुरित हुआ है। 'यह मेरा जन्म हुआ। इक्ष्वाकुवंश ही मेरा कुल है। पूर्वकालमें मेरे ये पितामह आदि इस नामवाले हुए थे। मैं पैदा हुआ। जब मैं दस वर्षका बालक था, तभी मेरे पिता इस राज्यपर मेरा अभिषेक करके स्वयं परिव्राजक होकर वनको चले गये। तदनन्तर मैंने दिग्विजय करके अपने राज्यको निष्कण्टक बनाया। फिर इन मन्त्रियों तथा पुरवासियोंके साथ पृथ्वीका पालन करता रहा हूँ। यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान तथा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते मेरी आयुके सत्तर वर्ष व्यतीत हो चुके। इस समय इस शत्रु-सेनाने मुझपर आक्रमण किया और उसके साथ मेरा भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध करके मैं अपने घर लौट आया हूँ और यहाँ पूर्ववत् स्थित हूँ। ये दोनों देवियाँ मेरे घर पधारी हैं और मैं इनका पूजन कर रहा हूँ; क्योंकि पूजित होनेपर देवता मनोऽभिलषित पदार्थ प्रदान करते हैं। जैसे सूर्यकी प्रभा मुकुलित कमलको विकसित कर देती है, उसी तरह इन दोनोंमेंसे इस एक देवीने मुझे यहाँ ऐसा ज्ञान प्रदान किया है, जो पूर्वजन्मकी स्मृतिको जगानेवाला है। अब मैं कृतकृत्य हो गया हूँ और मेरे सभी संशय नष्ट हो गये हैं। मै शान्ति-लाभ करूँगा, परम निर्वाणको प्राप्त होऊँगा और केवल सुखरूप होकर स्थित होऊँगा'—इस प्रकार तुम्हारी यह भ्रान्ति, जो बहुसंख्यक सदेहोंसे युक्त, नाना प्रकारके आचार-विचारोंसे सम्पन्न और लोकान्तर-में गमन करनेवाली है, विस्तारको प्राप्त हुई है। पहले जिस मुहूर्तमें तुम मृत्युको प्राप्त हुए थे, उसी समय यह प्रतिभा अपने-आप तुम्हारे हृदयमें आविर्भूत हुई थी। जैसे नदीका प्रवाह उठे हुए एक आवर्तको त्यागकर तुरंत ही दूसरा धारण कर लेता है, उसी प्रकार चित्त-प्रवाह भी एक कल्पना-सृष्टिका त्याग करके दूसरी कल्पना-सृष्टि करता रहता है। जैसे आवर्त कभी दूसरे आवर्तसे संयुक्त होकर और कभी पृथक् ही प्रवृत्त होता है, उसी तरह यह सृष्टि भी कभी दूसरीसे सम्बन्धित और कभी स्वतन्त्र ही बढ़ती रहती है। उस मृत्युक्षणमें चिद्भानुस्वरूप तुम्हारी प्रतिभामें प्रतिभासित असत्-रूप यह जगज्जाल उसी तरह उपस्थित हुआ है, जैसे स्वप्नके एक ही मुहूर्तके अंदर सैकड़ों वर्षोंका भ्रम होता है। वास्तवमें तो न तुम कभी पैदा हुए हो और न कभी तुम्हारी मृत्यु ही हुई है। तुम तो शुद्ध विज्ञान-स्वरूप हो और अपने शान्त आत्मामें स्थित हो। यह सारा प्रपञ्च तुम्हें दृश्य-सा प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः तुम कुछ नहीं देख रहे हो, बल्कि निर्मल महामणि तथा भासमान सूर्य आदिके समान तुम अपने आत्मामें अपने-आप नित्य सर्वात्मभावसे प्रदीप्त हो रहे हो। वस्तुतः न यह भूतल सत् है, न प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला यह विदूरथ-देह ही सत् है और न ये पर्वत, ग्राम, तुम्हारे शत्रु-मित्र तथा हमलोग ही सत् हैं।

राजन्! जिन्हें ज्ञातव्य वस्तुओंका ज्ञान हो चुका है तथा जो एकमात्र शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे पुरुषोंके मनमें यह कोई भी सांसारिक पदार्थ सत् नहीं है। भला, जिसका आत्मा शुद्ध ज्ञानसे सम्पन्न है, उसे जगत्की भ्रान्ति कहाँसे हो सकती है। जैसे रस्सीका ज्ञान हो जानेपर जब उसमें सर्पका भ्रम मिट जाता है, तब पुनः उसमें सर्पकी भ्रान्ति नहीं होती, उसी तरह जगत्-भ्रमके असद्भावका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर फिर उसकी सत्ता कहाँसे टिक सकेगी। मृगमरीचिकाका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर पुनः उसमें जलबुद्धि कैसे हो सकती है। उसी तरह स्वप्नावस्थामें घटित हुआ अपना मरण जाग्रदवस्थामें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर कैसे सत्य हो सकता है? शरत्कालीन निर्मल आकाशकी शोभाके समान जिस-का हृदय स्वच्छ, निर्मल और अत्यन्त विस्तृत है, उस शुद्ध तत्त्ववेत्ता पुरुषकी बुद्धिमें 'अहम्' और 'जगत्'-

की प्रतीति तुच्छ शब्दार्थकी द्योतक है । यह वास्तविक नहीं है, केवल वाचिक व्यवहारमात्र है ।

महर्षिके यों कथा कहते-कहते दिन समाप्त हो गया। भगवान् भास्कर अस्ताचलकी ओर प्रस्थित हो गये और मुनि-मण्डली महर्षिको नमस्कार करके सायंकालिक विधि सम्पन्न करनेके लिये स्नानार्थ चली गयी । रात्रि बीतनेपर सूर्योदय होते-होते पुनः मुनिमण्डली एक साथ सभामें उपस्थित हुई ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! जिसकी बुद्धिमें ज्ञानका उदय नहीं हुआ है तथा जिसकी परमात्मतत्त्वमें दृढ़ स्थिति नहीं है, अतएव जो मोहग्रस्त है, उसके लिये यह जगत् असत् होते हुए भी सत्-सा प्रतीत होता है ।जैसे मरुस्थलमें सूर्यका ताप ही मृगोंके लिये जलकी भ्रान्तिका कारण होता है, उसी तरह ही मूर्गोके लिये जलकी भ्रान्तिका जगत् सत्य-सा भासित होता है । जैसे प्राणीकी स्वप्न-मृत्यु जो बिल्कुल असत्य है, फिर भी सत्य-सी प्रतीत होकर शोक-रुदन आदि कार्य करा देती है, उसी तरह जिनकी बुद्धि मोहाच्छन्न है, उन पुरुषोंके लिये यह जगत् शोकप्रद होता है । जो कटक-कुण्डल आदिमें व्याप्त सुवर्णके ज्ञानसे अनभिज्ञ है, उसको जैसे स्वर्ण-निर्मित कड़ेमें कड़ेका ही ज्ञान होता है, उसमें उसकी थोड़ी भी स्वर्णबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार अज्ञानीकी यह नगर, गृह, पर्वत, गजराज आदिसे प्रकाशित होनेवाली दृश्य-दृष्टि ही है, दूसरी—परमार्थ-दृष्टि नहीं है ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! यदि केवल मायास्वरूप स्वप्नमें कल्पित स्वप्नपुरुष सत्य न भी हों तो क्या दोष होगा ? यह बतलाइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! स्वप्नमें देखे गये नगरनिवासी वस्तुतः सत्य नहीं हैं—इस विषयमें मैं तुम्हें प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाता हूँ, सुनो; अन्य प्रमाणोके जाननेकी आवश्यकता नहीं है । सृष्टिके आदिमें स्वयम्भू ब्रह्मा स्वयं ही स्वप्न-तुल्य अनुभवसे सम्पन्न दिखायी देते हैं, अतः उनके सङ्कल्पसे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्न-सदृश ही है । इस प्रकार यह विश्व भी स्वप्न है । उसमें जैसे मेरी दृष्टिमें तुम सत्य हो, उसी तरह अन्य लोग भी तुम्हारी और मेरी दृष्टिसे सत्य हैं एवं अन्य मनुष्योंकी भी अपने-अपने अनुभवके अनुसार स्वप्नके विषयमें सत्यता सिद्ध है । यदि ये नगरनिवासी स्वप्नमें सत्य न हों तो इस स्वप्नाकार जाग्रदवस्थामें भी वे मेरे लिये थोड़ा भी सत्य न सिद्ध होंगे । इसलिये तुम्हारी दृष्टिमें जैसे मैं सत्यात्मा हूँ, उसी तरह मेरी दृष्टिमें सब सत्य है; क्योंकि स्वप्न-तुल्य संसारमें पदार्थोंकी परस्पर सिद्धिके लिये ऐसी नीति है । इस महान् स्वप्नरूपी संसारमें जैसे तुम्हारी दृष्टिमें मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टिमें तुम सत्य हो, उसी तरह सभी सत्य हैं—यही सारे स्वप्नोंमें न्याय है । इस प्रकार यह सब स्वप्न और जाग्रद्रूप प्रपञ्च वास्तवमें सत्य नहीं है, परंतु सत्य-सा प्रतीत होता है और स्वप्न-स्त्री-प्रसङ्गकी भाँति मिथ्या ही जीवको मोहित करता है । सभी वस्तुएँ देहके बाहर तथा भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं । ज्ञानवृत्ति जिसे जैसा जानती है, उसे उसी तरह स्वयं ही देखती है । जैसे कोशमें जो धन मौजूद रहता है, उसे उसका द्रष्टा प्राप्त करता है, उसी तरह चेतनाकाशरूप परमात्मामें सब कुछ स्थित है और वही परमात्मा उसका अनुभव करता है । अस्तु,

तदनन्तर देवी सरस्वतीने विदूरथको ज्ञानामृतके सिञ्चनसे विवेकरूपी सुन्दर अङ्कुरसे संयुक्त करके उनसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! यह पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान मैंने लीलाकी प्रसन्नताके लिये तुमसे वर्णन किया है । लीलाने भी जगन्मिथ्यात्वकी दृष्टान्तभूत तुम्हारी दृष्टियाँ देख ली हैं; अतः तुम्हारा कल्याण हो, अब हम दोनों जाना चाहती हैं ।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! मधुर अक्षरोंसे

युक्त वाणीद्वारा सरस्वतीके यों कहनेपर बुद्धिमान् राजा विदूरथने इस प्रकार कहा।

विदूरथ बोले—देवि! मुझ साधारण मनुष्यका भी यदि किसी याचकको दर्शन हो जाय तो वह निष्फल नहीं जाता; फिर आप तो महान् फल प्रदान करनेवाली हैं, आपका दर्शन व्यर्थ कैसे हो सकता है। देवि! जैसे स्वप्न देखता हुआ मनुष्य उस स्वप्नको छोड़कर दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उसी तरह मै अपनी इस देहका परित्याग करके यहाँ दूसरे लोकको जाऊँगा। माता! मै आपकी शरणमें आया हूँ। आप मुझ शरणागतको करुणापूर्ण दृष्टिसे देखिये और शीघ्र ही मेरी प्रार्थित वस्तु प्रदान कीजिये। मा! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मै जिस लोकमें जाऊँ, वही लोक मेरे इस मन्त्री और इस कुमारी कन्याको भी प्राप्त हो।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—पूर्वजन्मके चक्रवर्ती सम्राट्! तुम्हें विदित होना चाहिये कि हमलोगोंने कभी भी याचकोंकी कामनाका निराकरण कर दिया हो—ऐसा नहीं देखा गया। अत: आओ और लीलाकी भक्ति और भाग्यके अनुरूप पदार्थोंकी समृद्धिसे सुन्दर इस राज्यका निर्भय होकर उपभोग करो।

राजन्! इस समय इस भीषण संग्राममें तुम्हारी मृत्यु निश्चित है और तुम्हे तुम्हारा प्राचीन राज्य प्राप्त होगा। यह सब प्रत्यक्ष तुम्हारी आँखोंके सामने ही होगा। कुमारी कन्याको, मन्त्रीको और तुमको शवरूप शरीर प्राप्त करके उस प्राचीन नगरमें आना होगा। अब हम दोनों जैसे आयी थीं, वैसे ही लौट जा रही हैं; परंतु कुमारी कन्याको, मन्त्रीको और तुम्हें मृत्युको प्राप्त होकर वायुरूपसे अर्थात् सूक्ष्मदेहसे उस प्रदेशमे आना चाहिये।

देवी सरस्वती और राजा दोनों मधुरभाषी थे। उनमें परस्पर वार्तालाप हो ही रहा था, तबतक राजमहलके ऊर्ध्वभागमें बैठकर नगरकी देखभाल करनेवाला मनुष्य भयभीत हो राजाके पास आकर कहने लगा—'देव! ज्वार-भाटासे संयुक्त महासागरकी भाँति बाण, चक्र, खड्ग, गदा और परिघकी वर्षा करनेवाली एक विशाल शत्रु-सेना आ पहुँची है। वह अत्यन्त उत्साहसे सम्पन्न है और प्रलयकालकी वायुसे उड़ाये गये कुल-पर्वतोंकी शिलाओंके समान भयंकर गदा, शक्ति और भुशुण्डियोंकी वर्षा कर रही है। साथ ही इस पर्वताकार नगरमें आग लग गयी है, जिसने चारों दिशाओंको व्याप्त कर लिया है। वह चट-चट शब्दके साथ इस उत्तम नगरीको जलाती हुई नष्ट-भ्रष्ट कर रही है।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम! वह पुरुष समीन होकर राजासे यों कह ही रहा था, तबतक बाहर कठोर शब्दोंसे युक्त महान् कोलाहल होने लगा जो अपने भीषण शब्दसे सारी दिशाओंमें व्याप्त हो रहा था। वह कोलाहल बलपूर्वक कानतक खींचकर बाणोंकी वर्षा करनेवाले धनुषोंकी टंकारसे तथा जिनकी स्त्री और बच्चे जल गये थे, उन पुरवासियोंके महान् हाहाकारसे, जलती हुई लपटोंके परिस्पन्दनसे उत्पन्न चट-चट एवं टूटकर गिरते हुए अङ्गारोंके शब्दसे व्याप्त था। तब सरस्वती और लीला—दोनो देवियोंने एवं मन्त्री और राजा विदूरथने उस घोर रात्रिके समय राजमहलके झरोखेसे झाँककर उस विशाल नगरकी ओर दृष्टिपात किया, जो तुमुल नादसे गूँज रहा था। उस समय वह नगर प्रलयाग्निसे विक्षुब्ध हुए महासागरके सदृश वेगवाले तथा भयंकर अस्त्ररूपी तरङ्गोंसे व्याप्त शत्रु-सैन्यसे खचाखच भरा था और प्रलयकालीन अग्निकी ज्वालासे पिघलते हुए मेरुपर्वतके सदृश कान्तिमान् एवं गगनचुम्बी महान् ज्वाला-समूहोंसे भस्म हो रहा था। उस नगरको लूटते समय लुटेरे दूसरोंको डराने-धमकानेके लिये महान् मेघकी गर्जनाके समान डाँट बता रहे

थे। उनके उस भीषण कोलाहलसे वह नगर भयानक लग रहा था। तदनन्तर राजा विदूरथने अपने योद्धाओं-



का तथा उन लोगोंका, जिनका देखते-देखते ही स्त्री-पुत्र आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था, इसलिये वे इधर-उधर दौड़ लगा रहे थे, करुण-क्रन्दन सुना। अहो! यह तो सदाचारसे हीन महान् अनुचित कार्य हो रहा है, जो शस्त्रधारी शत्रुसैनिक राजरानियोंको भी पकड़ रहे हैं।

इसी बीचमें जैसे लक्ष्मी कमलकोशमें प्रविष्ट होती है, उसी तरह राजमहिषीने, जो यौवनके मदसे उन्मत्त हो रही थी, राजा आदिद्वारा अधिष्ठित उस गृहमें प्रवेश किया। उस समय वह हारके छिन्न-भिन्न हो जानेसे व्याकुल एवं भयसे घबरायी हुई थी। उसके पुष्पहार और वस्त्र जोर-जोरसे हिल रहे थे तथा सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे-पीछे चल रही थीं, वहाँ पहुँचकर जैसे कोई अप्सरा संग्राममें संलग्न हुए देवराज इन्द्रसे निवेदन करे, उसी तरह उसकी एक सखी राजा विदूरथसे निवेदन करने लगी—'देव! महारानी हम-लोगोंके साथ अन्तःपुरसे भागकर आपकी शरणमें आयी हैं—ठीक उसी तरह, जैसे झञ्झावातसे पीडित लता वृक्षका आश्रय ग्रहण करती है। राजन्! जैसे महासागरकी लहरियाँ तटवर्ती वृक्षोंपर लिपटी हुई लताओंको अपने साथ समेट ले जाती हैं, उसी तरह अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित उन बलवान् शत्रुओंने आपकी अन्यान्य रानियोंका अपहरण कर लिया है। अचानक आ धमके हुए उन उद्दण्ड शत्रुओंने आँधीद्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये बड़े-बड़े वृक्षोंकी भाँति अन्तःपुरके सभी संरक्षकोंको चकनाचूर कर दिया है। इस प्रकार हमलोगोंको जो यह विविध प्रकारकी विपत्तिने आ घेरा है, उसका सर्वथा निवारण करनेके लिये आपकी ही सामर्थ्य है।' यह सुनकर राजाने दोनो देवियोकी ओर देखकर कहा—



'देवियो! मै युद्धके लिये जाता हूँ, अब आप मुझे क्षमा करें! अब मेरी यह भार्या आपलोगोंके चरणकमलों-की भ्रमरी बनेगी अर्थात् आपके चरणोंकी सेवा करेगी।'

यों कहकर राजा विदूरथ, जिसके नेत्र क्रोधवश लाल हो गये थे, उसी प्रकार राजभवनसे बाहर निकला, जैसे मदमत्त गजराजद्वारा वनके छिन्न-भिन्न कर दिये जानेपर सिंह अपनी गुहासे बाहर निकला हो। तदनन्तर प्रबुद्ध लीलाने अपनी ही रूप-रेखाके तुल्य आकृतिवाली सुन्दरी लीलाको दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुई-सी देखा और कहा।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवि! किस कारणसे मैं यह हो गयी? पहले मैं जो थी, वही मैं इस रूपमें कैसे स्थित हूँ? इसका क्या रहस्य है? यह मुझे बतलानेकी कृपा कीजिये। ये सभी मन्त्री आदि पुरवासी तथा सेना और सवारियोंसहित शूरवीर पूर्ववत् ही हैं। ये जैसे यहाँ स्थित हैं, वैसे ही वहाँ भी हैं। देवि! जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित वस्तु बाहर और भीतर दोनों ओर दीखती है, उसी तरह ये सभी यहाँ और वहाँ स्थित हैं—इसका क्या कारण है? क्या वे सचेतन हैं?

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! भीतर जैसा ज्ञान उद्भूत होता है, वैसा ही बाहर क्षणमात्रमें अनुभव होने लगता है। जैसे मन चित्तार्थता—स्वप्न आदिमें चित्तद्वारा अनुभूत जाग्रत्‌की स्वरूपताको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह चेतन दृश्याकारताको प्राप्त हो जाता है। हृदयके अंदर उद्भूत पदार्थ बाह्य-से प्रतीत होते हैं। इस विषयमें स्वप्नदृष्ट पदार्थ ही प्रमाण हैं; क्योंकि हृदयके भीतर जो स्वप्नमें संकल्प-नगरका स्फुरण होता है, वह चेतनका विकास है। इस राजाके जिन मन्त्री आदिका जो अविरोध तथा सर्वार्थरूपसे अनुभव हो रहा है, इसका कारण यह है कि वे स्वप्नमें संकल्पित सैन्यकी भाँति चेतन सत्तात्मक होनेसे सद्रूप ही हैं। अथवा यदि यों कहें कि उत्तरकाल अर्थात् जाग्रदवस्थामें स्वप्नके विनाशी होनेके कारण वह असत् है तो ऐसा तो यह सारा जाग्रत्-जगत् ही है; क्योंकि स्वप्नमें जाग्रत् असत् है और जाग्रत्-कालमें स्वप्न असत् है। फिर जाग्रत्‌में कौन-सी विशेष सत्यता सिद्ध हुई? अनघे! इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत्-जगत् न सत् है और न असत् ही। ये केवल भ्रान्तिरूपसे ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि महाकल्पके अन्तमें, आज और अगले युगमें अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान आदि तीनों कालोंमें भी जो कभी उस स्वरूपसे नहीं था, वही ब्रह्म है, अतः वही जगत् है। उस ब्रह्मस्वरूप जगत्‌में ये सृष्टि नामवाली भ्रान्तियाँ विकसित होती हैं। पर वास्तवमें विकसित-सी नहीं दीखतीं; क्योंकि जैसे महासागरमें लहरें उठती हैं, उसी प्रकार ये सृष्टियाँ परब्रह्ममें उत्पन्न हो-होकर पुनः आँधीमें घुले-मिले हुए धूलिकणोंकी भाँति उसी परब्रह्ममें विलीन हो जाती हैं। इसलिये जिसमें 'त्वम्' और 'अहम्' आदिका विभाग मिथ्या ही है तथा जो मृगतृष्णाके जलसमूहकी भाँति भ्रान्तिमय आभासित हो रहा है, उस जले हुए वस्त्रके भस्मके समान प्रपञ्चमें कौन-सी आस्था है? इस सारे प्रपञ्चके शान्त होनेपर जो अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। उस ब्रह्मसे पृथक् होनेपर यह दृश्य जगत् कभी भी सत्य नहीं है और ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण असत्य भी नहीं है। तत्पश्चात् उसी तरहका अनुभव होनेके कारण यह स्पष्टरूपसे जीवमात्रको प्राप्त होता है। यह जगत् सत्य हो या असत्य, पर यह चिदाकाशमें विभासित हो रहा है।

(*श्रीसरस्वतीजीने पुनः कहा*)—जैसे राजारूप चिदाकाशमें सन्मयी प्रतिभा उदित होती है, उसी तरह उससे पूर्व होनेवाली सत्यसंकल्परूपा प्रतिभा अव्याकृत आकाशरूप ईश्वरमें उत्पन्न होती है। इसी तरह प्रतिभा-के प्रतिबिम्बसे उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे-सरीखे शील, आचार, कुल और शरीरसे युक्त दीख रही है। सर्व-व्यापक ज्ञानवृत्तिरूपी दर्पणमें जैसी प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है, वह जहाँ जिस रूपमें उत्पन्न होती है, वहाँ निरन्तर उसी रूपमें प्रकट होती है। अन्तर्यामी ईश्वरकी जो प्रतिभा भीतर वर्तमान है, वही स्वयं बाहर भी कार्य

करती है, इसलिये चिन्मय दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण यह तुम्हारे ही समान स्थित है । लीले ! इस विषयमें तुम ऐसा समझो कि यह आकाश, उसके भीतर भुवन, उसके अन्तर्गत पृथ्वी, उसपर यह तुम, मैं और राजा—यों जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब-का-सब ब्रह्मरूपसे मैं ही हूँ, इस कारण तुम स्वरूपमें स्थित होकर पूर्णरूपसे शान्त हो जाओ । तुम्हारा पति यह विदूरथ रणाङ्गणमें शरीरका त्याग करके उसी अन्तःपुरमें पहुँचकर राजा पद्मके रूपमें उत्पन्न होगा ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! देवीकी बात सुनकर उस नगरमें रहनेवाली लीला हाथ जोड़कर देवीके आगे खड़ी हो गयी और भक्तिविनम्र होकर बोली ।

द्वितीय लीलाने कहा—देवेशि ! मैंने नित्य ही भगवती सरस्वती देवीकी अर्चा-पूजा की है और वे देवी रात्रिके समय स्वप्नमें मुझे दर्शन दिया करती हैं । अम्बिके ! उन देवीका जैसा आकार-प्रकार है, वैसी ही आप भी हैं । सुमुखि ! आप दीनोंपर करुणा करनेवाली हैं, अतः मुझे वर प्रदान कीजिये ।



श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! लीलाके ऐसा कहनेपर भगवती सरस्वती उस समय उसके भक्तिपूर्वक किये गये ध्यान-पूजनका स्मरण करके प्रसन्न हो गयीं और उस नगरनिवासिनी लीलासे यों बोलीं ।

श्रीदेवीजीने कहा—वत्से ! जीवनपर्यन्त की गयी तुम्हारी अनन्यभक्तिसे, जो कभी भी शिथिल नहीं हुई, मैं परम संतुष्ट हूँ; अतः तुम मुझसे अपना मनो-ऽभिलषित वरदान ग्रहण करो ।

तब वह नगरनिवासिनी लीला बोली—देवि ! मेरे पतिदेव रणभूमिमें शरीरका परित्याग करके जहाँ स्थित होंगे, मैं भी इसी शरीरसे वहाँ उनकी पत्नी होऊँ ।

श्रीदेवीजीने कहा—पुत्रि ! तुमने चिरकालतक अनन्य-भक्तिभावसे पुष्प-धूप आदि प्रचुर पूजन-सामग्रीद्वारा मेरी निर्विघ्न पूजा की है, इसलिये 'एवमस्तु'—तुम्हारी कामना पूर्ण हो ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! तदनन्तर जब उस वर-प्राप्तिसे तद्देशवासिनी लीला हर्षोत्फुल्ल हो रही थी, उसी समय पूर्व लीलाने, जिसका हृदय संदेहके दोलेमें झूल रहा था, देवीसे कहा ।

पूर्व लीला बोली—ऐश्वर्यशालिनी देवि ! जो आपके सदृश सत्य कामना एवं सत्य संकल्पवाले हैं, अतएव जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उनका सारा मनोरथ जब शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है, तब यह बतलाइये कि आपने मुझे किसलिये इसी शरीरसे गिरिग्रामक नामवाले उस लोकान्तरमें नहीं पहुँचाया ?

श्रीदेवीजीने कहा—सुन्दरि ! मैं किसीका कुछ नहीं करती, बल्कि जीव स्वयं ही अपनी समस्त अभिलाषाओंका शीघ्र ही सम्पादन कर लेता है; क्योंकि प्रत्येक जीवमें जीवशक्तिस्वरूपा चेतनशक्ति वर्तमान है । इसलिये जिस-जिस जीवकी जो शक्ति जिस-जिस रूपमें प्रकट होती है, वह उसी-उसी रूपमें उस-उस जीवको सदा तदनुरूप फल प्रदान करती हुई-सी प्रतीत होती है । जिस समय

तुम मेरी सम्यक् प्रकारसे आराधना कर रही थी, उस समय चिरकालतक तुम्हारे मनमें जो जीव-शक्ति उत्पन्न हुई थी, उसकी कामना थी कि यदि इसी जन्ममें मैं मुक्त हो जाती तो अच्छा होता । अतः उत्तम रूप-रंगवाली लीले ! उसी-उसी प्रकारसे मैंने तुम्हें भलीभाँति समझाया है और उसी युक्तिद्वारा तुम इस निर्मल भावको प्राप्त हुई हो। जब चिरकालतक मैंने तुम्हें इसी भावनासे ज्ञानोपदेश किया है, तभी तुम अपनी चेतनशक्तिके प्रभावसे सदाके लिये उसी अर्थको प्राप्त हुई हो; क्योंकि जिस जिसका चिरकालतक जैसा अपनी चेतनशक्तिका प्रयत्न होता है, वह समयानुसार उस-उसको वैसा ही फल प्रदान करता है। अपनी चेतनशक्ति ही तपस्या अथवा देवताका रूप धारण करके स्वच्छन्दरूपसे आकाशसे फल गिरनेकी भाँति फल देती है। अपनी ज्ञानशक्ति प्रयत्नके बिना कभी कुछ भी फल नहीं देती; इस कारण तुम्हारी जैसी अभिलाषा हो, शीघ्र ही तदनुरूप कार्य आरम्भ कर दो। तुम ऐसी धारणा कर लो कि चित्सत्ता ही सबमें अन्तरात्मारूपसे व्याप्त है । वही विहित अथवा निषिद्ध जिस कर्मका विचार करती है और उसके लिये प्रयत्न करने लग जाती है, उसीको फलश्री प्राप्त होती है । इसलिये जो पावन पद है, उसे जानकर तुम उसीमें स्थित हो जाओ।

(सर्ग ४१—४५)



राजा विदूरथका विशाल सेनाके साथ युद्धके लिये प्रयाण, युद्धारम्भ, लीलाके पूछनेपर सरस्वतीद्वारा राजा सिन्धुके विजयी होनेमें हेतु-कथन, विदूरथ और राजा सिन्धुके दिव्यास्त्रोंद्वारा किये गये युद्धका सविस्तर वर्णन, राजा विदूरथकी पराजय और देशपर राजा सिन्धुके अधिकारका कथन

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जब वे तीनों देवियाँ उस राज-महलके भीतर यों परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, उस समय विदूरथने क्रोधावेशमें महलसे निकलकर क्या किया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स राम ! जिस समय राजा विदूरथ अपने भवनसे बाहर निकला, उस समय वह नक्षत्रसमूहसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति विशाल सैन्यदलसे परिवेष्टित था । उसका सारा शरीर कवच आदिसे सुरक्षित था। हार आदि आभूषण उसके शरीरकी शोभा बढ़ा रहे थे । वह जय-जयकारकी तुमुल ध्वनिके साथ देवराज इन्द्रके समान बाहर निकला । उस समय वह योद्धाओंको आदेश दे रहा था । मन्त्री व्यूह-रचना एवं जनपद-व्यवस्था-सम्बन्धी व्यवस्था उसे सुना रहे थे। वह वीरगणोंका निरीक्षण करता हुआ एक ऐसे रथपर आरूढ़ हुआ, जिसमें आठ घोड़े जुते थे। उत्तम जातिवाले उन अश्वोंकी गर्दन बड़ी सुहावनी थी। वे शुभलक्षणोंसे युक्त, फुर्तीले और एकहरे बदनके थे तथा अपनी हिनहिनाहटसे सारी दिशाओंको निनादित कर रहे थे। उस समय जिन्हें सरस्वती देवीने दिव्यदृष्टि प्रदान की थी, वे दोनों लीला नामवाली देवियाँ और वह राजकुमारी उस महायुद्धको देख रही थीं । उसे देखकर उनका हृदय विदीर्ण-सा हो रहा था । राजा विदूरथकी युद्ध-यात्राके पश्चात् शत्रु-सैनिकोंके बाणों एवं आयुधोंसे निकलता हुआ कटकट शब्द पूर्णरूपसे शान्त हो गया—ठीक उसी तरह, जैसे एकार्णवके जलप्रवाहोंसे वडवानल शान्त हो जाता है । उस समय राजा विदूरथ अपनी सेनाको धीरे-धीरे आगे बढ़ा रहे थे। उन्हें अपने तथा शत्रुपक्षके बलाबलका ज्ञान नहीं हो पाया था—इसी दशामें उन्होंने शत्रु-सेनामें प्रवेश किया ।

जिस समय समरभूमिमें दोनों सेनाओंकी भीषण मुठभेड़ हो रही थी, उसी समय दोनों लीलाओंने भगवती सरस्वतीसे पुनः प्रश्न किया ।

दोनों लीलाओंने पूछा—देवि ! यह बतलाइये कि आपके संतुष्ट होनेपर भी मेरे पतिदेव इस युद्धमें, जिसमेंसे

गजराज भागे जा रहे हैं, अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हैं ?

श्रीसरस्वतीजीने कहा—पुत्रि ! राजा विदूरथके शत्रु इस राजा सिन्धुने विजय-प्राप्तिकी कामनासे चिरकालतक मेरी आराधना की थी, परंतु भूपाल विदूरथकी आराधना विजयार्थ नहीं थी; इसलिये यह राजा सिन्धु ही विजयी होगा और विदूरथ पराजित हो जायगा। क्योंकि समस्त प्राणियोंके हृदयान्तर्गत ज्ञानवृत्तिरूपसे मै ही स्थित हूँ, अत. जो मुझको जिस समय जिस रूपसे प्रेरित करता है, मै शीघ्र ही उसके लिये उस समय वैसे ही फलका सम्पादन करती हूँ। बाले ! इस राजा विदूरथने 'मैं मुक्त हो जाऊँ' इसी भावनासे मुझ प्रतिभारूपिणीका ध्यान किया था, इस कारण यह मुक्त हो जायगा। और इसके शत्रु राजा सिन्धुने 'मैं स्वयं संग्राममें विजयी होऊँ' इस कामनासे मेरी पूजा की थी; इसलिये बाले ! विदूरथ भार्यारूपिणी तुम्हारे और इस लीलाके साथ समयानुसार उस शवस्वरूप देहको प्राप्त होकर मुक्त हो जायगा तथा इसका शत्रु राजा सिन्धु स्वय उसे मारकर विजयश्रीसे सुशोभित हो भूतलपर राज्य करेगा।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! देवी सरस्वती यों कह ही रही थीं, तबतक भगवान् सूर्य उदयाचलपर आ पहुँचे, मानो वे जूझती हुई दोनो सेनाओंका आश्चर्यमय युद्ध देखना चाहते थे। उस समय जैसे द्युलोकमें आकाशके चिह्नभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखायी देते हैं, उसी तरह जनसंहार हो जानेके कारण उस शून्य सग्रामभूमिमें राजा पद्म (विदूरथ) और राजा सिन्धुके प्रकाशमान रथ चलते हुए दीख रहे थे। उन दोनो रथोंमें चक्र, शूल, भुशुण्डी, ऋष्टि और प्रास आदि आयुध खचाखच भरे थे। उन रथोंके पीछे बहुसंख्यक शूरवीर योद्धा, जिनके सैनिक भयभीत हो गये थे, रणभूमिमें भालो, बाणो, धनुषो, शक्तियों, प्रासो, शङ्कुओ और चमकते हुए चक्रोंकी भयंकर वृष्टि करते हुए चल रहे थे। इतनेमें ही प्रलयकालीन वायुद्वारा गिराये गये शिलाखण्डोकी तरह दोनों सेनाओंपर बाण गिरने लगे। उस समय राजा विदूरथ और राजा सिन्धुकी परस्पर ऐसी भयकर मुठभेड हुई जिसे देखकर लोगोंको ऐसी आशङ्का होने लगी मानो प्रलयके लिये विशेषरूपसे बढ़े हुए दो महासागर परस्पर टकरा रहे हों।

राजा विदूरथ अपने विपक्षी राजा सिन्धुको, जिसके कंधे ऊँचे थे, सामने उपस्थित पाकर मध्याह्नकालिक सूर्यके दुस्सह आतपकी भाँति प्रचण्ड कोपसे भर गया। फिर तो उसने अपने धनुषको, जिसकी टंकारध्वनि चिरकालके लिये सारी दिशाओको निनादित कर देती थी, कानतक खींचा। उस समय ऐसा भयकर शब्द हुआ, जैसे कल्पान्त-कालमें उठी हुई वायु मेरुगिरिके तटप्रान्तसे टकरा रही हो। राजा विदूरथका हस्तलाघव सराहनीय था; क्योंकि लोग देखते थे कि उसकी प्रत्यञ्चासे एक ही बाण छूटता है, परंतु वह आकाशमें पहुँचते-पहुँचते हजार हो जाता है और विपक्षियोंपर एक लाख होकर गिरता है। राजा सिन्धुकी भी शक्ति और फुर्ती विदूरथके ही समान थी। उन दोनोंको ऐसी धनुर्युद्ध-कुशलता वरदायक भगवान् विष्णुके वरप्रसादसे उपलब्ध हुई थी। तदनन्तर उन दोनोंके छोड़े हुए मुसल नामक बाणोसे, जिनकी आकृति मूसलकी-सी थी, आकाश आच्छादित हो गया। उन बाणोसे प्रलयकालीन वज्रोंकी गड़गड़ाहटके समान भीषण शब्द हो रहा था। युद्धस्थलमें राजा विदूरथके बाणसमूह वेगपूर्वक घरघर शब्द करते हुए राजा सिन्धुके सम्मुख उसी प्रकार बढ रहे थे, मानो आकाश-मार्गसे गिरते हुए गङ्गाके प्रवाह कलकलनाद करते हुए महासागरकी ओर जा रहे हो। परंतु राजा सिन्धुरूपी बडवानलने अपने अगस्त्य-तुल्य बाणोकी ऊष्मासे विदूरथके उस बाण-महासागरको पी लिया—ठीक उसी तरह, जैसे महर्षि जह्नु गङ्गाजीको पी गये थे। तत्पश्चात् राजा सिन्धुने बाणोंकी उस वृष्टिको छिन्न-भिन्न करके स्वय बाणोकी इतनी झड़ी लगायी कि आकाशमें सायकोका ही मेघमण्डल

घिर आया। तब विदूरथने भी जैसे प्रलयकालीन वायु उमड़े हुए साधारण मेघको उड़ा देती है, उसी तरह अपने उत्तम सायकोंसे शीघ्र ही उस बाणरूपी मेघमण्डलको विध्वस कर डाला। इस प्रकार वे दोनों भूपाल परस्पर बदला लेनेकी भावनासे एक-दूसरेको लक्ष्य बनाकर बाणोंकी वर्षा करते थे और एक-दूसरेके प्रहारको व्यर्थ कर देते थे।

तदनन्तर राजा सिन्धुने मोहनास्त्रका संधान किया। यह अस्त्र उसे किसी गन्धर्वके साथ मित्रता होनेके कारण प्राप्त हुआ था। उस मोहनास्त्रके प्रयोगसे विदूरथके अतिरिक्त शेष सभी सैनिक मूर्च्छित हो गये। उनके शस्त्रास्त्र और वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये, मुख और नेत्रोंमें उदासी छा गयी। उनकी बोलती बंद हो गयी और वे मृतक-तुल्य अथवा चित्रलिखित-से प्रतीत होने लगे। तब राजा विदूरथने प्रबोधास्त्र हाथमें लिया। फिर तो प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर जैसे कमलिनी विकसित हो जाती है, उसी तरह उस अस्त्रके प्रयोगसे सभी योधाओंकी मूर्च्छा जाती रही और वे उठ बैठे। तत्पश्चात् राजा सिन्धुने भयंकर नागास्त्रको, जो नागपाश-बन्धनद्वारा महान् कष्ट-दायक था, धनुषपर चढाया। उसके संधानसे आकाश पर्वत-सरीखे विशालकाय नागोंसे व्याप्त हो गया। मृणालों-द्वारा सुशोभित हुई पोखरीकी तरह पृथ्वी श्वेत वर्णके सर्पोंसे विभूषित हो गयी। सारे पर्वत काले नागरूपी कम्बलोंसे सम्पन्न हो गये। ये सभी पदार्थ विषकी ऊष्मासे मलिन हो गये और वन तथा पर्वतोंकी विशालतासे युक्त पृथ्वी व्याकुल हो गयी। तब महान् अस्त्रोंके मर्मज्ञ विदूरथने भी गारुडास्त्रका प्रयोग किया। उस अस्त्रसे पर्वत-सदृश विशालकाय इतने गरुड प्रकट हुए, जिनसे सारी दिशाएँ भर गयीं। उनके सुनहरे पखोंकी चमकसे सभी दिशाएँ स्वर्णमय प्रतीत होने लगीं। उड़ते हुए उन गरुडोंके पंखसे पक्षधारी पर्वतोंकी उड़ानसे उत्पन्न हुए प्रलयकालीन बायुकी भाँति भयंकर आँधी प्रकट हो गयी। वे अपने श्वासवेगसे फुफकारते हुए नाग-समूहोंको अपनी ओर खींच लेते थे। उनकी घुरघुराहटकी तीव्र आवाज समुद्रपर्यन्त व्याप्त हो गयी। तत्पश्चात् राजा सिन्धुने तमोऽस्त्र प्रकट किया, जो अंधा बना देनेवाले अन्धकारका उत्पादक था। उससे भूगर्भका-सा घना अन्धकार फैल गया। उस समय सारी प्रजाएँ अन्धकूपमें गिरे हुएकी भाँति प्रतीत होने लगीं और कल्पान्तकी तरह सभी दिशाओंके व्यवहार एकदम बंद हो गये। तब मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ विदूरथने किसी गुप्त मन्त्रणाकी अपेक्षा किये बिना ही ब्रह्माण्ड-मण्डपमें दीपककी तरह प्रकाश फैलानेवाले सूर्यास्त्रकी सृष्टि करके सबको सचेष्ट कर दिया। उस समय सूर्यरूपी अगस्त्यने अपनी किरणोंसे उस प्रकट हुए अन्धकारके महासागरको पी लिया—ठीक उसी तरह, जैसे निर्मल शरद्-ऋतु काले बादलोंको पी जाती है। यह देखकर राजा सिन्धु क्रोधसे भर गया। फिर तो उसने उसी क्षण अत्यन्त भीषण राक्षसास्त्र प्रकट किया, जिससे मन्त्रोच्चरण करते ही बाण निकलने लगते थे। उस राक्षसास्त्रका प्रयोग करते ही पातालनिवासी दिग्गजोंके फूत्कारसे विक्षुब्ध हुए महासागरकी भाँति बहुत-से भयंकर एवं क्रूर स्वभाववाले वनराक्षस सभी दिशाओंसे प्रकट हो गये। इसी बीचमें लीलाके स्वामी राजा विदूरथने उस युद्धस्थलमें नारायणास्त्रका प्रयोग किया, जो दुष्ट प्राणियोंके निवारण करनेमें सिद्धहस्त है। उस अस्त्रराजके प्रकट होते ही राक्षसोंके अस्त्रसमूह पूर्णरूपसे शान्त हो गये, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार विलीन हो जाता है। तदनन्तर राजा सिन्धुने वायव्यास्त्रकी सृष्टि की, जिसने आकाशमण्डलको प्रचण्ड वायुसे भर दिया। तब महान् अस्त्रवेत्ता विदूरथने पार्वतास्त्र चलाया, जो मानो मेघ-जलसहित आकाशको भी आत्मसात् कर लेनेके लिये उद्यत था। तदुपरान्त राजा सिन्धुने उद्दीप्त वज्रास्त्र प्रकट किया, जिससे झुंड-के-झुंड वज्र निकलकर रणभूमिमें विचरने लगे। वे ईंधनको भस्मसात् कर लेनेवाली आगकी भाँति विशाल पर्वतरूपी अन्धकारको पी जाते थे

तथा अपने करोड़ों चोंचोंसे पर्वतोंके शिखरोंको काट-काटकर उसी प्रकार भूतलपर गिरा देते थे, जैसे प्रचण्ड वायु फलोंको गिराकर पृथ्वीपर बिछा देती है। तब विदूरथने वज्रास्त्रको शान्त करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। फिर तो ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ ही शान्त हो गये।

इस प्रकार जब वह भयकर सग्राम चल ही रहा था, उसी समय प्रतिभाशालियोंमें सर्वश्रेष्ठ, महान् उदार एवं उत्कृष्ट धैर्यशाली राजा सिन्धुने विपक्षियोकी सारी सेनाका विनाश और अपनी सेनाकी पीड़ा-शान्तिके लिये एकमात्र वैष्णवास्त्रका स्मरण किया, जो दिव्यास्त्रोंका राजा, परम ऐश्वर्यशाली एवं कालरुद्रके समान संहारकारी था। उस वैष्णवास्त्रसे अभिमन्त्रित करके राजा सिन्धुने जो बाण चलाया, उसके फलके अग्रभागसे उल्मुक आदि निकलने लगे। उससे निकली हुई प्रकाशमान चक्रोंकी पङ्क्तियोंने दिशाओंको सैकड़ों सूर्योंसे युक्त-सा बना दिया। पङ्क्तिरूपमें सम्मुख दौड़ती हुई गदाएँ आकाशमें सैकड़ों बाँसोंकी भाँति प्रतीत होती थीं। सौ धारवाले वज्रसमूहोंने आकाशको तृणराशिसे आच्छादित-सा कर दिया। पद्माकार पट्टिशोंकी कतारें आकाशमें कटे हुए वृक्षों-सी दीख रही थीं। तीक्ष्ण-धारवाले बाणोंकी पङ्क्तियाँ ऐसी जान पड़ती थीं, जैसे आकाशमें पुष्पजाल बिछा हो। काली आकृतिवाले खड्गोंकी कतारें नभोमण्डलको पत्र-समूहोंसे व्याप्त-सा कर रही थीं। तब विपक्षी राजा विदूरथने भी उस वैष्णवास्त्रकी शान्तिके लिये वैष्णवास्त्रका ही प्रयोग किया, जो शत्रुके पराक्रमके अनुरूप ही था। उससे भी बाण, शक्ति, गदा, प्रास, पट्टिश आदि आयुधरूपी जलसे परिपूर्ण बहुत-सी शस्त्रास्त्रोंकी सरिताएँ प्रकट हुईं, जिन्होंने पूर्वप्रयुक्त वैष्णवास्त्रसे उद्भूत हथियारोंको नष्ट कर दिया। उन शस्त्रास्त्रपूर्ण नदियोंका आकाशमें ही ऐसा भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ, जो द्युलोक और पृथ्वीके अवकाशका विनाश करनेवाला तथा बड़े-बड़े कुलपर्वतोंको विदीर्ण कर देनेवाला था। जैसे मेरे आयुधोंने विश्वामित्रके अस्त्रोंका निवारण किया था, उसी तरह परस्पर जूझते हुए उन दोनों वैष्णवास्त्रोंकी धारावाहिक बाण-वृष्टिने शस्त्र-समूहोंको काट डाला और उन अस्त्रोंसे प्रकट हुए वज्रोंने अकाट्य पर्वतोंको भी जर्जर कर दिया। इस प्रकार दोनों राजाओंके वे अस्त्र पराक्रमशाली दो सुभटोंकी भाँति क्षणभरतक परस्पर अत्यन्त भयंकर युद्ध करके शान्त हो गये।

तत्पश्चात् राजा सिन्धु अपने रथको छोड़कर पृथ्वीपर उतर पड़ा और ढाल-तलवारसे लैस हो गया। फिर तो उसने पलक मारते-मारते बड़ी फुर्तीसे अपने शत्रु राजा विदूरथके रथके घोड़ोंके खुरोंको मृणालकी भाँति तलवारसे काट गिराया। अब तो राजा विदूरथ भी रथहीन हो गये, अतः उन्होंने भी ढाल-तलवार उठा ली। उस समय उन दोनोंके आयुध एक-से थे और दोनोंका उत्साह भी समान था; अतः वे परस्पर वार करनेके लिये पैंतरे बदलने लगे। परस्पर प्रहार करते हुए उन दोनोंके खड्ग आरेके समान हो गये थे। इसी बीच राजा विदूरथने खड्ग छोड़कर एक शक्ति हाथमें ली और उसे शत्रुपर चला दिया। वह शक्ति मथे जाते हुए समुद्रके जलकी तरह घर्घरशब्दसे युक्त अतएव महान् उत्पातकी सूचना देनेवाले वज्रके सदृश थी। वह अविच्छिन्नरूपसे आयी और राजा सिन्धुके वक्षःस्थलपर गिरी; परंतु उस शक्तिके आघातसे राजा सिन्धुकी मृत्यु नहीं हुई।

तब उस देशकी लीलाने पूर्वलीलासे कहा—'देवि! बड़े कष्टकी बात है, क्योंकि जैसे देवराज इन्द्र शत्रुका विनाश करनेके लिये वज्रका सहारा लेते हैं, उसी तरह यह राजा सिन्धु प्रहार करनेके लिये मुसलास्त्रकी ओर देख रहा है; परंतु मेरे पतिदेव मुसलधारी राजा सिन्धुको चकमा देकर बड़ी फुर्तीसे सकुशल दूसरे रथपर चढ़ गये और वेगपूर्वक दूर हट गये हैं। फिर भी हाय! धिक्कार है, महान् कष्ट आ पड़ा। इस राजा सिन्धुने अत्यन्त वेगसे बाण बरसाकर मेरे स्वामीके रथको तहस-नहस करके उन्हें भी व्यथित कर दिया और अब यह अपने वज्र-सरीखे

बाणोंद्वारा उनके स्थूल मस्तकको विदीर्ण करके उन्हें भूतलपर गिराना ही चाहता है। देखो न, बडी कठिनाईसे होशमें आनेपर जब मेरे पतिदेव सारथिद्वारा लाये गये दूसरे रथपर चढ रहे थे, उसी समय इसने उनके कंधेको काट दिया, जिससे वे रक्तके फौवारे छोड़ रहे हैं। हाय! हाय! अब तो और भी कष्टकी बात हुई,इस राजा सिन्धुने अपने खड्गकी तीखी धारसे मेरे पतिदेवकी दोनों पिंडलियोंको उसी प्रकार फाड़ डाला, जैसे आरेसे वृक्ष चीरा जाता है। हाय! अब तो मैं बुरी तरह मारी गयी; क्योंकि मेरे पतिके दोनों घुटने भी मृणालकी तरह काट डाले गये।' यों कहकर और पतिकी उस अवस्थापर दृष्टिपात करके पति-प्रेम और भयसे आतुर हुई वह लीला फरसेसे कटी हुई लताकी भाँति मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। विदूरथ यद्यपि जानुरहित हो गये थे, तथापि वे शत्रुपर प्रहार कर ही रहे थे। उसी अवस्थामें वे जड़से कटे हुए वृक्षकी तरह रथसे नीचे गिरना ही चाहते थे, तबतक सारथि उन्हे रथद्वारा संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया।



जब ये भागे जा रहे थे, उस समय क्रूर-हृदय राजा सिन्धुने इनके गलेपर अस्त्र प्रहार किया, जिससे इनका आधा गला कट गया। फिर भी राजा सिन्धु इनका पीछा कर ही रहा था। तबतक राजा विदूरथ जैसे सूर्यकी किरणें कमलकोशमें घुस जाती है, उसी तरह रथद्वारा भागकर अपने महलमें जा पहुँचे; किंतु राजा सिन्धु उस राज-भवनमें प्रविष्ट न हो सका, क्योंकि वह महल सरस्वती देवीके प्रभावसे सुरक्षित था। वहाँ पहुँचकर सारथिने राजा विदूरथको, जिसके वस्त्र, कवच और शरीर खड्गसे काटे गये गलेके छिद्रसे बुदबुद ध्वनिके साथ निकलती हुई रक्तधाराओंसे सन गये थे, महलके भीतर ले जाकर भगवती सरस्वतीके समक्ष मरणशय्यापर लिटा दिया। इधर विपक्षी राजा सिन्धु महलमें प्रवेश न कर सकनेके कारण लौट गया।

रघुनन्दन! राजा विदूरथके मृत-तुल्य हो जानेपर जब 'रणभूमिमें प्रतिद्वन्द्वी राजाके हाथसे राजा विदूरथ मार डाले गये, राजा मारे गये' ऐसी खबर फैल गयी, तब सारा राष्ट्र भयभीत हो गया। उस समय विदूरथके राष्ट्रकी ऐसी दशा हो गयी थी कि वह शत्रु-राष्ट्रकी साधारण एवं सैनिक जनताके विजयोल्लासके शब्दसे मुखरित हो रहा था। उसमे स्वामियोसे रहित हो जानेके कारण हाथी, घोडे और वीर सैनिक टकराकर साधारण जनताको धराशायी कर रहे थे। कोषगृहके किंवाडोके तोडे जानेके कारण उठा हुआ घर्घर शब्द चारों ओर गूँज रहा था। शत्रुपक्षका मन्त्रिमण्डल राजा सिन्धुके पुत्रका अभिषेक-कार्य सम्पन्न करनेके लिये आदेश देनेमें तत्पर था। राजा सिन्धुकी रानियाँ नगरकी शोभा देखनेके लिये झरोखों एवं अन्य बनाये गये छिद्रोंपर बैठ रही थीं। अभिषिक्त हुए राजा सिन्धुके पुत्रका जय-जयकारके सैकडों उच्च घोषोके साथ-साथ प्रबल प्रभाव फैला हुआ था। स्वपक्षीय असंख्य नरेशोने राजा सिन्धुद्वारा बनायी गयी राष्ट्रमर्यादाको नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया था।

तदनन्तर 'भूमण्डलके एकच्छत्र सम्राट् राजा सिन्धुकी जय हो!' यों घोषणा करते हुए लोग प्रत्येक नगरमें भेरियाँ बजाने लगे। पुत्रके राज्याभिषेकके पश्चात् राजा सिन्धुने, जो विजयी होनेके कारण उन्नत-मस्तक था, युगान्तके समय जगत्की सृष्टि करनेके लिये प्रकट हुए दूसरे मनुकी भाँति प्रजाकी नयी व्यवस्थाके हेतु राजधानीमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् राजा सिन्धुके नगरमें दसों दिशाओंसे हाथी-घोड़ोंके रूपमें भेंट आने लगी। मन्त्रियोंने तत्काल ही प्रत्येक दिशाओंके सामन्त राजाओंके पास राजकीय नियम, चिह्न और आदेश भेज दिये। फिर तो जैसे मन्थन-कालमें आवर्तोंके कारण क्षुब्ध हुआ क्षीरसागर मन्दराचलके निकाल लिये जानेपर तुरंत ही प्रकृतिस्थ हो गया था, उसी तरह अराजकताके कारण विक्षुब्ध हुआ सारा राष्ट्र दसों दिशाओंसहित शीघ्र ही शान्त हो गया। (सर्ग ४६—५१)

राजा विदूरथकी मृत्यु, संसारकी असत्यता और द्वितीय लीलाकी वासनारूपताका वर्णन, लीलाके गमनमार्ग और स्वामी पद्मकी प्राप्तिका कथन, पदार्थोंकी नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचारके अनुसार आयुके मानका वर्णन, आदि-सृष्टिसे लेकर जीवकी विचित्र गतियों तथा ईश्वरकी स्थितिका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इसी बीचमें मूर्च्छित होकर सामने पड़े हुए अपने स्वामीको, जिनका श्वासमात्र ही अवशेष रह गया था, देखकर लीलाने सरस्वतीसे कहा—'अम्बिके! ये मेरे पतिदेव अब यहाँ अपनी देह-का उत्सर्ग करनेके लिये उद्यत है।'

श्रीसरस्वतीजीने कहा—लीले! इस प्रकार महान् उद्योग-से परिपूर्ण, राष्ट्र-विप्लवकारी और परम विचित्र व्यवसायोंसे युक्त इस संग्रामके आरम्भ होने, चलने और समाप्त होनेपर यह राष्ट्र अथवा भूतल न तो कहीं कुछ भी उत्पन्न हुआ है और न नष्ट ही हुआ है; क्योंकि यह जगत् तो स्वप्नात्मक है। अनघे! पूर्वोक्त गिरिग्राम-निवासी ब्राह्मणके घरके भीतर स्थित राजा पद्मके शवके निकटवर्ती आकाशमें वर्तमान अन्तःपुरके भीतर तुम्हारे पतिका यह भूतलरूप राष्ट्र प्रतीत हो रहा है। पुनः विन्ध्याद्रि-के ग्राममें वसिष्ठनामक ब्राह्मणके घरके अंदर यह राष्ट्रसहित ब्रह्माण्ड स्थित है। उसी ब्राह्मणके घरमें शवयुक्त गेह-जगत् वर्तमान है। उस शवयुक्त गेह-जगत्के मध्यमें इस गेह-जगत्-का अस्तित्व है। यों यह त्रिजगत्, जो महान् व्यवसायोंसे युक्त है, भ्रमरूप ही है तथा गिरिग्रामरूपी देहके मध्यभागमें स्थित आकाशकोशमें यह सागरसहित पृथ्वी दृष्टिगोचर हो रही है और तुमसे, मुझसे, इस लीलासे एवं इस विदूरथसे सयुक्त यह चेतन परमात्मा ही विकसित हो रहा है। इसलिये तुम उत्पत्ति-विनाशरहित उस परमपदरूप परमात्माको जानो। वह स्वयम्प्रकाश, परम शान्त और निर्विकार है तथा मण्डपगृहके भीतर अपने चिन्मात्र स्वभावके कारण उदित हुए अपने आत्मा-में जगत्-रूपसे आभासित हो रहा है। यदि भ्रमका द्रष्टा ही न रहे तो भ्रममें भ्रमता कैसे होगी। अतः भ्रमकी सत्ता है ही नहीं। जो कुछ है, वह अविनाशी परमपदरूप परमात्मा ही है। उस परमात्माको तुम ऐसे समझो कि वह उत्पत्ति-विनाशरहित, स्वयम्प्रकाश, शान्त, आदिस्वरूप और निर्विकार होते हुए भी जगत्रूपसे प्रतीत हो रहा है। स्वप्नावस्थामें देहके अंदर देखे गये महापुरकी भाँति मेरु आदि पर्वत-समुदायद्वारा उपलक्षित यह सारा दृश्यवर्ग शून्यात्मस्वरूप ज्ञानमात्र ही है, इसमें स्थूलरूपता कुछ भी नहीं है। शुभे! यह राजा पद्म जिस लोकमें शवरूपसे वर्तमान है, तुम्हारी यह सपत्नी लीला वहाँ पहले ही पहुँच गयी है। यह लीला तुम्हारे

समक्ष ज्यों ही मूर्छित हुई त्यों ही तुम्हारे पति राजा पद्मके शवके निकट जा पहुँची है।

लीलाने पूछा—देवि! यह पहले ही वहाँ पहुँचकर देहधारिणी कैसे हो गयी? इसके मेरे सपत्नी-भावको प्राप्त होनेमें क्या कारण है? तथा राजा पद्मके उस उत्तम राजमहलके जो निवासी हैं, वे इसे किस रूपमें देखते हैं और इसे क्या कहते हैं?—यह सब मुझे संक्षेपसे बतलाइये।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! तुमने मुझसे जैसा प्रश्न किया है, तदनुसार मैं सारी घटना तुमसे संक्षेपमें वर्णन करती हूँ; सुनो। यह दूसरी लीलाके रूपमें वर्तमान तुम्हारा ही वृत्तान्त है, जो तुम्हारी शङ्काओंका निर्णायक है। इससे मरण-परलोकगमन आदि भी, जिनका प्रत्यक्षीकरण होना कठिन है, तुम्हारे दृष्टिगोचर हो जायँगे। यह जो नगरादिरूपसे दृष्टिगोचर होनेवाला जगन्मय भ्रम है, उस अत्यन्त विस्तृत भ्रमको तुम्हारा पति यह राजा पद्म उसी शवयुक्त गृहमें देखता है। यहाँतक कि यह सामने घटित हुआ युद्ध भ्रमयुद्ध है। यह लीला भी भ्रान्तिस्वरूप ही है। यह जन-समुदाय जन्मादिरहित आत्मा है। यहाँकी मृत्यु भी भ्रान्तिसे ही दीख पड़ती है। इस प्रकार यह संसार भ्रमात्मक है। इसी भ्रमक्रमसे लीला इस राजा पद्मकी प्रेयसी भार्या हुई है। वरारोहे! तुम और यह दोनों सुन्दरियाँ भी स्वप्नमात्र ही हो। जिस प्रकार इस राजाकी तुम दोनों सुन्दरी प्रियतमाएँ स्वप्नमात्र हो, उसी तरह तुम दोनोका पति यह राजा और स्वयं मैं भी स्वप्नमात्र ही हूँ। इसी तरह जगत्की यह सारी शोभा भी भ्रमपूर्ण ही है और यहाँका दृश्यवर्ग भ्रममात्र कहा जाता है। इसी तरह यह लीला, तुम, यह संसारस्थिति, यह राजा पद्म और मैं—ये सबके सब परमात्माके सर्वव्यापक होनेके कारण उसी परमात्मामें सत्यरूपसे स्थित हैं। अतः महाचिद्घनकी स्थितिके सर्वात्मक होनेके कारण ये राजा आदि और हमलोग य[illegible] परस्पर एक-दूसरेके द्वारा प्रेरित होनेके कारण इस रूप[illegible] परिणत हो गये हैं। जब इस लीलाके लिये पद्म[illegible] मनोवासना जाग्रत् हुई, उसी समय यह तुम्हारे-सरी[illegible] आकार-प्रकार धारण करके चैतन्यरूप चमत्कारमें प्रव[illegible] हो गयी तथा तुम्हारे पतिदेवने अपनी मृत्युके अनन[illegible] शीघ्र ही इसे अपने सामने उपस्थित देखा; क्योंकि जि[illegible] समय चित्त वासनाभ्यासवश आधिभौतिक पदार्थोंका स[illegible] अनुभव करता है, उस समय उस अनुभवके कारण [illegible] यह दृश्यवर्ग सत्य-सा प्रतीत होता है; वस्तुतः यह [illegible] मिथ्या कल्पनामात्र ही; परंतु जब चित्त इस भौति[illegible] जगत्के पदार्थोंका सत्यरूपसे अनुभव नहीं करता अथ[illegible] असत् समझता है, उस समय तदनुरूप दृढ वासना[illegible] उसके मिथ्यात्वका निर्णय हो जाता है।

ये दोनों स्त्री-पुरुष जब स्वमरणानुकूल मूर्च्छावस्थाको [illegible] हुए, उसी समय इन्होंने पूर्ववासनाके जाग्रत् हो जानेके का[illegible] अपने हृदयमें ऐसा अनुभव किया कि 'ये हमारे पिता ह[illegible] ये हमारी माताएँ हैं। यह हमारा देश है। यह ध[illegible] सम्पत्ति है। यह हमारा कर्म है। पूर्वजन्ममें हमने ऐ[illegible] ही कर्म किया था। इस प्रकार हम दोनोंका विवाह हु[illegible] और इस रूपमें हम दोनो एकताको प्राप्त हुए।' इन[illegible] वह कल्पित जनसमूह भी उसी अवस्थामें सत्यताको [illegible] हुआ। जैसे स्वप्नावस्थामें देखा हुआ पदार्थ सत्य-[illegible] प्रतीत होता है, उसी तरह यहाँ भी यह दृष्टान्त है[illegible] लीले! इस लीलाने 'मैं विधवा न होऊँ' ऐसी भावन[illegible] भावित होकर मेरी आराधना की थी तथा मैंने भी [illegible] मनोऽनुकूल वर प्रदान किया था। इसी कारण निश्चय [illegible] यह बालिका यहाँ पहले ही मृत्युको प्राप्त हुई है। [illegible] लोग व्यष्टिचेतन हो और मैं तुमलोगोंकी समष्टिचेत[illegible] स्वरूपा कुलदेवी हूँ, अतः सदा पूजनीय हूँ। मैं अप[illegible] आप ही सब कुछ करती हूँ। जब इस लीलाके जी[illegible] इसके शरीरसे उत्क्रमण करना चाहा, उसी क्षण उस[illegible]

प्राणवायुके रूपमें सूक्ष्मशरीर धारण कर लिया और मन-द्वारा चलायमान हो मुखछिद्रसे निकलकर इस देहका परित्याग कर दिया। तदनन्तर मरणानुकूल मूर्च्छाके उपरान्त जीवात्मारूपसे स्थित इस लीलाने इसी घरके आकाशमें बुद्धिमें संकल्पित पदार्थोंको देखा। फिर यह भावनावश पूर्वदेहकी स्मृति हो जानेसे स्वप्नकी तरह ब्रह्माण्डमण्डलके भीतर जाकर अपने पतिसे संयुक्त हो गयी।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तदनन्तर यह लीला, जिसे सरस्वतीद्वारा वर उपलब्ध हो चुका था, इसी वासनामय शरीरसे अपने पति राजा पद्मसे मिलनेके लिये आकाशमार्गसे ऊपरके लोकोंमें जानेको उद्यत हुई; उस समय पतिमिलनके सुखका विचार करके यह प्रबल प्रेमभाव-



से संयुक्त हो आनन्दपूर्वक उड़ चली। वहाँ पहुँचकर इसे इसकी प्यारी कुमारी कन्या, जिसे सरस्वती देवीने ही वहाँ भेजा था, प्राप्त हुई, मानो वह लीलाके संकल्परूपी महान् दर्पणसे निकलकर आगे खड़ी हो गयी हो।

कुमारीने कहा—सरस्वती देवीकी सहेली! तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम्हारी कन्या हूँ। सुन्दरि! तुम्हारी ही प्रतीक्षा करती हुई मैं यहाँ आकाशमार्गमें खड़ी हूँ।

तब लीलाने कहा—कमलनयनी देवि! तुम मुझे स्वामीके समीप ले चलो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तब वह कुमारी 'मातः! आओ, हम दोनों वहीं चल रही हैं'—यों कहकर लीलाके आगे होकर आकाशमें मार्गप्रदर्शन करने लगी। तत्पश्चात् वह लीला उसके पीछे-पीछे प्रस्थित हुई। आगे बढ़नेपर वह मेघमार्गको लाँघकर वायुमार्गमें प्रविष्ट हुई। फिर वहाँसे चलकर सूर्यमार्गसे निकलती हुई नक्षत्रमार्गमें गयी। उसे भी पार करके ब्रह्माण्ड-कपालमें जा पहुँची। वहाँ जानेपर, अपना चित्तमात्र ही जिसका शरीर है, वह लीला अपने हृदयमें यों अनुभव करने लगी कि निश्चय ही यह सारा दृश्य अपनी कल्पनाके स्वभावसे उत्पन्न हुआ भ्रम ही है। तदनन्तर ब्रह्माण्डके उस पार पहुँचकर वह जलादि आवरणोंको लाँघती हुई आगे बढ़नेपर महान् चेतनाकाशके मध्यमें प्रविष्ट हुई। वह चेतनाकाश इतना विस्तृत है कि यदि अत्यन्त वेगशाली गरुड़ भी उसके चारों ओर चक्कर लगायें तो सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें भी उसके ओर-छोरका पता नहीं लगा सकते। जैसे महान् वनमें फलोंकी गणना नहीं हो सकती, उसी तरह उस चेतनाकाशमें लाखों क्या, असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो परस्पर एक-दूसरेसे अलक्षित हैं। उन्हीं-मेंसे एक ब्रह्माण्डको, जो सामने उपस्थित एवं विस्तृत आवरणसे आवेष्टित था, बेधकर वह लीला उसके भीतर प्रविष्ट हुई—ठीक उसी तरह, जैसे कीड़ा बेरके फलमें छेद करके उसके भीतर घुस जाता है। तदनन्तर भूमण्डलमें राजा पद्मके राज्यान्तर्गत उसके नगरमें पहुँचकर उस मण्डपमें प्रवेश करके वह राजाके शवके निकट स्थित हुई। इतनेमें ही वह कुमारी सुन्दरी लीलाकी आँखोंसे ओझल हो गयी। जैसे पूर्ण ज्ञान हो जानेपर माया विनष्ट हो जाती है, उसी तरह वह भी कहीं चली

थी। तदुपरान्त लीला शवरूपी अपने पतिके मुखको देखकर अपनी प्रतिभाके प्रभावसे इस सत्यको समझ गयी कि 'ये मेरे पतिदेव संग्राममें राजा सिन्धुके हाथों मारे गये और अब इन वीर-लोकोंको प्राप्त होकर सुखपूर्वक सो रहे हैं। मैं भी इस प्रकार श्रीदेवीकी कृपासे सशरीर यहाँ आ पहुँची हूँ, अतः मेरे समान धन्य दूसरी



कोई स्त्री नहीं है।' यों भलीभाँति विचारकर लीला अपने हाथमें एक सुन्दर चँवर लेकर डुलाने लगी।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! वह राजा, वह वासनामयी लीला और उसके वे सभी भृत्य परस्पर पति-पत्नी एवं स्वामी-सेवकके भावके अनुकूल ही एक-दूसरेको देखते हैं—जैसे 'यह मेरी स्वाभाविक भार्या है। यह मेरी स्वाभाविक सखी है। यह मेरी स्वाभाविक रानी है और यह मेरा स्वाभाविक नौकर है।' परंतु इस आश्चर्यमय वृत्तान्तको पूर्णरूपसे केवल तुम, मैं और यह लीला—ये तीन ही जान सकेंगे। अन्य किसीके लिये भी इसका जानना असम्भव है। इसलिये जो ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं अथवा जिन्होंने परम धर्मका आश्रय ग्रहण कर लिया है, वे ही आतिवाहिक अर्थात् ब्रह्मादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। दूसरोंके लिये वह दुर्लभ है। महाप्रलयके अवसरपर जब सभी पदार्थोंका विनाश हो जाता है, उस समय केवल अनन्त चेतनाकाशस्वरूप शान्त सद्ब्रह्म ही शेष रहता है और जीवात्मा चेतनरूप होनेके कारण 'मैं तेजःस्वरूप सद्ब्रह्मका अंश हूँ' यों अनुभव करता है, जैसे तुम स्वप्नावस्थामें आकाशगमन आदिका अनुभव करती हो। तदनन्तर तेजोऽशरूप वह जीवात्मा स्वय ही अपनेमें स्थूलत्व लाभ करता है। फिर वह स्थूलत्व ही यह ब्रह्माण्ड कहा जाता है, जो असत्य होते हुए भी सत्य-सा प्रतीत होता है। उस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत स्थित वह ब्रह्म यों समझता है कि 'यह ब्रह्मा मैं ही हूँ।' तब फिर वह अपने-आप मनोराज्यकी सृष्टि करता है। वही मनोराज्य यह जगत् है। उस प्रथम सृष्टिमें जो संकल्प-वृत्तियाँ जहाँ जिस रूपमें विकसित हुईं, वे वहाँ उसी रूपमें आज भी निश्चल भावसे स्थित हैं। प्रलयकालमें भी विश्वरूप परमात्माको सम्पूर्ण वस्तुओंसे शून्य कहना युक्त नहीं। भला, सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि स्थानोंको छोड़कर कैसे रह सकता है। अर्थात् जैसे सुवर्ण कटकादिमें ओतप्रोत है, उसी तरह परमात्मा समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है।

यद्यपि पृथ्वी आदि दृश्य-प्रपञ्च आकाशरूप है, तथापि सृष्टिके प्रारम्भमें जो जहाँ जिस रूपमें विकसित हुआ, वह आजतक भी वहाँ उसी रूपमें वर्तमान है। अपनी स्थितिसे विचलित होनेमें समर्थ न हो सका। वस्तुतः तो सृष्टिके आदिमें यह जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ था। यह जो कुछ अनुभव हो रहा है वह तो चिदाकाशरूप जीवात्माके संकल्पका विकास है। इसे स्वप्नकालमें घटित हुए स्त्रीप्रसङ्गकी भाँति कल्पित ही समझना चाहिये। सृष्टिके आदिमें चिदाकाशस्वरूप जीवात्मा आकाशका संकल्प करनेके कारण आकाशरूपताको और कालका संकल्प करनेके कारण कालरूपताको प्राप्त होता है।

जैसे स्वप्नमें पुरुष अपनेमें ही जलताका दर्शन करता है, उसी तरह जीवात्मा जलका संकल्प करनेके कारण जलवत् स्थित होता है। स्वप्नकी भाँति जीवात्मा उस-उस रूपको प्राप्त होता है और जैसा होता है, वैसा ही वह ज्यों-का-त्यों स्थित रहता है; क्योंकि चेतनके चमत्कार अर्थात् मायाकी चतुरतासे यह प्रपञ्च असत् होते हुए भी सत्-सा दीख पड़ता है। जैसे स्वप्न, कल्पना और ध्यानमें आयी हुई वस्तुएँ असत् होती हैं, उसी तरह आकाशत्व, जलत्व, पृथिवीत्व, अग्नित्व और वायुत्व—ये सभी असत् हैं—ऐसा चेतन स्वयं अपने अंदर अनुभव करता है। अब मृत्युके पश्चात् कर्मफलके अनुभव करनेका जो क्रम है, उसे सम्पूर्ण संशयोंकी शान्तिके लिये सुनो। वह मरनेपर कल्याणकारी होता है। जगत्में अपने कर्मोंकी देश, काल, क्रिया और द्रव्यजनित शुद्धि और अशुद्धि ही मनुष्योंकी आयुके अधिक और न्यून होनेमें कारण होती हैं। अपने कर्मरूप धर्मका ह्रास होनेपर मनुष्योंकी आयु क्षीण हो जाती है और उस धर्मके बढ़नेपर आयुकी वृद्धि होती है। बाल्यावस्थामें मृत्यु प्रदान करनेवाले कर्मोंको करनेसे बालक, युवावस्थामें मृत्युदायक कर्मोंसे नौजवान और बुढ़ापेमें मृत्युप्रद कर्मोंके करनेसे वृद्ध मृत्युको प्राप्त होता है। जो अपने धर्मका शास्त्रानुकूल आरम्भ करके पीछे उसका अनुष्ठान करता रहता है, वह श्रीमान् पुरुष शास्त्रवर्णित आयुका भागी होता है। यों अपने कर्मोंके अनुसार ही जीवको अन्तिम दशा प्राप्त होती है और उस मरणासन्न अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव मर्मघातिनी वेदनाओंका प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—चन्द्रवदनी देवि! मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप? और मरनेके बाद फिर क्या होता है? इस प्रकार मरणका वृत्तान्त मुझसे संक्षेपमें कहिये।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! शरीरान्तके समय मुमूर्षु पुरुष तीन प्रकारके होते हैं—मूर्ख, धारणाभ्यासी और युक्तिमान्। इनमें धारणाभ्यासी दृढतापूर्वक धारणाका अभ्यास करके शरीरको छोड़कर सुखपूर्वक प्रयाण करता है। उसी प्रकार युक्तिमान् भी सुखपूर्वक ही गमन करता है; परंतु जिसने न तो धारणाका अभ्यास किया है और न युक्ति ही प्राप्त की है, वह मूर्ख पुरुष अपने मृत्युसमयमें विवश होकर दुःखको प्राप्त होता है। वह विषयी पुरुष वासनाके आवेशसे विवशताका अनुभव करता हुआ जड़से कटे हुए कमलकी तरह अत्यन्त दीनताको प्राप्त हो जाता है। जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यासद्वारा संस्कृत नहीं है एवं जो दुष्टोंकी संगतिका सेवन करता है, वह मरनेपर अग्निमें गिरे हुए जीवकी भाँति अन्तर्दाहका अनुभव करता है। जब उस अज्ञानी पुरुषके कण्ठसे घुरघुराहटकी आवाज निकलने लगती है, आँखोंकी पुतलियाँ उलट जाती हैं, शरीरका रंग विकृत हो जाता है, उस समय उसकी बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। उसकी आँखोंके सामने घना अन्धकार छा जाता है, जिससे उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। बोलनेमें असमर्थ होनेके कारण वह स्वयं जडवत् हो जाता है। जैसे सूर्यके अस्ताचलका आश्रय लेनेपर क्रमशः प्रकाशकी मन्दताके कारण दिशाएँ धुँधली हो जाती हैं, उसी तरह उसकी सारी इन्द्रियोंकी शक्तियाँ क्षीण हो जानेके कारण वे अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। विशेषरूपसे मोहके वशीभूत हो जानेसे उसके मनकी कल्पनाशक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे वह अविवेकवश मोहके अगाध सागरमें डूबता-उतराता रहता है। ज्यों ही उसे थोड़ी सी मूर्च्छा हुई, त्यों ही प्राणवायुकी गति बंद हो जाती है और जब सभी प्राणोंकी क्रिया रुक जाती है, तब उसे घोर मूर्च्छा आ घेरती है। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेके सहयोगसे पुष्टताको प्राप्त हुए मोह, संवेदन और भ्रमसे जीव पाषाणवत् जडताको प्राप्त हो जाता है। सृष्टिके प्रारम्भसे ही यह नियम चला आ रहा है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवि! यद्यपि यह शरीर आठ

अङ्गों (सिर, दो हाथ, दो चरण, गुह्यस्थान, नाभि और हृदय) से सम्पन्न है तो भी इसे व्यथा, विमोह, मूर्च्छा, भ्रम, व्याधि और अचेतनता—ये सब कष्ट प्राप्त होते हैं। इसका क्या कारण है ?

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे ! स्पन्दनशक्ति-सम्पन्न ईश्वरने सृष्टिके आदिमें ही सुख-दुःखादि-प्रारब्धभोगरूप कर्मका इस रूपमें विधान कर दिया है कि मदंशभूत जीवको उसकी आयुके इस-इस समयमें उसके कर्मानुसार इतने कालतक भोगने योग्य इस प्रकारका सुख-दुःख प्राप्त होगा। जिस समय नाड़ियोंमें प्रविष्ट हुई वायु बाहर नहीं निकलती और निकली हुई उनमें प्रवेश नहीं करती, उस समय उनका स्पन्दन रुक जाता है। तब नाडीशून्य हो जानेके कारण प्राणीकी मृत्यु हो जाती है। जब वायु न प्रवेश करती है और न बाहर ही निकलती, तब शरीरसे नाडियोंके वियुक्त हो जानेके कारण लोग यों कहने लगते हैं कि 'यह मर गया।'

ज्ञानवृत्तिका वेदनरूप स्वभाव बाधारहित है, इसलिये जन्म-मरण उस स्वाभाविक ज्ञानवृत्तिसे पृथक् नहीं हैं। (अर्थात् जबतक मनुष्यमें अविद्या रहेगी, तबतक उसे जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं मिल सकता; क्योंकि ये उसके लिये स्वाभाविक ही हैं। केवल मुक्ति होनेपर ही उनसे छुटकारा मिलता है।) जैसे लंबी लताके बीच-बीचमें गाँठें होती हैं, उसी तरह चेतन सत्ताके भी मध्य-मध्यमें जन्म-मरण होते हैं। वस्तुतः तो चेतन पुरुष न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। पुरुष स्वप्नकालके सम्भ्रमकी भाँति केवल भ्रमसे ही इन जन्म-मरणादिको देखता है; क्योंकि चेतनामात्र ही तो पुरुष है; फिर वह कब और कहाँ नष्ट हो सकता है। यदि पुरुष (जीवात्मा) को चेतनसे अतिरिक्त मानें तो बताओ, दूसरा कौन पुरुष हो सकता है ? अतः चेतनामात्र ही पुरुष है— यही बात ठीक है। भला, बताओ तो सही—क्या आजतक इस संसारमें किसीने किसीके चेतनको किसी प्रकार मरा हुआ देखा है ? अरे ! यह तो सरासर असम्भव है; क्योंकि लाखों शरीर मरते देखे जाते हैं और चेतन अविनाशी ही बना रहता है। यों वास्तवमें न तो कोई मरता है और न कोई जन्म ही लेता है। केवल जीव वासनारूपी आवर्तके गड्ढोंमें गोते लगाता रहता है। जगद्भयसे भीत होकर जीव जब अभ्यासद्वारा भ्रमवश प्रतीत होते हुए जगत्-प्रपञ्चको 'यह वास्तवमें हुआ ही नहीं है'—यों सम्यक् रूपसे समझ लेता है, तब वह पूर्णतया वासनाओंसे रहित होकर विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ सत्य वस्तु है। इसके अतिरिक्त सब असत् है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवेशि ! प्राणी जिस प्रकार मरता है और फिर वह जैसे पैदा होता है, उस प्रसङ्गको ज्ञानकी वृद्धिके लिये आप पुनः मुझसे विस्तार-पूर्वक वर्णन कीजिये।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले ! नाड़ियोंकी गति रुक जानेपर जब प्राणी प्राणवायुओंकी विपरीत स्थितिको प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शान्त-सी हो जाती है। इसीको मरण कहते हैं। वास्तवमें चेतन सर्वथा शुद्ध और नित्य है। उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश ही होता है। वह स्थावर, जंगम, आकाश, पर्वत, अग्नि और वायु—सभीमें स्थित है। केवल प्राणवायुकी गति अवरुद्ध हो जानेसे जब शरीरकी चेष्टा पूर्णरूपसे शान्त हो जाती है, तब यह शरीर, जिसका दूसरा नाम 'जड' है, 'मृत' कहा जाता है। जब यह शरीर शवरूपमें परिवर्तित हो जाता है और प्राणवायु अपने कारणरूप महावायुमें विलीन हो जाती है, तब वासनारहित चेतन अपने आत्मतत्त्वमें स्थित हो जाता है। फिर पुनर्जन्मको बीजभूत वासनासे युक्त एवं सूक्ष्म शरीरवाला वह व्यष्टिचेतन 'जीव' नामसे पुकारा जाता है। शरीरके मरनेके बाद लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उस जीवको 'प्रेत' शब्दसे पुकारते हैं और चेतन गन्ध मिली हुई वायुके समान

वासनाओंसे संयुक्त हो जाता है। जब वह जीव इस शरीरादि दृश्यका परित्याग करके देहान्तरका दर्शन करनेके लिये उत्सुक होता है, उस समय उसकी स्वप्न एवं मनोराज्यकी भाँति नाना आकृतियाँ हो जाती हैं। फिर उसी प्रदेशके अंदर वह पूर्वजन्मकी तरह स्मरणशक्तिसे युक्त हो जाता है और तभी मरणकालकी मूर्च्छाके पश्चात् वह अन्य शरीरको देखने लगता है।

लीले! मरनेके बाद जीवको जो प्रेत कहा जाता है, वे प्रेत छः प्रकारके होते है। उनके इस भेदको सुनो— साधारण पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले और उत्तम धर्मात्मा। इनमेंसे किसीके दो भेद और किसीके तीन भेद भी होते हैं। कोई पाषाणतुल्य हृदयवाला एवं अत्यन्त मूढ़ महापातकी अपने अन्तःकरणमें एक वर्षतक स्मृति-मूर्च्छाका अनुभव करता है। तत्पश्चात् समयानुसार चेतनाको प्राप्त होकर वासनारूपी स्त्रीके उदरसे उत्पन्न हुए अक्षय नारकीय दुःखोंका चिरकालतक अनुभव करके एक महान् दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता हुआ सैकड़ों योनियोंका भोग करता है। तब कभी स्वप्न-सम्भ्रमरूपी संसारमें शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् उसके कर्मफल-भोगोंकी निवृत्ति होती है। अथवा मरण-मूर्च्छाके अन्तमें उसी क्षण वे हृदयस्थित वृक्षादि स्थावर योनियोंका ही जो सैकड़ो जड दुःखोंसे व्याप्त हैं, अनुभव करते हैं और फिर चिरकालतक नरकमें अपनी-अपनी वासनाओंके अनुरूप दुःखोंका भोग करके भूतलपर नाना योनियोमें जन्म धारण करते हैं। (यह महापातकीकी गतिका वर्णन है।) अब जो मध्यम पापी है, उसकी गतिका वर्णन करते हैं। वह मृत्युकालिक मूर्च्छाके अनन्तर कुछ कालतक पाषाण-तुल्य जडताका अनुभव करता है। तत्पश्चात् जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ कालके बाद अथवा उसी समय तिर्यगादि क्रमसे नाना योनियोंका भोग करके संसारको प्राप्त होता है। जो कोई साधारण पापी होता है, वह मरते ही अपनी वासनाओंके अनुसार प्राप्त हुए अविकल मानव-देहका अनुभव करता है। उसी क्षण पूर्वसंस्कारके अनुसार उसकी स्मृतिका उदय होता है और स्वप्न एवं मनोराज्यकी भाँति उसके अनुभवमें वैसी ही वस्तुएँ आने लगती हैं। जो सर्वश्रेष्ठ महान् पुण्यात्मा है, वे मृत्युजनित मूर्च्छाके पश्चात् पूर्व-वासनाकी स्मृतिसे स्वर्गलोक तथा विद्याधरलोकके सुखका भलीभाँति उपभोग करते हैं। फिर पुण्यफलभोगके अनन्तर अपने कर्मान्तर अर्थात् पापकर्मके अनुसार प्राप्त हुए फलको अन्यत्र भोगकर मनुष्यलोकमें धनी सत्पुरुषोंके घरमें जन्म धारण करते हैं। जो मध्यम धर्मात्मा होते हैं, वे मरणमूर्च्छाके बाद आकाशवायुसे आन्दोलित होकर उत्तम वृक्षों और पल्लवोंसे सुशोभित उपवनमें जाते हैं और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंका फल भोग लेनेके बाद मनुष्योंके हृदयमें प्रविष्ट होते हैं। फिर रेतःसिञ्चनके समय जन्म-क्रमानुकूल स्त्रियोंके गर्भमें स्थित होते हैं।

इस प्रकार प्रेत मृत्युजनित मूर्च्छाके अनन्तर अपनी वासनाके अनुसार अपने हृदयमें इस व्यवस्थाका क्रमशः अथवा क्रमरहित ही अनुभव करते हैं। वे यह जानते हैं कि 'हमलोग पहले मृत्युको प्राप्त हुए। तदनन्तर बन्धुओंद्वारा क्रमशः पिण्डादि दान करनेसे हम पुनः आतिवाहिक-शरीरधारी होकर उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् हाथोंमें कालपाश लिये हुए ये यमदूत आ पहुँचे। अब इन यमदूतोंद्वारा ले जाया जाता हुआ मैं क्रमशः यमपुरीको जाऊँगा।' उन प्रेतोंमें जो उत्तम पुण्यात्मा होता है, वह यों समझता है कि 'ये दिव्य एवं मनोहर विमान और उपवन मुझे बारंबार अपने शुभ कर्मोंसे ही प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत पापी पुरुष यों अनुभव करता है कि 'ये जो बरफकी चट्टानें, काँटे, गड्ढे और तलवारकी धारके समान तीखे पत्तोंसे पूर्ण वन मुझे प्राप्त हुए हैं, ये मेरे अपने ही दुष्कर्मोंके फलरूपसे उत्पन्न हुए हैं।' मध्यम पुण्यात्मा जानता है कि, यह मार्ग, जो मेरे सामने उपस्थित है, इसमें आनन्दपूर्वक पैदल चला जाता

है, शीतल और हरी घास उगी हुई है। यह वनी छायासे आच्छादित है और स्थान-स्थानपर बावलियोंसे युक्त है।' मध्यम पापी यों अनुभव करता है कि 'यह मैं यमपुरीमें पहुँच गया। ये प्राणियोंके राजा यमराज हैं और यहाँ मेरे कर्मोंके विषयमें यह विचार किया गया।' इस प्रकार संसारका विशाल अंश, जो सत्य-से प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण पदार्थों और उनकी क्रियाओंसे प्रकाशमान है, प्रत्येकको प्राप्त होता है। आकाशकी तरह स्वरूप-रहित वह प्रपञ्च देश, काल और क्रियाके विस्तारसे देदीप्यमान होते हुए भी कुछ नहीं है, किंतु सर्वारोपशून्य एवं विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न आत्मा ही सब कुछ है।

(यमपुरीमें पहुँचनेपर जीव कहता है—) अब मुझे यमराजका आदेश प्राप्त हो गया है, अतः मैं अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये शीघ्र ही यहाँसे उत्तम स्वर्गलोक अथवा नरकमें जाता हूँ। यमराजने मेरे लिये जिस स्वर्ग अथवा नरकका निर्देश किया था, मैंने उसका भोग कर लिया तथा यमनिर्दिष्ट उन-उन योनियोंमें भी भटक चुका। अब मैं पुनः संसारमें जन्म ग्रहण करूँगा। यह मैं धानका अङ्कुर होकर उत्पन्न हुआ। फिर क्रमशः बढ़कर फलरूपमें स्थित हुआ।' इस प्रकार शरीराभावके कारण जब उसकी सारी इन्द्रियाँ भलीभाँति सोयी रहती हैं, उसी अवस्थामें वह भुक्तान्नादिद्वारा पुरुषके शरीरमें प्रवेश करके वीर्यरूपमें परिणत हो जाता है। वही वीर्य जब माताकी योनिमें पड़ता है, तब वह गर्भका रूप धारण करता है। वही गर्भ अपने पूर्वजन्मके कर्मानुसार उत्तम अथवा निकृष्ट प्रारब्धसे युक्त हो संसारमें मनोहर आकृतिवाले बालकके रूपमें जन्म लेता है। कुछ कालके बाद वह चन्द्रमाके समान मनोहर तथा कामोन्मुख जवानीका अनुभव करता है। तत्पश्चात् विकसित कमलपर गिरे हुए तुषाररूपी वज्रकी तरह उसे वृद्धावस्था आ घेरती है। उस बुढ़ापेमें भी किसी-न-किसी व्याधिके निमित्तसे ही उसका मरण होता है। पुनः उसे मृत्युजनित मूर्च्छा प्राप्त होती है। पुनः स्वप्नकी भाँति बन्धुओंद्वारा दिये गये पिण्डादिद्वारा सूक्ष्मशरीरकी प्राप्ति होती है और फिर वह यमलोकको जाता है। वहाँसे पुनः नाना योनियोंकी प्राप्ति होनेपर उनमें वह भ्रमण-क्रमका ही बारंबार अनुभव करता है। इस प्रकार इस वेगशाली परिवर्तनका वह तबतक पुनः-पुनः अनुभव करता रहता है, जबतक उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

प्राणियोंके शरीरोंमें जो छिद्रस्थान हैं, उनमें प्रविष्ट हुई वायु जब अङ्गोंमें चेष्टा उत्पन्न करती है, तब लोग कहते हैं कि यह जीवित है। परंतु ऐसी स्थिति सृष्टिके आदिमें केवल जङ्गम प्राणियोंमें ही उत्पन्न हुई थी, इसी कारण ये वृक्ष आदि स्थावर प्राणी सचेतन होते हुए भी चेष्टाहीन हैं। जब जीवात्मा मनुष्यादिशरीररूप दूसरे नगरमें पहुँचता है, तब वहाँ बुद्धिको चक्षु आदि इन्द्रिय-गोलकोंमें ले जाकर उनके द्वारा बाह्यपदार्थोंका अनुभव करता है—जैसे आकाश शून्यतासे, पृथ्वी धारणशक्तिसे और जल आप्यायनशक्तिसे युक्त है। तात्पर्य यह कि जीवात्मा स्वेच्छासे जिसके लिये जैसी कल्पना करता है, वह वैसा ही अपने शरीरको जानता है। इस प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा जंगमरूपसे जंगमकी और स्थावररूपसे स्थावरकी कल्पना करता हुआ सबके शरीररूपसे स्थित है। इसलिये जो जंगम जगत् है, उसे उसने अपनी कल्पनाके अनुसार जैसा समझा था, वह आज भी उसी रूपमें वर्तमान है। जैसे जिन वृक्ष, शिला, पेड़-पौधों और तृण आदिको स्थावर होनेके कारण जड समझा गया था, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं; क्योंकि न तो जडता ही कोई पृथक् वस्तु है और न चेतन ही। इन पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति और विनाशमें कोई भेद नहीं है और न सत्तासामान्यमें ही कोई अन्तर है अर्थात् सबमें सत्ता समान है। यथार्थ बात तो यह है कि वृक्षों और पर्वतोंके अंदर जो उनकी जडता एवं नाम-रूप आदि भेद परिलक्षित होते हैं, वे जीवात्माकी बुद्धिद्वारा विहित

हैं, वस्तुतः नहीं हैं। वही जीवात्मा स्थावरादिके भीतर 'मैं स्थावर हूँ' ऐसी बुद्धिसे स्थित होनेके कारण जंगमसे भिन्न नाम और अभिमानका विषयभूत होकर वृक्षादि अन्य स्वरूपोंसे स्थित है। कृमि, कीट और पतङ्गोंके अंदर संवित्-रूपसे वर्तमान जीवात्मा ही उनकी बुद्धिका रूप धारण करता है और वही अनेकविध नाम-रूपोंसे व्यवहृत होता है। सभी स्थावर-जगम अपने-अपने अनुभवमें ही लीन हैं, परन्तु जब वे एक-दूसरेसे सम्बन्धित होते हैं, तब उनमें 'यह स्थावर है और यह जंगम है' यों संकेतकी आवश्यकता पड़ती है। चेतन तो परमार्थरूपसे स्थावर-जंगम सभीमें वर्तमान है, परंतु जंगम प्राणियोंमें वायुके प्रवेश करनेसे चेष्टाएँ होती हैं और स्थावरोंमें नहीं होतीं। जिस प्रकार विश्वके समग्र पदार्थोंके स्वभावका विकास होता है और जैसे वे असत्य होते हुए भी सत्य-से प्रतीत होते हैं, वह सब वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया। अब उधर देखो, ज्ञात होता है, यह राजा विदूरथ मृत्युको प्राप्त होकर तुम्हारे पति राजा पद्मके, जो पुष्पमालाओंसे आच्छादित शवके रूपमें स्थित हैं, हृदयान्तर्गत पद्मकोशमें प्रवेश करनेकी इच्छासे जाना चाहता है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवेश्वरि! बताइये, यह राजा विदूरथ किस मार्गसे उस शवमण्डपमें जानेका इच्छुक है? जिससे हम दोनों भी उसे देखती हुई ही उस उत्तम मण्डपमें शीघ्र ही जायँ।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! 'मैं दूरवर्ती दूसरे लोकको जाता हूँ' इस भावनासे यह चिन्मय जीवात्मा मनुष्य वासनाके अंदर स्थित मार्गका अवलम्बन करके जाता है। यों तुम्हें जिस मार्गसे जाना अभीष्ट हो, उसी मार्गसे हम दोनों जाती हैं; क्योंकि एक-दूसरेकी इच्छाका विघातन प्रेम-बन्धनका हेतु नहीं होता।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! इस प्रकार श्रेष्ठ राजाकी कन्या लीलाके विशुद्ध मनमें जब परमार्थ दृष्टि-रूप पूर्वोक्त कथाके श्रवणसे सारे संताप मिट गये तथा ज्ञानरूपी सूर्यका प्रसार हो गया, तब राजा विदूरथ चित्तके विलीन हो जानेके कारण जड अर्थात् मृत्युकालिक मूर्च्छाके वशीभूत हो गया। (सर्ग ५२—५५)



राजा विदूरथका वासनामय यमपुरीमें गमन, लीला और सरस्वतीद्वारा उसका अनुगमन और पूर्वशरीरकी प्राप्तिका वर्णन, लीलाके शरीरकी असत्यताका कथन, समाधिमें स्थित लीलाके शरीरका विनाश, लीलाके साथ वार्तालाप और राजा पद्मके पुनरुज्जीवनका कथन, राजाके जी उठनेसे नगर और अन्तःपुरमें उत्सव, लीलोपाख्यानके प्रयोजनका विस्तारसे कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इसी बीच राजा विदूरथकी आँखोंकी पुतलियाँ उकट गयीं। होंठ सूखकर श्वेत हो गये। उसके शरीरकी सभी इन्द्रियोंके मूर्च्छित हो जानेपर केवल सूक्ष्मप्राण ही शेष रह गया। मुखकी छवि पुराने पीले पत्तेकी कान्तिके समान क्षीण एवं पीली हो गयी। भौंरेके गुंजारके सदृश श्वासवायुकी ध्वनि होने लगी। उसका मन महाप्रयाणकालिक मूर्च्छाके अन्धकूपमें डूब गया। नेत्र आदि सारी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अन्तर्लीन हो गयीं। इस प्रकार वह चेतनाशून्य हो गया। चित्रलिखित पुरुष-सरीखे उसका आकारमात्र ही दीख पड़ता था। शिलापर खुदे हुएकी भाँति उसके शरीरके सम्पूर्ण अवयव निश्चेष्ट हो गये थे। इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ? जैसे आकाशचारी पक्षी गिरनेके संनिकट पहुँचे हुए अपने निवासभूत वृक्षको छोड़ देता है, उसी प्रकार प्राणने स्वाधिष्ठित थोड़े-से शरीरांशसे चलकर राजाके शरीरका परित्याग कर दिया।

उस समय जैसे प्राणमयी ज्ञानवृत्ति वायुमें स्थित सूक्ष्म

गन्धका अनुभव करती है, उसी प्रकार उन दोनों देवियोंने, जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त थी, आकाशमार्गसे जाते हुए उस जीवको देखा। फिर तो वे दोनों नारियाँ उसी जीवात्माका अनुसरण करने लगीं—ठीक उसी तरह, जैसे दो भ्रमरियाँ वायुमें मिली हुई गन्धकलाका अनुगमन करती हैं। तदनन्तर दो घड़ीके पश्चात् जब मरण-मूर्च्छा शान्त हुई, तब जीवात्मा आकाशमें सुगन्धयुक्त वायुके स्पर्शसे प्रबुद्ध हो गया। उस समय उसने यमदूतोंको, उनके द्वारा ले जाये जाते हुए अपने वासनामय शरीरको तथा बन्धुओंद्वारा किये गये पिण्डदान आदिसे उत्पन्न हुए अपने स्थूलशरीरको भी देखा। फिर उसी मार्गसे बहुत दूरतक आगे जानेपर वह यमराजकी नगरीमें जा पहुँचा, जो प्राणिसमुदायसे घिरी हुई थी और जहाँ उनके कर्मफलोंपर विचार किया जा रहा था। वहाँ पहुँचनेपर यमराजने इसके कर्मोंपर विचार करके यह आदेश दिया कि 'यह सदा निर्मल पुण्यकर्मोंका ही अनुष्ठान करता रहा है। इसने कभी भी पापकर्म नहीं किया है। साथ ही सरस्वती देवीके वरदानसे इसके पुण्योंकी विशेषरूपसे वृद्धि हुई है। इस उपर्युक्त बातको समझकर तुमलोग इसे छोड़ दो और यह अपने पूर्वजन्मके शरीरमें, जो शवरूपमें पुष्पोंसे आच्छादित मण्डपाकाशमें वर्तमान है, वहाँ जाकर प्रवेश करे।' यों आदेश पानेपर यमदूतोंने उसे आकाशमार्गमें लाकर छोड़ दिया। तदनन्तर वह जीवात्मा, लीला और सरस्वती—ये तीनों एक साथ आकाशमार्गसे उड़ते हुए आगे बढ़े। उस समय यद्यपि सरस्वती और लीला मूर्तिमती थीं, तथापि वह जीवात्मा उन्हें देख नहीं रहा था, जबकि वे उसे देख रही थीं। इस प्रकार वे दोनों उस जीवात्माका अनुसरण करती हुई आकाश-मण्डलको लाँघकर लोकान्तरोंको पार करती हुई दूसरे ब्रह्माण्डमें जा पहुँचीं। पुनः शीघ्र ही वहाँसे निकलकर दूसरे ब्रह्माण्डमें गयीं। फिर उस भूमण्डलसे चलकर वे दोनों संकल्परूपिणी देवियाँ उस जीवात्माके



साथ राजा पद्मके नगरमें आयीं और वहाँ तुरंत ही स्वच्छन्दतापूर्वक लीलाके अन्तःपुरके मण्डपमें प्रविष्ट हुईं।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! जिसका शरीर मर चुका था, उस जीवात्माको मार्गका परिज्ञान कैसे हुआ? और वह उस शवके निकटवर्ती मण्डपमें कैसे पहुँचा?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! उस जीवकी अपनी वासनाके अन्तर्गत शवकी भावना विद्यमान थी, जिससे उसके हृदयमें वह मार्ग आदि सब कुछ स्फुरित हो गया; फिर उसे उस गृहकी प्राप्ति कैसे न हो। क्योंकि जैसे किसी अन्य स्थानमें स्थित पुरुष दूर देशान्तरमें रखे हुए अपने खजानेको अनवरत उसकी मानसिक भावनाके कारण सदा सम्यक् रूपसे देखता रहता है, उसी प्रकार सैकड़ों जन्मोंके चक्करमें पड़ा हुआ भी जीव अपनी वासनाके अंदर स्थित अपने अभीष्टको देखता है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! जिसके लिये पिण्डदान

दिया ही नहीं जाता, उसमें पिण्डदानादि वासनाका कारण तो है नहीं; फिर उस वासनासे रहित स्वरूपवाला जीव किस प्रकार शरीरको प्राप्त होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! बन्धुओंद्वारा पिण्ड दिया गया हो अथवा न दिया गया हो; परंतु यदि 'मैंने पिण्डदान किया है' ऐसी वासना हृदयमें भलीभाँति उत्पन्न हो जाय तो वह पुरुष पिण्डफलका भागी हो जाता है; क्योंकि अनुभूतियाँ बतलाती हैं कि जैसा चित्त होता है, वैसा ही वह प्राणी होता है। यह नियम जीवित अथवा मृत—किसी भी प्राणीमें कहीं भी अन्यथा नहीं होता। पदार्थोंकी सत्यता उनकी भावना—वासना-के अनुसार ही होती है और वह भावना कारणभूत पदार्थोंसे उत्पन्न होती है; क्योंकि जो स्वयं नित्य प्रकाश-स्वरूप है, एकमात्र उस ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरे किसी कार्यकी उत्पत्ति कारणके बिना हुई हो, ऐसा तो महा-प्रलयपर्यन्त न तो कहीं देखा गया और न इस विषयमें कुछ सुना ही गया। जैसे स्वप्नमें जीव विविध पदार्थोंके रूपमें कल्पित हुआ दीख पड़ता है, उसी तरह चेतन जीवात्मा ही उस वासनाका रूप धारण करता है। वही कार्य-कारणभावको प्राप्त होता है और वही निश्चल-सा होकर स्थित होता है। देश, काल, क्रिया और द्रव्य-के संयोगसे भावना अर्थात् वासनाका उदय होता है। वह वासना जिस (सत्य एवं असत्य) फलरूप विषयमें उत्पन्न होती है, वही विषय दोनोंमें अधिक जयशील होता है। यदि धर्मदाताकी वासना प्रवृत्त हुई हो तो उससे क्रमशः प्रेतकी बुद्धि पूर्ण हो जाती है अर्थात् दाताकी वासनाके अनुसार प्रेतको अवश्य फल मिलता है। यों परस्परकी विजयके कारण इस विषयमें जो अत्यन्त वीर्यशाली होता है, वही विजयी होता है; इसलिये उत्तम यत्नद्वारा शुभ कर्मोंका अभ्यास करना चाहिये।

पूर्ववर्णनके अनुसार लीला और सरस्वती देवी राजा पद्मके उस राजमहलमें जा पहुँचीं, जिसका भीतरी भाग अत्यन्त मनोरम था। चारों ओर पुष्पोपहारसे व्याप्त होनेके कारण वह वसन्त-सा शीतल लगता था। वह उन नगर-निवासियोंसे युक्त था, जिनकी राजकार्य करने-की तत्परता पूर्णरूपसे शान्त हो गयी थी। वहाँ उन दोनोंने एक कमरेमें रखे हुए शवको देखा, जो मन्दार और कुन्दपुष्पकी मालाओंसे आच्छादित था। उस शवके सिरहाने जलसे पूर्ण उत्तम कलश आदि माङ्गलिक पदार्थ रखे थे। उस कमरेके दरवाजे और खिड़कियोंकी साँकलें बंद थीं और उसकी निर्मल दीवालें दीपकके प्रकाशके प्रशान्त हो जानेके कारण मलिन दीख पड़ती थीं। वह एक ओर सोये हुए लोगोंके मुखसे निकली हुई श्वासवायुसे व्याप्त था।

तदनन्तर उन दोनोंने उस शवमण्डपमें विदूरथकी शवशय्याके पार्श्वभागमें स्थित लीलाको देखा, जो पहले



मृत्युको प्राप्त हो चुकी थी और पहले ही वहाँ आ गयी थी। उसके वेष, आचरण, शरीर और वासनाएँ—सभी पहलेके ही सदृश थे। उसकी आकृति पूर्वजन्मकी-

सी थी। नखसे शिखातक उसके सारे अङ्ग सुन्दर थे। उसका रूप और अङ्गोंकी चेष्टाएँ पूर्ववत् थीं। जैसे वस्त्र वह पूर्वजन्ममें पहनती थी, वैसे ही वस्त्रोंसे उसका शरीर आच्छादित था और पहलेके-से आभूषणोंसे भी वह विभूषित थी। केवल इतना ही अन्तर था कि वह राजा पद्मके महलमें स्थित थी। उस समय उसके हाथमें चँवर सुशोभित था, जिसे वह सुन्दर ढंगसे राजाके ऊपर डुला रही थी। इस प्रकार उन दोनों (सरस्वती और प्रबुद्ध लीला) ने तो उस लीलाको देखा, परंतु वह उन दोनोंको न देख सकी। इसका कारण यह था कि वे दोनों सत्यसंकल्पस्वरूपा थीं और वह उनकी भाँति सत्यसंकल्पसे आविर्भूत नहीं हुई थी।

वत्स राम! यह सारा जगत् आत्मा ही है। ऐसी दशामें देहादिकी कल्पना कहाँसे हो सकती है। तुम जो कुछ देख रहे हो, वह आनन्दरूप सद्ब्रह्म ही है और वही चेतन है। जिस पुरुषको स्वप्नकालमें 'मैं हरिन हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई हो, वह क्या जागनेपर अपने मृगस्वरूपका अभाव हो जानेपर स्वप्नकालिक मृगको खोजता है? नहीं। जो अज्ञानी होता है, उसकी दृष्टिमें सत्यका तिरोधान और असत्यका आविर्भाव शीघ्र होता है, परंतु रस्सीमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रान्तिके मिट जानेपर क्या पुनः उसमें सर्पभ्रम हो सकता है? कदापि नहीं। इस प्रकार जो जन्म-मरणशील शरीरको ही आत्मा माननेवाले हैं, वे सभी अज्ञानी स्वप्न-तुल्य इस मिथ्या सृष्टिका चिरकालतक सत्यकी तरह अनुभव करते रहते हैं। किंतु आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे 'देहमें आत्मबुद्धि करना भ्रममात्र ही है' यों उनकी उस भ्रान्तिका उपशम हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे रस्सीका ज्ञान होनेसे उसमें उत्पन्न हुई सर्पबुद्धि नष्ट हो जाती है। वस्तुतः तो शरीर क्या था? किसकी सत्ता थी? कहाँ और किस तरह किसका विनाश हुआ? परमार्थतः जो वस्तु थी, वही रह गयी, केवल अज्ञान मिट गया। जब रस्सीमें उत्पन्न हुई सर्पबुद्धिकी भाँति यह सारी प्रतीति भ्रान्तिमात्र ही है, तब उसके उत्पन्न होनेपर क्या बढ़ गया और नष्ट होनेपर क्या नष्ट हुआ? अर्थात् उसके आने-जानेमें कोई हर्ष-विषाद नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभावशाली गुरुदेव! पद्मके राज-महलमें पूर्वलीला और नूतन लीलाका समागम होनेके पश्चात् जो उस भवनके निवासी थे, वे लीलाकी सत्यसंकल्पताके कारण यदि उसे देखते हैं तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! उस समय वे लोग ऐसा जानते हैं कि यहाँ ये दुखिया महारानी खड़ी हैं और उनकी यह कोई दूसरी सखी भी कहींसे आ गयी है। जैसे जाग जानेपर ज्ञान हो जानेसे स्वप्नदृष्ट शरीर न जाने कहाँ विलीन-सा हो जाता है, इसलिये वह असत्य ही है, वही दशा यहाँ इस पाञ्चभौतिक स्थूल-शरीरकी भी है। (अर्थात् ज्ञान होनेपर इसका भी विनाश होता है, अतः यह भी असत्य ही है।) स्वप्नभ्रान्ति अथवा मनकी कल्पनामें जो पर्वत आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सभी बुद्धिवृत्तिके अंदर उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जैसे सारी चेष्टाएँ वायुमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। बुद्धिवृत्ति ही स्वप्न आदि पदार्थोंकी प्रतीतिद्वारा पर्याप्तरूपसे स्फुरित होती है, परंतु वही स्फुरित न होनेपर उस स्वप्नके साथ एकताको प्राप्त होकर तद्रूप हो जाती है। जैसे जल और उसका द्रवत्व अथवा वायु और उसकी गति दो नहीं हैं, उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति और स्वाप्निक पदार्थोंमें कभी भेद नहीं पाया जाता। उनमें जो भेद-सा प्रतीत होता है, वही सबसे बढ़कर अज्ञान है। वही 'संसार' कहा गया है और वह संसार मिथ्याज्ञानरूप ही है। सहकारी कारणों-का अभाव होनेपर भी स्वप्नकालमें बुद्धिवृत्ति और स्वप्न-दृष्ट पदार्थोंका भेद निरर्थक ही है। स्वप्नमें जैसे असत् नगरकी प्रतीति होती है, उसी तरह सृष्टिके आदिमें

असत् जगत्का भान होता है; अतः जैसे स्वप्न असत् हैं, वैसे ही जाग्रत् भी असत् है; इसमें संशय नहीं है। जैसे जाग जानेपर स्वप्नदृष्ट पर्वतका तत्काल ही अभाव हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होनेपर इस पाञ्चभौतिक संसारका श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि क्रमसे अथवा ईश्वरानुकम्पासे अभाव हो जाता है। ये सृष्टियाँ मिथ्यादृष्टियाँ ही हैं; क्योंकि ये मोहदृष्टियाँ हैं अर्थात् अज्ञानसे इनका दर्शन होता है। जो मायारूपसे प्रतीत होनेवाले केवल संसारकी भ्रान्ति है और जो स्वप्नकी अनुभूतियाँ हैं, वे सभी अर्थशून्य हैं। भ्रमसे जड संसारका दर्शन करनेवाले पुरुषके मरणान्तकालमें स्वप्नानुभूति-सदृश जो ये सृष्टिकी प्रत्यक्ष प्रतीतियाँ हैं, वे सब-की-सब यद्यपि आतिवाहिक शरीरमें प्रविष्ट हो चुकी हैं, तथापि भ्रमवश मृगतृष्णाकी नदीके प्रवाहकी भाँति मिथ्या प्रकट हुई-सी प्रतीत होती हैं। वास्तवमें तो वे मनके अंदर ही हैं।

इसी बीचमें सरस्वती देवीने मनकी चेष्टाके समान विदूरथके जीवात्माको अपने सत्यसंकल्पसे पुनः शीघ्र ही अवरुद्ध कर दिया।

तब श्रीसरस्वती देवी लीलासे बोलीं—वत्से! तुम अपने सत्यसंकल्पवश अत्यन्त निर्मल सूक्ष्मशरीरसे युक्त दिखायी देती हो, इसलिये तुम्हारे ऊपर लोगोंको आश्चर्य हो रहा है। बाले! अपने शरीरके प्रति तुम्हारी जैसी वासना थी, तदनुरूप ही तुम्हें शरीर मिला है। इसी कारण पूर्वजन्मके रूपके समान ही तुम्हारा रूप प्रकट हुआ है; क्योंकि सब लोग अपनी वासनाके अनुसार ही सब पदार्थोंको देखते हैं। सिद्धसुन्दरि! तुम सूक्ष्म-शरीरसे सम्पन्न हो, अतः तुम्हारा वह पूर्वजन्मका शरीर तुम्हें भूल गया है, इसी कारण उसपर तुम्हारी वासना नहीं रह गयी है। जिस ज्ञानी पुरुषकी सूक्ष्मदृष्टि दृढमूल हो जाती है, उसका पाञ्चभौतिक शरीर दूसरों-द्वारा देखा जाता हुआ भी सूक्ष्म ही है। आज हमलोग इस मण्डपाकाशमें प्राप्त हुई हैं। इस समय प्रभातकाल होनेपर मैंने इन दोनों दासियोंको निद्रासे मोहित कर दिया है; अतः लीले! आओ, तबतक हम दोनों अपने सत्यसंकल्पके विलासद्वारा इस लीलाको अपना स्वरूप दिखलायें। अब हमलोगोंका कार्य आरम्भ होना चाहिये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! देवी सरस्वतीने ज्यों ही ऐसा विचार किया कि 'यह लीला तबतक हम दोनोंको देखे', त्यों ही वे दोनों दीप्तिमती देवियाँ (सरस्वती और प्रबुद्ध लीला) वहाँ प्रकट हो गयीं। उनके प्रत्यक्ष होते ही विदूरथपत्नी लीलाकी आँखें चौंधिया गयीं। उसने देखा कि वह घर उन देवियोंके तेजःपुञ्जसे देदीप्यमान हो गया है। इस प्रकार उस प्रदीप्त गृह और अपने समक्ष लीला और सरस्वती—उन दोनों देवियोंको उपस्थित देखकर वह बड़ी उतावलीके साथ उठ खड़ी हुई और फिर उनके चरणोंमें पड़कर यों कहने लगी—'देवियो! आप जीवन प्रदान करनेवाली हैं, आपकी जय हो। आपलोगोंकी सेविका मैं यहाँ पहले ही आ पहुँची हूँ। अब मेरे कल्याणोत्कर्षके लिये आप दोनोंका शुभागमन हुआ है।' उसके यों कहनेपर यौवनके मदसे मतवाली वे तीनों मानिनियाँ वहाँ आसनोंपर विराजमान हुईं।

तब श्रीसरस्वती देवी बोलीं—वत्से! तुम इस देशमें कैसे आयीं? तथा मार्गमें अथवा कहाँपर तुमने कौन-सी आश्चर्यजनक घटना देखी? तुम आदिसे लेकर यह सारा वृत्तान्त वर्णन करो।

विदूरथ-पत्नी लीलाने कहा—देवि! उस समय विदूरथके गृहप्रदेशमें जब मैं मूर्च्छित हो गयी, तब परमेश्वरि! उस मरण-मूर्च्छाके पश्चात् मैं क्या देखती हूँ कि मैं

होशमें आकर उठ बैठी हूँ और फिर शीघ्र ही आकाश-मण्डलमें उड़ चली हूँ। तत्पश्चात् उस भूताकाशमें मैं वायुरूपी रथपर सवार हो गयी हूँ। वही रथ मुझे इस घरतक ले आया है। देवि! तब मैंने इस भवनको देखा, जो शवरूप राजा पद्मसे सुशोभित था। उसके भीतर दीपकका प्रकाश फैल रहा था। यह अत्यन्त स्वच्छ और बहुमूल्य शय्यासे युक्त था। तदनन्तर जब मैं अपने इन पतिदेवका अवलोकन करने चली, तब क्या देखती हूँ कि जिनका सारा अङ्ग पुष्पोंसे आच्छादित है, वे राजा विदूरथ यहाँ उसी प्रकार सो रहे हैं। मानो पुष्पवनमें वसन्त शयन कर रहा हो। देवेश्वरि! तब मैंने यह सोचा कि 'ये संग्रामरूपी कार्यके अधिक परिश्रमसे थक गये हैं, इसीलिये गाढ़ निद्रामें सो रहे हैं।' अतः मैंने इनकी यह निद्राभङ्ग नहीं की। इसके बाद ही आप दोनों देवियाँ इस स्थानपर पधारी हैं। मुझपर अनुग्रह करनेवाली देवि! इस प्रकार मुझे जैसा अनुभव हुआ था, वह सब आपसे कह सुनाया।

तब श्रीसरस्वती देवी बोलीं—लीले! तुम दोनोंके नेत्र बड़े सुन्दर हैं और चलनेका ढंग हंसकी चालके समान मनोहर है। अच्छा, अब हम इस राजाको शवशय्यासे उठाती हैं। यों कहकर सरस्वती देवीने कमलिनीद्वारा बिखेरी गयी सुगन्धकी भाँति राजाके जीवात्माको छोड़ दिया। तब वायुरूपधारी वह जीव राजाकी नासिकाके निकट गया और उसके नासारन्ध्रमें प्रविष्ट हो गया—ठीक उसी तरह, जैसे वायु बाँसके छिद्रमें प्रवेश करती है। उस समय वह अनन्त वासनाओंसे युक्त था। फिर तो जैसे अनावृष्टिके कारण मुरझाया हुआ कमल अच्छी जलवृष्टि होनेसे पुनः विकसित हो जाता है, उसी तरह जीवके अंदर प्रवेश करनेपर राजा पद्मका विवर्ण हुआ मुख पुनः पूर्ववत् कान्तिमान् हो गया। तदनन्तर उसके सारे अङ्ग क्रमशः चेष्टाशील होकर सुशोभित होने लगे, जैसे पर्वतकी लताएँ वसन्तको पाकर प्रफुल्लित हो जाती हैं। तब उसने अपने उन नेत्रोंको, जिनकी पुतलियाँ निर्मल और चञ्चल थीं, खोल दिया। तत्पश्चात् वह बढ़ते हुए विन्ध्य पर्वतके समान अपने शरीरको शय्यासे ऊपर उठाते हुए उठ बैठा और मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोला—'यहाँ कौन है?' तबतक दोनों लीलाएँ उसके आगे उपस्थित होकर बोलीं—'महाराज! आज्ञा दीजिये!' जब उसने दो लीलाओंको, जिनके आचार, आकार, रूप, मर्यादा, वचन, उद्योग, आनन्द और अभ्युदय सभी एक-से थे, नम्रतापूर्वक अपने सामने खड़ी देखा, तब उनकी ओर ध्यानपूर्वक देखते हुए पूछा—'तुम कौन हो? और यह कौन है तथा यह कहाँसे आयी है?' यह सुनकर पूर्वलीलाने उससे कहा—'देव! मैं जो कुछ कहती हूँ, उसे सुनिये। मैं आपकी पूर्वजन्मकी सहधर्मिणी रानी हूँ। मेरा नाम लीला है। अर्थसंयुक्त वाणीकी तरह मैं सदा आपके सम्बन्धसे सुशोभित हूँ। यह दूसरी लीला भी आपकी रानी है। इसे मैं क्रीडावश आपके उपभोगके लिये ले आयी हूँ। आप इसकी रक्षा करें। स्वामिन्! सिरहानेकी ओर स्वर्णसिंहासनपर बैठी हुई ये कल्याण-कारिणी सरस्वती देवी हैं। ये तीनों लोकोंकी जननी हैं। भूपाल! हमलोगोंके पुण्यबाहुल्यसे ये साक्षात् यहाँ पधारी हैं। ये ही हम दोनोंको परलोकसे यहाँ लायी हैं।'

लीलाकी यह बात सुनकर राजा, जिसके नेत्र कमलके समान सुन्दर थे और शरीरपर लटकती हुई माला और वस्त्र सुशोभित थे, शय्यासे उठ गया और सरस्वतीके चरणोंमें पड़कर कहने लगा—'देवी सरस्वति! आप सबको कल्याण प्रदान करनेवाली हैं, आपको नमस्कार है। वरदायिनि! मुझे मेधा, दीर्घायु और धन

प्रदान कीजिये ।' यों कहते हुए राजाके सिरपर सरस्वती



देवीने हाथ फेरते हुए कहा—'पुत्र ! तुम अपने अभीष्ट पदार्थों तथा राजमहलसे पूर्णतया सम्पन्न हो जाओ एवं तुम्हारी सारी आपत्तियाँ और समस्त पापबुद्धियाँ विनष्ट हो जायँ और तुम्हें प्रचुरमात्रामें अनन्त सुखकी प्राप्ति हो । तुम्हारे राज्यमें प्रजा सदा आनन्दित रहे तथा सम्पत्तियाँ स्थिर होकर सदा विकसित होती रहें ।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! सरस्वती देवी यों कहकर उस राजमहलमें ही अन्तर्धान हो गयीं । प्रातःकाल होनेपर कमलोंके विकसित होनेके साथ ही सभी लोग निद्रा त्यागकर जाग पड़े । तदनन्तर क्रमशः राजाने लीलाका और लीलाने मृत्युको प्राप्त होकर पुनरुज्जीवित हुए अपने प्रियतम राजाका महान् आनन्दके साथ बारंबार आलिङ्गन किया । उस समय उस राजसदनकी विचित्र ही शोभा थी । उसके सभी निवासी आनन्दमें निमग्न थे । वह जय-ध्वनि और माङ्गलिक पुण्याहवाचनके उच्च स्वरसे निनादित हो रहा था । उसका आँगन राजपुरुषोंसे ठसाठस भरा था । प्रजाजनोंद्वारा लाये जाते हुए उपहार परस्पर टकरा जानेसे गिर जाते थे, जिससे उसकी समतल भूमि ऊँची-नीची हो गयी थी । उस उत्सवके अवसरपर मस्तकपर पुष्पमाला धारण किये हुए लोगोंके आने-जानेसे उसकी विशेष शोभा हो रही थी । वह मन्त्रियों, सामन्त राजाओं और नगरवासियोंद्वारा बिखरे गये माङ्गलिक पदार्थोंसे आच्छन्न था । उस समय 'पूर्वलीला दूसरी लीला रानीको एवं अपने पति महाराज पद्मको परलोकसे ले आयी है' यों अनेकविध गाथाओंके रूपमें लोग देश-देशान्तरमें इसका गान करते थे । राजा पद्मने अपने मरण आदिके वृत्तान्तको, जो संक्षेपमें वर्णन किया गया था, सुनकर भृत्योंद्वारा लाये गये चारों सागरोंके जलसे स्नान किया । तत्पश्चात् ब्राह्मणों, मन्त्रियों और भूपालोंने उसका अभिषेक किया । उस समय पूर्वलीला, द्वितीय लीला और राजा पद्म—ये तीनों जीवन्मुक्त और महान् ज्ञानसम्पन्न हो गये थे । इस प्रकार पृथ्वीपति पद्मको अपने पुरुषार्थके बलसे तथा भगवती सरस्वतीके प्रसादसे त्रिलोकीका वह श्रेय प्राप्त हुआ । तदनन्तर सराहनीय गुणोंसे युक्त राजा पद्म, जिसे सरस्वतीद्वारा उपदिष्ट ज्ञानके प्रभावसे भलीभाँति आत्मतत्त्वका बोध हो चुका था, दोनों लीलाओंके साथ वहाँ राज्यशासन करने लगा । अपने उस उत्तम राज्यका, जो प्रजाओंके नित्य अभ्युदयसे निर्दोष, शास्त्रानुकूल होनेसे विद्वानोंको भी मुग्ध करनेवाला, समुचित, आत्महितकारी और सारी जनताके लिये संतोषप्रद था, चिरकालतक पालन करके अन्तमें वे श्रेष्ठ दम्पति (लीला और राजा पद्म) विमुक्त हो गये ।

वत्स राम ! मैंने इस पवित्र लीलोपाख्यानका दृश्यरूप दोषकी निवृत्तिके लिये तुमसे वर्णन किया । वस्तुतस्तु दृश्यसत्ता शान्त ही है । जब वह है ही नहीं, तब उसके लिये 'शमन' का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं

है; क्योंकि सत् अर्थात् विद्यमानके मार्जनके लिये ही प्रयास किया जाता है, असत्के लिये कभी नहीं। तत्त्वज्ञ पुरुष आकाश-सरीखे निर्मल ज्ञानसे ज्ञेयस्वरूप दृश्यको ब्रह्ममें विलीन समझकर आकाशके समान निर्मल बना रहता है। यदि कहो कि पृथ्वी आदिसे रहित स्वतःसिद्ध स्वयम्भू सच्चिदानन्द ब्रह्मने ही इस दृश्यकी कल्पना की है तो उसने उसे अपनेमें ही सिद्ध किया है। चेतनाकाशरूप परमात्माका अवभास ही 'जगत्' नामसे समझा जाता है। यह उस विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें स्थित है। यह सब कुछ जिस रूपमें देखा गया था, वह ज्यों-का-त्यों अखण्ड-रूपसे स्थित है। यह अनन्त सृष्टि मायासे उत्पन्न होनेके कारण माया ही है और माया कोई सत्य वस्तु नहीं।

निष्पाप राम! जिस-जिस पुरुषको जिस समय जिस रूपसे जिस-जिस पदार्थकी प्रतीति होती है, वह-वह पुरुष उसी समय उसी प्रकार उस-उस पदार्थका पूर्णरूप-से अनुभव करता है। जैसे विषको सदा अमृत ही समझते रहनेसे वह अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह शत्रुके प्रति सदा मित्रभाव रखनेसे वह मित्र बन जाता है। इन पदार्थोंके निजी स्वरूपकी जैसी भावना की गयी, वह भावित स्वरूप ही चिरकालके अभ्याससे स्वभाव बन गया। चेतन परमात्माका स्वभाव ही विकासशील है। वह जैसे और जिस रूपमें विकसित होता है, शीघ्र ही वैसा हो जाता है। इसमें उसका स्वभाव ही एकमात्र कारण है। इसी कारण दुखी पुरुषके लिये जो रात्रि कल्पके समान लंबी प्रतीत होती है, वही सुखीके लिये एक क्षण-सदृश लगती है—जैसे स्वप्नमें एक क्षण कल्प-सा हो जाता है। उस क्षणभरके स्वप्नमें मनुष्य यों देखता है कि अभी-अभी मेरी मृत्यु हो गयी, पुनः मैं पैदा हुआ और तरुण होकर युवावस्थामें स्थित हूँ। फिर सौ योजन दूर चला गया हूँ। परंतु ध्यानद्वारा जिसका चित्त प्रक्षीण हो गया है अर्थात् जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित है, उसके लिये न दिन है न रात्रि। परमात्माके ध्यानमें मग्न योगीकी दृष्टिमें न जगत् सत्य है न जगत्के पदार्थ ही। महाबाहो! यह जगत्, जैसी उसके सम्बन्धमें भावना होती है, तदनुकूल ही प्रतीत होने लगता है—जैसे मधुरमें निरन्तर कटुताकी भावना करनेसे वह कटु-सा लगने लगता है और कटुमें मधुरकी भावना करनेसे वह माधुर्यसे युक्त-सा अनुभूत होता है तथा शत्रुमें मित्रबुद्धि रखनेसे वह मित्र एवं मित्रमें शत्रुबुद्धि करनेसे वह शत्रु हो जाता है। जो शास्त्राध्ययन और जप आदि पदार्थ हैं, जिनका पहले अभ्यास नहीं किया गया है, उनकी भावनाका अभ्यास करनेसे निश्चय ही समता प्राप्त होती है। नौकारोही अतएव भ्रमपीडित लोगोंकी भावनासे पृथ्वी चलती हुई-सी प्रतीत होती है; परंतु जो उस प्रकारके भावनाभ्रमसे रहित हैं अर्थात् तटपर ही स्थित हैं, उन्हें वैसा अनुभव नहीं होता। जैसे स्वप्नद्रष्टाकी भावनासे स्वप्नमें शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होने लगता है, उसी तरह अज्ञानवश भावनासे ही सर्वथा नीला आकाश कभी पीत और कभी शुक्ल-सा अनुभूत होने लगता है तथा उत्सव आपत्ति-सरीखा विषादजनक हो जाता है।

जैसे सुवर्णके भीतर द्रवत्व वर्तमान है, परंतु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी तरह परब्रह्मके अंदर यह सृष्टि स्थित है। जैसे स्वप्नमें एक मनुष्यका दूसरेके साथ युद्ध हुआ, वह स्वप्नकालमें सत्य होते हुए भी जागनेपर असत्य ही है, उसी तरह मायाकाशमें स्थित यह स्वात्मारूप जगत् भी मायिक दृष्टिसे सत् होते हुए भी तात्त्विक दृष्टिसे असत् ही है; महाकल्पके अन्त और सृष्टिके आदिमें यह जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप ही है। पीछे यह असत् जगत् कारणत्व अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है, परंतु वास्तविक परमात्मा किसीमें लीन नहीं होता। इस ब्रह्माके मुक्त हो जानेपर यदि उस परमात्माकी स्मृतिसे उत्पन्न

दूसरे ब्रह्मा हों तो उनकी स्मृतिरूप ज्ञानसे प्रकट हुई सृष्टिमें ज्ञानमात्र ही स्थित है। जो जीवात्मा अभ्यास-वैराग्य आदि तीव्र साधनोंसे युक्त है, अतएव विषयभोगोंसे विचलित न होता हुआ मोक्षपर्यन्त एकाकारवृत्तिसे रहता है, वही परम स्थिरता—मोक्षको प्राप्त होता है। इस प्रकार सहस्रों सृष्टियोंके बारंबार उत्पन्न होने, स्थित होने और नष्ट होनेपर जीवसमूहोंमेंसे किसीको न तो कोई वस्तु प्राप्त है और न अप्राप्त ही; क्योंकि जब पदार्थोंकी सत्ता है ही नहीं, तब फिर उन्हें प्राप्त-अप्राप्त कैसे कहा जा सकता है। अतः यह सब कुछ आवरण-रहित शान्तस्वरूप सच्चिदानन्द परमात्मा ही है।

जैसे पत्र, पुष्प, फल और शाखा आदि अंशोंसे युक्त वृक्ष एकरूपसे भलीभाँति स्थित है, उसी तरह अनन्त एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा एकरूपसे ही लोगोंमें व्याप्त है। जब अनादि परमपद-स्वरूप परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण आदि मायिक रूपवाले जगत्का विस्मरण हो जाता है। फिर किसीको कभी उसकी स्मृति नहीं होती। जैसे स्वच्छ जल चाहे निश्चल हो अथवा लहरियोंके थपेड़े खा रहा हो—दोनों अवस्थाओंमें जलके स्वरूपमें भेद न होनेसे वह एकरूप ही है, उसी प्रकार दिशा और कालरूपमें व्यक्त होनेपर भी परमात्मा सदा एकरस, अनादि और विशुद्ध है। वह सम्पूर्ण विकारोंके उदय और नाशसे रहित होनेके कारण अज्ञानका प्रकाशक, आदि, मध्य और अन्तसे परे तथा एकरूपसे स्थित है। केवल विशुद्धज्ञानरूप ब्रह्मकी स्वरूपभूता विभा द्वैत और ऐक्यविषमक संकल्प-विकल्प करनेके कारण 'अहम्, त्वम्' इत्यादि जगत्के रूपसे प्रतीत होती है—ठीक उसी तरह, जैसे आकाश-मण्डलमें उसकी अपनी शून्यता परिलक्षित होती है।

(सर्ग ५६—६०)

सृष्टिकी असत्यता तथा सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

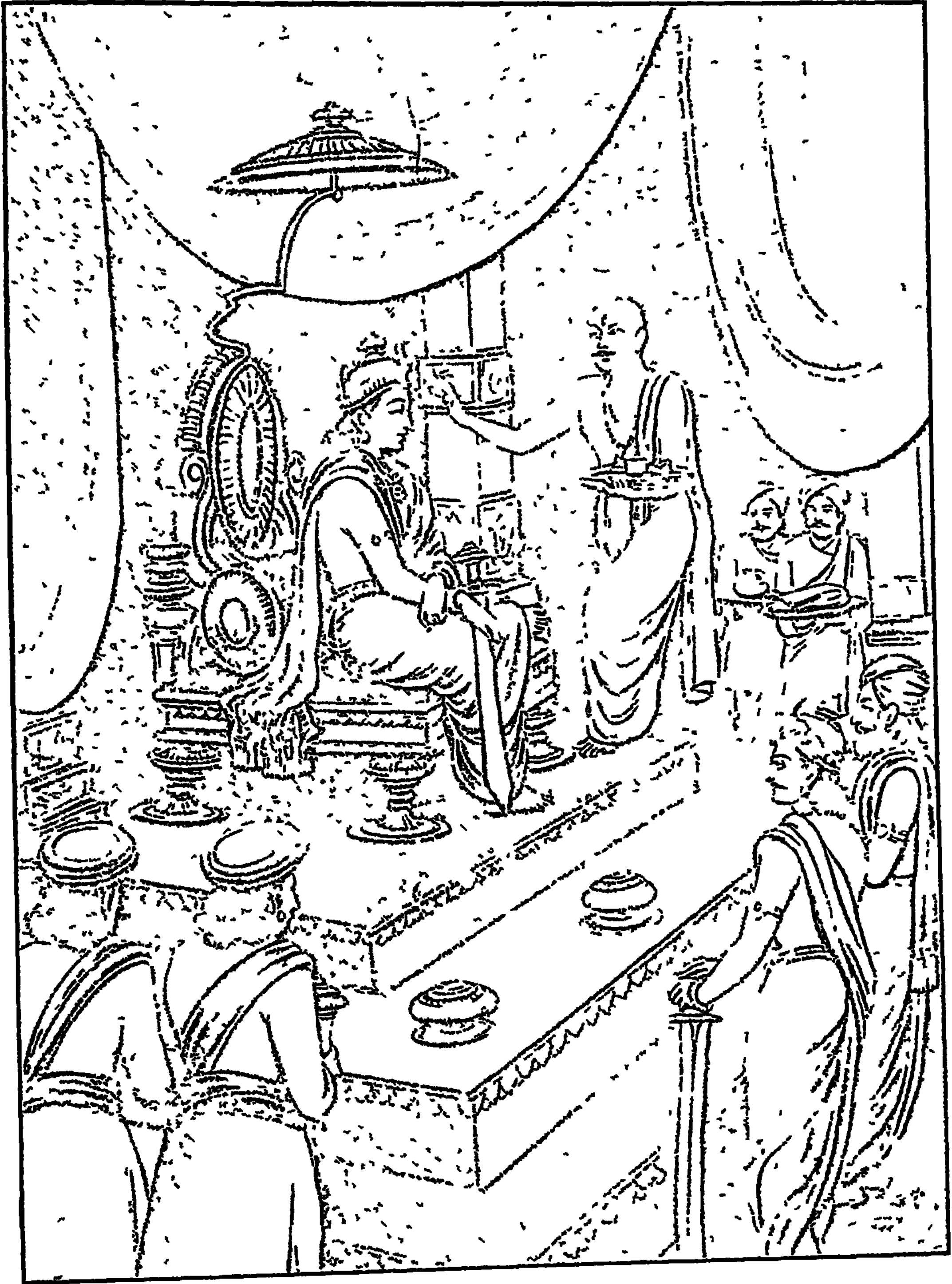
श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ज्ञानवान् पुरुष सब प्रकारकी सारी भ्रान्तियोंको सच्चिदानन्दघन परमात्माके ही अंदर सदा स्थित जानता है, इसलिये वास्तवमें सब सर्वस्वरूप अजन्मा परमात्मा ही है। इस तरह परब्रह्म परमात्माकी सर्वरूपता ही उसकी समता है। शब्दों और अर्थोंका सारा ज्ञान ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न नहीं। जैसे कंगनका रूप सुवर्णसे और तरङ्गकी सत्ता जलसे कभी पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार जगत् परमेश्वरसे भिन्न नहीं है। यह ईश्वर ही जगत्-रूप है। ईश्वरमें उससे पृथक् जगत्का रूप नहीं है। सोना ही कंगन आदिके रूपमें उपलब्ध होता है। सोनेमें कंगनकी पृथक् सत्ता नहीं है। जैसे स्फटिक-शिलाके भीतर भेद न होनेपर भी उसमें प्रतिबिम्बित वन-पंक्तियोंका भेदपूर्वक समावेश प्रतीत होता है (प्रति-बिम्बित वस्तुएँ अपनी आधारभूत शिलासे भिन्न न होनेपर भी जैसे भिन्न-सी प्रतीत होती हैं), उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें अभिन्न रूपसे स्थित जगत् और अहंकी अज्ञानके कारण भेदयुक्त प्रतीति होती है। अथवा जैसे शिल्पी शिला-को खोदकर उसमें विभिन्न मूर्तियोंका निर्माण करता है, वे मूर्तियाँ उस शिलासे भिन्न न होनेपर भी भ्रमवश भिन्न-सी जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मनरूपी शिल्पीने चिद्घन परमात्मामें जिस जगत् और अहंकी कल्पना की है, वह उससे भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भेदकी प्रतीति होती है। वास्तवमें वह चिद्घनरूप ही है। जैसे तरङ्गशून्य जलके भीतर तरङ्गें स्थित हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें सृष्टि-शब्दार्थसे शून्य सृष्टियाँ स्थित हैं। वास्तवमें न तो सृष्टिमें परब्रह्म है और न परब्रह्ममें सृष्टि ही है।

जैसे वायु अपनेमें ही स्पन्दकी कल्पना करती है, उसी प्रकार परमार्थ-चिन्मय ब्रह्म अपनी ज्ञानवृत्तिसे अपने ही गूढ़ स्वरूपको प्रपञ्चके रूपमें अभिव्यक्त कर देता है। वास्तवमें वह उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही होता है। शब्द-तन्मात्रा, जो पहले अपने कारणमें लीन थी, सर्वशक्तिमयी मायाके चमत्कारसे युक्त रूपको धारण-कर चित्तसे अन्तःकरणमें उठनेवाले संकल्पकी भाँति जब चिन्मय आकाशके समान स्फुरित होती है, तब उसीको आकाशका आविर्भाव कहते हैं। वही (आकाश-भावको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही) स्वयं अपनेमें अपनी ही सत्तारूप वायुभावका अनुभव करता है, जिसके भीतर स्पर्श-तन्मात्राका संस्कार उद्बुद्ध होता है । उसकी अनुभूति वैसी ही है, जैसे पवन अपनेमें स्पन्दनका अनुभव करता है। वायुभावको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं अपनेमें अपनी ही सत्तारूप प्रकाशभावका अनुभव करता है, जिसके भीतर रूपतन्मात्राका संस्कार उद्बुद्ध होता है । उसकी यह अनुभूति वैसी ही है, जैसे तेज प्राकट्य-का अनुभव करता है । वह तेजोमय ब्रह्म ही स्वयं अपनेमें अपनी ही सत्तारूप-जलभावका अनुभव करता है, जिसके भीतर रसतन्मात्राका संस्कार उद्बुद्ध होता है । उसकी यह अनुभूति वैसी ही है, जैसे जल अपनी द्रवताका अनुभव करता है। वह जल-रूपताको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही अपने चित्तसे अभिन्नरूप पृथ्वीभावका अनुभव करता है, जिसके भीतर गन्धतन्मात्रा स्थित होती है। उसकी यह अनुभूति भी वैसी ही है, जैसे पृथ्वी अपनेमें स्थैर्य-कलाका अनुभव करती है।

जो नित्य एकरस प्रकाशसे युक्त है, सृष्टि और प्रलय जिसके भीतर हैं, जो जन्म और विनाशसे रहित, रोग-शोकसे शून्य तथा शुद्ध है, वह ब्रह्म बिना किसी आधारके अपने आपमें ही स्थित है । उस परमार्थ सत्य वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) का यथार्थ ज्ञान होनेपर परम गतिरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है । उक्त परमार्थ-वस्तु सृष्टियुक्त होनेपर भी सर्वथा सम (विषमतासे रहित) ही है।

जैसे अग्निमें जो प्रकाश है, वह उससे भिन्न न होनेपर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें जो यह जगत्‌रूपी प्रकाश है, वह उनसे भिन्न न होकर भी भिन्न-सा जान पड़ता है। भिन्नरूपसे दिखायी देना ही उसका असत्य रूप है और अभिन्नरूपसे दीखना ही उसके सत्य रूपका दर्शन है।

जैसे गीली मिट्टीमें अव्यक्तरूपसे खिलौने मौजूद हैं, जैसे काष्ठमें खुदाई करके प्रकट न की हुई कठपुतली मौजूद है और जैसे स्याहीके चूर्णमें अक्षर स्थित हैं, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें नाना प्रकारकी सृष्टियाँ विद्यमान हैं। यद्यपि ब्रह्म-तत्त्वरूपी मरुभूमिमें त्रिलोक-रूपिणी मृगतृष्णा असत्य ही है, तथापि मायावश सत्य-सी प्रतीत होती है। वह ब्रह्मसे अभिन्न होती हुई भी भिन्न-सी भासित होती है। जैसे दूधका मिठास, मिर्चका तीखापन, जलकी तरलता और पवनका स्पन्दन उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें यह सर्ग अनन्यभावसे स्थित है । उससे भिन्नरूपमें उसका कोई अस्तित्व नहीं है। परमात्मामें लीन होकर वह चिन्मात्र स्वरूपसे स्थित होता है, परमात्माका अपना ही स्वरूप धारण करता है। कोई भी वस्तु कहीं और कभी भी न तो प्रकट होती है और न लयको ही प्राप्त होती है। सब कुछ सुन्दर शिलाके घनीभूत स्वरूपकी भाँति शान्त, अनादि, निराकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। जैसे जलके भीतर गुप्त और प्रकटरूपसे तरङ्ग आदि रहते हैं, उसी तरह जीवमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियाँ गुप्त और प्रकट रूपसे विद्यमान रहती हैं। 'पुरुष जिस-जिस वस्तुकी ओरसे विरक्त होता है, उस-उससे मुक्त होता जाता है। (जो सब ओरसे निवृत्त हो जाता है, उसे अणुमात्र दुःखका भी अनुभव नहीं होता है।)' इस



राजा सिन्धुका राज्याभिषेक (उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ५१)

स्मृति-वाक्यके अनुसार जो देह आदिमें अहंभावका अनुभव नहीं करता, ऐसा कौन मनुष्य जन्म-मरणरूपी भ्रमको प्राप्त होगा। परब्रह्ममें व्यष्टि जीव-रूपसे प्रकट हुई जो अद्वितीय चिद्-सत्ता है, वह जलकी तरलताके भीतर व्यक्त हुई आवर्त (भँवर) की रेखाके समान है। वही अहंभावसे युक्त होकर इन तीनों लोकोंको धारण करती है। वास्तवमें तो परमात्माके भीतर न सद्रूप जगत् है और न असद्रूप। (सर्ग ६२)

जगत्की असत्ता या भ्रमरूपताका प्रतिपादन तथा नियति और पौरुषका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! ये वर्तमान, भविष्य और भूतकालकी सृष्टि-परम्पराएँ अपनी सत्ताको उसी प्रकार धारण करती हैं, जैसे जलकी तरलता अपने भीतर स्पष्ट रूपसे आवर्तोंकी परम्परा धारण करती है। जैसे महती मरुभूमिमें तटवर्ती वृक्षों और लताओंसे झड़ती हुई पुष्प-राशिसे परिपूर्ण लहराती नदी मिथ्या ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें यह सृष्टि-सुषमा सर्वथा मिथ्या ही है। जैसे स्वप्नका संसार-इन्द्रजालका नगर और संकल्प या मनोरथद्वारा कल्पित जगत्—ये सब सत्य न होनेपर भी प्रतीतिके विषय होते हैं, उसी प्रकार सृष्टियोंके अनुभवकी भूमि असत्य होनेपर भी प्रतीतिगोचर हो रही है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ गुरुदेव ! पूर्वोक्त प्रकारसे भलीभाँति विवेक-विचार करनेपर जब एकमात्र अद्वितीय परब्रह्म परमात्माके साथ अपनी एकताका पूर्ण निश्चय हो जानेसे उत्कृष्ट एवं संशयरहित आत्म-विज्ञान प्रकाशित हो जाता है, तब तत्त्वज्ञानियोंके भी शरीर यहाँ किसलिये टिके रहते हैं ? यदि कहें वे दैवके ही अधीन होकर रहते हैं तो ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि उन तत्त्वज्ञानियोंपर दैवका प्रभाव कैसे रह सकता है।*

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! ब्रह्मा आदि तत्त्वज्ञानियोंने अज्ञानियोंके बोधके लिये यह बताया है कि जो ब्रह्म है, वही नियति है और वही यह सर्ग है। स्फटिक-शिलाके भीतर प्रतिबिम्बित चित्रसमूहकी भाँति परमात्मामें स्थित हुए ब्रह्माने नियति (जीवोंके अदृष्ट)-रूपी भावी सृष्टिको उसी तरह देखा है, जैसे सोया हुआ पुरुष अपनेमें स्वप्न-जगत्की कल्पनाके आधारभूत आकाशको देखता है। जैसे चेतन-स्वभाव होनेके कारण अङ्गी (देहधारी पुरुष) को शरीरमें अङ्ग आदि दिखायी देते हैं, उसी तरह 'कमलोद्भव' रूपसे प्रसिद्ध चिन्मय ब्रह्माको भी नियति आदि अङ्गोंके दर्शन होते हैं। यह नियति (प्रारब्ध) ही दैव नामसे कही गयी है, जो शुद्ध चेतन परमात्माकी शक्तिरूप है। यही भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकालमें सम्पूर्ण पदार्थोंको अपने अधीन करके जगत्की व्यवस्थारूपसे स्थित है। 'भविष्यमें अमुक पदार्थमें इस प्रकारकी स्फूर्ति होनी चाहिये, अमुकको भोक्ताका पद प्राप्त होना चाहिये, इसके द्वारा इस प्रकार और उसके द्वारा इस प्रकार अवश्य होना चाहिये' ऐसा विचार दैव ही करता है। यह दैव या नियति ही सम्पूर्ण भूत आदि अथवा काल-क्रिया आदि जगत् है। इस नियति या प्रारब्धसे ही पुरुषार्थकी सत्ता लक्षित होती है और पुरुषार्थसे ही इस प्रारब्धकी सत्ता सूचित होती है। जबतक तीनों भुवन हैं, तबतक प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये दोनों सत्ताएँ परस्पर अभिन्न-रूपसे स्थित हैं। मनुष्यको अपने पौरुषसे ही दैव और

---

* श्रुति कहती है—'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति' अर्थात् तत्त्वज्ञानीके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। (बृहदारण्यक० १।४।१०)

पुरुषार्थ दोनोंको बनाना चाहिये। प्रारब्धके अनुसार अवश्य होनेवाला भोग होकर ही रहेगा—ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष कभी पौरुषका त्याग न करे; क्योंकि प्रारब्ध पौरुषरूपसे ही नियामक होता है अर्थात् पूर्वजन्मोंमें किया गया पुरुषार्थ ही वर्तमान जन्ममें प्रारब्ध होकर यह नियम करता है कि अमुकको ऐसा ही होना चाहिये।

जो प्रारब्धके भरोसे मूक बनकर पौरुषशून्य एवं अकर्मण्य हो जाता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। जो अकर्मण्य होकर बैठेगा, उसकी प्राण-वायुकी चेष्टा कहाँ चली जायगी। यदि निर्विकल्प समाधिमें चित्तको शान्ति प्रदान करनेवाला प्राणनिरोध करके पुरुष साधु होकर मुक्ति पा ही गया तो वह भी उसके पुरुषार्थका ही फल है। बिना पुरुषार्थके किस फलकी प्राप्ति बतायी जा सकती है ? एकमात्र शास्त्रीय पुरुषार्थमें तत्पर होना कल्याणकारी श्रेष्ठ साधन है और कर्तृत्वका अत्यन्त अभावरूप मोक्ष सर्वश्रेष्ठ कल्याणमय फल है।

इन साधन और फलोंकी अपेक्षा ज्ञानियोंका पक्ष सबल है; क्योंकि उन ज्ञानी महात्माओंका प्रारब्ध-भोग दुःखरहित है। जो दुःखरहित प्रारब्ध-भोग है, वह यदि ब्रह्मसत्ताके प्रकाशमें स्थिर हो जाय तो निश्चय समझना चाहिये कि वह परम शुद्ध ब्रह्म, जिसे परम गति कहते हैं, प्राप्त हो ही गया। (सर्ग ६२)

ब्रह्मकी सर्वरूपता तथा उसमें भेदका अभाव, परमात्मासे जीवकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका विवेचन, परमात्मासे ही मनकी उत्पत्ति, मनका भ्रम ही जगत् है—इसका प्रतिपादन तथा जीव-चित्त आदिकी एकता

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यह जो ब्रह्म-तत्त्व है, वह सर्वथा, सर्वदा, सब ओरसे सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वरूप, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी और सर्वमय ही है। वह जब, जहाँ, जिसकी, जिस प्रकारसे भावना करता है, तब वहाँ उसीको प्रत्यक्ष देखता है। सर्वशक्तिमान् परमात्मासे जो-जो शक्ति जैसे उदित होती है, वह उसी प्रकार रहती है। ऐसी स्थितिमें वह शक्ति स्वभावसे ही नाना प्रकारके रूपवाली है। परमार्थ-दृष्टिसे ये सारी शक्तियाँ यह आत्मा ही है अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् परमात्मामें कोई भेद नहीं है। बुद्धिमानोंने लौकिक व्यवहारकी सिद्धिके लिये इस प्रकार भेदरूप संसार-जालकी कल्पना की है। वस्तुतः परमात्मामें भेद नहीं है। जैसे समुद्रमें छोटी-बड़ी लहरोंका और समुद्रका; कंगन, बाजूबंद और केयूरके साथ सोनेका तथा अवयव और अवयवीका भेद वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार आत्मामें द्वैत अथवा भेद वास्तविक नहीं है, कल्पना करनेवाले पुरुषकी बुद्धिसे कल्पित है। परमार्थ-दृष्टिसे देखा जाय तो यह सम्पूर्ण आकारोंसे युक्त विस्तृत प्रपञ्च सर्वव्यापी ब्रह्म ही है। मिथ्या ज्ञानवाले लोगोंने ही शक्ति और शक्तिमान्‌के तथा अवयव और अवयवीके भेदकी कल्पना कर रक्खी है। यह भेद यथार्थ नहीं है। सत् हो या असत्, सच्चिदा-नन्दघन परमात्मा जिस सदसद्-वस्तुका संकल्प अथवा अभिनिवेश करता है, उसी-उसीको देखता है। वास्तवमें सब वस्तुओंके रूपमें वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भासित हो रहा है।

श्रीराम ! यह जो सर्वव्यापी, स्वयम्प्रकाश, आदि-अन्तसे रहित, सबका महान् ईश्वर, स्वानुभवानन्दस्वरूप, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परमात्मा है, इसीसे पहले जीव उत्पन्न हुआ है। वही उपाधिकी प्रधानतासे चित्त कहलता है और चित्तसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है।

रघुनन्दन ! जिसमें प्रतीत होनेवाला दृश्य-प्रपञ्च असत्

है, वह शुद्धस्वरूप ब्रह्म यहाँ सर्वत्र व्यापक है। वह बृहद् ब्रह्म अनात्मयोगी पुरुषोंके लिये भीषण है और आत्मवेत्ताओंके लिये अविनाशी सच्चिदानन्दघन है। उसका जो सर्वत्र सम, परिपूर्ण, शुद्ध, चिह्नरहित सत्-स्वरूप है, वही शान्त परमपद है। ज्ञानी भी उसके स्वरूपका इदमित्थंरूपसे निर्देश नहीं कर सकते। उसीका चेतन अंश, जो स्वभावतः स्पन्दनशील (प्राण धारण करनेवाला) है, जीव कहलाता है। उत्तम दर्पणरूपी उस चेतन आकाशमें ये असंख्य जगत्-जालकी परम्पराएँ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। जैसे चलना या गतिशील होना वायुका स्वभाव है, उष्णता अग्निका स्वभाव है अथवा शीतलता हिमका स्वभाव है, उसी प्रकार जीवत्व आत्मा (व्यष्टि-चेतन) का स्वभाव है। व्यष्टिचेतनघन जो आत्मतत्त्व है, उसकी स्वयं अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण जो अल्पज्ञता है, उसीको जीव कहा गया है। कोई पुण्यात्मा पुरुष दिव्य देह आदिकी भावना करनेसे शीघ्र ही देवता आदिके शरीरको प्राप्त होता है। उस देहमें रहकर वह गन्धर्वों या अन्य देवताओंसे सुरक्षित नगर (अमरावती आदि) में निवास करता है। अपने संकल्पके अनुसार कोई पुरुष वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त होता है, कोई जङ्गम योनिमें जन्म ग्रहण करता है तथा कोई पक्षी आदि खेचर प्राणियोंका रूप धारण करता है। इस प्रकार जन्म और मृत्युके कारण बने हुए अपने कर्मोंसे जीव ऊपर या नीचे जाते हैं (ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं)।

श्रीराम ! परम कारणरूप परमात्मासे ही पहले मन उत्पन्न हुआ है। मनन ही उसका स्वरूप है। भोगोंसे भरा हुआ जो यह विस्तृत जगत् है, वह मनमें ही है। वह मन भी उस परम कारणरूप परमात्मामें ही स्थित है। वह भाव और अभावके झूलेमें झूलता रहता है। जैसे पहले अनुभवमें आयी हुई सुगन्ध याद करनेपर मनोरथके द्वारा देखी जाती है, उसी प्रकार उस मनके द्वारा सत् और असत्‌रूपसे प्रतीत होनेवाली यह सृष्टि देखी जाती है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म और जगत्‌की प्रतीतियोंका कोई भेद नहीं रह जाता। सब द्वैतोंके एकमात्र आश्रय परमात्मा ही स्थित रहते हैं। जिसके विस्तारका कहीं आर-पार नहीं है, उस संवित्‌रूपी जलके असीम प्रसारोंसे चिन्मय एकार्णवरूप यह आत्मा स्वयं विस्तारको प्राप्त होता है। क्षणिक होनेके कारण असत्य तथा प्रतीत होनेके कारण सत्य यह मनोमय जगत् स्वप्नके समान सदसद्रूप है। वास्तवमें यह जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न ही हुआ है। यह तो केवल चित्तका भ्रम है। जैसे अच्छी तरह न देखनेके कारण ठूँठे काठमें झूठे ही पुरुषकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविद्यायुक्त मनके प्रभावसे यह संसार नामक दीर्घकालीन स्वप्न अज्ञानियोंको स्थिर-सा प्रतीत होता है। जैसे चेतन परमात्मा और जीवमें भेद नहीं है, उसी तरह जीव और चित्तमें भी भेद नहीं है और जैसे जीव तथा चित्तमें भेद नहीं है, उसी तरह देह और कर्ममें भी भेद नहीं है। वस्तुतः कर्म ही देह है; क्योंकि देहसे ही कर्म होते हैं। देह ही चित्त है, चित्त ही अहंकारविशिष्ट जीव है। वह जीव ही चेतन परमात्मा है तथा वह परमात्मा सर्वस्वरूप एवं कल्याणमय है। यह शास्त्रका सारा सिद्धान्त एक पदमें ही कह दिया गया है। (सर्ग ६३—६५)

चित्तका विलास ही द्वैत है, त्याग और ज्ञानसे ही अज्ञानसहित मनका क्षय होता है—इसका प्रतिपादन तथा भोक्ता जीवके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे एक दीपकसे सैकड़ों दीपक जल जाते हैं, उसी तरह एक ही परम वस्तु चेतन आत्मा अपने संकल्पसे मानो नानात्वको प्राप्त हुआ है। मनुष्य चित्तमात्र ही है। चित्तके हट जानेपर

यह जगत् शान्त हो जाता है। जिस पुरुषके पैर जूतेसे ढके होते हैं, उसके लिये मानो सारी पृथ्वीपर ही चमड़ा बिछा हुआ है; इसी प्रकार जिसका चित्त शान्त है, उसके लिये सारा जगत् ही शान्त हो गया। जैसे केलेके वृक्षमें पत्तोंको छोड़कर और कुछ भी सार नहीं रहता, उसी प्रकार जगत्‌में भ्रमके सिवा और कुछ भी सार तत्त्व नहीं है। जीव जन्म लेता है; फिर क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्युको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वह शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग और नरकमें पहुँचता है। यह सब भ्रमवश चित्तका नृत्य अर्थात् संकल्पमात्र है। जैसे मलदोषसे मलिन नेत्र चन्द्रमा आदिमें दो-दो आकृतियाँ देखता है, वैसे ही भ्रमसे आक्रान्त हुआ जीवात्मा परमात्मामें द्वैत देखता है (जीव और ईश्वरमें भेदका दर्शन करता है)। जैसे मदिरा पीकर मतवाला हुआ मनुष्य नशेके कारण वृक्षोंको घूमते देखता है, उसी प्रकार जीवात्मा चित्तद्वारा कल्पित संसारोंका दर्शन करता है। जैसे बालक खेल-कूदमें वेगसे घूमनेके कारण सारे जगत्‌को कुम्हारके चाककी भाँति घूमता देखते हैं, उसी प्रकार जीव चित्तके भ्रमसे ही इस दृश्य-जगत्‌को देखते हैं—यों समझो। जिस पदार्थका चेतन अनुभव करता है, वह चेतनसे अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। इस प्रकार दृश्यकी शान्ति होनेपर विषय न रहनेसे ईंधनरहित अग्निके समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है। जब पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मासे एकताको प्राप्त होकर निश्चल स्थितिमें स्थित हो जाता है, तब वह शान्त होकर बैठे या व्यवहारमें लगा रहे —दोनों ही अवस्थाओंमें भलीभाँति शान्त कहा जाता है। व्यष्टि-चेतन अज्ञानी जीव विषयका अनुभव करता है, परंतु सच्चिदानन्दघनमें एकीभावको प्राप्त ज्ञानी महात्मा विषयका आस्वादन नहीं करता।

परमपदमें आरूढ और सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त हुए पुरुषका 'देहके भानसे शून्य' और 'निर्विषय' आदि समानार्थक शब्दोंद्वारा वर्णन होता है। जीवात्मा चित्तके संकल्पद्वारा ही स्थूलताको प्राप्त होता है और 'मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूँ, देखता हूँ तथा (जन्म-मृत्युरूप) संसारको प्राप्त होता हूँ' इत्यादि रूपसे मिथ्या-भ्रमका दर्शन करता है। चेतनके द्वारा जिस किसीका अनुभव होता है, वही स्थूल जगत् है। रज्जुमें सर्पकी भाँति प्रतीत होनेवाले उस आभासको अविद्या—भ्रम कहते हैं। इस संसार नामक व्याधिकी चिकित्सा एवं निवारण केवल ज्ञानमात्रसे ही सम्भव है। यह संसार चित्तका एक संकल्पमात्र है। इसके बाधमें किसी प्रकारका आयास नहीं है। जैसे अच्छी तरह देखभाल करनेसे रस्सीमें साँपका भ्रम मिट जाता है, उसी प्रकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे यह संसार-रूपी भ्रम अवश्य नष्ट हो जाता है।

श्रीराम! जिस वस्तुकी अभिलाषा हो, उसीका निश्चित रूपसे त्याग करके यदि रहा जा सके, तब तो मोक्ष प्राप्त ही है। इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है। परमात्माकी प्राप्ति-रूप महान् उद्देश्यसे सम्पन्न पुरुष जब इस संसारमें अपने प्राणोंका भी मोह तिनकेके समान त्याग देते हैं, तब जिस सांसारिक वस्तुकी इच्छा की गयी है, केवल उसीका त्याग करनेमें कंजूसी कैसे की जा सकती है। जैसे हाथमें रक्खा हुआ बेलका फल अथवा सामने खड़ा हुआ पर्वत प्रत्यक्ष ही दिखायी देता है, उसी प्रकार उस तत्त्वज्ञ महात्माके लिये परमात्माका जन्म आदि विकारोंसे रहित होना प्रत्यक्ष ही है। जैसे प्रलयकालका अनन्त अपार एकार्णव अपनी असंख्य तरङ्गोंके कारण अनेक-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार अप्रमेय परमात्मा ही अज्ञानके कारण जगत्‌रूपसे प्रतीत हो रहा है। उसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाय तो वही मोक्षरूप सिद्धि प्रदान करता है; परंतु जो उसे तत्त्वतः जान नहीं लेता, उसका मन सदा बन्धनमें ही पड़ा रहता है।

रघुनन्दन! ब्रह्म सदा सम्पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न तथा सब कुछ करनेमें समर्थ है। वह जहाँ जिस शक्तिसे

स्फुरित होता है, वहाँ अपनेमें उसी शक्तिको प्राप्त हुई देखता है। सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकालसे जिस व्यष्टि-चेतनको स्वयं जानता है, वही यहाँ जीव नामसे कहा गया है और वह जीव ही संकल्प करनेवाला है। जीव-ईश्वरका अनादिकालसे जो स्वाभाविक भेद है, वही जीवके जन्म-मरणमें कारण है। जैसे आकाशमें क्रियाशील और अक्रिय वायु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसी तरह यहाँ सर्वत्र क्रियाशील और अक्रिय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उस ब्रह्मके क्रियाशील होनेपर सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है और अक्रिय रहनेपर सबका प्रलय हो जाता है। उस अवस्थामें ब्रह्म ही शान्तभावसे स्थित रहता है। जिसने जीव-ईश्वरके भेदकी कल्पना कर रक्खी है, ऐसे जीवात्माको ही देहकी प्राप्ति होती है। वह जीवात्मा ही संसारमें संकल्पसे नाना प्रकारके विषयोंको प्राप्त होता है। वही नाना योनियोंको प्राप्त जीवात्मा ज्ञान होनेपर शीघ्र मुक्त हो जाता है। उनमेंसे कोई मन्द अभ्यासी तो साधन करते-करते हजारों जन्मोंमें मुक्ति प्राप्त करता है और कोई तीव्र अभ्यास करनेवाला पुरुष एक ही जन्ममें मुक्ति लाभ कर लेता है। स्वभावके कारण ही जीवात्मा ब्रह्म और जीवके भेदभावको प्राप्त हो रहा है। इसीसे वह गुणोंका सङ्ग पाकर कर्मानुसार स्वर्ग, मोक्ष, नरक और बन्धन आदिके हेतुभूत देहभावको क्रमशः प्राप्त होता है। वास्तवमें यह संसार न तो उत्पन्न हुआ है और न यह सत्तावान् होकर स्थित ही है, तथापि मनका भ्रम इसे देखता है। जैसे गोलाकार घूमने या नृत्य करनेसे भ्रमपीड़ित पुरुष नगरको भी घूमता हुआ-सा देखता है, उसी तरह मनके भ्रमसे युक्त जीवात्मा 'मैं उत्पन्न हुआ, स्थित रहा और मरा' इत्यादि भावोंका अनुभव करता है। परमार्थ-वस्तुका दर्शन न होनेके कारण आशा-तृष्णाके वशीभूत हुआ चित्त 'अहं-मम' इत्यादि रूपसे अनुभवमें आनेवाले असत् संसारको ही देखता (और उसे सत् मानता) है।

श्रीराम ! जैसे जल तरङ्गरूपसे स्फुरित होता है, उसी तरह केवल मनकी भ्रान्तिके उल्लास (उत्कर्ष) से विस्तारको प्राप्त हुआ यह सभी दृश्य-प्रपञ्च जगत्‌रूपसे भासित होता है। व्यष्टि-चेतन ही बुद्धि-वृत्तिके संयोगसे जीव कहलाता है। वह जीव ही संकल्प करनेसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा मायाके रूपमें परिणत हो जाता है। जैसे स्वप्नमें जो नगर आदिका भान होता है, वह मनका भ्रम ही है, उसी तरह यह संसार भी चित्तका भ्रम ही है। व्यष्टि-चेतनको जो संसारका ज्ञान है, वही जागरण कहा गया है। सूक्ष्म शरीरमें जो उसका अहंभाव है, उसीको स्वप्न माना गया है। मनका जो प्रकृतिमें विलीन हो जाना है, वही सुषुप्ति है तथा केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें जो एकीभावसे तन्मय हो जाना है, उसीको तुरीयावस्था कहते हैं। अत्यन्त शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जो अविचल स्थिति है, वही परिणाममें विकार-रहित तुरीयातीत पद है। उस पदमें स्थित पुरुष कभी शोक नहीं करता (वहाँ शोकका सर्वथा अभाव है)। उस परमात्मामें ही यह सब जगत् सम्पन्न होता है (उसीमें स्थित रहता है) और उसीमें लीन हो जाता है। वास्तवमें न तो यह ब्रह्म जगत्‌रूप है और न उस ब्रह्ममें जगत् ही है। जैसे नेत्रदोषके कारण आकाशमें भ्रमसे मोतीके दाने-से दीखते हैं, वैसे ही ब्रह्ममें भ्रमसे इस जगत्‌का दर्शन होता है। जैसे स्फटिकके भीतर प्रतिबिम्बित वन आदि उसके यथार्थ ज्ञानके बिना सत्य-से दीखते हैं, उसी तरह यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण अद्वितीय ब्रह्मरूप होता हुआ भी यह जगत् शुद्ध ब्रह्मके भीतर नाना-सा प्रतीत होता है। ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंग-पर्यन्त बुद्धिवृत्तिका भ्रमरूप जगत् असत् ही है; क्योंकि परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर इसका बाध हो जाता है। यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है, मिथ्या ही बढ़ता है, मिथ्या ही रुचिकर प्रतीत होता है और मिथ्या ही लयको प्राप्त होता है; शुद्ध सर्वव्यापी ब्रह्म अनन्त और

अद्वितीय है। अज्ञानसे ही वह अशुद्ध-सा, असत्-सा, नाना-सा और असर्वव्यापी-सा (सीमित-सा) ज्ञात होता है। जैसे जल भिन्न है और तरङ्ग उससे भिन्न है—ऐसी जो बालकों अथवा मूर्खोंकी कल्पना है, उसीसे जल और तरङ्गमें मिथ्या भेदकी प्रतीति होती है, उसी तरह जो यह जगत्का भेद प्रतीत होता है, वह भी वास्तविक नहीं है। केवल अज्ञानियोंने उसकी कल्पना कर रक्खी है। जैसे रस्सीमें सर्पकी स्थिति है, वैसे ही ब्रह्ममें शत्रु और मित्रके समान विरुद्ध और अविरुद्ध भेदाभेद शक्तियोंकी स्थिति सम्भव है। (सर्ग ६६—७९)

परमात्मसत्ताका विवेचन, बीजमें वृक्षकी भाँति परमात्मामें जगत्की त्रैकालिक स्थितिका निरूपण तथा ब्रह्मसे पृथक् उसकी सत्ता नहीं है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! नामरहित तथा मन और नेत्र आदि छः ज्ञानेन्द्रियोंसे अगम्य होनेके कारण आकाशसे भी सूक्ष्म चिन्मात्र परमात्मा ही 'अणु' शब्दसे कहा गया है। अणुके भी अणु सच्चिदानन्दघन परमात्माके अंदर अज्ञानियोंकी दृष्टिसे सत्-सा और ज्ञानियोंकी दृष्टिसे असत्-सा स्थित हुआ यह जगत् बीजके भीतर वृक्षकी सत्ताके समान स्फुरित होता है। सम्पूर्ण वस्तुओंकी सत्ता वास्तविक सत्ताके अधीन है; उसको यदि और किसीके अधीन मानें तो भूल होगी। अतः स्वतःसिद्ध वास्तविक सत्तासे ही सबकी सत्ता है। यह परम आकाशरूपी परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रेन्द्रियका विषय नहीं है। सर्वात्मक होता हुआ भी वह मनसहित पाँचों इन्द्रियोंसे अतीत होकर स्थित है, अतः अणुका भी अणु है। सर्वात्मक होनेके कारण ही वह कभी शून्य नहीं हो सकता। क्योंकि 'वह है, नहीं है'—ऐसा कहने और मनन करनेवाला पुरुष आत्मा ही तो है; फिर उसकी असत्ता कैसे कही जा सकती है। किसी भी युक्तिसे यहाँ सत् वस्तुकी असत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। जैसे कपूर अपनी सुगन्धसे प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वात्मा सर्वव्यापीरूपसे अनुभवमें आता है। अणुका-भी-अणु चेतन परमात्मा ही सब कुछ है। मन और इन्द्रियोंकी वृत्तिसे नानात्वकी प्रतीति होनेके कारण मनःपरिच्छिन्नरूपसे ही वह सर्वात्मक है और इन्द्रियातीत होनेके कारण वह निर्मल परमात्मा नित्य सत्तावान् होकर भी कुछ प्रतीत नहीं होता—इन्द्रियोंका विषय नहीं होता। वही एक है और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणमें आत्मारूपसे अनुभूत होनेके कारण अनेक भी है। वही अपने संकल्पसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करता है। अतः जगत्रूपी रत्नोंका कोष भी वही है।

जैसे जिसका मुँह बंद है, ऐसे घड़ेको अन्य देशमें ले जानेपर उसमें स्थित आकाशका गमन और आगमन नहीं होता, उसी प्रकार देहरूपी उपाधिके गमनागमनसे आत्माका गमनागमन नहीं हो सकता। चिन्मय परमात्मा अपनी चेतनसे सूर्य आदिके प्रकाशका भी प्रकाशक है और महाकल्पके प्रलयकालीन मेघोंसे भी वह नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह स्वयम्प्रकाशरूप एवं अविनाशी है। वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता; क्योंकि वह अनुभवरूप, हृदय-मन्दिरको प्रकाशित करनेवाला, सबको सत्ता देनेवाला, अनन्त और परम प्रकाशस्वरूप बताया गया है। आकाश आदि देश, काल और क्रिया आदिकी सत्ता एवं जगत् उसी ज्ञानस्वरूप परमात्मामें प्रतीत होते हैं। वही सबका स्वामी, कर्ता, पिता और भोक्ता है। वास्तवमें परमात्मा होनेके कारण उसका किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। न निमेष है न कल्प है, न सामीप्य है और न दूरी ही है। चेतन परमात्माका संकल्प ही अन्यान्य वस्तुओंके रूपमें

स्थित है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार जगत्के मिथ्यात्वका उपपादन करनेवाले न्यायों (युक्तियों) की बारंबार भावनारूप अभ्यासके द्वारा निर्मल हुए मनसे जिसने पारमार्थिक वस्तु ब्रह्मका दर्शन कर लिया है, उस पुरुषकी अविद्याका नाश हो जानेके कारण चिदाकाशमें उसे फिर संसारकी प्रतीति नहीं होती। जैसे बीजके भीतर स्थित हुए वृक्षकी सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण आकाशके तुल्य है, उसी तरह ब्रह्मके भीतर स्थित हुए जगत्का परमात्मा साक्षी है; इसलिये जगत्का साक्षीसे पृथक् प्रतीति न होनेके कारण सच्चिदानन्दरूपसे ही उसकी स्थिति है। शान्त, सर्वात्मक, जन्मरहित, अद्वितीय, आदि और मध्यसे शून्य, निर्द्वन्द्व, मायाके कार्यसे रहित, जगद्रूपमें नाना-सा प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें एक, विशुद्ध, ज्ञानस्वरूप, अजन्मा, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। उसमें किसी प्रकारकी कोई कल्पना किसी तरह भी सम्भव नहीं है।

जगत्की प्रतीतिका अभाव ही जिस (परमात्मा) के स्वरूपका परम अनुभव है, सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग ही चित्तके द्वारा जिसका संग्रह (चिन्तन) है, जिसके संकोचसे संसारका प्रलय और विकाससे उसकी सृष्टि होती है, जो वेदान्त-वाक्योंका परम तात्पर्य एवं वाणीका अविषय है, यह चराचर जगत् जिसकी चिन्मयी लीला है तथा विश्वरूप होनेपर भी जिसकी अखण्डता कभी खण्डित नहीं होती, वही सन्मात्र शाश्वत ब्रह्म कहा गया है। वह अणुसे भी अणु परमात्मा अपने संकल्पसे वायु होता है। किंतु उसकी वह भ्रमरूपता भ्रान्तदृष्टिमूलक है, अतः वास्तवमें वह वायु आदि कुछ भी नहीं है, केवल शुद्ध चेतन ही है। वही परमात्मा शब्दके संकल्पद्वारा शब्द बनता है; किंतु उसकी शब्दरूपताका दर्शन भ्रममूलक है। वास्तवमें तो वह शब्द और शब्दार्थकी दृष्टिसे बहुत दूर है। उस परमात्माकी प्राप्तिके सैकड़ों साधन हैं। उसके प्राप्त होनेपर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। वही परम प्राप्तव्य है। उसके सिवा कुछ भी नहीं है।

जो अणुका भी अणु, केवल चिन्मय और अत्यन्त सूक्ष्मतम है, उस परमात्मासे यह सम्पूर्ण विश्व सब ओरसे परिपूर्ण है। अणुरूप होता हुआ भी यह परमात्मा सैकड़ों—अनन्त योजनोंमें नहीं समाता; क्योंकि वह सर्वव्यापी, अनादि और रूपरहित होनेके कारण निराकार है। जैसे मेरु पर्वतकी सरसोंके साथ तुलना करना उचित नहीं, उसी तरह शुद्ध ज्ञानमय चेतनाकाशरूप परमात्माकी परमाणुके साथ तुलना करना शोभा नहीं देता। जैसे प्रतिबिम्ब दर्पणमें ही पड़ता है, उसी प्रकार जलमें जो कोई भी सम्पूर्ण रस है, वह परमात्माका ही आश्रय लेकर स्थित है। परमात्माके बिना स्वतः उसकी कोई सत्ता नहीं है। जिसने संकल्प-रहित होनेपर इस जगत्को त्याग दिया—इसका अभाव कर दिया है और अपने संकल्पसे ही पुनः सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न किया है, जगत्का अभाव करनेवाले उस अणुसे भी अणु चिन्मय परमात्माने इस समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है। जैसे सपनेमें एक ही निमेषमें बाल्यावस्थासे लेकर बुढ़ापेतकका बोध होता है, उसी प्रकार उस सूक्ष्म चिन्मय परमात्मामें निमेषांशका ज्ञान ही सहस्रों कल्पोंके समान प्रतीत होता है। इसलिये वह सूक्ष्म परमात्मा निमेषरूप होता हुआ ही शतकोटि कल्पोंका समूह है। अणुसे-भी-अणु सच्चिदानन्दघन परमात्मामें सम्पूर्ण जगत् स्थित हैं और उसीसे जगत्की सारी प्रतीतियाँ होती हैं।

जैसे बीजमें भावी वृक्ष रहते हैं, वैसे ही चिन्मय परमात्मामें भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके प्राणी सदा विद्यमान रहते हैं। यह परमात्मा सम्पूर्ण जगत्में उदासीनकी भाँति स्थित है। कर्तापन और भोक्तापनसे उसका थोड़ा-सा भी स्पर्श या सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा इस जगत्के बाहर भी स्थित है और

भीतर भी—यह बात तीनों लोकोंमें अधिकारी प्राणियोंके उपदेशके लिये कही जाती है। यह बाह्य और आन्तरिक स्थितिका भेद 'शब्द'तक ही सीमित है, वस्तुमें नहीं है; क्योंकि वस्तु चेतनरूप है, अतः उसमें उक्त भेदका होना कदापि सम्भव नहीं। द्रष्टा परमात्मा दृश्य जगत्‌का रूप नहीं धारण कर सकता; क्योंकि दृश्यत्व असत् एवं वास्तविक हैं। जो कोई भी वस्तु परमात्मामें है ही नहीं, परमात्मा उसका स्वरूप कैसे धारण कर सकता है। व्यवहारदृष्टिसे द्रष्टा ही दृश्यभावको प्राप्त होता है। जैसे पिताके बिना पुत्र और भोक्ताके बिना भोग्य नहीं है, उसी प्रकार दृश्यके बिना द्रष्टापन नहीं है।

जैसे विशुद्ध सुवर्णमें यह सामर्थ्य है कि उसका कंगन आदि बन सके, उसी प्रकार चिन्मय होनेके कारण द्रष्टामें यह शक्ति है कि वह दृश्यका निर्माण कर सके। जैसे सोनेका कड़ा यह सामर्थ्य नहीं रखता कि वह सुवर्णका निर्माण कर सके, उसी प्रकार जड होनेके कारण दृश्यमें यह शक्ति नहीं है कि वह द्रष्टाका निर्माण कर सके। जैसे सुवर्ण कंगनके भ्रमको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार चिन्मय परमात्मा दृश्यका निर्माण करता है। उक्त दृश्य असत् होता हुआ भी अज्ञानवश सत्-सा प्रतीत होता है। दृश्य अज्ञानमात्रसे उत्पन्न है। जबतक कारणभूत अज्ञान रहता है तभीतक उसकी स्थिति रहती है। जैसे कड़े और कंगन आदिकी प्रतीतिके समय सुवर्णकी सुवर्णता सत्य होनेपर भी स्फुटरूपसे स्फुरित नहीं होती, क्योंकि मूढ पुरुषकी बुद्धि उक्त आभूषणके नाम-रूपमें ही उलझी रहती है, उसी प्रकार द्रष्टाके दृश्यरूपमें स्थित होनेपर उसके वास्तविक स्वरूपकी स्फूर्ति नहीं होती। जैसे कंगनके रूपमें प्राप्त होनेपर सुवर्ण अपनी पूर्वसिद्ध सुवर्णताको लक्ष्य कराता है, वैसे ही दृश्यरूपमें स्थित हुआ द्रष्टा अपने द्रष्टापनको लक्षित कराता है। द्रष्टा जब अज्ञानवश अपनेको दृश्यरूपमें देखता है, तब अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं देख पाता। द्रष्टामें दृश्यत्वकी प्राप्ति होनेपर उसकी सत्ता भी असत्ता-सी हो जाती है अर्थात् वह सद्रूप होनेपर भी असत्-सा भासित होने लगता है। परंतु जब ज्ञानसे दृश्य गलित हो जाता है, तब केवल द्रष्टाकी ही सत्ता रह जाती है। जैसे कड़े और कंगनको गला देनेपर जब उसके नाम-रूपकी प्रतीति नहीं रहती, तब केवल सुवर्णकी सुवर्णता ही रह जाती है।

जैसे जल, भूमि आदि पाँच भूतोंसे भौतिक पदार्थ तनिक भी पृथक् नहीं है, उसी प्रकार इस स्वभावसिद्ध परमात्मारूप अणुसे कुछ भी पृथक् नहीं है। परमात्मा सर्वव्यापी अनुभवरूप है तथा सबका अनुभव भी उसीका स्वरूप है; अतः एकत्वके यथार्थ अनुभवकी युक्ति जब सुदृढ हो जाती है, तब इस परमात्माकी सबके साथ एकता समझमें आती है। परमात्मा दिशा, काल आदिसे सीमित नहीं है। वह एकमात्र, अद्वितीय है। सबका आत्मा होनेके कारण सबसे अभिन्न है। स्वतः तो वह सर्वानुभवरूप ही है, जड नहीं है।

जैसे कड़े या कंगनकी सत्ता सुवर्णसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार द्वैत भी ब्रह्मसे अलग नहीं है—जिसे भलीभाँति ऐसा ज्ञान हो चुका है, उसका वह ज्ञान ही द्वैत है और वह ज्ञान सत् नहीं है। जैसे जलकी द्रवता जलमें, वायुका स्पन्दन वायुमें तथा आकाशकी शून्यता आकाशसे अलग नहीं है, वैसे ही द्वैत परमात्मासे पृथक् नहीं है। द्वैत और अद्वैतकी प्रतीति दुःखरूप प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिये ही है, निवृत्तिके लिये नहीं। वास्तवमें जो इन दोनोंकी अनुपलब्धि या अप्रतीति है, वह यदि अच्छी तरह समझमें आ जाय तो ज्ञानी पुरुष उसीको परमपद मानते हैं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप तथा द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप जो यह सम्पूर्ण जगत् है, वह अणुसे-भी-अणु चेतन परमात्माके स्वरूपमें ही स्थित है। जैसे वायु अपने शरीरमें ही स्पन्दनको उत्पन्न करती और लीन भी कर लेती है,

उसी प्रकार अणुसे भी अणु परमात्माने अपने स्वरूपमें इस जगत्‌रूपी अणुको अनेक बार उत्पन्न और विलीन किया है। जैसे बीजके भीतर फल और पल्लवोंसहित समूचे वृक्षका विस्तार निहित है और वह अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाता है, उसी तरह चेतन परमात्मामें अनेक शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त जगत् स्थित है और वह परमार्थ-दृष्टिसे उन्हींमें देखनेमें आता है (इसलिये जगत् वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न ही है)। जैसे बीजके भीतर अपने शाखा, फल, फूल आदिका त्याग न करता हुआ वृक्ष स्थित है, वैसे ही चेतन परमात्मामें यह शाखा-प्रशाखाओं-सहित विशाल जगत् विद्यमान है। जैसे बीजके भीतर वृक्ष है, उसी प्रकार चेतन परमात्माके भीतर स्थित हुए द्वैतरूप जगत्‌को जो अद्वैत देखता है, उसीका देखना तत्त्वदर्शन है। वास्तवमें तो न द्वैत है न अद्वैत; न बीज है न अङ्कुर; न स्थूल है न सूक्ष्म; न जात हैं न अजात; न सत्ता है न असत्ता और न यह सौम्य हैं न क्षुब्ध। उस चेतन परमात्माके भीतर तीनों लोक, आकाश और वायु आदि भी कुछ नहीं हैं। न जगत् है, न उसका अभाव। केवल एक सर्वोत्कृष्ट उत्तम चेतन परमात्मा ही है। (सर्ग ८०—८३)

जगत्की ब्रह्मसे पृथक् सत्ताका खण्डन, भेदकी व्यावहारिकता तथा चित्तकी ही दृश्यरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! परमकारणभूत, आदि, अन्त और मध्यसे रहित, एक परमपदसे यद्यपि यह जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है, तथापि उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। जैसे जलराशिमें उठती हुई तरङ्गें जलसे भिन्न न होकर भी भिन्न-सी स्थित हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें सारी सृष्टियाँ अभिन्न होकर भी भिन्न-सी जान पड़ती हैं। जो नित्य उदित एवं नित्य प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म ही कर्ता-सा होकर इस जगत्‌का अनेक रूपोंमें निर्माण करता है। फिर भी वह अपनी समता और सौम्यता आदिका त्याग नहीं करता। जैसे बीजमें वृक्ष एवं फल आदि अभिन्नरूपसे ही स्थित हैं, तथापि वे उससे इस तरह प्रकट होते हैं मानो भिन्न हों, उसी तरह चेतन परमात्मामें यह चेत्य (स्थूलजगत्) अनन्य-भावसे स्थित होनेपर भी अन्य-सा प्रकट हुआ प्रतीत होता है। जैसे बीजसे लेकर फलपर्यन्त जो एक ही द्रव्य-सत्ता है, उसका विच्छेद न होनेके कारण फल और बीजमें कोई भेद नहीं है, जैसे जल और तरङ्गमें कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार चित् और चेत्य (ब्रह्म और जगत्) में कोई भेद नहीं है। अविचार (विवेक-शून्यता) के कारण जो इनमें भेदकी कल्पना की जाती है, उसकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि जिस किसी कारणसे भ्रान्तिवश उत्पन्न हुआ भेद विचारसे नष्ट हो जाता है। सारा जगत् ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है और सब-का-सब ब्रह्ममें ही लीन होता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (निश्चय ही सर्वत्र प्रसिद्ध इस परमात्मासे पहले-पहल आकाश-तत्त्व उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियोंमें जो 'तस्मात्' आदि पदोंमें पञ्चमी विभक्ति है, वह भेदका प्रतिपादन करनेवाली है अर्थात् जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उससे भिन्न है—इस बातको सूचित करती है। ऐसी दशामें आप यह कैसे समझते हैं कि देवेश्वर परमात्मासे उत्पन्न हुआ यह सारा जगत् उससे अभिन्न है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! उपदेशके लिये जो शास्त्रीय शब्द है अथवा लोकसिद्ध अर्थजनित व्यावहारिक भेदका उपपादक जो लौकिक-शब्द है, वह प्रतियोगी, व्यवच्छेद (अभाव), संख्या, लक्षण और पक्षसे युक्त होता है। जो भेद दिखायी देता है, वह व्यवहारदृष्टिसे

ही है, वास्तविक नहीं। अज्ञानियोंको समझानेके लिये ही कार्य-कारणभाव, सेवक-स्वामिभाव, हेतु-हेतुमद्भाव अन्वयव्यतिरेकभाव, भेदाभेद अथवा अन्यव्यतिरेक, परिणाम आदिका विभ्रम, भावोंके विचित्र विलास, विद्या-अविद्या और सुख-दुःख इत्यादि रूपसे मिथ्या संकल्पोंकी संकलना की गयी है। वास्तवमें जो सत्य वस्तु है, उसमें कोई भेद नहीं है। यह भेदवाद परम तत्त्वको न समझनेके कारण ही है। परमार्थ वस्तुके ज्ञात हो जानेपर द्वैत नहीं रह जाता। उस समय सारी कल्पनाएँ अथवा संकलनाएँ शान्त हो जाती हैं। फिर तो मौनस्वरूप परमार्थ-तत्त्व ही शेष रहता है। वह परमतत्त्व परमात्मा आदि और अन्तसे रहित, अविभक्त, एक, अखण्ड और सर्वस्वरूप है। जिन्हें तत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञ पुरुष अपने विकल्पोंसे उत्पन्न हुए तर्कोंद्वारा अद्वैतके विषयमें विवाद करते हैं। उपदेशसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेपर यह वाद और द्वैत नहीं रह जाता। द्वैतके विना वाच्य-वाचकका बोध नहीं सिद्ध होता। परंतु द्वैत किसी तरह भी सम्भव नहीं है। इसलिये मौनरूप परमात्मा ही पूर्णतया सिद्ध होता है।

रघुनन्दन! 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थमें अपनी बुद्धिको प्रतिष्ठित करके वचनभेदकी उपेक्षा कर दो और जो मैं कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो। चित्त ही विकासरूपसे जगत्‌को प्राप्त हुआ है। जैसे बालूके भीतर तेल नहीं है, उसी तरह ब्रह्ममें शरीर आदिकी सत्ता नहीं है। राग-द्वेष आदि क्लेशोंसे कलुषित यह चित्त ही संसार है। उन राग आदि दोषोंसे जमी-छुटकारा मिल जाता है, तभी इस संसार-बन्धनका नाश हो गया, —यह कहा जाता है। चित्त ही साधन, पालन, विचार श्रेष्ठ पुरुषकी भाँति कर्तव्यका अनुष्ठान, आहार-व्यवहार, संचरण और आदरपूर्वक धारण करनेके योग्य है। तीनों लोकोंकी कल्पनाका आकाशरूप चित्त सम्पूर्ण दृश्यको अपने भीतर धारण करता है। सृष्टिके आरम्भमें पृथ्वी-आदिरूप यह सारा प्रपञ्च अविद्यमान—असत् ही था। अव्यक्तस्वरूप अजन्मा ब्रह्म स्वप्नके समान इसे देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं देखता। हृदयंगम दृष्टान्त और युक्तिसे तथा मधुर एवं युक्तियुक्त पदार्थवाली वाणीसे जो कुछ कहा जाता है, वह श्रोताके हृदयमें उसकी शङ्काको दूर करके सब ओर व्याप्त हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे जलमें डाला हुआ तेल उसमें सब ओर फैल जाता है। जिसमें दृष्टान्त और मनोहर पद नहीं होते, जो दुर्बोध होता है, जिससे क्षोभ प्रकट होता है तथा जिसका प्रत्येक अक्षर अपने स्थानसे च्युत होता है और जिसके कई वर्ण मुँहमें ही रह जाते हैं—स्पष्टतः उच्चारित नहीं होते, ऐसा उपदेशवाक्य श्रोताके हृदयतक नहीं पहुँच पाता। वह राखमें आहुतिके रूपमें डाले गये घीके समान व्यर्थ हो जाता है। साधो! इस भूतलपर जो-जो महाभारत आदि आख्यान तथा छोटी-छोटी कथाएँ हैं, जो-जो प्रमाणोंद्वारा जाननेयोग्य प्रमेय ग्रन्थ हैं, जो औचित्यसे युक्त तथा शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे मधुर एवं कोमल हैं, वे सभी लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तों तथा प्रमाणयुक्त दर्शनोंके प्रतिपादनपूर्वक वर्णित होनेपर उसी प्रकार श्रोताके हृदयमें शीघ्र प्रकाशित हो जाते हैं, जैसे श्वेत किरणवाले चन्द्रमाके प्रकाशसे सारा विश्व प्रकाशित हो उठता है। (सर्ग ८४)

यह दृश्य-प्रपञ्च मनका विलासमात्र है, इसका ब्रह्माजीके द्वारा अपने अनुभवके अनुसार प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप रघुनन्दन! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने मुझे जो उपदेश दिया था, वह सब उनकी कही हुई कथाके साथ मैं तुम्हें बता रहा हूँ। पहलेकी बात है, मैंने कमलयोनि भगवान् ब्रह्माजीसे पूछा—'ब्रह्मन्!

ये सृष्टिके समुदाय (ब्रह्माण्ड) कैसे प्रकट होते हैं ?' मेरे इस प्रश्नको सुनकर लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने मुझसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही ।

ब्रह्माजी बोले—वत्स ! यह मन जगत्-भावको धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न है, अतः यही इस तरह सब पदार्थोंके रूपमें स्फुरित होता है, जैसे जल ही जलाशयमें फैले हुए विचित्र आवर्तोंके रूपमें स्फुरित (भासित) होता है । पहलेके किसी कल्पकी बात है । मैं अपने दिनके आरम्भमें जब सोकर उठा और संसारकी सृष्टिकी इच्छा करने लगा, उस समय कैसी घटना घटित हुई, यह बताता हूँ; सुनो । एक दिन संध्याके समय (कल्पके अन्तमें) सारी सृष्टिका संहार करके मैंने एकाग्र एवं स्वस्थचित्त हो अकेले ही वह रात बितायी । रात्रिके अन्तमें मैं जाग उठा और विधिपूर्वक सध्या करके प्रजाकी सृष्टि करनेके लिये मैंने अपनी फैली हुई आँखें आकाशमें लगायीं—मैं एकटक दृष्टिसे आकाशकी ओर देखने लगा। ज्यों ही दृष्टि डाली, त्यों ही मुझे आकाश अत्यन्त विस्तृत, अन्तरहित और शून्य दिखायी दिया । वह न तो अन्ध-कारसे व्याप्त था और न तेजसे ही ।

'अब मैं सृष्टिके लिये संकल्प करूँ' ऐसा निश्चय करके मैंने सूक्ष्म चित्तसे विशुद्ध भावके साथ उस स्रष्टव्य (सृष्टिके योग्य) वस्तुकी समीक्षा—पर्यालोचना आरम्भ की । इतनेमें ही उस विशाल आकाशके भीतर मैंने मनसे अनेक बड़े-बड़े ब्रह्माण्ड देखे, जो पृथक्-पृथक् विद्यमान थे । उन सबकी स्थिति व्यवस्थित थी। कहीं कोई प्रतिबन्ध नहीं था । उन ब्रह्माण्डोंमें दस पद्मयोनि ब्रह्मा विराजमान थे, जो मेरे ही प्रतिबिम्ब-से प्रतीत होते थे । वे सभी कमलकोशके निवासी थे और राजहंसोंपर चढ़े हुए थे । पृथक्-पृथक् स्थित हुए उन ब्रह्माण्डोंमें जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणी उत्पन्न हो रहे थे । उन सभी ब्रह्माडोंमें जल देनेवाले, विशुद्ध (अवग्रह आदि दोषोंसे रहित) मेघ-समुदाय छा रहे थे । बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती थीं और समुद्रोंके समान गर्जना करती थीं । आकाशमें अनेक सूर्य तपते थे तथा मरुद्गण इधर-उधर संचरण करते थे । स्वर्गमें देवता, भूतलपर मनुष्य तथा पातालोंमें रहकर दानव एवं नाग यथेष्ट क्रीडाएँ करते थे । कालचक्रमें गुँथी हुई तथा सर्दी, गरमी और वर्षाके स्वभाववाली सब ऋतुएँ यथासमय प्रकट हो फल-फूलोंसे सम्पन्न होकर भूमण्डलकी सब ओरसे शोभा बढ़ाती थीं । प्रत्येक दिशामें स्वर्ग और नरकरूपी फल देनेवाले शुभाशुभ आचारका प्रतिपादन करनेवाली स्मृतियाँ सर्वत्र प्रौढ़ताको प्राप्त थीं—उनका सब ओर प्रचार और प्रसार था । भोग और मोक्षरूपी फल चाहनेवाले विभिन्न जातिके समस्त प्राणी क्रमशः अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके लिये यथासमय प्रयत्न करते थे । सात लोक, सात द्वीप, सातों समुद्र और सातों पर्वत, जो कालद्वारा नष्ट होनेवाले हैं, बड़े कोलाहलसे युक्त प्रतीत होते थे । उन ब्रह्माण्डोंमें अन्धकार कहीं (खुले स्थानोंमें) क्षीण हो गया था, कहीं (पर्वतकी गुफा आदिमें) अधिक स्थिर होकर छा रहा था और कहीं सब झाड़ियों एवं कुञ्जोंमें लेशमात्र तेजसे मिश्रित होकर विद्यमान था । नभरूपी नील कमलके भीतर मेघरूपी भ्रमर मड़रा रहे थे तथा तारक-समूहरूपी केसरोंसे वह परिपूर्ण था । मेरु पर्वतके कुञ्जोंमें कल्पान्तकालके मेघोंकी भाँति घनीभूत कुहासा छा रहा था, जो सेमलके फलके भीतर रहनेवाली सफेद रूईके समान दिखायी देता था । लोकालोक पर्वत ही जिसकी करधनी है, गर्जते हुए समुद्र ही जिसके आभूषणोंकी झनकार हैं तथा जो अपने ही रत्नोंसे विभूषित है, वह पृथ्वी उन ब्रह्माण्डोंमें उसी प्रकार विराजमान थी जैसे कोई कुलाङ्गना अपने अन्तः-पुरमें निवास करती हो ।

भुवनरूपी गड्ढोंमें रहनेवाले बहुत-से प्राणी जिनमें बीजके समान जान पड़ते थे, वे पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड-गोलक अरुण तेजसे प्रकाशित हो अनारके फलोंके समान दिखायी देते थे । चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल

कान्तिवाली, तीन प्रवाहवाली तथा ऊपर-नीचे एवं मध्य—तीन मार्गोंपर विचरनेवाली गङ्गा जगत्‌रूपी पुरुषके यज्ञोपवीतकी भाँति सुशोभित हो रही थीं। दिशारूपी लताओंमें विद्युत्‌रूपी फूलोंसे युक्त मेघरूपी पल्लव वायुसे टकराकर इधर-उधर झोंके खाते, बिखर जाते और फिर नये पैदा हो जाते थे। विभिन्न भुवनोंके भीतर समूह-के-समूह बसे हुए देवता, असुर, मनुष्य और नाग गूलरके फलोंमें रहनेवाले मच्छरोंके समान जान पड़ते थे। उन लोकोंमें युग, कल्प, क्षण, लव, कला और काष्ठा आदिसे युक्त एवं सबके अतर्कित विनाशकी प्रतीक्षा करनेवाला काल प्रवाहरूपसे स्थित था। अपने शुद्ध एवं उत्तम चित्तके द्वारा ऐसा दृश्य देखकर मैं बड़े विस्मयमें पड़ गया कि यह क्या है और कैसे प्रकट हुआ है। इस स्थूल नेत्रसे जो मुझे कुछ भी नहीं दिखायी देता, उसी अनुपम मायाजालको मैं मनसे आकाशमें स्पष्ट देख रहा हूँ—यह कैसे सम्भव हुआ है? उसके बाद देरतक उस मायाजालको देखनेके पश्चात् मैंने मनसे ही उस ब्रह्माण्डके आकाशसे एक सूर्यको अपने समीप बुलाकर पूछा—

'देवदेवेश्वर! महातेजस्वी सूर्य! आओ, तुम्हारा स्वागत है' यों कहकर मैंने पहले तो उनका स्वागत किया। फिर उनके सामने अपना प्रश्न इस प्रकार रक्खा—'भगवन्! तुम कौन हो? तुम्हारा यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? इसके अतिरिक्त जो और जगत् दिखायी देते हैं, इनकी उत्पत्ति भी किस प्रकार हुई है? निष्पाप देव! यदि जानते हो तो यह सब बताओ।' मेरे इस प्रकार पूछनेपर उन्होंने मेरी ओर देखा और पहचान लिया। फिर मुझे नमस्कार करके उत्तम पदोंसे युक्त वाणीद्वारा इस प्रकार कहा।

सूर्य बोले—जगदीश्वर! आप इस दृश्य-प्रपञ्चके नित्य कारण हैं, फिर भी इसे जानते कैसे नहीं? और यदि जानते हैं तो मुझसे पूछते क्यों हैं? सर्वव्यापी देव! यदि मेरी बातें सुननेके लिये आपके मनमें कौतूहल हो तो सुनिये। महात्मन्! आप परम महान् परमात्मा हैं (आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है)। 'सत्-असत्' का बोध न होनेसे जो मोहमें डालनेवाली हैं तथा जिनसे अनवरत नाना प्रकारकी सृष्टियाँ होती रहती है, उन सदसत् कलाओं (संकल्पों) से जो विस्तारको प्राप्त हुआ है, वह मन ही यहाँ विविध पदार्थोंके रूपमें विलसित हो रहा है। तात्पर्य यह कि यह सारा दृश्य-प्रपञ्च मनका ही विलास या संकल्प है। (सर्ग ८५—९१)

स्थूल-शरीरकी निन्दा, मनोमय शरीरकी विशेषता, उसे सत्कर्ममें लगानेकी प्रेरणा, ब्रह्मा और उनके द्वारा निर्मित जगत्‌की मनोमयता, जीवका स्वरूप और उसकी विविध सांसारिक गति तथा सृष्टिके दोष एवं मिथ्यात्वका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस संसारमें ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सभी जातिके प्राणियोंके सदा दो-दो शरीर होते हैं। एक तो मनोमय शरीर होता है, जो शीघ्रतापूर्वक सब कार्य करनेवाला और सदा चञ्चल है। दूसरा मांसका बना हुआ स्थूलशरीर है, जो मनके बिना कुछ नहीं कर सकता। उक्त दोनों शरीरोंमेंसे जो मांसमय स्थूलशरीर है, वह सभी लोगोंको प्रत्यक्ष दिखायी देता है। उसीपर सब प्रकारके शापों, क्रियाओं (आभिचारिक कृत्यों) तथा विष, शस्त्र आदि विनाशके साधन-समूहोंका आक्रमण होता है। यह मांसमय शरीर असमर्थ, दीन, क्षणभङ्गुर, कमलके पत्तेपर पड़े हुए जलके समान चञ्चल तथा प्रारब्ध आदिके अधीन है। देहधारियोंका जो यह मन नामक दूसरा शरीर है, वह तीनों लोकोंमें प्राणियोंके अधीन होकर भी प्रायः अधीन नहीं रहता

वह यदि सदा बने रहनेवाले धैर्यका अवलम्बन करके अपने पौरुषके सहारे स्थित होता है, तो दुःखोंकी पहुँचसे बाहर हो जाता है—दुःखके हेतुभूत जो दोष हैं, वे उसे दूषित नहीं करते। प्राणियोंका मनोमय शरीर जैसे-जैसे चेष्टा करता है, वैसे-ही-वैसे वह अपने निश्चयके एकमात्र फलका भागी होता है। मांसमय देह (पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर) का कोई भी पौरुष-क्रम सफल नहीं होता, परंतु मनोमय शरीरकी प्रायः सभी चेष्टाएँ सफल होती हैं (क्योंकि मन ही प्रधान है)।

माण्डव्य ऋषिने मानसिक पुरुषार्थसे मनको रागरहित और दुःखशून्य बना शूलीपर चढ़कर भी सम्पूर्ण क्लेशोंपर विजय प्राप्त कर ली थी।* अन्धकारपूर्ण कुएँमें गिरे होनेपर भी दीर्घतपा ऋषिने मानसिक यज्ञोंका ही अनुष्ठान करके देवताओंका पद (स्वर्गलोक) प्राप्त कर लिया था। दूसरे भी जो सावधान धीर देवता और महर्षि हैं, वे मनसे की जानेवाली उपासना अथवा ध्यानका तनिक भी त्याग नहीं करते। संसारमें सावधान चित्तवाला कोई भी पुरुष कभी स्वप्न अथवा जागरणमें भी दोष-समूहोंसे थोड़ा-सा भी अभिभूत नहीं होता। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह इस संसारमें पुरुषार्थके साथ अपनी बुद्धिके द्वारा ही अपने मनको पवित्र मार्गमें लगाये। जैसे कुम्हारके घट-निर्माण-सम्बन्धी व्यापारके अनन्तर घड़ा अपने मृत्पिण्डावस्थाको त्याग देता है, उसी प्रकार पुरुष उत्तर पदार्थकी वासनाके पश्चात् पूर्वकी स्थितिका त्याग कर देता है (तात्पर्य यह है कि आगेकी दृढ़ वासनासे पिछली वासना नष्ट हो जाती है)।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! भगवान् ब्रह्माने पूर्वकालमें मुझसे ये बातें कही थीं, उन्हींका आज मैंने तुम्हारे समक्ष वर्णन किया है। नाम और रूपसे रहित उस सर्वात्मा ब्रह्मसे सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है। वह समय पाकर स्वयं ही घनताको प्राप्त हो संकल्प-विकल्परूप मनकी सामर्थ्यसे मनोरूप बन जाता है। इसलिये श्रीराम! जो ये परमेष्ठी ब्रह्मा हैं, इन्हें तुम परमात्माका समष्टि मन ही समझो। समष्टि मनरूप तत्त्व ही जिनका आकार है, वे भगवान् ब्रह्मा संकल्पमय होनेके कारण जिस वस्तुका संकल्प करते हैं, उसीको देखते हैं। तदनन्तर उन्होंने इस अविद्याकी कल्पना की। अनात्मामें आत्माका अभिमान होना ही इस अविद्याका स्वरूप है। फिर उन ब्रह्माने क्रमशः पर्वत, तृण और समुद्ररूप इस जगत्की कल्पना की। इस प्रकार यद्यपि क्रमशः परब्रह्म-तत्त्वसे यह सृष्टि आयी है, तथापि कुछ लोगोंको यह और ही किसीसे उत्पन्न हुई दिखायी देती है। अतः श्रीराम! तीनों लोकोंके भीतर वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही हुई है—ठीक उसी तरह, जैसे तरङ्गोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है। जो अन्य व्यष्टि-चेतन शक्तियाँ अर्थात् प्राणी हैं, वे सब वास्तवमें सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे अभिन्न ही हैं—साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जब यह जगत् विस्तारको प्राप्त होता है, तब वे ही प्राणी समष्टि-मनरूप ब्रह्मासे पूर्वकर्मानुसार विकासको प्राप्त होते हैं। ये सब सहस्रों व्यष्टि चेतन संसरणशील जीव कहे जाते हैं। वे जीव सच्चिदानन्दघन परमात्मासे ही प्रकट होकर आकाशमें तन्मात्राओंके साथ संयुक्त होते हैं। फिर आकाशस्थित वायुओंके मध्यवर्ती जो चौदह[1] श्रेणियोंमें विभक्त जीव हैं, उनमेंसे जिस प्रकारकी जीव-जातिमें रहनेसे जो जीव जैसी वासना और कर्मके अभ्यासमें प्रवृत्त होते हैं, उसी जीव-जातिकी प्राणशक्तिद्वारा वे स्थावर अथवा जङ्गम शरीरमें प्रविष्ट हो रज-वीर्यरूपी बीजभावको प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् योनिसे जगत्में जन्म ग्रहण करते हैं। तदनन्तर वासना-प्रवाहके अनुसार अपने कर्मफलके भागी होते हैं। फिर शुभ और अशुभ

---

* माण्डव्य ऋषिकी कथा महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १०६ में है।

१. जीवोंकी 'इदंप्रथमता' आदि चौदह श्रेणियाँ आगे बतायी जायँगी।

वासनाओंसे युक्त पुण्य-पाप कर्मरूपी रस्सियोंसे जिनका लिङ्गशरीर बँधा है, ऐसे वे जीव घूमते हुए कभी उत्तम लोकोंमें जाते हैं और कभी नरकोंमें गिरते हैं।

जीवोंकी ये सब जातियाँ वासनारूप ही हैं। कितने ही जीव हजारों जन्मोंतक कर्मरूपी बवंडरमें पड़कर चक्कर काटते हुए जंगलके पत्तोंकी भाँति झड़ जाते हैं और पर्वतके कुक्षिभागमें लुढ़कते फिरते हैं। कितने ही जीव जिन्हें सच्चिदानन्दघन परमात्माका ज्ञान नहीं है, अतएव जो मोहित रहते हैं, वे असंख्य जन्म धारण करते हैं। चिरकालसे जन्म लेकर इस संसारमें सैकड़ों कल्पोंतक जन्म और मरणकी परम्परामें बँधे रहते हैं। कतिपय जीव, जिनके कई असुन्दर जन्मान्तर व्यतीत हो चुके हैं, वर्तमान जन्ममें शुभकर्मपरायण हो इस जगत्‌में विचरण करते हैं। कई जातिके जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त करके उसी तरह परमपदको प्राप्त हो गये हैं, जैसे वायुसे उड़ाये हुए समुद्रके जलबिन्दु पुनः समुद्रके ही जलमें प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार यहाँ परमपदरूप ब्रह्मसे सम्पूर्ण जीवोंकी गुण और कर्मके अनुसार उत्पत्ति (सृष्टि) हुई है। यह सृष्टि आविर्भाव और तिरोभावके कारण क्षणभङ्गुर है तथा जन्म-मरणकी परम्पराको प्रकट करनेवाली है। वासनारूपी विषकी विषमतासे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दुःखरूपी ज्वरको धारण करती है। अनन्त सकटोंसे भरे हुए अनर्थकारी कार्योंका समादर करनेवाली है। अनेक दिशाओं, देशों, कालों तथा विविध पर्वतोंकी कन्दराओंमें घुमानेवाली—कर्मफलका भोग करानेवाली है। स्वयं निर्मित उत्तम विचित्रताओंसे इसने चारों ओर भ्रमका जाल बिछा रक्खा है। परमार्थदृष्टिसे यह सृष्टि असत् ही है। वत्स रामभद्र! विक्षुब्ध मन ही जिसका शरीर है, वह संसाररूपी जंगलकी जीर्ण-शीर्ण लता यदि तत्त्वज्ञानरूपी कुल्हाड़ीसे जड़सहित काट दी जाय तो फरसेसे काटी गयी बेलके समान यह फिर पनप नहीं सकती। (सर्ग ९२-९३)

जीवोंकी चौदह श्रेणियाँ तथा परब्रह्म परमात्मासे ही उत्पन्न होनेके कारण सबकी ब्रह्मरूपता

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे सभी पदार्थ उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त होते हैं। इनकी जो इधर-उधर विभिन्न भुवनोंमें उत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं, उनका विभाग इस प्रकार है—बताता हूँ, सुनो। जिस जीवको अपने पूर्वजन्ममें शम, दम आदि समस्त साधन तथा गुण-सम्पत्ति प्राप्त होनेपर भी ज्ञान नहीं हुआ, वह जीव इसी जन्ममें ज्ञान-लाभके योग्य बनकर उत्पन्न होता है; अतः यही उसका प्रथम जन्म है। उस श्रेणीके जीवका वह जन्म 'इदं प्रथम' नामसे विख्यात होता है। यह इदम्प्रथमता पूर्व-जन्मके शुभ अभ्याससे प्रकट होती है। वही इदम्प्रथमता यदि पूर्वजन्ममें वैराग्यकी कमीके कारण शुभ लोकोंका आश्रय लेनेवाली रही हो अर्थात् उत्तम लोकोंकी प्राप्तिके लिये किये गये शुभ कर्मोंसे संयुक्त हो और इसीलिये विचित्र संसार-वासनाके कारण भोग-व्यवहारवाली हो तो भोगोंसे वासनाका क्षय होनेपर वह कुछ ही जन्मोंमें मोक्षकी प्राप्ति करा देती है। अतः शान्ति आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण उस दूसरी जीव-जातिको 'गुण-पीवरी' कहते हैं।

श्रीराम! नाना प्रकारके सुख-दुःखरूपी फलोंको देनेमें मुख्य कारणभूत पूर्वजन्मके पुण्य और पापका अनुमान करानेवाली जो जीवोंकी श्रेणी है, उसे पुण्यात्मा पुरुषोंने 'ससत्त्वा' कहा है (क्योंकि 'वह सत्त्वगुणकी वृद्धिके द्वारा मोक्षकी भागिनी होती है)। जो जीव-श्रेणी विचित्र संसारकी वासनाओंसे युक्त होकर अत्यन्त कलुषित हो गयी हो अर्थात् पूर्वजन्ममें सचित किये गये अधिक दुष्कर्मजनित दुर्वासनाओंसे मलिन हो गयी

हो और भाँति-भाँतिके भले-बुरे फल प्रदान करनेवाले मुख्य कारणभूत पूर्वजन्मके धर्म और अधर्मका अनुमान करानेवाली हो, वह सहस्रों जन्मोंमें ज्ञानकी भागिनी होती है। इसलिये साधुपुरुष उसे 'अधमसत्त्वा' कहते हैं। वही जीवश्रेणी, यदि अध्यात्म-शास्त्रसे विमुख होनेके कारण असंख्य, अनन्त जन्मोंके पश्चात् वर्तमान जन्ममें भी उसके मोक्ष होनेमें संदेह ही रह जाय तो उसे 'अत्यन्त तामसी' कहते हैं। नृपश्रेष्ठ श्रीराम! जीवकी जो उत्पत्ति पूर्वजन्मकी वासनाओंके अनुरूप एवं वैसे ही आचार-व्यवहारवाली हो तथा दो-तीन जन्मोंके अनन्तर जिसे मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ हो और वैसे ही कार्य कर रही हो, वह लोकमें 'राजसी' कही गयी है। जिसके लिये ज्ञान-प्राप्तिके योग्य जन्मका मिलना दूर नहीं है, जब जीवको ऐसी उत्पत्ति सुलभ हो जाती है, तब उस जन्ममें मृत्यु होनेमात्रसे उसमें मोक्ष-प्राप्तिकी योग्यता आ जाती है। उस जन्ममें उसके द्वारा वैसे ही कार्य होनेसे जो अनुमान होता है, उसके आधारपर ही मुमुक्षुओंने उस अवस्थाको 'राजस-सात्त्विकी' कहा है। वही उत्पत्ति यदि पूर्वोक्त मनुष्य-जन्मोंसे भिन्न, थोड़े-से ही (देवता आदि) जन्मोंमें क्रमशः ज्ञान-प्राप्तिके द्वारा मोक्षकी भागिनी हो तो वैसी उत्पत्तिको उसके ज्ञाता विद्वान् 'राजस-राजसी' कहते हैं। वही यदि राजस-राजसीकी अपेक्षा चिरकालमें मोक्षकी इच्छासे सम्पन्न होकर सैकड़ों जन्मोंके पश्चात् मोक्ष-प्राप्तिकी अधिकारिणी हो और ऐसे कार्योंका आरम्भ करे, जिनसे राजस एवं तामस कर्मजनित फलोंकी प्राप्ति हो तो वह जीव जाति या जीव-श्रेणी सज्जन पुरुषोंद्वारा 'राजस-तामसी' कही गयी है। यदि वही उत्पत्ति ऐसे कार्योंका आरम्भ करे, जिनसे सहस्रों जन्मोंके पश्चात् भी मोक्ष मिलनेमें संदेह ही रहे, उसे 'राजसात्यन्ततामसी' कहा गया है।

सर्गके आदिमें हिरण्यगर्भ ब्रह्मासे मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है। तभीसे सहस्रों जन्म भोग लेनेके पश्चात् भी यदि बहुत जन्मोंके बाद चिरकालमें मोक्ष मिलनेकी सम्भावना हो तो महर्षियोंने उसे 'तामसी' उत्पत्ति कहा है। वह तामस उत्पत्ति यदि तामस योनि होनेपर भी मोक्षकी सम्भावनासे युक्त हो और वैसे ही कर्मोंके आयोजनसे सुशोभित होती हो तो उसे विद्वान् पुरुष 'तामससत्त्वा' कहते हैं। तामस-राजस गुणोंसे सम्पन्न कतिपय जन्मोंमें ही जहाँ मोक्ष-प्राप्तिकी सम्भावना हो, उस उत्पत्तिको 'तमोराजसरूपिणी' कहा गया है तथा जो उत्पत्ति पहलेके हजारों जन्मोंसे लेकर आगे होनेवाले सैकड़ों जन्मोंतक मोक्ष-प्राप्तिकी योग्यतासे रहित हो, उसे उत्पत्तिकी श्रेणीका विभाजन करने और जाननेवाले विद्वानोंने 'तामस-तामसी' कहा है। जिस उत्पत्तिमें अतीतकालके लाखों जन्मोंसे लेकर भविष्यकालके लाखों जन्मोंतक मोक्ष मिलनेमें संदेह ही रहे, उसे 'अत्यन्त तामसी' कहते हैं।

प्राणियोंकी ये सारी जातियाँ पूर्व-कर्मानुसार ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं—ठीक उसी तरह जैसे कुछ चञ्चल हुए समुद्रसे तरङ्गें उठती रहती हैं। जीवोंकी ये सभी श्रेणियाँ उसी तरह ब्रह्मसे उत्पन्न हुई हैं, जैसे प्रज्वलित अग्निसे चिनगारियाँ प्रकट होती हैं। जैसे सुवर्णसे कड़े, बाजूबंद और केयूर आदि आभूषण प्रकट होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मसे सारी जीव-श्रेणियाँ पूर्व-वासना और कर्मोंके अनुसार उत्पन्न होती हैं। श्रीराम! जैसे घटाकाश, स्थाल्याकाश और छिद्राकाश आदि आकाशके ही कल्पित रूप हैं, उसी तरह अजन्मा परब्रह्मकी ही सम्पूर्ण प्राणिवर्गके रूपमें कल्पना हुई है। अतः वे सब प्राणी ब्रह्मके ही रूप हैं। जैसे जलसे फुहारें, भँवरें, लहरें और बूँदें प्रकट होती हैं, अतः सब जलरूप ही हैं, उसी तरह सम्पूर्ण लोक-रचनाएँ परब्रह्म पदसे ही प्रकट हुई हैं, अतः वे सब ब्रह्म-स्वरूप ही हैं।

श्रीराम! जैसे सूर्यके तेजसे ही मृग-तृष्णारूपिणी

सरिताओंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य-दर्शन ब्रह्मके ही संकल्पसे प्रकट हुए हैं। ये सारे दृश्य-दर्शन द्रष्टा ब्रह्मके स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं—ठीक वैसे ही, जैसे चाँदनी चन्द्रमासे और प्रकाश तेजसे पृथक् नहीं है। इस तरह जो नाना प्रकारकी जीवोंकी श्रेणियाँ हैं, ये जिस ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं, उसीमें लीन भी हो जाती हैं। रघुनन्दन! इस प्रकार भगवान् परब्रह्म परमात्माकी इच्छासे व्यवहारमें लगे हुए जो विचित्र आकारवाले रूप-वैभवसे सम्पन्न पूर्वोक्त प्राणिवर्ग हैं; वे आगसे प्रकट होनेवाली चिनगारियोंके समान विभिन्न लोकोंमें आते, जाते और ऊँची-नीची योनियोंमें जन्म लेकर भ्रमण करते हैं। (सर्ग ९४)



कर्ता और कर्मकी सहोत्पत्ति एवं अभिन्नता तथा चित्त और कर्मकी एकताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे वृक्षसे फूल और उसकी गन्ध दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सृष्टिके आदिमें परम-पदरूप ब्रह्मसे परस्पर अभिन्न कर्म और कर्ता दोनों स्वयं (स्वभाववश) ही एक साथ प्रकट हुए। जैसे अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिमें सर्वत्र फैले हुए निर्मल आकाशके भीतर नीलिमा प्रतीत होती है, उसी तरह समस्त संकल्पोंसे रहित सर्वव्यापी विशुद्ध ब्रह्ममें अज्ञ पुरुषोंकी दृष्टिसे ही जीवोंका प्राकट्य प्रतीत होता है। राघव! जहाँ अज्ञानी लोगोंका ही आचार-व्यवहार दिखायी देता है, वहींपर 'जीव ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं' ऐसी उक्तियाँ टिक पाती हैं। किंतु जहाँपर ज्ञानी पुरुषोंका व्यवहार है, वहाँ यह कहना शोभा नहीं देता कि 'यह वस्तु तो ब्रह्मसे उत्पन्न हुई है और यह नहीं हुई है।' अतः भेददृष्टिसे जो शोचनीय द्वैत-कल्पना की गयी है, उसे व्यवहारमात्रके लिये स्वीकार करके यह उपदेश दिया जाता है कि 'यह ब्रह्म है और ये जीव हैं।' वास्तवमें यह कथन केवल वाणी-का विलासमात्र है। ये सब जीवराशियाँ सदा उस परमात्मामें स्थित रहती हैं, उसीसे उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं। रघुनन्दन! जैसे फूल और गन्ध एक दूसरेसे अभिन्न हैं, उसी तरह पुरुष (कर्ता) और कर्म परस्पर अभिन्न हैं। ये परमात्मासे प्रकट होते और धीरे-धीरे उसीमें लीन हो जाते हैं। ये दैत्य, नाग, मनुष्य और देवता इस जगत्में वस्तुतः उत्पन्न हुए बिना ही वासनाओंके साथ उत्पन्न होते-से प्रतीत होते है और तुरंत गमन आदि क्रियासे युक्त हो जाते हैं। साधो! उन दैत्य, नाग, मनुष्य और देवता आदिके संसार-भ्रमणमें आत्माके यथार्थ ज्ञानके अभावके अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता। वह आत्मविस्मरण ही जन्मान्तररूपी फल प्रदान करनेवाला है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! श्रुति, स्मृति-रूप प्रामाणिक दृष्टिवाले, वीतराग ऋषियोंद्वारा अर्थमें श्रुतिसे विरोध न रखनेवाले जो-जो स्मृति, पुराण एवं इतिहास आदि ग्रन्थ सिद्धान्त-निर्णयपूर्वक रचे गये हैं, वे सब शास्त्र कहलाते हैं। जो महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न, धीर (ज्ञानी) और समदर्शी हैं तथा जिन्हें अनिर्वचनीय ब्रह्मका साक्षात्कार हो चुका है, वे पुरुष साधु (श्रेष्ठ संत) कहे गये हैं। जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, उन पुरुषोंके सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये (उन्हें धर्म और ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेके लिये) श्रेष्ठ पुरुषोंका सदाचार और श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्र—ये ही दो नेत्र हैं।

उनकी दृष्टि सदा इन (दोनों—सदाचार और शास्त्र) का ही अनुसरण करती है। जो पुरुष श्रेष्ठ व्यवहारके लिये शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सभी शिष्टजन बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःखमें निमग्न

हो जाता है। प्रभो! इस लोकमें और वेदमें भी ऐसा सुना जाता है कि कर्म और कर्ता यहाँ क्रमशः एकके-बाद-एक उत्पन्न होकर कार्य-कारणभावसे परस्पर मिले हुए हैं। कर्मके द्वारा कर्ताका निर्माण होता है और कर्तासे कर्मका, जैसे बीजसे अङ्कुर होता है और अङ्कुरसे बीज। यह न्याय लोक और वेदमें भी प्रसिद्ध है। जिस वासनाके कारण जीव इस संसाररूपी पिंजड़ेमें डाला जाता है, उसी वासनाके अनुसार उसे फल भी भोगना पड़ता है। भगवन्! जाननेयोग्य तत्त्वके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! मुझे ठीक-ठीक बताइये कि जीवका किया हुआ कर्म फलरूपमें अवश्य परिणत होता है या नहीं। यदि कर्मका फल अवश्य मिलता है, तब प्राणियोंके जन्म आदिमें वही हेतु हुआ। फिर आपने उत्पत्तिको अकारण या अज्ञानकल्पित कैसे बताया? मेरे इस महान् संशयका निवारण कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! मैं तुम्हें साधुवाद देता हूँ, तुमने मेरे सामने यह बड़ा सुन्दर प्रश्न रक्खा है। सुनो, मैं तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ, जिससे पूर्णतया ज्ञानका उदय हो जाता है। यह संकल्प-विकल्पात्मक मनका विकास ही कर्मोंका कारण है—उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है। मनके संयोगके बिना किये हुए कर्म फलदायक नहीं होते। सृष्टिके आरम्भमें परम-पदरूपी ब्रह्मसे जब मनरूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ, तभी उस मनके संकल्पके अनुसार जीवोंका कर्म भी उत्पन्न हुआ और जीव पूर्ववासनाके अनुसार देहवाला होनेके कारण देहमें अहंभावसे स्थित है। (मनसे ही कर्मकी उत्पत्ति हुई; इसलिये बीज और वृक्षकी भाँति कारण-कार्यरूप मन और कर्म परस्पर अभिन्न हैं।) जैसे अभिन्नरूपसे स्थित हुए पुष्प और सुगन्धमें यहाँ भेद नहीं है, उसी प्रकार परस्पर अभिन्न मन और कर्ममें भी भेद नहीं है। इस जगत्में क्रियाका होना ही विद्वानोंद्वारा कर्म बताया गया है। उस क्रियाका आश्रयभूत देह भी पहले मन ही था अर्थात् यह देह भी मनका ही संकल्प होनेके कारण मनोरूप ही है। इसी प्रकार क्रिया भी मनका ही संकल्प होनेसे मनका ही स्वरूप है। न ऐसा कोई पर्वत है, न आकाश है, न समुद्र है और न ऐसा कोई लोक ही है, जहाँ किये हुए अपने कर्मोंका फल नहीं प्राप्त होता। तात्पर्य यह कि कर्मोंका फल अवश्यम्भावी है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म चाहे पूर्वजन्मका हो या इस जन्मका, वह क्रियारूप पुरुषार्थ ही पुरुषका परम प्रयत्न है। वह कभी निष्फल नहीं होता। जो मुक्त पुरुष है, उसीके कर्मका नाश होनेपर मनका नाश होता है मनका नाश ही कर्मका अभाव है। जो मुक्त नहीं है, उसके कर्म और मनका नाश कदापि नहीं होता। अग्नि और उष्णताकी भाँति सदा परस्पर मिले हुए चित्त और कर्म—इन दोनोंमेंसे एकका अभाव होनेपर दोनोंका ही अभाव हो जाता है। (सर्ग ९५)

मनका स्वरूप तथा उसकी विभिन्न संज्ञाओंपर विचार

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्! जो जड होकर भी अजड (चेतन) के समान आकार धारण किये हुए है, उस मनके संकल्पारूढ स्वरूपका आप मेरे समक्ष विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! सर्वशक्तिमान्, असीम, महान् विज्ञानानन्दघन परमात्मतत्त्वकी शक्तिसे रचित जो संकल्पमय रूप है, उसको विद्वान् पुरुष मन समझते हैं। वह मन स्वयं भी संकल्पकी सामर्थ्यसे युक्त है। इस लोकमें जैसे गुणीका गुणसे हीन होना सम्भव नहीं, उसी प्रकार मनका कल्पनात्मक क्रियाशक्तिसे रहित होना असम्भव है। एकमात्र संकल्प ही जिसका शरीर है तथा जो नाना प्रकारके विस्तारसे सुशोभित होनेवाला

एवं फलधर्मी (फलका जनक) है, उस चित्तरूपी कर्मने अपने ही स्वरूपसे इस नानाविध विश्वका, जो मायामय, निष्कारण (हेतु एवं प्रयोजनसे रहित), विन्यासशून्य तथा वासनाकी कल्पनाओंसे व्याप्त है, विस्तार कर रक्खा है। जिसने जहाँ लताकी भाँति जिस वासनाको जिस प्रकार आरोपित किया है, वहाँपर कर्मानुसार फल देनेवाली वह वासना ही उसे तदनुरूप फलरूपमें प्राप्त होती है। मन जिसका अनुसधान करता है, उसीका सम्पूर्ण कर्मेन्द्रिय वृत्तियाँ सम्पादन करती हैं; इसलिये मनको कर्म कहा गया है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, संसृति, वासना, अविद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया तथा इनके सिवा और भी विचित्र शब्दोक्तियाँ संसारभ्रमकी ही हेतुभूत हैं। चित्तभावको प्राप्त हो प्रस्तुत ससार-पदवीको पहुँचे हुए शुद्ध चेतनके अपने ही सैकड़ों संकल्पोंद्वारा ये भिन्न-भिन्न नाम अत्यन्त रूढ़ि (प्रसिद्धि) को प्राप्त हुए हैं। वह शुद्ध चेतन परमात्मा ही लोकमें जीव कहलाता है। मन, चित्त और बुद्धि भी उसीके नाम हैं।

जैसे नाटकमें नट अनेक प्रकारके रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन भी भिन्न भिन्न कर्मोंका आश्रय ले अनेक प्रकारके नाम धारण करता है। जैसे एक ही मनुष्य भोजन बनानेसे पाचक और पढ़ानेसे पाठक कहलाता है—विभिन्न एवं विलक्षण अधिकारोंके कारण विचित्र तथा विकृत (उन-उन कर्मोंके प्रकाशक) नाम पाता है, उसी प्रकार मन भी कर्मवश उक्त नाम धारण करता है रघुनन्दन ! मैंने चित्तकी जो ये अनेक संज्ञाएँ बतायी हैं, इन्हींको अन्यान्य वादियोंने अपनी सैकड़ों कल्पनाओंद्वारा अन्य प्रकारसे कहा है। अपने भावोंके अनुरूप बुद्धिका मनमें आरोप करके उन वादियोंने मनके द्वारा स्वेच्छासे मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके विचित्र-विचित्र नामभेद किये हैं। एक वादीके मतसे मन जड है तो दूसरेके मतसे वह जीवसे भिन्न है। तीसरेके मतसे वह अहंभावनाका प्रतीक है तथा चौथे वादीके मतानुसार उसका नाम बुद्धि है।

रघुनन्दन ! अन्तःकरणके एकरूप होनेके कारण उसकी संकल्प आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके भेदसे निर्मित जो अहंकार, मन और बुद्धि आदि नाम मैंने बताये हैं, उनकी नैयायिकोंने अन्य प्रकारसे कल्पना की है। सांख्यों और चार्वाकोंने भी उनकी विभिन्न रूपोंमें कल्पना की है। मीमांसक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक तथा पाञ्चरात्र आदि अन्य विभिन्न वादियोंने भी अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार उन नामोंकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे कल्पना कर रक्खी है। जैसे बहुत-से राहगीरोंका एक ही नगरमें जाना होता है, उसी प्रकार उन सभी वादियोंका गन्तव्य स्थान एकमात्र पारमार्थिक पद ही है। परम पदमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले वे जिज्ञासु-जन परमार्थ-वस्तुको न समझने तथा विपरीत बुद्धिको अपनानेके कारण अनेक प्रकारके विकल्पोंद्वारा केवल विवाद या तर्क-वितर्क करते हैं। जैसे विचित्र देश-कालमें उत्पन्न हुए पथिक अपनी विभिन्न दृष्टिके अनुसार अपने-अपने गन्तव्य मार्गकी प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों और कालोंमें पैदा हुए वे सभी वादी दृष्टिभेदके कारण अपने-अपने मार्ग (मत) का समर्थन करते हैं। यह सब कुछ चित्त ही है, ऐसा अनुभव प्रायः सभी लोगोंको होता है; क्योंकि यदि चित्तका सहयोग न हो तो मनुष्य इस संसारको देखकर भी नहीं देख पाता। मनको साथ रखनेपर ही पुरुष भली-बुरी वस्तुको सुनकर, छूकर, देखकर, आस्वादन-कर और सूँघकर अपने भीतर हर्ष तथा विषादका अनुभव करता है। जैसे विभिन्न रूपोंके दर्शनमें प्रकाश कारण है, उसी प्रकार विभिन्न विषयोंके अनुभवमें मन ही कारण है।

जिस पुरुषका चित्त विषयोंमें बँधा हुआ है, वह बन्धनमें पड़ता है तथा जिसका चित्त कर्मवासनाके

बन्धनसे रहित है, वह मुक्तिको प्राप्त होता है। मनके एकमात्र ब्रह्माकार होनेपर संसारका लय हो जाता है। यदि चित्तसे पृथक् जगत्की सत्ता होती तो जिसका चित्त लीन हो गया है, उस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायकी दृष्टिमें सारे जगत्का लय क्यों हो जाता (अतः चित्तसे अतिरिक्त जगत् नहीं है)। जैसे एक ही काल विभिन्न ऋतुओंके कारण नाना रूपोंमें प्रकट होता है, उसी तरह एक ही मन विभिन्न कर्मोंके कारण विचित्र आकार धारण कर लेता और अनेक नामोंसे प्रतिपादित होता है। जैसे चेतन मकड़ीसे जड तन्तुकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार नित्य-प्रबुद्ध पुरुष परब्रह्म परमात्माके संकल्पसे जड प्रकृति एवं प्राकृत पदार्थ प्रकट होते हैं।
(सर्ग ९६)

मनके द्वारा जगत्के विस्तार तथा अज्ञानीके उपदेशके लिये कल्पित त्रिविध आकाशका निरूपण एवं मनको परमात्मचिन्तनमें लगानेकी आवश्यकता

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्! आपके पूर्वोक्त कथनसे यह तात्पर्य प्रकट होता है कि यह जगत्रूपी आडम्बर मनसे ही आविर्भूत हुआ है। अतः यह जगत् मनका ही कार्य है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे मरु प्रदेशका प्रचण्ड घाम अपनेमें मृगतृष्णारूपी जलका भ्रम ग्रहण करता है, उसी प्रकार दृढ़भावनासे अनुरञ्जित हुए मनने ही स्वयं-प्रकाश आत्मापर आवरण डालनेवाले जड जगत्को स्वीकार किया है। मैं ऐसा मानता हूँ कि विविध प्रकारके आचार-आकाश-प्रदेश, ग्राम और नगर आदिका रूप धारण करनेवाली विस्तृत आकृतिके द्वारा मन ही अपने स्वरूप-का विस्तार कर रहा है। ऐसी स्थितिमें शरीरोंके समुदाय तृण, काष्ठ और लता आदिके समान हैं। अतः उनके विचारसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा। हमें तो इनके मूलभूत केवल मनका ही विचार करना चाहिये। मैं समझता हूँ कि यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत् मनसे ही व्याप्त है। मनसे भिन्न तो केवल परमात्मा ही शेष रहते हैं। परमात्मा सर्वातीत, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं, परमात्माके ही प्रसादसे मन सम्पूर्ण संसारमें दौड़ लगाता एवं नाचता-कूदता है। मेरे मतमें मन ही क्रिया है और वही विभिन्न शरीरोंका कारण है। मन ही जन्म लेता और मरता है; क्योंकि ऐसे गुण (भाव-विकार) आत्मामें नहीं हैं। मेरी रायमें मन ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका विचार करनेसे वह स्वयं विहीन हो जाता है। मनका विलय होनेमात्रसे परम श्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है। भ्रम उत्पन्न करनेवाली मन नामकी क्रियाका क्षय होनेपर जीव मुक्त कहा जाता है। वह फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता है।

श्रीराम! जिनका भीतरी भाग अत्यन्त विस्तृत है, ऐसे तीन आकाश विद्यमान हैं। पहला चित्ताकाश, दूसरा चिदाकाश और तीसरा भूताकाश। जो बाहर और भीतर परिपूर्ण है, जगत्की उत्पत्ति और विनाशका ज्ञाता है तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें व्यापक है; वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही चिदाकाश कहलाता है। जो इन्द्रियों और महाभूतोंसे श्रेष्ठ है, कालकी कलना जिसका स्वभाव है और जिसने अपने संकल्पके द्वारा इस सम्पूर्ण जगत्का विस्तार किया है, वह समस्त प्राणियोंका हितकारी संकल्पात्मक मन ही चित्ताकाश कहा जाता है। दसों दिशाओंके मण्डलाकार विस्तारसे भी जिसका कलेवर सीमित नहीं होता तथा जो वायु और मेघ आदिका आश्रय है, वह भूतात्मक आकाश ही भूताकाश कहलाता है। भूताकाश और चित्ताकाश—ये दोनों परब्रह्म परमात्मरूप चिदाकाशकी शक्तिसे उत्पन्न हुए हैं। जैसे दिन अपनी सन्निधिमात्रसे समस्त कार्य-

समूहोंके सम्पादनमें कारण होता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा भी अपने सकाशमात्रसे सबके कारण हैं। जिसे आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है, उसीके लिये तीन आकाशोंकी कल्पना हुई है। उसीको उपदेश देनेके लिये त्रिविध आकाशकी कल्पना की जाती है। जिसे आत्मतत्त्वका बोध हो गया है उसके लिये यह कल्पना नहीं है। आत्मज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें तो सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही नित्य विराजमान हैं। अज्ञानी पुरुषको ही अनेक प्रकारकी वाक्य-रचनासे युक्त द्वैत एवं अद्वैतके भेदोंका निरूपण करते हुए तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया जाता है। ज्ञानी पुरुषको किसी तरह भी ऐसा उपदेश नहीं दिया जाता।

निष्पाप श्रीराम! मन जिस किसीसे भी उत्पन्न हुआ हो और जो कुछ भी उसका स्वरूप हो, उसकी उधेड़-बुनमें न पड़कर बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह उसे नित्य प्रयत्नपूर्वक अपनी मुक्तिके लिये परमात्मामें लगाये। रघुकुलतिलक! परमात्मामें लगाया हुआ चित्त वासनारहित एवं शुद्ध हो जाता है। तत्पश्चात् वह कल्पनाशून्य होकर परमात्मभावको प्राप्त हो जाता है। श्रीराम! यह सारा चराचर जगत् चित्तके अधीन है। इसलिये बन्धन और मोक्ष भी चित्तके ही अधीन हैं। (अतः मनुष्यको उचित है कि वह मोक्ष-प्राप्तिके लिये चित्तको परमात्मचिन्तनमें लगाये।)

चिरकालतक चित्तके निरोधकी रक्षा करने और दीर्घकालतक परमात्माका चिन्तन करनेसे अभ्यासवश शून्यताको प्राप्त होकर मन फिर शोक नहीं करता। मनके प्रमादसे नाना प्रकारके दुःख बढ़ते हैं और बढ़कर पर्वत-शिखरके समान हो जाते हैं तथा उसीको वशमें कर लेनेसे ज्ञानका उदय होनेके कारण वे सारे दुःख उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके सामने बर्फका ढेर गल जाता है। यदि मन शास्त्रोंके अर्थज्ञानसे उत्पन्न हुई अनिन्द्य वासनासे युक्त हो राग आदिके विषयमें मौन (निरोध) का आश्रय ले जीवनपर्यन्त मुनिकी तरह रमता है तो आगे चलकर पावनको भी पावन बनानेवाले, जन्मरहित, शीतल (शान्तिमय) परिपूर्ण ब्रह्मपदको प्राप्त करके उसीमें स्थित हुआ जीवन्मुक्त पुरुष बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंमें पड़नेपर भी कभी शोक नहीं करता।

(सर्ग ९७—९९)

मनकी परमात्मरूपता, ब्रह्मकी विविध शक्ति, सबकी ब्रह्मरूपता, मनके संकल्पसे ही सृष्टि-विस्तार तथा वासना एवं मनके नाशसे ही श्रेयकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जैसे जल-जातिका बोध रखनेवाले पुरुषोंकी दृष्टिमें तरङ्ग समुद्रसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार इस लोकमें जिन्हें परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया है, उनकी दृष्टिमें उनका मन भी परब्रह्म परमात्मा ही है, उनसे भिन्न नहीं। रघुनन्दन! अज्ञानी पुरुषोंका मन ही संसाररूपी भ्रमका कारण है (अथवा जन्म-मरणरूपी संसारमें भटकानेका हेतु है)—जैसे जो लोग जल-सामान्यपर दृष्टि नहीं रखते, उन्हींको समुद्रके जल और तरङ्गमें भेद प्रतीत होता है। अज्ञानियोंके पक्षमें उन्हें केवल ज्ञानका उपदेश देनेके लिये ही वाच्य-वाचक-सम्बन्धजनित भेदकी कल्पना की जाती है। परब्रह्म परमात्मा सर्वशक्तिमान्, नित्य, परिपूर्ण एवं अविनाशी है, उन सर्वव्यापी परमात्मामें जो न हो, ऐसी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है। भगवान् सम्पूर्ण शक्तियोंसे परिपूर्ण हैं। उन्हें जब जो शक्ति रुचती है, तब उसी अनन्त शक्तिको वे सर्वव्यापी परमात्मा प्रकाशित करते हैं (उपयोगमें लाते हैं)। श्रीराम! प्राणियोंके शरीरोंमें ब्रह्मकी चेतन-शक्ति दिखायी देती है। इसी तरह प्रवह आदि वायुओंमें ब्रह्मकी स्पन्दशक्ति, प्रस्तरमें जड-शक्ति, जलमें द्रव-शक्ति, अग्निमें तेजस्‌शक्ति, आकाशमें शून्य-शक्ति और जगत्‌की

स्थितिमें उनको भाव (सत्ता)-शक्ति विद्यमान है। ब्रह्मकी सम्पूर्ण शक्ति दसों दिशाओंमें व्याप्त दिखायी देती है। विनाशकालमें नाशशक्ति, शोकयुक्त प्राणियोंमें शोक-शक्ति, प्रसन्न जीवोंमें आनन्दशक्ति, योद्धामें वीर्यशक्ति, सृष्टिकालमें सर्गशक्ति और प्रलयकालमें उनकी सर्वशक्ति-मत्ता दृष्टिगोचर होती है। जैसे वृक्षके बीजमें फल, फूल, लता, पत्र, शाखा-प्रशाखा तथा जड़सहित वृक्ष अव्यक्त-रूपसे विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है।

रघुनन्दन! अब इस जगत्‌को और अहंतत्त्व (जीव) को तुम ब्रह्मरूप ही देखो। वह परब्रह्म परमात्मा सर्व-व्यापी है। उसका महान् (अनन्त) स्वरूप नित्य प्रकाशमान है। वही ब्रह्म जब किंचित् मननशक्तिको धारण करता है, तब मन कहलाता है। जैसे आकाशमें भ्रमवश मोरके पंखोंकी प्रतीति होती है और जैसे जलमें आवर्त-बुद्धि होती है, उसी तरह मनमें ब्रह्मकी प्रतीति होती है। शत्रुसूदन श्रीराम! यह जो मनका मननात्मक रूप प्रकट हुआ है, वह ब्रह्मकी शक्ति ही है; इसलिये वह ब्रह्म ही है। 'इदं' (यह), 'तत्' (वह) और 'अहं' (मैं)—यह सब भेद प्रतीतिमात्र ही है, वास्तविक नहीं। जैसे निश्चल और निर्मल जलराशिमें अपने-आप स्पन्द (कम्पन) होता है, उसी तरह परमात्मामें यह जीव पूर्वकर्म और वासनाके अनुसार प्रकट हुआ है। यही संसारका कारण है। श्रीराम! जैसे समुद्रका जल ही कल्लोल, ऊर्मि और तरङ्ग-समुदायके रूपमें सब ओर स्थित रहता है, उसी तरह ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है। जैसे विविध तरङ्गोंसे व्याप्त विशाल महासागरमें जलके अतिरिक्त दूसरी कोई कल्पना या सत्ता नहीं है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें नाम-रूप क्रियात्मक संसारकी ब्रह्मसे अतिरिक्त सत्ता नहीं है। यह जो कुछ जगत् जन्म लेता, नष्ट होता, गमन करता अथवा स्थित रहता है, वह सब ब्रह्मके द्वारा ब्रह्ममें ब्रह्म ही वर्तता है। करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण और स्थिति—ये सब ब्रह्म ही हैं। उसके बिना दूसरी कोई कल्पना ही नहीं। यह सारा जगत् परमात्मा ही है। जो कुछ यह संकल्प-क्रम है, वह सब भी परमात्मा ही है। जैसे सुवर्ण बाजूबंदके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार परमात्मा मनरूपसे प्रकट हुआ है; इसलिये मन भी परमात्मा ही है।

राघव! बन्धन और मोक्ष आदिका कोई सम्मोह ज्ञानीको नहीं होता। मोहजनित बन्धन और मोक्ष आदि तो अज्ञानीको ही होते हैं।

निष्पाप श्रीराम! विकल्प-जालसे परिपूर्ण यह संसार-रचना प्रतीतिमात्र ही है, जो बन्ध, मोक्ष आदिकी कल्पनाओंके रूपमें विस्तारको प्राप्त हो रही है। वास्तवमें यहाँ संकल्पमात्रके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ विकल्परूप प्रतीत होता है, वह संकल्पके कारण ही प्रतीतिका विषय होता है। वह वास्तवमें कुछ नहीं है; अथवा कुछ है अर्थात् परमात्माका संकल्पमात्र है। स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ—ये सब अपने स्वप्नके समान मनके संकल्पमात्रसे ही विकसित हुए हैं। जैसे केवल जलमय चञ्चल समुद्र अपने स्वरूपभूत जलमें स्वयं ही स्फुरित होता है, उसी तरह परमात्मामें एकमात्र संकल्प ही सब ओर स्फुरित हो रहा है। पहले परमात्मामें एकमात्र संकल्प ही प्रकट हुआ। वही संकल्प सूर्यके व्यापारोंसे बढ़नेवाले दिनकी भाँति लोगोंके विविध व्यापारोंसे विस्तारको प्राप्त हुआ है।

वस्तुतः भेदरहित परमात्मामें अहंकार नहीं है। जैसे सूर्यकी प्रचण्ड धूपमें भ्रमवश मृगतृष्णारूपिणी नदीकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार असम्यक्-दृष्टि (अज्ञान) के कारण ही परमात्मामें अहंकारका भान होता है। मनरूपी चिन्तामणिके द्वारा कल्पित जो महान् आरम्भ (कार्यसमूहकी सृष्टि) है, वही संसाररूपमें देखा जाता है। जैसे जल अपने स्वरूपका आश्रय लेकर स्वयं ही

तरङ्ग आदिके रूपमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्माका आश्रय लेकर मन स्वयं ही संसारके रूपमें स्फुरित होता है। अद्वितीय परमात्मामें अज्ञानके कारण भेद और अभेदकी भ्रान्ति हो रही है। इस भ्रमका बाध होनेपर जब यह सब कुछ ब्रह्मतत्त्वके रूपमें ही अवशिष्ट रह जाता है, तब यहाँ कौन बद्ध है और कौन मुक्त होता है? जबतक ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होता, तभीतक देह आदिके पीड़ित होनेपर यह पीड़ारहित जीव भी पीड़ासे युक्त-सा प्रतीत होता है। अच्छेद्य होनेपर भी देहके किसी अङ्गके कट जानेपर तमतमा उठता है। परंतु जब परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, तब ये बातें नहीं होतीं; क्योंकि परमात्मामें भेद, अभेद, विकार और पीड़ा—कुछ भी नहीं है।

यह शरीर गिर जाय या उठ खड़ा हो अथवा आकाशके भीतर चला जाय, उससे विलक्षण रूपवाले मुझ आत्माकी क्या हानि है? श्रीराम! मन ही सम्पूर्ण जगत्का शरीर है। मनकी कारणभूत आद्याशक्ति-रूप चिन्मय परमात्माका कभी नाश नहीं होता। यह वासना इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्ट वस्तुमें द्वेषके कारण बन्धनमें डालनेवाली मनकी ही शक्ति है। इसीके द्वारा व्यर्थ भ्रमसे स्वप्नकी भाँति इस जगत्की कल्पना हुई है। यह वासना अविद्या है। ज्ञानके बिना इसका अन्त होना बड़ा कठिन है। यह केवल दुःख देनेके लिये ही बढ़ती है। इसके स्वरूपका ज्ञान न होनेसे ही यह इस मिथ्या प्रपञ्चका विस्तार करती है। इस मानसी-शक्ति वासनाने ही इस विशाल जगत्को दीर्घकालतक रहनेवाले स्वप्नके समान रचा है। यह है तो असत्, किंतु सत्-सा प्रकट हुआ जान पड़ता है। आरम्भमात्र ही इसका फल है अर्थात् यह निस्सार एवं आपातरमणीय है। मनका नाश ही महान् अभ्युदय—परम पुरुषार्थकी प्राप्ति है और वही समस्त दुःखोंके समूल नाशका उपाय है। निरन्तर सुख-दुःखरूपी वृक्ष-समूहोंसे भरपूर और क्रूर कालरूपी विषैले सर्पके निवास-स्थान इस समस्त संसाररूपी वनमें यह विवेकहीन मन ही बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका एकमात्र कारण और प्रभु है।

महर्षि वसिष्ठके इतना उपदेश दे लेनेपर दिन बीत गया, सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये। उस राजसभामें बैठे हुए ऋषि-मुनि तथा अन्य सभासद् सायंकालिक कृत्य (संध्योपासना और अग्निहोत्र आदि) करनेके लिये स्नानके उद्देश्यसे उन महामुनिको नमस्कार करके चले गये तथा रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके साथ ही वे सब सभासद् फिर वहाँ आ गये। (सर्ग १००—१०२)

जगत्की चित्तरूपता, वासनायुक्त मनके दोष, मनका महान् वैभव तथा उसे वशमें करनेका उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जैसे सागरसे उसकी बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मासे इस चित्तरूपी तरङ्गका उत्थान हुआ है। यही अपने संकल्पसे विशालताको प्राप्त होकर चारों ओर इस भुवनका विस्तार करता है। सब प्रकारकी वस्तुओंसे सम्पन्न यह जो कुछ भी चराचर जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, सब-का-सब चित्तके संकल्पसे ही प्रकट हुआ है। श्रीराम! जैसे छोटा बच्चा घरमें कीचड़ या गीली मिट्टीसे विचित्र खिलौने बनाता है, वैसे ही मन अपने संकल्पसे विकल्परूपी जगत्की सृष्टि करता है। जैसे ऋतुओंका निर्माण करनेवाला काल विभिन्न ऋतुओंमें वृक्षका कुछ और-ही विलक्षण रूप कर देता है, उसी प्रकार चित्त भी इन सब पदार्थोंको विलक्षण-सा बना देता है। जैसे वृक्षसे पल्लव प्रकट होते हैं, उसी प्रकार मनके संकल्पसे व्यामोह, सम्भ्रम, अनर्थ, देश, काल, गमन और आगमन—ये सब-के-सब उत्पन्न होते हैं। जैसे जल ही समुद्र है और उष्णता ही अग्नि है, उसी प्रकार चित्त ही विविध व्यापारोंसे पूर्ण संसार है (क्योंकि वह उसीके संकल्पसे उत्पन्न हुआ है)।

कर्ता, कर्म और करणके साथ जो यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्यसे सम्पन्न संसार प्राप्त हुआ है, वह सब-का-सब चित्त ही है। जैसे सुवर्ण-तत्त्वकी परीक्षा करनेवाला पुरुष बाजूबंद, मुकुट, कड़ा और हार आदि आकारोंसे सुशोभित उसके विविध रूपोंको छोड़कर एकमात्र सुवर्णमें ही बुद्धिको लगानेपर वास्तविक सुवर्णको देख पाता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष भी विभिन्न लोकों, उनके भीतरके भुवनों और उनके भी भीतर फैले हुए वनान्तर आदि समस्त वस्तुओंको त्यागकर जब यह समझ लेता है कि इन सबके रूपोंमें अपने ही स्वरूप-भेदसे—अपने ही संकल्प-विकल्पोंसे चित्त स्वयं ही प्रकट हुआ है, तब यह सारा जगत् उसे चित्तरूप ही दिखायी देता है; फिर चित्तके सिवा दूसरी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती।

जैसे बालिका वेतालोंका विस्तार करती है, उसी प्रकार अत्यन्त तुच्छ वासनारूपी सहस्रों दोषोंसे मलिन हुई मनोवृत्ति, जो नहीं है उस दुःखका भी पूर्णरूपसे विस्तार करती हैं; किंतु जो वासनारूप कलङ्कसे मलिन नहीं हुई है—निष्कलङ्क है, वह मनोवृत्ति महान् दुःख विद्यमान हो तो भी उसे उसी प्रकार क्षणभरमें मिटा देती है, जैसे सूर्यकी प्रभा अन्धकारको। वासनायुक्त अज्ञानी चित्तको जहाँ भय नहीं है, वहाँ भी भय दिखायी देता है। जैसे भ्रममें पड़े पथिकको ठूठा काठ दूरसे पिशाच-जैसा जान पड़ता है। कलङ्कसे मलिन हुआ मन मित्रमें भी शत्रुभावकी आशङ्का करता है, जैसे नशेमें चूर हुआ प्राणी इस पृथ्वीको घूमती हुई देखता है। मनके व्याकुल होनेपर चन्द्रमासे भी वज्रपात होता जान पड़ता है। विष-बुद्धिसे भक्षण किया गया अमृत भी विषका काम करता है। मनकी उत्कट वासना ही जीवके लिये एकमात्र मोहका कारण है, अतः यत्नपूर्वक उसीकी जड़ काटकर उसे उखाड़ फेंकना चाहिये। मनुष्योंका मनरूपी हिरन संसाररूपी वनकी झाड़ीमें वासनारूपी जालसे आकृष्ट हो बड़ी विवशताको प्राप्त हो जाता है। जिस विचारसे जीवकी ज्ञेय-पदार्थसम्बन्धिनी वासना कट जाती है, उसका प्रकाश बादलोंके आवरणसे रहित सूर्यकी प्रभाके समान प्रकाशित होता है। अतः तुम मनको ही मानव समझो, इस स्थूल देहको नहीं। देह जड है; किंतु इनके भीतर रहनेवाले मनको न जड माना जाता है न अजड। तात! निष्पाप रघुनन्दन! मनने जो कर दिया, उसीको किया हुआ समझो और मनने जिसे छोड़ दिया, उसीको छोड़ा हुआ मानो। यह सारा जगत् एकमात्र मन ही है। मन ही सम्पूर्ण भूमण्डल है। मन ही आकाश, मन ही भूमि, मन ही वायु और मन ही महत्तत्त्व है। यदि मन सूर्य आदि पदार्थमें प्रकाश आदिरूपसे अपने-आपको योजित न करे तो ये सूर्य आदि भी कभी प्रकाशित न हों। जिसका मन मोहको प्राप्त होता है, वही मूढ़ कहलाता है; यदि शरीर मोहको प्राप्त हो तो उसके शवको कोई मूढ़ नहीं कहता। मन जब देखता है तब नेत्र बन जाता है, सुनता है तब श्रवण या कान बन जाता है, स्पर्शका अनुभव करनेसे वही त्वगिन्द्रियका रूप ग्रहण करता है, सूँघनेसे घ्राणेन्द्रिय और रसास्वादन करनेसे रसनेन्द्रिय हो जाता है। जैसे नाटकमें एक ही नट अनेक भूमिकाओं (विविध रूपों) में देखा जाता है, उसी प्रकार देहके भीतर इन विचित्र इन्द्रिय-वृत्तियोंमें केवल मनकी ही अनुवृत्ति होती है। मन छोटेको बड़ा बना देता, सत्य पदार्थमें असत्ता स्थापित कर देता, स्वादिष्टको कड़ुआ बनाता और शत्रुको मित्र बना लेता है।

यदि भगवत्-स्मरण आदि मनोहर मनोवृत्तिका उदय हो तो रौरव नरकका दुःख भी सुखके रूपमें परिणत हो जाता है। जिसे कल सवेरे राज्य मिलनेका विश्वास है, वह यदि कारागारमें अच्छी तरह बँधा हो तो भी उसका वह बन्धन दुःखद नहीं होता। मनके जीत लिये जानेपर सारी इन्द्रियाँ स्वतः वशमें हो जाती हैं। श्रीराम! सर्वत्र विद्यमान, स्वच्छ, निर्विकार, सम, सूक्ष्म, साक्षिस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनुगत, चेत्य पदार्थोंसे अभिन्न तथा चिन्मात्ररूप जो आत्मसत्ता है, उससे उपलक्षित जो

वाग् आदि सब क्रियाओंसे रहित ब्रह्म है, उसे भी यह मन देहके तुल्य और जड बनाकर अन्तःकरणमें काम-संकल्प-रूप भ्रान्तिसे और बाहर पर्वत, नदी, समुद्र, आकाश एवं नगर आदिकी लीलासे युक्त हो व्यर्थ घूमता रहता है।

जिसे चित्तने देखा है, वहीं वस्तु देखी गयी मानी जाती है। यदि चित्तने नहीं देखा तो सामने रक्खी हुई वस्तु भी नहीं दिखायी देती। जैसे अन्धकारमें नील रूपकी कल्पना का गयी है, उसी तरह मनने अपनेमें ही इन्द्रियोंका निर्माण कर रक्खा है। इन्द्रियोंसे मन साकार होता है और मनसे इन्द्रियाँ। इस प्रकार यद्यपि दोनों समान हैं, तथापि इनमें मन ही उत्कृष्ट है; क्योंकि मनसे इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, इन्द्रियोंसे मन नहीं। इस तरह चित्त और शरीर एक-दूसरेसे अत्यन्त भिन्न होनेपर भी जिनकी दृष्टिमें इन दोनोंकी एकता है अर्थात् जो चित्त और शरीर दोनोंको जड-कोटिमें मानकर उन्हें एक-सा समझते हैं, वे ज्ञेय आत्माके ज्ञाता परम ज्ञानी महात्मा हम सबके लिये वन्दनीय हैं। जब मन अन्यत्र आसक्त होता है—किसी दूसरे काममें उलझा रहता है, तब बड़े यत्नसे कही जाती हुई कथाका क्रम भी टूट जाता है। स्वप्नमें जब मन उल्लासको प्राप्त होता है, तब हृदयके भीतर ही निर्मित हुए नगर एवं पर्वत आदि विस्तृत आकाशमें निर्मित नगर और पर्वत आदिके समान अपने-अपने कार्यको करनेमें समर्थ दिखायी देते हैं। जैसे चञ्चल समुद्र अपने-आपमें ही तरङ्गमालाओंका विस्तार करता है, उसी तरह मन स्वप्नावस्थामें अपनेसे विक्षिप्त हुए हृदयमें ही पर्वत और नगरोंकी श्रेणीको फैला देता है। जैसे समुद्रके भीतर जलसे तरङ्गमालाएँ और छोटी-छोटी लहरें प्रकट होती हैं, उसी तरह देहके भीतर मनसे ही स्वप्नगत पर्वत और नगरोंकी पंक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। जैसे पत्र, लता, फूल और फलकी शोभा अङ्कुरका ही स्वरूप है—उससे भिन्न नहीं, उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्नकी विलास-भूमियाँ मनका ही विकास हैं, मनसे भिन्न नहीं। जैसे सुवर्णकी नारी-प्रतिमा सुवर्णसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्नावस्थाकी क्रिया-लक्ष्मी चित्तसे पृथक् नहीं है। जैसे जलका वैभव ही धारा, जलकण, तरङ्ग और फेन आदिकी शोभाके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार जगत्के विविध पदार्थोंके रूपमें यह चित्तका ही विचित्र वैभवशाली नानात्व प्रकट हुआ है। जैसे नट शृङ्गार आदि रसके आवेशसे विभिन्न भूमिका (वेश-वैचित्र्य) को ग्रहण करता है, उसी प्रकार अपनी चित्त-वृत्ति ही यहाँ रागके आवेशसे जाग्रत् और स्वप्नगत दृश्य-प्रपञ्चके रूपमें उदित होती है।

सब ओर फैला हुआ वासनारूढ मन विषयोंके मननसे अतिशय मोहको प्राप्त हो अपने संकल्पके अनुसार विभिन्न प्रकारकी योनि (जन्मस्थान), सुख-दुःख तथा भय-अभयको प्राप्त होता है। जैसे तिलमें तेल रहता है, उसी तरह मनमें सुख और दुःख रहते हैं। वे ही देश और कालका प्रभाव पड़नेसे कभी घनभूत हो जाते हैं और कभी अत्यन्त सूक्ष्म। मनःशरीरके संकल्पके सफल होनेपर ही स्थूल-शरीर शान्ति एवं उल्लासको प्राप्त होता है, आता-जाता है और उछलता-कूदता है। वह स्वतन्त्र-रूपसे कुछ नहीं करता। जैसे साध्वी स्त्री अन्तःपुरके आँगनमें ही अपने संकल्पसे उदित विविध एवं विस्तृत उल्लासोंके साथ क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार मन इस देहके भीतर अपने संकल्पोंद्वारा कल्पित अनेक प्रकारके बढ़े हुए उल्लासजनक भावोंसे क्रीडा-विलास करता है। इसलिये जो पुरुष अन्तःकरणमें मनको चपलता (विषय-चिन्तन) के लिये अधिक अवसर नहीं देता, उसका वह मन खंभेमें बँधे हुए हाथीके समान स्थिर होकर लयको प्राप्त हो जाता है। निष्पाप रघुनन्दन! जिसका मन एक लक्ष्यमें स्थिर होकर अपनी चपलताका त्याग कर चुका है, वह ध्यानके द्वारा सर्वोत्तम पद (परब्रह्म परमात्मा) से संयुक्त हो जाता है। जैसे मन्दराचलके स्थिर हो जानेपर क्षीरसागर शान्त हो गया था, उसी प्रकार मनके संयमसे संसाररूपी भ्रान्तिका शमन हो जाता है।

(सर्ग १०३-११०)

चित्तरूपी रोगकी चिकित्साके उपाय तथा मनोनिग्रहसे लाभ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! यह चित्त एक महान् रोग है। इसकी चिकित्साके लिये एक बहुत बड़ी औषध है, जो अभीष्टसाधक, निश्चितरूपसे लाभ पहुँचानेवाली, परम स्वादिष्ट और अपने ही अधीन है; उसे बताता हूँ, सुनो। रागके विषयभूत बाह्य विषयोंका परित्याग करके परमात्मचिन्तनरूपी अपने ही पुरुषार्थमय प्रयत्नसे चित्तरूपी बेतालपर शीघ्र विजय पायी जाती है। जो अभीष्ट वस्तु (बाह्य विषयभोग) को त्यागकर चित्तके राग आदि रोगोंसे रहित हो स्वस्थ रहता है, उसने अपने मनको उसी प्रकार जीत लिया है, जैसे मजबूत दाँतोंवाला हाथी खराब और कमजोर दाँतवाले हाथीको जीत लेता है। स्वसंवेदन (आत्मा या परमात्माके निरन्तर चिन्तन) रूपी प्रयत्नसे चित्तरूपी बालकका पालन किया जाता है अर्थात् उक्त यत्नसे उसके राग और चपलता आदि रोगोंकी चिकित्सा करके उसे स्वस्थ बनाया जाता है। उसे अवस्तु (मिथ्या अथवा अनात्मवस्तु) से हटाकर वस्तु (सत्य अथवा आत्मतत्त्व) में लगाया जाता है तथा उसे बोधसे सम्पन्न किया जाता है। जैसे बालकको प्यार या भय दिखाकर बिना प्रयत्नके ही इधर-उधर जहाँ चाहे लगाया जा सकता है, उसी प्रकार भावोंसे मनको भी अनायास ही अन्तरात्मामें लगाया जा सकता है। ऐसा करनेमें कठिनाई ही क्या है?

भविष्यमें अभ्युदयरूपी फलको देनेवाले सत्कर्म (समाधिके अभ्यास) में लगे हुए मनको अपने पुरुषार्थसे ही चेतन परमात्माके साथ संयुक्त करे। जो सर्वथा अपने अधीन और परम हितकर है, वह अभीष्ट वस्तुका त्यागरूपी वैराग्य जिसके लिये कठिन हो गया है, वह मनुष्य नहीं, विषयोंका कीड़ा है। उसे धिक्कार है। जैसे कोई पहलवान किसी बालकको अनायास ही पछाड़ देता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धिसे अरम्य विषय-समूहमें परम रमणीय परब्रह्म परमात्माकी भावना करके मनको बिना यत्नके ही जीत लिया जा सकता है। पौरुषरूपी प्रयत्नसे चित्तको शीघ्र ही जीत लिया जाता है। जो चित्तको जीतकर उसके प्रभावसे रहित हो गया है, वह बिना किसी प्रयासके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है। अपने चित्तपर आक्रमण करके उसे वशमें कर लेनामात्र जो सहजसाध्य और स्वाधीन कार्य है, उसे ही जो लोग नहीं कर सकते, वे पुरुष नहीं, गीदड़ हैं। उन्हें धिक्कार है। एकमात्र अपने पौरुषसे ही सिद्ध होनेवाला जो अभीष्ट वस्तुका त्यागरूपी मनोनिग्रहकर्म है, उसके बिना शुभगति नहीं हो सकती। अभीष्ट बाह्य विषयोंका स्मरण न करना अथवा मनोवाञ्छित मोक्ष-सुखकी प्राप्ति कराना जिसका स्वरूप है, उस मुख्य साधन मनोनिग्रहके बिना गुरुका उपदेश, शास्त्रके अर्थका चिन्तन और मन्त्र आदि सारे साधन या युक्तियाँ तिनकेके समान व्यर्थ हैं*।

संकल्पोंके परित्यागरूपी शस्त्रसे जब चित्तरूपी वृक्षका समूल उच्छेद हो जाता है, तब साधक सर्व-स्वरूप सर्वव्यापी शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है। श्रीराम! जैसे दिग्भ्रम होनेपर पूर्वमें पश्चिमकी प्रतीति होने लगती है और वह अनुभवके विपरीत बुद्धि उस समय बिल्कुल स्थिर हो जाती है; परंतु विवेकरूपी पुरुष-प्रयत्नसे उस भ्रान्त बुद्धिका भी शीघ्र ही निवारण किया जा सकता है, उसी तरह मनको भी वैराग्यरूपी पुरुष-प्रयत्नसे शीघ्र ही जीता जा सकता है। मनमें उद्वेगका न होना राज्य आदि सम्पत्तिका मूल कारण है। उद्वेग या उकताहट न होनेसे ही जीवको अपने मनपर विजय प्राप्त होती है, जिससे तीनों लोकोंपर विजय पाना तृणके समान सहज हो जाता है। जो नराधम अपने मनके निग्रहमें भी समर्थ

* यह बात मनोनिग्रहकी प्रशंसाके लिये कही गयी है। गुरुके उपदेश और शास्त्रके अभ्यासको व्यर्थ बताना इसका उद्देश्य नहीं है। सद्गुरुके उपदेश और शास्त्रार्थ-चिन्तन कभी व्यर्थ नहीं जाते।

नहीं हैं, वे व्यवहार-दशाओंमें व्यवहारका निर्वाह कैसे कर सकेंगे । मैं पुरुष हूँ, मरा हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ और जी रहा हूँ इत्यादि कुदृष्टियाँ चञ्चल चित्तकी वृत्तियों ही प्रतीत होती हैं, जो बिना हुए ही प्रकट हुई हैं । यहाँ न तो किसीकी मृत्यु होती है और न कोई जन्म ही लेता है । मन स्वयं ही अपने मरणका तथा लोकान्तर-गमनका सङ्कल्पमात्रसे अनुभव करता है । जो नित्य सत्, सबका हितकारी, मायामयी मलिनतासे रहित और सर्व-व्यापी परमात्मा हैं, उनमें चित्तका लय हुए बिना मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है । इस बातका ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलके लोकोंमें रहनेवाले तत्त्वदर्शी विद्वानोंने बारंबार विचार किया है और सब-के-सब इसी निश्चयपर पहुँचे हैं कि चित्तकी शान्तिके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई उपाय है ही नहीं । ऋत, सत्य, व्यापक और निर्मल ज्ञानका हृदयमें उदय होनेपर मनके लय होनेमात्रसे परम शान्ति प्राप्त हो जाती है । यदि आपातरमणीय विषयोंको तुम-जैसे विद्वान्‌ने अरमणीय वस्तुओंकी कोटिमें समझ लिया है, तब तो मेरा विश्वास है कि तुमने चित्तके सारे अङ्ग काट डाले हैं । यह सामने दिखायी देनेवाला जो वह (पितासे उत्पन्न) शरीर है, वह मैं हूँ और यह जो घर, खेत आदि धन है, यह सब मेरा है । यह 'मैं' और 'मेरा' ही मन है । यदि यह मैं और मेरेपनकी भावना न की जाय तो उससे मन उसी तरह कट जाता है, जैसे हँसियासे तृण । जैसे शरद् ऋतुमें आकाशमें बिखरे हुए बादलोंके टुकड़े वायुद्वारा उड़ा दिये जाते हैं, उसी प्रकार मैं और मेरेपनकी कल्पना या भावना न करनेसे मन भी उड़ा दिया जाता है—नष्ट कर दिया जाता है । इसलिये कोई विज्ञ पुरुष जैसे अपने बालक पुत्रको अच्छे कर्ममें लगाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह अपने मनको कल्याणमें लगाये । जिसका नाश होना कठिन है तथा जो नूतन या बालक न होकर सयाना और दर्पसे भरा हुआ है, उस मनरूपी सिंहको, जो संसारका विस्तार करनेवाला है, जो लोग मार डालते हैं, वे निर्वाणपदका उपदेश देनेवाले महात्माजन इस संसारमें धन्य हैं । उनकी सदा ही विजय होती है । भले ही प्रलयकालके प्रचण्ड पवन प्रवाहित हों, चारों समुद्र एकमें मिलकर एकार्णव हो जायँ और बारहों सूर्य एक साथ तपने लगें; परंतु जिसका मन शान्त हो गया है, उस पुरुषकी कभी कोई हानि नहीं होती ।

(सर्ग १११)

मनोनाशके उपायभूत वासना-त्यागका उपदेश, अविद्या-वासनाके दोष तथा इसके विनाशके उपायकी जिज्ञासा

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे बर्फका रूप शीतलता और काजलका रूप कालिमा है, उसी प्रकार मनका रूप अत्यन्त चञ्चलता है ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! इस अत्यन्त चञ्चल मनके तीव्र वेग या चपलताका बलपूर्वक निवारण कैसे हो सकता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! इस जगत्‌में कहीं भी चपलतासे रहित मन नहीं देखा जाता । जैसे उष्णता अग्निका धर्म है, वैसे ही चञ्चलता मनका । चेतन तत्त्वमें जो यह चञ्चल क्रियाशक्ति विद्यमान है, उसीको तुम जगत्‌का आडम्बररूप मानसी शक्ति समझो । जैसे स्पन्दन और अस्पन्दनके बिना वायुके अस्तित्वका पता ही नहीं चलता, वैसे ही चञ्चल स्पन्दन (चेष्टा) के बिना चित्तका अस्तित्व ही नहीं है । जो मन चञ्चलतासे रहित है, वही मरा हुआ कहलाता है । वही तप है और वही शास्त्रका सिद्धान्तभूत मोक्ष कहलाता है । मनके विनाशमात्रसे सम्पूर्ण दुःखोंकी शान्ति हो जाती है और मनके संकल्पमात्रसे परम दुःखकी प्राप्ति होती है ।

श्रीराम ! मनकी जो यह चपलता है, वह अविद्यासे उत्पन्न होनेके कारण अविद्या कही जाती है। उस अविद्याका ही दूसरा नाम वासनापद है। उसका विचारके द्वारा नाश कर देना चाहिये। विषय-चिन्तनका त्याग कर देनेसे अविद्या और वासनामयी उस चित्त-सत्ताका अन्तःकरणमें लय हो जाता है और ऐसा होनेसे परम श्रेय (मोक्ष-सुख) की प्राप्ति होती है। पौरुष-प्रयत्नके द्वारा मनको जिस वस्तुमें भी लगाया जाता है, उसीको प्राप्त होकर वह अभ्यासवश तद्रूप हो जाता है।

जो संसार-सागरके वेगमें पड़कर तृष्णारूपी ग्राहकी दाढ़ोंमें फँस गये हैं और भ्रमरूपी आवर्तोंद्वारा दूर बहाये जा रहे हैं, उनके वहाँसे पार जानेके लिये अपना जीता हुआ मन ही नौकारूप है। जिसने परम बन्धनकारी मनरूपी पाशके अपने (जीते हुए) मनके द्वारा ही काटकर आत्माका उद्धार नहीं कर लिया, उसे दूसरा कोई बन्धनसे नहीं छुड़ा सकता। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि हृदयको वासित करनेवाली जो-जो वासना, जिसका दूसरा नाम मन है, उदित होती है उस-उसका परित्याग करे—उसे मिथ्या समझकर छोड दे। इससे (वासनात्मक मनके साथ ही) अविद्याका क्षय हो जाता है। भावनाकी भावना न करना ही वासनाका क्षय है। इसीको मनका नाश एवं अविद्याका नाश भी कहते हैं।

रघुनन्दन ! भ्रमसे दो चन्द्रमाओंकी प्रतीतिके समान यह वासना नित्य असत्य होती हुई ही सत्यके समान उठ खडी हुई है। इसलिये इसका त्याग कर देना ही उचित है। यहाँपर तत्त्व (अद्वितीय परब्रह्म) के सिवा न कोई सद् वस्तु है न असद् वस्तु। जैसे तरङ्ग-मालाओंसे परिपूर्ण विशाल महासागरमें जलराशिके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है (उसी तरह संसारमें ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई भाव या अभावरूप पदार्थ नहीं है)। यदि कर्मका फल सत्य हो तो कर्म उपादेय (ग्राह्य) होना चाहिये और यदि उसका फल मिथ्या हो तो वह कर्म सर्वथा हेय (त्याज्य) ही होना चाहिये, क्योंकि सब लोग एकमात्र उपादेय वस्तुमें ही आसक्त होते हैं। चूँकि कर्मका फल मिथ्या है, अतः उसमें आसक्त न होना ही उचित है। इन्द्रजालके समान यहाँ सब कुछ मायामय और अवास्तविक है; फिर उसमें क्या आस्था हो सकती है—कैसे हेय और उपादेय दृष्टियाँ हो सकती हैं। रघुकुलतिलक श्रीराम ! संसार-वृक्षकी बीज कणिकारूप जो यह अविद्या है, इसका अस्तित्व नहीं है, तो भी यह सत्तायुक्त वस्तुकी भाँति विस्तारको प्राप्त हुई है।

यह अविद्या मनोराज्यकी भाँति केवल कल्पित आकृति-मात्रसे भासित होती है। सत्यताका इसमें सर्वथा अभाव है। यद्यपि यह सैकड़ों, हजारों शाखाओंसे युक्त जान पड़ती है, तथापि वास्तवमें कुछ भी नहीं है। यह जंगलमें प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णाकी भाँति मिथ्या ही है, तो भी इसने व्यर्थ ही आडम्बर फैला रक्खा है। जैसे मृगतृष्णा उन भोले-भाले मृगोंको ही धोखेमें डालती है—मनुष्योंको नहीं, उसी प्रकार यह अविद्या अज्ञ पुरुषोंको ही धोखा देती है, विज्ञ पुरुषोंको नहीं। जैसे प्रलयकालकी आँधी भीषण रूप धारणकर धूलराशिसे व्याप्त हो बलपूर्वक तीनों लोकोंको आक्रान्त कर लेती है, उसी प्रकार अविद्या भी भयकर आकार धारणकर विचरती है। रजोगुणके आधिक्यसे वह धूसर जान पड़ती है और हठात् लोक-लोकान्तरोंको पददलित कर देती है। जैसे आकाशमें अकारण ही नीलिमा दिखायी देती है, उसी प्रकार यह अविद्या भी किसी कारणके बिना ही प्रतीतिका विषय होती है। दो चन्द्रमाओंके भ्रमकी भाँति इसकी उत्पत्ति हुई है। यह स्वप्नके समान भ्रम उत्पन्न करती है और जैसे नौकाद्वारा यात्रा करनेवाले लोगोंको तटवर्ती ठूँठे काठमें भी गतिशीलताकी प्रतीति होती है, वैसे ही यहाँ इस अविद्याका उत्थान हुआ है।

यह अविद्या जब चित्तको दूषित कर देती है, तब इससे व्याकुल हुए लोगोंको दीर्घकालतक संसाररूपी स्वप्नका भ्रम बना रहता है। विषयरूपी रथपर आरूढ़ हुई यह उद्भूत वासनारूपिणी प्रबल अविद्या मनको उसी तरह शीघ्र आक्रान्त कर लेती है, जैसे जाल पक्षीको फाँस लेता है। जैसे विवेक-बुद्धिसे विषय-बुद्धिका निरोध किया जाता है, उसी तरह प्रयत्नपूर्वक इस वासना-रूपिणी अविद्याका भी शीघ्र निरोध करना चाहिये। जैसे स्रोतोंको रोक देनेसे नदी सूख जाती है, उसी प्रकार अविद्याके निरोधसे यह मनोमयी नदी भी सूखकर नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजी बोले—ब्रह्मन्! यह अविद्या अविद्यमान (असत्) है, अत्यन्त तुच्छ है और मिथ्या भावनारूप है, तो भी इसने कोमलाङ्गी युवतीकी भाँति सारे जगत्‌को अंधा बना रक्खा है—यह बड़े आश्चर्यकी बात है। इसका न कोई रूप है न आकार। यह सुन्दर चेतनसे भी रहित है और असत् होकर भी नष्ट नहीं हो रही है। इसने सारे जगत्‌को अंधा बना रक्खा है, यह कैसा आश्चर्य है! यह सदा अनन्त दुःखोंसे व्याप्त, मृतकके तुल्य और संज्ञाहीन है; तो भी इसने जगत्‌को अंधा बना रक्खा है, यह विचित्र बात है। काम और क्रोध ही इसके सुदृढ़ अङ्ग हैं। तमोगुणकी अधिकतासे यह वक्र जान पड़ती है और ज्ञानका उदय होनेपर यह शीघ्र ही शरीररहित (नष्ट) हो जाती है; तो भी इसने जगत्‌को अंधा बना रक्खा है, यह कैसी अद्भुत बात है। अपने आत्मस्वरूप परमात्माके विषयमें जो अंधे (मूढ़) हैं, वे ही इस अविद्याके आश्रय हैं। यह जड है, जडतासे जीर्ण-शीर्ण है और दुःखसे अत्यन्त प्रलाप करनेवाली है; तो भी इसने जगत्‌को अंधा बना रक्खा है, यह कितने आश्चर्यकी बात है! प्रभो! अनन्त दुश्चेष्टारूप विलास करनेवाली, जन्म-मरण आदि सुख-दुःखका भागी बनानेवाली तथा मनरूपी गुहागृहमें बद्ध वासनावाली यह अविद्या, जिसकी कहीं समता नहीं है, किस उपायसे नष्ट होती है?

(सर्ग ११२-११३)

अविद्याके विनाशके हेतुभूत आत्मदर्शनका, विशुद्ध परमात्मस्वरूपका तथा असंकल्पसे वासनाक्षयका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! अविद्याके प्रभावसे उत्पन्न हुआ जो पुरुषका गहन एवं महान् अंधापन है, उसका निवारण कैसे होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जैसे ओस या पालेकी एक कणिका सूर्यका दर्शन होनेसे क्षणभरमें नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार होनेसे इस अविद्याका तत्काल नाश हो जाता है। यह अविद्या संसाररूपी पर्वतशिखरोंके तटवर्ती स्थानोंमें, जो गहन दुःखरूपी काँटोंसे सुशोभित होते हैं, अपने साथ देहाभिमानी जीवको तभीतक नीचे गिरानेके लिये आन्दोलित करती रहती है, जबतक उसका विनाश करनेवाली और मोहको क्षीण बना देनेवाली परमात्म-साक्षात्कारकी इच्छा स्वयं ही उत्पन्न नहीं हो जाती। जैसे सभी दिशाओंमें बारह सूर्योंके एक साथ उदित होनेपर छाया अपने-आप नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप सर्वव्यापी परमात्माका साक्षात्कार होनेपर यह अविद्या स्वयं ही विलीन हो जाती है। रघुनन्दन! बाह्य विषयोंकी इच्छामात्रको यहाँ अविद्या कहा गया है (क्योंकि अविद्यासे ही इच्छा उत्पन्न होती है)। इच्छा-मात्रका नाश ही मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष संकल्पके अभावमात्रसे सिद्ध होता है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर रात न जाने कहाँ चली जाती है, उसी प्रकार परमात्माके

यथार्थ ज्ञानका उदय होनेपर अविद्या न जाने कहाँ विलीन हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यह जो कुछ भी दृश्य-प्रपञ्च है, वह (अविद्यासे उत्पन्न होनेके कारण) अविद्या ही है और वह अविद्या परमात्माके चिन्तनसे नष्ट हो जाती है। तब कृपापूर्वक यह बताइये कि वह परमात्मा कैसा है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जो विषयोंके संसर्गसे रहित, असाधारण और अनिर्वचनीय चेतन तत्त्व है, वह परमेश्वर ही आत्मा या परमात्मा शब्दसे कहा गया है। निष्पाप श्रीराम! ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंग एवं पेड़-पौधों-तक जो यह तृण आदिरूप जगत् है, वह सब सदा परमात्मा ही है। यहाँ अविद्या कहीं नहीं है। यह सब नित्य चैतन्यघन अविनाशी एवं अखण्ड ब्रह्म ही है। यहाँ मन नामकी कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं। यहाँ तीनों लोकोंमें न कोई जन्म लेता है और न मरता ही है। जन्म-मरण आदि भाव-विकारोंका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। इस संसारमें केवल—अद्वितीय एकमात्र ज्ञान-स्वरूप, समानभावसे सबमें व्यापक, अखण्ड और विषय-संसर्गसे रहित सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है। उस नित्य, सर्वव्यापी, शुद्ध, चैतन्यघन, सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित, शान्त, सर्वत्र समभावसे स्थित, निर्विकार, विज्ञान-स्वरूप परमात्मामें जो यह आवरणसहित जीवात्मा चिन्मय स्वभावसे भिन्न—जड विषयरूप जगत्‌की स्वयं कल्पना करके दौड़ता है, वह अविद्यारूप आवरणसे मलिन हुआ चेतन जीवात्मा ही मनके रूपमें परिणत होनेके कारण 'मन' नामसे कहा गया है। जो संसार वास्तवमें कुछ नहीं है, वह एकमात्र—अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्तस्वरूप परमात्मामें संकल्पमात्रसे ही उत्पन्न हुआ है। अतः जैसे अग्निकी ज्वाला जिससे उत्पन्न हुई, उसी वायुसे शान्त हो जाती है, उसी तरह संकल्पसे उत्पन्न हुई यह सृष्टि संकल्पसे ही नष्ट हो जाती है। भोगाशारूपताको प्राप्त हुई वह अविद्या एकमात्र असंकल्परूप पुरुष-प्रयत्नद्वारा लयको प्राप्त होती है।

'मैं कृश हूँ, अत्यन्त दुखी हूँ, बँधा हुआ हूँ तथा हाथ-पैर आदि अवयवोंसे युक्त हूँ' इस भावनाके अनुरूप व्यवहारसे जीवात्मा बन्धनमें पड़ता है। 'मेरा दुःखसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यह शरीर भी मेरा नहीं है; भला, किस आत्माको बन्धन प्राप्त हुआ है—किसीको भी नहीं, आत्मा नित्य-मुक्तस्वरूप है' इस भावनाके अनुरूप व्यवहारसे जीवात्माकी मुक्ति होती है। नेत्रोंकी ही अपनी दर्शन-शक्तिका क्षय होनेपर अर्थात् अत्यन्त दूरताके कारण दर्शनशक्तिके कुण्ठित हो जानेपर जो वस्तुस्वभावसे अदर्शनरूप अन्धकार उदित हुआ है, वही आकाशकी नीलिमाके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। यह जान लेनेपर जैसे आकाशमें कालिमा दीखनेपर भी 'यह वास्तवमें कालिमा नहीं है' ऐसी बुद्धि सुदृढ़ हो जाती है, वैसे ही अविद्यारूपी अन्धकारको भी समझना चाहिये।

जैसे स्वप्नमें 'हाय! मैं दुःखसे नष्ट हो गया' इस संकल्पसे मनुष्य दुःखसे नष्ट-सा होने लगता है और 'मैं जाग गया हूँ' इस संकल्पसे वह स्वप्नके दुःखसे छुटकारा पाकर सुखी हो जाता है, उसी प्रकार मन विषयके संकल्पसे मूढ़ताको प्राप्त होता है और विज्ञानस्वरूप उदार परमात्माके संकल्प या चिन्तनसे वह विज्ञानमय ब्रह्मभावकी ओर अग्रसर होता है। 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसे संकल्पसे यह अनादि अविद्या एक क्षणमें प्रकट होती है और विस्मरण अर्थात् संकल्प-वासनाओंके मूलोच्छेदसे यह विनाशशील अविद्या सर्वथा नष्ट हो जाती है।

जो दृश्य पहले ही नहीं था, वह आज भी नहीं है और जो यह भासित हो रहा है, वह शान्त, अद्वितीय, निर्विकार एवं निर्दोष ब्रह्म ही है। अतः कभी किसीके लिये किसी तरह और किसी भी कारणसे ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई मननीय वस्तु नहीं है; इसलिये आदि-अन्तसे रहित निर्विकार ब्रह्ममें पूर्णतः स्थित हो जाना चाहिये।

उत्तम बुद्धिके द्वारा परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर प्रयत्नपूर्वक चित्तसे भोगाशाभावनाको जड़-मूलसहित उखाड़ फेंकना चाहिये। महान् मोह (अज्ञान) ही जरा और मरण आदिका कारण है। जो-जो वस्तु कार्यरूपसे प्रकट होती है, वह सब सैकड़ों आशापाशोंसे उल्लसित होनेवाली वासनाका ही विस्तार है। 'ये मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है, यह मैं हूँ, यह मेरा घर है' इस प्रकारके इन्द्रजालसे यह वासना ही वृद्धिको प्राप्त होती है। तत्त्वज्ञ श्रीराम! परमात्मतत्त्वके सिवा दूसरी कोई वस्तु कभी सत्य नहीं है। अतः वास्तवमें 'मेरा' और 'मैं'—ये दोनों ही नहीं हैं। रघुनन्दन! ज्ञानीकी दृष्टिमें अविद्या नहीं है। आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और नदीरूप जो यह अविद्या है, वह अज्ञानीकी ही दृष्टिमें है। ज्ञानीकी दृष्टिमें तो आकाश आदिके रूपमें ब्रह्म ही अपनी महिमामें स्थित है। अहो! यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जो सत्य है, उस ब्रह्मको तो लोग भूल गये हैं और जो असत्य अविद्या नामक वस्तु है, उसीका निश्चितरूपसे निरन्तर स्मरण हो रहा है। (सर्ग ११४)

अविद्याकी बन्धनकारितापर आश्चर्य; चेष्टा देहमें नहीं, देहीमें है—इसका प्रतिपादन तथा अज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! पूज्यपाद महात्मा वसिष्ठके यों कहनेपर कमलनयन श्रीराम प्रफुल्ल पङ्कजके समान शोभा पाने लगे।

श्रीरामजी बोले—मुनिवर! जो अविद्या वास्तवमें है ही नहीं, उसने सबको वशमें कर लिया है—यह कैसी विचित्र बात है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन! इस संसारमें काठ और दीवालके समान जड देह कुछ भी नहीं है—वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है। इस चित्तने ही स्वप्नके संसारकी भाँति इसकी कल्पना कर ली है। श्रीराम! अज्ञानी जीवात्माको ये अनन्त शारीरिक सुख-दुःख होते हैं। किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुषको ये बिल्कुल नहीं होते (क्योंकि वे परमात्माके यथार्थ स्वरूपको जान गये हैं)। देह जड है, अतएव वह दुःखका अनुभव नहीं कर सकता। देहाभिमानी जीवात्मा ही अविवेकके कारण दुखी होता है। यह अविवेक या अविचार अतिशय अज्ञानके कारण है। अज्ञान ही समस्त दुःखोंका हेतु है। एकमात्र अविवेकरूपी दोषके कारण ही जीवात्मा शुभाशुभ कर्मोंके सुख-दुःखादि फलोंका भोक्ता बना है—ठीक उसी तरह, जैसे रेशमका कीड़ा अज्ञानवश ही रेशमके कोषमें बन्धनको प्राप्त होता है। अविवेकरूपी रोगसे बँधा हुआ, विविध वृत्तियोंसे युक्त मन नाना आकृतियोंमें विचरण करता हुआ चक्रके समान घूमता रहता है। श्रीराम! जैसे घरका मालिक घरमें अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, किंतु जड गृह स्वयं कुछ भी नहीं करता, उसी तरह शरीरमें जीवात्मा ही विविध चेष्टाएँ करता है, शरीर नहीं।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! आप सम्पूर्ण तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। सिद्धि देनेवाली ज्ञानकी सात भूमिकाओंका स्वरूप कैसा है? यह मुझे संक्षेपसे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! अज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं और ज्ञानकी भी सात ही भूमिकाएँ हैं। फिर गुणोंकी विचित्रतासे इन दोनोंके दूसरे-दूसरे असंख्य भेद हो जाते हैं। आत्मस्वरूपमें अनादिकालसे अज्ञानका आरोप है। उस अज्ञानकी ये सात भूमिकाएँ हैं, जिन्हें सुनो—१ बीज-जाग्रत्, २ जाग्रत्, ३ महाजाग्रत्, ४ जाग्रत्-स्वप्न, ५ स्वप्न, ६ स्वप्नजाग्रत् और ७ सुषुप्ति। इस तरह अज्ञानके ये सात भेद हैं। ये

सातों भेद फिर एक दूसरेसे संयुक्त होकर अनेक नाम धारण करते हैं । अब तुम इस सप्तविध अज्ञानके लक्षण सुनो ।

महासर्गके आदिमें चिन्मय परमात्मासे जो प्रथम, नाम-निर्देशसे रहित एवं विशुद्ध व्यष्टि चेतन प्रकट होता है, वह भविष्यमें होनेवाले 'चित्त' और 'जीव' आदि संज्ञा-शब्दों तथा उनके अर्थोका भाजन होकर जाग्रत् अवस्थाके बीजरूपमें स्थित होता है; (क्योंकि वह महाप्रलयके समय भी परमात्मामें बीजरूपसे ही था) इसलिये 'बीज-जाग्रत्' कहलाता है। यह अज्ञानकी नूतन अवस्था है । अब तुम जाग्रत् संसारका वर्णन सुनो । नवजात बीज जाग्रत्के पश्चात् यह स्थूल देह मैं हूँ, यह देह, यह भोग्य पदार्थ-समूह मेरा है' ऐसी जो अपने भीतर प्रतीति होती है, उसे 'जाग्रत्' कहते हैं । 'यह देह मैं हूँ' 'यह भोग्य-समूह मेरा है' इस जाग्रत् प्रतीतिके उत्पन्न होनेके पश्चात् जन्मान्तरके अभ्याससे दृढ हुई जो प्रतीति स्फुरित होती है, उसे 'महाजाग्रत्' कहा गया है।* जाग्रत् पुरुषका अदृढ या दृढ जो सर्वथा तन्मयात्मक (जाग्रत्के ही तुल्य) मनोराज्य है, उसीको 'जाग्रत् स्वप्न' कहते हैं । दो चन्द्रमाओंका दर्शन, सीपीमें चाँदीकी प्रतीति और मृगतृष्णा (मरुस्थलमें बिना हुए जलकी प्रतीति) आदि भेदकी तरह अभ्यासवश जाग्रत्भावको प्राप्त स्वप्न-मनोराज्य अनेक प्रकारका होता है । 'उसे मैंने थोड़े ही समयतक देखा, वह सत्य भी नहीं है' नींदके समय (सुषुप्ति-कालके आदि या अन्तमें) अनुभवमें आयी हुई बातोंके विषयमें नींदके अन्तमें जो ऐसी प्रतीति होती है, उसे 'स्वप्न' कहा गया है। वह स्वप्न अब पुरुषकी महाजाग्रत् अवस्थामें स्थित स्थूल शरीरके कण्ठसे लेकर हृदयपर्यन्त नाड़ी-प्रदेशमें प्रकट होता है । चिरकालतक दर्शनके अभावसे जो विकसित नहीं हुआ, वह महाशरीरवाला दृढ अभिमान ही स्वप्न है । सुदृढ अभिनिवेशसे या चिरस्थायित्वकी कल्पनासे पुष्ट हो जाग्रत्भावको प्राप्त हुआ स्वप्न महाजाग्रत्की समता प्राप्त कर लेता है । इस अवस्थाको प्राप्त हुआ स्वप्न 'स्वप्न-जाग्रत्' माना गया है । पूर्वोक्त छहों अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो जीवकी जड अवस्था है, वही भावी दुःखोंका बोध करानेवाले बीजरूप अज्ञानसे सम्पन्न 'सुषुप्ति' कही जाती है । रघुनन्दन ! इस प्रकार सात प्रकारकी अज्ञान-भूमिकाका मैंने वर्णन किया । यह नाना प्रकारके विकारों तथा लोकान्तरोंके भेदोंसे युक्त होनेके कारण निन्द्य एवं त्याज्य बतायी गयी है ।

(सर्ग ११५—११७)

ज्ञानकी सात भूमिकाओंका विशद विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप रघुनन्दन ! अब मैं सात प्रकारकी ज्ञानभूमिकाका वर्णन करता हूँ, इसे सुनो । पहली ज्ञानभूमिका शुभेच्छा बतायी गयी है, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा—इस प्रकार ये ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं।

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥

'मैं मूढ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—

* जैसे ब्राह्मण आदि जातियोंमें उत्पन्न हुए लोगोंमेंसे किसी-किसी व्यक्तिका जन्मान्तरके अभ्याससे अपने वर्णोचित कर्मोंमें विशेष आग्रह और नैपुण्य देखा जाता है, सबमें ऐसी बात नहीं पायी जाती; अतः इस जन्मके या जन्मान्तरके दृढ अभ्याससे दृढताको प्राप्त हुई जो पूर्वोक्त जाग्रत् प्रतीति है, उसीको महाजाग्रत् कहा गया है ।

इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने 'शुभेच्छा' कहा है।'*

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥

'शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक-वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना--यह 'विचारणा' नामकी भूमिका कही जाती है।†

* अभिप्राय यह कि समस्त (पापमय) अशुभ इच्छाओंका अर्थात् चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन, दुर्व्यसन और प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा) आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, वाणी और शरीरसे त्याग करना; नाशवान्, क्षणभङ्गुर, स्त्री-पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि काम्यकर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाका त्याग करना; अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करनेकी याचना न करना और बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार न करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा न रखना; ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह और शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्यका तथा सब प्रकारकी सांसारिक कामनाका त्याग करना एवं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐतरेय-उप० १ । ३)—ब्रह्म विज्ञानघन है, 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उप०)—यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है, तत्त्वमसि, (छान्दोग्य उप० ६ । १२ । ३)—वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म तू ही है और 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० उप० १ । ४ । १०)—मैं देह नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ—इन वेदान्त-वाक्योंका एकमात्र परमात्माके तत्त्व-रहस्य-ज्ञानपूर्वक उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे सत्-शास्त्रोंमें अध्ययन करना और सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे इन महावाक्योंका श्रवण करना ही 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका है। इसलिये इस भूमिकाको 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है।

† उपर्युक्त प्रकारसे सत्पुरुषोंके सङ्ग, सेवा एवं आज्ञा-पालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही 'विचारणा' है। भाव यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक इनको भलीभाँति पृथक् कर देता है। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है।

जिसका कभी नाश न हो, वह 'सत्' है और जिसका नाश होता है, वह असत्' है। भगवान्ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषों-द्वारा देखा गया है।'

इस नियमके अनुसार जो दृश्य जड पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा भी उसका अंश होनेके कारण सत् है। अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, मायाकी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाशके एक होते हुए भी घड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं, उसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा वास्तवमें एक ही हैं—इस तत्त्वको समझ लेना 'विवेक' है।

उपर्युक्त विवेकके द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है, एवं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही 'वैराग्य' है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । (योगदर्शन १ । १५)

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता । यात्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥

'उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त हो संसारमें विचरण करना—यह 'तनुमानसा' है । इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो

'स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है ।'

समस्त इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब अनित्य हैं, किंतु अज्ञानसे अनित्यमें नित्य-बुद्धि होनेके कारण विषयभोगादि नित्य प्रतीत होते हैं । इसलिये उनको अनित्य मानकर उनसे वैराग्य करना चाहिये । गीतामें भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ (२ । १४)

'हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गरमी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिये हे भारत ! उनको तू सहन कर ।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ (गीता २ । १५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है ।'

अतः वैराग्यवान् पुरुषके लिये संसारके विषयभोगोंको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनमें आसक्तिरहित होना परम आवश्यक है, यों समझकर ही विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमते । भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान्—विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है; उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें समता आदि गुण आने लगते हैं, उसके मन, इन्द्रिय और शरीर विषयोंसे हटकर वशमें हो जाते हैं । फिर उसे गङ्गातट, तीर्थस्थान, गिरि-गुहा, वन आदि एकान्तदेशका सेवन ही अच्छा लगता है; उसके ममता, राग द्वेष, विक्षेप और मान-बड़ाईकी इच्छाका अभाव-सा हो जाता है; विषयभोगोंसे स्वाभाविक ही उपरति हो जाती है एवं विवेक-वैराग्यके प्रभावसे वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है ।

भगवान्‌ने गीतामें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

(१३ । ७–११)

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु,

जाता है; इसलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं ।'*

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा—श्रवण, विचारणा—मनन और तनुमानसा—निदिध्यासन भूमिकाओंके अभ्यास से चित्तके सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त हो जानेके

जरा और रोग आदिरूपमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्धदेशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना, अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—यों कहा गया है ।

दूसरी भूमिकामें परिपक्व हो जानेपर उस साधकमें उपर्युक्त गुण और आचरण आने लगते हैं ।

ऊपर प्रथम भूमिकामें बताये हुए महावाक्योंका निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होनेके कारण इस दूसरी भूमिकाको 'विचारणा' कहा गया है, अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जा सकता है ।

* अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममताके अभावसे, सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—ध्यानके साधनसे साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है । इसीको 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है ।

इस तीसरी भूमिकामें स्थित साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोषदृष्टिका अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्गुणोंका आविर्भाव हो जाता है । फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधकको 'संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं' ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें उसकी वासनाका भी अभाव हो जाता है । भाव यह है कि उसके अन्तःकरणमें उनके चित्र संस्काररूपसे भी नहीं रहते एवं शरीरमें अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वह परवैराग्यको प्राप्त हो जाता है । परवैराग्यका स्वरूप महर्षि पतञ्जलिने यों बतलाया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । (योगदर्शन १ । १६)

'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अत्यन्त अभाव हो जाता है, वह परवैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है ।'

पूर्वोक्त दूसरी भूमिकामें स्थित पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परंतु इस तीसरी भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषकी तो विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं । अतः परवैराग्य हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपरत हो जाती हैं । यदि किसी कालमें कोई स्फुरणा हो भी जाती है, तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसारका विस्मरण होकर समाधि-सी हो जाती है । ये सब लक्षण परमात्माकी प्राप्तिके अत्यन्त निकट पहुँच जानेपर होते हैं ।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नामकी

अनन्तर उसके प्रभावसे आत्माका शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।'*

तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं। इनमें संसारसे कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँतक साधककी 'जाग्रत्-अवस्था' मानी गयी है।

* उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासनके तीव्र अभ्याससे जब साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, तब उसीको 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कहते हैं। इसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार गङ्गा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है, उसीमें विलीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ८)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८। ५४-५५)

'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके अनुभवसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित प्रसन्न मनवाला ज्ञानयोगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (ज्ञान-निष्ठा) को प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस ज्ञान-निष्ठासे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

जब साधकको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मुण्डकोपनिषद् ३। २। ९)

फिर उसका इस शरीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् इस संसारकी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। स्वप्नमें और इसमें इतना ही अन्तर है कि स्वप्नका समय तो भूतकाल है और संसारकी स्वप्नवत् प्रतीतिका समय वर्तमानकाल है, तथा स्वप्नमें तो जो मन-बुद्धि थे, वे वर्तमानमें भी इस जीवात्माके साथ सम्बन्धित हैं किंतु जब मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि इस शरीरमें ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेत्ताके साथ ब्रह्ममें सम्बन्धित नहीं होते, इसलिये ब्रह्मकी दृष्टिसे इस संसारका अत्यन्त अभाव है।

वास्तवमें तो ब्रह्मके कोई दृष्टि ही नहीं है, केवल समझानेके लिये उसमें दृष्टिका आरोप किया जाता है। ब्रह्मकी दृष्टिमें तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्मवेत्ताके शरीरका जो अन्तःकरण है, उसमें इस संसारका अत्यन्त अभाव और सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव प्रत्यक्ष है—यह ब्रह्मवेत्ताका अनुभव है। इसी अनुभवके बलपर शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४ । ४ । ६)—'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसलिये वह लौटकर नहीं आता। श्रुति कहती है—

न च पुनरावर्तते। न च पुनरावर्तते। (छान्दोग्य० ८ । १५ । १)

'फिर वह कभी नहीं लौटता, फिर वह कभी नहीं लौटता।'

जब ब्रह्मकी दृष्टिमें सृष्टिका अत्यन्त अभाव है, तब ब्रह्म ही हो जानेपर लौटकर कौन कैसे कहाँ आये। गीतामें भी बतलाया गया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

भाव यह कि उसका मन तद्रूप—ब्रह्मरूप हो जाता है। पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको 'तदात्मा' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके विशेषणोंसे विभूषित ब्रह्मका मनन करते-करते जब मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और उन विशेषणों-की आवृत्तिके प्रभावसे ब्रह्मके विशेष स्वरूपका बुद्धिमें अनुभव हो जाता है, तब बुद्धिके द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्मके विशेष स्वरूपको लक्ष्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्मका ध्यान करता है। यहाँ ब्रह्म तो ध्येय है, ध्यान करनेवाला साधक ध्याता है और बुद्धिकी वृत्ति ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्ममें विलीन हो जाती है, तब उसे 'तद्बुद्धि' कहते हैं। इसके पश्चात् जब ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी न रहकर साधककी ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्न स्थिति हो जाती है, तब उसे 'तन्निष्ठ' कहते हैं। इसमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है; इसलिये यह प्रारम्भिक 'सविकल्प समाधि' है। इसीको सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः। (योगदर्शन १ । ४२)

'उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इस प्रकार सविकल्प समाधि होनेके बाद जब स्वतः ही साधककी निर्विकल्प समाधि हो जाती है, तब ब्रह्मका नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान—ये तीनों विकल्प भिन्न-भिन्न नहीं रह जाते, एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रह जाता है। इसीको निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। (योगदर्शन १ । ४३)

'(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (अन्तःकरणकी स्थिति ही) निर्वितर्क समाधि है।'

इसमें साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है। अतः उसको 'तत्परायण' कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधिका फल जो निर्बीज असम्प्रज्ञात योग है, वही वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति है; उसीको यहाँ गीतामें अपुनरावृत्ति कहा गया है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिसके मल, विक्षेप और आवरणरूप कल्मषका नाश हो गया है, वह ब्रह्मको प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है; वह लौटकर नहीं आता।

यही 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका है। इसमें पहुँचे हुए पुरुषको ब्रह्मवित्—ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। इसमें संसार उस ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी 'स्वप्नावस्था' मानी जाती है।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए माने गये हैं।

यहाँ योगवासिष्ठमें जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं भूमिकाके रूपमें चार भेद बतलाये गये हैं, इस प्रकारके भेद गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते।

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥

'शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति—इन चारोंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे चित्तके बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारोंसे अत्यन्त असङ्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जानेपर अन्तःकरणका समाधिमें आरूढ—स्थिर हो जाना ही 'असंसक्ति' नामकी पाँचवीं भूमिका कहा गया है।' *

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ॥

'उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे उस ज्ञानी महात्माकी आत्मारामताके प्रभावसे उसके अन्तःकरणमें संसारके पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतरके किसी भी पदार्थका स्वयं भान नहीं होता, दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक चिरकालतक प्रेरणा करनेपर ही कभी किसी पदार्थका भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरणकी

परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण तो गीतामें जगह-जगह आते हैं, किंतु उसके इस प्रकारके अलग-अलग भेद नहीं बताये गये हैं। वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके पश्चात् ज्ञानी महात्मा पुरुषका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि वह देहाभिमानसे सर्वथा रहित होकर ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है। अतः यहाँ योगवासिष्ठमें बतलाये गये उन भेदोंको ब्रह्मप्राप्त पुरुषके भेद न समझकर उसके अन्तःकरणके भेद समझने चाहिये।

* परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है।

ऐसे पुरुषका संसारसे कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
(३ । १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुषके सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं संकल्पसे शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

अतः ऐसे पुरुषको उसके सम्मानके लिये 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्थामें रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति अवस्थाकी भाँति संसारका बिल्कुल भान नहीं रहता और व्युत्थान अवस्थामें—व्यवहार-कालमें उसके द्वारा पूर्वके अभ्याससे सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमानके बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे शास्त्रविहित ही होते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था, उसकी किसी दूसरेके प्रयत्नके बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था हो जाती है। किंतु वास्तवमें संसारके अभावका निश्चय होनेके कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधिके तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्थाको 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।

श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

'पदार्थाभावना' नामकी छठी भूमिका हो जाती है ।'*

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥

'उपर्युक्त छहों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक चिरकालतक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करनेपर भी भेदरूप संसारकी सत्ता-स्फूर्तिकी उपलब्धि नहीं होती, वरं अपने आत्मभावमें स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थितिको उसके अन्तःकरणकी 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये।'†

यह तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषोंमें इस शरीरमें रहते हुए ही विद्यमान रहती है । इस देहका अन्त होनेपर विदेह-मुक्तिका विषय साक्षात तुर्यातीत ब्रह्म ही है (अतः भूमिकाओंमें उसकी गणना नहीं है) । श्रीराम ! जो महाभाग सातवीं भूमिकामें पहुँच गये हैं, वे आत्माराम महात्मा महत्पद (परब्रह्म) को प्राप्त हो चुके हैं । जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःखमें आसक्त नहीं होते । केवल देहयात्राके लिये छठी भूमिकामें कुछ कार्य करते हैं, अथवा सातवीं भूमिकामें नहीं भी करते । पूर्वोक्त महात्मा पार्श्ववर्ती पुरुषोंद्वारा बोधित होकर उन-उन आश्रमोंमें स्थित पुरुषोंकी आचार-परम्परासे प्राप्त सम्पूर्ण सदाचारोंका ही सावधानकी भाँति पालन करते हैं । उनका वह आचार फलकी कामना और आसक्ति नामक दोषोंसे रहित होता है । वे अपने आत्मामें ही रमण

---

* पाँचवीं भूमिकाके पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है; इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती । उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है । उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं; इसलिये उस भूमिकाको 'पदार्थाभावना' कहते हैं । जैसे गाढ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता । अतः उस पुरुषकी इस अवस्थाको 'गाढ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है । किंतु गाढ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण अपने कारण मायामें विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५ । १७), अतः इसकी अवस्था गुणातीत है । इसलिये यह गाढ सुषुप्तिसे अत्यन्त विलक्षण है ।

गाढ सुषुप्तिमें स्थित पुरुष तो निद्राके परिपक्व हो जानेपर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था तो दूसरोंके बारंबार प्रयत्न करनेपर ही होती है, अपने-आप नहीं । उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है । इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं ।

श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं ।

† छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है । उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसारका और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है । क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है । जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है; अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है । ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता रहता है । वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है; इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है ।

ब्रह्मकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव है । उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है । अतः उसके मन-बुद्धिमें भी शरीर और संसारका अत्यन्त अभाव है । इसलिये ऐसे पुरुषको ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं ।

ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तमें मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेसे उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर उसका कल्याण हो सकता है ।

करनेके कारण बाह्य विषयोंसे विरत होते हैं। अत उन्हें जगत्‌के व्यवहार उसी तरह सुख नहीं दे पाते, जैसे गाढ़ नींदमें सोये हुए पुरुषोंको दर्शनीय रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित स्त्रियाँ नहीं सुख दे सकतीं। ज्ञानकी ये सात भूमिकाएँ विवेकी पुरुषोंको ही प्राप्त होती हैं। इस ज्ञानदशाको प्राप्त हुए पशु (हनुमान् और नन्दी), अन्त्यज (मूक चाण्डाल, धर्मव्याध, गुह, भील और शबरी) आदि भी सदेह (जीवन्मुक्त) अथवा विदेहमुक्त ही हैं—इसमें संशय नहीं है। चेतन और जड़की ग्रन्थिका विच्छेद ही ज्ञान है। उसके प्राप्त होनेपर मुक्ति हो जाती है। क्योंकि मृगतृष्णामें जलबुद्धि अथवा रज्जुमें सर्पबुद्धि आदिका जो बाध है, वैसा ही चेतन और जड़की ग्रन्थिका विच्छेद भी है। कुछ लोग एक ही जन्ममें क्रमशः ज्ञानकी सारी भूमिकाओंको प्राप्त हो जाते हैं। कोई कोई एक, दो या तीन भूमिकाओंतक ही पहुँच पाते हैं। कोई छः भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं। कोई एकमात्र सातवीं भूमिकामें ही स्थित रहते हैं। कोई तीन भूमिकाओंतक जाते हैं। कोई अन्तिम भूमिकामें पहुँच जाते हैं। कोई चार भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं। कोई दो भूमिकाओंमें स्थित होते हैं। कोई ज्ञानभूमिकाके एक अंशतक ही पहुँच पाते हैं। कोई साढ़े तीन, कोई साढ़े चार और कोई साढ़े छः भूमिकाओंतक पहुँच जाते हैं। जो उन भूमिकाओंमें पहुँचकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थानोंपर विजय पाते जाते हैं, वे महात्मा निश्चय ही वन्दनीय हैं। उन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली है। उस चतुर्थ ज्ञानभूमिका (जीवन्मुक्तावस्था) में पहुँच जानेपर सम्राट् (भूमण्डलका राजा) और विराट् (देवलोकका राजा) भी तिनकेके समान तुच्छ प्रतीत होता है; क्योंकि वे ज्ञानी महात्मा उस अवस्थामें परमपदको प्राप्त हो जाते हैं।

(सर्ग ११८)

मायिक रूपका निराकरण करके सन्मात्रत्वका प्रदर्शन, अविद्याके स्वरूपका निरूपण, संक्षेपमें ज्ञानभूमिका एवं जीवात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! जैसे मृगतृष्णाके जलमें, दो चन्द्रमाओंके भ्रममें और शरीर आदिकी अहंतामें मायासे जो रूप परिलक्षित होता है, वह विचारपूर्वक देखनेपर दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार स्वर्णमें जो कड़े, कुण्डल, अँगूठी आदिका भाव है, वह केवल भ्रान्ति है। वह असत् स्वरूपवाली माया है; क्योंकि उसका यह रूप ही ऐसा है, जो ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर कायम नहीं रहता। असद्वस्तु तो सीपमें चाँदी और मरुस्थलमें जलकी भ्रान्तिके समान विचारहीनताके कारण ही सत्-सी प्रतीत होती है। असत् शरीरमें जो अहंताकी भावना है, वही परमा अविद्या है, वही माया है और वही संसृति है। जैसे सुवर्णमें अँगूठीपना आदि वास्तवमें कल्पित हैं, उसी तरह आत्मामें अहंता आदिकी भावना भी कल्पित है। इस प्रकार जो स्वच्छ, शान्त एवं निर्मल है, उस परमोत्कृष्ट आत्मामें अहंताकी भावना असत् है। वह शुद्ध आत्मा मेरुता, असुरता, मनपना, देहता और महाभूततासे रहित है। उसमें तीनों कालोंकी कल्पना और भावाभाव वस्तुका अभाव है। त्वत्ता, अहंता, आत्मता, तत्ता, सत्ता, असत्ता आदिसे भी वह रहित है। उसमें न कहीं भेदकी कल्पना है, न राग और रञ्जन ही है; क्योंकि ये सब मायामात्र हैं। वह तो सर्वात्मक, शान्त, आश्रयरहित, जगत्‌का कारण, शाश्वत, कल्याणमय, निर्विकार, इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य तथा नाम एवं कारणरहित ब्रह्म है।

रघुनन्दन! वासनायुक्त चित्त जिस वस्तुकी पर्याप्तरूपमें जैसी भावना करता है, वह वस्तु चाहे सत् हो अथवा असत्, उसको उसी समय उसी रूपमें प्रतीत होने

लगती है; क्योंकि अहंता आदि भावोंसे युक्त अविद्याका ज्यों ही अभ्युदय हुआ, त्यों ही आदि, मध्य और अन्तसे रहित अनन्त भ्रमोंका ताँता लग जाता है। जैसे बहुत-से व्यक्तियोंके मनःकल्पित वचन बहुधा एक-से होते हैं, उसी तरह स्वप्नमें भी देश, काल और क्रिया भी एक-से दीख पड़ते हैं। परंतु उस व्यवहारकी सत्ता अज्ञानसे ही प्रतीत होती है। वास्तवमें तो चेतन सत्ताके अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थोंकी कोई अन्य सत्ता है ही नहीं। वह चेतन सत्ता भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंमें मौजूद रहती है और वही भिन्न-सी प्रतीत होती है—ठीक उसी तरह, जैसे समुद्रमें तरङ्ग और बीजमें वृक्ष भिन्न-से भासित होते हैं। और जैसे बालूमें तेल आदिका होना असम्भव है, वैसे ही अविद्या कोई वस्तु नहीं है। भला, सोनेके बने हुए कङ्कणमें स्वर्णताके अतिरिक्त दूसरी कौन वस्तु हो सकती है? अर्थात् कोई नहीं। अतः अविद्याके साथ आत्मतत्त्वका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता; क्योंकि यह तो अपने अनुभवसे स्पष्ट है कि सभीका अपने समानके साथ ही सम्बन्ध होता है। जब जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ चिन्मात्रमय एवं सन्मात्रमय होते हैं, तब वे भाव परस्पर अपने अनुभवके बलपर प्रकाशित होते हैं। विषम पदार्थोंका निरन्तर साक्षात् सम्बन्ध होना असम्भव है और परस्पर सम्बन्ध हुए बिना आपसमें अनुभव भी नहीं हो सकता।

तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ राम! वास्तवमें जैसे मिट्टीकी बनी हुई सेना मूढ़बुद्धिसे देखनेपर विचित्र होनेपर भी विचार-दृष्टिसे एकमात्र मिट्टी ही है, तरङ्ग आदि एकमात्र जल ही हैं, काठकी बनी हुई पुतलियोंमें एकमात्र काष्ठ ही व्याप्त है और घट आदि केवल मिट्टी ही हैं, उसी प्रकार यह भ्रमसे प्रतीत होनेवाला जगत् एकमात्र ब्रह्म ही है। द्रष्टाका दृश्य और दर्शनके साथ सम्बन्ध होनेपर उसके मध्यमें जो उसका द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदिसे रहित शुद्ध रूप है, वही वह परब्रह्म है।

श्रीराम! जैसे शिलामें जल और जलमें अग्नि नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मामें चित्त नहीं है; फिर वह परमात्मामें कहाँसे हो सकता है। विचारपूर्वक देखनेपर जो स्वयं ही कुछ नहीं है, उसके द्वारा जहाँ-कहीं जो कुछ किया जाता है, वह 'कृत' नहीं कहलाता। जो मूर्ख असत्य स्वरूपवाले चित्तका अनुवर्तन करते हैं, उन्हें धिक्कार है; क्योंकि वे केवल आकाश-ताडनरूपी कर्ममें व्यर्थ ही समय बितानेवाले हैं।

इस प्रकार भूतलपर पैदा हुए पुरुषको बुद्धिके कुछ भी विकसित होनेपर पहले सत्सङ्गपरायण होना चाहिये; क्योंकि अनवरत प्रवाहित होते हुए इस अविद्यारूपी नदियोंके समूहको शास्त्र एवं सज्जनोंके सम्पर्कके अतिरिक्त और किसी उपायसे पार नहीं किया जा सकता। उस सत्सङ्गद्वारा विवेककी प्राप्ति होनेसे पुरुषको 'यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है', ऐसा विचार उत्पन्न होता है। तब वह शुभेच्छा नामकी ज्ञानभूमिमें अवतीर्ण होता है। तदनन्तर विवेकवश विचारणा नामकी ज्ञानभूमिमें आता है। वहाँ यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे मिथ्या वासनाका परित्याग करनेवाले पुरुषका मन सांसारिक वासनाओंसे रहित हो तनुता (सूक्ष्मता) को प्राप्त होता है। इस कारण वह तनुमानसा नामकी ज्ञानभूमिमें अवतीर्ण होता है। फिर ज्यों ही योगी यथार्थ ज्ञानका उदय होनेसे परमात्मामें तद्रूप हो जाता है, त्यों ही उसे सत्त्वापत्ति नामकी ज्ञानभूमि प्राप्त होती है। तब वासनाका विनाश हो जानेके कारण वह 'असंसक्त' कहलाने लगता है और कर्मफलके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् वासनाओंका विनाश हो जानेके कारण स्वाभाविक अभ्यास-से जब वह कार्योंको करता हुआ अथवा उनसे विरत हुआ या संसारकी असत्य वस्तुओंमें स्थित हुआ भी अपने आत्मामें ही मनके क्षीण हो जानेके कारण बाह्य वस्तुओंका व्यवहार करते हुए भी न तो उन्हें देखता है, न रुचि-पूर्वक उनका सेवन करता है और न स्मरण ही करता

है, बल्कि अर्ध-सुप्त एवं अर्ध-प्रबुद्ध पुरुषकी भाँति केवल कर्तव्य-कर्मोंको करता रहता है, तब वह योगी पदार्थ-भावना नामकी योगभूमिको प्राप्त होता है। इस प्रकार जिसका चित्त ब्रह्ममें लीन हो गया है, वह योगी कुछ वर्षोंतक ऐसे स्वाभाविक अभ्याससे बाह्य पदार्थोंका व्यवहार करता हुआ भी जब उनकी भावनासे रहित हो स्वयं तुर्यात्मा हो जाता है, तब 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष न तो प्राप्त हुई वस्तुका अभिनन्दन करता है न अप्राप्तके लिये चिन्ता। वह जो कुछ सामने उपस्थित हो जाता है, उसीका निश्शङ्क होकर अनुवर्तन करता है। रघुनन्दन! तुम सम्पूर्ण कार्योंकी वासनासे रहित हो, इसलिये तुम सबके अंदर वर्तमान जानने योग्य सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें स्थित हो। अतः तुम चाहे संसारके कल्याणके लिये शास्त्रविहित कर्म करते रहो चाहे एकान्तमें ध्यान-समाधिमें स्थित रहो। श्रीराम! आत्मा न तो प्रकट होता है न विलीन ही। जैसे घड़ेके फूटकर टुकड़े हो जानेपर घटाकाशका नाश नहीं होता, उसी प्रकार इस शरीरके नष्ट हो जानेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता। अरे, यह आत्मा तो अद्वितीय है। फिर दूसरी कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसकी वह अभिलाषा करेगा? राघव! जगत्में श्रवण करने योग्य, स्पर्श करने योग्य, देखने योग्य, चखने योग्य और सूँघने योग्य कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो आत्मासे पृथक् हो। वह आत्मा सर्वशक्तिमान्, विस्तृत और व्यक्त है। वासनाक्षयरूप मनोनाश हो जानेपर इस मायाका, जिसमें संस्काररूपसे कर्म करते हैं, अत्यन्त अभाव हो जाता है। जबतक इस मायाका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, तभीतक यह बड़े-बड़े मोहोंमें डालती रहती है; किंतु जब यह माया बिना हुए ही प्रतीत हो रही है—इस प्रकारका इसका वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। यह ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुई है और संसारकी लीला करके ब्रह्ममें ही विलीन हो जाती है।

रघुकुलभूषण राम! जैसे तेजसे सभी प्रकाश आविर्भूत होते हैं, उसी तरह कल्याणमय, रूपरहित, अप्रमेय और विशुद्ध ब्रह्मसे सभी प्राणी उत्पन्न हुए हैं। जैसे पत्तेमें उसकी नसें, जलमें तरङ्गसमूह, सुवर्णमें कटक-कुण्डल आदि और अग्निमें उष्णता आदि व्याप्त हैं, उसी प्रकार यह त्रिलोकी उस ब्रह्ममें ही स्थित है, उसीसे उत्पन्न हुई है और उसीमें विलीन हो जाती है। वही समस्त प्राणियोंका आत्मा है और वही ब्रह्म कहा जाता है; उसका ज्ञान हो जानेपर इस मिथ्या जगत्का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। श्रीराम! देहके नष्ट होनेपर जीवात्माका नाश नहीं होता। जो चिन्मय जीवात्मा मनसे अतीत होनेके कारण आकाशकी भाँति अव्यक्त है, वह जड सुखों अथवा दुःखोंसे व्याप्त कैसे हो सकता है। उस चिदात्मामें, जो सबका साक्षी, सर्वत्र सम, निर्मल और निर्विकल्प है, ये सभी जगत् किसी प्रकारकी इच्छाके बिना ही उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे दर्पणमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब। संकल्पोंके पूर्णरूपसे क्षय हो जानेके कारण जब चित्त विलीन हो जाता है, तब सांसारिक मोहरूपी तुषार नष्ट हो जाता है। उस समय शरद्ऋतुके आनेपर स्वच्छ आकाशकी तरह चिन्मय शुद्ध आत्मा ही अद्वितीय, अजन्मा, आद्य एवं अनन्तरूपसे विभासित होता है। जैसे महासागरमें जल-लहरियाँ उत्पन्न होती हैं, दीखती हैं और तुरंत ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह यह मिथ्या मन स्वयं अपने अधिष्ठानभूत चेतनकी स्फुरणासे युक्त होकर सत्-सा दिखायी देता है और साक्षीभूत चेतनमें बारंबार उत्पन्न होकर विलीन होता रहता है।

(सर्ग ११९—१२२)

उत्पत्ति-प्रकरण सम्पूर्ण॥

स्थिति-प्रकरण

चित्तरूपसे जगत्का वर्णन, जगत्की स्थितिका खण्डन करके पूर्णानन्दस्वरूप सन्मात्रकी स्थितिका कथन, मनको ही जगत्का कारण बताकर उसके नाश होनेपर जगत्की शून्यताका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! अब उत्पत्ति-प्रकरणके अनन्तर इस स्थिति-प्रकरणको श्रवण करो, जो जान लिये जानेपर निर्वाण प्रदान करनेवाला है। इस प्रकार जगत्-रूपसे स्थित यह दृश्य-प्रपञ्च और अहंता आदि आकार-रहित भ्रान्तिमात्र और असत्स्वरूप ही हैं। यह आकाशमें उत्पन्न हुए चित्रके समान एक निराधार विलक्षण चित्र है। यह यद्यपि ब्रह्मसे अभिन्न है, तथापि जलमें उसके भँवरकी भाँति ब्रह्ममें अन्य-सा स्थित लक्षित होता है। यह जगद्रूपी चित्र चित्रलिखित उद्यानकी तरह फूला हुआ है। इसकी आकृति मकरन्द आदि रससे रहित होनेपर भी सरस प्रतीत होती है। यद्यपि इसका रूप रोगयुक्त नेत्रों-द्वारा देखे गये अन्धकारके चक्रके समान वास्तवमें नहीं है, तथापि यह प्रत्यक्ष-सा दीखता है। यह रसात्मक होता हुआ भी परिणाममें अत्यन्त कटु है और उसके उत्पत्ति-विनाश होते रहते हैं।

ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ राम ! जो समस्त कल्पनाओंसे अतीत एवं निर्मल है, उस महान् अनन्त निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें यदि वास्तवमें जगत् आदि अङ्कुररूपमें विद्यमान हैं तो बताओ कि वह प्रलयकालके पश्चात् किन सहकारी कारणोंके सहयोगसे उत्पन्न हो सकता है ? क्योंकि इस जगत्में किसीने कभी भी वन्ध्याकी कन्याके समान सहकारी कारणोंके अभावमें अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं देखी है। श्रीराम ! यदि कहो कि सहकारी कारणोंके अभावमें भी (रज्जुमें सर्पकी तरह) जगद्-रूपी अङ्कुर आविर्भूत हुआ है तो ऐसी दशामें मूलकारण ही जगत्स्वभावताको प्राप्त हो गया है; क्योंकि सृष्टिके आदिमें यथास्थिति निराकार ब्रह्म ही सृष्टिरूपसे अपने स्वरूपमें स्थित होता है, अतः वहाँ जन्य-जनकका क्रम कहाँसे घट सकता है। इसलिये श्रीराम ! यह जगत् न तो था, न है और न होगा ही। (अतः ब्रह्ममें जगत्का तीनों कालोंमें अत्यन्त अभाव है।) सच्चिदानन्द परमात्मा ही अपने-आपमें इस प्रकार जगत्के रूपमें विकसित हो जाता है। वत्स राम ! जब इस जगत्का अत्यन्ताभाव हो जाता है, तब केवल एक ब्रह्म ही शेष रहता है। किंतु यदि जगत् प्रतीत होता है तो वह ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब काम कर्म-वासना आदि भावोंके साथ इस दृश्य-प्रपञ्चका उपशमन हो जाता है, तभी इस जगत्का अत्यन्ताभाव होता है; परंतु चित्तके मौजूद रहते दृश्य-जगत्का शमन होना सम्भव नहीं। इसलिये परमात्माके यथार्थ ज्ञानके बिना दृश्यताकी शान्ति नहीं हो सकती। अतः दृश्यस्वरूप जगत्का सर्वथा अत्यन्ताभाव ही दृश्यताकी शान्तिका एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त पूर्णरूपसे अनर्थके विनाशके लिये दूसरी कोई युक्ति नहीं है। परमात्मा स्वयं ही अपने संकल्पसे अपने अंदर वर्तमान जिस चमत्कारको प्रकट करता है, वही सृष्टिरूपसे प्रतीत होता है। उसका वास्तवमें न तो कोई रूप है और न कोई आधार ही है। जैसे महाशिलाओंपर खुदे हुए लेखोंके स्वरूप दीख पड़ते हैं, उसी तरह ये सृष्टियाँ न उत्पन्न होती हैं न नष्ट होती हैं तथा न आती हैं, न जाती हैं—केवल प्रतीत होती हैं। जैसे जलका द्रवत्व, वायुका स्पन्दन, समुद्रके आवर्त और गुणीके गुण अपने आधार-स्थानसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह उत्पत्ति-विनाशशील कार्योंवाला यह जगत् एकमात्र अनन्त, शान्त, विस्तृत, विज्ञानघन ब्रह्मरूपसे ही स्थित है, उससे पृथक् नहीं।

श्रीरामजीने पूछा—गुरुदेव ! महाप्रलयके पश्चात् सृष्टिके आरम्भमें सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाले ये प्रजापति स्मृतिरूपसे

ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये मैं तो ऐसा समझता हूँ कि उन स्मृत्यात्मासे प्रकट हुआ यह जगत् भी स्मृतिरूप ही है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघूद्वह ! यह ऐसा ही है। महाप्रलयके अनन्तर सर्गके आदिमें सर्वप्रथम ये प्रजापति स्मृतिरूपसे ही प्रकट होते हैं, अतः उनका संकल्पभूत यह जगत् भी स्मृतिरूप ही है। उन प्रजापतिका प्राथमिक संकल्पनगर ही जगद्रूपसे प्रकाशित हो रहा है। ज्ञानीके लिये यह जगत् शान्त एवं अविनाशी केवल ब्रह्म ही है, परंतु वही अज्ञानीकी बुद्धिसे भासमान नाना लोकोंसे युक्त है। पर्वतपर स्थित परमाणु जैसे पर्वतसे भिन्न नहीं हैं और न उनकी गणना ही की जा सकती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूपी महान् मेरुगिरिपर स्थित त्रैलोक्यरूपी परमाणु ब्रह्मसे अभिन्न तथा असंख्येय हैं। इस सृष्टिको यदि सृष्टिके रूपमें ही समझा गया, तब तो यह अधोलोकमें ले जाती है; परंतु इसीको यदि ब्रह्मरूपसे जान लिया गया तो यह परम मङ्गलमयी हो जाती है। यह सब जगत् विश्वके कारण विज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा ही है; क्योंकि जिससे जो उत्पन्न होता है, उसे तद्रूप ही समझना चाहिये। इसलिये समस्त वेद्य दृश्य-प्रपञ्च आत्मज्ञान हो जानेपर ज्ञानीकी दृष्टिमें शुद्ध चिन्मात्र ही है।

श्रीराम! साधकके द्वारा इन्द्रियसमुदायपर विजय-प्राप्ति-रूपी पुलके आश्रयसे ही इस भवसागरको पार किया जा सकता है, अन्य किसी भी कर्मसे इससे पार पाना कठिन है। निरन्तर शास्त्राध्ययन और सत्सगतिके अभ्याससे जो विवेकयुक्त हो गया है, वही इन्द्रियजयी होता है और उसीको इस दृश्य-प्रपञ्चके अत्यन्ताभावका ज्ञान भी प्राप्त होता है। सौन्दर्यशालियोंमें श्रेष्ठ राम ! ससार-सागरकी श्रेणियाँ जैसे आती हैं और पुनः जैसे चली जाती हैं, वह सारा स्वरूप मैंने तुमसे वर्णन कर दिया। अब इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? मन ही कर्मरूपी वृक्षका अङ्कुर है। उस मनके नष्ट हो जानेपर कर्मरूपी शरीरवाला संसार-वृक्ष भी नष्ट हो जाता है। श्रीराम ! यह सब कुछ मन ही है। इस मनकी चिकित्सा हो जानेपर जगज्जालरूपी सारी व्याधियोंकी चिकित्सा हो जाती है। यह मन ही जब देहाकारका मनन करता है, तब लोकमें कर्म करनेमें समर्थ देह उत्पन्न होती है। भला, कहीं मनसे भिन्न भी देह देखी जाती है ? जैसे विशाल आकाशमें असत्स्वरूप गन्धर्वनगरकी प्रतीति होती है, उसी तरह विषयोंके चिन्तनसे वृद्धिंगत हुए मनमें यह सारा जगत् स्फुरित होता है। मन ही जगत् है तथा सम्पूर्ण जगत् ही मन है; ये दोनों एक साथ रहते हैं।

रघुनन्दन ! समस्त एषणाओंकी शान्ति हो जानेपर विशुद्ध-चित्त पुरुषकी जो स्थिति है, उसीको सत्य आत्मतत्त्व कहा गया है और उसीको निर्मल चैतन्य कहते हैं। निर्मल सत्त्वरूप मन जिस वस्तुके विषयमें जैसी भावना करता है, वह वस्तु तत्काल वैसी ही हो जाती है। जैसे इस समय जाग्रत्-अवस्थामें हमलोगोंको संसारका स्वयं ही प्रत्यक्ष भान होता है, उसी प्रकार स्वप्न और भ्रम आदि अवस्थाओंमें सहस्रों संसार भी मिथ्या दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे एकको दूसरेके स्वप्न और मनोरथसम्बन्धी नगरोंके व्यवहार पृथक् होनेके कारण दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिके ये संसाररूपी भ्रम पृथक्-पृथक् होनेके कारण एक दूसरेके दृष्टिगोचर नहीं होते। इसी प्रकार संकल्परूपी आकाशमें अनेक संसार-रूपी नगरोंके समुदाय हैं; परंतु वे ज्ञानदृष्टिके बिना मिथ्या नहीं प्रतीत होते। जैसे एकमात्र वसन्त ऋतुका रस ही वन, लता और गुल्म आदिके रूपमें प्रकट होता है, उसी तरह एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये मिथ्या जगत्रूपसे प्रकट हुआ है। अपना यह संकल्प ही जगत्के आकारमें प्रतीत हो रहा है, यह बात अत्यन्त परमार्थ-दृष्टिसे ही ज्ञात होती है।

अपने-अपने स्वभाव (अनादि अज्ञान) के भीतर स्थित चित्त ही प्रत्येक जीवमें इदमित्थं रूपसे प्रतीत होनेवाला यह जगत् है । इस प्रकार प्रतीतिमात्र जगत्को असत्य समझनेवाला चित्त स्वयं ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि प्रतीतिकालमें ही इस जगत्की सत्ता है । परमार्थ वस्तु (अधिष्ठानरूप ब्रह्म)-का साक्षात्कार होनेपर उसकी सत्ता नहीं रहती । चित्तकी सत्ता ही जगत् है और जगत्की सत्ता ही चित्त है । एकके अभावसे दोनोंका अभाव हो जाता है । यह इन दोनोंका अभाव सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्म-विषयक विचार करनेसे ही सम्भव है । जैसे मलिन मणिको युक्तिसे साफ करनेपर उससे शुद्ध प्रकाश प्रकट होता है, उसी तरह शुद्ध चित्तका अनुभव सत्य होता है । चिरकालतक एक परमात्माके चिन्तनरूप दृढ़ अभ्याससे चित्तकी शुद्धि होती है । जो संकल्पोंसे आक्रान्त नहीं है, ऐसे चित्तसे ज्ञानका उदय होता है । जैसे मलिन वस्त्रमें सुन्दर रंग नहीं टिकता, उसी तरह वासनासे मलिन चित्तमें ब्रह्माकाररूप एक दृष्टि स्थिर नहीं होती । वासनासे रहित होना ही चित्तकी शुद्धि है, जगत्के ज्ञानसे शून्य और एक ब्रह्माकार होना ही उसका वासनासे रहित होना है । चित्तकी शुद्धि होनेसे पुरुष शीघ्र ही प्रबुद्ध (ज्ञान-सम्पन्न) हो जाता है । चित्तका चिन्मय परमात्मरूपमें लय हो जाना ही उसकी वास्तविक शुद्धि है । इस शुद्धिका लाभ होते ही प्रबुद्ध पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है । (सर्ग १—१७)



स्वरूपकी विस्मृतिसे ही भेदभ्रमकी अनुभूति, चित्तशुद्धि एवं जाग्रत् आदि अवस्थाओंके शोधनसे ही भ्रम-निवारणपूर्वक आत्मबोधकी प्राप्ति तथा वैराग्यमूलक विवेकसे ही मोक्ष-लाभका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिस प्राणीका जिस तरहके कर्मोंका भोगानुकूल फल जहाँ जैसे रहता है, वहाँ उतना ही वह अनुभव करता है, उससे अतिरिक्त नहीं । एक व्यक्तिके हृदयमें विद्यमान जो मनोराज्य है, उसे देखने या भोगने आदिमें दूसरे व्यक्तिका मन सफल नहीं होता । यह जो असफलताको प्राप्त हुई मनकी स्थिति है, वही उसके विच्छेद यानी नानात्वमें हेतु है—यों जानना चाहिये । उस मनके भेदसे ही जीवोंके भी भेद होते हैं अर्थात् जैसे भिन्न-भिन्न मन हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न जीव भी हैं । जैसे सुवर्ण अपने ज्ञानके अभावसे कड़े-कंगन आदिके रूपको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं है, उस चेतनने स्थूल देहको स्वीकार करके संसाररूपिणी अविद्याका मिथ्या ही अनुभव किया है ।

सम्पूर्ण जीव-समूहोंका आत्मा स्वय ही अपने संकल्पसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओंको प्राप्त हुआ है । इन अवस्थाओंमें शरीर कारण नहीं है । इस प्रकार जाग्रत् आदि तीन अवस्थारूप आत्मामें ही जीवत्व है अर्थात् वह आत्मा ही जीवरूपसे स्फुरित हो रहा है; इसमें शरीरत्वका विकास नहीं है । तात्पर्य यह कि जैसे जल ही लहर एवं भँवर आदिके रूपमें विख्यात होता है—यह तात्त्विक दृष्टि प्राप्त होनेपर जलमें उससे पृथक् लहर आदिकी सत्ता नहीं रहती, उसी प्रकार जीवात्मा ही जाग्रत् आदि अवस्थारूप है—यह विचार दृढ होते ही जीवसे पृथक् देहकी वास्तविक सत्ता शेष नहीं रह जाती ।

इसी प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष सुषुप्ति-अवस्थाके अवसानभूत तुरीय पदरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मपदको ज्ञानद्वारा प्राप्त करके संसारसे निवृत्त हो जाता है; परंतु जो मूढ जीव है, वही सृष्टिमें प्रवृत्त होता है । ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी सुषुप्ति एकरूप ही है; क्योंकि अज्ञको भी सुषुप्तावस्थामें सुखकी प्राप्ति होती है । किंतु अज्ञानी जीव तो सुषुप्तावस्थामें पहुँचकर भी असम्बुद्ध (वास्तविक आत्मज्ञानसे रहित और देहात्मभावकी भ्रान्ति-वासनासे वासित) होनेके कारण सृष्टिको प्राप्त होता है, परंतु

ज्ञानी नहीं। परब्रह्म परमात्मा निर्विशेष होनेके कारण स्वभाव नहीं कहा जा सकता। निर्विकार, अद्वितीय और असङ्ग होनेके कारण जो वास्तवमें किसीका कारण नहीं है, तथापि सम्पूर्ण प्रपञ्चके आरोपका अधिष्ठानरूपसे आदिकारण है, उस निर्विशेष परब्रह्म परमात्मामें वस्तुतः कारण एवं निमित्त आदि वस्तुकी भी सम्भावना नहीं है। (अतः ब्रह्ममें बिना किसी कारणके ही प्रतीत होनेवाला यह जगत् मिथ्या ही है।)

सार वस्तु (ब्रह्म)-का ही विचार करना उचित है। असार वस्तु (दृश्य ससार)-के विचारसे क्या लाभ। बीज अपने स्वरूपका त्याग करके अङ्कुर आदिके क्रमसे फलरूपमें परिणत होता देखा जाता है, परंतु ब्रह्म वैसा नहीं है। वह अपने स्वरूपका त्याग किये बिना ही जगत्रूप अध्यारोपका अधिष्ठानरूपसे कारण होता है, बीजका अवयव आदि सब कुछ साकार है। अतः उससे निराकार परम पदरूप ब्रह्मकी तुलना करना उचित नहीं। इसलिये कल्याणस्वरूप ब्रह्मके लिये कोई उपमा सम्मत ही नहीं हो सकती। अपनेको दृश्यरूपमें देखनेवाला द्रष्टा अपने वास्तविक स्वरूप आत्माको नहीं देख सकता (इसलिये उसे अनर्थकी प्राप्ति होती है)। जिसकी बुद्धि प्रपञ्चसे आक्रान्त हो, ऐसे किसी पुरुषको अपनी यथार्थ स्थितिका ज्ञान नहीं होता।

जबतक भ्रान्तिसे मृगतृष्णामें जलकी प्रतीति हो रही है, तबतक किसीकी समझदारी किस कामकी; और जब यह ज्ञान हो गया कि यहाँ जल नहीं है, तब वहाँ मृगतृष्णा ही क्या रह गयी। जैसे नेत्र बहिर्मुख होनेके कारण अपने-आपको नहीं देख पाता, उसी प्रकार आकाशकी भाँति निर्मल होता हुआ भी द्रष्टा बहिर्मुख होनेके कारण अपने स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सकता। यह भ्रमकी प्रबलता कैसी आश्चर्यजनक है! यदि दृश्य-प्रपञ्चको दृश्यरूपसे ही सच्चा समझा जाय तो आकाशके समान निर्मल ब्रह्म यत्न करनेपर भी नहीं मिल सकता; फिर तो उसकी प्राप्ति बहुत दूर हो जाती है। श्रीराम! इसीलिये उसको दृश्य ही दिखायी देता है, द्रष्टाका दर्शन नहीं होता। वास्तवमें एकमात्र द्रष्टा ही सर्वत्र स्थित है, दृश्य नामकी कोई वस्तु यहाँ है ही नहीं (जो कुछ दिखायी देता है, वह केवल भ्रम है)। जब द्रष्टा और दृश्यमें कोई अन्तर ही नहीं रहा, तब कौन द्रष्टा और कैसा दृश्य, क्योंकि वह द्रष्टा ही दृश्यरूपमें प्रकट होता है।

जब चित्त सिद्धिको प्राप्त होता है, तब जीव जड-संसर्गसे मुक्त हो केवल शुद्ध चिन्मय आत्मस्वरूपसे स्थित होता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध एवं सर्वव्यापी है; चेतन आत्मा जहाँ जिस वस्तुकी भावना करता है, वहाँ वह तत्काल प्रकट हो जाती है। उसने स्वप्नमें भी जो कुछ देखा है, वह स्वप्नके समयमें सत्य ही है। जैसे बीजके अंदर सूक्ष्मरूपसे पत्ते, लता, फूल और फलरूप अणु रहते हैं, उसी प्रकार चेतनरूप अणुके भीतर समस्त सूक्ष्म अनुभव विद्यमान हैं। जिस पुरुषके भीतर यह विचार नहीं उठता कि मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है, वह संसारके बन्धनसे मुक्त नहीं हुआ। जिस विशुद्ध बुद्धिवाले पुरुषकी भोगलिप्सा प्रतिदिन क्षीण होती जाती है, उस वैराग्यवान्का ही विवेकयुक्त विचार सफल होता है। जैसे शरीरके द्वारा पथ्य-भोजन आदि नियमोंके साथ सेवन किया हुआ औषध ही आरोग्य प्रदान करता है, उसी प्रकार जितेन्द्रियताका अभ्यास हो जानेपर ही विवेक सफल होता है। चित्रमें अङ्कित प्रज्वलित अग्निकी भाँति जिसका विवेक केवल कथनमात्र ही है, कार्यमें परिणत नहीं हुआ है, उसने अविवेकका त्याग नहीं किया है; अतः वह अविवेक उसे दुःख ही देनेवाला होगा। जैसे स्पर्शसे ही वायुकी सत्ताका भान होता है, कथनमात्रसे नहीं, उसी प्रकार भोगेच्छाके क्षीण होनेसे ही पुरुषका विवेक जाग्रत् होता है। चित्रलिखित अमृत अमृत नहीं है, चित्रलिखित अग्नि अग्नि नहीं है, चित्रलिखित नारी

निश्चय ही नारी नहीं है; उसी तरह कथनमात्रका विवेक विवेक नहीं है, वास्तवमें अविवेक ही है। विवेकसे पहले राग और द्वेषका समूल नाश हो जाता है। तत्पश्चात् विषयभोगोंके लिये प्रयत्न सर्वथा क्षीण हो जाता है। जिस पुरुषमें विवेक जाग्रत् है, वही परम पवित्र है। (सर्ग १८-१९)

उपासनाओंके अनुसार फलकी प्राप्ति तथा जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओंका वर्णन, मनको सत्य आत्मामें लगानेका आदेश, मनको भावनाके अनुसार रूप और फलकी प्राप्ति तथा भावनाके त्यागसे विचारद्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! वे जीव अपनी सिद्धिके लिये जैसे-जैसे प्रयत्न करते हैं, उन विविध उपासनाओंके क्रमसे वे शीघ्र वैसे-ही-वैसे हो जाते हैं। देवताओंकी पूजा करनेवाले देवताओंको, यक्षोंकी आराधना करनेवाले यक्षोंको और ब्रह्मके उपासक ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। इनमें जो सर्वोत्तम है, उसी परमात्मारूप इष्टदेवका आश्रय लेना चाहिये।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! आप मुझे जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्थाओंका भेद बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिसकी प्रतीति स्थिर हो, उसे जाग्रत् कहते हैं और जिसकी प्रतीति स्थिर नहीं होती, उसे स्वप्न कहा गया है। यदि स्वप्न भी कालान्तरमें स्थित हो तो प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर उसे जाग्रत्‌की श्रेणीमें ही देखा जायगा; और यदि जाग्रत् भी कालान्तरमें स्थित नहीं है तो वह स्वप्न ही है। इस प्रकार जाग्रत् स्वप्नभावको और स्वप्न जाग्रत्-भावको प्राप्त होता है। स्वप्न भी स्वप्नकालमें स्थिर होनेके कारण जाग्रत्-भावको प्राप्त होता है और जाग्रत्‌के मनोरथ भी जाग्रत्कालमें अस्थिर होनेसे स्वप्न ही हैं; क्योंकि वैसा ही बोध होता है।

रघुनन्दन ! मैंने तुमसे यह जो कुछ कहा है—जाग्रत् आदि अवस्थाओंका वर्णन किया है, वह सब मनके स्वरूपका निरूपणमात्र है। और किसी हेतु या प्रयोजनसे यह सब नहीं कहा गया है। जैसे अग्निके सम्पर्कमें आनेसे लोहेका गोला आग बन जाता है, उसी प्रकार दृढ निश्चयसे युक्त चित्त जिस वस्तुकी बारंबार भावना करता है, उसीके आकारको प्राप्त हो जाता है। भाव, अभाव, ग्रहण और त्याग आदि सारी प्रतीतियाँ चेतनमें मनके द्वारा कल्पित हैं। ये प्रतीत होती हैं, इसलिये तो ये असत्य नहीं हैं और वास्तवमें ये हैं नहीं, इसलिये सत्य नहीं हैं। चित्तकी चपलतासे ही इनका निर्माण हुआ है। मन मोहका जनक और जगत्‌की स्थितिका कारण है। मलिन मन ही व्यष्टि और समष्टिरूपसे इस जगत्‌की कल्पना करता है। संसारकी सारी विभूतियाँ एकमात्र मनको जीतनेसे ही प्राप्त होती हैं। चित्त जिसकी भावनामें तन्मय होता है, उसे निस्संदेह प्राप्त कर लेता है। सौभाग्यशाली श्रीराम ! मनके द्वारा अभिलषित देश या विषयको शरीर प्राप्त होता है। परंतु शरीरके द्वारा आचरित देश या विषयको मन नियमतः प्राप्त नहीं होता।

जैसे सुगन्धित पुष्पके भीतर स्थित हुई वायु उसकी घनीभूत सुगन्धको प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार मननसे चञ्चल हुआ मन जिस-जिस वस्तुकी भावना करता है अथवा जिस-जिस वासनासे युक्त भावको अपनाता है, उसीके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। श्रीराम ! जैसे गन्धके भीतर स्थित हुई वायु गन्धरूपताको प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार मन जिस भावसे युक्त होता है, उसके बाद उसका वशवर्ती शरीर भी उसीके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियोंके अपने-अपने विषयमें

प्रवृत्त होनेपर उनसे कर्मेन्द्रियस्वरूप स्वतः ही इस तरह स्फुरित होता है, जैसे धूलमिश्रित वायुमें पृथ्वी अपने-आप धूलिकणोंके रूपमें स्फुरित होती है । कर्मेन्द्रियाँ क्षुब्ध होकर जब अपनी क्रियाशक्तिको प्रकट करती हैं, तब वायुमें धूल-समूहकी भाँति मनमें प्रचुर कर्म सम्पादित होता है । इस प्रकार मनसे कर्मकी उत्पत्ति हुई है और मनकी उत्पत्तिमें भी कर्मको ही बीज (कारण) बताया गया है । फूल और सुगन्धकी भाँति इन दोनोंकी सत्ता एक दूसरेसे भिन्न नहीं है । दृढ़ अभ्यासके कारण मन जैसे भावको ग्रहण करता है, वैसे ही स्पन्द और कर्म नामकी शाखाओंको वह प्रकट करता है तथा उसी तरहकी क्रियारूप उसके फलको बड़े आदरसे उत्पन्न करता है । तदनन्तर उसीके स्वाद-का अनुभव करके शीघ्र बन्धनमें पड़ता है । मन जिस-जिस भावको अपनाता है, उसी-उसीको वस्तुरूपमें पाता है । वही श्रेय है, दूसरा नहीं—ऐसा उसका निश्चय हो जाता है । अपनी-अपनी प्रतीतिके द्वारा ही दृढ़तापूर्वक भिन्नताको प्राप्त हुए (मनुष्योंके) मन सदा ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिये प्रयत्न करते हैं ।

जो अकृत्रिम अर्थात् नित्य-सिद्ध विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा है, उसके लिये प्रयत्न करनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने मनको तन्मय बना दें, जिससे उसकी प्राप्ति हो सके । यह दृश्य माया है, अविद्या है और भय देनेवाली भावना है । मनकी जो दृश्यमयता है, विद्वान्लोग उसीको (बन्धनमें डालनेवाला) कर्म कहते हैं । स्वभावमें स्थित जो यह दृश्य-तन्मयता अनुभवमें आती है, वही विद्वानोंद्वारा मदिराके समान संसारको उन्मत्त बना देनेवाली अविद्या कही जाती है । जैसे पटलनामक रोगसे अंधा हुआ पुरुष सूर्यके दीप्तिमान् प्रकाशको नहीं देखता, उसी प्रकार इस अविद्यासे

वह अविद्या संकल्पसे स्वयं उत्पन्न होती है । म
भावनाके संकल्पको त्याग देनेमात्रसे जब वह
जाती है, उस समय रसस्वरूप आनन्दमय प
ध्यानके अभ्यासकी दृढ़तासे सुशोभित श्रवण म
विचारके द्वारा सब पदार्थोंमें अनासक्ति स्थिर हो
है । फिर सत्यदृष्टिके प्राप्त होनेपर असत्य दृष्टिका
हो जाता है और वह निर्मल-स्वभाव, निर्विकल
सच्चिदानन्द परमात्मा प्राप्त हो जाता है, जो न
न असत् है न सुखी है न दुखी है तथा
कैवल्यभाव अपने हृदयमें अनुभवसे ही प्राप्त हो
जैसे यह रस्सी है या सर्प है—ऐसा संदेह
रस्सीमें सर्पभाव आरोपित होता है, उसी प्रका
रहित चिन्मय आकाशस्वरूप जीवात्माने अपनेमें
बन्धनकी कल्पना कर रक्खी है । जैसे एक ही
रात और दिनकी कल्पनासे रातमें और तरहका
देता है और दिनमें अन्य प्रकारका, उसी तरह
वस्तु ब्रह्म बारंबार उस प्रतिकूल कल्पनाद्वारा
प्रकारका भासित होता है और अपने स्वरूपमें
दूसरा ही रूप धारण कर लेता है । जो तुच्छ
आयास-रहित हैं, उपाधिशून्य है, जिसमें
नहीं है तथा जो नाना प्रकारकी कल्पनाओं
वह परब्रह्म परमात्मा ही परम सुखस्वरूप होने
सुख दे सकता है । जीवकी अपनी कल्पनासे
अभाव, शुभ और अशुभ क्षणभरमें उत्पन्न हो
और क्षणभरमें मिट जाते हैं । समस्त पद
भावके अनुसार ही फल देनेवाले हैं, यह जान
पुरुष इस परिवर्तनशील जगत्के पदार्थोंके विष
एक निश्चित रूपका प्रतिपादन नहीं कर
दृढ़ भावनाके द्वारा जिस पदार्थके विषयमें ज
निश्चित धारणा बनाये रखता है, तबतक उ
ही परिणामको वह देखता या अनुभव क

अभिन्न है, ऐसा अपने मनमें निश्चय करके तुम अपनी बुद्धिके द्वारा उस अनादि अनन्त परमात्माका अपने आपमें ही अनुभव करो—मैं ही वह परब्रह्म परमात्मा हूँ, ऐसा अनुभव करो। (सर्ग २०-२१)

दृढ़ बोध होनेपर सम्पूर्ण दोषोंके विनाश, अन्तःकरणकी शुद्धि और विशुद्ध आत्मतत्त्वके साक्षात्कारकी महिमाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो नित्यानित्य वस्तुके विवेकसे सम्पन्न है, जिसके चित्तकी वृत्तियाँ परमात्मामें विलीन होती जा रही हैं, जो ज्ञान प्राप्त करके संकल्पोंका त्याग कर रहा है, जिसका मन परमात्माके स्वरूपमें परिणत हो गया है, जो इस हेय नाशवान् जड दृश्यका परित्याग कर रहा है तथा उपादेय सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका ध्यान कर रहा है, अर्थात् जो द्रष्टा परमात्माका अनुभव करता है तथा अद्रष्टारूप दृश्यका अनुभव नहीं करता, जागरणके योग्य परम तत्त्वमें ही जाग रहा है और घनीभूत अज्ञानके विकाररूप संसारसे सोया हुआ है, जो सम्पूर्ण तुच्छ सुखोंसे लेकर हिरण्यगर्भ ब्रह्मातकके सुखोंमें अत्यन्त वैराग्यके कारण सरस और नीरस आपातरमणीय भोगोंमें आसक्त न होकर उनकी ओरसे पूर्णतया विरक्त है, जिसके मनमें किसी प्रकारकी कामना नहीं है—ऐसे अधिकारी पुरुषका अनादि जडता (अज्ञान)-रूपी आकाश आसक्तिशून्य हो जब परमात्मारूपी जलके साथ एकताको प्राप्त हो जाता है और धूपमें बर्फकी भाँति पूर्णतया विगलित हो जाता है। वर्षाकाल बीत जानेपर जैसे तरङ्गयुक्त जलसे चञ्चल मध्यभागवाली लहराती हुई नदियाँ धीरे-धीरे सूखने लगती हैं, उसी प्रकार जब विषयरूपी तरङ्गोंसे युक्त तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं तथा जैसे चूहे चिड़ियोंके जाल काट देते हैं, उसी प्रकार जब तीव्र वैराग्यसे संसार-वासनारूपी जाल टूट जाता है और हृदयकी गाँठें ढीली पड़ जाती हैं, तब जैसे निर्मलीको पीसकर जलमें डालनेसे जल स्वच्छ हो जाता है, उसी तरह विज्ञानके प्रभावसे अन्तःकरण विशुद्ध होकर प्रसन्न हो जाता है। जैसे वायुके शान्त होनेपर समुद्रमें (निश्चलता) रूप समता आ जाती है, उसी प्रकार मनके शान्त होनेपर सब जगह सर्वोत्तम शान्ति पैदा करनेवाली अज्ञानरूपी मलसे रहित उन्नत समदर्शिताका उदय होता है। इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ—जिसने जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको जान लिया है, वह परम बुद्धिमान् पुरुष वायु आदि चारों भूतोंसे रहित आकाशकोशके समान न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।

मैं कौन हूँ, यह दृश्य जगत् कैसे हुआ ?—इन सब बातोंका जबतक विवेकपूर्वक विचार नहीं किया जाता, तभीतक यह अन्धकारके समान संसारका आडम्बर खड़ा है। मिथ्या भ्रमसमूहसे उत्पन्न यह शरीर आपत्तियोंका घर है। जो आत्मभावनाके द्वारा इस दृश्यको नहीं देखता अर्थात् जो यह दृश्य नहीं है, सब कुछ आत्मा ही है—ऐसा देखता है, वही यथार्थरूपसे देखनेवाला है। जो देश और कालवश शरीरमें उत्पन्न हुए सुख-दुःखोंको भ्रमरहित दृष्टिसे 'ये मेरे नहीं हैं' इस तरह देखता है, वही यथार्थ द्रष्टा है। जो असीम आकाश, दिशा और काल आदि हैं तथा उनमें वर्तमान जो परिच्छिन्न क्रियाओंसे युक्त वस्तु है, वह सब 'मैं ही हूँ'—इस प्रकार जो सबमें अपने आत्माको देखता है, वही वास्तवमें देखनेवाला है। सर्वशक्तिमान्, अनन्तात्मा, सम्पूर्ण पदार्थोंमें स्थित, एकमात्र अद्वितीय चेतन परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हैं—ऐसा जो अपने हृदयके भीतर देखता है, वही वास्तवमें देखता है। जो विद्वान् आधि, व्याधि, जन्म, जरा और मृत्युसे युक्त इस देहको अपना स्वरूप नहीं मानता—मैं देह हूँ, ऐसा नहीं देखता, वही

यथार्थदर्शी है । सूतमें गुँथी हुई मणियोंके समान यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही ओतप्रोत है, परंतु मैं मन नहीं हूँ—इस तरह जो देखता है, वही आत्माके यथार्थ स्वरूपको देखता है । न मैं हूँ न दूसरी ही कोई वस्तु है; किंतु एकमात्र निरामय ब्रह्म ही सर्वत्र सब रूपोंमें विराजमान है—इस तरह जो देखना है, वही वास्तवमें देखता है । जिस महात्माके सांसारिक देह आदिके प्रति अपने पराये और तेरे-मेरेके भेद मिट गये हैं, वही सुन्दर दृष्टिसे सम्पन्न महापुरुष आत्माका यथार्थरूपसे अनुभव करता है । जो आकाशकी भाँति एकात्मा है और सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त होता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, ऐसा वह महात्मा पुरुष साक्षात् महेश्वर ही है । जो तम (सुषुप्ति), प्रकाश (जाग्रत्) और कलना (स्वप्न)—इन तीनों अवस्थाओंसे मुक्त हैं, कालका भी परम प्रेमास्पद आत्मा बन गया है तथा जो सौम्य, समदर्शी और अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हैं, ऐसे उस परमात्म-पदको प्राप्त हुए पुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ । सम्पूर्ण जगत्में एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है—जिसकी बुद्धिमें ऐसा निश्चय हो गया है तथा जिसकी वृत्ति (ब्रह्माकारदृष्टि) जगत्की सृष्टि, प्रलय और स्थितिरूपिणी विचित्र एवं मनोहर वैभवयुक्त कलाओंमें सदा ही एकरस है, उस परम बोधवान् शिवस्वरूप महापुरुषको नमस्कार है । (सर्ग २२)

शरीररूपी नगरीके सम्राट् ज्ञानीकी रागरहित स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलनन्दन श्रीराम ! जैसे देवराज इन्द्र अपनी अमरावतीपुरीमें निश्चिन्त होकर राज्य करते हैं, उसी प्रकार विवेकी पुरुष इस देहरूपिणी नगरीमें राज्य करता हुआ सदा निश्चिन्त एवं अपने आत्मामें स्थित रहता है । वह अपने मनरूपी मतवाले घोड़ेको कामभोगके भयानक गड्ढेकी ओर नहीं जाने देता तथा अपनी प्रज्ञारूपिणी पुत्रीको लोभके वशमें होकर नहीं बेचता । अज्ञानरूपी शत्रु राष्ट्र इसके छिद्रको नहीं देख सकता और यह संसाररूपी शत्रुके भयकी जड़ोंको ही काट देता है । तृष्णारूपिणी नदीके प्रवाहके भीतर उठनेवाली बड़ी भारी भँवरमें, जहाँ काम-भोगरूपी दुष्ट ग्राह निवास करते हैं, वह विवेकी पुरुष बहिर्मुख होकर डूबता नहीं । वह मनकी ब्रह्माकारवृत्तिमें आरूढ़ हो बाहर-भीतर परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुको न देखता हुआ सदा समता-शान्तिरूप गङ्गा-यमुनाके संगममें स्नान करता है । जिसपर सम्पूर्ण इन्द्रियरूपी जन-समुदायकी दृष्टि रहती है, उस विषय-सुखके अवलोकनसे पराङ्मुख हो वह ध्यानमें सदा सुखपूर्वक बैठा रहता है ।

सर्वव्यापक होकर भी इस शरीररूपी नगरीमें स्थित आत्मारूपी पुरुष विश्वकी कल्पनाद्वारा निर्मित विविध भोगोंका प्रारब्धानुसार उपभोग करके अपने स्वरूपभूत परमपुरुषार्थको प्राप्त होता है । समस्त पदार्थोंकी क्रियासे विमुख रहनेवाला वह विवेकी पुरुष व्यवहार-दृष्टिसे कर्म करता हुआ भी परमार्थ-दृष्टिसे कुछ नहीं करता; क्योंकि वह सम्पूर्ण व्यावहारिक कार्योंका कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सम्यक्रूपसे अनुष्ठान करता है । उस शरीर-नगरीमें रहकर हृदय-पुण्डरीकमें आरूढ़ हो वह सदा शान्तिरूप शीतल शरीरवाली लोकसुन्दरी मैत्रीरूपिणी अपनी प्रियाके साथ नित्य रमण करता है । जैसे चन्द्रमाके अगल-बगलमें चित्तको आह्लादित करनेवाली विशाखा नामक दो ताराएँ स्थित होती हैं, इसी तरह विवेकी पुरुषके दोनों पार्श्वभागोंमें सत्यता और समता नामकी दो कान्ताएँ सम्यक्रूपसे विराजमान होती हैं, जो चित्तको आह्लाद प्रदान करनेवाली हैं । जैसे सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त और समस्त शोभा-सम्पत्तिसे सुन्दर प्रतीत होनेवाले पूर्णिमाके चन्द्रमा चिरकालतक सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी सुधामयी किरणोंसे पूर्ण करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार जिसके सारे मनोरथ चिरकालके लिये परिपूर्ण हो

गये हैं, जो सर्वात्मभावरूप सम्पत्तिसे सुन्दर दिखायी देता है, वह आत्मकाम तत्त्ववेत्ता पुरुष निरन्तर अपने प्रकाशसे प्रकाशित होता है । चन्द्रमा तो पुनः क्षीण होनेके लिये प्रकाशित होते हैं, परंतु तत्त्वज्ञ फिर क्षीण नहीं होता । वह अखण्ड एकरसभावसे अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहनेके लिये प्रकाशित होता है ।

जैसे बिना किसी प्रयत्नके स्वतः प्राप्त हुए तथा व्यर्थ पदार्थोंमें मनुष्यकी दृष्टि आसक्तिशून्य होकर ही पड़ती है, उसी प्रकार विवेकी पुरुषकी बुद्धि सांसारिक कार्योंमें भी रागशून्य ही रहती है । इन्द्रियोंको प्रारब्धवश जो न्याययुक्त विषय प्राप्त होते हैं, उनका तो वह कभी निवारण नहीं करता और अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेका प्रयत्न भी नहीं करता (प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है) । इस प्रकार ज्ञानी अपने आपमें परिपूर्ण रहता है । जैसे मोर-पंखोंके आघात पर्वतको कम्पित नहीं कर सकते, उसी प्रकार ज्ञानीको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये होनेवाली चिन्ताएँ और प्रतिकूल प्राप्त वस्तुके लिये पश्चात्ताप विचलित नहीं करते । जिसके सारे संदेह निवृत्त हो गये हैं, भोगसम्बन्धी सारी उत्सुकता विनष्ट हो गयी है तथा काल्पनिक शरीर क्षीण हो गया है, वह ज्ञानी पुरुष सम्राट्के समान विराजमान होता है । जैसे अपार अनन्त क्षीरसागर अपने आपमें ही परिपूर्ण है, उसी प्रकार अपरिच्छिन्न आत्मज्ञानी अपने आपमें ही नहीं समाता अर्थात् अपने आपमें ही परिपूर्ण है और आत्मासे आत्मामें ही रमण करता है ।

इतने बड़े भूमण्डलमें वे ही पुरुष सौभाग्यशाली, शुद्धचित्त और पुरुषोचित कलाओंके ज्ञानमें गणनीय हैं, जो अपने चित्तसे पराजित नहीं हुए हैं । जिसके हृदयरूपी बिलमें कुण्डलाकार मनरूपी महान् सर्प सर्वथा शान्त हो गया है, अपने स्वरूपमें पूर्णरूपसे उदित हुए ऐसे उस अत्यन्त निर्मल तत्त्ववेत्ताको मैं प्रणाम करता हूँ ।

(सर्ग २३)

मन और इन्द्रियोंकी प्रबलता तथा उनको जीतनेसे लाभ, अत्यन्त अज्ञानी और ज्ञानीके लिये उपदेशकी व्यर्थता तथा जगत् और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! (मनसहित) इन्द्रियरूपी छः शत्रु बड़े ही दुर्जय हैं । वे तपन, अवीचि, महारौरव, रौरव, संघात और कालसूत्र—नरकके इन छः बड़े-बड़े साम्राज्योंपर प्रतिष्ठित हैं । पापरूपी मतवाले हाथी इनके वाहन हैं तथा तृष्णारूपी बाण-शलाकाओंसे वे सदा सम्पन्न रहते हैं । वे इतने कृतघ्न हैं कि सबसे पहले अपने आश्रयभूत शरीरका ही नाश करते हैं । उनका महान् कोशागार कुकर्मरूपी धनसे ही भरा हुआ है । अपने इन इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है । जिसने विवेकरूपी सूतके जालसे उन इन्द्रियरूपी दुष्ट शत्रुओंको बाँध लिया है, उसके अङ्गों (शम, दम, समता, शान्ति आदि) का वे विनाश नहीं करते । जिसने इन्द्रियरूपी भृत्योंको काबूमें कर लिया है तथा मनरूपी शत्रुको पूर्णतया बंदी बना लिया है, उस पुरुषकी विशुद्ध बुद्धि उसी तरह बढ़ती है, जैसे वसन्त ऋतुमें आमकी मञ्जरी । जिसका चित्तरूपी गर्व नष्ट हो गया है और इन्द्रियरूपी शत्रु जिसकी कैदमें आ गये हैं, उस पुरुषकी भोग-वासनाएँ उसी तरह क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतुमें कमल विनष्ट हो जाते हैं । जबतक एकमात्र परमात्मतत्त्वके दृढ अभ्यासद्वारा मनपर विजय नहीं पा ली जाती, तभीतक मध्यरात्रिमें नाचनेवाले वेतालोंकी तरह हृदयमें वासनाएँ उछल-कूद मचाये रहती हैं । मैं समझता हूँ कि विवेकी पुरुषका यही मन विवेकके द्वारा अभीष्ट कार्य करनेसे भृत्य, मन्त्रणाद्वारा उत्तम कार्य करवानेसे मन्त्री और सब ओरसे इन्द्रियोंपर आक्रमण करनेके कारण सामन्त बन जाता है । मनरूपी मन्त्री

शास्त्रविहित शुभ कर्ममें प्रवृत्त हुए पुरुषको उन निष्काम कर्मोंके करनेके लिये सलाह देता है, जो जन्म-मृत्युरूपी वृक्षोंको काटनेके लिये कुठारके समान हैं तथा भविष्यमें होनेवाले अभ्युदय (निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति) के कारण है।

किंतु जिसे जगत्की सत्यताका पूर्ण निश्चय है, 'वह अत्यन्त मूढ़ है। उस अत्यन्त मूढ़ पुरुषके प्रति यदि जगत्की असत्यताका प्रतिपादन किया जाय तो यह उपदेश वहाँ शोभा नहीं पाता—उसके मनको अच्छा नहीं लगता। परमात्मतत्त्वके विचारका अभ्यास किये बिना जगत्की सत्यताके अनुभवका अपलाप (निराकरण) नहीं हो सकता। इस संसारमें किसीका भी जो निश्चय अन्तःकरणमें जड जमाकर सुदृढ़ हो गया है, वह शास्त्रोक्त परमार्थतत्त्वका अभ्यास किये बिना कदापि नष्ट नहीं होता। जो अनधिकारीके प्रति ऐसा उपदेश देता है कि यह जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है, उस पुरुषको उन्मत्तके समान समझकर इस जगत्के उन्मत्त और मूढ़ मनुष्य उसकी पूरी हँसी उड़ाते हैं किंतु जो मदिरा पीकर मतवाला हो गया है, जो मदिरासे दूर रहनेके कारण मदमत्त नहीं हुआ है, उन दोनोंकी कहाँ एकता होती है। जैसे अन्धकार और प्रकाशको समझनेमें, छाया और धूपको पहचाननेमें कोई बाधा नहीं आती, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानीके विषयमे भी समझना चाहिये। बोधके विषयमें ज्ञानी और अज्ञानीकी कभी एकता नहीं हो सकती। अज्ञानीको कितने ही यत्नसे क्यों न समझाया जाय, उसे बाहर-भीतर जो संसारकी सत्यताका अनुभव हो रहा है, उसका वह सत्य अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें उसी प्रकार बाध नहीं कर सकता, जैसे शव अपने पैरों चल नहीं सकता। (अध्यस्त वस्तुका बाध किये बिना अधिष्ठान-तत्त्वका बोध नहीं हो सकता; इसलिये उसे बोधका उपदेश देना व्यर्थ है।)

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है—ऐसा उपदेश उस मनुष्यके प्रति देना उचित नहीं, जो अत्यन्त अज्ञानी है; क्योंकि उस अज्ञानीने तप और विद्या आदिके अनुभवसे होनेवाले संस्कारका अभाव होनेके कारण सदा उस लोकप्रसिद्ध देहात्मभावका ही अनुभव किया है। कभी भी असंसारी आत्मभावका उसे अनुभव नहीं हुआ। श्रीराम ! जिसको थोड़ा-थोड़ा ज्ञान है, उस पुरुषके प्रति ही यह उपदेश-वाणी सुशोभित (सफल) होती है। जो पुरुष पूर्ण ज्ञानी है, उसको तो 'मैं हूँ' इस प्रकार अहंकारास्पदरूपसे विचार करनेके लिये कुछ भी नहीं है। (इसलिये वह भी उपदेश देनेके योग्य नहीं है। तात्पर्य यह कि जो न तो अत्यन्त अज्ञानी है और न पूर्ण ज्ञानी ही, वही जिज्ञासु इस उपदेशका अधिकारी है।) जो शुद्ध बुद्धिसे युक्त ज्ञानी पुरुष निरन्तर यह अनुभव करता है कि यह सब कुछ शान्त परब्रह्म ही है, उसके इस अनुभवका बाध कैसे हो सकता है। आत्मामें परब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, सोनेमें अँगूठी आदिकी तरह आत्मामें अन्य किसीकी प्रातीतिक सत्ता भी नहीं है। मूढ़ पुरुष मिथ्या अहङ्कारमय है और सुन्दर बुद्धिसे युक्त ज्ञानी एकमात्र सत्य आत्मस्वरूप है। इन दोनोंके स्वभावके अन्तरका निराकरण कहीं नहीं हो सकता है। जो सर्वत्र व्याप्त, शान्त, शुद्ध, चेतन, आकाशवत् निर्विकार, निर्मल तथा उत्पत्ति-विनाशसे रहित है, वह ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। जिसके नेत्र तिमिर-रोगसे पीडित हैं, उसकी स्वाभाविक दृष्टियाँ ही आकाशमें केशोंके वर्तुलाकार गोलोंकी तरह प्रतीत होती हैं। उसी तरह चिन्मय परमात्मामे ये सृष्टियाँ प्रतिभासित होती हैं। वह चिदाकाशस्वरूप सत्यात्मा अपने आपको जैसा समझता है क्षणभरमें वैसा ही अनुभव करने लगता है। उसके दृष्टिबलसे असत्य वस्तु भी क्षणभरमें सत्य-सी प्रतीत होने लगती है।

जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंके तापको ही मृगजल या मृगतृष्णा नाम दिया गया है, उसी प्रकार जो आकाशकी-ज्यों निराकार है, उस आकाशरूप चिन्मय परमात्माके अपने स्वप्नतुल्य प्रतिभासका ही, जो वास्तवमें शून्य है, जगत् नाम रक्खा गया है। जैसे स्फटिक-शिलाका मध्यभाग वास्तवमें घनीभूत है, उसी प्रकार महाचेतन परमात्माका यह जो शान्त और निर्मल अपना स्वरूप है, वह वास्तवमें सच्चिदानन्दघन है। स्फटिक-शिलामें प्रतिबिम्बित होनेवाले वन, पर्वत और नदी आदिके स्वरूपकी भाँति 'है और नहीं है' ये दो दृष्टियाँ चिदाकाश परमात्मामें कहीं नहीं हैं। और प्रतिभासमात्रसे जो कुछ है, उस चेतन-आत्माका स्वरूप ही उस रूपमें भासित होता है—ऐसा समझना चाहिये। (सर्ग २४–३१)

शास्त्रचिन्तन, शास्त्रीय सदाचारके सेवन तथा शास्त्रविपरीत आचारके त्यागसे लाभ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! चिन्मय आकाशस्वरूप जो 'जीवात्मा' है, वही रजोगुणसे रञ्जित होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप—स्वप्रकाशरूपताका त्याग न करता हुआ ही अहंकार, प्राण, देह और इन्द्रिय आदिके संघातरूप इस विरूप देहको भी अपना आत्मा समझता है। असत्य होकर भी सत्य-सी प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णामें जल-बुद्धिके समान अपनी ही अविद्यामूलक वासनाकी भ्रान्तिसे जीव मानो अपने चिन्मयरूपसे भिन्नता (जड-देहरूपता) को प्राप्त होता है। जो लोग महावाक्य-रूप शास्त्रसे दृश्य-प्रपञ्चको आगन्तुक समझकर निर्वाण-भावमें स्थित हैं, वे अन्तरात्माकी ओर उन्मुख हुई अपनी बुद्धिसे ही भवसागरसे पार हो जाते हैं। जो उदारचेता पुरुष त्रिलोकीके वैभवको भी सदा तृणके तुल्य समझता है, उसे सारी आपत्तियाँ इस तरह छोड़ देती हैं, जैसे साँप अपनी केंचुलको। जिसके भीतर सदा सत्यस्वरूप ब्रह्मका चमत्कार स्फुरित होता है, उसकी सारे लोकपाल अखण्ड ब्रह्माण्डके समान रक्षा करते हैं। अपार विपत्तिमें पड़नेपर भी कभी कुमार्गमें पैर नहीं रखना चाहिये; क्योंकि राहु अनुचित मार्गसे अमृत पीनेका प्रयत्न करनेके कारण ही मृत्युको प्राप्त हो गया। जो पुरुष उपनिषद् आदि उत्तम शास्त्र और उनके अनुसार चलनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके सम्पर्करूपी सूर्यका, जो कि परमात्माका साक्षात्कार-रूपी तीव्र प्रकाश देनेवाला है, आश्रय लेते हैं, वे फिर कभी मोहरूपी अन्धकारके वशीभूत नहीं होते। जिसने शम-दम आदि गुणोंके द्वारा यश प्राप्त किया है, वशमें न आनेवाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं। उसकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और उसे अक्षय कल्याणकी प्राप्ति होती है। जिनका गुणोंके विषयमें संतोष नहीं है, जिनका शास्त्रोंके प्रति अनुराग है तथा जिन्हें सत्य-पालनका स्वाभाविक अभ्यास है, वे ही वास्तवमें मनुष्य हैं। उनके अतिरिक्त जो दूसरे लोग हैं, वे पशुओंकी ही श्रेणीमें हैं। जिनके यशरूपी चन्द्रमाकी चाँदनीसे प्राणियोंका हृदयरूपी सरोवर प्रकाशित है, वे क्षीरसागरके समान हैं। उनके शरीरमें निश्चय ही भगवान् श्रीहरिका निवास है।

परम पुरुषार्थरूपी प्रयत्नका आश्रय ले उत्तम उद्योगको अपनाकर शास्त्रके अनुकूल उद्वेगशून्य आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धिका भागी नहीं होता। अर्थात् वह सिद्धिका भागी अवश्य होता है। शास्त्रके अनुसार कार्य करनेवाले पुरुषको सिद्धियोंके लिये उतावली नहीं करनी चाहिये; क्योंकि चिरकालतक परिपक्व हुई सिद्धि ही पुष्ट एवं उत्तम फलको देनेवाली होती है। शोक, क्लेश और भयका परित्याग करके घमंड और शीघ्रताके आग्रहको छोड़कर शास्त्रके अनुसार व्यवहार करना चाहिये। उसके विपरीत चलकर अपना विनाश नहीं करना चाहिये। परिणाममें दुर्भाग्य प्रदान करनेवाली,

दीन, शुभ फलसे रहित जो धन, पुत्र आदि लौकिक वस्तुओंकी चिन्ता है, वह दीर्घकालतक बनी रहनेवाली प्रगाढ़ महानिद्रा ही है। उसे त्यागकर सचेत हो जाना चाहिये—विशुद्ध ज्ञानका प्रकाश प्राप्त कर लेना चाहिये। व्यवहारपरायण पुरुषोंके विचारसे लोकमर्यादाके अनुसार तथा शास्त्र और सदाचारके अनुकूल कर्म करके उत्तम फलकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जिसका चरित्र सदाचारसे सुन्दर तथा बुद्धि विवेकशील है और संसारके सुख-फलरूपी दुःखद दशाओंमें जिसकी आसक्ति नहीं है, उस पुरुषके यश, गुण और आयु—ये तीनों ही वसन्त ऋतुकी लताओंके समान उत्तम फल देनेके लिये शोभाके साथ विकासको प्राप्त होते हैं। (सर्ग ३२)

शास्त्रीय शुभ उद्योगकी सफलताका प्रतिपादन, अहंकारकी बन्धकता और उसके त्यागसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! समस्त साधनोंका अधिक अभ्यास ही सफल होता है। इसलिये सर्वत्र और सदा साधन करनेसे सब प्रकारके फलोंकी प्राप्ति सम्भव है; क्योंकि इष्ट, मित्र, स्वजन एवं बन्धु-बान्धवोंको आनन्द देनेवाले नन्दीने तालाबके किनारे आराधना करके भगवान् शिवको पाकर मृत्युपर भी विजय पा ली। दानव-सेना और धन-धान्यसे सम्पन्न बलि आदि दानवों-द्वारा देवता उसी तरह कुचल दिये गये, जैसे हाथियोंके द्वारा कमलोंसे भरे हुए सरोवर मथ डाले जाते हैं; किंतु फिर अतिशय प्रयत्न करनेके कारण देवताओंने सबसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया। राजा मरुतके यज्ञमें महर्षि संवर्तने ब्रह्माजीकी तरह देवताओं और असुरों-सहित दूसरी सृष्टि ही रच डाली थी। (अतिशय साधन और प्रयत्नसे ही उन्हें ऐसी शक्ति प्राप्त हुई थी।) शास्त्रीय विधिसे महान् साधनोंके अनुष्ठानमें अत्यन्त संलग्न रहनेवाले विश्वामित्रने बारंबार की गयी कठोर तपस्या-द्वारा दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया। राजकुमारी सावित्री अपने पति-प्रेमरूप पातिव्रत्य धर्मके प्रभावसे यमराजको जीतकर उत्तम वाणीका प्रयोग करके संतुष्ट किये हुए यम देवताकी अनुमतिसे अपने पति सत्यवान्‌को लौटा लायी। संसारमें ऐसा कोई शास्त्रीय शुभ कर्मका अतिशय अनुष्ठान नहीं है, जिसका फल स्पष्टरूपसे प्राप्त न होता हो। अपने मनमें ऐसा विचार करके कल्याणकामी पुरुषोंको सर्वोत्कृष्ट प्रयत्नसे सुशोभित होना चाहिये। सम्पूर्ण सुख-दुःख आदि अवस्थाओंकी भ्रम-दृष्टियोंका मूलोच्छेद करनेवाला परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही है। अतः परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधनका अतिशय अभ्यास करना चाहिये। संसार-सागरको पार करनेके लिये सत्पुरुषोंके सङ्ग और सेवाके बिना तप, तीर्थ तथा शास्त्राभ्यास आदि कोई भी साधन सफल नहीं होते। जिसके सेवनसे लोभ, मोह और क्रोध प्रतिदिन क्षीण होते हों और जो शास्त्रके अनुसार अपने कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहता है, वही श्रेष्ठ पुरुष है।

जबतक अन्तःकरणके आकाशमें चैतन्यरूपी चाँदनी अहंकाररूपी मेघमालासे आच्छादित है, तब-तक वह परमार्थरूपिणी कुमुदिनीको विकसित नहीं कर सकती। जबतक हृदयाकाशमें अहम्भावका बादल उमड़-घुमड़कर बढ़ता जाता है, तभीतक तृष्णारूपी कुटज-कुसुमकी मञ्जरी विकासको प्राप्त होती है। वह मिथ्याकल्पित अहंकार दूषित अन्तःकरणमें अनन्त संसार-बन्धनमें डालनेवाले मोहको जन्म देता है। 'यह देह मैं हूँ' इस प्रबल मोहसे बढ़कर अनर्थकारी दूसरा अज्ञान इस संसारमें न कभी हुआ है और न होगा ही। इस संसारमें यह जो कुछ भी सुख-दुःखरूपी विकार आता है, उसके रूपमें अहंकार-चक्रका ही

मुख्य विकार बढ़ रहा है। जिस पुरुषने अज्ञानसे आरोपित अहंकाररूपी वृक्षके अङ्कुरको विवेकपूर्वक विचारसे संस्कृत मनरूपी हलके द्वारा जोतकर उखाड़ फेंका है, उसके आत्मारूपी खेतमें संसार-तापका नाशक एवं सहस्रों शाखाओंसे युक्त अच्छेद्यज्ञानरूपी वृक्ष बढ़ता और फलता है। जिस नराधमको अहंकाररूपी पिशाचने पकड़ लिया है, उसके उस पिशाचको मार भगानेके लिये विवेकके बिना न कोई शास्त्र समर्थ हैं न मन्त्र।

श्रीरामजीने पूछा---भगवन्! ब्रह्मन्! कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे अहंकार नहीं बढ़ता? आप संसाररूपी भयकी शान्तिके लिये वह उपाय मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा---रघुनन्दन! आत्मा चैतन्यमय दर्पणके समान शुद्ध है। उसमें उसके पूर्वोक्त शुद्ध स्वरूपका निरन्तर स्मरण करनेसे अहंकार नहीं बढ़ता। यह जगत् झूठे इन्द्रजालकी शोभाके समान है। इसमें अनुराग या वैराग्यसे मेरा क्या प्रयोजन है---ऐसा मनमें विचार करते रहनेसे अहंकार उत्पन्न ही नहीं होता। श्रीराम! इस त्रिलोकीमें तीन प्रकारके अहंकार होते हैं। उनमें दो प्रकारके अहंकार तो श्रेष्ठ हैं, किंतु तीसरा त्याज्य है। मैं उनका वर्णन करता हूँ, सुनो! मैं ही यह सम्पूर्ण विश्व हूँ। मैं ही अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ। मेरे सिवा दूसरा कुछ नहीं है---इस तरहका जो अहंकार है, उसे उत्तम समझना चाहिये। यह अहंकार जीवन्मुक्त पुरुषकी मोक्ष-प्राप्तिके लिये है। यह बन्धनमें डालनेवाला नहीं होता। 'बालके अग्रभागके सौ टुकडे करनेपर जो सौवाँ हिस्सा होता है, उसीके समान मुझ जीवात्माका सूक्ष्म स्वरूप है अर्थात् मैं अवयवसे रहित हूँ, अतएव सबसे भिन्न हूँ।' इस प्रकारका जो अनुभव है, वही दूसरा शुभ अहंकार है। वह भी साधकके मोक्षके लिये ही है, बन्धनके लिये नहीं। उपर्युक्त अहंकारके नामसे केवल कल्पना होती है। वास्तवमें वह नहीं है। यह हाथ-पैर आदिसे युक्त शरीर ही मैं हूँ, इस प्रकारका जो मिथ्या अभिमान है, वही तीसरा अहंकार है। वह लौकिक एवं तुच्छ ही है। उस दुष्ट अहंकारको त्याग देना ही चाहिये; क्योंकि वह सबसे बड़ा शत्रु माना गया है। पहले बताये गये जो दो अहंकार हैं, उनको स्वीकार करके 'मैं देह नहीं हूँ' ऐसा विचारसे भी निश्चय कर लेनेके पश्चात् उन दोनोंको भी अन्तिम तीसरे अहंकारकी भाँति ही लौकिक समझकर त्याग देना उचित है---ऐसा प्राचीन महापुरुषोंका मत है। प्रथम दो अहंकार अलौकिक हैं। उन दोनोंको अङ्गीकार करके तीसरे लौकिक अहंकारका, जो दुःख देनेवाला है, त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि यह तीसरा अहंकार सर्वथा त्यागने ही योग्य है। इस दुःखदायी अहंकारको त्यागकर पुरुष जैसे-जैसे ज्ञानमें स्थित होता जाता है, वैसे-ही-वैसे वह परमात्मभावकी ओर बढ़ता जाता है। निष्पाप रघुनन्दन! यदि पुरुष पूर्वोक्त दो अहंकारोंकी भावना करता रहे तो उसे परमपद प्राप्त हो जाता है; और यदि उनका भी त्याग करके सम्पूर्ण अहंकारोंसे रहित हो जाय तो वह अत्यन्त उच्च पद (परमात्मभाव)-में शीघ्र ही आरूढ़ हो जाता है। महामते! जिस जीवका अहंकार शान्त हो गया है, उसे भोग रोगके समान जान पड़ते हैं। जैसे अच्छी तरहसे तृप्त हुए पुरुषको विषमिश्रित रस स्वादिष्ट नहीं प्रतीत होते, उसी प्रकार उसे भोग अच्छे नहीं लगते। रघुनन्दन! अहंकारकी स्मृतिका भी सर्वथा त्याग करके अतिशय पुरुषार्थरूप प्रयत्नके द्वारा भवसागरको पार किया जाता है। पहले 'सब मैं ही हूँ और ये सब मेरे हैं' ऐसा समझकर फिर 'यह देह आदि मैं नहीं हूँ और इस देहके सम्बन्धी भी मेरे कुछ नहीं हैं' ऐसा विचार करके उससे सब प्रतिबन्धकोंका नाश होनेसे प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए स्तुत्य आत्मज्ञानको अपने हृदयमें उतारकर महात्मा पुरुष परम पदको प्राप्त कर लेता है। (सर्ग ३३)

मनोनिग्रहके उपाय—भोगेच्छा-त्याग, सत्सङ्ग, विवेक और आत्मबोधके महत्त्वका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जिन्होंने अविद्याके घनीभूत विलासोंसे विषयोंकी ओर उन्मुख हुए अपने मनको जीत लिया है, उन महाशूर श्रेष्ठ पुरुषोंकी ही सदा विजय होती है। सब प्रकारके उपद्रवोंको प्राप्त करानेवाले इस संसारके दुःखको निवारण करनेका एकमात्र उपाय यही है कि अपने मनको वशमें किया जाय। ज्ञानका जो सारभूत सर्वस्व है, उसे बताता हूँ; उसे सुनकर हृदयमें धारण करना चाहिये। भोगकी इच्छामात्र ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। जैसे जहाँ काँटोंके बीज बिखेर दिये गये हैं, वह भूमि काँटोंके समुदायको ही उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वासनासे आवृत हुई बुद्धि केवल दोषोंको ही जन्म देती है। जिसमें वासना-समूहका कोई लगाव नहीं है, अतएव जहाँ राग और द्वेष नहीं देखे गये हैं, वह चाञ्चल्यरहित बुद्धि धीरे-धीरे परम शान्तिको प्राप्त हो जाती है। जैसे जहाँ उत्तम बीज बोया गया है, वह भूमि समयपर श्रेष्ठ फल देनेवाले पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार शुभ बुद्धि दोषरहित, शुभ एवं उत्तम गुणोंको ही सदा प्रकट करती है। जब शुभ भावोंके अनुसंधानसे मन प्रसन्न (शुद्ध) हो जाता है और धीरे-धीरे मिथ्याज्ञानरूपी घने मेघ शान्त हो जाते हैं, सुजनतारूपी चन्द्रमा जब शुक्लपक्षकी भाँति उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होने लगता है और आकाशमें सूर्यके तेजकी भाँति पुण्यमय विवेकका प्रसार हो जाता है, अन्तःकरणरूपी बाँसके भीतर धैर्यरूपी मोतीकी वृद्धि होने लगती है, वसन्त ऋतुमें चटकीली चाँदनीके प्रसारसे चरितार्थ होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति जब अन्तःकरणकी स्थिति आत्मज्ञानजनित परमानन्दकी प्राप्तिसे सर्वथा सफल हो जाती है, शीतल छायावाले सत्सङ्गरूपी फलवान् वृक्ष जब फलने लगते हैं तथा ध्यान-समाधिरूप सरल वृक्ष जब आनन्दमय सुन्दर रस टपकाने लगता है, उस समय मन निर्द्वन्द्व, निष्काम और उपद्रवशून्य हो जाता है। उसके चपलतारूपी अनर्थ तथा शोक, मोह और भयरूपी रोग शान्त हो जाते हैं। शास्त्रोंके अर्थके विषयमें उसका सारा संदेह दूर हो जाता है। उसमें सभी सांसारिक पदार्थोंको देखनेकी उत्कण्ठाका अभाव हो जाता है। उसकी कल्पनाओंके जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वह मोहरहित एवं वासनाशून्य हो जाता है। उसमें आकाङ्क्षा, उपाक्रोश (परनिन्दा), अपेक्षा और दुश्चिन्ताका अभाव हो जाता है। वह शोक-रूपी कुहरेसे रहित और आसक्तिशून्य होता है तथा उसके हृदयकी अज्ञानकी गाँठें खुल जाती हैं।

विशुद्ध आत्मा न तो संसारी पुरुष है, न शरीर है और न रुधिर ही है; शरीर आदि सब जड़ हैं, किंतु शरीरी (आत्मा) आकाशके समान निर्लेप है। जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही बन्धनके लिये रेशमी तन्तुओंका जाल रच लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा मनमें विकल्प-वासनाओंका प्रसार करके अपने बन्धनके लिये सुदृढ़ जगत्‌रूप जालकी रचना कर लेता है। जीवात्मा इस वर्तमान देहभ्रमका त्याग करके फिर दूसरे देश और दूसरे कालमें अन्यदेहभावको धारण करता है; जीवात्माके मनमें जैसी वासना होती है, वैसा ही शरीर उत्पन्न होता है। जीवात्माका चित्त जैसी वासना लेकर सोता है, रातको स्वप्नमें वैसा ही बनकर रहता है। इमलीका बीज यदि शहदके रससे सींचा जाय तो अङ्कुर आदिके क्रमसे वृक्ष बनकर फलनेके समय भी वह उस मधुसे अनुरञ्जित होकर मधुर फल ही देता है और वही बीज यदि विषके प्रतिनिधिभूत धतूरे और करञ्ज आदि लताके पीसे हुए चूर्णके रससे सींचा जाय तो उसका फल कडुवा ही होता है। महती शुभ वासनासे मनुष्यका चित्त महान् होता है। मनुष्य 'मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकारका मनोरथ होनेपर इन्द्ररूपमें प्रतिष्ठित होनेका स्वप्न देखता है। इसी तरह मनुष्यका क्षुद्र वासनासे वासित हुआ चित्त तुच्छ क्षुद्रताको

देखता है। पिशाचका भ्रम होनेसे मनुष्य रातको स्वप्नमें पिशाचोंको ही देखने लगता है। जैसे प्रतिदिन क्षीण होता हुआ चन्द्रमा अपने पूर्ण होनेकी आशाको कभी नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दरिद्रता आदिसे पीड़ित होनेपर भी उद्योगशील श्रेष्ठ पुरुष उदारगतिका परित्याग नहीं करता। वास्तवमें तो न यहाँ बन्धन है और न मोक्ष है, न बन्धनका अभाव है न बन्धनकी सत्ता ही है। इन्द्रजाल-लताकी भाँति यह झूठी माया ही प्रकट हुई है। बन्धन और मोक्षकी अवस्थाओंसे तथा द्वैत और अद्वैतसे रहित यह सम्पूर्ण विज्ञानानन्दमयी ब्रह्म-सत्ता ही है—ऐसा निश्चय ही परमार्थ है। यह जगत् परमात्माका स्वरूप ही है, ऐसा ज्ञान हुए बिना यह दृश्य जगत् दुःख देनेवाला ही होता है और यदि वैसा ज्ञान हो गया तो यह दृश्य मोक्ष प्रदान करनेवाला होता है। जल भिन्न है और तरङ्ग भिन्न, इस प्रकार अनेकता और भिन्नताका बोध अज्ञान है। जल ही तरङ्ग है, इस प्रकार एकत्वबोधसे यथार्थ ज्ञान सिद्ध होता है। जैसे स्नेहरहित बन्धुके मिलने और बिछुड़नेसे मनुष्यको न सुख होता है न दुःख, उसी प्रकार परमात्माका तात्त्विक ज्ञान हो जानेपर इस पाञ्चभौतिक शरीरके रहने या बिछुड़नेसे पुरुष सुख या दुःखसे लिप्त नहीं होता। वासना-रहित एवं शान्तचित्त हुआ अपने देह-नगरका स्वामी जीवात्मा आक्षेप (संकोच)-शून्य, सर्वव्यापी और सबका अधिपति हो जाता है। चित्तके सर्वथा विगलित (शान्त) हो जानेपर अपने दोषोंका त्याग करके धीर हुई बुद्धिसे युक्त पुरुष मृत्यु और जन्म होनेपर प्राप्त होनेवाली पारलौकिक और ऐहलौकिक नीरस गतियोंपर दृष्टिपात करके विवेक—विचारद्वारा परमात्मरूपी दीपक पाकर तापरहित हो अपने देहरूपी नगरमें आनन्दपूर्वक प्रतिष्ठित होता है। (सर्ग ३४-३५)

सर्वत्र और सभी रूपोंमें चेतन आत्माकी ही स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे जो तरङ्गें भविष्यमें प्रकट होनेवाली हैं और अभी व्यक्त नहीं हुई हैं, वे समुद्रके जलमें अभिन्नरूपसे स्थित हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें भावी सृष्टियाँ उस सत्स्वरूप परमात्मासे पृथक् नहीं हैं; क्योंकि उनकी स्वतः सत्ता नहीं है, परमात्माकी सत्तासे ही उनकी सत्ता है। जैसे आकाश सर्वत्र व्यापक होकर भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण दृष्टिमें नहीं आता, उसी प्रकार निरवयव शुद्ध चेतन परमात्मा सर्वव्यापी होनेपर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे जलमय समुद्रमें जो नाना प्रकारकी असंख्य तरङ्गें उठती हैं, उनका वह नानात्व जलसे पृथक् भाव-विकारवाला नहीं है, उसी प्रकार चैतन्य ब्रह्मस्वरूप चिन्मय समुद्रमें 'तू', 'मैं', 'यह', 'वह' इत्यादि रूपसे जो प्रचुर नानात्वरूपमें जगत् भासित होता है, वह उस ब्रह्मरूप चैतन्य-सिन्धुसे पृथक् नहीं है। वास्तवमें चेतन परमात्मा न अस्त होता है न उदित, न उठता है न खड़ा होता या बैठता है, न आता है न जाता है, न यहीं है और न यहाँ नहीं है। रघुनन्दन! वह निर्मल चेतन परमात्मा स्वयं अपने आपमें ही स्थित है। वही भ्रमसे प्रतीत होनेवाले जगत् नामक प्रपञ्चके रूपमें विस्तारको प्राप्त हुआ है। जैसे तेज ही तेजःपुञ्ज (सूर्य आदि)के रूपमें और जल ही जलराशि (समुद्र आदि) के रूपमें स्फुरित होता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा ही अपने स्पन्दनभूत सृष्टिके रूपमें स्फुरित हो रहा है।

चेतन परमात्मा ही आकाशरूपसे अवकाश प्रदान करता है, जिससे अङ्कुरको बाहर निकलने या फैलनेका अवसर मिलता है। स्पन्दात्मक वायुरूपसे वह उसका आकर्षण करता है, जिससे अङ्कुर बाहर निकलता है। वही जलरूप होकर रसरूपसे अङ्कुरको स्नेहयुक्त बनाता है। वही सुदृढ़ पृथ्वीरूपसे उस अङ्कुरको दृढ़ता प्रदान

करता है और तेजरूप होकर उसे अपना रूप देता है, जिससे वह दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार वह परमात्मा स्थावर-जङ्गम जगत्पर अनुग्रह करता है। वही परमात्मा हेमन्त आदि कालरूपसे प्रकट होकर जौ आदि अङ्कुरोंके विरोधी तृण आदिकी उत्पत्तिमें बाधक बनता है और उन अङ्कुरोंकी उत्पत्तिके अनुकूल वातावरण तैयार करता है। वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही फूलोंमें धीरे-धीरे केसरका संचय करके गन्धरूपमें प्रकट होता है। मिट्टीके भीतर रसरूपताको प्राप्त हो वही वृक्षकी वृद्धिके द्वारा स्थाणुभाव (मूल और तनेके रूप) को प्राप्त होता है। उस मूलमें स्थित हुए सुन्दर रसलेश ही फलके रूपमें प्रकट होते हैं तथा वे ही पल्लवोंमें प्रविष्ट हो रेखाएँ बनकर पत्र आदिके स्वरूपको प्राप्त होते हैं। वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही वृक्षोंमें इन्द्रधनुषके समान नूतनताका सम्पादन करता हुआ उनपर अनुग्रह करता है। स्थिरतारूप चतुरताको प्रकट करनेवाली नियतिरूपसे वही स्थितिको प्राप्त होता है। उसी परमात्माके अनुग्रहसे धारणरूप धर्मवाली यह धीर वसुन्धरा प्रलयकालतक स्थित रहती है।

इस प्रकार सब ओर स्थित और सुस्थिर आकारवाली ये समस्त संसार-पंक्तियाँ, जो ब्रह्मकी स्वभावभूत हैं, बारबार आती-जाती रहती हैं। यह सारा जगत् एक दूसरेके प्रति कारणभावको प्राप्त होकर अपने अधिष्ठानभूत चैतन्यके सकाशसे स्वयं ही उत्पन्न हुआ है और एक-दूसरेके द्वारा नष्ट होता हुआ यह उस अधिष्ठानभूत चैतन्यमें स्वयं ही लीन होता है। जैसे अगाध जलमें होनेवाला स्पन्दन भी स्वतः अस्पन्दन ही है; क्योंकि वहाँ जलसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार चेतन आत्मामें प्रकट हुआ सदसद्रूप जगत् भी वास्तवमें अप्रकट ही है; क्योंकि वह सब ज्ञानसे चेतन-स्वरूप ही अनुभूत होता है। (सर्ग ३६-३७)

ज्ञानी और अज्ञानीका अन्तर, वासनाके कारण ही कर्तृत्वका प्रतिपादन तत्त्वज्ञानीके अकर्तापन एवं बन्धनाभावका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसी परिस्थितिमें सुख-दुःख आदि भोग देनेवाले कर्मोंमें या ध्यान-समाधिमें तत्त्वज्ञानियोंका जो यह कर्म या कर्तृत्व दिखायी देता है, वह वास्तवमें असत् है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है। परंतु मूर्खोंका वह कर्म (कर्तृत्वाभिमान होनेके कारण) असत् नहीं है (यही ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर है)। पहले यह विचार करना चाहिये कि कर्तृत्व किसका नाम है। अन्तःकरणमें स्थित जो मनकी वृत्ति है, उसका निश्चय—अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य है, इसका विश्वास वासना कहलाता है। वह वासना ही 'कर्तृत्व' शब्दसे प्रतिपादित होती है; क्योंकि वासनाके अनुसार ही मनुष्य चेष्टा करता है और चेष्टाके अनुसार ही फल भोगता है। अतः कर्तृत्वसे फलभोक्तृत्व होता है—यह सिद्धान्त है। कहा भी है—'पुरुष कर्म करे या न करे, वह स्वर्गमें या नरकमें, सर्वत्र उसीका अनुभव करता है जैसी उसके मनमें वासना होती है। इसलिये जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, वे पुरुष कर्म करें या न करें, तो भी उनमें वासना होनेके कारण कर्तृत्व अवश्य है। इसके विपरीत जिन्हें तत्त्वज्ञान हो गया है, वे कर्म करें तो भी उनमें कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे वासनासे सर्वथा शून्य हैं। तत्त्वज्ञानीकी वासना शिथिल हो जाती है, इसलिये वह कर्म करता हुआ भी उसके फलकी इच्छा नहीं रखता। उसकी बुद्धि कर्तृत्वाभिमान और आसक्तिसे रहित होती है, अतः वह अनासक्त भावसे केवल चेष्टामात्र करता है। उसे जो कुछ भी प्रारब्धके अनुसार कर्मोंका फल प्राप्त होता है, वह उस सारे कर्म-फलको यह आत्मा ही है—ऐसा अनुभव करता है। परंतु जिसका मन फलासक्तिमें डूबा हुआ है, वह कर्म न करके भी कर्ता ही माना जाता

है। मन जो कुछ करता है, वही किया हुआ होता है। मन जिसे नहीं करता, वह किया हुआ नहीं होता; अतः मन ही कर्ता है, शरीर नहीं। चित्तसे ही यह संसार प्राप्त हुआ है, इसलिये यह चित्तमय ही है, केवल चित्तमात्र होकर चित्तमें स्थित है—यह बात पहले विचारपूर्वक निर्णीत हो चुकी है। सम्पूर्ण विषय और विभिन्न प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ—ये सब शान्त होकर जब वासनारूप हो जाते हैं, तब उस वासनारूप उपाधिसे युक्त जीवात्मा ही रहता है। उनमेंसे जो आत्मतत्त्वके ज्ञाता हैं, उनका मन वर्षाकालमें मृगतृष्णाके जल और प्रचण्ड धूपमें हिमकणके समान गलकर जब परम शान्त हो जाता है, तब तुरीय दशाको प्राप्त हो, उसी परमात्मरूपमें स्थित हो जाता है। विद्वान् लोग ज्ञानियोंके मनको न तो आनन्दमय मानते हैं और न अनानन्दमय ही। उनका मन न चल है, न अचल है। न सत् है, न असत् है और न इनका मध्य ही है। बल्कि वह इन सबसे विलक्षण अनिर्वचनीय है। जैसे हाथी छोटी तलैयामें नहीं डूबता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष वासनामय चेष्टारसमें नहीं मग्न होता। मूर्खका मन तो भोगोंको ही देखता है, परमार्थतत्त्वको नहीं। तत्त्वज्ञानीकी चित्तवृत्ति सांसारिक विपत्तिमें भी प्रसन्न ही रहती है। वह चाँदनीकी तरह भुवनमात्रको प्रकाशित करती है। चित्तके संयोगके बिना कर्म करता हुआ भी ज्ञानी अकर्ता ही है; क्योंकि वह कर्म मनको लिप्त नहीं करता। वह यत्नपूर्वक किये हुए हाथ-पैर आदिके सचालनरूप कर्मके फलको भी नहीं भोगता। बालक मनसे ही नगरका निर्माण और उसकी सफाई एवं सजावट करता है तथा उस मनःकल्पित नगरको खेल-खेलमें ही अकृत-सा अनुभव करता है; उसको उपादेयरूपसे नहीं ग्रहण करता। उसके सुख-दुःखको स्वाभाविक-सा देखता है। मनके द्वारा किये गये नगरके विध्वंसको वास्तविक विध्वंस समझकर खेल-खेलमें दुःखका-सा भी अनुभव करता है। साथ ही यह भी समझता रहता है कि यह वास्तविक दुःख नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानी कर्म करता हुआ भी वास्तवमें उससे लिप्त नहीं होता। जिनका मन पूर्ण आत्मामें ही संलग्न है, उन ज्ञानियोंकी दृष्टिसे तो वस्तुतः संसारमें मोक्ष नहीं है। जिनका मन आत्मामें संलग्न नहीं है, उन्हीं लोगोंकी दृष्टिसे यह बन्धन-मोक्ष आदि सब कुछ है।

किंतु वास्तवमें तो न बन्धन है न मोक्ष है, न बन्धनका अभाव है और न बन्धनके कारणभूत वासना आदि ही हैं। परमात्मतत्त्वका ज्ञान न होनेसे ही यह दुःख है। यथार्थ ज्ञानसे उसका लय हो जाता है।

(सर्ग ३८)

सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेसे सबकी परब्रह्मरूपताका प्रतिपादन; अत्यन्त मूढको नहीं, विवेकी जिज्ञासुको ही 'सर्वं ब्रह्म'का उपदेश देनेकी आवश्यकता तथा बाजीगरके दिखाये हुए खेलकी भाँति मायामय जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! महात्मन्! ऐसी स्थितिमें यदि वस्तुतः बन्धन और मोक्ष कल्पित ही हैं, एकमात्र परब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान हैं तो बिना दीवारके चित्रकी भाँति इस निराधार सृष्टिका आगमन कहाँसे हुआ? यह कृपापूर्वक बताइये।

*श्रीवसिष्ठजीने कहा—*राजकुमार! ब्रह्मतत्त्व ही इस सारी सृष्टिके रूपमें विद्यमान है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। इसलिये उस ब्रह्ममें सारी शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सत्त्व, असत्त्व, द्वित्व, एकत्व, अनेकत्व, आदित्व और अन्तत्व—ये परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले सारे भाव परब्रह्ममें हैं। परंतु वे उससे भिन्न नहीं हैं। जैसे समुद्रका जल-प्रवाह उल्लास एवं विकासको प्राप्त हो उत्ताल तरङ्गों-

द्वारा अपनी नानाकारताका दर्शन कराता हुआ प्रकट होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म चित्तका तथा चित्तस्वरूप होनेके कारण कर्ममयी, वासनामयी और मनोमयी सारी शक्तियोंका संचय, प्रदर्शन, धारण, उत्पादन और संहार करता है। समस्त जीवोंकी सब ओर फैली हुई सारी दृष्टियोंकी और समस्त पदार्थोंकी परब्रह्मसे ही निरन्तर उत्पत्ति होती है। जैसे लहरें समुद्रसे ही उत्पन्न होती और उसीमें लीन हो जाती हैं, इसलिये सदा समुद्ररूप ही हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ परमात्मासे उत्पन्न होकर उसीमें लीन होते हैं। फलतः चिन्मय परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण वे परमात्मरूप ही हैं।

निष्पाप रघुनन्दन ! यह सब निर्मल ब्रह्म ही विराजमान है। यहाँ मल नामक कोई वस्तु नहीं है। समुद्रमें तरङ्ग-समूहोंके रूपसे जल ही स्फुरित होता है, मिट्टी नहीं। रघुकुलतिलक ! यहाँ एकमात्र परब्रह्मके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी कल्पना ही नहीं है, जैसे अग्निमें उष्णताके सिवा और कोई कल्पना ही नहीं है। जिसकी बुद्धि पूर्णरूपसे व्युत्पन्न नहीं हुई है— जिसमें आधी समझ और आधी मूढ़ता है, उसे 'यह सब ब्रह्म ही है' यह उपदेश अच्छा नहीं लगता। वह दृश्योंको उपस्थित करनेवाली भोगदृष्टिसे सदा दृश्य पदार्थोंकी ही भावना करता हुआ नष्ट (तत्त्वज्ञानरूप परमार्थसे भ्रष्ट) हो जाता है। किंतु जो तत्त्वज्ञानरूप परमार्थ-दृष्टिको प्राप्त है, उस पुरुषके भीतर विषय-भोगकी इच्छा नहीं उत्पन्न होती। उसके लिये तो 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसा समयोचित उपदेश भी उपयुक्त होता है। जिसकी बुद्धि पूर्णतया व्युत्पन्न नहीं है, ऐसे शिष्यको उन सद्गुणोंद्वारा शुद्ध करे, जिनमें शम (मनोनिग्रह) और दम (इन्द्रियनिग्रह) की प्रधानता हो। तत्पश्चात् यह उपदेश दे कि यह सब कुछ ब्रह्म है तथा तुम भी विशुद्ध ब्रह्म ही हो। जो अज्ञानीको अथवा आधी समझवाले पुरुषको 'सर्वं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म है) यह उपदेश देता है, उसने मानो उस शिष्यको महान् नरकोंके जालमें डाल दिया। जिसकी बुद्धि पूर्णतया व्युत्पन्न है, जिसकी भोगेच्छा नष्ट हो गयी है और कामना सर्वथा मिट गयी है, उस महात्मामें अविद्यारूपी मल नहीं है। अतः उसीके लिये 'सर्वं ब्रह्म'का उपदेश देना उचित है। जो शिष्यकी परीक्षा लिये बिना ही उसे उपदेश देता है, वह अत्यन्त मूढ़ बुद्धिवाला उपदेशक महाप्रलय-पर्यन्त नरकको प्राप्त होता है।

ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वगत और सर्व-स्वरूप है। यह ब्रह्म मैं ही हूँ, यों समझना चाहिये। अपनी मायाद्वारा विचित्र कार्य करनेवाले ऐन्द्रजालिकों (बाजीगरों) को तो तुम देखते ही हो। वे मायाके द्वारा सत्को असत् और असत्को सत् बना देते हैं। उसी प्रकार परमात्मा अमायामय होकर भी मायामय महान् ऐन्द्र-जालिककी भाँति बनकर सकल्पके द्वारा घटको पट बनाता है और पटको घट। मेरुके सुवर्णमय तटप्रान्तमें लहराते हुए नन्दनवनकी भाँति पत्थरपर लता पैदा करता है और कल्पवृक्षोंपर प्रकट हुए रत्नके गुच्छोंकी भाँति लतामें प्रस्तर पैदा कर देता है तथा आकाशमें सुन्दर वन लगा देता है। गन्धर्वनगरमें दीखनेवाले उद्यानकी भाँति उस भावी जगत्में कल्पनाद्वारा आकाशमें ही नगरकी रचना कर देता है—आकाशको ही नगररूपमें दिखा देता है। व्योमकी नीलिमाको नष्ट-सी करके उसे भूतल बना देता है। गन्धर्वनगरके राजमहलमें बहुत-सी महिलाओंकी भाँति भूतलमें आकाशकी स्थापना कर देता है। पद्मराग-मणिके बने हुए लाल फर्शमें प्रतिबिम्बित हुआ आकाश जैसे आधारकी लालिमासे ही लाल दिखायी देता है, उसी प्रकार जगत्में जो कुछ है, होगा या था, वह सब ब्रह्मकी सत्तामें ही सत्-सा प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वर संकल्पके द्वारा स्वयं व्यक्तरूप हो विचित्र वेश-भूषाको अपनाकर स्वयं अपने आपको दिखलाता है। श्रीराम ! जब कि इस जगत्में एक ही वस्तु सब प्रकारसे सर्वत्र सब रूपोंमें

प्रकट होती है, सभी रूपोंमें एक ही सद्-वस्तु विद्यमान है, तब हर्ष, ईर्ष्या और आश्चर्यके लिये अवसर ही कहाँ है। अतः धैर्यशाली होकर सदा समभावसे ही स्थित रहना चाहिये। जो समतासे युक्त है, वह तत्त्वज्ञानी पुरुष आश्चर्य, गर्व, मोह, हर्ष और अमर्ष आदि विकारोंको कभी प्राप्त नहीं होता। (सर्ग ३९)

दृश्यकी असत्ता और सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन, मायाके दोष तथा आत्मज्ञानसे ही उसका निवारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! परब्रह्म परमात्माकी जो निर्मल चैतन्य-शक्ति है, वह सर्वशक्तिमती है। वह परमात्माके सकाशसे स्वाभाविक ही विभिन्न रूपोंकी कल्पना करती हुई भावी देह आदि आकृतियोंकी किंचित् स्फुरणाके रूपमें स्वयं ही दृश्य जगत् बन जाती है। उस चेतन शक्तिका संकल्परूप मन ही अपने संकल्पमात्रसे क्षणभरमें गन्धर्वनगरके समान इस असत् (मिथ्या) दृश्यप्रपञ्चका विस्तार कर देता है। सब ओर प्रकाशित होता हुआ वह स्वयम्प्रकाश सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही जब बाह्यदृष्टिसे दृश्यमान आकाशरूप होकर स्थित होता है, वही यह सबकी दृष्टि (अनुभव) में आनेवाला प्रसिद्ध आकाश है। वही परमात्मा कमलजन्मा ब्रह्माका संकल्प करके उनके उस स्वरूपको देखता है। तदनन्तर दक्ष आदि प्रजापतियोंकी कल्पना करके जगत्की कल्पना करता है। श्रीराम! इस प्रकार चौदह भुवनोंमें रहनेके कारण चौदह प्रकारके अनन्त प्राणिसमुदायके कोलाहलसे युक्त यह सृष्टि परमात्माके चित्तसे ही निर्मित हुई है। भूतलसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्राणियोंमें जो ये मनुष्य-जातिके प्राणी हैं, ये ही आत्मज्ञानके उपदेशके पात्र हैं।

श्रीराम! यह जगत् अमुक निमित्तसे और अमुक उपादानसे उत्पन्न हुआ है, यह जो वाणीकी रचना या कल्पना है, वह शास्त्रोक्त मर्यादाके निर्वाहके लिये है, वास्तवमें कुछ नहीं है; क्योंकि परमात्मामें विकार, अवयव, विभिन्न दिशाओंकी सत्ता तथा देश-काल आदिके क्रम सम्भव नहीं हैं। यद्यपि इनका आविर्भाव प्रत्यक्ष देखा जाता है, तथापि निराकार, निर्विकार और सर्वगत परमात्मामें इन सबका होना कदापि सम्भव नहीं। उस चिन्मय परमात्माके बिना जगत्के किसी दूसरे मूलकारणकी कल्पना हो ही नहीं सकती। दूसरी कोई कल्पना न है न होगी। क्रम, शब्द और अर्थ अन्यत्र कहाँसे आ सकते हैं तथा व्यवहारजनित उक्तियाँ भी उस परमात्माके सिवा और कहाँसे सम्भव हो सकती हैं। यहाँ जो-जो कल्पनाएँ हैं, जो-जो पदार्थ हैं, उनके वाचक जो-जो शब्द हैं और जो-जो वाक्य हैं, वे सब उस सत्-स्वरूप परमात्मासे उत्पन्न तथा सद्रूप होनेके कारण 'सत्' ही समझे जाते हैं। 'यह जगत् भिन्न है और यह ब्रह्म भिन्न है'—इस तरहके शब्दों और अर्थोंका व्यवहार-भ्रम केवल वाणीमें है, परमात्मामें नहीं; क्योंकि परिच्छेद होनेपर ही भिन्नता होती है। (ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, इसलिये उसका किसीसे भेद होना सम्भव नहीं।) अग्निकी एक शिखाकी दूसरी शिखा जननी है, यह कथन उक्ति-वैचित्र्यमात्र है। इस वाक्यके अर्थमें वास्तविकता नहीं है। इसी प्रकार परमात्माके विषयमें जन्य-जनक आदि शब्दोंका व्यवहार वास्तवमें सम्भव नहीं है; क्योंकि अनन्त होनेके कारण जब ब्रह्म एक ही है, तब वह किसको किस तरह उत्पन्न करेगा? जैसे समुद्रमें जो तरङ्गोंका समूह दिखायी देता है, वह उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्ममें जो अर्थबोधक शब्द दृष्टिगोचर होता है, उसे विद्वान् पुरुष ब्रह्म ही मानते हैं। ब्रह्म ही चेतन जीवात्मा है, ब्रह्म ही मन है, ब्रह्म ही बुद्धि है, ब्रह्म ही अर्थ है, ब्रह्म ही शब्द है और ब्रह्म ही धातु है। यह सारा विश्व ब्रह्म ही है। इस विश्वसे परे भी ब्रह्मपद ही है। वास्तवमें तो जगत् है ही नहीं। सब

कुछ केवल ब्रह्म ही है। सर्वस्वरूप एवं सर्वव्यापी उस अनन्त ब्रह्मपदसे दूसरी कोई वस्तु उत्पन्न हो, यह सम्भव नहीं। जो कुछ ब्रह्मसे प्रकट हुआ है, वह ब्रह्मरूप ही है। इस जगत्में ब्रह्मतत्त्वके बिना कुछ भी होना सम्भव नहीं। निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यही परमार्थता—यथार्थ कथन है।

रघुनन्दन! यह माया ऐसी है, जो अपने विनाशसे ही हर्ष देनेवाली होती है। इसके स्वभावका पता नहीं लगता। ज्ञानकी दृष्टिसे जब इसको देखनेका प्रयत्न किया जाता है, तब यह तत्काल नष्ट हो जाती है। अहो! संसारको बाँधनेवाली यह माया बड़ी ही विचित्र है। यद्यपि यह असत्य ही है, तथापि इसने अत्यन्त सत्यकी भाँति अपना ज्ञान कराया है। जो पुरुष 'यह जगत् ब्रह्मरूपसे सत्य ही है' अथवा 'मिथ्या होनेके कारण असत्य ही है'—इन दो बातोंमेंसे किसी एकको दृढ़ निश्चयके साथ अपना लेता है और मनमें आसक्ति न रखकर जगत्को स्वप्नभूमिकी भाँति भ्रान्तिमात्र ही देखता है, वह कभी दुःखमें नहीं डूबता। जिसकी इन मिथ्याभूत देह-इन्द्रिय आदिरूप द्वैतभावनाओंमें अहंबुद्धि है, वही दुःखके सागरमें डूबता है। स्वरूप-ज्ञानसे शून्य उस मिथ्यादर्शी पुरुषके लिये सब ओर केवल अविद्या ही विद्यमान है। जैसे जलमें सूखी धूल नहीं होती, उसी प्रकार महान् पुरुष परमात्मामें विकार आदि कोई दोष नहीं होते। अविद्यारूपी नदीमें बहता हुआ आत्मा इस संसारमें आत्माके यथार्थज्ञानके बिना अनुभवमें नहीं आता और वह आत्मज्ञान शास्त्रके तात्पर्यका यथार्थ बोध होनेसे ही प्राप्त होता है। श्रीराम! परमात्माकी प्राप्तिके बिना अविद्यारूपी नदीका पार नहीं मिलता। वह परमात्माकी प्राप्ति ही अक्षयपद कहलाती है।

(सर्ग ४०-४१)

चेतनतत्त्वका ही क्षेत्रज्ञ, अहंकार आदिके रूपमें विस्तार तथा अविद्याके कारण जीवोंके कर्मानुसार नाना योनियोंमें जन्मोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम! विभिन्न कल्पनाओंद्वारा ही जिसने आकार ग्रहण कर रक्खा है तथा जो देश, काल और क्रियाके अधीन है, चैतन्यका वही रूप क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्र कहते हैं शरीरको। उसे बाहर और भीतरसे वह पूर्णतया जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्रज्ञ ही वासनाका संकलन करके अहंकारभावको प्राप्त होता है। अहंकार ही निश्चयात्मकवृत्तिसे युक्त होकर जब निर्णायक एवं विभिन्न कल्पनाओंसे युक्त होता है, तब उसे बुद्धि कहते हैं। संकल्पयुक्त बुद्धि ही मनका स्थान ग्रहण करती है तथा घनीभूत विकल्पोंसे युक्त मन ही धीरे-धीरे इन्द्रियभावको प्राप्त होता है। विद्वान् पुरुष इन्द्रियोंको ही हाथ-पैर आदिसे युक्त शरीर मानते हैं। वह शरीर लोकमें सभीके अनुभवमें आता है, उत्पन्न होता है और जीवित रहता है। इस प्रकार संकल्प-वासनारूपी रस्सीसे जकड़ा और दुःखोंके जालसे व्याप्त हुआ वह जीव अज्ञानसे चित्तता—दृश्यताको प्राप्त होता है। जैसे बेर आदिका फल परिपाकवश अवस्था (रूप, रस आदि गुणोंके परिवर्तन) से ही अन्यरूपताको प्राप्त होता है, उसकी आकृति (जाति) नहीं बदल जाती—वह बेरसे भिन्न कोई दूसरा फल नहीं हो जाता, उसी प्रकार जीव—क्षेत्रज्ञ भी अविद्यारूप मलके परिणामवश अवस्थाभेदसे ही कुछ अन्यरूप-सा हो जाता है, आकृति (परिणामरहित चेतन जाति) से नहीं। (तात्पर्य यह है कि अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीरके संघातरूप अनात्म-वस्तुमें वह आत्माभिमान कर लेता है; किंतु वास्तवमें उसका स्वरूप चेतन ही है।) इस प्रकार जीव अहंकारभावको प्राप्त होता है। अहंकार बुद्धिरूपमें परिणत होता है और बुद्धि संकल्पोंके समूहसे व्याप्त

मनका स्वरूप धारण करती है। फिर संकल्पमय मन नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करनेमें संलग्न होता है। जैसे गौएँ मदमत्त साँड़के पीछे दौड़ती हैं और जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर भागी जाती हैं, उसी प्रकार इच्छा आदि शक्तियाँ मनका अनुसरण करती हैं, जिससे काम-क्रोध-लोभ-मोहादि दोषोंकी ही वृद्धि होती है। इस प्रकार इच्छा-द्वेष आदि शक्तियोंके बाहुल्यसे युक्त मन शाखा-प्रशाखारूपसे अभिमानकी वृद्धि होनेके कारण घनीभूत अहंकारभावको प्राप्त हो रेशमके कीड़ेकी भाँति स्वेच्छासे ही बन्धनको प्राप्त होता है। जैसे पक्षी स्वयं ही अपने शरीरको जाल आदि फंदोंमें फँसाकर कष्टकारी बन्धनमें डालते और पछताते हैं, उसी तरह मन अपने संकल्पोंके अनुसंधानसे स्वयं ही दुःखदायी बन्धनमें पड़कर इस लोकमें संतप्त होता है।

जैसे पक्षी समुद्रमें गिरा हो, उसी तरह मन घोर दुःखके महासागरमें पड़ा हुआ है, गन्धर्वनगरके समान शून्य जगत्-जालमें अपने बन्धनके हेतुरूप देह आदिपर आसक्ति रखता है, विषयोंकी ओर दौड़ा जाता है और तत्त्वज्ञान आदिके प्रति अविश्वासके समुद्रमें निरन्तर बह रहा है।

जो अनन्त विषयोंमें अनन्त संकल्प-कल्पनाओंकी उत्पत्तिमें हेतु है, उस माया अथवा अविद्याके द्वारा इस जगत्रूपी विशाल इन्द्रजालका विस्तार करनेवाले मूढ़ जीव जलमें आवर्तों (भँवरों) के समान तबतक चक्कर काटते रहते हैं, जबतक उन्हें अपने अनिन्दित—विशुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार नहीं हो जाता। किंतु जब वे साधन करते-करते काल पाकर आत्माका साक्षात्कार करके असत्को त्यागकर सत्य ज्ञानको अपनाते हैं, तब परम पदको प्राप्त होकर फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेते। कुछ अज्ञानी जीव सहस्रों जन्मोंका कष्ट भोगकर विवेकको प्राप्त करके भी मूर्खताके कारण उस संसाररूपी संकटमें ही गिर जाते हैं; कुछ लोग उच्च कुलमें जन्म और साधनकी शक्ति एवं सुविधाको पाकर भी अज्ञान और विषयासक्तिके कारण अपनी तुच्छ बुद्धिसे ही पुनः तिर्यग्योनियोंको प्राप्त होते हैं और तिर्यग्-योनिसे नरकोंमें भी गिरते हैं। कुछ महाबुद्धिमान् सत्पुरुष एक ही जन्मके द्वारा मोक्षरूप ब्रह्मपदमें शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं। श्रीराम! कितने ही जीवसमूह तिर्यग्योनियोंमें जन्म लेते हैं, कितने ही देवयोनियोंको प्राप्त होते हैं, कितने ही नागयोनिको प्राप्त करते हैं। जैसे यह जगत् विशाल दिखायी देता है, वैसे ही अन्यान्य जगत् भी हैं, थे और भविष्यमें भी बहुत-से होंगे। इस ब्रह्माण्डमें लोग जिस व्यवहारसे रहते हैं, उसी व्यवहारसे अन्य ब्रह्माण्डोंमें भी रहते हैं। केवल उनकी आकृतियोंमें अन्तर या विलक्षणता होती है। जैसे नदीकी लहरें परस्पर टकरानेसे परिवर्तित होती रहती हैं, उसी प्रकार विभिन्न सृष्टियाँ अपने सात्त्विक, राजस आदि स्वभाववश परस्पर संघर्षके कारण बदलती रहती हैं। जैसे जलराशि समुद्रमें अनन्त लहरें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार उस परमपद-स्वरूप परमात्मामें यह तीनों लोकोंकी रचना आदि मोहमाया व्यर्थ ही विस्तारको प्राप्त हो अनवरत बढ़ती, परिणामको प्राप्त होती और विनष्ट होती रहती है।

(सर्ग ४२-४३)

परमात्मनिष्ठ ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका मिथ्यात्व, मनोमय होनेके कारण जगत्की असत्ता तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! इस क्रमसे जिस जीवने परमात्माके स्वरूपमें अपनी स्थिति प्राप्त कर ली, वह अस्थिपञ्जररूप देहको कैसे ग्रहण किये रहता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जो यह शरीर आदिके रूपमें स्थावर-जङ्गम जगत् दिखायी देता है, यह आभास-मात्र ही है, अतएव स्वप्नके समान असत् होता हुआ ही

प्रकट हुआ। (तात्पर्य यह है कि वह परमात्मनिष्ठ जीव इस शरीर आदिको स्वप्नके तुल्य मिथ्या मानता हुआ ही इसमें रहता है)। निष्पाप श्रीराम! यह प्रपञ्च दीर्घ-कालतक बने रहनेवाले स्वप्नके समान मिथ्या ही दीखता है, दो चन्द्रमाओंकी भ्रान्तिके समान तथा पहाड़ी भूमिमें घूमते हुए पुरुषको घूमते दीखनेवाले पर्वतके समान मिथ्या ही दृष्टिगोचर होता है। जिसकी अज्ञानमयी निद्रा टूट गयी है और वासनात्मक भावना गल गयी है, वह ज्ञानवान् पुरुष इस संसाररूपी स्वप्नको देखता हुआ भी नहीं देखता—इसे मिथ्या समझता है। श्रीराम! जीवोंके स्वभावसे कल्पित यह संसार, जिसकी मोक्ष होनेसे पहले-तक निरन्तर प्राप्ति होती रहती है, अनात्मज्ञानीके ही अंदर सदा सत्य-सा विद्यमान रहता है।

रघुनन्दन! यह जगत् यद्यपि सब प्रकारसे सम्पन्न दिखायी देता है, तथापि यहाँ वास्तवमें कुछ भी सम्पन्न नहीं है। यह आभासमात्र एवं मनका विलासमात्र है; अतः शून्य (असत्) रूपमें ही स्थित है। मनका संकल्पमात्र ही इसका स्वरूप है। जहाँ भी यह प्रतीत होता है, वहाँ स्वप्नमें देखे गये नगरके समान शून्यरूप ही है, केवल आकाशरूपमें ही स्थित है। शरीर आदिके रूपमें जो ये तीनों लोक दिखायी देते हैं, वे सब-के-सब मनसे ही कल्पित हैं। जैसे पदार्थोंके देखनेमें नेत्र कारण है, उसी प्रकार उनके स्मरणमात्रमें मन कारण है (अतः मनःकल्पित यह जगत् अतीतकी स्मृतिके ही तुल्य है। स्मरणकालमें वह पदार्थरूपसे विद्यमान या उपलब्ध नहीं है)। श्रीराम! मनकी इस अद्भुत शक्तिको तो देखो; उसने अपनेसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अपनी भावना या संकल्पके द्वारा ही प्राप्त किया है। इसलिये लोग उस मनकी कल्पनाको सम्पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न समझते हैं। देवता, असुर और मनुष्य आदि सभी प्राणी मनके द्वारा अपने संकल्पसे ही रचे गये हैं। अपने संकल्पके शान्त होनेपर तैलरहित दीपककी भाँति वे सब शान्त हो जाते हैं। महामते! देखो, यह सारा जगत् आकाशके समान शून्य, मनकी कल्पनामात्रसे विकसित तथा दीर्घकालीन स्वप्नके तुल्य मिथ्या ही प्रकट हुआ है। विशुद्ध बुद्धिवाले रघुनन्दन! इस जगत्में कभी कोई वस्तु वास्तवमें न उत्पन्न होती है और न उसका नाश ही होता है। यहाँ जो जन्म और मरण दीखते हैं, वे सब मिथ्या ही हैं। जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंका ताप बढ़नेसे उसमें मृगतृष्णा (जल) का दर्शन होता है, उसी प्रकार मनके संकल्पसे ये ब्रह्मा आदि सभी प्राणी बिना हुए ही दिखायी देते हैं। संसारमें जितनी आकार राशियाँ दिखायी देती हैं, वे सब-की-सब दो चन्द्रमाओंके भ्रमकी भाँति असत् हैं, मिथ्याज्ञानकी घनीभूत मूर्तियाँ हैं तथा मनोरथकी भाँति संकल्पमें ही प्रकट हुई हैं (वास्तवमें इनकी सत्ता नहीं है)। जैसे नौकाद्वारा यात्रा करनेवाले पुरुषको नदीके तटवर्ती वृक्ष और पहाड़ आदि मिथ्या ही चलते हुए प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इन दृश्य आकारोंकी परम्परा नित्य असत्य होती हुई ही सत्य-सी प्रकट दिखायी देती है। मायासे ही जिसकी ठठरी रची गयी है और मनके मननसे ही जिसका निर्माण हुआ है, ऐसा जो यह दृश्य जगत् है, इसे इन्द्रजाल ही समझो। यह सत्य नहीं है, तो भी सत्यके समान स्थित है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है। फिर इसके लिये उससे भिन्न होनेका प्रसङ्ग ही कहाँ है। यदि कोई प्रसङ्ग है तो कौन और कैसा है? वह भिन्नता या भेदभावना कहाँ स्थित है? 'यह पर्वत है, यह ठूँठा वृक्ष है' इत्यादि रूपसे जो जगत्के आडम्बरका विलास है, वह मनकी भावनाके दृढ होनेसे असत् होता हुआ भी सत्-सा दृष्टिगोचर होता है। जैसे महान् आयोजनोंसे पूर्ण स्वप्न भ्रम ही है, वास्तविक नहीं, उसी प्रकार मनके द्वारा रचे गये इस जगत्को भी दीर्घकालीन स्वप्न ही समझो। जो मूढ़ चित्त मानव अपने संकल्पसे उत्पन्न हुई मनोरथमयी सम्पत्तिको स्वरूपसे युक्त (सत्य) समझकर उसका अनुसरण करता है, वह एक-

मात्र दुःखका ही भागी होता है। यदि परमात्मस्वरूप यथार्थ वस्तु न हो तो लोग भले ही अवस्तुरूप संसारका अनुसरण करें; परंतु जो यथार्थ वस्तु—परमात्माका परित्याग करके अवस्तुरूप संसारका अनुगमन करता है, वह नष्ट हो जाता है—परमात्माकी प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थसे वञ्चित रह जाता है। जैसे रज्जुमें सर्पका भय मनका व्यामोह (धर्म) मात्र ही है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनका भ्रम ही है। मनकी भावनाओंकी विचित्रतासे जगत् चिरकालतक प्रतीतिका विषय बना रहता है। जलके भीतर प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमाके समान चञ्चल (क्षणभङ्गुर) जो मिथ्या उदित हुए पदार्थ हैं, उनसे इस लोकमें मूर्ख बालक ही धोखा खा सकता है, तुम-जैसा तत्त्वज्ञानी नहीं। यह जडसंघात देह-आदिरूप जो विशाल जगत् दिखायी देता है, मिथ्या ही है। मनके मननसे ही इसका निर्माण हुआ है। जैसे हृदयमें स्वप्न या संकल्पमय नगर निर्मित होता है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनके संकल्पमें ही निर्मित हुआ है (वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है)। यह दृश्य-प्रपञ्च मनके संकल्पसे उत्पन्न होता है और उसके संकल्परहित हो जानेसे विलीन हो जाता है। इस तरह यह समृद्धि-शाली गन्धर्वनगरकी भाँति बिना हुए ही दिखायी देता है। हृदयमें मनके संकल्पद्वारा कल्पित विशाल नगरका विध्वंस अथवा अभ्युदय हो जानेपर तुम्हीं बताओ, किसकी क्या हानि होती है या किसको क्या लाभ हो जाता है? जैसे बालकोंके मनमें खेलके लिये बने हुए गुड़ियाओं या खिलौनोंके द्वारा पुत्र-पशु आदि व्यवहारोंकी कल्पना होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी सदा मनसे ही प्रकट होता है। जैसे इन्द्रजालके द्वारा रचित जलके नष्ट-भ्रष्ट होनेपर किसीका कुछ भी नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्या प्रकट हुए इस संसारके नष्ट हो जानेपर भी किसीका कुछ नहीं बिगड़ता। जो वास्तवमें असत् ही है, वह यदि अविद्यमान हो जाय तो किसका क्या बिगड़ गया? इसलिये संसारमें हर्ष और शोकका आधार कुछ भी नहीं है। महामते! जिसका सदासे ही अत्यन्त अभाव है, उसके नष्ट होनेसे क्या नष्ट हो जाता है? और जब किसीका नाश ही नहीं होता, तब उसके लिये दुःखका क्या प्रसङ्ग है?

एकमात्र प्रपञ्चका ही विस्तार करनेवाले इस असत्य-भूत समस्त संसारमें ग्रहण करने योग्य कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसे विद्वान् पुरुष ग्रहण करनेकी इच्छा करे? इसी प्रकार जो सर्वथा सत्यभूत ब्रह्मतत्त्वमय है, उस समस्त त्रिलोकीमें कौन ऐसा हेय पदार्थ है, जिसका विद्वान् पुरुष त्याग करे? अर्थात् तीनों लोक ब्रह्मभूत होनेके कारण चिन्मय हैं; उनमें विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई पदार्थ नहीं है, जिसका त्याग किया जा सके। आदि और अन्तमें जिसका अभाव है, उसका वर्तमानमें भी अभाव ही है। अतः श्रीराम! जो अज्ञानी इस असत् संसारकी इच्छा करता है, उसको असत् (जड संसार) ही प्राप्त होता है। आदि और अन्तमें जो सत्य है, वर्तमानमें भी वह सत्य ही है; अतः जिसकी दृष्टिमें सब सत् परमात्मा ही है, उसे सर्वत्र परमात्म-सत्ताका ही दर्शन होता है। जलके भीतर जो असत्यभूत चन्द्रमा और आकाश-तल आदि दिखायी देते हैं, उन्हें अपने मनके मोहके लिये मूर्ख बालक ही पाना चाहते हैं, उत्तम ज्ञानी पुरुष नहीं। मूर्ख ही विशाल आकारवाले अर्थशून्य कार्योंमें सुख समझकर संतुष्ट होता है; किंतु अज्ञानके कारण उसे अनन्त दुःख ही प्राप्त होता है; सुख नहीं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! वसिष्ठ मुनिके यों कहनेपर दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचलको चले गये। सारी सभाके लोग मुनिको नमस्कार करके सायंकालकी उपा-सनाके लिये स्नान करनेके उद्देश्यसे उठ गये और रात बीतनेपर दूसरे दिन उदित हुए सूर्यदेवकी किरणोंके साथ-साथ फिर सभाभवनमें आ गये। (सर्ग ४४-४५)

सांसारिक वस्तुओंसे वैराग्य एवं जीवन्मुक्त महात्माओंके उत्तम गुणोंका उपदेश, बारंबार होनेवाले ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड एवं विविध भूतोंकी सृष्टिपरम्परा तथा ब्रह्ममें उसके अत्यन्ताभावका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! रमणीय स्त्री आदि तथा धनके नष्ट होनेपर शोकका कौन-सा अवसर है ? इन्द्रजालकी दृष्टिसे देखे गये पदार्थके नष्ट होनेपर क्या कोई विलाप करता है ? अविद्याके अंशभूत पुत्र आदिके प्राप्त होनेपर सुख और नष्ट होनेपर दुःखका प्रसार होना क्या कभी उचित है ? रमणीय धन और स्त्री आदिकी प्राप्ति एवं वृद्धि होनेपर हर्षसे फूल उठनेका क्या अवसर है ? क्या मृगतृष्णाके जलकी वृद्धि होनेपर जलार्थी पुरुषोंको आनन्द प्राप्त होता है ? कदापि नहीं । धन और स्त्री आदिके बढ़नेपर तो उन्हें परमार्थमें बाधक समझकर दुःखका अनुभव करना चाहिये, संतोष मानना तो कदापि उचित नहीं । संसारमें मोह-मायाकी वृद्धि होनेपर भला, कौन सुखी एवं स्वस्थ रह सकता है । जिन भोगोंके बढ़ जानेपर मूढ़ मनुष्यको राग होता है, उन्हींकी वृद्धिसे विवेकशील पुरुषके मनमें वैराग्य होता है । नश्वर धन और स्त्री आदिके सुलभ होनेमें हर्षका क्या कारण है ? जो इनके परिणामको देख पाते हैं, उन साधु पुरुषोंको तो इनसे वैराग्य ही होता है । अतः रघुनन्दन ! संसारके व्यवहारोंमें जो-जो वस्तु नश्वर प्रतीत हो, उसकी तो तुम उपेक्षा करो और जो न्यायतः प्राप्त हो जाय, उसे यथायोग्य व्यवहारमें लाओ; क्योंकि तुम तत्त्वज्ञ हो । अप्राप्त भोगोंकी स्वभावतः कभी इच्छा न होना और दैवात् प्राप्त हुए भोगोंको यथायोग्य व्यवहारमें लाना—यह ज्ञानवान्‌का लक्षण है ।

जिस किसी भी युक्ति अथवा साधनसे जिस पुरुषका जड दृश्यसे राग चला जाता है, उसकी परमात्मामें दृढ़ विश्राम रखनेवाली विमल बुद्धि कभी मोहरूपी सागरमें नहीं डूबती । यह असत् है, ऐसा समझकर जिसकी समस्त सांसारिक वस्तुओंमें आस्था नहीं रह गयी है, उस सर्वज्ञको मिथ्या अविद्या अपने अङ्कमें नहीं ले सकती—चंगुलमें नहीं फँसा सकती । श्रीराम ! अत्यन्त विरक्त, अपने पारमार्थिक स्वरूपमें स्थित और वासस्थानमें सब प्रकारकी अहंता-ममतासे रहित हो तथा न्यायप्राप्त कार्यमें तत्पर रहते हुए भी रागरहित हो तुम आकाशके समान निर्लिप्त हो जाओ; क्योंकि कर्ममें लगे रहनेपर भी जिस ज्ञानी महापुरुषकी उसमें न तो इच्छा (राग) है और न अनिच्छा (द्वेष) ही है, उसकी बुद्धि जलसे कमलदलकी भाँति कभी लिप्त नहीं होती । तुम्हारी इन्द्रियाँ और मन गौणी वृत्तिसे दर्शन और स्पर्श आदि कार्य करें या न करें, तुम सर्वथा इच्छारहित हो अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित रहो । यह संसार-सागर वासनाओंके जलसे भरा हुआ है । जो शुद्ध बुद्धिरूप नौकापर आरूढ़ हैं, वे ही इसके पार जा सके हैं । दूसरे लोग तो डूब ही गये हैं । जो नित्य तृप्त, शुद्ध एवं तीक्ष्ण बुद्धि-वाले जीवन्मुक्त महात्मा हैं, उन्हींके आचारोंका अनुसरण करना चाहिये, भोग-लम्पट दीन-हीन शठोंके आचरणोंका नहीं । महात्मा पुरुष सब कुछ नष्ट हो जानेपर भी खिन्न नहीं होते, देवताओंके उद्यानमें भी आसक्त नहीं होते और शास्त्र-मर्यादाका कभी त्याग नहीं करते । महात्मा पुरुष इच्छारहित तथा न्यायप्राप्त व्यवहारका अनासक्तभावसे अनुसरण करनेवाले होते हैं । वे देहरूपी रथका आश्रय ले परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो आसक्ति-शून्य होकर विचरते हैं । परम सुन्दर श्रीराम ! तुम भी यथार्थ एवं विस्तृत विवेकको प्राप्त कर चुके हो । अपनी इस पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिके बलसे सदा विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपमें स्थित हो ।

श्रीरामजीने कहा—भगवन् ! आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और समस्त वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् हैं । आपके पवित्र

उपदेशसे मैं आश्वस्त पुरुषके समान अपने स्वरूपमें नित्य स्थित हूँ। प्रवचन करते समय आपके मुखसे जो उदार भावोंसे युक्त, सुस्पष्ट, सुन्दर तथा परमात्माके स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले वचन निकलते हैं, उन्हें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती—अधिकाधिक सुननेकी इच्छा बढ़ती जाती है। आपने श्रुति-पुराण आदि शास्त्रोंके आधारपर कमलयोनि ब्रह्माकी जो उत्पत्ति कही थी, उसका पुनः स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! इस ब्रह्माण्डमें तथा दूसरे-दूसरे विचित्र ब्रह्माण्डोंमें भी बहुत-से विभिन्न आचार व्यवहारवाले सहस्रों प्राणी विचरते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य समयोंमें उत्पन्न होनेवाले अनन्त भुवनोंमें दूसरे-दूसरे बहुत से प्राणी एक ही समय अधिक संख्यामें उत्पन्न होंगे। महाबाहो! उन ब्रह्माण्डोंमें उन ब्रह्मा आदि देवताओंकी उत्पत्तियाँ विचित्र-सी हुई बतायी गयी हैं। महासर्गके आरम्भकालमें कभी तो ब्रह्मा कमलसे उत्पन्न होते हैं, कभी जलसे, कभी अण्डसे और कभी आकाशसे प्रादुर्भूत होते हैं। विभिन्न सृष्टियोंमें कोई भूमि केवल मिट्टीके रूपमें प्रकट हुई तो कोई पथरीली थी, कोई सुवर्णमयी थी और कोई ताम्रमयी थी। इस ब्रह्माण्डमें भी भिन्न भिन्न प्रकारके कितने ही आश्चर्यमय जगत् हैं। इस सच्चिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप महाकाशमें अनन्त जगत् महासागरकी तरङ्गोंके समान उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। जैसे समुद्रमें लहरें और मरु-मरीचिकामें जलकी धाराएँ उत्पन्न होती हैं; उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें अगणित विश्वकी शोभा प्रकट होती है। (तात्पर्य यह कि जैसे सूर्यकी किरणोंमें जलकी प्रतीति मिथ्या है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें इस जड जगत्का वैभव मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है।) जैसे वर्षा आदि ऋतुओंमें मच्छरोंके समूह उत्पन्न हो-होकर सब ओर भर जाते हैं और फिर नष्ट भी हो जाते हैं, उसी प्रकार ये संसारकी सृष्टियाँ उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं; यह नहीं ज्ञात होता कि ये सदा उत्पन्न और नष्ट होनेवाली सृष्टि परम्पराएँ परमात्मामें कबसे आरम्भ हुईं। ये सृष्टियाँ पूर्व-से-पूर्व कालमें थीं और उससे भी पहले विद्यमान थीं। इस प्रकार अनादिकालसे इनकी परम्पराएँ चल रही हैं। जैसे समुद्रमें निरन्तर लहरें उठती रहती हैं, उसी तरह परमात्मामें सदा ही ये सृष्टियाँ उत्पन्न एवं विलीन होती रहती हैं। देवता, असुर और मनुष्य आदिसे युक्त ये समस्त प्राणी नदीकी तरङ्गोंके समान उत्पन्न हो-होकर विलीन होते रहते हैं। जैसे मिट्टीकी राशिमें घड़े और अङ्कुरमें पत्ते विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार भविष्यमें होनेवाली अन्य सृष्टि-परम्पराएँ भी परब्रह्म परमात्मामें स्थित हैं।

श्रीराम! परमात्माके स्वरूपमें जो वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं—बिना हुए ही प्रतीत होती हैं, ऐसी इन विलक्षण सृष्टियोंमें ब्रह्माकी विविध विचित्र उत्पत्तियाँ बीत चुकी हैं। वास्तवमें यह संसार मनके संकल्पका विस्तार-मात्र है। यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मैंने केवल समझानेके लिये तुम्हारे समक्ष इस सृष्टि-क्रमका वर्णन किया है। फिर सत्ययुग, फिर त्रेता, फिर द्वापर और फिर कलियुग—इस प्रकार सारा जगत् घूमते हुए चक्रकी तरह बारंबार आता-जाता रहता है। जैसे प्रत्येक प्रातः-कालके बाद दिन आता है, उसी प्रकार पुनः मन्वन्तरोंके आरम्भ होते हैं। एकके बाद पुनः दूसरे कल्पोंकी परम्पराएँ चलती हैं और बारबार कार्यावस्थाएँ प्राप्त होती रहती हैं। जैसे वृक्षमें विभिन्न ऋतुओंके अनुसार सारे फल-फूल आदि कभी अप्रकट रहते हैं और कभी समय पाकर प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार परम तत्त्व परमात्मामें यह सारा जगत् कभी अव्यक्त रहता है और कभी व्यक्त हो जाता है। श्रीराम! यह संसार कभी भी सत् नहीं है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् परमात्मामें स्वभावसे ही सदा संसारका अत्यन्ताभाव है। महामते! ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सब कुछ ब्रह्म ही है। इसलिये संसार नहीं है, यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त ही है।

अज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका कभी विच्छेद नहीं होता, वह सदा बना रहता है। इसलिये यह ससार-माया मिथ्या होती हुई भी मूढ़के लिये नित्य है, यह कथन भी युक्तिसंगत ही है। रघुनन्दन! जगत् बारंबार उत्पन्न होता रहता है, इसलिये कभी इसका अभाव नहीं है—ऐसा जो कुछ लोगोंका कथन है, वह भी उनकी दृष्टिसे मिथ्या नहीं है। यह सब दृश्य पुनः-पुनः प्रकट होता है। बारंबार जन्म और मरण होते रहते हैं। सुख-दुःख, करण और कर्म भी बारंबार हुआ करते हैं। दिशाएँ, आकाश, समुद्र और पर्वत भी बारंबार उत्पन्न होते हैं। जैसे खिड़कीवाले घरोंमें एक ही सूर्यकी प्रभा बारबार अनेक रूपोंमें प्राप्त होती है, वैसे ही यह सृष्टि प्रवाहरूपसे पुनः-पुनः चक्रकी भाँति चलती रहती है। फिर दैत्य और देवता जन्म लेते हैं, पुनः लोक-लोकान्तरोंके क्रम प्रकट होते हैं, फिर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करनेकी चेष्टाएँ चालू होती हैं तथा पुनः इन्द्र और चन्द्रमाका आविर्भाव होता है। अनेकानेक दानव भी बारबार जन्म लेते हैं तथा बारंबार सम्पूर्ण दिशाओंमें मनोहर चन्द्रमा, सूर्य, वरुण एवं वायुका संचार होता रहता है। कालरूपी कुम्हार नाना प्रकारके प्राणीरूप प्यालोंको बनानेके लिये पुनः बड़े वेगसे निरन्तर कल्प नामक चाकको चलाने लगता है। (सर्ग ४६-४७)

विरक्त एवं विवेकयुक्त ज्ञानी तथा भोगासक्त मूढ़की स्थितिमें अन्तर; जगत्को मिथ्या मानकर उसमें आस्था न रखने, देहाभिमानको छोड़ने और अपने विशुद्ध स्वरूप (परमात्मपद) में स्थित होनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जिनकी बुद्धि भोग और ऐश्वर्यके द्वारा नष्ट हो गयी है तथा जो ऐहिक और पारलौकिक भोग एवं ऐश्वर्यके लिये सकामभावसे नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करते हैं, ऐसे मूढ़ पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ओर ध्यान नहीं देते, इस कारण उनको परमात्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव नहीं होता (अर्थात् वे परम पुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं)। जो पुरुष विवेकयुक्त तीक्ष्णबुद्धिकी चरम सीमाको पहुँचे हुए हैं तथा जिन्हें इन्द्रियोंने अपने वशमें नहीं कर रक्खा है, वे इस जगत्की मायाका हाथपर रक्खे हुए बेलके समान प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। जो जीव विवेकपूर्ण विचारसे युक्त है, वह इस जगत्की अहंकारमूलक मायाको तुच्छ जानकर उसी तरह त्याग देता है, जैसे साँप केंचुलको। श्रीराम! जैसे आगसे भुना हुआ बीज चिरकालतक खेतोंमें रहनेपर भी जमता नहीं, उसी प्रकार वह विवेकी पुरुष अनासक्तिको प्राप्त हो दीर्घकालतक शरीरमें रहनेपर भी फिर जन्म नहीं लेता। किंतु अज्ञानी मनुष्य आधि-व्याधिसे घिरे हुए तथा आज या कल प्रात.काल नष्ट हो जानेवाले इस क्षणभङ्गुर शरीरके हितके लिये ही प्रयत्न करते हैं, आत्माके लिये नहीं।

इसके बाद दाशूर मुनिका उपाख्यान सुनाकर वसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! यह जड जगत् वास्तवमें है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके इसमें सब ओरसे आसक्तिका त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं, उसके प्रति विवेकशील पुरुषोंका विश्वास कैसे होगा। जैसे मनके संकल्पद्वारा कल्पित पुरुष अथवा मनोराज्यको, स्वप्नगत जन-समुदायको तथा भ्रमसे प्रतीत होनेवाले दो चन्द्रमाओंकी आकृतियोंको तुम देखते हो, उसी प्रकार मनकी भावनासे ही उत्पन्न हुए इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चको भी देखना चाहिये (अर्थात् इसे मिथ्या समझकर इसके प्रति राग-द्वेष नहीं करना

चाहिये)। निष्पाप रघुनन्दन! पदार्थोंके सौन्दर्यका चिन्तन करनेसे जो उनके प्रति आन्तरिक आस्था होती है, उसका पूर्णतः परित्याग करके तुम जिस चिन्मय स्वरूपसे स्थित हो, वही तुम्हारा वास्तविक रूप है। उसी रूपसे इस जगत्में तुम लीलापूर्वक विचरण करो। सब पदार्थोंके भीतर विद्यमान रहते हुए भी जो सबसे अतीत है, वह परमात्मा तुम्हीं हो। तुम्हारे सकाशमात्रसे यह नियति विस्तारको प्राप्त होती है। जैसे सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित सूर्यदेवके आकाशमें स्थित होनेपर जगत्के सब व्यवहार होने लगते हैं, उसी प्रकार इच्छारहित परमात्माकी सत्तासे ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। जैसे रत्न (सूर्यकान्त एवं चन्द्रकान्त मणि आदि) में प्रकाश करनेकी इच्छा न होनेपर भी उसकी स्थितिमात्रसे स्वतः प्रकाश होने लगता है, उसी प्रकार इच्छारहित परमात्माके सकाशसे ही इस जगत्-समुदायकी प्रवृत्ति (व्यवहारचेष्टा) होती रहती है। सच्चिदानन्द परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे अतीत होनेके कारण वास्तवमें कर्ता और भोक्ता नहीं है, किंतु इन्द्रियोंमें व्यापक होनेके कारण वही कर्ता और भोक्ता भी माना जाता है। 'मैं सबके भीतर स्थित और अकर्ता हूँ'—ऐसी सुदृढ़ धारणाके साथ विवेकी पुरुष प्रवाहरूपसे प्राप्त हुए कार्यको करता रहे, तो भी वह उससे लिप्त (बद्ध) नहीं होता। चित्तमें प्रवृत्तिका अभाव होनेसे मनुष्य उपरतिको प्राप्त होता है। जिसको यह निश्चय हो गया है कि मैं यहाँ कुछ भी नहीं करता, अर्थात् जो कर्तापनके अभिमानसे रहित हो गया है, ऐसा कौन पुरुष भोग-समूहोंकी कामना मनमें लेकर किसी कार्यको करेगा अथवा छोड़ेगा। इसलिये सदा 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इस भावनाको जगाये रखनेसे पुरुषके लिये परम अमृतमयी समता ही शेष रहती है। 'मैं यह हूँ, मैं यह नहीं हूँ; मैं इसे करता हूँ और इसे नहीं करता' इस तरहके भावोंका अनुसंधान करनेवाली दृष्टि वास्तवमें सतोषजनक नहीं होती। 'मैं शरीर हूँ'—ऐसी धारापूर्वक जो स्थिति है, वही कालसूत्र नामक नरकका मार्ग है। वही महावीचि नरकका जाल है और वही असिपत्रवनकी पङ्क्तियाँ हैं। उस देहाभिमानका सर्वथा प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये। मैं यह दृश्यरूप कुछ भी नहीं हूँ, किंतु साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा हूँ—ऐसा निश्चय करके तुम अपने उस सर्वोत्तम स्वरूपमें सदा स्थित रहो, जिसमें श्रेष्ठ साधु, ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्थित हुए हैं।

(सर्ग ४८—५६)

वासना, अभिमान और एषणाका त्याग करके परमात्मपदमें प्रतिष्ठित होनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वज्ञानी महात्माकी महत्तम स्थितिका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्! आपने अपनी उत्तम उक्तियोंद्वारा जो यह सुन्दर बात कही है, वह सर्वथा सत्य है। समस्त भूतोंकी सृष्टि करनेवाले परमात्मा अकर्ता होते हुए ही कर्ता हैं और अभोक्ता होते हुए ही भोक्ता हैं। प्रभो! जो सबका अधिष्ठान और समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, उस सर्वेश्वर, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द निर्मल पदस्वरूप ब्रह्मका मेरे हृदयमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन! आत्मा ही आत्माको जानता है, आत्माने ही आत्माको संसारी बनाया है अर्थात् इसने स्वयं ही अज्ञानके कारण अपने-आपको संसार-बन्धनमें बाँधा है। आत्मा ही अपने ज्ञानके द्वारा पवित्र होकर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। जो वासनाओंके बन्धनमें बँधा है, उसीको बद्ध कहा गया है। वासनाका अभाव ही मोक्ष है। (वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जानेपर साधक संसारके बन्धनोंसे सदाके

लिये मुक्त हो जाता है ।) अतः मन, बुद्धि आदिसे युक्त सम्पूर्ण वासनाओंका त्याग करके जिस वृत्तिके द्वारा उन सबका त्याग किया जाता है, उस बुद्धिवृत्तिका भी त्याग कर दो अर्थात् उससे सम्बन्धरहित हो जाओ और सबका अभाव हो जानेपर जो एकमात्र नित्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही शेष रहता है, उसीमें अविचलभावसे स्थित रहो । शुद्ध बुद्धिसे युक्त रघुनन्दन ! प्राणोंके स्पन्दनपूर्वक कलना (चेष्टा एवं सकल्प), काल, प्रकाश एवं तिमिर आदिका तथा वासना और विषयोंका (इन्द्रियों तथा समूल अहंकारका) सर्वथा त्याग करके उनसे सम्बन्धरहित होकर जो तुम आकाशके समान सौम्य (निर्मल), प्रशान्त-चित्त तथा चिन्मयस्वरूपसे विराज रहे हो, उसी सर्वसम्मानित रूपमें स्थित रहो । जो परम बुद्धिमान् पुरुष सबका हृदयसे परित्याग करके सब विक्षेपोंके कारणभूत अभिमानसे रहित हो जाता है, वह साक्षात् शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप परमेश्वर हैं । जिसके हृदयमें अभिमानका अत्यन्त अभाव हो गया है, ऐसा विशुद्ध अन्तःकरणवाला ज्ञानी महात्मा ध्यान, समाधि अथवा कर्म करे या न करे, सदा मुक्त ही है; क्योंकि जिसका मन सर्वथा वासनारहित हो गया है, उसे न तो कर्मोंके त्यागसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके अनुष्ठानसे ही । जप, ध्यान और समाधिसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं है । मैंने शास्त्रका अच्छी तरह विचार किया और चिरकालतक सत्पुरुषोंके साथ परामर्श करके यही सार निकाला कि सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित हुए सच्चिदानन्दघन परमात्माके निरन्तर मननरूप मौनसे बढ़कर दूसरा कोई उत्तम पद नहीं है । दसों दिशाओंमें घूम-घूमकर मैंने सारी दर्शनीय वस्तुओंको देख लिया; उनमें कुछ ही लोग ऐसे दिखायी दिये, जो परमात्माके स्वरूपका यथार्थ अनुभव करनेवाले हैं ।

मनुष्यके जो कोई भी लौकिक शुभ आयोजन हैं और जो भी उनके व्यावहारिक सत्कर्म हैं, वे सब केवल शरीरका निर्वाह करनेके लिये ही हैं, आत्माके लिये नहीं । पाताल, भूतल, स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक और आकाशमें कुछ ही ऐसे प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें सच्चिदानन्द परमात्माका यथार्थ बोध हो गया हो । जिस ज्ञानीके 'यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है' इस तरहसे अज्ञानजनित निश्चय नष्ट हो गये हैं, ऐसा कर्तव्याकर्तव्य-दृष्टिसे रहित ज्ञानी महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है । प्राणी चाहे लोकमें राज्य करे, चाहे मेघ या जलमें प्रवेश कर जाय; परंतु परमात्माकी प्राप्तिके बिना उसे परम शान्ति नहीं मिल सकती । जो इन्द्रियरूपी शत्रुओंका दमन करनेमें शूरवीर हैं, जन्मरूपी ज्वरका विनाश करनेके लिये उन्हीं महाबुद्धिमान् महापुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये । पातालमें और स्वर्गमें सर्वत्र पाँच ही भूत हैं, छठा कुछ भी नहीं है । फिर धीर मनुष्योंकी बुद्धि कहाँ अनुरक्त हो (क्योंकि सर्वत्र क्षणभङ्गुर पदार्थोंकी ही उपलब्धि होती है) । शास्त्रके अनुसार निष्कामभाव-रूप युक्तिसे व्यवहार करनेवाले विवेकी पुरुषके लिये संसार गौके खुरके समान अनायास ही लाँघ जाने योग्य है । परंतु जिसने उपर्युक्त युक्तिका दूरसे ही परित्याग कर दिया है, उस अज्ञानीके लिये यह संसार महाप्रलयकालीन महासागरके समान दुस्तर है । पातालसे लेकर स्वर्गपर्यन्त इस जगत्में ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है । जैसे मन्द-मन्द वायुके चलनेसे पर्वत नहीं हिलता, वैसे ही भोग-समूहोंसे तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं विचलित होता । जैसे बादल आकाशमें बारंबार छा जानेपर भी उसे अपने रंगमें नहीं रँग सकते, उसी प्रकार संसारके ये विषय-भोगरूप कोई भी पदार्थ पुनः-पुनः प्राप्त होनेपर भी विशाल-हृदय तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषको आसक्त नहीं कर सकते । (सर्ग ५७)



परमात्मभावमें स्थित हुए कचके द्वारा सर्वात्मत्वका बोध करानेवाली गाथाओंका गान, भोगोंसे वैराग्यका उपदेश तथा सबकी परमात्मामें स्थितिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इसी पूर्वोक्त वस्तुके विषयमें पहले बृहस्पतिके पुत्र कचने जो पवित्र गाथाएँ गायी थीं, उनका मैं वर्णन करता हूँ; सुनो। एक समय मेरु पर्वतके किसी वनप्रान्तमें देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कच ब्रह्मविचारमें तत्पर होकर रहते थे। वहाँ उन्होंने सुनी हुई ब्रह्मविद्याका बारंबार मनन और निदिध्यासन करके आत्मामें परम शान्ति प्राप्त कर ली थी। इसलिये उनकी बुद्धि परमात्माके यथार्थज्ञानरूपी अमृतसे परिपूर्ण थी। विरक्त एवं विवेकी पुरुषोंके लिये अनादरके योग्य जो यह आपातरमणीय पाञ्चभौतिक दृश्य जगत् है, इसमें उनकी बुद्धि नहीं लगती थी। दृश्य-प्रपञ्चके प्रति आदर न होनेके कारण उसमें उनका मन नहीं लगता था। इसलिये एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुको न देखते हुए उन्होंने अत्यन्त विरक्त पुरुषकी भाँति अकेले एकान्त स्थानमें हर्ष-गद्गद वाणीद्वारा यह उद्गार प्रकट किया।

अहो ! जैसे महाप्रलयके जलसे समस्त संसार भरा रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व परमात्मासे परिपूर्ण है। दुःख, जीवात्मा और सुख एवं दिशाओंसे घिरा हुआ सुमहान् आकाश—ये सब परमात्मा ही हैं, ऐसा मुझे अनुभव हो गया; अतः उसी आनन्दमय परमात्माके ज्ञानसे मेरे सारे दुःख नष्ट हो गये हैं। बाह्य एवं आभ्यन्तर भावोंसे युक्त इस देहमें, ऊपर-नीचे और पूर्व आदि दिशाओंमें तथा इधर-उधर परमात्मा ही हैं। परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु कहीं नहीं है *। सभी जगह परमात्मा स्थित हैं। सब कुछ परमात्ममय ही है। यह सब जगत् परमात्मा ही है, अतः मैं सदा परमात्मामें ही स्थित हूँ। मैं नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मस्वरूप हूँ और एकार्णवके समान सर्वत्र सुखपूर्वक विराजमान हूँ—इस प्रकारकी भावना करके क्रमशः घण्टानादकी तरह ओंकारका उच्चारण करते हुए वे उस मेरु पर्वतके कुञ्जमें बैठे रहे। श्रीराम ! वे कल्पनारूपी कलङ्कसे रहित होनेके कारण शुद्धरूपमें स्थित थे। उनके प्राणोंका स्पन्दन हृदयमें निरन्तर लीन था और वे शरत्कालके मेघरहित आकाशकी भाँति निर्विकार भावसे स्थित थे। ऐसी स्थितिमें पहुँचे हुए महात्मा कचने उपर्युक्त गाथाओंका गान किया था।

रघुनन्दन ! इस जगत्में खाने-पीने और स्त्री-समागमके अतिरिक्त उत्तम पुरुषार्थरूप शुभ वस्तु कुछ भी नहीं है—अज्ञानियोंके इस कथनपर विचार करके परम पदमें आरूढ हुआ महान् पुरुष यहाँ किस वस्तुकी वाञ्छा कर सकता है ? जो मूढ एवं असाधु पुरुष कृपणोंके सर्वस्वभूत—आदि, मध्य एवं अन्तमें भी विनाशशील भोगोंद्वारा संतुष्ट होते हैं, वे पशुओं और पक्षियोंके समान गये-बीते हैं। जो संसारमें इन मिथ्या विषयभोगोंको सत् मानते हैं—इनकी स्थिरतापर विश्वास करते हैं, वे मनुष्योंमें गदहोंके समान हैं, उनका जीवन व्यर्थ है। सारी पृथ्वी मिट्टी ही है। समस्त वृक्ष काष्ठमय ही हैं और सभी शरीर हड्डी-मांसके पुतले ही हैं। नीचे पृथ्वी है तथा ऊपर और आगे-पीछे आकाश है; फिर यहाँ सुख देनेके लिये कौन-सी अपूर्व वस्तु है ? उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली, अनित्य तथा मन और इन्द्रियोंके संयोगसे प्रकट हुए समस्त भोग वास्तवमें मिथ्या ही हैं। हड्डियोंके समूहको अपने शरीरकी संज्ञा देनेवाले पुरुषके द्वारा अपनी प्रेयसी कहकर एक रक्त-मांसकी पुतलीका सादर आलिङ्गन किया जाता है। यह संसारको मोहित करनेवाले कामका ही क्रीडा-विलास है। श्रीराम ! यह सारा जगत् मूढ पुरुषोंकी दृष्टिमें ही सत्य और स्थिर है। उन अज्ञानी मनुष्योंके लिये ही यह संतोषदायक होता है। विवेकशील

* इस विषयमें श्रुतिका भी कथन है—आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद ँ सर्वमिति (छा० उ० ७। २५। २)। अर्थात् परमात्मा ही नीचे है, परमात्मा ही ऊपर है, परमात्मा ही पीछे है, परमात्मा ही आगे है, परमात्मा ही दायीं ओर है, परमात्मा ही बायीं ओर है और परमात्मा ही यह सब है।

एवं विरक्तको इससे संतोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि उनकी दृष्टिमें यह समस्त संसार क्षणभङ्गुर एवं विनाशशील है। भोगोंकी वासना ऐसी विषैली होती है कि उन विषयोंका उपभोग न करनेपर भी विषकी तरह मूर्च्छा (मोह) पैदा कर देती है।

महाबाहु श्रीराम! सृष्टिकी व्यवस्था करनेवाले पितामह भगवान् ब्रह्मा जब समाधिसे उत्थित होते हैं, जब यह जगत्‌रूपी जीर्ण घटीयन्त्र अपनी व्यवस्थाके अनुसार चालू होता है और प्राणीरूपी घट वासनारूपी रस्सीसे बँधकर जीवनकी इच्छासे अपने कर्मानुसार नीचे-ऊपर आने-जाने लगते हैं, तबसे निरन्तर कुछ जीव इस भवकूपसे निकलते हैं और कुछ इसके भीतर प्रवेश करते हैं। श्रीराम! अनादि-अनन्त ब्रह्मपदसे उत्पन्न हुए जीव-समुदाय उसी तरह ब्रह्ममें स्थित हैं, जैसे तरङ्गोंके समूह समुद्रमें। पुण्यात्मा रघुनन्दन! संसारमें उत्पन्न हुए जो-जो पुरुष केवल सात्त्विक भावसे सम्पन्न हैं, वे फिर कभी यहाँ जन्म ग्रहण नहीं करते—सर्वथा मुक्त हो जाते हैं; परंतु जो सत्त्वगुणप्रधान राजस-प्रकृतिके पुरुष हैं, उनका इस जगत्‌में पुनर्जन्म लेना सम्भव है। जो परमात्मासे अधिकार प्राप्त करके प्रधानरूपसे यहाँ आते हैं, ऐसे महान् गुणशाली पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं।

(सर्ग ५८—६०)



राजस-सात्त्विकी कर्मोपासनासे भूतलपर उत्पन्न हुए पुरुषोंकी स्थितिका वर्णन; जगत्‌की अनित्यता एवं परमात्माकी सर्वव्यापकताकी भावनाके लिये उपदेश; श्रीरामके आदर्श गुणोंको अपनाने एवं पौरुष-प्रयत्न करनेसे जीवन्मुक्त पदकी प्राप्तिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जो पूर्वजन्मकी राजस-सात्त्विकी कर्मोपासनासे भूतलपर उत्पन्न हुए हैं, वे महान् गुणशाली पुरुष आकाशमें प्रकाशित चन्द्रमाके समान सदा मनोहर कान्तिसे युक्त एवं आनन्दमग्न रहते हैं। जैसे आकाशका भाग मेघ आदिसे मलिन नहीं होता, उसी प्रकार वे सांसारिक दुःखोंसे दुखी नहीं होते। जैसे सुवर्णनिर्मित कमल रात्रिमें संकुचित या मलिन नहीं होता, उसी प्रकार वे आपत्तिमें पड़नेपर भी शोकसे कातर नहीं होते। जैसे स्थावर वृक्ष आदि प्रारब्धभोगके अतिरिक्त दूसरी कोई चेष्टा नहीं करते, उसी प्रकार वे भी ज्ञान और ज्ञानके साधनोंके अतिरिक्त और कोई चेष्टा नहीं करते। जैसे वृक्ष अपने पुष्प और फल आदिसे सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने सदाचारोंसे शोभायमान होते हैं। जैसे चन्द्रमा क्षीण होनेपर भी कभी शीतलताका त्याग नहीं करता, उसी प्रकार वे आपत्तिकालमें भी अपने सौम्य स्वभावको नहीं छोड़ते। मैत्री * आदि गुणोंसे कमनीयताको प्राप्त हुई अपनी प्रकृतिसे ही वे नूतन पुष्पगुच्छोंसे विभूषित लतासे शोभायमान वनके वृक्षोंकी भाँति अद्भुत शोभा पाते हैं। वे पुरुष सबपर समान भाव रखते, समतारूप रसका अनुभव करते, सदा सौम्यभावका आश्रय लेते, साधुओंसे भी बढ़कर साधु होते और अपनी मर्यादामें स्थित रहनेवाले समुद्रकी भाँति शास्त्र-मर्यादामें स्थित रहते हैं। अतः महाबाहो! आपत्तियोंकी पहुँचसे परे जो उनका पद (स्थान) है, उसकी ओर सदा चलना चाहिये। मनुष्यको इस जगत्‌में सत्त्वगुणप्रधान राजस पुरुषोंकी भाँति ऐसा बर्ताव तथा सत्-शास्त्रोंका विचार करना चाहिये, जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो। इस प्रकार भावना करनेवाले पुरुषको सब वस्तुओंकी अनित्यताका भी विचार करना चाहिये। विशुद्ध बुद्धिवाला पुरुष अज्ञानको बढ़ानेवाले मिथ्याभूत अनात्मदर्शनका त्याग करके सांसारिक पदार्थोंके विषयमें यह भावना करे कि ये सब-के-सब आपत्ति ही हैं; उनमें सम्पत्तिभावना कभी न करे। उस

* योगदर्शनमें बताया गया है—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।' (यो० द० १। ३३) 'सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्माओंके प्रति क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी भावनासे चित्त शुद्ध होता है।'

परम पुरुषार्थरूप अनन्त नित्य-विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका भलीभाँति चिन्तन करना चाहिये। कर्मोंमें अत्यन्त आसक्त नहीं होना चाहिये और अनर्थकारी जन-समुदायके साथ कभी नहीं रहना चाहिये। 'संसारकी सभी वस्तुओंके साथ सम्बन्ध-विच्छेद अवश्यम्भावी है' ऐसा विचार करके सदा श्रेष्ठ पुरुषोंका ही अनुसरण अथवा (अनुकरण) करना चाहिये। जैसे सूतमें मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य विस्तृत सर्वव्यापी सर्वभावित शिवस्वरूप परमपद (परमात्मा) में यह समस्त जगत् पिरोया हुआ है (अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत्में परमात्मा व्याप्त हैं)। जो चेतन परमात्मा विशाल भुवनमण्डलको विभूषित करनेवाले आकाशवर्ती सूर्यदेवमें विराजमान हैं, वे ही धरतीमें बिलके भीतर रहनेवाले कीड़के पेटमें भी हैं। निष्पाप रघुनन्दन ! जैसे यहाँ घटाकाशोंका महाकाशसे वास्तविक भेद नहीं है, उसी प्रकार शरीरवर्ती जीवोंका परमात्मासे परमार्थतः भेद नहीं है। श्रीराम ! जो उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, वह वस्तु वास्तवमें है ही नहीं। अतः यह जड संसार प्रतीतिमात्र है। यह सदा स्थिर नहीं रहता, इसलिये इसे सत् नहीं कहा जा सकता। किंतु प्रतीत होता है, इसलिये इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। अतएव यह अनिर्वचनीय है।

पहले विवेक और विचारसे युक्त धीर साधक शास्त्रके अनुसार परम बुद्धिमान् तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ महापुरुषोंसे मिलकर उनके साथ सत्शास्त्र-विषयक विचार करे। विषय-तृष्णासे रहित तत्त्वज्ञानसम्पन्न साधु महापुरुषके साथ परमात्मविषयक विचार करके परमात्माका ध्यान करनेसे परमपद प्राप्त होता है। शास्त्रोंके विचार, महापुरुषोंके सङ्ग, वैराग्य और अभ्यासरूप सत्कार्यसे युक्त पुरुष परमात्माके ज्ञानका पात्र होकर तुम्हारे समान शोभा पाता है। तुम ज्ञानवान् तथा नाना प्रकारके दिव्यगुणोंकी खान हो। तुम्हारा आचार व्यवहार उदार है तथा तुम समस्त दोषोंसे रहित एवं दुःखहीन परमपदमें स्थित हो। तुम उत्तम अनुभवसे सम्पन्न हो। अतः इस समय संसारमें पूर्वोक्त साधक मनुष्य राग-द्वेषहीन व्यवहारद्वारा तुम्हारी चेष्टाका अनुसरण करेंगे। जो लोकोचित आचारसे युक्त हो बाहर विचरण करेंगे, वे ज्ञानरूपी नौकासे युक्त बुद्धिमान् पुरुष संसार-सागरसे पार हो जायँगे। जो तुम्हारे समान विशुद्ध बुद्धिसे युक्त और समदर्शी है, वह उत्तम दृष्टिवाला सत्पुरुष मेरी बतायी हुई ज्ञानदृष्टियोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जबतक तुम्हारा शरीर है, तबतक राग-द्वेष और इच्छा आदिसे रहित हो शास्त्रके अनुसार आचरण करते हुए स्थित रहो। शुद्ध सात्त्विक जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुषोंके जो परम सत्य एवं स्वाभाविक शम, दम आदि गुण हैं, उनका सेवन करता हुआ साधारण पुरुष भी मरकर दूसरे जन्ममें जीवन्मुक्त-पदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि जीव इस जगत्में जिन जाति गुणोंका सदा सेवन करता है, दूसरे जन्ममें उत्पन्न होकर वह उसके अनुसार उसी जातिको प्राप्त होता है। (तात्पर्य यह कि उत्कृष्ट जातिके गुणोंका सेवन करनेपर वह उत्तम जातिमें जन्म पाता है। और अधम जातिके गुणोंका सेवन करनेपर अधम जातिमें ही जन्म ग्रहण करता है।) कर्मोंके अधीन हुए जीव पूर्वजन्मके सब भावोंको कर्मोंके अनुसार ही पाते हैं। पर्वतोंको भी लोग पराक्रमसे जीत लेते हैं, इसलिये मनुष्यको आत्मकल्याणके लिये तत्परतापूर्वक परम पुरुषार्थ करना चाहिये। जीव सात्त्विक, राजस और तामस—किसी भी योनिमें क्यों न उत्पन्न हुआ हो, उसे कीचड़में फँसी हुई भोली-भाली गायकी तरह अपनी बुद्धिका धैर्यके साथ परम उद्योगपूर्वक संसाररूपी पङ्कसे उद्धार करना चाहिये। पुरुषोचित प्रयत्नसे ही उत्तमोत्तम गुणोंद्वारा सुशोभित होनेवाले मुमुक्षु पुरुष दूसरे जन्ममें जीवन्मुक्त-पदको प्राप्त होते हैं। पृथ्वीपर, स्वर्गमें, देवताओंमें अथवा अन्यत्र भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे सद्गुणसम्पन्न पुरुष अपने पुरुषार्थ या प्रयत्नसे प्राप्त न कर सके। (सर्ग ६१-६२)

स्थिति-प्रकरण सम्पूर्ण



उपशम-प्रकरण

श्रीवसिष्ठजीका मध्याह्नकालमें प्रवचन समाप्त करके सबको विदा देनेके पश्चात् अपने आश्रममें जाना और दैनिक कर्मके अनुष्ठानमें तत्पर होना



श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—वत्स भरद्वाज ! राजा दशरथकी वह सुन्दर सभा शरद्-ऋतुमें तारोंसे भरे हुए आकाशकी भाँति निश्चल थी। महर्षि वसिष्ठ हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाला परम पवित्र प्रवचन कर रहे थे। श्रीरामचन्द्रजी प्रात:कालके प्रफुल्ल पङ्कजकी भाँति प्रसन्नतासे खिल उठे थे। महाराज दशरथ वसिष्ठजीके वचनोंको उसी तरह रसके साथ सुन रहे थे, जैसे मयूर वृष्टिके कारण हुई आर्द्रतासे युक्त हो मेघ-गर्जनकी मधुर ध्वनिको सुनते रहते हैं। उनके मन्त्री भी अपने चञ्चल मनको समस्त भोगोंसे हटाकर दृढ़ प्रयत्नके द्वारा उपदेश-श्रवणमें लगे हुए थे। चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल लक्ष्मण वसिष्ठजीके उपदेश-वचनोंसे आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। उनके हृदयमें लक्ष्यभूत ब्रह्मका स्फुरण हो रहा था तथा वे शिक्षाबलसे विचक्षण हो गये थे। शत्रुओंका दमन करनेवाले शत्रुघ्न भी चित्तके द्वारा पूर्णताको प्राप्त हो चुके थे और पूर्ण आनन्दको प्राप्त हो पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। मन्त्री सुमित्रके हृदयमें पहले दु:खोंकी ही चिन्ता बनी रहती थी, परंतु वह उपदेश सुनकर सुमित्र मित्रभाव (सूर्यस्वरूपता) को प्राप्त हो गये। उनका हृदय-पङ्कज सूर्योदयकालके कमलकी भाँति खिल उठा। वहाँ बैठे हुए दूसरे-दूसरे ऋषियों तथा राजाओंके चित्तरूपी रत्न भलीभाँति धुल गये थे। उनमें विवेकजनित उल्लास-सा छा गया था। इतनेमें ही दसों दिशाओंको पूर्ण करती हुई मध्याह्नकालीन शङ्खध्वनि प्रकट हुई, जो प्रलयकालके मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर और महासागरकी जलराशिके उद्घोषकी भाँति दूरतक सुनायी देनेवाली थी। वह शङ्खनाद सुनते ही महर्षिने अपना प्रवचन बंद कर दिया। दो घडीतक विश्राम कर लेनेके पश्चात् जब वह घनीभूत कोलाहल शान्त हो गया, तब वसिष्ठ मुनि पुनः श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—'रघुनन्दन ! आजका दैनिक प्रवचन यहींतक कहा जा सका है। शत्रुसूदन ! इसके बाद जो कुछ कहना है, उसे मैं कल प्रात:काल कहूँगा। मध्याह्नकालमें नियमत: करने योग्य जो कर्तव्य द्विजातियोंके लिये प्राप्त हैं, उसे हमलोगोंको भी करना चाहिये, जिससे वह कर्म-परम्परा नष्ट न हो जाय। अतः सौभाग्यशाली राजकुमार ! तुम भी उठो। आचारचतुर श्रीराम ! स्नान, दान और पूजन आदि समस्त आचारों तथा सत्कर्मोंका अनुष्ठान करो।'

यों कहकर महर्षि वसिष्ठ उठ गये। साथ ही राजा दशरथ भी सभासदोंसहित उठकर खड़े हो गये। राजालोग महाराज दशरथको प्रणाम करके राजभवनसे

बाहर निकले। फिर सुमन्त्र और दूसरे-दूसरे मन्त्री महर्षि वसिष्ठ तथा राजा दशरथको प्रणाम करके स्नान आदिके लिये चले गये। तदनन्तर वामदेव और विश्वामित्र आदि ऋषि-महर्षि वसिष्ठको आगे करके उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़े रहे। शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा दशरथ मुनिसमुदायका सत्कार करके उनसे विदा ले अपने कार्यका सम्पादन करनेके लिये चले गये।



वनवासी मुनि वनमें और पुरवासी मनुष्य नगरमें दूसरे दिन प्रातःकाल लौटनेके लिये चले गये। राजा दशरथ और वसिष्ठ मुनिके प्रेमपूर्वक अनुरोध करनेपर विश्वामित्रने वसिष्ठजीके घरमें रात्रि बितायी। श्रेष्ठ ब्राह्मणों, राजाओं, मुनियों तथा श्रीराम आदि समस्त दशरथ-राजकुमारोंसे घिरे हुए सर्वलोकवन्दित श्रीमान् वसिष्ठजी—उसी तरह अपने आश्रमको गये, जैसे कमलयोनि ब्रह्मा देव-समुदायके साथ ब्रह्मलोकमें पदार्पण करते हैं। तत्पश्चात् अपने चरणोंपर गिरे हुए श्रीराम आदि समस्त दशरथ-राजकुमारों-को वसिष्ठजीने अपने आश्रमसे विदा किया और अपने घरमें प्रवेश करके उन उदारचेता महर्षिने द्विजजनोचित दैनिक कृत्य—पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान सम्पन्न किया।



(सर्ग १)

श्रीराम आदि राजकुमारोंकी तात्कालिक दिनचर्या, वसिष्ठजी तथा अन्य सभासदोंका पुनः सभामें प्रवेश, राजा दशरथद्वारा मुनिके उपदेशकी प्रशंसा तथा श्रीरामकी उनसे पुनः उपदेश देनेके लिये प्रार्थना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! चन्द्रमाके समान मनोरम कान्तिवाले उन राजकुमारोंने घरमें जाकर अपने-अपने भवनमें समस्त आह्निक कृत्य पूर्णरूपसे सम्पन्न किया। महर्षि वसिष्ठ, महाराज दशरथ, अन्यान्य राजा, मुनि तथा ब्राह्मणोंने अपने-अपने घरों तथा गलियोंमें अपने-अपने कार्योंका इस प्रकार सम्पादन किया। उन सबने जलाशयोंमें स्नान किया और ब्राह्मणोंको अपनी शक्तिके अनुसार गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, शय्या,

आसन, वस्त्र और बर्तन आदिका दान दिया। सुवर्ण



और मणियोंसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करनेवाले अपने घरों और देवालयोंमें उन्होंने भगवान् विष्णु, शंकर, अग्नि और सूर्य आदि देवताओंका पूजन



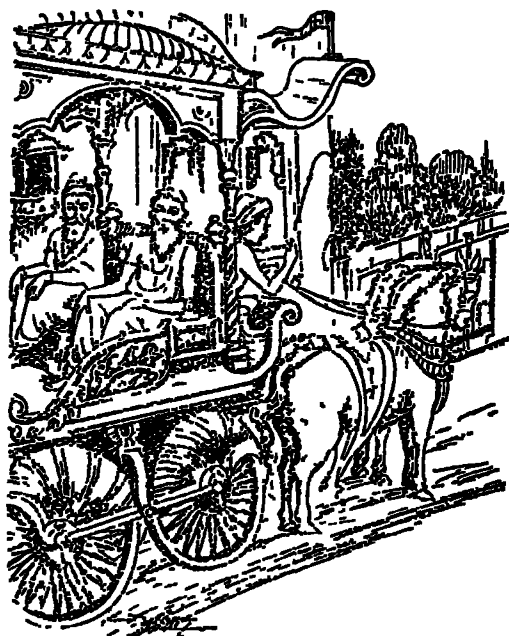
किया। तत्पश्चात् पुत्र, पौत्र, सुहृद्, सखा, भृत्य और बन्धु-बान्धवोंके साथ अपनी रुचिके अनुरूप भोज्य पदार्थोंका आस्वादन किया। फिर सायंकालतकका समय उन्होंने तत्कालोचित चेष्टा (पुराण एवं धर्मग्रन्थके श्रवण आदि) के द्वारा व्यतीत किया। सूर्यास्त होनेपर उन्होंने विधिपूर्वक संध्या-वन्दन, अघमर्षण-मन्त्रोंका जप, पवित्र स्तोत्रोंका पाठ और मनोहर गाथाओंका गान किया। फिर धीरे-धीरे वे रघुवंशी राजकुमार दीर्घ चन्द्रबिम्बके समान रमणीय शय्याओंपर, जहाँ फूल बिछाये गये थे और मुट्ठियोंसे कपूरका चूर्ण बिखेरा गया था, सोये।

तदनन्तर प्रातःकालके तूर्यघोषके साथ चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले श्रीरामचन्द्रजी शय्यासे उठे, मानो कमलमण्डित सरोवरसे प्रफुल्ल कमल प्रकट हो गया हो। तत्पश्चात् प्रातःकालकी स्नानविधि सम्पन्न करके संध्या-वन्दन आदिसे निवृत्त हो थोड़े-से परिजनोंको आगे भेजकर पीछे स्वयं श्रीराम भी भाइयोंके साथ वसिष्ठजीके निवासस्थानपर गये। मुनिवर वसिष्ठ एकान्तमें समाधि लगाये बैठे थे और परमात्मका चिन्तन कर रहे थे। श्रीरामने



दूरसे ही कंधा झुकाकर मुनिको प्रणाम किया। उन्हें प्रणाम करके वे विनययुक्त राजकुमार तबतक उस आँगनमें खड़े रहे, जबतक अन्धकारका नाश होकर दिगङ्गनाओंका मुखमण्डल स्पष्ट दिखायी न देने लगा।

तदनन्तर अनेक राजा, राजकुमार, ऋषि और ब्राह्मण मौनभावसे वसिष्ठजीके निवासस्थानपर आये। ऐसा लगता था मानो देवता लोग ब्रह्मलोकमें एकत्र हो रहे हों। वसिष्ठजीका वह निवासस्थान समागत जन-समुदायसे भर गया और राजाओंके संचरणसे राजभवनके समान सुशोभित होने लगा। फिर एक ही क्षणमें भगवान् वसिष्ठ समाधिसे विरत हुए और अपने चरणोंमें प्रणत हुए लोगोंको उचित आचार एवं उपचारसे अनुगृहीत करने लगे। तत्पश्चात् मुनियों और विश्वामित्रजीके साथ श्रीमान् मुनिवर वशिष्ठ उसी प्रकार सहसा रथपर आरूढ़ हुए, जैसे कमलयोनि ब्रह्मा



कमलके आसनपर विराजमान हुए हों। राजाके महलमें पहुँचकर उन्होंने नतमस्तक हुई राजा दशरथकी उस रमणीय सभामें प्रवेश किया। उस समय महावीर राजा दशरथ तुरंत अपने सिंहासनसे उठकर मुनिके स्वागतार्थ तीन पग आगे बढ़ आये थे। तदनन्तर वहाँ दशरथ आदि समस्त नरेशों, वसिष्ठ आदि ऋषियों, ब्राह्मणों, सुमन्त्र आदि मन्त्रियों, सौम्य आदि विद्वानों, श्रीराम आदि राजकुमारों, शुभ आदि मन्त्रिपुत्रों, मन्त्री आदि प्रकृतियों, सुहोत्र आदि नागरिकों, मालव आदि भृत्यों तथा पौर आदि मालियोंने सभामें प्रवेश किया।

तत्पश्चात् जब वे सब-के-सब अपने-अपने आसनपर बैठ गये, उन सबकी दृष्टि वसिष्ठजीके मुखकी ओर लग गयी और सभाका कोलाहल शान्त हो गया, तब राजा दशरथने मेघ-गर्जनके समान गम्भीर वाणीद्वारा मुनिके उपदेशमें विश्वास प्रकट करनेवाली पदावलियोंसे युक्त यह सुन्दर वचन मुनीश्वर वसिष्ठजीसे कहा— 'भगवन्! कल आपने जो आनन्ददायिनी विशद वचनावली सुनायी थी, उससे हमलोगोंको ऐसा आश्वासन मिला मानो हमारे ऊपर अमृतराशिकी वर्षा हुई हो। जैसे अमृतराशिसे पूर्ण चन्द्रमाकी निर्मल किरणें अन्धकार-को हटाकर अन्तःकरणको शीतल कर देती हैं; उसी प्रकार आप-जैसे महात्माओंके अमृततुल्य मधुर और निर्मल ये उपदेश-वाक्य अज्ञानान्धकारको दूर करके श्रोताओंके अन्तःकरणको परम शान्ति प्रदान करते हैं। जैसे शीतरश्मि शशिकी किरणें अन्धकार-राशिको दूर कर देती हैं, उसी तरह सज्जनोंके सदुपदेश मनके दुर्विचारों तथा शरीरकी सारी दुश्चेष्टाओंको मिटा देते हैं। मुने! जैसे शरद्-ऋतुमें वर्षाके काले मेघ क्षीण होने लगते हैं, उसी प्रकार हमारे तृष्णा और लोभ आदि दोष जो संसारमें बाँधनेके लिये शृङ्खलारूप हैं, आपके उपदेश-वाक्यसे क्षीण हो चले हैं। आपके उपदेशरूपी शरद्-ऋतुसे हमारे हृदयाकाशमें स्थित संसार-वासना नामक कुहरा अब क्षीण होने लगा है।'

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! महामते! मैंने पूर्वापर-विचारसे युक्त जो वाक्यार्थ तुम्हारे समक्ष उपस्थित किया था, क्या तुम्हें उसका स्मरण है? साधुवादके एकमात्र भाजन साधुपुरुष! क्या तुम्हें स्मरण है कि यह जगत् सर्वशक्तिसम्पन्न परब्रह्म परमात्मासे किस प्रकार प्रकट हुआ है? श्रीराम! बारंबार विचारपूर्वक हृदयमें दृढ़तापूर्वक स्थापित किया हुआ तत्त्वज्ञान मनुष्यको मोक्षरूप सिद्धि देता है, किन्तु जिसने उपदेशसे प्राप्त हुए तत्त्वचिन्तनको अवहेलनावश नष्ट कर दिया—

भुला दिया, उस मनुष्यको उससे मोक्षरूपी फल नहीं प्राप्त होता। रघुनन्दन! जैसे विशाल वक्षःस्थलवाला धनवान् पुरुष अपने कण्ठमें उत्तम जातिके मोतियोंकी माला धारण करनेका अधिकारी होता है, उसी प्रकार जिसका हृदय विवेकसे सम्पन्न है, वह तुम्हारे-जैसा पुरुष ही सुविचारित एवं विशुद्ध उपदेश-वचनोंका योग्य पात्र होता है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! कमलासन ब्रह्माजीके पुत्र महातेजस्वी श्रीवसिष्ठ मुनिने जब श्रीरामचन्द्रजीको इस प्रकार कुछ बोलनेका अवसर दिया, तब वे इस प्रकार बोले।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता मुनीश्वर! मैं परम उदार होकर जो आपके उपदेशको समझ सका हूँ, यह आपके ही प्रभावका विस्तार है। आप मेरे लिये जो-जो आदेश देते हैं, वह सब मैं उसी रूपमें ग्रहण करता हूँ, उसके विपरीत कुछ नहीं करता। उदारहृदय महर्षे! आपने पहले जो मनोहर, पुण्यमय और पवित्र उपदेश दिया है, वह सब मैंने अपने अन्तःकरणमें क्रमशः धारण कर लिया है—ठीक उसी तरह, जैसे कोई सुन्दर और पवित्र रत्नसमूहको मालाके रूपमें गूँथकर अपने कण्ठमें धारण कर ले। आपका अनुशासन हितकारक, मनोरम, पुण्यदायक और परमानन्द-प्राप्तिका साधन है। भला, कौन ऐसे सिद्ध पुरुष हैं, जो इसे शिरोधार्य नहीं करेंगे। आपका यह पवित्र उपदेश पहले श्रवणकालमें ही परम मधुर लगता है, फिर मध्यकालमें—मनन और निदिध्यासनके समय शम आदिके सौभाग्यकी वृद्धि करता है तथा अन्तमें परम उत्तम मोक्षरूपी फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है। आपका उपदेश कल्पवृक्षके पुष्पकी भाँति सदा विकासयुक्त, उज्ज्वल, अम्लान, शुभ और अशुभ—देव दानव, सभीको आनन्दमय बना देनेवाला और अक्षय शोभासे सम्पन्न है। यह हम सब लोगोंको अभीष्ट फल देनेवाला हो। भगवन्! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके विचारमें विशारद हैं। विस्तृत पुण्यरूपी जलराशिके एकमात्र महान् सरोवर हैं। महान् व्रतधारी और पाप-तापसे रहित हैं। इस समय मेरे प्रति आप पुनः अपनी उपदेश-वाणीके प्रवाहका प्रसार कीजिये—सदुपदेशरूपी अमृतका निर्झर बहाइये। (सर्ग २-४)

संसाररूपा मायाका मिथ्यात्व, साधनाका क्रम, आत्माके अज्ञानसे दुःख और ज्ञानसे ही सुखका कथन, आत्माकी निर्लेपता और जगत्की असत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजीने कहा—परम सुन्दर आकृतिवाले रघुनन्दन! अब तुम सावधान होकर इस उपशम-प्रकरणको सुनो, जो उत्तम सिद्धान्तोंके कारण सुन्दर और मोक्षप्रद होनेके कारण हितकारक है। श्रीराम! जैसे सुदृढ़ खंभे मण्डपको धारण करते हैं, उसी तरह राजस-तामस जीव सदा इस विशाल संसार-मायाको धारण करते हैं। शास्त्रोंके अभ्यास, साधु-पुरुषोंके सङ्ग तथा सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उन्हीं पुरुषोंके अन्तःकरणमें प्रज्वलित दीपकके समान सार वस्तुका दर्शन करानेवाली उत्तम बुद्धि उत्पन्न होती है। स्वयं ही विवेक-विचारद्वारा अपने स्वरूपकी पर्यालोचना करके जबतक उसका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया जाता, तबतक ज्ञेय वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती। जो वस्तु आदि और अन्तमें भी नहीं है, उसकी सत्यता कैसी? जो वस्तु आदि और अन्तमें भी नित्य है, वही सत्य है, दूसरी नहीं। आदि और अन्तमें भी जिसकी सत्ता नहीं है, ऐसी मिथ्या वस्तुमें जिसका मन आसक्त होता है, उस मूढ़ पशुतुल्य जन्तुके हृदयमें किस उपायसे विवेक पैदा किया जा सकता है?

रघुनन्दन ! पहले शास्त्रके अभ्याससे, उत्तम वैराग्यसे तथा सत्पुरुषोंके सङ्गसे मनको पवित्र करना चाहिये । सौजन्यसे युक्त चित्त जब वैराग्यको प्राप्त हो जाय, तब शास्त्रोंके ज्ञान-विज्ञानसे गौरवशाली गुरुजनोंका अनुसरण करना चाहिये । फिर गुरुदेवके बताये हुए मार्गसे पहले सगुण परमेश्वरका ध्यान-पूजन आदि करे । यों करनेसे साधक उस परम पावन परमात्मपदको प्राप्त होता है । अपने अन्तःकरणमें निर्मल विचारके द्वारा स्वयं ही आत्मा-का साक्षात्कार करे । मनुष्य तबतक संसाररूपी महासागरमें तिनकेके समान बहता रहता है, जबतक वह बुद्धि-रूपी नौकाद्वारा विचाररूपी तटपर पहुँचकर स्थिर नहीं हो जाता । जिसने विवेक-विचारके द्वारा जानने योग्य वस्तुको जान लिया है, उस पुरुषकी बुद्धि उसकी सारी मानसिक चिन्ताओंको उसी तरह शान्त कर देती है, जैसे सुस्थिर जल बालूके कणोंको नीचे दबा देता है । जैसे सुवर्णका ज्ञान रखनेवाला सुनार राखमें पड़े हुए सोनेको 'यह सोना है, यह राख है' इस तरह साफ-साफ समझ लेता है, अतः उसे सुवर्णकी अप्राप्तिके कारण होनेवाला मोह नहीं सताता, उसी तरह यह जीव चिरकालतक विचारद्वारा अपने स्वरूपका परिज्ञान कर लेनेपर स्वतः अपने अविनाशी स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है । इस दशामें उसके लिये यहाँ मोहका अवसर ही कहाँ रह जाता है । जिस पुरुषने तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, उसका मन यदि मोहग्रस्त होता है तो हो। किंतु जिसे सारतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो चुका है, उसमें तो मूढ़ताकी सम्भावना ही नहीं है—यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है । जगत्के लोगो ! जिसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, वह आत्मा ही तुम्हारे दुःखोंकी सिद्धिका कारण है । यदि उसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो वह तुम्हें अक्षय सुख एवं शान्ति दे सकता है । मनुष्यो ! जिसने आत्मापर आवरण डाल रक्खा है, ऐसे इस शरीरसे मिले-जुले हुए-से अपने आत्माका विवेक-द्वारा साक्षात्कार करके तुमलोग शीघ्र स्वस्थ हो जाओ । मानवो ! जैसे कीचड़में गिरे होनेपर भी सोनेका उस कीचड़के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार इस निर्मल आत्माका देहके साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है । प्रबुद्ध हुआ मन जब अपनी पारमार्थिक स्थिति-को मिथ्याभूत प्रपञ्चसे पृथक् करके देखता है, तब हृदयका अज्ञानान्धकार उसी प्रकार भाग जाता है, जैसे सूर्योदय होनेपर रात्रिका अँधेरा दूर हो जाता है ।

जैसे धूलसे आकाश और जलसे कमल लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीरोंसे सम्बन्ध होनेपर भी आत्मा उनसे लिप्त नहीं होता । जैसे नेत्रदोषके कारण आकाशमें बिन्दुओंके समान आकृतिवाले तिरमिरे दिखायी देते हैं और आकाशके निर्मल होनेपर भी उसमें मलिनताकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मामें सुख-दुःखका अनुभव मलिन बुद्धि-वृत्तिरूप अज्ञानके कारण ही होता है । सुख और दुःख न तो जड देहके धर्म हैं और न सर्वातीत विशुद्ध आत्माके । ये अज्ञानके कारण ही अज्ञानीके अनुभवमें आते हैं और यथार्थ ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश हो जानेपर किसीके भी अनुभवमें नहीं आते । रघुनन्दन ! वास्तवमें न तो किसीको कुछ सुख है और न किसीको कुछ दुःख ही है । सबको शान्त, अनन्त आत्मस्वरूप ही देखो । ये जो विस्तृत सृष्टियोंके दर्शन होते हैं, इन्हें जलमें तरङ्गों और आकाशमें मोरपखोंके समान आत्मामें ही देखना चाहिये । अर्थात् जैसे जल ही तरङ्गरूपमें दीखता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत्के रूपमें दृष्टिगोचर होता है तथा जैसे नेत्रोंके दोषसे मनुष्यको आकाशमें मयूर-पुच्छ-सा दिखायी देता है, पर वास्तवमें वह वहाँ होता नहीं, उसी प्रकार यह संसार वस्तुतः न होनेपर भी अज्ञानके कारण परमात्मामें दीखता है । सच्ची बात तो यह है कि एक-मात्र ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं ।

शुद्ध बुद्धिवाले रघुनन्दन ! आत्मा और जगत् न

तो एक हैं और न अनेक ही हैं; क्योंकि जगत् असत् है अर्थात् ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु न होनेसे द्वैत भी नहीं है तथा ब्रह्मसे संसार पृथक् दीखता है, इसलिये एक भी नहीं कहा जा सकता । वास्तवमें अज्ञानके कारण अज्ञानीको बिना हुए ही यह संसार प्रतीत हो रहा है । निष्पाप श्रीराम ! यह सब निश्चय ही ब्रह्म है। इस प्रकार सब परमात्मा ही है। वही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । मैं पृथक् हूँ और यह जगत् मुझसे पृथक् है, इस भ्रमपूर्ण कल्पनाका परित्याग करो। जैसे अग्निमें हिमकणकी कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार एकमात्र अद्वितीय सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्वमें उससे भिन्न दूसरी वस्तुकी कल्पना ही नहीं हो सकती। रघुनन्दन ! इस परमात्मामें न शोक है न मोह है, न जन्म है और न कोई जन्म लेनेवाला ही है । यहाँ जो है, वही है—ऐसा निश्चय करके तुम दुःख-सुख आदि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य सत्त्वमें स्थित, योगक्षेमरहित, अद्वितीय, शोकशून्य और संतापहीन हो जाओ। परम सुन्दर श्रीराम ! इस समस्त विस्तृत संसारकी रचना असत्यरूप है। इसकी असत्यताको जाननेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष इस मिथ्याभूत प्रपञ्चके पीछे नहीं दौड़ता । तुम तत्त्वज्ञ हो । तुम्हारी कल्पनाएँ शान्त हैं । तुम रोग-दोषसे रहित हो और नित्य प्रकाशस्वरूप हो; अतः शोकशून्य हो जाओ । अपने समस्त गुणोंसे राजाओं तथा प्रजाजनोंको आनन्दित करते हुए तुम इस भूतलपर पिताके दिये हुए इस एकच्छत्र राज्यका चिरकालतक सर्वत्र समतापूर्ण दृष्टिके द्वारा भलीभाँति पालन करते रहो । यहाँ कर्मोंका न तो त्याग उचित है और न उनमें राग होना ही उचित है । (सर्ग ५)

कर्तव्य-बुद्धिसे अनासक्त एवं सम रहकर कर्म करनेकी प्रेरणा, सकाम-कर्मीकी दुर्गति और आत्मज्ञानीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन तथा राजा जनकके द्वारा सिद्धगीताका श्रवण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! मैं श्रुति, स्मृति और सदाचारसे युक्त समस्त व्यवहारको वासनाशून्य होकर करता हूँ—इस प्रकार जो पुरुष कर्तव्य-बुद्धिसे कार्योंमें प्रवृत्त होता है, वह मुक्त है । ऐसी मेरी मान्यता है । मानव-शरीरका आश्रय लेकर भी कोई मूढ़ पुरुष सकामभावसे कर्मोंमें रत हैं, इसलिये वे स्वर्गसे नरकमें और नरकसे पुनः स्वर्गमें आते-जाते रहते हैं । कुछ लोग न करनेयोग्य कर्मोंमें आसक्त हैं और करनेयोग्य कर्तव्यसे विरत हैं; ऐसे पुरुष मरकर नरकसे नरकको, दुःखसे दुःखको और भयसे भयको प्राप्त होते रहते हैं। उनमेंसे कितने ही जीव अपने वासनारूप तन्तुओंसे बँधे रहकर उपर्युक्त कर्मोंके फल भोगते हुए तिर्यग्-योनिसे स्थावरयोनिको और स्थावरयोनिसे तिर्यग्-योनिको आते-जाते रहते हैं । कोई-कोई ही मनके साक्षी आत्माका विचारके द्वारा अनुभव करके तृष्णारूपी बन्धनको तोड़कर परम कैवल्यरूप पदको प्राप्त होते हैं । ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष धन्य हैं । ऐसे पुरुषोंका श्रेष्ठता, मनोरमता, मैत्री, सौम्यभाव, करुणा और ज्ञान आदि सद्गुण सदा ही आश्रय लेते हैं । जो पुरुष समस्त कार्योंको कर्तव्य-बुद्धिसे करता रहता है तथा उन कार्योंके फलके पुष्ट या नष्ट होनेपर सब कार्योंमें समभाव रखता हुआ हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता, उसके भीतर सारे द्वन्द्व उसी तरह मिट जाते हैं, जैसे दिनमें अन्धकार ।

श्रीराम ! विदेह देशमें जनक नामसे प्रसिद्ध एक पराक्रमी राजा राज्य करते थे, जिनकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो चुकी थीं और सम्पत्तियाँ दिनों-दिन बढ़ रही थीं । उनका हृदय बड़ा उदार था । वे याचक-समूहोंके लिये कल्पवृक्ष थे (उनकी सारी इच्छाएँ पूर्ण करते थे, मित्ररूपी कमलोंको विकसित करनेके

लिये सूर्यदेवके समान थे), बन्धु-बान्धवरूपी फूलोंके विकासके लिये ऋतुराज वसन्तके तुल्य थे, ब्राह्मणरूपी कुमुदोंके लिये शीतरश्मि चन्द्रमा थे और भगवान् विष्णुके समान प्रजावर्गके पालनमें तत्पर रहनेवाले थे। एक दिनकी बात है, वे वसन्त ऋतुमें खिले हुए पुष्पोंसे सुशोभित रमणीय उपवनमें गये। उस मनोरम उद्यानमें अनुचरोंको दूर रखकर राजा पर्वतशिखरपर उगे हुए कुञ्जोंमें विचरण करने लगे। कमलनयन श्रीराम! वहाँ किसी तमाल-वनके निकुञ्जमें कुछ सिद्ध पुरुष बैठे हुए थे, जो दूसरोंको दिखायी नहीं देते थे। पर्वतों और उनकी कन्दराओंमें विचरनेवाले वे सिद्ध सदा एकान्त स्थानमें निवास करते थे। उनके मुखसे कुछ ऐसे उपदेशात्मक गीत निकले, जो श्रोताके हृदयमें परमात्मभावको जगानेवाले थे। राजाने उन गीतोंको सुना, मानो वे उन्हींपर अनुग्रह करनेके लिये गाये गये थे। उन गीतोंके भाव क्रमशः इस प्रकार हैं—

कुछ सिद्ध बोले—द्रष्टाका नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा जो दृश्य—विषयके साथ सयोग होता है, उससे जो विषय-सुखकी प्रतीति होती है, उसके द्वारा बुद्धिवृत्तिमें स्वयं सहज आनन्दरूपसे जो निश्चय प्रकट होता है, वही जिसका स्वभाव है तथा जो आत्मतत्त्वके परिशोधसे निरतिशय भूमारूपमें आविर्भूत हुआ है, उस विशुद्ध आत्मा या परमात्माकी हम निश्चय समाधिके द्वारा उपासना करते हैं।

दूसरे *सिद्ध बोले*—वासनासहित द्रष्टा, दर्शन और दृश्यकी त्रिपुटीको त्याग देनेपर जो विशुद्ध दर्शन या ज्ञानके रूपमें प्रकाशित होता है, उस विशुद्ध आत्माकी हम उपासना करते हैं।

अन्य सिद्धोंने कहा—अस्ति और नास्ति—इन दोनों पक्षोंके बीचमें उनके साक्षीरूपसे जो सदा विद्यमान है, प्रकाशनीय वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाले उन परमात्माकी हम उपासना करते हैं।

दूसरे *सिद्ध बोले*—जिसमें सब है, जिसका सब है, जिससे सब हैं, जिसके लिये यह सब है, जिसके द्वारा सब है तथा जो स्वयं ही सब कुछ है, उस परम सत्य आत्माकी हम उपासना करते हैं।

अन्य सिद्धोंने कहा—जो अकारसे लेकर हकारतक समस्त वर्णोंके रूपमें स्थित हो निरन्तर उच्चारित हो रहा है, अपने आत्मरूप उस परमात्माकी हम उपासना करते है।

दूसरे *सिद्ध बोले*—जो हृदय-गुफामें विराजमान दीप्तिमान् परमेश्वरको छोड़कर दूसरेका आश्रय लेते हैं, वे हाथमें आये हुए कौस्तुभ मणिको त्यागकर दूसरे तुच्छ रत्नोंकी इच्छा करते हैं।

अन्य सिद्धोंने कहा—सम्पूर्ण आशाओंका त्याग करनेपर हृदयमें स्थित ज्ञानका फलरूप यह ब्रह्म प्राप्त होता है, जिससे आशारूप विष-वल्लरीकी मूल-परम्परा ही कट जाती है।

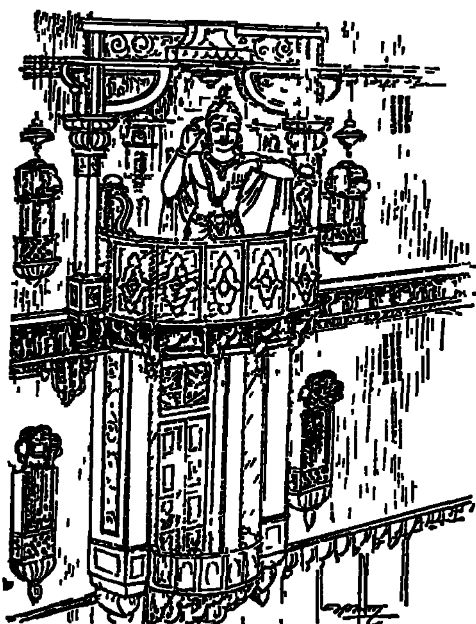
दूसरे *सिद्ध बोले*—जो दुर्बुद्धि पुरुष भोग्यपदार्थोंकी अत्यन्त नीरसताको जानकर भी उनमें बारंबार अपने मनकी भावनाको बाँधता है वह मनुष्य नहीं, गदहा है।

अन्य सिद्धोंने कहा—जैसे इन्द्रने वज्रके द्वारा पर्वतोंको मारा था, उसी प्रकार बारंबार उठने और गिरनेवाले इन इन्द्रियरूपी सर्पोंपर विवेकरूपी डंडेसे प्रहार करना चाहिये।

दूसरे *सिद्ध बोले*—उपशम या शान्तिके पवित्र सुखको प्राप्त करना चाहिये; जो उत्तम शम (मनोनिग्रह) से सम्पन्न है, उस पुरुषका विशुद्ध चित्त ही शान्तिको प्राप्त होता है। जिसका चित्त शान्त हो गया है, उसीको अपने परमानन्दमय स्वरूपमें दीर्घकालके लिये उत्तम स्थिति प्राप्त होती है। (सर्ग ६—८)

सिद्धोंके उपदेशको सुनकर राजा जनकका एकान्तमें स्थित हो संसारकी नश्वरता एवं आत्माके विवेक-विज्ञानको सूचित करनेवाले अपने आन्तरिक उद्गार एवं निश्चयको प्रकट करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उन सिद्धगणोंके मुखसे निकले हुए उन उपदेशात्मक गीतों (वचनों) को सुनकर राजा शीघ्र ही निर्वेदको प्राप्त हो गये । वे अपने साथके सब लोगोंको घरकी ओर खींचते हुए उस उपवनसे चले और समस्त परिवारको अपने-अपने स्थानपर छोड़कर अकेले ही अपने ऊँचे महलपर चढ़ गये । वहाँ



लोककी वर्तमान अवस्थाओंका अवलोकन करते हुए वे व्याकुल हो इस प्रकार अपना उद्गार प्रकट करने लगे—'हाय ! बड़े दुःखकी बात है कि जन्म, जरा, रोग और मरण आदिके कारण समस्त लोकोंकी जो अत्यन्त कष्टप्रद चञ्चल दशाएँ हैं, उन्हींमें मैं बलपूर्वक लोट-पोट रहा हूँ—आवागमनके चक्करमें पड़ा हुआ हूँ । जिस कालका कभी अन्त नहीं होता, उसका एक अत्यन्त अल्पतम अंश मेरा जीवन है । उस क्षणिक जीवनमें मैं आसक्त हो रहा हूँ, अपने मनको बाँधे रखता हूँ । केवल जीवन-कालतक रहनेवाला मेरा यह राज्य कितना है ? कुछ भी तो नहीं है ! परंतु इतनेसे ही संतुष्ट होकर मैं मूर्ख मनुष्यके समान क्यों निश्चिन्त बैठा हूँ ?—मुझे अपनी इस मूढ़तापर दुःख क्यों नहीं होता ? इस जगत्‌में ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो सत्य हो, रमणीय हो, उदार हो और किसीसे उत्पन्न न होकर नित्य निर्विकाररूपसे स्थित हो । फिर मेरी बुद्धि यहाँ किसमें लगे ?—कहाँ शान्ति प्राप्त करे ? जो वस्तु दूरस्थ कही जाती है, वह भी वास्तवमें दूर नहीं है; क्योंकि वह मेरे मनमें वर्तमान है । ऐसा निश्चय करके मैं बाह्य पदार्थोंकी भावना (चिन्तन) का त्याग कर रहा हूँ । प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन और प्रतिक्षण जो दुःखसे भरे हुए सांसारिक सुख बारबार उपलब्ध होते हैं, वे वास्तवमें दुःखरूप ही हैं । आज जो बड़े-बड़े लोगोंके सिरमौर बने हुए हैं वे ही कुछ दिनोंमें नीचे गिर जाते हैं । ऐ मेरे अभागे चित्त ! फिर इस जगत्‌की महत्तामें तुम्हारा यह कैसा विश्वास है ? यद्यपि मैं बुद्धिमान् हूँ, तो भी जैसे सूर्यदेवके समक्ष उनके प्रकाशको ढक लेनेवाला काला मेघ आ जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने यह आत्माके प्रकाशको छिपा देनेवाला मोह सहसा कहाँसे आ गया ? ये महान् भोग मेरे कौन हैं ? ये भाई-बन्धु भी मेरे कौन हैं ? जैसे बालक मिथ्या ही भूतके भयसे व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार मैं इनमें ममतारूपी झूठे सम्बन्धकी कल्पना करके व्याकुल हो रहा हूँ ।

'मैं इन भोगों और सम्बन्धियोंमें स्वयं ही यह आस्था क्यों बाँध रहा हूँ ? यह आस्था तो जरा और मृत्युकी सहेली है—उनकी प्राप्ति करानेवाली है । साथ ही सदा उद्वेगमें डाले रखनेवाली है । यह भोगों और बन्धु-बान्धवोंकी सम्पत्ति चली जाय या भलीभाँति स्थिर होकर रहे, इसके प्रति मेरा क्या आग्रह है ? जलमें उठनेवाले बुद्‌बुदकी शोभा जैसे मिथ्या होती है, उसी तरह यह

भोग आदि सम्पत्ति, जो इस रूपमें उपस्थित हुई है, मिथ्या ही है। प्राचीन नरेशोंके वे महान् वैभव, वे भोग और वे अच्छे-अच्छे स्नेही बन्धु-बान्धव आज कहाँ हैं? वे सब इस समय स्मृतिपथको प्राप्त हो गये हैं—अब उनका केवल स्मरणमात्र यहाँ शेष रह गया है। वे स्वरूपतः विद्यमान नहीं हैं। इस दृष्टान्तको सामने रखते हुए वर्तमान भोग आदि सम्पत्तिपर भी क्या आस्था हो सकती है? पूर्ववर्ती भूमिपालोंके वे धन कहाँ हैं? पूर्वकल्पोंमें ब्रह्माजीने जिनकी सृष्टि की थी, वे जगत् कहाँ चले गये? जब पहलेका सब कुछ नष्ट हो गया, तब आजके इन वैभव-भोगोंपर मेरा यह कैसा विश्वास है? जैसे जलमें अनन्त बुद्‌बुद उठते और विलीन होते हैं, उसी तरह लाखों इन्द्र कालके गालमें चले गये, तो भी मैं इस जीवनमें आस्था बाँधे बैठा हूँ! साधु पुरुष मेरी इस मूढता-पर हँसेंगे। करोड़ों ब्रह्मा चले गये। कितनी ही सृष्टि-परम्पराएँ आयीं और चली गयीं। असंख्य भूपाल धूलके समान उड़ गये। फिर मेरे इस तुच्छ जीवनपर क्या आस्था हो सकती है? यह, वह और मैं—यह तीन प्रकारकी कल्पना असत्यरूप ही है। अहंकाररूपी पिशाचसे ग्रस्त हुए मनुष्यकी भाँति मैं क्यों अबतक मूर्खके समान विचारशून्य होकर बैठा रहा? मैं इस व्याप्त हुई कालकी सूक्ष्म रेखासे प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली अपनी आयुको देखता हुआ भी नहीं देखता! यद्यपि दिन-पर-दिन निरन्तर अब भी आते-जाते रहते हैं; फिर भी आजतक एक दिन भी ऐसा नहीं देखा, जिसमें मुझे नित्य एक सत्य परमात्मवस्तुका साक्षात्कार हुआ हो। मैं कष्टसे भी अत्यन्त कष्टको प्राप्त हुआ, एक दुःखसे दूसरे महान् दुःखमें फँसता गया; परंतु आज भी इस जगत्‌के भोगोंसे विरक्त नहीं हुआ। जिन-जिन सुन्दर वस्तुओंमें मैंने दृढतापूर्वक स्नेह बाँधा, वे सब-की-सब नष्ट होती दिखायी दीं। फिर इस संसारमें उत्तम वस्तु क्या है? मनुष्य जगत्‌के जिन-जिन पदार्थोंमें आस्था बाँधता है—विश्वास करता है, उन-उन पदार्थोंमें उस मनुष्यके दुःखका प्रादुर्भाव बारंबार देखा गया है। मूढ मनुष्य बाल्यावस्थामें एकमात्र अज्ञानसे पीड़ित रहता है, युवावस्थामें कामदेवके बाणोंसे घायल रहता है तथा अन्तिम अवस्थामें स्त्री आदि कुटुम्बके पालन-पोषणकी चिन्तासे जलता रहता है। भला, अपने उद्धारका साधन वह कब करे? दुर्बुद्धि पुरुष इस उत्पत्ति-विनाश-शील, रसहीन, विषम दुर्दशाओंसे दूषित तथा असार संसारमें क्या सार वस्तु देख रहा है? कोई सामर्थ्यशाली पुरुष राजसूय और अश्वमेध आदि सैकड़ों यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी अधिक-से-अधिक महाकल्पपर्यन्त उपभोगमें आनेवाले स्वर्गको ही पाता है, जो महाकालकी दृष्टिसे उसका एक अत्यन्त अल्पतम अंश है। स्वर्गसे अधिक जो अनन्त, नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति उसे नहीं होती। कौन-सा वह स्वर्ग है और इस पृथ्वीपर या पातालमें कौन-सा ऐसा प्रदेश है, जहाँ दुष्ट भ्रमरियोंकी भाँति ये आपत्तियाँ जीवको अभिभूत नहीं करतीं। ये आधियाँ (मानसी व्यथाएँ) अपने ही चित्तरूपी बिलमें रहनेवाले सर्प हैं और ये व्याधियाँ शरीररूपी स्थलके खुदे हुए क्षुद्र जलाशय हैं। इनका निवारण कैसे किया जा सकता है।

'सत् (वर्तमानकालिक दृश्य) के सिरपर असत्ता (विनाशशीलता) बैठी है। रमणीय पदार्थोंके मस्तक-पर अरम्यता विराज रही है और सुखोंके माथेपर दुःख चढ़े हुए हैं। भला, इनमें कौन-सी ऐसी एकमात्र सत्य वस्तु है, जिसका मै आश्रय लूँ? (तात्पर्य यह कि ये सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं) अज्ञानसे मोहित क्षुद्र प्राणी जन्म लेते और मरते हैं। यह पृथ्वी उन्हीं लोगोंसे ठसा-ठस भरी है। जो साधुओंसे भी बढ़कर साधु हैं, ऐसे महापुरुष इस संसारमे दुर्लभ हैं। नील कमलके समान मनोहर और भ्रमरके समान चञ्चल नेत्रवाली जो उत्कृष्ट प्रेमसे विभूषित विलासिनी वनिताएँ हैं, वे भी क्षणभङ्गुर होनेके कारण उपहासके ही योग्य हैं। संसारमें रमणीयसे

भी रमणीय और सुस्थिरसे भी सुस्थिर पदार्थ हैं, किंतु यह सारी पदार्थ-सम्पत्ति अन्ततोगत्वा चिन्ता और दुःखका ही कारण होती है। फिर तुम उसकी इच्छा क्यों करते हो? वे स्त्री, धन और गृह आदि विचित्र सम्पत्तियाँ यदि चित्तसे आदरणीय हों तो वे भी बहुत प्रयत्नोंसे प्राप्त करने योग्य, दुःखसे रक्षणीय तथा अवश्य विनाशशील होनेके कारण महाविपत्तिरूप ही हैं—ऐसा मेरा मत है। किंतु यदि धन, सम्पत्ति और बन्धुजनोंसे वियोगरूप आपत्तियाँ भी साधुसङ्ग, तपस्या और ज्ञान आदिकी प्राप्ति करा देनेके कारण विचित्र एवं कल्याणकारिणी हैं—ऐसा मनमें विश्वास हो जाय तो वे भी विवेक-वैराग्य आदि महान् आरम्भोंसे युक्त सम्पत्तियाँ ही हैं—ऐसा मैं मानता हूँ। समुद्रमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाकी भाँति क्षण-भङ्गुर, मिथ्यारूप, एकमात्र मनका परिणामस्वरूप जो यह जगत् है, इसमें 'यह मेरा है' यह अपूर्व पद-वाक्यरूप अक्षरमाला कहाँसे आयी? अर्थात् इसमें ममता करना व्यर्थ है। अग्निकी शिखाओंमें आसक्त हुए फतिंगोंकी भाँति मैं देश, काल और वस्तुसे सीमित तथा त्रिविध तापोंसे संतप्त किन सुख-नामक दृष्टियोंमें अनुरक्त हो रहा हूँ? निरन्तर दग्ध करनेवाली रौरव नरककी आगमें लोटना अच्छा है, परंतु सुख-दुःखके परिवर्तनसे युक्त विषयभोग-रूप संसारमें रहना अच्छा नहीं। ससार ही समस्त दुःखोंकी चरम सीमा कहलाता है। उसके भीतर पड़े हुए शरीरमें सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। जो बाह्य आकारमात्रसे रमणीय प्रतीत होनेवाली किंतु विनाशकी प्राप्ति करानेवाली हैं, मनरूपी बंदरकी उन चपलतारूप वृत्तियोंका अनुभव हो जानेपर मैं आजसे ही इनमें रमण नहीं करूँगा। जो सैकड़ों आशारूपी पाशोंसे ओतप्रोत तथा अधोगति, ऊर्ध्वगति एवं संतापको देनेवाली हैं, उन ससारकी वृत्तियोंको मैंने बहुत भोग लिया। अब मैं इनसे विश्राम लेता हूँ। मैं प्रबुद्ध (जगा हुआ) हूँ तथा हर्ष एवं उत्साहसे भरपूर हूँ। अपने पारमार्थिक धनको चुरानेवाले मन नामक चोरको मैंने देख लिया है। अतः अब इसे मैं मारे डालता हूँ; क्योंकि इस मनने चिरकालसे मुझे मारा है—मेरा पतन कराया है। जैसे सूर्यकी धूपसे ओस या पालेके कण गल जाते हैं, उसी तरह मेरा मन यथार्थ ज्ञानद्वारा ब्रह्मतत्त्वमें नित्य-निरन्तर स्थिति प्राप्त करनेके लिये बहुत शीघ्र लयको प्राप्त होगा। सिद्ध महापुरुषोंने नाना प्रकारके उपदेशोंद्वारा मुझे अच्छी तरह बोध करा दिया है। अब मैं परमानन्दस्वरूप परमात्मामें प्रवेश कर रहा हूँ। परमात्मारूपी मणिको पाकर एकान्तमें उसीको देखता हुआ मैं अन्य सारी इच्छाओंको शान्त करके सुखपूर्वक स्थित होऊँगा। 'यह देह मैं हूँ, यह विस्तृत धन-राज्य आदि मेरा है' इस प्रकार अन्तःकरणमें स्फुरित हुए असत्यरूपका यथार्थज्ञानके द्वारा नाश करके अत्यन्त बलशाली मनरूपी शत्रुको ध्यानके अभ्याससे अच्छी तरह मारकर मैं अतिशय शान्तिको प्राप्त हो रहा हूँ।' (सर्ग ९)

राजा जनकद्वारा संसारकी स्थितिपर विचार और उनका अपने चित्तको समझाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! राजा जनक जब इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे, उस समय प्रतिहारने उनके पास जाकर नैत्यिक कार्य करनेके निमित्त उठनेके लिये अनुरोध किया; परंतु राजा

पूर्ववत् संसारकी विचित्र स्थितिपर ही विचार करते रहे।



राजा बोले—जो सुखदरूपसे स्थित है, यह राज्य कितने दिनका है ? मुझे यहाँ इस क्षणभङ्गुर राज्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। यह सभी मायाका मिथ्या आडम्बर है। मैं इसका त्याग करके प्रशान्त महासागरकी भाँति शान्त रहकर एकान्तमें ही स्थित रहूँगा। ऐ मेरे चित्त ! बारंबार भोगोंके आस्वादनमें जो वेगपूर्वक तेरी प्रवृत्ति हो रही है, यह बड़ी घृणित है। इससे तू दूर हो जा। तेरी जो भोग भोगनेकी चतुरता है, उसे जन्म, जरा एवं जडताके समूहरूपी कीचड़की शान्तिके लिये त्याग दे। चित्त ! तू जिन-जिन अवस्थाओंमें भ्रमवश सुख देखता है, उन्हींसे तुझे महान् दुःखकी प्राप्ति होगी। इसलिये इस तुच्छ भोग-चिन्तनसे कोई लाभ नहीं है।

ऐसा विचार करके राजा जनक मौन हो गये। उनके चित्तकी चपलता शान्त हो चुकी थी। इसलिये वे चित्रलिखित पुरुषकी भाँति अचलभावसे स्थित हो गये और पुनः इस प्रकार विचार करने लगे—'मुझे कोई भी क्रिया करनेसे क्या प्रयोजन है और कुछ न करके निष्क्रिय होकर बैठ रहनेसे भी क्या मतलब है ? इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उत्पन्न होकर विनाशको न प्राप्त हो। मिथ्यारूपसे प्रकट हुआ यह शरीर कर्म करे या निष्क्रिय होकर बैठा रहे, सर्वत्र समान-भावसे स्थित हुए मुझ विशुद्ध चेतनकी इससे क्या क्षति होनेवाली है ? मैं न तो अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करता हूँ और न प्राप्त वस्तुका त्याग ही। मेरा इस जगत्में न तो कुछ करनेसे प्रयोजन है और न न करनेसे ही। करने या न करनेसे जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सब असन्मय—विनाशशील ही है। इसलिये यह शरीर उठकर क्रमशः प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन करे। यह निश्चेष्ट होकर क्यों सूख रहा है ?'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! ऐसा विचार करके वे राजा जनक अनासक्त भावसे न्यायतः प्राप्त हुए कर्तव्य कर्मका सम्पादन करनेके लिये उठे। उन्होंने श्रेष्ठ पुरुषोंके समादरपूर्वक उस दिनका सारा कार्य भलीभाँति पूर्ण करके उसी ध्यानरूप विनोदसे अकेले ही रात बितायी। जब रात बीतने लगी, तब विषय-भ्रमसे रहित मनको समरस (एकाग्र) करके उन्होंने अपने चित्तको इस प्रकार समझाना आरम्भ किया—'ऐ मेरे चञ्चल चित्त ! यह संसार आत्माके सुखका साधन नहीं है। तुम शमका आश्रय लो। शमसे शान्त (विक्षेप-रहित) सारभूत आत्मसुखकी प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे तुम विविध विकल्पोंका संकल्प करते हो, वैसे-ही-वैसे तुम्हारे विषय-चिन्तनसे यह संसार अनायास ही वृद्धिको प्राप्त होता है। दुष्ट मन ! जैसे वृक्षको सींचनेसे उसमें सैकड़ों शाखाएँ निकल आती हैं, उसी प्रकार तुम भी विषयभोगकी इच्छा करनेसे अनन्त आन्तरिक व्यथाओंसे युक्त हो जाते हो। जन्म तथा संसारकी सृष्टियाँ विषय-चिन्ताओंके विलाससे ही प्रकट हुई हैं; इसलिये तुम नाना प्रकारकी चिन्ताओंका त्याग करके उपशमको प्राप्त होओ—संसारसे उपरत हो जाओ।

सुन्दर चित्त ! इस चञ्चल संसारसृष्टिको और शान्तिके सुखको विचारकी तराजूमें रखकर तौलो। यदि तुम्हें संसारकी सृष्टिमें ही सार प्रतीत हो तो इसीका आश्रय लो; नहीं तो शान्तस्वरूप ब्रह्ममें स्थित हो जाओ। मेरे अच्छे मन! पहलेसे अविद्यमान यह दृश्य-प्रपञ्च उत्पन्न हो जाय अथवा यह वर्तमान दृश्य नष्ट हो जाय, तुम इसके गुणों और अवगुणोंसे—उदय और नाशसे हर्ष-विषादरूप विषमताको न प्राप्त होओ। इस दृश्य वस्तु संसारके साथ तुम्हारा थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है। इसका रूप है ही नहीं। ऐसे मिथ्या दृश्य जगत्‌से तुम्हारा इस तरहका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है। सुन्दर चित्त ! यदि यह दृश्य जगत् असत् है और तुम सत्य हो तो तुम्हीं बतलाओ, सत् और असत्‌में, जीवित और मृतमें कैसे सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? चित्त ! यदि तुम और दृश्य जगत् दोनों ही सत् और सदा साथ रहनेवाले हो, तब तुम्हारे लिये हर्ष और विषादका अवसर ही कहाँ है? इसलिये इस विशाल आन्तरिक व्यथाका त्याग करो। आत्मानन्दको, जो मौन होकर सो रहा है, विवेक-वैराग्यसे जगाओ और इस अमङ्गलमयी स्थिति—चञ्चलताको छोड़ो। अरे शठ चित्त ! जड दृश्यरूप इस संसारमें ऐसी कोई उन्नत और उत्तम वस्तु नहीं है, जिसकी प्राप्ति होनेसे तुम्हें परम परिपूर्णता प्राप्त हो जाय। इसलिये अभ्यास और वैराग्यके बलसे अत्यन्त धीरताका आश्रय ले चञ्चलताको त्याग दो।' (सर्ग १०-११)

राजा जनककी जीवन्मुक्तरूपसे स्थिति तथा विशुद्ध विचार एवं प्रज्ञाके अद्भुत माहात्म्यका वर्णन



श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उस समय इस प्रकार विचार करके धीरबुद्धि राजा जनक अपने राज्यके सारे काम-काज सँभालने लगे। फिर उन्हें मोह नहीं हुआ (उनके मनमें ममता और आसक्ति नहीं जागी)। उनका मन कहीं हर्षके स्थानोंमें किञ्चिन्मात्र भी उल्लासको प्राप्त नहीं हुआ। जैसे केवल सुषुप्तिमें स्थिति हो, उस प्रकार सदा ही विक्षेपरहित एवं शान्तभावसे स्थिर रहा। तबसे लेकर उन्होंने न तो दृश्य जगत्‌को मनसे ग्रहण किया और न उसका त्याग ही किया। केवल वर्तमान संसारमें वे निश्शङ्क होकर स्थित रहे। इस प्रकार आत्मविवेकके अनुसंधानसे राजा जनकका परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान अनन्त एवं अत्यन्त विशुद्ध हो गया। सम्पूर्ण भूतोंके आत्मस्वरूप परमात्माको जानने तथा आत्माकी अनन्तताका अनुभव करनेवाले राजाने चिन्मय परमात्मामें स्थित सारे पदार्थोंको आत्मभूत देखा—अपने आत्माके रूपमें अनुभव किया। वे न तो अनुकूल वस्तुको पाकर हर्षसे उल्लसित हुए और न कभी प्रतिकूल वस्तुको पाकर शोकसे आतुर ही हुए। सब कुछ प्रकृतिका व्यवहार होनेके कारण वे

उसमें सदा ही समचित्त एवं विकारशून्य होकर रहे। तभीसे लोकमें सगुण-निर्गुण परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेवाले और समस्त प्राणियोंको सम्मान देनेवाले वे राजा जनक परमात्माके यथार्थ ज्ञानमें निपुण हो जीवन्मुक्त हो गये। वे लोगोंको प्राणोंके समान प्रिय थे और विदेह देशका राज्य करते हुए कभी हर्ष और विषादके वशीभूत हो संतप्त नहीं होते थे। सुषुप्तावस्थामें स्थितकी भाँति राजा जनककी राग-द्वेष आदि समस्त वासनाएँ सम्पूर्ण पदार्थोंसे सर्वथा निवृत्त हो गयी थीं। वे न कभी भूतकी चिन्ता करते और न भविष्यका अनुसंधान। वर्तमान कालका ही वे प्रसन्नतापूर्वक अनुसरण करते थे। कमलनयन श्रीराम! अपने परमात्मविषयक विवेकपूर्ण विचारद्वारा ही राजा जनकको पानेयोग्य परब्रह्म परमात्म-रूप वस्तुकी पूर्णतया प्राप्ति हो गयी।

अपने चित्तसे तबतक परमात्मतत्त्वका विचार करते रहना चाहिये, जबतक विचारोंकी सीमाका अन्त (परमात्माका यथार्थ ज्ञानरूप फल) प्राप्त न हो जाय। महापुरुषोंके सङ्गसे निर्मलतारूप अभ्युदयको प्राप्त हुए चित्तके विवेकपूर्वक शुद्ध विचारसे जो परमात्मरूप परमपद प्राप्त होता है, वह न तो गुरुके उपदेशसे, न शास्त्रार्थसे और न पुण्यसे ही प्राप्त होता है। श्रीराम! अपने मित्रके तुल्य स्थिर, शुद्ध एवं तीक्ष्ण बुद्धिसे जो उत्तम पद प्राप्त होता है, वह दूसरी किसी क्रियासे नहीं होता। जिस पुरुषकी पूर्वापरका विचार करनेवाली कुशाग्र एवं तीक्ष्ण प्रज्ञारूपी दीपशिखा प्रज्वलित है, उसे कभी अज्ञानरूपी अन्धकार क्लेश नहीं पहुँचाता। महामते! दुःखरूपी उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त जो विपत्तिरूपिणी दुस्तर सरिताएँ हैं, उनको तीक्ष्ण और विशुद्ध बुद्धिरूपी नौकाद्वारा ही पार किया जाता है। जैसे वायुका हल्का-सा झोंका भी निस्सार तिनकेको उड़ा देता है, उसी प्रकार प्रज्ञाहीन मूढ़ पुरुषको थोड़ी-सी आपत्ति भी शोकाकुल कर देती है। शत्रुमर्दन श्रीराम! तीक्ष्ण और विशुद्ध प्रज्ञासे युक्त पुरुष दूसरोंकी सहायता तथा शास्त्राभ्यासके बिना भी संसार-समुद्रसे अनायास ही पार हो जाता है। जैसे फलकी प्राप्तिके लिये सींचने और संरक्षण आदिके द्वारा अंगूर आदिकी लताको बढ़ाया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रोंके अभ्यास और सत्पुरुषोंकी संगतिसे पहले प्रज्ञाको बढ़ाना चाहिये अर्थात् बुद्धिको पवित्र एवं तीक्ष्ण बनाना चाहिये। जैसे चन्द्रमण्डल संसारके अन्धकारको दूर करनेवाली चाँदनीको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार निष्काम कर्मरूपी वृक्ष, जिसका शुद्ध तीक्ष्ण प्रज्ञाबल ही महान् मूल है परम रसमय परमात्माकी प्राप्तिरूप फलको उत्पन्न करता है। लोग धन-सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थोंके उपार्जनके लिये जैसा प्रयत्न करते हैं, वही यत्न पहले विशुद्ध बुद्धिकी अभिवृद्धिके लिये करना चाहिये। बुद्धिकी मन्दता समस्त दुःखोंकी चरम सीमा है, विपत्तियोंका सबसे बड़ा भंडार है और संसाररूपी वृक्षोंका बीज है; अतः उसका यत्नपूर्वक विनाश करना चाहिये।

रघुनन्दन! न दानोंसे, न तीर्थोंसे और न तपस्यासे ही भयंकर संसार-सागरको पार किया जा सकता है। केवल पवित्र एवं अविचल बुद्धिरूपी जहाजका आश्रय लेनेसे ही उसके पार पहुँचा जा सकता है। पृथ्वीपर विचरनेवाले मनुष्योंको भी जो दैवी सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह शुद्ध एवं अविचल प्रज्ञामयी लतासे उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट फल है। जिन सिंहोंने अपने पंजोंसे मत्त गजराजोंके कुम्भस्थल विदीर्ण कर डाले थे, वे भी सियारोंद्वारा बुद्धि-बलसे इस तरह पराजित हुए हैं, जैसे सिंहोंसे हरिन। विवेकी पुरुषके हृदयरूपी कोशागारमें स्थित यह पवित्र प्रज्ञा चिन्तामणिके समान है। यह कल्पलताकी भाँति मनोवाञ्छित फल देती है। श्रेष्ठ पुरुष पवित्र और अविचल प्रज्ञाके द्वारा संसार-सागरसे पार हो जाता है, किंतु अधम मानव उसमें डूब जाता है। क्यों न हो

नौका चलानेकी कलामें शिक्षित हुआ केवट ही नौकासे नदीके पार पहुँचता है, अशिक्षित केवट नहीं । जैसे समुद्रकी भँवरमें चक्कर काटती हुई नौका उसपर चढ़े हुए लोगोंको विपत्तिमें डाल देती है, उसी प्रकार राग, द्वेष, लोभ आदि असन्मार्गमें लगायी गयी अशुद्ध बुद्धि संसारमें भटककर मनुष्यको आपत्तिमें डाल देती है और वही बुद्धि यदि विवेक, वैराग्य आदि सन्मार्गमें लगायी जाय तो वह मनुष्यको भवसागरसे पार कर देती है । जैसे कवच बाँधकर युद्ध करनेवाले योद्धाको बाण पीड़ित नहीं करते, उसी प्रकार विवेकशील, मूढ़तारहित एवं पवित्र बुद्धिवाले पुरुषको तृष्णावर्गके काम, लोभ आदिसे उत्पन्न हुए क्रोध, द्वेष और मोह आदि क्लेश बाधा नहीं पहुँचाते । रघुवीर ! इस लोकमें प्रज्ञारूपी नेत्रसे यह सारा जगत् ठीक-ठीक दिखायी देता है । उस यथार्थदर्शी पुरुषके पास न तो सम्पत्तियाँ आती हैं और न विपत्तियाँ ही । जैसे सूर्यको ढकनेवाला जलमय विस्तृत काला मेघ वायुसे छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी मत्त मेघ जो परमात्मारूपी सूर्यपर आवरण डालनेवाला है, पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपी वायुसे बाधित हो जाता है । परमात्माकी प्राप्तिरूप अनुपम उन्नत पदमें पहुँचनेवाले पुरुषको पहले सत्सङ्ग और विवेक-वैराग्यद्वारा इस बुद्धिका ही शोधन करना चाहिये—ठीक उसी तरह, जैसे धान्य आदिकी वृद्धि चाहनेवाला किसान सबसे पहले पृथ्वीको ही हलसे जोतकर शुद्ध बनाता है । (सर्ग १२)

चित्तकी शान्तिके उपायोंका युक्तियोंद्वारा वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! बिना जीती हुई मनसहित इन्द्रियाँ शत्रुके समान हैं । इन्हें तबतक बारंबार जीतकर परमात्मामें लगानेका प्रयत्न करे, जबतक अन्तःकरण स्वयं ही परमात्माके ध्यानमें एकाग्र होकर शुद्ध एवं प्रसन्न न हो जाय । इस प्रकारके साधनसे नित्य प्रसन्न, सर्वव्यापी, दिव्यस्वरूप, देवेश्वर परमात्माका स्वतः साक्षात्कार हो जाता है और ऐसा होनेपर सारी दुःख-दृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं । उस सगुण-निर्गुणरूप परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होनेपर हृदयग्रन्थिरूपी कुदृष्टियाँ जो मोहरूपी बीजकी मुट्ठियाँ और नाना प्रकारकी आपत्तियोंकी वृष्टियाँ हैं, नष्ट हो जाती हैं । नित्य आन्तरिक विचारवाले और जगत्‌को क्षणभङ्गुर देखनेवाले पुरुषका अन्तःकरण राजा जनकके अन्तःकरणकी तरह समय आनेपर अपने-आप ही शुद्ध हो जाता है । संसारसे भयभीत हुए पुरुषोंके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानरूप परम पुरुषार्थको छोड़कर न दैव शरण देनेवाला है न कर्म, न धन आश्रय देनेवाला है न भाई-बन्धु (अपने उद्धारके लिये इनमेंसे कोई भी आश्रय लेने योग्य नहीं है, केवल एकमात्र परमात्मा ही शरण लेने योग्य है) । तात ! जो लोग विवेक, वैराग्य, विचार, उपासना और धर्मपालन आदि उत्तम कार्योंमें भाग्यके अधीन रहते हैं तथा मिथ्या विपरीत कल्पनाएँ करते रहते हैं, उनकी मन्दमति विनाशकी ओर ले जानेवाली है; अतः उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये । उत्तम विवेकका आश्रय ले अपने आत्माका अपने ही द्वारा अनुभव करके परम वैराग्यसे पुष्ट हुई पवित्र एवं सूक्ष्म बुद्धिरूप नौकाद्वारा संसार-सागरको पार करे । श्रीराम ! यह मैंने तुमसे आकाशसे गिरनेवाले फलके समान शीघ्रतापूर्वक होनेवाली ज्ञान-प्राप्तिका वर्णन किया है । यह ज्ञान अज्ञानरूपी वृक्षको काट डालनेवाला तथा निरतिशय सुख प्रदान करनेवाला है । वाञ्छित (मनके अनुकूल) और अवाञ्छित (मनके प्रतिकूल) वस्तुकी आशङ्कारूपिणी चञ्चल वानरियाँ जिस चित्तरूपी वृक्षपर कूद-फाँद लगाये रहती हैं, उसमें सौम्यता (शान्ति) कहाँसे आ सकती है ।

निष्कामता, निर्भयता, स्थिरता, समता, ज्ञान, निरीहता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, मैत्री,

मननशीलता, संतोष, मृदुता और मधुरभाषिता— ये गुण हेय और उपादेयसे रहित ज्ञानी पुरुषमें बिना किसी वासनाके रहते हैं। जैसे बहते हुए जलको बाँधसे रोका जाता है, उसी प्रकार निकृष्ट विषयोंकी ओर दौड़ते हुए मनको विवेक-वैराग्यके बलसे विषयोंकी ओरसे लौटाये अर्थात् चित्तकी बहिर्मुख वृत्तिको विवेक वैराग्यद्वारा अन्तर्मुखी करे। श्रीराम! मोह संसारको भूलकर फिर नहीं प्रस्फुटित होता और संसार चित्तको भुलाकर फिर नहीं अङ्कुरित होता। खड़े होते, चलते, सोते, जागते, कहीं निवास करते, उछलते और गिरते-पड़ते यह 'दृश्य-प्रपञ्च असत् ही है' ऐसा मनमें निश्चय करके इसके प्रति आस्थाका परित्याग कर देना चाहिये। रघुनन्दन! समताका भलीभाँति आश्रय ले प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन करते हुए अप्राप्तका चिन्तन न करके निर्द्वन्द्व हो इस लोकमें विचरना चाहिये। श्रीराम! तुम्हीं सर्वज्ञ, तुम्हीं अजन्मा, तुम्हीं सबके आत्मा और तुम्हीं महेश्वर हो। तुम अपने चैतन्यस्वमावसे कभी च्युत नहीं होते, तथापि तुमने इस प्रकार इस संसार-का विस्तार किया है। जिसने सद्रूप आत्मदृश्यमें परमार्थ सत्स्वरूपताकी भावना करके सब ओरसे दूसरी भावनाका परित्याग कर दिया, वह पुरुष हर्ष, क्रोध और विषाद आदिसे होनेवाले दोषोंसे नहीं बँधता। जो राग-द्वेषसे मुक्त है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है तथा संसारकी वासनाओंका त्याग कर चुका है, ऐसा योगी युक्त कहलाता है। वह जो कुछ करता, खाता, देता और नष्ट करता है, उन सब क्रियाओंमें उसकी अहंभावना नहीं होती तथा वह सुख-दुःखमें भी समान भाव रखता है। जो इष्ट और अनिष्टकी भावनाका त्याग करके प्राप्त हुए कार्यको कर्तव्य समझकर ही उसमें प्रवृत्त होता है, उसका कहीं भी पतन नहीं होता। महामते! यह जगत् चेतनमात्र ही है—इस प्रकारके निश्चयवाला मन जब भोगोंका चिन्तन त्याग देता है, तब वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

वास्तवमें तो न मन है, न बुद्धि है और न यह शरीर ही है; केवल एकमात्र आत्मा ही सदा विद्यमान है। आत्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है और आत्मा ही कालक्रम है। वह विशुद्ध आत्मा आकाशसे भी सूक्ष्म होनेके कारण प्रतीत न होनेपर भी ध्रुव सत्य है। सूक्ष्म होनेके कारण प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेपर भी यह आत्मा नित्य सत्य चेतनरूप है, अतएव सब प्रकारके लक्षणोंसे अतीत शुद्ध आत्मा केवल अपने अनुभवसे ही जाना जाता है। जहाँ केवल परमात्माकी चेतनता है, वहाँ उसी तरह मनका क्षय हो जाता है, जैसे प्रकाशमें अन्धकारका नाश हो जाता है। अतः उस आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वैराग्यसे, प्राणायामके अभ्याससे, विवेक-विचारसे, दुर्व्यसनोंके विनाशसे तथा परमार्थ-तत्त्वके बोधसे प्राणवायुका निरोध करना चाहिये। जड तथा स्वरूप-हीन होनेके कारण मन सदा ही मरा हुआ है। किन्तु आश्चर्य है कि उस मरे हुए मनके द्वारा ही लोग मारे जा रहे हैं। चक्रके समान घूमती हुई यह मूर्खताकी परम्परा बड़ी विचित्र है। अहो! महामायावी मयासुरका भी निर्माण करनेवाली यह माया अत्यन्त अद्भुत है, जिसके कारण अत्यन्त चञ्चल चित्तके द्वारा भी यह लोक अभिभूत हो रहा है। जब मूर्खता आती है, तब पुरुष सभी आपत्तियोंका भाजन हो जाता है। भला, अज्ञानीपर कौन-सी आपत्ति नहीं आती। देखो, अज्ञानने ही मूर्खता-से इस सृष्टिको उत्पन्न किया है। हाय! बड़े क्लेशकी बात है कि यह सृष्टि दुर्बुद्धिके कारण मूर्खताके वशमें पड़ी हुई उसके द्वारा पीडित हो रही है, तथापि यह जीव असत्का अनुवर्तन करके उत्तरोत्तर दुःख उठानेके लिये ही इस सृष्टिको उपलब्ध करता है। मैं समझता हूँ, यह मूर्खतामयी सृष्टि अत्यन्त सुकुमार—अविचार-मात्रसे सिद्ध है। अतएव एकमात्र विचारसे ही इसका बाध किया जा सकता है। श्रीराम! इस मूर्खलोकमयी सृष्टिके रूपमें असत्‌रूप मन ही प्रकट हुआ है अर्थात्

यह मनका ही विकार है। जो पुरुष उस मनको वशमें नहीं कर सकता, वह अध्यात्मशास्त्रके उपदेशका पात्र नहीं है। उस पुरुषकी बुद्धि चारों ओरसे विषयोंमें ही आरूढ़ है और उतनेसे ही वह अपनेको परिपूर्ण मानती है, इसीलिये परमात्माकी ओर अभिमुख नहीं होती, सूक्ष्म वस्तुके विचारमें भी समर्थ नहीं हो पाती। इसीलिये उसमें आध्यात्मिक शास्त्रका उपदेश पानेकी योग्यता नहीं होती। (सर्ग १२)

अनधिकारीको दिये गये उपदेशकी व्यर्थता, मनको जीतने या शान्त करनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वबोधसे ही मनके उपशमका कथन; तृष्णाके दोष, वासनाक्षय और जीवन्मुक्तके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस भूतलपर जो मनुष्य पशु-पक्षियोंके समानधर्मा होकर आहार, निद्रा और मैथुन आदिमें ही लगे हुए हैं, उन्हें उपदेश देना उचित नहीं। भला, वनमें ठूँठे काठके निकट कथाका तात्पर्य कहनेसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा? जिन्होंने अपने मनको विषयोंमें फैला रक्खा है, उन मनुष्योंमें और पशुओंमें क्या अन्तर है? पशु रस्सीसे बाँधकर खींचे जाते हैं और मूढ़चेता मनुष्य आसक्तिके कारण मनके द्वारा विषयोंकी ओर घसीटे जाते हैं। जिन लोगोंने अपने मनको नहीं जीता है, उन्हें सब ओरसे दु:खदायिनी दशाएँ प्राप्त होती हैं। रघुनन्दन! जिन्होंने अपने चित्तपर विजय प्राप्त कर ली है, उनके दु:ख उत्तम विचारके द्वारा दूर किये जा सकते हैं। इसलिये जिसे ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान हो चुका है, वह ज्ञानी पुरुष उनके दु:खका मार्जन करनेमें प्रवृत्त हो। इस त्रिगुणात्मक मायामय प्रपञ्चका आश्रय लेना बन्धनमें ही डालनेवाला है। यदि इसका त्याग कर दिया जाय तो यह भव-बन्धनसे छुटकारा दिला सकता है। 'मैं' और 'यह' दोनों ही नहीं हैं इस प्रकार चिन्तन करते हुए तुम अनन्त आकाशके समान विशाल हृदयवाले आत्माके रूपमें प्रतिष्ठित हो पर्वतके समान अविचल-भावसे स्थित हो जाओ। यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा ही है, ऐसे ज्ञानका अन्त:करणमें उदय होनेपर कहाँ चित्त है, कहाँ चेत्य है और क्या चेतन है? मैं चिन्मय ब्रह्म हूँ, जीव नहीं; क्योंकि वास्तवमें एकमात्र परब्रह्म परमात्माके सिवा जीव नामक कोई अलग पदार्थ नहीं है। यही चित्तकी शान्ति है और इसीको परम सुख कहते हैं। रघुनन्दन! यह संसार परमात्माका ही स्वरूप है, ऐसा निश्चय हो जानेपर निस्संदेह चित्त-की कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार परमार्थ-तत्त्वका बोध होनेसे यह जगत् परमात्मा ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है। उस दशामें जैसे सूर्यके प्रकाशसे अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी तरह मन भलीभाँति गल जाता है। जबतक मनरूपी सर्प इस शरीरमें विद्यमान है, तबतक महान् भय बना रहता है। योगसे उसको मार भगानेपर भयके लिये अवसर ही कहाँ रह जाता है?

श्रीराम! तृष्णा विष-लताके समान है। यह बढ़ते हुए महान् मोहको देनेवाली और भयंकर है। वह मनुष्यको केवल मूर्च्छा (अज्ञान) ही देती है (ज्ञान-जनित सुख नहीं)। वर्षा ऋतुकी अँधेरी रातके समान मनमें अनन्त विकार (भय आदि) उत्पन्न करनेवाली यह तृष्णा जब-जब प्रकट होती है, तब-तब महामोह प्रदान करती है। रघुनन्दन! संसारमें जो दुरन्त, दुर्जर और महान् दु:ख हैं, वे तृष्णारूपिणी विष-लताके ही फल हैं। तृष्णासे पीडित मनुष्यमें दीनता प्रत्यक्ष देखी गयी है। वह मन मारे रहता है, उसका तेज नष्ट हो जाता है, वह बहुत नीचे गिर जाता है। वह मोहग्रस्त होता, रोता और गिरता रहता है। निश्चय ही जहाँ तृष्णारूपिणी काली रात नष्ट हो गयी है, वहाँ शुद्ध

पक्षके चन्द्रमाकी भाँति सत्कर्म ही बढ़ते हैं। जिस पुरुषरूपी वृक्षमें तृष्णारूपी घुन नहीं लगे हैं, उसमें सदा पुण्यरूपी फूल खिलते हैं और वह विकासशील अवस्थाको प्राप्त होता है। तृष्णाद्वारा ये सब लोग सूतमें बँधे हुए पक्षीके समान देश-विदेशमें भटकाये जाते, शोकसे जर्जर किये जाते और अन्ततोगत्वा मारे जाते हैं। जैसे हिरन तिनकोंसे आच्छादित हुए गड्ढेके ऊपर रक्खी हुई हरी-हरी घासकी शाखाको चरनेके लिये जाकर उस गड्ढेमें गिर जाता है, उसी प्रकार तृष्णाका अनुसरण करनेवाला मूढ़ मनुष्य नरकमें गिरता है। बुढ़ापा कितना ही बढ़ा हुआ क्यों न हो, वह नेत्रोंको क्षणभरमें उतना जीर्ण (अंधा) नहीं बनाता, जितना हृदयमें रहनेवाली पिशाचीके समान तृष्णा बना देती है। जिसका आकार सम्पूर्ण दुःखोंसे भरा हुआ है और जो जगत्‌के लोगोंके जीवनका नाश करनेवाली है, उस तृष्णाको क्रूर सर्पिणीके समान दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

दूसरोंको मान देनेवाले कमलनयन श्रीराम! वासनाका त्याग ज्ञेय और ध्येयके भेदसे दो प्रकारका बताया जाता है। सबको ब्रह्मरूपसे समान समझकर मनुष्य ममतासे रहित हो जिस वासनाक्षयका सम्पादन करके शरीरका त्याग करता है, वह ज्ञेय नामक वासनाक्षय कहा गया है। जो अहंकारमयी वासनाका त्याग करके लोकसंग्रहोचित व्यवहारमें संलग्न रहता है, वह ध्येय नामक वासनाक्षयसे युक्त हुआ पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। रघुनन्दन! मूल अज्ञानके सहित सकल्परूप वासनाका त्याग करके जो शान्तिको प्राप्त हुआ है, उस जीवन्मुक्त पुरुषको ज्ञेय नामक वासनात्यागसे सम्पन्न समझ। जनक आदि महात्मा पुरुष ध्येय नामक वासनात्यागका सम्पादन करके जीवन्मुक्त हो लोकसंग्रहके लिये व्यवहारमें स्थित हुए हैं। ज्ञेय नामक वासनात्यागको सम्पन्न करके शान्तिको प्राप्त हुए विदेहमुक्त पुरुष परावरस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित होते हैं। रघुनन्दन! पूर्वोक्त दोनों ही त्याग समान हैं। दोनों ही प्रकारके त्यागवाले पुरुष मुक्त-पदपर प्रतिष्ठित हैं। ये दोनों ही ब्रह्मभावको प्राप्त हैं और दोनों ही चिन्ता एवं तापसे छुटकारा पा चुके हैं। एक (ध्येय नामक वासनाक्षयसे युक्त) पुरुष इस देहके रहते हुए ही जीवन्मुक्त होकर शोक और चिन्तासे रहित हो जाता है। और (दूसरा ज्ञेय नामक वासनाक्षयसे युक्त) पुरुष देहत्यागके अनन्तर मुक्त (ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित) होता है (उसे विदेहमुक्त कहते हैं)। जो समयानुसार निरन्तर प्राप्त होनेवाले सुखों और दुःखोंमें हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता, वही इस लोकमें मुक्त कहा जाता है। जिस पुरुषका इष्ट वस्तुओंमें राग और अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेष नहीं होता, वह मुक्त कहलाता है। जिस पुरुषका अहंता-ममताको लेकर ग्रहण और त्यागरूप संकल्प क्षीण हो गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम और कायरताकी दृष्टियोंसे जो रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! महर्षि वसिष्ठ जब इतना उपदेश दे चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्ताचलको चले गये। उस सभाके सभी सदस्य मुनिको नमस्कार करके सायंकालिक उपासनाके निमित्त स्नान करने चले गये और रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके उदयके साथ ही फिर उस सभाभवनमें आ गये। (सर्ग १४—१६)

जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले विभिन्न प्रकारके निश्चयों तथा सब कुछ ब्रह्म ही है, इस पारमार्थिक स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जो विदेहमुक्त हैं, वे वाणीके विषय नहीं होते (शरीर त्यागकर साक्षात् परब्रह्मस्वरूप हो जानेके कारण उनकी महिमातक वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती। इसलिये उनकी स्थितिका वर्णन नहीं

किया जा सकता)। अतः तुम इस जीवन्मुक्तिका वर्णन सुनो। संसार सत्य है, यह समझते हुए जिसके कारण विषय-भोगोंके भोगनेमें दृढ भावना हो गयी है, ऐसी तृष्णाद्वारा जीवकी जो बाह्य पदार्थमें उसकी सत्ताको लेकर आसक्ति है, उसे आचार्यलोग सुदृढ संसार-बन्धन कहते हैं। जीवन्मुक्तोंके शरीरके अन्तःकरणमें 'भोग पदार्थ मिथ्या है' इस निश्चयसे हृदयमें भोग संकल्परहित और बाह्य संसारमें विहार करनेवाली स्फुरणा हुआ करती है। महामते श्रीराम! 'यह मुझे प्राप्त हो' इस प्रकारकी जो हृदयमें भावना है, उसे तुम तृष्णा और संकल्प नामक शृङ्खला समझो। उस तृष्णाका सत् और असत् सभी पदार्थोंमें सदा त्याग करके जो परम उदार हो गया है, वह महामनस्वी पुरुष जीवन्मुक्ति पदको प्राप्त करता है।

श्रीराम! विचारवान् पुरुषके हृदयमें चार प्रकारका दृढ निश्चय होता है—पहला निश्चय यह है कि मैं सिरसे लेकर पैरतक माता-पिताके द्वारा रचा गया हूँ; यह असत् दृष्टि है। इसके कारण मनुष्यको बन्धन प्राप्त होता है। मैं देह-इन्द्रिय आदि सब पदार्थोंसे रहित तथा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर हूँ,—ऐसा जो दूसरा निश्चय है, वह साधुपुरुषोंको मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला होता है। रघुनन्दन! 'जगत्के सब पदार्थ मुझ अविनाशी परमात्माके ही स्वरूप हैं' इस तरहका तीसरा निश्चय भी मोक्षकी ही प्राप्ति करानेवाला है। 'अहंकार अथवा यह सारा जगत् सदा आकाशके समान शून्य ही है' ऐसा जो चौथा निश्चय है, वह भी मोक्षकी ही सिद्धिका कारण होता है। इन चार निश्चयोंमें जो पहला है, उसे बन्धनकारक कहा गया है। शुद्ध भावनासे उत्पन्न हुए शेष तीन प्रकारके निश्चय मोक्षदायक बताये गये हैं।

महामते! मैं आत्मा ही सब कुछ हूँ—इस प्रकारका जो निश्चय है, उसे पाकर ही मेरी बुद्धि फिर कभी विषादको नहीं प्राप्त होती। आत्माकी महिमा ऊपर-नीचे और अगल-बगलमें—सर्वत्र व्यापक है। सब आत्मा ही है, ऐसे आन्तरिक निश्चयसे युक्त पुरुष कभी बन्धनमें नहीं पड़ता। जैसे अपार महासागर पातालतक जलसे भरा हुआ है, वैसे ही ब्रह्मासे लेकर कीट-पतङ्गतक सारा जगत् परमात्मासे परिपूर्ण है। इसलिये एकमात्र ब्रह्म ही नित्य और सत्य है। उससे अतिरिक्त जगत्की कोई सत्ता नहीं है—ठीक वैसे ही जैसे सारा समुद्र जल ही है, उससे भिन्न तरङ्ग आदि कुछ नहीं हैं। जैसे सोनेके कड़े, बाजूबंद और नूपुर आदि सुवर्णसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह वृक्ष, तृण आदि कोटि-कोटि पदार्थ आत्मासे भिन्न नहीं हैं। परमात्ममयी अद्वैतशक्ति ही द्वैत और अद्वैतके भेदसे जगन्निर्माणकी लीलाको करती हुई विस्तारको प्राप्त होती है। वास्तवमें न तो अहंकार है और न यह जगत् ही है। यह सब कुछ केवल निर्विकार शान्त विज्ञानानन्दघन ही प्रकाशित हो रहा है। यह संसार न तो असत् है और न सत् ही है—सदा यही समझना चाहिये। परम, अमृत, अनादि, सब ज्योतियोंको प्रकाशित करनेवाला, अजर, अजन्मा, अचिन्त्य, निष्कल, निर्विकार, सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित, प्राणोंका भी प्राण, समस्त संकल्पोंसे रहित, कारणोंका भी कारण, नित्य उदित, परमात्मा, व्यापक, चिन्मय प्रकाशस्वरूप आकाशमें परिपूर्ण, अनुभवका बीज (कारण), अपने आपमें ही अपने आपका अनुभव करने योग्य, आन्तरिक आनन्दानुभवस्वरूप ब्रह्म ही तुम, मैं और जगत् है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। इस प्रकारका निश्चय तुम्हें करना चाहिये। (सर्ग १७)

महापुरुषोंके स्वभावका वर्णन तथा अनासक्त-भावसे संसारमें विचरनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम! जिनका चित्त एकाग्र है तथा जो काम, लोभ आदि कुदृष्टियोंसे आहत नहीं हुए हैं, इस संसारमें लीलापूर्वक विचरनेवाले उन महापुरुषोंका निम्नाङ्कित स्वभाव बताया जा रहा है।

जीवन्मुक्त चित्तवाला मुनि इस संसारमें विचरण करता हुआ भी आदि, मध्य और अन्तमें—सदा ही रसहीन जो जगत्की अवस्थाएँ हैं, उनको उपहासके योग्य समझे। जो न तो प्राप्त हुई प्रिय वस्तुका अभिनन्दन करता है, न अप्रियसे द्वेष करता है, न नष्ट हुई वस्तुके लिये शोक करता है और न अप्राप्त वस्तुको पानेकी इच्छा ही करता है, सदा मननशील रहकर कर्तव्य कर्ममें आलस्य छोड़कर प्रवृत्त होता है, वह पुरुष संसारमें कभी दुखी नहीं होता। जो पूछनेपर प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन करता है, न पूछनेपर मौन हो सूखे काठकी भाँति अविचलभावसे स्थित रहता है तथा इच्छा और अनिच्छाके बन्धनसे मुक्त है, वह पुरुष संसारमें दुखी नहीं होता। जो सबके अनुकूल बोलता, किसीके पूछने या प्रेरणा करनेपर सुन्दर उक्तियोंद्वारा समाधान करता और प्राणियोंके मनोभावको समझ लेता है, वह पुरुष संसारमें दुखी नहीं होता। वह परम पदमें आरूढ़ हो जगत्की क्षणभङ्गुर अवस्थाको अपनी शान्तबुद्धिके द्वारा हँसता हुआ-सा देखता है। रघुनन्दन! जिन्होंने अपने चित्तको जीत लिया है और परावरस्वरूप परब्रह्म परमात्माका साक्षात् करके जो महात्मा हो गये हैं, उन्हींका ऐसा स्वभाव मैंने तुम्हें बताया है।

अपने चित्तको न जीतनेवाले मूढ़ मनुष्योंके जो यज्ञ आदि कर्म हैं, वे फलकी कामनासे युक्त होते हैं, नाना प्रकारके दम्भ, मान, मद आदि दुर्गुणोंसे भरे होते हैं; अतएव पुनर्जन्म आदिके कारण होनेवाले सुख-दुःखोंसे परिपूर्ण हुआ करते हैं। इसलिये हम उन मूढ़ मनुष्योंके उद्धारका कोई उपाय नहीं बता सकते। रघुनन्दन! तुम तो भीतरसे सब आशाओंका त्याग करके, वीतराग और वासनाशून्य हो बाहरसे समस्त सत्कर्मोंका एवं सदाचारोंका ठीक-ठीक पालन करते हुए संसारमें विचरो। श्रीराम! तुम उदार, सदाचारी, समस्त शास्त्रीय कर्मोंका भलीभाँति आचरण करनेवाले तथा भीतर सम्पूर्ण कामनाओं और आसक्तियोंसे शून्य हो संसारमें विचरण करो। रघुनन्दन! तुम सब पदार्थोंका यथार्थ रहस्य एवं अन्तर जान चुके हो; इसलिये जैसी अभीष्ट हो वैसी ही दृष्टिसे देखते हुए अनासक्तभावसे संसारमें विचरो। श्रीराम! अहंकारसे रहित, अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित आकाशके समान निर्लेप एवं निर्मल तथा कलङ्कसे दूर रहकर संसारमें विचरण करो। राघव! सैकड़ों आशारूपी पाशोंसे नित्य मुक्त, सब पदार्थोंमें सम तथा बाहर प्रजाओंके हितकर कार्योंमें तत्पर रहकर तुम लोकमें विचरो। वास्तवमें जीवात्माका न तो बन्धन है और न मोक्ष ही है। यह मिथ्या माया इन्द्रजालकी भाँति संसारमें भटकानेवाली है। आत्मा तो सर्वथा एकरूप, सर्वव्यापी और आसक्तिके बन्धनसे रहित है; फिर उसका बन्धन कैसे हो सकता है। और जब वह बँधा ही नहीं है, तब किसके लिये मोक्षका विधान होगा। यह भ्रान्तरूप विशाल संसार यथार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण अज्ञानसे ही उत्पन्न हुआ है। यथार्थ तत्त्वका ज्ञान होनेसे यह उसी तरह नष्ट हो जाता है, जैसे रस्सीका ज्ञान होनेसे उसमें सर्पबुद्धि नष्ट हो जाती है। तुम अनन्त, सत्स्वरूप एवं आकाशके समान व्यापक हो। ज्वालाओंके मध्यभागकी भाँति प्रकाशमान एवं नित्य शुद्ध हो। तुम्हारा स्वरूप किसीकी दृष्टिमें नहीं आता। तुम सूक्ष्मस्वरूप होकर सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंके भीतर उसी प्रकार स्थित हो, जैसे मुक्ताहारके सभी मोतियोंमें एक ही सूत समाया हुआ है। महाबाहु श्रीराम! यह शत्रु है, यह अपना है, यह दूसरा है, यह तुम हो, यह मैं हूँ—इत्यादि भावनाएँ यहाँ उसी प्रकार सत्य नहीं हैं, जैसे दृष्टिदोषके कारण होनेवाला दो चन्द्रमा आदिका दर्शन।

(सर्ग १८)

पिता-माताके शोकसे व्याकुल हुए अपने भाई पावनको पुण्यका समझाना—जगत् और उसके सम्बन्धकी असत्यताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। गङ्गाजीके तटपर दो मुनिकुमारोंमें. जो परस्पर भाई थे, उक्त विषयको लेकर ही जो संवाद हुआ था, वही यह पवित्र एवं अद्भुत इतिहास है; तुम इसे सुनो। इस जम्बूद्वीपकी किसी पर्वतमालामें एक महेन्द्र नामक पर्वत है। उसके एक देशमें जहाँ सुविस्तृत एवं मनोरम रत्नमय शिखर है, मुनियोंने स्नान और जलपानके लिये आकाश-गङ्गाको उतारा था। उसी गङ्गाजीके तट-प्रदेशमें, जहाँके वृक्ष फूलोंसे लदे हुए थे तथा जो पार्श्ववर्ती रत्नमय शिखरकी प्रभासे प्रकाशमान और दीप्तिमान् सुवर्णकी कान्तिसे सुनहरे रंगका दिखायी देता था, एक महर्षि निवास करते थे। उनका नाम था दीर्घतपा। उन्हें सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो चुका था। वे तपस्याकी राशि और उदार-बुद्धि थे तथा तपस्याके मूर्तिमान् रूप-से जान पड़ते थे। उन महर्षिके दो पुत्र थे, जो चन्द्रमाके समान सुन्दर थे,



उनके नाम थे पुण्य और पावन। उन दोनों पुत्रों और एक पत्नीके साथ वे मुनि गङ्गाजीके उस तटपर रहते थे, जहाँके वृक्ष फलोंसे भरे हुए थे। कुछ समय बीतनेपर मुनिके उन दोनों पुत्रोंमें जो अवस्था और गुण दोनों ही दृष्टियोंसे ज्येष्ठ थे, वे पुण्यनामक मुनि सम्यक् ज्ञानसे सम्पन्न हो गये; परन्तु उनके दूसरे पुत्र पावनका ज्ञान अधूरा ही रह गया। वे मूर्खताकी सीमासे तो बाहर हो गये थे; परंतु उन्हें परमार्थ-तत्त्वका यथार्थज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। इसलिये वे बीचमें ही झूल रहे थे।

तदनन्तर सौ वर्ष बीत जानेपर दीर्घतपा जरावस्थासे जर्जर हो गये। अतः उन्होंने अपने शरीरको त्याग दिया



और संकल्प तथा रागसे शून्य परम पदस्वरूप सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मभावको प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् पतिके शरीरको प्राण और अपानसे रहित होकर पृथ्वीपर पड़ा देख मुनिकी पत्नीने भी पतिकी सिखायी हुई चिरकालसे अभ्यस्त यौगिक क्रियाद्वारा अपने शरीरको त्याग दिया और लोगोंकी दृष्टिसे अदृश्य हो अपने पतिका उसी तरह

अनुसरण किया, जैसे प्रभा गगनमण्डलमें अस्त होते हुए चन्द्रदेवका अनुसरण करती है। माता और पिताके परलोकवासी हो जानेपर ज्येष्ठ पुत्र पुण्य ही स्थिरचित्त हो उनके अन्त्येष्टि-कर्ममें प्रवृत्त हुए। पावनको माता-पितासे बिछुड़ जानेके कारण बड़ा दुःख हो रहा था। उनका चित्त शोकसे व्याकुल था। वे बड़े भाईकी ओर न देखकर वनकी गलियोंमें घूम-घूमकर विलाप करने लगे। माता-पिताका और्ध्वदेहिक कर्म समाप्त करके उदार-बुद्धि पुण्य वनमें अपने शोकाकुल बन्धु पावनके पास आये।



पास आकर पुण्यने कहा—वत्स! यह शोक अन्धता (मोह) का एकमात्र कारण है। तुम इसे घनीभूत क्यों बना रहे हो? महाप्राज्ञ! तुम्हारे पिता तुम्हारी माताजीके साथ उस मोक्षनामक सच्चिदानन्दघन परमात्मपदको प्राप्त हो गये हैं, जो सबका अपना ही स्वरूप है। वही सब प्राणियोंका अधिष्ठान है और वही जितात्मा ब्रह्म-वेत्ताओंका स्वरूप है। जब पिता अपने स्वरूपको ही प्राप्त हुए हैं, तब तुम उनके लिये बारंबार शोक क्यों करते हो? तुमने इस संसारमें ऐसी मोहजनित ममता-मयी भावना बाँध रक्खी है, जिससे तुम अशोचनीय पिताके लिये भी शोक कर रहे हो! न वे ही तुम्हारी माता थीं और न वे ही तुम्हारे पिता थे। वत्स! जैसे प्रत्येक वनमें जलके बहनेके लिये बहुत-से नाले होते हैं, उसी तरह तुम्हारे सहस्रों माता-पिता हो चुके हैं। उन माता-पिताके भी असंख्य पुत्र हो चुके हैं, केवल तुम्हीं उनके पुत्र नहीं हो। जैसे नदीके जलमें बहुत-सी तरङ्गें उठती और विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य आदि प्राणियोंके जन्म-जन्ममें बहुतसे पुत्र हो-होकर कालके गालमें जा चुके हैं। वत्स! यदि स्नेहके कारण माता-पिता और पुत्रोंके लिये शोक करना ही उचित हो तो पहलेके जन्मोंमें जो सहस्रों माता-पिता बीत चुके हैं, उनके लिये निरन्तर शोक क्यों नहीं किया जाता? महाभाग! जगत्की कल्पनाके निमित्तभूत भ्रम या अज्ञानके कारण ही यह प्रपञ्च दिखायी देता है। विद्वन्! वास्तवमें तो तुम्हारे न कोई मित्र है और न बन्धु-बान्धव ही है। वत्स! पारमार्थिक दृष्टिसे सत्य क्या है? इसका तुम विचार करो। विचार करनेसे तुम्हें ज्ञात होगा कि न तुम हो, न हम हैं। तुम्हारे अन्तःकरणमें जो भ्रम है, उसीके कारण इस जगत्की प्रतीति हो रही है। अतः तुम उसे त्याग दो। 'यह गया, यह मर गया' इत्यादि कुदृष्टियाँ अपने संकल्परूप अज्ञानसे उत्पन्न हो सामने दिखायी देती हैं, वास्तवमें इनकी सत्ता नहीं है।

(सर्ग १९)

पुण्यका पावनको उपदेश—अनेक जन्मोंमें प्राप्त हुए असंख्य सम्बन्धियोंकी ओरसे ममता हटाकर उन्हें आत्मस्वरूप परमात्मासे ही संतोष प्राप्त करनेका आदेश, पुण्य और पावनको निर्वाण-पदकी प्राप्ति, तृष्णा और विषय-चिन्तनके त्यागसे मनके क्षीण हो जानेपर परमपदकी प्राप्तिका कथन

पुण्य कहते हैं—पावन! बन्धु, मित्र, पुत्र, स्नेह, द्वेष तथा मोह-दशारूप रोगसे युक्त जो प्रपञ्च है, यह अपने नाममात्रसे विस्तारको प्राप्त हो रहा है (वस्तुदृष्ट्या इनकी सत्ता नहीं है)। जिसके प्रति बन्धुभावना कर

ली गयी है, वह बन्धु हो गया और जिसके प्रति शत्रुकी भावना कर ली गयी, वह शत्रु हो गया। परंतु सभी शरीरोंमें अभिन्नरूपसे विद्यमान जो सर्वव्यापी आत्मा है, उस एकमें ही 'यह बन्धु है, यह शत्रु है' ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है? वत्स! यह शरीर रक्त, मांस और हड्डियोंका समूह है, अस्थियोंका पञ्जर है; इससे भिन्न मैं कौन हूँ, इसका तुम स्वयं अपने चित्तसे विचार करो। पारमार्थिक दृष्टिसे देखनेपर न तुम कोई हो और न मैं कोई हूँ। 'यह पुण्य है, यह पावन है' इत्यादि कल्पनाओंके रूपमें मिथ्याज्ञान ही नृत्य कर रहा है। यदि तुम आत्मासे भिन्न कोई लिङ्गशरीर ही हो तो बताओ। बीते हुए दूसरे अनेक जन्मोंमें जो तुम्हारे बन्धु और धन-वैभव नष्ट हो गये हैं, उनके लिये भी शोक क्यों नहीं करते? सुन्दर फूलोंसे सुशोभित वनस्थलियोंमें तुम्हारे बहुत-से बन्धु मृगयोनियोंमें मृग-शरीर धारण करके रहे हैं, उनके लिये तुम्हें शोक क्यों नहीं हो रहा है? वत्स! इसी जम्बू-द्वीपमें तुम पहले अन्यान्य बहुत-सी योनियोंमें सैकड़ों-हजारों बार जन्म ले चुके हो। मैं तत्त्वज्ञानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म-बुद्धिके द्वारा तुम्हारे और अपने पूर्वजन्मके वासना-क्रमको देख रहा हूँ। मेरी भी बहुत-सी योनियाँ अनेक बार बीत चुकी हैं, उन मोह-मन्थर (अज्ञानसे जडीभूत) अतीत योनियोंको आज मैं तत्त्वज्ञानसे उदित हुई सूक्ष्म-दृष्टिके द्वारा देखता और स्मरण करता हूँ। ऐसी अवस्थामें जो जगत्में उत्पन्न हुए सैकड़ों माता-पिता, भाई-बन्धु और मित्र कालके गालमें जा चुके हैं, उनमेंसे किन-किनके लिये हम दोनों शोक करें और किनके लिये न करें। अथवा किनको-किनको छोड़कर यहाँ किन-किनके लिये हम शोकमें डूबे रहें; क्योंकि संसारकी तो ऐसी ही गति है। पावन! तुम्हारा भला हो। मनमें अहंभावके रूपमें स्थित इस प्रपञ्च-भावनाको त्यागकर तुम उस गतिको प्राप्त करो, जो आत्मज्ञानी पुरुषोंको उपलब्ध होती है। वत्स! तुम शान्तचित्त होकर आत्माका—अपने आपका जो भाव और अभाव (उत्पत्ति और विनाश) से मुक्त तथा जरा और मृत्युसे रहित है, स्मरण करो। मनमें मूढ़ता न लाओ। उत्तम बुद्धिवाले पावन! न तुम्हें दुःख है न तुम्हारा जन्म हुआ है, न तुम्हारी कोई माता है और न पिता ही है। तुम केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा हो, दूसरे कोई नहीं हो। जैसे रात होनेपर दीपक संनिधिमात्रसे प्रकाशके कर्ता होते हुए भी व्यापार-शून्य होनेके कारण अकर्ता ही हैं, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञानी पुरुष कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण लोक-व्यवहारकी स्थितिमें कर्ता होकर भी अकर्ता ही हैं। वत्स! जो समस्त एषणाओंके कलङ्कसे रहित एवं मनन-शील है तथा जिसका हृदय-कमलमें स्वस्थ आत्मस्वरूपसे साक्षात्कार किया गया है, उस आत्माके द्वारा अपने भीतरके सम्पूर्ण संसारभ्रमको मिटाकर अवशिष्ट हुए उस भावस्वरूप आत्मा (परब्रह्म परमात्मा) से ही संतोष प्राप्त करो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! पुण्यके इस प्रकार समझाने-बुझानेपर पावनको उत्कृष्ट बोध (परमात्म-तत्त्वका दृढ़ निश्चय) प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् ज्ञान और विज्ञानमें पारंगत तथा सिद्ध और अनिन्द्य स्थितिको प्राप्त हुए वे दोनों बन्धु उस वनमें इच्छानुसार विचरने लगे। तदनन्तर



समय आनेपर वे दोनों देहरहित हो परम निर्वाणपद (परमात्मा) को प्राप्त हो गये। निष्पाप श्रीराम! इस प्रकार पूर्वजन्मोंमें जो असंख्य देह धारण कर चुके हैं, उन प्राणियोंके माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदिका समुदाय अनन्त है। उनमेंसे कौन किनको ग्रहण करे और कौन किनका त्याग। रघुनन्दन! इसलिये इन असंख्य तृष्णाओंकी निवृत्तिका एकमात्र उपाय त्याग ही है, उनको पोसना नहीं। जैसे लकड़ी डालनेसे आग प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार विषय-भोगोंके चिन्तनसे चिन्ता बढ़ती जाती है; और जैसे बिना ईंधनके आग बुझ जाती है, उसी प्रकार विषयोंका चिन्तन न करनेसे चिन्ता मिट जाती है। एकमात्र विवेकरूपी सखा और एकमात्र पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपिणी प्रिय सखीको साथ ले संसारमें शास्त्रविहित आचरण करनेवाला पुरुष संकट पड़नेपर भी मोहग्रस्त नहीं होता। वैराग्यसे, शास्त्रोंके अभ्याससे तथा महत्तायुक्त क्षमा, दया, शान्ति, समता और संतोष आदि गुणोंसे यत्नपूर्वक आपत्तिका निवारण करनेके लिये मनुष्य स्वयं ही मनको उन्नत बनाये। जो परम पदकी प्राप्तिरूप फल पूर्वोक्त महत्ता-युक्त गुणोंसे उत्कर्षको प्राप्त हुए मनके द्वारा उपलब्ध हो सकता है, वह तीनों लोकोंके ऐश्वर्य तथा रत्नोंसे भरे हुए कोशकी प्राप्तिसे भी नहीं हो सकता। मनके विशुद्ध अमृत-रससे पूर्ण होनेपर सारी वसुधा आनन्दकी सुधा-धारासे आप्लावित हो जाती है। मन वैराग्यसे ही पूर्णताको प्राप्त—विज्ञानानन्दघन रससे परिपूर्ण होता है। आशा (इच्छा, कामना आदि) के वशीभूत हुआ मन उपर्युक्त पूर्णताको नहीं प्राप्त होता। जिनके चित्तमें किसी लौकिक वस्तुकी स्पृहा नहीं है, उन लोगोंके लिये तीनों लोकोंका ऐश्वर्य कमलगट्टेके समान अत्यन्त तुच्छ है। श्रीराम! चित्तके नष्ट हो जानेपर अविचल धैर्यसे युक्त पुरुष उस परमपदको प्राप्त कर लेता है, जहाँ फिर नाशका भय नहीं है। (सर्ग २०-२१)



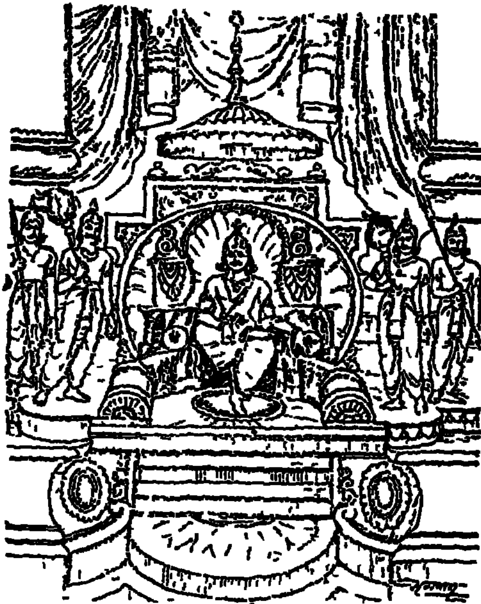
राजा बलिके अन्तःकरणमें वैराग्य एवं विचारका उदय तथा उनका अपने पितासे पहलेके पूछे हुए प्रश्नोंका स्मरण करना

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अथवा हे रघुकुलरूपी आकाशके पूर्ण चन्द्रमा श्रीराम! तुम राजा बलिकी भाँति विवेकके द्वारा परब्रह्म परमात्माका यथार्थ एवं विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करो।

श्रीरामचन्द्रजी बोले—भगवन्! सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता गुरुदेव! आपकी कृपासे मुझे प्रामाण्य सच्चिदानन्द-घन परमात्माके ज्ञानका यथार्थ अनुभव प्राप्त है और उसी निर्मल पदमें मैं परम शान्तिको प्राप्त होकर स्थित हूँ। प्रभो! जैसे शरद्‌ऋतुमें आकाशसे बादल हट जाते हैं उसी प्रकार मेरे चित्तसे तृष्णा नामक महान् तम (अज्ञानान्धकार) का अत्यन्त अभाव हो गया है। पूर्णिमाके सायंकालमें उदित हुए आकाशवर्ती शीतल अमृतमयी किरणोंसे सम्पन्न तथा महातेजस्वी पूर्ण चन्द्रमाके समान मैं विज्ञानानन्दघनमय अमृतसे परिपूर्ण, चिन्मय आकाश-स्वरूप ब्रह्ममें विराजमान शान्तिमय महान् प्रकाशस्वरूप तथा अन्तःकरणमें परमानन्दसे परिपूर्ण होकर स्थित हूँ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! मैं तुमसे बलिके उत्तम वृत्तान्तका वर्णन करता हूँ, सुनो! इस ब्रह्माण्ड-कोशके भीतर किसी दिशारूपी निकुञ्जमें भूमिके नीचे विद्यमान पाताल नामसे विख्यात एक लोक है, जिसमें असुरोंके बाहुदण्डोंपर आधारित महान् साम्राज्य है।

उस साम्राज्यपर विरोचनकुमार बलि राजाके रूपमें प्रतिष्ठित हुए। वे दैत्यराज बलि त्रिलोकीके रत्नोंके



कोश, समस्त शरीरधारियोंके रक्षक तथा भुवनपालोंके भी पालक हैं। साक्षात् भगवान् विष्णु उनकी रक्षा करते हैं। उन्होंने अनायास ही वशमें किये हुए सम्पूर्ण लोकोंके विस्तारसे अपने आपको विभूषित करके दस करोड़ वर्षोंतक राज्य किया। तदनन्तर आने-जानेवाले बहुत-से युग बीत गये। देवताओं और असुरोंके महान् समूह कभी उन्नतिको प्राप्त हुए और कभी उनका पतन हुआ। तीनों लोकोंमें अत्यन्त उत्कृष्ट समझे जानेवाले बहुत-से भोगोंका निरन्तर उपभोग करते-करते एक समय दानवराज बलिको उन भोगोंसे अत्यन्त उद्वेग (वैराग्य) प्राप्त हुआ। एक दिन मेरुपर्वतके शिखरपर स्थित रत्नोंके बने हुए विशाल भवनमें खिड़कीके सामने बैठे हुए दैत्यराज बलि स्वयं ही संसारकी स्थितिपर विचार करने लगे— 'अहो ! अक्षुण्ण शक्तिवाले मुझ बलिको अब इस लोकमें कितने समयतक यह साम्राज्य चलाना और तीनों लोकोंमें विचरना होगा ? मेरा यह महान् राष्ट्र तीनों लोकोंको आश्चर्यमें डालनेवाला है। प्रचुर भोगोंसे सम्पन्न होनेके कारण यह अत्यन्त मनोहर जान पड़ता है, किंतु इसके



उपभोगसे मेरा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है ! आरम्भमें तभीतक मधुर प्रतीत होता है, जबतक नष्ट या विकृत नहीं हो जाता, और जिसका वि अवश्यम्भावी है, उस भोग-समुदायका उपभोगमात्र क मेरे लिये क्या सुखदायक हो सकता है ? जिसके हो जानेपर दूसरा कुछ पाना या करना शेष न रह उस परम उदार अद्वितीय (परमात्मप्राप्तिरूप) फ मैं यहाँ नहीं देख पाता। इन क्षणभङ्गुर भोग छोड़कर दूसरा नित्य, उत्तम एवं यथार्थ सुख क्या है इसीका मैं विचार करता हूँ।' विवेक-वैराग्ययुक्त बु ऐसा सोच-समझकर राजा बलि तत्काल ध्यानमग्न हो ग

तदनन्तर विचार किये हुए परम पुरुषार्थका मन मन चिन्तन करते हुए असुरराज बलिने क्षणभरमें भ्रू पूर्वक कहा—"अरे ! याद आ गया। पहलेकी बात है जिन्होंने लोकके छोटे-बड़े सभी व्यवहारोंको देखा था जो आत्मतत्त्वके ज्ञानसे सम्पन्न थे, उन अपने ऐश्वर्य पिता महाराज विरोचनसे मैंने पूछा—'महात्मन् ! समस्त दुःखों और सुखोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे शान्त हो जाते हों, संसारकी वह सीमा कौन है ! त

मनका मोह कहाँ शान्त होता है ? समस्त एषणाओंका कहाँ अभाव होता है तथा चिरकालके लिये निरन्तर एवं पुनरावृत्तिरहित विश्राम कहाँ प्राप्त होता है ? पूज्य पिताजी ! अविनाशी आनन्दसे परम सुन्दर किसी ऐसे परमपदका मेरे लिये वर्णन कीजिये, जहाँ स्थित होकर मैं सदाके लिये परमशान्ति प्राप्त कर लूँ ।' मेरे इस प्रश्नको सुनकर पिताने सम्मोहशान्ति (अज्ञान–निवारण) के लिये मुझसे यह बात कही ।' (सर्ग २२-२३)



विरोचनका बलिको भोगोंसे वैराग्य तथा विचारपूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश



विरोचन बोले—महामते ! मनुष्यसे लेकर ब्रह्मपदतक सम्पूर्ण पदोंका अतिक्रमण करनेवाला जो मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरका स्वामी शुद्ध आत्मा है, वह एक राजाके समान है । उसने बुद्धियुक्त मनको अपना मन्त्री बनाया है । उस मन्त्रीको जीत लेनेपर सबको जीत लिया जाता है और सब कुछ प्राप्त हो जाता है । परंतु उसे अत्यन्त दुर्जय समझना चाहिये । वह बलसे नहीं, युक्तिसे ही जीता जाता है ।

बलिने कहा—भगवन् ! उस चित्तरूपी मन्त्रीपर आक्रमण करनेके लिये जो युक्ति या उपाय हो, उसे आप भलीभाँति बताइये, जिससे मैं उस भयंकर मनपर विजय पा सकूँ ।

विरोचन बोले—बेटा ! सभी विषयोंके प्रति सब प्रकारसे जो अत्यन्त अनास्था (वैराग्य) है वही मनपर विजय पानेके लिये उत्तम युक्ति है । यह अनास्था ही वह उत्तम युक्ति है, जिससे महान् मदमत्त मनरूपी मातङ्ग (गजराज) का शीघ्र ही दमन किया जा सकता है । महामते ! यह युक्ति अत्यन्त दुर्लभ और परम सुलभ भी है । यदि इसके लिये अभ्यास न किया जाय तो यह अत्यन्त दुर्लभ है । परंतु यदि इसके लिये भलीभाँति अभ्यास किया जाय तो यह अनायास ही प्राप्त हो जाती है । बेटा ! यदि क्रमशः विषयोंसे विरक्त होनेका अभ्यास किया जाय तो जैसे सींचनेसे लता लहलहा उठती है, उसी प्रकार यह विरक्ति भी सब ओरसे सुस्पष्टतः प्रकट हो जाती है । पुत्र ! जैसे बोये बिना धान नहीं प्राप्त होता, वैसे ही यदि विरक्तिके लिये अभ्यास न किया जाय तो विषयलोलुप पुरुष कितना ही क्यों न चाहे, यह विरक्ति उसे नहीं मिलती; अतः तुम इसे अभ्यासके द्वारा दृढ़ करो । संसाररूपी गर्तमें निवास करनेवाले ये जीव तबतक नाना प्रकारके दुःखोंमें भटकते रहते हैं, जबतक उन्हें विषयोंसे वैराग्य नहीं हो जाता । जैसे कोई अत्यन्त बलवान् देहवाला मनुष्य भी यदि पैर उठाकर कहीं जाय नहीं तो वह देशान्तरमें नहीं पहुँच सकता, उसी तरह कोई शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न पुरुष भी यदि अभ्यास न करे तो वह विषयोंसे वैराग्य नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिये देहधारी मनुष्यको चाहिये कि वह जीवन्मुक्तिके हेतुभूत पूर्वकथित ध्येय नामक वासना-

त्यागकी अभिलाषा एवं चिन्तन करते हुए भोगोंकी ओरसे विरक्तिका अभ्यासपूर्वक विस्तार करे—ठीक वैसे ही, जैसे सींचने आदिके द्वारा लगायी हुई बेलको बढ़ाया जाता है। बेटा! हर्ष और अमर्षसे रहित शुभ कर्मफलको प्राप्त करनेके लिये इस संसारमे परम पुरुषार्थके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। पुरुषार्थसे ही उसकी प्राप्ति होती है। संसारमें दैवकी चर्चा बहुत की जाती है। परन्तु दैव कहीं देहधारण करके स्थित हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य होनेवाली जो भवितव्यता है—नियतिके द्वारा मिलनेवाला जो अपने ही शुभाशुभ कर्मोंका फल है, उसीको यहाँ दैव अथवा प्रारब्ध नाम दिया गया है।

प्रारब्ध-भोगरूप जो दैव है, उसे परम पुरुषार्थसे ही जीता जाता है। जीवात्मा पुरुष-शरीर धारण करके पुरुषार्थसे जिस पदार्थका जैसे संकल्प करता है, इस लोकमें वह पदार्थ उसे उसी रूपमें प्राप्त होता है, दूसरे किसी रूपमें नहीं। बेटा! इस जगत्‌में पुरुषार्थके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। अत. उत्तम पुरुषार्थका आश्रय ले भोगोंकी ओरसे वैराग्य प्राप्त करे। जबतक भोगोंसे वैराग्य, जो संसार-बन्धनका विनाश करनेवाला है, नहीं प्राप्त होता, तबतक विजयदायक परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जबतक मोहमें डालनेवाली विषयाशक्ति बनी हुई है, तबतक भवदशारूपी झूला चञ्चल गतिसे आन्दोलित होता रहता है अर्थात् जीवको संसारमें भटकानेवाली अस्थिर अवस्था प्राप्त होती रहती है। पुत्र! अभ्यासके बिना विषयभोगरूपी भुजगोंसे भरी हुई दुःखदायिनी दुराशा कदापि दूर नहीं होती।

बलिने पूछा—असुरेश्वर! विषयोंकी ओरसे जो वैराग्य है, वह जीवके अन्त करणमें कैसे दृढतापूर्वक स्थित होता है?

विरोचनने कहा—बेटा! आत्मसाक्षात्काररूपिणी फलदायिनी लता जीवके अन्तःकरणमें विषयभोगोंसे विरक्तिरूपी फल अवश्य उत्पन्न करती है। आत्म-साक्षात्कार होनेपर विषयोंमें (राग-आसक्ति) का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिये पुरुष पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा अति उत्तम विवेक-विचारसे परब्रह्म परमात्मा-का साक्षात्कार करे। साथ ही विषयोंकी आसक्तिसे सर्वथा रहित हो जाय। पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष दिनके दो भागोंमें अपने चित्तको वैराग्यपूर्वक परमार्थ-साधनरूप सत्-शास्त्रके अनुशीलनमें लगाये, तीसरे भागमें एकान्तदेशमें स्थित होकर मनको सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें लगाये तथा चौथे भागमें अपने चित्त-को श्रद्धाभक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा और आज्ञापालनमें लगाये। साधु स्वभाव (श्रेष्ठ आचरण) को प्राप्त हुआ पुरुष ही ज्ञानोपदेश पानेका अधिकारी होता है। जैसे स्वच्छ वस्त्र ही उत्तम रंगको ग्रहण करता है, उसी तरह सदाचारी पुरुष ही ज्ञानोपदेशको अपने हृदयमें धारण करता है। यह चित्त एक बालकके समान है। इसे पवित्र, वचनों, युक्तियों और शास्त्रके अनुशीलनसे धीरे-धीरे लाड़-प्यारके साथ रिझाकर वशमें करना चाहिये। बेटा! शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धिसे तृष्णा-आसक्तिका सर्वथा अभाव करते हुए ही सच्चिदानन्दघन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार होनेपर तृष्णा एवं आसक्तिका सर्वथा अभाव होता है और तृष्णा एवं आसक्तिका अभाव होनेपर परमात्माका साक्षात्कार होता है। इस तरह ये दोनों बातें एक-दूसरेपर अवलम्बित हैं। इसलिये दोनों साधनोंको एक साथ करते रहना चाहिये। जब भोग-समूहोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा परावरस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मदेवका साक्षात्कार हो जाता है, तब जीवको कभी नष्ट न होनेवाली सीमारहित परमशान्ति प्राप्त हो जाती है। विषयोंमें ही आनन्द मानकर उनका आस्वादन करनेवाले मनुष्योंको तो इस जगत्‌में कभी भी परमात्म-तत्त्वके श्रवण बिना निस्सीम एवं निरतिशय आनन्दकी

प्राप्ति नहीं होती । सकामभावसे किये गये यज्ञ, दान, तप और तीर्थसेवनसे तो स्वर्गादि सुख ही प्राप्त होते हैं । आत्माका यथार्थ ज्ञान हुए बिना उन तप, दान और तीर्थ-सेवनरूप सकाम साधनोंद्वारा जीवको कभी विषयोंसे वैराग्य नहीं होता ।

बेटा ! अपने परम पुरुषार्थके बिना पुरुषकी बुद्धि किसी भी युक्तिसे कल्याणके हेतुभूत आत्मज्ञानमें प्रवृत्त नहीं होती । भोगोंके सर्वथा त्यागसे प्राप्त होनेवाले परम पुरुषार्थके बिना ब्रह्मपदकी प्राप्तिरूप परम शान्ति एवं परमानन्दकी उपलब्धि नहीं होती । परम कारणरूप परमात्माका यथार्थ बोध हो जानेपर मनुष्यको जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसी ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त इस सम्पूर्ण जगत्में कहीं भी नहीं मिलती । बुद्धिमान् मनुष्य परम पुरुषार्थका आश्रय ले दैव (प्रारब्ध) को दूरसे ही त्याग दे तथा कल्याणरूपी भवनके द्वारको दृढ़तापूर्वक बंद रखनेवाले अर्गलारूप जो भोग हैं, उनसे घृणा करे—उनकी ओरसे सर्वथा विरक्त हो जाय । भोगोंके प्रति वैराग्यसे परमात्मविषयक विचार उत्पन्न होता है और परमात्मविषयक विचार उदित होनेपर भोगोंकी ओरसे वैराग्य होने लगता है । जैसे समुद्र बादलको और बादल समुद्रको भरते हैं, उसी तरह ये दोनों साधन एक-दूसरेके पूरक हैं । जैसे परस्पर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले सुहृद् एक-दूसरेके मनोरथ सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार भोगोंसे वैराग्य, परमात्मविषयक विचार और नित्य आत्मदर्शन—ये तीनों एक दूसरेको पुष्ट करते हैं । मनुष्यको चाहिये कि पहले देशाचार और सदाचारके अनुकूल तथा बन्धु-बान्धवोंकी सम्पत्तिके अनुरूप न्याययुक्त पुरुषार्थद्वारा क्रमशः धनका उपार्जन करे । उस धनके द्वारा कुलीन और गुणशाली सज्जनोंको अपनाये—उनकी सेवा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाये । उन सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे भोगोंकी ओरसे विरक्ति होने लगती है । तदनन्तर विवेकपूर्वक विचारका उदय होता है । तत्पश्चात् शास्त्रोंके यथार्थ अर्थका अनुभव होता है । उसके बाद क्रमशः परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है । (सर्ग २४)



बलिका पिताके दिये हुए ज्ञानोपदेशके स्मरणसे संतोष तथा पहलेकी अज्ञानमयी स्थितिको याद करके खेद प्रकट करते हुए शुक्राचार्यका चिन्तन करना, शुक्राचार्यका आना और बलिसे पूजित होकर उन्हें सारभूत सिद्धान्तका उपदेश देकर चला जाना

बलि मन-ही-मन कहने लगे—पूर्वकालमें सुन्दर विचार रखनेवाले मेरे पूज्य पिताजीने मुझे ऐसा उपदेश दिया था । सौभाग्यकी बात है कि वह उपदेश मुझे इस समय याद आ गया, इससे मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ । आज मेरे अन्तःकरणमें भोगोंके प्रति यह अतिशय विरक्ति प्रत्यक्ष अनुभवमें आने लगी है । बड़े आनन्दकी बात है कि मैं अमृतके समान शीतल, विशुद्ध एवं परम शान्तिमय परमानन्द-सिंधुमें प्रविष्ट हो गया हूँ । अहा ! अन्तःकरणको शीतल बना देनेवाली यह शान्तिमय स्थिति बड़ी ही रमणीय है । इस शान्तिमयी स्थितिमें सुख-दुःखकी सारी दृष्टियाँ ही शान्त (विलीन) हो गयी हैं । परम उपरतिमें स्थित हो मैं परम शान्तिका अनुभव करता हूँ । सब ओरसे निर्वाणको प्राप्त हो रहा हूँ । सुखपूर्वक स्थित हूँ और मेरे अन्तःकरणमें ऐसा अपार हर्ष हो रहा है, मानो मुझे चन्द्रमण्डलमें स्थापित कर दिया गया है । समस्त वैभवोंके दृष्टान्तभूत महान् वैभवका मैंने उपभोग किया, भोगने योग्य सारे भोगोंको बिना किसी बाधाके भोग लिया और समस्त

प्राणियोंको पददलित कर दिया, तो भी इससे मुझे कौन-सा सुन्दर लाभ मिला ? परलोकमें, इस लोकमें तथा अन्य स्वर्ग आदिमें इधर-उधर, बारंबार वे ही पहलेकी अनुभव की हुई वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। कहीं कोई अपूर्व (नूतन) वस्तु नहीं है । पातालमें, भूलोकमें और स्वर्गमें सार पदार्थ क्या है—सुन्दरी स्त्रियाँ, रत्न एवं मणिमय प्रस्तर आदि । परंतु काल इन सबको क्षणभरमें निगल जाता है। आजसे पहले इतने समयतक मैं पूरा मूर्ख बना रहा जो तुच्छ सांसारिक वस्तुओंकी इच्छासे देवताओंके साथ द्वेष करता रहा। जो मनकी कल्पनामात्र है, उस जगत् नामकी महती मानसिक व्यथाका त्याग न करनेसे कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है ? इसमें महात्मा पुरुषका क्या अनुराग होगा ! अहो ! बड़े दुःखकी बात है कि अज्ञानरूपी मदसे मत्त हुए मैंने दीर्घकालतक अनर्थमें ही अर्थ-बुद्धि करके स्वयं ही उसका सेवन किया । अत्यन्त चञ्चल तृष्णावाले मुझ मूर्खने तीनों लोकोंमें केवल अपने पश्चात्तापको बढानेके लिये अबतक क्या नहीं किया ! अब मैं आश्रित जनोंपर सदा प्रसन्न रहनेवाले गुरुदेव भगवान् शुक्राचार्यका चिन्तन करता हूँ । उनकी वाणीद्वारा उपदेश पाकर मैं अनन्त प्रभावशाली विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित होऊँगा; क्योंकि महात्माओंके उपदेश-वाक्य अक्षय वस्तुको फलरूपमें उत्पन्न करते हैं—अविनाशी तत्त्वका बोध करा देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! बलवान् बलिने ऐसा सोचकर आँखें बंद कर लीं और विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप आकाशमें स्थित कमलनयन शुक्राचार्यका चिन्तन किया। तब परमात्माके ध्यानमें नित्य तत्पर रहनेवाले शुक्राचार्यने सर्वव्यापी ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित और चित्तके द्वारा परमात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले अपने शिष्य बलिके विषयमें यह जान लिया कि वह अपने नगरमें तत्त्वज्ञानकी इच्छा रखकर गुरुसे मिलना चाहता है। यह जानकर प्रभु शुक्राचार्यजी, जो सर्वगत अनन्त चेतन परमात्मामें स्थित हैं, अपने आपको बलिकी रत्ननिर्मित खिड़कीके पास ले आये अर्थात् वे बलिके यहाँ स्वयं उपस्थित हो गये। वहाँ राजा बलिने रत्नमय अर्घ्य देकर, मन्दारवृक्षके पुष्पोंकी राशियाँ चढ़ाकर और चरणोंमें मस्तक झुकाकर इन शुक्राचार्यका पूजन किया। जब वे रत्नमय अर्घ्य ग्रहण करके पूर्णतया पूजित तथा मन्दारवृक्षके फूलोंद्वारा निर्मित मुकुटसे विभूषित होकर बहुमूल्य आसनपर विराजमान हो गये, तब बलिने अपने उन गुरुदेवसे इस प्रकार कहा ।

बलि बोले—भगवन् ! जैसे नवोदित सूर्यकी प्रभा सन्ध्या-वन्दन आदि कर्म करनेके लिये लोगोंको प्रेरित करती है, उसी प्रकार आपके कृपा-प्रसादसे उत्पन्न हुई मेरी यह बुद्धि मुझे आपके सामने कुछ कहनेके लिये प्रेरित कर रही है। प्रभो ! मैं महान् मोह प्रदान करनेवाले भोगोंसे विरक्त हूँ, इसलिये ऐसे परम तत्त्वको जानना चाहता हूँ, जो अपने ज्ञानमात्रसे महान् मोहका नाश कर दे।

शुक्राचार्य बोले—सर्वदानवराजेन्द्र ! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? मैं आकाशमें जानेके लिये उद्यत हूँ; इसलिये संक्षेपसे सार तत्त्व बता रहा हूँ, सुनो ! इस संसारमें एकमात्र चेतन ही है। यह सब जगत् भी चेतनमात्र—चिन्मय ही है । तुम भी चिन्मय, मैं भी चिन्मय और ये लोक भी चिन्मय हैं। अर्थात् जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है—यह समस्त सिद्धान्तोंका सार है। यदि तुम श्रद्धालु हो तो इस निश्चयसे तुम सब कुछ प्राप्त कर सकते हो; और यदि तुममें श्रद्धा नहीं है तो तुम्हें

दिया गया बहुत-सा उपदेश भी राखमें डाली गयी आहुतिके समान व्यर्थ है । चेतनकी जो विषयाकार कल्पना है, वही बन्धन है । उससे छूटना ही मोक्ष कहलाता है । विषयाकाररहित चेतन ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है, यह समस्त सिद्धान्तोंका सार है । इस सिद्धान्तको ग्रहण करके यदि तुम स्वयं अखण्डाकार वृत्तिसे अपने द्वारा अपने आपका यथार्थ अनुभव करोगे तो अनन्त परमपदस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे । मैं इस समय देवलोकको जाता हूँ । मुझे यहींपर सप्तर्षि मिले थे । वहाँ देवताओंके किसी कार्यके लिये मुझे रहना होगा ।

ऐसा कहकर शुक्राचार्यजी ग्रहसमुदायसे भरे हुए आकाशमार्गसे चले गये । (सर्ग २५-२६)

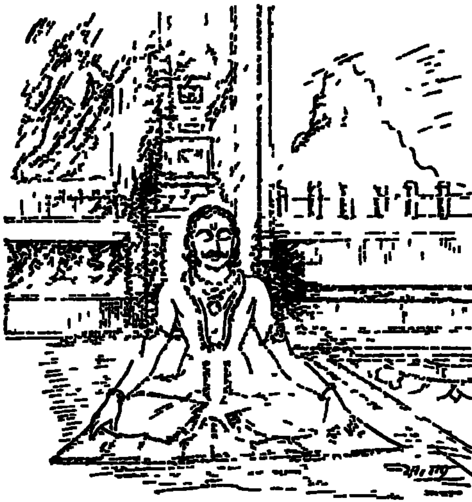


राजा बलिका शुक्राचार्यके दिये हुए उपदेशपर विचार करते-करते समाधिस्थ हो जाना, दानवों स्मरण करनेसे आये हुए दैत्यगुरुका बलिकी सिद्धावस्थाको बताकर उनकी चिन्ता दूर करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! देवताओं और असुरोंकी सभामें श्रेष्ठ माने जानेवाले भृगुनन्दन शुक्राचार्यके चले जानेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बलिने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—"भगवान् शुक्राचार्यने यह ठीक ही कहा है कि 'ये तीनों लोक चेतन ही हैं । मैं चेतन हूँ, ये सब लोग चेतन हैं, दिशाएँ चेतन है और ये सब क्रियाएँ भी चेतन ही हैं ।' वास्तवमें जगत्के बाहर और भीतर सब चेतन ही है । चेतनके अतिरिक्त यहाँ कहीं कुछ भी नहीं है । इन्द्रियाँ चेतन हैं, शरीर चेतन है, मन चेतन है, उसकी इच्छा चेतन है, भीतर चेतन है, बाहर चेतन है, आकाश चेतन है, समस्त भाव-पदार्थ चेतन हैं तथा इस जगत्की स्थिति भी चेतन ही है । अर्थात् जो कुछ भी है, वह एक सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही स्वरूप है । वहाँ केवल चेतन-ही-चेतन है, दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है । संसारमें जब द्वैतकी सम्भावना ही नहीं है अर्थात् एक चेतन परमात्मा सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है, कौन किसका शत्रु है और कौन किसका मित्र । ब विचारनेसे भी इस विशाल त्रिलोकीके भीतर चेतन अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती । अतिशय शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मामें न द्वेष है न रा न मन है और न उसकी वृत्तियाँ ही । फिर चिन्मय परमात्मामें विकल्पकी कल्पना हो ही सकती है । मैं सर्वत्र विचरनेवाला, व्यापक, नित्यान मय, विकल्प-कल्पनासे रहित तथा द्वैतसे शून्य सच्चि नन्दघन परमात्मा ही हूँ । मैं आकाशके समान स व्याप्त, अनन्त और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हूँ; इसलिये सुख-दुःख आदिकी दशाएँ मेरे पास नहीं फट पातीं ।"

इस प्रकार विचार करते हुए ही परम विवेकी दैत्य बलि ओंकारसे प्रकट हुए उसकी अर्धमात्रा (मकार

अर्थभूत तुरीय परमात्माका चिन्तन करने लगे और चुपचाप समाधिस्थ हो गये। उस समय बलिके सारे



संकल्प शान्त हो गये, समस्त कल्पनाएँ विलीन हो गयीं। उनके भीतर किसी प्रकारकी शङ्का नहीं रह गयी। वे ध्याता, ध्येय और ध्यानसे रहित हो गये। उनकी बुद्धिसे चेत्य, चिन्तक और चिन्तनकी त्रिपुटी दूर हो गयी। वे निर्मल और वासनाशून्य हो वायुरहित स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लौके समान निश्चल हो गये। वे महान् पद (परमात्मा) को प्राप्त हो गये थे। उनका मन सर्वथा शान्त हो गया था। वे वहाँ रत्ननिर्मित वातायन (खिडकी) में दीर्घकालतक उसी तरह अविचल भावसे बैठे रहे, मानो प्रस्तरमें खुदी हुई मूर्ति हो।

रघुनन्दन! तदनन्तर बलिके अनुचर दानवलोग स्फटिकमणिके बने हुए उनके महलकी ऊँची अट्टालिकापर क्षणभरमें चढ़ गये। डिम्भ आदि धीर मन्त्री, कुमुद आदि सामन्त, सुर आदि राजा, वृत्त आदि सेनापति, हयग्रीव आदि सैनिक, चाक्राज आदि भाई-बन्धु, लड्डुक आदि सुहृद्, बल्लुक आदि लाड़ लडानेवाले सखा, हाथमें भेंट लेकर उपस्थित हुए कुबेर, यम और इन्द्र आदि देवता, सेवाका अवसर चाहनेवाले यक्ष, विद्याधर और नाग उस समय बलिकी सेवाके लिये उस स्थानपर आ पहुँचे। इनके सिवा त्रिलोकीके भीतर निवास करनेवाले अन्य बहुत-से सिद्ध भी आये। उनके पास आकर उन सबके मुकुट प्रणामके लिये झुक गये। उन सबने बड़े आदरके साथ राजा बलिको देखा, वे ध्यानमें मौन हो समाधिस्थ हो गये थे और चित्रलिखित पुरुषकी भाँति निश्चलभावसे बैठे थे। उस अवस्थामें उनका दर्शन



करके अवश्य-कर्तव्य प्रणाम आदि कर चुकनेपर वे महान् असुर पहले तो उन्हें निष्प्राण समझकर विषादमें डूब गये, परंतु उनके मुखपर छायी हुई प्रसन्नता देख विस्मित हुए। तत्पश्चात् रोमाञ्च आदि आनन्दके चिह्न देखकर वे स्वयं भी आनन्दमग्न हो गये। परंतु उस समय अपना कोई रक्षक न देखकर वे भयके कारण शिथिल होने लगे। फिर दानव मन्त्रियोंने यह विचार किया कि अब यहाँ हमारे लिये कौन-सा कर्तव्य प्राप्त है। यह विचार आते ही उन्होंने सर्वज्ञ पुरुषोंमें श्रेष्ठ दैत्यगुरु शुक्राचार्यका स्मरण किया। स्मरण करते ही दैत्योंने देखा, भृगुनन्दन शुक्र अपने तेजस्वी शरीरसे वहाँ उपस्थित हैं। असुरोंने उनकी पूजा की, फिर वे गुरुके उच्च सिंहासनपर विराजमान हुए। तदनन्तर शुक्राचार्यने

दानवराज बलिको देखा, जो मौनभावसे ध्यानमग्न होकर बैठे थे। क्षणभर विश्राम करके शुक्राचार्यने बड़े प्रेमसे बलिकी ओर देखा और विचार करके वे इस निश्चयपर पहुँचे कि बलिका संसाररूपी भ्रम नष्ट हो गया है। तत्पश्चात् गुरुने उस दैत्यमण्डलीसे कहा—'दैत्यो! ये

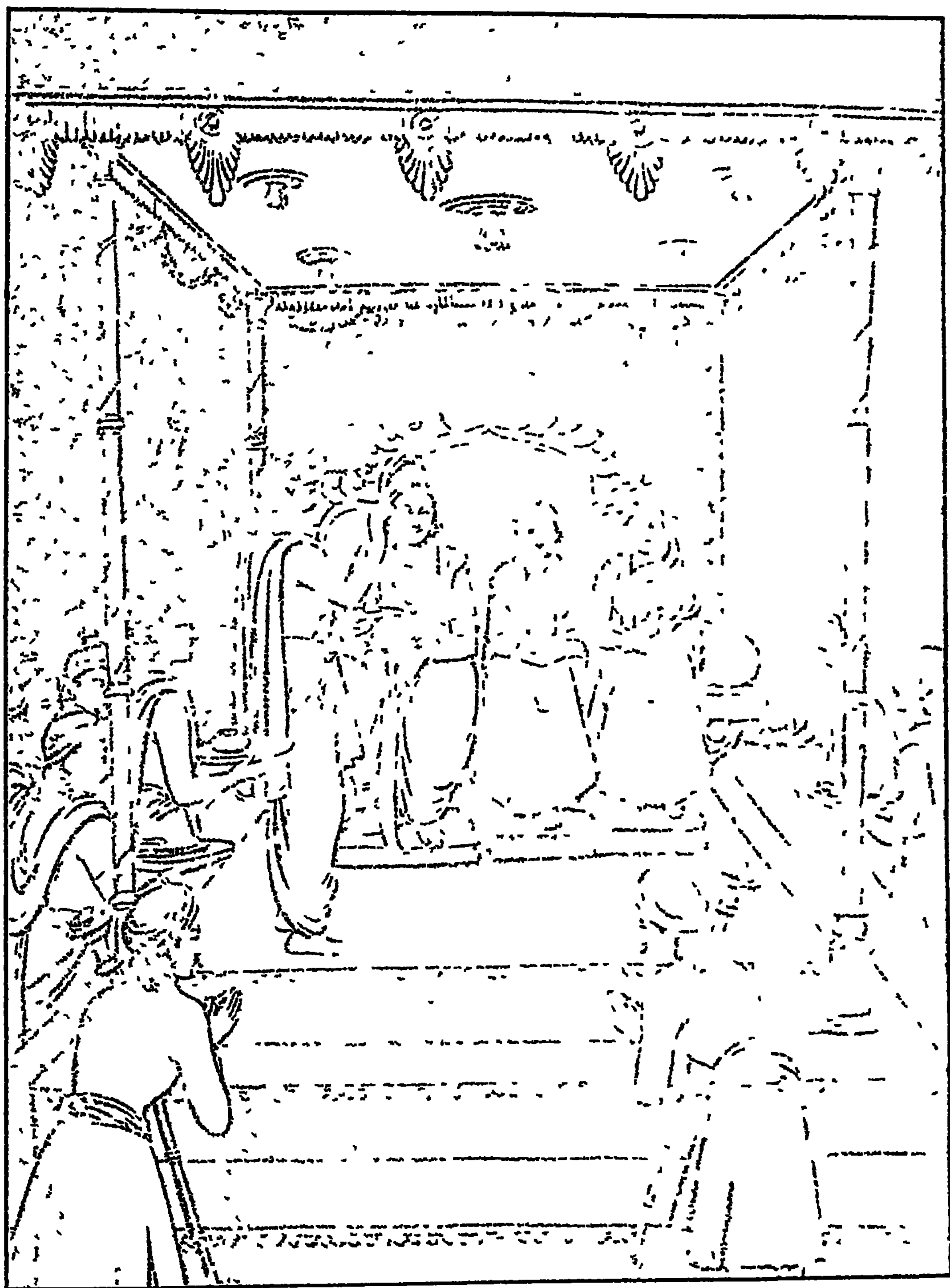


ऐश्वर्यशाली बलि अपनी विचारधारासे ही विशुद्ध परमपदको प्राप्त होकर सिद्ध हो गये हैं। यही अतिशय शान्तमय परमानन्द है। दानव-शिरोमणियो! ये इसी तरह समाधिमें स्थित हो अपने परमानन्दस्वरूप आत्मामें नित्य स्थितिको प्राप्त हों और निर्विकार परमपदका साक्षात्कार करें। दानवो! जैसे थके हुए पुरुषको विश्राम मिले, उसी प्रकार ये बलि भी चित्तकी भ्रान्तिसे रहित हो परम विश्रामको प्राप्त हुए हैं। इनका संसाररूपी कुहरा (अज्ञान) शान्त हो गया है; अतः इस समय तुमलोग इनसे बातचीत न करो। जैसे भूतलपर रात्रिके अन्धकार एवं निद्रा आदिके शान्त होनेपर दिनमें सूर्यकी किरणोंका समुदाय प्राप्त होता है, उसी प्रकार इनका अज्ञानयुक्त भ्रम दूर हो जानेपर अब इन्हें अपना ही प्रकाश प्राप्त हुआ है। समय आनेपर ये स्वयं ही इस समाधिसे जाग उठेंगे। दानवनायको! तुम सब लोग अपने स्वामीके कार्य करो। ये राजा बलि एक सहस्र वर्षपर समाधिसे उठेंगे।

गुरुदेवके ऐसा कहनेपर दैत्योंने हर्ष, अमर्ष और दुःखसे उत्पन्न हुई चिन्ताको त्याग दिया तथा पहलेकी व्यवस्थाके अनुसार बलिकी राज्य-सभाका सुदृढ संगठन करके वे सभी असुर यथाधिकार अपने-अपने कार्यमें संलग्न हो गये। तत्पश्चात् मनुष्य भूतलको, नागराज रसातलको, ग्रह अन्तरिक्षको, देववृन्द स्वर्गको, पर्वत और दिक्पाल अपनी-अपनी दिशाओंको, वनचर जीव अपनी कन्दराओंको और आकाशचारी प्राणी आकाशको चले गये।



(सर्ग २७-२८)



दोनो लीलाओके साथ राजा पद्मका राज्याभिषेक

(उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ५९)

समाधिसे जगे हुए बलिका विचारपूर्वक समभावसे स्थित होना, श्रीहरिका उन्हें त्रिलोकीके राज्यसे हटाकर पातालका ही राजा बनाना, उस अवस्थामें भी उनकी समतापूर्ण स्थिति तथा श्रीरामके चिन्मय स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर एक सहस्र दिव्य वर्ष व्यतीत होनेपर ऐश्वर्यशाली असुरराज बलि देव-दुन्दुभियोंका तुमुलनाद सुनकर समाधिसे जागे और इस प्रकार विचार करने लगे—'न बन्धन है न मोक्ष है । मेरी मूर्खता (अज्ञान) का नाश हो गया । ध्यानके लीला-विलाससे मेरा क्या होगा अथवा ध्यान न करनेसे भी कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? न मैं ध्यानकी इच्छा करता हूँ और न ध्यान न करनेकी; न भोग चाहता हूँ न भोगोंका अभाव; मैं चिन्तारहित होकर समभावसे ही स्थित हूँ । यह जगत्का राज्य रहे, तो भी मैं यहाँ स्थिर-भावसे स्थित हूँ । अथवा यहाँ यह जगत्का राज्य न रहे, तो भी मै शान्तस्वरूप हो परमात्मामें स्थित हूँ । ध्यान-दृष्टिसे मेरा क्या काम है ? राज्य-वैभवकी सम्पत्तिसे भी मेरा क्या प्रयोजन है ? जो आता है, वह आये । न वह मैं हूँ न कहीं कुछ मेरा है । यदि आवश्यकताकी दृष्टिसे इस समय मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है तो अकर्तव्य भी कुछ नहीं है । अतः यह जो कुछ प्रस्तुत कर्म—राज्यपालन आदि है, इसे मैं क्यों न करूँ ?'

ऐसा विचार करके बलि वासनारहित मनसे वहाँ समस्त राज्यकार्य करने लगे । उन्होंने पूजनके अर्घ्य-पाद्य आदि उपचारोंद्वारा देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुजनोंकी पूजा की तथा सुहृदों, बन्धु-बान्धवों, सामन्तों और सत्पुरुषोंका दान-मान आदिके द्वारा सत्कार किया । इतना ही नहीं, उन्होंने सेवकों और याचकोंको धन-धान्यसे परिपूर्ण कर दिया । इस प्रकार उस राज्यमें, जहाँ सबपर समानरूपसे शासन किया जाता था, राजा बलि दिनों-दिन बढ़ने लगे । किसी समय उनके मनमें यज्ञ करनेका विचार



हुआ, तब वे शुक्राचार्य आदि मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंके साथ महायज्ञ अश्वमेधका अनुष्ठान करने लगे । उस यज्ञमें समस्त भुवनोंके प्राणियोंको तृप्त किया गया । देवर्षियोंके समुदायने उस यज्ञकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । राजा बलिको भोगसमूहोंकी अभिलाषा नहीं है—ऐसा निश्चय करके सिद्धिदाता भगवान् लक्ष्मीपति विष्णु बलिके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिये उस यज्ञमें पधारे । कार्यके तत्त्वको जाननेवाले श्रीहरि एकमात्र भोगोंमें आसक्त होनेके कारण कृपण एवं शोचनीय देवराज इन्द्रको, जो (उनके बड़े भाई होनेके नाते) अवस्थामें ज्येष्ठ थे, इस जगत्‌रूपी जंगलका भाग देनेके लिये वहाँ आये थे । उन्होंने बलपूर्वक पैर बढ़ाकर तीनों लोकोंको नाप लिया और बलिको वैभव भोगसे वञ्चित करके उन्हें



पातालतलमें ही बाँध दिया अर्थात् उन्हें पाताललोकके ही राज्यका अधिकारी बना दिया । श्रीराम ! अब वे जीवन्मुक्त और अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मामें स्थित हो मनको सदा परमात्मचिन्तनमें लगाये रखकर पुनः भावी इन्द्रपदकी प्राप्तिके हेतु पातालमें ही विराजमान हैं । पातालरूपी गर्तमें रहकर जीवन्मुक्तस्वरूप बलि आपत्ति और सम्पत्तिको समान दृष्टिसे ही देखते हैं । उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो चुका है । वे भोगोंकी अभिलाषा छोड़कर नित्य अपने आत्मामें ही रमण करते हुए पातालमें प्रतिष्ठित हैं । श्रीराम ! ये बलि पुन. इन्द्रपदपर विराजमान हो बहुत वर्षोंतक इस सम्पूर्ण जगत्पर शासन करेंगे । भविष्यमें होनेवाली इन्द्रपदकी प्राप्ति (की आशा) से न तो उन्हें हर्ष होता है और न अपने त्रिलोकीके राज्यपदसे भ्रष्ट कर दिये जानेके कारण उनके मनमें उद्वेग ही होता है । वे सभी भावोंमें सम तथा सदा ही संतुष्ट-चित्त रहकर प्राप्त भोगोंका अनासक्त-भावसे सेवन करते हुए आकाशके समान अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मामें नित्य स्थित हैं ।

असुरराज बलि लगातार दस करोड़ वर्षोंतक तीनों लोकोंका राज्य करके अन्तमें उससे विरक्त हो गये । अतः भोगसमूहोंमें अवश्य वैरस्य (रसका अभाव एवं दुःखका बाहुल्य) है । श्रीराम ! सूर्यके समान सबको प्रकाशित करनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्में स्थित हो । तुम्हारे लिये कौन अपना है और कौन पराया ? महाबाहो ! तुम अनन्त हो, आदि पुरुषोत्तम हो । तुम्हारा शरीर चिन्मय है । सैकड़ों पदार्थोंके रूपमें तुम्हीं चेष्टा कर रहे हो । जैसे सूतमें मणियाँ पिरोयी होती हैं, उसी प्रकार नित्य प्रकाशमान, शुद्ध-बुद्धस्वरूप तुममें यह सारा चराचर जगत् पिरोया हुआ है । तुम्हारा न जन्म होता है न मृत्यु । तुम अजन्मा हो, अन्तर्यामी और विराट् पुरुष हो । शुद्ध चैतन्य ही तुम्हारा स्वरूप है । तुम इस जगत्के स्वामी और नित्य प्रकाशित होनेवाले चिन्मय सूर्यरूपसे स्थित हो । तुममें ही यह स्वप्न-तुल्य सारा संसार भासित होता है ।* मनुष्यको उचित है कि बालकके समान यह मन जिन-जिन स्थानोंमें आसक्त होता है, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर परम तत्त्वस्वरूप परमात्मामें लगाये । इस प्रकार अभ्यासको प्राप्त हुए मनरूपी मतवाले हाथीको सर्वतोभावेन बाँधकर मनुष्य परम-कल्याणका भागी होता है । जबतक मनुष्य

---

* चिदादित्यो भवानेव सर्वत्र जगति स्थितः ।
कः परस्ते क आत्मीयः परिस्खलसि किं मुधा ॥
त्वमनन्तो महाबाहो त्वमाद्यः पुरुषोत्तम ।
त्व पदार्थशताकारैः परिस्फूर्जसि चिद्वपुः ॥
त्वयि सर्वमिद प्रोतं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
बोधे नित्योदिते शुद्धे सूत्रे मणिगणा यथा ॥
न जायसे न म्रियसे त्वमजः पुरुषो विराट् ।
चिच्छुद्धा जन्ममरणभ्रान्तयो मा भवन्तु ते ॥
× × ×
त्वयि स्थिते जगन्नाथे चिदादित्ये सदोदिते ।
इदमाभासने सर्वे ससारस्वप्नमण्डनम् ॥
(उपशम० २९ । ४५—४८, ५०)

आत्मसाक्षात्कारके लिये परम पुरुषार्थ करके स्वयं अपने ऊपर अनुग्रह नहीं करता, तबतक विवेक-विचारका उदय नहीं होता। जबतक अपने आपका यथार्थरूपसे अनुभव नहीं होता, तबतक वेदों और वेदान्तशास्त्रके अर्थोंसे तथा तार्किक दृष्टियोंसे भी इस आत्माका प्राकट्य नहीं होता। (सर्ग २९)



प्रह्लादका उपाख्यान—भगवान् नृसिंहकी क्रोधाग्निसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंका संहार तथा प्रह्लादका विचारद्वारा अपने आपको भगवान् विष्णुसे अभिन्न अनुभव करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे दैत्यराज प्रह्लाद अपने-आप सिद्ध हो गये थे, ज्ञानप्राप्तिके उस उत्तम क्रमका मैं वर्णन करता हूँ; सुनो। पाताललोकमें हिरण्यकशिपु नामसे प्रसिद्ध एक दैत्य था, जिसका पराक्रम भगवान् नारायणके समान था। उसने युद्धभूमिमें देवताओं और असुरोंको भी मार भगाया था। उसने समस्त भुवनोंपर आक्रमण किया और इन्द्रके हाथसे त्रिलोकीका राज्य छीन लिया। वह देवताओं और असुरोंको परास्त करके तीनों लोकोंका राज्य करने लगा। त्रिभुवनके साम्राज्यपर शासन करते हुए उस असुरराजने यथासमय बहुत-से पुत्र उत्पन्न किये। जैसे बहुमूल्य मणियोंमें कौस्तुभ प्रधान है, उसी प्रकार उन सभी पुत्रोंमें प्रह्लादनामक बलवान् पुत्र प्रधान हुआ। इससे हिरण्यकशिपुका गर्व और भी बढ़ गया। उसका आक्रमणजनित ताप उत्तरोत्तर बढ़कर तीनों लोकोंको उसी तरह तपाने लगा, जैसे प्रलयकालके बारह सूर्य अपनी किरणोंकी नूतन प्रभासे समस्त भुवनोंको संतप्त कर देते हैं। उसके आक्रमणसे सूर्य और चन्द्र आदि देवता खिन्न हो उठे। उन सबने ब्रह्माजीसे उस दैत्यराजके वधके लिये प्रार्थना की। क्यों न हो, किसीके बारंबार किये जानेवाले दुष्कर्म या अपराधको महापुरुष भी सहन नहीं कर सकते। तदनन्तर लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुने नृसिंहरूप धारण करके जोर-जोरसे दहाड़ते हुए उस महान् असुरको उसी प्रकार मार डाला, जैसे हाथी कटकट शब्दके साथ घोड़ेको मार डालता है। भगवान् नृसिंहके नख दिग्गजोंके दाँतोंके समान सुदृढ और वज्र आदिके समान भयंकर थे। उनकी चमकीली दन्तपङ्क्ति सुस्थिर विद्युल्लताके समान शोभा पा रही थी। उनका क्रोध तीनों लोकोंको दग्ध करनेके लिये प्रज्वलित हुई प्रलयाग्निके समान जान पड़ता था। उनके सम्पूर्ण अङ्गोंसे पट्टिश, प्रास, तोमर आदि नाना प्रकारके आयुध निकल रहे थे। जैसे प्रलयकालमें अग्निकी ज्वाला समस्त जगज्जालको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार भगवान् नृसिंहके नेत्रोंसे प्रकट हुई आगने उस असुरपुरीके समस्त असुरोंको दग्ध कर दिया। संवर्तक नामक प्रलयकर मेघोंकी गर्जनायुक्त धारावाहिक वृष्टिसे सर्वत्र व्याप्त हुए एकार्णवमें विक्षुब्ध हुई वायुके समान जब भगवान् नृसिंह अत्यन्त क्षोभसे भर गये, तब समस्त दानवोंके समुदाय दिशाओंमें जलते हुए मच्छरोंके समान भाग-भागकर अदृश्य हो गये। भगवान् नृसिंह हिरण्यकशिपुका वध करके आश्वस्त हुए देवताओंद्वारा बड़े आदरके साथ पूजित हो जब धीरेसे कहीं चले गये, तब मरनेसे बचे हुए दानव प्रह्लादसे सुरक्षित हो अपने उस जले हुए देशमें लौट गये। वहाँ अपने बन्धु-बान्धवोंके नाशका विचार करके समयोचित विलाप करनेके अनन्तर उन सबने परलोकवासी बन्धुओंका और्ध्वदैहिक संस्कार एवं श्राद्ध किया। तदनन्तर जिनके बन्धु-बान्धव मारे अथवा भगवान् नृसिंहकी क्रोधाग्निसे जल गये थे, मरनेसे बचे हुए उन आत्मीय जनोंको उन सबने धीरे-धीरे आश्वासन दिया।

भगवान् नृसिंहने जहाँके दानवोंका विनाश कर डाला था, उस पाताल-गर्तमें रहनेवाले मननशील प्रह्लादने मन-ही-मन अत्यन्त दुखी हो विवेकपूर्वक विचार किया—'इस संसारमें सब प्रकारसे, सब तरहकी पवित्र बुद्धियोंसे और

समस्त उत्तम क्रियाओंद्वारा तीव्रतापूर्वक शरण लेने योग्य एकमात्र भगवान् श्रीहरि ही हैं। उनके सिवा यहाँ दूसरी कोई गति नहीं है। तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर कोई नहीं है। सृष्टि, पालन और संहारके एकमात्र कारण श्रीहरि ही हैं। अब इसी क्षणसे सदाके लिये मैं अजन्मा भगवान् नारायणकी शरणमें आया हूँ। जैसे वायु आकाशसे अलग नहीं होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण मनोरथोंका साधक 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र मेरे हृदयकोशसे दूर नहीं होता। श्रीहरि ही दिशा हैं, हरि ही आकाश हैं; वे ही पृथ्वी हैं और वे ही जगत् हैं; अतः मैं भी अप्रमेयात्मा श्रीहरि ही हूँ। मैं विष्णुरूप हो गया हूँ। श्रीहरि ही प्रह्लाद नामसे प्रकट हैं। मुझ आत्मासे श्रीहरि भिन्न नहीं हैं, मेरे अन्त.करणमें यह दृढ़ निश्चय हो गया है; अतएव मैं सर्वव्यापी हरि ही हूँ। जिनकी हाथरूपी शाखाओंपर चक्र, गदा और खड्ग आदि अस्त्ररूपी पक्षी सदा विश्राम करते हैं, जो नख-किरणमयी मञ्जरियोंसे व्याप्त हैं, जिनके कंधे कोमल-कोमल मन्दारपुष्पकी मालाओंसे अलंकृत हैं, वे महान् मरकत-मणिमय वृक्षोंके समान ये मेरी चार भुजाएँ सुशोभित हो रही हैं, जिनके बाजूबंद समुद्र-मन्थनके समय मन्दराचलकी रगड़से घिस गये थे। ये सदा क्रमशः शीतल तथा उष्ण रहनेवाले दो देवता चन्द्रमा और सूर्य, जिन्होंने संसारको प्रकाशित किया है, मेरे मुखमण्डलके दो नेत्र हैं, नील कमलके समान श्याम तथा गहरी मेघमालाओंके समान सुन्दर मेरी यह अङ्गकान्ति सब ओर फैल रही है। मेरे हाथमें यह पाञ्चजन्य शङ्ख है, जिससे गम्भीर ध्वनिका विस्तार होता है। यह शब्दस्वरूप होनेके कारण मूर्तिमान् आकाश और श्वेत होनेसे क्षीरसागरके समान जान पड़ता है। मेरे करतलमें यह शोभाशाली कमल विद्यमान है, जो मेरी ही नाभिसे उत्पन्न हुआ है। यह दैत्यों और दानवोंका मर्दन करनेवाली मेरी भारी गदा है, जो रत्नजटित होनेसे चितकबरी और सोनेके अङ्गद (वलय) से विभूषित होनेके कारण सुमेरु पर्वतके शिखर-सी प्रतीत होती है। यह मेरा सुदर्शन चक्र है, जिससे सब ओर किरणें छिटक रही हैं तथा जिसकी आकृति साक्षात् सूर्यके समान दिखायी देती है। यह धूमयुक्त अग्निके समान सुन्दर मेरा काला और चमकीला नन्दक नामक खड्ग है, जो दैत्यरूपी वृक्षोंका उच्छेद करनेके लिये कुठार है और देवताओंको आनन्द प्रदान करनेवाला है। यह इन्द्रधनुषके समान सुन्दर और नागराज वासुकिके समान कुण्डलाकार मेरा शार्ङ्गधनुष है, जो पुष्पक और आवर्तक नामक मेघोंके समान बाणरूपी जलकी अविच्छिन्न धाराएँ बरसाता है। पृथ्वी ये मेरे दोनों पैर हैं, आकाश मेरा यह सिर है, तीनों लोक मेरे शरीर हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ मेरी कुक्षि हैं। मैं नील मेघके भीतरी भागकी भाँति श्यामकान्तिसे सुशोभित, गरुड़रूपी पर्वतपर आरूढ़ एवं शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण करनेवाला साक्षात् विष्णु हूँ। मेरे सामने खड़े हुए ये देवता और असुर मेरे तेजके प्रवाहको उसी तरह नहीं सह सकते जैसे मन्द दृष्टिवाले लोग सूर्यकी प्रभाको नहीं सहन कर पाते। ये ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि और रुद्र आदि देवता बहुसंख्यक मुखोंसे निकली हुई अनन्त वाणीद्वारा मुझ सर्वेश्वर विष्णुकी ही स्तुति करते हैं। मेरा ऐश्वर्य बहुत बढ़ा हुआ है। मैं अपराजित विष्णुरूप हो गया हूँ, सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे ऊपर उठकर अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमासे सम्पन्न हूँ। (सर्ग ३०-३१)

प्रह्लादके द्वारा भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं बाह्य पूजा, उसके प्रभावसे समस्त दैत्योंको वैष्णव हुआ देख विसयमें पड़े हुए देवताओंका भगवान्से इसके विषयमें पूछना, भगवान्का देवताओंको सान्त्वना दे अदृश्य हो प्रह्लादके देवपूजा-गृहमें प्रकट होना और प्रह्लादद्वारा उनकी स्तुति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार विचार करके भावनाद्वारा अपने शरीरको साक्षात् नारायण-का स्वरूप बनाकर प्रह्लादने उन असुरारि श्रीहरिकी पूजाके लिये फिर इस प्रकार चिन्तन आरम्भ किया—'मैं भावना-दृष्टिसे देख रहा हूँ कि ये भगवान् विष्णु दूसरा शरीर धारण करके मेरे भीतरसे बाहर आकर खड़े हैं, गरुड़की पीठपर बैठे हैं, चतुर्विध शक्तियोंसे सम्पन्न हैं। इनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि शोभा पा रहे हैं। भगवान्के श्रीअङ्ग सुन्दर श्याम कान्तिसे सुशोभित हैं। इनके चार भुजाएँ हैं। चन्द्रमा और सूर्य ही इनके



नेत्र हैं। ये अद्भुत शोभासे सम्पन्न हैं। कान्तिमान् नन्दक नामक खड्गसे अपने भक्तजनोंको आनन्द प्रदान करते हैं। इनके हाथमें कमल शोभा दे रहा है। नेत्र बड़े-बड़े हैं। ये शार्ङ्गधनुष धारण करते हैं और महान् तेजसे सम्पन्न हैं। इनके पार्षद इन्हें सब ओरसे घेरे हुए हैं। इसलिये मैं शीघ्र ही भावनाभावित समस्त सामग्रियों-से सुशोभित मानसिक पूजाद्वारा इनका पूजन आरम्भ करता हूँ। इसके बाद बाहरी उपकरणोंसे युक्त और अनेक प्रकार-के रत्नोंसे परिपूर्ण विशाल पूजाका भी आयोजन करके इन महान् देव नारायणकी पूजा-अर्चा करूँगा।'

ऐसा विचारकर प्रह्लादने विविध पूजा-सामग्रियोंके सम्भारसे युक्त मनके द्वारा कमलापति माधवका पूजन आरम्भ किया। रत्नसमूहोंसे जटित नाना प्रकारके पात्रों-द्वारा अभिषेक करके भगवान्के श्रीअङ्गोंमें उन्होंने चन्दन आदिका अनुलेप किया। फिर नाना प्रकारके धूप-दीप निवेदन किये, भाँति-भाँतिके वैभवशाली आभूषण पहनाये, मन्दार-पुष्पोंकी मालाएँ धारण करायीं, सुवर्णमय कमलोंकी राशि भेंट की, कल्पवृक्षकी लताओं तथा रत्नोंके गुच्छ (गुलदस्ते) अर्पित किये, दिव्य वृक्षोंके पल्लव तथा नाना प्रकारके फूलोंके हार उपहारमें दिये, किंकिरात, बक, कुन्द, चम्पा, नीलकमल, लालकमल, कुमुद, काश, खजूर, आम, पलाश, अशोक, मैनफल, बेल, कनेर, किरातक, कदम्ब, बकुल, नीम, सिन्दुवार, जूही, पारिभद्र, गुग्गुल और बिन्दुक आदिके यथायोग्य पत्र-पुष्प एवं फल अर्पित किये। प्रियङ्गु, पाट, पाटल धातुपाटल, आम, अमड़ा, गव्य, हर्रे और बहेड़े भेंट किये। शाल, ताल और तमालके लता, फूल एवं पल्लवी चढ़ाये, कोमल-कोमल कलिकाएँ अर्पित कीं, सहकार, कुङ्कुम, केतक, शतपत्र और इलायचीकी मञ्जरियाँ अर्पित कीं। फिर नैवेद्य, ताम्बूल, आरती और पुष्पाञ्जलि आदि सभी सुन्दर-सुन्दर उपचारोंको सादर समर्पित किया। अन्तमें अपने आपको श्रीहरिके चरणोंमें भेंट कर दिया। इस प्रकार जगत्‌के सारे वैभवोंसे भव्य प्रतीत होनेवाली पूजन-सामग्री एवं उच्चकोटिकी भक्तिसे प्रह्लादने अन्तःपुरमें अपने स्वामी भगवान् विष्णुका मानसिक पूजन किया।

तदनन्तर दानवराज प्रह्लादने सुप्रसिद्ध देवमन्दिरमें बाह्य वैभवोंसे परिपूर्ण पूजनके उपचारोंद्वारा भगवान् जनार्दनकी पूजा की। मानस-पूजनमें बताये गये क्रमसे ही बाह्य पदार्थोंके अर्पणद्वारा बारंबार परमेश्वर श्रीहरिका पूजन करके दानवराज प्रह्लादको बड़ा संतोष हुआ। तभीसे प्रह्लाद प्रतिदिन पूर्ण भक्तिभावसे परमेश्वरकी पूजा करने लगे। फिर तो उस नगरके सभी दैत्य उसी दिनसे भव्य वैष्णव बन गये; क्योंकि राजा ही आचारका कारण होता है। (राजा सदाचारी हो तो प्रजा भी सदाचारपरायण होती है।) शत्रुसूदन श्रीराम! फिर तो आकाशवर्ती देवलोकमें यह बात फैल गयी कि सारे दैत्य द्वेष छोड़कर भगवान् विष्णुके भक्त हो गये हैं। रघुनन्दन! यह सुनकर इन्द्र आदि देवता और मरुद्गण बड़े विस्मित हुए कि दैत्योंने भगवान् विष्णुकी भक्ति कैसे अपनायी। आश्चर्यमें डूबे हुए देवता अन्तरिक्षवर्ती स्वर्गलोकको छोड़कर क्षीरसागरमें शेषनागकी शय्यापर विराजमान भगवान् श्रीहरिके पास गये। वहाँ



बैठे हुए भगवान्‌से उन्होंने दैत्योंका सारा समाचार कह सुनाया और इस अपूर्व आश्चर्य तथा विस्मयसे भरे हुए स्वभाव-परिवर्तनका कारण पूछा।

देवता बोले—भगवन्! यह क्या बात है? जो दैत्य सदा ही आपके विरोधी रहे, वे ही आपकी भक्तिमें कैसे तन्मय हो गये? कहाँ तो वे अत्यन्त दुराचारी दानव और कहाँ आप भगवान् जनार्दनके प्रति उत्तम भक्ति। कहाँ तो पामरोचित कार्य करनेवाला, सदा निन्दित कर्मोंमें निरत और हीन जातिवाला बेचारा दानव-समाज और कहाँ आप भगवान् विष्णुकी उत्तम भक्ति।

श्रीभगवान् बोले—देवताओ! तुम विषादमें न पड़ो। शत्रुदमन प्रह्लाद भक्तिमान् हो गये हैं। यह उनका अन्तिम जन्म है। अब वे मोक्षके अधिकारी हो गये हैं। इसके बाद ये दानव प्रह्लाद गर्भवास नहीं कर सकते। जैसे भूना हुआ बीज अङ्कुर नहीं उत्पन्न कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए कर्म बन्धन-कारक नहीं हो सकते। श्रेष्ठ देवगण! तुमलोग अपने-अपने विचित्र लोकोंमें पधारो। प्रह्लादकी यह गुणवत्ता (उनकी यह भगवद्भक्ति) तुम्हें दुःख देनेवाली नहीं हो सकती।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! देवताओंसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये और देवताओंका समुदाय स्वर्गलोकको लौट गया। तबसे प्रह्लादके प्रति देवताओंकी मित्रता हो गयी। भक्त प्रह्लाद इसी प्रकार प्रतिदिन मन, वाणी और क्रियाद्वारा देवाधिदेव भगवान् जनार्दनकी पूजा करने लगे। पूजामें तत्पर रहनेवाले प्रह्लादके हृदयमें समय पाकर विवेक, आनन्द, वैराग्य और विभूति आदि गुण बढ़ने लगे। जैसे पक्षी सूखे हुए वृक्षको पसंद नहीं करते, उसी प्रकार प्रह्लादने भोग-समूहोंका अभिनन्दन नहीं किया—भोगोंकी ओरसे उनकी रुचि हट गयी। जैसे मृग जनसमुदायसे भरी हुई भूमिमें प्रसन्न नहीं होता, उसी

प्रकार उनका मन कान्ताओंमें नहीं रमता था, शास्त्रीय बातोंकी चर्चाके सिवा अन्य लोकचर्याओंमें उनका मन नहीं लगता था। नाशवान् दृश्य पदार्थोंसे उनकी आसक्ति सर्वथा दूर हो गयी थी। भगवान् विष्णुने क्षीरसागर-रूपी मन्दिरमें रहते हुए ही अपनी सर्वव्यापिनी परम दिव्य बुद्धिके द्वारा प्रह्लादकी उस उच्चतम स्थितिको जान लिया। तदनन्तर भक्तोंको आह्लाद प्रदान करनेवाले भगवान् विष्णु पाताल-मार्गसे प्रह्लादके उस भवनमें पधारे, जिसमें वे अपने इष्टदेवकी पूजा किया करते थे। कमलनयन भगवान् विष्णुको आया हुआ जानकर दैत्यराज प्रह्लादने पहलेकी अपेक्षा दुगुनी वैभवशालिनी सामग्रीसे सुशोभित पूजा-विधिद्वारा उनका आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् पूजागृहमें पधारे हुए भगवान्



श्रीहरिको प्रत्यक्ष विराजमान देख परम प्रीतियुक्त हुए प्रह्लादने भक्तिभावसे परिपुष्ट हुई वाणीद्वारा उनका स्तवन आरम्भ किया।

प्रह्लाद बोले—जो त्रिभुवनरूपी रत्नको सुरक्षित रखनेके लिये मनोहर कोशागार हैं, उपासकोंके सारे पापोंको हर लेनेवाले हैं, अज्ञानान्धकारसे परे परम प्रकाश-स्वरूप हैं, अशरणको शरण देनेवाले तथा शरणागत-पालक हैं, उन अजन्मा, अच्युत, परमेश्वर श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ।

जो प्रफुल्ल नील कमलदल तथा नील मणिके समान श्याम सुन्दर कान्तिसे सुशोभित हैं, जिनके श्याम विग्रहके लिये शरद् ऋतुके निर्मल आकाशके मध्यभागसे उपमा दी जाती है, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अञ्जनके समान नील आभासे जिनके श्रीअङ्ग प्रकाशित होते हैं तथा जो अपने हाथोंमें कमल, चक्र एव गदा धारण करते हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

जो परम निर्मल हैं, जिनके कोमल अङ्ग अलिकलाप (भ्रमर-राशि)-के समान श्याम हैं, जिनके हाथमें श्वेत दलवाले अधखिले कमलके समान शङ्ख शोभा पाता है, जिनके नाभि-कमलमें वेदमन्त्रोंकी ध्वनिरूप गुञ्जारवसे युक्त ब्रह्मारूपी भ्रमर विराजमान हैं तथा जो अपने भक्तजनोंके हृदय-कमल-दलमें निवास करते हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ।

भगवान्‌के श्वेत नख-समूह जहाँ तारोंके समान छिटके हुए हैं, जहाँ मधुर मुस्कानकी ज्योत्स्नासे उज्ज्वल मुखरूपी पूर्ण चन्द्रमण्डलका प्रकाश छा रहा है तथा हृदयस्थित कौस्तुभ मणिकी किरणोंका समूह जहाँ आकाश-गङ्गाकी छटा छिटका रहा है, उन सर्व-व्यापी श्रीहरिरूपी शरत्कालिक निर्मल आकाशको मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

प्रलयकालमें अक्षयवटके पत्रपर शयन करनेवाले शिशुरूप बालमुकुन्दकी मैं शरण लेता हूँ। बालक होनेपर भी उनका अनन्त कल्याणमय दिव्य गुणगणोंसे सुशोभित शरीर बहुत पुराना (वृद्ध) है। उनके

उस बालवपुके उदरभागमें यह घनीभूत सारी सृष्टि पूर्णतया समायी हुई है। वे भगवान् नित्य निरन्तर विराजमान, जन्म-वृद्धि आदि विकारोंसे रहित तथा विशाल (सर्वत्र व्यापक) हैं।

नूतन खिले हुए नाभि-कमलके परागसे जिनका वक्षःस्थल गौरवर्णका प्रतीत होता है, जिनका वामाङ्ग लक्ष्मीजीके दीप्तिमान् देहसे विभूषित है, जो सायंकालिक अरुण किरणके समान लाल अङ्गराग धारण करते हैं तथा सुवर्णके समान रंगवाले रेशमी पीताम्बरसे जिनका श्रीविग्रह परम सुन्दर दिखायी देता है, उन भगवान् श्रीनारायणकी मैं शरण लेता हूँ।

दैत्यरूपिणी कमलिनीपर तुषारपात करनेके लिये जो हेमन्त और शिशिरके समान हैं, देवरूपिणी नलिनीको विकसित करनेके लिये सदा उदित रहनेवाले सूर्यबिम्बके सदृश हैं तथा ब्रह्मारूपी कमलके उद्भवके लिये जो जलसे भरे हुए तड़ागके तुल्य हैं, उपासकोंके हृदय-कमलमें निवास करनेवाले उन भगवान् श्रीहरिका मैं आश्रय लेता हूँ।

जो त्रिभुवनरूपी कमलके विकासके लिये सूर्यके सदृश हैं, अन्धकारकी भाँति बुद्धिको आच्छादित करनेवाले मोह या अज्ञानका निवारण करनेके लिये उत्तम एवं प्रज्वलित दीपकके तुल्य हैं, जिनमें जड़तारूपिणी मायाका अभाव है, जो सदा अपने स्वरूपको प्रकाशित करते हैं अथवा नित्य दिव्य प्रकाश जिनका रूप है, उन चिन्मय आत्मतत्त्वस्वरूप तथा सम्पूर्ण जगत्की सारी पीड़ाओंको हर लेनेवाले श्रीहरिकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार बहुत-सी गुणावलियोंसे युक्त स्तुति-वचनोंद्वारा पूजित हुए असुर-विनाशक तथा नील कमलदलके समान श्याम भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर प्रीतियुक्त भक्त दैत्यराज प्रह्लादसे बोले। (सर्ग ३२-३३)



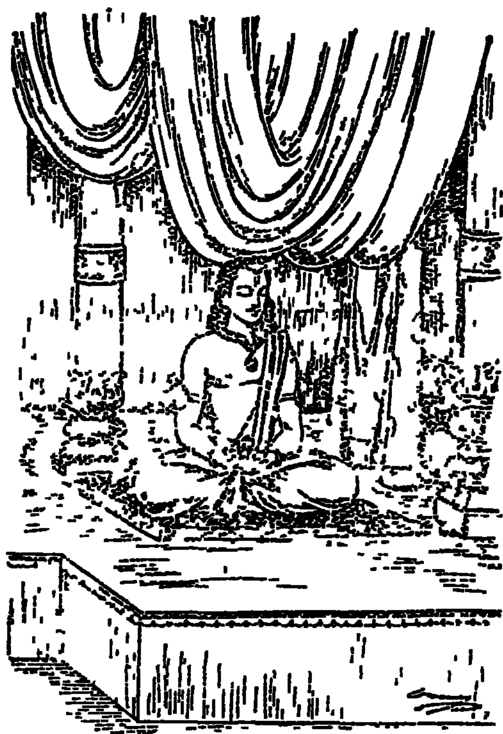
प्रह्लादको भगवान्‌द्वारा वर-प्राप्ति, प्रह्लादका आत्मचिन्तन करते हुए परमात्माका साक्षात्कार करना और उनका स्तवन करते हुए समाधिस्थ हो जाना, तत्पश्चात् पातालकी अराजकताका वर्णन और भगवान् विष्णुका प्रह्लादको समाधिसे विरत करनेका विचार

श्रीभगवान्‌ने कहा—दैत्यकुलशिरोमणि प्रह्लाद ! तुम तो गुणोंके आकर हो, अतः जन्म-मरणरूपी दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम पुनः अपना अभीष्ट वर माँग लो।

प्रह्लाद बोले—भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान होकर उनके इच्छानुसार फल प्रदान करनेवाले हैं; अत. विभो ! आप जिस वस्तुको सबसे श्रेष्ठ समझते हों, वही मुझे देनेकी कृपा कीजिये।

श्रीभगवान्‌ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद ! जबतक तुम्हें ब्रह्मत्वकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक तुम सम्पूर्ण संशयोंकी पूर्णतया शान्ति तथा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप फलके लिये विचारपरायण बने रहो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! दैत्यराज प्रह्लादसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। उन विष्णुदेवके अन्तर्हित हो जानेपर प्रह्लादने पूजाके अन्तमें मणि-रत्नोंसे सुशोभित पुष्पाञ्जलि समर्पित की। उस समय उनका चित्त अत्यन्त प्रसन्न था। वे एक श्रेष्ठ आसनपर पद्मासन लगाकर बैठ गये और स्तोत्रपाठ



करते समय अपने हृदयमें यों विचार करने लगे कि आवागमनरूपी संसारका निवारण करनेवाले भगवान्‌ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है कि 'तुम विवेक-विचार-संयुक्त होओ। अतः अब मैं अपने अन्तःकरणमें आत्म विचार करनेमें तत्पर होता हूँ। वृक्ष, तृण और पर्वतोंसे युक्त यह जगत् तो मैं हूँ नहीं; क्योंकि जो बाह्य और अत्यन्त जड है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ। अचेतन शरीर भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि यह असत् होता हुआ भी प्रकट, जड़ होनेके कारण बोलनेमें असमर्थ, प्राण-वायुओंद्वारा अपने संचरणकालमें ही परिचालित और अल्प कालमें ही विनष्ट होनेवाला है। मैं तो केवल वह शुद्ध चेतन ही हूँ, जो ममताहीन, मननरूप मनके व्यापारसे शून्य, शान्त, पाँचों इन्द्रियोंके भ्रमोंसे रहित और मायाके सम्बन्धसे हीन है। यह जो सबका प्रकाशक, बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त, अखण्ड, निर्मल और सत्तामात्र है, वह जड-दृश्यरहित शुद्ध चिन्मय आत्मस्वरूप ही मैं हूँ। यह आत्मा, जो सर्वव्यापक और विकल्प-रहित चिन्मय बोधस्वरूप है, वह मैं ही हूँ। यह आत्मा ही जगत्‌की स्थितिमें निरन्तर अनुभवमें आनेवाले समस्त पदार्थोंका आदि कारण है, परंतु इस आत्माका कोई कारण नहीं है। इसी आत्मासे सारे पदार्थोंका पदार्थत्व उत्पन्न होता है। ये घट-पट आदि आकारवाले सैकड़ों सांसारिक पदार्थ विशाल दर्पणरूप इस चिन्मय शुद्ध आत्मामें प्रतिबिम्बित होते हैं। यह अकेला मैं, जो आदि और अन्तसे रहित तथा सर्वव्यापक हूँ, सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके अंदर आत्मस्वरूपसे स्थित हूँ। मेरा यह साँवला स्वरूप—जो शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला तथा सम्पूर्ण सौभाग्योंकी चरम सीमा है, इस जगत्‌का पालन करता है। जो कमलरूपी आसनपर विराजमान होते हैं और निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर परम सुखका अनुभव करते हैं, उन ब्रह्माके रूपमें मैं ही सदा इस जगत्‌में उत्पन्न होता हूँ। मैं ही त्रिनेत्र-धारी शिव होकर प्रलयकालमें इस जगत्‌का संहार करता हूँ। मैं ही इन्द्ररूपसे मन्वन्तरके क्रमसे प्राप्त हुई इस सम्पूर्ण त्रिलोकीका पालन करता हूँ। यह जो कुछ स्थावर-जंगमरूप जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित वह परम शुद्ध चेतन आत्मरूप मैं ही हूँ। जिसमें अनन्त आनन्दका अनुभव प्राप्त होता है तथा जो परम शान्तिसे सुशोभित एवं शुद्ध है, ऐसी यह चिन्मयी दृष्टि सम्पूर्ण दृष्टियोंसे बढ़कर है। जो शाश्वत एवं विज्ञानानन्दघनरूप है, उस उत्तम साम्राज्यका परित्याग करके मुझे इन अनित्य एवं दुःखरूप राज्य-विभूतियोंमें लेशमात्र भी सुखकी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि ये विभूतियाँ रमणीय नहीं हैं। ऐसे विज्ञानानन्दघन परम पदको छोड़कर मूर्ख ही तुच्छ विषय-भोगोंमें आसक्त होता है, विवेकशील ज्ञानी नहीं। भला, इस परम दिव्यदृष्टिका त्याग करके कौन मनुष्य घृणा करने योग्य तुच्छ राज्यमें आसक्त होगा। जिन्होंने इस उत्तम दृष्टिका परित्याग करके दुःखरूप क्षणभङ्गुर राज्यमें मन लगाया, वे सब-के-सब वास्तवमें मूर्ख ही थे; क्योंकि

कहाँ तो नन्दनवनकी प्रफुल्लित रमणीय वनस्थली और कहाँ संतप्त मरुस्थल ! उसी प्रकार कहाँ तो ये पारमार्थिक शान्त दिव्य ज्ञानदृष्टियाँ और कहाँ देह एवं विषय-भोगोंमें अहंता-ममताबुद्धि ! अर्थात् इनमें आकाश-पातालका अन्तर है। इस त्रिलोकीमें राज्य पाकर भी वास्तविक सुख लेशमात्र भी नहीं मिलता, किंतु मूर्खताके कारण ही मनुष्य उसे चाहता है। उधर जो सर्वव्यापक, स्वस्थ, सम, निर्विकार और सर्वरूप है, उस चेतनका आश्रय ग्रहण करनेसे सम्पूर्ण वास्तविक आनन्द सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहता है। ये जो कोई भी विषयी मनुष्य मोहरूपी जालमें आ फँसे हैं, उनके गिरनेका प्रधान कारण उनकी संकल्प-कल्पना ही है। इसी प्रकार मेरे पितामह आदि पूर्वजोंने भी जो संकल्प-समूहोंसे आवृत और विषयरूपी गर्तमें गिरनेवाले थे, इस बाधारहित परमानन्दस्वरूप आत्मपदका अनुभव नहीं किया। इसीलिये वे भूतलपर इने-गिने दिनोंतक ही स्फुरित होकर गड्ढेमें गिरे हुए क्षुद्र मच्छरोंकी भाँति विनष्ट हो गये। सभी जीव इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूपी मोहसे युक्त होनेके कारण पृथ्वीके छिद्रमें छिपे हुए कीटोंकी समताको प्राप्त हो गये हैं; परन्तु जिसकी अनुकूल और प्रतिकूल कल्पनारूपी मृगतृष्णा सच्चिदानन्द परमात्माके ज्ञानरूपी मेघसे शान्त हो चुकी है, उसीका जीवन धन्य है।

'ॐ' ही जिस सच्चिदानन्द ब्रह्मका सर्वोत्तम नाम है और जो समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित है, वह परमात्मा ही भूतलके समस्त पदार्थोंके रूपमें विराजमान है।* ज्योतिःस्वरूप वह परमात्मा ही सूर्य आदिके अंदर स्थित होकर अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे उन्हें प्रकाशित करता है। वही अग्निको उष्णतायुक्त करता है और जलको रसमय बनाता है। भयरहित वह परमात्मा स्वयं ही प्रकट होता है और ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त जगत्को अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे घुमाता रहता है। वह स्थाणुसे भी बढ़कर नित्य अचल और आकाशसे भी बढ़कर नित्य निर्लेप है। इसीका सदा अन्वेषण, स्तवन और ध्यान करना चाहिये। समस्त प्राणियोंके शरीरोंके अंदर उनके हृदयकमलमें स्थित यह परमात्मा अत्यन्त सुलभ है; क्योंकि हृदयकी थोड़ी-सी भी सच्ची पुकारसे यह तत्क्षण सम्मुख प्रकट हो जाता है। यह परमात्मदेव सभी शरीरोंमें उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे पुष्पोंमें सुगन्ध, तिलकणोंमें तेल और रसयुक्त पदार्थोंमें माधुर्य। परन्तु हृदयमें विद्यमान रहनेपर भी यह चेतन विवेक-विचारके अभावके कारण जाना नहीं जा सकता; विचारणाके द्वारा ही उस परमेश्वरका ज्ञान होता है। उसे भलीभाँति जान लेनेपर प्रियजनके समागमकी तरह परमानन्दकी प्राप्ति होती है। अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाले परमात्मारूपी उस परमप्रेमी बन्धुका दर्शन होनेपर ऐसी ऐसी बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभावसे साधकका परमात्मासे कभी वियोग नहीं होता। उसके सासारिक स्नेहके समस्त बन्धन टूट जाते हैं, काम-क्रोध आदि सारे शत्रु विनष्ट हो जाते हैं और तृष्णाएँ मनको चञ्चल नही कर पातीं। यही परमात्मा आकाशमें शून्यता, वायुमें स्पन्दन, तेजस्वी पदार्थोंमें प्रकाश, जलमें उत्तम मधुरता, पृथ्वीमें कठोरता, अग्निमें उष्णता, चन्द्रमामें शीतलता और सृष्टिसमूहमें सत्तारूपसे स्थित है।

अज्ञानरूपी शत्रुने मेरे विवेक-धनका अपहरण करके उसका सर्वनाश कर डाला था और वह इतने कालतक मुझे कष्ट देता रहा; परंतु इस समय स्वतः उत्पन्न हुई सर्वोत्तम विष्णु-कृपासे मुझे परम तत्त्वका ज्ञान हो गया है, जिससे मैंने उस अज्ञानका परित्याग कर दिया है।

* 'ओमिति ब्रह्म—ॐ ब्रह्म है', 'ओमितीदं सर्वम्—ॐ यह सब कुछ है'; 'एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः—सत्यकाम ! यह पर और अपर ब्रह्म है, जो यह ओंकार है।'

इस समय मैंने उस परम ज्ञानरूपी मन्त्रके बलसे इस अहंकार-पिशाचको शरीररूपी वृक्षके खोखलेसे बाहर निकाल दिया है, जिससे मेरा यह शरीररूपी महान् वृक्ष अहंकाररूपी यक्षसे रहित होकर परम पवित्र हो गया है और प्रफुल्लित वृक्षके समान सुशोभित हो रहा है। विवेकरूपी धनराशिकी प्राप्तिके कारण जब मेरे दुराशारूपी दोष सर्वथा नष्ट हो गये, तब मेरी अज्ञानरूपी दरिद्रता भी पूर्णतया शान्त हो गयी, अतः अब मैं परमेश्वरके रूपमें स्थित हूँ। भगवान्‌की कृपासे मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त हो गया है और मैंने देखने योग्य सभी दृष्टियोंको देख लिया है। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है, जिसके पा लेनेपर कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रह जाता। सौभाग्यकी बात है कि मैं उसी ऊँचो एवं विस्तृत पारमार्थिक भूमिको प्राप्त हो गया हूँ, जिसमें अनर्थोंका नाम-निशान नहीं है. विषयरूपी सर्पोंका अत्यन्त अभाव हो गया है, अज्ञानरूपी कुहरा सर्वथा नष्ट हो गया है, आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है, जिसकी सारी दिशाएँ रजोगुणरूपी धूलसे रहित हो गयी हैं और जिसमें शान्तिरूपी शीतल छायावाला वृक्ष लहलहा रहा है। भगवान् विष्णुकी स्तुति, प्रणाम और प्रार्थना करनेसे तथा शम एवं यम-नियमोंके पालनसे मुझे इन सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हुई है और उन्हींकी कृपासे मैंने परमात्माको स्पष्टरूपसे देखा और समझा भी है। वह अविनाशी एवं अहंकाररहित विज्ञानघन परमात्मा भगवान् विष्णुकी कृपावश चिरकालसे मेरी स्मृतिमें सुदृढरूपसे स्थित हो गया है, जिससे मेरा मोह पूर्णतया शान्त हो गया है, अहंकाररूपी राक्षस नष्ट हो गया है और मैं दुराशारूपी पिशाचिनीसे मुक्त हो गया हूँ; अतः अब मेरा संताप मिट गया है। सबसे बड़े हर्षकी बात तो यह है कि मेरी बहुत-सी दुर्वासनाएँ, जो दुराशाओं तथा दीर्घकालसे दुष्ट देह आदिमें आत्मत्वके अभिमानसे मलिन एवं भयरूपी सर्पोंके लिये हितकारिणी थीं, भगवान्‌के ध्यानसे विनष्ट हो गयी हैं। मैंने सच्चिदानन्दघन परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है और उन्हें भलीभाँति जान भी लिया है। मुझे उनका यथार्थ अनुभव भी हो गया है, इसीलिये उनका नित्य संयोग मुझे प्राप्त है। अब मेरा मन—जिसके विषय-भोग, संकल्प-विकल्प और इच्छाएँ पूर्णतया नष्ट हो गयी हैं, जो अहकारसे सर्वथा मुक्त है, जिसमें आसक्ति और विषय-भोगोंकी उत्कण्ठा लेशमात्र भी नहीं रह गयी है और जो बाहर-भीतरकी चेष्टाओंसे रहित हो गया है, संसारसे उपराम होकर परमात्मामें लीन हो गया है।

यों समस्त पदोंसे उत्कृष्ट आनन्दरूप परमात्मा चिरकालसे मेरी स्मृतिमें स्थित हुए हैं। भगवन्! बड़े सौभाग्यसे आप मुझे उपलब्ध हुए हैं, अतः आप परमात्माके लिये मेरा नमस्कार है। प्रभो! मैं चिरकालसे आपका दर्शन करते हुए प्रणाम करके आलिङ्गन कर रहा हूँ। भला, त्रिलोकीमें आपके अतिरिक्त मेरा परम प्रिय बन्धु और कौन हो सकता है। विश्वको उत्पन्न करनेवाले विभो! आपने अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे सम्पूर्ण विश्वको परिपूर्ण कर रक्खा है, इसी कारण सर्वत्र आपका नित्य अनुभव होता है; अतः आप कहाँ भागकर जा सकते हैं अर्थात् अदृश्य हो सकते हैं। परम प्रिय मित्र! बहुसंख्यक जन्मोंके व्यवधानके कारण अज्ञानवश हम दोनोंमें जो अन्तर प्रतीत होता था, वह अब उस अज्ञानके नाश होनेसे दूर हो गया है और अभेदरूप समीपता प्राप्त हो गयी है। बड़े सौभाग्यसे मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। आप कृतकृत्य, संसारके कर्ता और सबका भरण-पोषण करनेवाले हैं; आपको बारंबार नमस्कार है। आप संसार-वृक्षके कारण, अविनाशी और विशुद्धात्मा हैं; आपको मेरा प्रणाम है। जिनके हाथोंमें चक्र और कमल सुशोभित होते हैं, उन विष्णु-रूप आपको नमस्कार है।

ललाटपर अर्धचन्द्र धारण करनेवाले शिवस्वरूप आपको मैं अभिवादन करता हूँ । कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मारूप आपको प्रणाम है । देवराज इन्द्रके रूपमें विराजमान आपकी मैं वन्दना करता हूँ । भगवन् ! हम दोनोंमें जो यह भेद दृष्टिगोचर हो रहा है, वह समुद्रके जल और उसकी तरङ्गके समान केवल झूठी कल्पना ही है । वस्तुतः हम दोनोंमें कोई भेद है ही नहीं । आप सृष्टिकर्ता, सबके साक्षीरूप और अनन्त रूपोंमें प्रकट होनेवाले हैं; आपको पुनः-पुनः नमस्कार है । सबके आत्मरूप और सर्वव्यापी आप परमात्माको बारंबार प्रणाम है । देव ! मिट्टी, काष्ठ, पत्थर और जलमात्र यह सारा जगत् आपके सिवा और कुछ नहीं है । अर्थात् आपका ही स्वरूप है, अतः आपकी प्राप्ति हो जानेपर फिर किसी अन्य वस्तुके प्राप्त करनेकी इच्छा ही नहीं रह जाती । जिसका वेद-वेदान्तके सिद्धान्त, तर्क और पुराणोंके गीतोंद्वारा वर्णन किया गया है, उस परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर फिर वह कैसे विस्मृत हो सकता है । निर्मल परब्रह्म परमात्मरूप आपका साक्षात्कार हो जानेपर देहके वे सुन्दर विषय-भोग भी आज मेरे हृदयको रुचिकर नहीं लग रहे हैं । आप निर्मल दिव्य ज्योतिःस्वरूप हैं । आपसे ही सूर्यमें प्रकाशकता आयी है और शीतल हिमरूप आपसे ही चन्द्रमाको शीतलताकी प्राप्ति हुई है । आपके ही प्रभावसे ये पर्वत गुरुतासे सम्पन्न हुए हैं और आपने ही इन खेचरोंको धारण कर रक्खा है । आपके ही बलसे यह पृथ्वी अटलरूपसे स्थित है और आपकी ही सत्तासे आकाश आकाशताको प्राप्त हुआ है । बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप मेरे स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं और मैं आपके रूपमें परिणत हो गया हूँ; अतः अब मैं आप हूँ और आप मैं हैं । इसलिये देव ! अब हम दोनोंमें भेद नहीं रह गया है अर्थात् हम एकीभावको प्राप्त हो गये हैं । इसमें भी मेरा सौभाग्य ही कारण है । मेरा आत्मा—जो सम, शुद्ध, साक्षीरूप, निराकार और दिशा-काल आदिसे रहित है, उसीमें आप स्थित हैं । आपका स्वरूप सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है । आपके ही अंदर यह संसार-मण्डल था और रहेगा । काष्ठमें व्याप्त हुई आगकी भाँति आप इस शरीरके अंदर स्थित हैं । आप ही सर्वोत्तम अमृत-स्वरूप रस हैं और तेजस्वी पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले भी आप ही हैं । आप ही पदार्थोंके ज्ञाता और ज्योतियोंके प्रकाश हैं । जैसे सुवर्णमें कड़े, बाजूबंद, केयूर आदि आभूषणोंका आरोप किया जाता है, उसी तरह सांसारिक पदार्थ-समूह आपमें ही आरोपित हैं । आपको प्राप्त कर लेनेपर प्रारब्धानुकूल प्राप्त हुए सुख-दुःखका प्रवाह समूल नष्ट हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यके प्रकाशको पाकर अन्धकारका अथवा गरमीको पाकर हिमका नाम-निशान मिट जाता है । भगवन् ! यह सारा विश्व आपका ही स्वरूप है, आपकी जय हो । आप शान्तिपरायण, सभी प्रमाणोंसे परे और सम्पूर्ण आगमोंद्वारा जानने योग्य हैं; आपकी बारंबार जय हो ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले प्रह्लाद इस प्रकार परमात्माका चिन्तन करते-करते निर्विकल्प परमानन्दस्वरूप परमात्मामें समाधिस्थ हो गये । अपने महलमें यों समाधि-अवस्थामें पड़े हुए दैत्यवंशी प्रह्लादका बहुत-सा समय व्यतीत हो गया । उस समय यद्यपि असुरश्रेष्ठोंने उन्हें जगानेकी बहुत चेष्टा की, तथापि असमयमें उन महाबुद्धिमान्की समाधि भङ्ग न हुई । यों निश्चल ब्रह्मस्वरूप एवं शान्त हुए प्रह्लाद बाह्यदृष्टिशून्य होकर हजारों वर्षोंतक उस दैत्यनगरीमें समाधिस्थ पड़े रहे । उस समय हिरण्यकशिपु मर चुका था और उसके पुत्र प्रह्लाद समाधिस्थ हो गये थे; अतः जब पातालमें कोई अन्य राजा नहीं रह गया, तब दानवोंको अपने अधिपतिका अभाव खटकने लगा । इसलिये उन्होंने प्रह्लादको समाधिसे जगानेके लिये घोर



प्रयत्न किया, परन्तु वे नहीं जगे। तब उस राजारहित नगरमें बलवान् दैत्य लुटेरोंकी तरह स्वेच्छानुसार लूट-पाट करने लगे, जिससे उद्विग्न होकर अन्य दैत्य अपनी अभीष्ट दिशाओंमें भाग गये। उस अराजकताके कारण पातालल्लोक चिरकालके लिये मात्स्यन्यायसे* अस्त-व्यस्त और मर्यादारहित हो गया। वहाँ बलवानोंने दुर्बलोंके नगर छीन लिये। मर्यादाके क्रमका सर्वथा विनाश हो गया। सभी लोग स्त्रियोंको पीड़ा पहुँचाने लगे। पुरुषोंके प्रलाप और रोदनके शब्द चारों ओर व्याप्त हो गये। लोगोंने एक दूसरेके वस्त्र छीन लिये। नगरका मध्यभाग खँडहरके रूपमें परिणत हो गया और क्रीडोद्यान नष्ट-भ्रष्ट हो गये। सारा राज्य व्यर्थके अनर्थोंसे पीड़ित हो गया। दिशाएँ धूलसे व्याप्त हो गयीं। अन्न, फल और बन्धु-बान्धवोंका अभाव हो गया। इस प्रकार आकस्मिक उत्पातसे विवश होकर सारा असुर-समुदाय चिन्ताग्रस्त हो गया। उस समय वह असुर-मण्डल भयसे उद्विग्न हो गया था। वहाँ स्त्रियाँ, धन, मन्त्र और युद्ध मर्यादा-हीन हो गये थे। जिनके धन और स्त्रियोंका अपहरण हो गया था, उनका करुण-क्रन्दन चारों ओर गूँज रहा था, जिससे वह दैत्य-समाज कलियुग आनेपर लूट-पाट करनेवाले क्रूर लुटेरों-सा जान पड़ता था।

राघव! तदनन्तर एक बार शेषशय्यापर विराजमान शत्रुसूदन श्रीहरि, जो लीलापूर्वक सम्पूर्ण जगत्‌का पालन करते हैं, देवताओंकी प्रयोजन-सिद्धिके लिये अपनी बुद्धिसे सांसारिक स्थितिका निरीक्षण करने लगे। पहले उन्होंने मन-ही-मन स्वर्गलोकका अवलोकन करके तत्पश्चात् भूतलवासियोंके आचरणोंका निरीक्षण किया। फिर वे मनसे ही शीघ्र दैत्योंद्वारा सुरक्षित पातालल्लोकमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि दानवराज प्रह्लाद अटल समाधिमें स्थित हैं, जिससे अमरावतीपुरीमें सम्पत्तिकी भरपूर वृद्धि हो गयी है। तब जो शेषशय्यापर पद्मासन लगाकर बैठे थे तथा जिनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा सुशोभित हो रहे थे, उन भगवान् नारायणके मनमें ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि मैं रसातलमें जाकर दानवराज प्रह्लादको उसके कर्ममें पहलेकी तरह उसी प्रकार स्थापित करूँगा, जैसे वसन्त ऋतु वृक्षको पुनः उसकी पूर्व दशामें ला देती है। यदि मैं प्रह्लादके अतिरिक्त किसी दूसरेको दानवराजके पदपर स्थापित करता हूँ तो वह निश्चय ही देवताओंपर आक्रमण कर देगा। साथ ही प्रह्लादका यह अन्तिम शरीर परम पावन है। वह इसी शरीरसे कल्पपर्यन्त यहाँ निवास करेगा; क्योंकि परमेश्वरकी नियति देवीने ऐसा ही निश्चित किया है कि प्रह्लादको इसी शरीरसे यहाँ एक कल्पतक रहना चाहिये। इसलिये मैं वहाँ जाकर दैत्यराज प्रह्लादको ही जगाऊँगा, जिससे वह जीवन्मुक्तों-की समाधिमें स्थित होकर दैत्याधिपत्यको ग्रहण करे।

* बलवान् बड़ा मत्स्य अपनेसे छोटे निर्बल मत्स्योंको निगल जाता है, इसीको 'मात्स्यन्याय' कहते हैं।

निश्चय ही हम मर्यादारहित दस्युओंके अत्याचारसे भयानक उस पातालमें जाकर दैत्यराज प्रह्लादको समाधिसे विरत करेंगे और इस सम्पूर्ण जगत्‌को पूर्ववत् स्वस्थ बनायेंगे। (सर्ग ३४–३८)

भगवान् विष्णुका पातालमें जाना और शङ्खध्वनिसे प्रह्लादको प्रबुद्ध करके उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश देना, प्रह्लादद्वारा भगवान्‌का पूजन, भगवान्‌का प्रह्लादको दैत्यराज्यपर अभिषिक्त करके कर्तव्यका उपदेश देकर क्षीरसागरको लौट जाना, आख्यानका उत्तम फल, जीवन्मुक्तोंके व्युत्थानका हेतु और पुरुषार्थकी शक्तिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वत्स राम! यों विचारकर सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और लक्ष्मी आदि पार्षदोंके साथ अपने नगर क्षीरसागरसे चल पड़े। वे उसी क्षीरसागरके तलेके छिद्रसे निकलकर प्रह्लादके नगरमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्वर्णमय महलके मध्यमें स्थित असुरराज प्रह्लादको देखा। भगवान् विष्णुके तेजसे प्रभावित होकर वहाँका सारा दैत्य-समुदाय धूलकी तरह उड़कर उसी प्रकार अदृश्य हो गया, जैसे सूर्यकी किरणोंसे भयभीत होकर उलूक छिप जाते हैं। तब अपने परिवारसहित श्रीहरिने दो-तीन प्रधान-प्रधान असुरोंको साथ लेकर प्रह्लादके महलमें प्रवेश किया। उस समय वे गरुड़की पीठपर सवार थे। लक्ष्मीजी उनपर चँवर डुला रही थीं। वे शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने (सजीव) आयुधोंसे घिरे हुए थे, और देवर्षि तथा मुनि उनकी वन्दना कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर भगवान् विष्णुने 'महात्मन्! समाधिका त्याग करके उठो' यों कहते हुए अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया, जिसकी ध्वनिसे सारी दिशाएँ गूँज उठीं। विष्णु-भगवान्‌के बलपूर्वक फूँकनेसे उस शङ्खसे ऐसा घोर शब्द प्रकट हुआ, जो प्रलयकालमें एक साथ परिक्षुब्ध हुए मेघों और सागरोंकी गर्जनाके समान वेगशाली था। उस शब्दसे भयभीत होकर असुर-समूह भूमिपर गिर पड़े और विष्णुभक्त भयरहित होकर आनन्दपूर्वक हर्ष मनाने लगे। प्रह्लादके शरीरमें प्राण और अपानका संचार होनेसे नाडिविवरोंमें संवेदन आरम्भ हो गया। फिर तो जैसे वायुसे पीडित होकर कमल चञ्चल हो जाता है, उसी तरह उनका शरीर स्पन्दनयुक्त हो गया तथा नेत्र, मन, प्राण और शरीर—सभी विकसित हो गये। इस अवसरपर भगवान् श्रीहरिने ज्यों ही 'जागो' ऐसा कहा, त्यों ही वह सचेत हो गया। तब कल्पके आदिमें जैसे त्रिलोकेश्वर भगवान् कमलयोनि ब्रह्मासे कहते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिने प्रह्लादसे—जिसके नेत्र प्रफुल्लित हो गये थे, जिसे 'मैं प्रह्लाद हूँ' ऐसी पहचान हो चुकी थी और जिसकी पूर्वस्मृति सुदृढ़ हो गयी थी—यों कहना प्रारम्भ किया—

'साधो! अब उठो, शीघ्र उठो और इस विशाल दैत्य-राज्यलक्ष्मीका तथा अपने स्वरूपका स्मरण करो। अनघ! तुम तो जीवन्मुक्त हो, अतः राज्यशासन करते हुए ही उद्वेगरहित होकर अपने इस शरीरको कल्पान्तपर्यन्त कर्मोंमें प्रेरित करते रहो। प्रलयके समय जब इस शरीरका नाश हो जायगा, तब तुम निरतिशय सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें निवास करोगे—ठीक उसी तरह, जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाश महाकाशमें विलीन हो जाता है। तुम्हारी यह शुद्ध देह कल्पान्ततक स्थिर रहनेवाली है, लोकके ऊँच-नीच व्यवहारोंका अनुभव कर चुकी है और जीवन्मुक्तिसे सुशोभित है। मैं गरुडपर सवार होकर स्वेदज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज—चारों प्रकारके प्राणियोंसे व्याप्त तथा सूर्य आदिके प्रकाशसे उद्भासित दसों दिशाओंमें विचरता रहता हूँ। ऐसी परिस्थितिमें तुम इस शरीरका

परित्याग मत करो। ये हमलोग हैं। ये पर्वत हैं। ये प्राणी हैं। यह तुम हो। यह जगत् है। यह आकाश है। ये सभी जब प्रलयपर्यन्त रहनेवाले हैं, तब तुम भी तबतक इस शरीरको क़ायम रक्खो। जिसकी बुद्धि स्वात्मतत्त्वके विचारसे ऊबती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानीका जीवन शोभा देता है। जिसका अहंभाव नष्ट हो गया है और जिसकी बुद्धि स्वार्थमें लिप्त नहीं है तथा जिसका सम्पूर्ण पदार्थोंमें समभाव है, उसका जीवन सुन्दर है। जो राग-द्वेषविहीन अतएव अन्तःशीतल बुद्धिसे साक्षी की भाँति इस जगत्को देखता है, उसीके जीवनकी शोभा होती है। जो सत्य दृष्टिका अवलम्बन करके वासना-रहित होकर लीलापूर्वक इस जगत्-व्यवहारको करता है, उसका जीवन धन्य है। जो लोकव्यवहार करता हुआ भी न तो अनुकूलकी प्राप्तिसे अन्तःकरणमें प्रसन्नताका अनुभव करता है और न प्रतिकूलकी प्राप्ति होनेपर उद्विग्न होता है, उसीका जीवन प्रशंसनीय है। जिसके गुणोंके सुननेपर, स्वरूपका दर्शन करनेपर और जिसकी याद आ जानेपर प्राणियोंको आनन्द प्राप्त होता है, उसीका जीवन सार्थक है।

''असुरेश! इस वर्तमान देहकी स्थिरताको लोग जीवन कहते हैं और देहान्तरकी प्राप्तिके लिये इसके परित्यागको मरण कहा गया है; किंतु महामते! तुम तो इन दोनों ही जन्म-मरणरूप पक्षोंसे रहित हो, अतएव इस लोकमें वस्तुतः न तो तुम्हारा जन्म है और न मरण ही। शत्रुसूदन! यह सब तो मैंने तुम्हें समझानेके लिये कहा है। सर्वज्ञ! तुम्हारा तो न कभी जन्म होता है और न तुम कभी मरते ही हो; क्योंकि तुम तो देहदृष्टिसे सर्वथा रहित हो, इसी कारण देहमें स्थित रहते हुए भी तुम विदेह हो। तुम्हें परमात्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो गया है, अतएव तुम प्रबुद्ध हो गये हो। भला, प्रबुद्ध हुए पुरुषोंका शरीरसे क्या सम्बन्ध है? यह परिच्छिन्न देह तो केवल अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही है अर्थात् 'देह मैं हूँ' ऐसा अभिमान अज्ञानियोंको ही होता है। तुम्हारी बुद्धि तो सर्वदा एकमात्र परमात्मामें ही लीन रहती है, अतएव तुम चिदाकाशसे संयुक्त हो। इसीलिये सब कुछ तुम्हीं हो। तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष प्रलयकालमें उत्पातसूचक वायुओंके बहनेपर, प्रलयाग्निके धधकने तथा पर्वतोंके ढह जानेपर भी नित्य परमात्मामें ही स्थित रहता है। संसारके सभी प्राणी स्थित रहें अथवा सब-के सब चले जायँ, उनका विनाश हो जाय अथवा उनकी वृद्धि हो, तत्त्वज्ञानी तो परमात्मामें ही स्थित रहता है, उससे विचलित नहीं होता। परमात्मा इस शरीरका विनाश हो जानेपर न तो नष्ट होता है, न इसके वृद्धिंगत होनेपर बढ़ता है और न इसके चेष्टा करनेपर चेष्टाशील ही होता है। तब 'इस देहको धारण करनेवाला देही मैं हूँ' चित्तके ऐसे अज्ञानके नष्ट हो जानेपर 'मैं इसका त्याग करता हूँ अथवा नहीं करता' ऐसी निरर्थक कल्पना क्यों उत्पन्न होती है? तात! जिन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है, उनके हृदयमें 'मैं इस कार्यको समाप्त करके इसे करूँगा और इसका त्याग करके इसे छोड़ूँगा' ऐसे संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। ज्ञानी पुरुष इस जगत्में शास्त्रोक्त सारे कर्मोंको करते हुए भी कुछ नहीं करते और उनका कभी भी अनुष्ठान न करनेपर वे सदा अकर्तारूपसे ही स्थित रहते हैं। इस प्रकार संसारमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका उपशम हो जानेपर एकमात्र शान्ति ही शेष रह जाती है और वही शान्ति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब विद्वान्लोग उसे मुक्ति नामसे पुकारते हैं। ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्धका विनाश होनेपर परम शान्तिका उदय होता है। वही शान्ति जब स्थिरताको प्राप्त हो जाती है, तब मोक्ष नामसे कही जाती है। जिनका चित्त परमात्मामें ही संलग्न है, ऐसे ज्ञानीजन संसारके रमणीय विषयभोगोंके प्राप्त होनेपर न तो प्रसन्न होते हैं और न मनके विपरीत

दुःखोंके आ पड़नेपर उद्विग्न ही होते हैं । अर्थात् सुख-दुःखमें उनकी समान स्थिति रहती है । महात्मन् ! तुम परमात्माके परमपदमें स्थित होकर ब्रह्माके एक दिन (इस कल्पके अन्त) तक इस पातालमें ही विविध गुणोंसे युक्त राज्यलक्ष्मीका उपभोग करके अविनाशी परमपदको प्राप्त होओ ।"

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं —रघुनन्दन ! जब जगद्-रूपी रत्नोंके आकर तथा त्रैलोक्यरूपी अद्भुत पदार्थोंको प्रदर्शन करनेवाले भगवान् विष्णुने चन्द्रकिरण-सदृश शीतल वाणीद्वारा इस प्रकार कहा, तब जिसके नेत्र-कमल आनन्दवश प्रफुल्लित हो उठे थे तथा जिसने मननक्रम ग्रहण कर लिया था, उस धैर्यशाली प्रह्लाद नामक देहने हर्षपूर्वक यों कहना आरम्भ किया ।

प्रह्लादने कहा -भगवन् ! आपकी कृपासे मुझे तत्त्वज्ञानद्वारा भलीभाँति स्वरूपावस्थिति प्राप्त हो गयी है, जिससे मैं समाधि अथवा व्युत्थानावस्था—दोनोंमें वास्तविकरूपसे सदा ही सम हूँ । देवाधिदेव ! मैंने चिरकालतक विशुद्ध बुद्धिद्वारा अपने हृदयमें आपका साक्षात्कार किया है । देव ! सौभाग्यकी बात है कि अब पुनः बाहर नेत्रोंसे भी आपका प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ । महेश्वर ! मैं जो समस्त संकल्पोंसे रहित इस अनन्त दृष्टिमें स्थित था, वह शोक, मोह, वैराग्य-चिन्ता, देहत्यागके प्रयोजन अथवा संसारके भयसे नहीं था; क्योंकि जब एक ही विज्ञानानन्दघन परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है, तब शोक, हानि, देह, संसार, स्थिति और भय-अभय कहाँसे प्राप्त होंगे । परंतु परमेश्वर ! 'हाय ! मैं विरक्त हो गया हूँ, अतः इस संसारका त्याग करता हूँ' इस प्रकारकी अज्ञानियोंद्वारा की गयी चिन्ता हर्ष-शोकरूप विकार उत्पन्न करनेवाली होती है । यह सुख है, यह दुःख है; यह मेरा है, यह मेरा नहीं है—यों द्विविधाग्रस्त चित्त मूर्खका ही विनाशक होता है, पण्डितका नहीं । मैं अन्य हूँ और यह अन्य है—ऐसी वासना इस जगत्में उन अज्ञानी प्राणियोंको ही प्रभावित करती है, जो तत्त्वज्ञानसे बहुत दूर हैं । कमललोचन ! जब सभी प्राणियोंमें आत्मरूपसे आप ही व्याप्त हैं, तब ग्रहण-त्यागके पक्षका अवलम्बन करनेवाली कल्पना कहाँसे हो सकती है । देवेश्वर ! समाधिकालमें तो मैं भाव-अभावसे परे रहकर ग्रहण-त्यागसे रहित था; परंतु इस समय प्रबुद्ध होकर वही कार्य करनेके लिये उद्यत हूँ, जो आपको रुचिकर है । भगवन् ! आप तो वे ही पुण्डरीकाक्ष नारायण हैं, जिनकी तीनों लोकोंमें पूजा होती है; अतः मेरेद्वारा स्वभावतः प्राप्त हुई पूजाको ग्रहण कीजिये । यों कहकर दानवराज प्रह्लादने उन भुवनाधिपति भगवान् गोविन्दकी—जिनके अंदर त्रिलोकी वर्तमान थी तथा जो शङ्ख-चक्र आदि आयुधों, अप्सरा-समूह, देवगण और पक्षिराज गरुडके साथ सामने खड़े थे—पूजा की । पूजोपरान्त चरणोंमें पड़े हुए प्रह्लादसे भगवान् लक्ष्मीपतिने कहा ।

श्रीभगवान् बोले—दानवाधीश ! उठो और तबतक इस सिंहासनपर बैठे रहो, जबतक मैं शीघ्र स्वयं अपने हाथसे ही तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ । साथ ही पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि सुनकर जो ये साध्य, सिद्ध और देवगण यहाँ आये हुए हैं, ये सब-के-सब तुम्हारी मङ्गलकामना करें । यों कहकर कमलनयन भगवान् नारायणने प्रह्लादको सिंहासनपर बैठा दिया । तदनन्तर अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न श्रीहरिने समस्त महर्षि-समुदाय, सारे सिद्धगण, विद्याधर और लोकपालोंको साथ लेकर इन महान् असुर प्रह्लादको आवाहन किये गये क्षीराब्धि आदि महासागरों, गङ्गा आदि सरिताओं और सम्पूर्ण तीर्थोंके जलसे सींचकर दैत्यराज्यको उसी प्रकार अभिषिक्त कर दिया, जैसे पूर्वकालमें देवगणोंद्वारा स्तुति किये जाते हुए इन्द्रका स्वर्गलोकके राज्यपर अभिषेक किया था । उस समय अभिषिक्त हुए प्रह्लादकी देवता और असुर—

सभी स्तुति कर रहे थे। तब सुरासुरवन्दित भगवान् मधुसूदन उनसे इस प्रकार बोले।

श्रीभगवान्‌ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद! जबतक सुमेरुगिरि, पृथ्वी तथा सूर्य और चन्द्रमाका मण्डल कायम रहेगा, तबतक तुम राज्य करोगे और तुम्हारे समस्त गुणोंकी प्रशंसा होगी। तुम राग, भय और क्रोधसे रहित होकर इष्ट-अनिष्ट फलोंका परित्याग करके समतायुक्त बुद्धिसे इस राज्यका भलीभाँति पालन करो। शत्रु-प्रजा आदिके ऊपर निग्रह-अनुग्रह आदि यथावसर प्राप्त हुई दृष्टियोंसे देश, काल और क्रियाके अनुरूप प्राप्त हुए कर्तव्यका तुम न्यायपूर्वक पालन करो और राग-द्वेष आदि विषमताका त्याग करके समबुद्धि बने रहो। आत्मा देहसे अतिरिक्त है—इस भावसे लाभ-हानिमें सम तथा इदंता ममतासे रहित कार्य करते हुए भी तुम इस जगत्‌में बन्धनको नहीं प्राप्त होओगे। जगद्‌व्यवहारको तो तुमने देख ही लिया है और उस अनुपम परमपदका अनुभव भी तुम्हें प्राप्त हो गया है। इस प्रकार तुम्हें देश-कालानुरूप सभी वस्तुएँ ज्ञात हैं। अब दूसरा और क्या उपदेश दिया जाय। अर्थात् व्यवहार और परमार्थ—दोनोंमें तुम कुशल हो, अतः अब तुम्हें उपदेशकी आवश्यकता नहीं है। राग, भय और क्रोधसे रहित तुम्हारे राजा होनेपर अब देवताओं-द्वारा प्राप्त दुःख न तो असुरोंमें टिक सकेगा और न उनका संहार ही कर सकेगा। आजसे देवताओं और दानवोंका युद्ध नहीं होगा, जिससे जगत् स्वस्थ हो जायगा।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वत्स राम! प्रह्लादसे ऐसा कहकर कमलनयन भगवान् नारायण देवता, किंनर और मनुष्योंके साथ उस दैत्यसदनसे चल पड़े। उस समय प्रह्लाद आदि असुर पीछेसे उनपर अञ्जलि भर-भरकर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे, जिससे गरुडके पंखका पिछला भाग पुष्पोंसे आच्छादित हो गया। इस प्रकार क्रमशः चलते हुए वे क्षीरसागरके तटपर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देवगणोंको विदा कर दिया और स्वयं शेषशय्यापर स्थित हो गये। इस प्रकार शेषशय्यापर विष्णु, स्वर्गलोकमें देवताओंसहित इन्द्र और पातालमें दानवराज प्रह्लाद—तीनों संतापरहित होकर स्थित हुए। श्रीराम! प्रह्लादकी ज्ञान-प्राप्ति सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाली तथा अमृतके समान शीतल है। उसका वर्णन मैंने तुम्हें सुना दिया। संसारमें जो मनुष्य—चाहे वे घोर-से घोर पातकी ही क्यों न हों—विवेकपूर्वक उसका विचार करेंगे, वे शीघ्र ही परमपदको प्राप्त हो जायँगे। अज्ञान ही पाप कहलाता है और उस अज्ञानका नाश विवेकपूर्वक विचार करनेसे होता है; इसलिये पापका समूल विनाश करनेवाले विचारका परित्याग नहीं करना चाहिये। प्रह्लादकी इस सिद्धिका विवेक-पूर्वक विचार करनेवाले लोगोंके पूर्वके सात जन्मोंमें किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं—इसमें संशय नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! महामनस्वी प्रह्लादका मन तो परमपदमें तल्लीन था, वह पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि सुनकर कैसे प्रबुद्ध हुआ? यह बतानेकी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निर्दोष स्वरूपवाले राम! लोकमें दो प्रकारकी मुक्ति होती है—एक सदेहमुक्ति अर्थात् जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। इन दोनोंका विभाग इस प्रकार है, सुनो। जिस अनासक्त बुद्धिवाले पुरुषकी इष्टानिष्ट कर्मोंके ग्रहण-त्यागमें अपनी कोई इच्छा नहीं रहती अर्थात् जिसकी इच्छाका सर्वथा अभाव हो गया है, ऐसे पुरुषकी स्थितिको तुम जीवन्मुक्त-अवस्था—सदेहमुक्ति समझो। फिर देहका विनाश होनेपर पुनर्जन्मसे रहित हुई वही जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति कही गयी है। श्रीराम! जिन्हें विदेहमुक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, वे फिर जन्म धारण करके दृश्यताको नहीं प्राप्त होते—ठीक उसी तरह, जैसे भुना हुआ

बीज जमता नहीं है । महाबाहु राम ! प्रह्लादके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वमयी वासना स्थित थी, वह शङ्खध्वनि होते ही उद्‌बुद्ध हो उठी । अपनी उसी वासनासे प्रह्लादको बोध प्राप्त हुआ था । श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं, इसलिये उनके मनमें जैसा संकल्प होता है, वह शीघ्र ही उसी रूपमें मूर्त हो जाता है; क्योंकि परमात्मा ही सबके कारण हैं । भगवान् वासुदेवने ज्यों ही ऐसा संकल्प किया कि प्रह्लाद प्रबुद्ध हो जाय, त्यों ही वह क्षणमात्रमें उठ बैठा । अर्थात् भगवान्‌के संकल्पसे ही प्रह्लाद पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनिसे प्रबुद्ध हो गया । भगवान् वासुदेवने निजी स्वार्थके बिना ही प्राणियोंके कल्याणके हेतु अपने आत्मामें ही जगत्‌की सृष्टिके लिये विष्णुरूपसे शरीर धारण किया है । परमात्माके साक्षात्कारसे शीघ्र ही भगवान् माधवका दर्शन प्राप्त हो जाता है और उन माधवकी आराधनासे शीघ्र ही निर्गुण-निराकार परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं; अतः आपके शुद्ध वचनरूपी किरणोंसे हम उसी प्रकार आह्लादित हुए हैं, जैसे चन्द्रमाकी रश्मियोंके स्पर्शसे अनाजके पौधे प्रफुल्लित हो जाते हैं । परंतु गुरुदेव ! यदि पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न करनेसे ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है तो भगवान् माधवके वरदान बिना प्रह्लाद अपने पुरुषार्थसे ही क्यों नहीं प्रबुद्ध हुआ ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! महामनस्वी प्रह्लादने जिन-जिन पदार्थोंको प्राप्त किया था, वे सभी उसे अपने पुरुषार्थसे ही मिले थे । उनकी प्राप्तिमें दूसरा कोई कारण नहीं है । (क्योंकि प्रह्लादने परम पुरुषार्थसे जो भक्ति की, उसीसे भगवान्‌ने उनको वर दिया; इसलिये भगवान्‌का वर मिलना भी अपना पुरुषार्थ ही है ।) जो विष्णु है, वही सबका आत्मा है और जो सबका आत्मा है, वही विष्णु है । इस प्रकार पुष्प और उसकी सुगन्धकी भाँति आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं । पहले-पहल प्रह्लाद नामक आत्मा ही अपने-आप अपनी परम शक्तिसे ही विष्णुभक्तिमें नियुक्त हुआ । फिर उसने स्वात्मभूत विष्णुसे ही स्वयं यह वर प्राप्त किया और स्वयं ही अपने मनको विचारशील बनाकर स्वयं ही आत्मज्ञान प्राप्त किया । इस प्रकार कभी तो आत्मा अपने आप ही अपनी शक्तिसे प्रबुद्ध हो जाता है और कभी भक्तिरूपी प्रयत्नसे प्राप्त होनेवाले विष्णुरूपसे प्रबोधित किया जाता है । इसलिये किसीको जहाँ-कहीं भी जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब उसे अपनी सामर्थ्यरूप प्रयत्नसे ही मिलता है; कहीं भी किसी अन्य कारणसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

(सर्ग ३९–४९)

मायाचक्रका निरूपण, चित्तनिरोधकी प्रशंसा, भगवत्प्राप्तिकी महिमा, मनकी सर्प और विषवृक्षसे तुलना, उद्दालक मुनिका परमार्थ-चिन्तन

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जो भगवत्प्राप्तिके साधनरूप सम्पूर्ण अङ्गोंका उच्छेदक तथा यों वेगपूर्वक घूमता रहता है, उस मायाचक्रका निरोध कैसे किया जाय ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! यह संसाररूपी मायाचक्र नित्य भ्रमणशील तथा भ्रान्तिदायक है । तुम चित्तको इस चक्रकी महानाभि समझो । जब पुरुष प्रयत्नपूर्वक बुद्धिद्वारा इस चित्तको स्तम्भित कर देता है, तब जिसकी नाभि पकड़ ली गयी है, ऐसा यह मायाचक्र शीघ्र ही आगे बढ़नेसे रुक जाता है । इस चित्त-निरोधरूपी युक्तिके बिना आत्माको अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति हो रही है, परंतु इस उपर्युक्त दृष्टिके प्राप्त होनेपर तुम सारे-के-सारे दुःखोंको क्षणमात्रमें नष्ट हुआ ही

समझो। यह संसार एक महाभयंकर रोग है। चित्त-निरोध ही इस रोगकी परमोत्तम औषध है। इस औषधके अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्नसे उस व्याधिकी शान्ति नहीं होती। जैसे घड़ेके भीतर घटाकाश रहता है, परंतु घड़ेके नष्ट होनेपर घटाकाश नहीं रह जाता, उसी तरह यह संसार चित्तके अंदर ही है, अतः चित्त-का नाश होनेपर संसार भी विनष्ट हो जाता है। यह चित्त जब भूत और भविष्यके पदार्थोंका चिन्तन न करके वर्तमान समयका बाह्य बुद्धिद्वारा अनायास ही उपयोग करने लगता है, उसी क्षण अचित्तताको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि चित्तकी वृत्तियाँ तभीतक रहती हैं जबतक संकल्पकी कल्पना बनी रहती है—ठीक उसी तरह, जैसे जबतक मेघका विस्तार रहता है, तभीतक आकाशमें जलके अणु वर्तमान रहते हैं। संकल्प-कल्पना भी तभीतक रहती है, जबतक चेतन जीवात्मा मनके साथ है। रघुनन्दन! यदि ऐसी भावना की जाय कि चेतन जीवात्मा मनसे पृथक् है तो जैसे सिद्ध पुरुषोंमें मूल अविद्यासहित वासनाओंका ज्ञानद्वारा जलकर अत्यन्ताभाव हो जाता है, उसी तरह तुम अपने संसारके मूलों—वासनाओंको मूलाविद्यासहित जलकर भस्म हुआ ही समझो। चित्तसे शून्य हुआ चेतन प्रत्यक्‌चेतन अर्थात् शुद्ध आत्मा कहा जाता है। वास्तवमें तो निर्मनस्क रहना उसका स्वभाव ही है; क्योंकि उसमें संकल्परूपी मल नहीं है। वह शुद्ध आत्मा ही वास्तवमें सत्यता है; वही कल्याणरूपता सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्था, सर्वज्ञता और वास्तविक दृष्टि है। किंतु जिस समय उसका विनाशशील मनके साथ संयोग बना रहता है, उस समय उसकी उपर्युक्त स्थिति नहीं रहती; क्योंकि जहाँ मन रहता है, वहाँ उसके संनिकट अनेक प्रकारकी आशाएँ और सुख-दुःख उसी प्रकार सदा आते रहते हैं, जैसे श्मशानभूमिमें कौए मँडराया करते हैं। परंतु जब परमार्थ वस्तुरूप परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तब उस पुरुषके मनके संकल्पमें आशा आदि सम्पूर्ण भावोंकी व्यवस्थापिका संसाररूपी लताका बीज उत्पन्न ही नहीं होता; क्योंकि उस समय उसका मन भुने हुए बीजके समान हो जाता है। शास्त्राध्ययन और सज्जनों-की संगतिका निरन्तर अभ्यास करनेसे सांसारिक पदार्थों-की अवास्तविकताका ज्ञान होता है, अर्थात् जगत्‌के पदार्थ वास्तवमें असत् हैं—ऐसा अनुभव होता है। इसलिये निश्चयपूर्वक परम प्रयत्नके साथ मनको अविवेकसे हटाकर उसे बलात्कारसे शास्त्राध्ययन और सत्पुरुषोंके सङ्गमें लगाना चाहिये; क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार होनेमें, शुद्ध आत्मा ही प्रधान कारण है।

श्रीराम! अपना आत्मा ही अपनेद्वारा अनुभूत दुःखों-को त्याग देनेकी इच्छा करता है, अतएव परमात्माका साक्षात्कार होनेमें एकमात्र शुद्ध आत्मा ही मुख्य हेतु कहा गया है। इसलिये तुम बोलते हुए, त्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए तथा आँखोंको खोलते और मींचते हुए भी अचिन्त्य, अनन्त, नित्यविज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित रहो। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और वृद्धावस्थामें, दुःखोंमें, सुखोंमें तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंमें तुम सदा-सर्वदा अपने वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूपमें बने रहो। जो आत्मज्ञानसम्पन्न एवं अमृत-स्वरूप परमार्थ-तत्त्वका अनुभव करनेवाला है, उसके लिये हलाहल विष भी अमृतके समान फलदायक हो जाता है। जिस समय निर्मल एवं अखण्ड चैतन्यका ज्ञान नहीं रहता, उस समय संसाररूपी भ्रमका कारण-स्वरूप महामोह वृद्धिको प्राप्त होता है और जब उस निर्मल एवं अखण्ड सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब संसार-भ्रमका कारणभूत मोह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। श्रीराम! जो अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्ममें स्थित होकर अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूपका साक्षात्कार करनेवाला है, उसके लिये स्वादिष्ट रसायन

भी विष-तुल्य हो जाता है। परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला महापुरुष समस्त प्रकाशोंमें, सभी प्रभावोंमें, समस्त बलवानोंमें, सम्पूर्ण महान् व्यक्तियोंमें तथा सभी उन्नतिशाली मनुष्योंमें परम उन्नत होता है। जिस परमात्माकी प्रभासे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारे आदि प्रकाशित होते हैं, उस जगदीश्वरका जिन महापुरुषोंको ज्ञान हो गया है, वे भी सूर्यादिकी भाँति जगत्में सुशोभित होते हैं। परंतु श्रीराम! जो मानव परमात्मविषयक ज्ञानसे हीन हैं, वे पृथ्वीके दरारोंमें रहनेवाले कीड़ों, गदहों एवं अन्य तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए जीवोंसे भी अत्यन्त तुच्छ माने जाते हैं। आत्मज्ञानविहीन पुरुषकी सारी चेष्टाएँ दुःखदायिनी होती हैं। वह भूतलपर चलता-फिरता हुआ भी मुर्दा ही है। इसलिये आत्मज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह भोगोंके रसोंमें आसक्त न होते हुए उनके उपभोगके तिरस्कारद्वारा मनको अत्यन्त सूखे हुए पत्तेके समान समयानुसार धीरे-धीरे कृश बना डाले; क्योंकि यह मन अनात्मामें आत्मभाव, देहमात्रमें ऐसी आस्था, पुत्र, कलत्र और कुटुम्बकी ममता, अहंकारके विकास, ममतारूपी मलमें सने रहना, 'यह मेरा है' ऐसी भावना, जरा-मरणरूपी दुःख, व्यर्थ ही उन्नतिको प्राप्त हुए काम-क्रोधादि दोषरूपी सर्पोंके बिलरूप संसारकी ममता, आधि-व्याधिकी अभिवृद्धि, संसारकी रमणीयतामें विश्वास, हेयोपादेयके प्रयत्न, स्त्री-पुत्र आदिके प्रति स्नेह तथा रत्नों और स्त्रियोंके आपातरमणीय लाभसे उत्पन्न हुए धनके लोभसे स्थूलताको प्राप्त होता है। यह चित्त सर्पके समान है, जो दुराशारूपी दूधके पीनेसे, भोगरूपी वायुके बलसे, आदरप्रदानसे तथा नाना प्रकारके विषयोंमें संचरण करनेसे मोटा-ताजा हो जाता है। आना और जाना—उत्पत्ति विनाश ही जिनका स्वरूप है तथा जो विषकी विषमताको सूचित करनेवाले हैं, ऐसे भीषण भोगोंका उपभोग करनेसे चित्त स्थूलभावको प्राप्त हो जाता है।

राघव! यह चित्त विषवृक्षके समान है, जो चिरकालसे शरीररूपी बुरे गड्ढेमें उगा हुआ है। आशाएँ ही इसकी विशाल शाखाएँ और विकल्प ही इसके पत्ते हैं। अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ ही इसकी लंबी-लंबी मञ्जरियाँ हैं। कामोपभोगोंके समूह ही इसमें खिले हुए पुष्प हैं। यह जरा-मरण और व्याधिरूपी फलोंके भारसे झुका हुआ है। इस पर्वताकार अद्भुत वृक्षको तुम निश्शङ्क होकर हठपूर्वक विवेक-विचाररूपी मजबूत आरेसे काट डालो। जबतक इस चित्तरूपी पिशाचको—जो अज्ञानरूपी विशाल वटवृक्षोंपर विश्राम करनेवाला है, तृष्णा-पिशाची जिसकी परिचर्या करती है और जो चेतनरहित सैकड़ों देह धारण करके अपनी कल्पनारूपी अटवीमें चिरकालसे भटक रहा है—विवेक, वैराग्य, गुरुसंनिधि, प्रयत्न और मन्त्र आदि स्वतन्त्र उपायोंद्वारा चेतन जीवात्माके निवासस्थानरूप अपने हृदयसे हटाया नहीं जायगा, तबतक इस जगत्में आत्मसिद्धिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है।

रघुनन्दन! मेरे वाक्योंके एकमात्र तत्त्वज्ञ तो तुम्हीं हो, इसीलिये केवल मेरे वाक्यार्थोंकी भावनासे तुम्हें सुख मिलना है। वत्स राम! पूर्वकालमें उद्दालक मुनिको पञ्च महाभूतोंके विचार विमर्शसे जिस प्रकार परमोत्कृष्ट एवं अविनाशी दृष्टि प्राप्त हुई थी, वह वृत्तान्त तुम्हें कहता हूँ; सुनो। प्राचीनकालमें पर्वतराज गन्धमादनके किसी भूभागमें एक ऊँचे शिखरपर एक मुनि निवास करते थे। उनका नाम उद्दालक था। अभी उनकी जवानी नहीं आयी थी। वे स्वाभिमानी और महाबुद्धिमान् थे तथा मौन रहकर घोर तपस्यामें संलग्न थे। पहले तो उनकी बुद्धि मन्द थी। उनमें विवेक-विचार भी नहीं था। उन्हें परमपदरूप शान्तिकी प्राप्ति भी नहीं हुई थी तथा वे परमात्माके तत्त्वसे भी अनभिज्ञ थे; परंतु उनका अन्तःकरण शुभ भावोंसे युक्त था। तदनन्तर तपस्या, नियमपूर्वक शास्त्रार्थ-चिन्तन और अभ्यासके पात्रस्वरूप कर्मोंसे उनके हृदयमें विवेक जाग उठा। उनका मन तो शुद्ध था ही, अतः उनकी बुद्धि इस

संसाररूपी रोगको देखकर भयभीत हो उठी। तब वे किसी समय एकान्तमें बैठकर इस प्रकार विचार करने लगे—



'जिसमें विश्राम प्राप्त हो जानेपर शोकका अत्यन्ताभाव हो जाता है तथा जिसे पा लेनेपर पुनर्जन्म नहीं होता, वह प्राप्त करने योग्य प्रधान वस्तु क्या है ? मैं मननरहित परम पवित्र पदमें चिरकालके लिये कब विश्रामको प्राप्त होऊँगा ? जैसे किलोल करती हुई चञ्चल तरङ्गें समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह भोगतृष्णाएँ कब मेरे अंदर ही शान्त हो जायँगी ? कब मैं परमपदमें विश्राम-को प्राप्त हुई अपनी बुद्धिद्वारा 'यह कार्य करके पुनः इस दूसरे कार्यको भी करना है' ऐसी व्यर्थ कल्पनाका भीतर-ही भीतर उपहास करूँगा ? मेरे मनमें स्थित हुए भी विकल्प-समूह कमलदलपर पड़े हुए जलकी तरह सम्बन्धरहित होकर कब चित्तसे विलग हो जायँगे ? अर्थात् संकल्प-विकल्पोंका अभाव कब होगा ? मैं उन्मत्त होकर बहनेवाली तृष्णा-नदीको, जो बहुसंख्यक भीषण तरङ्गोंसे युक्त है, अपनी परमोत्कृष्ट बुद्धिरूपी नौकासे कब पार कर जाऊँगा ? मैं जगत्‌के प्राणियोंद्वारा की जानेवाली इस बाह्य प्रवृत्तिको, जो मिथ्या तथा चित्तको व्यग्र कर देनेवाली है, बालकोंकी क्रीडाके समान समझकर कब उसका उपहास करूँगा ? मेरा मन, जो विकल्पोंसे विक्षिप्त तथा हिंडोलेकी तरह चञ्चल है, कब शान्ति लाभ करेगा ? मेरा अन्तःकरण परमात्माके समान आकारवाला, सौम्य और सम्पूर्ण पदार्थोंकी स्पृहासे रहित होकर कब शान्तिको प्राप्त होगा ? वह दिन कब होगा, जब मैं अपनी शान्त हुई कल्पनाओंवाली बुद्धिद्वारा बाहर-भीतरसहित इस सम्पूर्ण विश्वको सच्चिदानन्द-रूपसे देखता हुआ अनुभव करूँगा ? कब मैं इष्ट और अनिष्ट तथा हेय और उपादेयसे रहित एवं स्वयंप्रकाश-स्वरूप परमपदमें स्थित होकर अपने अन्तःकरणमें परम शान्तिको प्राप्त होऊँगा ? ऐसा सुअवसर कब आयेगा, जब मैं किसी पर्वतकी कन्दरामें निर्विकल्प-समाधिद्वारा मनके व्यापारसे रहित होकर शिलाकी भाँति निश्चल हो जाऊँगा ? मौनव्रत धारण करके अविचल ध्यानमें निमग्न हुए मेरे मस्तकपर वनकी चिड़ियाँ कब घोसला बनायेंगी ?'

यों चिन्तापरवश हुए उद्दालक मुनिने वनमें स्थित होकर बारंबार ध्यानका अभ्यास किया, परंतु विषय उनके बंदरके समान चञ्चल चित्तको अपनी ओर खींच ले जाते थे; जिससे प्रसन्नता प्रदान करनेवाली समाधिस्थिरता उन्हें न मिल सकी। उनका मन कभी-कभी विषयासक्त हो जाता था; उस अवस्थामें वह अपने हृदयान्तर्वर्ती तमोगुणका त्याग करके भयभीत पक्षीकी भाँति वहाँसे भाग निकलता था। कभी वह बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंके चिन्तनका परित्याग करके तमोगुणमें लीन होकर निद्रारूपी लंबे कालतक रहनेवाली स्थितिको प्राप्त हो जाता था। यद्यपि वे प्रतिदिन भयानक गुफाओंमें बैठकर अपने मनको ध्यानमग्न करनेमें तत्पर

थे, फिर भी ध्यानवृत्तियोंमें विघ्न पड़नेके कारण उनका अन्त:करण अत्यन्त व्याकुल हो गया और शरीर तुच्छ तृष्णा-नदीके तटवर्ती तरङ्गोंके थपेड़ोंसे चञ्चल हो उठा। इस प्रकार जब वे मुनि संकटापन्न हो गये, तब विक्षिप्तचित्त होकर उस पर्वतपर भ्रमण करने लगे।

रघुकुलभूषण राम! तदनन्तर धर्मात्मा उद्दालक बहुत अन्वेषणके पश्चात् प्राप्त हुई गन्धमादनकी एक रमणीय गुहामें प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने न मुरझाये हुए कोमल पत्तोंका एक आसन बनाया, जिसके चारों ओर पुष्पोंके गुच्छे शोभा पा रहे थे। उस आसनके ऊपर उन्होंने एक सुन्दर मृगचर्म फैला दिया। तत्पश्चात् शुद्ध अन्तः-करणवाले उद्दालक अपने मनकी वृत्तियोंको सूक्ष्म बनाते हुए उस आसनपर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने उत्तराभिमुख होकर दोनों एड़ियोंसे अण्डकोषोंको दबाकर ज्ञानीकी भाँति सुदृढ़ पद्मासन लगाया। वे विषयोंकी



ओर दौड़ते हुए अपने मनरूपी मृगको वासनाओंसे हटाकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होना चाहते थे, इसलिये विचार करने लगे—

'अरे मूर्ख मन! इन सांसारिक वृत्तियोंसे तेरा क्या प्रयोजन है? क्योंकि बुद्धिमान् लोग ऐसी क्रियाके लिये चेष्टा नहीं करते, जो परिणाममें दुःखदायिनी हो। जो शान्तिप्रद उपरतिरूपी रसायनको छोड़कर विषयभोगोंके पीछे दौड़ता है, वह मानो मन्दार-वनका परित्याग करके विषवृक्षोंसे भरे हुए जंगलकी ओर जा रहा है। तू चाहे पातालमें चला जा अथवा ब्रह्मलोकमें ही क्यों न पहुँच जा किंतु शान्तिप्रद उपरतिरूपी अमृतके बिना तुझे निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। रे मन! तू सैकड़ों भोगाशाओंसे परिपूर्ण होनेके कारण इस प्रकार समस्त दु:खोंका प्रदाता बना हुआ है, अतः इन दुःखदायिनी भोगाशाओंका सर्वथा परित्याग करके अत्यन्त सुन्दर परम ऐकान्तिक कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर ले। ये उत्पत्ति-विनाशमयी विचित्र कल्पनाएँ तो तुझे भयानक दु:ख देनेवाली ही हैं, इनसे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अरे मूर्ख! तू व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उत्थानसे वृद्धिको प्राप्त हुई श्रोत्रेन्द्रियके वशीभूत होकर सांसारिक रसिक-गानका अनुसरण करनेवाली बुद्धिवृत्ति-द्वारा व्याधके वीणा-गीत आदिसे मोहित हुए मृगके समान विनाशको मत प्राप्त हो। मन्दबुद्धे! जैसे हथिनीके स्पर्शसुखका लोभी गजेन्द्र शिकारियोंद्वारा बाँध लिया जाता है, उसी तरह तू भी सुन्दरी युवतीके स्पर्श-सुखका अनुभव करनेके लिये उन्मुख हुई बुद्धिवृत्तिसे केवल दुःखके लिये ही त्वगिन्द्रियका आश्रय लेकर बन्धनमें मत पड़। रे अंधे! परिणाममें दुःख देनेवाले स्वादिष्ट अन्नोंकी अभिलाषासे रसनेन्द्रियताको प्राप्त होकर बंसीमें लगे हुए चारेके लोभी मत्स्यकी भाँति तू अपना विनाश मत कर। मूढ़! तू युवती स्त्री, बालक, बालिका आदि नाना प्रकारके सुन्दर दृश्योंको देखनेमें तत्पर हुई चक्षुरिन्द्रियका अवलम्बन करके प्रकाशके लोलुप फतिंगेके समान जलनको मत प्राप्त हो। जैसे गन्धलोलुप

भ्रमर सायंकालमें कमल-कोशमें बंद हो जाता है, उसी प्रकार तेल-फुलेल, इत्र, पुष्प आदि सुगन्धित पदार्थोंकी गन्धके अनुभवकी इच्छासे घ्राणेन्द्रियका आश्रय लेकर तू भी शरीररूपी कमल-कोशके भीतर बँध मत जा। मन्दबुद्धे! मृग शब्दसे, भ्रमर गन्धसे, फतिंगा रूपसे, गजेन्द्र स्पर्शसे और मत्स्य रससे—इस प्रकार ये सब तो केवल एक-एक विषयसे नष्ट हो गये; किंतु तू तो इन पाँचों इन्द्रियोंके विषय-भोगरूप अनर्थोंसे व्याप्त है, अतः तुझे सुख कैसे मिल सकता है। यदि तू सांसारिक दोषोंसे रहित, अतएव शरत्कालीन मेघके समान निर्मल अन्तःकरणकी शुद्धिको प्राप्त होकर समस्त अनर्थोंके मूल अज्ञानका उच्छेद करके शान्तिको प्राप्त होगा तो यह तेरी असीम विजय होगी। जैसे जबतक वर्षा ऋतुके मेघ वर्तमान हैं, तबतक कुहरेकी प्रचुरता रहेगी ही, उसी तरह जबतक घनीभूत अज्ञान मौजूद है, तबतक चित्तकी स्थूलताका रहना निश्चित ही है। तथा ज्यों-ज्यों वर्षाकालीन मेघ क्षीण होते जाते हैं, त्यों-त्यों कुहरेका भी विनाश होता जाता है, उसी प्रकार ज्यों ज्यों अज्ञान क्षीण होता जायगा, त्यों-त्यों चित्तकी भी सूक्ष्मता बढ़ती जायगी।

"असत्स्वरूप मन! मैं अहंकार और वासनाओंसे रहित निर्विकल्प चिन्मय ज्योतिःस्वरूप हूँ और तू अहंकारका बीजस्वरूप है। अतः तुझसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। 'अहं' रूपसे कौन स्थित है?—इसका मैंने पैरके अँगूठेसे लेकर सिरतक सर्वत्र अन्वेषण किया; किंतु यह 'अहं' नामक पदार्थ मुझे कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इस शरीरमें यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु हैं, फिर यह 'अहं' रूपसे स्थित कौन है? देहमें स्पन्दनांश तो प्राणवायुओंका है, चेतनांश परमात्माका है तथा जरा-मरण शरीरके धर्म हैं; फिर यह 'अहं' क्या वस्तु है? रे चित्त! मांस अहंसे पृथक् है, रक्त उससे भिन्न है, हड्डियाँ भी दूसरी हैं, चेतनता उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अलग है; फिर 'अहं' रूपसे स्थित पदार्थ कौन है? यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दोनों कान हैं, यह आँख है और यह स्पन्दन है; फिर 'अहं' रूपसे स्थित कौन वस्तु है? परमार्थरूपसे विचार करनेपर न तो मन अहं है न चित्त अहं है और न वासना ही अहं है। आत्मा तो अहं हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो केवल शुद्ध चेतन प्रकाशस्वरूप है। वस्तुतः तो इस जगत्में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है। अथवा विनाशशील असत् होनेके कारण कोई भी पदार्थ मेरा स्वरूप नहीं है—यही दृष्टि सच्ची है, इससे भिन्न दूसरा कोई क्रम नहीं है। परंतु अज्ञानरूपी धूर्त अहंकारके द्वारा चिरकालसे मुझे उसी प्रकार कष्ट दे रहा है, जैसे जंगलमें कोई ढीठ भेड़िया मृगछौनेको क्लेश पहुँचाये। सौभाग्यकी बात है कि अब मैंने उस अज्ञानरूपी चोरको भलीभाँति जान लिया है। वह मेरे स्वरूपरूपी धनका अपहरण करनेवाला है, अतः अब मैं पुनः उसका आश्रय नहीं ग्रहण करूँगा। यह देहमें अहंतारूपी भावना मृगतृष्णाके सदृश व्यर्थ है। जब ऐसी भावना असत्य ही है, तब 'यह देह अहं है' ऐसा जो भाव है, वह केवल भ्रम ही है। किंतु ज्ञानी महात्मा जो वासनाहीन हो गये हैं, वे भी अपने जीवन-निर्वाहके लिये स्वतः बाह्यरूपसे चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा कर्मोंमें प्रवृत्त होते ही हैं। उनकी इस प्रवृत्तिमें वासना कारण नहीं है। चित्त! यदि केवल वासनारहित कर्म किया जाय तो भविष्यमें होनेवाले सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। इसलिये मूर्ख इन्द्रियो! यदि तुम अपनी अन्तर्वासनाका परित्याग करके सम्पूर्ण कर्म करोगी तो तुम्हें दुःखकी प्राप्ति नहीं होगी। निष्पाप! जैसे तरङ्ग आदि जलसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें ये वासना आदि सभी पदार्थ आत्मासे पृथक् नहीं हैं; किंतु अज्ञानीकी दृष्टिमें उनकी पृथक् सत्ता है। इन्द्रियरूपी बालको! जैसे रेशमके कीड़े अपनेद्वारा उत्पन्न हुए

तन्तुसे ही नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह तुमलोग भी स्वतः उद्भूत तृष्णाद्वारा विनष्ट हो रहे हो। वासना ही तुमलोगोंको एक जगह बाँधनेमें हेतु है—ठीक उसी तरह, जैसे छिद्रोंमें पिरोयी हुई रज्जु मोतियोंके बन्धनमें कारण होती है। वस्तुतः तो यह वासना कल्पनामात्रसे ही उद्भूत हुई है, अतः यह सत्य नहीं है; क्योंकि संकल्पका त्याग कर देनेसे यह विनष्ट हो जाती है।

"यह चेतन आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः इसका जन्म अथवा मरण नहीं होता। फिर कैसे इसकी मृत्यु हो सकती है अथवा कैसे किसीके द्वारा यह मारा जा सकता है। इसका जीवनसे तो कोई प्रयोजन है नहीं; क्योंकि यह सर्वात्मा ही सबका जीवन है। यदि शुद्ध चेतन आत्मा ही सबका जीवन है तो उसे इस जीवनसे कब कौन-सी दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्त होगी, जिसके लिये उसे जीवनकी इच्छा हो? जिसका अपनी देहमें अहंभाव है, वही भाव-अभावरूप जन्म-मरणके बन्धनमें पड़ता है; परंतु आत्मन्! तुम्हारेमें तो देहाहंभाव है नहीं, इसलिये तुम्हें भाव-अभावरूप जन्म-मरण कहाँसे प्राप्त होंगे। अहंकार तो व्यर्थ मोहरूप है, मन मृगतृष्णाके समान है और पदार्थसमूह जड है; ऐसी दशामें अहंभाव किसको हो? शरीर रक्त-मांसमय है, विवेक-विचारद्वारा मनका विनाश हो गया है और चित्त आदि सभी जड हैं, फिर देहमें अहंभावना किसको कैसे हो? सभी इन्द्रियाँ नित्य अपने-अपने व्यापारमें संलग्न हैं और जड पदार्थ अपने स्वरूपमें स्थित हैं; फिर किसको और कैसे अहंभाव हो? गुणोंकी कार्यरूपा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं, प्रकृति गुणसाम्यावस्थारूप अपने स्वभावमें स्थित है और सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आपमें ही पूर्णरूपसे विराजमान है; फिर देहमें अहंभावना किसको और कैसे हो? इस प्रकार इस भूतलपर जो कुछ स्थित है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। वह 'सत्' (ब्रह्म) मैं ही हूँ और वह 'तत्' (ब्रह्म) भी मैं ही हूँ; फिर मैं व्यर्थ ही शोक क्यों करूँ। जब केवल एक ही सर्वव्यापक विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मारूप परमपद सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, तब अहंकाररूपी कलङ्ककी उत्पत्ति कहाँसे हो सकती है। वास्तवमें तो पदार्थ-सम्पत्ति है ही नहीं, एकमात्र सर्वव्यापक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हो रहा है। अथवा यदि पदार्थ-सम्पत्तिकी सत्ता मान भी लें तो उसके साथ किसीका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। वस्तुतः तो अहंकाररूपी महान् भ्रम असत्—मिथ्या है; किंतु इसका प्रादुर्भाव होनेपर यह सारा जगत् 'यह मेरा है, यह उसका है' यों व्यर्थ ही विपर्यासको प्राप्त हुआ है। यह आश्चर्यमय अहंकार परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण ही उत्पन्न हुआ है। उस परमात्मतत्त्वके ज्ञात हो जानेपर तो इसका उसी प्रकार विनाश हो जाता है, जैसे सूर्यके तापसे हिमकणिका गल जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि परमात्माके अतिरिक्त और किसीकी भी सत्ता नहीं है; इसलिये 'सर्वं ब्रह्म' इस प्रकारका जो मेरा अनुभवसिद्ध तत्त्व है, उसीका मैं चिन्तन करूँगा। मैं तो यही उत्तम समझता हूँ कि आकाशकी नीलिमाके सदृश उत्पन्न हुए इस अहंकाररूपी महाभ्रमको ऐसे भुला दिया जाय जिससे पुनः कभी इसका स्मरण ही न हो। मैं चिरकालसे प्राप्त हुए इस मूलाविद्यासहित अहंकाररूपी महाभ्रमका सर्वथा त्याग करके शान्तात्मा होकर विशुद्ध परमात्मामें ही स्थित रहूँगा, जैसे शरत्कालीन आकाश अपने निर्मल स्वभावमें स्थित रहता है। यह अहंभाव जब बढ़ जाता है, तब अनर्थ-परम्पराओंकी सृष्टि करता है, पापका विस्तार करता है और संतापको बढ़ाता है। मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्मतक भोगना पड़ता है एवं जीवन आदि ऐहलौकिक कष्ट मरणपर्यन्त रहता है और वर्तमान कालके पदार्थ विनाशशील हैं अतः यह दुःखवेदना घोर कष्टप्रद है। दुर्बुद्धिजनोंके 'यह मुझे मिल गया, अब इसे प्राप्त करूँगा' इस प्रकारके

संतापदायिनी पीड़ा कभी शान्त नहीं होती। अहङ्कारका समूल विनाश हो जानेपर संसाररूपी वृक्ष सूख जाता है। उसकी उत्पादनशक्ति विनष्ट हो जाती है, जिससे वह पाषाणकी भाँति पुनः अङ्कुर उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाता है।

देहरूपी वृक्षको अपना निवासस्थान बनाकर रहनेवाली तृष्णारूपी काली नागिनें हृदयमें विवेक-विचाररूपी गरुड़का आगमन होते ही न जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं। जब विश्व असत्य सिद्ध हो जाता है, तब उससे उत्पन्न होनेवाला सारा-का-सारा भेद-व्यवहार असत्य हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारके असत्य हो जानेपर 'अहं'-'त्वं' का भेद-व्यवहार सत्य कैसे रह सकता है। तरङ्गकी भाँति क्षणभङ्गुर एवं विनाशोन्मुख इस देहमें जिनकी आस्था सुदृढ़ हो गयी है, उन दुर्बुद्धियोंका परमार्थसे पतन हो जाता है, क्योंकि देह आदि समस्त वस्तुएँ सर्वत्र उत्पत्तिके पूर्व और विनाशके पश्चात् नहीं रहतीं, केवल मध्यमें ही इनका प्राकट्य दृष्टिगोचर होता है। फिर उनकी मिथ्या स्थिरतामें आस्था कैसी। अर्थात् इन देह आदि विनाशी पदार्थोंको सत्य मानकर उनमें नहीं फँसना चाहिये। जब मन पूर्णतया इस निर्णयपर पहुँच जाता है कि यह जो कुछ विशाल दृश्यमण्डल है, वह सारा-का-सारा अवास्तविक है, तब वह अमन—मनके व्यापारसे शून्य हो जाता है। तदनन्तर 'यह अवास्तविक है' ऐसा मनमें दृढ़ निश्चय हो जानेपर सारी भोग-वासनाएँ उसी प्रकार क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतुमें वृक्षोंकी मञ्जरियाँ झड़ जाती हैं। वास्तवमें न तो कोई किसीका स्वाभाविक शत्रु है और न कोई किसीका स्वाभाविक मित्र ही है; किंतु जो सुख पहुँचानेवाला है, वह मित्र कहा गया है और जो दुःखप्रद हैं, वे शत्रु कहलाते हैं। इसलिये अब मैं मनरूपी वनको, जो संकल्परूपी वृक्षोंसे व्याप्त तथा तृष्णारूपी लताओंसे आच्छादित है, छिन्न-भिन्न करके विस्तृत मुक्तिरूपी भूमिमें जाकर सुख-पूर्वक विचरण करूँगा। इस प्रकार मनके पूर्णतया क्षीण हो जानेपर रक्त-मांस आदि धातुओंका संघातरूप यह मेरा अनिष्टकारी शरीर चाहे रहे अथवा नष्ट हो जाय, इससे कोई हानि नहीं है। अतः मनका विनाश करना ही आवश्यक है। मैं देह नहीं हूँ—इस विषयमें मैं एक युक्ति बतलाता हूँ; सुनो! यदि देहको ही आत्मा मान लिया जाय तो मरनेपर शरीरके सभी अङ्गोंके वर्तमान रहनेपर भी मुर्दा शरीर व्यवहार क्यों नहीं करता? इससे सिद्ध हुआ कि देह आत्मा नहीं है। मैं तो नित्य अविनाशी ज्योतिःस्वरूप हूँ और इस देहसे अतीत हूँ। न तो मैं अज्ञानी हूँ, न मुझे कोई दुःख है, न अनर्थ है और न दुःखका कोई कारण ही है। अब तो यह शरीर रहे अथवा न रहे, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; मैं तो संतापरहित हुआ नित्य स्थित हूँ। मुझे उस परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी है; इसलिये मैं सबसे उत्कृष्ट, केवल—शुद्धस्वरूप, विक्षेपरहित, शान्तरूप अंशांशीभावसे रहित, अपने आपमें परिपूर्ण, निष्क्रिय एवं इच्छारहित ब्रह्मस्वरूप हूँ। स्वच्छता, प्रभावशालिता, सत्ता, सुहृदयता, सत्यभाषण, यथार्थ ज्ञान, आनन्द-स्वरूपता, शान्ति, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, उदारता, सत्यस्वरूपता, कान्तिमत्ता, एकाग्रता, सर्वात्मकता, निर्भयता और द्वैतके विकल्पका अभाव—ये सभी गुण मुझ आत्मनिष्ठके हृदयको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले हैं। चूँकि सर्वरूप परमात्मामें सभी कुछ सर्वदा एवं सर्वथा सम्भव है इसलिये सभी विषयोंके प्रति मेरी इच्छा-अनिच्छा और सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं। अब मेरा मोह विनष्ट हो गया है, मन अमनीभावको प्राप्त हो गया है और चित्तके संकल्प-विकल्प दूर हो गये हैं; अतः मैं शान्तस्वरूप परमात्मामें रमण कर रहा हूँ।

(सर्ग ५०—५३)

महर्षि उद्दालककी साधना, तपस्या और परमात्मप्राप्तिका कथन; सत्ता-सामान्य, समाधि और समाहितके लक्षण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उद्दालक मुनि अपनी विशाल एवं विशुद्ध बुद्धिसे यों निर्णय करके पद्मासन लगाकर बैठ गये। उस समय उनके नेत्र आधे मुँदे हुए थे। तदनन्तर "जो ॐकारका उच्चारण करता है, उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि 'ॐ' यह अक्षर परब्रह्म है।" ऐसा निश्चय करके उन्होंने ॐकारका, जिसकी ध्वनि ऊपरको जा रही थी, उसी प्रकार उच्चस्वरसे उच्चारण किया, जैसे घंटेके अधोभागमें लटके हुए लटकनको अच्छी तरह पीटनेसे जोरका शब्द होता है। उनके द्वारा उच्चारित प्रणवध्वनि जबतक ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त व्याप्त नहीं हो गयी और जबतक वे सर्वव्यापक, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्माके अभिमुख नहीं हो गये, तबतक 'ॐ' का उच्चारण करते रहे। प्रणवके अकार, उकार, मकार और बिन्दु—इस प्रकार साढ़े तीन अंश हैं। उनमेंसे प्रथम अंश अकारके उच्चस्वरसे उच्चरित होनेपर जब शरीरके भीतर शब्दके गूँजनेके कारण प्राण पूर्णरूपसे क्षुब्ध हो उठे, तब प्राणवायुको छोड़नेके क्रमने जिसे रेचक कहा जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण शरीरको रिक्त कर दिया, जैसे महर्षि अगस्त्यने सागरके जलको पीकर उसे खाली कर दिया था। तत्पश्चात् प्रणवके द्वितीय अंश 'उकार' के उच्चारणके समय ॐकारकी समस्थिति होनेपर प्राणोंका निश्चल कुम्भक नामक क्रम सम्पन्न हुआ। उस समय प्राण न बाहर थे न भीतर, न अधोभागमें थे न ऊर्ध्वभागमें और न दिशाओंमें ही भ्रमण कर रहे थे, बल्कि भलीभाँति स्तम्भित किये गये जलकी तरह पूर्णतः शान्त थे। तदनन्तर प्रणवके उपशान्तिप्रद तृतीयांश मकारके उच्चारण-कालमें प्राण वायुको भीतर ले जानेके कारण प्राणोंका पूरक* नामक क्रम घटित हुआ। इस तीसरे क्रममें प्राण जीवात्मामें भावनाद्वारा भावित अमृतके मध्यमें पहुँचकर हिमस्पर्शके समान सुन्दर शीतलताको प्राप्त हो गये।

तदुपरान्त पद्मासनसे बैठे हुए उद्दालक मुनिने उस भावनामय शरीरमें दृढ़ स्थिति करके आलानमें बँधे हुए गजराजकी तरह अपनी पाँचों इन्द्रियोंको देहमें निबद्ध कर दिया। फिर वे निर्विकल्प समाधिके लिये तथा शरत्कालीन निर्मल आकाशकी तरह अपने स्वभावको शुद्ध बनानेके हेतु प्रयत्न करने लगे। जब उद्दालक मुनिको उस समाधिसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गयी, तब वे दृश्य-प्रपञ्चके विकल्पोंसे रहित होकर उस नित्य अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हो गये, जो जगत्‌का अधिष्ठानभूत, शुद्धस्वरूप एवं महान् हैं। वे शरीरसे पृथक् होकर किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो गये और नित्य-सत्य-सम-निजस्वरूप होकर आनन्दसागर परमात्मामें विलीन हो गये। उस समय वे वातरहित स्थानमें रखे हुए दीपककी भाँति कान्तिमान्, चित्रलिखितके सदृश अटल मनवाले, निस्तरङ्ग समुद्रके समान गम्भीर एवं बरसे हुए निर्जल बादलकी तरह मूक हो गये।

---

* यद्यपि रेचक, कुम्भक और पूरक समग्र प्रणवके ही साधन प्रसिद्ध हैं, तथापि रेचकमें प्रथम भागका, कुम्भकमें मध्यभागका और पूरकमें चरम भागका विस्तार किया जाता है; क्योंकि कण्ठमें निकलते हुए प्राणवायुमें कण्ठस्थानीय अकारभागकी, संकुचित होते हुए ओष्ठोंमें उकार भागकी और ओष्ठोंके सम्पुटित होनेपर मकारभागकी अभिव्यक्ति होती है। मकारभागकी अभिव्यक्तिके समय प्राणवायु यद्यपि पुनः प्रवेश करता है; तथापि उसमें प्रणवका ही अनुवर्तन होता है; इसलिये उस-उस भागके अवसर-विभागका कथन है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार जब इस महालोकस्वरूप परब्रह्ममें स्थित हुए उद्दालकका बहुत-सा समय व्यतीत हो गया, तब उन्होंने बहुसंख्यक आकाशचारी सिद्धों तथा देवताओंको भी देखा। तदनन्तर जो इन्द्र और सूर्यका पद प्रदान करनेकी सामर्थ्य रखती थी, ऐसी बहुत-सी विचित्र सिद्धियाँ भी अप्सराओंसे घिरी हुई वहाँ चारों ओरसे आ पहुँचीं; परंतु उद्दालक मुनिने उन सिद्धियोंको बच्चोंके खिलौनोंकी तरह समझकर उनका कुछ भी आदर नहीं किया, क्योंकि उनका मन क्षोभरहित और बुद्धि गम्भीर थी। इस प्रकार सिद्धि-समूहोंका अनादर करके वे छः महीनेतक उस आनन्द-मन्दिररूप समाधिमें स्थित रहे—ठीक उसी तरह, जैसे उत्तरायणके छः मासतक सूर्य उत्तर दिशाकी ओर रहते हैं। इतने समयतक उद्दालक मुनिको जीवन्मुक्त-पदकी प्राप्ति हो गयी। तब वहाँ उनके समीप सिद्धोंका दल, देवताओंका समुदाय, साध्यगण, ब्रह्मा और शंकर आदि उपस्थित हुए। परमात्माकी प्राप्ति ही वह परम पद है, वही परम शान्त गति है, वही शाश्वत कल्याणस्वरूप मङ्गलमय पद है। जिसे वहाँ विश्राम करनेका अवसर प्राप्त हो गया, उसे भ्रम पुनः बाधा नहीं पहुँचा सकता। संत पुरुष उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करके इस विनाशशील बाह्य दृश्य प्रपञ्चमें उसी प्रकार नहीं रमते, जैसे चैत्ररथ नामक रमणीय उद्यानमें पहुँचे हुए जन खैरके वनमें जानेकी इच्छा नहीं करते। उद्दालक मुनिने सिद्धियोंको दूर हटा दिया था। वे छः मासतक समाधिमें स्थित रहनेके पश्चात् जब पुनः समाधिसे विरत होकर जागे, तब उन्हें अपने सम्मुख कुछ परम तेजस्विनी रमणियाँ दीख पड़ीं, जो चन्द्रबिम्बके समान सुन्दर शरीरवाली, स्नेहमयी और प्रणाम करनेकी लालसासे युक्त थीं। साथ ही कतार-के-कतार दिव्य विमान भी दृष्टिगोचर हुए, जो गौर वर्णवाले मन्दारपुष्पोंके परागसे धूसरित भ्रमरों और चँवरोंसे सुशोभित थे तथा जिनपर पताकाएँ फहरा रही थीं। दूसरी ओर उन्होंने जिनके करकमलोंमें कुशाकी पवित्री धारण करनेसे चिह्न पड़ गये थे, उन हमारे-जैसे मुनियोंको और विद्याधरियोंसहित श्रेष्ठ विद्याधरोंको भी देखा। उन सबने उन महात्मा उद्दालक मुनिसे कहा—'भगवन्! हम आपको प्रणाम कर रहे हैं। आप अनुग्रहपूर्ण दृष्टिसे हमारी ओर देखिये। मुने! आइये और इस विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकको पधारिये; क्योंकि जगत्की भोग-सम्पत्तियोंकी चरम सीमा स्वर्ग ही तो है। विभो! वहाँ चलकर आप कल्पपर्यन्त अपने अभीष्ट भोगोंका समुचित रूपसे उपभोग कीजिये; क्योंकि समस्त तपस्याएँ स्वर्गादिरूप फलका उपभोग करनेके लिये ही होती हैं। भगवन्! ये विद्याधरोंकी ललनाएँ हार और चँवर धारण किये आपके पास खड़ी हैं, इनपर दृष्टिपात कीजिये; क्योंकि धर्म और अर्थका सार काम है तथा कामकी सारभूता सुन्दरी युवतियाँ हैं। जैसे मञ्जरियाँ वसन्त ऋतुमें ही उपलब्ध होती हैं, उसी तरह ये वराङ्गनाएँ स्वर्गमें ही मिलती हैं।'

यों कहनेवाले उन सभी विद्याधर और ऋषि-मुनि आदि अतिथियोंका यथोचित आदर सत्कार करके उद्दालक मुनि निर्भ्रान्त एवं निश्चल भावसे बैठे रहे। उनकी बुद्धि तो गम्भीर थी ही; अतः उन्होंने न तो उस विभूतिका अभिनन्दन किया और न तिरस्कार ही किया अर्थात् उदासीन बने रहे तथा 'भो सिद्धगण! आपलोग जाइये' यों कहकर वे अपने समाधिरूप कार्यमें संलग्न हो गये। तदनन्तर सिद्धगण कुछ दिनोंतक उद्दालक मुनिकी, जो भोगोंकी आसक्तिसे रहित और अपने धर्ममें निरत थे, प्रणाम, स्तुति-प्रशंसा आदिद्वारा उपासना करके अपने-आप चले गये। तब जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त हुए मुनि स्वेच्छानुसार वनप्रान्तों तथा मुनियोंके आश्रमोंमें सुखपूर्वक विचरते रहे। उस समयसे उद्दालकमुनि परमपदके प्राप्त होनेपर पर्वतोंकी कन्दराओंमें ध्यान आदि लीलाएँ करते हुए निवास करने लगे।

ध्यानस्थ होनेपर उनका कभी एक दिनमें, कभी एक मासमें, कभी एक वर्षमें और कभी-कभी तो कई वर्षोंमें उस ध्यान-समाधिसे व्युत्थान होता था। उस समयसे लेकर उद्दालक मुनि व्यवहारमें तत्पर रहते हुए भी चिन्मय परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर परम समाहित-चित्त बने रहते थे। यों चिन्मय परमात्मतत्त्वमें एकीभावके दृढ़ अभ्याससे महान् चिन्मय विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त करके उन मुनिकी सर्वत्र समदृष्टि हो गयी, जैसे सूर्यका तेज भूतलपर सर्वत्र समभावसे पड़ता है। इस प्रकार समस्त विक्षेपोंका उपशमन होनेके कारण परम पदकी प्राप्तिसे उनका चित्त जब शान्त हो गया, उनकी जन्म-मरणरूपी फाँसी कट गयी और वे संशय तथा चञ्चलतासे रहित हो गये, तब वे शरत्कालीन आकाशके समान शान्त, सर्वव्यापक, तेजस्वी, प्रकाशमय, चित्त-रहित विशुद्धस्वरूप चिन्मय परमात्माको प्राप्त हो गये।

श्रीरामजीने पूछा—ऐश्वर्यशाली गुरो! आप आत्मज्ञान-रूपी दिनके लिये सूर्यस्वरूप हैं, अतः अब यह बतलानेकी कृपा करें कि सत्ता-सामान्यका क्या लक्षण है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! दृश्य वस्तु है ही नहीं—इस प्रकारकी दृढ़ भावनासे चित्त जब सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब उस सामान्यस्वरूप चेतनकी सबमें सामान्यभावसे व्यापक स्वतःसिद्ध सत्तामात्र ही सत्ता-सामान्य अवस्था होती है। जब चैतन्य समस्त दृश्य पदार्थोंसे रहित होकर परमात्मामें विलीन हो जाता है, तब उसकी निराकार आकाशकी भाँति अत्यन्त निर्मल सत्ता-सामान्यता होती है। जब चैतन्य बाह्य एवं अभ्यन्तरसहित यह जो कुछ है, उन सबका अपलाप करके स्थित हो, उस समय उसकी सत्ता-सामान्य अवस्था समझनी चाहिये। जब साधक सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चको अपने वास्तविक स्वरूपसे स्वप्रकाशात्मक सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा ही अनुभव करता है, तब उसकी सत्ता-सामान्यतावस्था जाननी चाहिये। यह परम दृष्टि तुर्यातीत पदके सदृश है, अतः यह सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनोके लिये सदा समान है। निष्पाप राम! यह दृष्टि ज्ञानसे प्रादुर्भूत होती है, अतः यह केवल तुर्यातीत ज्ञानी महापुरुषको समाधि-अवस्था एवं व्युत्थान-अवस्था—दोनोंमें होती है, किंतु अज्ञानीको कभी नहीं होती। यह सत्ता-सामान्य पदवी समस्त भयोंका विनाश करनेवाली है। इसका आश्रय लेकर उद्दालक मुनि दैवेच्छानुसार प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेतक जगत्में स्थित रहे। वे पर्वतकी गुफामें पत्तोंके आसनपर नेत्रोंको आधा मूँदकर पद्मासनसे बैठे थे। उस समय वे महात्मा चित्रलिखित-से निश्चल होकर शरद्-ऋतुके निर्मल आकाशमें सम्पूर्ण कलाओंसे परिपूर्ण चन्द्रमाके समान विशुद्ध और सम हो गये। उनके सारे संकल्प-विकल्प जाते रहे। वे निर्विकार एवं समस्त पापों और विषय-भोगोंकी उपाधिसे रहित होनेके कारण अभिराम हो गये। उन्हें उस चिन्मय परम आनन्दकी प्राप्ति हुई, जहाँसे सारे सांसारिक सुख प्रादुर्भूत होते हैं तथा जिसकी समतामें इन्द्रका ऐश्वर्य भी समुद्रमें तिनकेके समान है। तदनन्तर वे विप्रवर उद्दालक, जो अनन्त आकाशोंमें व्याप्त रहनेवाली दिशाओंको भी व्याप्त करनेवाला, सदा समस्त वस्तुओंसे पूर्ण, भुवनोंका भरण-पोषण करनेवाला, बड़े भाग्यसे एवं उत्तम जनोंद्वारा सेवा करनेयोग्य, वाणीसे परे, अनन्त, सबका आदि और सत्यस्वरूप है, उस परम विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हो गये। जो विवेकद्वारा स्फुरित हुए आनन्दरूपी विकसित पुष्पोंसे सुशोभित है, उद्दालककी वह चञ्चलतारहित पवित्र चित्तवृत्तिरूपिणी कल्पलता जिसके हृदय-काननमें उगकर विस्तारको प्राप्त हो जाती है, वह संसार-काननमें विहार करता हुआ भी सत्यस्वरूप परमात्माके आश्रयरूपा छायासे कभी वियुक्त नहीं होता, अपितु उसका सर्वोत्कृष्ट मोक्षफलसे सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको उद्दालककी चित्तवृत्तिरूपा लताको हृदयमें रोपकर उसका विस्तार करना चाहिये।

रघुकुलभूषण राम! संसारसे वैराग्य, जप-ध्यानके अभ्यास, सत्-शास्त्रोंके विचारपूर्वक अध्ययन, पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धि, सद्गुरुके उपदेश और यम-नियमोंके पालनसे परमात्माकी प्राप्तिरूप विशुद्ध परमपदकी प्राप्ति होती है अथवा केवल विशुद्ध और तीक्ष्ण प्रज्ञासे ही परमपद मिल जाता है; क्योंकि जो बुद्धि सम्यक् प्रकारसे ज्ञानयुक्त, तीक्ष्ण और दोषरहित है, वह सम्पूर्ण साधनोंके बिना भी यथार्थ ज्ञानद्वारा जीवको अविनाशी परमपदकी प्राप्ति करा देती है।

श्रीरामजीने पूछा—भूत और भविष्यके ज्ञाता भगवन्! कोई ज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थके सदृश विश्रामको प्राप्त हुआ रहता है और कोई एकान्तका आश्रय लेकर ध्यान-समाधिमें स्थित रहता है। इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? यह मुझे बतलानेकी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स राम! जो इस सत्त्वादि गुणोंके समाहाररूप दृश्य जड संसारको अनात्मरूप (अनित्य और मिथ्या) देखता है, उस पुरुषकी जो यह परम शान्तिस्वरूप अन्तःशीतलता है, वही समाधि कहलाती है। मनके रहनेपर दृश्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होता है—ऐसा निश्चय करके जो मनसे रहित होकर परम शान्तिको प्राप्त हो चुका है, ऐसा कोई पुरुष तो व्यवहारमें लगा रहता है और कोई ध्यान-समाधिमें तल्लीन हो जाता है। यदि उनके अन्तःकरणमें परम शान्तिरूप शीतलता है तो वे दोनों ही सुखी हैं; क्योंकि जो अन्तःकरणकी शीतलता है, वह अनन्त साधनरूप तपस्याओंका फल है। इसलिये जो ज्ञानी व्यवहारपरायण है और जिसने ज्ञान प्राप्त करके वनका आश्रय ले लिया है, वे दोनों ही सर्वथा समान हैं; क्योंकि उन दोनोंको ही सम्पूर्ण सन्देहोंसे रहित परम पदकी प्राप्ति हो गयी है। रघुनन्दन! चित्तमें जो कर्तापनका अभाव है, वह उत्तम समाधान है और वही मङ्गलमय परमानन्द-पद है। उसीको तुम केवल चिन्मयभाव समझो। जो मन वासनाओंसे रहित हो गया है, वह स्थिर कहा गया है, वही ध्यान-समाधि है, वही केवल चिन्मयभाव है और वही अविनाशी परम शान्ति है। जिसके मनकी वासनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, वह पुरुष सर्वोत्कृष्ट परमपदकी प्राप्तिके योग्य कहा जाता है; क्योंकि वासनाशून्य मनवाला पुरुष कर्तापनसे रहित हो जाता है, अतः उसे परमपदकी प्राप्ति होती है। जिस साधनसे मनुष्यकी जगद्विषयिणी आस्था पूर्णतया शान्त हो जाती है और उसका अन्तःकरण शोक, भय और एषणाओंसे रहित हो जाता है तथा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाता है, उस साधनको समाधि कहते हैं। जिन गृहस्थोंके चित्त अच्छी प्रकार समाहित हो चुके हैं तथा जिनके अहङ्कार आदि दोष शान्त हो गये हैं, उनके लिये घर ही निर्जन वनस्थलियोंके समान है। समाहित मन और बुद्धिवाले तुम्हारे-जैसे प्राणियोंके लिये इस जगत्में घर और वन एक-से हैं। राजकुमार राम! जिसका चित्त अहंता, ममता, रागादि दोषरूप महामेघसे रहित होकर शान्त हो चुका है, उसके लिये जनसमूहोंसे व्याप्त नगर भी सुनसान अरण्य-जैसे लगते हैं; परंतु शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले रघुनन्दन! जिसका चित्त अहंता, ममता, राग आदि वृत्तियोंसे युक्त होनेके कारण उन्मत्त बना रहता है, उसके लिये निर्जन वन भी प्रचुर जनोंसे परिपूर्ण नगर-जैसे ही हैं।

जो मनुष्य समाधि-कालमें परमात्माको सम्पूर्ण भावों और पदार्थोंसे अतीत तथा व्यवहारकालमें सम्पूर्ण भावोंको परमात्माका स्वरूप समझता है, वह समाहित कहा जाता है। जिसका मन सदा अन्तर्मुख बना रहता है, वह सोते, जागते और चलते हुए भी ग्राम, नगर और देशको जंगल-जैसा ही समझता है। यद्यपि यह सारा जगत् प्राणियोंसे परिपूर्ण है, तथापि नित्य अन्तर्मुखी स्थितिवाले पुरुषके लिये सर्वथा अनुपयोगी होनेके कारण यह आकाशकी तरह शून्य हो जाता है। जिन पुरुषोंके

अन्तःकरणमें परम शान्ति प्राप्त हो जाती है, उनके लिये सारा जगत् रात्रा शान्तिमय हो जाता है; परंतु जिनका अन्तःकरण तृष्णाकी ज्वालासे संतप्त होता रहता है, उनके लिये जगत् दावाग्निसे दग्ध होता हुआ-सा प्रतीत होता है; क्योंकि समस्त प्राणियोंके भीतर जैसा भाव होता है, वैसा ही बाहर अनुभव होता है। जो बाहर कर्मेन्द्रियोंद्वारा क्रियाओंका सम्पादन करता हुआ भीतर केवल आत्मामें ही रत रहता है और हर्ष-शोकके वशीभूत नहीं होता, वह समाहित कहा जाता है। जो शान्तबुद्धि पुरुष सर्वव्यापक आत्माका साक्षात्कार करते हुए न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी चिन्ता ही करता है, वह समाहित कहलाता है। जो आकाशकी तरह निर्मल है, शास्त्र और शिष्टाचारके अनुकूल बाह्य चेष्टाओंका सम्यक् प्रकारसे आचरण करता है और हर्ष, अमर्ष आदि विकारोंमें काष्ठ और मिट्टीके ढेलेके समान विकाररहित एवं शान्तस्वभाववाला है तथा जो भयसे नहीं, बल्कि स्वाभाविक ही समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके तुल्य और पराये धनको मिट्टीके ढेलेके सदृश देखता है, वही यथार्थ देखता है। जो इस प्रकारके आशयसे सम्पन्न होकर सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप परमपदको प्राप्त हो गया है, उसके ऐश्वर्य आदि पदार्थ चाहे पूर्ववत् स्थित रहें, चाहे अभ्युदयको प्राप्त हों, चाहे नष्ट हो जायँ, चाहे उसके बन्धु-बान्धव मृत्युको प्राप्त हो जायँ, चाहे वह उत्तमोत्तम भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण तथा कुटुम्बी जनोंसे भरपूर घरमें रहे, अथवा सभी प्रकारके भोगोंसे शून्य विशाल वनमें रहे, चाहे उसके शरीरपर चन्दन, अगुरु और कपूरका अनुलेप किया जाय अथवा वह बड़ी-बड़ी ज्वालाओंसे व्याप्त अग्निमें गिरे, चाहे उसकी आज ही मृत्यु हो जाय अथवा अनेक कल्पोंके बाद हो, वह न तो स्वयं कुछ बनता है और न उस महात्माने कुछ किया ही। अर्थात् वह सभी स्थितियोंमें विकार-रहित समभावसे स्थित रहता है। अहंकार और वासनारूपी अनर्थोंके उत्पन्न होनेसे सचिदात्मा पुरुषके जीवनमें नाना प्रकारके सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं; परंतु उस अहंताके पूर्णतया शान्त हो जानेपर चित्तमें ऐसी समता प्राप्त हो जाती है, जैसे रज्जुमें सर्पभ्रान्तिके नष्ट हो जानेपर 'यह सर्प नहीं है' इस ज्ञानसे निर्भयता और प्रसन्नता होती है। ज्ञानी जो कार्य करता है, जो खाता है, जो दान देता है, जो हवन आदि करता है—उन सब कर्मोंको करता हुआ भी वह कुछ नहीं करता एवं न उनमें रत ही रहता है; क्योंकि वह अहंता-ममतासे रहित हो जाता है, इसलिये उसका कर्म करना अथवा न करना एक-सा है। उसका न तो कर्मोंके करनेसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई मतलब है; क्योंकि वह तो यथार्थ ज्ञानके प्रभावसे स्वाभाविक ही परमात्मामें स्थित है। अतः उसके मनमें कामनाओंकी उत्पत्ति उसी प्रकार रुक जाती है, जैसे पत्थरमें मञ्जरियाँ नहीं निकलतीं। (सर्ग ५४—५७)

किरातराज सुरघुका वृत्तान्त—महर्षि माण्डव्यका सुरघुके महलमें पधारना और उपदेश देकर अपने आश्रमको लौट जाना, सुरघुके आत्मविषयक चिन्तनका वर्णन तथा उसे परमपदकी प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका दृष्टान्त दिया जाता है, जो किरातराज सुरघुका परम विस्मयजनक वृत्तान्त है। पूर्वकालमें हिमालयके शिखरभूत कैलासके मूल देशमें हेमजट नामक किरात निवास करते थे। उनका जो राजा था, उसका नाम सुरघु था। वह उदारचेता एवं शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाला था। विजयलक्ष्मी तो मानो उसकी भुजा ही थी। वह बलवान् तथा प्रजापालनमें दक्ष था। पराक्रममें

तो वह सूर्यतुल्य और बलमें साक्षात् मूर्तिमान् वायुके समान था। उसने नाना प्रकारके राज्यवैभवों तथा विविध धन-सम्पत्तियोंसे गुह्यकाधिपति कुबेरको, ज्ञानसे इन्द्रगुरु बृहस्पतिको और काव्यगुणोंसे असुर-गुरु शुक्राचार्यको जीत लिया था। वह यथावसर प्राप्त हुए राजकार्योंको निग्रह-अनुग्रहकी व्यवस्थासे उत्साहपूर्वक करता था। तदनन्तर उन राजकार्योंसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखोंसे उसकी पारमार्थिक गति उसी प्रकार अभिभूत हो गयी, जैसे जालमें फँसे हुए पक्षीकी गति रुक जाती है। तब वह यों विचार करने लगा—'मैं इन दुखी प्रजाजनोंको कोल्हूमें पेरे जाते हुए तिलोंकी भाँति क्यों बलपूर्वक पीड़ित करता हूँ? मेरे समान ही इन सभी प्राणियोंको भी तो दुःख होता होगा। अतः अब मेरा इन्हें और अधिक दण्ड देना व्यर्थ है। मैं इन्हें धन-सम्पत्ति प्रदान करूँगा; क्योंकि मेरी तरह सभी लोग धनसे आनन्दित होते हैं। अथवा निग्रहका अवसर प्राप्त होनेपर उसे भी करूँगा; क्योंकि निग्रहके बिना प्रजा अपनी मर्यादामें स्थित नहीं रहती। यह मेरे लिये दण्डनीय है। यह सदा मेरे अनुग्रहका पात्र है। सौभाग्यकी बात है कि आज मैं सुखी हूँ और दुर्भाग्यवश आज मैं दुखी हूँ। यह सब अन्तमें कष्ट-ही-कष्ट है।' पृथ्वीपति सुरघुका मन इस प्रकारके सङ्कल्प-विकल्पोंसे चञ्चल हो गया, जिससे उसे कहीं विश्राम नहीं मिला—जैसे चिरकालकी तृषासे युक्त मन जलके बड़े-बड़े आवर्तोंपर घूमते रहनेपर भी जलके बिना कहीं शान्ति नहीं पाता।

तदनन्तर किसी समय महर्षि माण्डव्य सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करते हुए राजा सुरघुके घर पधारे—ठीक उसी तरह, जैसे देवर्षि नारद इन्द्र-भवनमें पदार्पण करते हैं। वे मुनिराज सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता थे, अतएव संदेहरूपी दुष्ट वृक्षस्तम्भका छेदन करनेके लिये कुठारस्वरूप थे। राजाने उनका पूजन किया और यों पूछा—।



सुरघुने कहा—मुने! जैसे लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुका दर्शन करके भक्त परम प्रसन्न होता है, उसी प्रकार आपके शुभागमनसे मुझे परम हर्ष प्राप्त हुआ है। भगवन्! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं और चिरकालसे परमपदमें विश्राम भी कर चुके हैं; अतः जैसे सूर्य अन्धकारका विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार आप मेरे संशयका निवारण कीजिये; क्योंकि दुःखके स्वरूपको पूर्णतया जाननेवाले विद्वज्जन संशयको ही महान् दुःख बतलाते हैं। भला, महापुरुषोंके सङ्गसे किसके दुःखका विनाश नहीं होता अर्थात् सभीके दुःख नष्ट हो जाते हैं। प्रभो! अपने प्रजाजनोंपर मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रहसे उत्पन्न हुई चिन्ताएँ मुझे उसी प्रकार उत्पीडित कर रही हैं, जैसे सिंहके नख हाथीको कष्टमें डाल देते हैं। अतः मुने! जिस प्रकार मेरी बुद्धिमें सूर्यकी किरणोंके समान समताका उदय हो और विषमता न आने पाये, कृपापूर्वक वैसा ही प्रयत्न कीजिये।

महर्षि माण्डव्य बोले—राजन् ! जैसे सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कुहरेका विनाश हो जाता है, उसी तरह वैराग्य, श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप अभ्यासादि निजी प्रयत्नसे तथा आत्मस्थितिरूप उपायसे मनकी यह कायरता पूर्णतया नष्ट हो जाती है। आत्मविषयक विवेक-विचार करनेसे ही मनके भीतरी संतापका शमन होता है—ठीक उसी तरह, जैसे शरदृतुके आगमनमात्रसे विशाल मेघमण्डल विलीन हो जाता है। इसलिये तुम मन-ही-मन विचार करो—ये जो पुत्र, मित्र आदि अपने सम्बन्धी हैं तथा अपने शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ हैं, वे तत्त्वतः कौन हैं और कैसी हैं ? मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? यह दृश्य जगत् क्या है ? प्राणियोंके जन्म-मरण कैसे होते हैं ? यों हृदयमें विचार करनेसे तुम्हें परमोत्कृष्ट महत्ता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार जब परमात्म-तत्त्वका यथार्थ अनुभव कर लेनेपर तुम संतुष्ट हो जाओगे, तब जैसे संतान संतुष्ट हुए पिताकी कृपाका पात्र होती है, उसी तरह वे सभी सम्पत्तिशाली राजा-महाराजा तुम्हारे कृपापात्र हो जायँगे। सज्जनशिरोमणे ! परमात्माकी प्राप्तिरूप महत्ताको प्राप्त कर लेनेपर तुम्हारा चित्त जागतिक विषय-भोगोंमें उसी प्रकार नहीं डूबेगा, जैसे गायके खुरके गड्ढेके जलमें हाथी नहीं डूबता। तुम्हारे अन्तःकरणमें केवल दृश्यका अवलम्बन करनेवाली वासनारूपा दीनता छायी हुई है, अपनी उसी दीनताके कारण तुम कीड़ेकी भाँति भोगोंमें पच रहे हो। जो सर्वात्मिका बुद्धिसे सब देशमें, सब कालमें, सभी प्रकारोंसे सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चका परित्याग कर देता है, उसे सर्वरूप परमात्मा अपने-आप उपलब्ध हो जाते हैं; किंतु जबतक सम्पूर्ण दृश्योंका पूर्णतया त्याग नहीं हो जाता, तबतक परमात्मा-का साक्षात्कार होना दुर्लभ है; क्योंकि सभी अवस्थाओं-का परित्याग कर देनेपर जो शेष रहता है, वही परमात्मा कहा गया है। राजन् ! अन्यान्य कार्योंका परित्याग करके आत्मा जिस विषयकी प्राप्तिके लिये स्वय सब प्रकारसे यत्न करता है, उसीको पाता है; उससे भिन्न कुछ नहीं मिलता। इसलिये अपने आत्मा-का साक्षात्कार करनेके लिये सभी विषयोंका परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि सब कुछ त्याग देनेपर अन्तमें जो दृष्टिगोचर होता है, वही परमपद है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! महर्षि माण्डव्य राजा सुरघुको यों उपदेश देकर अपने उसी रुचिर आश्रमकी ओर चले गये, जहाँ मुनियोंका जमघट लगा रहता था। उन मुनिश्रेष्ठके चले जानेपर राजा सुरघु किसी दोषरहित एव एकान्त स्थानमें जाकर अपनी बुद्धिसे यों विचार करने लगा—'वस्तुतः स्वयं मैं कौन हूँ ? मै मेरुपर्वत तो हूँ नहीं और न मेरुगिरि मेरा है। न तो मैं जगत् हूँ और न जगत् मेरा है। मैं पर्वत भी नहीं हूँ और न पर्वत मेरे हैं। मैं न पृथ्वी हूँ और न पृथ्वी मेरी है। यह किरात-मण्डल भी मेरा नहीं है और न मैं किरातमण्डल हूँ। केवल अपने संकेतसे ही यह देश मेरा कहा जाता है। लो, मैंने इस सकेतको छोड़ दिया, अतः न तो मैं देश हूँ और न यह देश मेरा है। इस नगरके विषयमें भी इस कल्पनात्यागसे यही निश्चय होता है कि यह पुरी जो पताकाओं और वनश्रेणियोंसे सुशोभित, भृत्यों और उपवनोंसे व्याप्त तथा हाथी, घोड़ों और सामन्तोंसे परिपूर्ण है, वह मैं नहीं हूँ और न यह पुरी मेरी है। जो मिथ्याभूत मान्यतासे सम्बन्ध रखनेवाला और उस मान्यताका विनाश होनेपर नष्ट हो जानेवाला है, ऐसा यह भोग-समुदाय और भार्या आदि कुटुम्ब भी मैं नहीं हूँ और न ये सब मेरे हैं। इसी प्रकार भृत्यों, सेनाओं, वाहनों एवं अन्यान्य नगरोंसे युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और न राज्य मेरा है; क्योंकि यह मान्यता तो केवल कल्पित है। इस शरीरमें स्थित मांस और अस्थि भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये जड हैं। कमलदलपर पड़े

हुए जलकी बूँदकी तरह उनका मेरे साथ सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार मांस, रक्त और हड्डियाँ—ये सभी जड हैं; अतः मैं ये नहीं हूँ और न किसी दशामें ये मेरे हैं। कर्मेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ और न कर्मेन्द्रियाँ मेरी हैं। इस प्रकार इस देहमें यावन्मात्र जड पदार्थ हैं, वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं तो चेतन हूँ। मैं भोग नहीं हूँ और न भोग मेरे हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी मेरी नहीं हैं और न मैं ही ज्ञानेन्द्रियाँ हूँ; क्योंकि वे जड और असत्स्वरूपा हैं। जो संसाररूपी दोषका मूल कारण है, वह मन भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि वह तो जड है। बुद्धि और अहंकार भी मैं नहीं हूँ और न वे मेरे हैं; क्योंकि यह दृष्टि मनोमयी होनेके कारण जड है। यों चञ्चलस्वरूपवाले शरीरसे लेकर मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदितक जो स्थूल-सूक्ष्म भूतोंका समुदाय है, उनमेंसे मैं एक भी नहीं हूँ।

'अहो! महान् आश्चर्यकी बात है, मैं तो सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित विशुद्ध साक्षीस्वरूप चेतन आत्मा हूँ। जिसकी प्राप्तिके लिये मै चिरकालसे प्रयत्नशील था, उस आत्माकी उपलब्धि तो मुझे आज ही हुई है। जिस विशुद्ध आत्माका कहीं अन्त नहीं है, वह तत्पदबोध्य असीम आत्मा ही मैं हूँ। वह चेतन आत्मा निर्मल, विषय-दोषोंसे शून्य, सम्पूर्ण दिङ्मण्डलको परिपूर्ण करनेवाला, सर्वव्यापक, सूक्ष्म, उत्पत्ति-विनाश-रहित, समस्त आकारोंसे परे एवं सर्वदा सर्वभावको प्राप्त है। जगत्की यह अनुभवात्मक कल्पना भी चेतना-शक्तिमयी ही है। यह जो सुख और दुःखकी दशाका ज्ञान होना है, वह तो मिथ्या अनुभवमात्र है तथा जो नाना प्रकारके आकारोंकी प्रतीति होती है, वह सब कुछ परम चेतन आत्मा ही है। जो समस्त जगत्में व्यापक है, वही चेतन मेरा आत्मा है और जो मेरी बुद्धिका साक्षी है, वही यह चेतन है। इसी चेतन-शक्तिकी कृपासे मन देहरूपी रथपर आरूढ होकर अनेकों सृष्टि-विलासोंमें जाता है, वहाँ दौड़-धूप करता और नाचता है। वस्तुतः तो ये मन-शरीर आदि वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि इनके नष्ट हो जानेपर भी आत्माका कुछ नहीं बिगड़ता। चित्तरूपी नटने ही इस जगज्जालरूपी नाटकका विस्तार किया है। इसे केवल वही बुद्धि देखती है, जो दीप-शिखाके समान देदीप्यमान है। अत्यन्त खेदकी बात है कि निग्रह और अनुग्रहकी स्थितिमें मुझे देहविषयिणी चिन्ता व्यर्थ ही हुई; क्योंकि परमार्थतः देह कुछ भी नहीं है। अहो! अब तो मुझे विशेषरूपसे ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है, जिससे मेरा असद्विचार नष्ट हो गया है। जिसे जानना आवश्यक था, उसे मैंने जान लिया और जो प्राप्त करने योग्य था, उसे पा लिया। अब लोकमें वे निग्रह और अनुग्रह कहाँ हैं, किस प्रकारके हैं, किसमें रहते हैं और उनका स्वरूप क्या है? इसी तरह हर्ष और अमर्षकी परम्परा भी कहाँ है? अर्थात् ये सभी व्यर्थ कल्पनामात्र ही हैं। अब मैं रागशून्य, विषयोंके संसर्ग-से रहित और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंसे परे होकर उस विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्मामें, जो संसार-भ्रम और रागादिसे शून्य है, नित्य निवास करूँगा।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम! जैसे गाधिनन्दन विश्वामित्रने अपने तपोबलसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था, उसी तरह हेमजट नामक किरातोंके राजा सुरघुने निश्चयात्मक ज्ञानके बलसे परमपद प्राप्त कर लिया। तभीसे राजा सुरघु चिन्ताज्वरसे मुक्त हो गया। वह सर्वदा निग्रह-अनुग्रहरूपी अपने राजोचित कार्योंमें उसी तरह अटल बना रहता था, जैसे जल-प्रवाहके सम्मुख पर्वत निष्कम्प बना रहता है। हर्ष, विषाद और ईर्ष्यासे रहित होकर प्रतिदिन यथावसर प्राप्त हुए कार्योंको न्यायपूर्वक करता हुआ राजा सुरघु अपनी उदार और गम्भीर आकृतिद्वारा समुद्रसे भी बढ़-कर सुशोभित होने लगा। उसकी वृत्ति अन्तःकरणको

शीतल करनेवाली, निश्चलताके कारण धीर और समदर्शनात्मक थी; उस वृत्तिसे वह परिपूर्ण समुद्र और चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाने लगा। यह सारा जगत् केवल चेतन-तत्त्वकी कल्पना ही है—यों निश्चय करनेके कारण उसकी बुद्धि सांसारिक सुख-दुःखोंसे रहित हो गयी थी; अतः वह पूर्णरूपसे प्रकाशित हो रही थी। इसलिये प्रबुद्ध तथा चेतनमें विलीन हुआ वह राजा हर्षित होते, प्रफुल्लित होते, पूर्णरूपसे स्थित रहते, चलते, बैठते और सोते समय सदा समस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता था। उसका शरीर विकाररहित था तथा नेत्र कमलके समान सुन्दर थे। वह अनासक्तभावसे राज्य करते हुए सैकड़ों वर्षपर्यन्त इस भूमण्डलपर विद्यमान रहा। तत्पश्चात् उसने स्वयं ही इस पञ्चभूतात्मक शरीरका परित्याग कर दिया और परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेके कारण, जो सृष्टि और प्रलयके हेतु तथा ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, उन परब्रह्म परमात्मामें प्रवेश कर गया—ठीक उसी तरह, जैसे नदियोंका जल परिपूर्ण समुद्रमें प्रवेश करता है। वह विशुद्ध एकरस स्वप्रकाश परमात्माको यथार्थरूपसे जान चुका



था और जन्म आदि विकारोंसे रहित अवस्थाको प्राप्त कर लेनेके कारण उसके समग्र शोक शान्त हो गये थे; इसलिये वह पूर्णरूप परब्रह्म परमात्मामें उसी प्रकार एकीभावको प्राप्त हो गया, जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है। (सर्ग ५८—६०)

किरातराज सुरघु और राजर्षि पर्णाद (परिघ) का संवाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जिस समय सुरघुको तत्त्वज्ञान हो चुका था, उसी समय अर्थात् उसके जीवनकालमें ही उसका और राजर्षि पर्णाद (परिघ) का परस्पर जो अद्भुत संवाद हुआ था, उसे सुनो। रघुकुलको आनन्दित करनेवाले राम! जैसे रथपर रखा हुआ परिघ नामक अस्त्र विपक्षी वीरोंका संहार करनेमें प्रसिद्ध है, उसी तरह पारसीक देशका एक विख्यात राजा हो गया है, जो शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला था। उसका नाम था परिघ। वह किरातराज सुरघुका परम मित्र था। किसी समय जैसे कल्पान्तके अवसरपर संसारमें वर्षाका अभाव हो जाता है, उसी तरह राजा परिघके राज्यमें महान् अवर्षण हुआ, जिसमें प्रजाजनोंका पापरूपी दोष ही कारण था। उस समय बहुत-सी जनता भूखसे गतप्राण होकर उसी प्रकार विनष्ट हो गयी, जैसे जंगलमें आग लग जानेपर झुंड-के-झुंड प्राणी जलकर भस्म हो जाते हैं। प्रजाके उस कष्टको देखकर राजा परिघको अपार विषाद हुआ। उसने प्रजाजनोंको विनाशसे बचानेके लिये अनेकों यत्न किये, किंतु वे सब निष्फल सिद्ध हुए। तब उसे राज्यसे वैराग्य हो गया। फिर तो जैसे राहगीर जले हुए गाँवको छोड़कर

चल देते हैं, उसी तरह उसने शीघ्र ही अपने सम्पूर्ण राज्यका परित्याग कर दिया और मृगचर्मधारी मुनियोंकी तरह तपस्या करनेके लिये जंगलकी राह ली । वह विरक्तात्मा परिघ किसी दूरवर्ती काननमें, जो पुरवासियों-की जानकारीके बाहर था, जाकर इस प्रकार रहने लगा मानो किसी अन्य लोकमें चला गया हो । उसकी बुद्धि तो शान्त थी ही, उसने अपने मन-इन्द्रियोंका भी दमन कर लिया था; अतः वह वहाँ एक पर्वतकी कन्दरामें आसन लगाकर तपस्यामें निरत हो गया । उस समय स्वयं सूखकर गिरे हुए पत्ते ही उसके आहार थे । इस प्रकार चिरकालतक वह अग्निकी भाँति सूखे पत्तोंको ही भक्षण करता रहा, जिससे तपस्वियोंके मध्यमें वह 'पर्णाद' नामसे विख्यात हुआ । तभीसे वह परिघ जम्बूद्वीपमें मुनियोंके आश्रमोंमें राजर्षिश्रेष्ठ पर्णादके नामसे प्रसिद्ध हो गया । तदनन्तर एक सहस्र वर्षोंकी घोर तपस्या और अभ्यासके द्वारा परमात्माकी कृपासे उसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति हुई । साधुस्वभाव राम ! फिर तो उसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो उठी । वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे परे हो गया । उसकी विषय-वासनाएँ नष्ट हो गयीं । उसका मन विक्षेपशून्य और शान्त हो गया तथा वह विषयोंकी आसक्तियों और आक्षेपोंसे रहित हो गया । इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर वह तत्त्वज्ञानियों तथा तत्त्वजिज्ञासु मुनियोंके साथ स्वेच्छानुकूल त्रिलोकीमें विचरण करने लगा । यों पर्यटन करते हुए वह एक समय हेमजट देशके अधिपति राजा सुरघुके रत्ननिर्मित महलमें जा पहुँचा । वे दोनों पहलेके मित्र तो थे ही, साथ ही वे पूर्ण ज्ञानी थे । उन्हें ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो चुका था तथा वे जीवन्मुक्त थे; अतः वे परस्पर एक-दूसरेका आदर-सत्कार करके यों कहने लगे—'अहो ! निश्चय ही आज मेरे कल्याणमय पावन सत्कर्मोंका फल उदय हुआ है, जिससे मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ ।' उस समय उनके शरीर आनन्दसे परिपूर्ण हो गये थे, अतः वे परस्पर आलिङ्गन करके एक ही आसनपर विराजमान हुए ।



तब परिघने कहा—सखे ! तुम्हारे दर्शनसे आज मेरा चित्त परमानन्दसे परिपूर्ण हो गया है । सज्जन-शिरोमणे ! पहलेके वे संकोचहीन वार्तालाप, विविध लीलाएँ और विभिन्न चेष्टाएँ बारंबार मेरे स्मृति-पटलपर आ रही हैं, जिससे मुझे परम हर्ष हो रहा है । निष्पाप राजन् ! जैसे महर्षि माण्डव्यकी कृपासे तुम्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई है, उसी तरह आराधनाद्वारा प्रसन्न हुए परमात्माके प्रसादसे मुझे भी यह ज्ञान प्राप्त हुआ है । मित्र ! अब तो तुम्हें कोई कष्ट नहीं है न ? तुम मेरुगिरिपर विश्राम करनेवाले भूमण्डलके अधिपतिकी तरह परम कारणरूप परब्रह्म परमात्मामें विश्रामको प्राप्त हो गये हो न ? परम कल्याणस्वरूप ! तुम्हारे चित्तमें आत्मारामताके कारण सदा प्रसन्नता स्थायी रहती है न ? परम सौभाग्यशाली नरेश ! तुम अत्यन्त

प्रसन्नता एवं गम्भीरतापूर्ण समदृष्टिसे जनताके कल्याणार्थ कर्तव्यकर्मोंको करते हो न ? तुम्हारे देशमें निवास करनेवाली जनता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे रहित, धैर्य-सम्पन्न और धन-धान्यसे परिपूर्ण है न ? उसे कोई चिन्ता तो नहीं सताती ? क्या उत्तम फल प्रदान करनेवाली एवं अनेकविध फलोंके भारसे नम्र हुई कल्पलताकी भाँति तुम्हारे राज्यकी भूमि प्रजाजनोंका उनके अभिलषित पदार्थोंकी पूर्तिद्वारा सदा-सर्वदा पोषण करती है ? जैसे चन्द्रमाके किरणजाल सारे भूमण्डलको व्याप्त कर लेते हैं, उसी तरह तुम्हारा पावन यश, जो तुषार-राशिके सदृश निर्मल है, सारी दिशाओंमें फैला हुआ है न ? जैसे सरोवरका जल अपने अंदर रहनेवाले कमल-नालोंकी भूमिको पूर्ण कर देता है, वैसे ही तुमने अपने गुण-गणोंसे सारी दिशाओंको भर दिया है न ? क्या गाँव-गाँवमें धानकी क्यारियोंके कोनोंमें बैठी हुई हर्षित चित्तवाली कुमारियाँ तुम्हारे आनन्दवर्धक यशका गान करती हैं ? तुम्हारे धन-धान्य, ऐश्वर्य, भृत्यवर्ग, पुत्र-कलत्र और नगर आदि सबकी कुशल तो है न ? तुम्हारी यह शरीररूपी लता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं-से रहित होकर उस पुण्य नामक फलको उत्पन्न करती है न, जिसकी इहलोक तथा परलोक—दोनोंके लिये शास्त्र आज्ञा देते हैं ? जो तत्त्वज्ञानमें प्रतिबन्धक होनेके कारण महान् शत्रु-तुल्य हैं तथा सर्पके समान विषवत् फल प्रदान करनेवाले हैं, ऐसे इन आपात-रमणीय विषयभोगोंसे तुम्हारा मन विरक्त तो है न ? अहो ! हम दोनोंको वियुक्त हुए बहुत-सा काल व्यतीत हो गया, परंतु कालकी प्रेरणासे आज हम पुनः मिल गये । सखे ! जगत्में संयोग-वियोग-जनित सुख-दुःखकी ऐसी कोई अवस्थाएँ हैं ही नहीं, जिनका प्राणियोंको अनुभव न होता हो । इसी नियमके अनुसार हमलोग भी दीर्घ-कालिक सुख-दुःखकी दशाओंके फेरमें पड़ गये थे, परंतु अब पुनः आ मिले हैं । अहो ! भगवान्का कैसा अद्भुत विधान है !

सुरघु बोला—भगवन् ! भगवद्विधानरूप इस नियतिकी गति सर्पकी चालकी तरह बड़ी टेढ़ी है । वह गम्भीर एवं विस्मयजनक है । भला, उसे कौन जान सकता है । उसने ही आपको और मुझे चिरकाल-तक दूर हटाकर आज पुनः मिला दिया है । अहो ! उस नियतिके लिये क्या असाध्य है ? अर्थात् कुछ नहीं । महात्मन् ! आज आपके शुभागमन-जनित पुण्यके संस्पर्शसे हम सब तरहसे कल्याणके भागी और परम पावन हो गये । राजर्षे ! इस नगरमें हमारी जो सम्पत्तियाँ वर्तमान हैं, वे सभी आज आपके शुभागमनसे सैकड़ों रूपोंमें वृद्धिको प्राप्त हो गयी हैं । महानुभाव ! आपके पुण्यवचन और दर्शन चारों ओरसे मानो राशि-राशि अमृतरूप मधुर रसायनोंकी वर्षा कर रहे हैं; क्योंकि सत्पुरुषोंका समागम परमपदकी प्राप्तिके समान होता है ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! प्रायः ऐसे ही प्राचीन स्नेहसे ओतप्रोत एवं संकोचहीन वार्तालाप करते हुए राजा परिघ सुरघुके राजसदनमें चिरकालतक स्थित रहे । तदनन्तर उन्होंने सुरघुसे पूछा—'राजन् ! जो समग्र संकल्पोंसे शून्य, विश्रामका परमोत्तम स्थान तथा विक्षेपात्मक दुःखोंकी शान्तिका परम साधन है, उस कल्याणकारिणी समाधिका अनुष्ठान तो तुम करते हो न ?

सुरघुने कहा—प्रभो ! आप मुझसे 'सम्पूर्ण संकल्पों-से रहित परम शान्ति ही कल्याणप्रद है' ऐसा तो कहिये, परंतु समाधिके लिये क्यों कहते हैं ? क्योंकि महात्मन् ! जो तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष है, वह चाहे समाधिस्थ रहे चाहे व्यवहार करे, उसका तो स्वरूप ही सदा समाधिस्थ-सा हो जाता है । वह कभी असमाहित चित्तवाला हो ही नहीं सकता । जिनका चित्त प्रबुद्ध हो गया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी महात्माओंकी आत्मारूपी अद्वितीय तत्त्वमें परम निष्ठा हो जाती है, इसलिये वे सांसारिक व्यवहारोंको करते हुए भी सदा-

सर्वदा समाधिसम्पन्न ही बने रहते हैं। परन्तु जिसका अन्तःकरण चञ्चल होनेके कारण विश्रामको नहीं प्राप्त हुआ है, वह चाहे पद्मासन बाँधे चाहे परब्रह्मको अञ्जलि समर्पित करे, उसकी कोई समाधि कैसे लग सकती है। भगवन्! मौन होकर बैठे रहना ही समाधि थोड़े ही है। समाधि तो परमात्मतत्त्वके उस यथार्थ ज्ञानको कहते हैं, जो सम्पूर्ण आशारूपी घास-फूसको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप है। साधो! परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन उस तीक्ष्ण और अचल परा प्रज्ञाको ही समाधि कहते हैं, जो एकाग्र, सदा-सर्वदा तृप्त और सत्य अर्थको ग्रहण करनेवाली है। एवं जो प्रज्ञा क्षोभरहित, अहंकारशून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे पृथक् रहनेवाली तथा मेरुसे भी बढ़कर स्थिरतायुक्त है, उसे समाधि कहते हैं। जो मनःस्थिति चिन्ताशून्य, अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्त करनेवाली, ग्रहणोपादानसे रहित तथा सच्चिदानन्द परमात्मभावसे परिपूर्ण है, उसके लिये समाधि-शब्दका व्यवहार किया जाता है। जब मन तत्त्वज्ञानके साथ सदाके लिये अत्यन्त सम्बद्ध हो जाता है, तबसे ज्ञानी महात्माकी समाधि सदा बनी रहती है, उसका कभी विच्छेद नहीं होता। जैसे सूर्य दिनभर प्रकाशसे विश्राम नहीं लेता, अपितु प्रकाशपूर्ण ही रहता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानीकी प्रज्ञा जीवन-पर्यन्त परमात्म-तत्त्वके यथार्थ अवलोकनसे विश्राम नहीं लेती, अपितु सदा-सर्वदा परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे परिपूर्ण रहती है। जैसे नदी निरन्तर बेरोक-टोक जलकी धारा बहाती रहती है, उसी तरह महात्माकी विज्ञानमयी दृष्टि क्षणमात्रके लिये भी परमात्माके स्वरूपज्ञानसे विरत नहीं होती, अपितु सदा-सर्वदा एकरस बनी रहती है। जैसे काल अपने क्षण आदि कलाओंकी गतिको कभी नहीं भूलता, उसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुषकी बुद्धि अपने आत्मस्वरूपका कभी विस्मरण नहीं करती। तथा जैसे सर्वत्र गमन करनेवाले वायुदेवको सदा अपनी गतिका ध्यान बना रहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानीकी बुद्धि निश्चय करने योग्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका सतत चिन्तन करती रहती है। जैसे जिस पदार्थकी सत्ताका विनाश हो जाता है, उसकी पुनः उपलब्धि नहीं होती, उसी तरह तत्त्वज्ञानीका समय परमात्माके ज्ञानसे विहीन होकर कभी उपलब्ध नहीं होता। अर्थात् वह सदा परमात्माके ध्यानमें ही रचा-पचा रहता है। जैसे संसारमें गुणवानोंका गुणहीन होना असम्भव है, उसी तरह आत्मज्ञानी महात्मा कभी भी परमात्माके ज्ञानसे विहीन नहीं रह सकता। मैं सदा-सर्वदा ही परमात्मज्ञानसे सम्पन्न, परमशुद्धस्वरूप, शान्तात्मा और समाहितचित्त हूँ; ऐसी दशामें मेरा समाधिसे विच्छेद किसके द्वारा और कैसे हो सकता है। क्योंकि मेरी समाधि परमात्माके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, अतः उस परमात्मस्वरूप समाधिका अस्तित्व नित्य ही बना हुआ है। जब यह जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सारा-का सारा सदा सब प्रकारसे सर्वव्यापक परमात्मस्वरूप ही है, तब किसे समाधि कहा जाय और किसे असमाधि?

तब परिघने कहा—राजन्! निश्चय ही तुम्हें परमात्माके यथार्थ रूपका ज्ञान प्राप्त हो गया है और उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्मरूप परमपदकी प्राप्ति भी हो चुकी है। इसीलिये तुम्हारा अन्तःकरण परमशान्तिरूप शीतलतासे युक्त हो गया है, जिससे तुम पूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे हो। महाराज! इस समय स्नेहके कारण अत्यन्त मधुर, शीतल, आनन्दरूपी पुष्परससे परिपूर्ण एवं उत्तम श्रीसे सम्पन्न होनेके कारण तुम्हारी शोभा कमल-जैसी हो रही है। तुम्हारा चित्त निर्मल, विस्तृत, परिपूर्ण, गम्भीर और विशद आशयवाला है; इससे तुम्हारी वैसी ही शोभा हो रही है, जैसी तटवर्ती झंझावातसे मुक्त हुए शान्त समुद्रकी होती है। जैसी शोभा शरत्कालीन निर्मल आकाश धारण करता है, वैसे ही तुम भी स्वच्छ, आनन्दसे परिपूर्ण, अहंकाररूपी

बादलोंसे रहित, स्पष्ट, विस्तीर्ण और अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण शोभित हो रहे हो। राजन्! तुम सर्वत्र अपने स्वरूपमें समभावसे स्थित दीख पड़ते हो, सर्वत्र पूर्णतया संतुष्ट हो और किसी विषयमें तुम्हारी आसक्ति नहीं रह गयी है; इसलिये सर्वत्र तुम्हारी शोभा हो रही है। तुम अपनी उत्तम बुद्धिसे सार-असारका निर्णय करके उसके झमेलेसे पार हो गये हो तथा तुम्हें इसका भी ज्ञान हो चुका है कि यह जो कुछ दृश्य-प्रपञ्च है, वह सारा-का-सारा अखण्ड परब्रह्म परमात्मा ही है।

सुरघु बोला—मुने! संसारमें ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिससे ग्रहण करनेके लिये हमारे मनमें अभिलाषा हो; क्योंकि यह जितना दृश्य-प्रपञ्च है, यह सभी कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है। त्रिलोकीमें जो ये स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनश्रेणियाँ आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये सभी वास्तविकतासे शून्य हैं; क्योंकि वास्तवमें इस जगत्-में कोई सारभूत वस्तु है ही नहीं। इस मांस और अस्थिमय शरीरमें तथा काष्ठ, मिट्टी और शिलामय जगत्में जो जर्जर, अवाञ्छनीय और अभावस्वरूप है, किस वस्तुकी इच्छा की जाय? अर्थात् इनमें कुछ भी वाञ्छनीय नहीं है। इस विषयमें अब विशेष कुछ कहना आवश्यक नहीं दीख पड़ता; क्योंकि यदि मन रागरूप रससे रहित तथा समभावमें नित्य स्थित एवं आत्मस्वरूप ही परितृप्त है तो वही सर्वोत्तम स्थिति है। अतः परमानन्दकी प्राप्तिके लिये केवल इसी दृष्टिका सदा-सर्वदा आश्रय ग्रहण करना उचित है।

(सर्ग ६१—६२)

आत्माका संसार-दुःखसे उद्धार करनेके उपायोंका कथन तथा भास और विलास नामक तपस्वियोंके वृत्तान्तका आरम्भ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यों तत्त्वज्ञ सुरघु और राजर्षि पर्णाद (परिघ) दोनो जगद्भ्रमका विचार करके परम प्रसन्न हुए। उन्होने एक-दूसरेका आदर-सत्कार किया और फिर वे अपने-अपने कार्यमें तत्पर होकर अभीष्ट स्थानको चले गये। ज्ञानी महापुरुषों के साथ विचार-विमर्श करनेके कारण अत्यन्त तीव्र हुई उत्तम बुद्धिद्वारा जिसके हृदयाकाशमें अहंकाररूपी काले मेघोंका सर्वथा अभाव हो गया है, शरत्कालीन निर्मल आकाशकी तरह जिसका विस्तृत चित्त समस्त लोगोंद्वारा अनुमोदित, फलात्मक बोधसे युक्त, आह्लादजनक एवं रागादि मलोंसे रहित हो गया है, जो ध्यान करने एवं शरण लेनेयोग्य, सुगम, सम्पूर्ण आनन्दोंकी निधि, अत्यन्त प्रसन्न विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित रहता है और जो नित्य परमात्माके विचारमें निरत, सदा अन्तर्मुखी वृत्तिसे युक्त, सुखी तथा नित्य चिन्मय परमात्माका अनुसंधान करनेवाला है, उसे मानसिक शोक कभी बाधा नहीं पहुँचा सकते। जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे सम्पन्न, शुद्ध, भीतरसे परमशान्तियुक्त एवं मननशील महात्मा है, उसे मन क्लेश नहीं दे सकता—ठीक उसी तरह, जैसे हाथी सिंहको बाधा नहीं पहुँचा सकता। ज्ञानीका अन्तःकरण तो अत्यन्त विशाल होता है; क्योंकि वह केवल विषय-भोगोंकी शरण लेनेवाला और दीन नहीं होता। ज्यों ही 'अविद्या असत् है' यों अविद्याके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हुआ, त्यों ही उसका सदा-सर्वदाके लिये अभाव हो जाता है—जैसे स्वप्नका ज्ञान हो जानेपर स्वप्नदृष्ट भोग-भूमिका सर्वथा विनाश हो जाता है। जिसकी बुद्धि विषयोंकी आसक्तिसे रहित और केवल विज्ञाना-नन्दघन परमात्मामें नित्य स्थित है, उस श्रेष्ठ महापुरुषको व्यवहारपरायण रहनेपर भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता। जब चेतन परमात्माके देदीप्यमान प्रकाशका उदय होता है, तब अज्ञानरूपी रात्रि विनष्ट हो जाती है और ज्ञानीकी परमानन्दको प्राप्त हुई बुद्धि प्रकाशित हो उठती है।

सत्-शास्त्रज्ञानरूपी सूर्यद्वारा प्रबोधित मनुष्यकी अज्ञान-निद्राका जब सर्वथा विनाश हो जाता है, तब उसे परमात्मविषयक उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिसे पा लेनेपर फिर कभी मोह नहीं होता। उन्हीं दिनोंका जीवन वास्तवमें सफल है और वे ही क्रियाएँ सच्चे आनन्दसे युक्त हैं, जिन दिनों और जिन क्रियाओंमें हृदयाकाशमें परमात्मारूपी चन्द्रमाके उदय होनेसे चेतनारूपिणी चाँदनी खिल रही हो। मोहका अतिक्रमण कर लेनेवाला मनुष्य निरन्तर आत्मचिन्तनके प्रभावसे अपने अन्तःकरणमें उसी प्रकार शीतलताको प्राप्त कर लेता है, जैसे चन्द्रमा अपने अंदर वर्तमान अमृतसे सदा शीतल बना रहता है। वे ही मित्र सच्चे मित्र हैं, वे ही शास्त्र सत्-शास्त्र हैं और वे ही दिन शुभ दिन हैं; जिनके सहयोगसे वैराग्यरूपी उल्लाससे युक्त परमात्मविषयक चित्तका अभ्युदय स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है। जिनके पाप क्षीण नहीं हुए हैं और जो परमात्माकी प्राप्तिकी उपेक्षा करते हैं, वे जन्मरूपी जंगलके गुल्म हैं, दीन हैं और उन्हें चिरकालतक दुःखोंके लिये शोक करना पड़ता है।

श्रीराम! जीवात्मा एक बैलके समान है। बुढ़ापेने इसके शरीरको जर्जरित कर दिया है, जिससे यह शोकजनित उच्छ्वाससे विडम्बित हो रहा है। यह आशारूपी सैकड़ों पाशोंसे जकड़ा हुआ है, फिर भी भोगरूपी घासके लिये इसके मनमें उत्कृष्ट लालसा भरी है। यह अपनी पीठपर दुःखका भारी बोझ लिये हुए जन्मरूपी जंगलमें भटक रहा है और सारे शरीरमें कुकर्मरूपी कीचड़ लपेटे हुए मोह-जलाशयमें लोट रहा है। रागकी दन्तपङ्क्तियाँ इसे चबाये डालती हैं और तृष्णारूपी नाथसे यह खींचा जा रहा है। मनरूपी वणिक्ने इसपर अधिकार जमा रखा है। यह बन्धु-ममतारूपी बन्धनमें बँधा होनेके कारण चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गया है। पुत्र-कलत्रकी ममताजनित जीर्णतारूपी दलदलमें यह बुरी तरह फँस गया है। लंबे रास्तेपर चलनेके कारण इसका मन टूट गया है और विश्राम न मिलनेसे यह थक गया है, जिससे अब इसके चलने-फिरनेकी शक्ति क्षीण हो गयी है। संसाररूपी अरण्यमें चक्कर काट रहा है, फिर भी परम शान्तिरूप शीतल छाया इसे नसीब नहीं हुई; उल्टे यह विषय-संसर्गजनित तीव्र तापसे संतप्त हो उठा है। बाह्य इन्द्रियाँ इसे आक्रान्त किये हुए हैं, जिससे ऊपरसे तो इसका आकार सुन्दर है किंतु अन्तःकरण दीन हो गया है। इसके गलेमें लटकते हुए कर्मरूपी घंटेका शब्द हो रहा है। यह जन्म-मरणरूपी गाड़ीके बोझसे लदा हुआ अज्ञानके विकट वनमें लोट रहा है, ऊपरसे पापरूपी कोड़ोंकी मार पड़ रही है, जिससे इसका शरीर भग्न हो गया है। अनर्थोंमें ही सदा निमग्न रहनेसे दुःखी, दीन और शिथिल अङ्गवाला यह कर्मोंके भारी भारसे पीड़ित होकर करुण-क्रन्दन कर रहा है। अतः चिरकालतक उत्तम यत्नका आश्रय लेकर परमात्मविषयक ज्ञानरूपी बलके सहारे इसका संसाररूपी जलाशयसे उद्धार करना चाहिये।

राघव! परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेसे जब चित्त विनष्ट हो जाता है, तब जीवात्मा पुनः संसारमें कभी जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह तो उसी समय संसार-सागरसे पार हो जाता है। श्रीराम! जैसे समुद्रको पार करनेके लिये नाविकसे जहाज प्राप्त होता है, उसी तरह ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे संसार-सागरको लाँघ जानेकी युक्ति ज्ञात हो जाती है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह मरुस्थलकी भाँति जिस देशमें परम शान्तिरूपी शीतल छाया और मोक्षरूपी फलसे सम्पन्न तत्त्वज्ञ महापुरुषरूपी वृक्ष न हों, वहाँ निवास न करे। श्रीराम! कोमल और शान्तिप्रद वचन ही जिसके पत्ते हैं, सच्चरित्रता ही जिसकी छाया है, मुसकान ही जिसके पुष्प हैं—ऐसे महापुरुषरूपी चम्पाके वृक्षके नीचे जानेसे उनके सङ्गके प्रभावसे क्षणभरमें ही आत्यन्तिक विश्राम प्राप्त हो जाता है। मनुष्य स्वयं ही

अपना मित्र है। अत. उसे चाहिये कि वह सत्सङ्ग, तीव्र अभ्यास, वैराग्य, विवेक-विचार आदि उपायोंसे स्वयं ही अपना उद्धार कर ले; संसारकी आसक्ति, ममता, कामना और देहाभिमानके गर्तसे अपने-आपको जन्म-मरणरूपी कीचड़के महासागरमें न फँसाये। विवेकशील पुरुषोंको सत्सङ्ग, तीव्र अभ्यास और वैराग्य आदि प्रबल उपायोंद्वारा सदा यों विचार करते रहना चाहिये कि 'यह देह आदि दु.ख क्या है? कैसे आया है? इसका मूल कारण क्या है? और किस साधनसे इसका विनाश हो सकता है?' क्योंकि अज्ञानमें निमग्न हुए अपने आत्माका उद्धार करनेमें मनुष्योंका धन, मित्र, साधारण शास्त्र और बन्धु-बान्धव—कोई भी उपकारक नहीं होते। हाँ, सदा-सर्वदा साथ रहनेवाले विशुद्ध मनरूपी सुहृद्के साथ थोड़ा-सा भी परामर्श करनेसे आत्माका उद्धार हो जाता है। तीव्र वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नोंके द्वारा विवेकपूर्वक किये गये आत्मविचारसे जिसकी उपलब्धि होती है, उस परमात्मतत्त्व-साक्षात्काररूपी पोतके आश्रयसे यह भवसागर पार किया जाता है। जिसके लिये लोग प्रतिदिन चिन्ता कर रहे हों और जो दुराशाओंद्वारा दग्ध हो रहा हो, उस अपने आत्माकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; बल्कि आदरपूर्वक उसका उद्धार करना चाहिये। यह जीवात्मारूपी दंतार गजराज, जिसे बाँधनेके लिये अहंकार ही सुदृढ़ आलान है, तृष्णा ही लोहेकी साँकल है और मन ही जिसका मद है, जन्म-मरणके दलदलमें फँस गया है; अतः इसका उद्धार करना चाहिये।

जब मनुष्य विवेक-वैराग्यकी दृष्टिसे यों देखने लगता है कि यह देह काष्ठ और मिट्टीके ढेलेके समान है, तब उतनेसे ही उसे देवाधिदेव परमात्माका ज्ञान हो जाता है। पहले जब अहंकाररूपी मेघ नष्ट हो जाते हैं, तब यथार्थ आत्मज्ञानरूप सूर्य दिखायी पड़ता है। तदनन्तर उसके परिणामस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। जैसे अन्धकारका पूर्णतया विनाश हो जानेपर प्रकाश-का अनुभव स्वतः होने लगता है, उसी तरह अहंकारका समूल नाश हो जानेपर परमात्माका अपने-आप ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार अहंकारके विनष्ट हो जानेपर जो परम आनन्द और परम शान्तिमय अवस्था होती है, वह परिपूर्णावस्था है। पूर्ण समुद्रकी भाँति वह असीम होती है। न तो वह हमलोगोंके मन आदि इन्द्रियोंका विषय है, न उसकी किसी उपमानके साथ तुलना ही की जा सकती है और न वह विनाशशील विषयोंके पीछे ही दौड़ती है; अतः उसका तीव्र प्रयत्नसे निरन्तर सेवन करना चाहिये। श्रीराम! मन और अहंकारका विनाश हो जानेपर समस्त पदार्थोंके अंदर विद्यमान रहनेवाली जिस निरतिशयानन्दात्मक परमात्मस्वरूपास्थाका आविर्भाव होता है, वह स्वयं समाधिसिद्ध तथा वाणीके अगोचर है। उसका तो केवल हृदयमें ही अनुभव होता है। जैसे अनुभूतिके बिना खाँड़की मिठासका अनुभव नहीं होता, उसी तरह अनुभवके बिना परमात्माके स्वरूपका भी ज्ञान नहीं होता।

राजीवनयन राम! 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' इस प्रकारके अभिमानको त्यागकर मनसे ही विवेकपूर्वक विचारद्वारा संकल्पात्मक मनका छेदन करके यदि परमात्मा-का साक्षात्कार न किया जाय तो चित्रलिखित सूर्यके सदृश मिथ्या होते हुए भी इस जगत्-दुःखका कभी नाश नहीं होता, प्रत्युत महासागरकी तरह विस्तारवाली एवं दुःखदायिनी संसाररूपी विपत्ति अनन्त हो जाती है। इस विषयमें सह्य पर्वतके शिखरपर रहनेवाले भास और विलास नामक दो मित्रोंके संवादरूपमें निम्नलिखित प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है। वह सह्य पर्वत नाना प्रकारके पुष्पोंसे आच्छादित तथा निर्मल जलसे पूर्ण बहुसंख्यक झरनोंसे सुशोभित है। उसके ऊपरी भागमें देवता निवास करते हैं, तलहटीमें मनुष्योंने अपना आवासस्थान बना रक्खा है और पृथ्वीके अंदरका हिस्सा नागोंसे भरा रहता है। उसकी कन्दराओंमें सिद्धोंका निवासस्थान है। भीतरी भागमें नाना प्रकारकी खानें हैं। उसके शिखरोंपर उगे हुए चन्दन-वृक्षोंपर सर्प लिपटे

हते हैं और चोटियोपर सिंह दहाड़ते रहते हैं । उसी ह्य पर्वतके उत्तर-तटवर्ती शिखरपर, जहाँ फलोंके भारसे झुके हुए वृक्ष सुशोभित हैं, महर्षि अत्रिका अत्यन्त शोभाशाली विशाल आश्रम है । वह आश्रम सिद्धोंके श्रमका अपहरण करनेवाला, ब्रह्मलोकके समान उत्कृष्ट, स्वर्ग-तुल्य रमणीय और शिवजीके नगर कैलासके समान शोभासम्पन्न है । उसी विशाल आश्रममें शुक्र और बृहस्पति नामके दो तपस्वी रहते थे, जो आकाशमार्गमें विचरण करनेवाले शुक्र और बृहस्पतिके समान शास्त्रोंके ज्ञाता थे । कुछ समय बाद एक ही स्थानमें रहनेवाले उन दोनो तपस्वियोके पवित्र शरीरवाले दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे—विलास और भास । वे दोनों बालक उस आश्रममें पिताओंद्वारा लगाये हुए लता-वृक्षोंके लंबे-लंबे पल्लवोंकी तरह क्रमशः बढ़ने लगे । वे दोनों मित्र थे। उनके मनमें एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त स्नेह था, जिससे वे परस्पर प्रेम रखते थे और एक-दूसरेसे मिल-जुलकर रहते थे । उन दोनोका मन समान होनेके कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो एक ही मनने दो भागोमें विभक्त होकर दो शरीर धारण कर लिये हैं । इस तरह वहाँ रहते हुए उन दोनोंने थोड़े ही समयमें बचपनको लाँघकर युवावस्थामें प्रवेश किया । तदनन्तर जैसे दो पक्षी अपने-अपने घोंसलेसे उड़कर अन्यत्र चले जायँ, उसी तरह उनके वे दोनों पिता (शुक्र और बृहस्पति) बुढ़ापेसे दुखी हो शरीरका परित्याग करके स्वर्गको चले गये । पिताओंकी मृत्यु हो जानेपर उन दोनोंका मुख जलसे निकाले गये कमलकी तरह दीन हो गया, शरीर संतप्त हो गया और उत्साह जाता रहा । वे व्यथासे अभिभूत हो गये । तदनन्तर वे पिताओंकी और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न करके पितृशोकजनित करुणापूर्ण आर्त वाणीसे विलाप करने लगे ।

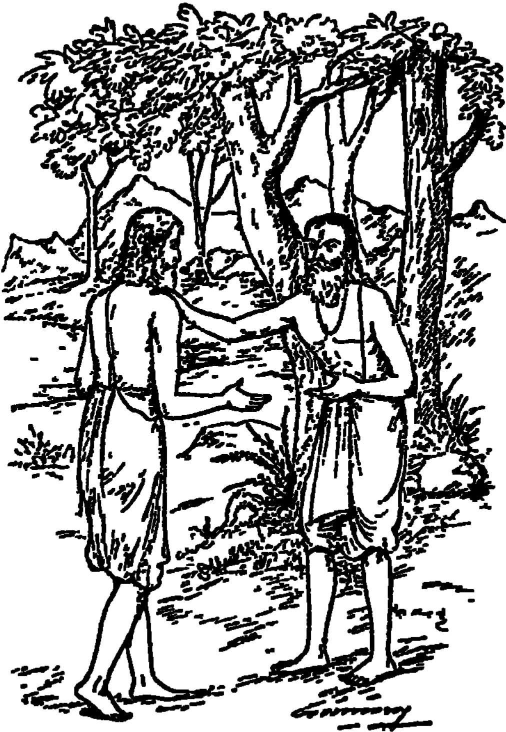


(सर्ग ६४-६५)

भास और विलासकी परस्पर बातचीत और तत्त्वज्ञानद्वारा उन्हें मोक्षकी प्राप्ति; देह और आत्माका सम्बन्ध नहीं है तथा आसक्ति ही बन्धनका हेतु है—इसका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार वे दोनों सुदृढ तपस्वी भास और विलास पिताके मृत्यु-जनित शोकसे पराभूत होकर स्थित थे । उस शोकजनित संतापसे उनके शरीर सूखकर काँटा हो गये थे और ऐसे लगते थे, जैसे ग्रीष्म ऋतुके प्रचण्ड तापसे आमूल-चूल सूखे हुए दो जंगली वृक्ष हों । उन्हें सांसारिक पदार्थोंसे परम वैराग्य हो गया था, अतः वे दोनों ब्राह्मण झुंडसे बिछुड़े हुए दो मृगोंकी भाँति वियुक्त होकर उस जंगलमें कालक्षेप करने लगे । इस प्रकार क्रमशः उनके दिन मास और वर्ष बीतते गये । अन्ततोगत्वा उन्हें बुढ़ापेने घेर लिया; परंतु उन्हें विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न हुई चिरकालके पश्चात् एक समय प्रारब्धवश उन दोनों

बिछुड़े हुए वृद्ध तापसोंकी परस्पर भेंट हो गयी, तब वे परस्पर यों कहने लगे।



विलासने कहा—मित्रवर भास ! इस जगत्‌में तुम्हीं मेरे परम प्रेमी बन्धु, मेरे जीवनरूपी उत्तम वृक्षके फल और सदा-सर्वदा मेरे हृदयमें निवास करनेवाले अमृतके सागर हो; तुम्हारा स्वागत है। सज्जनशिरोमणे! पहले यह तो बताओ, मुझसे अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये ? तुम्हारी तपस्या तो सफल हुई है न ? क्या तुम्हारी बुद्धि संसारविषयक संतापसे रहित हो गयी ? तुम्हारी विद्या फलवती हो गयी है न ? क्या तुमने परमात्माको प्राप्त कर लिया ? तुम सकुशल तो हो न ?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तब जिसे परमात्म-विषयक यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई थी तथा जो संसारसे पूर्णतया उद्विग्न हो गये थे, उन अपने मित्र विलासके यों कहनेपर परम हितैषी भासने उनसे आदर-पूर्वक कहना आरम्भ किया।

भास बोले—दूसरोंको मान देनेवाले साधो ! स्वागतता तो आज ही चरितार्थ हुई है; क्योंकि सौभाग्यवश मुझे तुम्हारा दर्शन प्राप्त हो गया। किंतु मित्रवर ! इस दुःखमय संसारमें चक्कर काटनेवाले हम लोगोंकी कुशल कहाँ ? भला, जबतक मुझे जानने योग्य परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, मेरे मनमें उत्पन्न होनेवाले संकल्प आदि नष्ट नहीं हुए और मैंने संसारसागरको पार नहीं कर लिया, तबतक मेरी कुशल कहाँ। जबतक चित्तमें उत्पन्न होनेवाली आशाएँ तीव्र वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा पूर्णतया काटी नहीं गयीं, तबतक हमलोगोंकी कुशल कहाँ ? जबतक परमात्माका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ और जबतक समता उद्भूत नहीं हुई तथा जबतक विवेक नहीं उत्पन्न हुआ, तबतक हमलोगोंकी कुशल कहाँ। सज्जनशिरोमणे ! परमात्माकी प्राप्ति तथा ज्ञान-रूपी महौषधके बिना यह जन्म-मरणरूपी दुष्ट महामारी बारंबार प्राप्त होती ही रहती है। यह जीवात्मा लौकिक क्रियाओंमें तथा देहरूपी पर्वतकी उन अत्यन्त भीषण कन्दराओंमें, जो विषयोपभोगरूप भयंकर सर्पोंसे व्याप्त एवं तृष्णारूपी कण्टकोंसे आच्छादित हैं, सदा-सर्वदा लोटता रहता है। यों कुत्सित आशाओंके आवेशसे युक्त व्यर्थ क्रियाकलापोंके करते रहनेसे इसकी आयु वृथा ही नष्ट हो जाती है। यह मन एक मदमत्त गजराजके समान है, जिसने परमात्मामें बन्धनके हेतुभूत विवेकरूपी आलानको उखाड़ डाला है और जो तृष्णारूपिणी हथिनीमें कामासक्त होनेके कारण उद्विग्न हो उठा है, अतः वह जगत्‌में दूरसे दूर भटकता रहता है। जैसे राजहंस सूखे हुए सरोवरसे तत्क्षण ही भाग खड़ा होता है और फिर कभी उसकी ओर ताकता तक नहीं, उसी तरह जिसका यौवनरूपी जल नष्ट हो गया है, उस सूखते हुए शरीररूपी सरोवरसे आयु तत्काल पलायन कर जाती है, पुनः वह कभी लौटती ही नहीं। जब

यह जीवन-वृक्ष जर्जर हो जाता है और कालरूपी वायु उसे बलपूर्वक झकझोरता है, तब उसके भोगरूपी पुष्प और दिनरूपी पत्ते झड़कर नीचे गिर जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। परंतु नाना प्रकारके अनुरागोंसे लिपटी हुई यह तुच्छ चञ्चल तृष्णा देवालयोंके ऊपर फहराती हुई पताकाकी भाँति अधिकाधिक बढ़ती रहती है। बन्धुसमूहरूपी ये असंख्य सरिताएँ गम्भीर कोटर-वाले विस्तृत काल-सागरमें निरन्तर गिरती रहती हैं। तात! यह देहरूपी रत्नशलाका विनाशरूपी कीचड़-से परिपूर्ण सागरके गर्भमें न जाने कहाँ समा गयी है कि जन्म-जन्मान्तरमें भी इसका पता नहीं चलता। चिरकालसे चिन्ताचक्रमें बँधा हुआ तथा पाप कर्मोंके आचरणमें संलग्न चित्त समुद्रके गम्भीर आवर्तमें पड़कर चक्कर काटते हुए तृणकी भाँति संसारमें भटकता रहता है। इसे कार्यरूपी असंख्यों विशाल तरङ्गें उछालती रहती हैं तथा चिन्ताके फेरमें पड़कर यह ताण्डव नृत्य करता रहता है, जिससे इसे क्षणभर भी विश्राम नहीं मिलता। 'मैंने इसे कर लिया, यह करता हूँ और आगे उसे करूँगा' इस प्रकारकी कल्पनाओंके जालमें फँसकर इस मनुष्यकी बुद्धिरूपी पक्षिणी अत्यन्त मोहित हो जाती है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! उन दोनोंने परस्पर एक-दूसरेका कुशल-समाचार पूछा। तदनन्तर काल-क्रमसे विवेकपूर्वक ध्यानके अभ्यास और संसारसे वैराग्यके द्वारा परमात्माका विशुद्ध ज्ञान लाभ करके वे दोनों मोक्षको प्राप्त हो गये। महाबाहो! इसीलिये मैं कहता हूँ कि सांसारिक पाशसे जकडे हुए चित्तको संसार-सागरसे पार होनेके लिये परमात्माके यथार्थ ज्ञान-के अतिरिक्त और कोई दूसरा सुगम उपाय नहीं है। यह उपर्युक्त दुःख यद्यपि अज्ञानीके लिये अनन्त है तथापि ज्ञानी पुरुषके लिये वह अत्यन्त साधारण है—ठीक उसी तरह, जैसे सागर तुच्छ पक्षीके लिये दुस्तर होते हुए भी गरुड़के लिये गौकी खुरीके जलके समान ही प्रतीत होता है। जैसे दर्शक पुरुष दूरसे ही जनसमूह-का अवलोकन करता है, किंतु उसके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता, उसी तरह जो देहाभिमानसे रहित तथा विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकी-भावसे स्थित हैं, वे ज्ञानी महात्मा पुरुष साक्षीभूत होकर दूरसे ही शरीरको देखते रहते हैं। इसलिये भले ही देह दुःखसे भलीभाँति क्षुब्ध हो जाय, उससे आत्माको कौन-सी क्षति पहुँचती है? शोभाशाली राम! भला हिमालय पर्वत और समुद्रका क्या सम्बन्ध? उसी तरह आत्मा और संसाररूप बन्धनका भी वास्तवमें परस्पर क्या सम्बन्ध है? अर्थात् कुछ नहीं है। जैसे सरिताओंका जल कमलोंको अपनी गोदमें धारण किये रहता है, फिर भी वे कमल उस जलसे कोई सम्बन्ध न रखकर निर्लेप बने रहते हैं, उसी तरह इस जगत्‌में शरीरका भी आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सुख-दुःख आदिके अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा और केवल जड देह-को नहीं होते, किंतु देह और आत्माके तादात्म्यके कारण होते हैं। अतः जब यथार्थ ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश हो जाता है, तब सुख-दुःखोंका अत्यन्ताभाव होकर केवल शुद्ध चेतन आत्मा ही शेष रह जाता है। अज्ञानी पुरुष जिस रूपमें इस संसारको देखता है, वह उसी रूपमें उसे सत्य मान लेता है; परंतु ज्ञानीके लिये वैसी बात नहीं है। वह उसी रूपमें संसारको सत्य नहीं मानता; क्योंकि वह समझता है कि यह संसार अज्ञानसे ही प्रतीत होता है।

जैसे वास्तवमें सम्बन्ध न होनेपर भी स्वप्नमें स्त्रीके साथ रति-क्रीडा आदि व्यापारमें सम्बन्ध-सा हो जाता है तथा जैसे वास्तविक प्रेत न होनेपर भी अँधेरेमें ठूँठ प्रेत-सा दीखने लग जाता है, उसी तरह यद्यपि वास्तव-में आत्माके साथ देहादिका सम्बन्ध नहीं है, फिर भी अज्ञानके कारण सम्बन्ध-सा दीखता है। वस्तुतः तो

शरीर और शुद्ध आत्माका सम्बन्ध मिथ्या ही है; क्योंकि इनका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। विद्वानोंका कथन है कि देहमें अहंभावना करनेसे ही आत्मा दैहिक दुःखोंके वशीभूत होता है तथा उस देहभावनाका त्याग कर देनेसे वह उस दुःखजालसे मुक्त हो जाता है। वत्स राम! जैसे सरोवरमें गिरे हुए पत्ते, जल, मल और काष्ठ यद्यपि परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, तथापि भीतरी सङ्गसे रहित होनेके कारण वे दुखी नहीं होते, उसी तरह यद्यपि आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन परस्पर पूर्णतया सम्बद्ध हैं, तथापि अन्तःकरणमें अहंता, ममता और आसक्तिका अभाव होनेके कारण ज्ञानी महात्मा सदा-सर्वदा दुःखरहित ही रहते हैं। श्रीराम! अन्तःसङ्ग अर्थात् अहंता, ममता और आसक्ति ही संसारमें समस्त प्राणियोंके जरा, मरण और मोहरूपी वृक्षोंका मूल कारण है। जो जीव अहंता, ममता और आसक्तिसे युक्त है, वह भवसागरमें डूबा हुआ है; परंतु जो इनसे मुक्त हो गया है, वह समझ ले कि मैं संसार-सागरसे पार हो गया। जो चित्त विषयोंकी आसक्तिसे रहित और निर्मल है, वह संसारी होते हुए भी निस्संदेह मुक्त है; परंतु विषयासक्त चित्त दीर्घकालकी तपस्यासे युक्त होता हुआ भी कामनाके कारण सुदृढ बन्धनसे बँधा हुआ है। जैसे काष्ठभारोंको पार उतारनेवाली जलस्थित नौका जलके गुण-दोषसे लिपायमान नहीं होती वैसे ही अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित पुरुष शरीर यात्राके लिये न्याययुक्त कर्म करता हुआ भी कर्तृत्वसे लिप्त नहीं होता। जो मनुष्य अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित तथा परम मधुर परमात्मामें नित्य स्थित है, वह बाहरसे कुछ भी कार्य करे अथवा न करे, किसी भी दशामें वह कर्ता अथवा भोक्ता नहीं है।

(सर्ग ६६-६७)



संसक्ति और असंसक्तिका लक्षण, आसक्तिके भेद, उनके लक्षण और फलका वर्णन; आसक्तिके त्यागसे जीवात्मा कर्मफलसे सम्बद्ध नहीं होता—इसका कथन

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! किस प्रकारका सङ्ग मनुष्योंके लिये मोक्षदायक कहा गया है और कैसा सङ्ग बन्धनका हेतु होता है एवं उसके बन्धनका निमित्त बननेमें कारण क्या है तथा बन्धनके हेतुभूत उस सङ्गकी निवृत्ति कैसे की जा सकती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! शरीर—क्षेत्र और शरीरी—क्षेत्रज्ञ आत्माका जो विभाग है अर्थात् शरीर जड है और आत्मा चेतन है—ऐसा जो अनुभव है, उसके अभावमें केवल देह ही आत्मा है, ऐसी भावनासे उत्पन्न देहाभिमान ही सङ्ग है और वही बन्धनका हेतु कहा जाता है। तथा देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण आत्माका स्वरूप अनन्त है; किंतु अज्ञान-वश उसमें परिच्छिन्नताका निश्चय हो जानेपर जीव अपने अंदर जो सुखकी चाह करने लगता है, वही सङ्ग है और वही बन्धनका कारण कहा जाता है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण संसार परमात्माका संकल्प होनेके कारण परमात्माका स्वरूप है, तब फिर मैं उसमेंसे किसकी चाह करूँ और किसको त्याग दूँ—इस प्रकारकी धारणासे उत्पन्न होनेवाली जो जीवन्मुक्तकी अवस्था है, उसे तुम असङ्ग स्थिति समझो। न तो मैं ही हूँ और न दूसरा ही कुछ है; अतः विषयोंसे उत्पन्न सुख हों अथवा न हों—ऐसा निश्चय करके जिसका अन्तःकरण अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित हो गया है, वह मनुष्य मुक्तिका अधिकारी कहलाता है। जो निष्कर्मभावकी प्रशंसा नहीं करता, किसी भी कर्ममें आसक्त नहीं होता, सबमें समभाव रखता है और कर्मफलोंकी इच्छासे रहित है, वही पुरुष असंसक्त कहा जाता है। केवल परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थितिवाले जिस महात्माका

मन हर्ष, शोक और ईर्ष्याके वशीभूत नहीं होता, वही असक्त है और उसीकी 'जीवन्मुक्त' संज्ञा होती है। जो मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों और उनके फल आदिका कर्मसे नहीं, अपितु केवल मनसे भलीभाँति त्याग कर देता है, वह असंसक्त कहलाता है।

रामजी! वृक्ष एक स्थानपर स्थित रहकर अपने स्थावर शरीरसे जो शीत, वात और घामके क्लेशोंको सहता रहता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। पृथ्वीकी दरारमें पड़ा हुआ कीड़ा अङ्गोंके पीड़ित होनेके कारण विकल होकर जो कालक्षेप करता है, वह उसके पूर्वजन्मके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। जिसका पेट भूखके कारण दुर्बल होकर पीठसे सट गया है तथा बुद्धि आघातके भयसे सदा भीत बनी रहती है, ऐसा पक्षी जो वृक्षकी शाखाओंपर निवास करता हुआ कालयापन करता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। दूर्वाङ्कुरों और तिनकोंका आहार करनेवाला मृग किरातोंके बाणोंकी चोटसे पीडित होकर जो मर जाता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। ये असंख्य भूत-प्राणी जो नदीमें तरङ्गोंकी भाँति बारंबार उत्पन्न होकर पुनः विलीन हो रहे हैं, यह उनके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। लता और तिनकोंके समान शक्तिहीन दशाको प्राप्त हुए मनुष्य चलने-फिरनेकी शक्तिसे शून्य होकर जो बारंबार मरते रहते हैं, उसका कारण उनके पूर्वजन्ममें अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका फल ही है।

राघव! यह आसक्ति दो प्रकारकी कही गयी है— एक वन्ध्या अर्थात् प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या अर्थात् पुरुषार्थफलसे शून्य। इनमें तत्त्वज्ञ महात्माओंकी अपने स्वरूपमें आसक्ति वन्ध्या है और वन्ध्या आसक्ति सर्वत्र अज्ञानियोंकी है। जो आसक्ति आत्मतत्त्वके ज्ञानसे शून्य, देह आदि असत्य वस्तुओंसे उत्पन्न और बारंबार संसारमें सुदृढ़रूपसे स्थित है, वह वन्ध्या कही जाती है तथा जो आसक्ति आत्मतत्त्वके ज्ञानद्वारा यथार्थ विवेकसे उत्पन्न हुई है और पुनर्जन्मका कारण नहीं है, उसे लोग वन्ध्या कहते हैं। यह वन्ध्या आसक्तिका ही प्रभाव है, जो आत्मतत्त्वके विज्ञानमें कुशल सिद्धगण, लोकपाल तथा अन्यान्य मुक्त पुरुष इस जगत्के प्राङ्गणमें अध्यात्म-विषयकी प्रीतिसे युक्त होकर स्थित रहते हैं। अन्यान्य भुवनोंमें निवास करनेवाले अध्यात्मविषयकी प्रीतिसे युक्त तत्त्वज्ञ महात्मालोग जो जन्म-मरणसे रहित शरीररूपी यन्त्रसमूहोंको धारण करते हैं, वह भी वन्ध्या आसक्तिकी ही सामर्थ्य है। किंतु वन्ध्या आसक्तिके वशीभूत होनेसे मन विषयभोगोंमें व्यर्थ ही रमणीयताकी कल्पना करके उनपर उसी प्रकार टूट पड़ता है, जैसे गीध मांसके टुकड़ोंपर झपटता है। वन्ध्या आसक्तिके प्रभावसे ब्रह्माण्डरूपी गूलरके फलके अंदर मच्छरकी तरह स्फुरित होते हुए देवता स्वर्गलोकमें, मनुष्य मृत्युलोकमें और नाग तथा असुर पातालमें स्थित हैं। ये असंख्य प्राणी जो नदीमें तरङ्गोंकी भाँति जन्मते हैं, मरते हैं, गिरते हैं और उठते हैं—यह भी वन्ध्या आसक्तिका ही चमत्कार है। यह भी वन्ध्या आसक्तिका ही प्रताप है, जो ये भूत-प्राणी झरनोंके जलकणोंकी तरह बारंबार उत्पन्न होकर पुनः निरसतापूर्वक नष्ट हो रहे हैं।

श्रीराम! शून्य आकाशमें केवल मनकी आसक्तिरूपी रंगसे संकल्पपूर्वक जो यह जगद्रूपी चित्र बनाया गया है, वह कभी भी सत्य नहीं हो सकता। इस संसारमें आसक्तिपूर्ण मनसे व्यवहार करनेवाले मनुष्योंके शरीरोंको तृष्णा उसी प्रकार क्षीण करती रहती है, जैसे अग्निकी लपट तृणोंको भस्मसात् कर देती है। जैसे समुद्र-तटकी सिकताओं और

त्रसरेणु-समूहोंकी संख्या करना असम्भव है, उसी तरह जिसकी बुद्धि सर्वथा विषयोंमें आसक्त है, भला, उसके शरीरोंकी ठीक-ठीक गणना करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। राघव ! विषयासक्त चित्तवाला मनुष्य दुःखोंके कारण सूख जाता है, जिससे वह धधकती हुई नरकाग्नियोंके लिये इन्धन-समूहका काम देता है; क्योंकि वे नरकाग्नियाँ उस इन्धनसे ही जलती हैं। इस भूतलपर यह जो कुछ दुःखसमूह दृष्टिगोचर हो रहा है, उस सबकी कल्पना विषयासक्त चित्तवाले मनुष्योंके लिये ही हुई है। जैसे जलकी तरङ्गोंसे युक्त बड़ी-बड़ी नदियाँ किलोल करती हुई समुद्रकी ओर दौड़ी जाती हैं, उसी तरह सारी दुःख-परम्पराएँ विषयासक्त चित्तवाले मनुष्यको आ घेरती हैं। जो मन आसक्तिशून्य, सब ओरसे शान्त, आकाशके समान निर्मलरूपसे स्थित और असत्-सा प्रतीत होते हुए भी सत्‌रूपसे भासमान हो रहा है, वह साधकके लिये सुखका ही हेतु होता है।

रघुनन्दन ! कल्याणकामी विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह सर्वत्र स्थित रहते हुए, सबके साथ रहते हुए और सभी न्याययुक्त कर्मोंमें लगे हुए भी सदा-सर्वदा अपने मनको अनासक्त और सम बनाये रक्खे। उसे चेष्टाओंमें, किसी प्रकारकी चिन्ताओंमें, पदार्थोंमें, आकाशमें, नीचे पातालमें, ऊपर पृथ्वीमें, दसों दिशाओंमें, लताओंमें, बाहरके विशाल विषय-भोगोंमें, इन्द्रिय-वृत्तियोंमें, अन्तःकरणमें, प्राण, मूर्धा और तालुमें, भ्रूमध्यमें, नासिकाके अग्रभागमें, मुखमें, दक्षिण नेत्रकी कनीनिकामें, अन्धकारमें, प्रकाशमें, इस हृदय-रूपी आकाशमें, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओंमें, शुद्ध सत्त्वगुणमें, तमोगुणमें, रजोगुणमें, त्रिगुणमय पदार्थ-विशेषमें, चल-अचल पदार्थोंमें, सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें, दूरमें, समीपमें, सामने, नाम-रूपात्मक किसी पदार्थमें अपने आत्मामें, शब्द-स्पर्श-रूप आदि विषयोंमें, अज्ञानजनित आनन्दकी वृत्तियोंमें, गमनागमनकी चेष्टाओंमें और घड़ी, दिन, मास, संवत्, युग आदि कालकी कल्पनाओंमें आसक्त नहीं करना चाहिये। सर्वत्र दृश्य पदार्थोंमें अनासक्त-सा होकर जड दृश्य जगत्‌के आश्रयभूत नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें विश्राम करके परमात्मामें ही अमृतमय रससे युक्त मनवाला होकर स्थित रहना चाहिये। इस प्रकार उस परमात्मामें स्थित हुआ जीवात्मा सम्पूर्ण आसक्तियोंसे रहित होकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। फिर तो वह इन समस्त व्यवहारोंको करे अथवा न करे; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। जैसे आकाशका मेघोंके साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, उसी तरह अपने परमात्मस्वरूपमें रत हुआ जीवात्मा क्रियाओंको करता हुआ अथवा न करता हुआ भी क्रियाजनित फलोंके साथ तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता। अथवा शान्त चैतन्य-घन जीवात्माको चाहिये कि वह पूर्वोक्त दृश्य संसारके सम्बन्धका भी परित्याग करके शान्त होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहे। रामभद्र ! जिसने अपने स्वरूपमें परम विश्रामको प्राप्त कर लिया है, जिसका अन्तःकरण आत्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न है और जिसकी कर्म तथा उसके फलोंमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है, ऐसा जीवात्मा कर्म करते हुए भी आसक्तिसे रहित होनेके कारण कर्मजनित फलोंसे सम्बद्ध नहीं होता।

(सर्ग ६८-६९)

असङ्ग सुखमें परम शान्तिको प्राप्त पुरुषके व्यवहार-कालमें भी दुखी न होनेका प्रतिपादन, ज्ञानीकी तुर्यावस्था तथा देह और आत्माके अन्तरका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो संसारमें रागके अत्यन्त अभावसे उत्पन्न निर्विशेष आनन्दके अभ्यासमें संलग्न हैं और जिनके अन्तःकरण अत्यन्त विशाल हैं, वे जीवन्मुक्त महापुरुष चाहे व्यवहार करें, पर वे सदा-सर्वदा भय और शोकसे रहित होकर ही स्थित रहते हैं। जिसका अन्तःकरण दृश्य-चिन्तनसे रहित, केवल नित्य चेतन परमात्माका ही अवलम्बन करनेवाला तथा सम्पूर्ण चिन्ताज्वरोंसे मुक्त हैं, उस महात्मा पुरुषके सत्सङ्गसे मनुष्य वैसे ही विशुद्ध हो जाते हैं, जैसे निर्मलीसे जल शुद्ध हो जाता है। परमात्माके स्वरूपमें निमग्न रहनेवाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष क्रियाशील होते हुए भी अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहता है। जैसे चिकने स्फटिक मणिपर वास्तवमें किसी भी रंगसे रंग नहीं चढ़ता, वैसे ही परमात्मस्वरूपको प्राप्त तत्त्ववेत्ताका अन्तःकरण सुख-दुःखकी प्राप्ति होनेपर विकारवान् नहीं होता। जिसने सगुण-निर्गुणरूप परमात्माको भलीभाँति जान लिया है और जो परमात्मस्वरूप परम अभ्युदयको प्राप्त हो गया है, उस महात्मा पुरुषके चित्तको संसारका दृश्य उसी प्रकार लिपायमान नहीं कर सकता, जैसे जलरेखा कमलको लिपायमान नहीं कर सकती। जब यह जीवात्मा परमात्माका ज्ञान प्राप्तकर समस्त कल्पनाओंके हेतुभूत मलोंसे रहित हुआ ध्यानाभाव-दशामें भी परमात्माके स्वरूपानुभवमें निमग्न रहता है, तब वह 'स्वसक्त' (आत्माराम) कहलाता है। आत्माराम होनेसे ही मनुष्य संसारमें असङ्गभावको प्राप्त करता है; क्योंकि आत्माके ज्ञानसे ही विषयासक्तिका क्षय होता है। चित्तके विषय-सम्बन्धिनी वृत्तियोंसे रहित हो जानेपर क्षीणवृत्तिवाले अन्तःकरणोंकी जो वासनाओंसे रहित शान्तिमयी स्थिति है, वही जाग्रत्में सुषुप्तिके समान समाधि-अवस्था कही जाती है। इस प्रकार अखण्ड समाधि-अवस्थाको प्राप्त मनुष्य व्यवहार करता हुआ भी सुख-दुःखरूपी रस्सोंसे बँधकर संसारकी ओर कभी आकृष्ट नहीं होता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं। जो पुरुष जाग्रत्में ही परमात्मामें स्थित हुआ जगत्के कार्योंको करता है, उस पुरुषको यन्त्रकी पुतलीके समान सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता।

जो पूर्वसे ही यानी साधनावस्थासे ही तीव्र वैराग्यके कारण उपेक्षाबुद्धिसे कर्म करता है तथा जिसकी बुद्धि परमात्मामें ही स्थित है, वह मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है और फिर वह उन कर्मोंके फलोंसे नहीं बँधता। विवेकशील साधकको कर्मोंका अनुष्ठान या परित्याग—कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किंतु जिन्होंने आत्मतत्त्वको जान लिया है, वे महात्मा तो जिस समय जो कुछ प्राप्त हो जाता है, तदनुसार न्याययुक्त जीवन-यापन करते हुए स्थित रहते हैं। सांसारिक विषयोंके सम्बन्धसे रहित सच्चिदानन्दघन परमात्मपदमें भलीभाँति स्थित परमात्मप्राप्त पुरुष जो-जो कर्म करता है, उसमें वस्तुतः उसका कर्तापन नहीं रहता। श्रीराम ! यही अखण्ड समाधिरूप सुषुप्ति-स्थिति अभ्यासयोगसे जब दृढ़ हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ महात्माओंके द्वारा वह तुर्य-स्थिति कही जाती है। जिसके अन्तःकरणसे समस्त विकार विनष्ट हो चुके हैं और जिसके मनका अत्यन्त अभाव-सा हो गया है, वह ज्ञानी महानुभाव विशुद्ध आनन्दमय हो जाता है। उपर्युक्त अखण्ड समाधिमें स्थित रहनेवाला ज्ञानी अतिशय प्रसन्नतासे परिपूर्ण और परम आनन्दमें निमग्न हुआ इस जगत्के व्यवहारको सदा लीलाकी ज्यों देखता रहता है। श्रीराम ! जिसके शोक, भय एवं सांसारिक क्लेश सदाके लिये निवृत्त हो गये हैं तथा जो संसाररूपी भ्रमसे रहित है, वह तुर्यावस्थामें सदा-सर्वदा स्थित आत्मज्ञानी फिर इस संसारचक्रमें कभी नहीं गिरता। जैसे आकाशमार्ग वायुओंके लिये गम्य है,

वैसे ही दूरसे भी अति दूर परमपद विदेहमुक्त पुरुषोंके लिये अनुभवगम्य है । परमानन्दमें निमग्न ज्ञानी पूर्वोक्त सुषुप्तिके समान अखण्ड ब्रह्माकार समाधि अवस्थासे जगत्स्थितिका वास्तविक अनुभव करके उसके पश्चात् तुर्यावस्था (जीवन्मुक्तावस्था) को प्राप्त होता है । रघुकुलतिलक ! जिस प्रकार तुर्यातीत पदका ज्ञान रखनेवाले आत्मतत्त्व-ज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पदमें स्थित रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंसे रहित हो उस परमपदमें स्थित रहो । चाहे देह नष्ट हो जाय, चाहे वह नष्ट हो यानी स्थिर रहे, उससे तुमको क्या प्रयोजन है ! तुम तो केवल आत्मज्ञानमें ही स्थित रहो । यह देह जैसा है, वैसा भले ही बना रहे । श्रीराम ! जैसे अन्धकार और मेघ-मण्डलसे मुक्त शरत्पूर्णिमाकी रात्रिका आकाशमण्डल सुशोभित होता है, वैसे ही तुम अभीष्ट और अनभीष्ट विषयोंसे मुक्त हुए शीतल साक्षात्काररूपी आलोककी शोभासे सुशोभित हो रहे हो ।

रघुनन्दन ! इस संसारमें देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे शून्य एक विशुद्ध चेतन आत्मा ही है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है । सर्वत्र व्यापक चेतन 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहारके लिये ही कल्पित है, वास्तवमें नाम-रूप आदि भेद तो इस चेतनसे अत्यन्त दूर ही हैं अर्थात् यह चेतन आत्मा नाम-रूप आदि उपाधिसे रहित है । जैसे समुद्र जलस्वरूप ही है, उससे भिन्न तरङ्ग आदि कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न पृथ्वी-जल आदि कुछ भी नहीं हैं । जैसे छाया और धूपका तथा प्रकाश और अन्धकारका परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही शरीर और आत्माका भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता । श्रीराम ! जैसे सदा परस्पर विरुद्ध रहनेवाले शीत और उष्णका एक दूसरेसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही देह और आत्माका भी एक दूसरेसे कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता । जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंसे प्रतीत हुआ जल किरणोंके यथार्थ ज्ञानसे विनष्ट हो जाता है; वैसे ही अज्ञानजनित यह देह और आत्माका परस्पर सम्बन्ध-भ्रम भी आत्म-तत्त्वके साक्षात्कारसे विनष्ट हो जाता है । 'वह चेतन आत्मा शुद्ध, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं सम्पूर्ण विकारोंसे रहित है और देह विनाशशील, अनित्य और मलरूप विकारसे युक्त है; ऐसी स्थितिमें अत्यन्त अन्तर होनेके कारण आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है । प्राणवायुसे बलवान् होकर ही शरीर स्पन्दको प्राप्त करता है, इसलिये आत्माके साथ किंचित् भी शरीरका सम्बन्ध नहीं है । श्रेष्ठ बुद्धिसे सम्पन्न श्रीराम ! जब द्वैतको माननेपर भी आत्माके साथ पूर्वोक्त प्रणालीसे देहादिका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब द्वैतकी असिद्धिमें तो इस प्रकार सम्बन्धकी कल्पना ही कैसे हो सकती है । जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रकाश और अन्धकारका एक दूसरेसे सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता, वैसे ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीरका भी एक दूसरेसे सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता ।

जैसे शीत और उष्णकी एकता कहीं दिखलायी नहीं पड़ती, वैसे ही क्रमशः जड और चेतनस्वरूप देह और आत्माका भी संयोग नहीं हो सकता । यह देह प्राणवायुसे ही चलता है, उसीसे उसका गमनागमन होता है एवं देह-की नाड़ियोंमें संचार करनेवाले प्राणवायुसे ही शब्द होता है । जिस प्रकार छिद्रयुक्त बाँसोंसे वायुके गमनागमनसे शब्द उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शरीरके कण्ठरूप छिद्रसे निकले हुए प्राणवायुसे जब कण्ठ, तालु आदि स्थानोंमें जिह्वा आदिके द्वारा अभिघातसे निकाले जाते हैं, तब कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग आदि शब्द प्रकट होते हैं— यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है । शरीररूपी स्थानको छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासनाके अनुसार जाता है, वहींपर विचार करनेपर आत्माका अनुभव होता है । जहाँ पुष्प रहता है, वहींपर जैसे गन्धका ज्ञान रहता है, उसी

प्रकार जहाँ चित्त रहता है, वहींपर आत्माका ज्ञान होता है। जिस प्रकार सर्वत्र स्थित आकाश दर्पणमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वत्र स्थित आत्मा शुद्ध अन्तःकरणमें दिखलायी पड़ता है। जैसे पृथ्वीमें नीचेका भाग जलका आश्रय-स्थान होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण ही आत्माके अनुभवका आश्रय-स्थान है। महान् बुद्धिवाले पुरुष कहते हैं कि संसारकी उत्पत्तिमें अविचार, अज्ञान और मूर्खता ही सारभूत है और यही अन्तःकरणकी उत्पत्तिमें हेतु है। रघुनन्दन! जैसे प्रज्वलित दीपकसे अन्धकारका तत्क्षण ही नाश हो जाता है, वैसे ही नित्य सिद्ध आत्माके यथार्थ ज्ञानसे ही चित्तका तत्क्षण नाश हो जाता है। जैसे बंदर वनके एक वृक्षको त्यागकर दूसरे वृक्षपर चला जाता है, उसी प्रकार वासनाके वशीभूत जीव कर्मानुसार एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। श्रीराम! जिस शरीरमें वह चला गया, उस शरीरको भी त्यागकर फिर दूसरे समयमें अन्य विशाल देशके अन्तर्गत दूसरे शरीरमें चला जाता है। इस प्रकार जीवोंके यथार्थ स्वरूपको आवृत करके रहनेवाली अपनी ही वञ्चक वासना जीवोंको इधर-उधर भटकाती रहती है। श्रीराम! वासनारूपी रज्जुमें बँधे हुए जीव पहलेसे ही जीर्ण तो हैं ही, फिर भी वे पर्वततुल्य जड शरीरोंमें अत्यन्त दुःखपूर्वक आयु क्षीण कर रहे हैं। जिन्होंने जीर्णसे भी अधिक जीर्ण होकर दरिद्रता, रोग, वियोग आदिसे उत्पन्न हुए दुःखोंका भार वहन किया है तथा जिनका जीवन अनेक योनियोंमें दुर्दशाग्रस्त परिणामोंसे जर्जर हो चुका है, वे जीव बारंबार अपने हृदयकी दुर्वासनाओंसे दीर्घकालतक नरकोंमें निवास करते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! मुनिवर श्रीवसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर जब दिन बीत गया, सूर्यभगवान् अस्ताचलकी ओर जाने लगे, तब सभामें उपस्थित सब लोग मुनिको प्रणाम करके सायंकालीन स्नान-संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करनेके लिये चले गये और रात्रि बीत जानेपर दूसरे दिन सूर्यकी किरणोंके साथ ही पुनः सभामें उपस्थित हो गये।

(सर्ग ७०-७१)

देहादिके संयोग-वियोगादिमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित शुद्ध आत्माके स्वरूपका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तुम देहके उत्पन्न होनेपर उत्पन्न नहीं होते और देहके नष्ट होनेपर नष्ट नहीं होते; क्योंकि अपने स्वरूपमें तुम विकार-रहित और विशुद्ध हुए नित्य स्थित हो। इस विनाशशील देहके नष्ट हो जानेपर शुद्ध आत्माका नाश नहीं होता; इसलिये जो देहका विनाश हो जानेपर 'मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकारकी भावनासे दुखी होता है, उस अन्धबुद्धिको धिक्कार है! जैसे घोड़ेकी लगाम और रथका सम्बन्ध राग-द्वेषसे रहित है, उसी प्रकार चेतन आत्माका भी देह, चित्त, इन्द्रिय आदिके साथ सम्बन्ध राग-द्वेषसे रहित है। जैसे मार्ग बटोहियोंके संयोग और वियोगमें हर्ष-शोकका अनुभव नहीं करता, वैसे ही विशुद्ध आत्मा शरीरोंके संयोग-वियोगमें हर्ष शोकसे रहित है। जिस प्रकार कल्पित प्रेतके विकराल रूपसे भयभीत बालकको होनेवाला भय मिथ्या ही है, वैसे ही ये कल्पित स्नेह, सुख आदि मिथ्या ही हैं। जैसे लकड़ियोंके बोझेमें लकड़ियोंके सिवा और कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता, वैसे ही आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँचों भूतोंके शरीरमें पाँचों भूतोंके संघातके सिवा और कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता। अतः श्रोतागण! आपलोग इन पाँचों भूतोंकी उत्पत्ति, विनाश और विकार होनेपर हर्ष-अमर्ष और विषादके वशमें क्यों हो जाते हैं? जिस देहका 'स्त्री' यह दूसरा नाम है, उस तुच्छ भूतोंके समूहमें यानी स्त्री-

शरीरात्मक पाँच भूतोंके पिण्डमें पुरुषोंको ऐसी कौन-सी विशेषता प्रतीत होती है, जिससे उनकी उस स्त्रीरूप विषय-भोगाग्निमें फतिंगेकी तरह गिरनेकी चेष्टा उचित कही जाय ? स्त्रीकी सुन्दरता, रूप लावण्य और शरीर-संगठनको लेकर जो विलक्षणता दिखायी पड़ती है, उससे तो केवल अज्ञानी ही आनन्दित होता है; किंतु विवेकी पुरुषोंको तो वह पाँच भूतोंका पिण्ड ही दिखायी देता है। जैसे एक पत्थरसे बनायी गयी दो पाषाण-प्रतिमाओंका परस्पर आलिङ्गन होनेपर उनमें राग नहीं होता, उसी प्रकार चित्त और शरीरका परस्पर आलिङ्गन होनेपर भी राग नहीं होना चाहिये। तथा जैसे पत्थरकी बनायी गयी प्रतिमाओंमें परस्पर स्नेहका सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राणोंमें भी परस्पर स्नेहका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ शोक किसका ? जिस प्रकार समुद्र ऊँची-ऊँची भँवरोंसे युक्त हो तृण, काठ आदि पदार्थोंसे संयोग करता है, वैसे ही जीवात्मा भी चित्ताकृतिको प्राप्तकर देह और प्राणियोंके साथ संयोग करता है। (अतः मनुष्यको समुद्रकी भाँति सबसे निर्लेप रहना चाहिये।) जैसे जल अपनी स्पन्दन-क्रियासे ही मलिनताका परित्याग करके स्वयं ही स्वच्छताको प्राप्त करता है, उसी प्रकार जीवात्मा यथार्थज्ञानके द्वारा विषयरूपताका परित्याग करके स्वयं ही विशुद्ध आत्मरूपताको प्राप्त करता है। उस समय सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें आसक्तिसे रहित जीवात्मा द्रष्टा — साक्षी हुआ देहको आत्मासे भिन्न देखता है तथा भूत-समूहको भी अपनेसे पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है। इस प्रकार आत्मा अपनेसे ही प्रमाण-प्रमेयरूप विकारोंसे रहित अपने यथार्थ स्वरूपको जान लेता है। श्रीराम! जिनका सम्पूर्ण राग विनष्ट हो गया है, जिनके पाप दूर हो गये हैं तथा जो परब्रह्मपदको प्राप्त हो चुके हैं वे जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष उसी प्रकारके विशिष्ट विज्ञानसे युक्त हो इस संसारमें विचरण करते हैं, जैसे समुद्रकी तरङ्गें अनेक प्रकारके रत्नोंके साथ अनासक्तभाव-से व्यवहार करती हैं, उसी प्रकार वासनारहित उत्तम महात्मा लोग भी चित्तकी चेष्टाओंके साथ अनासक्त भावसे व्यवहार करते हैं। जैसे समुद्र अपने तटपर पड़े हुए काष्ठ-समूहोंसे मलिन नहीं होता, वैसे ही आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला वह मनुष्य इस संसारमें अपने सांसारिक व्यवहारोंसे मलिन नहीं होता। जैसे समुद्रको गत, आगत, स्वच्छ, चञ्चल, मलिन और जड तरङ्गोंसे राग और द्वेष नहीं होता, उसी प्रकार उस तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषको गत, आगत, स्वच्छ, चञ्चल, मलिन और जड भोगोंसे राग-द्वेष नहीं होता; क्योंकि जो अहं, भूत आदि तथा तीनों कालोंमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शनके सम्बन्धोंसे दिखायी पड़ती हैं, वह सब केवल मनकी कल्पना ही है। इसलिये आत्मसाक्षात्काररूप दृश्य-दर्शनसे रहित सुखानुभूतिका अवलम्बन करनेसे संसारका अभाव हो जाता है, आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाली दृष्टिका विच्छेद हो जाता है और यथार्थ आत्मानुभव प्रकाशित हो जाता है। उसीका अवलम्बन करनेपर तुर्यावस्था प्राप्त हो जाती है और उसीके अवलम्बनसे मुक्ति हो जाती है। रघुनन्दन ! जब दृश्य और दर्शनके सम्बन्धसे मुक्त और परम विशुद्ध बुद्धिसे युक्त यह स्वरूप-दृष्टि होती है, तब दृश्य और दर्शनके सम्बन्धके असली तत्त्वको जानकर पुरुष मुक्तिको प्राप्त होता है। मुक्त होनेके अनन्तर वहाँ आत्माका स्वरूप न स्थूल है न अणु, न प्रत्यक्ष है न अप्रत्यक्ष, न चेतन है न जड, न असत् न है सत्, न अहंरूप है न अन्यस्वरूप, न एक है न अनेक, न समीप है न दूर, न सत्तायुक्त है न असत्तायुक्त, न प्राप्य है न अप्राप्य, न सर्वात्मक है न सर्वव्यापक, न पदार्थ है न अपदार्थ, न पाँचों भूतोंका आत्मा है और न पाँचों भूत ही।

(तात्पर्य यह कि वह समस्त विशेषणों और लक्षणोंसे रहित विशुद्ध आत्मा मन, वाणी और बुद्धिका विषय नहीं है; इसलिये उसे इदंताके द्वारा न कहा जा सकता है न समझाया जा सकता है। अतएव उसका यहाँ निषेधमुखसे वर्णन किया गया है। श्रुतिमें भी उसका निषेधमुखसे वर्णन किया गया है।) किंतु मनके साथ चक्षु आदि छहों इन्द्रियोंका विषय जो यह दृश्यत्वको प्राप्त जगत् है, वह कुछ भी नहीं है। उससे अतीत जो पद है, वही यथार्थ वस्तु है। जिस प्रकारका यह जगत् है, उस प्रकारके इस जगत्को भलीभाँति जाननेवाले पुरुषके लिये यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहीं भी आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। यह आत्मा ही कठोरता, द्रवता, प्रकाश, स्पन्दन और अवकाश-क्रमसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशरूप सम्पूर्ण जगत्-भावोंमें विद्यमान है। श्रीराम ! पदार्थोंकी जो-जो सत्ता है, वह चेतन आत्माके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है; इसलिये जो यह कहता है कि 'मैं आत्मासे अतिरिक्त हूँ', उसके इस कथनको उन्मत्तके प्रलापके समान समझो।

(सर्ग ७२)

दो प्रकारके मुक्तिदायक अहंकारका और एक प्रकारके बन्धनकारक अहंकारका एवं परमात्माके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जैसे चिन्तामणिके तत्त्वको जाननेवाले लोग चिन्तामणिको प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही उपर्युक्त विचार-दृष्टिसे द्वैतभावको त्यागकर आत्माके स्वरूपको जाननेवाले महापुरुष विशुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। श्रीराम ! अब मैं तुमसे दूसरी दृष्टिका वर्णन करता हूँ; उसे तुम सुनो। मैं ही आकाश हूँ, मैं ही आदित्य हूँ, मैं ही दिशाएँ हूँ, मैं ही अधः हूँ, मैं ही ऊर्ध्व हूँ, मैं ही दैत्य हूँ, मैं ही देव हूँ, मैं ही लोक हूँ, मैं ही चन्द्रमा आदिकी प्रभा हूँ, मैं ही अन्धकार हूँ, मैं ही मेघ हूँ, मैं ही पृथ्वी हूँ, मैं ही समुद्र आदि हूँ एवं रेणु, वायु, अग्नि और यह सारा जगत् भी मैं ही हूँ; तीनों लोकोंमें सब जगह जो परमात्मा स्थित है, वह मैं ही हूँ। उस सर्वरूप परमात्मासे भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। देह आदि भी मुझसे भिन्न क्या हैं ? एक अद्वितीय वस्तु परमात्मामें द्वैत कैसे हो सकता है। कमलनयन निष्पाप श्रीराम ! तुम्हीं बतलाओ, इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत्के आत्मरूपसे स्थित हो जानेपर कौन अपना और कौन पराया रहेगा ? तत्त्वज्ञसे भिन्न ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय तो वह हर्ष और विषादसे ग्रस्त हो ? यदि उसको ऐसी वस्तुके आ जानेसे विषाद दिखायी पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, किंतु मूढ़ ही है; क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है, सच्चिदानन्दमय नहीं।

रघुनन्दन ! दो प्रकारकी अहंकार-दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं। उनकी तत्त्वज्ञानसे उत्पत्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करनेवाली और परमार्थस्वरूपा हैं। मैं सबसे परे, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और विनाशशील सम्पूर्ण पदार्थोंसे अतीत हूँ—यह पहली अहंकार-दृष्टि है तथा जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ—यह दूसरी अहंकार-दृष्टि है। निष्पाप श्रीराम ! इन दोनोंसे भिन्न तीसरी अहंकार-दृष्टि यह है—देह मैं हूँ। इस दृष्टिको तुम केवल दुःखदायिनी ही जानो, यह कभी शान्तिदायिनी नहीं होती। अब तुम इन तीनों ही अहंकारोंको छोड़कर सबके शेषमें रहनेवाले अहंभावनाशून्य पूर्ण सच्चिदानन्द-स्वरूपका अवलम्बन करके उसी अवलम्बनयोग्य परम-तत्त्वमें निरत हुए ही स्थित रहो, क्योंकि इस मिथ्या

जगत्में परिपूर्ण और सर्वप्रकाशक आत्मा वास्तवमें अखिल प्रपञ्चस्वरूपसे मुक्त और समस्त पदार्थोंकी सत्तासे अतीत ही है । इसलिये श्रीराम ! तुम अपने ही अनुभवसे शीघ्र देखो कि तुम सदा-सर्वदा प्रकट सच्चिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप ही हो । आत्मा न तो केवल अनुमानसे प्रत्यक्ष होता है और न आप्तवचन तथा शास्त्र आदिके श्रवणमात्रसे ही; किंतु वह सदा-सर्वदा सब प्रकारसे केवल अनुभवसे ही प्रत्यक्ष होता है । ये जो कुछ स्पर्श, स्पन्द और ज्ञान आदि पदार्थ हैं, वे सब दृश्य और दर्शनसे रहित सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हैं । यह प्रकाशस्वरूप परमात्मा वास्तवमें न तो सत् है और न असत् है, न अणु है और न महान् है तथा न सत् और असत्के मध्यमें है । यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है—यों जो संज्ञाभेद है, इसकी स्वयं आत्माने ही अपनेमें अपनी सर्वव्यापिनी शक्तिसे कल्पना कर रक्खी है । वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालोंमें सदा-सर्वदा सब जगह स्थित है तथापि केवल सूक्ष्म और महान् होनेके कारण वह अज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जाननेमें नहीं आता । जैसे लोकदृष्टिसे सारे पदार्थोंका अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, उसी प्रकार परमार्थदृष्टिसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा भी सर्वत्र विद्यमान है तथा सर्वव्यापी है; वह कहीं एकदेशमें स्थित है—ऐसी बात नहीं है । सबका यह आत्मा किसी समय भी वास्तवमें न तो उत्पन्न होता है न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है । जैसे सर्पमें रज्जुकी भ्रान्ति दुःख देनेवाली ही होती है, वैसे ही आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न देह आदि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धिरूप भ्रान्ति केवल दुःख देनेवाली ही होती है । यह आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि यह अनादि है; और यह विनष्ट भी नहीं होता, क्योंकि यह अजन्मा है । तथा वह आत्मभिन्न वस्तुकी कभी भी अभिलाषा नहीं करता; क्योंकि आत्मासे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं । यह आत्मा दिशा, देश और कालसे परिमित न होनेके कारण कभी भी बँधता नहीं; और जब बन्धन ही नहीं है, तब मोक्ष कहाँसे होगा । अतएव वास्तवमें आत्मा बन्ध-मोक्षसे रहित है । रघुनन्दन ! उपर्युक्त गुणोंसे युक्त ही यह सबका आत्मा है; किंतु ये सब लोग शरीरका विनाश होनेपर अविचारसे मोहित हुए व्यर्थ ही रुदन कर रहे हैं । जैसे गेहूँ आदिको पीसनेके लिये निर्मित जल-चक्की आदि यन्त्रके द्वारा गेहूँ आदिका पेषण चालू होनेपर पुरुष केवल साक्षीमात्रसे उक्त कार्यको करता है, वैसे ही आत्मज्ञानी विद्वान् मुनिको बन्धन और मोक्षरूपी दोनों ही कल्पनाओंसे रहित होकर (यन्त्रकी ज्यों) देह आदिका व्यवहार करना चाहिये । सम्पूर्ण विषयोंमें अनासक्तिसे संकल्प और कामनाका अभाव हो जानेके कारण जो स्वतः ही साधकके मनका विनाश हो जाता है, उसीको आत्मदर्शी तत्त्वज्ञ महापुरुषोंने 'मोक्ष' नामसे कहा है । श्रीराम ! तुम समस्त कल्पनाओंसे रहित अवस्थाको प्राप्त और आसक्तिरहित हो, अत. इस सगर-पुत्रोंके द्वारा खोदी गयी समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका दीर्घकालतक पालन करो । (सर्ग ७३)

मन, अहंकार, वासना और अविद्याके नाशसे मुक्ति तथा जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और महिमाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंसे जल प्रतीत होता है, वैसे ही अहंता-ममता, राग-द्वेष आदि विकारोंसे युक्त और बिना हुए ही अपने स्वरूपको कायम रखनेवाली मायासे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतीत हो रहा है । जैसे बर्फसे भिन्न शुक्लताकी कल्पना की जाती है पर वास्तवमें बर्फ और शुक्लतामें

परस्पर पार्थक्य नहीं है, उसी प्रकार चित्त और अहंकार-की पृथक् कल्पना व्यर्थ ही की जाती है; वास्तवमें उनका परस्पर कोई भेद नहीं है। श्रीराम! मन और अहंकार—इन दोनोंमेंसे किसी एकका विनाश हो जानेपर मन एवं अहंकार दोनोंका विनाश हो ही जाता है। इसलिये अन्यान्य इच्छाओंका परित्याग करके अपने वैराग्य और आत्मा-अनात्माके विवेकसे केवल मनका ही विनाश कर देना चाहिये। जैसे वायु वृक्षमें पल्लवोंकी पंक्तिको चलाता है, वैसे ही प्राणादि वायु देहमें अङ्गोंकी पंक्तियोंको पर्याप्तरूपसे चलाता है; किंतु सब पदार्थोंको व्याप्त कर लेनेवाला अति सूक्ष्म चेतन आत्मा न तो स्वतः चल है और न किसीसे चलायमान होता है। जैसे अचल मेरु-पर्वत वायुओंसे कम्पित नहीं होता, उसी प्रकार यह चेतन आत्मा भी प्राणादि वायुओंसे कम्पित नहीं होता।

रघुनन्दन! यह मैं आनेवाला हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मै कर्ता हूँ—इस प्रकारकी वासना मूढ पुरुषोंके हृदयमें व्यर्थ ही उत्पन्न हुआ करती है, जैसे अज्ञानसे मरुभूमिमें सूर्यकिरणोंसे मृगतृष्णा उत्पन्न होती है। वास्तवमें असत्य होते हुए भी सत्य-सी दिखायी पड़नेवाली यह अविद्यारूपा वासना विषयोंकी अभिलाषासे युक्त मनरूप मत्त मृगको उसी प्रकार खींचती है, जिस प्रकार जलकी अभिलाषासे युक्त मृगको मृगतृष्णा खींचती है; किंतु उस अविद्या-रूपा वासनाका यथार्थ स्वरूप जान लेनेपर उसका विनाश हो जाता है। जैसे 'यह मृगतृष्णाका जल है' इस प्रकार तात्त्विक स्वरूपसे जान लेनेपर मृगतृष्णा तृषार्त मनुष्यको अपनी ओर नहीं खींचती, उसी प्रकार 'यह अविद्या है' इस प्रकार तत्त्वतः जान लेनेपर अविद्या मन-को नहीं खींच सकती। श्रीराम! जैसे दीपकसे अन्धकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश आ जाता है, वैसे ही परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वासना समूल (अविद्यासहित) नष्ट हो जाती है और परमात्माका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। अविद्याका अस्तित्व किसी प्रकार नहीं है—इस तरह शास्त्र और युक्तिसे दृढ निश्चय हो जानेपर अविद्याका तत्क्षण विनाश हो जाता है। इस जड देहके लिये भोगोंसे क्या प्रयोजन है—इस प्रकारके निश्चयसे युक्त तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छाओंके कारणरूप अपने अज्ञानको विनष्ट कर देता है। जैसे राज्य मिल जानेपर दरिद्र मनुष्य परम शान्तिको पा लेता है, वैसे ही यह तत्त्वज्ञ पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है। जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूपमें सदा अचल स्थित रहता है, उसी प्रकार वह अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही नित्य अचल स्थित रहता है। जैसे मेरु पर्वत स्थिरता और धीरताको धारण करता है, वैसे ही तत्त्ववेत्ता पुरुष स्थिरता और धीरताको धारण करता है। वह तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही सदा परम शान्त और परम तृप्त रहता है तथा वह तत्त्वज्ञ महापुरुष उस सम्पूर्ण भूतोंके आत्मस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सबके नियन्ता, सबके नायक, सर्वाकार और निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको अपना आत्मा जान लेता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष विषयी पुरुषोंके सङ्ग और विषयोंकी आसक्तिसे रहित, मान और मानसिक चिन्ताओंसे शून्य, परमात्मामें ही रत तथा विज्ञानानन्दसे परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त होता है। वह आत्मज्ञानी महात्मा कामरूपी कीचड़से मुक्त, बन्धनस्वरूप आत्मभ्रमसे शून्य तथा हर्ष-शोक, राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप दोष और भयसे रहित होता है। अतएव वह संसार-समुद्रसे तर चुका होता है। वह तत्त्वज्ञ विद्वान् सर्वोत्तम परम शान्तिको, दुर्लभ परम पदको तथा अनावृत्ति-रूप परम गतिको प्राप्त है। सभी लोग मन, वाणी और कर्मद्वारा इस महापुरुषके आचरणोंके अनुकरणकी इच्छा करते हैं; पर वह किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करता। सभी मनुष्य इसके आनन्दका अनुमोदन करते हैं, पर वह किसीका भी अनुमोदन नहीं करता—उदासीन रहता है। तत्त्वज्ञ पुरुष न तो त्याग करता है न ग्रहण; न किसीकी स्तुति करता है न किसीकी

निन्दा, न मरता है न जन्म लेता है, न हर्ष करता है और न शोक। वह समस्त आरम्भों, सम्पूर्ण विकारों और सारी आशा, इच्छा, वासना आदिसे रहित पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है।

श्रीराम! मनुष्यको न राज्यसे, न स्वर्गसे, न चन्द्रमासे, न वसन्तसे और न कान्ताके कमनीय संसर्गसे ही वैसे उत्तम सुख-शान्ति प्राप्त होते हैं, जैसे आशात्यागसे, क्योंकि आशाका त्याग ही सबसे बढ़-चढ़कर सुख-शान्ति है। जिस परम निर्वाणरूप मोक्षके लिये तीनों लोकोंकी सम्पत्तियाँ तिनकेकी तरह कुछ भी काम नहीं देतीं, वह आशाके त्यागसे ही प्राप्त होता है। जिसके हृदयमें आशा अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, सम्पूर्ण त्रिभुवनको तृणके सदृश समझनेवाले उस विरक्त पुरुषकी उपमा किससे दी जा सकती है? अर्थात् किसीसे नहीं। मेरे लिये यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये—इस प्रकारकी इच्छा जिसके चित्तमें नहीं होती, उस स्वाधीन चित्तवाले ज्ञानी महात्मा पुरुषकी मनुष्य कैसे तुलना कर सकते हैं? श्रीराम! तुममें न तो आशाओंका अस्तित्व है और न तुम्हारा आशाओंसे किसी तरहका सम्बन्ध ही है। तुम इस जगत्‌को मिथ्या भ्रममात्र ही समझो; क्योंकि जैसे दौड़ते हुए रथमें लगे पहियोंके ऊर्ध्व और नीचे प्रदेशमें होनेवाला घुमाव नेमीका आश्रय लेनेवाले पिपीलिका आदि जीवोंके पतन, पेषण आदि अनर्थोंका ही कारण होता है, वैसे ही यह जगत् भी उसका आश्रय लेनेवाले (इसमें सत्य-बुद्धि रखनेवाले) जीवोंके जन्म-मरण आदि अनर्थोंका ही कारण है।

रघुनन्दन! यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मस्वरूप ही है, यहाँ नानारूपता है ही नहीं। जगत्‌को अद्वितीय परमानन्दस्वरूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते। इन पदार्थोंके समूहोंका जो यथार्थ—आत्मासे अभिन्न स्वरूप है, उसको जाननेसे ही पुरुष बुद्धिके परम विश्रामस्वरूप नैराश्यको प्राप्त होता है। जैसे वीर केसरीके पाससे मृगी दूर भाग जाती है, उसी प्रकार तीव्र वैराग्यसे वीरताको प्राप्त अन्तःकरणसे युक्त पुरुषके पाससे यह संसारको मोहित करनेवाली माया दूर भाग जाती है—फिर उसके पास भी नहीं फटकती। जिस प्रकार वायु पर्वतको न आनन्द दे सकता है, न खेद और न धैर्यसे च्युत कर सकता है, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुषको न तो विषयोपभोग आनन्द पहुँचा सकते हैं, न सांसारिक आपत्तियाँ हृदयमें खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य-सम्पत्तियाँ धैर्यसे च्युत कर सकती हैं। जिसके प्रति युवती स्त्रियाँ अनुरक्त हैं, ऐसे उदारबुद्धि तत्त्वज्ञ महात्माके अन्तःकरणमें कामदेवके बाण छिन्न-भिन्न होकर धूलके समान हो जाते हैं—उन युवती स्त्रियोंका उसपर कोई असर नहीं होता। जो परमात्माके स्वरूपको जानता है और मन-इन्द्रियोंके वशमें नहीं है, उस महापुरुषको राग और द्वेष अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। इस प्रकार वह जब राग-द्वेषके द्वारा तनिक-सा भी विचलित नहीं किया जा सकता, तब उनके द्वारा उसके आक्रान्त होनेकी तो बात ही क्या है। जो लता और वनितामें एक-सी दृष्टि रखता है तथा जो पर्वतकी तरह अचल है, वह ज्ञानी-पुरुष इन तुच्छ विषयभोगोंमें उसी प्रकार रमण नहीं करता, जैसे बटोही मरुभूमिमें रमण नहीं करता। जिसका अन्तःकरण किसी भी भोग-पदार्थमें आसक्त नहीं है, वह तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष बिना प्रयत्नके अपने-आप प्राप्त अनिषिद्ध भोग-पदार्थोंका केवल शरीररक्षाके लिये अनासक्तभावसे लीलापूर्वक सेवन करता है। काकतालीय-न्यायकी भाँति अनायास न्याययुक्त प्राप्त ललना आदि भोग-समूह आस्वादित होनेपर भी तत्त्वज्ञ धीर पुरुषको सुख-दुःख नहीं दे सकते; क्योंकि जिसने परमात्माकी प्राप्तिके मार्गको भलीभाँति जान लिया है, उस तत्त्वज्ञ महापुरुषको सुख-दुःख तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। इन विनाशशील विषयोंको त्याज्य बुद्धिसे

देखनेवाला वह मृदु, दमनशील और सम्पूर्ण चिन्ता आदि ज्वरोंसे रहित ज्ञानी महापुरुष सब भूतोंमें अन्तरात्मास्वरूप-से स्थित आत्मपदका ही अवलम्बन कर स्थित रहता है। जैसे ऋतुओंके आने-जानेसे पर्वत विचलित नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा पुरुष कालानुसार, देशानुसार और क्रमानुसार आपत्तियों और सुख-दुःखोंके आनेपर भी विचलित नहीं होता। शरीरसे पृथक् आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार करनेवाले, नित्यानित्य वस्तुके यथार्थ विवेकसे सम्पन्न ज्ञानीके शरीरका छेदन करनेपर भी उसका कुछ भी छेदन नहीं होता; क्योंकि वह अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही नित्य स्थित रहता है। विशुद्ध प्रकाशस्वरूप परमात्माका एक बार यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका विस्मरण नहीं होता। अपने हृदयकी चिज्जडग्रन्थिका उच्छेद हो जानेपर मायाके तीनों गुणोंके द्वारा आत्माका पुनः बन्धन उसी प्रकार नहीं हो सकता, जैसे वृक्षसे टूटा हुआ फल किसी-के द्वारा पुनः नहीं जोडा जा सकता। अविद्याका असली स्वरूप जान लेनेके अनन्तर कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें डूबता (फँसता) है; क्योंकि सांसारिक वासना विवेकपूर्वक बुद्धिके विचारसे निवृत्त हो जाती है।

श्रीराम! तत्त्ववेत्ता पुरुष रूप-लावण्ययुक्त कामिनीको भी चित्रमें लिखित कान्ताकी प्रतिमाकी तरह ही समझते हैं, क्योंकि जैसे चित्रमें चित्रित कामिनीके केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुङ्कुम आदि रंग-स्वरूप पाँच भूतोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार रूप और लावण्यसे युक्त जीवित कामिनीके केश, ओष्ठ आदि भी पाँच भूतोंके स्वरूपसे अतिरिक्त दूसरे कुछ नहीं हैं। इसलिये कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्तामें तत्त्वतः समानता है—इस तत्त्वको जाननेवाले विवेकशील विरक्त महात्मा पुरुषका जीवित कान्ताके उपभोगमें आग्रह कैसे हो सकता है। जैसे परपुरुषमें व्यसन (आसक्ति) रखनेवाली नारी, घरके काम-काजमें व्यग्र रहनेपर भी उसी परपुरुष-सम्बन्ध-रूप रसायनका अपने अंदर आस्वाद लेती रहती है, उसी प्रकार व्यवहार करते हुए भी विशुद्ध परब्रह्मतत्त्वमें उत्तम विश्रामको प्राप्त धीर तत्त्वज्ञ पुरुष उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही मग्न रहता है; फलतः वह इन्द्रादि देवताओंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी विचलित नहीं होता। क्योंकि जिस महात्माकी अविद्या निवृत्त हो गयी है, जिसको परमात्मविषयका अच्छी प्रकार ज्ञान है तथा जो सदाचारसे युक्त है, वह महात्मा सुचारु-रूपसे व्यवहार करता हुआ भी अपने अन्तरात्मामें प्रसन्न रहता है। उसके शरीरका छेदन होनेपर भी उसका छेदन नहीं होता, गिरते हुए अश्रुओंसे युक्त होता हुआ भी वह रोता नहीं, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता और देहका विनाश होनेपर भी उसका विनाश नहीं होता; क्योंकि वह देहसे रहित हुआ सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपमें नित्य स्थित है। श्रीराम! वह तत्त्वज्ञ पुरुष प्रारब्धभोगके विधानके अनुसार चाहे दरिद्र-अवस्थामें रहे या संकटावस्थामें, उत्तम नगरके महलमें रहे या विस्तृत पहाड़ या वनमें, वह सदा-सर्वदा सुख-दुःखके उपद्रवसे रहित ही होता है। (सर्ग ७४)

मनुष्य, असुर, देव आदि योनियोंमें होनेवाले हर्ष-शोकादिसे रहित जीवन्मुक्त महात्माओंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! अपने राज्यके व्यवहारमें तत्पर होते हुए भी राजा जनक सम्पूर्ण चिन्तारूप ज्वरसे तथा अन्तःकरणकी व्याकुलतासे रहित होकर ही सदा-सर्वदा स्थित हैं। आपके पितामह महाराज दिलीपने अनेक तरहके उचित सांसारिक कर्मोंको सुचारुरूपसे करते हुए भी आसक्तिसे रहित होकर ही

दीर्घकालतक पृथ्वीका पालन किया। तथा राग आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण आत्मज्ञानको प्राप्त तथा सदा जीवन्मुक्त-स्वरूप महाराज मनुने चिरकालतक प्रजाओंका संरक्षण करते हुए राज्यका पालन किया। विचित्र सैन्य और बाहुबलके प्रयोगसे युक्त युद्धों तथा अनेक व्यवहारोंको निष्कामभावसे दीर्घकालतक करते हुए महाराज मान्धाता परम पदको प्राप्त हुए। पातालके राज्यसिंहासनपर आसीन, सदा त्यागी, सदा अनासक्त राजा बलि यथार्थरूपसे व्यवहारको करते हुए भी जीवन्मुक्तरूपसे स्थित हैं। दानवोंके अधिपति नमुचि देवताओंके साथ युद्ध करते हुए तथा सदा नाना प्रकारके व्यवहार एवं विचार-विमर्शोंमें तत्पर होते हुए भी भीतरसे संतप्त (खिन्न) नहीं होते थे। इन्द्रके युद्धमें अपने शरीरका परित्याग करनेवाले विशाल-हृदय मानी वृत्रासुरने प्रशान्तमन होकर ही देवताओंके साथ युद्ध किया। पातालतलका परिपालन करते समय दानवोचित कर्मोंका अनासक्त भावसे अनुष्ठान करते हुए भक्तप्रवर प्रह्लाद अविनाशी अनिर्वचनीय परमानन्दस्वरूप परमपदको प्राप्त हुए। समस्त देवताओंके मुखस्वरूप अग्नि क्रियासमूहमें तत्पर होते हुए यज्ञिय शोभाका चिरकालतक उपभोग करते हैं तथापि वे मुक्त होकर ही इस त्रिभुवनमें निवास करते हैं। जगत्के प्राणिसमूहोंके अङ्गोंका चिरकालसे संचरण कराते हुए भी वायु, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करनेवाले हैं, मुक्त ही स्थित हैं। ज्ञानरूप रत्नोंके एकमात्र समुद्र, तीक्ष्णबुद्धि, वीरवर स्वामी कार्तिकेयने मुक्त होते हुए भी तारकादि असुरोंसे युद्ध किया। महामुनि नारद मुक्तस्वभाव होते हुए भी इस जगत्में कार्यशील और शान्त बुद्धिसे विचरण किया करते हैं। जीवन्मुक्त होकर ही अनासक्तभावसे सहस्रमुख नागराज शेष पृथ्वीको धारण करते हैं, सूर्य दिवस-परम्पराओंका निर्माण करते हैं और यमराज धर्माधर्म-विचारपूर्वक लोगोंका नियमन करते हैं। इन पूर्वोक्त महानुभावोंके सिवा दूसरे भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवनमें मुक्तस्वरूप हुए ही संसारमें अनासक्त भावसे विचरण करते हैं। विचित्र आचार-व्यवहारोंमें स्थित कितने ही पुरुष भीतर शान्तिसे युक्त हैं, जब कि कुछ तामसी मूढ़ पुरुष तो मोहमें मग्न हुए पत्थरके सदृश बने रहते हैं। कुछ महात्माओंने परम ज्ञानका सम्पादन करके तपोवनका आश्रय लिया, जैसे—'भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि। कुछ महात्मा परम ज्ञान प्राप्तकर राज्योंमे ही छत्र, चवँर धारण किये रहते हैं—जैसे जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि। कुछ तत्त्वज्ञ आकाशमें ग्रह, नक्षत्र आदिके आधारभूत ज्योतिश्चक्रके मध्यमें स्थित हैं—जैसे बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि। तिर्यक् योनियोंमें भी सदासे कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियोंमें भी मूर्खबुद्धिवाले लोग विद्यमान हैं। जिसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप है, उस सर्वस्वरूप परमात्मामें सब कुछ सर्वभावसे सर्वत्र सब प्रकारसे सदा ही सम्भव है।

श्रीराम! मुक्ति हो जानेपर फिर इस संसारमें किसी प्रकार जन्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु करोड़ों मनुष्य आत्माके ज्ञानका अभाव होनेसे ही अज्ञानमें निमग्न रहते हैं। रघुकुलतिलक! मुक्ति होनेपर इस संसारमें विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति सदा ही बनी रहती है, इसलिये आत्मा-अनात्माके यथार्थ विवेक-विज्ञानको प्राप्त करके करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो चुके हैं। ज्ञानसे मुक्ति सुलभ है और अज्ञानसे दुर्लभ। अतः जिसको मुक्तिकी अभिलाषा हो, उसे आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करना चाहिये। आत्मज्ञानसे सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। इस वर्तमान कालमें भी रागशून्य, भयरहित महाबुद्धिमान् राजा सुहोत्र और जनक आदिके समान अनेक जीवन्मुक्त महापुरुष विद्यमान हैं। इसलिये श्रीराम! तुम भी ज्ञान-वैराग्यसे उत्पन्न धीरबुद्धिसे युक्त, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें समदृष्टि तथा जीवन्मुक्त हुए विचरण करो।



जनकका तमालकी झाड़ीमें छिपे सिद्धोंके गीत-श्रवण

(उपशम-प्रकरण सर्ग ८)

रघुनन्दन! इस लोकमें देहधारी जीवोंकी दो प्रकारकी मुक्ति होती है—एक तो सदेह मुक्ति और दूसरी विदेह-मुक्ति। अब तुम इनका विभाग सुनो। निष्पाप श्रीराम! पदार्थों (विषयों)-के असङ्गसे जो मनकी शान्ति होती है, वही विमुक्तता है। वह विमुक्तता देहके रहते हुए और देहावसान होनेपर ही होती है। जो विद्वान् विषय-स्नेह-से रहित होकर जीता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है एवं जो विषय स्नेहसे युक्त होकर जीता है, वह बद्ध कहलाता है। इन दोनोंसे भिन्न तीसरा जो देहत्यागके पश्चात् ब्रह्ममें विलीन हो जाता है, वह विदेही तो मुक्त है ही। इसलिये मनुष्यको मोक्षके लिये युक्ति और प्रयत्नपूर्वक साधन करना चाहिये। युक्ति और प्रयत्नके बिना तो गायका खुर टिके, इतनी भूमि भी नहीं लाँघी जा सकती। (सर्ग ७५)



स्त्रीरूप तरङ्गसे युक्त संसाररूपी समुद्र, उससे तरनेके उपाय और तरनेके अनन्तर सुखपूर्वक विचरणका वर्णन, जीवन्मुक्त महात्माओंके गुण, लक्षण और महिमा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह जगत् ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्थिरताको प्राप्त होता है और परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे निश्चय ही प्रशान्त हो जाता है; क्योंकि परमात्माका यथार्थ ज्ञान न होना ही संसारकी स्थितिमें कारण है और परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही उस संसारके विनाशमें कारण है। यह संसार-सागर ऐसा घोर है कि इससे पार हो जाना अत्यन्त दुष्कर है; युक्ति और प्रयत्नके बिना इसका तरण नहीं किया जा सकता। यह संसाररूपी सागर है। इसमें मुग्ध अङ्गनारूपी विस्तृत तरङ्गें हैं। ये स्त्रीरूपी तरङ्गें ओठोंकी शोभारूप पद्मराग-मणियोंसे युक्त, नेत्ररूपी नील-कमलोंसे परिपूर्ण, स्मित-रूपी फेनोंसे सुशोभित, दाँतरूपी प्रफुल्लित पुष्पोंसे अलंकृत, केशरूपी इन्द्रनीलमणियोंसे सुसज्जित, भौंहोंके विलासरूपी वायुसे आन्दोलित, नितम्बरूपी पुलिनोंसे युक्त, कण्ठरूपी शङ्खोंसे विभूषित, ललाटरूपी मणिसमूहोंसे सुशोभित, विलासरूपी ग्राहोंसे सकुल, कटाक्षोंकी चपलताके कारण अति गहन तथा देहकान्तिरूपी सुवर्ण-वालुकासे युक्त हैं। इस प्रकारकी अति चञ्चल लहरियोंके कारण जो अत्यन्त भयंकर है—ऐसे सागरमें निमग्न हुआ पुरुष यदि पार हो जाय तो वह परम पुरुषार्थ ही है। शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिरूपी बड़ी नौका और विचारपूर्वक विवेकरूपी नाविकके रहते हुए भी जो मनुष्य इस संसार-सागरसे पार नहीं हुआ, उस पुरुषको धिक्कार है। श्रीराम! जो मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ परब्रह्मका विचार करके तथा बुद्धिसे संसार-सागरका तत्त्व समझकर जगत्में विचरण करता है, वही वास्तविक शोभा पाता है। इस संसारमें तुम धन्य हो, जो इस बाल-अवस्थामें ही विवेकयुक्त बुद्धिसे इस संसारके विषयमें विचार करते हो। जिसने तत्त्वको जान लिया है, उस पुरुषके बल, बुद्धि और तेज उसी प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार वसन्त ऋतुमें वृक्षोंके सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं। रघुनन्दन! तुम जानने योग्य वस्तुको जानते हो। इस कारण इस समय तुम चिन्मय घनीभूत आनन्दामृत रसायनसे परिपूर्ण सुशीतल (त्रिविध तापोंसे रहित), विशुद्ध और सम शोभासे पूर्ण चन्द्रमाकी तरह अत्यन्त सुशोभित हो रहे हो।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर! जिसने ब्रह्मतत्त्वरूप चमत्कारका अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुषका उदार चरित्र आप मुझसे साररूपमें कहिये; क्योंकि आपके वचनोंसे तृप्ति किसको हो सकती है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—महाबाहु श्रीराम! अनेक बार मैंने तुमसे जीवन्मुक्तके लक्षण कहे हैं, फिर भी मैं तुमसे कह रहा हूँ; सुनो। जिसकी समस्त अभिलाषाएँ

निकल गयी हैं, ऐसा आत्मवान् (तत्त्ववेत्ता) पुरुष उपरत हुआ ही इस दृश्यमान अखिल जगत्को सर्वत्र सदा असत्-सा देखता है। जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसका मन विक्षेपरहित—शान्तियुक्त हो गया है, वह कैवल्यको प्राप्त महापुरुष आनन्दमें मग्न हुआ रहता है। शान्त बुद्धिसे सम्पन्न ज्ञानी महात्मा अन्तरात्मामें लीन दृष्टिसे जनताके व्यवहारोंको यन्त्रनिर्मित कठपुतलीके खेलके समान देखता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष न भविष्यकी परवा करता है, न वर्तमानमें किसी पदार्थमें तन्मय होता है, न भूतकालीन वस्तुका स्मरण करता है और सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तत्त्वज्ञानी सोता हुआ भी आत्मज्ञानमें जागता रहता है और जागता हुआ भी संसारसे निःस्पृह तथा उपरत रहता है। वह सब कुछ करता हुआ भी कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण कुछ भी नहीं करता। सम्पूर्ण संसारकी आसक्तिसे शून्य और सदा-सर्वदा सम्पूर्ण कामनाओसे रहित तत्त्ववेत्ता महात्मा सब कार्योंको करता हुआ भी समभावसे स्थित रहता है। वह तत्त्वज्ञ पुरुष उदासीन मनुष्यकी तरह स्थित रहता है। वह प्रारब्धानुसार प्राप्त हुई क्रियाओंमें न इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है। तत्त्वज्ञ महात्मा जब अपने मुखसे वाणीको प्रवृत्त करता है, तब पवित्र कथाओंको ही कहता है। उसका अन्तःकरण दीनतासे रहित रहता है। वह धीर बुद्धिवाला, प्रत्यक्ष आनन्दमें मग्न तथा दक्ष होता है और लोकमें उसके पुण्य चरित्रोंका वर्णन होता है। तत्त्वज्ञ उदार-चरित एवं उदार आकारसे युक्त, सम, सौम्य, सुखका समुद्र एवं सुस्निग्ध होता है; उसका स्पर्श शान्तिमय होता है और वह पूर्णचन्द्रकी तरह नित्य उदित रहता है। उसका न आवश्यक कर्मोंके तथा ऐहिक और आमुष्मिक फलके हेतुरूप कर्मोंके आरम्भसे, न कर्मोंके अभावसे, न बन्धनसे, न मोक्षसे, न पातालसे और न स्वर्गसे ही प्रयोजन होता है; क्योंकि सम्यक्-ज्ञानरूपी अग्निसे जिसके संदेहरूपी जाल विनष्ट हो गये हैं, उस तत्त्वज्ञ महात्माने समस्त जगत्की स्वरूपभूत अद्वितीय परमात्मरूप यथार्थ वस्तुको भली प्रकार जान लिया है।

जिसका अन्तःकरण भ्रान्तिसे रहित होकर समतारूप ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित हो गया हो, वह आकाशकी तरह सभी दृष्टियोंमें न मरता है और न जन्मता है। देश और कालके अनुसार प्राप्त हुई क्रियाओंमें स्थित हुआ भी वह कर्मोंसे जनित सुख और दुःखकी प्राप्तिमें तनिक भी विकारवान् नहीं होता। वह प्राप्त हुई दुःखावस्थाकी उपेक्षा नहीं करता और न सुखावस्थाकी परवा ही करता है। न कार्योंके सफल होनेपर हर्षित होता है और न कार्योंके विनष्ट होनेपर खिन्न होता है। यदि सूर्य शीतल हो जाय, चन्द्रमा तपने लग जाय, अग्नि अधोमुख होकर जलने लगे, तो भी (इस प्रकारकी विपरीत घटनाएँ होनेपर भी) तत्त्वज्ञानी महात्माको आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि तत्त्ववित् पुरुष यह जानता है कि चिन्मय परब्रह्म परमात्माकी ये असीम मायाशक्तियाँ इस प्रकार प्रस्फुरित हो रही हैं। इसलिये आश्चर्य-समूहोंके होनेपर भी उसको आश्चर्य नहीं होता। वह कभी भी दीनतायुक्त नहीं होता, न कभी उद्दण्ड होता है तथा न कभी उन्मत्त, खिन्न, उद्विग्न और हर्षयुक्त ही होता है। अर्थात् इन सब विकारोंका उसमें अत्यन्त अभाव होता है। उस परमात्मप्राप्त पुरुषके आकाशकी तरह अत्यन्त निर्मल, विशाल चित्तमें कोप आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। सुख-दुःख दोनोंके क्षीण हो जानेसे उसके लिये हेय और उपादेय तथा शुभ और अशुभका भी विनाश हो जाता है; ऐसी स्थितिमें अनुकूल और प्रतिकूल कैसे रह सकते हैं। श्रीराम! तिलोंके भस्म हो जानेपर तेलकी कल्पना ही कैसे हो सकती है। इसी प्रकार मूलसहित मनके विनष्ट हो जानेपर संकल्पकी चर्चा ही

क्या है। रघुनन्दन! परमात्मासे पृथक् कोई भी पदार्थ नहीं है, इस प्रकारकी दृढ भावनाके कारण समस्त दृश्य पदार्थोंके संकल्प-विकल्पका अभाव करके सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित ज्ञानी महात्मा नित्यतृप्त तथा अपने निरतिशयानन्दस्वरूपसे आनन्दवान् होकर स्थित रहता है। (सर्ग ७६-७७)

चित्तके स्पन्दनसे होनेवाली जगत्की भ्रान्ति, चित्त और प्राण-स्पन्दनका स्वरूप तथा उसके निरोधरूप योगकी सिद्धिके अनेक उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जैसे रात्रिमें जलती हुई लुकाठीको गोल घुमानेसे अग्निमय चक्र असत् होते हुए भी सत्-सा दिखायी पड़ता है, वैसे ही चित्तके संकल्पसे असत् जगत् सत्-सा दिखायी पड़ता है। जैसे जलके चारों ओर घूमनेसे जलसे पृथक् गोल—नाभिके आकारका आवर्त (भँवर) दिखायी पड़ता है, वैसे ही चित्तके संकल्प-विकल्पसे जगत् दिखायी पड़ता है। जैसे आकाशमें नेत्रोंके दोषसे असत् मोरके पख और मोतीके समूह सत्य-से दिखायी पड़ते हैं, वैसे ही चित्तके संकल्पसे असत् जगत् सत्य-सा दिखायी पड़ता है। रघुनन्दन! जैसे शुक्लत्व और हिम, जैसे तिल और तेल, जैसे पुष्प और सुगन्ध तथा जैसे अग्नि और उष्णता एक दूसरेसे मिले हुए और अभिन्नरूप हैं, वैसे ही चित्त और संकल्प एक दूसरेसे मिले हुए और अभिन्नरूप हैं। उनके भेदकी केवल मिथ्या कल्पना की गयी है। चित्तके विनाशके लिये दो उपाय शास्त्रोंमें दिखलाये गये हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान। चित्तवृत्तिका निरोध योग है और परमात्माका यथार्थ अपरोक्ष साक्षात्कार ही ज्ञान है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! प्राण और अपानके निरोधरूप योग नामकी किस युक्तिसे और कब मन अनन्त सुखको देनेवाली परम शान्तिको प्राप्त करता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जैसे जल पृथ्वीमें चारों ओरसे प्रवेश करके व्याप्त होता है, वैसे ही इस देहमें विद्यमान असंख्य नाड़ियोंमें चारों ओरसे जो वायु प्रवेश करके व्याप्त होता है, वह प्राणवायु है। स्पन्दनके कारण भीतर क्रियाके वैचित्र्यको प्राप्त हुए उसी प्राणवायुके अपान आदि नामोंकी योगी—विवेकी पुरुषोंने कल्पना की है। जैसे सुगन्धका पुष्प तथा जैसे शुक्लताका हिम आधार है, वैसे ही चित्तका यह प्राण आधार है। प्राणके स्पन्दनसे चित्तका स्पन्दन होता है और चित्तके स्पन्दनसे ही पदार्थोंकी अनुभूतियाँ होती हैं, जिस प्रकार जलके स्पन्दनसे चक्रकी तरह गोल आकारकी रचना करनेवाली लहरें उत्पन्न होती हैं चित्तका स्पन्दन प्राण-स्पन्दनके अधीन है। अतः प्राणका निरोध करनेपर मन अवश्य उपशान्त (निरुद्ध) हो जाता है—यह बात वेद-शास्त्रोंको जानने-वाले विद्वान् कहते हैं। मनके संकल्पका अभाव हो जानेपर यह संसार विलीन हो जाता है।

श्रीरामजीने पूछा—महाराज! देहरूपी घरमें स्थित हृदयादि स्थानोंमें विद्यमान नाड़ीरूपी छिद्रोंमें निरन्तर संचरण करनेवाले तथा मुख, नासिका आदि छिद्रोंमें निरन्तर गमनागमनशील प्राण आदि वायुओंका स्पन्दन कैसे रोका जा सकता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! शास्त्रोंके अध्ययन, सत्पुरुषोंके सङ्ग, वैराग्य और अभ्याससे सांसारिक दृश्य पदार्थोंमें सत्ताका अभाव समझ लेनेपर चिरकालपर्यन्त एकतानतापूर्वक अपने इष्टदेवके ध्यानसे और एक सच्चिदा-नन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थितिके लिये तीव्र अभ्याससे प्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। सुखपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक आदि प्राणायामोंके दृढ अभ्याससे तथा एकान्त ध्यानयोगसे प्राणवायु निरुद्ध हो जाता है। ॐकारका उच्चारण और ॐकारके अर्थका चिन्तन करनेसे बाह्य विषयोंके ज्ञानका अभाव हो जानेपर प्राण-

वायुका स्पन्दन रुक जाता है। रेचक प्राणायामका दृढ़ अभ्यास करनेसे विशाल प्राणवायुके बाह्य आकाशमें स्थित हो जानेपर नासिकाके छिद्रोको जब प्राणवायु स्पर्श नहीं करता, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है। इसीका नाम बाह्यकुम्भक प्राणायाम है। पूरकका दृढ़ अभ्यास करते-करते पर्वतपर मेघोंकी तरह हृदयमें प्राणोके स्थित हो जानेपर जब प्राणोंका संचार शान्त हो जाता है, तब प्राण-स्पन्दन रुक जाता है। इसीका नाम आभ्यन्तर-कुम्भक प्राणायाम है। कुम्भकी तरह कुम्भक प्राणायामके अनन्तकालतक स्थिर होनेपर और अभ्याससे प्राणका निश्चल स्तम्भन हो जानेपर प्राणवायुके स्पन्दनका निरोध हो जाता है। इसीका नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है।* जिह्वाके द्वारा तालुके मध्यभागमें रहनेवाली घण्टिकाको प्रयत्नपूर्वक स्पर्श करनेसे जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्रमें (ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् कपाल-कुहरमें, जो सुषुम्णाके ऊपरी भागका द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होनेपर कोई भी नाम-रूप नहीं रहता, तब अत्यन्त सूक्ष्म चिन्मय-आकाशरूप परमात्माके ध्यानसे बाह्याभ्यन्तर सारे विषयों-के विलीन हो जानेपर प्राणवायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। † नासिकाके अग्रभागसे लेकर बारह अंगुल-

---

* रेचक, पूरक और कुम्भक—इन तीनों प्राणायामोंका योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने इस प्रकार वर्णन किया है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
(योग० साधन० ४९)

'आसन सिद्ध होनेके बाद श्वास और प्रश्वासकी गतिका रुक जाना 'प्राणायाम' है। तात्पर्य यह कि प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनोंकी गतिका रुक जाना—प्राणवायुकी गमनागमनरूप क्रियाका बंद हो जाना ही प्राणायामका समान्य लक्षण है।

इस प्राणायामके तीन भेद हैं—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
(योग० साध० ५०)

'उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति—ऐसे तीन प्रकारका होता है तथा वह देश, काल और संख्याद्वारा देखा जाता हुआ लंबा और हल्का होता जाता है।'

प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालकर बाहर ही जितने कालतक सुखपूर्वक—रुक सके, रोके रखना और साथ-ही-साथ इस बातकी भी परीक्षा करते रहना कि वह बाहर आकर कहाँ ठहरा है, कितने समयतक ठहरा है और उतने समयमें स्वाभाविक प्राणकी गतिकी कितनी संख्या होती है—यह 'बाह्यवृत्ति प्राणायाम' है। इसे रेचक भी कहते हैं; क्योंकि इसमें रेचनपूर्वक प्राणको रोका जाता है। अभ्यास करते-करते यह दीर्घ (लंबा) बहुत कालतक रुके रहनेवाला और सूक्ष्म (हल्का)—अनायाससाध्य हो जाता है।

प्राणवायुको भीतर ले जाकर भीतर ही जितने कालतक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रखना और साथ-साथ यह देखते रहना कि आभ्यन्तर देशमें कहाँतक जाकर प्राण रुकता है, वहाँ कितने कालतक सुखपूर्वक ठहरता है और उतने समयमें प्राणकी स्वाभाविक गतिकी कितनी संख्या होती है—यह 'आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम' है। इसे 'पूरक' प्राणायाम भी कहते हैं; क्योंकि इसमें शरीरके अंदर ले जाकर प्राणको रोका जाता है। अभ्यासबलसे यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

शरीरके भीतर जाने और बाहर निकलनेवाली जो प्राणोंकी स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर लाने अथवा ले जानेका अभ्यास न करके प्राणवायु स्वभावसे बाहर निकला हो या भीतर गया हो—जहाँ हो वहीं उसकी गतिको स्तम्भित कर देना (रोक देना) और यह देखते रहना कि प्राण किस देशमें रुके हैं, कितने समयतक सुखपूर्वक रुके रहते हैं, इस समयमें स्वाभाविक गतिकी कितनी संख्या होती है—यह 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' है; इसे 'कुम्भक' प्राणायाम भी कहते हैं। अभ्यासबलसे यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

† इस प्राणायामका वर्णन योगदर्शनमें यों किया गया है—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (योग० साधन० ५१)

'बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप होनेवाला चौथा प्राणायाम है।'

भाव यह है कि बाहर और भीतरके विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देनेसे—इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं या भीतर जा रहे हैं अथवा चल रहे हैं कि ठहरे हुए हैं, इस जानकारीका त्याग करके मनको परमात्मामें लगा देनेसे देश, काल और संख्याके ज्ञानके बिना ही अपने-आप जो प्राणोंकी गति जिस किसी देशमें रुक जाती है, वह चौथा प्राणायाम है। यह अनायास होनेवाला राजयोगका प्राणायाम है।

पर्यन्त निर्मल आकाशभागमें नेत्रोंकी लक्ष्यभूत संवित्‌दृष्टि (वृत्तिज्ञान)- के शान्त हो जानेपर अर्थात् नेत्र और मनकी वृत्तिको रोकनेसे प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

अभ्याससे यानी योगशास्त्रोंमें प्रदर्शित पवन-निरोधके अभ्याससे ऊर्ध्वरन्ध्रके द्वारा (सुषुम्णामार्गसे) तालुके ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब विलीन हो जाता है, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है। भृकुटीके मध्यमें चक्षु-इन्द्रियकी वृत्तिके शान्त होनेसे आज्ञाचक्रमें प्राणोंके विलीन हो जानेपर जब चिन्मय परमात्माका अनुभव हो जाता है, तब प्राणोंका स्पन्दन रुक जाता है। ईश्वरके अनुग्रहसे तुरंत उत्पन्न हुए दृढीभूत तथा समस्त विकल्पांशोंसे रहित परमात्मज्ञानके हो जानेपर प्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। मननशील श्रीरामजी! हृदयमें स्थित एकमात्र चिन्मय आकाशस्वरूप परमात्माके ज्ञानसे, विषय-वासनाके अभावसे और मनके द्वारा परमात्माका निरन्तर ध्यान करनेसे प्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! इस जगत्‌में प्राणियोंके उस हृदयका स्वरूप क्या है, जिसमें यह सब दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह स्फुरित होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! इस जगत्‌में प्राणियोंके दो प्रकारके हृदय हैं—एक उपादेय और दूसरा हेय। अब तुम इनका विभाग सुनो। इयत्तारूपसे परिच्छिन्न इस देहमें वक्षःस्थलके भीतर शरीरके एक देशमें स्थित जो हृदय है, उसे तुम हेय हृदय जानो। चेतनमात्रस्वरूपसे स्थित हृदय (परमात्मा) को उपादेय कहा गया है। वह परमात्मा सबके भीतर और बाहर है और भीतर एवं बाहर नहीं भी है। अर्थात् संसारके प्रतीतिकालमें तो परमात्मा उसके भीतर और बाहर—सब जगह परिपूर्ण है और वास्तवमें वह संसारके भीतर-बाहर नहीं है; क्योंकि संसारका अत्यन्त अभाव है। अतः परमात्मा ही अपने आपमें नित्य स्थित हैं। वह उपादेय परमात्मा ही प्रधान हृदय है। उसीमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थोंका दर्पण है अर्थात् उसीमें यह संसार दर्पणमें प्रतिबिम्बकी ज्यों संकल्परूपसे स्थित है और वही सम्पूर्ण सम्पत्तियोंका कोष है। श्रीराम! चेतन परमात्मा ही सभी प्राणियोंका हृदय कहा जाता है। जड और जीर्ण पत्थरके सदृश देहके अवयवका मांस-खण्डरूप एक अंश वास्तविक हृदय नहीं है। इसलिये चेतनस्वरूप विशुद्ध हृदय—परमात्मामें वासनाओंसे रहित होकर बलपूर्वक चित्तको लगानेसे प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। इन पूर्वोक्त उपायोंसे तथा अन्यान्य अनेक तत्त्वज्ञ आचार्योंके मुखसे उपदिष्ट नाना संकल्पोंसे कल्पित उपायोंसे प्राण-स्पन्द निरुद्ध हो जाता है। ये पूर्वोक्त योगविषयक युक्तियाँ अभ्यासके द्वारा ही श्रेष्ठ साधकके लिये संसारका उच्छेदन करनेमें बाधारहित उपाय हैं। भ्रू, नासिका, तालुस्थान तथा कण्ठाग्र-प्रदेशसे लेकर बारह अङ्गुल-परिमित प्रदेशमें अभ्याससे प्राण लीन हो जाता है अर्थात् प्राणोंका निरोध हो जाता है। अभ्याससे ही पुरुष आत्माराम, वीतशोक तथा परमात्माकी प्राप्तिरूप भीतरी सुखसे पूर्ण होता है। उस परमपदरूप परमात्मामें यह समस्त जगत् विद्यमान है; उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत्‌का स्वरूपभूत है और वह इस जगत्‌के चारों ओर विद्यमान है। किंतु वास्तवमें उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न यह उससे उत्पन्न हुआ है और न जगत् उसका स्वरूप ही है। वास्तवमें इस प्रकारका जगत् है ही नहीं, प्रत्युत वह परमात्मा स्वयं ही अपने आपमें स्थित है। श्रीराम! जो महाबुद्धिमान् ज्ञानी महात्मा पुरुष सारी सीमाओंके अन्तरूप उस परमपदका अवलम्बन करके स्थित रहता है, वह स्थितप्रज्ञ, तत्त्ववेत्ता, जीवन्मुक्त कहलाता है। जिस महात्माकी समस्त कामोपभोगकी

इच्छाएँ निवृत्त हो गयी हैं, जिसका सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनुकूलता और प्रतिकूलतारूप संकल्प निवृत्त हो गया है तथा जिसका अन्त.करण समस्त व्यवहारोंमें हर्ष और विषादसे रहित तथा सम हो गया है एवं जिसका मन शान्त हो चुका है, वह महात्मा सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ है। (सर्ग ७८)

चित्तके उपशमके लिये ज्ञानयोगरूप उपाय एवं विवेक-विचारके द्वारा चित्तका विनाश होने-पर ब्रह्मविचारसे परमात्माकी प्राप्ति

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! उपर्युक्त दो उपायोंमेंसे आपने योगयुक्त पुरुषके चित्त-विनाशका ही निरूपण किया है। अब आप अनुग्रह करके मुझसे यथार्थ ज्ञानका सम्यक् प्रकारसे निरूपण कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! इस जगत्में आदि और अन्तसे रहित प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है—इस प्रकार-का जो दृढ़ निश्चय है, उसी निश्चयको ज्ञानी महात्मागण सम्यक् ज्ञान यानी परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान कहते हैं। ये जो घट-पट आदि आकारोंसे युक्त पदार्थोंके सैकड़ों समूह हैं, वे सब परमात्मस्वरूप ही हैं; उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय ही परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान न होनेसे जन्म होता है और परमात्माके यथार्थ ज्ञान-से मोक्ष होता है। रज्जुका यथार्थ ज्ञान न होनेसे रज्जु सर्परूप प्रतीत होती है और उसका यथार्थ ज्ञान होनेसे रज्जु सर्परूप नहीं प्रतीत होती यानी रज्जु रज्जुरूप ही दिखायी पड़ती है। इस मुक्तिमें संकल्पसे सर्वथा रहित, समस्त विषयोंसे रहित केवल चिन्मय परमात्मा ही सच्चिदानन्दरूपसे विराजमान रहता है; उससे अन्य कुछ भी नहीं रहता। इन तीनों लोकोंमें यथार्थ आत्मदर्शन इतना ही है कि यह सब जगत् परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णताको प्राप्त हो जाय। उस परमात्मासे भिन्न न तो दृश्य जड जगत् है और न मन है। ब्रह्म ही यह दृश्य रूप बनकर चेष्टा कर रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड एक चिन्मय आकाशरूप विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है; अत. क्या मोक्ष है और क्या बन्धन है। जितने बड़े-से-बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे भी ब्रह्म महान् है। जैसे काष्ठ, पाषाण और वस्त्र आदि सब कुछ पृथ्वी ही है—इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता, वैसे ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती। रघुनन्दन! आदि और अन्तमें जो अविनाशी, पूर्ण, शान्त-स्वरूप है, वास्तवमें वही सच्चिदानन्दघन परमात्मा है। जो महात्मा उस विशुद्ध परमात्माका अनुभव करके अन्तःस्थ बुद्धिसे सदा-सर्वदा स्थित रहता है, वह तत्त्वज्ञानी आत्माराम पुरुष भोगोंके द्वारा बन्धनमें नहीं पड़ता। जैसे मन्द पवन पर्वतका भेदन नहीं कर सकते, वैसे ही जिस ज्ञानीने प्रकाशमान परमात्माका पूर्णरूपसे अनुभव कर लिया है, उस तत्त्वज्ञके अन्तःकरणको काम आदि शत्रु तनिक भी भेदन (विचलित) नहीं कर सकते। जैसे जलसे बाहर निकली हुई मछलीको बगुले निगल जाते हैं, वैसे ही इस संसारमें आशाओंमें निरत, मूढ़, अज्ञानी और अविचारी पुरुषको दुःख निगल जाते हैं। श्रीराम! जैसे अनेक प्रकारके सरोवरोंमें-जल, फेन आदि जलसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही दृश्य जगत् ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। केवल कल्पनाओंमें ही नानात्व है, वास्तवमें नानात्व नहीं है—इस प्रकार विवेकपूर्वक भलीभाँति अर्थको जान लेनेवाला एक निश्चययुक्त ज्ञानी पुरुष विमुक्त कहा जाता है।

श्रीराम! अपने हृदयमें ब्रह्मविषयक विचार करनेवाले विवेकी वीतराग पुरुषकी सर्वदा सम्मुखस्थित सांसारिक भोगोंमें भी रुचि उत्पन्न ही नहीं होती। अधम नेत्र! स्त्री,

पुत्र आदिके सौन्दर्यस्वरूप रूपात्मक कीचड़का तुम आस्वादन मत करो। यह रूप क्षणमें ही विनष्ट हो जानेवाला है और तुम्हें भी विनष्ट कर देनेवाला है। नेत्र! जो उत्पत्ति-विनाशशील है और जो केवल देखनेमात्रमें ही रमणीय प्रतीत होता है, ऐसे मिथ्या रूप-सौन्दर्यका तुम उस अवश्यम्भावी मृत्युके मुखमें प्रवेश करनेके लिये आश्रय मत लो। जैसे वास्तवमे परस्पर असम्बद्ध मुख, दर्पण और प्रतिबिम्ब एक दूसरेसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, वैसे ही वास्तवमें परस्पर एक दूसरेसे असम्बद्ध रूप, प्रकाश और मन एक दूसरेसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। जैसे दो काठ लाहके द्वारा एक दूसरेसे संश्लिष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये रूप, आलोक और संकल्प आदि मनन चित्तकी कल्पनासे एक दूसरेसे संश्लिष्ट हो जाते हैं। अपने चित्तका संकल्प-विकल्पात्मक तन्तु विवेकशील बुद्धिके द्वारा यत्नपूर्वक किये गये विवेक-विचाररूप अभ्याससे विनष्ट हो जाता है। फिर उस तन्तुके नष्ट हो जानेपर स्वभावत. ही अज्ञान-भावना प्रवृत्त नहीं होती। अज्ञानके विनाशसे क्षीण हुए मनमें फिर ये रूप, आलोक और मनन—कोई भी एक दूसरेसे संघटित नहीं होते। चित्त! तुम मिथ्या ही उछल-कूद मचाते हो। मैंने तुम्हारे उच्छेदके लिये उपाय ढूँढ निकाला है। तुम आदि और अन्त दोनोंमें नितान्त तुच्छ (क्षणभङ्गुर) हो, इसलिये वर्तमान कालमें भी विनष्ट ही हो। तुम इन्द्रियोंसे सम्बद्ध शब्द आदि पाँच विषयोंके द्वारा अपने भीतर क्यों वृथा उछल रहे हो? जो मनुष्य तुम्हें अपना मानता है, उसीके सामने तुम उछल-कूद कर सकते हो। किंतु दुष्ट चित्त! तुम्हारी उछल-कूदसे मुझे तनिक भी प्रसन्नता नहीं होती। तुम रहो चाहे जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीते हो। विचार करनेपर अपने मिथ्या स्वभावसे तुम सदा मृतक ही हो। तुम साररहित जड, भ्रान्त और शठ हो। तुम्हारा आकार अत्यन्त विनाशशील है। अज्ञानस्वरूप तुम्हारे द्वारा अज्ञानी पुरुषको ही बाधा पहुँच सकती है, विचारवान् विवेकी पुरुषको नहीं।

जगद्रूपी-चित्त-वेताल! शठरूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमान कालमें भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे। इस प्रकार तुम्हारी तीनों कालोंमें सत्ता नहीं है। बिना हुए ही तुम कायम हो। तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती? चित्तरूपी वेताल! तृष्णारूपी पिशाचिनियों तथा क्रोध आदि गुह्यकोंके साथ तुम मेरे शरीररूपी घरसे बाहर निकल जाओ। बड़े आश्चर्यकी बात है कि महान् जड एवं क्षणभङ्गुर शठ मनने इस समस्त जन-समूहको विवश कर रक्खा है। अज्ञानी दीन चित्त! मैं आज तुमको मारता नहीं हूँ; क्योंकि तुम पहलेसे ही मर चुके हो, यह मैंने जान लिया है। चित्त मरा हुआ है; अत. उसका अस्तित्व ही नहीं है—यह मैंने आज जान लिया। इसलिये मैं चित्तके आश्रयका परित्याग करके केवल अपने आत्मामें ही स्थित हूँ। मनको देहरूपी घरसे क्षणभरमें निकालकर मैं इस वेतालरूप मनसे रहित हो भीतरसे स्वस्थ हुआ स्थित हूँ। भाग्यवश बहुत कालके अनन्तर अब मैंने विचाररूपी तलवारसे पीडितकर चित्तरूपी वेतालको, जो ताल वृक्षके सदृश ऊँचाईसे युक्त है, हृदय-मन्दिरसे हटा दिया है। चित्तरूपी वेतालके शान्त हो जाने और पवित्र पदवीको प्राप्त कर लेनेपर अब उत्तम भाग्यसे शरीररूपी नगरमें केवल मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। विवेक-विचाररूपी मन्त्रसे मन, चिन्ता और अहंकाररूपी राक्षसका विनाश हो गया। अब समस्त विषमताओंसे रहित मैं केवल अपने स्वरूपमें ही स्थित हूँ। एक, कृतकृत्य, नित्य, विशुद्ध-स्वरूप तथा निर्विकल्प सच्चिदानन्दघन परमात्मरूप मुझको बार-बार नमस्कार है। विकारशून्य, नित्य, अंशरहित, सर्वस्वरूप तथा सर्वकालात्मक परमात्मस्वरूप मुझको बार-बार नमस्कार है। नाम और रूपसे रहित, प्रकाश

रूप, स्वयं अपने आपमें ही स्थित अद्वितीय सच्चिदानन्द-घन परमात्मस्वरूप मुझको ही बार-बार नमस्कार है। मननरहित, सम, अत्यन्त सुन्दर समस्त विश्वका आविर्भाव करनेवाले, वास्तवमें विश्वरहित, अनन्त, स्वस्वरूप, अजन्मा, जरारहित, समस्त गुणोंसे अतीत तथा अविनाशी विज्ञानानन्दघन परमेश्वरके स्वरूपको मैं प्रणाम करता हूँ।

रघुनन्दन! जैसे आकाशमें दृष्टिदोषसे प्रतीत होनेवाला वृक्ष भ्रमवश वृक्षरूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाश-वृक्ष नहीं है, वैसे ही चित्त अविद्यमान, जड और मायाका कार्य होनेसे निश्चयरूपसे असत् ही है, वह परमात्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। जैसे नौकामें स्थित अज्ञानी बालकको तटवर्ती वृक्ष और पहाड़में प्रतीत होनेवाली गति केवल भ्रान्तिसे ही दिखायी पड़ती है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्यको यह चित्त दिखायी पड़ता है। किंतु आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें वह असन्मय ही है—है ही नहीं। मेरे समस्त संदेह शान्त हो चुके हैं, समस्त चिन्ताज्वरोंसे रहित होकर मैं स्वानुभावसे ही इच्छाओंसे रहित हुआ स्थित हूँ। मेरा चित्त मर गया, तृष्णाएँ हट गयीं और मैं मोह तथा अहंकारसे रहित हो गया। इससे मैंने अपने स्वाभाविक—वास्तविक स्वरूपको जान लिया। जगत् शान्त होकर अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप ही हो गया और नानात्व वास्तवमें है ही नहीं। जीवत्वसे तथा आदि और अन्तसे रहित पवित्र परमपदको मैं प्राप्त हो गया हूँ। अतः मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, सनातन परमात्मस्वरूपसे स्थित हूँ। श्रीराम! इस प्रकारकी बुद्धिसे तत्त्वज्ञानी पुरुषको खाते, चलते, सोते और स्थित रहते सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रतिदिन भलीभाँति विचार करना चाहिये। जिनका अन्तःकरण प्रमुदित है, जिनकी शरदृतुके चन्द्रमाकी तरह चमकीली मुखकान्ति है और जो प्राप्त हुए शास्त्रानुमोदित व्यवहारोंमें विहार करते हैं, वे असीम बुद्धिवाले महापुरुष इस संसारमें मान और मदसे रहित हुए सुखपूर्वक विचरण करते हैं। (सर्ग ७९—८१)

वीतहव्य मुनिका एकाग्रताकी सिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनको बोधित करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! मैंने तुम्हें जिस विचारका दिग्दर्शन कराया है, उस विचारको पहले विद्वान् संवर्त (बृहस्पतिके छोटे भाई) ने किया था। विन्ध्याचल पर्वतके ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संवर्तने उक्त विचारको मुझसे कहा था। अब तुम इस दूसरी दृष्टिका, जो परमपदको प्रदान करनेवाली है, श्रवण करो। इसी दृष्टिसे महामुनि वीतहव्यने निश्शङ्क परमपदको प्राप्त किया था। एक समयकी बात है, महामुनि वीतहव्य संसाररूपी भ्रम प्रदान करनेवाले घोर आधि-व्याधिमय आकारयुक्त सांसारिक क्रियाकलापोंसे वैराग्ययुक्त होकर विरक्त अवस्थाको प्राप्त हो गये और केवल निर्विकल्प समाधिसे प्राप्त होनेवाले परम उदार परब्रह्म परमात्माको जाननेकी इच्छासे ही उक्त महामुनिने अपने सांसारिक व्यवहारोंका त्याग कर दिया। तदनन्तर महामुनि वीतहव्यने स्वरचित पर्णकुटीमें प्रवेश किया। उस पर्णकुटीमें अपने द्वारा बिछाये गये सम और शुद्ध आसनपर वे बैठ गये। फिर बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका परित्याग करते हुए उन महामुनिने विशुद्ध मनसे क्रमशः इस प्रकार विचार



किया—'कितने आश्चर्यकी बात है कि यह अत्यन्त चञ्चल मन किसी एक निश्चित विषयमें लगाया जानेपर भी क्षणभर भी उसी प्रकार स्थिर नहीं होता, जैसे तरङ्गोंके द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिर नहीं होता। मन घटसे पटके ऊपर और पटसे उत्कट शकटके ऊपर कूद जाता है। यों यह चित्त विषयोंपर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार वृक्षोंके ऊपर बंदर दौड़ता है। इन्द्रियगण! तुमलोग मनके ही अलग-अलग द्वार हो, अतएव निश्चित ही अधम और जड हो। मैं तो सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित हुआ साक्षीरूपसे सब कुछ कह रहा हूँ। चक्षुरादि इन्द्रियगण! आकारसे रहित तुमलोग मेरे सामने मिथ्या ही उछल-कूद कर रहे हो। तुमलोग अलातचक्रके सदृश और रज्जुमें सर्पभ्रमके सदृश मिथ्यारूप ही हो। जैसे सर्पोंसे डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है, वैसे ही दोषरहित चेतन आत्मा इन्द्रियोंसे सर्वथा दूर रहता है। इन्द्रियगण! केवल चेतन सत्ताकी संनिधिसे ही तुम लोगोंकी परस्पर चेष्टा होती रहती है।

'मूर्ख मन! मैं चेतन हूँ' इस प्रकारकी तुम्हारी वासना मिथ्या और निरर्थक है; क्योंकि एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न धर्मवाले चेतन और जड मनकी एकता नहीं हो सकती। चित्त! अहंकारके उत्पन्न होनेपर 'यह शरीर मैं ही हूँ' इस प्रकारका जो तुम मिथ्या अभिमान करते हो, उसे छोड़ दो। मूर्ख! तुम कुछ भी नहीं हो; इसलिये क्यों व्यर्थ चञ्चल हो उठते हो? ज्ञानस्वरूप चेतन आत्मा अनादि और अनन्त है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिये महामूर्ख! इस शरीरमें चित्त नामवाले तुम कहाँसे आये? मूर्ख चित्त! चक्षु आदि इन्द्रियगणोंका आश्रय करके तुम उपहासके पात्र मत बनो। तुम न तो कर्ता हो और न भोक्ता हो, किंतु जड हो। तुम अन्यके द्वारा—द्रष्टा-साक्षी आत्माके द्वारा जाने जाते हो। जो जडस्वरूप है, उसका अस्तित्व है ही नहीं। अतः उस जडमें ज्ञातापन, कर्तापन, भोक्तापन नहीं हो सकते। चित्त! तुम स्वयं ही जडरूप हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। भला, बतलाओ तो सही, जडमें कैसे कर्तापन रह सकता है। क्या पत्थरकी मूर्तियाँ भी किसी प्रकार नाच सकती हैं? जिसकी शक्तिसे जो किया जाता है, वह उसीके द्वारा किया हुआ होगा। पुरुषकी शक्तिसे दराँती (हँसुआ) काटती है, पर काटनेवाला पुरुष कहलाता है। जिसकी शक्तिसे जिसका वध किया जाता है, वह उसीके द्वारा हत कहा जायगा। पुरुषकी शक्तिसे तलवार हनन करती है, पर हनन करनेवाला पुरुष ही कहा जाता है। जिसकी शक्तिसे जो पिया जाता है, वह उसीके द्वारा पिया गया कहा जायगा। पात्रके द्वारा जल आदि पिये जाते हैं; पर जो मनुष्य है, वही पीनेवाला कहा जाता है, पात्र नहीं। मेरे प्यारे चित्त! तुम स्वभावसे ही जड हो, पर उसी सर्वज्ञ साक्षीके द्वारा बोधित होते हो; क्योंकि जीवात्मा ही अपनेको अपनेसे भोक्ता, भोग्य, करण, उपकरण आदि जगत्‌के रूपमें स्वप्नकी तरह रचता है। इसलिये तुम

तत्त्वरहित हो, तुम मूढ़ हो और वास्तवमें तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिये तुम्हें 'मैं तत्त्वरूप ही हूँ' ऐसा दु:खदायी मिथ्याभाव नहीं करना चाहिये। वास्तवमें बाजीगरकी रची हुई ऐन्द्रजालिक लताके समान चित्तकी कल्पना मिथ्या है तथा इस ब्रह्माण्डमें एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका स्वरूप ही सर्वत्र विराजमान है।

'अज्ञानी चित्त! वह परमपद सर्वत्र व्यापक, सारे पदार्थोंमें स्थित और सबका स्वरूप है। उसकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्यको सदा-सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। चित्त! उस समय न तो तुम रहते हो और न देह ही पृथक् रहता है; किंतु एक महान् प्रकाशस्वरूप, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित रहता है। स्वभावसे ही प्रकाशस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चेतन परमात्माने ही इस समस्त ब्रह्माण्डको परिपूर्ण कर रक्खा है। इसलिये उसके सिवा दूसरी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। वही एक और अनेक—सबका प्रकाशक है, समस्तरूप है। उसी परमात्माने अपने आपमें संकल्पसे इस जगत्की रचना की है। ऐसी स्थितिमें कौन किसकी कैसे इच्छा करेगा? किंतु चित्त! तुम्हारे-जैसे मूर्खोंकी दृष्टिसे ही इस जगत्में व्यर्थ चञ्चलता उत्पन्न होती है, जिस प्रकार राजाकी स्त्रीको देखकर मूर्ख युवा पुरुषको मदमयी चञ्चलता उत्पन्न होती है। परंतु कल्पना और मननसे रहित आत्मामें कर्तृत्व कैसा। क्या कहीं आकाशमें पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है? जैसे आकाशमें हाथ, पैर आदि अङ्ग हो ही नहीं सकते, वैसे ही आत्मामें कर्तृत्व हो ही नहीं सकता; जैसे समुद्रमें तप्त अङ्गार नहीं रह सकता, वैसे ही परमात्मामें दूसरी कोई कल्पना रह ही नहीं सकती। इस प्रकार जब परमात्मदेवमें कल्पनाका अभाव है तथा मन एवं देह जड है, तब विवेकदृष्टिसे 'यह अन्य है, यह अन्य नहीं है; यह शुभ है, यह अशुभ है' इत्यादि असत् कल्पनाएँ नहीं रह सकतीं। ऐसी स्थितिमें सुन्दर चित्त! विषयसे रहित चेतन परमात्मा ही सारभूत वस्तु है, दूसरी नहीं। चित्त! जैसे आकाशमें वन नहीं है, वैसे ही पूर्वोक्त असत् कल्पनाएँ आत्मामें हैं ही नहीं। दृश्यसे रहित केवल चेतन ही इस जगत्के रूपमें विस्तृत हुआ है। इसलिये उसमें 'यह मै हूँ, यह अन्य है' इस प्रकारकी असत् कल्पनाएँ हो ही कैसे सकती हैं। अनादि, रूपरहित, सर्वगामी और व्यापक परमात्मामें कल्पनाओंका कौन कैसे आरोप कर सकता है। क्या कोई आकाशमें ऋग्वेद आदिको लिख सकता है?'

(सर्ग ८२)

इन्द्रियों और मनके रहते समस्त दोषोंकी प्राप्ति तथा उनके शमनसे समस्त गुणोंकी और परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! मुनियोंमें श्रेष्ठ धीर वीतहव्य मुनिने विशुद्ध धारणासे युक्त बुद्धिसे एकान्तमें स्थित होकर पुन: अपनी इन्द्रियोंको भलीभाँति इस प्रकार समझाया—'इन्द्रियगण! मेरे पूर्वमें किये गये आत्मतत्त्वके उपदेशसे तुमलोगोंकी यह मिथ्याभूत सत्ता नष्ट ही हो गयी, ऐसा मै मानता हूँ; क्योंकि तुम अज्ञानसे उत्पन्न हुए हो। चित्त! तुम देखो कि तुम्हारे कायम रहनेसे अज्ञानी मूर्खोंके राग-द्वेष आदि तरङ्गोंसे युक्त संसाररूपी नदियोंका समूह कालरूपी विशाल समुद्रमें प्रविष्ट हो रहा है। देखो! एक दूसरोके अहंकारसे होनेवाले एक दूसरोके वध, पराजय, उत्पीड़न आदिकी चिन्ताओंसे युक्त दु:खकी पंक्तियाँ कहींसे उसी प्रकार गिर रही हैं, जिस प्रकार वृष्टिकी धाराएँ गिर रही हो। अपने विलासोंसे शब्द करता हुआ लोभरूपी पक्षी राग-द्वेषरूप अपने तीक्ष्ण ठोर-द्वारा इस जीर्ण शरीररूपी वृक्षके शम, दम आदि गुण-

समूहरूपी फल-पुष्पोंको कतर रहा है। अपवित्र, दुष्ट आचरण करनेवाला कामरूपी कर्कश मुर्गा हृदयके राग-द्वेष आदि दोषरूप कूड़ेके ढेरको इधर-उधर बिखेर देता है। मोहरूपी महारात्रिमें भयावह अज्ञानरूपी उल्लू हृदयरूपी वृक्षके ऊपर श्मशानमें वेतालकी भाँति चारों ओरसे प्रलाप कर रहा है। इन्द्रियगण! आप-लोगोंके विद्यमान रहनेपर ये और इनसे दूसरी भी बहुत-सी इच्छा, कामना, वासना, स्पृहा आदि अशुभ श्रियाँ रात्रिमें पिशाचिनियोंकी तरह उछल-कूद मचाती रहती हैं। चित्त! तुम्हारे विनाश होनेपर समता, शान्ति, सरलता, क्षमा, दया आदि सम्पूर्ण शुभ श्रियाँ ज्ञानरूपी प्रकाशसे युक्त हो उसी प्रकार पूर्णरूपसे प्रफुल्लित हो उठती हैं, जिस प्रकार प्रातःकालमें कमलिनियाँ। अब मोहरूपी तुषारसे रहित, रजोगुणरूप रेणुसे शून्य, निर्मल ज्ञानके प्रकाशसे युक्त हृदयाकाशरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म शोभित हो रहा है। आकाशमण्डलसे गिरनेवाली और वायु आदिसे आकुलित वृष्टिधाराओंकी तरह दुःखदायी विकल्प-समूह अब नहीं गिरते। सबको आह्लादित करनेवाली, शान्त, परम पवित्र मित्रता हृदयमें उत्पन्न हो रही है।

'अज्ञानका विनाश होनेपर हृदयमें ज्ञानका प्रकाश उसी प्रकार प्रकट हो रहा है, जिस प्रकार शरत्कालमें मेघोंके शान्त हो जानेपर निर्मल आकाशमें सूर्यमण्डल प्रकट होता है। वायुके शान्त होनेपर समुद्र जैसे सम हो जाता है, वैसे ही प्रसन्न, विशाल, गम्भीरतासे युक्त, क्षोभशून्य तथा राग-द्वेष आदि दोषोंसे रहित वशमें किया हुआ मन सम हो जाता है। परमात्माकी प्राप्तिरूप अमृत-प्रवाहसे पूर्ण तथा अविनाशी आनन्दसे सम्पन्न पुरुष शान्तिसे युक्त रहता है। केवल सच्चिदानन्द परमात्मामें विश्राम हो जानेपर परमात्माके स्वरूपका पूर्णरूपसे अनुभव हो जाता है। चित्त! तुम्हारा स्वरूप अविचारके कारण ही कायम है। विवेकपूर्वक विचार करनेपर तुम कायम नहीं रहते। किंतु केवल एक समस्वरूप परमात्मा ही भलीभाँति समभावसे स्थित रह जाता है। विचार न करनेपर तुम उसी प्रकार उत्पन्न होते हो, जिस प्रकार प्रकाशके न रहनेपर अन्धकार। चित्त! विचारसे तुम्हारा स्वरूप उसी प्रकार विनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाशसे अन्धकार। क्योंकि जिसकी अविवेकसे उत्पत्ति होती है, उसका विवेकसे विनाश हो जाता है—जैसे प्रकाशसे अन्धकारका विनाश होता है और प्रकाशका अभाव होनेपर अन्धकार हो जाता है। तुम्हारी इच्छा न रहने-पर भी विचारके दृढ़ होनेपर सुखकी सिद्धिके लिये तुम्हारा चारों ओरसे यह विनाश प्राप्त हुआ है। (अब वीतहव्य मुनि अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं—) सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता-ज्वरोंसे मुक्त हो गया हूँ, शान्त हो गया हूँ और चारों ओरसे तृप्त हो गया हूँ। मैं तुरीयपदरूप परमात्मस्वरूप अपनी आत्मा-में स्थित हो गया हूँ। इसलिये यह निश्चय हुआ कि इस संसारमें जिसकी स्थिति विवेकपूर्वक विचार करनेपर कायम हो ही नहीं सकती, वह चित्त है ही नहीं, है ही नहीं। किंतु परमात्मा तो अवश्य ही है, अवश्य ही है। परमात्माको छोड़कर और कुछ भी उससे भिन्न है ही नहीं। सब प्रकारके मलोंसे रहित आत्माके अंदर 'यह आत्मा है' इस प्रकारकी कल्पना ही नहीं हो सकती, यह मैं मानता हूँ; क्योंकि एक अद्वितीय आत्मामें इदं-रूपसे अन्य वस्तुकी सत्तासे होनेवाली कल्पना कैसे हो सकती है। इसी कारण 'मैं यह आत्मा हूँ' इस प्रकार कल्पना न करता हुआ मैं मौनी होकर उसी प्रकार अपने विज्ञानानन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित हूँ, जिस प्रकार जलमें तरङ्ग। अतः उस वासनाशून्य, जीवके आश्रयसे रहित, प्राण-संचारसे रहित, भेदभावसे शून्य, दृश्यसे रहित, ज्ञानस्वरूप, मन और वाणीकी चेष्टासे शून्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त करके मैं परम शान्त हूँ।'

(सर्ग ८३)

वीतहव्य महामुनिकी समाधि और उससे जागना, छः रात्रितक पुनः समाधि, चिरकालतक जीवन्मुक्त स्थिति, उनके द्वारा दुःख-सुकृत आदिको नमस्कार और उनका परमात्मामें विलीन हो जाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार निर्णय करके वे मुनिवर वीतहव्य समस्त वासनाओंको छोड़कर विन्ध्य पर्वतकी गुफामें समाधि लगाकर उसमें अचल स्थित हो गये। उस समय महामुनि वीतहव्य



सब प्रकारके क्षोभसे शून्य परिपूर्ण चेतन विज्ञान आनन्दसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुशोभित हुए। उनका मन अत्यन्त विलीन हो गया था; अतएव वे ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भला लगता है। जिस प्रकार ईंधनके जल जानेपर अग्निमें ज्वालाओंका संचरण शान्त हो जाता है, वैसे ही उन महामुनिका प्राणसंचार क्रमशः भीतर हृदयमें ही शान्त हो गया। समाधिमें स्थित महामुनि वीतहव्यके दोनो नेत्र ऐसे दिखायी पड़ते थे, जैसे उनकी वृत्ति नासिकाके अग्रभागमें दोनों ओर बराबर फैली हुई हो। महाबुद्धि वीतहव्यने अपने आसन-बन्धमें शरीर, सिर और ग्रीवाको समानरूपसे रक्खा था; इसलिये वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे पत्थरपर खोदी गयी या चित्रमें लिखी गयी मूर्ति हो। श्रीराम ! विन्ध्याद्रिके किसी झरनेके निकट गुफामें इस प्रकारकी समाधिमें स्थित महामुनि वीतहव्यके तीन सौ वर्ष आधे मुहूर्तकी तरह व्यतीत हो गये। परमात्मामें स्थित ध्यान-निमग्न उन मुनिने जीवन्मुक्तताके कारण इतने कालको कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीरका त्याग भी नहीं किया। योगके रहस्यको जाननेवाले परम भाग्यशाली वे मुनि महान् मेघोंके चारो ओर फैलनेवाले शब्दोंसे, बरसती हुई वृष्टिकी धाराओंके गिरनेसे उत्पन्न घर-घर शब्दोंसे, सिंहोंके क्रोधपूर्वक गर्जनोंसे, झरनोंकी दिग्व्यापी घर्घराहटसे, भयंकर वज्रपातोंसे, मनुष्योंके घने कोलाहलोंसे, भूकम्पके द्वारा छिन्न-भिन्न हुए पर्वत-तटोंकी हलचलोंसे तथा अग्निकी तरह कर्कश ग्रीष्म आदिके तापोंसे भी उतने समयतक समाधिसे जागे नहीं। थोड़े ही समयमें उस पर्वतकी गुफामें वर्षाके कीचड़से ढके हुए महामुनि वीतहव्य पृथ्वीमें निमग्न-से प्रतीत होते थे। उस गुफाकी भूमिमें ये मुनि कीचड़से लथपथ होकर उसी प्रकार रहते थे, जिस प्रकार पर्वतके अंदर शिला। तदनन्तर तीन सौ वर्ष बीत जानेपर पृथ्वीकी गुफामें दबे हुए वे निग्रहानुग्रह-समर्थ तथा परमात्माको प्राप्त महामुनि स्वयं ही समाधिसे जाग गये। राघव ! तत्पश्चात् महामुनि वीतहव्यने सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मभाव होनेके कारण अनेक लोकोंका ब्रह्मरूपसे अनुभव किया और वर्तमान समयमें कर भी रहे हैं। श्रीराम ! आपका भी यह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशामें जिस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी प्रकार महामुनि वीतहव्यका भी वह जगत् मनोमय,

भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशामें सच्चिदानन्दस्वरूप है। जबतक इस प्रकार जगत्को तत्त्वज्ञानद्वारा सच्चिदानन्द-रूप नहीं जाना जाता, तबतक वह हृदयमें वज्रसारकी तरह अत्यन्त दृढ रहता है; किंतु यथार्थरूपसे जान लिये जानेपर वह सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है।

श्रीराम! दिनकी समाप्तिके बाद मुनिने फिर भी मनकी एकाग्रतारूप समाधिके लिये उसी पूर्व-परिचित विन्ध्याद्रिकी गुफामें प्रवेश करके विचार किया—'शरीर, सिर और ग्रीवाको समानरूपसे रखकर दृढासन होकर मै पर्वतके शिखरकी तरह अचल बैठता हूँ। मनसे परे, चारो ओर स्थित, परिपूर्ण समान सत्ता और परम समतारूप सच्चिदानन्दघन परमात्मामें विकाररहित हुआ स्थाणुकी तरह मैं नित्य स्थित हूँ।' इस प्रकार चिन्तन करते हुए वे परमात्माके ध्यानमें छः दिनतक फिर स्थित रहे। तदनन्तर उसी प्रकार समाधिसे जाग गये, जिस प्रकार सोया हुआ पथिक जग जाता है। इसके बाद उन सिद्ध, महान् तपस्वी महात्मा वीतहव्यने जीवन्मुक्त अवस्थामें स्थित हुए ही चिरकालतक यत्र-तत्र विचरण किया। ये महामुनि वीतहव्य न तो किसी वस्तुकी स्तुति करते थे और न कभी किसीकी निन्दा ही करते थे। वे प्रतिकूलकी प्राप्तिमें कभी उद्विग्न नहीं होते थे तथा अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते थे।

(अब वीतहव्य मुनि अपनी इन्द्रियोंके प्रति कहते हैं—) 'इन्द्रियगण! अब तुमलोग विनाशको ही प्राप्त हो जाओ। तुम्हारी सारी अभिलाषाएँ निष्फल हो गयी हैं। अब आश्रयरहित तुमलोग मुझपर आक्रमण करनेमें समर्थ नहीं हो। अब विस्मरण करनेयोग्य इस जड दृश्य संसारकी विस्मृति हो गयी है और स्मरण करने-योग्य परमात्माकी स्पष्टरूपसे स्मृति हो गयी है। जो सत्‌रूप परमात्मा था, वह सत् ही रहा तथा जो जड दृश्यवर्ग असत् था, वह असत् ही रहा।'

श्रीराम! इस प्रकारके विचारसे युक्त हो वे महान् तपस्वी मुनिश्रेष्ठ महात्मा वीतहव्य अनेक वर्षोंतक इस लोकमें स्थित रहे। जिसके प्राप्त होनेपर पुनर्जन्मके लिये चिन्ता विनष्ट हो जाती है और मूढता दूर भाग जाती है, उस विज्ञानानन्दघन परमात्मामें मुनि निरन्तर स्थित थे। त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति हो जानेपर भी त्याग और ग्रहणकी बुद्धिका विनाश हो जानेके कारण महामुनि वीतहव्यका अन्तःकरण इच्छा और अनिच्छासे रहित हो गया था।

(तत्पश्चात् वे फिर अपने मन-ही-मन विचार करने लगे—) 'दुःख! तुम्हारेद्वारा संतप्त हुए मैंने अत्यन्त आदरसे आत्माका अनुभव किया है; मुझको तुमने ही सचेत कराकर इस मोक्षमार्गका उपदेश दिया है। अतः तुम्हें मेरा प्रणाम है। आश्चर्य है कि प्राणियोंके स्वार्थोंकी अत्यन्त विलक्षण गति है, जो आज मै भी सैकड़ों जन्मतक साथी रहकर अपने प्यारे मित्र इस शरीरसे अलग हो रहा हूँ। मातृरूप तृष्णे! अब हम दोनोंका संयोगके कारण ही सदाके लिये वियोग हो रहा है। इसलिये तुम्हें प्रणाम है। सुकृत (पुण्य)-देव! आपको मै प्रणाम करता हूँ। आपने ही पहले मेरा नरकोंसे उद्धार करके मुझे स्वर्गमें भेजा था। जिसके सम्बन्धसे मैने दीर्घकालतक नाना योनियोंका उपभोग किया, उस अज्ञानको मै प्रणाम करता हूँ। सखी गुहातपस्विनि! संसाररूपी महामार्गमें खिन्न हुए मेरे लिये तुम ही अकेली आश्वासन देनेमें समर्थ, अत्यन्त स्नेहसे युक्त और समस्त लोकोंका नाश करनेवाली सखी हुई। इसलिये समाधिमें स्त्रीके सदृश व्यवहार करनेवाली उस गुहारूपी तपस्विनीको भी मै प्रणाम करता हूँ। संकट, गड्ढे और कुञ्जोंमें हाथको अवलम्बन देनेवाले, वृद्धावस्थाके एकमात्र मित्र दण्ड! तुम्हें मै प्रणाम करता हूँ। प्रिय प्राणसमुदाय! तुम सब प्रकृतिमें विलीन हो जाओ और मै सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विलीन होता हूँ; क्योंकि जितने भी भोगसमूह हैं, वे अन्तमें नाशवान् है। जो

आज उन्नत है, उनका अन्तमें पतन निश्चित है एवं संसारमें जितने संयोग हैं, उनका भी अन्तमें वियोग निश्चित है।'*

(अब प्रत्येक इन्द्रिय आदिके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य प्रकृतिका विभागपूर्वक वर्णन करते हैं—) 'चक्षु-इन्द्रिय आदित्य-मण्डलमें प्रवेश करे, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीमें प्रविष्ट हो जाय, प्राणवायु वायुतत्त्वमें प्रविष्ट हो जाय, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमें प्रविष्ट हो जाय और रसनेन्द्रिय जलमें प्रविष्ट हो जाय। मैं ओंकारकी अन्तिम अर्धमात्रासे लक्षित परब्रह्मस्वरूप परमात्मामें अपने-आप ही अन्तःकरणसे रहित हो शान्त हो रहा हूँ। अतः मैं सम्पूर्ण कार्योंकी परम्परासे रहित, समस्त दृश्योंकी अवस्थाओंसे अतीत, उच्चारण किये हुए प्रणवकी ब्रह्मरन्ध्रमें विश्रान्तिका अनुसरण करके ब्रह्माकारताकी प्राप्तिसे उपरत-बुद्धि तथा अविद्यारूपी मलसे रहित हुआ स्थित हूँ।'

(सर्ग ८४—८६)

महामुनि वीतहव्यकी ॐकारकी अन्तिम मात्राका अवलम्बन करके परमात्म-प्राप्तिरूप मुक्तावस्थाका तथा मुक्त होनेपर उनके शरीर, प्राणों और सब धातुओंका अपने-अपने उपादान-कारणमें विलीन होकर मूल-प्रकृतिमें लीन होनेका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार धीरे-धीरे प्रणवका उच्चारण करते हुए महामुनि वीतहव्य संकल्प और इच्छाओंसे रहित होकर अन्तिम भूमिकाको प्राप्तकर अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रासे युक्त पादोंके भेदसे ॐकारका स्मरण करते हुए ब्रह्मके स्वरूपमें संसारका जो अध्यारोप है, उसका बाध करके अर्थात् केवल ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकार निश्चय करके अविनाशी विशुद्ध परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते थे। कल्पित बाह्य और आभ्यन्तर स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर सम्पूर्ण त्रिलोकीके पदार्थोंका भी परित्याग करके वे क्षोभशून्य आकारवाले महामुनि वीतहव्य नित्य आत्मस्वरूपमें ही स्थित थे। वे पूर्णचन्द्रकी तरह परिपूर्ण थे तथा मन्दराचलकी तरह स्थिर थे। तदनन्तर 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंसे बोधित जो अद्वैत तत्त्व है और जो वाणीका भी अगोचर है, उस तत्त्वको ये मुनि प्राप्त हो गये। इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थोंमें व्यापक, समस्त पदार्थोंसे रहित, निरतिशय समतासे पूर्ण, चिन्मय, अतिशय पवित्र परमपदस्वरूप हो गये। जो ब्रह्मज्ञानियोंका ब्रह्मरूप, विज्ञानवादियोंका विज्ञानरूप एवं कपिलमुनि-निर्मित सांख्यशास्त्रमें प्रतिपादित पुरुषरूप, पतञ्जलि-निर्मित योगशास्त्रमें प्रतिपादित क्लेश आदिसे रहित पुरुषविशेषात्मक ईश्वररूप, आत्माके स्वरूपको भली प्रकार जाननेवाले आत्मवादियोंके मतमें आत्मतत्त्वरूप समस्त शास्त्रका सिद्धान्तभूत, सबके हृदयमें अनुगत, सर्वात्मक, सर्वस्वरूप जो निर्मल श्रेष्ठ पद है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे। जो तत्त्व वास्तवमें अद्वितीय होनेके कारण एक और मायाके सम्बन्धसे अनेक भी है, जो मायासे युक्त होनेके कारण सगुण और वास्तवमें मायासे अतीत—निर्गुण है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि स्थित थे।

* सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः॥ संयोगा विप्रयोगान्ताः सर्वे संसारवर्त्मनि।

(८६। ५४-५५)



श्रीराम ! इस प्रकार महामुनि वीतहव्यके परम शान्त हो परम निर्वाणपदको प्राप्त हो जानेपर उनका क्रियाशून्य वह देह उसी प्रकार कुम्हला गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतुमें कमल रस-रहित हो कुम्हला जाता है। उस देहके सम्पूर्ण स्थूलभूत तन्मात्रास्वरूप सूक्ष्म महाभूतोंमें ही लीन हो गये तथा मांस, अस्थि और आँतरूपी देह वनकी भूमिमें मिल गया। जैसे घड़ेके फूटनेपर घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है, वैसे ही व्यष्टि-चेतन समष्टि-चेतनमें जा मिला। उस शरीरके तन्मात्रारूप सूक्ष्म भूत अपने उपादान-कारण मूल-प्रकृतिमें लीन हो गये। इस प्रकार उन महामुनिके शान्त हो जानेपर सभी पदार्थ अपने-अपने उपादान-कारणमें ही लीन हो गये। श्रीराम ! महामुनि वीतहव्यकी यह सैकड़ों विचारोंसे युक्त मोक्ष-कथा तुमसे मैंने कही है। अब तुम अपनी प्रज्ञासे इसका विवेचन करो। जिस तत्त्वका मैंने तुमसे वर्णन किया है, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करूँगा, त्रिकाल-को प्रत्यक्षरूपसे देखनेवाले तथा चिरकालतक जीनेवाले मैंने उसके विषयमे विचार किया है और पूर्णरूपसे उसको स्वयं देखा भी है। ज्ञानसे ही मनुष्य दुःखके अभावको प्राप्त होता है, ज्ञानसे अज्ञानका विनाश हो जाता है, ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धि मिलती है, ज्ञानके बिना नहीं मिलती। इसलिये मनुष्य-को ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जिन्होंने परम प्रयोजनरूप परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जिनके राग आदि दोष विनष्ट हो चुके थे, जो समस्त पापोंसे, अहंता-ममता आदि विकारोंसे, अविद्यासे तथा आसक्ति एवं शोकसे रहित थे, वे ज्ञानी वीतहव्य मुनि, जिसका बहुत कालतक अभ्यास किया गया था, उस अपने निर्मल असीम सच्चिदानन्दघनस्वरूप परम पदको प्राप्त हुए। (८७-८८)

ज्ञानी महात्माओंके लिये आकाश-गमन आदि सिद्धियोंकी अनावश्यकताका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे सिंह मयूरों-के वशमें नहीं होते, वैसे ही तुम्हारे-जैसे कोई भी महापुरुष हर्ष, अमर्ष आदि विकारोंके वशमें नहीं होते।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ ! जीवन्मुक्त शरीरवाले महात्माओंकी आकाश-गमन आदि शक्तियाँ यहाँ क्यों नहीं दिखलायी पड़तीं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जो चित्र-विचित्र आकाश-गमन आदि क्रिया-कलाप दिखायी पड़ता है, वह प्राणियों और पदार्थोंका स्वभाव है। इसलिये वह आत्मतत्त्वज्ञोंके लिये वाञ्छनीय नहीं है। आत्मज्ञानसे शून्य अमुक्त जीव मणि, औषध आदि द्रव्योंकी शक्तिसे, पूर्वकृत कर्मकी जन्मजात शक्तिसे, योगाभ्यास आदि क्रियाओंकी शक्तिसे और कालकी शक्तिसे आकाश-गमन आदि सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है। इन

आकाश-गमन आदि सिद्धियोंका होना आत्मज्ञ पुरुषके लिये गौरवका विषय नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं आत्माको प्राप्त कर चुका होता है, इसलिये वह अपने आत्मामें ही तृप्त रहता है, अविद्याके कार्यकी ओर नहीं दौड़ता । संसारमें जो कोई भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं । इसलिये अविद्यासे रहित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे फँस सकता है ? जो योगाभ्यास आदि साधनोंसे अविद्यारूप आकाश-गमन आदि सिद्धियोंको भी सुखका साधन बना लेते हैं, वे आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं; क्योंकि आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही है । तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जो कोई भी दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक द्रव्य-कर्मोंसे शास्त्रोक्त उपायका अनुष्ठान करता है, वह आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है । यहाँ धन आदिकी अभिलाषाओंसे रहित और परमात्माको यथार्थरूपसे जाननेवाला तथा प्रकृतिसे ऊपर उठा हुआ पुरुष अपने परमात्मस्वरूपमें ही नित्य संतुष्ट रहता है । इसीलिये वह न कुछ चाहता है और न कुछ करता है । आत्मज्ञ पुरुषको न तो आकाश-गमनसे, न अणिमादि सिद्धियोंसे, न तुच्छ भोगोंसे, न निग्रहानुग्रह-सामर्थ्यसे, न मान-बड़ाई-प्रतिष्ठासे और न आशा, मरण तथा जीवनसे ही कोई प्रयोजन है ।

परमात्माके स्वरूपमें ही सदा संतुष्ट, परम शान्तिस्वरूप, राग और वासनासे रहित तथा आकाशके सदृश निर्मल आकारवाला तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपने परमात्मस्वरूपमें ही स्थित रहता है । अपने जीवन और मरणकी आसक्तिसे रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष अकस्मात् प्राप्त हुए सुख और दुःखसे विचलित नहीं होता । उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही; तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता । जो आत्मज्ञानसे शून्य है, वह भी आकाश-गमन आदि सिद्धिसमूहको चाहता है और वह सिद्धियोंके साधक द्रव्योंसे क्रमशः उन्हें प्राप्त भी करता है । श्रीराम ! मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्र-प्रयोगोंमें उक्त प्रकारकी शक्तियाँ, जो आकाश-गमन आदि शब्दोंसे कही जाती है, स्वभावतः सिद्ध है । जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र, द्रव्य आदिकी शक्तियाँ विषका विनाश कर देती है, जैसे मदिरा उन्मत्त कर देती है, जैसे मधु आदि वस्तुएँ वमन करा देती है, वैसे ही युक्तिद्वारा प्रयुक्त मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योगकी क्रिया आदि उपाय स्वभावसे ही सिद्धियोंको अवश्य उत्पन्न करते है । परंतु द्रव्य-काल-क्रिया-क्रमस्वरूप मायिक पदार्थोंसे अतीत तथा अज्ञानरहित आत्मज्ञानमें आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ हेतु अथवा विरोधी नहीं हैं; क्योंकि परमात्माके पदकी प्राप्तिमें कोई भी द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियाँ उपकारक नहीं हैं । किसी पुरुषको आकाशगमन आदिकी इच्छा होती है तो वह उसकी सिद्धिका साधन पूर्णरूपसे करता है । किंतु आत्मज्ञानी पूर्ण है । अतः उसमें कहीं इच्छाकी सम्भावना नहीं है । निष्पाप श्रीराम ! परमात्माकी प्राप्ति सारी इच्छाओंकी शान्ति होनेपर ही होती है; अतः आत्मज्ञानीको आत्मलाभकी विरोधिनी इच्छा कैसे और किससे हो सकती है । किंतु चाहे विवेकी हो चाहे अविवेकी, जिसकी जिस प्रकार इच्छा उत्पन्न होती है, वह उस प्रकारसे उसी इच्छासे यत्न करता है और समय आनेपर वह उस सिद्धिको प्राप्त कर लेता है । परमात्मज्ञानकी इच्छावाले वीतहव्यने सिद्धियोंकी इच्छासे किसी प्रकारका यत्न नहीं किया था; बल्कि परमार्थ-ज्ञानकी इच्छासे ही उसने तेजीके साथ यत्न किया था । जिस प्रकार इसने वनमें यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उद्योग किया था, यह मै तुमसे पहले कह चुका हूँ । इस प्रकार काल, क्रिया, कर्म, द्रव्य, युक्ति और स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली क्रमप्राप्त सिद्धियाँ अपनी इच्छाके ही अनुसार सिद्ध हो जाती हैं । श्रीराम ! जो-जो आकाश-

गमन आदि सिद्धि-नामक फलोंके समूह जिस पुरुषके द्वारा प्राप्त किये गये देखे जाते हैं, वे उस पुरुषके अपने प्रयत्नरूपी वृक्षके ही फल हैं। किंतु जिनका अन्तःकरण पवित्र है, जो परमात्माको यथार्थरूपसे जानते हैं, जो परमात्माके स्वरूपमें नित्य तृप्त हैं तथा जो अपने अभिलषित परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, उन महात्माओंका सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं। (सर्ग ८९)

जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त पुरुषोंके चित्तनाशका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब जीवन्मुक्त वीतहव्यका चित्त विवेकपूर्वक विचारके द्वारा अस्तप्राय हो गया यानी भूने हुए बीजकी तरह अङ्कुरशक्तिसे रहित हो गया, तब उसमें मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि गुणोंका आविर्भाव हो गया।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रभो! आत्मा और अनात्माके विचारके अभ्युदयसे अदृश्य हुए महामुनि वीतहव्यके अन्तःकरणमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कथनका क्या अभिप्राय है? वक्ताओंमें श्रेष्ठ महामुने! जब चित्त ब्रह्ममें लीन हो गया, तब मैत्री आदि गुण किसके और किसमें उत्पन्न होंगे—यह आप मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! चित्तका विनाश दो प्रकारका होता है—एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश। पहला सरूप विनाश तो जीवन्मुक्त होनेमे हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेह-मुक्त होनेपर होता है। इस संसारमें चित्तका अस्तित्व दुःखका कारण है और चित्तका विनाश सुखका कारण है। अतः पहले चित्तके अस्तित्वका भूने हुए बीजके समान विनाश करके तदनन्तर चित्तके स्वरूपका भी विनाश कर देना चाहिये। अज्ञानसे उत्पन्न हुई वासनाओंसे व्याप्त जो जन्मका कारण मन है, उसीको अज्ञानियोंका विद्यमान मन समझो। वह विद्यमान मन केवल दुःखका ही कारण होता है। इसलिये जबतक मनका अस्तित्व है, तबतक दुःखका विनाश कैसे हो सकता है। मन जब अस्त हो जाता है, तब प्राणीका यह संकल्पमय संसार भी अस्त हो जाता है। इस अज्ञानी जीवमें ही वासनारूपी अङ्कुरोंसे दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए इस विद्यमान मनको ही दुःखरूपी वृक्षका मूल जानो। ये दुःखरूपी वृक्ष-समूहके अङ्कुर उन्हीं अज्ञानियोंके मनमें उत्पन्न होते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! किस महात्माका मन विनष्ट हो गया? विनाशको प्राप्त हुए मनका स्वरूप किस प्रकारका होता है? चित्तका नाश किस प्रकार होता है और नाशका स्वरूप कैसा है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—प्रश्नवेत्ताओंमें श्रेष्ठ रघुकुल-नायक श्रीराम! मैंने पहले चित्तकी सत्ताका स्वरूप तो बता दिया है। अब तुम इसके विनाशका स्वरूप सुनो। जैसे निःश्वासवायु पर्वतराजको अपने स्वरूपसे विचलित नहीं करते, वैसे ही सुख-दुःखरूप दशाएँ जिस धीर पुरुषको सम-स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस परमात्मनिष्ठासे विचलित नहीं करतीं, श्रेष्ठ पुरुष उस महात्माके चित्तको भूने हुए बीजके समान नष्ट हुआ चित्त कहते हैं। 'यह जड देह ही मैं हूँ', 'ये घट आदि सारे पदार्थ मैं नहीं हूँ', इस प्रकारकी तुच्छ भावना जिस श्रेष्ठ पुरुषको भीतरसे विकारयुक्त नहीं करती, विद्वान्लोग उस पुरुषके चित्तको नष्ट कहते हैं। जिस नररत्नके अंदर विपत्ति, कायरता, उत्साह (हर्ष), मद, बुद्धिकी मन्दता और विवाहादि लौकिक महोत्सव विकार पैदा नहीं करते, विद्वान्लोग उसके चित्तको नष्टचित्त कहते हैं। इस

लोकमें यही चित्तका विनाश है और इसीको भूने हुए बीजके समान विनष्ट चित्त भी कहते हैं। यही जीवन्मुक्त महापुरुषकी चित्तनाश-दशा है। निष्पाप श्रीराम! जीवन्मुक्त पुरुषका मन मैत्री आदि शुभ गुणोंसे सम्पन्न, उत्तम वासनाओंसे युक्त तथा पुनर्जन्मसे शून्य होता है। ब्रह्मकी वासनासे ओतप्रोत, पुनर्जन्मसे रहित जो जीवन्मुक्त पुरुषके मनकी सत्ता है, वह सत्त्व नामसे कही जाती है। जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रसन्न किरणें रहती हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषके मनके विनाशमें विशुद्ध मैत्री आदि गुण सदा सब तरहसे रहते हैं। शान्तिरूप शीतलताके आश्रय जीवन्मुक्त पुरुषके सत्त्वनामक मनके नाशकी अवस्थामें अनेक गुण-सम्पत्तियाँ प्रकट होती हैं।

रघुकुलतिलक! जो मैंने पहले अरूप-मनोनाश कहा था, वह विदेहमुक्तका ही होता है तथा जो अवयवादि विकारोंसे रहित है, उस परम पवित्र विदेहमुक्ति-रूपी निर्मल परमपदमें समस्त श्रेष्ठ गुणोंका आश्रयरूप मन भी विलीन हो जाता है। विदेहमुक्त महात्माओंकी उस सत्त्व-विनाशरूप अरूपचित्तनाश-दशामें किसी भी दृश्य-पदार्थका अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् संकल्पसहित सम्पूर्ण संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस अरूपचित्तविनाश-दशामें न गुण हैं न अवगुण हैं, न शोभा है न अशोभा है, न चञ्चलता है न अचञ्चलता है, न उदय है न अस्त है, न हर्ष है न अमर्ष है और न ज्ञान है, न प्रकाश है न अन्धकार है, न संध्या है न दिन या रात है, न दिशाएँ हैं न आकाश है, न अधः है और न अनर्थरूपता है, न कोई वासना है न किसी प्रकारकी रचना है, न इच्छा है न अनिच्छा है, न राग है न भाव है और न अभाव है और न वह पदसाध्य ही है। वह परमपद तम और तेजसे शून्य, तारे, चन्द्र, सूर्य और वायुसे तथा संध्या, रज.कण और सूर्य-कान्तिसे रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाशके समान अत्यन्त निर्मल है। वह विशाल पद उन लोगोंका आश्रय-स्थान है, जो बुद्धि और संसार-भ्रमणसे पार हो गये हैं। सम्पूर्ण दुःखोंसे रहित, चिन्मय, निष्क्रिय ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण तथा रज और तमसे रहित जो परमपद है, उस परम-पदमें वे चित्तसे रहित और आकाशके सदृश सूक्ष्म विदेहमुक्त आत्मा तद्रूप हुए स्थित रहते हैं, वे अपुनरा-वृत्तिरूप परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। (सर्ग ९०)

शरीरका कारण मन है तथा मनके कारण प्राण-स्पन्द और वासना, इनका कारण विषय, विषयका कारण जीवात्मा और जीवात्माका कारण परमात्मा है—इस तत्त्वका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! भाव और अभावका तथा दुःखरूपी रत्नोंका खजाना चित्त ही, जो वासनाओंके वशमें रहनेवाला एक तरहसे अनुचर है, शरीरका कारण है। प्रतीत होनेके कारण सत् और विनाशशील होनेके कारण असत्‌रूप ये शरीरसमूह एकमात्र चित्तसे ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्वप्नमें भ्रमसे संसारकी प्रतीति सबको स्वयं होती है। जो यह मिथ्या जगत्‌का स्वरूप दृश्यताको प्राप्त है, वह चित्तसे उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मिट्टीसे घड़े आदि उत्पन्न होते हैं। अनेक तरहकी वृत्तियाँ धारण करनेवाले इस चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—एक प्राण-संचरण और दूसरा दृढ़भावना। जब शरीरकी नाड़ियोंमें प्राण-वायु संचरण करने लगता है, तब वृत्तिमय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है। किंतु जब शरीरकी नाडियोंमें प्राण संचरण नहीं करता, तब वृत्तिज्ञान न होनेके कारण उसमें चित्त उत्पन्न नहीं होता। यह प्राण-संचरणरूप जगत् ही चित्तके द्वारा दिखायी पड़ता है, जिस प्रकार आकाशमें नीलता आदि दिखायी पड़ते हैं। राघव! जीवात्माके विषयोंके सम्पर्कसे रहित होनेपर ही उसका परम कल्याण होता है, ऐसा जानो। किंतु प्रकट हुआ जीव ही

तत्काल बाह्य विषयोंकी ओर रागवश चला जाता है और उन विषयोंके भोगके अनुभवसे चित्तमें अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं। जब जीवात्मा बाह्य विषयोंसे उदासीन होकर परमात्माके ज्ञानके लिये प्रयत्नशील होता है, तब वह प्राप्त करने योग्य निर्मल परमपदरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। श्रीराम! जीवात्माके संकल्पको ही तुम चित्त जानो। उसी चित्तने इस अनर्थ-जालका विस्तार किया है।

योगीलोग चित्तकी शान्तिके लिये योगशास्त्रमें बतलाये गये प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यानरूप योगकी युक्तियोंके द्वारा प्राणका निरोध करते हैं। विद्वान्-लोग प्राण-निरोधको ही चित्तशान्तिरूप फलका दाता, उत्तम समताका हेतु और जीवात्माकी अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मामें सुन्दर स्थिति कहते हैं। महाबाहु श्रीराम! तीव्र संवेगसे आत्माके द्वारा जिस पदार्थकी भावना की जाती है, तत्काल ही वह जीवात्मा अन्य स्मृतियोंको छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है। वासनाके अत्यन्त वशीभूत और तद्रूप हुआ वह जीवात्मा जिस किसीको देख लेता है, उस सबको अज्ञानसे सत्-वस्तु मान लेता है और वासनाके वेगवश अपने स्वरूपको भूल जाता है। फिर वह वास्तविक आत्मज्ञानसे रहित जीवात्मा भीतरी वासनाओंके अभिभूत होकर, विषसे अभिभूत पुरुषकी तरह अनेक मानसिक आपत्तियोंसे व्याकुल रहता है। श्रीराम! जिससे देहादि अनात्मामें आत्मभावनारूप और अवस्तु संसारमें वस्तुभावनारूप अयथार्थ ज्ञान होता है, उसको तुम चित्त जानो। दृढ़ अभ्यासके कारण देह आदि पदार्थोंमें 'अहम्' 'मम' आदि वासनासे ही जन्म, जरा और मरणका कारण अति चञ्चल चित्त उत्पन्न होता है। जब निरन्तर वासनाका अभाव होनेसे मन मनसे रहित हो जाता है, तब मनका अभाव हो जाता है, जो परम उपरतिस्वरूप है। जब जगद्रूप वस्तुमें किसी पदार्थकी भावना नहीं होती, तब शून्य हृदयाकाशमें चित्त कैसे उत्पन्न हो सकता है। श्रीराम! मैं तो यही मानता हूँ कि आसक्तिसे विनाशशील जगत्-रूपी वस्तुमें वस्तुत्वकी भावना करनामात्र ही चित्तका स्वरूप है। बाह्य वस्तुओंके अस्मरणरूप साधनका अवलम्बन करनेसे जो समस्त दृश्य-जगत्के अभावकी भावना और परमार्थ वस्तु परमात्माका अनुभव होता है, वह अचित्त कहा जाता है। अत जिस महामति पुरुषको संस्कारसे उत्पन्न विषय-रसास्वादके स्मरणसे विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न नहीं होती, उस पुरुषका चित्त अचित्त-रूपताको तथा विशुद्ध सत्त्वको प्राप्त कहा जाता है। जिस महापुरुषमें पुनर्जन्मकी कारणभूता अहंता-ममतारूप वासनाका अभाव हो गया है, वह चक्रके भ्रमण-सदृश जगत्के व्यवहारमें लगा हुआ भी जीवन्मुक्त और परमात्मा-में स्थित है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कुम्भ-कारके व्यापारके अभावमें भी चक्रका भ्रमण तबतक होता रहता है, जबतक उसमें वेग रहता है, उसी प्रकार अविद्याके नाश होनेपर भी प्रारब्ध संस्कारके अवशिष्ट रहनेसे अहंकारके बिना ही जीवन्मुक्तका शरीर और उसका व्यवहार—दोनों प्रारब्ध-भोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं। जिनका चित्त भूने हुए बीजके सदृश पुनर्जन्म-से शून्य और विषयानुरक्तिसे रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त हुए स्थित रहते हैं। जिनका चित्त विशुद्ध सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञानके पारगत महात्मा चित्तसे रहित कहे जाते हैं। प्रारब्धका क्षय हो जानेपर वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें विलीन हो जाते हैं।

वासनाका ऊर्ध्वगति स्वभाव होनेसे वह जीवात्माके क्षोभकारक कर्मसे प्राण-स्पन्दनका उद्बोधन करती है और उससे चित्त उत्पन्न होता है। एवं स्पन्दन-धर्मवाला होनेसे हृदयगत राग आदि गुणोंका स्पर्श करके प्राण जीवात्माका उद्बोधन करता है और क्रमसे चित्तरूपी बालक उत्पन्न होता है। श्रीराम! वासना और प्राणस्पन्द—दोनों चित्तके कारण हैं। उनमेंसे किसी एकका लय

हो जानेपर दोनोंका और उनके कार्य चित्तका विनाश हो जाता है, जैसे विदेहमुक्त ज्ञानीका वासनासहित चित्त और प्राण ब्रह्ममें विलीन हो जाता है। वासना और प्राणस्पन्दन—इन दोनोंका कारण विषय है; क्योंकि उसीके सम्बन्धसे ये दोनों प्रस्फुरित होते हैं। हृदयमें प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयोंका चिन्तन करके ही प्राणस्पन्दन और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं; इसलिये विषय ही उन दोनोंका बीज (कारण) है। जिस प्रकार मूलके उच्छेदसे वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषयचिन्तनका परित्याग करनेसे प्राणस्पन्दन और वासना—दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं। रघुनन्दन! जीवात्मा ही अपनी धीरताका परित्याग करके अपने संकल्पसे विषयरूप-सा बनकर चित्तका बीजरूप हो जाता है, ऐसा जानो। जिस प्रकार तिल तेलसे रहित नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मासे रहित कोई भी विषय नहीं है; क्योंकि जीवात्मा सब विषयोंमें व्यापक है। इसलिये बाहर और भीतर कोई भी पदार्थ जीवात्मासे अलग नहीं है। अपने संकल्पसे चेतन जीवात्मा ही प्रस्फुरित होता हुआ स्वयं पदार्थको देखता है। जिस तरह स्वप्नमें अपना मरण और भिन्न देशमें स्थिति—दोनों अपने संकल्पसे ही होते हैं, उसी तरह जाग्रत्कालीन पदार्थ भी जीवात्माके संकल्पसे ही होते हैं। रघुनन्दन! जिस विवेक-अवस्थामें अपने पारमार्थिक स्वरूपका अनुभव होता है, वह अपने संकल्पसे हुआ स्वस्वरूपानुभव भी जगज्जाल (स्वप्नके सदृश) ही है; क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म अनुभव करनेवाला, अनुभव करने योग्य और अनुभव—इन तीनोंसे ही रहित है; अतः उस अनुभवको जगज्जाल कहना उचित ही है। जैसे बालकको अपने संकल्पसे ही प्रेतका और मनुष्योंको स्थाणुमें पुरुषका भ्रम होता है, वैसे ही संकल्पसे उत्पन्न भ्रमसे ही चेतन जीवात्माकी पदार्थरूपता होती है; वास्तवमें नहीं। यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्या है। वह यथार्थ परमात्मज्ञानसे उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु और चन्द्रके निर्दोष दर्शनसे रज्जुमें सर्प-भ्रान्ति और एक चन्द्रमें दो चन्द्ररूपोंकी भ्रान्ति विलीन हो जाती है। पहले देखा हुआ या न देखा हुआ जो पदार्थ इस जीवात्माको भासता है, विद्वान्‌को उसे विवेक-वैराग्यरूप प्रयत्नद्वारा मिथ्या समझकर उसका बाध कर देना चाहिये। इस जड जगत्‌रूप दृश्यका बाध न करना ही इस बड़े भारी संसारके साथ सम्बन्ध जोड़ना है। यही बन्धन है तथा इस संसारके सम्बन्धसे रहित होना ही मोक्ष है—यह महात्माओंका अनुभव किया हुआ निश्चय है; क्योंकि इस जड दृश्य जगत्‌का चिन्तन ही जन्मरूप अनन्त दुःखका हेतु है और उस दृश्य-चिन्तनसे रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मामें स्थित रहना ही पुनर्जन्मरहित अक्षय सुखका हेतु है।

वासनारहित होनेके कारण अपनी आत्मामें जब किसी पदार्थकी भावना नहीं रहती और वह परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थित रहता है, तब जडतासे रहित, विशाल एवं विशुद्ध यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये ज्ञानवान् फिर कभी संसारमें लिप्त नहीं होता। समस्त वासनाओंका अत्यन्त अभाव होनेपर निर्विकल्प समाधिसे परम आनन्दरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। संसारके चिन्तनसे रहित योगीलोग उसी असीम आनन्दमें नित्य स्थित रहते हैं। इसलिये संसार-चिन्तनसे रहित योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते हुए भी चिन्मय अक्षय आनन्दसे पूर्ण और सुखी कहा जाता है। श्रीराम! यह जीवात्मा जिसकी भावना करता है, उसी रूपमें तत्काल परिणत हो जाता है। अज्ञानकी भूमिकाओंसे मुक्त न होनेके कारण जीवात्मा दीर्घकाल बीत जानेपर भी अपना वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर पाता। जीवात्मा ब्रह्मका अंश है, अतः एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही इस जीवात्माका कारण कहा जाता है। श्रीराम! सत्ताके दो रूप हैं—एक तो अनेक

आकारवाली व्यावहारिक सत्ता और दूसरी एक रूप-वाली वास्तविक सत्ता । अब उनका विभाग सुनो । घटादि रूपोंके विभागसे जो घटत्व, पटत्व, ह्रस्व, महत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति व्यावहारिक सत्ता है । जो विभागसे रहित, सत्तारूपसे व्याप्त समानभावसे स्थित वास्तविक सत्ता है, वह एक-रूपा वास्तविक सत्ता है । जो दृश्यरूप विशेषतासे रहित, निर्लेप और केवल सत्-स्वरूप अद्वितीय महान् वास्तविक सत्ता है, उसीको विद्वान् परमपद कहते हैं । वास्तवमें सत्ताका रूप नाना आकारके रूपमें कभी नहीं है, क्योंकि वह कायम नहीं रहता, अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता । सत्ताका जो विशुद्ध एकरूप वास्तविक स्वरूप है, वह कभी नष्ट नहीं होता और न कभी लुप्त ही होता है । वह नित्य विज्ञानानन्दस्वरूप होनेसे सदा कायम रहता है । उसका अभाव कभी नहीं होता । किंतु जो विभिन्न पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाली विभाग-कल्पना नानारूपताका कारण देखी जाती है, वह विशुद्ध पदरूपा कैसे हो सकती है ।

श्रीराम ! सत्ता-सामान्यकी चरम अवधिरूप जो कल्पनाओंसे और आदि-अन्तसे रहित परमपद है, उसका और कोई कारण नहीं है; क्योंकि वही सबका परम कारण है । जिस परमपदमें सम्पूर्ण सत्ताएँ विलीन हो जाती हैं, उस निर्विकार परमपदमें स्थित पुरुष इस दुःखमय संसारमें कभी नहीं आता । और वही वास्तवमें परम पुरुषार्थी है । वह परमात्मा ही समस्त कारणोंका कारण है, उसका कोई दूसरा कारण नहीं है । वही सम्पूर्ण सारोंका सार है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है । जैसे तालाबमें तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही उस असीम चिन्मय परमात्मारूप दर्पणमें ये सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं । उसी आनन्द-समुद्र परब्रह्मसे सभी प्रकारके सुख प्रतिबिम्बित होते हैं । उस आनन्दमय परमात्मामें ही सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, स्थित रहता है, बढ़ता है और विलीन हो जाता है । वह परब्रह्म भारीसे भी भारी, हलकेसे भी हलका, स्थूलसे भी स्थूल और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम है । वह दूरसे भी दूर, निकटसे भी निकट, छोटेसे भी छोटा और बड़ेसे भी अत्यन्त बड़ा है तथा सबका प्रकाशक होनेसे ज्योतियोंका ज्योति है । वह सम्पूर्ण वस्तुओंसे रहित और सर्ववस्तु-रूप है, वही सत् और असत् है, वही दृश्य और अदृश्य है, वह अहंतासे रहित और अहंस्वरूप है । श्रीराम ! वास्तवमें वही विशुद्ध जरारहित परमात्मतत्त्व है । उसकी प्राप्ति होनेपर चित्त परम शान्त हो जाता है ।

(सर्ग ९१)

तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाशसे परमपदकी प्राप्ति तथा मनको वशमें करनेके उपायोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता । जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक चित्तकी शान्ति कहाँ और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती, तब-तक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता । जब-तक वासनाका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक तत्त्व ज्ञान कहाँसे होगा और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होगा । इसलिये परमात्माका यथार्थ ज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरेके कारण हैं । अतः ये दुस्साध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं । विशेष प्रयत्न करनेसे ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं । श्रीराम !

विवेकसे युक्त पौरुष प्रयत्नसे भोगेच्छाका दूरसे ही परित्याग करके इन तीनों साधनोंका अवलम्बन करना चाहिये। यदि इन तीनों उपायोंका एक साथ प्रयत्नपूर्वक भली प्रकार बार-बार अभ्यास न किया जाय तो सैकड़ो वर्षोंतक भी परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु महाबुद्धिमान् श्रीराम! वासनाक्षय, परमात्माका यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परमपदरूप फल देते हैं। * इन तीनोंका चिरकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेसे अत्यन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियाँ निःशेषरूपसे टूट जाती हैं।

श्रीराम! यह संसारकी दृढ़ स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरोंसे मनुष्योंके द्वारा अभ्यस्त है; अतः चिरकालतक अभ्यास किये बिना वह किसी तरह भी नष्ट नहीं हो सकती। इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओंमें परम कल्याणके लिये इन तीनों उपायोंके अभ्यासमें लग जाना चाहिये। तत्त्वज्ञोंका मत है कि वासनाओंके परित्यागके समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है। इसलिये वासना-परित्यागके साथ-साथ प्राण-निरोधका भी अभ्यास करना आवश्यक है। वासनाओंका भलीभाँति परित्याग करनेसे चित्त भूने हुए बीजके समान अचित्तरूप हो जाता है और प्राणस्पन्दके निरोधसे भी चित्त अचित्तरूप हो जाता है; इसलिये तुम जैसा उचित समझो, वैसा करो। चिरकालतक प्राणायामके अभ्याससे, योगाभ्यासमें कुशल गुरुद्वारा बतायी हुई युक्तिसे, स्वस्तिक आदि आसनोंकी सिद्धिसे और उचित भोजनसे प्राण-स्पन्दनका निरोध हो जाता है। परमात्माके स्वरूपका साक्षात् अनुभव होनेपर वासना उत्पन्न नहीं होती। आदि, मध्य और अन्तमें कभी पृथक् न होनेवाले एकमात्र सत्यस्वरूप परमात्माको भलीभाँति यथार्थरूपसे जान लेना ही ज्ञान है। यह ज्ञान वासनाका सर्वथा विनाश कर देता है तथा अनासक्त होकर व्यवहार करनेसे, संसारका चिन्तन छोड़नेसे और शरीरको विनाशशील समझनेसे वासना उत्पन्न नहीं होती। जिस प्रकार पवन-स्पन्दके शान्त हो जानेपर आकाशमें धूलि नहीं उठती, वैसे ही वासनाका विनाश हो जानेपर चित्त विषयोंमें नहीं भटकता। बुद्धिमान् पुरुषको एकाग्रचित्तसे बार बार एकान्तमें बैठकर प्राण-स्पन्दके निरोधके लिये विशेष यत्न करना चाहिये। जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी अङ्कुशके बिना दूसरे उपायसे वशमें नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्तिके बिना मन वशमें नहीं होता। अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधुसंगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं। † इनसे तत्काल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है। उपर्युक्त इन चार युक्तियोंके रहते जो पुरुष हठसे चित्तको वशीभूत करना चाहते हैं, उनके सम्बन्धमें मेरा यही मत है कि वे दीपकका परित्याग करके अञ्जनोंसे अन्धकारका निवारण करना चाहते हैं। उपर्युक्त इन चार युक्तियोंको त्यागकर जो पुरुष चित्त या चित्तके निकटवर्ती अपने शरीरको स्थिर करनेके लिये यत्न करते हैं, उन हठ करनेवाले पुरुषोंको विवेकी लोग हठी समझते हैं।

(सर्ग ९२)

* वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते। समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने॥
(योगवा० उप० ९२ । १७)

† अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च। वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।
(योगवा० उप० ९२ । ३५ ३६)

विचारकी प्रौढ़ता, वैराग्य एवं सद्गुणोंसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और जीवन्मुक्त महात्माओंकी स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! किंचिन्मात्र विवेकपूर्वक विचारसे जिसने अपने चित्तका निग्रह कर लिया, उसने जन्मका फल पा लिया। यदि हृदयमें इस विचाररूपी कल्पवृक्षका कोमल अङ्कुर भी प्रकट हो जाय तो वही अङ्कुर अभ्यासयोगके द्वारा सैकड़ों शाखाओंमें फैल सकता है। विवेक-वैराग्यसे जिसका विचार कुछ दृढ़ हो गया है, उस पुरुषका शान्ति, समता, क्षमा, दया आदि पवित्र गुण उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण सरोवरका पक्षी और मत्स्य, कच्छप आदि आश्रय लेते हैं, भलीभाँति परमात्मविषयक विचार करनेसे जिसे परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार हो गया है ऐसे ज्ञानी महापुरुषको अविद्यासे उत्पन्न अत्यन्त रमणीय और विशाल वैभव भी आकृष्ट नहीं कर पाते। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है, उस महात्माका यहाँके विषय, मानसिक वृत्तियाँ, आधि और व्याधि—ये सब क्या कर सकते हैं अर्थात् वे उसे तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। जिसने ज्ञानकी चतुर्थ भूमिका प्राप्त कर ली है और जिसने जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका अनुभव कर लिया है, उस धीर-वीर ज्ञानी महात्मा पुरुषपर विषय तथा इन्द्रियरूपी डाकू क्या कभी आक्रमण कर सकते हैं ? जिस पुरुषका अन्तःकरण चलते-फिरते या बैठते, जागते या सोते—इन सभी अवस्थाओंमे विवेकपूर्ण ब्रह्मविचारसे युक्त नहीं रहता, वह मृतकके समान है। अज्ञानरूपी अन्धकारका हरण करनेवाले परमात्मविषयक विचारसे तत्काल ही विशुद्ध परमपदरूप परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है—ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाशमान दीपकसे वस्तु प्रत्यक्ष दिखायी पड़ती है तथा परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे सम्पूर्ण दुःखोंका उसी प्रकार अत्यन्त अभाव हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यके उदयसे अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि जब परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान पूर्णतया प्राप्त हो जाता है, तब जानने योग्य ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति अपने-आप ही उसी प्रकार हो जाती है, जिस प्रकार सूर्यका उदय हो जानेपर भूमण्डलपर विशुद्ध प्रकाश उसी क्षण अपने-आप अनायास ही हो जाता है। जिस सत्-शास्त्रके विवेकपूर्वक विचारसे सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपका यथार्थ अनुभव हो जाता है, वही ज्ञान कहा जाता है और वह ज्ञान ज्ञेयस्वरूप परमात्मासे भिन्न नहीं है—परमात्माका स्वरूप ही है।

श्रीराम ! पण्डितलोग विवेकपूर्वक परमात्मविषयक विचारसे उत्पन्न परमात्मस्वरूपके अनुभवको ही ज्ञान कहते हैं। उसी ज्ञानके अंदर ज्ञेय उसी प्रकार छिपा रहता है, जिस प्रकार दूधके अंदर माधुर्य छिपा रहता है। सम्यग-ज्ञानके प्रकाशसे आलोकित पुरुष स्वयं ज्ञेयस्वरूप हो जाता है। सम और विशुद्धस्वरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही ज्ञेय कहा जाता है। जिसके अन्तःकरणमें आनन्दका प्राकट्य हो गया है, वह ज्ञानवान् पुरुष किसी भी सांसारिक विषयमें नहीं फँसता। समस्त सङ्गोंसे रहित पूर्णकाम जीवन्मुक्त ज्ञानी सम्राट्की तरह सदा मस्त रहता है। श्रीराम ! ज्ञानी महात्मा पुरुष वीणा-वंशीकी मधुरध्वनि आदि मनोहर शब्दोंमें, कामिनियोंके श्रृङ्गार-रस-मिश्रित कमनीय गीतोंमें, करताल, गम्भीर मृदङ्ग तथा चित्र-विचित्र कांस्यताल आदि वाद्योंकी ध्वनियोंमें—चाहे ध्वनि रूक्ष हो या मधुर कहीं भी प्रेम नहीं करता। आसक्ति-रहित ज्ञानी पुरुष कोमल कदलीके स्तम्भोंकी पल्लव-पङ्क्तियोंसे युक्त तथा देवता एवं गन्धर्वोंकी कन्याओंके अङ्गोंके समान अतिकोमल अवयववाली लताओंसे युक्त नन्दनवनकी क्रीडाओंमें कहीं कभी रमण नहीं करता। जिस प्रकार हंस मरुभूमिमें रमण नहीं करता, उसी प्रकार स्वाधीन विषयभोगोंमें भी आसक्ति न रखनेवाला धीर तत्त्वज्ञ किसी भी विषयमें रमण नहीं करता। कदम्ब, कटहल, अंगूर, खरबूजा, अखरोट तथा नारंगी आदि फलोंमें; दही, दूध, घी, मक्खन, चावल आदि भोज्य पदार्थोंमें; लेह्य (चटनी), पेय

(शर्बत) आदि विविधवर्ण चित्र-विचित्र छः प्रकारके रसयुक्त पदार्थोंमें, इनके सिवा अन्यान्य फल, कन्द, मूल, शाक आदि भोज्य पदार्थोंमें—कहींपर भी वह परमात्माके आनन्दमें तृप्त, आसक्तिरहित ज्ञानी महात्मा पुरुष नहीं फँसता।

धर्मराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायुके लोकोंको; मेरु, मन्दराचल, कैलास, सह्याद्रि तथा दर्दुर पर्वतोंके शिखरोंको; चन्द्रमाकी चाँदनीको; मणिमुक्तामय रत्न और सुवर्ण-निर्मित महलोंको; तिलोत्तमा, उर्वशी, रम्भा, मेनका आदिकी अङ्गनाओंको—किसीको भी वह आसक्ति-रहित ज्ञानी महात्मा देखना भी नहीं चाहता और वह विज्ञानानन्दघन परमात्मामें परिपूर्ण, मान न चाहनेवाला, मौनी महात्मा शत्रुओंके प्रतिकूल व्यवहारको देखकर भी विचलित नहीं होता। जो एक ब्रह्मदृष्टि रखनेवाला तथा विकाररहित समबुद्धि ज्ञानवान् पुरुष है, वह कनेर, मन्दार, कल्हार, कमल आदिमें; कुईं, नीलकमल, चम्पा, केतकी, अगर, जाति (मालती) आदि पुष्पोंमें; चन्दन, अगुरु, कपूर एवं कस्तूरी आदिमें; केसर, लौंग-इलायची, कङ्कोल (शीतलचीनीके वृक्षका भेद), तगर आदि अङ्गरागोंमेंसे किसीकी भी सुगन्धसे प्रेम नहीं करता। जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके ध्यानमें मग्न है, वह वज्रके भयावह शब्दसे, पर्वतके विस्फोटसे एवं ऐरावत आदि हाथियोंके चिग्घाड़नेसे कम्पित नहीं होता। तीक्ष्ण छूरेकी धारोंमें या नवीन कमलोंसे निर्मित शय्याओंमें, सूर्य-किरणोंसे प्रतप्त शिलाओंमें या कोमल ललनाओंमें, सम्पत्तियोंमें या उग्र विपत्तियोंमें एवं क्रीडाओं तथा उत्सवोंमें विहार करते हुए भी ज्ञानी महात्माको प्रतिकूल पदार्थोंसे तो उद्वेग नहीं होता और अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं होता। वह भीतरसे सदा अहंता-ममता एवं आसक्तिसे रहित होता है और बाहरसे निःस्वार्थभावसे कर्म करता रहता है। जीवनका विनाश करनेवाला तथा जीवनका दान देनेवाला—इन दोनों पुरुषोंको ज्ञानी पुरुष प्रसन्नता एवं मधुरतासे शोभित समदृष्टिसे देखता है। ज्ञानवान् पुरुष देवता और मनुष्य आदि शरीरोंसे तथा प्रिय और अप्रिय पदार्थोंसे न हर्षित होता है और न ग्लानिका अनुभव करता है अर्थात् अनुकूलमें हर्षित नहीं होता और प्रतिकूलमें ग्लानि और विषादके वशीभूत नहीं होता। श्रीराम! अपने चित्तमें आसक्तिका अभाव और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे तत्त्वज्ञानी पुरुष जगत्‌को मिथ्या समझता है। इसलिये वह किसी भी समय इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें रमण नहीं करता; क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीडाओंसे मुक्त हो चुकी रहती है। किंतु जो तत्त्वज्ञानसे शून्य और शान्तिरहित है एवं परमात्माको प्राप्त नहीं हुआ है, उस वास्तविक स्थितिसे वञ्चित मनुष्य-को इन्द्रियाँ तत्काल उसी प्रकार निगल जाती हैं, जिस प्रकार हरिन हरे कोमल पत्तोंको निगल जाते हैं।

रघुनन्दन! जो विवेकपूर्वक विचारशील है एवं जिसकी एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपमें ही स्थिति है और परमात्माके स्वरूपमें ही जिसको विश्राम प्राप्त हो गया है, उस ज्ञानी महात्माको संसारके संकल्प-विकल्प विचलित नहीं कर सकते—ठीक उसी प्रकार जैसे जलका प्रवाह अचल पहाड़को विचलित नहीं कर सकता। समस्त संकल्पोंकी सीमाके अन्तस्वरूप पदमें जो महानुभाव विश्रामको प्राप्त हो गये हैं, उन परमात्माको प्राप्त हुए महात्माओंकी दृष्टिमें सुवर्णमय सुमेरु पर्वत भी तृणके सदृश है अर्थात् कुछ भी नहीं है। उन विशालहृदय महात्माओंकी दृष्टिमें सारा संसार और एक छोटा-सा तृण, अमृत और विष, कल्प और क्षण समान हैं। जिस जड दृश्य संसारका आदि और अन्तमें अस्तित्व नहीं है, उसकी यदि वर्तमान कालमें कुछ कालतक सत्ता प्रतीत हो रही है तो वह जीवात्माका भ्रम ही है। ज्ञानी शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्तिसे रहित इन्द्रियोंसे चाहे कर्म करे या न करे, असङ्ग होनेके कारण कर्मसे लिप्त नहीं होता। महाबाहु श्रीराम! जिस प्रकार कोई भी मनोराज्यकी सम्पत्तियोंके नष्ट होने या न होनेपर, उससे उत्पन्न सुख-दुःखोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी

महात्मा पुरुष आसक्तिरहित मनसे कर्म करता हुआ भी उससे उत्पन्न सुख-दु:खरूप फलसे लिप्त नहीं होता तथा आसक्तिरहित मनवाला महात्मा पुरुष चक्षुसे विषयोंको देखता हुआ भी, उसका चित्त अन्यत्र—परमात्मामें स्थित होनेके कारण, कुछ नहीं देखता। जिसका चित्त दूसरी जगह तत्परतासे लगा रहता है, वह विषयको नहीं देखता—यह बात बालक भी जानता है। इसलिये आसक्तिरहित मनवाला ज्ञानी महात्मा पुरुष सुनता हुआ भी नहीं सुनता, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता, सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता, नेत्रोंको खोलता और बंद करता हुआ भी न उन्हें खोलता और न बंद ही करता है। श्रीराम! आसक्ति ही संसारका कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थोंका हेतु है, आसक्ति ही वासनाओंकी जड है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियोंका मूल है। अत: आसक्तिके त्यागको ही मोक्ष समझा गया है और आसक्तिके त्यागसे ही मनुष्य जन्म-मरणसे छूट जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—अखिल संशयरूपी कुहरेका नाश करनेवाले शरत्कालके वायुरूप महामुने! सङ्ग (आसक्ति) किसे कहते हैं—प्रभो! यह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें जो हर्ष और विषादरूप विकार उत्पन्न करनेवाली मलिन वासना है, वही सङ्ग (आसक्ति) है—ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। जीवन्मुक्त स्वरूपवाले तत्त्ववेत्ताओंके पुनर्जन्मका नाश करनेवाली, हर्ष एवं विषाद दोनोंसे रहित, शुद्ध वासना—आसक्तिरहित चित्तवृत्ति होती है। वह भूने हुए बीजके समान आकृतिमात्र है। उस शुद्ध वासनाका दूसरा नाम असङ्ग (आसक्तिका अभाव) जानो। वह तबतक रहती है, जबतक प्रारब्ध भोगोंका संस्काररूप देह रहता है। उस शुद्ध वासनासे जो कुछ किया जाता है, वह पुन: संसारमें जन्म-मरणरूप बन्धनका कारण नहीं होता। जो जीवन्मुक्त नहीं हैं, जो दीन एवं मूढचित्त हैं, उनकी वासना हर्ष तथा विषादसे युक्त रहती है। वह वासना जन्म-मरणरूप बन्धन देनेवाली होती है। इसी बन्धनकारक वासनाका दूसरा नाम सङ्ग है। यह पुनर्जन्मका कारण है। इस वासनासे जो कुछ किया जाता है, वह केवल बन्धनका ही हेतु होता है। रघुनन्दन! यदि तुम दु:खोंसे घबराते नहीं, सुखोंसे हर्षित नहीं होते और सम्पूर्ण आशाओंसे रहित हो तो तुम असङ्ग ही हो। समस्त व्यवहारोंमें एवं सुख-दु:खकी अवस्थाओंमें समचित्त रहते हुए ही यदि विचरण करते हो तो तुम असङ्ग ही हो। सांसारिक पदार्थोंको तुम अपनी आत्मा ही समझते हो और जिस समय न्याययुक्त जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उसीके अनुसार शास्त्रानुकूल आचरण करते हो तो तुम असङ्ग ही हो। जीवन्मुक्तोंके ज्ञानसे सम्पन्न, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, परमात्माके स्वरूपका मनन करनेवाला श्रेष्ठ मुनि मान, मद, मात्सर्य और चिन्ताज्वरसे रहित होकर स्थित रहता है। श्रीराम! प्रचुरतर पदार्थोंके सदा रहते हुए भी सबमें समानभाव रखनेवाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याचना आदि रूप दीनतासे शून्य अन्त:करणवाला यह महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम-प्राप्त न्याययुक्त व्यापारसे पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता। वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त अपना जो कुछ भी कर्तव्य है, उसका वह ज्ञानी संसर्ग-सम्बन्ध अर्थात् आसक्ति, अहंता-ममतासे रहित बुद्धिसे खेदशून्य हो अनुष्ठान करता हुआ परमात्मस्वरूप अपने आत्मामें रमण करता है। जिस प्रकार मन्दराचल पर्वतसे मथे जानेपर भी क्षीरसमुद्र अपना स्वाभाविक शुक्लपन नहीं छोड़ता, उसी प्रकार आपत्ति अथवा उत्तम सम्पत्तिके प्राप्त होनेपर वह महामति तत्त्वज्ञ अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ता। (सर्ग ९३)

उपशम-प्रकरण सम्पूर्ण



निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध

श्रीवसिष्ठजीके कहनेपर श्रोताओंका सभासे उठकर दैनिक क्रिया करना तथा सुने गये विषयोंका चिन्तन करना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं*—भरद्वाज ! उपशम-प्रकरणके अनन्तर अब इस निर्वाण-प्रकरणका श्रवण करो। उसका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर यह मोक्षरूप फल देता है। जिस समय महाराज वसिष्ठजी उस प्रकारके गम्भीर अर्थके प्रतिपादक वचन कह रहे थे, उनके श्रवणके ही आनन्दमें निमग्न श्रीराम मौन होकर स्थित थे; महामुनि वसिष्ठजीकी वाणी और उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थोंको मनमें धारणकर राजालोग, जो बाह्य विषयोंके विज्ञान एवं शारीरिक चेष्टासे रहित थे, निश्चेष्ट होकर चित्रलिखित मूर्तिकी तरह अचल स्थित थे। एवं महामुनि वसिष्ठजी-द्वारा उपदिष्ट वाक्योंका बड़े आदरके साथ श्रोता मुनिगण विचार कर रहे थे, उस समय दिनके चतुर्थ भागमें भेरी और शङ्खकी ध्वनि हुई। उक्त ध्वनिसे मुनि वसिष्ठजीका उन्नत स्वर भी उसी प्रकार दब गया, जिस प्रकार मेघोंके नादसे मयूरोंका शब्द। धीरे-धीरे उस शङ्ख-ध्वनिके शान्त होनेपर मुनिश्रेष्ठ महाराज श्रीवसिष्ठजी सभामें श्रीरामचन्द्रजीसे यों मधुर वचन कहने लगे—'श्रीराम ! मेरी इस वाणीके अर्थको तुमने क्या उसी तरह ग्रहण किया, जिस तरह हंस जलका त्यागकर दूधको ग्रहण करता है ? तुमको इसे अपनी बुद्धिसे अच्छी तरह बार-बार विचारकर उसीके अनुसार चलना चाहिये। समस्त शास्त्रोंके सिद्धान्तको समझकर तुम उदार चित्त-से मेरे द्वारा कथित प्रयोजनकी सिद्धिके लिये असङ्ग होकर समयानुसार प्राप्त व्यवहारका परिपालन करो।'

'सभासद्गण ! महाराज दशरथ ! श्रीराम ! लक्ष्मण ! तथा अन्यान्य नृपवर्ग ! आप सभी आज अपने-अपने नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करें; क्योंकि आजका दिन प्रायः समाप्त होने जा रहा है। अब जो विचार करना शेष है, उसका जब आपलोग प्रातःकाल सभामें आयेंगे, तब हमलोग विचार करेंगे।'

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! मुनिवर वसिष्ठजीके इस प्रकार कहनेपर वह सभा उठ खड़ी हुई। समस्त सभाका वदन कमलकी तरह था, अतएव वह विकासयुक्त कमलिनीके सदृश भली मालूम पड़ती थी। उस समय अन्यान्य राजाओंने महाराज दशरथकी स्तुति की, श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार किया तथा महर्षि वसिष्ठजीकी विशेषरूपसे स्तुति की। तदनन्तर वे अपने-अपने आश्रममें चले गये। आकाशचारी देवताओंकी वन्दना करके महाराज वसिष्ठजी महर्षि विश्वामित्रके साथ आश्रममें जानेके लिये आसनसे उठे। दशरथ आदि राजा तथा मुनिलोग अपने अनुरूप उपदेष्टा मुनिवर वसिष्ठजीके पीछे-पीछे आश्रमपर्यन्त जाकर उनकी आज्ञा लेकर

---

* वैराग्य और मुमुक्षु-व्यवहार नामक प्रकरणोंके बाद जो उत्पत्ति, स्थिति और उपशम नामक तीन प्रकरण कहे गये हैं, उनमें यह बताया गया कि उत्पत्ति, स्थिति और लयके बोधक तथा 'नेति-नेति' इत्यादि रूपसे प्रपञ्चके निषेधक जो वेदान्त-वाक्य हैं, वे अध्यारोपापवाद-न्यायसे परमात्मतत्त्वका ही प्रतिपादन करनेवाले हैं। अतः वासनाक्षय और मनोनाशपूर्वक परमात्म-ज्ञानके द्वारा परमपुरुषार्थकी प्राप्ति करानेमें ही उनका तात्पर्य है। अब 'यत्र नान्यत् पश्यति' (छान्दोग्य० ७।२४।१)—'जहाँ परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखता', 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तैत्तिरीय० २।४।१)—'जहाँसे वाणी उसे न पाकर लौट आती है', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' (तैत्तिरीय० २।४।१)—'ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला कभी भयभीत नहीं होता।' 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वम्' (बृहदा० २।५।१९)—'वह यह ब्रह्म अपूर्व है' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध तथा पहले बताये गये समस्त साधनोंसे प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञानके फलभूत मोक्षके स्वरूपका बोध करानेके लिये महर्षि वाल्मीकि निर्वाण-नामक प्रकरणका आरम्भ करते हैं।

कोई आकाशकी ओर, कोई अरण्यकी ओर, कोई राज-मन्दिरकी ओर कमलसे उत्थित भ्रमरोंकी तरह चले गये। श्रीराम, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नने गुरुवर वसिष्ठजीके आश्रममें उनके साथ जाकर उनके चरणोंकी भक्तिपूर्वक पूजा की और फिर दशरथजीके भवनकी ओर चले गये। अपने-अपने स्थानमें आकर उन सब श्रोताओंने स्नान किया, देवता और पितरोंकी पूजा की तथा ब्राह्मणों और अतिथियोंका स्वागत-सत्कार किया। इन क्रियाओंसे निवृत्त होकर उन श्रोताओंने ब्राह्मण आदिसे लेकर नौकर-पर्यन्त अपने-अपने परिवारोंके साथ वर्ण-धर्मके क्रमानुसार भोज्यपदार्थोंका भोजन किया। दैनिक क्रियाओंके साथ सूर्यभगवान्‌के अस्ताचलकी ओर प्रस्थान करनेपर तथा रात्रि-कृत्योंके साथ निशाकरके उदित होनेप[र] आस्तरणोंसे युक्त शय्याओंपर तथा आसनोंप[र] भूमिपर विहार करनेवाले मुनि, राजा, राज[र्षि] महर्षिलोग अत्यन्त आदरपूर्वक महर्षि वसिष्ठ[के] कमलसे निर्गत संसार-तरणके उपायका एकाग्र[...] यथावत् विचार करने लगे। तदनन्तर प्रहर[...] श्रोतागण सुन्दर स्वप्नसे युक्त निद्राको प्राप्त हुए[...] लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न—इन तीनों भ्राताओंने तीन[...] महर्षिके उपदेशका निरन्तर विचार किया।[...] केवल आधे प्रहर (दो घड़ी) तक ही नयनों[...] उत्तम स्वप्नसे युक्त तथा क्षणभरमें श्रमका नि[...] देनेवाली निद्रा प्राप्त की। ([...]

श्रीरामचन्द्र आदिका महाराज वसिष्ठजीको सभामें लाना तथा महर्षि वसिष्ठजीके द्वार[ा] उपदेशका आरम्भ; चित्तके विनाशका और श्रीरामचन्द्रजीकी ब्रह्मरूपताका निरूपण

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—रात्रिके क्षीण होनेपर श्रीराम, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने-अपने अनुचरोंके साथ उठकर स्नान, संध्या आदि कर्मोंका अनुष्ठान करके महामुनि श्रीवसिष्ठजीके आश्रमपर चले गये। वहाँ उन्होंने संध्या करके आश्रमसे बाहर निकलते हुए महर्षि वसिष्ठजीके चरणोंमें अर्घ्य प्रदानकर प्रणाम किया। क्षणभरमें महर्षि वसिष्ठजीका आश्रम मुनियों, ब्राह्मणों और राजाओंसे तथा हाथी, घोड़े, रथ आदि अन्यान्य वाहनोंसे इतना भर गया कि वहाँ तनिक भी अवकाश नहीं रहा। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी उस सेनाके साथ ही श्रीराम आदिसे अनुगत होकर यथासमय दशरथजीके घरपर जा पहुँचे। वहाँपर शीघ्रतापूर्वक मिलनेके उत्साहसे संध्या-वन्दनसे निवृत्त हुए महाराज दशरथने आदरपूर्वक दूर मार्गमें ही जाकर महर्षिका पूजन किया। वे सब श्रोतागण पुष्पों, मोतियों तथा मणियोंके समूहोंसे पहलेकी अपेक्षा पुनः अधिक सजायी गयी सभामें प्रविष्ट होकर अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये। इसके अनन्तर उसी स[...] दिनके जो आकाशचर, भूचर आदि श्रोता थे,[...] वे-सब आ गये। एक दूसरेका अभिवाद[न ...] सभा बैठ गयी। तदनन्तर वाक्यरचनामें पटु[...] वसिष्ठजी पूर्व प्रकरणके अनुसार ही वाक्यार्थके[...] श्रीरघुनन्दनको कहने लगे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीराम![...] सुन्दर पद्धतिसे जो अत्यन्त गहन अर्थवाला त[...] का बोधक वाक्य कहा था, उसका क्या तुम[...] है? अब मैं तुम्हारे समझनेके लिये यह[...] शाश्वत सिद्धिदायक उपदेश करता हूँ, इसे[...] श्रीराम! परमात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे अज्ञा[न] तथा वासनाका विनाश हो जानेपर शोकशून्य[...] प्राप्त हो जाता है। देश, काल और वस्तुसे र[...] अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही है। उस[...] द्वित्वरूप जगत् तो अज्ञानसे प्रतीत होता है।[...]

परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि जहाँ समस्त पदार्थोंसे रहित, परम शान्त, समानभावसे प्रकाशित एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, वहाँ उस परमात्माके सिवा दूसरा पदार्थ कैसे रह सकता है। जो सम्पदाएँ हैं, जो दृश्य हैं, जो प्राणी हैं और जो उनकी इच्छाएँ हैं—इन सबके रूपमें आदि और अन्तसे रहित एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है, जैसे समुद्रकी तरङ्गें समुद्र ही हैं। पातालमें, भूमिमें, स्वर्गमें, तृण आदि जड पदार्थोंमें, प्राणी एवं आकाशमें—सर्वत्र वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है, दूसरा कुछ नहीं। जैसे समुद्रकी नाना तरङ्गें समुद्र ही हैं, वैसे ही उपेक्ष्य, हेय, उपादेय, बन्धु-बान्धव, सम्पदाएँ, देह—इन सभी रूपोंमें आदि और अन्तसे रहित परब्रह्म ही प्रकाशित है। जबतक अज्ञानकी कल्पना, ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थकी भावना और जगज्जालमें आस्था रहती है, तभीतक चित्त आदिकी कल्पना रहती है। जबतक देहमें अहंभावना रहती है, जबतक इस दृश्यमें आत्मरूपता रहती है, जबतक यह मेरा है—इस प्रकारकी आस्था रहती है, तभीतक चित्तरूप भ्रम रहता है।

जबतक पूर्णताका उदय नहीं होता और जबतक सज्जनोंके संसर्गसे अज्ञानका विनाश नहीं होता, तभीतक चित्त आदि पतनकी ओर जाते रहते हैं। जबतक सच्चिदानन्द परमात्माके यथार्थ अनुभवके प्रभावसे यह जगत्‌की वासना शिथिल नहीं हो जाती, तभीतक चित्त आदि प्रतीत होते हैं। जबतक अज्ञानरूप मूर्खता रहती है, जबतक विषयाभिलाषासे विवशता रहती है एवं जबतक मूर्खतावश मोहका समुद्र बना रहता है, तबतक चित्त आदिकी कल्पना रहती है। किंतु जिसका अन्तःकरण भोगोंमें आस्था नहीं रखता, जिसको सुशील निर्मल निर्वाण परमपद प्राप्त हो चुका है एवं जिसके आशापाशके जाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं, उसका चित्तरूप भ्रम नष्ट हो जाता है। मिथ्या भ्रमको उत्पन्न करनेवाले अनात्मदर्शनका विनाश तथा परमार्थभूत सच्चिदानन्द परमात्मज्ञानरूप उत्तम सूर्यका उदय होनेपर चित्त विनष्ट होकर उसी प्रकार पुनः दिखायी नहीं देता, जिस प्रकार अग्निमें सूखा पत्ता या घीकी बूँद गिरनेपर पुनः दिखायी नहीं देती। परमात्माके सगुण-निर्गुण स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं, उनका पवित्र अन्तःकरण ही 'सत्त्व'नामसे कहा गया है। जो समरूप परमात्मपदमें नित्य स्थित, चित्तरहित तत्त्वज्ञानी महात्मा हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थितिसे उत्पन्न उपेक्षासे ही लीलामात्र व्यवहार करते है। परमात्मामें स्थित, संयतेन्द्रिय, परम शान्त महात्मा पुरुष उस ब्रह्मरूप ज्योतिका सदा ही साक्षात्कार करते रहते है; अतः उनमें द्वैतभाव, एकभाव और वासना नहीं हो सकती। 'मै सर्वात्मक हूँ' इस प्रकारकी परिपूर्ण आत्मभावनासे समस्त त्रिजगत्‌रूपी तृणका सच्चिदानन्दरूप अग्निमें हवन करनेवाले महामुनिके चित्त आदि भ्रम निवृत्त हो जाते हैं। विवेकसे विशुद्ध हुआ चित्त सत्त्व कहा जाता है। वह फिर मोहरूपी फल उसी प्रकार उत्पन्न नहीं करता; जिस प्रकार दग्ध हुआ बीज नहीं उगता। मूढ मनुष्योंके भीतर पुनर्जन्मका विधायक वासनायुक्त चित्त होता है; किंतु तत्त्वज्ञान हो जानेपर वही वासनारहित सत्त्वरूप होकर पुनर्जन्मका बाधक हो जाता है। श्रीराम! तुम प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त कर चुके हो। तुम्हें कुछ भी प्राप्त करना नहीं है, तुम्हारा चित्त शुद्ध है और ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हो चुका है; अतः वह भावी जन्मका कारण नहीं हो सकता अर्थात् तुम जन्म-मरणसे रहित हो। तुम वास्तवमें अवयव और सीमासे रहित, चेतनस्वरूप ही हो; अतः तुम अपने स्वरूपका स्मरण करो, उसे कभी भूलो मत। तुम वही परिपूर्ण, परम शान्त, सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा हो। श्रीराम! सारा चराचर चेतन-समूह तुम्हारे अंदर है और वास्तवमें वह नहीं है। तुम जो हो सो हो, तुम सत् भी हो, असत् भी हो। जो कुछ सत्-असत् प्रतीत होता

है, वह तुम्हारा संकल्प होनेसे तुम ही हो और तुम स्वयं प्रकाशरूप हो। वास्तवमें जड-पदार्थविशेष तुम नहीं हो और न वह सब तुममें है। तुम्हारा संकल्प होनेसे वह तुम्हारा स्वरूप भी है और वस्तुसे असत् होनेके कारण वह नहीं है, तुम अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपमें नित्य स्थित हो। तुम्हें नमस्कार है ! तुम आदि और अन्तसे रहित, शिलाके समान चेतनघन हो—जिस प्रकार शिलामें पत्थरके सिवा कोई वस्तु नहीं उसी तरह तुममें एक चेतनके सिवा और कुछ नहीं है। तुम आकाशकी तरह निर्मल और स्वस्थ हो। तुम लीलासे ही सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हो। ऐसे ब्रह्मस्वरूप तुम्हें नमस्कार है ! (सर्ग २)

ब्रह्मकी जगत्कारणता और ज्ञानद्वारा मायाके विनाशका तथा श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामकी महिमा एवं श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा अपने परमार्थ-स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप श्रीराम ! जिस प्रकार समुद्रमें उठनेवाली असंख्य तरङ्गोंका मूल कारण जल ही है, उसी प्रकार जो नाना प्रकारके असंख्य ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति और धारण करनेवाला चेतन है, वह तुम हो। समरूप, आकाशकी तरह सौम्य, बड़ी-बड़ी सृष्टिरूपी जल-तरङ्गोंसे घन प्रकाशमय परमात्म-चैतन्यरूप समुद्र तुम ही हो।* जिस प्रकार अग्निसे उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमलसे सौगन्ध्य भिन्न नहीं है, कज्जलसे कृष्ण रूप भिन्न नहीं है, बरफ-से शुक्ल रूप भिन्न नहीं है, ईखसे माधुर्य भिन्न नहीं है, तेजसे प्रकाश भिन्न नहीं है, चेतनसे उसका अनुभव भिन्न नहीं है, जलसे तरङ्ग भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्मसे चराचर जगत् भिन्न नहीं है; क्योंकि ब्रह्म ही सबका कारण है। इसलिये चेतनसे उसका अनुभव भिन्न नहीं है। अनुभवसे 'अहम्' भिन्न नहीं है, 'अहम्'से जीव भिन्न नहीं है, जीवसे मन भिन्न नहीं है, मनसे इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्द्रियोंसे देह भिन्न नहीं है, देहसे यह जड दृश्य जगत् भिन्न नहीं है, जगत्से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

श्रीराम ! यह दृश्यमान जगद्रूपी चक्र चिन्मय परमात्माने ही अनादि कालसे अपने संकल्पद्वारा प्रवृत्त किया है। वास्तवमें तो कुछ भी प्रवृत्त नहीं किया है। यथार्थमें तो यह सब कुछ विभागरहित अनन्त सच्चिदानन्दरूप आकाश ही अपने आपमें स्थित है। उसके सिवा दूसरा और कुछ भी नहीं है। ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों और मनके व्यापारोंको करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता; क्योंकि उसमें कर्तृत्व है ही नहीं। श्रीराम ! तुम भीतरसे आकाशकी तरह निर्मल हो, बाहरसे अपने वर्णाश्रमानुकूल आचरण करते हो एवं हर्ष और ईर्ष्या आदि विकारोंमें काष्ठ और लोष्ठके समान निर्विकार हो। जो तत्क्षण मारनेके लिये उद्यत अत्यन्त ही कठोर शत्रु है, उसे स्वाभाविक प्रियतम मित्रके रूपमें जो देखता है, वही यथार्थ देखनेवाला ज्ञानी महात्मा है। जिस प्रकार तटवर्ती वृक्षको नदी वेगसे मूलोच्छेदनपूर्वक उखाड़कर फेंक देती है, उसी प्रकार जो महात्मा सौहार्द और ईर्ष्याको वेगसे समूल उखाड़ फेंक देता है, वही हर्ष और ईर्ष्यारूपी दोषोंका विनाश कर सकता है। जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।

---

* रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥

'जिस नित्यानन्द चिदात्मामें योगीलोग निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म 'राम' पदसे कहा जाता है'—ऐसी व्युत्पत्तिवाले 'राम' शब्दके वाच्य भी तुम ही हो।

श्रीराम ! जिसका त्रिकालमें अस्तित्व नहीं है, उसकी व्यावहारिक सत्ताका ज्ञान करानेके लिये 'माया' शब्दका प्रयोग किया गया है । वह माया उसका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे निस्संदेह विनष्ट हो जाती है ।

निष्पाप श्रीराम ! मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ जडतारहित एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही है । फिर जीवात्मा उस परमात्मासे अलग कैसे रह सकता है, अर्थात् वह भी परमात्माका स्वरूप ही है । जब भोग-तृष्णारूपी विषका आवेश विनष्ट हो जाता है—संसारके विषयभोगोसे तीव्र वैराग्य हो जाता है, तब अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे गत रात्रिके अन्धकारके नष्ट हो जानेपर रतौंधी भाग जाती है, भली प्रकारसे आलोचित अध्यात्मशास्त्ररूपी विचारसे तृष्णाविषरूपी महामारी क्षीण हो जाती है । जैसे विस्तृत आकाशमें अव्यक्त वायु स्थिर है, वैसे ही मायाभावसे रहित हुए तुम उस अत्यन्त विस्तृत परम पदरूप अपने ब्रह्मस्वरूपमें स्थिर हो । श्रीराम ! जब साधारण मनुष्योंको भी अपने कुलगुरुके वचन लग जाते हैं, तब फिर तुम उदार (विशाल)-बुद्धिको मेरा उपदेश क्यों नहीं लगेगा ? क्योंकि तुमने अपनी बुद्धिसे मेरे वचनोंको ग्रहण करने योग्य समझ लिया है, अतएव मेरे वचन तुम्हारे हृदयके अंदर प्रविष्ट हो जाते है । श्रेष्ठ महानुभाव श्रीराम ! मै रघुकुलको उन्नत करनेवाले तुमलोगोका सदासे कुलगुरु हूँ, इसलिये तुम मेरे द्वारा कहे गये शुभ वचनोंको हृदयमें हारकी तरह धारण करो ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् ! मै केवल परम शान्तिका अनुभव कर रहा हूँ और परमानन्दमय स्वरूपमें सुखपूर्वक स्थित हूँ । मुने ! मुझे कुहरेसे शून्य दिङ्मण्डलकी भाँति भली प्रकार प्रसन्न यह समस्त जगत् वास्तविक सच्चिदानन्दस्वरूप दीख रहा है । भगवन् ! मै संदेहसे, आशारूप मृगतृष्णासे, राग और वैराग्यसे रहित हूँ । नाथ ! मै अपने आपसे ही अपने उस अविनाशी विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें स्थित हूँ, जहाँपर अमृतका रसास्वाद भी तृणके सदृश नीरस होकर उपेक्षणीय हो जाता है । मैं अपने प्राकृत स्वरूपमें स्थित हूँ,—स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ । लोक जहाँ विश्राम करते हैं, उस सुखका केन्द्रस्वरूप मै हूँ । अतएव मै वास्तविक राम हूँ, मै अपने परमार्थ स्वरूपको तथा आपको प्रणाम करता हूँ । शुद्ध आत्मामें अज्ञान आदि विकार कैसे आ सकते हैं । सदा शुद्ध आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है । सब कुछ आत्मा ही है । यह दूसरा है, यह दूसरा है—इत्यादि असत् कल्पनाएँ कैसे आ सकती हैं । (सर्ग ३—५)

देह और आत्माके विवेकका एवं अज्ञानीको देहमें आत्मबुद्धि और विषयोंमें सुख-बुद्धि करनेसे दुःखकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम ! तुम फिर भी मेरे परम रहस्यमय और प्रभावयुक्त वचन सुनो, जिन्हें मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुम्हारे लिये हितकी इच्छासे कहता हूँ । श्रीराम ! जिस अज्ञानी पुरुषकी अज्ञानवश देहमें ही आत्मभावना उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुषको इन्द्रियाँ रोषपूर्वक शत्रु बनकर पराजित कर देती हैं । किंतु जिस विवेकी पुरुषकी ज्ञानपूर्वक एकमात्र नित्य परमात्माके स्वरूपमें ही स्थिति रहती है, उस निर्दोष पुरुषकी इन्द्रियाँ संतोषपूर्वक मित्र बनकर रहती है, उसका पतन नहीं कर सकतीं ।* व्यवहार करते हुए जिस ज्ञानी पुरुषको

* कठोपनिषद्में भी बताया गया है—
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥

निन्दनीय भोग्य पदार्थोंमें दोष-दर्शनके कारण निन्दाके सिवा स्तुतिबुद्धि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष दुःखदायी देहमें किसलिये आत्मबुद्धि करेगा ? कभी नहीं करेगा। जैसे प्रकाश और अन्धकार एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, वैसे ही शरीर और आत्मा एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण हैं; क्योंकि शरीर जड और मिथ्या है तथा आत्मा चेतन और सत्य है। इसीसे न आत्मा शरीरका सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्माका सम्बन्धी, अर्थात् परस्पर विरुद्ध होनेके कारण इनका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। भगवन् ! समस्त भावविकारोंसे नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट ही होता है, वरं वह सदा-सर्वदा एकरूपसे रहता है। पत्थरके समान जड, ज्ञानरहित, तुच्छ, कृतघ्न तथा विनाशशील इस शरीरका जो कुछ भी होनेवाला हो वह भले ही हो, इससे आत्माकी न तो हानि है और न इससे उसका कोई सम्बन्ध ही है।

विभिन्न दृष्टियोंसे देखनेपर भी सद्रूप ब्रह्म कभी असद्रूप नहीं हो सकता, इसी प्रकार सर्वव्यापक जीवात्माका शरीरके साथ तनिक भी सम्बन्ध सम्भव नहीं। जैसे जलमें स्थित कमलपत्रका जलसे किंचिन्मात्र सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहमें स्थित जीवात्माका भी देहसत्ताके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। परमात्माका अच्छी प्रकार साक्षात्कार हो जानेपर परमार्थ सत्यरूप परमात्मामें ही स्थिति हो जाती है और देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान-प्रयुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है। देह और आत्माके यथार्थ ज्ञानसे देहकी असत्ता और आत्माकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। सभी प्राणियोंमें अविनाशी चेतन रहता ही है, परंतु जीवात्माको इसका भली प्रकार ज्ञान न होनेके कारण उसमें कायरता आ गयी है। ऐसे अज्ञानी जीवोंके शरीरसे श्वास उसी प्रकार निकलते रहते हैं, जैसे लोहारकी धौंकनीसे हवा निकलती है; अतः उनका जीवन व्यर्थ है। अज्ञान ही आपत्तियोंका आश्रय-स्थान है। भला, बतलाइये तो सही कि कौन-सी आपत्तियाँ अज्ञानीको नहीं प्राप्त होतीं ? अज्ञानीको उग्र दुःख और सांसारिक क्षणिक सुख भी बार-बार आते और जाते रहते है। देह, धन, स्त्री आदिमें आसक्ति रखनेवाले अज्ञानीका यह दुष्ट दुःख कभी भी शान्त नहीं होता। इस अनात्मभूत जड देहमें आत्मभाव करनेवाले अज्ञानी पुरुषकी असत्य बोधमयी माया क्या किसी प्रकार भी नष्ट हो सकती है ? अर्थात् बिना ज्ञानके किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकती। उस अज्ञानी पुरुषका ही जन्म पुनः-पुनः बालपन प्राप्त करता रहता है, बालपन बार-बार यौवन प्राप्त करता रहता है, यौवन बार-बार वार्धक्य प्राप्त करता रहता है और वार्धक्य बार-बार मरण प्राप्त करता रहता है। अज्ञानी पुरुष ही इस जगत्‌रूपी जीर्ण घटीयन्त्र (रहँट) में संसाररूपी रज्जुसे बँधा हुआ कलश-रूप होकर जलमें डूबता और निकलता रहता है। अर्थात् यह अज्ञानी जीव संसारमें बार-बार जन्मता-मरता रहता है। जिस प्रकार पक्षिणियाँ पिंजरसे बाहर निकल नहीं पातीं, वैसे ही उदरभरणमें अति आसक्तिरूपी बन्धनसे बँधे ज्ञानदृष्टिसे हीन अज्ञानी पुरुषकी बुद्धियाँ अपारसंसार-समुद्रके पार नहीं जा सकतीं। श्रीराम ! विषयोंकी जो केवल ऊपर-ऊपरसे दिखायी पड़नेवाली मधुरता, परिणाममें अनर्थरूपता, आद्यन्तवत्ता, देशतः परिच्छिन्नता और समस्त अवस्थाओंमें नश्वरता प्रसिद्ध है, वे सब अज्ञानरूपी वृक्षके ही फल हैं। (सर्ग ६)

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
(कठ० १।३।५, ६)

'जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला और अवशीभूत चञ्चल मनसे युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथिके दुष्ट घोड़ोंकी भाँति वशमें नहीं रहतीं। परंतु जो सदा विवेकयुक्त बुद्धिवाला और वशमें किये हुए मनसे सम्पन्न रहता है, उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथिके अच्छे घोड़ोंकी भाँति वशमें रहती हैं।'

अज्ञानकी महिमा और विभूतियोंका सविस्तर वर्णन

*श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—*श्रीराम ! मदरूपी चन्द्रके उदित होनेपर मोतियोंसे वेष्टित तथा रत्नोंसे सुशोभित स्त्रियाँ क्षुब्ध काम-क्षीरसागरकी तरङ्गके समान जो दिखायी पडती हैं, वह केवल अज्ञानकी ही विभूति है। वसन्तऋतुमें भूमिपर वनखण्डोंमें पुष्प कामके दास कामियोंको जो रमणीय दिखायी पड़ते हैं, उसमें भी अज्ञान ही कारण है। गीध, गीदड़, कुत्ते आदिके खाने योग्य मांस-पिण्डरूप स्त्रियोंके शरीरोंकी जो चन्द्रमा, चन्दन और कमलसे उपमा दी जाती है, वह भी अज्ञानकी ही महिमा है। लारसे आर्द्र ओष्ठनामक मांसके टुकड़ेकी जो रसायन, अमृत, मधु आदिके साथ उपमा दी जाती है, वह भी अज्ञान ही है। आरम्भमें अज्ञानी लोगोंको अत्यन्त मधुर लगनेवाली, मध्यमें राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे बाँधनेवाली एवं अन्तमें शीघ्र नष्ट हो जानेवाली धनराशिकी जो अभिलाषा की जाती है, वह भी अज्ञान ही है। जिसने अनन्त ब्रह्माण्डरूपी पके हुए फलोको ग्रास बना लिया है और जो सदा खानेकी चेष्टा करनेवाली जठराग्निसे युक्त है, वह काल कल्पोंतक जो तृप्त नहीं होता, उसमें भी अज्ञानकी ही महिमा है। जीवोंकी जो यौवन-रात्रि चिन्तारूपी पिशाचोंसे उपहत तथा विवेकरूपी चन्द्रमाके उदयसे शून्य, अतएव अन्धकारकी तरह प्रकाशरहित बीत जाती है, वह अज्ञानका ही विलास है। आरम्भकालमें कानोके संनिहित कपोल-प्रदेशको आक्रान्त कर चारो ओरसे निश्चयपूर्वक स्फुरणशील जरारूपी बूढ़ी बिल्ली, जो यौवनरूपी चूहोंका भक्षण करती रहती है, वह भी अज्ञानकी ही महिमा है। प्रतीतिरूपी पुष्पोसे उज्ज्वल व्यावहारिक सत्तारूपी लता, जिसमें जगत्‌रूपी पल्लव हैं और जो धर्म-अर्थरूपी फल धारण करती है एवं विकसित होती है, इसका कारण भी माया ही है। जिसमें बडे-बडे पर्वत ही खंभे है, सूर्य-चन्द्र ही खिड़कियाँ हैं, आकाश ही आच्छादन (छत) है, ऐसा जगत्‌-त्रयरूपी महल जो खड़ा हो जाता है, वह भी मायाकी ही महिमा है। अपनी वासनारूपिणी शलाकाओंसे निर्मित शरीरके भीतर स्थित इन्द्रिय-समूहरूप पिंजरेमें जो जगत्‌के अन्तर्गत जीवरूपी पक्षी आशारूपी सूतसे बँधा हुआ है, उसमें भी उसका अज्ञान ही कारण है।

संसाररूपी स्वल्प जलाशयमें स्फुरित होनेवाली सृष्टि-रूपी क्षुद्र मछलीको शठ कृतान्तरूपी वृद्ध गीध जो पकड़ लेता है, उसमें भी मायाकी ही महिमा है। परमपदरूप अचल ब्रह्ममें संकल्पसे उत्पन्न असंख्य जगत्‌रूप जंगलोंके जाल युगान्तरूपी अग्निसे जो दग्ध हो जाते हैं, उसमें भी अविद्या ही कारण है। निरन्तर उत्पत्ति और विनाशसे तथा दुःख और सुखकी सैकड़ों दशाओंसे, इस प्रकार जगत्स्थिति जो पुनः-पुनः बदलती रहती है, उसमें भी अविद्या ही कारण है। वासनारूपी जंजीरोंसे बँधी हुई अज्ञानियोंकी दृढ़ धारणा क्षुभित युगोंके आवागमन तथा कठोर वज्रोके आघातोंसे भी जो विदीर्ण नहीं होती, इसमें उनकी अविद्या ही कारण है। राग-द्वेषसे होनेवाले उत्पत्ति-विनाशसे तथा जरा-मरणरूपी रोगसे समस्त जंगम जाति जीर्ण-शीर्ण हो गयी है, इसमें उनका अज्ञान ही कारण है। कभी लक्ष्यमें न आनेवाले बिलमें रहनेके कारण अदृश्य और अपरिमिति भोजन करनेवाला कालरूपी सर्प निर्भय होकर इस समस्त जगत्‌को जो क्षणभरमें ही निगल जाता है, यह सब मायाकी ही महिमा है। प्रत्येक कल्परूप क्षणमें क्षीण हो जाने-वाले ब्रह्माण्डरूप प्रस्फुट बुद्‌बुद, जो भयंकर कालरूपी महासमुद्रमें उत्पन्न और विनष्ट हो जाते है, यह भी मायाकी महिमा है। उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जानेवाली प्रतप्त सृष्टिरूपी ये बिजलियाँ, जिन्हें चिन्मय परमात्माके सकाशसे प्रकाश-शक्ति प्राप्त हुई है, जो प्रकट होती हैं, वह भी मायाकी महिमा है। अनन्त संकल्पोंवाली समस्त विकल्पोंसे शून्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मरूप पदमें

आश्चर्योंकी पूर्ति करनेवाली ऐसी कौन-सी शक्तियाँ नहीं हैं ? अर्थात् सभी शक्तियाँ उसमें विद्यमान हैं। उस प्रकार सुदृढ़ संकल्पोंसे प्राप्त अर्थसमूहसे देदीप्यमान जगत्की ब्रह्ममें जो यह कल्पना है, उसमें भी अज्ञान ही हेतु है। इसलिये श्रीराम ! जो कुछ बारंबार प्राप्त होनेवाली सम्पत्तियाँ या आपत्तियाँ हैं, जो बाल्य-यौवन-जरा-मरणरूपी महान् संताप हैं, जो सुख-दु:खकी परम्परारूप संसार-सागरमें गोता लगाना है, वह सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारकी विभूतियाँ हैं।

(सर्ग ७)

अविद्याके कार्य संसाररूप विष-लता, विद्या एवं अविद्याके स्वरूप तथा उन दोनोंसे रहित परमार्थ-वस्तुका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! यह अविद्याका कार्य संसार-लता कब और किस प्रकार विकसित हुई, इसका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ! यह अविद्याका कार्य संसार-लता बड़े-बड़े मेरु आदि पर्वतरूप पर्वोंसे युक्त, ब्रह्माण्ड-रूपी त्वचासे आवृत और जनरूपी पत्र, अङ्कुर आदि विकासोंसे युक्त है। ये तीनों लोक इसकी देह हैं। इस अविद्यारूपी लतामें प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करनेवाले सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु और ज्ञान तो फल हैं और अज्ञान इसका मूल है। जन्मसे ही अविद्या उत्पन्न होती है और वह बादमें जन्मान्तररूप फल प्रदान करती है। जन्मसे ही वह संसारके रूपमें अपना अस्तित्व प्राप्त करती है और बादमें स्थितिरूप फल प्रदान करती है। वह अविद्या अज्ञानसे वृद्धि प्राप्त करती है और बादमें अज्ञान-रूप फल देती है। ज्ञानसे आत्माका अनुभव प्राप्त करती और अन्तमें आत्माका अनुभवरूप फल देती है। प्रतिदिन आकाशमें चारों ओरसे विकसित होनेवाली चन्द्र, सूर्य आदिके सहित ग्रहरूप ज्योतियोंकी जो पङ्क्तियाँ हैं, वे ही इस सृष्टिरूपा लताके पुष्प हैं। रघुनन्दन ! आकाश-मण्डलको व्याप्तकर स्थित इस लताके ऊपर प्रस्फुरित नक्षत्र और तारे ही पुष्पोंकी कलियाँ हैं। चन्द्र, सूर्य तथा अग्निके प्रकाश इस लताके पराग हैं। इसी परागसे यह शुभाङ्गी स्त्रीके समान लोगोंके मनका आकर्षण करती है। यह लता चित्तरूप हाथीद्वारा प्रकम्पित, संकल्परूप मधुर कलनाद करनेवाली कोकिलसे युक्त, इन्द्रियरूपी साँपोंसे वेष्टित और तृष्णारूपी त्वचासे आच्छादित, चतुर्दश भुवनरूपी वनोंसे शोभित, सात समुद्ररूपी सुन्दर खाइयोंसे आवृत एवं स्त्रीरूप पुष्पसमूहोंसे शोभित, मनके स्पन्दरूप वायुसे कम्पित, शास्त्रनिषिद्ध कर्मरूपी अजगरसे व्याप्त, स्वर्गकी शोभारूपी पुष्पमण्डलसे शोभित तथा जीवोंकी जीविकासे पूर्ण एवं अनेक प्रकारके विषयभोगोंकी वासनारूप गन्धोंसे अज्ञोंको उन्मत्त करने-वाली है। वह अविद्यारूपा लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न हो रही है, अनेक बार मर चुकी है और मर भी रही है। वह अतीत कालमें थी और वर्तमान कालमें भी है। वह सर्वदा असत्पदार्थके सदृश होती हुई भी सत्य पदार्थके सदृश बार-बार प्रतीत होती है तथा नित्य विनष्ट भी होती है। यह अविद्याका कार्य संसार निश्चय ही महती विषमयी लता है; क्योंकि अविचारसे इसका सम्बन्ध होनेपर यह तत्क्षण संसाररूपी विषसे उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छा लाती है और विवेकपूर्वक सत्-असत्के विचारसे तत्क्षण नष्ट हो जाती है। इसलिये यह विवेकीके लिये तो नष्ट हो जाती है और अविवेकीके लिये स्थित रहती है। यह सृष्टिरूपा लता जलके रूपमें, पर्वतोंके रूपमें, नागोंके रूपमें, देवताओंके रूपमें, पृथिवीके रूपमें, द्युलोकके रूपमें, चन्द्र, सूर्य और तारोंके रूपमें विस्तृत हो रही है। श्रीराम ! इन समस्त भुवनोंमें उत्कृष्ट प्रभाव-से चारों ओर व्याप्त अथवा जीर्णताको प्राप्त हुए क्षुद्र तिनकेके रूपमें जो कुछ यह दृश्य प्रतीत हो रहा है उस सबको

अविद्याका कार्य होनेसे विनाशशील अविद्या ही समझना चाहिये। उसका विवेक-वैराग्यपूर्वक यथार्थ ज्ञानद्वारा विनाश हो जानेपर सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

श्रीराम! यहाँ दृश्यरूप जगत्‌के सम्बन्धसे और कल्पनाओंसे रहित, परम शान्त, सबका आत्मस्वरूप केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है। जिस प्रकार जलसे तरङ्गें प्रकट होती हैं, वैसे ही उस परमात्माके संकल्पसे कलारूप प्रकृति प्रकट होती है। यह प्रकृति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुणमयी है। सत्त्व आदि तीन गुणस्वरूप धर्मोंसे युक्त प्रकृति ही अविद्या (माया) है। यही प्राणियोंका संसार है। इस प्रकृतिसे पार हो जाना ही परमपदकी प्राप्ति है। जो कुछ भी यह दृश्य-प्रपञ्च दिखायी पड़ता है, वह सब इसी अविद्याका कार्य होनेसे उसीके आश्रित है। श्रीराम! ऋषि, मुनि, सिद्ध, दिव्य नाग, विद्याधर, देवता—इनको प्रकृतिके सात्त्विक, अंशस्वरूप जानो। प्रकृतिका जो शुद्ध सत्त्व-अंश है, वह विद्या है; उस विद्यासे अविद्या उसी प्रकार उत्पन्न होती है, जिस प्रकार जलसे बुद्‌बुद उत्पन्न होते हैं। और जिस प्रकार बुद्‌बुद जलमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्यामें ही यह अविद्या विलीन भी हो जाती है। जैसे जल और तरङ्गकी द्वित्वभावनासे ही भिन्नता है, वैसे ही विद्या और अविद्या-दृष्टियोंकी भेदभावनासे ही भिन्नता है, वस्तुतः नहीं। जिस प्रकार परमार्थतः जल और तरङ्गकी एकरूपता ही है उसी प्रकार विद्या और अविद्या भी एकरूप ही हैं, पृथक् नहीं। वास्तवमें एक परमात्मासे भिन्न विद्या और अविद्या नामकी कोई वस्तु ही नहीं है; अतः विद्या और अविद्या-दृष्टिका परित्याग करनेपर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही वास्तवमें विद्यमान है, दूसरा नहीं; क्योंकि न अविद्या नामका पदार्थ है और न विद्या नामका ही पदार्थ है, इसलिये यह कल्पना व्यर्थ है। वास्तवमें परमात्माको छोड़कर बच रहनेवाला कुछ भी नहीं है; यदि कुछ है तो वह एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही है। जब परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं रहता, तब वह अज्ञान ही अविद्या कहलाता है और जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ज्ञान ही अविद्याक्षय—इस नामसे कहा जाता है। आतप और छायाकी तरह परस्पर-विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनोंमेंसे विद्याका अभाव होनेपर अविद्या नामक मिथ्या कल्पना प्रकट होती है, जैसे सूर्यके अस्त हो जानेपर छाया-ही-छाया रह जाती है। श्रीराम! अविद्याका विनाश हो जानेपर विद्या और अविद्या दोनों ही कल्पनाओंका विनाश हो जाता है। इन दोनोंका अभाव हो जानेपर एक प्राप्तव्य सच्चिदानन्द परब्रह्म ही बच रहता है। जैसे समुद्र तरङ्गोंका और निर्मल मणि रश्मियोंका खजाना है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही अनन्त चराचर प्राणियोंका खजाना है। जैसे अनन्त घड़ोंमें एक ही आकाश बाहर-भीतर परिपूर्ण है, उसी प्रकार समस्त जड-चेतन वस्तुओंमें बाहर और भीतर भी एक अविनाशी सत् वस्तुरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सकाशमात्रसे जड लोह क्रियाशील हो जाता है, वैसे ही एकमात्र चिन्मय परमात्माके सकाशसे जड देहादि पदार्थ क्रियाशील होते हैं। जगत्‌के एकमात्र कारण उस चिन्मय परमात्मामें उसकी कल्पनासे ही यह कल्पित दृश्य जगत् स्थित है—ठीक उसी प्रकार, जैसे चित्र-विचित्र चञ्चल तरङ्ग-समूह जलमें स्थित है। वास्तवमें अनन्त आकाशकी तरह निराकार चिन्मय परमात्मामें यह कुछ भी नहीं है। (सर्ग ८-९)

अविद्यामूलक स्थावरयोनिके जीवोंके स्वरूपका तथा विवेकपूर्वक विचारसे अविद्याके नाशका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! परमात्माके सिवा जो यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् प्रतीत होता है, यथार्थमें वह कुछ भी नहीं है; क्योंकि विवेकपूर्वक विचार करनेपर जैसे रज्जुमें होनेवाले सर्पभ्रमसे किसी भी सर्पकी उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार हृदयके भीतर जो यह देहमें अहंता और बाह्य विषयोंमें ममतारूपी सम्बन्ध भी होता है, विवेकपूर्वक विचार करनेपर उसकी किसी तरह भी उपलब्धि नहीं होती। जाने बिना ही भ्रमसे ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें प्रतीत होता है, ब्रह्मका अच्छी प्रकार ज्ञान हो जानेपर सम्पूर्ण जड-चेतनकी अन्तिम सीमारूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। अज्ञानी बालककी तरह यह जीवात्मा अज्ञानके कारण चित्तस्वरूपको प्राप्त हुआ है, इसलिये चित्तके चलनेपर अपने आपको चलता हुआ देखता है, चित्तके स्थिर होनेपर अपनेको भी स्थिर देखता है। यह आत्मा इस तरह अज्ञानसे इस उपद्रवयुक्त चित्तको ही अपना स्वरूप समझता है। यह चित्त बालक यानी विवेकशून्य है, इसलिये वह चित्तप्राय मनुष्य रेशमके कीड़ेकी तरह अपनेको चित्तगत वासनारूप दीर्घतन्तुओंसे भीतर बाँधता हुआ भी नहीं जानता।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रभो ! अत्यन्त घनीभावको प्राप्त हुआ अविवेक (अज्ञान) वृक्ष-पहाड़ आदि स्थावर योनियोंको प्राप्त होता हुआ किस प्रकार स्थित रहता है ? यह कृपा करके कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अमनस्त्व अर्थात् सुषुप्तिकी भाँति मनके लयको प्राप्त न हुआ और मनस्त्व अर्थात् मननशीलतासे च्युत हुआ जीवात्मा स्थावर योनिमें साक्षी (उदासीन)-की भाँति स्थित रहता है। तात्पर्य यह कि स्थावर योनियोंमें जीवात्माका चित्त न तो सुषुप्तिकी तरह विलीन ही होता है और न जंगम प्राणियोंकी तरह चञ्चल ही रहता है; बल्कि मूढ़ मनुष्यकी तरह वह बीचकी-सी स्थितिमें रहता है। ज्ञानरूप ब्रह्मको जाननेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! उन स्थावर योनियोंमें जीवात्मा विवेकशून्य और दुःखका प्रतीकार करनेमें असमर्थ रहता है; अतः उन स्थावर शरीरोंमें मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वहाँ जीवात्मा कर्मेन्द्रियोंसे, ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारोंसे तथा मानस व्यापारोंसे शून्य हुआ केवल सत्तामात्रसे स्थित रहता है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! जिन स्थावर शरीरोंमें जीवात्मा एकमात्र सत्तारूपसे ही स्थित रहता है, वहाँ मुक्ति दुर्लभ है—ऐसा ही मैं भी मानता हूँ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! बुद्धिपूर्वक विचारनेपर यथार्थ वस्तुरूप परमात्माके साक्षात्कारसे चिन्मय सत्ताका जो सबमें समान भावसे अनुभव होता है, वही अविनाशी मोक्षपद है। परमात्मतत्त्वको यथार्थतः जान लेनेपर वासनाओंका जो उत्तम यानी अशेषरूपसे अभाव है, उसे ही सबमें समभावसे सत्तारूप मोक्षपद कहा गया है। ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके साथ विचार करके और अध्यात्मभावनासे शास्त्रोंको समझकर सत्ता-सामान्यमें जो निष्ठा होती है, उसी निष्ठाको मुनिलोग परब्रह्म कहते हैं। यही परब्रह्मकी प्राप्ति है। जिसके भीतर मानस व्यापाररूप मनन भलीभाँति लीन हो गया है। तथा चारों ओरसे जिसमें वासनाएँ तिरोहित हो गयी हैं, वह जड धर्मवाली स्थावर जीवोंकी सुषुप्ति सैकड़ों जन्मरूपी दुःखोंको देती है। जड स्वभाववाले ये सभी वृक्ष-पहाड़ आदि स्थावर योनिके जीव सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुए-से पुनः-पुनः जन्मके भागी होते हैं। श्रेष्ठ श्रीराम ! जिस तरह बीजोंमें अङ्कुरसे लेकर पुष्पनक पदार्थ स्थित हैं एवं जिस तरह मिट्टीमें घट स्थित है, उसी तरह स्थावरोंके भीतर भी अपनी वासना स्थित है। वासना,

अग्नि, ऋण, व्याधि, शत्रु, स्नेह, विरोध एवं विष—ये थोड़े-से भी शेष रहनेपर हानि पहुँचाते हैं। जिसका वासना-बीज ज्ञानाग्निसे दग्ध हो गया है और जिसने सबमें समान सत्तारूप परमात्माको प्राप्त कर लिया है, वह महात्मा पुरुष, चाहे सदेह हो या देहसे रहित पुनः कभी दुःखका भागी नहीं होता।

श्रीराम! आत्मदर्शनके विरोधी अज्ञानसे आवृत हुई यह चेतनशक्ति संसाररूप भ्रमको जन्म देती है और अज्ञानसे मुक्त होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश कर देती है। इस आत्मदृष्टिका जो अभाव है, उसीको विद्वान्‌लोग अविद्या कहते हैं। अविद्या जगत्‌की कारणभूत है, अतः उसीसे सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। रूपरहित इस अविद्याका जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब तुरंत यह उसी प्रकार विनष्ट हो जाती है, जैसे घाममें तुषारके परमाणु गल जाते हैं। दीपकको प्रज्वलित करनेपर जिस प्रकार अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह अच्छी प्रकार विचार करनेपर यह अविद्या नष्ट हो जाती है। वास्तवमें यह अविद्या कोई वस्तु न होनेसे असत् है और विचार न करनेसे ही दीख पड़ती है। रक्त, मांस तथा अस्थिमय इस देह-यन्त्रमें 'मैं स्वयं कौन हूँ?' इस प्रकार जब विवेकपूर्वक विचार किया जाता है, तब देहके किसी भी पदार्थमें मैं-पन सिद्ध नहीं होता, वरं शरीरका अभाव हो जाता है। अपने अन्तःकरणके विवेक-विचारसे आदि-अन्तमें असद्रूप इस शरीर और संसारका परिहार कर देनेपर अविद्याका क्षय हो जाता है; फिर शेषमें एक परमात्मा ही रह जाता है। वही वास्तवमें शाश्वत ब्रह्म है। वही वास्तविक पदार्थ और उपादेय है; क्योंकि उसीसे अविद्या निवृत्त हो जाती है। 'अविद्या' इस अपने नामसे ही इसके अभावस्वरूपका ज्ञान हो जाता है। वास्तवमें अविद्या नामकी कोई वस्तु कहीं भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् अखण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है, जिस ब्रह्मने कार्य-कारणरूप इस सम्पूर्ण जगत्‌का निर्माण किया है। 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप नहीं है' इस प्रकारका निश्चय ही अविद्याका स्वरूप है और 'यह जगत् ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है। (सर्ग १०)

परमात्मा सर्वात्मक और सर्वातीत है—इसका प्रतिपादन एवं महात्मा पुरुषोंके लक्षण तथा आत्मकल्याणके लिये परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान और प्राण-निरोधरूप योगका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! यह अज्ञान अत्यन्त बलवान् है। इसीका दूसरा नाम 'अविद्या' है। वह अन्य असंख्य जन्मोंसे चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ हो गया है। देहकी उत्पत्ति और विनाशमें, बाहर-भीतर—सर्वत्र समस्त इन्द्रियाँ उस अविद्याका ही निरन्तर अनुभव करती हैं, इसलिये वह अविद्या दृढ हो गयी है; क्योंकि परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है। मनसहित छहों इन्द्रियोंका विनाश हो जानेपर वह सत्स्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही कायम रहता है। इन्द्रिय-वृत्तियोंसे अतीत होनेके कारण वह परमात्माका स्वरूप प्राणियोंको प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है; क्योंकि प्राणी तो पदार्थोंका अनुभव मन-इन्द्रियोंके द्वारा ही करते हैं। रघुनन्दन! जिस प्रकार परमात्मज्ञानके अभ्यासमें निरत राजा जनक परमात्मतत्त्वको यथार्थरूपमें जानकर भूमण्डलमें विचरण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी विचरण करो। भगवान् नारायण जीवोंके कल्याणके लिये विभिन्न लीलाएँ करनेके जिस निश्चयसे पृथ्वी-पर नाना योनियोंमें अवतार लेते हैं, वही निश्चय वास्तविक यथार्थज्ञान है। रघुनन्दन! जगदम्बा पार्वतीके साथ रहनेवाले त्रिनेत्र महादेवजीका या रागरहित ब्रह्माका जो

श्चय है, वही निश्चय वास्तविक है। तुम्हारा भी वही श्चय होना चाहिये। देवगुरु बृहस्पति, शुक्राचार्य, र्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, महामुनि नारद, महर्षि लस्त्य, अङ्गिरा, प्रचेता, भृगु, क्रतु, अत्रि, शुकदेव था अन्यान्य जीवन्मुक्त ब्रह्मर्षि और राजर्षि महात्माओंका था मेरा भी परमात्माके स्वरूपके विषयमें जो निश्चय है, ही निश्चय तुम्हारा होना चाहिये।

श्रीरामजी बोले—भगवन्! ब्रह्मन्! जिस निश्चयके ारण ये पूर्वोक्त महाबुद्धिमान् एवं धीर बृहस्पति आदि ोकरहित हुए स्थित हैं, उसका मुझसे तात्त्विक रूपसे र्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—समस्त जाननेयोग्य पदार्थोंको थार्थतः जाननेवाले महाबाहु श्रीराम! जो तुमने पूछा है, सका उत्तर स्पष्टरूपसे सुनो। उनका यही निश्चय है, ो मैं बतला रहा हूँ। श्रीराम! जो कुछ भी यह भोगरूप सार-जाल स्थित दिखायी पड़ता है, वह सब निर्मल ब्रह्म ी है। ब्रह्म ही जीवात्मा है, चौदह भुवन ब्रह्म ही हैं, ाकाशादि भूत भी ब्रह्म ही हैं, मैं भी ब्रह्मस्वरूप हूँ, मेरा त्रु भी ब्रह्मस्वरूप है; सन्मित्र, बन्धु-बान्धव आदि भी ब्रह्म-वरूप हैं। तीनों काल भी ब्रह्मस्वरूप हैं, क्योंकि वे ब्रह्ममें ी अवस्थित हैं। जैसे समुद्र अपने आपमें तरङ्गोंके रूपमें कट होता है, वैसे ही यह सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आपमें ांसारिक पदार्थ-सम्पत्तिके रूपमें प्रकट होता है। नेत्र-ोषके कारण आकाशमें बिना हुए ही भ्रान्तिसे वृक्षकी तीति होती है, किंतु वास्तवमें वृक्ष नहीं है; इसी तरह ह्ममें जो राग-द्वेष आदि दोष भ्रमसे प्रतीत होते हैं, वे ास्तवमें हैं ही नहीं; क्योंकि ये सब कल्पनामात्र हैं, इसलिये संकल्पके अभावसे इनका अत्यन्त अभाव हो जाता है। गमना गमन आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ भी ब्रह्ममें ही होती हैं; क्योंकि ब्रह्म ही अपने संकल्पसे अद्वितीय सुखरूपमें स्फुरित होता है, तब उसमें दुःख और सुख कैसे? ब्रह्म ही स्वयं ब्रह्ममें तृप्त है, ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्थित है, ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्फुरित होता है; अतः मैं भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ। क्योंकि घट भी ब्रह्म है, पट भी ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ, यह विस्तृत जगत् भी ब्रह्मस्वरूप ही है, इसलिये यहाँ ब्रह्मके अतिरिक्त मिथ्या राग-वैराग्य आदिकी कल्पना ही नहीं हो सकती।

जिस प्रकार सुवर्णसे आभूषण और जलसे तरङ्ग भिन्न नहीं है, वैसे ही प्रकृति ब्रह्ममें बिना हुए ही प्रतीत होती है, किंतु ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। यह जीवात्मा चेतन है और यह पदार्थ जड है—इस प्रकारका मोह अज्ञानीको ही होता है, ज्ञानीको कभी नहीं होता। जिस प्रकार अंधे मनुष्यको जगत् अन्धकाररूप और सुदृष्टिवालेको प्रकाशरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अज्ञानीको यह जगत् दुःखमय और ज्ञानीको सच्चिदानन्दमय प्रतीत होता है। सदा-सर्वदा सब ओर एकरस स्थित विज्ञानानन्दघन ब्रह्ममें न कोई मरता है और न कोई जीता है। जिस प्रकार महान् सागरके उल्लसित होनेपर भी उसमें तरङ्ग आदि न जन्मते हैं और न मरते हैं, उसी प्रकार वस्तुतः ब्रह्ममें प्राणी न जन्मते हैं और न मरते हैं। जैसे जलमें तरङ्गोंके रूपमें प्रचुर जल ही स्थित है, वैसे ही अपने आपमें जगत्की शक्तिके रूपमें ब्रह्म ही स्थित है। जैसे जलमें जो कण, कणिका, वीचि, तरङ्ग, फेन और लहरी हैं, वे सब जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्ममें जो देह, मनका व्यापार, दृश्य, क्षय, क्षयका अभाव, भाव-रचना और अर्थ हैं, वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जिस प्रकार सुवर्णसे बनी आभूषणकी विभिन्न आकृति-रचनाएँ सुवर्णसे पृथक् नहीं होतीं, उसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न हुई चित्र-विचित्र देहादिकी आकृति-रचनाएँ भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं हो सकतीं। अज्ञानियोंको वृथा ही उसमें द्वित्वभावना होती है। मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ आदि सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं; अतः ब्रह्मसे भिन्न सुख और दुःखकी भी सत्ता नहीं है। ब्रह्मको ब्रह्म न जाननेसे अज्ञानीके लिये वह प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त है, जिस तरह, सुवर्णका ज्ञान हुए बिना सुवर्ण प्राप्त हुआ

भी अप्राप्त ही है। ब्रह्मको ब्रह्म जान लेनेपर तत्क्षण ही ब्रह्म प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णको सुवर्ण जान लेनेपर तत्क्षण ही सुवर्ण प्राप्त हो जाता है। कर्म, कर्ता, करण, कारण और विकारोंसे रहित स्वयं समर्थ महान् आत्मा ही ब्रह्म है, यों ब्रह्मज्ञानीलोग कहते हैं।

'यह देह मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जब ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है। इसीसे देहमें अहं-भाव मिथ्या सिद्ध हो जाता है। उस समय पुरुष देहसे विरक्त हो जाता है। 'मैं एकमात्र ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होनेपर ब्रह्मभावना प्रकट होती है। उस अपने वास्तविक रूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर अज्ञान विलीन हो जाता है। मुझे न दुःख है न कर्म हैं, न मोह है न कुछ अभिलषित है। मैं एकरूप, अपने स्वरूपमें स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ—यह ध्रुव सत्य है। मैं कल्पनाओंसे शून्य हूँ, मैं सर्वविध विकारोंसे रहित और सर्वात्मक हूँ; मैं न त्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ; मैं परब्रह्मस्वरूप परमात्मा हूँ, यह ध्रुव सत्य है। जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो यह सब है, जो सब ओर विद्यमान है एवं जो सबका अद्वितीय आत्मा है, वही परब्रह्म परमात्मा है। यह निश्चय है, वही चेतन आत्मा—वह व्यापक, दृश्यरहित सच्चिदानन्दघन ब्रह्मतत्त्व ही ब्रह्म, सत्, सत्य, ऋत, ज्ञ इत्यादि नामोंसे सर्वत्र कहा जाता है। विषय-संसर्गरहित, चेतनमात्रस्वरूप, विशुद्ध, समस्त भूत-प्राणियोंको जाननेवाला, सर्वव्यापक, परम शान्त, सच्चिदानन्द ब्रह्मका ब्रह्मज्ञानी अनुभव करते हैं। सुषुप्तिके सदृश समस्त विकल्पोंसे रहित, परम शान्तरूप, विशुद्ध प्रकाशस्वरूप, सांसारिक विषय-सुखोंसे अत्युत्तम तथा वासनाओंसे रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मैं हूँ। सुख-दुःख आदि कल्पनाओंसे रहित, निर्मल, सत्य अनुभवरूप जो शाश्वत सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप है, वही मैं हूँ। पर्वत आदि पदार्थ-समुदायके बाहर एवं भीतर सर्वदा समान सत्तारूपसे व्यापक निर्लेप विज्ञानानन्दघन जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो सम्पूर्ण संकल्पोंका फल देनेवाला, अग्नि-सूर्य-चन्द्र आदि सम्पूर्ण तेजोंका प्रकाशक और प्राप्त करनेयोग्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी अन्तिम सीमा है, उस सच्चिदानन्दघन परमात्माकी हम उपासना करते हैं। वह चिन्मय परमात्मा बाहर-भीतर—सर्वत्र प्रकाशस्वरूपसे विद्यमान और अपने आपमें स्थित है; सबके हृदयमें स्थित होते हुए भी उसका अज्ञानके कारण अनुभव नहीं होता; अतः वह दूर न होते हुए भी दूर कहा गया है। उस परमात्माकी हम उपासना करते हैं। जो समस्त संकल्पों, कामनाओं तथा रोष आदिसे रहित है, उस चिन्मय परमात्माकी हम उपासना करते हैं। उस परमात्मामें यह सारा जगत् प्रतीत होता है, किंतु वास्तवमें इस जगत्का उसमें अत्यन्ताभाव है तथा वास्तवमें वह है, इसीलिये वह सद्रूप है; किंतु वह मन-इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिये असद्रूप है। ऐसे उस एक अद्वितीय निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परमात्माको मैं प्राप्त हूँ। जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि सारे विषय-पदार्थोंका प्रकाशक है और वास्तवमें जो उन सब विषय-पदार्थोंसे रहित है, उस परम शान्त चिन्मय परमात्माको मैं प्राप्त हूँ। जो समस्त विभूतियों और महिमाओंसे युक्त प्रतीत होता है, किंतु जो वास्तवमें समस्त विभूतियों एवं महिमाओंसे रहित है तथा जो मायाके सम्बन्धसे जगत्का कर्ता-सा प्रतीत होते हुए भी वास्तवमें अकर्ता है, उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको मैं प्राप्त हूँ।

रघुनन्दन! पूर्वोक्त निश्चयवाले वे सत्पुरुष जीवन्मुक्त महात्मा सत्यस्वरूप परम शान्त परमपदमें स्थित हो गये थे। वे फूलोंसे पूर्ण, झूलेके-से आन्दोलनोंसे चञ्चल चित्र-विचित्र वनोंकी पंक्तियोंमें एवं मेरु पर्वतकी चोटियों-के ऊपर विचरण करते थे। वे अनेक प्रकारके सदाचारोंके रूपमें इन सभी धर्मोंका स्वयं अनुष्ठान

करते थे। इसी प्रकार श्रुति-स्मृतिविहित कर्मोंका भी वे कर्तव्य-बुद्धिसे आचरण करते थे। उन तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका मन अत्यन्त कमनीय कञ्चन और कामिनीके प्राप्त होनेपर हर्ष और चञ्चलता आदि विकारोंको नहीं प्राप्त होता था। वे सुखकी प्राप्ति होनेपर हर्षित और दुःखकी प्राप्ति होनेपर खिन्न नहीं होते थे।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि प्राणवायुकी गतिके अवरोधसे वासनाका विनाश हो जानेपर जीवन्मुक्त-पदमें परम शान्ति कैसे मिलती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! संसार-सागरसे पार उतरनेके साधनका नाम ही 'योग' है। उस चित्तको शान्त करनेवाले साधनको तुम दो प्रकारका समझो। इसका प्रथम प्रकार परमात्माका यथार्थ ज्ञान है, जो संसारमें प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार प्राण-निरोध है, जिसे मैं आगे बता रहा हूँ; सुनो।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—गुरुवर! योगके इन दोनों प्रकारके साधनोंमें कौन-सा सरल और कष्टरहित उत्तम साधन है, जिसके जाननेसे विक्षेप फिर बाधा नहीं पहुँचाता?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! यद्यपि शास्त्रोंमें 'योग' शब्दसे उपर्युक्त दोनों ही प्रकार (परमात्म-विषयक ज्ञान और प्राणनिरोध) कहे गये हैं, तथापि इस 'योग' शब्दकी प्राणनिरोधके अर्थमें ही अधिक प्रसिद्धि है। संसार-सागरसे पार उतरनेकी पद्धतिमें एक योग (प्राण-निरोध) और दूसरा ज्ञान—ये दोनों एक फल देनेवाले समान उपाय शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। किसीके लिये योगका साधन असाध्य-सा है और किसीके लिये परमात्मविषयक ज्ञानका साधन असाध्य-सा है; परंतु मैं तो परमात्मविषयक ज्ञानके साधनको ही सुसाध्य मानता हूँ। यह प्राणनिरोधरूप योग देश, काल, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि उपायोंसे सिद्ध होता है; अतः वह सुसाध्य नहीं है। किंतु साधकको सुसाध्यता और दुःसाध्यताका विचार नहीं करना चाहिये। रघुकुलतिलक! ज्ञान और योग—ये दोनों ही उपाय शास्त्रोक्त हैं। इन दोनोंमेंसे सब ज्ञानोंसे परे जाननेयोग्य विशुद्ध ज्ञान तुम्हें पहले बतलाया जा चुका है। अब तुम यह योग सुनो, जो प्राण और अपानके निरोधके नामसे प्रसिद्ध है, तथा देहरूपी गुहाका दृढ़ आश्रय करनेवाला, अणिमादि अनन्त सिद्धियोंको देनेवाला और परमार्थ-ज्ञान प्रदान करनेवाला है।

(सर्ग ११—१३)

देवसभामें वायसराज भुशुण्डका वृत्तान्त सुनकर महर्षि वसिष्ठका उसे देखनेके लिये मेरुगिरिपर जाना, मेरु-शिखर तथा 'चूत' नामक कल्पतरुका वर्णन, वसिष्ठजीका भुशुण्डसे मिलना, भुशुण्डद्वारा उनका आतिथ्य-सत्कार, वसिष्ठजीका भुशुण्डसे उनका वृत्तान्त पूछना और उनके गुणोंका वर्णन करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वत्स राम! पूर्ववर्णित उस अनन्त परमात्माके किसी एक अंशमें मरुस्थलमें प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णाकी भाँति यह ब्रह्माण्ड वर्तमान है। उस ब्रह्माण्डमें सृष्टिकी उत्पत्तिके कारण तथा पूर्वकृत कर्मानुसार प्राणिसमूहकी रचनामें संलग्न कमलयोनि ब्रह्मा पितामहरूपसे स्थित हैं उन्हीं ब्रह्मदेवका मैं एक सदाचारसम्पन्न मानसपुत्र हूँ। मेरा नाम वसिष्ठ है। मैं ध्रुवद्वारा धारण किये गये सप्तर्षिमण्डलमें वैवस्वत मन्वन्तर-पर्यन्त निवास करता हूँ। एक समयकी बात है, मैं स्वर्गलोकमें देवराज इन्द्रकी सभामें बैठा हुआ था। वहाँ देवर्षि नारद आदि भी विराजमान थे। वे चिरजीवियोंकी कथा सुना रहे थे। मैंने भी वह कथा

सुनी थी । उस समय किसी कथा-प्रसङ्गके अवसरपर मुनिवर शातातप, जो मितभाषी, मानी और अगाध बुद्धिसम्पन्न थे, कहने लगे—"मेरुगिरिके ईशानकोणमें



पद्मरागमणिसे युक्त एक बहुत ऊँचा शिखर है । उसकी चोटीपर एक अत्यन्त शोभाशाली कल्पतरु है, जो 'चूत' नामसे विख्यात है । उस कल्पतरुके ऊपरी भागकी दाहिनी शाखामें एक कोटर है, जो चाँदीके समान श्वेतवर्णकी लताओंसे आच्छादित है। उस कोटरमें एक घोंसला विद्यमान है । उस घोंसलेमें एक परम ऐश्वर्यशाली कौआ निवास करता है । उस वीतराग वायसका नाम भुशुण्ड है । देवगण ! वह वायसराज भुशुण्ड इस जगत्में जिस प्रकार चिरकालसे जी रहा है, वैसा चिरजीवी तो स्वर्गलोकमें न कोई हुआ है और न होगा ही । वह दीर्घायु तो है ही, साथ ही रागरहित, ऐश्वर्ययुक्त, शान्त और सुन्दर रूपवाला भी है । उसकी बुद्धि अगाध और स्थिर है । वह कालकी गतिका पूर्ण ज्ञाता है ।"

राघव ! इस प्रकार जब कथाका समय समाप्त हुआ और सभी देवता अपने-अपने वासस्थानको चले गये, तब मैं कुतूहलवश उस भुशुण्ड पक्षीको देखनेके लिये चल पड़ा । फिर तो तुरंत ही मैं मेरुगिरिके उत्तम शिखरपर जा पहुँचा, जहाँ वह भुशुण्ड नामक कौआ रहता था । वह विशाल शिखर पद्मरागमणिसे निर्मित था। वहाँ झरते हुए गङ्गाजीके झरनोंके शब्द गूँज रहे थे। उसके लताकुञ्जोंमें देवता विराजित थे । गन्धर्वोंकी गीत-ध्वनिसे वह अत्यन्त रमणीय लग रहा था और वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी । उसी शिखरपर मैंने 'चूत' नामक कल्पवृक्षको देखा । वह देवता, किंनर, गन्धर्व एवं विद्याधरोंसे युक्त, ब्रह्माण्डकी तरह विस्तृत, असीम तथा दसों दिशाओं और आकाशको व्याप्त किये हुए था । वह सब ओरसे पुष्पों, फलों और कोमल पल्लवोंसे आच्छादित था । उसके पुष्पोंसे सबको आह्लाद प्रदान करनेवाले पराग झड़ रहे थे, जिनसे उसकी अत्यन्त विचित्र शोभा हो रही थी । वहाँ मैंने देखा, अनेक जातिके पक्षी उस वृक्षके तने और शाखाओंकी संधियोंमें, लताओंसे आवृत शाखाग्रभागोंमें, लता-पत्रोंमें, गाँठोंमें और पुष्पोंमें घोंसले बनाकर उनमें छिपे हुए बैठे थे । वहाँ मैंने ॐकार और वेदके मित्रभूत ब्रह्माके वाहन हंसोंके बच्चोंको भी देखा, जिन्हें ब्रह्मविद्याकी विधिवत् शिक्षा प्राप्त हो चुकी थी एवं जो सामवेदका गान करनेवाले थे। तत्पश्चात् मैंने अग्निदेवके वाहन शुकोंको देखा । उनके शरीरका रंग शङ्ख, विद्युत्पुञ्ज और नील मेघके समान था तथा कोई-कोई यज्ञवेदियोंपर बिछाये गये हरित वर्णके कुश-लताओंके दलोंकी भाँति हरे रंगके भी थे । देवगण सदा उनका दर्शन करते थे। वे मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे थे। उनकी बोली स्वाहाकारकी-सी जान पड़ती थी । वहाँ मयूरोंके बच्चे भी थे, जिनकी शिखाएँ अग्नि-शिखा-सी उद्दीप्त थीं, जिनके पर जगज्जननी पार्वती (अपने जूड़ेमें

बाँधनेके लिये) सँभालकर रखती थीं तथा जो स्कन्दद्वारा विस्तारित शिव-सम्बन्धी सम्पूर्ण विज्ञानोंके विशेष जानकार थे।

इस प्रकार ज्यों ही मेरी दृष्टि उस वृक्षकी दाहिनी शाखाके एकान्त कोटरपर पड़ी, त्यों ही मैंने देखा कि वहाँ बहुत-से कौए बैठे हुए हैं और उनके बीचमें ऐश्वर्यशाली एवं अत्यन्त उन्नत शरीरवाला वायसराज भुशुण्ड विराजमान है। उसका मन आत्मज्ञानसे परिपूर्ण है। वह दूसरोंको मान देनेवाला, समदर्शी और सर्वाङ्गसुन्दर है। प्राण-क्रियाके निरोधसे वह सदा अन्तर्मुख वृत्तिवाला और सुखी है तथा चिरजीवी होनेके कारण वह 'चिरजीवी' नामसे विख्यात है। वह भूतकालीन सुर, असुर और महीपालोंके इतिहासका ज्ञाता, प्रसन्न एवं गम्भीर मनसे युक्त, चतुर तथा कोमल एवं मधुर वाणी बोलनेवाला है। वह परमात्माके सूक्ष्मतत्त्वका वक्ता तथा विज्ञाता है। वह ममता और अहंकारसे रहित, बुद्धिमें बृहस्पतिसे भी बढ़कर, प्राणिमात्रका हितैषी, बन्धु



एवं मित्र है। वह एक मनोरम सरोवरकी भाँति सौम्य, प्रसन्न, मधुर, ब्रह्म-रससे युक्त, महान् आनन्दसे सम्पन्न और आन्तरिक अखण्ड शान्ति-समन्वित है। गम्भीरताका परित्याग न करनेके कारण उसके अन्तः-करणकी शोभा प्रकटित हो रही थी।

रघुनन्दन! तदनन्तर मैं उस भुशुण्ड पक्षीके सामने उतर पड़ा, मानो पर्वतपर आकाशसे कोई नक्षत्र आ गिरा हो। मेरा शरीर कान्तिमान् तो था ही, अतः मेरे आनेसे वह सभा कुछ चञ्चल हो उठी। यद्यपि वहाँ मेरे जानेकी कोई सम्भावना नहीं थी, तथापि मुझे देखते ही भुशुण्डने पहचान लिया कि ये तो वसिष्ठजी पधारे हैं। फिर तो वह पर्वतसे उठे हुए छोटे-से मेघ-खण्डके समान अपने पत्र-पुञ्जके आसनसे उठ खड़ा हुआ और मधुर वाणीमें बोला—'मुनिवर! आपका स्वागत है।' तत्पश्चात् उसने आसन, अर्घ्य और पाद्य आदि देकर मेरा सत्कार किया। उस समय उस महान् तेजस्वी भुशुण्डका मन परम प्रसन्न था। उसने सौहार्दवश मधुर वाणीमें मुझसे कहना आरम्भ किया।

भुशुण्ड बोला—मुने! बड़े सौभाग्यकी बात है कि चिरकालके पश्चात् आज आपने हमलोगोंपर महान् अनुग्रह किया है; क्योंकि आपके दर्शनामृतके सिञ्चनसे सिक्त होकर आज हमलोग पुण्यवृक्ष-सरीखे परम पवित्र हो गये। मुनिवर! आप तो माननीयोंके भी मान्य हैं। इस समय जो आपने मुझे दर्शन दिया है, इसमें चिरकालसे सञ्चित मेरी पुण्यराशिकी प्रेरणा ही कारण जान पड़ती है। अच्छा, अब यह बताइये कि कहाँसे आपका शुभागमन हुआ है तथा किसलिये आज आपने यहाँ पधारनेका कष्ट उठाया है। हमलोग सदा आपका आदेशपूर्ण वचन सुननेके लिये लालायित रहते हैं। अतः आप हमें आज्ञा देनेकी कृपा कीजिये। मुनिराज! आपके चरणोंके दर्शनसे ही मुझे सारी बातें ज्ञात हो गयी हैं। आपने अपने शुभागमनके द्वारा

हमलोगोंको संयुक्त कर दिया। (बात यह है कि इन्द्रसभामें चिरजीवियोंके विषयमें चर्चा हो रही थी, उसी प्रसङ्गमें आपको हमारा स्मरण हो आया । इसी कारण आपने अपने चरणोंसे इस स्थानको तथा मुझे भी पवित्र बनाया है । मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार यद्यपि आपके आगमनका प्रयोजन मुझे ज्ञात हो गया है, फिर भी जो मै आपसे पूछ रहा हूँ, इसका कारण यह है कि आपके वचनामृतके रसास्वादकी वाञ्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। श्रीराम ! तीनो कालोंका निर्मल ज्ञान रखनेवाले उस चिरजीवी पक्षी भुशुण्डने जब इस प्रकार पूछा, तब मैंने उसे यों उत्तर दिया।



श्रीवसिष्ठजीने कहा—पक्षियोंके सरदार ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह बिल्कुल सत्य है । आज मैं तुम चिरजीवीको देखनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा अन्तःकरण पूर्णतया शान्त है, तुम सकुशल हो और परमात्मज्ञान-सम्पन्न होनेके कारण इस भीषण जगज्जालमें भी नहीं फँसे हो। परंतु ऐश्वर्यशाली वायसराज ! मेरे मनमें एक संदेह है, उसे तुम अपने यथार्थ वचनोंद्वारा दूर करो। (वह संशय यह है कि) तुम किस कुलमें उत्पन्न हुए हो ? किस प्रकार तुम्हें ज्ञेय-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हुआ ? तुम्हारी आयु कितनी है ? तुम्हें अपना कौन-सा वृत्तान्त अर्थात् किस कल्पका चरित्र याद है ? किस महानुभावने तुम-जैसे दीर्घदर्शीके लिये यह निवासस्थान निश्चित किया है ?

श्रीराम ! वह भुशुण्ड न तो अभीष्ट-लाभसे प्रसन्न ही होता था, न तो उसकी बुद्धि ही क्रूर थी। उसके सभी अङ्ग सुन्दर थे तथा शरीरका वर्ण वर्षाकालीन मेघके सदृश श्याम था। उसके वचन स्नेहपूर्ण और गम्भीर होते थे। वह मुसकुराकर ही बोलता था। तीनों लोकोंकी इयत्ता उसके लिये हस्तामलकवत् थी । वह सम्पूर्ण भोगोंको तृण-सरीखे तुच्छ समझता था। वह परावर ब्रह्मका ज्ञाता था। उसकी बुद्धि पूर्णतया शान्त थी तथा वह शान्त और परमानन्दसे परिपूर्ण था। उसके वाक्य प्रिय और मधुर, अतएव सुनने योग्य तथा वीणाके गानकी भाँति मनोहर थे। उसका शरीर तो ऐसा लगता था मानो सम्पूर्ण भयोंका अपहरण करनेवाले स्वयं ब्रह्मने ही नवीन भुशुण्ड-शरीर धारण किया हो। वह स्वाभाविक प्रसन्नतासे युक्त था तथा प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये उत्सुक होनेके कारण उसके मुखकी अद्भुत शोभा हो रही थी । इस प्रकार उस वायसराज भुशुण्डने शुद्ध, अमृतमय तथा क्रमबद्ध रूपसे निर्मल वाणीद्वारा अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त मुझसे कहना आरम्भ किया।

(सर्ग १४–१७)

भुशुण्डका वसिष्ठजीसे अपने जन्मवृत्तान्तके प्रसङ्गमें महादेवजी तथा मातृकाओंका वर्णन करते हुए अपनी उत्पत्ति, ज्ञान-प्राप्ति और उस घोंसलेमें आनेका वृत्तान्त कहना

भुशुण्ड बोला—मुनिवर वसिष्ठजी ! इस जगत्में देवाधिदेव महादेव समस्त स्वर्गवासी देवताओंमें श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मादि देवता भी उनकी अभिवन्दना करते हैं। उनके शरीरके वामार्धमें सौन्दर्यशालिनी भगवती पार्वती विराजमान रहती हैं। उन महादेवजीके मस्तकपर गङ्गारूपी पुष्पमाला सुशोभित है, जो हिमके हारकी भाँति धवल तथा लहरीरूपी पुष्प-गुच्छोंसे गुँथी हुई है। उस मालाने ही उनके जटा-जूटको आवेष्टित कर रखा है। क्षीरसागरसे जिसकी उत्पत्ति हुई है तथा जिससे अमृतके झरने झरते रहते हैं, वह शोभाशाली चन्द्रमा उनके ललाटमें स्थित



है। उस चन्द्रमाके अनवरत अमृत-प्रवाहसे अभिषिक्त होनेके कारण जिसकी विषैली शक्ति शान्त होकर अमृत-स्वरूपिणी हो गयी है तथा जिसका वर्ण इन्द्रनीलमणिके समान श्याम है, वह कालकूट विष उनके कण्ठमें आभूषणके समान सुशोभित है। निर्मल अग्निसे जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह अत्यन्त शुभ्र भस्म उन महादेवजीका भूषण है। आकाश ही उनका वस्त्र है, जो चन्द्रमाकी सुधाधारासे प्रक्षालित, नील मेघके समान सुशोभित और तारारूपी बिन्दुओंसे समन्वित है। हिलनेके कारण जिनके मस्तककी मणियाँ चमक रही हैं तथा जिनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान है, ऐसे चिकने अङ्गवाले सर्प ही उनके हाथके कङ्कण हैं। उनका मुख तीन नेत्रोंसे देदीप्यमान है। जैसे प्रमथगण उनके परिवाररूप हैं, उसी प्रकार निर्मल कान्तिवाली मातृकाएँ भी उनके परिवारमें ही हैं। ये मातृकाएँ पर्वतशिखरोंपर, आकाशमें, विभिन्न लोकोंमें, गड्ढोंमें, श्मशानोंमें तथा प्राणियोंके शरीरोंमें निवास करती हैं। उन सभी मातृकाओंमें जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अलम्बुसा और उत्पला—ये आठ मातृदेवियाँ प्रधान हैं। शेष माताएँ इन्हीं आठोंका अनुगमन करती हैं।

दूसरोंको मान देनेवाले मुनीश्वर ! उन महाशक्तिशालिनी मातृकाओंमें माता अलम्बुसा अत्यन्त विख्यात हैं। उनका वाहन कौआ है। उस कौएका नाम चण्ड है। वह इन्द्रनील-पर्वतके समान नीला है तथा उसके ठोरकी हड्डी वज्रके समान कठोर है। एक समयकी बात है, भयंकर चेष्टावाली तथा अष्ट सिद्धियोंसे सम्पन्न वे सभी मातृकाएँ किसी कारणवश आकाशमें इकट्ठी हुईं। वहाँ उन सबका एक महोत्सव हुआ, जो नाच-गान आदिसे अत्यन्त मनोहर था। उस उत्सवमें ब्राह्मी देवीके रथमें जुतनेवाली उनकी दासी हंसियाँ और अलम्बुसा देवीका वाहन चण्डनामक काक—ये सभी

आकाशप्रदेशमें एकत्र होकर नृत्य करने लगे। इस प्रकार



साथ-साथ नाचनेके कारण वह वायस सात कुलहंसियोंका वल्लभ हो गया। फिर तो उसने क्रमशः प्रत्येक हंसीके साथ रमण किया, जिससे वे ब्राह्मी शक्तिके रथकी हंसियाँ गर्भवती हो गयीं। मुनीश्वर! तब उन हंसियोने ब्राह्मी-देवीसे अपना वृत्तान्त यथार्थ रूपसे कह सुनाया।

इसपर *ब्राह्मीदेवीने कहा*—पुत्रियो! इस समय तुमलोग गर्भवती हो गयी हो, इसलिये मेरा रथ वहन करनेमें समर्थ नहीं हो; अतः अब तुमलोग स्वेच्छानुसार विचरण करो। इस प्रकार ब्राह्मीदेवी दयापरवश हो गर्भके कारण अलसाई हुई उन हंसियोसे ऐसा कहकर सुखपूर्वक निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो गयीं। तदनन्तर समय आनेपर उन हंसियोंने इक्कीस अंडे दिये। मुने! इस प्रकार उन अंडोंसे ये हमलोग इक्कीस भाई चण्डके पुत्ररूपमें कौएकी योनिमें उत्पन्न हुए। धीरे-धीरे हम बड़े हुए। हमारे पर निकल आये और हम आकाशमें उड़ने योग्य भी हो गये। जब भगवती ब्राह्मी समाधिसे विरत हुईं, तब हमलोगोंने अपनी माता हंसियोंके साथ उन देवीकी चिरकालतक भलीभाँति आराधना की। तदनन्तर उपयुक्त समय आनेपर कृपापरवश हुई भगवती ब्राह्मीने



हमलोगोंपर ऐसा अनुग्रह किया, जिसके फलस्वरूप हमलोग जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं। जब हमलोगोंका मन पूर्णतया शान्त हो गया, तब ऐसी धारणा हुई कि अब एकान्त प्रदेशमें चलकर ध्यान-समाधिमें स्थित रहना चाहिये। ऐसा निश्चय करके हमलोग अपने पिताजीके पास विन्ध्यप्रदेशमें गये। वहाँ पहुँचनेपर पिताजीने हमलोगोंका आलिङ्गन किया। तत्पश्चात् हमलोगोंने अलम्बुसा देवीका पूजन किया, जिससे उन देवीने हम-लोगोंको कृपादृष्टिसे देखा। फिर तो हमलोग समाहित-चित्त होकर वहीं रहने लगे।

तब पिता चण्डने पूछा—पुत्रो! क्या तुमलोग इस जगज्जालसे, जो अनन्त वासनारूपी तन्तुओंसे गुँथा हुआ है, मुक्त हो चुके हो? यदि नहीं तो हम इन भृत्य-

वत्सला भगवती अलम्बुसासे प्रार्थना करें, जिससे तुमलोग ज्ञानमें पारंगत हो जाओगे।

कौओंने कहा—पिताजी! ब्राह्मीदेवीकी कृपासे हम-लोगोंको ज्ञेय तत्त्वका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका है; किंतु अब हमें एकान्तवासके लिये किसी उत्तम स्थानकी अभिलाषा है।

चण्डने कहा—पुत्रो! मेरु नामक एक अत्यन्त ऊँचा पर्वत है, जो रत्नसमूहोंका आधार और देवताओंका आश्रय-स्थान है। उसके पृष्ठभागमें एक महान् कल्पवृक्ष है, जो नाना प्रकारके प्राणियोंसे समावृत है। उसके दाहिने तनेपर एक शाखा है, जिसमें सुवर्ण-सदृश पीले रंगके चमकीले पल्लव लगे हैं और वह रत्न-तुल्य घने पुष्प-गुच्छोंसे तथा चन्द्रबिम्बकी तरह प्रकाशमान फलोंसे सुशोभित है। पुत्रो! पूर्वकालमें मैंने उसी शाखापर चमकीली मणियोंसे युक्त घोंसला बनाया था और उसीमें क्रीडा की थी। उस घोंसलेके बाहरी दरवाजोंकी रचना



चिन्तामणिकी शलाकाओंसे की गयी है। वह रत्न-सदृश चमकीले पुष्पदलोंसे आच्छादित, सुस्वादु रसयुक्त फलोंसे युक्त और विचारपूर्वक व्यवहार करनेवाले कौओंके बच्चोंसे परिपूर्ण है। अतः प्यारे बच्चो! तुमलोग उसी घोंसलेपर जाओ। वहाँ रहते हुए तुमलोगोंको पर्याप्त मात्रामें भोग और निर्विघ्न मोक्ष दोनों प्राप्त होंगे।

मुनिवर! यों कहकर हमारे पिताने हमलोगोंका चुम्बन तथा आलिङ्गन किया। तब हमलोग भगवती अलम्बुसा और पिताजीके चरणोंमें अभिवादन करके अलम्बुसाके वासस्थान उस विन्ध्यप्रदेशसे उड़ चले। फिर तो क्रमशः आकाशको लाँघकर और मेघोंके कोटरोंसे निकलकर पवनलोकमें जा पहुँचे। वहाँ हमलोगोंने आकाशचारी देवोंको प्रणाम किया। मुनीश्वर! फिर सूर्यमण्डलका अतिक्रमण करके हमलोग स्वर्गकी अमरावती-पुरीमें गये और फिर स्वर्गको लाँघकर ब्रह्मलोकमें पहुँच गये। वहाँ हमलोगोंने माता भगवती ब्राह्मीदेवीको प्रणाम किया और तुरंत ही पिताद्वारा कहा हुआ वह सारा वृत्तान्त उन्हें ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। तब उन्होंने स्नेहपूर्वक हमलोगोंका आलिङ्गन किया और 'जाओ' यों आज्ञा प्रदान करके हमें उत्साहित किया। तत्पश्चात् हमलोग उन्हें नमस्कार करके ब्रह्मलोकसे चल पड़े। आकाशमार्गसे चलनेमें हमलोग चपल तो थे ही; अतः पवनलोकमें विचरते हुए लोकपालोंकी पुरियोंको, जो सूर्यके समान देदीप्यमान हैं, लाँघकर इस कल्पतरुपर आ पहुँचे और अपने घोंसलेमें प्रविष्ट हो गये। मुने! यहाँ सारी बाधाएँ हमलोगोंसे दूर रहती हैं और हमलोग सदा समाधिमें ही स्थित रहते हैं। महानुभाव! आपके पूर्व प्रश्नके उत्तरमें हमलोग जैसे उत्पन्न हुए, जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेसे हमलोगोंकी बुद्धि शान्त हुई एवं जिस तरह हमलोग इस घोंसलेमें आये—वह सारा वृत्तान्त आपको अविकलरूपसे भलीभाँति कह सुनाया।

(सर्ग १८-१९)

'तुम्हारी कितनी आयु है और तुम किन-किन वृत्तान्तोंका स्मरण करते हो ?' वसिष्ठजीद्वारा पूछे हुए इन प्रश्नोंका भुशुण्डद्वारा समाधान

भुशुण्डने कहा—मुने ! मैं जो निर्विघ्नतापूर्वक आपका दर्शन कर रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है कि चिरकालसे संचित किये गये मेरे पुण्योंका फल आज ही प्रकट हुआ है। मुनिराज ! आज आपके दर्शनसे यह घोंसला, यह शाखा, यह मैं और यह कल्पतरु—ये सब-के-सब पवित्र हो गये।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—पक्षिराज ! उस प्रकार बलवान् एवं अगाध बुद्धिसम्पन्न तुम्हारे भाई यहाँ दिखायी क्यों नहीं देते ? अकेले तुम्हीं क्यों दृष्टिगोचर हो रहे हो ?

भुशुण्डने कहा—निष्पाप महर्षे ! हमलोगोंको यहाँ रहते बहुत लम्बा समय व्यतीत हो गया, यहाँतक कि दिनकी भाँति युगोंकी पङ्क्तियाँ समाप्त हो गयीं। अतः इतना लंबा समय बीत जानेके कारण मेरे सभी छोटे भाई तृणकी तरह अपने शरीरोंका त्याग करके कल्याणमय शिवपदमें लीन हो गये; क्योंकि चाहे कोई दीर्घायु हो, महान् हों, सज्जन हों, बलवान् हों—कैसे भी क्यों न हों, अलक्षितस्वरूपवाला काल सभीको निगल जाता है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—प्यारे वायसराज ! जिस समय प्रलयवायु अनवरत वेगपूर्वक बहने लगती है, उस समय क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? उदयाचल और अस्ताचलके अरण्यसमूहोंको भस्म करनेवाली सूर्यकी किरणोंसे क्या तुम्हें कष्ट नहीं होता ? यह कल्पवृक्ष जो स्वयं ही अत्यन्त ऊँचा है तथा ऊँचे-से-ऊँचे स्थानपर स्थित है, जागतिक विषम क्षोभोंसे क्षुब्ध क्यों नहीं होता ?

भुशुण्डने कहा—भगवन् ! हम सदा परमात्मामें ही संतोष मानकर स्थित रहते हैं, इसलिये भ्रमके अवसर आनेपर भी हमें कभी इस जगत्में भ्रम नहीं होता। ब्रह्मन् ! हम अपने स्वभावमात्रसे संतुष्ट रहते हैं और कष्टदायक विचारोंसे मुक्त होकर अपने इस घोंसलेमें रहकर केवल काल्यापन करते हैं। हमें न तो इस देहके जीवित रहनेसे किसी फलकी अभिलाषा है और न हम मरणद्वारा इसका विनाश ही चाहते है; क्योंकि हमलोग वर्तमान समयमें जिस प्रकार स्थित है, वैसे ही आगे भी स्थित रहेंगे। हमने प्राणियोंकी जन्म-मरण आदि दशाओंका अवलोकन कर लिया और हमारे मनने अपने चञ्चल स्वरूपका सर्वथा त्याग कर दिया है। निरन्तर शान्ति प्रदान करनेवाले अपने अविनाशी सच्चिदानन्दघनस्वरूप ज्ञानमें स्थित होकर मैं इस कल्पवृक्षके ऊपर बैठा हुआ सदा कालकी कलापूर्ण गतिको जानता रहता हूँ। ब्रह्मन् ! मैं रत्न-सदृश चमकीले पुष्प-गुच्छोंके प्रकाशसे युक्त इस कल्प लतागृहमें बैठकर प्राणायामके द्वारा योगबलसे सम्पूर्ण कल्पकी बात जान लेता हूँ। मैं इस ऊँचे शिखरपर बैठा हुआ अपनी बुद्धिसे लोकोंके कालक्रमकी स्थितिको जानता रहता हूँ। मुनिवर ! मेरा मन सार और असार वस्तुओंका विभाग करनेवाले ज्ञानकी प्राप्तिसे उत्तम शान्तिको प्राप्त हो गया है, अतः इसकी चञ्चलता नष्ट हो गयी है और अब यह शान्त होकर भलीभाँति स्थिर हो गया है। अगाध-बुद्धिसम्पन्न महर्षे ! सासारिक व्यवहारोंसे उत्पन्न मिथ्या आशारूपी पाशोंसे बँधा हुआ भूलोकवासी साधारण कौआ जिस प्रकार सिसकारियोंसे भयभीत हो जाता है, उस प्रकार मैं भयभीत नहीं होता; क्योंकि उत्कृष्ट शान्तिरूप धर्मवाली तथा आत्मप्रकाशसे शीतल हुई बुद्धिद्वारा जागतिक मायाको देखते हुए हमलोग धैर्यसम्पन्न हो गये हैं, इसलिये भयंकर दशाओंमें भी हमारी बुद्धि पर्वतके समान स्थिर रहती है। परम ऐश्वर्यशाली मुने ! समस्त भूतसमुदाय व्यवहारदृष्टिसे आते और जाते हैं, परंतु परमार्थदृष्टिसे न कोई आता

है न जाता है; अतः इस विषयमें हमलोगोंको भय कैसा। क्योंकि प्राणि-समुदायरूपी तरङ्गोंसे युक्त तथा कालसागरमें प्रवेश करनेवाली संसार-सरिताके तटपर स्थित होते हुए भी हमलोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। जिनके शोक, भय और आयास नष्ट हो चुके हैं तथा जो आत्मलाभसे संतुष्ट हैं—ऐसे आप-सरीखे उत्तम पुरुष हमलोगोंपर अनुग्रह करते रहते हैं; इसलिये हमलोग सारे दुःखोंसे मुक्त हो गये हैं। भगवन्! हमलोगोंका मन यद्यपि व्यवहारार्थ इधर-उधर कार्योंमें व्यस्त रहता है, तथापि न तो वह राग आदि वृत्तियोंमें फँसता है और न तत्त्व-विचारसे शून्य ही होता है। क्योंकि हमारा आत्मा निर्विकार, क्षोभरहित और शान्त हो गया है, इसलिये चिद्रूप तरङ्गवाले हमलोग पूर्णिमाके पर्वकालमें बढ़नेवाले महासागरकी भाँति प्रबुद्ध हो गये हैं। ब्रह्मन्! इस समय आपके आगमनसे हमलोगोंका अन्तःकरण हर्षसे प्रफुल्लित हो उठा है। समस्त एषणाओंका परित्याग कर चुकनेवाले संत-महात्मा अपने शुभागमनद्वारा जो हमपर अनुग्रह करते हैं, इससे बढ़कर कल्याणकारक मैं अपने लिये और कुछ नहीं समझता। भला, आपातरमणीय भोगोंसे कौन-सा लाभ मिल सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। किंतु सत्सङ्गरूपी चिन्तामणिसे तो सबके सारभूत यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। सज्जन-शिरोमणे! आपकी वाणी स्नेहपूर्ण, गम्भीर, कोमल, मधुर, उदार और धीरतायुक्त है; मैंने परमात्माको जान लिया है और आपके दर्शनसे मैं पवित्र हो चुका हूँ। इसलिये मेरी तो ऐसी धारणा है कि आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि साधु पुरुषोंका सङ्ग समस्त भयोंका अपहरण करनेवाला होता है।

मुनीश्वर! युगान्तकालमें जब भीषण उपद्रव होने लगते हैं और प्रचण्ड वायु बहने लगती है, उस समय भी यह कल्पवृक्ष सुस्थिर रहता है। यह कभी भी कम्पित नहीं होता। अन्य लोकोंमें विचरण करनेवाले समस्त प्राणियोंके लिये यह अगम्य है, इसीलिये हमलोग यहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं। ऐसे उत्तम वृक्षपर निवास करनेवाले हमलोगोंके निकट भला, आपत्तियाँ कैसे फटक सकती हैं।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—महाबुद्धिमान् भुशुण्ड! प्रलय-कालमें जब सूर्य और चन्द्रमाको भी गिरा देनेवाली उत्पातवायु बहने लगती है, उस समय तुम सतापरहित कैसे रह पाते हो?

भुशुण्डने कहा—मुनिश्रेष्ठ! कल्पान्तके समय जब सांसारिक व्यवहारका विनाश हो जाता है, उस समय जैसे कृतघ्न आपत्तिकालमें सन्मित्रको त्याग देता है, उसी तरह मैं इस घोंसलेको छोड़ देता हूँ और आकाशमें ही स्थित रहता हूँ। उस अवसरपर वासनाशून्य मनकी तरह मैं सारी कल्पनाओंसे रहित रहता हूँ और मेरा सारा शरीर निश्चल हो जाता है। फिर मैं ब्रह्माण्डके उस पार पहुँचकर समस्त तत्त्वोंके अन्तभूत एवं विशुद्ध परमात्मामें अचल सुषुप्तावस्थाके सदृश निर्विकल्पसमाधिमें तबतक स्थित रहता हूँ, जबतक कमलयोनि ब्रह्मा पुनः सृष्टिकर्ममें प्रवृत्त नहीं होते। सृष्टिरचना हो जानेके पश्चात् मैं ब्रह्माण्डमें प्रवेश करके पुनः अपने इस घोंसलेमें आ जाता हूँ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—विहगराज! कल्पान्तके अवसरोंपर जैसे तुम धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा अखण्डरूपसे स्थित रहते हो, वैसे अन्य योगी क्यों नहीं रहते?

भुशुण्डने कहा—ब्रह्मन्! यह तो परमेश्वरकी नियामिका शक्ति है, जो सबको नियमबद्ध रखती है। उसका उल्लङ्घन करना कठिन है। इसी कारण मुझे ऐसे रहना पड़ता है और दूसरे योगी दूसरी प्रकारसे रहते हैं। जो अवश्यम्भावी है, उसकी इदमित्थंरूपसे अवधारणा नहीं की जा सकती; क्योंकि परमेश्वरकी नियामिका शक्तिरूप स्वभावका ऐसा निश्चय है कि जैसा होनहार होता है, वैसा ही होता है। इसीलिये प्रत्येक कल्पमें

केवल मेरे संकल्पसे ही मेरुगिरिके इसी शिखरपर इस प्रकार यह कल्पवृक्ष बारंबार उत्पन्न होता है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—कल्याणस्वरूप वायसराज! तुम्हारी आयु अत्यन्त लंबी है। तुम भूतकालीन पदार्थोंका निर्देश करनेवालोंमें अग्रगण्य, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न और धीर हो। तुम्हारी मनोगति योगसाधनके योग्य है। तुमने अनेक प्रकारकी असंख्य सृष्टियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी देखा है। अतः अब यह बताओ कि इस सृष्टि-क्रममें तुम्हें किस-किस आश्चर्यजनक सृष्टिका स्मरण है?

भुशुण्डने कहा—मुनिश्रेष्ठ! मुझे इस पृथ्वीके विषयमें ऐसा स्मरण है कि किसी समय यह शिला और वृक्षोंसे रहित थी। इसपर तृण और लता आदि भी नहीं थे; पर्वत, वन और भाँति-भाँतिके वृक्ष—ये कुछ भी नहीं थे और यह मेरुके नीचे स्थित थी। वहाँ यह ग्यारह हजार वर्षोंतक भस्मसे परिपूर्ण रही—ऐसा मुझे सम्यक् रूपसे स्मरण है। मुझे यह भी खूब याद है कि जब बल और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुए असुरोंका घोर संग्राम चल रहा था, उस समय इस पृथ्वीका भीतरी भाग क्षीण हो गया था और यह युद्धसे भागे हुए जनोंसे परिपूर्ण हो गयी थी। फिर एक चतुर्युगीतक यह उन मतवाले असुरोंके अधिकारमें रही, इसका भी मुझे पूर्ण स्मरण है। अन्य चतुर्युगीके दो युगोंतक यह भूमि वनैले वृक्षोंसे खचाखच भरी रही। उस समय उन वृक्षोंके अतिरिक्त और किसी पदार्थका निर्माण नहीं हुआ था—इसका भी मुझे ठीक-ठीक स्मरण है। एक समय यह वसुधा चारों युगोंसे भी अधिक कालतक घने पर्वतोंसे आच्छादित रही। उसपर मनुष्य चल-फिर भी नहीं सकते थे—यह भी मुझे स्मरण है। मुझे वह समय भी याद आता है, जब अन्तरिक्ष आदि लोकोंमें समस्त विमानचारी देवता भयके कारण अन्तर्धान हो गये थे और यह पृथ्वी वृक्षशून्य होकर अन्धकारसे आच्छादित हो गयी थी। इनका तथा इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी बातोंका मुझे स्मरण है; परंतु इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ। जो सार वस्तु है, उसे मै संक्षेपसे कहता हूँ, सुनिये। ब्रह्मन्! मुझे तो यहाँतक स्मरण है कि मेरे सामने सैकड़ों चतुर्युगियाँ बीत गयी और ऐसे असंख्य मनु समाप्त हो गये, जो सब-के-सब प्रभावाधिक्यसे परिपूर्ण थे। मुझे एक ऐसी सृष्टिका स्मरण है, जिसमें पर्वत और भूमिका नाम-निशान भी नहीं था। चन्द्रमा और सूर्यके बिना ही पूर्ण प्रकाश छाया रहता था और देवता तथा सिद्ध मानव आकाशमें ही रहते थे। मुझे ऐसी ही एक और सृष्टिका स्मरण है, जिसमें न कोई इन्द्र था न भूपाल तथा उत्तम, मध्यम और अधमका भेद भी नहीं था। सब एकरूप था और दिशामण्डल अन्धकारसे व्याप्त था।

मुनिराज! पहले सृष्टि-रचनाका संकल्प हुआ, फिर तीनों लोकोंका निर्माण हुआ। उस त्रिलोकीमें अवान्तर प्रदेशोंका विभाग होनेके बाद उनमें सात कुलपर्वतोंकी स्थापना हुई। उन्हीं प्रदेशोंमें जम्बूद्वीपकी पृथक् स्थापना हुई। ब्रह्माजीने उस जम्बूद्वीपमें ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म और उन वर्णोंके लिये योग्य विद्याविशेषोंकी सृष्टि की। तत्पश्चात् अवनिमण्डल एवं नक्षत्र-चक्रकी स्थिति और ध्रुवमण्डलका निर्माण किया। तात! तदनन्तर चन्द्रमा और सूर्यकी उत्पत्ति, इन्द्र और उपेन्द्रकी व्यवस्था, हिरण्याक्षद्वारा पृथ्वीका अपहरण, वराहरूपधारी भगवान्-द्वारा उसका उद्धार, भूपालोंकी रचना, मत्स्यरूपधारी भगवान्‌द्वारा वेदोंका लाया जाना, मन्दराचलका उन्मूलन, अमृतके लिये क्षीरसागरका मन्थन, गरुडका शैशव, जब कि उनके पंख नहीं जमे थे, और सागरोंकी उत्पत्ति आदि जो निकटतम सृष्टिकी स्मृतियाँ हैं, उन्हें तो मेरी अपेक्षा अल्प आयुवाले योगी भी स्मरण करते हैं; अतः उनमें मेरी क्या आदर-बुद्धि हो सकती है।

मुनिश्रेष्ठ! हयग्रीव, हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि और प्रह्लाद आदि असुरोंमें,

शिबि, न्यङ्कु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप और नहुष आदि नरेशोंमें तथा आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यायन, उपमन्यु, मणीमङ्कि और भगीरथ आदि महर्षियोंमें कुछ तो सुदूर भूतकालमें, कुछ निकटतम अतीतमें और कुछ इसी वर्तमान सृष्टिमें उत्पन्न हुए हैं; अतः इनके स्मरणकी तो बात ही क्या है। मुनिवर! आप तो ब्रह्माके पुत्र हैं। आपके भी आठ जन्म हो चुके हैं। इस आठवें जन्ममें मेरा आपके साथ समागम होगा—यह मुझे पहलेसे ही ज्ञात था। यह वर्तमान सृष्टि जैसी है, इसके जैसे आचरण हैं और जैसा इसका अवयव-संस्थान एवं दिशागण है, ठीक इसी तरहकी तीन सृष्टियाँ पहले भी हो चुकी हैं, जिनका मुझे भलीभाँति स्मरण है। अमृतके लिये, जिसमें मन्दराचलके आकर्षण-के प्रयाससे देवता और दैत्य व्याकुल हो गये थे—ऐसा यह बारहवाँ समुद्र-मन्थन है, यह भी मुझे स्मरण है। मुने! प्रत्येक युगमें अध्येता पुरुषोंकी बुद्धियोंके न्यूनाधिक होनेके कारण ब्रह्मचर्य आदि क्रियाओं, शिक्षा-कल्प आदि अङ्गों और स्वर आदिके उच्चारणपूर्वक पाठकी विचित्रतासे युक्त वेद भी मेरे स्मृतिपथमें वर्तमान हैं। निष्पाप महर्षे! युग-युगमें जो एकार्थक, विस्तारयुक्त तथा बहुत-से पाठभेदवाले पुराण प्रवृत्त होते हैं, उन सबका भी मुझे स्मरण है। पुनः प्रत्येक युगमें वेद आदि शास्त्रोंके ज्ञाता व्यास आदि महर्षियोंद्वारा विरचित महाभारत आदि इतिहास भी मुझे याद हैं। इनके अतिरिक्त रामायण नामसे प्रसिद्ध जो दूसरा महान् आश्चर्यजनक इतिहास है; जिसकी श्लोक-संख्या एक लाख है, उस ज्ञान-शास्त्रका भी मुझे स्मरण है। उस शास्त्रमें बुद्धिमानोंके लिये हाथपर रक्खे हुए फलकी तरह 'श्रीरामकी तरह व्यवहार करना चाहिये, परंतु रावणके विलासी जीवनका अनुकरण नहीं करना चाहिये' ऐसा ज्ञान बतलाया गया है। उसके निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं। अब उनके द्वारा जगत्में जो (वसिष्ठ-राम-संवादरूप) दूसरे ज्ञानशास्त्रकी रचना की जायगी, उसका भी मुझे ज्ञान है और समयानुसार वह आपको भी ज्ञात हो जायगा। यह जगत्स्वरूप भ्रान्ति जलमें बुलबुलेके समान कभी स्थित-सी दीख पड़ती है, किंतु वास्तवमें इसका किसी भी कालमें अस्तित्व नहीं है। मेरे पिता चण्डके जीवनकालमें इस कल्पतरुकी जैसी शोभा और जैसा संगठन था, वह आज भी वैसा ही है; इसीलिये इस समय मैं यहाँ स्थित हूँ। (सर्ग २०—२२)



जिसे मृत्यु नहीं मार सकती, उस निर्दोष महात्माकी स्थितिका, परमतत्त्वकी उपासनाका तथा तीनों लोकोंके पदार्थोंमें सुख-शान्तिके अभावका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम! तदनन्तर कल्पवृक्षके अग्रभागमें आसीन इस वायसराज भुशुण्डसे मैंने जाननेके लिये यह पूछा—'पक्षियोंके श्रेष्ठ राजा! जगत्में विचरण करनेवाले तथा व्यवहारमें लगे हुए प्राणियोंकी देहको मृत्यु कैसे बाधा नहीं पहुँचाती?'

भुशुण्डने कहा—सर्वज्ञ ब्रह्मन्! आप यद्यपि सब कुछ जानते हैं, फिर भी जो मुझसे जिज्ञासुकी तरह पूछते हैं, वह ठीक ही है; क्योंकि स्वामी प्रश्नोंद्वारा अपने सेवकोंकी वाक्पटुता प्रसिद्ध कराया करते हैं। फिर भी आप जो मुझसे पूछते हैं, उसका मै उत्तर आपको देता हूँ; क्योंकि आज्ञाका पालन ही सज्जनोंकी सबसे बड़ी सेवा है, ऐसा मुनिलोग कहते है। महाराज! पापरूप मोती जिसमें पिरोये गये हैं, ऐसी वासनारूपी तन्तुसंतति जिसके हृदय-कमलमें ग्रथित नहीं रहती अर्थात् जो वासना और पापसे रहित है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। जो

शरीर-लताके घुनरूप मानसिक चिन्ताओंसे और आशाओंसे रहित है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती । राग-द्वेषरूपी विषसे परिपूर्ण अपने मनरूपी बिलमें रहनेवाला लोभरूपी सर्प जिसको नहीं डँसता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती । शरीररूपी समुद्रका बडवाग्निरूप अतएव समस्त विवेकरूपी जलको पी जानेवाला क्रोध जिसको दग्ध नहीं करता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती । तिलोंकी बड़ी राशिको पेर देनेवाले कठिन कोल्हूकी तरह उग्रतापूर्वक कामदेव जिसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती । जिसका चित्त एक निर्मल परम पवित्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूप परमपदमें स्थित है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती । शरीररूपी पुष्पित वनमें प्रवेशकर उछल-कूद मचानेवाला जिसका बलवान् मन वानरकी तरह चञ्चल नहीं है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती । ब्रह्मन् ! ये पूर्वोक्त महान् दोष संसाररूपी व्याधिके कारण हैं । ये दोष विक्षेपरहित चित्तको तनिक भी नहीं झकझोरते । अज्ञानके कारण शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे उत्पन्न नाना प्रकारके दुःख विक्षेपरहित चित्तको छिन्न-भिन्न नहीं कर पाते ।

जिसका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थित है, वह पुरुष शास्त्रानुसार व्यवहार करता हुआ भी वास्तवमें न कुछ देता है न लेता है, न कुछ त्याग करता है और न कुछ माँगता ही है । जिस महापुरुषका चित्त परमात्मामें स्थित है, उसे उपार्जन करनेके अयोग्य दुष्ट धनादि, बुरे आरम्भ, राग-द्वेष आदि दुर्गुण, कठोर वचन, दुराचार—ये सब विचलित नहीं कर सकते अर्थात् उसके निकट भी नहीं जा सकते । जिसका चित्त परमात्मामें स्थित है, उसके न चाहनेपर भी न्याय आदि गुणोंसे युक्त अनेक सम्पत्तियाँ उसके पीछे-पीछे दौड़ती हैं । इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि जो परिणाममें हितकर, सत्य, अविनाशी, संशयरहित एवं विषयाभिलाषरूपी दृष्टिसे रहित है, उसी एक परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करे । जो सदा ही परम ग्राह्य है एवं जो आदि, मध्य और अन्तमें सुन्दर, मधुर तथा हितकारक है, उस परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिये । जो अविनाशी है, मनके लिये सदा हितकर है, वास्तविक ध्रुव सत्य है, आदि, मध्य एवं अन्तमें सदा-सर्वदा परिपूर्ण है तथा जिसकी सभी संतलोग प्रीतिपूर्वक उपासना करते हैं, उस परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिये । जो बुद्धिसे परे है, ज्ञानस्वरूप है, सबका आदिकारण है, निरतिशय परम अमृतस्वरूप है तथा जिससे अधिक मङ्गलमय दूसरा कोई नहीं है, उस परमतत्त्व परमात्मामें मनको स्थिर करना चाहिये; क्योंकि देवताओं, असुरों, गन्धर्वों, विद्याधरों, किंनरों तथा देवाङ्गनाओंसे युक्त स्वर्गमें कुछ भी सुस्थिर एवं उत्तम तत्त्व नहीं है ।

तात ! वृक्षोंसे, राजा-महाराजाओंसे, पर्वत, नगर एवं ग्वालोंकी आवास-भूमिसे तथा समुद्रसे युक्त भूमण्डलमें कुछ भी स्थायी और शोभन तत्त्व नहीं है । नागों, असुरों तथा असुरोंकी स्त्रियोंसे युक्त समस्त पाताल-लोकमें भी कोई स्थिर एवं मङ्गलदायक पदार्थ नहीं है । जिसमें स्वर्ग, देवलोक, पृथ्वीसहित पाताल एवं दसों दिशाएँ हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत्‌में कोई भी स्थिर और मङ्गलदायक पदार्थ नहीं है । तात्पर्य यह कि त्रिलोकमय सम्पूर्ण संसारमें आधि, व्याधि, चिन्ता, शोक ही भरे हैं; वास्तविक सुख-शान्तिका नामोनिशान भी नहीं है । इसलिये नाशवान् क्षणभङ्गुर संसारसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये । अतएव सम्पूर्ण भूमण्डलका एकच्छत्र सम्राट् होना श्रेष्ठ नहीं, सबसे बड़े अभिज्ञ इन्द्र, बृहस्पति आदि देवता होना यानी स्वर्गका अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं तथा पातालमें सम्पूर्ण पृथ्वीको

धारण करनेमें समर्थ शेषनाग होना यानी पातालका अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि ये सब क्षणभङ्गुर—नाशवान् हैं। जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन पूर्णकाम होकर सुख-शान्ति पाता है, वैसी वास्तविक सुख-शान्ति वहाँ लेशमात्र भी नहीं है। आधि-व्याधियोंसे प्रचुर चिरजीविता भी श्रेष्ठ नहीं, समस्त व्याधियोंका विनाशरूप मरण भी अखिल दुःखोंकी निदान दृढ़ अज्ञतारूप होनेसे श्रेष्ठ नहीं है, नरक तथा स्वर्ग भी श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन पूर्णकाम होता है, वैसा वहाँ कुछ भी नहीं है। उस प्रकारके सम्पूर्ण विविध सृष्टियोंके क्रम अज्ञानी मनुष्यको बुद्धिकी मूढ़ताके कारण ही रमणीय प्रतीत होते हैं। इसलिये जो महान् संत हैं, वे अनित्य, क्षणभङ्गुर, नाशवान् मायिक पदार्थोंमें चिरविश्राम कैसे कर सकते हैं? क्योंकि उनमें वास्तविक सुख-शान्ति और विश्रामका अत्यन्त अभाव है। इसलिये विवेकी पुरुषोंको उनमें अत्यन्त वैराग्य करके उनसे उपरत हो जाना चाहिये। (सर्ग २३)

प्राण-अपानकी गतिको तत्त्वतः जाननेसे मुक्ति

भुशुण्डने कहा—महाराज! कभी नष्ट न होनेवाली, संशयोंसे रहित एक परमात्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानोंमें सबसे उन्नत और सबसे श्रेष्ठ है। ब्रह्मन्! परमात्मविषयक विचार समस्त दुःखोंका अन्त कर देनेवाला तथा अनादि-कालसे चले आते हुए अज्ञानसे परिपूर्ण, दुःस्वप्न-तुल्य संसाररूपी भ्रमका विनाश करनेवाला है। भगवन्! समस्त संकल्पोंसे रहित परमात्मविषयक भावनासे अज्ञानरूपी अन्धकारका, उसके कार्योंके साथ, भली प्रकार विनाश हो जाता है। किंतु सामान्य बुद्धिवाले प्राणी समस्त कल्पनाओंसे अतीत इस परमपदको कैसे प्राप्त कर सकते हैं? अर्थात् साधारण पुरुषोंके लिये वह पद प्राप्त होना कठिन है। इस परमात्मविषयक भावनाके अनेक भेद हैं। उनमेंसे सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाली प्राणभावनाका मैंने आश्रय लिया है, वही यहाँ मेरे जीवनका आधार है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! जब मननशील भुशुण्ड इस प्रकार कह रहे थे, तब जानते हुए भी मैंने शान्त भावसे उनसे फिर कौतुकवश पूछा—'समस्त संदेहोंको काटनेवाले अत्यन्त दीर्घजीवी सज्जनस्वभाव भुशुण्ड! तुम मुझसे ठीक-ठीक कहो कि प्राणकी भावना किसे कहते हैं?'

भुशुण्डने कहा—मुने! आप समस्त वेदान्तके ज्ञाता हैं, समस्त संशयोंका विनाश करनेवाले हैं, तथापि केवल विनोदके लिये ही मुझ-जैसे कौएसे इस विषयका प्रश्न कर रहे हैं—ऐसा मैं मानता हूँ। महाराज! भुशुण्डको जिसने चिरजीवी बनाया है तथा जिसने भुशुण्डको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करायी है, उस प्राण-समाधिका निरूपण मैं कहता हूँ, सुनिये। मुनिराज! इडा और पिङ्गला नामकी दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देहरूपी घरके बीच दाहिने और बायें भागमें स्थित कोष्ठमें यानी कुक्षिमें रहती हैं। उनका किसीको भान नहीं होता, वे केवल नासापुटमें प्राणसंचारद्वारा प्रतीत होती हैं। उक्त देहमें यन्त्रके सदृश तीन कमलके जोडे हैं। वे अस्थि-मांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओरसे नालदण्ड लगे हुए हैं और वे सम्पुटित होकर एक दूसरेसे मिले हुए कोमल सुन्दर दलोंसे सुशोभित हैं। उन तीन हृदय-कमलयन्त्रोंमें प्राणकी समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचेकी ओर उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्बसे किरणें फैलती हैं। इन प्राणशक्तियोंसे ही शीघ्रगति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतनकी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं। मुने! हृदय-कमलमें स्थित यही वायु पण्डितों-द्वारा प्राणके नामसे कही जाती है। इसीकी कोई एक शक्ति नेत्रोंको स्पन्दित करती है यानी नेत्रोंमें निमेष-

उन्मेषकी क्रिया करती है । उसीकी कोई एक शक्ति स्पर्शका ग्रहण करती है, दूसरी कोई शक्ति नासिकाद्वारा श्वास-उच्छ्वासका निर्वाह करती है, कोई एक दूसरी शक्ति अन्नका परिपाक करती है तो कोई अन्य शक्ति वाक्योंका उच्चारण करती है । महाराज ! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ । शरीरमें जो कुछ क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्तिसम्पन्न वायु ही कराती है, जिस प्रकार यन्त्रचालक कठपुतलीसे नृत्यादि चेष्टा कराता है । उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन—ये दो प्रकारके संकेतवाले जो दो वायु प्रसृत होते हैं, वे दोनों श्रेष्ठ वायु प्राण एवं अपान नामसे प्रसिद्ध एवं प्रकट है । मुने ! मै उनकी गतिका सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ । उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण रहता है एवं वे दोनों निरन्तर शरीरके भीतर आकाश-मार्गकी यात्रा करते रहते हैं । उन प्राण और अपान नामक वायुओंकी—जो शरीरमें सदा संचरण करते हैं तथा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिमें सदा समानरूप हैं—गतिका अनुसरण करते हुए मेरे दिन सुषुप्ति-अवस्थामें स्थित मनुष्यकी भाँति व्यतीत हो रहे हैं । एक हजार अंशोंमें विभक्त कमलतन्तुके लवमात्रकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लक्ष्य ये नाडियाँ हैं, अतः उनमें विद्यमान इन प्राण और अपान दोनों वायुओंकी भी गति दुर्बोध है । महात्मन् ! हृदय आदि स्थानोंमें निरन्तर विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुओंकी गतिके तत्त्वको जानकर उसका अनुसरण करनेवाला प्रसन्नचित्त पुरुष जन्म-मरणरूपी फाँसीसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जाता है । वह फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आता ।

(सर्ग २४)

पूरक, रेचक, कुम्भक प्राणायामका तत्त्व जानकर अभ्यास करनेसे मुक्ति और सर्वशक्तिमान् परमात्माकी उपासनाकी महिमा

भुशुण्डने कहा—ब्रह्मन् ! इस प्राणमें स्पन्दन-शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है । यह प्राण बाह्य एवं आन्तर सर्वाङ्गोंसे परिपूर्ण देहमें ऊपरके स्थानमें—हृदय-देशमें स्थित रहता है । अपानवायुमें भी निरन्तर स्पन्द-शक्ति तथा सततगति रहती है । यह अपानवायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अङ्गोंसे परिपूर्ण शरीरमें नीचेके स्थानमें—नाभिदेशमें स्थित रहता है । मुनिवर ! किसी प्रकारके यत्नके बिना प्राणोंकी हृदय-कमलके कोशसे होने-वाली जो स्वाभाविक बहिर्मुखता है, विद्वान्‌लोग उसे 'रेचक' कहते हैं । बारह अंगुलपर्यन्त बाह्य प्रदेशकी ओर नीचे गये हुए प्राणोंका लौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो शरीरके अङ्गोंके साथ स्पर्श होता है, उसे 'पूरक' कहते हैं । अपानवायुके शान्त हो जानेपर जबतक हृदयमें प्राणवायुका अभ्युदय नहीं होना, तबतक वह वायुकी कुम्भकावस्था (निश्चल स्थिति) रहती है, जिसका योगीलोग अनुभव करते हैं । इसीको आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं । ब्रह्मन् ! मृत्तिकाके अंदर असिद्ध घटकी स्थितिके सदृश बाहर नासिकाके अग्रभागसे लेकर बराबर सामने बारह अंगुलपर्यन्त आकाशमें जो अपानवायुकी निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डितलोग 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं । अतः बाहर प्राण-वायुके अस्तंगत होनेपर जबतक अपान-वायुका उद्गम नहीं होता, तबतक एकरूपसे स्थित पूर्ण (दूसरा) बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं । प्राण और अपानवायुके स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम हैं, उनका भली प्रकार तत्त्व-रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करनेवाला पुरुष पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता । प्राणायामके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले योगीके स्वभावतः अत्यन्त चञ्चल ये वायु चलते, बैठते, जागते या सोते—सभी अवस्थाओंमें उसके इच्छानुसार निरुद्ध हो जाते हैं । मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक सम्यक् प्रकारसे इन कुम्भक आदि प्राणायामोंका स्मरण करता हुआ जो कुछ करता है या

खाता है, उनमें वह कर्तृत्व आदिके अभिमानसे तनिक भी ग्रस्त नहीं होता।

महर्षे! इस प्रकार प्राणायामका अभ्यास करनेवाले पुरुषका मन विषयाकार वृत्तियोंके होनेपर भी बाह्य विषयोंमें रमण नहीं करता। जो शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिवाले महात्मा इस प्राणविषयक दृष्टिका अवलम्बन करके स्थित हैं, उन्होंने प्रापणीय पूर्ण ब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लिया और वे ही समस्त खेदोंसे रहित हैं। बैठते, चलते, सोते और जागते—सदा-सर्वदा पुरुष यदि तत्त्व-रहस्य समझकर प्राणायामका अभ्यास करें तो वे कभी बन्धनको प्राप्त ही न हों। प्राण और अपानकी उपासनाद्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञानसे युक्त पुरुषोंका मन, जो मलरूप मोहसे रहित एवं स्वस्थ है, इस अन्तःस्थित परमात्मामें ही सदा-सर्वदा लगा रहता है। शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी शुद्धान्तःकरण निष्कामी ज्ञानी पुरुष प्राणापानकी गतिको तत्त्वतः जानकर भलीभाँति स्वस्थ हो सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मन्! हृदय-कमलसे प्राणका अभ्युदय होता है और बाहर बारह अंगुलपर्यन्त प्रदेशमें यह प्राण विलीन होकर रहता है। इसीको 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं। महामुने! बाह्य बारह अंगुलकी चरम सीमासे अपानका उदय होता है और हृदय-प्रदेशमें स्थित कमलमें उसकी गति अस्त हो जाती है; इसीको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। जिस बारह अंगुलकी चरम सीमाके आकाश प्रदेशमें प्राणकी समाप्ति हो जाती है, उसी आकाश-प्रदेशसे यह अपान उसीके बाद उत्पन्न हो जाता है। यह प्राण-वायु अग्नि-शिखाकी भाँति बाह्य आकाशके सम्मुख होकर बहता है और अपान-वायु जलकी तरह हृदयाकाशके सम्मुख होकर निम्नभागमें बहता है। चन्द्रमारूप अपान-वायु शरीरको बाहरसे पुष्ट करता है और सूर्यरूप प्राण-वायु इस शरीरको भीतरसे परिपक्व कर देता है। प्राण वायु निरन्तर हृदयाकाशको सन्तप्तकर पश्चात् मुखाग्रभागके आकाशको तपाता है; क्योंकि यह उत्तम सूर्य ही है। अपान-वायुरूप यह चन्द्रमा पहले मुखके अग्रभागको पुष्टकर तदनन्तर हृदयाकाशका अपने अमृत-प्रवाहसे पोषण करता है। अपानरूप चन्द्रमाकी किरणका प्राणरूपी सूर्यके साथ आभ्यन्तर कुम्भकके समय जिस हृदयस्थ ब्रह्मसे सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपदको प्राप्तकर पुरुष पुनः शोकको प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार प्राणरूपी सूर्यकी किरणका अपानरूपी चन्द्रमाके साथ बाह्य-कुम्भकके समय जिस बाह्य-प्रदेशस्थित ब्रह्मसे सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपदको प्राप्तकर मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता।

मुने! जो पुरुष हृदयाकाशमें स्थित प्राणरूप सूर्यदेवको उदय-अस्त, चन्द्रमा-रश्मि और गमनागमनसहित तत्त्वसे अनुभव करता है, वही यथार्थ अनुभव करता है। जैसे बाह्य अन्धकारके नष्ट हो जानेपर बाहरके पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थित अज्ञानके नष्ट हो जानेपर शुद्धस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। प्राण-वायुके विलीन हो जानेपर और अपान-वायुके उदयके पूर्व बाह्य कुम्भकका चिरकालतक अभ्यास करनेसे योगी शोकसे रहित हो जाता है। अपान-वायुके विलीन होनेपर और प्राण-वायुके उदयसे पूर्व भीतरी कुम्भकका चिरकालतक अभ्यास करनेसे योगी शोकसे रहित हो जाता है। जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थानमें ये प्राण और अपान दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, आत्मस्वरूप ब्रह्मरूप पदका अवलम्बन करनेसे योगी अनुतप्त नहीं होता। महर्षे! जिस चिन्मय परब्रह्म परमात्मामें अपानके साथ प्राणका, प्राणके साथ अपानका तथा उन दोनोंके साथ बाह्य एवं आभ्यन्तर देश-कालका विलय हो जाता है, उसी परब्रह्मरूप पदका आप दर्शन कीजिये।

जिस समय अपानके प्राकट्यसे पूर्व प्राण विलीन हुआ रहता है, उस समय किसी प्रकारके यत्नके बिना स्वाभाविक सिद्ध हुई जो बाह्य-कुम्भक अवस्था है, उसीको योगीलोग 'परम पद' कहते हैं। किसी प्रकारके यत्नके बिना ही

सिद्ध हुआ अन्तःस्थ कुम्भक सर्वातिशायी ब्रह्मरूप परमपद है। यह परमात्माका वास्तविक स्वरूप है और यही सदा प्रकाशमय परम विशुद्ध चेतन है। इसको प्राप्त कर मनुष्य शोकसे रहित हो जाता है। जो प्राण-विलयका और जो अपान-विनाशका समीप एवं अन्तमें रहकर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपानके अंदर रहता है, हमलोग उस चेतन परमात्माकी उपासना करते हैं। जिसकी सत्ता-स्फूर्तिसे मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है एवं अहंकार अहंताको प्राप्त है, उस सच्चिदानन्दघन परमात्माकी हमलोग उपासना करते हैं। जिस परमात्मामें समस्त पदार्थ विद्यमान हैं, जिससे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है, जो सर्वात्मक है, जो सब ओर स्थित है और जो सर्वमय है, हमलोग उस चिन्मय परमात्माकी निरन्तर उपासना करते हैं। जो सम्पूर्ण ज्योतियोंका प्रकाशक है, जो समस्त पवित्रोंका भी परम पवित्र है, जो सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प आदि भावनाओंसे रहित है, उस चेतन परब्रह्म परमात्माकी हम उपासना करते हैं। जहाँपर प्राण विलीन हो जाता है; जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है तथा जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, हमलोग उस चेतन तत्त्वरूप परमात्माकी उपासना करते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर प्रदेशमें स्थित, योगियोंद्वारा अनुभूत होनेवाले जो दो प्राण और अपानकी उत्पत्तिके स्थान हैं, उन दोनोंके अधिष्ठानभूत चेतन तत्त्वकी हम उपासना करते हैं। जो प्राण और अपानके विवेकमें हेतु है, जो उनके अस्तित्वका ज्ञान करानेवाला है, जो स्वयं रूपरहित है एवं जो प्राणोपासनासे प्राप्तव्य है, उस चिन्मय विज्ञानानन्दघन परमात्माकी हम उपासना करते हैं। (सर्ग २५)

भुशुण्डकी वास्तविक स्थितिका निरूपण, वसिष्ठजीद्वारा भुशुण्डकी प्रशंसा, भुशुण्डद्वारा वसिष्ठजीका पूजन तथा आकाशमार्गसे वसिष्ठजीकी स्वलोकप्राप्ति

भुशुण्डने कहा—महामुने! मैंने प्राणसमाधिके द्वारा पूर्वोक्त रीतिसे विशुद्ध परमात्मामें यह चित्त-विश्रामरूप परम शान्ति क्रमशः स्वयं प्राप्त की है। मैं इस प्राणायामका अवलम्बन करके दृढ़तापूर्वक स्थित हूँ। इसलिये सुमेरुपर्वतके विचलित होनेपर भी मैं चलायमान नहीं होता। चलते-बैठते, जागते या सोते अथवा स्वप्नमें भी मैं अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिरूप समाधिसे विचलित नहीं होता; क्योंकि तपस्वियोंमें महान् वसिष्ठजी! प्राण और अपानके संयमरूप प्राणायामके अभ्याससे प्राप्त परमात्माके साक्षात् अनुभवसे मैं समस्त शोकोंसे रहित आदिकारण परमपदको प्राप्त हो गया हूँ। महन्! महाप्रलयसे लेकर प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं विनाशको देखता हुआ मैं ज्ञानवान् हुआ आज भी जी रहा हूँ। जो बात बीत चुकी और जो होनेवाली है, उसका मैं कभी चिन्तन नहीं करता। उपर्युक्त प्राणायामविषयक दृष्टिका अपने मनसे अवलम्बन करके इस कल्पवृक्षपर स्थित हूँ। न्याययुक्त जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं, उनका फलाभिलाषाओंसे रहित होकर केवल सुषुप्तिके समान उपरत बुद्धिसे अनुष्ठान करता रहता हूँ। प्राण और अपानके संयोगरूप कुम्भक-कालमें प्रकाशित होनेवाले परमात्मतत्त्वका निरन्तर स्मरण करता हुआ मैं अपने आपमें स्वयं ही नित्य संतुष्ट रहता हूँ। इसलिये मैं दोषरहित होकर चिरकालसे जी रहा हूँ। मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्यमें दूसरा सुन्दर पदार्थ प्राप्त करूँगा, इस प्रकारकी चिन्ता मुझे कभी नहीं होती। मैं अपने या दूसरे किसीके कार्योंकी किसी समय कहींपर कभी स्तुति और निन्दा नहीं करता। शुभकी प्राप्ति होनेपर मेरा मन हर्षित नहीं होता और अशुभकी प्राप्ति होनेपर कभी खिन्न नहीं होता; क्योंकि मेरा मन नित्य सम ही रहता है।

मुने ! मेरे मनकी चञ्चलता शान्त हो गयी है । मेरा मन शोकसे रहित, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है । इसलिये मैं विकार-रहित हुआ चिरकालसे जी रहा हूँ ।' लकड़ी, रमणी, पर्वत, तृण, अग्नि, हिम, आकाश—इन सबको मैं समभावसे देखता हूँ । जरा और मरण आदिसे मैं भयभीत नहीं होता एवं राज्य-प्राप्ति आदिसे हर्षित नहीं होता । इसलिये मैं अनामय होकर जीवित हूँ । ब्रह्मन् ! यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरेका है—इस प्रकारकी भेद-बुद्धिसे मैं रहित हूँ । ग्रहण और विहार करनेवाला, बैठने और खड़ा रहनेवाला, श्वास तथा निद्रा लेनेवाला यह शरीर ही है, आत्मा नहीं—यह मैं अनुभव करता हूँ । इसलिये मैं चिरजीवी हूँ । मैं जो कुछ किया करता हूँ, जो कुछ खाता-पीता हूँ, वह सब अहंता-ममतासे रहित हुआ ही करता हूँ । मैं दूसरोंपर आक्रमण करनेमें समर्थ हुआ भी आक्रमण नहीं करता, दूसरोंके द्वारा खेद पहुँचाये जानेपर भी दुःखित नहीं होता एवं दरिद्र होनेपर भी कुछ नहीं चाहता; इसलिये मैं विकार-रहित हुआ बहुत कालसे जी रहा हूँ । मैं आपत्तिकालमें भी चलायमान नहीं होता, वरं पर्वतकी तरह अचल रहता हूँ । जगत्-आकाश, देश-काल, परम्परा-क्रिया—इन सबमें चिन्मयरूपसे मैं ही हूँ, इस प्रकारकी मेरी बुद्धि है; इसलिये मैं विकाररहित हुआ बहुत कालसे स्थित हूँ । ज्ञानके पारंगत ब्रह्मन् ! एकमात्र आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही धृष्टतापूर्वक मैंने, जो और जैसा हूँ, वह सब आपसे यथार्थरूपसे बता दिया है ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—'ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज ! यह बड़े हर्षका विषय है, जो आपने कानोंके लिये भूषण-स्वरूप यह अत्यन्त आश्चर्यमयी अपनी अलौकिक स्थिति मुझसे कही है । वे महात्मा धन्य हैं, जो ब्रह्माजीके समान स्थित अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं । ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं, जो बराबर आपके दर्शन कर रहे हैं । आपने मुझसे बुद्धिको पवित्र करनेवाला अपना सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों ठीक-ठीक कहा है । मैंने सब दिशाओंमें भ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओंकी ज्ञान आदि विभूतियोंको देखा, परंतु इस जगत्में आपके समान दूसरे किसी महान् ज्ञानीको नहीं देखा । इस संसारमें भ्रमण करनेपर किसी-को किसी महान् पुरुषकी प्राप्ति हो भी सकती है; परंतु आप-जैसे ज्ञानी महात्माओंका प्राप्त होना तो इस जगत्में कहीं भी सुलभ नहीं है अर्थात् दुर्लभ है । पुण्य-देह एवं विमुक्तात्मा आपका अवलोकन करके मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकर एक बहुत बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया है । पक्षिराज ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम अपनी शुभ गुफामें प्रवेश करो; क्योंकि मध्याह्न कर्तव्यके लिये मेरा समय हो गया है; अतः मैं भी देवलोकमें जा रहा हूँ ।' श्रीराम ! यह सुनकर चिरंजीवी भुशुण्डने वृक्षसे उठकर अर्घ्य, पाद्य और पुष्पोंसे त्रिनेत्रधारी महादेवजीके समान मेरी पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की । तदनन्तर 'आप मेरे पीछे चलनेके लिये अधिक श्रम न करें' इस प्रकार कहता हुआ मैं आसनसे उठकर आकाशमार्गसे चला गया । भुशुण्डका स्मरण करते हुए



अरुन्धतीसे पूजित मैंने भी सप्तर्षि-मण्डलको प्राप्तकर मुनियोंका दर्शन किया।

श्रीराम! सत्ययुगके प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरु पर्वतके उस कल्पवृक्षपर भुशुण्डके साथ मैंने पहले-पहल भेंट की थी। इस समय सत्ययुगके क्षीण हो जानेपर त्रेतायुग चल रहा है और इस त्रेतायुगके मध्यमें आप प्रकट हुए हैं। आजसे आठ वर्ष पहले सुमेरु पर्वतके उसी शिखरके ऊपर ज्यों-का-त्यों अजररूपधारी वह भुशुण्ड मुझसे फिर मिला था। इस प्रकारका विचित्र उत्तम भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा, इसका श्रवण और विचार करके जैसा उचित समझो, वैसा करो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! बुद्धिमान् भुशुण्डकी इस उत्तम कथाका जो विशुद्धबुद्धि मनुष्य भली प्रकार विवेक-पूर्वक विचार करेगा, वह इसी शरीरमें जन्मादि भयोंसे परिपूर्ण इस माया-नदीको पार कर जायगा। (सर्ग २६-२७)

शरीर और संसारकी अनिश्चितता तथा भ्रान्तिरूपताका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप श्रीराम! इस प्रकार यह भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा। इस विवेक-युक्त यथार्थ बुद्धिसे भुशुण्ड मोह-संकटसे तर गया था। पूर्वोक्त प्राण और अपानकी उपासना करनेवाले सभी अनासक्तबुद्धि मनुष्य भुशुण्डकी तरह परमपदरूप परमात्मामें स्थिति प्राप्त करते हैं। श्रीराम! इन सब विचित्र विज्ञानोपासनाओंका तुमने श्रवण किया। अब बुद्धिका अवलम्बन करके जैसा उचित समझो, वैसा करो।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्! आपने जो भुशुण्डका उत्तम, यथार्थ तत्त्वका बोधक और आश्चर्यजनक श्रेष्ठ चरित्र कहा, उससे मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। ब्रह्मन्! मांस, चर्म और अस्थिसे निर्मित शरीररूपी घरका जो आपने वर्णन किया है, उसकी किसने रचना की, कहाँसे वह उत्पन्न हुआ, किस तरहसे स्थित हुआ और उसमें कौन रहता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! परब्रह्मरूप परमार्थ-तत्त्वको जाननेके लिये तथा संसारके कारणरूप अनेक दोषोंके विनाशके लिये मेरे द्वारा तत्त्वतः कहे जानेवाले इस उपदेशको तुम सुनो। श्रीराम! इस शरीररूपी घरका—जिसमें हड्डियाँ ही खंभे हैं, मुख आदि नौ दरवाजे हैं और जो रक्त और मांससे लीपा गया है—वास्तवमें किसीने भी निर्माण नहीं किया है। यह शरीर केवल आभासरूप (झलकमात्र) ही है—बिना निर्माताके ही अज्ञानसे भासित होता है। यह देह प्रतीत होता है, इसलिये इसे सत् कहा गया है और वास्तवमें यह नहीं है, इसलिये असत् कहा गया है। जैसे स्वप्नकालमें ही स्वाप्निक पदार्थ सत्-से प्रतीत होते हैं, किंतु जाग्रत्कालमें वे असत् हैं—उनका अत्यन्त अभाव है, तथा जैसे मृगतृष्णिकाका जल भी मृगतृष्णिकाकी प्रतीति होनेपर ही सत्-सा रहता है, अन्य विचारकालमें वह असत् रहता है, वैसे ही देहकी प्रतीति होनेपर देह सत्य-सी है और आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर असत्य है, अर्थात् उसका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ये शरीर आदि, जो केवल आभासरूप ही हैं, अज्ञानकालमें ही प्रतीत होते हैं।

श्रीराम! भला, बतलाओ तो सही कि सुख-शय्यापर सोये हुए तुम जिस स्वप्न-देहसे विविध दिशाओंमें परिभ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह किस स्थानमें स्थित है। स्वप्नोंमें भी जो दूसरा स्वप्न आता है, उस स्वप्नमें जिस देहसे बड़े-बड़े पृथिवी-तटोंपर तुम परिभ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह कहाँ स्थित है? मनोराज्यके भीतर कल्पित दूसरे मनोराज्यमें बड़े-बड़े वैभवपूर्ण स्थानोंमें

संकल्पद्वारा जिस देहसे तुम भ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह कहाँ स्थित है अर्थात् कहीं नहीं। श्रीराम! ये शरीर जिस प्रकार मानसिक संकल्पसे उत्पन्न—अतएव सत् और असद्रूप हैं, ठीक उसी प्रकार यह प्रस्तुत शरीर भी मानसिक संकल्पसे उत्पन्न—अतएव सद्रूप और असद्रूप हैं। यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है—इस प्रकारकी जो भ्रमजनित प्रतीति होती है, वह भी अज्ञानसे ही होती है; क्योंकि धन आदि सब कुछ चित्तजनित संकल्पका ही कार्य है। रघुनन्दन! इस संसारको एक तरहका दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझना चाहिये। स्वप्न और संकल्पोंसे (मनोराज्योंसे) जैसे एक विलक्षण बिना हुए ही जगत्की प्रतीति होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत्की स्थिति भी एक प्रकारसे संकल्प-जनित एवं विलक्षण (अनिर्वचनीय) ही है; क्योंकि वह बिना हुए ही प्रतीत होती है। श्रीराम! पौरुष-प्रयत्नसे मनको अन्तर्मुख बनानेपर जब परमात्माके तत्त्वका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार संकल्प चिन्मय परमात्मरूप ही अनुभव होने लगता है, किंतु यदि उसकी विपरीत रूपसे भावना की जाय तो विपरीत ही अनुभव होने लगता है (भावनाके अनुसार ही संसार है)। क्योंकि 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है'—इस प्रकारकी भावना करनेपर देहादि जगद्रूप संकल्प जो सत्य-सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ़ भावनासे ही होता है। दिनके व्यवहारकालमें मनुष्य जैसा अभ्यास करता है, वैसा ही स्वप्नमें उसे दिखलायी पड़ता है। उसी प्रकार बारबार जैसी भावना की जाती है, वैसा ही यह संसार दिखलायी देता है। जैसे स्वप्नकालमें थोड़ा-सा समय भी अधिक समय प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार अल्पकालस्थायी और विनाशशील होनेपर भी स्थिर प्रतीत होता है।

जैसे सूर्यकी किरणोंसे मरुभूमिमें मृगतृष्णा-नदी दिखायी देती है, वैसे ही ये पृथिवी आदि पदार्थ वास्तविक न होनेपर भी संकल्पसे सत्य-से दिखायी देते हैं। जिस प्रकार नेत्रोंके दोषसे आकाशमें मोरपंख दिखायी देते हैं, वैसे ही बिना हुए ही यह जगत् मनके भ्रमसे प्रतीत होता है। किंतु दोषरहित नेत्रसे जैसे आकाशमें मोरपंख नहीं दिखायी देते, वैसे ही यथार्थ ज्ञान होनेपर यह जगत् दिखलायी नहीं पड़ता। श्रीराम! जिस प्रकार डरपोक मनुष्य भी अपने कल्पित मनोराज्यके हाथी, बाघ आदिको देखकर भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि यह मेरी कल्पनाके सिवा और कुछ नहीं है, वैसे ही यथार्थ ज्ञानी पुरुष इस संसारको कल्पित समझकर भयभीत नहीं होता; क्योंकि ये भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् प्रतीतिमात्र ही हैं। वे वास्तवमें नहीं हैं, इसलिये सत् नहीं हैं और उनकी प्रतीति होती है, इसलिये उनको सर्वथा असत् भी नहीं कह सकते; अतएव अन्य कल्पनाओंका अभाव ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान है। इस संसारमें व्यवहार करनेवाले सभी मनुष्योंको अनेक प्रकारकी आपदाएँ स्वाभाविक ही प्राप्त हुआ करती हैं। क्योंकि यह जगत्-समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है, जैसे समुद्रमें बुद्बुदों-का समूह; फिर इस विषयमें शोक ही क्या। परमात्मा जो सत्य वस्तु है, वह सदा सत्य ही है और यह दृश्य जो असत्य वस्तु है, वह सदा असत्य ही है; इसलिये मायारूप विकृतिके वैचित्र्यसे प्रतीयमान इस प्रपञ्चमें ऐसी दूसरी कौन वस्तु है, जिसके विषयमें शोक किया जाय?

इसलिये असत्यभूत इस संसारमें तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि जैसे रज्जुसे बैल दृढ़ बँध जाता है, वैसे ही आसक्तिसे यह मनुष्य दृढ़ बँध जाता है। अतः निष्पाप श्रीराम! 'यह सब ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकार समझकर तुम आसक्तिरहित हुए इस संसारमें विचरण करो। मनुष्यको विवेक-बुद्धिसे आसक्ति और

अनासक्तिका परित्याग करके अनायास ही शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये, शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका कभी नहीं। अर्थात् उनकी सर्वथा उपेक्षा कर देनी चाहिये। यह दृश्यमान प्रपञ्च केवल प्रतीतिमात्र है, वास्तवमें कुछ नहीं है—यों जिस मनुष्यको भलीभाँति अनुभव हो जाता है, वह अपने भीतर परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। अथवा 'मैं और यह सारा प्रपञ्च चैतन्यात्मक परब्रह्मस्वरूप ही है'—इस प्रकार अनुभव करनेपर अनर्थकारी यह व्यर्थ जगद्रूपी आडम्बर प्रतीत नहीं होता। श्रीराम! जो कुछ भी आकाशमें या स्वर्गमें या इस संसारमें सर्वोत्तम परमात्म-वस्तु है, वह एकमात्र राग-द्वेष आदिके विनाशसे ही प्राप्त हो जाती है। किंतु राग-द्वेष आदि दोषोंसे आक्रान्त हुई बुद्धिके द्वारा जैसा जो कुछ किया जाता है, वह सब कुछ मूढ़ोंके लिये तत्काल ही विपरीत रूप (दुःखरूप) हो जाता है। जो पुरुष शास्त्रोंमें निपुण, चतुर एवं बुद्धिमान् होकर भी राग-द्वेष आदिसे परिपूर्ण हैं, वे संसारमें शृगालके तुल्य हैं। उन्हें धिक्कार है। धन, बन्धुवर्ग, मित्र—ये सब बार-बार आते और जाते रहते हैं; इसलिये उनमें बुद्धिमान् पुरुष क्या अनुराग करेगा। कभी नहीं, उत्पत्ति-विनाशशील भोग-पदार्थोंसे परिपूर्ण संसारकी रचनारूप यह परमेश्वरकी माया आसक्त पुरुषोंको ही अनर्थ गर्तोंमें ढकेल देती है। राघव! वास्तवमें धन, जन और मन सत्य नहीं हैं, किंतु मिथ्या ही दीख पड़ते हैं। क्योंकि आदि और अन्तमें सभी पदार्थ असत् हैं और बीचमें भी क्षणिक एवं दुःखप्रद हैं; इसलिये बुद्धिमान् पुरुष आकाश-वृक्षके सदृश कल्पित इस संसारसे कैसे प्रेम करेगा। (सर्ग २८)

संसार-चक्रके अवरोधका उपाय, शरीरकी नश्वरता और आत्माकी अविनाशिता एवं अहंकाररूपी चित्तके त्यागका वर्णन तथा श्रीमहादेवजीके द्वारा श्रीवसिष्ठजीके प्रति निर्गुण-निराकार परमात्माकी पूजाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब केवल संकल्परूपी नाभिका भली प्रकार अवरोध कर दिया जाता है, तभी यह संसाररूपी चक्र घूमनेसे रुक जाता है। किंतु संकल्पात्मक मनोरूप नाभिको राग-द्वेष आदिसे क्षोभित करनेपर यह संसाररूपी चक्र रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी वेगके कारण चलता ही रहता है। इसलिये परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर श्रवण, मनन, निदिध्यासनकी युक्तियोंके द्वारा ज्ञानरूपी बलसे चित्तरूपी संसार-चक्रकी नाभिका अवश्य अवरोध करना चाहिये। क्योंकि कहींपर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्यसे परिपूर्ण शास्त्रसम्मत परम पुरुषार्थसे प्राप्त न की जा सके।* श्रीराम! आधि और व्याधिसे निरन्तर दुःखित, अश्रु आदिसे क्लिन्न तथा स्वयं विनाशशील इस शरीरमें उस प्रकारकी भी स्थिरता नहीं रहती, जिस प्रकारकी चित्रलिखित पुरुषमें रहती है। चित्रित मनुष्यकी यदि भलीभाँति रक्षा की जाय तो वह दीर्घकालतक सुशोभित रहता है; किंतु उसका बिम्बरूप शरीर तो अनेक यत्नोंसे रक्षित होनेपर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। स्वप्न आदिका शरीर स्वप्नकालीन संकल्पसे जनित होनेके कारण दीर्घकालीन सुख-दुःखोंसे आक्रान्त नहीं होता। यह शरीर तो दीर्घकालीन संकल्पसे उत्पन्न होनेके कारण दीर्घकालके दुःखोंसे आक्रान्त रहता है। संकल्पमय यह शरीर स्वयं भी नहीं है और न आत्माके साथ इसका सम्बन्ध ही है; अतः इस शरीरके लिये यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेशका भाजन क्यों बनता है? अर्थात् इसमें एकमात्र अज्ञान ही हेतु है। जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुषका क्षय या विनाश हो जानेपर बिम्बरूप देहकी हानि नहीं होती, उसी प्रकार संकल्पजनित पुरुषका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी

* प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसंवलितेन च।
पौरुषेण न यत्प्राप्तं न तत्क्वचन लभ्यते॥
(नि० पू० २९। ८)

हानि नहीं होती। जिस प्रकार मनोराज्यमें उत्पन्न शरीर आदि पदार्थोंका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती, जिस प्रकार स्वप्नमें उत्पन्न पदार्थोंका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी हानि नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका-नदीके जलका क्षय या विनाश हो जानेपर वास्तविक जलकी कुछ भी हानि नहीं होती, उसी प्रकार एकमात्र सङ्कल्पसे उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्रका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती। अतः शरीरके लिये शोक करना निरर्थक ही है। चित्तके संकल्पसे कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्नमय इस देहके अलङ्कारोंसे भूषित या आधि-व्याधिसे दूषित हो जानेपर चेतन आत्माकी कुछ भी हानि नहीं है। श्रीराम! देहका विनाश होनेपर चेतन आत्मा विनष्ट नहीं होता।

अज्ञानरूपी चक्रके ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा जिस देहके जन्म-मरणरूपी चक्रको देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्तिको देनेवाला, स्वयं भ्रान्तिरूप, पतनोन्मुख स्वरूपसे ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ-गर्तोंमें गिराया गया, हत एवं हन्यमान ही दीख पड़ता है। इसलिये मनुष्यको उत्तम धैर्यका भली प्रकार आश्रय लेकर इस अनादि दृढीभूत भ्रमका परित्याग कर देना चाहिये। मिथ्या अज्ञानके द्वारा एकमात्र सङ्कल्पसे उत्पन्न हुआ यह शरीर सत्य-सा होनेपर भी वास्तवमें असत्य ही है; क्योंकि जो वस्तु अज्ञानसे उत्पन्न हुई है, वह किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती। श्रीराम! जड पदार्थके द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह किया हुआ नहीं माना जाता, इसलिये यह देह कार्य करता हुआ भी कहीं कुछ भी नहीं करता। जड देह तो इच्छासे रहित है और इस निर्विकार आत्मामें इच्छा रहती नहीं, इसलिये कोई कर्ता है ही नहीं। आत्मा शरीरका द्रष्टामात्र है। अपने शरीररूपी घरसे चित्तरूपी वेतालको हटा देनेपर इस संसाररूपी शून्य नगरमें पुरुष कभी भी नहीं डरता। विशुद्ध बुद्धिसे अहंकारकी वासना छोड़कर और अहंकारको सर्वथा भूलकर शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्माका ही अवलम्बन करना चाहिये। अहंकारसे युक्त बुद्धिसे जो क्रिया की जाती है, विषवल्लीके सदृश उसका फल मरणरूप ही होता है। विवेक एवं धैर्यसे रहित जिस मूर्खने अपने अहंकाररूपी महोत्सवका अवलम्बन किया, उसे तुम तत्काल विनष्ट हुआ ही समझो। राघव! जिन बेचारोंको अहंकाररूपी पिशाचने अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियोंके इन्धन ही बन गये अर्थात् वे नरककी ज्वालासे जलते रहते हैं। पापशून्य राघव! 'हा! हा! मैं मर गया हूँ', 'मैं जल गया हूँ' इत्यादि जो दुःखवृत्तियाँ हैं, वे अहंकाररूपी पिशाचकी ही शक्तियाँ हैं, दूसरेकी नहीं। जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश यहाँ किसीसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहंकारसे लिप्त नहीं होता। श्रीराम! प्राणवायुसे युक्त यह चञ्चल देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो कुछ लेता है वह सब अहंकारकी ही चेष्टा है।

श्रीराम! जड चित्तका, जो आत्मासे सर्वथा पृथक् है, चेतन आत्माके साथ कभी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। चित्त ही आत्मा है—यों अज्ञानसे ही प्रतीत होता है। यह जो आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप (चैतन्यरूप), अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है, जब कि अहंकाररूप चित्त तो मूर्ख और हृदयवर्ती सबसे बड़ा अज्ञान है। जिस पुरुषका चित्तरूपी वेताल शान्त हो चुका है, ऐसे पुरुषका गुरु, शास्त्र, धन और बन्धु उसी प्रकार उद्धार करनेमें समर्थ हैं, जिस प्रकार अल्प कीचड़में फँसे हुए पशुका मनुष्य उद्धार करनेमें समर्थ हो। इस जगत्‌रूपी महान् अरण्यमें अपनेद्वारा ही स्वयं दृढतासे धैर्य धारणकर अपना उद्धार कर लेना चाहिये। श्रीराम! मनुष्यको उचित है कि विषयरूपी सर्पोंका बहिष्कार कर दे, आर्योंके मार्गका अनुसरण करे और महावाक्योंके अर्थका भली प्रकार विचार करके अपनी अद्वितीय आत्माका ही आश्रय ले। मनुष्यको अपवित्र, तुच्छ, भाग्यरहित तथा दुष्ट आकृतिवाले इस शरीरके आरामके लिये विषयभोगमें कभी नहीं फँसना चाहिये; क्योंकि इसमें फँसे हुए पुरुषोंको चिन्तारूप

क्रूर राक्षसी या डाकिनी है । जैसे पत्थरका पत्थरपन अथवा जैसे घटका घटपना सामान्य सत्तास्वरूप परमात्मासे अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि-व्यष्टि मन आदि भी परमात्मासे अभिन्न ही हैं । श्रीराम ! इस विषयमें आगे कही जानेवाली महान् अज्ञानकी नाशक मानस-शिवपूजारूप यह दूसरी बात तुम श्रवण करो, जो चन्द्रमौलि भगवान् शंकरने कैलास पर्वतकी कन्दरामें जन्म-मरणरूप दुःखकी शान्तिके लिये मेरे समक्ष कही थी ।

कैलासनामक एक पर्वतोंका राजा है । वह अपनी ऊँचाईसे स्वर्गलोकको भी पार कर गया है और वह उमापति भगवान् श्रीशंकरका निवासस्थान है । वहाँपर स्वयं प्रकाशमान भगवान् महादेवजी रहते हैं । पहले किसी समय उसी पर्वतपर उन देवाधिदेवकी पूजा करता हुआ मैं गङ्गाजीके किनारे आश्रम बनाकर रहता था । तपके लिये वहाँपर मैंने दीर्घकालतक तपस्वियोंके आचरणका अनुसरण किया । वहाँपर मेरे चारो ओर सिद्धोंके समूह रहते थे । मैं उनसे विचार-विनिमय करके शास्त्रीय दुरूह तत्त्वोंका अनुशीलन करता था । मैंने फूल चुननेके लिये एक डलिया रख छोड़ी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकें भी जुटा रखी थीं । श्रीराम ! उस तरहके गुणोंसे सम्पन्न कैलासवनके कुञ्जोंमें तपश्चर्या करते हुए मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया । इसके अनन्तर किसी एक समयकी बात है—श्रावणके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथि थी और रात्रिका प्रथम भाग यानी प्रदोषकाल पूजा, जप, ध्यान आदिमें व्यतीत हो चुका था । उस समय उस अरण्यमें मैंने तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज देखा । वह तेज सैकड़ों बादलोंके तुल्य सफेद एवं असंख्य चन्द्रबिम्बोंके सदृश चमकीला था, उस तेजकी चकाचौंधसे दिशाओंके समस्त कुञ्ज चमक उठे । उसे देखकर मैंने भीतरकी प्रकाशमान दिव्य-दृष्टिसे उसके विषयमें विचार किया और तदनन्तर फिर बाह्यदृष्टिसे विशेष अवयवोंके अनुसंधानपूर्वक उसका अवलोकन किया । विचारकर ज्यों ही मैं सामनेका शिखर-प्रदेश देखता हूँ, त्यों ही चन्द्रकलाधर महादेवजी उपस्थित हो



गये । वहाँ अर्घ्यपात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न-मन मैं उन गौरीपतिके निकट गया । तदनन्तर चन्द्रज्योत्स्नाके समान कोमल, शीतल तथा समस्त संतापोंका अपहरण करनेवाली उस महादेवजीकी दृष्टिका मैं दीर्घकालतक भाजन बना रहा । पुष्पोंके शिखरपर उपविष्ट तीनों लोकोंके साक्षी उन देवाधिदेवको मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य समर्पण किया । उनके सामने मैंने अनेक मन्दार-पुष्पोंकी अञ्जलियाँ बिखेर दीं और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रोंसे शिवजीका अभ्यर्चन किया । तदनन्तर मैंने शिवजीकी पूजाके सदृश ही पूजासे सखियोंसे युक्त तथा गणमण्डलसे परिवेष्टित भगवती गौरीका उत्तम रीतिसे पूजन किया । पूजाकी समाप्ति होनेपर उनकी आज्ञासे पुष्पमय शिखरपर बैठे हुए मुझसे अर्धचन्द्रकी कला धारण करनेवाले भगवान् उमापति परिपूर्ण हिमांशुकी किरणके सदृश शीतल वाणीसे कहने लगे ।

भगवान् उमापतिने कहा—ब्रह्मन्! शान्तिसे युक्त, परमात्मामें विश्राम लेनेवाली तथा कल्याण करनेवाली तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ अपने स्वरूपमें अवस्थित तो हैं? तुम्हारा कल्याणकारी तप निर्विघ्नरूपसे बराबर चल रहा है न? तुमने प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न? और सांसारिक भय शान्त हो रहे हैं न?

(*श्रीवसिष्ठजी कहते हैं*—) रघुनन्दन! समस्त लोकोंके एकमात्र हेतु देवाधिदेव महादेवजीके उस प्रकार कहनेके अनन्तर विनययुक्त वाणीसे मैंने उनसे निवेदन किया—'महेश्वर! देवाधिदेव! त्रिलोचन! आपकी निरन्तर स्मृतिसे प्राप्त हुए उत्तम कल्याणसे सम्पन्न पुरुषोंके लिये इस संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है और न किसी तरहके भय ही हैं। आपके निरन्तर स्मरणसे जनित आनन्दके कारण जिनका चित्त चारों ओरसे मुग्ध हो गया है, ऐसे पुरुषोंको इस जगत्कोशमें सभी प्राणी प्रणाम करते हैं। एकमात्र आपके अनुस्मरणमें निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही पर्वत प्रशस्ततम हैं। प्रभो! आपका अनुस्मरण पूर्व-संचित, वर्तमान और भविष्यके पुण्यसमूहकी वृद्धि करता है। आपका अनुस्मरण ज्ञानरूपी अमृतका एकमात्र आधार-भूत कलश है, धृतिरूपी ज्योत्स्नाके लिये चन्द्रमा है और मोक्षरूपी नगरका द्वार है। समस्त भूतोंके अधिपते! आपके निरन्तर चिन्तनरूपी उदार चिन्तामणिसे शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्यत्कालीन आपत्तियोंको पैरसे ठुकरा दिया है।' श्रीराम! सुप्रसन्न उन भगवान् शंकरजीसे यों कहकर फिर नतमस्तक हो मैंने जो कुछ कहा, उसे तुम सुनो! 'भगवन्! यद्यपि आपकी अनुकम्पासे मेरे लिये समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थोंसे परिपूर्ण हैं, तथापि देवेश! मुझे जो एक संदेह है, उसके विषयमें आपसे निर्णय पूछता हूँ। प्रभो! वह देवार्चन-विधान किस तरहका है, जो उद्वेगका नाशक, विकाररहित, समस्त पापोंका विनाशकारी तथा समस्त कल्याणोंका अभिवर्धक है? उसे प्रसन्नमतिसे आप मुझसे कहिये।'

श्रीमहादेवजीने कहा—ब्रह्मज्ञानियोंमें अग्रगण्य मुनिवर! मैं तुमसे सर्वश्रेष्ठ वह देवार्चनका विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करनेसे तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो आदि और अन्तसे रहित, वास्तविक ज्ञानस्वरूप है, वही 'देव' कहा जाता है। सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला सत्-स्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही 'देव' शब्दका वाच्य है, इसलिये उसीकी पूजा करनी चाहिये। कौन पूज्य है, इस विषयका तात्त्विक ज्ञान रखने-वाले विद्वान् कहते हैं कि एकमात्र निर्गुण निराकार विज्ञानानन्दघन विशुद्ध परमात्मा शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्रीमें ज्ञान, समता और शान्ति—ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं। महर्षे! ज्ञानस्वरूप परमात्मदेवकी ज्ञान, समता और शान्तिरूप पुष्पोंसे जो पूजा की जाती है, उसीको आप वास्तविक देवार्चन जानिये। परमात्मा ही विज्ञानस्वरूप देव, भगवान् शिव और परम कारण-स्वरूप है। अतः ज्ञानरूप पूजन-सामग्रीसे उसीकी सदा-सर्वदा पूजा करनी चाहिये। वसिष्ठजी! आप जीवात्माको चिन्मय आकाशस्वरूप अविनाशी अकृत्रिम सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप ही जानिये। एकमात्र वह परमात्मा ही पूज्य है, उसके सिवा दूसरा कोई पूज्य नहीं है। अतः उस विज्ञानानन्दघन परमात्माकी पूजा ही पूजा है। महर्षे! जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो आपका—'तत्' पदार्थका, मेरा तथा समस्त जगत्का स्वरूपभूत है, एवं जो स्वयं परिपूर्णस्वरूप है, ज्ञानरूप सामग्रीसे पूजा करने योग्य उस देवका मैंने आपसे वर्णन कर दिया। सभी वस्तुओंका, समस्त जगत्का, दूसरेका, आपका और मेरा सर्वव्यापी चिन्मय परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं। (सर्ग २९)

चेतन परमात्माकी सर्वात्मता

श्रीमहादेवजीने कहा—ब्रह्मन् ! इस रीतिसे यह समस्त संसार एकमात्र परमात्मस्वरूप ही है । ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है । इस परमदेवका पूजन सबमें कल्याणकर है । उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है । वही समस्त जगत्-सृष्टिके आरोपका अधिष्ठान है और उसीमें यह सब व्यवस्थित है । स्वाभाविक आदि-अन्तसे रहित, अद्वितीय, अखण्ड नित्य परमानन्द उसी एकमात्र देवके अर्चनसे प्राप्त होता है । वह सच्चिदानन्द कल्याणस्वरूप शिव समस्त गुणोंसे अतीत और सम्पूर्ण सकल्पोंसे रहित है । मुने ! देश और काल आदि परिच्छेदोंसे रहित, समस्त संसारका प्रकाश करनेवाला विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा ही देव कहा जाता है । वही परब्रह्म परमात्मा 'ॐ', 'तत्', 'सत्' —इन नामोंसे कहा गया है । वह स्वभावतः महान्, ध्रुव, सत्यस्वरूप है, सर्वत्र समभावसे व्यापक है; वही महान् चेतन और परमार्थस्वरूप कहा जाता है । पापशून्य मुने ! अरुन्धतीका और आपका जो चैतन्य तत्त्व है, पार्वतीजी-का, मेरा और गणोंका जो चैतन्य तत्त्व है तथा जो चैतन्य तत्त्व तीनों जगत्में परिपूर्ण है, उत्तममति तत्त्वज्ञ लोग उसे ही परमदेव परमात्मा समझते हैं । एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्य संसारका सार है; इसलिये सकल-सारभूत वस्तुओंकी भी साररूपताको प्राप्त हुआ वह सर्वरूप परम देव परमात्मा मैं हूँ । ब्रह्मन् ! वह परमात्मा सर्वव्यापी होनेसे किसीके लिये भी दूर नहीं है; अतः वह किसीके लिये दुष्प्राप्य भी नहीं है । वह शरीरके बाहर-भीतर—सर्वत्र स्थित है । वही यह परमात्मा चिन्मय, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और मायारहित है । देव, दानव और गन्धर्वों तथा पर्वत, समुद्र आदिसे युक्त यह सम्पूर्ण जगत् उस चैतन्यमें स्थित होकर कर्मानुसार उसी प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार जल-भँवरमें जल ।

ब्रह्मन् ! चिन्मय परमात्माने ही गदा, चक्र आदि आयुधोंसे युक्त चतुर्भुज विष्णुरूपसे समस्त असुर-समूहका उसी प्रकार विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षाऋतु इन्द्रधनुषसे युक्त मेघरूपसे आतपका विनाश कर देती है । चेतन परमात्माने ही वृषभ और चन्द्रमाके चिह्नोंसे युक्त त्रिनेत्र रूप धारण कर गौरीको प्राप्त किया है । चेतन परमात्मा ही भगवान् विष्णुके नाभि-कमलमें भ्रमरके समान ध्यानमें तल्लीन एवं वेदत्रयीरूपी कमलिनीका महान् सरोवरस्वरूप ब्रह्माजीका रूप धारण करता है । इसी महाचैतन्य परमात्माके सकाशसे सूर्य-चन्द्रमा आदि सदा प्रकाशित होते हैं । निर्मल चेतनरूपी चन्द्रबिम्बमें खरगोश-की तरह सम्बन्ध प्राप्तकर यह जगत्में स्थित पदार्थोंकी शोभा सर्वत्र दिखायी पड़ती है । भद्र ! सुनो, यद्यपि इस देह-रूपी वृक्षमें हाथ, पैर आदि अपने अङ्ग ही शाखाएँ हैं और केशोंका समूह ही सुन्दर लताओंका समूह है, तथापि यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूपसे चेतनके सम्बन्धके बिना किसी तरह शोभित हो सकता है ? चराचर पदार्थोंका निर्माण करनेवाला भी यह चेतन ही है, दूसरा नहीं । इसलिये एकमात्र चेतन ही अपने संकल्पसे जगत्रूपमें प्रकट है । ब्रह्मन् ! वस्तुतः इस शरीरमें दो प्रकारका सर्वभूत-स्वरूप चेतन है—एक तो चञ्चलस्वभाव जीवात्मा और दूसरा निर्विकल्प परम चेतन परमात्मा । वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्पसे जीवात्माके रूपमें अपनेसे भिन्न-सा होकर स्थित है । वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्पसे आकाश आदि पाँच भूतों, शब्दादि पाँच विषयों, प्राणा-पानादि पाँच प्राणों और देश-कालके रूपमें परिणत होता है । सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही नारायण होकर समुद्रमें शयन करता है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मलोकमें ध्यानस्थित रहता है, हिमालय पर्वतपर पार्वतीके सहित महादेवजीका रूप धारण कर निवास करता है और वैकुण्ठमें देवश्रेष्ठ विष्णुका रूप धारणकर रहता है । वह परमात्मा ही सूर्य बनकर

दिवसका निर्माण करता है, मेघ बनकर जल बरसाता है, वायु बनकर बहता है। सबका आत्मा, सर्वत्र व्यापक एवं अपनी समस्त संकल्पशक्तिके प्रभावसे सर्वस्वरूप होनेके कारण वह चिन्मय ब्रह्म जगत्-रूप हो जाता है। वास्तवमें तो वह विज्ञानानन्द परमात्मा आकाशसे भी बढ़कर निर्मल और सूक्ष्म है। वह परमात्मा जब-जब जहाँपर जिस भावसे जिस तरह संकल्प करता है, तब-तब वहाँ वैसा ही बन जाता है। (सर्ग ३०)

शुद्ध चेतन आत्मा और जीवात्माके स्वरूपका विवेचन

श्रीमहादेवजीने कहा—ब्रह्मन्! चेतन जीवात्मा अज्ञानके कारण 'मैं दुखी हूँ' इस भावनासे व्यर्थ ही दुखी होता है और 'मै नष्ट हो गया; मै मर गया' यों भावना करता हुआ रोता रहता है। किंतु जिस प्रकार पत्थरमें तेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चेतन आत्मामें दृश्य, दर्शन और द्रष्टाकी त्रिपुटी नहीं रहती। जैसे चन्द्रमामें कालिमा नहीं रहती, वैसे ही शुद्ध आत्मामें कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते। जिस प्रकार आकाशमें नवीन अङ्कुरका अभाव है, उसी प्रकार आत्मामें प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—इन तीनोंका अभाव है। जिस प्रकार नन्दन-वनमें खैरके वृक्षका अभाव है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मामें मन, मनन और दृश्य विषयका अभाव है। जैसे आकाशमें पर्वतका अभाव है, वैसे ही शुद्ध चेतनमें मैं-पना, तू-पना और वह-पना आदि नहीं है। जैसे काजलमें सफेदी नहीं रहती, वैसे ही चेतनमें अपनी देह तथा परायी देहका भाव नहीं रहता। वह शुद्ध चेतन आत्मा केवल, निर्विकल्प, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण तेजोंको भी प्रकाशित करनेवाला, स्वच्छ और परम श्रेष्ठ है। वह सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला, सर्वव्यापक, नित्य शुद्ध, नित्य प्रकाशरूप, मनसे रहित, निर्विकार और निरञ्जन है। एक वही घट और पटमें, वट और दीवालमें, शकट और वानरमें, गदहे और असुरमें, सागर और आकाशादि भूतोंमें तथा नर और नागमें—सर्वत्र व्यापक होकर स्थित है। वह शुद्ध हुआ भी मलिन-सा, निर्विकल्प हुआ भी सविकल्प-सा, चेतन हुआ भी जड-सा और सर्वव्यापी हुआ भी एकदेशीय-सा प्रतीत होता है। कर्मेन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें तत्परता संकल्पसे होती है। वह संकल्प मननजनित है। वह मनन चित्तकी अशुद्धिके कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूप चेतन सर्वविध मलोंसे रहित है। जिस प्रकार स्फटिक-शिलामें अरण्य, पर्वत, नदी आदिका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अपने स्वरूपमें ही स्थित प्रकाशस्वरूप नित्य चेतनके अन्तःकरणमें इस जगत्का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस जगत्को अपने संकल्पमें धारण करनेवाला अद्वितीय, निर्विकार चेतन न उत्पन्न होता है न विनष्ट होता है, न क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। अर्थात् वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित है। असत्स्वरूप यह जगत् अज्ञानके कारण विशाल स्वप्नकी तरह आत्मामें ही प्रतीत होता है। किंतु वास्तवमें मृगतृष्णिका-जलके सदृश प्रतीत होनेवाला यह जगत् तनिक भी सत्य नहीं है। मुने! यह परम चेतन आत्मा अपने पुर्यष्टकमें* ही प्रतिबिम्बित होता है, जैसे स्वच्छ दर्पणमें ही प्रतिमा दिखलायी पड़ती है। महर्षे! अनेक प्रकारकी कल्पनाओंसे ग्रस्त यह पुर्यष्टकरूप दृश्यसमूह शुद्ध चिन्मय आत्मासे ही उत्पन्न होता है, उसीमें स्थित और विलीन हो जाता है। इसलिये यह सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध चेतन आत्मस्वरूप ही है, दूसरा नहीं—यह जानिये।

---

* मनो बुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम्।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः॥
(नि० पू० ५१। ५०)

'मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठोंका समूह 'पुर्यष्टक' कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है।'

जिस प्रकार जड लोहा लोह-चुम्बकके सान्निध्यसे संचरणशील होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी सत्स्वरूप परमात्माके सांनिध्यसे यह जीवात्मा संचरणशील होता है। अर्थात् सर्वत्र स्थित परमात्मशक्तिसे ही यह जीव चेष्टा करता है। यह जीव अज्ञानसे अपने वास्तविक स्वरूपको भूल जानेके कारण देहके सम्बन्धसे जड-सा हो गया है तथा अपना विशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव भूल जानेके कारण ही यह चेतन चित्त-सा बन गया है। ब्रह्मन्! परमात्माने ही शरीररूपी गाड़ी खींचनेके लिये मन:शक्ति और प्राण-शक्ति—ये दो सुदृढ़ बैल उत्पन्न किये है। सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माके सकाशसे ही यह जीव जीवन धारण करता है, जिस प्रकार दीपकके सकाशसे घर शोभा देता है। अज्ञानके कारण इस जीवकी आधियाँ एव व्याधियाँ उसी प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती है, जिस प्रकार जलका तरङ्गरूप और उस तरङ्गरूपका फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है। सर्वशक्तिरूप होनेपर भी वही चेतन जीवात्मा अज्ञानके कारण 'मै चेतन नहीं हूँ' इस भावनासे इस देहमें परवशता प्राप्त करता है, किंतु अपने स्वरूपके ज्ञानसे मोह-रहित हो जाता है। हृदयरूप कमल-पत्रके चेष्टा-रहित हो जानेपर ये प्राण शान्त हो जाते है, जिस प्रकार पंखेके कम्पनशून्य हो जानेपर पवनकी शक्तियाँ विलीन हो जाती है। हृदयरूप कमल-पत्रके स्फुरणसे यह पुर्यष्टक विस्पष्ट हो जाता है और हृदय-कमलरूप मन्त्र जब चलनेसे रुक जाता है यानी निश्चल हो जाता है, तब वह भी विनष्ट हो जाता है। द्विजवर! जबतक देहमें पुर्यष्टक विद्यमान रहता है, तबतक देह जीवित रहती है और जब देहमेंसे पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब देह 'मृत' कही जाती है। किंतु जब शरीरका हृदय-कमलरूपी यन्त्र सदा चलता रहता है, तब यह जीव अपने संकल्पवश प्रकृतिके अधीन हुआ कर्म करता रहता है। पर राग-द्वेषरहित विशुद्ध वासना जिनके हृदयमें रहती है, वे अटल एवं एकरूप रहनेवाले मनुष्य जीवन्मुक्त है। हृदय-कमलरूपी यन्त्रके रुक जाने तथा प्राणके शान्त हो जानेपर यह देह पृथ्वीपर लकडी और ढेले आदिकी भाँति गिर जाती है। मुने! ज्यों ही हृदयाकाशके वायुमें अर्थात् प्राणमें यह पुर्यष्टक लीन हो जाता है, त्यों ही मन भी प्राणमें ही विलीन हो जाता है। जिस प्रकार घरके लोगोके घर छोडकर दूर चले जानेपर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एवं प्राणसे शून्य हुआ यह शरीर शवरूप हो जाता है। जिस प्रकार नाना प्रकारके पत्ते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्षसे झड़ जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियोके ये शरीर भी झड जाते है—विनष्ट हो जाते है। जीवोंके ये शरीर और वृक्षोंके पत्ते उत्पन्न और नष्ट होते ही रहते हैं, अत: उनके विषयमें शोक ही क्या है। चैतन्य-समुद्र परमात्मामें ये देहरूपी बुद्बुद कहीं एक प्रकारके तो कहीं दूसरे प्रकारके उत्पन्न होते रहते है। बुद्धिमान् जन विनाशशील समझकर इनपर विश्वास नही करते।

(सर्ग ३१-३२)

संकल्पत्यागसे द्वैतभावनाकी निवृत्ति और परमपद-स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—मस्तकमें अर्धचन्द्र धारण करनेवाले महादेव! व्यापकस्वरूप अनन्त एवं अद्वितीय चेतन ब्रह्म-तत्त्वमें द्वित्व (भेद) कैसे प्राप्त हुआ? एव उसका बुद्धिसे निवारण कैसे हो, ताकि जीवके दु:खोका सर्वथा नाश हो जाय?

श्रीमहादेवजीने कहा—जब वह ब्रह्म सत्स्वरूप, अद्वितीय और सर्वशक्तिमान् है, तब उसमे यह भेद और अभेदकी कल्पना ही निर्मूल है। जैसे तरङ्ग, कण, कल्लोल और जलप्रवाह जलसे विभक्त नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्मकी सर्वशक्ति वास्तवमें ब्रह्मसे विभक्त नहीं रहती।

जिस प्रकार फूल, कोंपल, पत्ते आदि लतासे वास्तवमें भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्वित्व, एकत्व, जगत्त्व, तू-पन, मैं-पन आदि भी चेतनसे भिन्न नहीं हैं। चेतनका देश, काल, क्रिया आदिरूप जो भेद किया गया है, वह भेद चेतनस्वरूप ही है। 'वास्तवमें चेतनमें द्वैत (भेद) है ही नहीं, तब उसमें भेद आया कहाँसे ?'—यह प्रश्न ही नहीं बनता; क्योंकि देश, काल और क्रियाकी सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चेतनकी सत्तासे ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिये वे सब चेतनस्वरूप परमात्मा ही हैं। वही यह चेतन तत्त्व परम ब्रह्म, सत्य, ईश्वर, शिव तथा निराकार, एक परमात्मा आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है। इन नामों एवं रूपोंसे अतीत जो परमात्माका स्वरूप है तथा जो सम्पूर्ण मलोंसे रहित आत्मपदार्थ है, वह वाणी और मनका विषय नहीं है। जो यह संसार दिखायी दे रहा है, वह उस महाचेतन परमात्मारूपी लताके फल, पल्लव तथा पुष्प आदिरूप ही है, अतः उससे भिन्न नहीं। किंतु अज्ञानी जीवको अपने ही द्वैतसंकल्पसे एकमें ही द्वैतकी इसी प्रकार प्रतीति होती है, जैसे पुरुषकी वेताल-कल्पनासे उसे भयंकर वेतालकी प्रतीति होने लगती है। जैसे 'मैं कुछ नहीं करता' इस तरहके संकल्पसे पुरुषका कर्तृत्व निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मामें प्रतीत होनेवाला द्वैत भी अद्वैत-भावनासे निवृत्त हो जाता है।

द्वैत-संकल्पसे तो एक ही वस्तुमें द्वित्वकी प्राप्ति होती है, पर अद्वैतभावनासे अनेकात्मक जगत्का भी द्वित्व नष्ट हो जाता है। क्योंकि विकार आदिसे शून्य, सदा सर्वगामी तथा परमात्माका स्वरूपभूत होनेसे आत्मामें कभी द्वैतभाव नहीं रहता। मुने! अपने संकल्पसे निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगरकी तरह जो वस्तु अपने संकल्पसे बनायी गयी है, वह संकल्पके अभावसे नष्ट हो जाती है। केवल दृढ़ संकल्पसे जो यह संसाररूपी दुःख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्पके अभावसे ही नष्ट हो जायगा, फिर इस विषयमें क्लेश ही क्या ? क्योंकि तनिक भी संकल्प करके मनुष्य दुःखमें डूब जाता है और कुछ भी संकल्प न करके वह अविनाशी सुख पाता है। अतः मुने! अपने विवेकरूपी पवनसे संकल्परूप मेघोंका विनाश करके शरत्कालमें आकाश-मण्डलकी भाँति तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो। अविवेकरूप प्रबल प्रवाहसे उमड़ती हुई उन्मत्त संकल्प-रूप नदीको तुम मणिमन्त्रसे सुखा दो और उसमें बहते हुए अपने-आपको धैर्य देकर मनसे रहित हो जाओ एवं अपने-आप अपने संकल्पात्मक कालुष्यका विनाश करके आत्माकी उत्तम विशुद्धता प्राप्त कर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ। यह आत्मा समस्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है, अतः जब कभी वह किसी वस्तुकी जैसी भी भावना करता है, अपने संकल्पसे रचित उस वस्तुको उसी समय वैसी ही देखता है। ब्रह्मन्! यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत् एकमात्र संकल्पात्मक ही है; अतः केवल संकल्पके अभावसे ही कहीं भी विलीन हो जाता है। इसलिये संकल्परूप जड़को उखाड़कर अत्यन्त दृढ़ताको प्राप्त हुई इस तृष्णारूपी करंजलताको आप सुखा डालिये। जिस प्रकार गन्धर्वनगरकी उत्पत्ति और विनाश प्रतीतिमात्र ही हैं, उसी प्रकार यह संसाररूप भ्रमकी उत्पत्ति और विनाश भी प्रतीतिमात्र ही हैं। मुने! मैं एक हूँ, मैं परमात्मा हूँ—इस प्रकारकी भावना कीजिये। इस भावनासे आप परमात्मा ही हो जायँगे।

महर्षे! चेतन जीवात्माने अज्ञानके कारण अपने संकल्पसे संसाररूपता प्राप्त की है; किंतु वास्तवमें मोहरूपी कलङ्कसे रहित वह असंसारी है तथा वह ब्रह्मसे अभिन्न और अद्वैत ब्रह्मरूप है। मैं दृश्य देहादि-स्वरूप हूँ—इस प्रकार मोहको प्राप्त हुआ चेतन जीवात्मा संसारमें फँस जाता है; पर वही शुद्ध चिन्मय

परमात्मस्वरूपको, जो अपनेसे अभिन्न है, अनुभव करके संसारके बन्धनसे निर्मुक्त हो जाता है। पुनरावृत्ति-रहित निरतिशयानन्दस्वरूप परमात्माके ज्ञानसे परिपूर्ण चेतन जीवात्मा परमपद प्राप्तकर समस्त भ्रमोंसे निर्मुक्त हुआ व्यापक ब्रह्मपदमें विश्राम करता है। मनसे रहित यही चेतन जीवात्मा शान्तिसे सुशोभित सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियोंसे एवं अन्धकार-अज्ञान आदि जडतासे रहित तथा विस्तृत आकाशकी भाँति परम सुन्दर है। वह दोषरहित जीवात्मा अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जब तुर्यातीत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, तब वह परमपदको प्राप्त होता है। वह परमपद सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओंकी परम अवधि है, परम मङ्गलरूप होनेके कारण समस्त मङ्गलोंमें प्रधान मङ्गल है। वही एक अखण्ड परम पवित्र चेतनरूप है। मुने! वह परमपद जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं और कल्पनासे अतीत है। उसीका आपसे मैंने वर्णन किया है। उसी पदमें आप सदा स्थित रहें। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है। मुनीश्वर! इस समस्त जगत्का उपादान वही परमदेव है—इस ज्ञानसे यह समस्त विश्व चिन्मय ब्रह्मरूप ही है। यह विश्व ब्रह्मके संकल्पसे कल्पित होनेके कारण प्रतीत होता है; किंतु यथार्थ ज्ञान होनेपर वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये यह नहीं है। वह परमपद शान्त, शिव एवं वाणीके व्यापारसे अतीत है। 'ॐ' इस अक्षरकी जो आनन्दमयी तुरीयामात्रा है, वही परमगति है।

(सर्ग ३३-३४)

सबके परम कारण परम पूजनीय परमात्माका वर्णन

श्रीमहादेवजीने कहा—मुने! आप पूर्वोक्त विचारका अवलम्बन करके अपने पारमार्थिक स्वरूपका ही प्रमाणोंसे शीघ्र निर्धारण करें एवं उसके विपरीत अनर्थरूप देहाभिमानका अवलम्बन न करें। जो इस संसारमें जाननेयोग्य है, उस परमात्माको तत्त्वज्ञानीने जान लिया। फिर संसारके भ्रमके साथ उसका कोई प्रयोजन नहीं रहा। अतः उस तत्त्वज्ञानीके लिये कर्तव्य या अकर्तव्य कुछ नहीं रहता, यह मैं जानता हूँ। आप इन शान्तिमय और अशान्तिमय विकल्पोंका यदि दलन करते हैं तो आप धीर हैं। यदि वैसा नहीं करते तो आप धीर नहीं हैं। इसलिये आस्था रखकर आप परमात्मदर्शी बन जाइये। ब्रह्मज्ञानके लिये शीघ्र ही उपर्युक्त दृष्टिका आश्रय करके मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय, उसे सुनिये। आत्मज्ञानके प्रयत्नके बिना चुपचाप बैठे रहनेसे क्या लाभ? त्रिशूलधारी भगवान् शंकर इस प्रकार कहकर फिर बोले कि 'आप बाह्यदेहमें आत्मबुद्धि मत कीजिये; क्योंकि यन्त्रकी भाँति प्राणसे ही यह शरीर चेष्टा करता है और प्राणवायुसे रहित शरीर निश्चेष्ट हो मूकके सदृश स्थित रहता है; किंतु चेतन जीवात्मा आकाशसे बढ़कर निर्मल और अव्यक्त है। सत्स्वरूप परमात्माकी सत्ता ही चेतन जीवात्माके अस्तित्वमें कारण है। जीवात्माके बिना तो प्राण और देह—ये दोनों नष्ट हो जाते हैं और देह-वियोगसे प्राण वायुमें विलीन हो जाता है; आकाशसे भी निर्मल चेतन आत्मा नष्ट नहीं होता। इसलिये संसार-भ्रमसे उसका क्या प्रयोजन है? ब्रह्मज्ञानके द्वारा दोषोंसे रहित हो जीवात्मा परमशिव परब्रह्म परमात्मा हो जाता है। वह परब्रह्म ही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही इन्द्र है; वही वायु, वह्नि, चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वर है। वही सर्वव्यापी परमात्मा, सर्वचेतनोंका मूल स्रोत, देवेश, देवभृत्, धाता, देवदेव और स्वर्गका अधिपति है। जिस तरह पल्लवोंका मूलबीज वृक्ष है, उसी तरह सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिका मूल बीज है। वही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म

ज्ञानी महात्माओंका वन्दनीय और पूजनीय है; क्योंकि सबका बल और नाम उसीके हैं। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानोंका एकमात्र उत्पादक और सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है। महर्षे! सबका आदि कारण तथा पूजा, नमस्कार, स्तुति और अर्घ्यके योग्य एवं समस्त देवताओंका स्वामी वही परम चेतन परब्रह्म परमात्मतत्त्व है—यह आप जान लें। यही बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थोंकी भी चरम सीमा है। जरा, शोक एवं भयके विनाशक इस परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके मनुष्य फिर संसारमें भूने हुए बीजकी भाँति जन्म नहीं लेता। विप्रेन्द्र! तत्त्वसे जान लिये जानेपर जो समस्त प्राणियोंको अभय कर देता है, जो सबका आदिकारण है और जो अनायास उपासनाके योग्य है, आप वही अज, परम एवं परमात्मरूप परमपद हैं।

मुने! समस्त पदार्थोंके भीतर रहनेवाले अनुभवस्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाशमय परमचेतन परमात्माको मुनिलोग महादेवरूप परमेश्वर समझते हैं। वह परमचेतन तत्त्व सम्पूर्ण कारणोंका कारण है, किंतु वास्तवमें उसका कोई कारण नहीं है; वह अपनी सत्तासे समस्त भावोंको सत्ता प्रदान करनेवाला है, किंतु स्वयं भावनाका विषय नहीं है। वह विशुद्ध और अजन्मा है। वही समस्त चेतनोंका चेतन, दृश्य विषयोंका प्रकाशक और दृश्य-संसारका परम आधार है। उसीको मुनिलोग चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशकोंको प्रकाशक, स्वयं चक्षु-सूर्य आदि प्रकाशकोंद्वारा प्रकाशित न होनेवाला, अलौकिक, समस्त बीजोंका भी बीज, ज्ञानस्वरूप और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा कहते हैं। सत्य प्रतीत होनेवाला दृश्य संसार और असत्य न प्रतीत होनेवाली प्रकृति—इन दोनोंका कारण होनेसे वह चिन्मय परमात्मा तत्त्वरूप है; किंतु वास्तवमें वह प्रकृति और संसारसे रहित, परमशान्त है। इस महान् चिन्मय परमात्मामें पहले करोड़ों जगद्रूपी मरु-मरीचिकाएँ हो चुकी हैं, आगे भी होती रहेंगी और वर्तमान कालमें भी हो रही हैं। महान् मेरुपर्वत एवं महान् कल्प आदि काल उस चेतन तत्त्व परमात्मामें समाये हुए हैं। फिर भी वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम है। कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण यह परमात्मा कुछ न करते हुए ही संसारकी रचना करता है और यह संसारका उद्धाररूप महान् कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। जिस परमात्माके संकल्पमें यह समस्त संसार विद्यमान है, जिससे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्माको बार-बार नमस्कार है।*

(सर्ग ३५-३६)

परमशिव परमात्माकी अनन्त शक्तियाँ

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे! उस समस्त जगत्सत्ता-स्वरूप मणिकी पिटारी परम चेतन सर्वेश्वर परमात्मामें उनकी शक्तियाँ प्रत्यक्ष आविर्भूत होती रहती हैं। उनमेंसे परमात्माकी एक शक्ति महाकाशरूप दर्पणके अंदर अपनी सत्ताके प्रतिबिम्बके सदृश कल्प-निमेषनामक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है। जैसे घरमें दीपकके रहनेपर घरभरकी क्रियाएँ प्रकाशित हो जाती हैं, वैसे ही साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक, सत्यस्वरूप चेतन-तत्त्वके रहनेपर ही जगद्रूप चित्तकी परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—जगत्के स्वामिन्! इन सदाशिवकी कौन-सी शक्तियाँ हैं, वे किस तरहसे रहती हैं,

---

* यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः। यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥

(नि० पू० ३६। १८)

उनकी साक्षिताका क्या स्वरूप है, उनका व्यवहार क्या है और वे कितनी हैं ?

श्रीमहादेवजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सौम्य ! उस निराकार, सर्वात्मक, अप्रमेय, परमशान्त, सच्चिदानन्दघन सदाशिव परमात्माकी इच्छा-सत्ता, व्योमसत्ता, कालसत्ता तथा नियति-सत्ता और महासत्ता—ये पाँच सत्तात्मक शक्तियाँ हैं। (तात्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इस श्रुतिके अनुसार सबसे पहले उनकी इच्छासत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाशकी अभिव्यक्ति होनेपर आकाशसत्ता, तदनन्तर कालात्मक सूत्रकी अभिव्यक्ति होनेपर कालसत्ता, सद्रूपके नियत संस्थानवाले भूत एवं भौतिक पदार्थोंका आविर्भाव होनेपर नियति-सत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुस्यूत महासत्ता अभिव्यक्त हुई।) इनके सिवा ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति कर्तृत्वशक्ति और अकर्तृत्वशक्ति आदि परमात्माकी अनेक शक्तियाँ हैं। उन सदाशिवस्वरूप परमात्माकी इन शक्तियोंका कोई अन्त नहीं है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—देव ! ये उपर्युक्त शक्तियाँ हुईं किस निमित्तसे ? इनमें बहुत्व कैसे आया ? इनका उदय कैसे हुआ ? एवं शक्ति और शक्तिमान् दोनोंमें परस्पर-विरुद्ध भेद और अभेद किस युक्तिसे रह सकते हैं ?

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे ! अनन्त असीम आकारवाले सदाशिवरूप परमात्माकी यह चिन्मात्ररूपता ही उसकी शक्ति कही जाती है। एकमात्र कल्पनासे ही वह चेतन परमात्मासे भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें कुछ भी भेद नहीं है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि कल्पनाओंसे परमात्माकी ये शक्तियाँ उसी प्रकार विविध स्वरूप धारण करती हैं, जैसे समुद्रमें तरङ्ग आदि भेद-कल्पनाओंसे जल विविध रूप धारण करता है। गमनशील ब्रह्माण्डरूपी नृत्य-मण्डपमें ऋतु, मास आदि काल नियति-क्रमद्वारा महाकालरूपी नटसे उत्तम रीतिसे शिक्षित हुई उस प्रकारकी शक्तिरूपिणी नटियाँ नाचती हैं। यही परा और अपरा एवं नियति कही जाती है। ईश्वरकी क्रिया, कृति, इच्छा या काल इत्यादि उसीके नाम हैं। तृणसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने चराचर जीव हैं, उनको मर्यादामें रखनेवाली नियति कही जाती है। महर्षे ! नाट्यशास्त्रमें प्रसिद्ध स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि विकारोंसे व्याप्त, चिरकालसे प्रवृत्त हुए इस संसारनामक नाटकके नाट्योंमें सारभूत नियति नटीके विलासमें अधिपति होकर देखनेवाला सदा उदितस्वभाव यह परमेश्वर अद्वितीय होकर ही स्थित है। वह परमार्थतः उस नटी और नाट्यसे भिन्न नहीं है। (सर्ग ३७)

सच्चिदानन्दघन परमदेव परमात्माके ध्यानरूप पूजनसे परमपदकी प्राप्ति

श्रीमहादेवजी कहते हैं—महर्षे ! उस परमात्मदेवके पूजनके जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले देहाभिमानको प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये। ध्यान ही इस परमात्मदेवकी पूजा है। इसलिये तीनों भुवनोंके आधारभूत इस परमात्मदेवकी निम्न प्रकारके ध्यानसे सदा पूजा करनी चाहिये। वह चेतन परमात्मा ज्ञानके द्वारा लाखों सूर्योंके समान देदीप्यमान, सूर्य आदि समस्त प्रकाशकोंका भी प्रकाशक तथा सबसे परे रहनेवाला ज्ञानस्वरूप है। उसका मनसे चिन्तन करना चाहिये। इस नियति-नाटकके साक्षी परमात्माका इतना बड़ा स्वरूप है कि सबसे बड़े असीम आकाशका जो विपुल विस्तार है, वह उसकी गर्दन है; नीचेके आकाशका जो असीम विस्तार है, वह उसका चरण-सरोज है। सीमा-शून्य दिशाओंके किनारोंका यह जो विस्तार है, वही उसका भुजमण्डल है और उसीसे वह सुशोभित है; उन हाथोंमें उसने विविध ब्रह्माण्डोंमें विद्यमान बड़े-बड़े सत्य आदि लोकरूप श्रेष्ठ आयुधोंको ग्रहण कर रक्खा है। उसके हृदय-कोशके एक कोनेमें अनेक ब्रह्माण्ड-समूह

छिपे हुए हैं। वह प्रकाशस्वरूप एवं तमसे परे है और उसके स्वरूपका कहीं पार भी नहीं पाया जा सकता। पूर्वोक्त नियतिके नाटकका साक्षी यह परमात्मा ही परमदेव है। यही समस्त पदार्थोंका आश्रय, सर्वव्यापक, चिन्मय और अनुभवरूप है। सभी सज्जनोंद्वारा यही सर्वदा पूजनीय है। यही परमदेव परमात्मा घटमें, पटमें, वटमें, दीवालमे, छकड़ेमें और वानर आदि प्राणियोंमें समभावसे स्थित है। यही परमात्मा शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर और यमस्वरूप है। अनेक प्रकारकी घट-पट आदि आकृतियोंको लेकर असंख्य पदोंसे बोधित होनेवाली तथा उन आकृतियोंको छोड़नेपर एक पदसे बोधित होनेवाली सत्तारूप इस जगज्जालका उत्पादक महाकाल इस परमात्मदेवका द्वारपाल है। पर्वतों एवं चौदह भुवनोंके असीम विस्तारसे युक्त यह ब्रह्माण्ड-मण्डल इस परमात्मदेवके किसी एक देह-कोणमें स्थित होकर उसके अङ्गका अवयवरूप हो गया है।

महर्षे! जिसके हजारों कान एवं आँखें हैं, हजारों मस्तक हैं और जो स्वयं हजारों भुजाओंसे विभूषित है, ऐसे शान्तस्वभाव महादेवका चिन्तन करना चाहिये। वह परमात्मा सभी जगह दर्शन-शक्तिसे परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है, सब ओर घ्राण-शक्तिसे समन्वित है, सर्वतः स्पर्शन-शक्तिसे युक्त है, सभी ओर रसन-शक्तिसे परिपूर्ण है, सर्वत्र श्रवण-शक्तिसे व्याप्त है, सर्वत्र मनन-शक्तिवाला है; तथापि वह सर्वथा संकल्पसे रहित है एवं सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप है। उस परमात्मदेवका चिन्तन करना चाहिये। नित्य, सम्पूर्ण जगत्के कर्ता, सबको अपने-अपने संकल्पके अनुसार समस्त पदार्थ प्रदान करनेवाले, सारे प्राणियोंके अन्तःकरण-में स्थित और सभीके लिये एकमात्र साध्य, सर्वस्वरूप उस परमात्मदेवका चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार ध्यानके द्वारा उस देवाधिदेवकी पूजा करनी चाहिये। अनायास प्राप्त होने योग्य, शान्तिमय, अविनाशी, अमृतस्वरूप एकमात्र परमात्मस्वरूपके ज्ञानसे सदा इस देवकी पूजा की जा सकती है। जो यह हृदयप्रदेशमें स्थित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माका निरन्तर अनुभव है, यही श्रेष्ठ ध्यान है और यही परम पूजा कही गयी है। देखते-सुनते, स्पर्श करते सूँघते-खाते, चलते-सोते, श्वास-प्रश्वास लेते, बोलते, त्याग करते और ग्रहण करते—सभी समय मनुष्यको शुद्ध चिन्मय परमात्माके ध्यानमें ही तत्पर रहना चाहिये। इस परमात्माके लिये शुद्ध ज्ञानरूप ध्यान ही प्रियतम वस्तु है, अतः ध्यानसे ही उसके लिये उपहार है। ध्यान ही उसके लिये अर्घ्य, पाद्य और पुष्प है। मुने! यह परमात्मदेव ध्यानसे ही प्रसन्न होता है। इस प्रकार आठों पहर ध्यानद्वारा पूजन करनेसे मनुष्य परमधाममें निवास करता है। महर्षे! जो यह परमात्मदेवका उत्तम पूजन मैंने आपसे कहा है, यही परम योग है, यही वह उत्तम कर्म है। आत्मरूप वसिष्ठजी! जो मनुष्य दुःख और विक्षेपसे रहित हो सारे पापोंके विनाशक एवं परम पवित्र इस ध्यानरूप पूजनको करेगा, उस समस्त बन्धनोंसे मुक्त और ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त पुरुषकी जगत्में सुर एवं असुर वैसे ही वन्दना करेंगे, जैसे वे मेरी वन्दना करते हैं।

महर्षे! यह ध्यान पवित्र करनेवालोंको भी पवित्र करनेवाला तथा सम्पूर्ण अज्ञानोंका नाशक है। अतः शरीरमें स्थित, समस्त ज्ञानोंके उत्पादक एवं बोधक परम कल्याणस्वरूप इस परमात्मदेवका अपने अन्तः-करणसे नित्य ही ध्यान करना चाहिये। सबके हृदयरूपी गुहामें स्थित, समस्त ज्ञान और ज्ञेयके ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मोंके कर्ता और समस्त ज्ञानोंके स्मर्ता, सम्पूर्ण प्रकाशों-से भी अधिक प्रकाशरूप तथा सर्वव्यापी परम शिव परमात्माका ध्यान करना चाहिये। वह परमात्मा मनकी मननात्मिका शक्तिमें, प्राण एवं अपानके मध्यमें तथा हृदय, कण्ठ, तालु और भौंके मध्यमें स्थित (व्यापक) है। वह कलाओंकी कल्पनाओंसे रहित और देहके एक-

देशभूत सुन्दर हृदय-कमलमें विशेषरूपसे और सम्पूर्ण देहमें समानरूपसे स्थित है। वह परमात्मा केवल चेतन और शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका चिन्तन करना चाहिये।

इसके सिवा ध्यानका एक दूसरा प्रकार यह है कि मैं जीवात्मा ही परिच्छेदशून्य आकारवाला, अनन्तस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थोंसे परिपूर्ण, सब वस्तुओंका पूरक एवं अखण्ड अद्वितीय शिवस्वरूप परमात्मा हूँ—इस प्रकार स्वच्छ और अलौकिक भावना करके देवभावसे परिपूर्ण यह जीवात्मा महान् परमात्मा बन जाता है। वह परमात्माको प्राप्त पुरुष सबमें सम रहता है। उसका व्यवहार भी समान होता है। उसका ज्ञान भी सम होता है। उसका भाव भी सम होता है। उस सौम्य पुरुषका उद्देश्य भी महान् सुन्दर होता है। वह देहपातपर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञानसे युक्त होता हुआ चिरकालतक निरन्तर परमात्माका ध्यानरूप पूजन ही करता रहता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि सज्जनोंके हृदयमें रहनेवाली, चन्द्रमाकी भाँति शीतल, मधुर-स्वभाव, दृढ मैत्रीसे हृदय-प्रदेशमें स्थित उस परमात्मदेवकी ध्यानरूप पूजा करे। दुष्टोंकी उपेक्षा, दुखियोंपर दया, पुण्यात्माओंके प्रति हृदयकी नित्य मुदिता (प्रसन्नता) की भावनासे, शुद्ध सामर्थ्यकी पद्धतिसे और ज्ञानरूप ध्यानसे उस परमात्मदेवकी पूजा करे।

प्रारब्धसे प्राप्त सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थोंमें सर्वदा ही परम समताका आश्रय लेकर नित्य चेतन परमात्माका ध्यानरूप व्रत करना चाहिये। अनुकूल और प्रतिकूल-की प्राप्तिमें सम होकर नित्य चिन्मय परमात्माके ध्यानरूप व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये। यह मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ—इस प्रकारके भेदको छोड़ देना चाहिये तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय करके नित्य चिन्मय परमात्माके ध्यानरूप व्रतका आचरण करना चाहिये। महर्षे! इस परमात्माके ध्यानरूप पूजाके विधानमें जो द्रव्य-सम्पत्तियाँ बतलायी गयी हैं, वे सब एकमात्र समतारूप रससे परिपूर्ण होनेके कारण मधुर-रसवती ही हो जाती हैं। रसमयी शक्ति-समता मधुर और अतीन्द्रिय है। उस समतासे जो भी दृश्य विषय भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायगा। समतारूप अमृतसे जो-जो भावित होता है, वह सब परम मधुरताको प्राप्त होता है। ब्रह्मैक्य-दर्शनस्वरूप समतासे स्वयं आकाशकी तरह विकारशून्य होकर मनके लय होनेपर जो स्वाभाविक स्थिति है, वही परमात्माकी ध्यानरूप पूजा कही जाती है। महात्मा ज्ञानीको पूर्णचन्द्रकी भाँति परिपूर्ण, समताके द्वारा समान ज्ञानवान्, एक, चिन्मय, स्वच्छ और स्फटिक-शिलाकी तरह निर्मल एवं दृढ होना चाहिये। जो भीतर आकाशकी तरह विशाल और बाहर न्यायतःप्राप्त कार्योंको करनेवाला, आसक्तिसे रहित एवं परमात्माके यथार्थ तत्त्वका पूर्णतया ज्ञाता है, वही सच्चा उपासक है। अज्ञानरूप मेघोंके नष्ट होनेपर स्वप्नमें भी जिसमें राग-द्वेष आदि हृदय-विकार नहीं देखे जाते तथा जिसका अहंता-ममतारूप कुहरा शान्त हो चुका है, ऐसे निर्मल आकाशके समान वह तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है।

महर्षे! यथासमय और यथाशक्ति आप जो कुछ भी कर्म करते हैं अथवा नहीं करते, उसीको चिन्मय शिवस्वरूप परमात्माका अन्तःपूजन समझना चाहिये। इस प्रकारके पूजनसे ही साधक अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दमय स्वरूपका अनुभव करता है। शिव, शान्त, अन्यसे प्रकाशित न होनेवाला, स्वप्रकाशरूप परमात्मा ही जगत्‌के रूपमें प्रतीत हो रहा है। ब्रह्मन्! भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत्‌में व्यापक, परम विशुद्ध चेतन परमात्मारूप ईश्वरके स्वरूपका वाणीसे वर्णन भी नहीं किया जा सकता। इसलिये वसिष्ठजी! तुच्छ दृष्टिका परित्याग करके और अपनी अखण्ड दृष्टिका आश्रय लेकर सम,

निर्मलमन, शान्ति, राग और दोषसे रहित तथा शोक-रहित बुद्धिसे युक्त होकर आप न्यायतःप्राप्त पदार्थोंसे परमात्मदेवकी पूजा करते हुए स्थित रहें।

(सर्ग ३८–४०)

शास्त्राभ्यास और गुरूपदेशकी सफलता, ब्रह्मके नाम-भेदोंका और स्वरूपका रहस्य एवं दुःखनाशका उपाय

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—देव! शिव, परब्रह्म, आत्मा और परमात्मा किसके नाम कहे गये हैं? तीनों लोकोंके स्वामिन्! भगवन्! 'तत्', 'सत्', 'किंचित्', 'न किंचित्', 'शून्य' और 'विज्ञान' आदि भेद किसके कहे गये हैं?

श्रीमहादेवजीने कहा—मुने! आदि और अन्तसे रहित, प्रकाशान्तरकी अपेक्षा न रखनेवाली, स्वतःप्रकाश-स्वरूप जो सत् वस्तु अपनी महिमामें अपने-आप विद्यमान है, वही 'किंचित्' शब्दसे कही जाती है; और वह इन्द्रियोंके द्वारा जाननेमें नहीं आती, इसलिये 'न किंचित्' शब्दसे कही जाती है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—ईशान! जो बुद्धि आदिसे युक्त चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके जाननेमें नहीं आता, उस परमब्रह्मका संशयरहित अधिकारीद्वारा कैसे साक्षात्कार किया जाता है?

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे! जिसमें अविद्याका नाममात्र अंश है, ऐसा केवल सात्त्विक और मोक्षकी चाह रखनेवाला साधक शास्त्राभ्यास आदि सात्त्विक उपायोंसे अविद्याका प्रक्षालन करता है, तब अविद्याका क्षय होनेपर वह अपने-आप ही अपनेद्वारा परमात्मा-का अनुभव करता है। आत्मा ही परमात्माको देखता है और आत्मरूपसे ही उसका विचार करता है। इस संसारमें एकमात्र परमात्मा ही सत् है, अविद्या नहीं; इसे ही अविद्याका क्षय कहते हैं। जो कुछ यह नाना-विध विनाशशील दृश्य वस्तु है, इसे आप परमात्मा न समझिये; क्योंकि यह मिथ्या है। परब्रह्म परमात्मा तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके क्षयसे प्राप्य है। जो वस्तु जिसका नाश होनेपर प्राप्त होती है, वह वस्तु उसके उपस्थित रहते कभी प्राप्त नहीं हो सकती। शिष्यके बोधके लिये किये गये गुरूपदेशसे अनिर्देश्य और अव्यक्त परमात्मा उसे स्वय प्राप्त हो जाता है। गुरुके उपदेशों और शास्त्रार्थोंके बिना भी परमात्माका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इन सबके संयोगसे ही परमात्माका ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय आदिका नाश तथा सुख, दुःख आदिका अभाव होनेपर जो बच रहता है, वह शिवस्वरूप परमात्मा ही 'तत्'-'सत्' इत्यादि नामोंसे कहा गया है। वास्तवमें तो यह सम्पूर्ण जगत् है नहीं, बल्कि परमात्माका सकल्प होनेके कारण यह उसका स्वरूप ही है। वह सत्-स्वरूप परमात्मा आकाशसे भी अत्यन्त बढ़कर निर्मल और अनन्त है। विशुद्ध अन्तःकरणवाले मुमुक्षु पुरुषोंने मोक्षके उपासकोंके बोधके लिये नाम-रूपरहित सच्चिदानन्द परमात्मामें चेतन, ब्रह्म, शिव, आत्मा, ईश, परमात्मा और ईश्वर आदि पृथक्-पृथक् नाम रूपोंकी कल्पना कर रक्खी है। वसिष्ठजी! इस तरह जगत्तत्त्व एव शिवनामक परमात्मतत्त्व ही सर्वदा सब तरहसे सब कुछ है। इसलिये आप इसे जानकर सुखपूर्वक स्थित हो जायँ। प्राचीन मुमुक्षु लोगोंने शिव, आत्मा और परब्रह्म इत्यादि नामोंसे उस परमात्माकी भिन्न-भिन्न कल्पना की है; वस्तुतः एक परमात्मा ही है, उसमें कुछ भी भेद नहीं है। मुनिनायक! इस प्रकार ज्ञानपूर्वक ध्यानरूप पूजा करनेवाला ज्ञानी पुरुष उस परमपदको प्राप्त हो जाता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—भगवन्! मिथ्या होते हुए भी

यह जगत् किस प्रकार सत्-सा प्रतीत होता है, वह सब कुछ फिर संक्षेपमें मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ।

श्रीमहादेवजीने कहा—मुने ! जो यह ब्रह्म, शिव, ईश्वर इत्यादि शब्दोंका अर्थ है, उसे ही विशुद्ध चिन्मय परमात्मा समझिये जैसे जलके आधारभूत समुद्रमें जल ही तरङ्गके रूपमें प्रकट होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें केवल अद्वितीय सद्रूप ब्रह्म ही जगत्के रूपमें प्रकट हो रहा है; क्योंकि सारा जड दृश्यसमूह चेतन परमात्मरूप ही है, इस प्रकारका ज्ञान होनेपर वह दृश्यसमूह मनोराज्यके संकल्पनगरकी तरह हो जाता है । यह जगत् परमात्माका संकल्प है, इस यथार्थ अनुभवसे सम्पूर्ण दृश्य जगत् कल्याणमय परमात्मा ही बन जाता है ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—भगवन् ! इस जगत्की भले ही गन्धर्वनगरसे अथवा स्वप्नके मनुष्यसे उपमा दी जाय, फिर भी यह दुःखका कारण तो है ही । अतः दुःखके नाशके लिये यहाँ कौन-सी युक्ति है ?

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे ! वासनाके कारण दुःख उत्पन्न होता है और वह वासना सत् पदार्थमें हुआ करती है; किंतु यह जगत् तो मृगतृष्णाके जलकी तरङ्गके समान मिथ्या ही है । इसलिये वासना कैसे, किसमें, किसको, कहाँसे होगी ? स्वप्नावस्थाका पुरुष भला कैसे मृगतृष्णाके जलका पान कर सकता है । द्रष्टाके सहित, अहंतासे युक्त और मन तथा मनन आदिके साथ इस जगत्का जब स्वप्नवत् अस्तित्व ही नहीं है,तब जो शेष रह जाता है, वही सद्वस्तु परमात्मा है । उस परमात्मामें न तो कोई वासना रहती है, न कोई वासना करनेवाला और न कोई वासनाका विषय ही रहता है । किंतु एकमात्र वह परमात्मा ही रहता है, जिसमें कल्पना-भ्रमका अत्यन्त अभाव है । प्रतीत होनेके कारण सत्य और वास्तवमें असत्य संसाररूप वेताल शून्य-स्वरूप होनेके कारण जिस ज्ञानवान्की दृष्टिमें असत्य ही है, उसकी दृष्टिमें केवल परमात्माके सिवा और दूसरा क्या अवशिष्ट रह सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं । इस प्रकार शून्यमें ही वेतालकी तरह यह चित्त-वासना उत्पन्न हुई है, जिसका नाम जगत् है । उसकी शान्ति हो जानेपर अक्षय शान्ति ही अवशिष्ट रहती है । किंतु अहंतामें, जगत्में तथा मृगतृष्णाके जलमें जिस अज्ञानी मनुष्यकी आस्था (सत्ताबुद्धि) बँधी हुई है, उसको बार-बार धिक्कार है ! वह अज्ञानी उपर्युक्त उपदेशके योग्य नहीं । इस जगत्में ज्ञानीलोग जिज्ञासु विवेकी मनुष्यको ही उपदेश दिया करते हैं, न कि उस बालबुद्धिवाले अविवेकीको, जो अनेक प्रकारकी भ्रान्तियोंसे ग्रस्त है, श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा त्याज्य है एवं देह आदिमें अभिमान रखता है ।

(सर्ग ४१)

समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जो संसार है, वह सब माया ही है—यह उपदेश देकर भगवान् श्रीशंकरका अपने वासस्थानको जाना तथा श्रीवसिष्ठजी और श्रीरामजीके द्वारा अपनी-अपनी स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—भगवन् ! सृष्टिके आदिमें देहके सम्बन्धसे संसारमें भ्रमण करनेवाला वह जीवात्मा मायारूप आकाशमें स्थित हुआ किस अवस्थाको प्राप्त करता है ?

भगवान् शंकरने कहा—मुने ! जिस प्रकार स्वप्न-मनुष्य स्वप्नके संसारको देखता है, उसी प्रकार वह जीवात्मा भी परम सूक्ष्म मायामय आकाशमें कर्मानुसार शरीरोंको देखता है । जैसे आज भी स्वप्नमनुष्य चैतन्य-घन आत्माके सर्वत्र व्यापक होनेसे स्वप्नमें कार्य करता है, वैसे ही देहधारी जीवात्मा भी जाग्रदवस्थामें कार्य करता है । जिस तरह शून्यस्वरूप वेताल वास्तविक

दृष्टिसे असद्रूप है, किंतु भ्रमसे सद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् वास्तवमें असत् है, किंतु भ्रमसे सद्रूप प्रतीत होता है; इसलिये जगत्का कारण वास्तवमें अहंकार ही है। यह ससार वास्तवमें सत् नहीं है; न यह कल्पित है न क्षणिक है, न यह कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है। वास्तवमें इसका अत्यन्त अभाव है। चेतन जीवात्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्चकी संकल्परूपसे अपनेमें उसी प्रकार कल्पना करता है, जिस प्रकार मनुष्य स्वप्नमें नगरका निर्माण और विनाश करता है पर जागनेपर वास्तवमें उसका स्वप्नके देश और कालसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। इस विनाशशील संसारका वास्तविक स्वरूप तत्त्वसे समझ लेनेपर इस मायारूप संसारकी भेदसत्ताका अभाव हो जाता है। तदनन्तर ज्ञानपूर्वक ध्यानके अभ्याससे कल्याणमय शिवरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। नहीं तो यह जीवात्मा अपने कर्मानुसार देह, इन्द्रिय आदिके संयोग-क्रमसे भृगी, लता, कीट, देव, असुर आदिरूप हो जाता है। नित्य, व्यापक, अनन्त दृढ़ और विश्वमें व्याप्त एवं विश्वके कर्ता जिस परब्रह्ममें यह जगत् कल्पित है, विवेक होनेपर वह जगत् न दूर है न समीप, न ऊपर न नीचे, न आपका है न मेरा, न पहले था न आज है, न प्रात.कालमें है न सत् है न असत् और न सत् और असत्के मध्यमें है अर्थात् वास्तवमें यह कल्पनामात्र ही है। मुने! जैसा आपने पूछा; वैसा ही मैंने उत्तर दे दिया। आपका कल्याण हो। अब हमलोग अपनी अभिलषित दिशाकी ओर जा रहे हैं। पार्वती! आओ, उठो।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! ऐसा कहकर वे नीलकण्ठ भगवान् शंकर जिनके ऊपर मैंने उस समय पुष्पाञ्जलि



समर्पित की थी अपने परिवारके साथ आकाशकी ओर चले गये। तब पहलेसे ही शान्तस्वभाववाला मैं त्रिभुवन-के अधिपति उमापतिके जानेके बाद क्षणभर चुप रहकर उनके स्मरणपूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट परमात्मदेवका ज्ञानपूर्वक ध्यानरूप पूजन नवीन (परिष्कृत) और श्रद्धा आदिसे पवित्र हुई बुद्धिसे करने लगा।

रघुनन्दन! महादेव शंकरजीने सच्चिदानन्द परमात्माका ध्यानरूप यह सर्वोत्कृष्ट पूजन मुझसे कहा है और स्वयं मैं भी उसे तत्त्वसे जानता हूँ। जिस तरहका यह जगत्का स्वरूप है, उसे तुम भी तत्त्वसे जानते ही हो। जैसे जलका द्रवत्व स्वभाव है, जैसे वायुका स्पन्दत्व स्वभाव है और जैसे आकाशका शून्यत्व स्वभाव है, वैसे ही परमात्माका सर्गत्व (सृजन) स्वभाव है। श्रीराम! तबसे लेकर आजतक उसी क्रमसे मैं शान्तिपूर्वक परमात्माका ध्यानरूप पूजन करता आ रहा हूँ। इसलिये मनुष्यको धन और बन्धुओंकी उत्पत्ति और विनाश होनेपर हर्ष

और विषाद नहीं करना चाहिये; क्योंकि ये सभी संसारके अनुभव सदा विनश्वर ही हैं। श्रीराम! प्रमथनशील चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ जिस प्रकार आती हैं, जाती हैं और पुरुषको पराजित करती हैं, यह सब तुम भी जानते ही हो। इसी प्रकार प्रेम और धन आते रहते हैं और यों ही चले भी जाते हैं। वे जगत्के व्यवहार वास्तवमें न तो तुम्हारे अंदर हैं और न तुम ही उनके अंदर हो। इस प्रकार यह जगत् तुच्छ ही है। केवल चेतनस्वरूप व्यापक देहवाले श्रीराम! यह जगत् तुम्हारा संकल्प होनेके कारण तुम्हारा स्वरूप ही है। अतः तुम्हारे लिये हर्ष और शोकका प्रसङ्ग ही क्या है। तात! तुम चिन्मात्र स्वरूप हो। यह जगत् तुमसे पृथक् नहीं है। इसलिये तुमको किस प्रकार और कहाँ हेय और उपादेयकी कल्पना हो सकती है? तुम सम, ज्ञानस्वरूप और उदारधी होकर सदा ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर होते हुए समुद्रकी तरह परिपूर्ण (परितृप्त) रूपसे स्थित रहो! रघुनन्दन! यह सब तुमने सुना और परिपूर्णबुद्धि होकर तुम स्थित भी हो; इस विषयमें और जो कुछ पूछना चाहो, पूछो। पहले जो तुमने प्रश्न किये थे, उनमेंसे यदि कोई उत्तरके बिना रह गया हो तो उसे भी आज पूछ लो।

श्रीरामजीने कहा—ब्रह्मन्! न तो आत्मा उत्पन्न होता है न मरता है और न मायासे कलङ्कित ही है तथा 'यह सारा जगत् ब्रह्ममय है' इस प्रकारका निश्चय मेरा है। भगवन्! मेरा मन शुद्ध और सब प्रकारके प्रश्नोंसे, संशयोंसे और इच्छित पदार्थोंसे निवृत्त है। इस चराचर संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे इच्छा और अभिलाषा हो तथा ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो मेरे लिये त्याज्य और ग्राह्य हो। मुझे न स्वर्गकी आकांक्षा है और न नरकसे द्वेष है; किंतु मन्दराचलकी तरह संशयरहित हुआ मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ। यह जगत् जिस स्वरूपका दिखायी देता है, उसी स्वरूपका है, उससे भिन्न उसका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है—यों जो मूर्ख जानता है, उसके हृदयमें ज्वालाके सदृश अधिक संतापदायिनी, कुत्सित संशयसमूहोंसे होनेवाली 'यह वस्तु है और यह अवस्तु है' इस प्रकारकी कल्पनाएँ पर्याप्तरूपसे उत्पन्न होती रहती है। मूढ़ पुरुष जिन धन आदि विषयोंके लिये कृपणता करता है, जगत्की वे वस्तुएँ वास्तवमें हैं ही नहीं। परमेश्वर! हमने सम्पत्तियोंकी अवधि जान ली, आपत्तियोंकी सीमाका भी अन्त देख लिया। हम सर्वसार अपने स्वरूपमें दीनतारहित और परिपूर्ण हुए स्थित हैं।

(सर्ग ४२-४३)

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये वासना, आसक्ति और अज्ञानके नाशसे मनके विनाशका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! आसक्तिसे तथा कर्तृत्वाभिमानसे रहित एवं न्याययुक्त व्यवहार करनेवाले अन्तःकरणसे इन्द्रियोंके साथ तुम जो कुछ करते हो, वह कर्म कर्म ही नहीं है। जिस तरह प्राप्तिकालमें विषय तुष्टिकारक होता है, उसी तरह उसके बाद दूसरे कालमें नहीं होता। इसलिये बालबुद्धि अविवेकी ही क्षणिक सुख देनेवाले विषयोंमें आसक्त होता है, विवेकी नहीं। श्रीराम! तुम आत्मज्ञानी हो। इसलिये अहंकार तुम्हारा पतन नहीं कर सकता; क्योंकि जिसने निरन्तर असीम सत्यस्वरूप ब्रह्मका स्मरण किया है और जो तत्त्वज्ञानरूप सुमेरु पर्वतके शिखरपर स्थित है, उस पुरुषका पुनर्जन्मरूप पतन नहीं हो सकता। श्रीराम! तुम्हारा जो यह समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखायी देता है, इससे मैं मानता हूँ कि तुम संकल्प-विकल्प और अविद्यासे रहित हो, अपने स्वरूपमें भलीभाँति स्थित हुए तुम मानो मुझे यह

प्रत्यक्ष करा रहे हो कि सागरके समान पूर्ण समता तुममें विद्यमान है। जिस-जिस वस्तुको तुम देख रहे हो, उस-उस वस्तुमें समानभावसे सत्तारूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्थित है।

जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुषमें संसारकी भावना नहीं हो सकती, उसी प्रकार दृश्य और दर्शनके सम्बन्धका अभाव होनेपर हृदयमें जगत्‌की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। चित्तके संकल्पसे उत्पन्न जगत् चित्तके संकल्पका अभाव होनेपर उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार जलकी चञ्चलतासे उत्पन्न तरङ्ग जलकी चञ्चलताका अभाव होनेपर विलीन हो जाती है। वासनाके त्यागसे, परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे अथवा प्राणोंके निरोधसे चित्तके संकल्परहित हो जानेपर जगत् कहाँसे उत्पन्न होगा ? जब चित्त-संकल्पके अभावसे अथवा प्राणोंके निरोधसे चित्तका विनाश हो जाता है, तब जो बच रहता है, वही परमपद है। जहाँ चित्तका अभाव है, वहाँ वह सारा सुख स्वाभाविक ब्रह्मसुखरूप ही है। वह सुख स्वर्गादि भोगभूमियोंमें नहीं हो सकता। चित्तका विनाश होनेपर जो ब्रह्मविषयक सुख होता है, वह वाणीसे भी नहीं कहा जा सकता। वह सुख सब समय एकरस रहता है—न घटता है न बढ़ता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे चित्तका अन्त (अभाव) हो जाता है। बालकल्पित वेतालकी तरह अज्ञानसे मोह घनरूपता प्राप्त करता है। उस अज्ञानसे ही चित्तकी सत्ता प्रतीत होती है। ज्ञानीका चित्त चित्त नामसे नहीं कहा जाता, किंतु सत्त्व नामसे कहा जाता है। चित्तका स्वरूप वास्तवमें किसी भी कालमें नहीं है। उसका स्वरूप भ्रान्तिसे प्रतीत होता है। इसलिये भ्रान्तिका नाश होनेपर उसका विनाश हो जाता है। वह मिथ्या भ्रान्ति तत्त्वज्ञानसे शान्त हो जाती है; क्योंकि जो सद् वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। जैसे खरगोशके सींगकी सत्ताका अभाव है, वैसे ही विकल्परूप मन आदिका भी अभाव है। वे सब आत्मामें आरोपित हैं। इसलिये उनका परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे विनाश हो जाता है। (सर्ग ४४-४५)

शिलाके रूपमें ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघवेन्द्र ! प्रेममय होनेसे स्निग्ध (चिकनी), स्वयम्प्रकाश होनेसे स्पष्ट, आनन्दमय होनेसे मृदुल स्पर्शवाली, अनन्त होनेके कारण महाविस्तारसे युक्त, प्रचुर होनेसे घन, नित्य विकाररहित एक ब्रह्मरूप महती शिला है। उस महाशिलाके भीतर मनःकल्पनाओंसे अनन्त वे सभी भुवनादिरूप कमल विराज रहे हैं। यहाँपर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्तरूपसे आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षिके भीतर यह सब जगत् प्रतीत होनेके कारण तो है, किंतु वास्तवमें नहीं है। तुमसे उस चिन्मय ब्रह्मरूप शिलाका ही मैंने कथन किया है, जिसके संकल्पमें ये सारे जगत् विद्यमान हैं। इस सच्चिदानन्द ब्रह्ममें शिलाकी ज्यों घनता, एकरूपता आदि हैं। अत्यन्त घनीभूत अङ्गोंवाली और पोलसे रहित इस सच्चिदानन्दघनरूप शिलाके अंदर यह जगत्-समूह कल्पित है। यद्यपि उस चेतनरूप शिलामें स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ विद्यमान प्रतीत होती हैं, तथापि उसमें वस्तुतः तनिक भी अवकाश नहीं है। इस चेतनरूप शिलामें घनीभूत अवयवोंवाला जगद्रूपी कमल विकसित हो रहा है। वह यद्यपि उससे पृथक्-सा प्रतीत होता है, तथापि वास्तवमें उससे पृथक् नहीं है। श्रीराम ! जैसे पत्थरमें चित्रकारकी मनःकल्पनासे शङ्ख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते हैं, वैसे ही एकमात्र मनकी कल्पनासे इस चेतनरूप शिलामें भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सारा संसार चित्रित किया गया है। प्राकृत शिलामें

जैसे पुतली आदि वास्तविक-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तविक हैं नहीं; अपितु शिलारूप ही हैं, वैसे ही चेतन शिलामें सभी पदार्थ वास्तविक-से प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं हैं, किंतु चिन्मय ब्रह्म ही हैं। भीतर स्थित शङ्ख, कमल आदि आकारोंसे युक्त शिला अनेकरूपसे प्रतीत होती हुई भी जैसे घनीभूत एक शिला ही है, वैसे ही कल्पित आकारोंसे युक्त होकर अनेक आकृतियोंके रूपमें प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें घनीभूत एक ब्रह्म ही है। जिस प्रकार पाषाण-शिलाके भीतर शिल्पीद्वारा लिखित कमल, उस शिला-कोशसे अभिन्न होनेपर भी, अपने परिच्छिन्न आकारसे युक्त होकर उससे भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतनके स्वरूपसे अभिन्न होनेपर भी यह सृष्टि उससे अन्य—परिच्छिन्न आकारवाली होकर उससे भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें भिन्न नहीं है। वास्तवमें ये प्रतीत होनेवाले भुवन आदि विकार विकारादि अर्थोंसे शून्य ब्रह्मरूप ही हैं। विषयोंका ग्रहण और अग्रहण भी ब्रह्मरूप ही हैं; क्योंकि ब्रह्म अनन्त है। विकार आदि रूपसे ब्रह्म ही अवस्थित है और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदिके रूपमें उत्पन्न हुआ है। इस चेतन शिलाके भीतर जो ये विकारादि पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, उन्हें तुम मृगतृष्णा-जलके सदृश समझो। जिस प्रकार रेखाओं एवं उपरेखाओंसे युक्त एक ही स्थूल शिला दीखती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्यसे युक्त प्रसिद्ध जगत्‌रूपसे दीखता है। जैसे इस लौकिक शिलाके भीतर सर्वदा स्थित शिल्पीके वासनास्वरूप कमल आदि वास्तवमें न उदित होते हैं और न अस्त ही होते हैं, वैसे ही इस चेतन शिलामें मनोरूप जगत्‌की गति भी वास्तवमें न उदित होती है और न अस्त ही होती है। जिस तरह शिलाके भीतरकी रेखा आदि शिलासे भिन्न नहीं हैं, किंतु शिलामय ही है, उसी तरह कर्तृत्व आदि जगत् चेतनका संकल्प होनेसे चिन्मय ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, किंतु ब्रह्मरूप ही हैं।

रघुनन्दन! देश, काल, क्रिया आदि भी ब्रह्मरूप ही हैं; अतः 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकारकी कल्पना यहाँ नहीं बन सकती। जिस प्रकार चिन्तामणिके अन्तर्गत चिन्तकोंके अनन्त फल पर्याप्त-रूपसे रहते हैं, उसी प्रकार परम चेतन परमात्मरूप मणिमें अनन्त जगत् रहते हैं। समुद्रमें स्थित आवर्त, तरङ्ग आदिरूप जलस्पन्दनके विलासकी तरह और शिलाके भीतर अङ्कित कमलकी तरह यह अद्वितीय चेतन परमात्मा जगद्रूपसे नाना प्रतीत होता है। जो वर्तमान-कालिक जगत् है, वह चेतनमें एक तरहसे शिलामें खुदी गयी मूर्तिके सदृश है और जो जगत् वर्तमानकालमें नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरहसे चेतन शिलामें न खोदी गयी मूर्तिके सदृश है। जैसे कमल आदि शब्द और उनके अनेकों अर्थ शिलाको छोड़कर नाना-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें शिलासे उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। वैसे ही अद्वय चेतन परमात्माको छोड़कर ये जगदादि शब्द और उनके अर्थ नाना-से प्रतीत होते हैं; वास्तवमें चिन्मय परमात्मासे पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किंतु वे चिन्मय परमात्मा ही हैं। श्रीराम! मरु-मरीचिका मृगकी दृष्टिमें तो निर्मल जलराशि ही है, किंतु विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न विद्वानोंको स्थलपर सूर्यकी किरणें ही पड़ती हुई दिखायी देती हैं। वहाँ जैसे सत्स्वरूप किरणें ही असत् जलराशिके रूपमें दिखायी पड़ती हैं, वैसे ही सच्चिदानन्द-स्वरूप तुम ही असत् जगद्रूपसे प्रतीत होते हो। वास्तवमें तो तुम सच्चिदानन्द-स्वरूप हो। जैसे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें उत्पत्ति-विनाशका अभाव है, वैसे ही जगत्‌में भी उत्पत्ति-विनाशका अभाव है; क्योंकि जिस प्रकार मरुभूमिमें सूर्यकी किरणें जलरूपसे प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूपसे प्रतीत होता है। जैसे सूर्यकी धूपसे बर्फ गलकर जलरूप ही हो जाता है,

वैसे ही मेरु, तृण, गुल्म, मन और जगत् आदि सारे पदार्थ परमात्माके यथार्थज्ञानसे परम विशुद्ध परमात्मा ही हो जाते हैं, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। (सर्ग ४६-४७)

परमात्माके स्वरूपका और अविद्याके अत्यन्त अभावका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! अपने अतिशय परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव करनेवाले ज्ञानी मुनि, देवतागण, सिद्ध और महर्षिलोग सर्वदा तुरीय पदमें स्थित रहते हैं। व्यवहारमें लगे हुए जो लोग बाह्य दृश्य विषयोंमें सत्यताकी भावनासे रहित हैं, जो पुरुष विषयेन्द्रिय-सम्बन्धोंका परित्याग करके समाधिमें निरत हैं, चित्रलिखित देहधारियोंकी भाँति जो प्राणोंके स्पन्दनसे रहित हैं और उन्हींकी भाँति जो मनोगतिसे भी शून्य हैं, वे सब अपने उस परमपद-स्वरूप परमात्मामें—जहाँ मनका एवं दृश्यकी आसक्तिका अभाव है—समानभावसे नित्य स्थित हैं। वह विशुद्ध चिन्मय परमात्मा न तो दृष्टिका विषय है और न उपदेशका ही विषय है। वह न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किंतु केवल अनुभवसे ही प्राप्य और सब जगह समानभावसे स्थित है। शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा न देहस्वरूप है न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्तस्वरूप है न वासनारूप है, न स्पन्दस्वरूप है न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है, बल्कि इन सबसे अति परे महान् श्रेष्ठ है। वह न सद्रूप है न असद्रूप है और न सत् एवं असत्के मध्यवर्ती ही है। वह न तो शून्यस्वरूप है और न अशून्य-स्वरूप ही है; वह देश, काल एवं वस्तु भी नहीं है; किंतु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह ब्रह्म देह आदि समस्त पदार्थोंसे रहित है और जिसके रहनेपर यह दृश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूपसे स्पन्दित होता है वह परमात्मपद ही है। ये हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं; किंतु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस परमात्म-स्वरूप आकाशका नाश नहीं होता (अर्थात् जिस प्रकार घड़ोंका नाश होनेपर भी घटाकाशका नाश नहीं होता, उसी तरह देहका नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता।) आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! उपर्युक्त देहादि सम्पूर्ण जगत् परमात्मरूप ही है, किंतु वह जगत् केवल अज्ञानवश ही परमात्मासे पृथक्-सा प्रतीत होता है। तुम्हें तो अपनी पवित्र बुद्धिसे यह ज्ञात ही है कि यह विश्व परमात्मस्वरूप है। स्थावर एवं जङ्गम-स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब ब्रह्म ही है; किंतु वास्तवमें वह ब्रह्म लक्षणों और गुणोंसे, मलसे, विकारोंसे तथा आदि और अन्तसे रहित एवं नित्य, शान्त और समस्वरूप है।

श्रीराम! दही बन जानेसे दूध पुनः अपने दूध-रूपमें नहीं आता। किंतु ब्रह्म ऐसा नहीं है। आदि, मध्य और अन्त—किसी भी दशामें ब्रह्म तो निर्विकार ब्रह्मरूप ही ज्ञात होता है। इसलिये दूध आदिके समान ब्रह्ममें विकारिता नहीं है। समस्वरूप ब्रह्मका आदि और अन्तमें जो क्षणभरके लिये विकार दिखलायी पड़ता है, उसे तुम जीवात्माका भ्रम समझो; क्योंकि अविकारी ब्रह्ममें कोई विकार नहीं हो सकता। उस ब्रह्ममें दृश्य-दर्शनका अत्यन्त अभाव है। वास्तवमें वह ब्रह्म संसारके सम्बन्धसे रहित, सच्चिदानन्दघन कहा गया है। आदि और अन्तमें जिस वस्तुका जो स्वरूप है, वही उसका नित्य स्वरूप है। यदि मध्यमें उसका अन्य रूप दिखलायी पड़ता है तो वह केवल अज्ञानके कारण ही दिखायी देता है। वास्तवमें परमात्मा तो आदि, अन्त और मध्यमें सर्वत्र सदा एकरूप है; क्योंकि स्वस्वरूप परमात्मतत्त्व कभी भी विषमभावको प्राप्त नहीं होता। निराकार, अद्वितीय

तथा नित्यस्वरूप होनेके कारण यह परब्रह्म परमात्मा कभी भाव-विकारोंसे युक्त नहीं होता।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! अद्वितीय तथा अत्यन्त शुद्ध नित्य ब्रह्ममें जीवात्माके भ्रमरूप अविद्याका आगमन कैसे हुआ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! विकार तथा आदि और अन्तसे रहित यह पूर्ण ब्रह्मतत्त्व पहले भी था, इस समय भी है और भविष्यमें भी सदा रहेगा। वास्तवमें अविद्याका किंचिन्मात्र भी अस्तित्व नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। 'ब्रह्म' इस शब्दसे जो वाच्य एवं वाचकका पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है, उसका भी भेदमें तात्पर्य नहीं है, किंतु वह समझानेके लिये ही है। श्रीराम! तुम और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अनल आदि सब-के-सब आदि और अन्तसे रहित ब्रह्म ही हैं, अविद्या तो वास्तवमें है ही नहीं; क्योंकि मुनिलोग 'अविद्या'को भ्रममात्र और असत् कहते हैं। श्रीराम! वास्तवमें जो वस्तु है ही नहीं, वह सत्य कैसे समझी जा सकती है। वेद-रूप वाणीका रहस्य जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ विद्वानोंने 'यह अविद्या है और यह जीव है' इत्यादि कल्पना अज्ञानी जनोंको उपदेश देनेके लिये ही की है। केवल युक्तिसे ही बोध कराकर इस जीवको परमात्मामें नियुक्त किया जा सकता है; क्योंकि जो कार्य युक्तिसे सम्पादित होता है, वह सैकड़ों अन्य उपायोंसे नहीं होता। अज्ञानी दुर्मतिके सम्मुख उसे सुहृद् समझकर 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यों जो पुरुष कहता है, उसका वह कथन एक ठूँठको दुःख निवेदन करनेके समान है। उससे कोई लाभ नहीं है। क्योंकि मूर्ख युक्तिसे प्रबोधित होता है और प्राज्ञ तत्त्वसे। युक्तिसे बोध कराये बिना मूर्खको ज्ञान नहीं होता। श्रीराम! मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म हैं, तुम ब्रह्म हो और यह दृश्य पृथ्वी भी ब्रह्म ही है; ब्रह्मसे पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है। रघुनन्दन! सोते जागते, चलते-फिरते, बैठते, श्वास लेते—सब समय अपने हृदयमें 'सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही मैं हूँ' ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि तुम वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित, शान्त, चिन्मय ब्रह्म हो यथा सर्वव्यापी, अद्वितीय, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप, आदि और अन्तसे रहित, प्रकाशात्मक परम-पदस्वरूप हो एवं ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति—ये सब भी अभिन्न, अद्वितीय नित्य परमात्मस्वरूप ही हैं। जैसे मिट्टीसे घड़ा पृथक् नहीं है, वैसे ही परमात्मासे प्रकृति पृथक् नहीं है। जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नामसे दोनों भिन्न होते हुए भी वास्तवमें भिन्न नहीं हैं वैसे ही परमात्मा और प्रकृति—ये दोनों एक हैं और नामसे भिन्न होते हुए भी वास्तवमें भिन्न नहीं हैं। जैसे अज्ञानसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है, वैसे ही अज्ञानसे इन दोनोंमें भेद जान पड़ता है और वह भेद यथार्थ ज्ञानसे ही विनष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि परमात्माके सिवा—उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। (सर्ग ४८-४९)

जीवात्माका अपनी भावनासे लिङ्गदेहात्मक पुर्यष्टक बनकर अनेक रूप धारण करना

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्! मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य (जानने योग्य) वस्तुका ज्ञान है और अविनाशी द्रष्टव्य वस्तुका अनुभव है तथा मैं आपके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानरूप उपदेशामृतसे तृप्त हूँ। सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मासे यह पूर्ण संसार परिपूर्ण है। पूर्ण-ब्रह्म परमात्मासे ही यह संसार उत्पन्न होता है, पूर्ण-ब्रह्म परमात्मा द्वारा ही यह संसार पूरित है एवं पूर्णब्रह्म परमात्मामें ही यह संसार स्थित है; तथापि ब्रह्मन्! बहुत लोगोंके ज्ञानकी अभिवृद्धिके लिये लीलासे मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। मृत प्राणीके श्रोत्र, चक्षु, त्वचा,

रसना और घ्राण—ये इन्द्रियगोलक प्रत्यक्ष विद्यमान रहते हुए भी अपने अपने विषयोंका ग्रहण क्यों नहीं करते और जीते हुए प्राणीकी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंका ग्रहण कैसे करती हैं ? जडरूप होती हुई भी ये इन्द्रियाँ शरीरके भीतर स्थित रहकर घटादि बाह्य पदार्थोंका अनुभव कैसे करती हैं और कैसे नहीं भी करतीं ? महर्षे ! यद्यपि मैं इन विशेषोंको जान रहा हूँ, तथापि आपसे फिर पूछता हूँ, उसे आप कृपापूर्वक पूर्णरूपसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! इस संसारमें विशुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मके सिवा इन्द्रिय, चित्त और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थका पृथक् अस्तित्व नहीं है । अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है । वह चिन्मय परमात्मा ही प्रकृति बन गया है । उसी प्रकृतिके अंशसे इन्द्रिय आदि एवं घट आदि उत्पन्न हुए हैं । किंतु आदि और अन्तसे रहित, विकार-रहित, प्रकाशस्वरूप, शुद्ध चैतन्यमात्र, जगत्-कारणरूप ब्रह्म वास्तवमें मायासे रहित है । यह अज्ञानी जीवात्मा ही अज्ञानके कारण अपनी भावनाके अनुसार संसारका रूप धारण करता है । वह अहं-भावनासे 'अहंकार', मननसे 'मन', निश्चयकी भावनासे 'बुद्धि', इन्द्रियोंकी भावनासे 'इन्द्रिय', देहकी भावनासे 'देह' और घटकी भावनासे घट बन जाता है । इस प्रकार अपनी भावनाके कारण यह जीवात्मा पुर्यष्टक बन जाता है । ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारोंको लेकर 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों-के व्यापारोंको लेकर 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञान-कर्मेन्द्रियों-के व्यापारोंसे जनित सुख-दुःखोंका आश्रय होनेसे 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करनेसे मैं 'साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमानयुक्त जो चैतन्य है, वही 'जीव' कहा गया है । वही जीवात्मा अपनी भावनासे समय-समयपर स्वयं ही अनेकरूप हो जाता है । जैसे जल सींचनेसे बीजके पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही भावनाके अनुसार उस जीवके भी शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जंगम आदि अनेक रूप होते हैं; क्योंकि वह जीवात्मा अज्ञानसे यह मान लेता है कि मैं चेतन आत्मा नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि हूँ । वासनाओंके वशीभूत हुआ यह जीव कर्मानुसार चिरकालतक स्वर्ग-नरकमें आवागमनों-द्वारा जगत्में घूमता ही रहता है । इनमेंसे कोई तो विशुद्ध जन्मके कारण पहले जन्ममें ही परमात्माको यथार्थ जानकर आदि-अन्तसे रहित परमपद परमात्माको प्राप्त हो जाता है । कोई बहुत कालतक अनेक योनियोंमें प्राप्त सुख-दुःखादि भोगोंके अनन्तर परमात्माके यथार्थ ज्ञान-द्वारा परमपदको प्राप्त होता है । श्रीराम ! बाह्य विषयोंके ज्ञानमें इन्द्रिय-सम्बन्ध ही सदा कारण है और वह इन्द्रियोंका सम्बन्ध चित्तसे युक्त जीवित पुरुषमें ही सम्भव है; मृत पुरुषमें कभी नहीं । जब शानपर चढ़े हुए चमकीले नवीन रत्नके समान आँखोंके तारेमें बाह्य दृश्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, तब उस पदार्थका हृदयमें प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण, देहाभिमानी जीवके साथ सम्बन्ध हो जाता है । इस रीतिसे बाह्य वस्तु जीव-द्वारा हृदयमें जानी जाती है । (सर्ग ५०)

पुर्यष्टक बने हुए जीवात्माको तत्त्वज्ञानसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होनेका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! व्यष्टि चेतन जीवात्मा गर्भमें चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रादुर्भावसे सम्पन्न पुर्यष्टकस्वरूप हो जानेपर जिस वस्तुकी जिस प्रकार भावना करता है, उसी प्रकार उसे अपनी भावनासे तत्काल ही अनुभव करने लगता है । किंतु वास्तवमें अद्वितीय, असीम और अवेद्य होनेसे निर्विकार शुद्ध आत्मामें दूसरे किसी पदार्थका अस्तित्व है ही नहीं । अतः वह चेतन आत्मा वास्तवमें दृश्यके सम्बन्धसे कभी भी मनोरूपता, जीवरूपता अथवा पुर्यष्टकरूपताको नहीं प्राप्त होता । श्रीराम ! परमात्मा तो वास्तवमें विना

आदिद्वारा नहीं जाना जा सकता और वह सदा विद्यमान होते हुए भी अश्रद्धालु विश्वासहीन पुरुषोंके लिये नहीं है। वही 'परमात्मा' इस नामसे कहा गया है तथा वही पाँचों इन्द्रिय और छठे मनसे अतीत है अर्थात् इनके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। 'उस परमात्मासे चेतन जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्योंको समझानेके लिये ही कही गयी है। वास्तवमें परमात्मासे भिन्न अन्य कुछ है ही नहीं। जैसे मृगतृष्णा-जलको प्रयत्नसे भी किसीने कहीं नहीं पाया, उसी प्रकार प्रतीत होनेपर भी जो अभावरूप पदार्थ हैं, वे प्रयत्नसे भी किस तरह पाये जा सकते हैं। क्योंकि असत् पदार्थ ही सत् प्रतीत होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्यासे ही है। ज्ञानसे तो जो वस्तु वास्तवमें जिस प्रकारकी रहती है, वह उसी प्रकारकी अनुभूत हो जाती है और भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तरिक पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं—ऐसे विचारवाला जीवात्मा जिसकी जैसी भावना कर लेता है, उसे वैसी ही प्रतीति होने लगती है। द्वैत एवं अद्वैतरूप यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार परमात्मासे ही बना है, जैसे ईखके रससे खाँड और मिट्टीसे महान् घट। खाँड, घट आदिमें—देश, काल आदिसे परिच्छिन्न होनेके कारण—अवयव-विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परंतु ब्रह्म तो देश, काल आदिसे परिच्छिन्न नहीं है; सुतरां उसमें वे विकार आदि वास्तवमें हो ही नहीं सकते। केवल ब्रह्ममें जगत्की कल्पनामात्र है। क्योंकि जिस प्रकार भूषणमें स्थित सुवर्णमें यानी सुवर्णके आभूषणमें सत्य एवं असत्यरूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मामें भी चेतनता और जडता दोनों रहती हैं। तात्पर्य यह कि जैसे स्वर्ण ही आभूषणके रूपमें प्रतीत होता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म ही जड जगत्के रूपमें प्रतीत होता है। जैसे मनुष्य स्वप्नमें शीघ्र ही दीवाल बनकर पट बन जाता है, वैसे ही मरणकालमें जीवात्मा दूसरा शरीर अपने-आप बन जाता है। स्वप्नमें अपने संकल्पसे ही जीवात्मा जन्मता-मरता है। वास्तवमें यह सब मिथ्या है। इस जीवकी अपनी वासना ही पाञ्चभौतिक देह होकर उसी प्रकार आगे खड़ी हुई-सी रहती है, जिस प्रकार बालकके आगे कल्पित असत्य महान् प्रेत खड़ा हुआ-सा रहता है। मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठोंका समूह पुर्यष्टक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है।* सजीव पहाड़, वृक्षरूप स्थावर आदि अवस्थाओंमें तथा कल्पवृक्षकी अवस्थाओंमें भी पाषाण-शिलाके समान घनीभूत जडतावाली (तमोयुक्त) यह आतिवाहिक देह (लिङ्गशरीर) सुषुप्ति-अवस्थामें स्थितकी ज्यों ही स्थित रहती है। जीवात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही मुक्ति होती है और उसी ज्ञानसे वह परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। जीवात्माके यथार्थ ज्ञानसे जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह शास्त्रोंमें दो प्रकारकी बतलायी गयी है—एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। उसके परे तुरीयातीत परम ब्रह्मपद है। यथार्थ ज्ञान होनेसे यह जीव प्रबोधस्वरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप हो जाता है और वह यथार्थज्ञान या बोध पुरुष-प्रयत्नसे साध्य है। जो जीवात्मा अपने सर्वव्यापी स्वरूपको यथार्थ जान जाता है, वह सच्चिदानन्दमय ही हो जाता है। किंतु जो जीव उपर्युक्त ज्ञानसे शून्य है, वह अज्ञानवश शिलाकी तरह दृढीकृत अपने हृदयमें दीर्घतम संसारस्वप्न-भ्रान्तिरूप तीव्र भयका अनुभव करता रहता है। जीवके

* इन्हींको योगदर्शन (२ । १९) और साङ्ख्यकारिका (३) में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरूप पञ्चविषयात्मक सूक्ष्म तन्मात्राएँ कहा गया है, एवं गीतामें आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ्वीरूप सूक्ष्म महाभूत बताया गया है (७ । ४; १३ । ५)।



क्षीरसागरमें शेष-शय्यापर विराजित भगवान्‌का जगत्‌की स्थितिको देखना

(उपशम-प्रकरण सर्ग ३८)

भीतर चिन्मय आत्माके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। पर यह अज्ञानके कारण उसी चेतन आत्माको जड देहके रूपमें समझकर व्यर्थ ही शोक किया करता है। जीवात्माके भीतर परमब्रह्मके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। अहो! जहाँ-तहाँ यह जो जगत् प्रतीत होता है, वह मायाका ही परिणाम है।

श्रीराम! वासनाओंका बन्धन ही इस जीवात्माके लिये बन्धन है, वासनाओंका अभाव ही इसका मोक्ष है और वासनाओका लय ही सुषुप्ति-अवस्था है; और वही वासना स्वप्नमें नाना प्रकारसे प्रकट होती है। जब यह जीव वासनाओंकी घनतासे मोहित होता है, तब वह स्थावर आदि योनियोंको प्राप्त होता है; जब मध्यम प्रकारकी वासनाओंसे युक्त होता है, तब पशु-पक्षी आदि योनियोंको प्राप्त होता है और जब क्षीण वासनाओंसे समन्वित होता है, तब मनुष्य-देव-गन्धर्व आदि योनियोंको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि वासनाओंके क्षयके तारतम्यसे उत्तरोत्तर शुभयोनिकी प्राप्ति होती है। किंतु परमात्मा तो वास्तवमें न किसीका त्याग करता है और न किसीका ग्रहण ही करता है। वास्तवमें परमात्मासे भिन्न किसीका अस्तित्व है ही नहीं। अतः यहाँ बाह्य और आन्तर कलात्मक जगत्के रूपमें यह परमात्मा ही अपने संकल्पसे प्रकाशित होता है, अतः परमात्माके सिवा और कुछ नहीं है। ये तीनों जगत् चिन्मय परमात्माका संकल्प ही हैं। इसलिये भेदके विकल्पोंसे प्रयोजन ही क्या रहा। अब हम सच्चिदानन्द परमात्मामें नित्य स्थित हैं। इस बाह्य-आन्तर जगत्का भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंमें ही अत्यन्त अभाव है। अर्थात् वास्तवमें यह जगत् न पहले था, न अभी है और न भविष्यमें ही कायम रहेगा। जैसे समुद्र तरङ्ग आदि समस्त भेदोंसे रहित, सम्पूर्णरूपसे केवल विशुद्ध द्रवात्मक जलस्वरूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी समस्त भेदों और विकारोंसे रहित केवल परमपद ब्रह्मस्वरूप ही है।

(सर्ग ५१)

श्रीकृष्णार्जुन-आख्यानका आरम्भ—अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम! अब कमल-नयन भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कहे हुए उस शुभ अनासक्ति-योगको तुम सुनो, जिसका अवलम्बन करके मनुष्य जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है। उस उपदेशको सुनकर महाराज पाण्डुका पुत्र अर्जुन जीवन्मुक्तिरूप सुखसे युक्त हुआ अपना जीवन बितायेगा।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! कृपाकर आप मुझे यह बतलाइये कि वह पाण्डुनन्दन इस पृथ्वीपर कब उत्पन्न होगा और उसके प्रति अनासक्तिका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह करेंगे?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! एक समय यह पृथ्वी मृत्युलोकमें आये हुए भारस्वरूप पापी प्राणियोंसे व्याप्त, वन-गुल्मोंसे सकीर्ण-सी और दीन हो जायगी। उस समय पापी मनुष्योंके भारसे पीडित यह दीन पृथ्वी शरण पानेके लिये भगवान् विष्णुके समीप उसी तरह जायेगी, जिस तरह लुटेरोंसे लूटी गयी कातर स्त्री अपने पतिके समीप जाती है। तब सम्पूर्ण देवांशोंके साथ भगवान् श्रीहरि नर और नारायणके अवतारस्वरूपमें दो शरीरोंसे पृथ्वीपर प्रकट होंगे। उनमेंसे श्रीहरिके नारायणस्वरूपका साक्षात् अवतार एक तो 'श्रीवासुदेव' इस नामसे विख्यात होगा और दूसरा अंशावतार नरस्वरूप पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' इस नामसे विख्यात होगा और चारों समुद्रोंसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका अधिपति एवं धर्मका पुत्र 'युधिष्ठिर' इस नामसे प्रसिद्ध होगा। वह पाण्डुपुत्र धर्मज्ञ होगा, उसका

चचेरा भाई 'दुर्योधन' नामसे विख्यात होगा और उस दुर्योधनका 'भीम' नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र वैसा ही प्रतिद्वन्द्वी होगा, जैसे सर्पका प्रतिद्वन्द्वी नकुल। पृथ्वीको अपने-अपने अधिकारमें करनेके लिये परस्पर युद्ध करनेमें तत्पर उन दोनोंकी भयंकर अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्रमें होनेवाली महाभारतकी लड़ाईमें इकट्ठी होगी। रघुनन्दन! महान् गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुनकी देहसे उन सेनाओंको नष्टकर श्रीविष्णुभगवान् (श्रीकृष्ण) पृथ्वीको भारसे मुक्त कर देंगे। युद्धके प्रारम्भमें भगवान् विष्णुका अंश अर्जुन प्राकृतभावमें स्थित होकर हर्ष और शोकसे युक्त मनुष्य-धर्मवाला बन जायगा। दोनों सेनाओंमें पहुँचे हुए और मरनेके लिये तैयार अपने बन्धुओंको देखकर वह अर्जुन विषादको प्राप्त हो जायगा और युद्ध करना अस्वीकार कर देगा। राघव! उस समय अर्जुनको उपस्थित कार्यकी सिद्धिके लिये श्रीविष्णुभगवान् अपने ज्ञानमय श्रीकृष्णस्वरूपसे इस प्रकार उपदेश देंगे—

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता। जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है। अनन्त, एकरूप, सत्स्वरूप और आकाशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभावशाली परम शुद्ध आत्माका किससे किस तरह क्या नष्ट होता है? अर्थात् उसका किसी प्रकार कभी विनाश नहीं होता। अतएव ज्ञानस्वरूप अर्जुन! तुम आदि और मध्यसे रहित, अनन्त एवं अव्यक्त अपने वास्तविक स्वरूपका अवलोकन करो। तुम अप्रमेय, दोषरहित, चैतन्यस्वरूप, अज, नित्य और विशुद्ध हो।' (सर्ग ५२)

कर्तृत्वाभिमानसे रहित पुरुषके कर्मोंसे लिप्त न होनेका निरूपण एवं सङ्कल्पत्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, संन्यास, ज्ञान और योगकी परिभाषा

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! तुम स्वयं जरा-मरणसे रहित नित्य चिन्मय आत्मस्वरूप हो। तुम 'मारनेवाले' नहीं हो, अतः इस अभिमानरूप दोषका त्याग कर दो। क्योंकि जिस पुरुषके अन्त.करणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है। इसलिये 'अयम्' यानी यह संसार 'सोऽहम्' यानी वह मारनेवाला मैं, 'इदम्' यानी यह देह और 'तन्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं—इस तरहकी अन्तःकरणमें उत्पन्न हुई वृत्तिका त्याग कर दो। क्योंकि भारत! इसी बुद्धिवृत्तिके कारण 'मैं पापोंसे युक्त हूँ', 'मैं विनाशशील हूँ' इत्यादि भ्रान्तियोंके अधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखोंसे संतप्त हो रहे हो। वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म अपनी आत्माके अंशरूप गुणोंके द्वारा ही विभागपूर्वक किये जाते हैं; तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। महात्मा पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं' नामकी कोई वस्तु नहीं है; फिर तुम्हारे लिये कौन पदार्थ क्लेशकारक है? अर्थात् कोई नहीं। भारत! बहुतोंने मिलकर एक साथ जिस कार्यका सम्पादन किया हो, उसमें यदि किसी एकको 'मैंने ही यह किया है' यों अभिमान-जन्य दुःख होता है तो वह हास्यास्पद ही है। क्योंकि कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। तथा जिसका शरीर

अहंतारूपी विषसे दूषित नहीं हुआ वह रागादिरूपी हैजेसे मुक्त योगी कर्म करते हुए और न करते हुए भी लिप्त नहीं होता । जैसे विवेकी और लौकिक विषयोंका ज्ञाता होनेपर भी दुष्ट-प्रकृति पुरुष कहीं शोभा नहीं पाता, वैसे ही ममतारूपी दोषसे दूषित मनुष्य कहीं भी शोभा नहीं पाता । जो ममता और अहंकारसे रहित, सुख और दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है, वह मनुष्य कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता । पाण्डुपुत्र ! यह शास्त्रविहित उत्तम क्षात्रकर्म तुम्हारा स्वकर्म है । वह बन्धु-वधरूप होनेसे क्रूर होनेपर भी कर्तव्यबुद्धिसे किये जानेपर सुख, अभ्युदय और कल्याणका जनक है ।

धनंजय ! तुम आसक्तिको त्यागकर योग—समतामें स्थित हुए कर्तव्यकर्मोंको करो । क्योंकि आसक्तिरहित होकर न्यायसे प्राप्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता । तुम शान्तिमय ब्रह्मस्वरूप होकर कर्मको ब्रह्ममय बना दो । अपने सत्कर्मोंको ब्रह्मार्पण कर देनेपर तुम शीघ्र ब्रह्म ही हो जाओगे । अपने सम्पूर्ण स्वार्थोंको परमेश्वरमें समर्पितकर तथा अपने-आपको भी परमेश्वरमें समर्पितकर पापरहित हुए एवं सर्वभूतोंका आत्मा बनकर इस भूतलको विभूषित करते हुए तुम परमात्मा बन जाओ । तुम सभी संकल्पोंसे रहित हो; इसलिये अब समस्वरूप, शान्तचित्त मुनि बनकर कर्मफलत्यागरूपी संन्यासयोगमें आत्माको युक्त करके कर्म करते हुए ही मुक्त हो जाओ ।

अर्जुनने पूछा—भगवन् ! सङ्ग-त्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, सर्वथा संन्यास तथा ज्ञान और योगका विभाग क्या है ? प्रभो ! मेरे मोहकी निवृत्तिके लिये यह सब कहिये ।

श्रीभगवान्ने कहा—सारे संकल्पोंकी भलीभाँति शान्ति हो जानेपर सम्पूर्ण वासनाओं और भावनाओंसे रहित जो विशुद्ध केवल चेतनतत्त्व है, वही परब्रह्म परमात्मा कहा गया है । संस्कारके द्वारा पवित्र बुद्धिवाले पुरुषोंने उस परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके साधनको ही ज्ञान कहा है और उसीको योग कहा है तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है', और 'मैं भी ब्रह्मरूप ही हूँ'—इस प्रकार अपने आपको ब्रह्ममें अर्पण कर देनेको ब्रह्मार्पण कहा है एवं सम्पूर्ण कर्मफलोंके त्यागको ज्ञानियोंने संन्यास कहा है । संकल्प-समूहोंका जो त्याग है, वही असङ्ग (आसक्तिका अभाव) कहा गया है । आसक्तिके अभावका नाम ही सङ्गत्याग है । सभी संकल्प-विकल्प समूहोंमें जो एक ईश्वरकी भावना है तथा जीव और ईश्वरके एकत्वकी भावना है, उसीको जीवात्माका ईश्वरमें अर्पण कहा गया है । क्योंकि अज्ञानके कारण ही चेतन परमात्मामें इन जीव और जगत् आदिका नाममात्र ही भेद है । वास्तवमें यह नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ज्ञान-स्वरूप है; अतः जगत् एक ब्रह्ममय ही है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । अर्जुन ! दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, आत्मा मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ । काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत—सब मैं ही हूँ । इसलिये मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे पूजक बनो, मुझको प्रणाम करो । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे ।

अर्जुनने पूछा—देवेश्वर ! आपके पर और अपर—दो रूप किस प्रकारके हैं और परमपदरूप सिद्धिके लिये किस समय किस रूपका आश्रय लेकर मैं स्थित रहूँ ?

श्रीभगवान्ने कहा—निष्पाप अर्जुन ! यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं—एक तो सामान्य रूप और दूसरा परम रूप । शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाला चतुर्भुज साकारस्वरूप तो मेरा सामान्य रूप है और जो मेरा विकाररहित, अद्वितीय, आदि और अन्तसे रहित निर्गुण निराकार स्वरूप है, वह परम रूप है; वही ब्रह्म, शुद्ध आत्मा, परमात्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है । तुम सम्प्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्तसे रहित मेरे उस रूपको जान जाओगे, जिसके ज्ञानसे प्राणी इस संसारमें फिर उत्पन्न नहीं होता । अरिमर्दन ! यदि

तुम ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके योग्य हो तो मुझ परमेश्वरकी आत्माको और अपनी आत्माको एकरसकर अखण्ड परिपूर्णात्माका तत्काल आश्रय ले लो। 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मै हूँ' इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब इस आत्मतत्त्वका ही उपदेश मै तुम्हें देता हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेशसे तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपदमें विश्रान्ति पा चुके हो और सर्वसंकल्पोंसे भी मुक्त हो चुके हो। अब तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो एवं सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त और सबको समभावसे देखनेवाले तुम आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखो—अर्थात् एक परमात्माके सिवा और कुछ नहीं है, ऐसा समझो। क्योंकि जो पुरुष 'सब कुछ ब्रह्म ही है' 'मैं भी ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार एकीभावका आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित परमात्माको भजता है, वह सब प्रकारसे व्यवहार करता हुआ भी पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् वह परमपदको प्राप्त हो जाता है। 'सर्व' शब्दका अर्थ है—एकत्व और वह एकत्व परमात्माका वाचक है। वह परमात्मा प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेके कारण सत् भी नहीं कहा जा सकता और ध्रुव सत्य भावरूप होनेके कारण असत् भी नहीं कहा जा सकता; अतः वह सत्-असत्से विलक्षण है। वह जिसके अनुभवमें आ जाता है, उसे शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जो तीनों लोकोंके अन्तःकरणके भीतर स्थित हुआ प्रकाश देता है और जो ज्ञानियोंके अनुभवमें प्रत्यक्ष है, निश्चय ही वही मैं परमात्मा हूँ।

सम्पूर्ण शरीरोंके भीतर जो दृश्य संसारसे रहित और सूक्ष्मरूपसे व्यापक अनुभवस्वरूप है, वही यह सर्वव्यापी परमात्मा है। बाहर-भीतर प्रकाश करनेवाला तेजस्वरूप मैं देहोंके भीतर प्रत्यक्ष विद्यमान रहता हुआ भी प्रतीत नहीं होता। जिस तरह हजारों घड़ोंके बाहर और भीतर आकाश समभावसे व्यापक है, उसी तरह भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत्में स्थित शरीरोंके भी बाहर और भीतर मैं व्यापक हूँ; किंतु लाखों देहोंके भीतर समभावसे व्यापक हुआ भी यह परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितना भी पदार्थ-समूह है, उसमें जो समभावसे नित्य स्थित है, विद्वान्लोग उसे ही नित्य चिन्मय परमात्मा जानते हैं। विनाशशील पदार्थोंमें साक्षीकी भाँति समभावसे स्थित अविनाशी परमात्माको जो देखता है, वही यथार्थ देखता है। पाण्डुनन्दन! 'समस्त शरीरोंमें चेतन ही मैं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जो मैं कहता हूँ, वह अद्वितीय परमात्मा मैं सबका आत्मा हूँ। तुम मुझे इस प्रकार तत्त्वतः जानो। जिस प्रकार पर्वतोंका वास्तविक स्वरूप पाषाण ही है, वृक्षोंका स्वरूप काष्ठ ही है और तरङ्गोंका स्वरूप जल ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही है। जो पुरुष परमात्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको परमात्मामें कल्पित देखता है एवं आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है। अर्जुन! नाना प्रकारके आकार-विकारोंवाले तरङ्गोंमें जैसे जल व्यापक है या कड़े-कुण्डल आदिमें सुवर्ण व्यापक है, वैसे ही विविध प्रकारके समस्त प्राणियोंमें परमात्मा समभावसे व्यापक है। तथा जिस प्रकार जलमें नाना प्रकारके चञ्चल तरङ्ग-समूह हैं या सुवर्णमें कड़े-कुण्डल आदि हैं, उसी प्रकार परमात्मामें ये समस्त भूत-प्राणी भी हैं। इसलिये भारत! सम्पूर्ण पदार्थ और भूत-प्राणी एवं परम ब्रह्म—इन सबको एकरूप ही जानो, इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है। इस प्रकारके उपदेशोंको सुनकर और निश्चयपूर्वक भीतर अभय ब्रह्मकी भलीभाँति भावना करके समबुद्धि महात्मालोग जीवन्मुक्त होकर इस संसारमें विचरा करते है। जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी

परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं। (सर्ग ५२)

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति कर्म और ज्ञानके तत्त्व-रहस्यका प्रतिपादन

श्रीभगवान्‌ने कहा—महाबाहो अर्जुन ! तुम फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुनो, जिसे मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुम्हारे लिये हितकी इच्छासे कहूँगा। कुन्तीपुत्र ! सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख-को देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये भारत ! उनको तुम सहन करो। इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंका विषय-संसर्ग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे भिन्न जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सब-के-सब एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे तनिक भी पृथक् नहीं हैं अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है। अतः फिर सुख और दुःख कहाँ ? आदि-अन्तसे रहित तथा अवयवहीन परमात्मामें पूर्णता और अपूर्णता कैसे हो सकती है। इसलिये जो पुरुष सुख-दुःखमें समान और धीर है, वह अमृतमय ब्रह्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। वास्तवमें सभी तरहसे सुख-दुःखोंका अस्तित्व तनिक भी नहीं है। परमात्मतत्त्व ही सर्वस्वरूप है, इसलिये अनात्मरूप संसारकी सत्ता कैसे स्थिर होगी। क्योंकि असत् वस्तुकी तो सत्ता है नहीं और सत्‌का अभाव नहीं है अतएव सुख-दुःख आदि हैं ही नहीं, केवल एक सर्वव्यापी परमात्मा ही है। अर्जुन ! यद्यपि आत्मा दृश्य पदार्थोंका साक्षीरूपसे साक्षात्कार करनेवाला चेतनस्वरूप है और शरीरके अंदर रहता भी है, तथापि वह सुखोंसे न तो हर्षित होता है और न दुःखोंसे दुःखित ही। परमात्मासे पृथक् देह आदि कुछ भी नहीं है और न दुःख आदि ही हैं; अतः वास्तवमें कौन किसका अनुभव करेगा ? क्योंकि एक परमात्माके सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं। भारत ! यह दुःख अज्ञानसे उत्पन्न एक प्रकारकी भ्रान्ति ही है अतः परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार रज्जुका यथार्थ तत्त्व न जाननेसे उत्पन्न हुआ रज्जुमें सर्पका भय रज्जुके यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानसे उत्पन्न हुए देह एवं दुःखादिका अस्तित्व परमात्माके तात्त्विक ज्ञानसे नष्ट हो जाता है। यह विश्व नित्य एवं पूर्ण ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है, इसे ही ध्रुव सत्य जानो। यही यथार्थ बोध है।

अर्जुन ! तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख, दुःख—इस सम्पूर्ण असद्रूप जड द्वैत-प्रपञ्चसे रहित हो जाओ और एकमात्र अद्वितीय चिन्मय सत्स्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाओ। भारत ! सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय और पराजयके ज्ञानसे रहित होकर तुम एकमात्र शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाओ; क्योंकि तुम ब्रह्मरूप ही हो। अर्जुन ! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और भविष्यमें जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे, वह सब परमात्म-रूप ही है—इस प्रकारके ज्ञानमें स्थिर रहो। जो पुरुष अपने अन्तःकरणमें जिस पदार्थका संकल्प करता है, वह निस्संदेह उसी रूपमें बदल जाता है। इसलिये अर्जुन ! सत्यस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये तुम सत्यस्वरूप ब्रह्म हो जाओ। क्योंकि जो पुरुष विनाशशील क्रियारूप संसारमें अक्रिय सच्चिदानन्द ब्रह्मको स्थित देखता और अक्रिय सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विनाशशील क्रियारूप संसारको कल्पित देखता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् है और सम्पूर्ण कर्मोंको कर चुका है—ऐसा कहा गया है—इसलिये अर्जुन ! तुम कर्मोंमें वासना तथा कर्तापनके अभिमानसे रहित हो

जाओ। तुम्हारी कर्मोंको न करनेमें आसक्ति न हो और तुम योगमें स्थित हुए अनासक्तभावसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका आचरण करो। मूढ़ता, अकर्मण्यता तथा कर्मोंमें आसक्तिके आश्रयसे रहित हुए सबमें समभाव होकर स्थित रहो। जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंको भलीभाँति करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।

परमात्माके यथार्थ तात्त्विक ज्ञानका आश्रय लेनेवाले आसक्तिरहित महात्माके हृदयमें सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। कर्तृत्वाभिमान न रहनेसे अभोक्तृत्वकी सिद्धि होती है और भोक्तृत्वके अभावसे समता और एकताकी सिद्धि होती है। उस समता और एकतासे अनन्तताकी सिद्धि होती है तथा उससे अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं। जो सम, सौम्य, स्थिर, स्वस्थ, शान्त और सब पदार्थोंसे निःस्पृह होकर स्थित रहता है, वह कर्म करता हुआ भी वास्तवमें कुछ नहीं करता। इसलिये अर्जुन! तुम हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित, योग-क्षेमको न चाहनेवाले और स्वाधीन अन्तःकरणवाले हो जाओ एवं न्यायसे प्राप्त शास्त्रोक्त कर्मोंको करते हुए पृथ्वीको विभूषित करनेवाले आदर्श पुरुष बन जाओ। जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। किंतु अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं। (सर्ग ५४)

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति देहकी नश्वरता, आत्माकी अविनाशिता, मनुष्योंकी मरणस्थिति और स्वर्ग-नरकादिकी प्राप्ति एवं जीवात्माके संसारभ्रमणमें कारणरूप वासनाके नाशसे मुक्तिका प्रतिपादन

श्रीभगवान्‌ने कहा—पार्थ! बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि प्रारब्धानुसार न्यायसे प्राप्त भोगोंका त्याग न करे और अप्राप्त भोगोंको पानेकी इच्छा न करे एवं न्यायसे प्राप्त भोगोंका शास्त्रानुकूल उपभोग करते हुए भी समभाव-से स्थित रहे। महाबाहु अर्जुन! जन्मादि विकारस्वभाव-वाले अनात्मरूप जड देहमें मैं-पनकी भावना मत करो, अपितु जन्मादि विकारसे रहित सत्य चिन्मय आत्मामें ही आत्माकी भावना करो। देहका नाश होनेपर अविनाशी आत्माका नाश नहीं होता। इसलिये सम्पूर्ण परिग्रहोंसे रहित, चित्तरहित पुरुषका पतन नहीं होता। वह कर्मोंको करता हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि परमात्माके यथार्थ तात्त्विक ज्ञानका आश्रय लेनेवाले आसक्तिरहित महात्माके हृदयमें सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अर्जुन! यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्तसे रहित, अजर कहा गया है; इसलिये 'आत्माका नाश होता है' यह दुःखदायी दुर्बोध तुम-जैसे मनुष्यको नहीं होना चाहिये। उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नाशवान् है' इस रूपसे आत्माको नहीं देखते। देहाभिमानी

अज्ञानी मनुष्य ही आत्मामें आत्माको अनात्मरूपसे देखते हैं यानी देहको ही आत्मा मानते हैं। तथा यह नष्ट हो गया और यह प्राप्त हो गया—इत्यादि भावनाएँ वन्ध्या स्त्रीके पुत्रके समान मोहजनित भ्रम (असत्) हैं। असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है। नाशरहित तो तुम उसको जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये भरतवंशी अर्जुन! तुम युद्ध करो। आत्मा एक है और द्वैत है ही नहीं; अतः आत्माके सिवा दूसरे असत् पदार्थकी उत्पत्ति हो कैसे सकती है? क्योंकि सत्का नाश नहीं होता, इसलिये यह सद्रूप परमात्मा अविनाशी और अनन्त है।

अर्जुनने पूछा—भगवन्! तब तो 'मैं मर गया हूँ' इस प्रकार मनुष्योंकी मरणस्थिति किस हेतुसे प्राप्त होती है और उस स्थितिमें प्रभो! लोगोंको प्रसिद्ध स्वर्ग और नरक कैसे प्राप्त होते हैं?

श्रीभगवान्ने कहा—अर्जुन! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—इनसे युक्त तन्मात्राओंका जो समूह है, अज्ञानसे तत्स्वरूप हुआ ही जीव देहोंमें स्थित रहता है। वह देहमें स्थित जीवात्मा वासनासे उसी तरह खींचा जाता है, जिस तरह रस्सीसे बछड़ा। वह शरीरके अंदर पिंजरेमें पक्षीकी तरह बैठा रहता है। जब देश और कालसे जर्जर हुए शरीरसे यह जीव वासना लेकर निकल जाता है, तब इसीको लोग मरना कहते हैं। जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना और घ्राणको ग्रहण करके पूर्व शरीरसे दूसरे शरीरमें चला जाता है। इसका शरीर वासनामय ही है यानी केवल वासनाके अनुसार ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारणसे नहीं। अतएव वासनाका त्याग होनेपर लिङ्गदेह विनष्ट हो जाता है और उस लिङ्गदेहके विनष्ट हो जानेपर वह जीवात्मा परमपदको प्राप्त हो जाता है। यह वासनामय जीव वासनासे परिपुष्ट होकर अज्ञानसे अनेक भ्रमोंका भार ढोता हुआ कर्मानुसार नाना योनियोंमें भ्रमण करता है; यही जीवात्माका जन्म-मरण है। कुन्तीपुत्र अर्जुन! शरीरसे जीवके निकल जानेपर देह इसी प्रकार कम्पनशून्य हो जाती है, जिस प्रकार वायुके शान्त हो जानेपर वृक्ष। जब शरीर जीवात्मासे रहित हो जाता है, तब वह 'मर गया' यों कहा जाता है। अनादि अविद्यासे मूढ़बुद्धि यह जीव अपने कर्म और वासनाके अनुसार नरक, स्वर्ग, (इसी लोकमें) पुनर्जन्म आदि, जिनमें भ्रमण करनेका उसने चिरकालसे अभ्यास किया है, अनुभव करता रहता है।

अर्जुनने पूछा—जगत्पते! इस जीवका स्वर्ग, नरक, मर्त्यलोक आदिमें जो भ्रमण होता है, उसमें कारण क्या है, यह आप मुझसे कहिये।

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! चिरकालिक अभ्याससे प्रौढ हुई स्वप्नतुल्या यह वासना ही जीवको संसाररूप भूलभुलैयामें डालती है; इसलिये तत्त्वज्ञानके अभ्याससे वासनाका समूल क्षय ही जीवके लिये कल्याणकारक है।

अर्जुनने पूछा—देवदेवेश! यह वासना किससे उत्पन्न हुई और वह किस प्रकार नष्ट होती है?

श्रीभगवान् बोले—कौन्तेय! अनात्मवस्तु देहमें आत्मभावनारूप यह वासना अज्ञानस्वरूप मोहसे उत्पन्न हुई है और परमात्माके यथार्थ अनुभवरूप ज्ञानसे यह विनष्ट हो जाती है। तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्य वस्तुका विवेक भी तुम्हें हो चुका है। अब तुम 'यह', 'वह', 'मैं' और 'ये लोग' इत्यादि-रूप वासनासे रहित हो जाओ। क्योंकि भारत! दूसरेके अधीन न रहनेवाला, संकल्परहित और अविनाशी

जीवात्माका परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वासनासे छूट जाना ही उसका 'मोक्ष' है। महाबाहु अर्जुन! वासनारूप रज्जुके बन्धनसे छूटा हुआ पुरुष 'मुक्त' कहा जाता है। अतः तुम वासनासे रहित होकर जीते-जी ही उस वास्तविक यथार्थ तत्त्वका अनुभव करो। जो वासनासे रहित नहीं है,—भले ही वह समस्त धर्मोंके परायण क्यों न हो, सर्वज्ञ यानी समस्त सांसारिक विषयोंका पण्डित ही क्यों न हो —फिर भी वह पिंजरेमें स्थित पंछीकी भाँति सब ओरसे वासना-जालसे बँधा हुआ है। क्योंकि वासना ही बन्धन है और वासनाका क्षय ही मोक्ष है। (सर्ग ५५)

श्रीभगवान्‌के द्वारा अर्जुनके प्रति जीवन्मुक्त अवस्था और जगद्रूप चित्रका वर्णन एवं वासनारहित और ब्रह्मस्वरूप होकर स्थित रहनेका उपदेश तथा इस उपदेशको सुनकर तत्त्वज्ञानके द्वारा अर्जुनकी अविद्यासहित वासनाका और मोहका नाश हो जाना

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! इस प्रकार वासना-निवृत्तिरूप जीवन्मुक्तिके द्वारा तुम आन्तरिक शान्ति प्राप्तकर बन्धुवधप्रयुक्त दुःखका निःशेषरूपसे परित्याग कर दो। निष्पाप अर्जुन! जरा और मरणसे रहित, आकाशकी तरह विशाल चित्तवाले तथा इष्ट एवं अनिष्ट विषयोंके संकल्पोंसे रहित होकर तुम वीतराग हो जाओ। सदासे चला आनेवाला स्वधर्मरूप कर्म जो समभावसे किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तोंके लिये स्वाभाविक ही है और वही जीवन्मुक्तता है। 'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्मको मैं अङ्गीकार करता हूँ'—इस प्रकार जो त्याग और ग्रहणका निर्णय है, वह एकमात्र अज्ञानियोंके मनका स्वरूप है; ज्ञानियोंकी तो उनमें सम स्थिति रहती है। जिसकी इन्द्रियाँ कछुएके अङ्गोंकी भाँति इन्द्रियोंके विषयोंसे हटकर अन्तःकरणमें स्थिर हो जाती हैं, वही स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त है। कमलनयन! वास्तवमें यह संसार आकाशसे भी बढ़कर वैसे ही शून्यरूप है, जैसे स्वप्नमें क्षणमात्रमें चित्तमें होनेवाले तीनों लोकोंका नाश और उत्पत्ति—यह तुम जानो। क्योंकि आत्मा, मन और उसका कार्य यह बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण जगत् स्वप्नकी तरह शून्य है (असत् ही है)। यह सब चिरकालिक मनोराज्य है, इसलिये अज्ञानी मनुष्योंको इसमें सत्यत्वकी प्रतीति होती है। किंतु वह सत्यत्वकी प्रतीति तत्त्व-ज्ञानरूप आलोकसे नष्ट हो जाती है। चित्तरूपी चितेरेके चित्रमें अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र मूर्तियाँ आधारभूत भीतके न रहनेसे बाहर आकार-रहित यानी मिथ्या ही हैं। अर्जुन! वास्तवमें न तो उन चित्त-कल्पित मूर्तियोंका अस्तित्व है और न तुम्हारे शरीरका ही अस्तित्व है; इसलिये कौन किससे मारा जाता है? अतः नाश्य-नाशकका मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्मरूप परमपदमें स्थित हो जाओ। अर्जुन! जैसे एकमात्र चित्तमें रहनेवाला मनोराज्यरूप चित्र आकारवाला प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें शून्यस्वरूप होनेसे असत् ही है, वैसे ही यह जगत् भी शून्यस्वरूप है—यह तुम जानो। अर्जुन! मन ही क्षणको कल्प कर देता है और असत्‌को उत्पन्न कर देता है—यह जो मनके विषयमें आश्चर्य है, वह तो बहुत ही थोड़ा है; उससे भी बढ़कर तो आश्चर्य यह है कि वह असत् जगत्‌को भी शीघ्र सद्रूप कर देता है। इसलिये यह जगद्रूप भ्रान्ति इस प्रकारके आश्चर्य पैदा करनेवाले मनसे ही उत्पन्न हुई है। क्षणभरके लिये ही अज्ञानवश चित्र-विचित्रस्वरूप प्रतीत हुआ जो यह मनोराज्य है, वही दृश्यमान इस प्रपञ्च-जालके रूपमें प्रतीत होता है। यद्यपि ज्ञानियोंकी दृष्टिमें स्वतः नित्यमुक्त आत्मामें

अध्यस्त और एकमात्र कल्पनासे उत्पन्न होनेके कारण प्रतीतिकालमात्रस्थायी यह तुच्छ जगत् क्षणिक ही है, तथापि इसी क्षणिक जगत्‌के विषयमें इसके वास्तविक स्वरूपसे अपरिचित अज्ञानी लोगोंने वज्रसारकी तरह दृढ़ कल्पना कर रक्खी है अर्थात् इस असत् जगत्‌को सत्य मान रक्खा है। अहो! अत्यन्त आश्चर्य है कि यह उज्ज्वल चित्र आधारके बिना ही उत्पन्न होकर सामने दिखलायी दे रहा है। यह जगद्रूप चित्र भलीभाँति लोगोंका अनुरञ्जन करनेवाला है और दृष्टि, मन आदिको भी लुभानेवाला है। यह नाना प्रकारके प्राणियोंसे युक्त है, अद्भुत है, आकाशके समान शून्यरूप है और नाना प्रकारके विलासोंसे वेष्टित भी है। इस प्रकारके इस जगत्‌रूप चित्रका शीघ्र ही अद्भुत चित्रोंका निर्माण करनेमें समर्थ चित्तरूप चित्रकारने आकाशमें ही चित्रण किया है।

अर्जुन! चेतन आकाशस्वरूप ब्रह्मसे निर्मित सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्ममें ब्रह्मके द्वारा ब्रह्म विलीन होता है। ब्रह्ममें ही ब्रह्मके द्वारा ब्रह्मका उपभोग किया जाता है और ब्रह्मद्वारा ब्रह्ममें ब्रह्मका ही विस्तार हुआ है। जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधार दर्पणमें प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत् भी अपने आधार ब्रह्ममें ही प्रतीत होता है। अर्जुन! जब ब्रह्ममें प्रतिभासित छेदन-भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्—ये सब ब्रह्मसे अभिन्न होकर एकमात्र चिन्मय आकाश-स्वरूप ही हैं, तब किस कर्ता या करणसे किस प्रकारसे किस देश या किस कालमें क्या भिन्न-भिन्न किया जा सकता है। इसलिये बोधसे तुम्हारी वासनाओंका अभाव सिद्ध ही है। जो वासनासे रहित नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मोंके परायण हो और समस्त सांसारिक विषयोंका ज्ञाता हो; फिर भी वह वैसे ही अत्यन्त बद्ध है, जैसे पिंजरेमें स्थित सिंह। जिसकी चित्तरूपी भूमिमें अणुमात्र भी वासनारूप बीज पड़ा रहता है, उसका संसाररूप जंगल पुनः बढ़ जाता है। जब सत्यस्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान अभ्यासके द्वारा हृदयमें दृढ़ हो जाता है, तब वासना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और वह फिर उत्पन्न नहीं होती। वासनाओंके पूर्णतया नष्ट हो जानेपर विशुद्ध जीवात्मा सांसारिक सुख-दुःखादि वस्तुओंमें वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे पानीमें कमलका पत्ता। अर्जुन! असएव वासनाओंसे रहित तुम मुझसे सुने हुए पवित्र उपदेशको भलीभाँति समझकर परमात्मामें चित्त-को विलीनकर भय और मोहसे रहित एवं शान्त निर्वाण ब्रह्मस्वरूप हुए स्थित रहो।

अर्जुनने कहा—अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! यदि परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे तुम्हारे हृदयमें रागादि वृत्तियाँ अशेषरूपसे शान्त हो चुकीं तो तुम जान लो कि तुम्हारा सवासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनताको प्राप्त हो गया। इस सत्त्वावस्थामें सर्वस्वरूप जीवात्मा सम्पूर्ण वासनाओं और विषयोंसे मुक्त हो जाता है। उस जीवात्माके यथार्थ स्वरूपको कोई भी उसी प्रकार नहीं देख सकते, जिस प्रकार भूमिसे आकाशमें उड़कर दूर देशमें गये हुए पक्षीको। पार्थ! मन-इन्द्रियोंके प्रकाशक, शुद्धस्वरूप, संकल्परहित, निर्विषय इस जीवात्माको मन-इन्द्रियोंसे दूर समझो। जैसे अग्निके पर्वतपर पहुँचकर हिमकण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे अविद्या भी नष्ट हो जाती है। नाना प्रकारके आकार और विकारोंवाली यह अविद्या तभीतक रहती है, जबतक जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप—विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्माको भलीभाँति नहीं जान लेता। जो समग्र परमात्मा अपने आपसे परिपूर्ण है, समस्त

दृश्य संसारसे रहित है और वाणीसे अतीत है, उस अनुपम परम वस्तु परमात्माकी किसके साथ उपमा दी जा सकती है अर्थात् किसीके साथ नहीं। इसलिये अर्जुन! तुम अभीष्ट कामनाओंकी निवृत्तिरूप युक्तिसे विषयात्मक विषसे उत्पन्न महामारीरूप अन्त.करणकी वासनाको निपुणतापूर्वक दूर कर संसारसे तथा सम्पूर्ण भयोंसे रहित परमात्मस्वरूप ही हो जाओ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकार उपदेश देकर त्रिलोकीके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके क्षणभरके लिये मौन धारण कर सामने स्थित हो जानेपर वहाँ (द्वापर युगमें) पाण्डुपुत्र अर्जुन पुनः यह वचन कहेगा।

अर्जुनने कहा—भगवन्! आप सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करनेवाले हैं। आपके वचनसे मेरी यह बुद्धि शोकरहित और ज्ञानसम्पन्न हो गयी है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकारके वचन कहकर और उठकर गाण्डीव-धनुर्धारी वह पाण्डुपुत्र अर्जुन, जिसके सारथि श्रीकृष्ण होंगे, संदेह-रहित हुआ रणलीला करेगा। वह अर्जुन पृथ्वीको ऐसी रक्तकी महानदियोंसे पूर्ण कर देगा, जिनमें आहत हुए बड़े-बड़े हाथी, घोडे, सारथि आदि बह जायँगे और आकाशको भी ऐसा बना देगा कि सूर्य बाणोंके तथा धूलिके समूहोंसे आच्छादित हो जायगा। (सर्ग ५६—५८)

परमात्माकी नित्य सत्ता, जगत्की असत्ता एवं जीवन्मुक्त-अवस्थाका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित रहता है, जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप है, जो सब ओर विद्यमान है और जो सर्वमय है, उसीको नित्य परमात्मा समझो। वह परमात्मा अश्रद्धालुके लिये दूर होता हुआ भी श्रद्धालुके लिये समीप ही है। वह सर्वव्यापी होनेसे सबमें स्थित है, एवं वास्तवमें ज्ञान और ज्ञेयसे रहित सच्चिदानन्द परमपदस्वरूप है। वही परमपद सबकी पराकाष्ठा है, वही सम्पूर्ण दृष्टियोंमें सर्वोत्तम दृष्टि है, वही सारी महिमाओंकी सर्वोत्तम महिमा है तथा वही गुरुओंका भी गुरु है। वही सबका आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परम कल्याण है, वही शान्त और मङ्गलमय शिव है, वही परम विद्या है और वही परम स्थिति है। उस परमात्मामें यह जगत् अविचारसे ही सत्य-सा प्रतीत होता है, किंतु वास्तवमें विवेकपूर्वक विचार करनेसे असत् है। आदि और अन्तसे रहित आकाशके समान व्यापक मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ, मुझसे अतिरिक्त यह संसार कुछ भी नहीं है—यों निश्चय करनेपर फिर ब्रह्मस्वरूप मुझमें परिमितता नहीं रह सकती। जो पुरुष इस प्रकारके निश्चयसे युक्त रहता है, वह बाहरसे लोक-शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार कार्य करनेपर भी वास्तवमें उत्पत्ति और विनाशसे रहित है। जिसका मन समसे-भी-सम ब्रह्ममें लीन होकर फिर न उदित होता है और न अस्त होता है एवं जिसकी बुद्धिमें मनका अभाव है, वह महात्मा ब्रह्मरूप ही है। एकमात्र ब्रह्मभावनासे अद्वितीय परमपद पर आरूढ हुआ वह महात्मा व्यवहार करता हुआ भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता। व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषके हृदयमें मानापमानसे जनित सुख-दुःख आदि विकार तनिक भी नहीं होते, वह पुरुष मुक्तिका अधिकारी है।

वह शान्त चेतन परमात्मा अपने-आप ही अपनेमें संकल्प करता है। उसका संकल्प ही संसार है और उसके संकल्पका अभाव ही परमपद है। इसलिये परमात्माके संकल्पका अभाव होनेसे ही इस संसारका अभाव हो जाता है। अतः मुनिलोग परमात्माके संकल्पको ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय

आदिरूप संसार-चक्रकी परम्परा कहते हैं। जैसे सुवर्णमें कड़ा-कुण्डल आदि सुवर्णसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमात्माका संकल्प यह संसार भी परमात्मासे पृथक् नहीं है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही भोग-वासना क्षीण हो जाती है और भोग-वासनाका अभाव ही ज्ञानीका उत्तम लक्षण है। ज्ञान और वैराग्यके कारण तत्त्वज्ञ पुरुषको संसारके भोग स्वभावसे ही रुचिकर नहीं होते। यह संसार सर्वात्मस्वरूप परमात्मा ही है—इस प्रकारका जिसके हृदयमें दृढ अनुभव है, वही जीवन्मुक्त कहा गया है। किंतु यह जीवात्मा जबतक अज्ञानसे आवृत रहता है, तबतक दृश्य विषयभोगोंमें स्थित हुआ संसारका संकल्प करता रहता है। जब अन्तःकरणमें उत्तम तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पका यह क्रम बुझे हुए दीपककी भाँति शान्त हो जाता है। स्वयम्प्रकाश, चैतन्यरूप, सम्पूर्ण पदार्थोंका आश्रय और विषयोन्मुखतासे रहित शुद्ध चेतनका जो स्वरूप है, उसे ही तुम परमपद जानो। यह संसार संकल्पमय ही है; इसलिये संकल्प नष्ट हो जानेपर संसार भी नष्ट हो जाता है और फिर सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है। (सर्ग ५९)

परब्रह्म परमात्माके सत्ता-सामान्य स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकार सबका आदि परमतत्त्व सच्चिदानन्दघन ही परमपद है। उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको यथार्थ ज्ञानसे प्राप्त-कर यह जीव अज्ञानियोंकी तरह मृत्युको नहीं प्राप्त होता (अर्थात् वह जन्म-मरणसे छूट जाता है)। उसे प्राप्तकर वह शोचनीय नहीं रह जाता। उसे पा लेनेपर वह अज्ञानियोंकी तरह जीवन धारण नहीं करता (अर्थात् वह कुछ विलक्षण ही बन जाता है) और उसे प्राप्तकर वह सर्वव्यापी होनेके कारण सीमाओंमें नहीं बँधता। आकाशके समान अनन्त परमात्माके सत्ता-सामान्य स्वरूपका यदि जीव थोड़ी देर और थोड़ा-सा भी चिन्तन करता है तो वह मुक्तचित्त मुनि बन जाता है और उस अवस्थामें संसारके समस्त कार्योंको करते हुए भी कभी संतप्त नहीं होता।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—महर्षे! 'सत्ता-सामान्य' शब्दसे आप किसे ग्रहण करते हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तका जहाँ लय हो गया है, उस (निर्विशेष) तत्त्वको या मन आदि विशेषताओंसे युक्त (सविशेष) तत्त्वको?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जो सर्वव्यापक, आदि और अन्तसे रहित तथा सदा समभावसे स्थित है, वह ज्ञानसे प्राप्तव्य तथा सम्पूर्ण वस्तुओंका तत्त्वभूत ब्रह्म ही यहाँपर 'सत्ता-सामान्य' शब्दसे कहा गया है। वह ब्रह्म आकाशमें आकाशरूपसे, शब्दमें शब्दरूपसे, स्पर्शमें स्पर्शरूपसे तथा त्वचामें त्वग्रूपसे है। रसमें रसरूपसे, रसनेन्द्रियमें रसनेन्द्रियरूपसे विद्यमान है। रूपमें रूपस्वरूपसे, नेत्रमें नेत्ररूपसे, घ्राणेन्द्रियमें घ्राणरूपसे और गन्धमें गन्धरूपसे है। शरीरमें शरीररूप-से, पृथ्वीमें पृथ्वीरूपसे है। दूधमें दूधरूपसे, वायुमें वायुरूपसे, तेजमें तेजरूपसे, बुद्धिमें बुद्धिरूपसे, मनमें मनरूपसे और अहंकारमें अहंकाररूपसे विद्यमान है। वृक्षमें वृक्षरूपसे, पटमें पटरूपसे, घटमें घटरूपसे और वटमें वटरूपसे विद्यमान है। स्थावरमें स्थावररूपसे, जंगममें जंगमरूपसे, जड़में जड़रूपसे और चेतनमें चेतनरूपसे विद्यमान है। देवोंमें देवतारूपसे, मनुष्योंमें मनुष्यरूपसे, तिर्यक्-योनियोंमें तिर्यक्रूपसे और कृमियोनियोंमें कृमिरूपसे विद्यमान है। कालके क्रममें कालरूपसे, ऋतुओंमें ऋतुरूपसे एवं त्रुटि, क्षण, निमेष आदिमें भी वह सर्वव्यापी ब्रह्म ही उस-उस रूपसे विद्यमान है। इस प्रकार सभी पदार्थोंमें तत्-तत् रूपसे रहता

हुआ वह परब्रह्म परमात्मा सत्ता-सामान्य स्वरूपसे उसी तरह उनसे अभिन्न है, जैसे समुद्रगत कल्लोल, जलकण तथा लहरें जलसामान्यसे अभिन्न हैं। सबमें समान भावसे सत्त रूपमें व्यापक होनेके कारण वह परमात्मा ही सत्ता-सामान्य कहा गया है। श्रीराम! सत्य चिन्मय-स्वरूप इस परमात्माद्वारा कल्पित होनेके कारण इन पदार्थोंकी अनेकरूपता वैसे ही मिथ्या है, जिस प्रकार बालकद्वारा परछाईंमें कल्पित प्रेत।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! मुनि वसिष्ठके इतना कह चुकनेपर दिन बीत गया, सूर्य अस्ताचलको चले गये, सभासद्‌गण भी सायंकालिक कृत्य—स्नान, संध्योपासना आदि करनेके लिये मुनिको नमस्कार करके उठ गये और रात बीतनेपर सूर्यदेवकी किरणोंके साथ ही फिर दूसरे दिन सभामें प्रविष्ट हुए। (सर्ग ६०)

संसारके मिथ्यात्वका दिग्दर्शन तथा मोहसे जीवके पतनका कथन

श्रीरामजीने पूछा—मुने! जिस प्रकार हमलोगोंके लिये स्वप्नके नगर, राजधानियाँ तथा राज्य मिथ्या हैं, उसी प्रकार यदि ब्रह्मा आदिके लिये भी शरीर-धारण एवं उत्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या ही है तो हमलोगोंको इसकी सत्यतामें अत्यन्त दृढ विश्वास क्यों होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! प्रजापतिने इस सृष्टिके पूर्व जो सृष्टि-रचना की थी, वह भी हमारे अनुभवमें आनेवाली वर्तमान सृष्टिके समान ही सत्य प्रतीत होती थी, तथापि वह ब्रह्माजीका संकल्प होनेके कारण वास्तविक न थी। इसी प्रकार यह सृष्टि भी वास्तविक नहीं है। सच्चिदानन्द परमात्माके सर्वव्यापी होनेसे जीव भी सर्व-व्यापी है और उस परमात्माकी सत्तासे ही यह संसार सत्य-सा भासित होता है। किंतु वास्तवमें यह संसार अज्ञानसे उत्पन्न होता है और तत्त्वज्ञानसे नष्ट हो जाता है। श्रीराम! सोये हुए पुरुषको अपने तथा अन्य सभी पदार्थोंके रूपमें दीखनेवाला स्वप्न जैसे मिथ्या है, वैसे यह दृश्य संसार भी मिथ्या है। जो स्वप्नका संसार पुरुषसे उत्पन्न है, वह पुरुषका स्वरूप ही है—जैसे किसी बीजसे उत्पन्न वृक्षसहित फल बीजरूप ही है, यह बात भली प्रकार अनुभूत है। जो असत्यसे उत्पन्न होता है, उसे असत्य ही समझो। अतः स्वप्न-पुरुषसे उत्पन्न जो असत् पदार्थोंकी भावना है, वह दृढ सत्यरूपसे प्रतीत होनेपर भी असत्य ही है, इसलिये त्याग कर देने योग्य है। जैसे हमलोगोंको स्वप्नमें प्रतीत होनेवाला सृष्टि आदि कार्य दृढरूप (सत्य) दीखनेपर भी क्षणस्थायी (मिथ्या) ही होता है, उसी प्रकार सामने वर्तमान यह प्रजापतिके संकल्पसे रचित सृष्टि भी मिथ्या ही है। जैसे द्रवत्वके कारण आवर्तरूप परिवर्तनोंसे जल स्फुरित होता है, उसी प्रकार चिन्मय ब्रह्मके संकल्पसे यह सृष्टि स्फुरित हो रही है। जो देश और कालमें, क्रियाओंसे, द्रव्योंसे, मणियोंसे तथा संकल्पोंसे प्रकट हैं, ऐसे असंख्य पदार्थ गन्धर्व-नगरके सदृश (मिथ्या) होनेपर भी सत्यके समान प्रतीत होते हैं। इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो सत्य न हो; क्योंकि सब कुछ ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्मका स्वरूप ही है एवं ब्रह्मका स्वरूप होनेसे सत्य ही है। साथ ही ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो असत्य न हो; क्योंकि सब कल्पनामात्र होनेसे असत्य ही है। जैसे स्वप्नमें निमग्न पुरुष स्वप्नकालमें वस्तुओंकी स्थिर स्थिति ही देखता है, उसी प्रकार इस सृष्टिमें जिस अज्ञानीकी बुद्धि निमग्न है, वह सब विषयोंकी स्थिर स्थिति ही देखता है, किंतु यह सृष्टि वास्तवमें स्वप्नवत् कल्पना-मात्र है। संसारको अत्यन्त स्थिर समझनेवाला यह जीव एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें प्रवेश करनेवालेकी तरह मोहके कारण एक भ्रमसे दूसरे भ्रममें पड़ जाता है। (सर्ग ६१)

चार प्रकारका मौन और उनमेंसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके सुषुप्त मौनकी श्रेष्ठता

इसके अनन्तर भिक्षु आख्यानका वर्णन करके श्रीवसिष्ठजी कहते है—श्रीराम ! मुनिवरोंने दो तरहके मुनि बतलाये हैं—एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त। परमात्माकी भावनासे रहित शुष्क क्रियामें बद्धनिश्चय और हठसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको जीत रखनेवाला मुनि काष्ठमौनी कहा गया है। इस विनाशशील संसारके स्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर जो विशुद्धात्मा और परमात्मामें स्थित ज्ञानी महात्मा बाहर न्याययुक्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी भीतर विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तृप्त रहता है, वह जीवन्मुक्त मुनि कहा गया है। मौनको जाननेवाले मुनियोंने मौनके चार भेद बतलाये हैं—वाङ्मौन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन। वाणीका निरोध वाङ्मौन, हठपूर्वक विषयोंसे इन्द्रियोंका निग्रह इन्द्रियमौन और सम्पूर्ण चेष्टाओंका त्याग काष्ठमौन कहलाता है। एवं परमात्माके स्वरूपानुभवमें जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है, उसके मौनको सुषुप्तमौन कहते हैं। काष्ठमौनमें वाङ्मौन आदि तीनों मौनोंका अन्तर्भाव है और सुषुप्तमौनावस्थामें जो तुर्यावस्था है, वही जीवन्मुक्तोंकी स्थिति है। ऊपर जो तीन प्रकारका मौन कहा गया है, वह प्रस्फुरित हुए चित्तका चलन ही है। अतएव ये तीनों मौन उपादेय नहीं वरं त्याज्य हैं। किंतु इन तीनोंसे भिन्न चौथा जो सुषुप्तमौन है, वह जीवन्मुक्तोंकी स्थिति है। इसमें स्थित जीवात्माका पुनर्जन्म नहीं होता। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियाँ अनुकूलमें तो हर्षित नहीं होतीं और प्रतिकूलमें घृणा नहीं करतीं। जो विभागरहित, अभ्यासरहित एवं आदि और अन्तसे रहित है तथा जो ध्यान करते हुए या ध्यान न करते हुए सभी अवस्थाओंमें समभावसे स्थित है, वही सुषुप्तमौन कहा जाता है। अनेक प्रकारके विभ्रमयुक्त संसारके और परमात्माके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेपर जो संदेहरहित स्थिति होती है, वही सुषुप्त मौन है। जो सर्वशून्य, आलम्बन रहित, शान्तिस्वरूप, विज्ञानमात्र तथा सत्-असत्से रहित स्थिति है, वह उत्तम सुषुप्त मौन कही गयी है। इस जगत्में विकार-रहित, सर्वात्मक तथा सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ—इस तरहकी ज्ञानावस्थाको सौषुप्तमौन कहते हैं। ब्रह्मभूत श्रीरामभद्र ! जाग्रदवस्थामें सब ओर भलीभाँति व्यवहार करता हुआ अथवा सम्पूर्ण व्यवहारोंको छोड़कर समाधिमें स्थित हुआ जीवन्मुक्त देहयुक्त होनेपर भी सम्पूर्ण निर्मल शान्तिवृत्तिसे युक्त तुरीयावस्थामें ही स्थित एवं विदेहस्वरूप ही है।

(सर्ग ६२—६८)

सांख्ययोग और अष्टाङ्गयोगके द्वारा परमपदकी प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जड आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ चेतनस्वरूप परमात्माकाश है और उस परमात्माकाशभावकी प्राप्ति ही परम श्रेय (मोक्ष) है। वह कैसे प्राप्त की जाती है, यह मैं बतलाता हूँ; सुनो। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे और नित्य एकरस समाधिसे जो सांख्ययोगके द्वारा ज्ञानी हुए हैं, वे सांख्य-योगी कहे गये हैं। जो प्राणादि वायुओंके संयमपूर्वक अष्टाङ्गयोगके द्वारा अनामय, आदि-अन्तसे रहित परम-पदको प्राप्त हो गये हैं, वे योग-योगी कहे गये हैं। वह स्वाभाविक परम शान्त पद सभी योगियोंके लिये उपादेय है। कुछ लोग उस पदको सांख्ययोगद्वारा प्राप्त हो चुके हैं और कुछ लोग इसी देहसे अष्टाङ्ग-योगके द्वारा प्राप्त हो चुके हैं। जो सांख्य और योगको एक समझता है, वही ठीक समझता है। क्योंकि जो परमपद सांख्ययोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है; वही अष्टाङ्गयोगियोंद्वारा भी प्राप्त किया जाता है। जहाँ प्राण, मनकी वृत्ति तथा वासनारूपी जाल्का अत्यन्त अभाव है, उसीको परमपद समझो। वासनाको ही चित्त

कहते हैं। वही संसारका कारण है। वह चित्त सांख्य या योग दोनोंमेंसे किसी एक साधनके द्वारा विलीन होकर संसारकी निवृत्तिका कारण हो जाता है। यह संसार मनके संकल्पसे उत्पन्न हुआ है। उससे उत्पन्न ममता, अहंता, संसृति, उपदेश्य-उपदेशादि, बन्ध और मोक्षकी सत्ता ही कहाँ है अर्थात् सब संकल्पमात्र हैं। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्त्वका दृढ़ अभ्यास, प्राणोंका विलीन होना तथा मनोनाश—यही 'मोक्ष' शब्दके अर्थका संग्रह है यानी ये ही मोक्षके साधन हैं।

श्रीराम! इन तीनो उपायोंमें मनोनाशको ही मुख्य साध्य जानो। मनोविनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्याण होगा। परमात्माके यथार्थज्ञानसे सभी पदार्थोंका अभाव हो जाता है, जिससे वासनाका विनाश होनेपर प्राण और चित्तका वियोग हो जाता है। फिर भलीभाँति शान्त हुआ मन देह-रूपताको नहीं प्राप्त होता। मनके विनाशसे ही जीवात्माको परमपदकी प्राप्ति होती है, अतः मुनिगण वासनाको ही मन जानते हैं। चित्तका स्वरूप केवल वासना ही है। उस चित्तका अभाव होनेपर परमपद प्राप्त हो जाता है। रामभद्र! रज्जुमें सर्पभ्रमके सदृश मिथ्यारूप इस संसारका स्वयं ही विवेकज्ञानसे अच्छी तरह विनाश हो जाता है। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्त्वका दृढ़ अभ्यास, प्राणनिरोध और मनो-विनाश—ये जो तीन उपाय हैं, इनमेंसे किसी एककी सिद्धि हो जानेपर ही दूसरे भी परस्पर सिद्ध हो जाते हैं। ताड़के पत्तोंसे निर्मित पंखेको चलाना जब बंद कर दिया जाता है तब पवन जैसे अपने-आप शान्त हो जाता है, वैसे ही जब प्राणरूप वायुका स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब मन भी अपने-आप शान्त हो जाता है। जैसे वायुका चलना रुक जानेपर गन्धका प्रसार भी रुक जाता है, वैसे ही मनका चलना रुक जानेपर प्राण-वायुओंका चलना भी रुक जाता है। सभी प्राणियोंके प्राण और चित्त दोनों उसी प्रकार एक दूसरेसे निरन्तर मिले-जुले रहते हैं, जिस प्रकार पुष्प और गन्ध एवं तिल और तेल एक दूसरेसे निरन्तर मिले-जुले रहते हैं। आधार और आधेयके समान अर्थात् अग्नि और उष्णताके समान दोनोंमेंसे किसी एकका विनाश हो जानेपर दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाशके द्वारा वे दोनों जीवात्माके लिये एक महान् मोक्ष-नामक कार्य सम्पन्न कर देते हैं। एक ब्रह्मतत्त्वके दृढ़ अभ्याससे द्वैत-वासनासे रहित होकर मन शान्त हो जाता है और इससे प्राण भी शान्त हो जाता है; क्योंकि प्राणका स्वभाव मनके साथ विलीन हो जाना ही है। मनुष्यको एक सुदृढ़ परमात्मतत्त्वमें तबतक तदाकारवृत्ति बनाये रखनी चाहिये, जबतक उस वृत्तिका ही अभ्यासके द्वारा अभाव न हो जाय। क्योंकि निग्रहवृत्तिसे युक्त पुरुषोंका चित्त स्वयं ही प्राणोंके साथ विलीन हो जाता है और परमतत्त्व अवशिष्ट रह जाता है। चित्त जिस किसी वस्तुमें तन्मय हो जाता है, वह शीघ्र तद्रूप ही बन जाता है; अतः दीर्घकालतक परमात्मतत्त्वके अभ्यासमे वह समस्त विशेषोंसे मुक्त होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। श्रीराम! यदि परमपदमें चित्त मुहूर्तमात्र भी विश्रामको प्राप्त हो जाय तो उसे तुम ब्रह्मरूपमें ही परिणत हुआ समझो। जिसमे अविद्याका अभाव हो चुका है, ऐसा विशुद्ध चित्त 'सत्त्व'शब्दसे कहा जाता है। जिसमें ससारकी बीजरूपा वासना दग्ध हो गयी है, वह चित्त फिर कभी ब्रह्मरूपतासे अलग नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्ममें तद्रूप हो गया है। जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, जो सत्त्वभावमें स्थित है, जो वासना-रहित हो चुका है, ऐसा कोई विरला मनुष्य आकाशके समान निर्गुण-निराकार विज्ञानानन्दघन परमतत्त्वको देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है। (सर्ग ६९)

वेताल और राजाका संवाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिस अवस्थामें जीव ब्रह्म हो जाता है और चित्तका विनाश हो जाता है तथा विवेकपूर्वक विचारसे अविद्याका अन्त—अभाव हो जाता है, वही जीवात्माका मोक्ष कहा जाता है। मृगतृष्णा-जलकी तरह मिथ्या मन तथा अहंता आदि प्रपञ्च क्षणभरके लिये ही प्रतीत होते हैं और पूर्वोक्त विवेकपूर्वक विचारसे विलीन हो जाते हैं । भद्र ! इस संसाररूपी स्वप्न-विभ्रमके सम्बन्धमें वेतालद्वारा किये गये इन शुभ प्रश्नोंको तुम सुनो, जो मुझे प्रसङ्गवश स्मरण हो आये हैं । विन्ध्याचलके महान् वनमें एक विशालकाय वेताल रहता था । किसी समय वह गर्वमें भरकर प्राणियोंको मार डालनेकी इच्छासे किसी नगरमें गया । पहले वह वेताल किसी एक सज्जन नामक राजाके देशमें रहता था । उस राजाद्वारा किये गये अनेक वधके योग्य मनुष्योंकी बलिके उपहारसे सदा तृप्त होकर वह सुखसे रहता था । सामने आये हुए निरपराधी मनुष्यको वह भूखसे पीड़ित होनेपर भी अकारण नहीं मारता था; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष न्यायके ही पक्षपाती होते हैं । किसी समय न्यायोचित भक्ष्य न मिलनेके कारण अरण्यवासी वह वेताल क्षुधासे प्रेरित होकर न्यायप्राप्त मनुष्यका भक्षण करनेके लिये नगरके भीतर चला गया । उस नगरमें प्रजा-रक्षाके लिये रात्रिमें विचरण करता हुआ राजा उसे मिला । उस राजासे वह उग्र निशाचर भयंकर शब्दोंमें कहने लगा ।

वेतालने कहा—राजन् ! इस समय मुझ भयंकर वेतालके द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो । कहाँ जा रहे हो ? अब तुम मर चुके । आज तुम मेरे भोजन बन जाओ ।



राजाने कहा—निशाचर ! यदि तुम यहाँ बलपूर्वक अन्यायमार्गसे मुझे खा जाओगे तो निश्चय ही तुम्हारे मस्तकके हजारों टुकड़े हो जायँगे ।

वेतालने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा; परंतु तुम्हें मैं यह न्याय बतलाता हूँ कि तुम राजा हो, इसलिये तुम्हें अर्थियोंके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने चाहिये । मेरी इस याचनाको, जो पूर्ण करने योग्य है, तुम पूर्ण करो । मैं यहाँ तुमसे जो प्रश्न कर रहा हूँ, इनका भलीभाँति उत्तर दो । राजन् ! किस सूर्यकी किरणोंके ये ब्रह्माण्डरूपी छोटे अणु हैं और किस पवनमें महागगनरूपी त्रसरेणु स्फुरित होते हैं ? एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाता हुआ जीवात्मा पहलेके सैकड़ों या हजारों स्वप्नोंके अस्तित्वको छोड़ता हुआ भी किस प्रकाशक स्वच्छ वास्तविक स्वरूपका परित्याग नहीं करता ? जिस प्रकार केलेका खंभा भीतरके भी

भीतर और उसके भी भीतर बार-बार देखनेसे केवल छिल्कामात्र ही रहता है, उसी प्रकार सबके भीतर-के भीतर और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक स्वच्छ आत्मस्वरूप है। ब्रह्माण्ड, आकाश, भूतोंके आधारभूत भुवन, सूर्यमण्डल तथा मेरु—ये सब जो बड़े-बड़े महान् पदार्थ प्रसिद्ध हैं—ये अणुत्व धर्म न छोड़नेवाले ऐसे किस अणुके परमाणु हैं ? किस अवयव-रहित परमाणुरूप महागिरिकी शिलाके भीतर ये भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् हैं ? दुष्ट राजन्! यदि तुम इन प्रश्नोंका उत्तर मुझे न दे सकोगे तो तुम्हें खाकर फिर तुम्हारे नगरके प्राणियोंको बलपूर्वक पकड़कर उन्हें यमराजकी तरह निगल जाऊँगा। (सर्ग ७०)

वेतालकृत छः प्रश्नोंका राजाद्वारा समाधान

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रामभद्र! जब ऐसा कहकर वेताल चुप हो गया, तब वह राजा हँसकर यह कहने लगा।

राजाने कहा—वेताल! यह चराचर जगत्रूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पञ्चभूतोंकी परतसे घिरा हुआ है—अर्थात् इस जगत्के सब ओर पृथ्वीका घेरा है। उसके बाद पृथ्वीसे दसगुना जल, जलसे दसगुना तेज, तेजसे दस-गुना वायु और वायुसे दसगुना आकाश है। ऐसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं, ऐसी बहुत ऊँची एक शाखा है। उस प्रकारकी बड़ी-बड़ी हजारों शाखाएँ जहाँ विद्यमान हैं, ऐसा बड़े आकारवाला एक महान् वृक्ष है। इसी प्रकारके हजारों वृक्ष जिसमें हैं, ऐसा एक वन है। उसी प्रकारके हजारों वन जहाँपर हैं, ऐसा उन्नत शिखरोंसे युक्त चारों ओरसे परिपूर्ण आकारवाला एक विशाल पर्वत है। जहाँपर वैसे हजारों पर्वत हैं, ऐसा अत्यन्त विस्तीर्ण विशाल खोहोंवाला एक देश है। वैसे हजारों देश जहाँपर विद्यमान हैं, ऐसा बड़े-बड़े ह्रद और नदियोंसे युक्त एक बहुत बड़ा द्वीप है। वैसे अनन्त द्वीप जिसमें हैं, ऐसी चित्र-विचित्र रचनाओंसे युक्त एक पृथ्वी है। उस प्रकारके हजारों पृथ्वीमण्डल जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा एक अत्यन्त विस्तृत महान् भुवन है। उस तरहके असंख्य महान् भुवन जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा विस्तृत आकाशके सदृश एक महान् प्रचण्ड ब्रह्माण्ड है। इस-इस तरहके असंख्य ब्रह्माण्ड जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक चञ्चलतारहित असीम जलनिधि है। उस तरहके लाखों सागर जिसमें कोमल तरङ्गरूप है, ऐसा एक अपने स्वरूपमें विलास करनेवाला निर्मल महार्णव है। उस प्रकारके हजारों महार्णव जिसके उदरके जलरूप हैं, ऐसा एक कोई बड़ा भारी परिपूर्णाकृति पुरुष है। ऐसे-ऐसे लाखों पुरुषोंकी माला जिसके वक्षःस्थलमें स्थित है, ऐसा एक परम पुरुष है, जो सब सत्ताओंका प्रधान है। इस प्रकारके असंख्य महापुरुष जिसके मण्डलमें स्फुरित हो रहे हैं, ऐसा एक महान् आदित्य है। ये सब कल्पनाएँ ही इस आदित्यरूप ब्रह्मकी रश्मियाँ हैं। ब्रह्माण्ड ही इस आदित्य (ब्रह्म) की दीप्तियोंके त्रसरेणु हैं। मैंने तुमसे जिस सूर्यका कथन किया था, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही वह सूर्य है; इसीके प्रभावसे सारा जगत् प्रकाशित होता है। वेताल! पूर्वोक्त असंख्य पदार्थ जिससे प्रकाशित होते हैं, ऐसा विज्ञानस्वरूप परम सूर्य है और ये जो विस्तृत ब्रह्माण्ड हैं, वे उसी सूर्यकी किरणोंमें स्फुरित होनेवाले त्रसरेणु हैं। इस प्रकार यह तुम्हारे प्रथम प्रश्नका उत्तर दिया गया।

वेताल! कालकी सत्ता, आकाशकी सत्ता, जीवात्मा-की सत्ता तथा शुद्ध चेतन आत्माकी सत्ता—इत्यादि सब सूक्ष्म होनेसे निर्दोष रज हैं। वे परमात्मारूपी महावायुमें कल्पित अनेक विकारोंसे चञ्चल होकर स्फुरित होते हैं। 'जगत्' नामक महास्वप्नमें एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाता हुआ जीवात्मा परम शान्तिको बढ़ानेवाले

अपने महान् शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं छोड़ता। जैसे केलेका खंभा ज्यों-ज्यों छीला जाता है त्यों-त्यों उसके भीतर-भीतर केवल पत्ता ही मिलता जाता है, वैसे ही परिणामशील यह विश्व ज्यों-ज्यों भीतर-भीतर देखा जाता है त्यों-त्यों उसमें ब्रह्म ही मिलता जाता है। वह आकाश-के तुल्य निराकार, अनिर्वचनीय परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है। सूक्ष्म मन और इन्द्रियोंके द्वारा अप्राप्य होनेके कारण परमात्मा परमाणु कहा गया है। अनन्त होनेके कारण परमात्मा ही मेरु आदि पर्वतोंका मूल है। परमाणुस्वरूप होते हुए भी इस परमपुरुष अनन्त परमात्मामें ब्रह्माण्ड, आकाश, भुवन, सूर्यमण्डल और मेरु—ये सब पदार्थ परमाणुकी तरह प्रतीत होते हैं। यह परमात्मा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ग्राह्य न होनेसे परमाणु कहा गया है और सब ओर परिपूर्ण होनेसे महापर्वत कहा गया है। वास्तवमें यह परम पुरुष परमात्मा अवयवरहित है, किंतु दृश्यके सम्बन्धसे अवयव-युक्त दिखायी पड़ता है। अज्ञानी वेताल! ये सब जगत् उस विज्ञानस्वरूप परमात्माके संकल्पसे कल्पित हैं। अतः तुम उस अनन्त, शान्त स्वभाव अपार परमपदको अनुभव करो और शान्त हो जाओ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! राजाके मुखसे इस प्रकार प्रश्नोंका समाधान सुनकर शुद्धान्तःकरण वेताल विचारयुक्त बुद्धिसे परम शान्तिको प्राप्त हो गया। निर्दोष आत्माको तत्त्वसे समझकर और भयंकर क्षुधाको भूलकर वह शान्तमन वेताल परमात्माके ध्यानमें अचल स्थिर हो गया। (सर्ग ७१—७३)

भगीरथके गुण, उनका विवेकपूर्वक वैराग्य और अपने गुरु त्रितलके साथ संवाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! देहयात्रार्थ प्रारब्धवश प्राप्त हुए अर्थसे संतुष्ट रहनेवाले प्रयत्नशील पुरुषके दुस्साध्य अर्थ भी भगीरथ राजाकी तरह सिद्ध हो जाते हैं। जिसका पूर्णरूपसे मन शान्त हो गया है, जिसकी वृत्तियाँ पर्याप्तरूपसे तृप्त हो गयी हैं, जिसकी आनन्दघनस्वरूप सम ब्रह्ममें निरन्तर निष्ठा है, उस महापुरुषके दुर्लभतर अभीष्ट कार्य भी उसी प्रकार सिद्ध हो जाते हैं, जिस प्रकार भगीरथका सगरपुत्रोंके उद्धारके लिये संजीवन गङ्गावतरणरूप अत्यन्त दुर्लभ कार्य सिद्ध हो गया था।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रभो! राजा भगीरथके चित्त-कौशलसे गङ्गावतरणरूप दुस्साध्य कार्य किस रीतिसे सिद्ध हुआ था, वह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! समुद्रोंसे युक्त पृथ्वी-का एक अत्यन्त धार्मिक भगीरथ नामका राजा हो चुका है। वह राजमण्डलमें सबसे श्रेष्ठ था। चन्द्रमाकी तरह प्रसन्न-मुख एवं चिन्तामणिके सदृश अभीष्ट अर्थोंको देनेवाले इस राजासे याचकगण अपने संकल्पके अनुसार ही अभीष्ट अर्थ प्राप्त करते थे। वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी रक्षाके लिये निरन्तर धन देता था। न्यायसे प्राप्त तृण भी ले लेता था। वह याचकोंकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये चिन्ता-मणिके सदृश था। मृदु और शीतल स्पर्शवाला वह ब्रह्म-तत्त्वज्ञानियोंकी संनिधिमें उनके चित्तको आह्लादित करता हुआ उसी प्रकार द्रवीभूत हो जाता था, जिस प्रकार चन्द्रमाकी संनिधिमें चन्द्रकान्तमणि। उसने अगस्त्य-मुनिद्वारा शोषित सागरको गङ्गाके प्रवाहसे उसी तरह पूरा कर दिया, जिस तरह याचकोंके समूहको धनसे पूरा किया था। पातालवासी अपने पूर्वजोंको उस लोकबन्धुने गङ्गारूपी सीढ़ी लगाकर ब्रह्मलोकमें पहुँचाया। गङ्गाजीको यहाँ लानेके उद्देश्यसे अपनी तपस्यासे ब्रह्मा, शंकर और जह्नुकी आराधना करते हुए उस दृढ़ निश्चयसे युक्त भगीरथने बार-बार क्लेश सहन किया। श्रीराम! इस लोकयात्राका खूब विचार करते हुए उस राजाको युवा-वस्थामें ही तीव्र वैराग्यकी विलक्षणताने विवेकयुक्त विचार

उत्पन्न हुआ । वह राजा एकान्तमें असमञ्जसमें पड़कर व्याकुल हो इस संसारयात्राका प्रतिदिन यों विचार करने लगा—'इस संसारमें, जिसके प्राप्त हो जानेसे दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता, मैं उसी कर्मको सुकृत समझता हूँ। शेष कर्म तो विषूचिका (हैजेकी बीमारी) है। पुनः-पुनः पर्युषित कर्म करता हुआ मूढ़-बुद्धि प्राणी लज्जित नहीं होता। कोई मूर्ख प्राणी तो अवश्य ही बालककी तरह बार-बार एक ही कर्म करता रहता है।' इस तरह चिन्ता करनेके अनन्तर संसारसे अत्यन्त भयभीत उद्विग्न-मन राजा भगीरथने एक दिन अपने गुरु त्रितलसे पूछा ।



भगीरथने कहा—विभो ! बहुत कालसे इन सारहीन सांसारिक वृत्तिरूप बड़े-बड़े जंगलोंमें भटकते हुए हम सब अत्यन्त खिन्न हो गये हैं। भगवन् ! संसारमें फँसानेवाले जरा-मरण-मोहादिरूप सब दुःखोंका अन्त कैसे होता है ?

त्रितल बोले—निष्पाप राजन् ! चिरकालसे अभ्यस्त अन्तःकरणकी समतासे उत्पन्न, निर्विशेष, अखण्ड और व्यापक ज्ञेय परमात्माके ज्ञानसे सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, सारी ग्रन्थियाँ सब ओरसे टूट जाती है, सारे संशय तथा कर्म शान्त हो जाते है। राजन् ! तत्त्वज्ञानियोंने शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्माको ही ज्ञेय बतलाया है और वह परमात्मा सर्वव्यापी तथा नित्य है। वह उत्पत्ति-विनाशसे रहित है।

भगीरथने कहा—मुनीश्वर ! यह तो मै अच्छी तरह जानता हूँ कि चिन्मय, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्युत परमात्मा है तथा देह आदि अन्य कुछ भी नही है—कल्पनामात्र है। किंतु भगवन् ! ज्ञेयस्वरूप परमात्माके स्वरूपमें मेरी अचल स्थिति (समाधि) नहीं हो रही है। इसमें क्या कारण है ? मैं किस उपायसे उसे प्राप्त करूँ ?

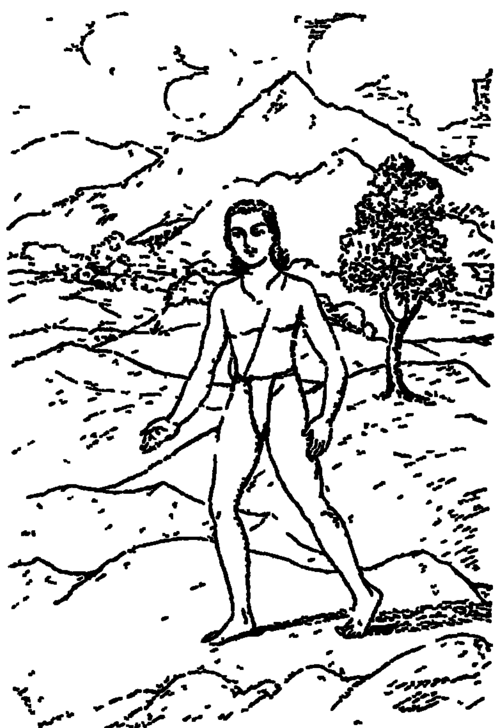
त्रितल बोले—हृदयाकाशमें यह चित्त जब ज्ञानके द्वारा ज्ञेयस्वरूप परमात्मामें स्थिर हो जाता है, तब यह जीव सर्वात्मरूप परमात्माको प्राप्त होकर पुनः संसारमें उत्पन्न नहीं होता। पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना, अनन्ययोगसे—आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इस प्रकारकी अभेदभावनासे निरन्तर आत्मामें ब्रह्म-भावना, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना, अध्यात्म-ज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा गया है। राजन् ! अहंभावकी शान्ति हो जानेपर राग-द्वेषका विनाश कर देनेवाला तथा जन्म-मरणरूप संसार-व्याधिकी औषध परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

भगीरथने कहा—महाभाग ! पर्वतमें दीर्घकालसे सुदृढ हुए वृक्षकी तरह अपने शरीरमें दीर्घकालसे सुदृढ हुए अहंभावका मैं कैसे त्याग करूँ ?

त्रितल बोले—राजन्! पौरुष-प्रयत्नसे विषय-भोगोंकी भावनाका त्याग कर फिर परमात्माकी सत्ताका अनुभव करनेसे अहंकारका विनाश हो जाता है। जबतक सम्पूर्ण पदार्थोंका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, तबतक यह अहंकार बना रहता है। यदि विवेकपूर्वक विचार-बुद्धिसे सबका परित्याग करके तुम निश्चल होकर स्थित हो जाओ तो अहंकारका अभाव होकर तुम परमपद-स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। यदि तुम्हारे सम्पूर्ण राजचिह्न आदि विशेषणोंका त्याग हो जाय, यदि तुम अपने रहित हो जाओ, यदि तुम समस्त धनादिकी इच्छाओंका त्याग कर दो, यदि तुम शत्रुओंके लिये ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यका त्याग करके और अकिञ्चनभावको प्राप्तकर अहंभावसे निवृत्त हो जाओ, यदि तुम अपने देहके अभिमानसे रहित होकर उन सब शत्रुओंमें ही भिक्षाटन करने लगो तो तुम उच्च-से-उच्च स्थितिको प्राप्त होकर परमपदरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। (सर्ग ७४)

राजा भगीरथका सर्वस्वत्याग, भिक्षाटन और गुरु त्रितलके साथ निवास, भगीरथको पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, रुद्र आदिको आराधना करनेसे गङ्गाजीका भूतलपर अवतरण

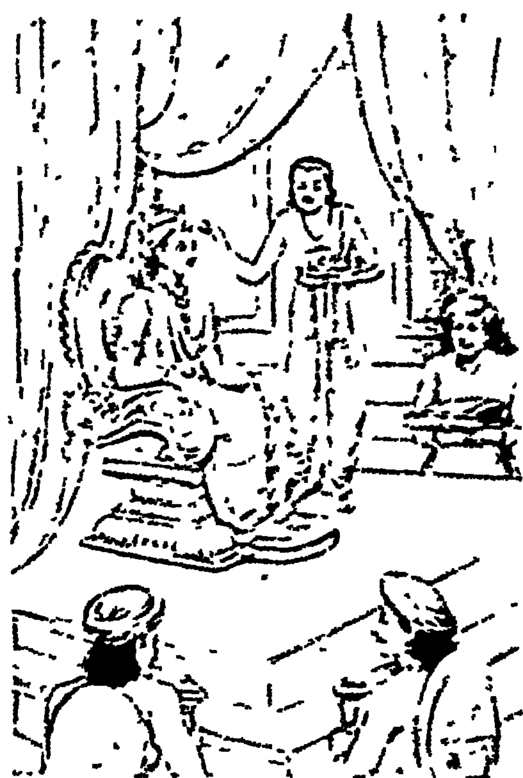
श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तदनन्तर उन गुरुजीके मुखसे इस प्रकारका उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मनमें कर्तव्य निश्चित कर उसके अनुष्ठानमें तत्पर हो गया। कुछ ही दिन व्यतीत होनेपर राजा भगीरथने एकमात्र सर्व-त्यागकी सिद्धिके लिये अग्निष्टोम यज्ञका अनुष्ठान किया। उसमें उसने ब्राह्मणों तथा अपने बन्धुओंको गौ, पृथ्वी, घोड़े, सुवर्ण आदि समस्त धन दे दिया। तदनन्तर उसने सम्पूर्ण धनसे खाली तथा चिन्तामग्न मन्त्री, नागरिक, प्रजा आदिसे युक्त अपने राज्यको तृणके समान समझकर सीमाके पासके अपने शत्रुको दे दिया। जब महल, मण्डल एवं राज्यपर शत्रुने अधिकार कर लिया, तब मननशील राजा भगीरथ एकमात्र कटिवस्त्र धारण किये अपने मण्डलसे निकल गया। अपने मण्डलसे निकलकर धैर्यवान् राजा भगीरथने अपनी राजधानीसे बहुत दूरके गाँवों और वनोंमें निवास किया, जहाँ लोग उसके नाम-रूपको नहीं पहचान सकते थे। इस प्रकार व्यवहार करते हुए राजा थोड़े ही समयमें समस्त एषणाओंसे रहित हो उत्तम उपरतिके कारण परमात्मामें परम विश्रामको प्राप्त हो गया। किसी समय राजा भगीरथ घूमता हुआ अपने नगरमें ही चला आया और वहाँ उसने अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियोंसे भिक्षाकी याचना की। उन नागरिकों और मन्त्रियोंने राजा भगीरथको पहचान लिया और उन विषादयुक्त लोगोंने पूजन-सामग्रीसे विधिवत उसकी पूजा की





'प्रभो ! आप अपना राज्य ले लीजिये, इस प्रकार शत्रु-द्वारा प्रार्थना किये जानेपर भी उस मननशील राजाने, जिसने सर्वत्याग कर दिया था, भोजनके सिवा तृणमात्र भी ग्रहण नहीं किया । कुछ दिन वहाँपर बिताकर वह अन्यत्र चला गया । लोगोंने उस समय 'क्या ये ही भगीरथ राजा हैं ? ये ही हमलोगोंको छोड़कर चले गये ? अहो ! महान् कष्ट है ।' इस प्रकार उसके विषयमें शोक किया । तदनन्तर दूसरे स्थानोंमें विचरण करते हुए शान्तचित्त, स्थिरबुद्धि एवं परम सुखी वह नरेश किसी समय अपने आत्माराम त्रितल नामक गुरुके पास गया । प्रणाम आदिसे अपने गुरुका स्वागत-सत्कार करके उनके साथ कुछ कालतक पर्वत, वन, गाँव और नगरमें तथा अनेक सत्पुरुषोंके बीच निवास किया । वे दोनों उत्तम मुनि अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त हुए सुख और दुःख—दोनोंका आदर करते थे । वे समस्त इच्छाओंसे रहित थे और समके भी समरूप सच्चिदानन्द ब्रह्ममें एकरस होकर परम शान्तिको प्राप्त हो गये थे ।

किसी एक अन्य देशमें विद्यमान उत्तम नगरमें पुत्र-रहित राजाकी मृत्यु हो गयी थी । शासकके अभावके कारण जिनके देशकी प्रजा-पालन-मर्यादा नष्ट हो चुकी थी, उस देशके उदास मन्त्री आदि प्रजावर्ग प्रजा-पालनयोग्य उदार गुण-लक्ष्मीसे युक्त किसी एक सुन्दर राजाकी खोजमें थे । वे मन्त्री आदि प्रजावर्ग भिक्षाचरणमें रत, विरक्त, तपस्वी भगीरथ मुनिके पास पहुँचे । वे उनको प्रजापालन-योग्य समस्त शुभ गुणोंसे युक्त जानकर आदर-सत्कार-पूर्वक ले आये और उनको सेनासहित राज्यपर अभिषिक्त



करके राजा बना दिया । वहाँपर उस राज्यका परिपालन करते हुए राजा भगीरथके पास पहले आदर पाये हुए कोसल देशके मन्त्री, पुरोहित आदि प्रजावर्ग भी आये और राजाधिराज भगीरथसे यों कहने लगे ।

प्रजावर्गने कहा—राजन् ! अयोध्याका राज्य छोड़ते समय आपने सीमाके पासमें स्थित अपने जिस शत्रु राजाको राज्यदानसे पुरस्कृत किया था, उसको मृत्युने निगल लिया है । इस कारण अपने पूर्वराज्यकी रक्षा करनेकी

आप दया कीजिये। बिना इच्छाके प्राप्त हुए राज्यका त्याग करना उचित नहीं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकार प्रजावर्गके प्रार्थना करनेपर राजा भगीरथने उनकी बात मान ली और वे सात समुद्रोंसे युक्त पृथ्वीके स्वामी हो गये। राजा भगीरथ सर्वत्र समभाव रखनेवाले, शान्तचित्त, मननशील, वीतराग एवं मत्सर-रहित थे। जिन्होंने अश्वका अन्वेषण करनेके लिये भूमि खोदकर सागरके सदृश गर्त निर्माण किया था और जो कपिलकी क्रोधाग्निसे पातालतलमें भस्मीभूत हो चुके थे, उन अपने पितामहोंको तारनेमें गङ्गाजल ही समर्थ है, जब यह बात राजाने सुनी; तब भूतलपर गङ्गाजीको लानेके लिये जितेन्द्रिय पृथ्वी-पति भगीरथ मन्त्रियोंके सिरपर समस्त राज्यभार छोड़कर तपके लिये निर्जन अरण्यमें चले गये। उस अरण्यमें हजार वर्षतक ब्रह्माजी, शंकरजी और जह्नु मुनिकी बार-बार आराधना करके वे इस पृथ्वीतलपर गङ्गाजीको ले आये। तभीसे ये पुण्यतोया त्रिपथगा गङ्गाजी, जो निर्मल तरङ्ग-मालाओंसे रञ्जित जगत्पति शशिभूषण शिवजीके मस्तकमें सुशोभित तथा महात्माओंके महान् पुण्योंकी राशि हैं, आकाशतलसे पृथ्वीपर गिरती हैं। चञ्चल तरङ्गमालाओं-



से सुशोभित, अपने फेनपुञ्जरूप हाससे युक्त, प्रसन्न पुण्यरूपा मञ्जरीसे समन्वित तथा धर्मकी संततिस्वरूप यह त्रिमार्गगामिनी गङ्गा उसी समयसे इस पृथ्वी-पर पृथ्वीपति भगीरथकी समुद्रपर्यन्त कीर्ति विस्तार करनेके लिये एक तरहकी वीथिका ही बन गयी हैं। (सर्ग ७५-७६)

शिखिध्वज और चूडालाके आख्यानका आरम्भ, शिखिध्वजके गुणोंका तथा चूडालाके साथ विवाह और क्रीडाका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! अब तुम अविचल राजा शिखिध्वजकी तरह शान्तिपूर्वक अपने स्वरूपमें स्थित रहो।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यह शिखिध्वज कौन था और उसने परमपद कैसे प्राप्त किया? गुरुवर! उसका चरित्र मुझसे कहिये, जिससे मैं उसे अच्छी प्रकार जान सकूँ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! अतीतकालीन सातवें मन्वन्तरकी चतुर्थ चतुर्युगीके द्वापर युगमें कुरुवंशमें इसी महासर्गमें शिखिध्वज नामका राजा हुआ था। जम्बूद्वीपमें प्रसिद्ध विन्ध्याचलके समीपवर्ती मालवदेशकी उज्जयिनी नगरीमें वह राजा राज्य करता था। वह धैर्य, औदार्य आदि गुणोंसे युक्त था। उसमें क्षमा, शम, दम विद्यमान थे। वह वीरतासे पूर्ण था। शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता था। मितभाषी था। इस प्रकार वह अनेक गुणोंका खजाना था। समस्त यज्ञोंका निरन्तर अनुष्ठान

करता था। उसने बड़े-बड़े धनुर्धारियोंको जीत लिया था। वह लोकोपयोगी शुभकार्योंको करता था और पृथ्वीका पालन करता था। वह कोमल, स्निग्ध और मधुर स्वभाववाला दक्ष तथा प्रेमका समुद्र—था। वह सुन्दर, शान्त, भाग्यवान्, प्रतापी और धर्मवत्सल था। वह विनययुक्त वाक्योंका प्रयोग करता था तथा याचकोंको सभी प्रकारके पदार्थ देता था। वह उत्तम पदार्थोंका भोक्ता, सत्सङ्गसे युक्त और समस्त वेद-शास्त्रोंका उत्तम श्रोता था। वह शिखिध्वज सब बातोंको जानते हुए भी जानकारीके अभिमानसे रहित था, स्त्री-व्यसन आदिका तो उसने तृणवत् त्याग कर दिया था। बाल्यकालमें ही उसके पिता स्वर्ग चल दिये थे। उसके बाद अपने बाहुबलसे उस जितेन्द्रिय शिखिध्वजने सोलह वर्षतक स्वयं ही दिग्विजय करके अखिल भूमण्डलको अपनी साम्राज्य-सम्पत्तिमें परिणत कर दिया। तदनन्तर निःशङ्क होकर धर्मसे प्रजाका पालन करते हुए वे बुद्धिमान् राजा शिखिध्वज मन्त्रियोंके साथ अपने यशसे दिशाओंको उज्ज्वल करते हुए स्थित थे।



जब वे युवा हो गये, तब उन्होंने अनेक वन और उपवनोंमें, लीला-सरोवरोंमें, लतागृहोंमें तथा विविध भूमियोंमें विचरण किया। उन्होंने वन और उपवनके गुण-वर्णनसे युक्त शृङ्गाररससे परिपूर्ण कथाओंमें रस लिया तथा सुवर्ण-कलशके सदृश स्तनवाली, हारसे सुशोभित शरीर तथा चञ्चल केशोंसे युक्त कुमारियोंका मनसे आदर किया। चतुर मन्त्रियोंने राजाका अभिप्राय जान लिया। तदनन्तर राजाके विवाहके लिये विचार करके मन्त्रियोंने सौराष्ट्रदेशके राजासे युवती कन्याकी याचना की। राजा शिखिध्वजने नवीन यौवनसे सम्पन्न तथा अपने अनुरूप उस उत्तम कन्याके साथ विधिपूर्वक विवाह किया। राजा शिखिध्वजकी पत्नी संसारमें चूडाला नामसे विख्यात थी। वह भी अपने अनुरूप पति प्राप्तकर प्रफुल्लित हो रही थी। राजा शिखिध्वज नील कमलके सदृश नेत्रवाली उस चूडालाको स्नेहसे प्रसन्न रखते थे। एक दूसरेके प्रति अर्पित चित्तवाले उन दोनोंकी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। हाव, भाव, विलास आदि शृङ्गारमयी चेष्टाविशेषोंसे परिपूर्ण अङ्गोंके कारण वह चूडाला सुन्दर नवीन लताके समान शोभित हो रही थी। शिखिध्वज राजाको मन्त्रियोंद्वारा सभी उपभोग-सामग्री समयानुसार समर्पित की जाती थी। उसकी प्रजा सुव्यवस्थित थी। परम सुखी वह राजा कमलिनीके साथ राजहंसके सदृश उस प्रियतमाके साथ रमण करता था। वे दोनों निरन्तर एक दूसरेसे मिले हुए थे। एक दूसरेकी चेष्टाएँ उन्हें प्रिय लगती थीं। एक दूसरेसे शिक्षाग्रहण करनेके कारण वे दोनों सम्पूर्ण कलाओंके ज्ञाता हो गये थे। परस्पर अत्यन्त मित्रताको प्राप्त हुए वे दोनों एक दूसरेके हृदयमें

बस जानेके कारण मानो एकरूप ही हो गये थे। जैसे ब्रह्मचारी नियतकालतक गुरुमुखसे अध्ययन करके समस्त शास्त्रोंका पण्डित हो जाता है, वैसे ही कुछ नियतकालतक अपने स्वामीके मुखसे सुन-सुनकर समस्त शास्त्रोंके तात्पर्यमें और चित्रकला आदिमें भी चातुर्य प्राप्तकर चूडाला समस्त विनयोंकी पण्डिता हो गयी थी तथा चूडालाके द्वारा इस शिखिध्वजने भी नृत्य, वाद्य आदि जितने कला-कौशल हैं, उन सबका शिक्षण ग्रहण किया और वे कलाओंके पारंगत विद्वान् हो गये। उन दोनोंकी बुद्धि चातुर्यसे युक्त तथा सुन्दर थी। वे दोनों स्नेहसे प्रसन्न और मधुर लगते थे। ज्ञानतत्त्वका कथन करनेमें भी वे समान थे। श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण करते थे। सदाचार-परायण थे। प्रजाजनोंके वृत्तान्तका भी ज्ञान रखते थे। वे समस्त कलाओंके पण्डित एवं शृङ्गारादि नवरसरूपी रसायनोंसे सुशोभित थे।

(सर्ग ७७)

क्रमसे उन दोनोंकी वैराग्य एवं अध्यात्मज्ञानमें निष्ठा तथा चूडालाको यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इसी प्रकार अनेक वर्षोंतक दृढ़ प्रेमसे सम्पन्न उस दम्पतीने प्रतिदिन यौवनकी अमन्द लीलाओंद्वारा रमण किया। यों एकके बाद एक करके अनेक वर्ष बीत गये और फूटे हुए घड़ेसे जलके क्षय होनेकी भाँति धीरे-धीरे तारुण्यका क्षय होते देख उन दोनोंने विचार किया—'समुद्रकी तरङ्गोंके समान चञ्चल, क्षणभङ्गुर शरीरसे व्यवहार करनेवाले जीवका पके हुए फलके पतनकी तरह मरण अवश्यम्भावी है। अब इस देहमें वृद्धावस्था आनेकी तैयारी कर रही है; क्योंकि आयु निरन्तर क्षीण होती जाती है। यह जीर्ण जीवन इन्द्रजालके सदृश असत्य ही है। यह शरीर वर्षाकालमें जलके बुद्बुद्की भाँति क्षणभरमें ही विलीन हो जानेवाला है। विचार करनेसे जगत्का यह व्यवहार कदली-गर्भके सदृश निस्सार ही सिद्ध होता है। इस संसारमें ऐसी कौन वस्तु है, जो शुभ, सुस्थिर एवं अत्यन्त सुन्दर हो, अर्थात् कोई भी नहीं है।' उस दम्पतीने इस प्रकार निश्चय करके संसाररूपी व्याधिकी असली औषध अध्यात्मशास्त्रका दीर्घकालतक विवेकपूर्वक विचार किया। केवल आत्मज्ञानसे ही संसाररूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्णयकर वे दोनों आत्माका ज्ञान सम्पादन करनेमें तत्पर हो गये। अध्यात्मज्ञानमें ही उनका चित्त लग गया था। प्राण भी उसीमें लगे थे। उसीमें उनकी निष्ठा थी। अध्यात्मज्ञानका ही उन्होंने आश्रय लिया था। वे उसीकी अर्चनामें लगे रहते थे। उनकी इच्छा भी अध्यात्म-ज्ञानकी ही रहती थी और उस समय इस संसारसे वे दोनों विरक्त हो गये थे। उन्होंने अध्यात्मज्ञानमें ही दृढ़ अभ्यास बढ़ा लिया था। वे एक दूसरेको अध्यात्मज्ञानका ही प्रबोध कराते थे। उनकी प्रीति उसी ज्ञानमें थी एवं परस्पर उनका समस्त आरम्भ उसीमें होता था।

तदनन्तर वह चूडाला अध्यात्मविषयको जाननेवाले महात्माओंके मुखसे संसार-दुःखसमुद्रसे पार करनेमें समर्थ आत्मज्ञानोपयोगी मनोहर पदक्रमोंसे संयुक्त शास्त्रार्थोंका निरन्तर श्रवण करके बाह्य शरीरके व्यापारोंसे उपरत और उज्ज्वल उग्रबुद्धिसे युक्त हो अपनी आत्माके विषयमें इस प्रकार अहर्निश विचार करने लगी।

'अब मैं स्वयं विवेचन करके अपने आपका पता लगाती हूँ कि मैं क्या हूँ तथा यह संसाररूप मोह जिसको, फँसे, कहाँसे प्राप्त हुआ है। यह देह तो जड है; इसलिये देह मैं नहीं हूँ, यह अटल निश्चय है। हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रिय-समुदाय भी इस शरीरसे अभिन्न अवयवरूप ही है। कभी अवयव और अवयवीमें भेद नहीं होता, इसलिये वे भी जड ही हैं। ज्ञानेन्द्रिय-

समुदाय भी शरीरावयवरूप ही है, इसलिये वह भी जड ही दीख पड़ता है। संकल्पात्मक शक्ति रखनेवाला जो मन है, उसे भी मैं जड ही मानती हूँ; क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ मनसे ही प्रेरित होती हैं। जैसे गोफनसे पाषाण प्रेरित होता है, वैसे ही मन भी बुद्धिके निश्चयोंसे प्रेरित होता है; इस तरह निश्चयरूपा बुद्धि भी जड ही है, यह अटल निश्चय है। अहंकार भी सारशून्य तथा मुर्देके सदृश है, इसलिये जड ही है; क्योंकि बुद्धि अहंकारसे प्रेरित होती है। अहंकार भी जड ही है, क्योंकि वह जीवात्मासे अध्यस्त है। यह चेतन जीव प्राणवायुरूप उपाधिसे उपहित हुआ हृदयमें रहता है। वह परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माकी सत्तासे ही सत्तावान् है। चेतनस्वरूप आत्मा मिथ्या जड विषयोंके साथ तादात्म्य एवं संसर्गका अध्यास करके ही जड-जैसा बन जाता है और अपने असली शुद्ध चिन्मय स्वरूपको भूल जाता है। चेतन जीवात्मा-की विषयोंके साथ एकाग्रता होनेपर वह एक क्षणमें अपने स्वरूपको भूलकर तत्स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार जब विषयोंके सम्मुख होनेसे यह चेतन जीवात्मा जड, शून्य, मिथ्याके समान हो जाता है, तब चिन्मय परमात्माके द्वारा प्रबोधित किया जाता है।'

इस प्रकार विचारकर फिर उस चूडालाने यह सोचा कि किस उपायसे यह जीवात्मा प्रबुद्ध हो। बहुत समयके बाद उसने आत्मतत्त्वको जान लिया और वह कहने लगी—'अहो! बड़े आनन्दका विषय है कि दीर्घकालके बाद मुझे उस निर्विकार जानने योग्य परमात्माके स्वरूपका अनुभव हो गया, जिसे जान लेनेपर पुरुष फिर उससे च्युत नहीं होता। वास्तवमें एक महान् चेतन परमात्मा ही इस संसारमें सत्यरूपसे विराजमान है। उसको महासत्ता भी कहते हैं। यह निष्कलङ्क, समरूप, विशुद्ध और अहंकाररहित है। उसका स्वरूप शुद्ध विज्ञान ही है। वह परम मङ्गलमय केवल सत्यस्वरूप है। वह अपने परमानन्द-स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता। एक बार उसका साक्षात्कार हो जानेपर वह फिर सदा प्रत्यक्ष रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता। वह ब्रह्म, परमात्मा आदि नामोंसे कहा गया है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटी इस परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वह चेतन परमात्मा ही मन, बुद्धि, आदि इन्द्रिय पदार्थोंके रूपमें प्रकट होकर क्रियाशील होता है। जैसे समुद्रके जलमें तरङ्ग आदि वास्तवमें उत्पन्न न हुए भी उत्पन्न हुए-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही महाचेतन-में जगत् वास्तवमें उत्पन्न न होते हुए भी उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। इस नित्य चिन्मय परमात्माके जन्म, मरण, सद्गति, असद्गति या नाशकी कहीं सम्भावना ही नहीं है। यह परमात्मा अच्छेद्य, अदाह्य और परम विशुद्ध है। अहा! मैं बहुत कालके बाद शान्त होकर सब ओरसे परम निर्वाणपदको प्राप्त हुई हूँ। कुम्हार आदिके द्वारा बनायी गयी मृत्तिकाकी सेना जैसे मृत्तिका-रूप ही है, वैसे ही सुर, असुर आदिसे युक्त यह विश्व स्वभावतः परब्रह्मस्वरूप ही है तथा द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एक चैतन्य-स्वरूप ही है। यह ऐक्य है, यह द्वैत है; यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ इत्यादि भ्रमजनित मोह क्या चीज है और वह किस तरह, किसको, कहाँ-से और कहाँ हुआ है? अर्थात् किसीको कहीं नहीं। यह सब मिथ्या है। अतः मैं अपने अंदर अनन्त पारमार्थिक स्वरूपको अनायास प्राप्तकर अब शान्तरूपसे स्थित हूँ। न तो इदं है, न अहं है और न दूसरा है एवं न भाव है ओर न अभाव ही है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परब्रह्मस्वरूप परमात्मा ही है।' इस प्रकार परमात्माके मननमें परायण वह चूडाला यथार्थ ज्ञानके द्वारा उस परमात्माके वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे जानकर राग, भय, मोह आदि अज्ञान-विकारोंके शान्त होनेसे उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे शरत्-कालमें आकाश बादलोंसे रहित हो जाता है। (सर्ग ७८)

चूडालाको अपूर्व शोभासम्पन्न देखकर राजा शिखिध्वजका प्रसन्न होना और उससे वार्तालाप करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! चूडाला संसारके सम्बन्धों, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों, राग और इच्छाओंसे रहित हो गयी थी। वह न किसी पदार्थका ग्रहण करती थी और न किसीका त्याग करती थी। केवल न्यायसे प्राप्त आचरण करती थी। संसाररूपी महासमुद्रको वह पार कर गयी थी। संदेहरूपी जालसे मुक्त हो गयी थी। वह परमात्माके महान् लाभसे परिपूर्ण हो गयी थी। इस प्रकार सुन्दर वर्णवाली शिखिध्वजकी श्रेष्ठ धर्मपत्नी वह चूडाला थोड़े ही कालमें जाननेयोग्य परमात्माको यथार्थ जान गयी। अपने विवेकके दृढ अभ्यास-बलसे परमात्माका यथार्थ अनुभव हो जानेपर वह परम शोभा पाने लगी। किसी समय उस सुन्दर अङ्गोंवाली चूडालाको अपूर्व शोभासे युक्त देख राजा शिखिध्वजने हँसते हुए कहा—'प्रिये ! इस समय तुम वैसे ही अत्यन्त सुशोभित हो रही हो, जैसे तुमने अमृतका सार पी लिया हो या अलभ्य परमात्मपदकी प्राप्ति कर ली हो अथवा आनन्दप्रवाहसे तुम परिपूर्ण हो गयी हो। इस समय मैं तुम्हारे चित्तको भोग लालसासे रहित, शान्त, विवेकसे बलिष्ठ, समताको प्राप्त, गम्भीर और चञ्चलतारहित देख रहा हूँ। तुम्हारे मनके साथ किसी भी विभवानन्दकी वस्तुसे उपमा नहीं दी जा सकती। भद्रे ! क्या तुमने अमृत पी लिया है या किसी साम्राज्यकी प्राप्ति कर ली है या मन्त्रके प्रयोग या योगके साधनसे अमरता प्राप्त कर ली है ! नील कमलके सदृश नेत्रोंवाली ! क्या तुमने राज्य, चिन्तामणि और त्रैलोक्यसे भी बढ़कर किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति कर ली है !'



चूडालाने कहा—आर्य ! इस समस्त विनाशशील संसारका त्यागकर इससे भिन्न सत्-असत्-स्वरूप सर्वात्मक परमात्माका मैंने आश्रय लिया है, इसीलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। एकमात्र आकाश-सदृश विमल अद्वितीय केवल हृदयरूप चिन्मय ब्रह्ममें अकेली ही मैं रमण करती हूँ, राजलीलाओंमें मैं कभी रमण नहीं करती; इसलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। मूल्यवान् आसन, उद्यान और घरोंमें रहकर भी मैं परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहती हूँ तथा विषय-भोगोंसे दूर हूँ; इसीलिये मैं परम शोभायुक्त हुई स्थित हूँ। मैं सुख-सम्पत्ति नहीं चाहती, न अर्थ और अनर्थको ही चाहती हूँ; दूसरी किसी प्रकारकी स्थिति भी नहीं चाहती। जो कुछ न्यायसे प्रारब्धानुसार प्राप्त होता है, उसीसे संतुष्ट रहती हूँ। इसीसे मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। राग और विद्वेषको विनष्ट कर देनेवाली आत्मविषयक बुद्धि और शास्त्रदृष्टिरूपी सखियोंके साथ मैं रमण करती हूँ; इसलिये मैं परम शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ। (सर्ग ७९)

राजा शिखिध्वजका चूडालाके वचनोंको अयुक्त बतलाना, चूडालाका एकान्तमें योगाभ्यास करना एवं श्रीरामचन्द्रजीके पूछनेपर श्रीवसिष्ठजीके द्वारा कुण्डलिनीशक्तिका तथा विभिन्न शरीरोंमें जीवात्माकी स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! परमात्माके स्वरूपमें स्थित उस चूडालाके इस प्रकार कहनेपर उसके वचनोंका रहस्य न जाननेके कारण राजा शिखिध्वज हँसते हुए कहने लगे।

शिखिध्वजने कहा—सुन्दरी राजपुत्रि! तुम बालबुद्धि हो। तुम्हारा वचन युक्तिसंगत नहीं है। तुम जिस प्रकार राजलीलाओंमें रमण करती आयी हो, उसी प्रकार रमण किया करो। भद्रे! बतलाओ तो सही जो वस्तु आकार-सामान्यका परित्याग करके कभी भी प्रत्यक्ष न होनेवाली निराकारताको प्राप्त हो चुकी है, वह प्रत्यक्ष और अस्तित्वसे शून्य वस्तु कैसे शोभित हो सकती है? धनादि समस्त भोग-वस्तुओंका परित्याग करके जो एक शून्य आकाशमें ही रमण करता है, वह शोभित होता है—यह कहना कैसे संगत हो सकता है? जो धीरबुद्धि पुरुष वस्त्र, भोजन, शय्या आदि सारे साधनोंका परित्याग करके अकेला स्वरूपमें ही स्थित रहता है, वह कैसे शोभित हो सकता है? इसलिये सुन्दरी! तुम बाला हो, मुग्धा हो और चपल हो। विलासिनि! अनेक प्रकारके आलाप-विलासोंसे जिस तरह मैं क्रीडा करता हूँ, उसी तरह तुम भी क्रीडा करो।

राजा शिखिध्वजने इस प्रकार अपनी प्रिया चूडालाके प्रति कहकर अट्टहास करते हुए मध्याह्नमें स्नान करनेके लिये उठकर चूडालाके महलसे प्रस्थान किया। 'बड़े दुःखका विषय है कि अभीतक राजा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं हुए हैं। मेरे वचनोंको भी वे न समझ सके—



इस प्रकारके विचारसे खिन्न हुई वह चूडाला अपने कार्यमें संलग्न हो गयी। रामभद्र! तदनन्तर वहाँपर उस प्रकारके भिन्न-भिन्न आशयसे युक्त उन दोनोंका उस समय भी पहलेकी सांसारिक क्रीडाओंमें उसी तरह बहुत काल चला गया। एक समयकी बात है, नित्यतृप्त और इच्छारहित चूडालाको लीलावश आकाशमें गमनागमन करनेकी स्फुरणा हुई। तब वह राजपुत्री आकाशमें गमनागमनकी सिद्धिके लिये सम्पूर्ण भोगोंकी अवहेलना करके और निर्जन स्थानमें आकर अकेली ही एकान्तमें आसन लगाकर उद्र्ध्वगामी प्राणवायुका निरोध करनेके लिये अभ्यास करने लगी।



श्रीरामजीने कहा—प्रभो! जो अनात्मज्ञ पुरुष हैं, वे अपनी सफलताके लिये अथवा जो आत्मज्ञ हैं, वे केवल लीलाके लिये किस क्रमसे इन सिद्धियोंको सिद्ध करते हैं, वह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—प्रिय राघव! इस जगत्‌में सभी जगह साध्य वस्तु तीन तरहकी होती है—उपादेय (ग्रहण करनेयोग्य), हेय (त्याज्य) और उपेक्षाके योग्य। सद्‌बुद्धे! जो वस्तु साक्षात् या परम्परासे सुखदायक होती है, वह उपादेय होती है; जो सुख-विघातक होती है, वह हेय होती हैं एवं जो वस्तु इन दोनोंके बीचकी होती है, वह उपेक्ष्य होती है—ऐसा अनुभवी लोगोंका कहना है। परमात्मतत्त्वको जाननेवाले श्रेष्ठबुद्धि विद्वान्‌की दृष्टिमें जब यह सब परमात्मस्वरूप हो जाता है, तब इन तीनों पक्षोंमेंसे कोई भी पक्ष नहीं रहता। किसी समय ज्ञानी व्यवहारकालमें लीलासे ही इस समस्त जगत्‌को उपेक्षा-बुद्धिसे केवल देखता है और समाधिकालमें नहीं देखता। ऐश्वर्यादि एक ही वस्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें उपेक्षाके योग्य, मूढ़की दृष्टिमें उपादेय और उत्तम वैराग्यसम्पन्न पुरुषकी दृष्टिमें हेय हो जाती है। श्रीराम! आकाशगमन आदि सिद्धियोंका क्रम कैसा है, उसे तुम अब सुनो। देश, काल, क्रिया एवं द्रव्यकी अपेक्षा रखनेवाली सब तरहकी सिद्धियाँ यहाँ जीवको मोहित करती हैं। मणि, ओषधि, तप, मन्त्र और क्रियासे होनेवाली सिद्धिके क्रमका निरूपण अनावश्यक है; क्योंकि यह अध्यात्मविषयमें विघ्न ही है। कृतार्थ श्रीराम! सिद्धदेशके नामसे प्रसिद्ध श्रीशैल अथवा मेरुपर्वतपर निवास करनेवाले पुरुषको सिद्धि होती है—इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना अध्यात्मविषयमें हानिकर है। इसलिये शिखिध्वजकी कथाके प्रसङ्गसे प्राप्त सिद्धिरूपी फलसे युक्त इस प्राणादि वायुकी अभ्यास-क्रियाको तुम श्रवण करो। सदा अर्थसे भिन्न पदार्थोंकी वासनाओंका त्याग करके गुदा आदि द्वारोंके संकोचसे; सिद्धादि आसन, काया, मस्तक और गर्दनकी समता, निश्चलता तथा नासिकाके अग्रभागमें दृष्टिको स्थिर करना आदि योगशास्त्रोक्त क्रियाओंसे; भोजन और आसनकी पवित्रतासे, भलीभाँति योगशास्त्रके परिशीलनसे, उत्तम आचरणसे, सज्जनोंके सङ्गसे, सर्वत्यागसे, सुखासनसे बैठकर कुछ कालतक प्राणायामके दृढ़ अभ्याससे, क्रोध-लोभ आदिके सर्वथा त्यागसे तथा भोगोंके त्यागसे एवं रेचक, पूरक और कुम्भकका अच्छी तरह अभ्यास हो जानेपर प्राणोंपर पूर्ण प्रभुत्व हो जानेसे योगीके पाँचों प्राण उसी तरह उसके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजाके सेवक राजाके वशमें होते हैं।

राघव! प्राणायामके द्वारा देहमें स्थित प्राण-अपान वायुके अपने अधीन हो जानेपर राज्यसे लेकर मोक्षपर्यन्त सभी सम्पत्तियाँ सुखसाध्य हो जाती हैं। मण्डलाकार (गोल कुण्डलाकार) से युक्त, मर्म (नाभि) स्थानमें

समाश्रित, सौ नाड़ियोंकी आश्रय आन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नामकी नाड़ी है । श्रीराम ! देव, असुर, मनुष्य, मृग, नक्र, खग, कीट, पतङ्ग आदि सब प्रकारके प्राणियोंमें वह नाड़ी स्थित है । गुदासे लेकर भौंहके बीचतक सब छिद्रोंका स्पर्श करती हुई वह सुषुम्ना नाडी मनकी वृत्तियोंसे भीतर चञ्चल और बाहर प्राणादिसे स्पन्दयुक्त होकर सदा स्थित रहती है । वह कुण्डलाकार वाहिनी है, इसलिये कुण्डलिनी नामसे कही गयी है । वह सब प्राणियोंकी परमा शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी शक्तियोंकी सत्तास्फूर्तिकी निर्वाहक होनेसे सबको वेग प्रदान करनेवाली है । वही अपने मुखसे प्राणवायुको ऊपर फेंकती है और अपानको नीचे खींचती है, इसलिये सदा साँस खींचती हुई स्पन्दनमें हेतु बनी वह ऊपरकी ओर मुँह करके कुपित सर्पिणीकी तरह स्थित रहती है । यह कोमल स्पर्शवाली कुण्डलिनी कमलमें भ्रमरकी तरह देहमें जैसे-जैसे स्फुरित होती है, वैसे-वैसे अन्तःकरणमें ज्ञान होता है । उस कुण्डलिनीमें हृदयकोशकी समस्त नाड़ियाँ सम्मिलित हैं । वे सब नाड़ियाँ सागरमें नदियोंकी तरह उसीसे वारंवार उत्पन्न होती हैं तथा उसीमें विलीन होती जाती हैं । प्राणरूपसे उसके ऊर्ध्वगमनमें उत्सुक होने तथा अपानरूपसे अधःप्रवेशकी ओर उन्मुख होनेसे एक वही सम्पूर्ण ज्ञानोंकी साधारण बीज कही गयी है ।

निष्पाप श्रीराम ! पशुओंसे लेकर स्थावर आदि देहोंमें तथा मनुष्यादि शरीरोंमें जिस तारतम्यसे जीवात्मा रहता है, यह मैं तुमसे क्रमशः कहता हूँ, सुनो । यह सत्य, नित्य चेतन, विकारशून्य और अनामय जीवात्मा अपनी कल्पनासे पञ्चभूतोंके रूपसे स्थित होता है । पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार जीवात्माकी कल्पनासे पञ्चभूत मनुष्यादि देहभावकी, तिर्यग् देहभावकी, सुवर्णभावकी, देशादिभावकी और द्रव्यादिभावकी प्राप्ति होती है । रघुनन्दन ! इस तरह यह संसार केवल पञ्चभूतका विकासमात्र ही है और वह चेतन जीवात्मा ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है । वही जीवात्मा केवल पञ्चभूतोंके सम्बन्धसे मनुष्यादि देहोंमें बौद्धिक ज्ञानकी विशेषताके कारण चेतन-प्रधान, कहीं (तिर्यगादिमें) जड-चेतन उभय-प्रधान और वृक्ष, पहाड़ आदि स्थावर योनियोंमें जड-प्रधान रहता है । निष्पाप श्रीराम ! देहादि आकारमें परिणत पञ्चभूत जीवका संकल्प होनेके कारण जीव कहलाता है और पहाड आदि तो केवल जड ही हैं एवं वृक्षादि स्थावर बाहरकी वायुसे स्पन्दनशील (चेष्टावान्) होते हैं । । पञ्चभूतसमूहात्मक मेरु पर्वत आदि तो तृणकी भाँति जड हैं; किंतु ये वृक्ष, कीट आदि स्थावर-जंगम प्राणी चेतन हैं । इनमें वृक्ष आदि स्थावर जातिकी वासना निद्राग्रस्त मनुष्यकी वासनाकी भाँति प्रसुप्त है तथा मनुष्य और देवता आदिमें बुद्धिकी अधिकताके कारण उनकी वासना प्रबुद्ध है । पशु, पक्षी आदि मलिन वासनासे युक्त हैं, किंतु मनुष्योंमें कुछ मोक्षगामी मनुष्य वासनाओंसे रहित हैं; क्योंकि वे विवेकको प्राप्त हो गये हैं । अतः वे इस संसारमें पुनः जन्म-धारण नहीं करते; किंतु इनसे भिन्न अविवेकी मनुष्य बार-बार संसारमें भ्रमण करते रहते हैं । (सर्ग ८०)

आधि और व्याधिके नाशका तथा सिद्धिका और सिद्धोंके दर्शनका उपाय

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुनीश्वर ! इस शरीरमें आधि (मानसिक) और व्याधि (शारीरिक) रोग किससे उत्पन्न होते हैं तथा किससे विनष्ट होते हैं ? यह मुझको समझाकर कहिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! आधि और व्याधि—ये दोनों दुःखके कारण हैं । औषधादिके द्वारा इनकी निवृत्तिसे सुख प्राप्त होता है तथा ज्ञानके द्वारा इनका समूल नाश होता है । वही मोक्ष कहलाता है । शरीरके अंदर आधि और व्याधियाँ कभी परस्पर एक दूसरेकी कारण बनकर उत्पन्न होती हैं अर्थात् कभी आधिसे व्याधि हो जाती है और कभी व्याधिसे आधि हो जाती है। कभी आधि-व्याधि—दोनों एक साथ हो जाती हैं और कभी सुखके अनन्तर दुःखरूप ये आधि-व्याधि क्रमसे उत्पन्न होती हैं । शारीरिक दुःखको व्याधि कहते हैं और वासनामय मानसिक दुःखको आधि । श्रीराम ! यह जान लेना चाहिये कि अज्ञान ही इन दोनोंका मूल कारण है । यथार्थ ज्ञान होनेपर इनका अवश्य विनाश हो जाता है । यथार्थ परमात्म-ज्ञान और इन्द्रिय-निग्रहके अभावसे, राग-द्वेषमें फँस जानेसे तथा यह प्राप्त हो गया, यह प्राप्त होना शेष है—इस तरह रात-दिन चिन्ता करनेसे जडताके कारण महामोहदायिनी आधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) उत्पन्न होती हैं । प्रबल इच्छाओंके पुनः-पुनः स्फुरित होनेसे, मूर्खतासे, चित्तके न जीतनेसे, दुष्ट अन्न खानेसे तथा श्मशान आदि निकृष्ट स्थानोंमें निवास करनेसे शरीरमें व्याधियाँ (शारीरिक रोग) उत्पन्न होती हैं । आधी रातमें तथा प्रदोषादि कालमें भोजन एवं मैथुनादि व्यवहारसे, दुष्कर्म करनेसे, दुर्जनोंकी सङ्गतिरूप दोषसे तथा विष, सर्प, व्याघ्र और चोर आदिका मनमें भय होनेसे शरीरमें व्याधि उत्पन्न होती है । नाडियोंके छिद्रोंमें अन्नके रसका प्रवेश न होनेके कारण नाड़ियोंके क्षीण होनेसे अथवा उन छिद्रोंमें अन्नके रस एवं वायु आदिके अधिक प्रवेश हो जानेके कारण नाडियोंके एकदम भर जानेसे, कफ, पित्त आदिके प्रकोपसे, प्राण तथा शरीरके व्याकुल हो जाने आदि अनेक दोषोंके द्वारा रोग उत्पन्न होता है ।

अभिमतपदार्थोंकी प्राप्ति होनेसे व्यावहारिक व्याधियाँ तथा आधि (अज्ञान) के क्षयसे आधिसे उत्पन्न मानसिक व्याधियाँ भी भलीभाँति नष्ट हो जाती हैं । राघव ! आत्मज्ञानके बिना जन्मादि विकारोंकी मूल व्याधि (अज्ञान) नष्ट नहीं होती, क्योंकि रज्जुके यथार्थ ज्ञानसे ही रज्जुमें प्रतीत होनेवाला सर्प नष्ट होता है । जैसे वर्षाकालकी नदी अपने तटके सभी वृक्षोंको जड़से उखाड फेंकती है, वैसे ही सम्पूर्ण आधि और व्याधियोंको जडसे उखाड़ फेंकनेवाला जन्मादि विकारोंकी मूल अज्ञानरूपी व्याधिका क्षय ही है, जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है । सामान्य व्याधियाँ तो आयुर्वेदोक्त ओषधियों तथा मन्त्रादि शुभ कर्मोंसे अथवा वृद्धोंकी परम्परासे कथित औषधोंसे नष्ट हो जाती हैं। श्रीराम ! तीर्थोंमें स्नान, मन्त्र, औषध आदि उपाय, वृद्धजनोंसे प्राप्त हुई ओषधियों तथा आयुर्वेदशास्त्रको तो आप स्वयं खूब जानते हैं । इनसे अतिरिक्त और मैं क्या आपको उपदेश दूँ ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर ! आधिसे व्याधि कैसे उत्पन्न होती है और औषधके अतिरिक्त मन्त्र, पुण्य आदिरूप युक्तिसे वह कैसे नष्ट होती है ?

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! मानसिक पीड़ाओंसे चित्तके व्याकुल हो जानेपर शरीरमें क्षोभ हो जाता है; इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आगेका उचित मार्ग नहीं देख पाता । वह उचित मार्गको न देखकर कुमार्गकी ओर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार बाणसे घायल हुआ हरिण अपने स्वाभाविक मार्गको छोड़कर अन्य मार्गकी ओर दौड़ता है । प्राण-वायुके विषम चलनेपर कफ, पित्त आदिके भर जानेसे नाड़ियाँ विषम स्थितिको प्राप्त हो जाती हैं, जैसे राजाके अव्यवस्थित हो जानेपर वर्णाश्रमकी मर्यादा विषम-स्थितिको—विरुद्ध स्थानको प्राप्त हो जाती है । प्राण-वायुके संचारका क्रम बिगड़ जानेसे खाया हुआ अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता

या अजीर्णतारूप दोषको ही प्राप्त होता है । इस तरह आधिसे व्याधि उत्पन्न होती है और आधिके अभावसे व्याधि भी नष्ट हो जाती है । जिस प्रकार मन्त्रोंसे व्याधियाँ विनष्ट होती हैं—वह भी क्रम तुम सुनो। जिस तरह हर्रेका फल खानेसे स्वाभाविक ही दस्त लग जाते हैं, उसी तरह वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल आदिके बीजरूप य र ल व आदि मन्त्रोंके वर्ण भी मान्त्रिक भावनाके वशमें नाडियोंमें रोगाकारमें परिणत अन्नरसोंका उत्सारण, पाचन आदि कार्य करते हैं । साधु-सेवारूप पवित्र पुण्यक्रियासे मन निर्मलताको प्राप्त होता है। चित्तके शुद्ध हो जानेपर शरीरमें आनन्द बढ़ता है । अन्तः-करणकी शुद्धिसे ये प्राणवायु अपने क्रमसे वहते हैं और अन्नका उचित परिपाक करते हैं । इससे सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं । श्रीराम ! इस प्रकार आधि और व्याधिके नाश तथा उत्पत्तिके क्रमका वर्णन मैंने तुमसे कर दिया। अब तुम प्रकृत प्रसंगको सुनो ।

राघव ! पुर्यष्टक नामक लिङ्गात्मक जीवकी आधार-भूत कुण्डलिनीको तुम सुगन्धकी आधारभूत पुष्पमञ्जरीकी भाँति जानो । पूरकके अभ्याससे जब प्राणी कुण्डलिनीको भर करके यानी कूर्माकार नाडीमें प्राणवायुको रोक-कर समरूपसे स्थित होता है, तब मेरु पर्वतके समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा कायाकी गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है । जिस समय पूरकसे पूर्ण शरीरके भीतर मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त लंबा करके प्राणवायुको ऊपर खींचकर प्राणवायुके निरोधसे उत्पन्न गरमी और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करनेके लिये संवित् (कुण्डलिनी) ऊपरकी ओर पहुँचायी जाती है । उस समय प्राणवायुको ऊपर खींचनेसे दण्डके सदृश लंबी होकर वह कुण्डलिनी देहमें बँधी हुई लताके समान सब नाडियोंको अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होनेके कारण सर्पिणीकी भाँति शीघ्र ऊपर चली जाती है । उस समय नाडियोंमें वायु भर जानेसे पैरसे लेकर मस्तकतक बिल्कुल हलके हुए इस शरीरको कुण्डलिनी इस प्रकार ऊपर उठा ले जाती है, जिस प्रकार पवनमें पूर्ण जलगत भाथी मनुष्यको जलके ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियोंका आकाशगमन है । इस प्रकार अभ्याससे युक्त आकाशगामी योगसे* अर्थात् आकाशके साथ शरीरका सम्बन्ध रखनेके लिये किये गये संयमरूप योगसे योगी लोग ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हो जाते हैं । जिस समय दूसरी नाड़ियोंके व्यापारको रोक देनेवाले रेचक प्राणायामके प्रयोगसे ऊपरकी ओर खींच ली गयी कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्ति सुषुम्ना नाडीके भीतर प्राणवायुके प्रवाहसे मस्तकके दोनों कपालोंकी संधिरूप कपाट (किवाड़) के बारह-बारह अंगुल स्थानमें मुहूर्तभरके लिये स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धोंके दर्शन होते हैं;† किंतु अज्ञानका आश्रय करनेवाला मलिन पुरुष इन्द्रियोंसे या दूसरे किसी अदिव्य उपायसे या इस पृथ्वीपर विचरण करनेवाला कोई भी पुरुष वायुस्वरूप आकाशगामी सिद्धोंको कभी नहीं देख सकता । परंतु राघव ! योगके अभ्याससे मनके संस्कृत हो जानेपर विषयोंसे दूर सुस्थित बुद्धिरूपी नेत्रसे स्वप्नकी भाँति आकाशगामी सिद्ध दिखायी देते हैं और वे अभीष्ट अर्थोंको भी देते

---

* इसका वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार आया है—

'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतू-
लसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।'

(योग० विभूति० ४२)

'शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे अथवा हल्की वस्तु (रूई आदि) में संयम करनेसे आकाशमें चलनेकी शक्ति आ जाती है ।'

† योगदर्शनमें बतलाया गया है—

'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।' (योग० विभूति० ३२)

'सिरके कपालमें एक छिद्र है, इसीको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, वहाँ जो प्रकाशमयी ज्योति है उसमें संयम करनेवालेको पृथ्वी और स्वर्गके बीचमें विचरण करनेवाले सिद्धोंके दर्शन होते हैं ।'

हैं। जिस प्रकार स्वप्नमें पदार्थोंका अवलोकन होता है, उसी प्रकार सिद्धोंके भी दर्शन होते हैं। केवल स्वप्नकी अपेक्षा विशेषता यही है कि सिद्धोंकी प्राप्तिमें संवाद, वरदान आदि फलरूप पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

रेचक प्राणायामके अभ्यासरूप युक्तिसे मुखसे बारह-बारह अंगुलपरिमित देशमें प्राणको चिरकालतक स्थित रखनेपर योगी अन्य शरीरमें प्रवेश कर सकता है। सारे शरीरमें प्रदीप्त उस जाठराग्निसे स्वभावतः शीत-वातात्मक वह शरीर ऐसे ही उष्णताको प्राप्त होता है जैसे सूर्यसे तीनों लोक। तारोंके आकारके समान तथा हृदयपद्ममें सुवर्ण-भ्रमरके सदृश वह तेज इस शरीरमें चारों ओर विचरता है, जो योगियोंकी अचिन्त्य दशाको प्राप्त है अर्थात् योगी लोग जिसकी उपासना करते हैं। इस प्रकारसे उपासित वह तेज प्रकाशस्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाख योजनकी दूरीपर स्थित वस्तु भी सदा आँखोंके सामने दिखायी देती है। उष्ण-प्रकृति प्राणवायु अग्निस्वरूप है तथा शीतल-प्रकृति अपान वायु चन्द्र-स्वरूप है। छाया और घामकी भाँति ये दोनों मुखरूप मार्गमें स्थित रहते हैं। (सर्ग ८१)

ज्ञानसाध्य वस्तु और योगियोंकी परकाय-प्रवेश-सिद्धिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! योगके द्वारा साध्य अणिमादि पदार्थोंका साधन तुम सुन चुके। अब श्रवण-भूषण ज्ञानके द्वारा साध्य विषयको सुनो। इस संसारमें एक, अद्वितीय, शुद्ध, सौम्य, अनिर्देश्य, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर और शान्तिमय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। न यह दृश्य जगत् है, न इसकी कोई क्रिया है। यह जीव इस मिथ्या शरीरको सङ्कल्प-भ्रमसे उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार बालक उद्दण्ड प्रेतको। जब प्रज्वलित ज्ञानदीपसे उत्तम प्रकाश हो जाता है, तब इस जीवका सङ्कल्पमोह उसी तरह विनष्ट हो जाता है, जिस तरह शरत्कालमें मेघ। जागनेपर जैसे प्राणी स्वप्नके संसारको नहीं देखता, वैसे ही सच्चिदानन्द परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जीवात्मा देहको आत्मबुद्धिसे नहीं देखता। अनात्विक शरीर आदिमें तात्त्विक भावनासे यह जीव देहसे आवृत होकर स्थित रहता है; किंतु एक ब्रह्मतत्त्वकी भावनासे देहसे रहित, श्रीमान् और परम सुखी हो जाता है। अनात्म शरीर आदिमें जो आत्माकी भावना है, वह हृदयका बड़ा भारी अन्धकार है। वह सूर्य आदिके प्रकाशसे दूर नहीं किया जा सकता। वह अज्ञान-अन्धकार तो परमात्मामें ही आत्म-भावनासे—'सर्वव्यापक निरञ्जन और निर्मल सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं ही हूँ'—इस यथार्थ ज्ञानरूपी सूर्यसे ही नष्ट होता है।

अन्य तत्त्वज्ञानी योगी लोग जिस पदार्थकी जिस रीतिसे भावना करते हैं, वे उस पदार्थको उसी रीतिसे शीघ्र अपनी उस दृढभावनाके बलसे देख लेते हैं किंतु राघव! दृढभावनाके अनुसन्धानसे विमूढ अज्ञानी प्राणी तो विष-को अमृतके समान और अमृतको भी विषके समान समझ लेते हैं। इस प्रकार दृढ भावनासे जिस विमूढ अज्ञानी प्राणीके द्वारा जिस पदार्थकी जिस रीतिसे भावना की जाती है, उसी समय वह प्राणी वही बन जाता है, यह संसारमें देखा भी जाता है। जैसे स्वप्नका संसार स्वप्नमें प्रत्यक्षकी ज्यों दीखता है, वैसे ही सत्यकी भावनासे देखा गया यह शरीर हो जाता है और असत्यकी भावनासे विवेकपूर्वक देखा गया यह शरीर शून्यताको—अभावको प्राप्त हो जाता है।

साधुस्वभाव श्रीराम! अणिमादि पदकी प्राप्तिमें तुमने इस प्रकारसे ज्ञानयुक्ति तो सुन ली। अब तुम यह दूसरी युक्ति सुनो। जिस तरह वायु पुष्पमेंसे गन्ध लेकर उसका घ्राणेन्द्रियके साथ सम्बन्ध कर देता है, उसी तरह योगी

रेचकके अभ्यासरूप योगसे कुण्डलिनीरूप घरसे बाहर निकलकर ज्यों ही दूसरे शरीरमें जीवका सम्बन्ध करता है, त्यों ही यह शरीर परित्यक्त हो जाता है। जीव-रहित यह देह चेष्टाओंसे रहित होकर काठ और मिट्टीके ढेलेके सदृश पड़ा रहता है। जैसे सिंचन करनेवाला पुरुष जलपूर्ण कुम्भसे वृक्ष और लताको सींचनेकी इच्छा करता है, उसे ही सींचता है, वैसे ही अपनी रुचिके अनुसार देह, जीव, बुद्धि, स्थावर और जङ्गम सबमें उनकी सम्पत्तिका भोग करनेके लिये जीवको प्रविष्ट किया जाता है।

उक्त प्रणालीसे परदेहमें सिद्धिश्रीका उपभोग कर स्थित हुआ योगी यदि अपना पहला शरीर विद्यमान रहा तो उसमें पुनः प्रविष्ट हो जाता है और यदि न रहा तो दूसरे शरीरमें जबतक उसकी रुचि रहती है, तबतक उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है। अथवा देहादि सम्पूर्ण कल्पित पदार्थोंको और जगत्को सर्वव्यापी ज्ञानसे परिपूर्ण करके पूर्णरूपसे स्थित रहता है। श्रीराम! योगरूप ऐश्वर्यसे सम्पन्न चेतन जीवात्मा सदा प्रकट दोषशून्य परमात्म-तत्त्वको जानकर जो भी कुछ जैसा चाहता है, वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है। वास्तवमें अनावरणतारूप उत्तम पद ही यथार्थ पद है, यों अनुभवी लोग कहते हैं। (सर्ग ८२)

चूडालाकी सिद्धिका वैभव, गुरूपदेशकी सफलतामें किराटका आख्यान, शिखिध्वजका वैराग्य, चूडालाका उन्हें समझाना, राजा शिखिध्वजका आधी रातके समय राजमहलसे निकलकर चल देना और मन्दराचलके काननमें कुटिया बनाकर निवास करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार निरन्तर योगका अभ्यास करनेवाली वह राजरानी सती-साध्वी चूडाला अणिमा आदि अष्ट सिद्धियोंके गुणोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो गयी। मोह आदि दोषों तथा त्रिविध तापोंका उपशम हो जानेसे उसका हृदय गङ्गाजीकी भाँति निर्मल और शीतल हो गया। वह कभी आकाशमार्गसे गमन करती थी, कभी समुद्रके भीतर द्वीपोंमें पहुँच जाती थी और कभी स्वेच्छानुसार भूतलपर विचरण करती थी। यों बिजलीकी प्रभाके समान चमकीले आभूषणोंसे विभूषित वह सुन्दरी चूडाला आकाशगामिनी होकर यत्र-तत्र घूमने-फिरने लगी। वह मोतियोंमें प्रविष्ट हुए धागेकी भाँति काष्ठ, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि सभी पदार्थोंमें निर्विघ्नतापूर्वक प्रवेश कर जाती थी। इस प्रकार उसने मेरुगिरिके शिखरोंपर, लोकपालोंके नगरोंमें और दिशा एवं आकाशके मध्यमें स्थित सारे भुवनोंमें सुखपूर्वक विचरण किया तथा पशु-पक्षी, भूत-पिशाच आदि एवं नाग, देवता, असुर, विद्याधर, अप्सरा और सिद्धोंके साथ सम्भाषण आदि व्यवहार भी किया।



चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिध्वजको अनेक बार यत्नपूर्वक ज्ञानामृतका उपदेश करती, परंतु उनकी समझमें कुछ भी नहीं आता। जैसे बालकको विद्याके गुणका अनुभव नहीं होता, वैसे ही इतने लंबे कालतक सम्पर्कमें रहनेपर भी राजा शिखिध्वज यह न जान सके कि मेरी पत्नी चूडाला ऐसी गुणशालिनी है। चूडालाने भी अनधिकारी समझकर आत्मशान्तिकी प्राप्तिसे रहित राजाके सामने अपनी अणिमादि सिद्धियोंके ऐश्वर्यको उसी प्रकार प्रकट नहीं किया, जैसे शूद्रको यज्ञक्रिया नहीं दिखलायी जाती।

श्रीरामजीने पूछा—ऐश्वर्यशाली गुरुदेव! इतनी बड़ी सिद्धयोगिनी चूडालाके प्रयत्नसे भी जब राजा शिखिध्वज ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके, तब भला, अन्य साधारण व्यक्तिको ज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो सकती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुकुलभूषण राम! गुरुद्वारा उपदेश प्राप्त करनेका क्रम केवल शास्त्र-मर्यादाका पालन-मात्र है। ज्ञान-प्राप्तिका कारण तो शिष्यकी विश्वासयुक्त विशुद्ध प्रज्ञा ही है; क्योंकि जाननेयोग्य ब्रह्म शास्त्रोंके श्रवणसे अथवा किसी पुण्यकर्मसे नहीं जाना जाता, उसे तो आत्मा ही जानता है।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! यदि ऐसी ही बात है कि गुरूपदेश आत्मज्ञानमें कारण नहीं है तो जगत्में जो यह क्रम प्रचलित है कि आत्मज्ञानका कारण गुरूपदेश है, यह कैसे उचित होगा?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! (मैं इस विषयमें एक दृष्टान्त देता हूँ, सुनो—) विन्ध्याचलके जंगली प्रदेशमें एक किराट रहता था। वह धन-धान्यसम्पन्न होनेपर भी अत्यन्त कृपण था। श्रीराम! एक बार वह उस जंगली मार्गसे कहीं जा रहा था कि उसकी एक कौडी किसी घास-फूससे ढके हुए स्थानमें गिर पड़ी। कृपण-शिरोमणि तो वह था ही; अतः उस एक कौडीको वह तीन दिनोंतक चारों ओर सारे घास-फूसोंको उलटकर खोजनेका प्रयत्न करता रहा। उसके मनमें बारंबार ऐसी कल्पना उठ रही थी कि यदि यह कौड़ी मिल जाती तो क्रमा-नुसार इस एकसे चार, चारसे आठ, आठसे सौ, सौसे हजार और हजारसे कई हजार कौडियाँ हो जातीं। उस समय सहस्रों मनुष्य उस कृपणका उपहास कर रहे थे; परंतु वह उनकी तनिक भी परवा न करके उस वनमें आलस्यरहित होकर रात-दिन खोजता ही रहा। तदनन्तर तीन दिनोंतक अथक परिश्रम करनेके पश्चात् उसे उस जंगलमें एक महान् चिन्तामणि प्राप्त हुई, जो पूर्णिमाके चन्द्रमण्डल-सी आकार-प्रकार एवं प्रकाशवाली थी। उसे



पाकर किराटका हृदय प्रसन्न हो गया और वह आनन्द-पूर्वक घर लौट आया। वह चिन्तामणि जगत्के सम्पूर्ण ऐश्वर्यके समान थी। उसकी प्राप्ति हो जानेसे वह सुख-शान्तिपूर्वक रहने लगा। निष्पाप राम! [illegible] इन्द्रियोंसे अतीत है और शास्त्रोपदेशसे [illegible] वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, इसलिये गुरूपदेशसे [illegible]

प्राप्ति नहीं होती अर्थात् आत्मज्ञानमें उपदेश कारण नहीं है। फिर भी गुरूपदेशके बिना आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो भी नहीं सकती; यह कृपण कौड़ीकी खोज न करता तो चिन्तामणिकी उपलब्धि उसे कैसे होती! इसलिये जैसे चिन्तामणिकी प्राप्तिमें कौड़ीकी खोज कारण है, वैसे ही इस महान् अर्थरूप आत्मतत्त्वकी प्राप्तिमें गुरूपदेश पूर्णतया कारण न होनेपर भी कारणताको प्राप्त है। क्योंकि श्रीराम! पुरुष कार्य तो कुछ और ही करता है और उसे उस कार्यका फल अन्य ही मिलता है। यह बात तीनों लोकोंमें देखी-सुनी जाती है; इसलिये आत्मज्ञानके अनन्तर इस काल्पनिक जगत्‌को अनासक्ति और निष्कामभावसे वहन करना ही श्रेयस्कर है।

राघव! तदनन्तर राजा शिखिध्वज तत्त्वज्ञानरूप परम-पदकी प्राप्तिके बिना वैसे ही अत्यन्त मोहको प्राप्त हो गये, जैसे संतानहीन पुरुष पुत्र-अभावरूपी तमसे अंधा-सा हो जाता है। उनका मन दुःखाग्निसे संतप्त हो उठा। अतः प्रियवर्ग-द्वारा लायी गयी भोग-सामग्रियाँ उन्हें आगकी लपट-सी प्रतीत होने लगीं। वैराग्यके कारण उनका मन उनमें तनिक भी सुखका अनुभव नहीं करता था। उन्हें अब एकान्त प्रदेशोंमें, निर्झर-तटोंपर और गुफाओंमें ही निवास करना वैसे ही अधिक रुचने लगा, जैसे व्याधके बाणप्रहारसे मुक्त हुआ जन्तु एकान्तमें छिपना ही पसंद करता है। रघुनन्दन! राजा शिखिध्वज सान्त्वनापूर्वक अनुनय-विनय करनेवाले एवं समझाने-बुझानेवाले मन्त्रियोंके प्रार्थना करनेपर दिनका सारा काम-काज करते थे। परंतु उनका वैराग्य प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। उनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त थी। वे परिव्राजक-की भाँति रहते थे। इसलिये विशाल विषयभोगों तथा राज्यश्रीका उपभोग करनेमें उनका मन खिन्न हो जाता था। दूसरोंको मान देनेवाले श्रीराम! वे देवकार्यके निमित्त तथा ब्राह्मणों और स्वजनोंके लिये गौ, भूमि और सुवर्ण आदिका खुले हाथों दान करने लगे। वे तप करनेके



हेतु कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंका अनुष्ठान तथा तीर्थों, वनों और आश्रमोंमें भ्रमण करने लगे। इतनेपर भी, उन्हें तनिक-सी भी शोकशून्य स्थिति वैसे ही नहीं प्राप्त हुई, जैसे धनार्थी पुरुषको खानरहित भूमिके खोदनेसे निधिकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार महान् बुद्धिमान् होते हुए भी राजा शिखिध्वज चिन्तारूपी अग्निसे संतप्त होकर सूखते जा रहे थे। तब वे संसाररूपी व्याधिकी ओषधिके विषयमें विचार करने लगे। यों चिन्तापरवश होकर वे दीन हो गये। उन्हें अपना राज्य विष-सा प्रतीत होने लगा। इस प्रकार उनकी बुद्धि विषयोंसे खिन्न हो गयी, अतः बहुमूल्य भोगपदार्थ सामने रखे जानेपर भी वे वैराग्ययुक्त राजा उनकी ओर ताकते भी नहीं थे। इसी स्थितिमें एक दिन चूडाला महलमें बैठी हुई थी, तब राजा उससे मधुर वाणीमें बोले।

शिखिध्वजने कहा—सूक्ष्माङ्गी प्रिये! मैंने बहुत दिनोंतक राज्यका उपभोग किया और विभवपूर्ण पदोंको



भी भोग लिया। अब मुझे वैराग्य हो गया है, अतः मैं वन जाना चाहता हूँ; क्योंकि वनवासी मुनिपर सांसारिक सुख, दुःख, आपत्ति, सम्पत्ति—ये कोई भी अपना अधिकार नहीं जमा सकते। न तो उन्हें देशके विनाशसे मोहपूर्वक दुःख होता है और न संग्राममें प्रजाजनोंका क्षय ही करना-कराना पड़ता है; अतः मैं वनवासी मुनियोंके सुखको राज्य-सुखकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानता हूँ। वैराग्ययुक्त मन जैसा एकान्तमें सुखका अनुभव करता है, वैसा सुख उसे न तो चन्द्रवदनी रमणियोंके मुखमण्डलोंमें मिलता है और न ब्रह्मा एवं इन्द्रके भवनोंमें ही प्राप्त होता है। इसलिये सुन्दरि! मैंने जो यह वनगमनका उत्तम विचार किया है, इसमें बाधा डालना तुम्हारे लिये उचित नहीं है; क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ स्वप्नमें भी पतिकी इच्छाको भङ्ग नहीं करतीं।

चूडाला बोली—नाथ! जैसे वसन्त ऋतुमें पुष्पकी शोभा होती है और शरद् ऋतुमें पुष्प भला मालूम देता है, उसी तरह जिस कार्यके करनेका अवसर प्राप्त हो, उसीका सम्पादन करनेसे उसकी शोभा होती है, ... कालके कार्यमें नहीं। इसलिये जिनके शरीर बुढ़ा... हो गये हैं, उन्हींके लिये वनका आश्रय लेना ... आप जैसे युवकोंके लिये नहीं। इसी कारण ... यह विचार मुझे पसंद नहीं है। प्रियतम! जब ...वस्था आनेपर हम दोनोंके सिरके बाल श्वेत पुष्प... बिल्कुल सफेद हो जायँगे, उस समय हम दो... साथ ही घरसे निकलकर वनको चले चलेंगे। ... राजन्! बिना समयके ही प्रजापालनरूप कर्मका ... कर देनेवाले राजाके राज्यका विनाश हो जाता है ... उसे महान् पापका भागी होना पड़ता है ... अवसरके ही कार्य करनेवाले राजाको प्रजाएँ शो... हैं। इसी प्रकार न करनेयोग्य कार्यसे नौकर स्वामी... स्वामी नौकरको परस्पर मना करते ही हैं।

शिखिध्वजने कहा—कमलनयनी प्रिये! ... अभीष्ट कार्यमें विघ्न मत डालो। अब तुम मुझे ... दूर एकान्त वनमें गया हुआ ही समझो। अनिन्दि... कठोर-से-कठोर अङ्गवाली स्त्रियाँ भी वनवासके ... नहीं हो सकतीं, फिर तुम्हारे अङ्ग तो बहुत कोमल ... तुम अभी नवयुवती हो, अतः तुम्हें तो वनमें न ... चाहिये। वनवास तो पुरुषोंके लिये भी ... कठिन होता है; अतः तुम्हें तो प्रजाका पालन क... इस उत्तम राज्यमें ही रहना चाहिये; क्योंकि ... जानेपर कुटुम्बका भार वहन करना स्त्रीका ...

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! अपनी उस ... प्राणप्रियासे ऐसा कहकर जितेन्द्रिय राजा शि... स्नान करनेके लिये उठकर चल दिये और स्नान कर... अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्योंका सम्पादन किया ... सायंकाल हुआ, तब पुनः संध्याकालीन सम्पूर्ण ... पूरा करके वे अपनी प्रिय पत्नी चूडालाके साथ ... सो गये। तदनन्तर आधी रातके समय जब स... सन्नाटा छा गया, सारी जनता गाढ़ निद्रामें ...

और कोमल बिछावनसे युक्त पलंगपर सोयी हुई चूडाला भी गाढ़ निद्रामें निमग्न हो गयी, तब जिस पलंगके आधे बिस्तरपर पत्नी सोयी हुई थी, उस पलंगसे राजा उठ खड़े हुए और 'हे राजलक्ष्मि! तुम्हें नमस्कार है' यों कहकर अकेले ही अपने राजमहलसे चल पड़े।



चलते-चलते वे महासागरमें प्रवेश करनेवाले नदकी तरह एक भयंकर अरण्यमें जा पहुँचे। पुनः प्रातःकाल होनेपर राजा शिखिध्वज वेगपूर्वक वहाँसे आगे चले और बारह दिनोंमें बहुत-से नगरों, देशों, पर्वतों और नदियोंको लाँघ गये। तत्पश्चात् वे मन्दराचलके तटवर्ती एक काननमें जा पहुँचे, जो मनुष्यके लिये अति दुर्गम था। वहाँसे मनुष्योंकी बस्ती और नगर अत्यन्त दूर पड़ते थे। वहाँ उन्होंने एक चौरस एवं शुद्ध स्थानमें, जो जलसे घिरा हुआ, शीतल, हरी-हरी घासोंसे आच्छादित होनेके कारण श्याम, स्निग्ध तथा फलोंसे लदे हुए वृक्षोंसे सम्पन्न था, मञ्जरीयुक्त लताओंसे बाँधकर अपने लिये एक पर्णशाला बना ली। फिर राजाने अपनी उस कुटियामें बाँसका चिकना डंडा, फलाहारके लिये पात्र, अर्घ्यपात्र, पुष्पपात्र, कमण्डलु, रुद्राक्षकी माला, शीतका निवारण करनेके लिये गुदड़ी, चटाई और मृगचर्म आदि लाकर यथास्थान रख दिये। इनके सिवा और भी जो कोई वस्तु तापस-कर्मोपयोगी प्रतीत हुई, राजाने उसे भी लाकर वहाँ रख लिया। फिर दिनके प्रथम प्रहरमें प्रातःकाल उन्होंने संध्यापूर्वक जप और दूसरे प्रहरमें पुष्प आदिका संचय कर लेनेके बाद स्नान और देवार्चन किया। तत्पश्चात् कुछ जंगली फल, कन्द-मूल और कमलदण्ड आदि खाकर उन जितेन्द्रिय नरेशने जपपरायण हो अकेले ही वह रात बितायी। इस प्रकार मन्दराचलकी तलहटीमें अपने द्वारा बनायी गयी पर्णशालाके भीतर बैठकर जप करते हुए मालव-नरेश शिखिध्वज खेदरहित होकर दिन बिताने लगे। वे अपने पूर्वानुभूत नित्य नूतन राजसी भोगविलासोंका कुछ भी स्मरण नहीं करते थे। भला, जिसके हृदयमें विवेकपूर्वक वैराग्यका उदय हो जायगा, उसके मनका अपहरण राज्यलक्ष्मियाँ कैसे कर सकती हैं! (सर्ग ८३-८४)

सोकर उठी हुई चूडालाके द्वारा राजाकी खोज, वनमें राजाके दर्शन और राजाके भविष्यका विचार करके चूडालाका लौटना, नगरमें आकर राज्य-शासन करना, तदनन्तर कुछ समय बाद राजाको ज्ञानोपदेश देनेके लिये ब्राह्मणकुमारके वेषमें उनके पास जाना, राजाद्वारा उसका सत्कार और परस्पर वार्तालापके प्रसंगमें कुम्भद्वारा कुम्भकी उत्पत्ति, वृद्धि और ब्रह्माजीके साथ उसके समागमका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम! इस प्रकार राजा शिखिध्वज वनमें, एक तापसको जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है, उन पदार्थोंका संग्रह करके कुटियामें रहने लगे। इधर घरपर चूडालाने क्या

किया—अब उसे सुनो। आधी रातके समय जब राजा शिखिध्वज महलसे निकलकर दूर चले गये, तब अकस्मात् चूडालाकी नींद टूटी। वह तत्काल उठकर शय्यापर बैठ गयी और चिन्ताग्रस्त होकर यों विचार करने लगी—

'दुःखकी बात है, जो मेरे पतिदेव राज्यका परित्याग करके घरसे वनको चले गये; अतः अब मेरा यहाँ रहना किस कामका? मैं भी उनके समीप ही जाऊँगी; क्योंकि ब्रह्माने स्त्रियोंके लिये पतिको ही एकमात्र गति निर्धारित किया है।' यों सोच-विचारकर चूडाला पतिका अनुगमन करनेके लिये उठ खड़ी हुई और झरोखेके रास्ते निकलकर आकाशमें जा पहुँची। वहाँ आकाशमण्डलमें स्थित होकर उसने अपने पतिको निर्जन वनमें भटकते देखा। फिर वह उनके भविष्यके विषयमें पूर्णरूपसे विचार करने लगी। राघव! उसने अपने योगबलसे राजाको जैसे, जिस निमित्तसे, जिस देश और कालमें जितने कार्यका जिस रीतिसे सम्पादन तथा जिस प्रकार निर्वाणकी प्राप्ति आदि करनी होगी, उन सभी अवश्यंभावी विषयोंका योगके द्वारा अनुभव किया और फिर उन्हींके अनुकूल आचरण करनेके लिये वह ऐसा सोचकर आकाशसे लौट पड़ी कि दैवका यही निश्चित विधान मालूम पड़ता है कि कुछ कालके बाद ही मैं इनके समीप जाऊँ, अतः अभी मेरा वनमें जाना ठीक नहीं है। इस प्रकार निश्चय करके चूडालाने वहाँसे लौटकर पुनः अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया।

दूसरे दिन उसने ऐसी घोषणा करा दी कि 'किसी विशेष कारण वस महाराज इस समय बाहर गये हुए हैं।' इस प्रकार समस्त पुरवासी जनोंको आश्वासन देकर सुन्दरी चूडाला वहाँ रहने लगी। जैसे धानकी रखवाली करनेवाली स्त्री समयानुसार पके हुए धानके खेतकी रक्षा करती है, वैसे ही वह समतापूर्वक अपने स्वामीकी शासनप्रणालीके अनुसार राज्यकी देख-भाल करने लगी। इस प्रकार वनमें राजा शिखिध्वजके और अपने महलमें चूडालाके क्रमशः दिन, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष बीतने लगे। यों सुन्दरी चूडालाको राजमहलमें और शिखिध्वजको जंगली लताकुञ्जोंमें निवास करते अठारह वर्ष बीत गये।

तदनन्तर बहुत वर्षोंतक उस महागिरिकी तलहटीमें निवास करते हुए राजा शिखिध्वज वृद्धावस्थाको प्राप्त हो गये। इधर चूडाला अपने पतिकी रागादि वासनाओंके परिपाकको लक्ष्य करके उतने कालतक प्रतीक्षा करती रही। जब वनमें रहते हुए जरावस्थासे युक्त राजा शिखिध्वजके बहुत-से वर्ष व्यतीत हो गये, तब पतिके प्रति अपने कर्तव्यकी भावनासे प्रेरित होकर चूडालाके मनमें ऐसा विचार उदय हुआ कि अब मेरे लिये पतिके समीप जानेका समय आ गया है। यों सोचकर वह मन्दराचलकी उपत्यकामें जानेके लिये तैयार हो गयी और रात्रिके समय अन्तःपुरसे निकलकर आकाशमार्गसे उड़ चली। वह वायुमण्डलमें होकर यात्रा कर रही थी। जब वह आकाशके मध्यमें पहुँची, तब उसने बादलोंमें चमकती हुई बिजलियोंका बारंबार अवलोकन किया। उस समय वह मन-ही-मन कहने लगी—'अहो! प्राणियोंका स्वभाव जीवनपर्यन्त शान्त नहीं होता, इसी कारण आज मेरा भी मन उत्कण्ठित हो ही गया। किंतु सखे चित्त! यह तुम्हारा कोई दोष नहीं है; क्योंकि तुम्हारी उत्कण्ठा तो अपने स्वामीके प्रति है न। फिर भी तुम उत्कण्ठासे परिपूर्ण होकर स्थित रहो, तुम्हारे भलीभाँति उत्कण्ठित होनेसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है; क्योंकि मेरे स्वामी तो अब तपस्वी हैं। अतः वे क्षीणकाय एवं वासनाशून्य हो गये होंगे। मैं तो ऐसा समझती हूँ कि उनका मन अब राज्य आदि भोगोंकी ओरसे उपरत हो गया होगा। जैसे वर्षाकालकी क्षुद्र नदी महानदमें मिलकर उसीमें विलीन हो जाती है, वैसे ही उनकी वासनालता महान् आत्मामें एकरूप हो गयी होगी। वे एकात्मा होकर एकान्तमें ही रम रहे होंगे तथा उन वीतरागकी वासनाएँ शान्त हो गयी होंगी।

मेरे विचारमें तो ऐसा आता है कि अब मेरे स्वामीकी स्थिति सूखे वृक्षकी-सी हो गयी होगी। तथापि चित्त! तुम्हें उत्कण्ठित होनेकी क्या आवश्यकता है। मैं स्वयं अपने योगबलसे पतिदेवकी बुद्धिको उद्‌बुद्ध करके उन्हें उत्कण्ठित कर दूँगी और फिर तुम्हारे साथ मिला दूँगी। मैं अपने मुनिस्वरूप स्वामीके इच्छारहित मनको समतायुक्त बनाकर राज्यमें ही नियुक्त करूँगी और फिर हम दोनों चिरकालतक सुखपूर्वक निवास करेंगे। अहो! निश्चय ही चिरकालके पश्चात् मैं इस शुभ मनोरथको प्राप्त करूँगी।

यों सोचकर चूडाला आकाशमार्गसे उड़ती हुई पर्वतों, देशों, मेघों तथा दिग्‌दिगन्तोंको लाँघकर मन्दराचलकी उस



कन्दराके निकट जा पहुँची। वहाँ वह अदृश्यरूपसे आकाशमें ही स्थित रही। फिर वृक्षों और लताओंके स्पन्दनसे गमनागमनको सूचित करनेवाली वायुकी तरह उसने वनके भीतर प्रवेश किया। वहाँ उसने वनके किसी एक प्रदेशमें पर्णशाला बनाकर उसमें बैठे हुए अपने पतिको देखा। जो पहले हार, बाजूबंद, कड़े और कुण्डल आदिसे विभूषित होकर सुमेरुके समान कान्तिमान् दीखते थे, उन्हींको आज चूडालाने कृशकाय, कृष्णवर्ण तथा जीर्ण-शीर्ण पत्तेकी तरह शुष्क शरीरवाला देखा। उनके सिरपर जटाएँ बँध गयी थीं तथा शरीरपर वल्कल-वस्त्र शोभा दे रहा था। शान्त तो वे थे ही; अतः अकेले ही भूमिपर बैठकर पुष्पोंकी माला गूँथ रहे थे। उन्हें देखकर सर्वाङ्गसुन्दरी चूडालाका मन कुछ खिन्न हो गया; फिर वह मन-ही-मन कहने लगी—'अहो! मेरे पतिकी यह कैसी अज्ञानभरी मूर्खता है। इसी मूर्खताके प्रसादसे ही ऐसी दशाएँ आया करती हैं। ये शोभाशाली नरेश मेरे परम प्रिय पति हैं। इनका हृदय गाढ़ मोहसे आहत हो गया है, इसी कारण ये इस दशाको प्राप्त हो गये हैं। अतः अब मैं इन्हें सर्वोत्तम ज्ञान प्रदान करनेके लिये अपने इस रूपका परित्याग करके किसी अन्य रूपसे इनके समीप जाऊँगी; क्योंकि यदि मैं इसी रूपसे जाती हूँ तो 'यह बाला मेरी प्रेयसी प्रिया है' यों समझकर ये मेरे कथनपर भलीभाँति ध्यान नहीं देंगे, इसलिये तपस्वीका वेष धारण करके इनके सामने उपस्थित होकर मैं क्षणभरमें इन्हें प्रबुद्ध कर दूँगी। इस समय मेरे स्वामीकी बुद्धि रागादि वासनाओंके परिपाकसे परिपक्व हो गयी है, अतः अब इनके निर्मल चित्तमें आत्मतत्त्व भलीभाँति प्रकट हो सकता है।' यों मन-ही-मन विचार करके चूडाला थोड़ी देरतक ध्यानमग्न हो गयी। फिर, तत्काल ही जल-तरङ्गकी तरह उसका रूप बदल गया और वह एक ब्राह्मणकुमारके रूपमें परिवर्तित हो गयी। फिर तो वह उसी रूपसे उस जंगलमें उतर पड़ी और अपने पतिदेवके सामने जाकर खड़ी हो गयी। उस समय उसका मुख मन्द मुसकानसे सुशोभित हो रहा था।

उस द्विजपुत्रका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान गौरवर्णका था, कंधेपर शुक्ल यज्ञोपवीत लटक रहा था और

वह दो निर्मल स्वच्छ वस्त्रोंसे आच्छादित था। इस प्रकार वह दूसरे वनसे आया हुआ मूर्तिमान् तप-सा ही प्रतीत होता था। उस शोभाशाली द्विजकुमारको अपने सामने देखकर राजा शिखिध्वजने समझा कि यह कोई देवपुत्र आया हुआ है, अतः वे अपनी खड़ाऊँ छोड़कर तुरंत ही उठ खड़े हुए और बोले—'देवपुत्र ! आपको



नमस्कार है। आइये, इस आसनपर विराजिये।' यों कहकर उन्होंने अपने हाथसे उसके सामने एक पत्तेका आसन रख दिया। तब ब्राह्मणकुमारने भी कहा—'राजर्षे ! आपको प्रणाम है।'

शिखिध्वजने कहा—महाभाग देवपुत्र ! कहाँसे आपका शुभागमन हुआ है ? आज मुझे जो आपका दर्शन प्राप्त हो गया, इससे मैं आजका दिन सफल समझता हूँ। मानद ! आपका कल्याण हो। आपके लिये यह अर्घ्य है, यह पाद्य है, ये पुष्प हैं और यह गुँथी हुई माला है—इन्हें आप ग्रहण करनेकी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप राम ! ऐसा कहकर राजा शिखिध्वजने ब्राह्मणकुमारके वेषमें आयी हुई अपनी उस प्रियतमा पत्नीको शास्त्रविधिके अनुसार अर्घ्य, पाद्य, पुष्प और माला आदि समर्पित किये।

तत्पश्चात् (ब्राह्मणकुमारके वेषमें) चूडाला बोली—सज्जनशिरोमणे ! आपने शान्त मनसे निर्वाण-प्राप्तिके लिये फलकी कामनासे रहित उत्कृष्ट तपका संचय तो कर लिया है न ? क्योंकि सौम्य ! आपने जो धन, धान्य-सम्पन्न राज्यका परित्याग करके महावनका आश्रय लिया है, आपका यह शान्त व्रत तलवारकी धारके समान है।

शिखिध्वजने कहा—भगवन् ! आपके लोकोत्तर चिह्न-स्वरूप सौन्दर्यसे ही ज्ञात हो रहा है कि आप कोई देवता हैं, इसीसे सब कुछ जानते हैं। इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? सौन्दर्यशाली देव ! अभी मेरी प्रियतमा भार्या वर्तमान है। आजकल वह मेरे राज्यका संचालन कर रही है। उसीके सारे अङ्गोंकी तरह आपके अङ्ग लक्षित हो रहे हैं। अभ्यागतका आदर-सत्कार करनेसे अपना जीवन सफल हो जाता है, इसलिये सत्पुरुष अभ्यागत-को देवतासे भी बढ़कर पूज्य मानते हैं। (इसी कारण मैंने आपका आतिथ्य किया है।) निर्मल चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मुखवाले देवपुत्र ! अब मेरे मनमें एक संशय है, उसका आप निवारण कीजिये। वह संशय यह है कि आप कौन हैं ? किसके पुत्र हैं ? और मुझपर कृपा करके कहाँसे और किस लिये यहाँ पधारे हैं ?

ब्राह्मणकुमार बोला—राजन् ! आपके प्रश्नानुसार मैं सारी बातें कहता हूँ, सुनिये। इस जगन्मण्डलमें मुनिवर नारद रहते हैं। उनका हृदय परम विशुद्ध है। उनके शरीरका वर्ण पुण्यलक्ष्मीके कमनीय मुखमें सुशोभित कर्पूर-के तिलकके सदृश गौर है। किसी समय वे देवर्षि मेरुगिरिकी कन्दरामें ध्यानावस्थित थे। उस गुफाके समीप ही उत्ताल तरङ्गोंवाली गङ्गाजी बह रही थीं, जिनका जल मेरुगिरिके सौन्दर्यसे उद्भासित हो रहा था, जिसमें वे

हारकी तरह सुशोभित हो रही थीं। उसी गङ्गा नदीके तटपर एक बार ध्यानसे विरत होनेपर नारद मुनि बैठे थे, तबतक उन्हें कङ्कणोंकी झनकारसे युक्त जलक्रीडाकी कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ी। सुनते ही उनके मनमें कुछ कुतूहल उत्पन्न हो गया और उन्होने यह जानना चाहा कि यह क्या है। फिर तो कौतुकवश चारों ओर दृष्टि दौड़ानेपर उन्हें नदीमें रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओंका दल दिखायी पड़ा, जो जलक्रीडासे निवृत्त होकर बाहर निकल रहा था। भींग जानेके कारण उनके समस्त अङ्ग ऊपरसे नीचेतक दीख रहे थे और वे परस्पर एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित हो रहे थे, जिससे वे एक दूसरीके लिये दर्पण-सी बन गयी थीं। एक ही स्थानपर एकत्रित किये गये चन्द्रमण्डलके कलापुञ्जकी भाँति उस कमनीय नारीदलको देखकर जब सहसा नारदमुनिका चित्त क्षुब्ध हो उठा, तब उनका वीर्य स्खलित हो गया।

तदनन्तर नारदमुनिने अपने मनरूपी उन्मत्त गजराजको विशुद्ध बुद्धिरूपी रस्सेसे विवेकरूपी सुदृढ़ आलानमें बाँध दिया और उस स्खलित हुए वीर्यको, जो प्रलयकालीन अग्निके तापसे पिघले हुए चन्द्रद्रवके सदृश तथा पारद और सुवर्ण आदि शम्भुके दिव्य वीर्यके समान था, अपने पास ही पड़े हुए एक अद्भुत कान्तिमान् स्फटिक कुम्भमें स्थापित कर दिया। फिर उन्होने उस कुम्भको अपने संकल्पजनित दूधसे परिपूर्ण कर दिया, कुछ ही दिनोंमें वह घटस्थित शुभ गर्भ वृद्धिको प्राप्त हो गया। फिर तो जैसे मास चन्द्रमाको तथा वसन्त ऋतु पुष्पोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार समय आनेपर उस घटने एक कमलदल-सदृश नेत्रोंवाले बालकको जन्म दिया। कुम्भसे वह बालक सम्पूर्ण अङ्गोंसे परिपूर्ण होकर निकला था। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो क्षीरसागरसे दूसरा क्षयरहित पूर्ण चन्द्रमा निकला हो। शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान वह कुछ ही दिनोंमें बढ़कर बड़ा हो गया। उसका शरीर अनुपम सौन्दर्यसे युक्त था। जब वह जातकर्म आदि सभी संस्कारोंसे सम्पन्न हो गया, तब मुनिवर नारदने अपना सारा विद्याधन उस बालकमें उसी प्रकार स्थापित कर दिया, जैसे एक पात्रमें रखा हुआ धन दूसरे पात्रमें उँड़ेल दिया जाता है। थोड़े ही दिनोंमें वह सम्पूर्ण वाङ्मयका विशिष्ट ज्ञाता हो गया। इस प्रकार मुनिवर नारदने उसे अपना प्रतिबिम्ब-सा बना दिया।

तदनन्तर नारदजी अपने पुत्रको साथ लेकर ब्रह्मलोकको गये और वहाँ उससे अपने पिता ब्रह्माजीके चरणोंमें अभिवादन करवाया। प्रणाम कर चुकनेके बाद ब्रह्माजीने अपने पौत्रसे परीक्षार्थ वेदादि शास्त्रोंके विषयमें प्रश्न किये और उनका समुचित उत्तर पानेपर उन्होंने उसे पकड़कर अपनी गोदमें बैठा लिया। फिर तो, उन कमलयोनिने उस कुम्भ नामवाले पौत्रको केवल आशीर्वाद देकर सर्वज्ञ तथा ज्ञानका पारगामी विद्वान् बना दिया। साधुशिरोमणे! वह कुम्भ मैं ही हूँ। कुम्भसे उत्पन्न होनेके कारण मेरा ही नाम कुम्भ पड़ा है। मैं नारदमुनिका पुत्र और पद्मजन्मा ब्रह्माका पौत्र हूँ। ब्रह्मलोक ही मेरा घर है। वहीं मैं अपने पिताजीके साथ सुखपूर्वक निवास करता हूँ। चारों वेद मेरे सुहृद् हैं। मैं किसी कार्यवश नहीं, बल्कि कौतुकवश स्वेच्छानुसार सभी लोकोंमें विचरता हूँ। जब मैं भूलोकमें विचरण करता हूँ, उस समय मेरे पैर भूतलपर नहीं पड़ते, धूलिकण अङ्गोंका स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी मलिन नहीं होता। आज मैं आकाशमार्गसे जा रहा था कि सामने आप दिखायी पड़ गये, इसलिये यहाँ चला आया हूँ। वनवासके गुणों तथा तज्जन्य फलोंके ज्ञाता साधो! इस प्रकार अपने अनुभवके अनुसार मैंने सारा-का-सारा वृत्तान्त आपको बतला दिया।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—मुने! महर्षि वसिष्ठके इस प्रकार कहते-कहते वह दिन समाप्त हो गया। जब भगवान् सूर्य अस्ताचलकी ओर जाने लगे, तब वह सभा

विसर्जित हुई और सभी सभासद् मुनिवर वसिष्ठको नमस्कार करके सायंकालीन विधिका सम्पादन करनेके लिये स्नान करने चले गये और रात्रि व्यतीत होनेपर पुनः सूर्योदय होते-होते सभामें जुट गये। (सर्ग ८५-८६)

राजा शिखिध्वजद्वारा कुम्भकी प्रशंसा, कुम्भका ब्रह्माजीके द्वारा किये हुए ज्ञान और कर्मके विवेचनको सुनाना, राजाद्वारा कुम्भका शिष्यत्व-स्वीकार

राजा शिखिध्वजने कहा—देवकुमार ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि जैसे आँधी मेघोंको उड़ाकर पर्वतपर पहुँचा देती है, उसी प्रकार मेरी संचित पुण्यराशिने अप्रकटरूपसे फलदानोन्मुख होकर आपको यहाँ भेजा है। साधो ! आपके वचनोंसे तो मानो अमृत टपक रहा है, अतः आपके साथ आज जो मेरा समागम हो गया, इससे अब मैं धर्मात्माओंकी गणनामें सर्वप्रथम गिना जाऊँगा। प्रभो ! साधु-समागमसे चित्तको जैसी शान्ति उपलब्ध होती है, वैसी शान्ति राज्य-लाभ आदि कोई भी पदार्थ नहीं दे सकते; क्योंकि सत्सङ्ग होनेपर सामान्यरूपसे अपरिमित ब्रह्मानन्दरूप सुख प्रकट होने लगता है, जिससे कल्पनाजनित सुख प्रदान करनेवाले रागादि दोषोंका विचार ही नष्ट हो जाता है।



(देवपुत्रके वेषमें) चूडाला बोली—साधुश्रेष्ठ ! सुनिये इस कथाको। मैंने तो आपके प्रश्नानुसार अपना सारा वृत्तान्त आपको बता दिया। अब आप मुझे अपना परिचय दीजिये—आप कौन हैं ? इस पर्वतपर क्या कर रहे हैं ? आपको अरण्यवास करते कितना समय बीत गया और इससे आप अब कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं ?—यह सब बताइये।

शिखिध्वजने कहा—भगवन् ! आप तो स्वयं ही देवकुमार हैं, अतः लोकवृत्तान्त और परमार्थवृत्तान्तके पूर्ण ज्ञाता हैं। मेरे विषयमें भी आप सब कुछ यथार्थरूपसे जानते ही हैं, फिर, इसके अतिरिक्त मैं और क्या कहूँ। आर्य ! यद्यपि आप मुझे जानते हैं, फिर भी मैं आपसे अपना परिचय संक्षेपमें दे रहा हूँ, सुनिये। मैं शिखिध्वज नामका राजा हूँ और अपने राज्यका परित्याग करके यहाँ चला आया हूँ। मैं संसार-भयसे भीत हो गया हूँ, अतः इस वनमें निवास करता हूँ। तत्त्वज्ञ ! मुझे सबसे बड़ा भय तो इस बातका है कि कहीं संसारमें मेरा पुनर्जन्म न हो जाय। यद्यपि मैं दिग्दिगन्तोंमें भ्रमण कर रहा हूँ और कठोर तप भी कर रहा हूँ, तथापि मुझे अभी वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं हुई है, शास्त्रोक्त प्रक्रियाका समुचित रूपसे सम्पादन करनेपर भी मुझे दुःख-पर-दुःख ही मिलते जा रहे हैं और मेरे लिये अमृत भी विषवत् हो गया है। (भगवन् ! इसका क्या कारण है ?)

(देवपुत्रके रूपमें) चूडाला बोली—साधो ! पहले किसी समय मैंने अपने पितामह ब्रह्माजीसे ऐसा प्रश्न किया था—'प्रभो ! ज्ञान और कर्म—इन दोनोंमें जो एकमात्र श्रेयस्कर हो, उसे मुझे बतानेकी कृपा कीजिये।'

तब ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! ज्ञान और कर्ममें ज्ञान ही परम श्रेयस्कर है; क्योंकि उससे भलीभाँति कैवल्य-स्वरूप परमात्माका साक्षात् अनुभव हो जाता है; परंतु पुत्र! जिन्हें ज्ञान-दृष्टिकी प्राप्ति नहीं हुई है, उनके लिये कर्म ही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जिसके पास रेशमी साल नहीं है, वह क्या साधारण कम्बलको भी छोड़ देता है ? अज्ञानीके सभी कर्म सफल हैं अर्थात् जन्म-मरणरूप फल प्रदान करते हैं; क्योंकि कर्मोंकी सफलतामें प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई हैं; परंतु जो ज्ञानसम्पन्न है, उसके सभी कर्म निष्फल हैं अर्थात् वे जन्म-मरणरूप फल नहीं देते; क्योंकि उसकी सारी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। जैसे ऋतु-परिवर्तनके समय पहली ऋतुके गुणोंका आगामी ऋतुमें विनाश हो जाता है, उसी तरह वासनाका क्षय हो जानेपर कर्मफल भी नष्ट हो जाता है। वत्स ! वास्तवमें वासना कार्यवस्तु है ही नहीं, किंतु जैसे मरुस्थलमें असत्यरूपसे जल प्रतीत होता है, उसी प्रकार वह मूर्खताके कारण अज्ञानीमें अहंकार आदिका रूप धारण करके असत्यरूपसे प्रकट होती है। परंतु 'सर्वं ब्रह्म—सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करनेसे जिसके अज्ञानका नाश हो गया है, उसके मनमें वासना उत्पन्न ही नहीं होती। ठीक उसी तरह, जैसे बुद्धिमान् पुरुषको मरुस्थलमें जलकी भ्रान्ति नहीं होती। अपने भीतरसे वासनामात्रका पूर्णतया परित्याग कर देनेसे जीव जरा-मरणरहित एवं पुनर्जन्मशून्य परमपदको प्राप्त हो जाता है।

(देवपुत्रके रूपमें) चूडाला कहती है—राजर्षे ! इस प्रकार जब वे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ज्ञानको ही परमोत्कृष्ट श्रेय बतलाते हैं, तब आप उस ज्ञानसे रहित क्यों हैं ? भूपाल ! 'इधर कमण्डलु है, इधर दण्डकाष्ठ है, इधर कुशकी चटाई है'—ऐसे अनर्थोंसे परिपूर्ण इस संसारमें क्यों सुख मान रहे हैं ? राजन् ! मैं कौन हूँ ? यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है और किस उपायसे इसकी शान्ति होगी ?—इन प्रश्नोंपर किसलिये आप विचार नहीं करते ? क्यों अज्ञानी बने बैठे हैं ? नरेश ! जो सगुण-निर्गुणरूप परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले हैं, ऐसे महात्माओंके पास जाकर 'बन्धन कैसे हुआ और मोक्षका उपाय क्या है ?' यों प्रश्न करते हुए आप उनके चरणोंकी सेवा क्यों नहीं करते ? यहाँ पर्वतकी कन्दरामें बैठे इस कठोर तपस्यामें आप अपना जीवन क्यों बिता रहे हैं ? जिस युक्तिसे संसार-बन्धनसे मुक्ति मिलती है, वह तो समतापूर्ण दृष्टिवाले महात्माओंके पास जाकर उनसे पूछनेसे, उनकी सेवासे तथा उनके समागमसे ही उपलब्ध होती है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उस देव-रूपिणी कान्ता चूडालाने जब इस प्रकार ज्ञानोपदेश किया, तब राजा शिखिध्वजकी आँखोंसे अश्रुधारा बह चली और वे इस प्रकार बोले।

शिखिध्वजने कहा—देवकुमार ! बहुत कालके पश्चात् आज आपने मुझे प्रबुद्ध कर दिया। अहो ! इतने दिनोंतक साधु समागमका परित्याग करके मैं जो वनमें निवास करता रहा, यह मेरी मूर्खताका परिचायक है। आप जो स्वयं ही यहाँ पधारकर मुझे ज्ञानोपदेश कर रहे हैं, इससे तो मैं समझता हूँ कि निश्चय ही मेरे सम्पूर्ण पापोंका विनाश हो गया। सुमुख ! अब आप ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं और आप ही मेरे मित्र हैं। मैं आपका शिष्य हूँ और आपके चरणोंमें नतमस्तक हूँ, मुझपर कृपा कीजिये। भगवन् ! जिसे आप सर्वोत्तम समझते हों और जिसे जान लेनेपर फिर शोक नहीं करना पड़ता तथा जिसको प्राप्त करके मैं मुक्त हो जाऊँगा, उस परब्रह्म-तत्त्वका मुझे शीघ्र ही उपदेश दीजिये।

(देवपुत्रके रूपमें) चूडाला बोली—राजर्षे! यदि आप मेरे वचनोंको उपादेय मानते हों अर्थात् उन्हें सुननेकी श्रद्धा रखते हों तब तो मैं अपनी जानकारीके अनुसार

उस ब्रह्मका उपदेश करूँगा, अन्यथा कुछ भी नहीं कहूँगा; क्योंकि अश्रद्धालुके सामने कुछ कहना निरर्थक होता है । साथ ही जिनके वचनोंमें श्रोताकी श्रद्धा नहीं होती और जिससे कौतूहलसे प्रश्न किया जाता है, उस वक्ताके वचन निष्फल हो जाते हैं ।

शिखिध्वजने कहा—गुरुदेव ! मैं आपसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ उपदेश देंगे, मैं उसे वेदके विधि-वाक्यकी भाँति निश्चय ही तुरंत ग्रहण कर लूँगा ।

(देवपुत्रके रूपमें) *चूडाला बोली*—राजर्षे ! जैसे छोटा शिशु अपने पिताके वचनको बिना ननु-नच किये प्रमाणबुद्धिसे स्वीकार कर लेता है, वैसे ही आप भी मेरे इन वचनोंको ग्रहण कीजिये । राजन् ! सुनिये, मैं एक ऐसे मनोहर कथानकका वर्णन करूँगा, जो आपके चरित्रके सदृश है । वह चिरकालके पश्चात् उन्नतिको प्राप्त होती हुई मन्दमतियोंकी बुद्धिको उद्बुद्ध करनेवाला है तथा उत्कृष्ट बुद्धिवालोंको शीघ्र ही भवभयसे उबारनेवाला है । (सर्ग ८७)

चिरकालकी तपस्यासे प्राप्त हुई चिन्तामणिका त्याग करके मणिबुद्धिसे काँचको ग्रहण करनेकी कथा तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीका आख्यान

(देवपुत्रके रूपमें) *चूडाला कहती है*—राजन् ! एक श्रीसम्पन्न पुरुष था, जो कलाओंका ज्ञाता, अस्त्र-विद्यामें निपुण और व्यवहार करनेमें भी चतुर था । वह जिन-जिन कार्योंके करनेका संकल्प करता, उन्हें पूरा करके ही छोड़ता था । इतना होनेपर भी उसे परमपदका ज्ञान नहीं था । तब वह अनन्त प्रयत्नोंसे उपलब्ध होनेवाली चिन्तामणिकी प्राप्तिके लिये तपश्चर्यामें प्रवृत्त हुआ । उस दृढ़निश्चयी पुरुषके कुछ कालतक महान् प्रयत्न करनेपर चिन्तामणि प्रकट हुई । भला, उद्योगी पुरुषोंके लिये ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सुलभ नहीं हो सकती, क्योंकि यदि अकिंचन भी कष्टकी परवा न करके अपनी बुद्धिके सहारे कार्यमें प्रवृत्त होकर उद्यम करता है तो उसे भी उस कार्यको निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार उस उत्तम मणिराजके प्राप्त होनेपर वह यह निश्चय नहीं कर सका कि यह चिन्तामणि ही है । तब घोर दुःख और परिश्रमसे उपलब्ध हुई उस चिन्तामणिकी उपेक्षा करके वह अपने विस्मययुक्त मनसे यों विचार करने लगा—'यह चिन्तामणि है या नहीं है, क्योंकि यदि चिन्तामणि होती तो यह मेरे सामने प्रत्यक्ष नहीं होती । मैं इसका स्पर्श करूँ या न करूँ ? कहीं ऐसा न हो कि यह मेरे छूनेसे अदृश्य हो जाय । निश्चय ही इतने ही समयमें उस वास्तविक मणिराजकी प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि शास्त्रोंका कथन है कि उसके लिये जीवनपर्यन्त प्रयत्न करना पड़ता है । भला, मेरी ऐसी उत्कृष्ट भाग्य-सम्पत्ति कहाँ हो सकती है, जो इतने थोड़े कालमें सम्पूर्ण सिद्धियोंको प्रदान करनेवाली उस चिन्तामणिको मैं पा लूँ । मेरी तपस्या तो बहुत थोड़ी है । मैं साधुओंमें एक तुच्छ मनुष्य हूँ और दुर्भाग्यका एकमात्र पात्र हूँ। ऐसी स्थितिमें सिद्धियाँ मेरे निकट कैसे आ सकती हैं ।'

इस प्रकार वह मूर्ख तर्क-वितर्कके हिंडोलेमें झूलता हुआ बहुत देरतक विचार करता रहा । अन्ततोगत्वा उसने उस मणिके ग्रहण करनेका विचार छोड़ दिया; क्योंकि मूर्खताके कारण उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी थी । ऐसा नियम भी है कि जो वस्तु जिसे जिस समय (प्रारब्धके कारण) प्राप्त नहीं होती, वह उसे उस समय पा नहीं सकता । देखो न, उस दुर्बुद्धिने प्राप्त हुई चिन्तामणिकी भी उपेक्षा कर दी । इस प्रकार जब वह तर्क-वितर्क करता ही रह गया, तब वह मणि उसके यहाँसे अन्तर्धान हो गयी, क्योंकि

अवहेलना करनेवालेको सिद्धियाँ उसी प्रकार छोड़ देती हैं, जैसे धनुषसे छोडा हुआ बाण प्रत्यञ्चाका परित्याग कर देता है। सिद्धियाँ जब आती हैं, तब वे सभी अभीष्ट पदार्थोंको देती रहती हैं, परंतु अवहेलना करनेपर जब वे वापस जाने लगती हैं, उस समय वे उस पुरुषकी बुद्धिका विनाश कर डालती हैं।

इस प्रकार उस चिन्तामणिके अदृश्य हो जानेपर वह पुनः उस उत्तम रत्नकी प्राप्तिके लिये यत्न-पूर्वक चेष्टा करने लगा; क्योंकि अटल निश्चयवाले मनुष्य अपने कार्यसे उद्विग्न नहीं होते। कुछ समयके बाद उसे अत्यन्त कान्तिमान् एक काँचका टुकड़ा दिखायी पड़ा। फिर तो, जैसे मोहग्रस्त अज्ञानी पुरुष मिट्टीको सुवर्ण समझने लगता है, उसी प्रकार उस मूर्खने 'यही चिन्तामणि है' यों निश्चय करके उसकी उपादेयता स्वीकार कर ली। उस काँचकी मणिको लेकर उसने सोचा कि अब तो इस चिन्तामणिके प्रभावसे मुझे सारी अभीष्ट वस्तुएँ अनायास ही मिल जायँगी, फिर इन धन-सम्पत्तियोंको लेकर क्या करना है—ऐसा विचारकर उसने अपनी पहली सम्पत्तिका त्याग कर दिया। उसे विश्वास हो गया कि 'अब तो घरसे दूर जाकर इच्छानुसार सम्पत्ति-सम्पन्न होकर मैं सुखपूर्वक जीवन-यापन करूँगा—ऐसी धारणा करके वह मूर्ख निर्जन काननमें चला गया। वहाँ पहुँचनेपर, उसे उस काँच-खण्डसे कुछ मिलना-जुलना तो था ही नहीं, वह भारी विपत्तिमें फँस गया। मूर्खताके कारण जैसे दुःख मनुष्यके सामने आते हैं, वैसे दुःख तो भीषण आपत्तियोंमें फँसनेपर, बुढ़ापेसे तथा मृत्युसे भी नहीं प्राप्त होते। अतः एकमात्र मूर्खता ही सम्पूर्ण दुःखोंकी प्राप्तिमें कारण है।

भूपाल! अब यह दूसरा मनोहर उपाख्यान सुनो। साधो! यह आपके वृत्तान्तके ही अनुरूप है और बुद्धिको परमोत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करनेवाला है। राजन्! विन्ध्यगिरिके किसी वनमें एक हाथी रहता था, जो बड़े-बड़े यूथपतियोंके यूथका भी अधिपति था। उसके दोनों दाँत बहुत सफेद और लंबे थे तथा वज्रकी ज्वालाके समान चमकीले एवं तीक्ष्ण थे। एक बार एक महावतने उसे चारों ओरसे लोहेकी शृङ्खलासे जकड़कर वैसे ही बाँध दिया, जैसे मुनिवर अगस्त्यने विन्ध्याचलको और उपेन्द्रने असुरराज बलिको बाँध दिया था। बँधा तो वह था ही, ऊपरसे उसके गण्डस्थलोंपर शस्त्रोंकी मार भी पड़ रही थी, जिससे वह धैर्यशाली गजराज भीषण यन्त्रणा भोग रहा था। उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी। इस प्रकार लोहेकी जंजीरमें बँधे हुए उस गजराजको जब तीन दिन बीत गये, तब उसे बड़ा खेद हुआ और उस बन्धनको तोड़ डालनेके लिये तैयार होकर उसने चिग्घाड़ना शुरू किया। फिर तो चार ही घड़ीमें घोर प्रयास करके उस हाथीने अपने दोनों दाँतोंसे बन्धनको छिन्न-भिन्न कर दिया। उसका शत्रु महावत दूरसे ही उसकी बन्धन-छेदन-क्रियाको देख रहा था। जब उस हाथीका बन्धन टूट गया, तब वह महावत पहले एक ताड़वृक्षपर चढ़कर वहींसे अंकुशद्वारा उस हाथीको वशमें करनेके लिये उसके सिरको लक्ष्य करके कूद पड़ा; परंतु उसके पैर हाथीके सिरपर नहीं पहुँच सके, जिससे वह घबराकर भूमिपर गिर पड़ा।

राजर्षे! तिर्यग्-योनिमें भी प्रकाशमान एवं विशुद्ध गुणोंसे युक्त साधु-स्वभाववाले जीव देखे जाते हैं, इसीलिये अपने शत्रुभूत महावतको सामने गिरा हुआ देखकर उस गजराजके हृदयमें करुणा उत्पन्न हो गयी। वह सोचने लगा—'यदि मैं इस गिरे हुएको पैरोंसे कुचल दूँ तो इससे मेरा कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होगा।' यों विचारकर हाथीने अपने शत्रुभूत उस महावतके प्राण नहीं लिये। जब वह हाथी वहाँसे जंगलकी ओर चला गया, तब महावत उठ बैठा। उसका शरीर और बुद्धि—दोनों स्वस्थ थे। हाथीके जानेके साथ-ही-साथ

उसकी व्यथा भी दूर हो गयी। इतने ऊँचे ताड़वृक्षकी चोटीसे गिरनेपर भी उसका अङ्ग-भङ्ग नहीं हुआ था। वह पैदल चलनेमें बड़ा उत्साही था। इस प्रकार जब उस हाथीके शत्रु महावतका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ और हाथी उसके हाथसे निकल गया, तब उसे महान् दुःख हुआ। वह पुनः यत्नपूर्वक वनमें झाड़ियोंमें छिपे हुए उस हाथीकी खोज करने लगा। चिरकालके पश्चात् उसे वही गजराज मिला, जो एक जंगलमें वृक्षके नीचे बैठकर विश्राम कर रहा था। तब उस धूर्त महावतने, जहाँ वह हाथी बैठा था, उसके समीप ही हाथीके फँसाने योग्य एक गोलाकार गड्ढा खोदकर तैयार किया और ऊपरसे उसे कोमल लताओंसे ढक दिया।

कुछ ही दिनोंके बाद जब वह हाथी वनमें विहार कर रहा था कि यकायक उसी गड्ढेमें जा गिरा। तब उस महावतने गड्ढेमें गिरे हुए उस हाथीको पुनः सुदृढ़रूपसे बाँध दिया, जो आज भी भूगर्भमें पड़ा दुःख भोग रहा है। यदि वह हाथी अपने सामने गिरे हुए शत्रुको पहले ही मार डाले होता तो आज उसे शत्रु-द्वारा गर्तबन्धनरूप दुःखकी प्राप्ति नहीं हुई होती। जो मनुष्य मूर्खतावश वर्तमान क्रियाओंद्वारा आगामी कालका शोधन नहीं कर लेता, वह विन्ध्यगिरिनिवासी गजराजकी भाँति ही दुःखका भागी होता है। वह हाथी 'मैं शृङ्खलाबन्धनसे मुक्त हो गया हूँ' इतने मात्रसे ही संतुष्ट हो गया; परंतु दूर चले जानेपर भी वह पुनः अज्ञानवश बन्धनमें पड़ गया। भला, मूर्खता कहाँ नहीं बाधा पहुँचाती अर्थात् सर्वत्र बाधा देती ही है। महात्मन्! 'बद्ध हुआ भी मैं बन्धनरहित हूँ' इस प्रकारकी चित्तगत मूर्खताको ही परम बन्धन समझना चाहिये। अतः उससे छुटकारा पानेके लिये परमात्माके सवरूपसे उत्पन्न सम्पूर्ण त्रिलोकीको परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। जिसे इस प्रकारका ज्ञान नहीं है और जो मूर्खतामें स्थित है, उसके लिये वह स्वयं ही सहसा समस्त बन्धनोंका कारण बन जाता है। (सर्ग ८८-८९)

कुम्भद्वारा चिन्तामणि और काँचके आख्यानके तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीके उपाख्यानके रहस्यका वर्णन

राजा शिखिध्वजने कहा—देवपुत्र! आपने चिन्तामणिकी प्राप्ति तथा विन्ध्यगिरिनिवासी गजराजके बन्धन आदिका जो कथाप्रसङ्ग मुझे सुनाया है, उसका अब स्पष्टीकरण कीजिये।

(देवपुत्रके रूपमें) *चूडाला बोली*—राजन्! मैंने आपको जो विचित्र कथा सुनायी थी, उसका रहस्य भी सुनिये। महीपते! उसमें जो वह शास्त्रार्थकुशल किंतु तत्त्वज्ञानमें मूर्ख चिन्तामणिका साधक बतलाया गया है, वह तो आप ही हैं। साधो! अकृत्रिम सर्वस्व-त्यागको चिन्तामणि समझिये, जो सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त करनेवाली है। शुद्ध बुद्धिपूर्वक आप उसीका साधन कर रहे हैं। किंतु निष्पाप राजन्! वास्तविक शुद्ध सर्वत्यागसे ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, कृत्रिम त्यागसे नहीं। यद्यपि आपने स्त्री-पुत्र धन-दौलत और बन्धु-बान्धवोंसहित सम्पूर्ण राज्यका परित्याग कर दिया है और अपने देशसे बहुत दूर आकर इस आश्रममें अपना निवासस्थान बनाया है तथापि आपके इस सर्वस्व-त्यागमें अभी अहंकारका त्याग शेष रह गया है। अभी आपके मनमें ऐसी धारणा बनी हुई है कि यह सर्वस्व-त्याग वह महान् अभ्युदयशाली परमानन्द नहीं है। वह तो इससे भी उत्कृष्ट कोई दूसरी महान् वस्तु है, जो चिरकालकी साधनासे उपलब्ध होती है। ऐसी चिन्ता करनेसे धीरे-धीरे जब आपके संकल्प-प्रदेशमें पर्याप्त वृद्धि हो गयी, तब वह त्याग कहीं अन्यत्र चला

गया। जैसे वायुके स्पन्दनसे युक्त वृक्षका निश्चल रहना असम्भव है, वैसे ही जो थोड़ी-सी भी चिन्ताको अपने हृदयमें स्थान देता है, उसका त्याग कैसे सिद्ध हो सकता है?

राजन्! चिन्ता ही चित्त कहलाती है। संकल्प तो उस चित्तका दूसरा नाम है। भला, उस चिन्ताके स्फुरित रहते हुए वस्तुतः चित्तका त्याग कैसे सम्भव है? साधुशिरोमणे! क्षणभरमें ही त्रिलोकीके आधारभूत चित्तके चिन्ताग्रस्त हो जानेपर निरञ्जन सर्वत्यागकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? आपका प्राप्त किया हुआ चिन्तामणिरूप त्याग, अवहेलना कर देनेसे आपकी सारी उत्कृष्ट निश्चिन्तताको लेकर चला गया। कमललोचन! इस प्रकार सर्वत्यागरूपी चिन्तामणिके चले जानेपर आपने अपने संकल्परूपी नेत्रोंसे देखकर तपरूपी काँचको ही चिन्तामणि समझ लिया। जैसे दृष्टिभ्रम हो जानेपर जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें वास्तविक चन्द्रमाकी भावना हो जाती है, वैसे ही आपने इस दुःखभूत तपस्यामें ही दृढ़ ग्राह्यभावना कर ली है। पहले तो आपने मनको वासनाशून्य करके अनासक्त भावसे सर्वत्यागका उपक्रम किया और पीछे वासनायुक्त होकर अनन्त तपस्याकी क्रिया स्वीकार कर ली। इस क्रियामें तो दुःख-ही-दुःख है। साधो! अब तो आप वर्धमान दुःखोंसे परिपूर्ण राज्यरूपी फंदेसे निकलकर वनवास नामक एक दूसरे सुदृढ़ बन्धनसे बँध गये हैं। इस समय आपको शीत, वात और आतप आदिकी चिन्ता पहलेसे दुगुनी हो गयी है। मैं तो यह समझता हूँ कि वनवासके गुण-दोषकी जानकारी न रखनेवालोंके लिये वनवास बन्धनसे भी अधिक कष्टप्रद हो जाता है। आपको मिला तो है काँचका टुकड़ा, परंतु आप समझ रहे हैं कि मुझे चिन्तामणि मिल गयी। कमललोचन नरेश! इस प्रकार मैंने मणि-प्राप्तिके प्रयत्नकी कथाके सदृश आपके चरित्रको सम्यक्‌रूपसे आपके सामने प्रकट कर दिया। अब आप स्वयं ही अपनी बुद्धिसे उस निर्मल बोध्य वस्तुका विचार कीजिये तथा सर्व त्याग और तपस्या—इन दोनोंमें आपको जो उत्तम प्रतीत हो, उसे हृदयमें धारण करके परिपक्व बनाइये।

राजसिंह! अब आप पूर्ण तत्त्वबोधके लिये विन्ध्यगिरि-निवासी गजेन्द्रके वृत्तान्तकी व्याख्या सुनिये। वह बड़ी ही आश्चर्यजनक है। मैंने विन्ध्याचलके वनमें निवास करनेवाले जिस हाथीका वर्णन किया था, वही इस भूमिपर आप हैं। उसके जो दो श्वेतवर्णके दाँत थे, वे ही आपके वैराग्य और विवेक हैं। हाथीको आक्रान्त करनेमें तत्पर जो वह महावत था; वह आपका अज्ञान है, जो आपको दुःख दे रहा है। राजन्! जैसे अत्यन्त बलशाली हाथीको निर्बल महावत दुःख दे रहा था, उसी प्रकार, यद्यपि आप अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हैं तथापि मूर्खतारूपी दुर्बल महावत आपको एक दुःखसे दूसरे दुःखमें तथा एक भयसे दूसरे भयमें पहुँचा रहा है। जिस वज्र-सदृश सुदृढ़ लोहशृंखलासे वह हाथी बाँधा गया था, वह शृंखला आपका आशापाश है, जिससे आप सिरसे पैरतक बँधे हैं। राजर्षे! आशा लोहकी जंजीरसे भी बढ़कर भयंकर, विशाल और सुदृढ़ होती है; क्योंकि लोह तो काल पाकर पुराना होनेपर नष्ट भी हो जाता है, परंतु आशातृष्णा तो दिनोदिन बढ़ती ही चली जाती है। वहाँ पास ही छिपकर बैठा हुआ जो शत्रु महावत उस हाथीकी ओर देख रहा था, वह महावत आपका अज्ञान* है, जो एकाकी बँधे हुए आपकी ओर क्रीडाके लिये आँख लगाये हुए हैं। साधो! हाथीने जो शत्रुद्वारा किये गये शृंखला-बन्धनको तोड़ डाला था, वह आपके भोग एवं अकण्टक राज्यके त्यागके समान है; क्योंकि शस्त्र और शृंखलाबन्धनका तोड़ डालना तो कदाचित् आसान भी हो सकता है, किंतु मनसे भोगोंकी आशाका निवारण

* यह अज्ञानमें चेतनत्वका आरोप करके कहा गया है।

करना अत्यन्त दुष्कर है । जैसे हाथीद्वारा बन्धन तोड़ दिये जानेपर महावत ऊपरसे गिर पड़ा था, उसी तरह आपके राज्यका परित्याग कर देनेपर अज्ञानका पतन हो गया था । जिस समय आप वनके लिये प्रस्थित हुए थे, उसी समय आपने अज्ञानको क्षत-विक्षत कर दिया था, परंतु घायल होकर सामने पड़े हुए उसका मनस्त्यागरूपी महान् खड्गद्वारा वध नहीं किया । यही कारण है कि वह पुनः उठ खड़ा हुआ और आपके द्वारा की गयी अपनी पराजयका स्मरण करके उसने आपको इस तपःप्रपञ्चरूपी भीषण गड्ढेमें ढकेल दिया । यदि आपने राज्य-त्याग करते समय ही वैसी दुरवस्थामें पड़े हुए अज्ञानका वध कर दिया होता तो वह उसी समय नष्ट हो गया होता, फिर वह आपको तपरूपी गर्तमें नहीं गिरा पाता । राजन् ! हाथीके वैरी उस महावतने जो गोलाकार गड्ढेका निर्माण किया था, वह आपके अज्ञानने तपरूपी सम्पूर्ण दुःखोंका गर्त बनाकर आपको समर्पित किया है । वह गड्ढा जो कोमल लताओंसे आच्छादित किया गया था, वह आपका तपोदुःख ही सत्त्व गुणों तथा सज्जनोंके समागमसे आवृत है । नरेश ! इस प्रकार आज भी आप इस अत्यन्त भयंकर तथा दुःखदायक तपरूपी गर्तमें बँधे हुए पड़े हैं । भूपाल ! आप गज हैं, आशाएँ जंजीर हैं, अज्ञान शत्रुभूत महावत है, उग्र तपस्याका आग्रह ही गर्त है, भूतल विन्ध्यगिरि है । इस प्रकार मैंने आपका वृत्तान्त हाथीके उपाख्यान-द्वारा कह सुनाया, अब आप जैसा करना उचित समझें, वैसा ही कीजिये । (सर्ग ९८-९९)

कुम्भकी बातें सुनकर सर्वत्यागके लिये उद्यत हुए राजा शिखिध्वजद्वारा अपनी सारी उपयोगी वस्तुओंका अग्निमें झोंकना, पुनः देहत्यागके लिये उद्यत हुए राजाको कुम्भद्वारा चित्त-त्यागका उपदेश

(देवपुत्रके रूपमें) चूडालाने कहा—राजर्षे ! चूडाला बड़ी नीतिनिपुण तथा ज्ञेय वस्तुके ज्ञानसे सम्पन्न है, उसने उस समय जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसे आपने क्यों नहीं स्वीकार किया ? वह तत्त्वज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ है तथा जो कुछ कहती और करती है, वह सब सत्य ही होता है; अतः आपको उसके कथनका आदर-पूर्वक पालन करना उचित था । नरेश्वर ! यदि आपने चूडालाके वचनका आदर नहीं किया तो सर्वत्यागका ही पूर्णरूपसे आश्रय क्यों नहीं लिया ?

राजा शिखिध्वज बोले—प्रियवर ! मैंने राज्य छोड़ा, घर छोड़ा, धन-धान्यसम्पन्न देश छोड़ा, पत्नी भी त्याग दी; फिर भी आप कहते हैं सर्वत्याग क्यों नहीं किया—इसका क्या कारण है ?

(देवपुत्रके रूपमें) चूडालाने कहा—राजन् ! धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बन्धु-बान्धव—ये सब आपके तो हैं नहीं; फिर आपका सर्वत्याग हुआ कैसे ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, उसका त्याग तो अभी हुआ ही नहीं । उसका पूर्णरूपसे परित्याग कर देनेपर ही आप सर्वत्यागी शोकरहित हो सकेंगे ।

राजा शिखिध्वज बोले—देव ! अच्छा, यदि आप ऐसा मानते हैं कि यह सारा राजपाट मेरा नहीं है तो पर्वत, वृक्ष और लताओंसे परिपूर्ण यह सम्पूर्ण वन तो मेरा है न ? मैं इसीका परित्याग कर रहा हूँ ।

कुम्भने कहा—राजन् ! यह पर्वतका तट, वन, गर्त, जल और वृक्षके नीचेकी भूमि—ये सब आपके तो हैं नहीं; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सम्पन्न हुआ ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, वह तो अभी बिना त्यागा हुआ ही पड़ा है । उसका पूर्णरूपसे त्याग कर

देनेपर ही आप परम अशोक-पदको प्राप्त कर सकेंगे।

शिखिध्वज बोले—अच्छा, यदि ये वन आदि सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो बावली और चबूतरा आदिसे युक्त यह मेरा आश्रम ही मेरा सर्वस्व है। मैं इसका अभी त्याग किये देता हूँ।

कुम्भने कहा—राजन्! ये जो वृक्ष, बावली (जलाशय), चबूतरा, गुल्म, आश्रम और लताओंकी पंक्तियाँ हैं, इनमेंसे कुछ भी आपका नहीं है; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ? अभी तो आपका सबसे उत्तम भाग पड़ा ही है, आपने उसका त्याग किया ही नहीं। उसका पूर्णरूपसे त्याग कर देनेपर ही आपको उत्कृष्ट अशोक-पद मिल सकेगा।

शिखिध्वज बोले—ठीक है, यदि ये सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो ये पात्र आदि तथा मृगचर्म, दीवाल और कुटीर आदि ही मेरे सर्वस्व हैं। मैं इन्हींको छोड़ रहा हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसा कहकर राजा शिखिध्वजने भाण्ड आदि उन समस्त सामग्रियोंको आश्रमसे निकालकर एक जगह स्थापित किया, फिर सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके अग्नि प्रज्वलित की और उन सभी वस्तुओंको उस आगमें डालकर वे पुनः अपने आसनपर बैठ गये। तत्पश्चात् उन्होंने अक्षमाला तथा मृगचर्मको भी उसी आगमें झोंक दिया और कमण्डलु एक श्रोत्रिय ब्राह्मणको दे दिया; क्योंकि ऐसा नियम है कि अपनी जो उत्तम वस्तु हो, उसे या तो किसी महात्माको दे दे अथवा अग्निमें जला दे। फिर राजाने अपनी कोमल चटाईको भी चित्तशुद्धि तथा चेतन ब्रह्ममें विश्राम प्राप्तिके लिये उसी धधकती आगमें फेंक दिया। फिर कुम्भको सम्बोधित करके वे बोले—'कुम्भ! जो वस्तु त्याज्य है, उसे सदा शीघ्र-से-शीघ्र त्याग देना चाहिये। साधो! मैं निष्क्रिय होनेके लिये अपनी क्रियोपयोगी सारी वस्तुओंका त्याग कर रहा हूँ; क्योंकि अयोग्य वस्तुको कौन ढोता फिरे।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तदनन्तर राजा शिखिध्वजने अपनी सूखी फूसकी कुटियाको, जो अपने अज्ञानी मनके मिथ्याभूत संकल्पद्वारा कल्पित थी, जलाकर भस्म कर दिया। उन मौनी राजाकी बुद्धि समतायुक्त हो गयी थी और मन उद्वेगरहित हो गया था, अतः उन्होंने वहाँ जो कुछ भी सामग्री शेष रह गयी थी, उस सबको क्रमशः जला दिया। यहाँतक कि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी लँगोटी और भोजनपात्र तथा भोजन आदिको भी फूँक दिया। जब सूखी लकड़ीके साथ-साथ वे बर्तन आदि सारे पदार्थ आगमें जल रहे थे, उस समय जिनका देहमात्र शेष रह गया था वे राजा शिखिध्वज रागरहित हो प्रसन्नतापूर्वक बोले।

शिखिध्वजने कहा—देवकुमार! आश्चर्य है, चिरकालके पश्चात् आपने अपने ज्ञानोपदेशद्वारा मुझे प्रबुद्ध कर दिया, जिससे अब मैं वस्तु-विषयक वासनाका परित्याग करके सर्वत्यागी होकर स्थित हूँ तथा केवल, शुद्ध, सुखसे सम्पन्न और ज्ञानवान् हो गया हूँ। जिसमें ममता-सङ्कल्पप्रयुक्त संग्रहक्रम वर्तमान है, ऐसी यह सामग्री किस कामकी। अब तो नाना प्रकारके बन्धनोंके हेतुभूत विषय ज्यों-ज्यों प्रक्षीण होते जा रहे हैं, त्यों त्यों मेरा मन परमानन्दमें निमग्न होता जा रहा है। मुझे शान्ति मिल रही है। मैं परमान्दस्वरूपको प्राप्त हो रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ; अतः अब मैं पूर्ण सुखी हूँ। मेरे सम्पूर्ण बन्धन नष्ट हो गये; क्योंकि मैंने सर्वत्याग कर दिया। देवपुत्र! महान् त्याग करनेके कारण अब दिशाएँ ही मेरे लिये वस्त्र हैं और दिशाएँ ही मेरे लिये घर हैं। यहाँतक कि मैं स्वयं ही दिशाओंके समान स्थित हूँ। अब बताइये और क्या शेष रह गया है?

कुम्भने कहा—महाराज शिखिध्वज! अभी भी आपने सभी वस्तुओंका पूर्णतया त्याग नहीं किया है,

अतः सर्वत्यागजन्य परमानन्दकी प्राप्तिका व्यर्थ ही अभिनय मत कीजिये। अपने सर्वोत्तम भागका तो अभी आपने त्याग किया ही नहीं, जिसके पूर्णतः त्याग करनेसे ही आपको परम अशोक-पदकी प्राप्ति हो सकेगी।

शिखिध्वज बोले—देवतात्मज! अब तो सर्वत्यागमें मेरा यह शरीर, जो रक्त-मांसमय तथा इन्द्रियसे युक्त है, शेष रह गया है; इसलिये अब मैं पुनः उठकर बिना किसी विघ्न-बाधाके इस शरीरको गड्ढेमें गिराकर विनष्ट कर दूँगा और सर्वत्यागी हो जाऊँगा।



कुम्भने कहा—राजन्! इस बेचारे निरपराध शरीरको आप क्यों महान् गर्तमें गिराना चाहते हैं? आप तो उस अज्ञानी बैलके सदृश प्रतीत होते हैं, जो कुपित होनेपर अपने बछड़ेको ही मारता है। यह बेचारा शरीर तो जड़, तुच्छ और मूकात्मा है। सदा ध्यानस्थ-सा बना रहता है। इसने आपका कोई अपराध भी नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही आप इसका त्याग मत कीजिये। जैसे वायुद्वारा स्पन्दन (फलादिका पतन) होनेपर फलवान् वृक्षका कोई अपराध नहीं माना जाता, उसी प्रकार सुख-दुःख आदिका अनुभव-स्थान होनेमात्रसे शरीरको अपराधी नहीं कहा जा सकता। स्पन्दनशील वायु ही बलपूर्वक फल, पल्लव और पुष्पोंको गिराती है, फिर बेचारे साधुस्वभाव वृक्षका क्या अपराध? इसी प्रकार साधु शरीरने साधु आत्माका कौन-सा अपराध किया है? कमललोचन! साथ ही, शरीरका त्याग कर देनेपर भी आपका सर्वत्याग निष्पन्न तो होगा नहीं; फिर व्यर्थ ही आप इस निरपराध शरीरको गड्ढेमें क्यों फेंक रहे हैं? देहका त्याग कर देनेपर सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता। जैसे उन्मत्त गजराज वृक्षको तहस-नहस कर देता है, उसी तरह जिसके द्वारा यह शरीर क्षुब्ध हो उठता है, उस पापात्माका यदि आप पूर्णतया त्याग करते हैं तभी आप महान् त्यागी हैं। भूपते! उस पापात्माका परित्याग कर देनेपर देहादि समस्त पदार्थोंका अपने-आप त्याग हो जाता है। यदि उसका त्याग नहीं हुआ तो गर्तमें गिरकर नष्ट हुआ भी शरीर उस पापात्मासे बारबार उत्पन्न होता रहेगा।

शिखिध्वज बोले—सौन्दर्यशाली देव! इस शरीरका संचालन करनेवाला वह पापात्मा कौन है? जन्मादि कर्मोंका बीज क्या है और किसका त्याग कर देनेपर सर्वत्याग सम्पन्न होता है?

कुम्भने कहा—साधुस्वभाव नरेश! शरीर अथवा राज्यका त्याग कर देनेसे तथा कुटिया जलाकर भस्म कर देनेसे सर्वत्याग सम्पन्न नहीं होता, वह तो सर्वात्मक एवं सर्वव्यापी सकल्पद्वारा सबके एकमात्र कारणभूत सर्वात्माका परित्याग कर देनेपर ही निष्पन्न होगा।

शिखिध्वज बोले—समस्त तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ कुम्भ! अच्छा, यह बतलाइये आपने जिस सर्वदा एवं सर्वथा त्यागने योग्य, सर्वगत एवं सर्वात्मक वस्तुका नाम लिया है, वह सर्वात्मा किसे कहते हैं?

कुम्भने कहा—नरेश्वर! आप चित्तको ही भ्रम,

चित्तको ही पापात्मा पुरुष और चित्तको ही जगज्जाल समझिये । यह चित्त ही 'सर्व'—सर्वात्मा कहलाता है । महीपाल ! जैसे वृक्षका बीज वृक्ष ही होता है, उसी तरह मन ही राज्य, देह और आश्रम आदि समस्त वस्तुओंका बीज है । अतः सबके बीजभूत उस मनका परित्याग कर देनेपर सबका त्याग स्वतः ही सिद्ध हो जाता है । भूपते ! उस मनके त्याग-अत्यागपर ही सर्वत्यागका होना-न-होना निर्भर करता है । राजन् ! ये राज्य अथवा कानन आदि सभी वस्तुएँ चित्तयुक्त अर्थात् चित्तके साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषके लिये केवल दुःखरूप हैं और जिसका चित्तके साथ सम्बन्धविच्छेद हो गया है, उसके लिये ये ही परम सुखस्वरूप हैं । जैसे बीज समय पाकर वृक्षरूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही यह चित्त ही जगत् एवं देहादि आकार धारण करके सबमें व्याप्त हो रहा है । जैसे वायुसे वृक्ष, भूकम्पसे पर्वत और लोहारसे धौंकनी संचालित होती है, उसी प्रकार इस शरीरका संचालक चित्त है । राजन् ! इस चित्तको आप समस्त प्राणियोंके उपभोगोंका, जरा-मरण और जन्म आदि देहधर्मोंका तथा महामुनियोंके धर्मोंका अटूट खजाना ही समझिये । चित्त ही अपने संकल्पद्वारा जगत् तथा देहादि विविध आकार धारण करके सबमें व्याप्त हो रहा है । महीपते ! इस प्रकार चित्त ही सब कुछ बनता है; अतः उसका त्याग हो जानेपर सारी आधि-व्याधियोंकी सीमाका विनाश करनेवाला सर्वत्याग अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है । त्यागके तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ राजन् ! चित्तत्यागको ही सर्वत्याग कहा जाता है । महाबाहो ! उसके सिद्ध हो जानेपर विज्ञानानन्दघन सत्य वस्तुका अनुभव अपने-आप ही अवश्य हो जाता है । चित्तका अभाव हो जानेपर द्वैत अद्वैत आदि सभी भावनाओंका सर्वथा विनाश हो जाता है और एकमात्र शान्त, निर्मल, अनामय परमपद ही शेष रह जाता है । चित्तको इस संसाररूपी धानका खेत कहा जाता है । जैसे जल ही तरङ्गरूपसे दीख पड़ता है, वैसे विचित्र चेष्टाओंवाला चित्त ही अपने संकल्पसे भाव और अभावका आकार धारण करनेवाले पदार्थोंके रूपसे परिणत होता है । भूपते ! चित्तविनाशरूपी सर्वत्यागसे सर्वदा सभी वस्तुएँ वैसे ही सुलभ हो जाती हैं, जैसे साम्राज्यकी प्राप्तिसे सांसारिक पदार्थोंका समस्त अभाव मिट जाता है । जैसे राज्यादि समस्त वस्तुओंका त्याग कर देनेपर अकेले आप अवशेष रह गये हैं, वैसे ही सर्वत्याग कर देनेपर एकमात्र विज्ञानात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है ।

राजन् ! सर्वत्यागरूपी रसका आस्वादन कर लेनेपर जरा-मरण आदि कोई भी भय पुरुषको बाधा नहीं पहुँचा सकता । निर्मल कान्तिवाले महत्त्वकी प्राप्तिका कारण भी सर्वत्याग ही है । अब आप सर्वत्याग करनेके लिये प्रस्तुत हो गये हैं, इसीसे आपको बृहत्तम बुद्धिस्थिरता प्राप्त हो रही है । नरेश्वर ! सर्वत्याग परमानन्दस्वरूप है । इसके अतिरिक्त अन्य सब अत्यन्त भीषण दुःखरूप है—यों विचारपूर्वक स्वीकार करके जैसा आप चाहते हों, उसीके अनुसार आचरण कीजिये । सर्वत्याग करनेवाले पुरुषके पास प्रारब्धानुसार सभी वस्तुएँ अपने-आप उपस्थित होती हैं । सर्वत्यागके अंदर आत्मप्रसादक ज्ञान वर्तमान रहता है । महाराज ! सर्वत्याग सारी सम्पत्तियोंका आश्रयस्थान है, इसीलिये जो कुछ भी ग्रहण नहीं करता, उसे सब कुछ दिया जाता है । भूपते ! सर्वत्याग करके आप शान्त, स्वस्थ, आकाशके समान निर्मल एवं सौम्य आदि जिस रूपमें होना चाहते हैं, उस रूपमें हो जाइये । महीपाल ! पहले आप सारी वस्तुओंका परित्याग कर दीजिये ! तदनन्तर जिस मनसे उनका त्याग किया है, उस मनका भी लय कीजिये; फिर त्याग-अभिमानरूपी मलसे भी रहित होकर जीवन्मुक्तस्वरूप हो जाइये ।

(सर्ग ९२-९३)

चित्तरूपी वृक्षको मूलसहित उखाड़ फेंकनेका उपाय और अविद्यारूप कारणके अभावसे देह आदि कार्यके अभावका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकार चित्तके परित्यागका उपाय कुम्भ ऋषिके बतलानेपर अपने अन्तःकरणमें बार-बार विचार करते हुए वे सौम्य राजा शिखिध्वज यह वचन बोले।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने! जाल जैसे व्याकुल मछलीको पकड़ लेता है, वैसे ही इस चित्तको पकड़ लेना तो मैं जानता हूँ, परंतु इसका त्याग मैं नहीं जानता। भगवन्! सबसे पहले तो आप मुझे चित्तका क्या स्वरूप है, यह ठीक-ठीक कहिये। इसके बाद प्रभो! चित्तके परित्यागकी यथावत् विधि बतलाइये।

कुम्भ बोले—महाराज! वासनाको ही चित्तका स्वरूप समझिये। उसका त्याग अत्यन्त सुगम और सुखसाध्य है। राज्यकी अपेक्षा उस त्यागमें अधिक आनन्द है और पुष्पकी अपेक्षा वह अधिक सुन्दर है। मूर्खके लिये तो चित्तका परित्याग करना उतना ही दुःसाध्य है, जितना कि पामरके लिये साम्राज्य प्राप्त करना।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने! आपके वचनसे चित्तका स्वरूप वासनामय है, यह तो जानता हूँ, परंतु उसका परित्याग वज्रको निगल जानेकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ। यह चित्त संसाररूपी सुगन्धित पुष्प है, दुःखरूपी दाहजनक अग्नि है तथा शरीररूपी यन्त्रका संचालक है। इसका अनायास त्याग जिस तरह होता हो, वह बतलाइये।

कुम्भ बोले—साधो! इस चित्तका सर्वथा नाश ही संसारका भी नाश है, वही चित्तका अच्छी प्रकारसे त्याग है—ऐसा दीर्घदर्शी महात्माओंने कहा है।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने! परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये मैं चित्त-त्यागकी अपेक्षा तो चित्तका विनाश ही विशेष अच्छा समझता हूँ, परंतु सैकड़ों व्याधियोंके मूल इस चित्तका अभाव कैसे होता है?

कुम्भ बोले—राजन्! शाखा, फल और पल्लवोंसे युक्त चित्तरूपी वृक्षका अहंकार ही बीज है। अतः आप उस वृक्षको मूलसहित उखाड़ फेंकिये और अपना हृदय आकाशके सदृश निर्मल बना डालिये।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने! चित्तका मूल क्या है, अङ्कुर क्या है और इसका कौन-सा खेत है, इसकी शाखाएँ और स्कन्ध कौन हैं तथा यह मूलसहित कैसे उखाड़कर फेंक दिया जाता है?

कुम्भ बोले—महामते! यह अहंकार ही इस चित्तरूपी वृक्षका बीज (मूल) है, इसे आप जान लीजिये। परमात्माकी माया ही इस मायामय संसारका खेत है। इसलिये इस चित्तका भी वह परमात्माकी माया ही खेत है। इस प्रथम उत्पन्न मूलसे अनात्म देहमें आत्मविषयक निश्चय (बुद्धि) ही इसका अङ्कुर है। जो निराकार निश्चयात्मक समझ है, वही बुद्धि कही जाती है। इस बुद्धि नामक अङ्कुरकी जो संकल्परूप स्थूलता उत्पन्न होती है, उसका चित्त और मन नाम पड़ा हुआ है। ये इन्द्रियाँ ही इस चित्तरूपी वृक्षकी दूरतक फैली हुई लंबी विस्तृत शाखाएँ हैं और जन्म-मरण आदि हजारों अनर्थोंके कारण शुभ और अशुभरूप फलोंसे परिपूर्ण जो तुच्छ विषयभोग हैं, वे इसकी बड़ी-बड़ी अवान्तर शाखाएँ हैं। इस तरहके इस कठिन चित्तरूपी वृक्षकी शाखाओंका (विषयभोगोंमें आसक्तिका) प्रयत्नसे प्रतिक्षण छेदन करते हुए आप इसके अहंकाररूप मूलको उखाड़ फेंक देनेवाले सच्चिदानन्द परमात्माके चिन्तनमें पूर्ण प्रयत्न कीजिये।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने! चित्तरूपी वृक्षके

शाखा आदिका छेदन करता हुआ मैं उसके मूलको अशेषरूपसे किस तरह उखाड़ फेंकूँ ?

कुम्भ बोले—राजन्! फल और स्पन्दन आदिसे युक्त विविध वासनाएँ चित्तरूपी वृक्षकी शाखाएँ हैं। तीव्र विवेक-वैराग्यके द्वारा वे वासनारूपी शाखाएँ नष्ट हो जाती हैं; क्योंकि जिसका मन किसी विषयमें आसक्त नहीं है, जो मौनी और तर्क-वितर्कसे रहित है तथा जो न्यायसे प्राप्त हुए कार्यका शीघ्र सम्पादन कर लेता है, उस पुरुषका चित्त नष्ट हो जाता है। जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे चित्तरूपी वृक्षकी शाखाओंको काटता रहता है, वह मूलका भी उच्छेद करनेमें समर्थ हो जाता है। चित्तवृक्षकी शाखाओंका छेदन करना तो गौण है और मूलका छेदन करना प्रधान है, इसलिये आप अहंकाररूप मूलका उच्छेद करनेमें तत्पर हो जाइये। महाबुद्धे! मुख्यरूपसे इस चित्तरूपी वृक्षको मूलसहित जला डालिये। ऐसा करनेपर अचित्तता हो जायगी।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने! अहंभावात्मक चित्त-रूपी वृक्षके बीज (मूल) को जलानेमें कौन-सी अग्नि समर्थ होगी?

कुम्भ बोले—राजन्! 'मैं कौन हूँ' इस विषयका विवेक-विचारपूर्वक यथार्थ ज्ञान ही चित्तरूपी वृक्षके मूलको जलानेकी अग्नि कही गयी है।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने! इस विषयमें मैंने अनेक बार अपनी बुद्धिसे अच्छी तरह विचार कर लिया है—मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथ्वी और उसके अन्तर्गत वनमण्डलादिसे मण्डित जगत् ही हूँ। जड होनेके कारण पर्वतका तट, विपिन, पत्र, स्पन्दन आदि और देहादि मैं नहीं हूँ तथा मास, हड्डी और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ। मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ और न ज्ञानेन्द्रिय हूँ। जड होनेके कारण मन-बुद्धि भी मैं नहीं हूँ। जैसे नेत्रदोषसे आकाशमें प्रतीत होनेवाला वृक्ष आकाशसे भिन्न नहीं है; वैसे ही परमात्माके संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मासे भिन्न नहीं हैं, परमात्माके ही स्वरूप हैं। भगवन्! इस तरह अहंकाररूपी मलका परिमार्जन जानता हुआ भी मैं अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जान सका हूँ। इसलिये मैं रात-दिन चिन्तासे जल रहा हूँ। इस चित्तरूपी वृक्षके बीज अहंकाररूप मलका त्याग करना मैं नहीं जानता हूँ; क्योंकि बार-बार त्याग करनेपर भी मैं उससे छुटकारा नहीं पा सका हूँ। मुने! शरीर आदिमें अहंताभिमानरूप जो दोष है उसका कारण शरीर आदिका परिज्ञान ही है, यह मैं जानता हूँ। मुनीश्वर! वह जिस उपायसे शान्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिये। यह अहंभाव जीवात्माको विषयोंकी ओर आकृष्ट करता है, जिससे दु:ख ही प्राप्त होता है। इसलिये उस दुःखकी शान्तिके लिये विषयभोगरूपी दृश्यवर्गका जिस उपायसे अभाव होता हो, वह मुझसे कहिये। मुने! जिस पदार्थका प्रत्यक्षात्मक कोई एक स्वरूप उपलब्ध हो रहा है, वह असत्-स्वरूप कैसे है? हाथ, पैर आदिसे संयुक्त तथा क्रिया-फलरूप विलास आदिसे समन्वित हमलोगोंसे सदा अनुभूत होनेवाला यह शरीर मिथ्या कैसे है?

कुम्भने कहा—भूमिपाल! इस संसारमें वास्तवमें जिस कार्यका कारण विद्यमान नहीं है, वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता, फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है। बिना कारणके यह शरीररूपी कार्य नहीं रह सकता। जिस द्रव्यका बीज नहीं है, उसकी उत्पत्ति कहाँ कभी होती है? अर्थात् कभी नहीं। बिना कारणके जो कार्य सामने सत्की भाँति प्रतीत होता है उसे मृगतृष्णाजलके सदृश, देखनेवाले मनुष्यके भ्रमसे उत्पन्न (मिथ्या) समझिये। मिथ्या भ्रमसे विद्यमान शरीर आदिको आप अविद्यमान ही जानिये; क्योंकि अत्यधिक यत्नशील मनुष्यको भी यह मृगतृष्णा-जल प्राप्त नहीं होता। राजन्! शरीर आदि अस्थिपञ्जररूपी यह कार्य

बिना कारणके ही अनुभूत हो रहा है । इसलिये वास्तवमें किसीसे उत्पन्न न होनेके कारण इसे अविद्यमान ही जानिये ।

राजा शिखिध्वज बोले—मुनीश्वर ! हाथ, पैर आदिसे युक्त प्रतिदिन दिखायी देनेवाले इस शरीरका भला पिता कारण कैसे नहीं है ?

कुम्भने कहा—राजन् ! कारणरूप पिताका भी अभाव होनेसे वास्तवमें पिता भी कारण नहीं है । जो पदार्थ असत्‌से उत्पन्न होता है, वह असत् ही है । कार्यभूत पदार्थोंका कारण बीज कहा जाता है । इसलिये जिस कार्यका कारण नहीं है, वह कार्य भी कारणरूप बीजका अभाव रहनेसे नहीं है । मनुष्यको जो जगत्‌का भान होता है वह तो बिल्कुल विभ्रम है । अतएव ही जो वस्तु बीजरूप कारणसे रहित है, वह है ही नहीं । अतः उसका जो मनुष्यको ज्ञान होता है, वह नेत्र-दोषसे दीखनेवाले दो चन्द्रमा, मरुभूमिमें जल और गन्धर्वनगरके समान बुद्धिका भ्रम ही है—मिथ्या है ।

(सर्ग ९४)

जगत्‌के अत्यन्ताभावका, राजा शिखिध्वजको परम शान्तिकी प्राप्तिका तथा जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन

राजा शिखिध्वजने पूछा—मुने ! ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब-पर्यन्त जो कुछ यह संसार भासित होता है वह यदि भ्रमरूप ही है तो फिर वह दुःखदायी कैसे है ?

कुम्भ बोले—राजन् ! वास्तवमें पितामहकी भी सत्ता नहीं है, फिर उनके द्वारा निर्मित प्रपञ्चकी सत्ता हो ही कैसे सकती है । जो वस्तु असत् वस्तुसे सिद्ध की जाती हो, वह त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं हो सकती । यह जो भूत-सृष्टि दिखायी पड़ती है, वह मृगतृष्णाजलके सदृश मिथ्या हो उदित हुई है, इसलिये शुक्तिसे रजत-ज्ञानके सदृश विचारसे ही उसका विलय हो जाता है । कारणका अस्तित्व न होनेसे कार्यकी सत्ता हो ही नहीं सकती । जो असत् कारणसे असत् कार्यकी उत्पत्ति प्रतीत होती है, उसका स्वरूप मिथ्याज्ञानके अतिरिक्त और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता । मिथ्याज्ञानके कारण दिखायी पड़नेवाला पदार्थ किसी कालमें भी अस्तित्व नहीं रख सकता, क्या कहीं किसीने मृगतृष्णा-जलसे घड़े भरे हैं ?

राजा शिखिध्वजने कहा—मुनिवर ! अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, आकाशकी तरह निराकार, अविनाशी, शान्त, परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके आदिरचयिता ब्रह्माका कारण क्यों नहीं है ?

कुम्भ बोले—राजन् ! वास्तवमें शुद्ध निर्विकार अद्वितीय ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है; क्योंकि निर्विकार होनेसे उसमें कारणत्व और कार्यत्वका अभाव है । इसलिये वस्तुतः ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है । उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है । वह तर्कका विषय नहीं है, अतः वह अविज्ञेय है । जो अनन्त, अविनाशी, शान्त, विकार-शून्य और कल्याणरूप है, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस तरह, किसका, किनसे और किस कारण होगा ? अतः यह जगत् वास्तवमें किसीसे उत्पन्न नहीं है और न इसकी सत्ता ही है । इसलिये आप न कर्ता हैं और न भोक्ता हैं; किंतु सब कुछ शान्त, अजन्मा, एकमात्र ब्रह्म ही है । वास्तवमें कारणकी सत्ता ही नहीं है । इसलिये यह जगत् किसीका भी कार्य नहीं है, क्योंकि कारणका स्वरूप न रहनेसे जो कार्यरूप [illegible] है, वह केवल भ्रमसे ही है ; [illegible] इस सृष्टिका तीनों कालोंमें अभाव ही है ।

जगत् जब किसी भी कारणका कार्य नहीं है, तब अनायास समस्त पदार्थोंका मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। पदार्थोंका मिथ्यात्व सिद्ध हो जानेपर फिर ज्ञान किसका और जब ज्ञानका ही अभाव सिद्ध हो गया, तब अहंकारका कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिये राजन्! आप शुद्ध मुक्त ही हैं। फिर बन्धन और मोक्षकी बात ही क्या है!

राजा शिखिध्वजने कहा—भगवन्! मैं वास्तविक तत्त्वको जान गया। आपने बहुत ही उत्तम और युक्तियुक्त कहा है। मैं यह भी समझ गया कि कारणका अभाव होनेसे ब्रह्म भी जगत्का कर्ता नहीं है। अतः कर्ताके अभावसे जगत्का अभाव है और जगत्के अभावसे पदार्थका अभाव है। इससे उसके बीज चित्त आदिका भी अभाव है और इसीसे अहंता आदिकी भी सत्ता नहीं है। इस प्रकारकी स्थिति होनेपर मैं विशुद्ध ही हूँ, सर्वज्ञ हूँ और कल्याणस्वरूप हूँ; क्योंकि परमात्मासे भिन्न दृश्य विषय कुछ है ही नहीं, यह आपने मुझे समझा दिया। इसलिये सब पदार्थोंका स्वरूप जान लेनेपर 'अहम्' आदिसे लेकर अन्ततक जितने दृश्य पदार्थ हैं, वे सब असद्रूप ही भासते हैं; इसलिये मैं आकाशकी भाँति शान्त हुआ समभावसे नित्य स्थित हूँ। अहो! देश, काल, कला एवं क्रियाओंमें युक्त यह जो जगत्के पदार्थोंकी नाना दृष्टि थी, वह दीर्घकालके अनन्तर शान्त हो गयी अर्थात् मुझे दृश्य जगत्के अभावका ज्ञान हो गया। अब केवल अविनाशी शान्त ब्रह्म ही स्थित है। अब मैं शान्तिमय मुक्तस्वरूप और परिपूर्ण हूँ। मैं क्रिया, उत्पत्ति और विनाशसे रहित हूँ। मैं अतिशय शुभ, कल्याणस्वरूप विशुद्ध परमात्मस्वरूप हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! राजा शिखिध्वज पूर्वोक्त रीतिसे परब्रह्ममें विश्राम पाकर दो घड़ीतक वायुरहित स्थानमें दीपशिखाकी तरह निश्चल तथा शान्तचित्त हो गये। फिर जब राजा शिखिध्वज निर्विकल्प समाधिमें स्थित थे, तब अपनी सहज लीला-भरी वाणीसे कुम्भने उन्हें तत्काल जगाया।

कुम्भने कहा—राजन्! अब आप अज्ञानरूपी निद्रासे जाग गये हैं और कल्याणरूप होकर स्थित हैं। प्रिय! जब परमात्माका एक बार स्पष्टरूपसे अनुभव हो जाता है, तब उसके लिये समस्त अनिष्टकारक पदार्थोंका अभाव हो जाता है। अतः अब आप समस्त कल्पना-रूपी दोषोंसे रहित हो जीवन्मुक्त बन गये हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जब मुनिश्रेष्ठ उस कुम्भने राजा शिखिध्वजको इस तरह समझाया, तब वे ज्ञानी हो गये और महामोहसे रहित हो शोभा पाने लगे।

(*तब*) *कुम्भने कहा*—महाराज! मैंने पहले जिस आत्मतत्त्वका उपदेश दिया था, उसे ग्रहणकर अज्ञानरूपी आवरणसे मुक्त हो जानेके कारण आप देदीप्यमान होकर खूब शोभा पा रहे हैं। अब आपको जाननेके लिये जो यह कुछ बच गया है, उसे सुनिये। राजन्! यह जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम नानाविध आकार-प्रकारसे भरा हुआ जगत् दिखायी पड़ता है, वह सब कल्पकी समाप्तिमें विनष्ट हो जाता है। तदनन्तर जब महाकल्पकी लीला समाप्त हो जाती है, तब एकमात्र प्रसन्न, गम्भीर, सर्वव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। वह परमात्मा केवल चिन्मय, विशुद्ध, शान्त, परम अनन्त, सम्पूर्ण कल्पनाओं-से रहित और परम दिव्य ज्ञानस्वरूप है। वह तर्करहित, अविज्ञेय, समस्वरूप, कल्याणमय, निन्दारहित, ज्ञानसे परिपूर्ण एवं निरोग ब्रह्मस्वरूप है। इसलिये राजन्! परमात्मासे भिन्न कोई भी दूसरी कल्पना इस संसारमें है ही नहीं। आपको जो निर्मल परमात्मतत्त्व ज्ञात हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी ब्रह्म है। सम्पूर्ण आकार-प्रकारोंसे युक्त हो प्रकट हुआ-सा वह सर्वस्वरूप होकर सदा ही स्थित रहता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे

अगम्य होनेके कारण वह अनिर्वचनीय, अति उत्तम और विलक्षण पदार्थ है। वह सर्वस्वरूप परमात्मा सबका आत्मा है। वह अति सूक्ष्म, शुद्ध तथा अनुभवस्वरूप है। वह वास्तवमें न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। वह सत्-चित्-आनन्दमय परमात्मा अविनाशी, अगम्य तथा स्वयं अनुभवस्वरूप है। यह जगत् यथार्थरूपसे जान लिये जानेपर परम कल्याणकारक हो जाता है; क्योंकि यह परमात्माके संकल्पसे उत्पन्न होनेके कारण परमात्माका स्वरूप ही है। किंतु यदि जगत् यथार्थरूपसे न जाना गया तो वह भयंकर दुःख देनेवाला और अकल्याणकारक होता है। जैसे अग्नि चित्र-विचित्र रूपसे आविर्भूत हुई भी वास्तवमें वह अपने ही स्वरूपसे रहती है, वैसे ही संकल्पसे अन्यान्य रूपोंमें आविर्भूत हुई भी ब्रह्मसत्ता अपने यथार्थ ब्रह्मरूपसे ही स्थित रहती है। वास्तवमें जगत्का कोई भी कारण नहीं है; अतः इसका तीनों कालोंमें अत्यन्त अभाव है। ब्रह्म ही जगत्के रूपमें प्रतीत होता है।

कुम्भने कहा—महाराज! अपनी ही सत्तामें स्थित ब्रह्म वास्तवमें तो न किसीका उपादान कारण है और न किसीका निमित्त कारण है। वह केवल विशुद्ध अनुभवरूप है। अनुभवरूप उससे भिन्न दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है। जो कुछ अहंता आदि जगत् प्रतीत होता है वह भी ब्रह्मका संकल्प होनेके कारण अनन्त ब्रह्मरूप ही है।

राजा शिखिध्वज बोले—मुनिवर! मैं मानता हूँ कि कल्याणमय परमात्मामें वास्तवमें अहंतादि जगत् नहीं है; परंतु उसमें जो जगत्का ज्ञान होता है, वह किस कारणसे होता है, इसे शीघ्र मुझसे कहिये।

कुम्भने कहा—साधो! असीम जगत्का विस्तार करनेवाला जो अनादि-अनन्त ब्रह्म है, वही अपने संकल्पसे जगत् और जगत्के ज्ञानके सदृश बनकर अवस्थित है; इसीलिये वही जगत्-रूपसे कहा जाता है। जिस प्रकार जलमें रस सार वस्तु है, उसी प्रकार सब पदार्थोंकी सार वस्तु परमात्मा ही है। यदि शान्त ब्रह्मरूप पद जगत्का कारण माना जाय तो फिर निर्विकार, अगम्य, अतर्क्य आदि शब्दोंसे जो इसका वर्णन किया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा? इन सब युक्तियोंसे यह निश्चित होता है कि वास्तवमें यह ब्रह्म किसी भी कार्यका न निमित्त कारण है और न उपादान कारण ही है, अतः इस सृष्टिका अस्तित्व किसी कालमें है ही नहीं। चिन्मय परमात्माके अतिरिक्त इस सृष्टिकी दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं, जिससे कि उसका वर्णन किया जाय। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जड दृश्य जगत्की सत्ता है ही नहीं। जो भी कुछ यह दीखता है, वह एक मात्र चैतन्य-घन ही अपने संकल्पसे स्फुरित हो रहा है। वही अहंभाव, जगत् आदि शब्द और [illegible] अर्थोंसे युक्त-सा होकर भासता है। घट, पट आदि जागतिक वस्तु चिन्मय नहीं हो सकती, क्योंकि जागतिक वस्तुओंका नाश अवश्यम्भावी है। साधो! 'यह चेतन है और यह जड है'—इस प्रकारकी जो कल्पना होती है वह केवल चित्तकी चञ्चलता है, इसमें कुछ भी [illegible] नहीं है। संसारमें केवल चैतन्यतत्त्व [illegible] ही [illegible] है। द्वित्व और एकत्व कुछ नहीं है, केवल कल्पना-मात्र है। राजन्! इसलिये जगद्रूप पदार्थोंकी सत्ता-का अभाव होनेपर उनकी भावनाका [illegible] सिद्ध हो जाती है। सम्पूर्ण भावनाओंका [illegible] तो आपकी अहंभावनाका अस्तित्व कैसे रह सकता है? अहंभावका अभाव होनेपर फिर ऐसा कुछ भी [illegible] है जिसे कि चित्त कहा जाय। इसलिये [illegible] अहंरूप है। शब्दोंसे भिन्न [illegible] पदार्थ है ही नहीं और [illegible] दृश्यका भेद भी नहीं है। [illegible] मनसे मुक्त और मौनी हो जाइये [illegible]

सच्चिदानन्दमय हो जाते हैं। शुद्ध चैतन्यदृष्टिके सम्बन्धसे जड पदार्थकी कदापि सिद्धि न होनेके कारण, जड पदार्थोंकी भावनाका भी अभाव हो जानेसे भावना-जनित जीवरूप नहीं रहता, केवल स्वयं परमात्मा ही रहता है। 'सब ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्यादि वेदार्थ-भावनासे जनित ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारा केवल चिन्मय ब्रह्मके ही प्रकाशित हो जानेपर फिर शोक कहाँ? फिर तो, शोकका अत्यन्त अभाव हो जाता है। समस्त द्वैतका बाध हो जानेपर एक ब्रह्मरूप ही रह जाता है। वह ब्रह्म विशुद्ध, कारणशून्य, शाश्वत एवं आदि और मध्यसे रहित है।

(सर्ग ९५–९७)

चित्त और संसारके अत्यन्त अभावका तथा परमात्माके भावका निरूपण

कुम्भ कहते हैं—राजन्! चित्त नामका पदार्थ किसी कालमें, किसी देशमें या किसी वस्तुरूपमें कहीं है ही नहीं। यह जो चित्त-सा प्रतीत हो रहा है, वह अविनाशी ब्रह्म ही है। सम्पूर्ण चित्त आदि प्रपञ्च अज्ञानात्मक हैं, इसलिये उसका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि जो अज्ञानात्मक वस्तु रहती है, उसका ज्ञानसे बाध हो जाता है। अतः अधिष्ठान ब्रह्ममें अहम्, त्वम्, तत् इत्यादि कल्पनाएँ कैसे रह सकती हैं? जो कुछ भी यह प्रकट जगत् है, वह कुछ है ही नहीं। सब ब्रह्म ही है; अतः कौन किसको कैसे जाने? प्राकृत प्रलयके अनन्तर सृष्टिके आरम्भमें जो यह चित्त आदि जगत् उत्पन्न प्रतीत होता है, वह वास्तवमें है ही नहीं। मैंने 'यह चित्त-सा मालूम पड़ता है', इत्यादि रूपसे जो कहीं-कहीं निर्देश किया है, वह केवल आपके बोधके लिये ही किया है। उपादान आदि कारणरूपसे जो प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है और जितने भावरूपसे प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है, इसलिये इस असत् जगत्का ब्रह्म कारण नहीं है; क्योंकि अज्ञानजनित भ्रान्तिरूप ही जगत् है, इसलिये उसकी किसी कालमें सत्ता ही नहीं है। अतः यह जो दिखायी पड़ता है, वह भासनात्मक ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। जो देव नाम और रूपसे रहित है, उस ब्रह्मरूप देवके विषयमें यह कहना कि यह देव इस मिथ्या जगत्का निर्माण करता है, वास्तवमें न तो युक्तिसंगत है, न सत्य है और न अद्वैतवादियोंका वैसा अनुभव ही है। राजन्! इसी प्रयोगसे चित्तका अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जब जगत्का ही अस्तित्व नहीं है, तब जगत्के अन्तर्गत चित्तका अस्तित्व कैसे हो सकता है? चित्त तो वासनामात्ररूप है। वासना तब होती है, जब कि वासनाका विषय रहे। परंतु वासनाका विषय जो जगत् है, वह तो स्वयं असत् है, अतः चित्तका अस्तित्व ही कहाँ है? वास्तवमें तो कारणके अभावसे ही यह दृश्य वासनाका विषय जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है; फिर चित्त आया ही कहाँसे?

अतः केवल चिन्मय विशुद्ध विज्ञानस्वरूप परमात्मा ही अपने संकल्पसे स्फुरित हो रहा है, इसलिये उससे भिन्न जगत्की सत्ता कहाँसे आयी? समस्त अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला अहम्, त्वम्, जगत् इत्यादि जो यह अनुभव होता है, वह वास्तविक नहीं है; स्वप्नके सदृश मिथ्या ही है। वासनाके विषय जगत्की असत्ता होनेसे वासनाकी सत्ता नहीं है, इसलिये फिर वासनात्मक चित्त ही कैसा, कहाँ, किससे और किस तरहसे हो सकता है? जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे रहित हैं, वे अज्ञानी ही चित्त और इस दृश्य जगत्को सत्य समझते हैं। वस्तुतः चित्त असत् है, उसका

कोई आकार नहीं है और न वह उत्पन्न ही हुआ है। क्योंकि लोक, शास्त्र और अनुभवसे दृश्य वस्तुमें अनादिता, अजता और स्थिरता सम्भव नहीं है। जिसकी बुद्धिमें लोक, शास्त्र और वेद प्रमाण नहीं हैं, वह अत्यन्त मूर्ख है। अत. सज्जनको उसके कथनका कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिये। वास्तवमें शास्त्रीय बोधसे सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है। न तो कहीं जगत् आदिका ज्ञान है, न कहीं चित्तका ही भाव है और न अभाव है तथा न कहीं द्वैत है, न कहीं अद्वैत ही है। यह समस्त जगत् आश्रयरहित, परम शान्त, अजन्मा अनादि परमात्मस्वरूप ही है। किन्तु यह जो अज्ञानियो-द्वारा देखे गये रूपसे युक्त जगत् है, वह न नाना है और न अनाना ही है। अतः आप मौन व्रत धारण करके काठके सदृश स्थित रहिये।

राजा शिखिध्वजने कहा—महामुने! आपकी दयासे मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे ब्रह्मके स्वरूपकी स्मृति प्राप्त हो गयी, मेरा संदेह दूर हो गया। मेरी बुद्धि परम विश्रामको प्राप्त हो गयी, अब मैं आत्मवान् होकर स्थित हूँ। अब मैंने ज्ञेय वस्तु परमात्माके स्वरूपका अनुभव कर लिया, मैं महामौनी हो गया, मायारूपी महासमुद्रको पार कर गया; अब मैं शान्त हूँ, मैं अहंकारस्वरूप नहीं हूँ, आत्मज्ञानी बनकर सम्पूर्ण विकारोंसे रहित होकर अवस्थित हूँ। अहो! अति चिरकालतक मैं भवसागरमें परिभ्रमण करता रहा। परंतु अब मैं क्षोभरहित अक्षय परमपदको प्राप्त हो गया हूँ। मुने! इस तरह अवस्थित होनेपर मूर्खोंके माने हुए अहंतासहित ये भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों जगत् नहीं हैं। जो कुछ यह भासित हो रहा है, उसे ब्रह्मका संकल्प होनेके कारण मैं ब्रह्मरूप ही समझता हूँ।

कुम्भ बोले—राजन्! आपका कथन सत्य है। जिस चिन्मय परमात्मामें वस्तुतः यह जगत् ही नहीं है, वहाँ आकाशमें बिना हुए प्रतीत होनेवाले गन्धर्व-नगरके समान इस तरहका 'अहं, त्वम्' आदि अनुभव कैसा, कहाँ, किस निमित्तसे और किस प्रकार हो सकता है? जैसे कड़ा, कुण्डल आदि भावनाके शान्त हो जानेपर सुवर्णमात्र अवशिष्ट रह जाता है, वैसे ही जगदादि भावनाओंके शान्त हो जानेपर एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। 'देह आदि मैं हूँ' इस तरहकी भावना अत्यन्त विनाशकारक बन्धनके लिये होती है तथा 'देहादिरूप मैं नहीं हूँ' इस तरहकी भावना विशुद्ध मोक्षके लिये होती है। अहंकार-ज्ञानका अभाव मोक्ष है तथा अहंकार-ज्ञान ही बन्धन है। इसलिये राजन्! 'मैं वह साक्षात् ब्रह्म ही हूँ, अहंकार मैं नहीं हूँ' इस प्रकारके शुद्ध कैवल्यात्मक बोधसे युक्त होकर आप आत्मवान् हो जाइये। जिस तरह समुद्रमें तरंग आदि वास्तवमें जलमात्र ही हैं, उसी तरह ब्रह्ममें संसार और संसारके पदार्थ परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर एकमात्र परमात्मस्वरूप ही हैं। यह सृष्टि ही सृष्टि शब्दके अर्थसे रहित परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है; क्योंकि यही शाश्वत परब्रह्म 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्यका अर्थ है। समस्त शब्द और उनके अर्थकी भावनाका जहाँ अभाव है, वह शुद्ध, नित्य, चेतन, अनन्त परमात्मा ही ब्रह्म शब्दसे कहा जाता है; क्योंकि परमात्माका यथार्थ अनुभव हो जानेपर जब शब्द और उनके अर्थरूप नानात्वका ज्ञान नहीं रहता, तब एक अजर, शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। वहाँ वाणीकी भी गति नहीं है।

([illegible])

ब्रह्मसे जगत्की पृथक् सत्ताका निषेध तथा जन्म आदि विकारोंसे रहित ब्रह्मकी स्वतः सत्ताका विधान

कुम्भने कहा—राजन् ! जिसमें कारणता है, उसका वह कार्य सिद्ध हो सकता है । वास्तवमे जो निर्विशेष ब्रह्म है वह तो किसीका कारण ही नहीं, फिर उससे कार्य होगा ही कैसे ? जो कार्य कारणसे उत्पन्न होता है, वह कारणके सदृश होता है । जो यहाँ उत्पन्न ही नहीं होता, उसमें भला सादृश्य आयेगा ही कहाँसे ? भला आप बतलाइये तो सही, जिसका कोई बीज ही नहीं है, वह उत्पन्न कैसे होगा ? जो वस्तु अतर्क्य, अगम्य और निर्विशेष है, उसमें बीजता ही कहाँ ठहरेगी ? देश और कालके वशसे सभी पदार्थ कारणसे युक्त और प्रमाणसे गम्य होते है । किंतु अकर्ता होनेसे ब्रह्म निमित्त और उपादान कारणोंका प्रमाण कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि कर्ता, कर्म और कारणशून्य कल्याणमय परमात्मामें कारणता नहीं है, इसलिये जगत् शब्दार्थ ज्ञानका वह कारण नहीं हो सकता । अतएव राजन् ! जो सत्स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म है, वह 'मैं ही हूँ' इस प्रकार आप निश्चय कीजिये । यह प्रतीति होनेवाला जगत् अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही सत् है; क्योंकि वह एक अद्वितीय चिन्मय अजर और शान्त निर्विशेष ब्रह्म ही वास्तवमें प्रमाणित है । किंतु अलातचक्रके सदृश भ्रमाकृति जो यहाँ जगत्, चित्त आदि दिखायी देता है, वह मृगतृष्णा-जल, दृष्टिदोषसे दो चन्द्रमा आदिकी भ्रान्ति तथा बालकल्पित प्रेत आदिकी भाँति है । जो जगत् सर्वथा भ्रमात्मक है, वह भला सत्य नामसे कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञानजनित भ्रान्ति ही अन्तःकरण और चित्तादि शब्दोसे कही जाती है ।

जैसे मरुमरीचिकामें प्रतीत होनेवाले जलका ज्ञान 'यह जल नहीं है,' इस यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह चित्त है । इस रूपसे हृदयमें दृढ हुआ जो अज्ञानात्मक विकार है, वह 'यह चित्त नहीं है' इस यथार्थ ज्ञानसे समूल विनष्ट हो जाता है । जैसे अज्ञान-भ्रमसे उत्पन्न हुई रज्जुमें सर्परूपता 'यह सर्प नहीं है' इस तरहके हृदयमें दृढ हुए यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही आत्मामें अज्ञान-भ्रमसे उत्पन्न हुआ मनोरूप चित्त 'यह चित्त नहीं है' इस तरहके हृदयमें दृढ हुए यथार्थ विज्ञानसे विनष्ट हो जाता है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सारे पदार्थ हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए है । वस्तुतः इस जगत्में चित्त नहीं है और इसी तरह अहंकारादिसे संयुक्त देहादि कुछ भी नहीं है, किंतु एकान्त निर्मल एक आत्मा ही है । अज्ञानी जीवोंके द्वारा ही अज्ञानसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी रचना की गयी है । किंतु आज आपने संकल्पके अभावके द्वारा उन सबका परित्याग कर दिया है; क्योंकि जो पदार्थ संकल्पसे आता है, उसका संकल्पका अभाव होते ही विनाश हो जाता है । जैसे जलसे समुद्र परिपूर्ण है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन परमात्म-तत्त्वसे यह सारा संसार परिपूर्ण है । न मैं हूँ, न आप हैं, न अन्य हैं, न ये सब पदार्थ हैं । न चित्त है, न इन्द्रियाँ हैं और न आकाश ही है । केवल एक विज्ञानानन्दघन विशुद्ध परमात्मा ही है । घट-पटादि दृश्य-जगत्के आकाररूपसे एक वह परमात्मा ही दिखायी देता है । 'यह चित्त है, यह मैं हूँ' इत्यादि तो असत्य कल्पनाएँ है । महीपते ! वास्तवमें तो इस त्रैलोक्यमें न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता ही है । सत् और असत् भावनारूप यह केवल चेतनका संकल्पमात्र है । जब वास्तवमें एक सर्वात्मक व्यापक ब्रह्म परमात्मा ही प्रकट है, तब द्वित्व और एकत्व कैसे रह सकता है और कैसे संशय तथा भ्रम ही रह सकता है ? मित्र ! केवल निर्मल अनन्त परमात्म-स्वरूप आपका न तो कुछ विनष्ट हो सकता है और न कुछ बढ़ ही सकता है; क्योंकि जो अजन्मा, अजर, अनादि, अद्वितीय, विशुद्ध, सदा एकरूप, चिन्मय, संकल्परहित, सत्स्वरूप वस्तु है, वही परमात्म-तत्त्व है । (सर्ग १००)

राजा शिखिध्वजकी ज्ञानमें दृढ़ स्थिति तथा जीवन्मुक्तिमें चित्तराहित्य एवं तत्त्वस्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! इस प्रकार कुम्भके स्वाभाविक वचनोंपर विचार करके राजा शिखिध्वज उसी क्षण स्वयमेव आत्मपदमें स्थित हो गये। फिर तो उनके मन और नेत्रोंका व्यापार बंद हो गया, वाणी शान्त हो गयी तथा वे ध्यानस्थ होकर मनन करने लगे, उस समय उनके शरीरके सभी अवयव ऐसे निश्चल हो गये, मानो शिलातलपर खुदी हुई कोई मूर्ति हो। महाबाहो ! तदनन्तर दो ही घड़ीके बाद जब उनकी ध्यानमुद्रा भंग हुई और वे विकसित नेत्रोंसे कुम्भकी ओर देखने लगे, तब कुम्भरूपिणी चूडालाने राजासे प्रश्न करना आरम्भ किया।

कुम्भने पूछा—राजन् ! जो अत्यन्त प्रकाशमान, शुद्ध, विस्तृत एवं निर्मल है तथा जो निर्विकल्प-समाधिमें स्थित रहनेवाले योगियोंके लिये सुन्दर शय्याके समान है, उस आत्मपदमें आपको आनन्दपूर्वक विश्रान्ति प्राप्त हो चुकी न ? आपका अन्तःकरण प्रबुद्ध हो गया न ? आपने भ्रान्तिका परित्याग कर दिया न ? ज्ञातव्यका ज्ञान प्राप्त कर लिया और द्रष्टव्य वस्तु देख ली न ?

शिखिध्वज बोले—भगवन् ! आपकी कृपासे मुझे उस महती पदवीका साक्षात्कार हो गया, जो निरतिशयानन्दकी भूमिका और समस्त उत्कर्षोंकी पराकाष्ठा है। अहो ! जानने योग्य वस्तुओंके ज्ञानसे सम्पन्न संत-महात्माओंका सङ्ग अपूर्व एवं सर्वोत्तम अमृतमय होता है, अतः सर्वोत्कृष्ट फल प्रदान करनेवाला है। प्रभो ! जिस महामृतकी उपलब्धि मुझे सारे जन्ममें भी नहीं हुई, वही आज आपके समागमसे अनायास ही सुलभ हो गयी। परंतु कमललोचन ! इस अनन्त, आद्य एवं अमृतस्वरूप आत्मपदकी प्राप्ति मुझे पहले ही क्यों नहीं हो गयी ?

कुम्भने कहा—राजन् ! जब भोगेच्छाओंका परित्याग कर देनेसे मन पूर्णतः शान्त हो जाता है और सम्पूर्ण इन्द्रियगणोंके भोगरूप दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है, तब चित्तमें उपदेशककी विमल उक्तियाँ उसी प्रकार [illegible] हो जाती हैं, जैसे शुद्ध स्वच्छ वस्त्रपर कुंकुम[illegible] छींटे। कमलनयन ! आपके अपने वासनास्वरूप अनन्त दोषोंका, जो अनेक जन्मोंके शरीरोंद्वारा संगृहीत किये हुए थे, परिपाक आज प्रकट हुआ है। साधुशिरोमणे ! कालद्वारा परिपक्व होकर सम्पूर्ण दोष शरीरसे निकल जाते हैं। सखे ! शरीरसे वासनात्मक दोषोंके निकल जानेपर गुरुदेव जो कुछ निर्मल उपदेश देते हैं, वह शीघ्र ही अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो जाता है। महामते ! दोषोंका परिपाक सम्पन्न हो जानेपर आज मैंने आपको उद्बुद्ध किया है। इसी कारण आज ही आपके अज्ञानका विनाश हो गया। आज आपके सभी दोष परिपक्व हो-होकर नष्ट हो गये। आज ही आपने सम्यक्रूपसे ज्ञानोपदेश धारण किया है। आज ही आप उपदेशसम्पन्न हुए हैं और आज ही आप प्रबोधवान् भी हुए हैं। [illegible] आज आपके समस्त शुभ-अशुभ कर्मोंका सम्पूर्ण विनाश हो गया। महीपते ! जबतक इस दिनका पूर्वभाग बीत रहा था, तबतक आपके चित्तमें 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' ऐसा अज्ञान वर्तमान था; परंतु भूपते ! इस समय मेरा वचनोपदेश श्रवण करके आपने अपने हृदयसे उस अज्ञानको निकाल फेंका है, जिससे आपके चित्तका विनाश हो गया है; अतः अब आप भलीभाँति प्रबुद्ध हो गये हैं। राजन् ! जबतक हृदयमें मनका अस्तित्व बना रहता है, तबतक अज्ञान रहता है, किंतु ज्यों ही [illegible]-रूपसे चित्तका विनाश हुआ, त्यों ही [illegible] अनुभव हो जाता है। द्वैत और अद्वैतकी दृष्टि ही चित्त है और वही अज्ञान भी कहा जाता है; इन दोनोंकी [illegible] ही विनाश है, वही ज्ञान और वही परम गति है। नरेश्वर ! जो प्रतीत होनेके कारण सत् और [illegible] न होनेके कारण असत् है तथा जो [illegible]

स्थान है, उस चित्तका तो आपने विनाश कर ही दिया। इससे अब आपका ज्ञान जाग उठा है और आप विमुक्त हो गये हैं। अत. अब आप शोकशून्य, आयासरहित नि.सङ्ग, अनन्य, आत्मज्ञानसम्पन्न, महान् अभ्युदयसे युक्त. मौनी एवं मुनि होकर अपने निर्मलस्वरूपमें स्थित रहिये।

शिखिध्वज बोले—भगवन्! यों आपके कथनानुसार जो मूर्ख जीवके लिये ही चित्त है, ज्ञानीके लिये नहीं; किंतु प्रभो! यदि आत्मज्ञानीके लिये चित्त है ही नहीं तो ये आप-जैसे जीवन्मुक्त मनुष्य मनसे रहित होकर जगत्में कैसे विचरण करते हैं? यह बतलानेकी कृपा कीजिये।

कुम्भने कहा—तत्त्वज्ञ! आप जैसा कह रहे हैं यह ठीक वैसा ही है; इसमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं है। जैसे पत्थरमे अङ्कुर नहीं निकलता, उसी प्रकार जीवन्मुक्तोंका चित्त व्यापारशून्य हो जाता है; क्योंकि पुनर्जन्म लेनेमें सहायक जो घनीभूत वासना होती है, वही चित्त शब्दसे कही जाती है और वह आत्मज्ञानीमें रहती नहीं। आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष जिस वासनाद्वारा सांसारिक कर्मोंका व्यवहार करते हैं, उसे आप 'सत्त्व' नामवाली समझिये। वह वासना पुनर्जन्मसे रहित होती है। जो सत्त्वमें स्थित हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ सम्यक् प्रकारसे वशमें हैं, ऐसे जीवन्मुक्त महात्मा आसक्तिरहित होकर विचरते है; परंतु चित्तस्थ पुरुष वैसा कभी नहीं कर सकते। राजन्! अज्ञानसे आच्छादित चित्तको 'चित्त' कहते हैं और प्रबुद्ध चित्त 'सत्त्व' कहा जाता है। जो अज्ञानी हैं ये 'चित्त' में स्थित रहते हैं और महाबुद्धिमान् ज्ञानी लोग 'सत्त्व'में स्थित रहते हैं। भूपते! चित्त बारंबार उत्पन्न होता है; किंतु सत्त्व पुन: नहीं पैदा होता; इसीलिये अज्ञानी बन्धनमें पडता है, ज्ञानी नहीं पडता। राजन्! मुझे यह ठीक-ठीक पता है कि आज आपने पूर्णरूपसे अपने चित्तका विनाश कर दिया है जिससे आप सत्त्वसम्पन्न हो गये हैं और महात्यागी बनकर स्थित हैं। आज आपकी सारी वासनाएँ नष्ट हो गयी हैं, जिससे आपकी विशेष शोभा हो रही है।

मुने! मैं यह भी मानता हूँ कि आपका मन आकाशकी तरह निर्मल हो गया है। आप परम शान्तिको प्राप्त हो गये हैं और सिद्ध होकर सर्वोत्कृष्ट समस्थितिमें पहुँच गये हैं। राजन्! यह वही महात्याग है, जिसमें आपने अपने सर्वस्व-रूप चित्तका परित्याग कर दिया है। भला, तप आपके कितने दु:खोंका विनाश करनेमें समर्थ होता। यह जो उपरनिरूप परम सुख है, यही अक्षय सुख है। यही वास्तवमें सत्य है। स्वर्गादिका जो थोडा-बहुत सुख है, वह सत्य नहीं है; क्योंकि वह विनाशशील है तथा उत्पत्ति एवं विनाशयुक्त होनेके कारण वर्तमानकालमें ही प्रतीत होता है।

राजर्षे! जैसे आकाशसे भी अत्यन्त निर्मल सच्चिदानन्द परमात्मासे सभी पदार्थ समुद्भूत होकर दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही वे उसी परमात्मामें विलीन भी हो जाते है। सकल्पसे ही जिनकी उत्पत्ति हुई है, ऐसे पदार्थोंको आत्मज्ञानी महात्मा लोग जलमें प्रतिबिम्बित सूर्योंकी तरह समझकर ग्रहण नहीं करते। सज्जनशिरोमणे! जगत्में जिसका चित्त स्पन्दनरहित हो गया है, उसके समीप संसार आ ही नहीं सकता; क्योंकि महीपाल! इस त्रिलोकीमें जो जो दु:ख जीवको प्राप्त होते हैं, वे सभी चित्तकी चपलतासे ही उत्पन्न हुए रहते हैं। इसलिये जिसका चित्त स्थिर, शान्त, स्पन्दनशून्य और चञ्चलतारहित हो गया है, वही मनुष्य सदा परमानन्दमें निमग्न रहता है और वही साम्राज्य—परमात्म-साक्षात्कारका पात्र होता हैं।

शिखिध्वज बोले—सम्पूर्ण संशयोंका उच्छेद करनेवाले विभो! स्पन्द और अस्पन्द—ये दोनो किस प्रकार एकताको प्राप्त होते हैं, यह विधि मुझे शीघ्र बतलानेकी कृपा कीजिये।

कुम्भने कहा—राजन्! जैसे सागर जलरूपसे एक है, उसी तरह यह सारा जगत् चिन्मात्रस्वरूप होनेके कारण एक ही वस्तु है; अतः जैसे तरङ्गें शुद्ध जलको ही उछालती हैं, वैसे ही बुद्धिवृत्तियाँ उसी चिन्मात्रको स्पन्दित करती हैं। तात! श्रुतियाँ जिसका ब्रह्म, चिन्मात्र, अमल और सत्त्व आदि नामोंद्वारा गान करती हैं, उसीको मूढ लोग जगद्रूपसे देखते हैं। इस संसारका स्वरूप तो चेतन परमात्माका स्पन्दनमात्र है, इसलिये यथार्थ दृष्टिवालोंके लिये तो इसका विनाश ही हो जाता है; परंतु जिन्हें यथार्थदृष्टिकी प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे पुरुषोंको रज्जुमें सर्पभ्रान्तिकी भाँति [illegible] ही प्रतीत होता। जैसे चक्षुरिन्द्रियके दोषसे [illegible] एक ही चन्द्रमा दृष्टिगोचर होता है, उसी तरह निरन्तर शास्त्रोंके अभ्यास और सत्पुरुषोंके सङ्गसे जब मनन द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है, तब एकमात्र चेतन परमात्माके स्वरूपका अनुभव होता है। साधो! आप आदि मध्यरहित स्व-स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं। देहादि [illegible] भेद भाव नहीं रह गया है, आप महान् [illegible] हो गये हैं और आपका शोक नष्ट हो गया है, अतः अब आप अपने उसी पदमें प्रविष्ट हुए स्थित रहिये। (सर्ग १०१)

कुम्भके अन्तर्हित हो जानेपर राजा शिखिध्वजका कुछ कालतक विचार करनेके पश्चात् समाधिस्थ होना, चूडालाका घर जाकर तीन दिनके बाद पुनः लौटना, राजाके शरीरमें प्रवेश करके उन्हें जगाना और राजाके साथ उसका वार्तालाप

कुम्भने कहा—महाराज शिखिध्वज! जिस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है और जैसे विलीन हो जाता है, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त मैंने आपसे वर्णन कर दिया। इसे सुनकर, समझकर तथा मनन करके स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष प्राप्त परमपदमें आप स्वेच्छानुसार स्थित रहिये। संकल्पपरम्परासे तथा किसी भी वस्तुकी अभिलाषासे रहित आपको सदा आत्मदृष्टिमें ही स्थित रहना चाहिये; क्योंकि यही दृष्टि परम पावन है।



श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! कुम्भके यों कहनेपर राजा शिखिध्वज हाथमें फूल लेकर कुम्भको प्रणाम करनेके लिये प्रतिवचन बोलना चाहते थे कि तबतक कुम्भ अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार कुम्भके अन्तर्हित हो जानेपर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसी विस्मयोत्पादक घटनाका विचार करते हुए चित्रलिखित-से अवाक् रह गये। फिर वे यों सोचने लगे—'अहो! ब्रह्माकी लीला बड़ी विचित्र है, जो कुम्भके व्याजसे मुझे सदा अभ्युदयस्वरूप ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त हुआ। अहो! उन देवकुमारने मुझको अत्यन्त ही सुन्दर एवं युक्तियुक्त उपदेश दिया, जिसके प्रभावसे [illegible] पड़ा हुआ मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। [illegible] कर्मजालरूपी दलदलमें, [illegible]

हुआ हूँ; क्योंकि मेरी तो ऐसी धारणा है कि इस जगत्में आपके समान मेरा बन्धु; आप्त, सुहृद्, मित्र, सखा, विश्वासपात्र व्यक्ति अथवा अनुयायी दूसरा कोई नहीं है।

शिखिध्वज बोले—अहो! देवपुत्र! असङ्ग होते हुए भी जो आप मेरे समागमकी इच्छा रखते हैं, इससे प्रतीत होता है कि आज निश्चय ही मेरे पुण्य सफल हो गये।

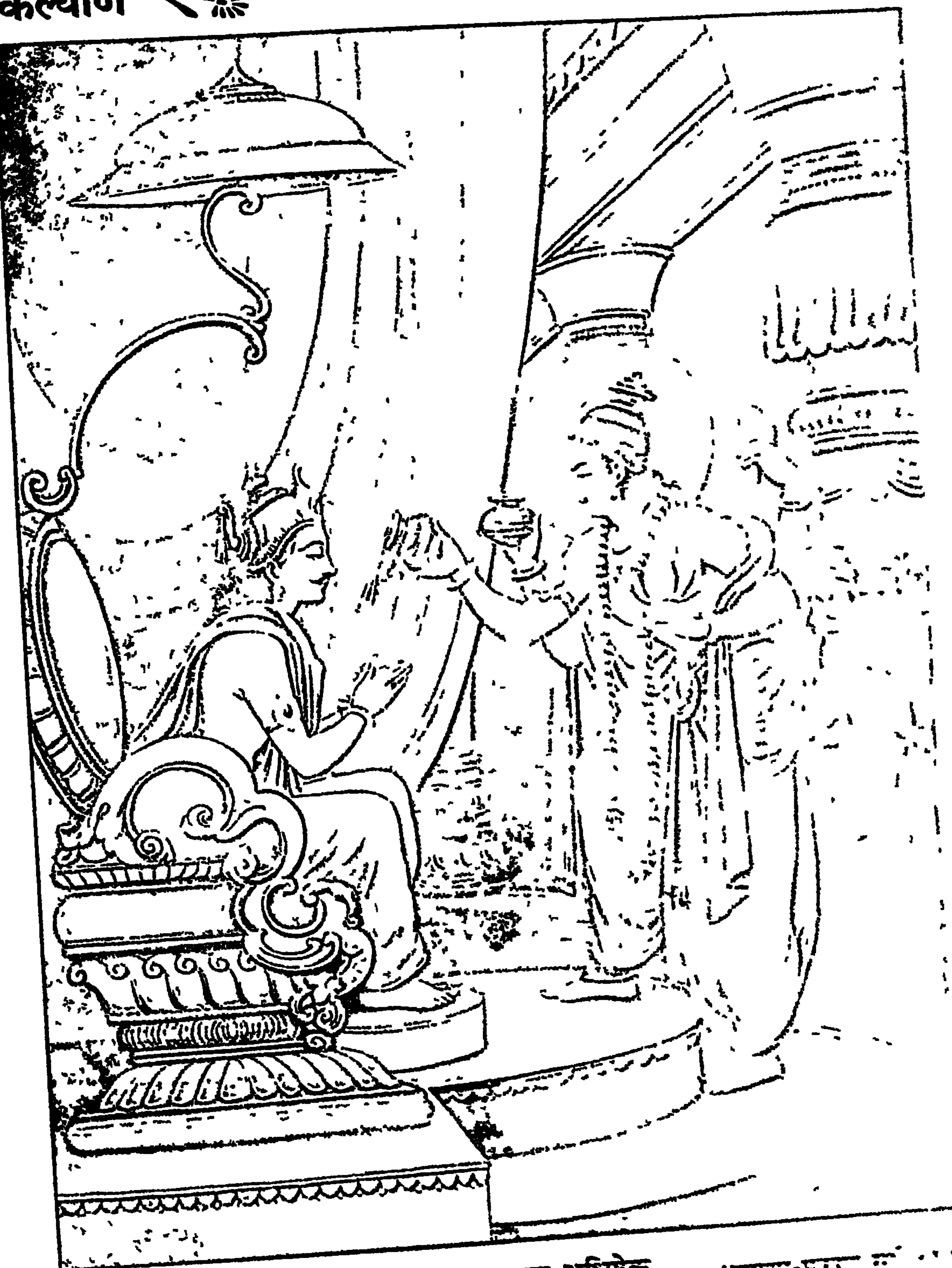
कुम्भने कहा—राजन्! आपको महानन्दस्वरूप परमपदमें विश्रामकी प्राप्ति हो गयी न? आप इस भेदमय दुःखसे सर्वथा रहित हो गये हैं न? भोगकी नीरसताका विचार करके आपातरमणीय संकल्पोंसे आपका प्रेम एकदम निर्मूल हो गया है न? आपका मन हेय और उपादेयकी अवस्थाको अतिक्रान्त कर गया है न? वह शान्त, शम-सम्पन्न होनेसे समतायुक्त और प्रारब्धानुसार प्राप्त पदार्थोंमें उद्वेगशून्य होकर ही स्थित रहता है न?

शिखिध्वज बोले—भगवन्! चिरकालके पश्चात् थोड़े ही समयमें मैं निर्विकार होकर पूर्ण विश्रामको प्राप्त हो गया हूँ। मुझे सम्पूर्ण प्राप्तव्य पदार्थ उपलब्ध हो चुके हैं। अब मैं पूर्णतया तृप्त हो गया हूँ। जिस ब्रह्मका मुझे न तो ज्ञान ही था और न जिसकी प्राप्ति ही हुई थी, उसे मैंने जान लिया और प्राप्त भी कर लिया तथा छोड़ देने योग्य संसारका त्याग भी कर दिया। अब मेरा मन वासनारहित हो गया है और मैंने परमात्मस्वरूप परम तत्त्वका आश्रय भी ले लिया है। अब मेरे लिये कुछ भी शेष नहीं रह गया है। अब तो मैं सांसारिक वासनाओंसे शून्य मोह और भयसे रहित, वीतराग, नित्य ज्ञानस्वरूप, सर्वत्र समतापूर्ण, सर्वथा सौम्य, सर्वात्मक, सारी कल्पनाओंसे मुक्त, आकाशमण्डलके समान निर्मल तथा एकरूप होकर स्थित हूँ।

(सर्ग १०२-१०३)

कुम्भ और शिखिध्वजका परस्पर सौहार्द, चूडालाका राजासे आज्ञा लेकर अपने नगरमें आना और उदास-मन होकर पुनः राजाके पास लौटना, राजाके द्वारा उदासीका कारण पूछनेपर चूडालाद्वारा दुर्वासाके शापका कथन और चूडालाका दिनमें कुम्भरूपसे और रातमें स्त्रीरूपसे राजा शिखिध्वजके साथ विचरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज तत्त्वज्ञानी तो थे ही, अतः वे परस्पर इस प्रकारकी अध्यात्मविषयकी विचित्र कथाएँ कहते हुए तीन मुहूर्त—छः घड़ीतक उस वनमें बैठे रहे। तत्पश्चात् वे वहाँसे उठकर किसी दूसरे शिखरपर जाकर वहाँके सरोवरपर तथा आनन्ददायक वनमें विचरण करने लगे। इस प्रकार उस महावनकी उन वनवीथियोंमें वैसा आचरण करते हुए तथा परस्पर वैसी कथाओंको कहते-सुनते हुए उन दोनोंके आठ दिन बीत गये। तब कुम्भने राजासे कहा—'राजन्! आओ अब हमलोग इस पर्वतपर किसी दूसरे वनमें चलें।' राजाने कुम्भकी बात मानकर स्वीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों वहाँसे चल पड़े और अनेक तरहके वनो, जंगलों, जलाशयोंके तटों, सरोवरों, कुञ्जों, भीषण शिखरों, नदी प्रदेशों, ग्रामों, नगरों, उपवनों, पर्वतीय गोष्ठों, कुञ्जों तीर्थस्थानों और आश्रमोंमें घूमते रहे। वे पूर्णतया शान्त तो थे ही, अतः एक ही साथ रहते थे। उनमें स्नेह, सत्त्व और उत्साह एक-सा था। राघव! वे देवताओं और पितरोंकी पूजा भी एक ही साथ करते थे और उनका भोजन भी एक साथ ही होता था। श्रीराम! 'यह अपना घर है और यह नहीं है' ऐसी वैकल्पिक धारणा उन दोनोंके मनका कभी अपहरण नहीं कर पाती थी। वे कभी अपने शरीरपर धूल लपेट लेते, कभी चन्दनका लेपन कर लेते, कभी भस्म रमा लेते, कभी दिव्य वस्त्र धारण कर लेते, कभी



भगवान्‌के द्वारा प्रह्लादका अभिषेक

उसे पल्लवोंसे आच्छादित कर लेते और कभी पुष्पोंसे सजा लेते। इस प्रकार वे दोनों मित्र साथ-साथ विचरण करते थे।

कुछ ही दिनोंके बाद समचित्तता तथा सत्त्वकी उत्कृष्टताके कारण राजा शिखिध्वज भी कुम्भके ही समान शोभा पाने लगे। तब मानिनी चूडालाने राजा शिखिध्वजको देवकुमारके सदृश उत्तम शोभासे सम्पन्न देखकर विचार किया कि 'अब मैं इस काननमें अपनी बुद्धिसे सोचकर कुछ ऐसे प्रपञ्चकी रचना करूँ जिससे दूसरोंको मान देनेवाले ये मेरे स्वामी राजा शिखिध्वज मुझमें रति-सुखके इच्छुक हो जायँ।' यों सोच-विचारकर कानन-कुञ्जमें बैठी हुई कुम्भवेषधारिणी चूडाला अपने पतिसे बोली—

कुम्भने कहा—'राजन् ! मैं स्वर्ग जा रहा हूँ और सायंकाल होते होते वहाँसे निश्चय ही लौट आऊँगा; क्योंकि आपका सङ्ग मुझे स्वर्गसे भी बढ़कर सुखप्रद है।' 'अच्छा, आप शीघ्र ही लौटियेगा।' राजाके ऐसा कहनेपर कुम्भ उस वनप्रान्तसे उड़कर शरत्कालीन मेघके सदृश आकाशमें जा पहुँचे। वहाँ आकाशमार्गसे जाते हुए कुम्भने राजाके ऊपर पुष्पाञ्जलि छोड़ दी। राजा शिखिध्वज भी जाते हुए कुम्भकी ओर तबतक टकटकी लगाये देखते ही रहे, जबतक वे उनकी आँखोंसे ओझल नहीं हो गये।

उधर आकाशमें राजा शिखिध्वजकी आँखोंसे ओझल होते ही सुन्दरी चूडालाने कुम्भ-शरीरका परित्याग कर दिया और वह पुनः अपने पूर्वरूपमें आ गयी। फिर आकाश-मार्गसे चलकर वह स्वर्गके समान रमणीय अपने नगरमें जा पहुँची और अदृश्यरूपसे अपने अन्तःपुरमें जो सुन्दरी स्त्रियोंसे खचाखच भरा था, प्रवेश कर गयी। वहाँ झटपट सारा राज्यकार्य सँभालकर वह पुनः राजा शिखिध्वजके समक्ष आ गयी। पर आज उसके चेहरेपर उदासी छायी थी। यों उदास-मन कुम्भको सामने देखकर राजा शिखिध्वज उठकर खड़े हो गये। उनका भी चित्त उदास हो गया, फिर वे आदरपूर्वक यों कहने लगे—

'देवपुत्र ! आपको नमस्कार है। आप तो उदास-से दीख पड़ते हैं। आप कुम्भ तो हैं न ! इस उदासीको छोड़िये और इस आसनपर विराजिये। मित्रवर ! जिन्हें वेद्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो चुका है तथा जो अपने स्वरूपमें स्थित हो गये हैं, ऐसे संत महात्मालोग हर्ष-विषादजनित स्थितिका उसी प्रकार आश्रय नहीं ग्रहण करते, जैसे कमलपत्र जलका।'

तब *कुम्भने कहा*—'राजन् ! जैसे जबतक तिल है, तबतक तेल रहता है, उसी तरह जबतक देह है, तबतक उसकी अच्छी-बुरी दशा भी होती है। परन्तु योगसे चित्त-की जो समता होती है, वही देहकी अच्छी-बुरी दशाओं-द्वारा प्राप्त दुःखसे रहित होना है। तत्त्वज्ञानी लोग तो, जबतक प्राप्त हुए अन्तिम देहका पतन नहीं हो जाता, बुद्धि आदिकी समता तथा हाथ-पैर आदिके सञ्चालनसे तबतक ईश्वरीय विधानके अनुसार समय बिताते रहते हैं।'

शिखिध्वज बोले—महाभाग ! आप तो तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं। देवता होते हुए भी आपको ऐसी उदासी किस कारणसे प्राप्त हुई—यह बतलानेकी कृपा कीजिये।

तब *कुम्भने कहा*—भद्र ! जब मैं यहाँसे गया, तब आपको पुष्पाञ्जलि समर्पित करके आकाशमें लाँघता हुआ स्वर्गमें जा पहुँचा। वहाँ पिताजीके साथ मैं उनके सभाभवनमें क्रमानुसार बैठा था। जब सभा-विसर्जनका समय आया और पिताजीने मुझे जानेकी आज्ञा दी, तब मैं उठकर यहाँ आनेके लिये स्वर्गसे चल पड़ा और नक्षत्रलोकमें आ पहुँचा। आगे बढ़नेपर मैंने देखा कि मेघसमूहोंके मध्यसे होकर मुनिवर दुर्वासा बड़े वेगसे कहीं जा रहे हैं। वे भूतलपर स्थित महासागरकी ओर बड़े वेगसे [illegible] जा रहे थे। तब मैंने भी आकाशमार्गसे ही आगे बढ़कर उन मुनिश्रेष्ठको अभिवादन किया और कहा—'मुने ! आप मेघके सदृश श्याम वस्त्र धारण करनेके कारण अभिसारिका नारीकी तरह लग रहे हैं।' [illegible] महाराज ! यह सुनकर दुर्वासाजी मुझे शाप देते हुए

बोले—'जाओ, इस दुर्वचनके कारण आजसे तुम प्रत्येक रात्रिमें स्तन और केश आदि स्त्री-चिह्नोंसे युक्त होकर हाव-भाव आदि विलासोंवाली कमनीया रमणीके रूपमें बदल जाया करोगे।' वृद्ध ब्राह्मण दुर्वासाके मुखसे निकले हुए उस अशुभ वचनको सुनकर, जबतक मैं कुछ थोड़ा विचार करने लगा, तबतक वे मुनि अन्तर्धान हो गये। इसी कारणसे मेरा मन उदास हो गया है और मैं सीधे आकाशतलसे यहाँ चला आया हूँ। सज्जनशिरोमणे! इस प्रकार मैंने अपना सारा वृत्तान्त आपको सुना दिया। अब मैं रात्रिमें स्त्री हो जाऊँगा। भला, रात्रिमें मैं इस स्त्रीत्वका निर्वाह कैसे कर सकूँगा? अहो! संसारमें होनहारकी बड़ी विलक्षण गति है। हाय! रातमें जब मेरा स्त्रीरूप हो जायगा, उस समय मैं लज्जापरवश होकर गुरुजनों, देवताओं और ब्राह्मणोंके सामने निर्बाधरूपसे कैसे रह सकूँगा?

शिखिध्वज बोले—देवपुत्र! जगत्‌में जो कुछ भी दुःख अथवा सुख प्राप्त होते हैं, वे सभी प्रारब्धानुसार शरीरके लिये ही होते हैं। उनमेंसे किसीका भी आत्मापर प्रभाव नहीं पड़ता। मुने! आप तो शास्त्रको भूषणकी तरह धारण करनेवाले हैं, इसलिये किसी भी कार्यफलके विषयमें विचार करना आपके लिये उचित नहीं है। फिर, यदि आप-जैसे विवेकी पुरुष भी यों विचार करने लगेंगे तो अन्य अविवेकी जनोंके खेद-नाशका क्या उपाय होगा? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि खेदका विषय उपस्थित होनेपर कुछ खेदोचित वचन कहना चाहिये—इसी अभिप्रायसे आपने ऐसा कहा है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तदनन्तर जब चन्द्रोदयका समय आया, तब उन दोनों मित्रोंने उठकर संध्या-वन्दन किया और फिर जप-कर्म समाप्त करके वे लताओंके एक समूहमें जा बैठे। वहाँ जब कुम्भ धीरे-धीरे स्त्रीरूपमें परिवर्तित होने लगे, तब वे सामने बैठे हुए राजा शिखिध्वजसे गद्‌गद वाणीमें बोले—'राजन्! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपके सामने मैं लज्जाके साथ-ही-साथ स्त्रीभावको प्राप्त होता जा रहा हूँ!'

दो घड़ीतक विचार करनेके पश्चात् राजा शिखिध्वज इस प्रकार कहने लगे—'अहो! दुःखकी बात है। ये कुम्भमुनि, जो महान् सत्त्वसम्पन्न थे, वे ही अब सुन्दरी स्त्री बन गये। साधुशिरोमणे! आप तो तत्त्वज्ञानी हैं। दैवकी गति भी आपसे छिपी नहीं है; अतः इस अवश्यम्भावी घटनाके विषयमें विचार मत कीजिये। ये जो अवश्यम्भाविनी सुख-दुःखात्मक दशाएँ हैं सभी तत्त्वज्ञानियोंके केवल शरीरपर ही प्रभाव डाल पाती हैं, उनके अन्तःकरणपर नहीं; परंतु ये ही अविवेकियोंके केवल शरीरपर ही नहीं, अन्तःकरणतक पहुँच जाती हैं।'

कुम्भने कहा—राजन्! ठीक है, ऐसा ही हो। अब मैं रात्रिके समय अपने स्त्री-भावको स्वीकार कर लेता हूँ और इसके लिये चिन्ता भी नहीं करूँगा; भला, दैवका उल्लङ्घन कौन कर सकता है।

तदनन्तर जब प्रातःकाल हुआ, तब कुम्भने उस युवती स्त्रीके स्वरूपका परित्याग कर दिया और अपना वही कुम्भरूप धारण कर लिया। इस प्रकार वह राजरानी सुन्दरी चूडाला अपने पतिके पास पहले कुम्भरूपसे उपस्थित हुई, तत्पश्चात् स्त्रीरूप धारण करके आयी। वह रात्रिमें कुमारी-धर्मसे युक्त होकर और दिनमें कुम्भरूप धारण करके अपने मित्र एवं स्वामी शिखिध्वजके साथ वनप्रान्तोंमें विचरण करती थी। योगबलसे उसका गमनागमन कहीं रुकता नहीं था। इस प्रकार वह नारी चूडाला पुष्पमालाओं एवं हारोंसे विभूषित होकर अपने मित्र एवं प्रियतम पतिके साथ कैलास, मन्दर, महेन्द्र, सुमेरु और सह्यगिरिके शिखरोंपर स्वेच्छानुकूल विचरण करती रही।

(सर्ग १०४-१०५)

महेन्द्र पर्वतपर अग्निके साक्ष्यमें मदनिका (चूडाला) और शिखिध्वजका विवाह, एक सुन्दर कन्दरामें पुष्प-शय्यापर दोनोंका समागम, शिखिध्वजकी परीक्षाके लिये चूडालाद्वारा मायाके बलसे इन्द्रका प्राकट्य, इन्द्रका राजासे स्वर्ग चलनेका अनुरोध, राजाके अस्वीकार करनेपर परिवारसहित इन्द्रका अन्तर्धान होना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तदनन्तर कुछ ही दिनोंके बीतनेके बाद कुम्भरूपधारिणी सती चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिध्वजसे इस प्रकार बोली—'कमलपत्रसदृश नेत्रोंवाले महाराज ! मेरी यह बात सुनिये। मैं प्रतिदिन रात्रिके समय स्त्री ही बनकर रहता हूँ, इसलिये मैं अपने इस प्रकारके स्त्री-धर्मको सफल बनाना चाहता हूँ । इसके लिये विवाहद्वारा अपनेको किसी योग्य पतिके हाथों सौंप देनेका मेरा विचार है । इस विषयमें त्रिलोकीमें केवल आप ही मुझे पतिरूपसे पसंद आ रहे हैं, अतः विवाह-विधिसे आप सर्वदा रात्रिके समय पत्नी-रूपमें मुझे स्वीकार कीजिये । राजन् ! चारों ओरसे सारी वस्तुओंमें इच्छा, अनिच्छा तथा तज्जनित फलका त्याग करके हमलोग इच्छा-अनिच्छासे रहित हो गये हैं अतः इस अभीष्ट कार्यको आप अवश्य सम्पन्न करें ।

तब *शिखिध्वज बोले*—सखे ! इस विवाहकार्यके करनेसे मुझे शुभ अथवा अशुभ—किसी प्रकारके फल-की सम्भावना नहीं दीख रही है, अतः आपको जैसा रुचे, वैसा ही कीजिये ।

कुम्भने कहा—महीपाल ! यदि ऐसी बात है तो आज यह श्रावणमासकी पूर्णिमा है, अतः आज ही शुभ लग्न है; क्योंकि कल ही मैंने विवाहसम्बन्धी सारी गणना कर ली थी । महाबाहो ! आज रातमें सम्पूर्ण कलाओंसे परिपूर्ण निर्मल चन्द्रमाके उदय होनेपर हम दोनोंका विवाह होगा । राजन् ! उठिये और हम दोनों वनके भीतरसे अपने विवाहके लिये चन्दन और पुष्प आदि सामग्री एकत्र करें ।

यों कहकर कुम्भ उठे और राजा शिखिध्वजके साथ-साथ पुष्पोंको चुनने तथा सामग्रियोंके संग्रह करनेमें जुट गये । इस प्रकार एक सुन्दर गुफामें सारी विवाह-सामग्री जुटाकर वे दोनों प्रेमी मित्र मन्दाकिनी नदीमें स्नान करनेके लिये गये । वहाँ नहा-धोकर उन दोनोंने देवताओं, पितरों और ऋषियोंका पूजन किया; क्योंकि जैसे उन्हें क्रियाजनित फलकी इच्छा नहीं थी, उसी प्रकार शास्त्रविहित क्रियाका त्याग भी उन्हें पसंद नहीं था । तदनन्तर कल्पवृक्षके उज्ज्वल वर्णके [illegible] तथा फल खाकर वे दोनों क्रमशः विवाह स्थानमें आये । फिर सूर्यास्त होनेपर उन्होंने संध्या-वन्दनकी विधि पूरी की और मन्त्र-जप तथा अघमर्षण आदि भी किया । इतनेमें ही कुम्भ स्त्रीरूपमें परिणत हो गये । तब वे सोचने लगे कि 'यह वधू तो मैं बन गया । अब मुझे अपना शरीर वरको दे देना चाहिये; क्योंकि समयोचित कर्तव्यका पालन अवश्य करना चाहिये । यह मैं वधू हूँ और आप मेरे मनोनीत वर सामने उपस्थित हैं । यह आपके परिग्रह-का समय है, अतः आइये और मुझे ग्रहण कीजिये ।' यों विचारकर वह वरके समीप, जो सामने वेदीके निकट स्थित तथा उगते हुए सूर्यके समान तेजस्वी थे, गयी और यों बोली—'मानद ! मैं आपकी भार्या हूँ । मेरा नाम मदनिका है । मैं आपके चरणोंमें [illegible] प्रणाम करती हूँ । नाथ ! अब आप शास्त्रोक्त विधिके अनुसार अग्नि प्रज्वलित करके मेरा पाणिग्रहण कीजिये ।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर उन दोनोंने वेदीके समीप खड़े हुए [illegible] लताओंसे सजाया । फिर उस वेदीके मध्यभागमें अग्निकी स्थापना करके उसे चन्दनकी लकड़ियोंसे प्रज्वलित किया । जब लपटें निकलने लगीं, तब दक्षिण भागमें उस अग्नि-

की प्रदक्षिणा की । तत्पश्चात् उस अग्निके सामने पल्लवके आसनपर वे पूर्वाभिमुख हो दोनों आसीन हो गये । उस समय उन दोनों वर-वधूकी अद्भुत शोभा हो रही थी । फिर शिखिध्वजने उठकर स्वयं ही उस कान्ता मदनिकाका पाणिग्रहण किया । उस समय उस वनमें उन दोनोंकी परस्पर शिव-पार्वतीके समान शोभा हो रही थी । फिर उस मङ्गलस्वरूप दम्पतीने उस अग्निकी प्रदक्षिणा की । उन दोनोंने परस्पर एक दूसरेको अपना हृदय, जो प्रेमके लिये लोलुप तथा सर्वोत्तम ज्ञानसे पूर्ण था, समर्पित कर दिया । उन्होंने अग्निकी तीन बार



प्रदक्षिणा की और उसमें लाजाहोम किया । इस प्रकार समान रूपसे संतुष्ट हुए वर-वधूने एक दूसरेद्वारा पकड़े गये अपने हाथको छुड़ा लिया । तदनन्तर उन दोनों प्रेमियोंने वहाँसे उठकर एक सुन्दर कन्दरामें, जिसका उन्होंने पहलेसे ही स्वयं निर्माण कर रखा था और जिसमें चमकीले दीपक जल रहे थे, प्रवेश किया । और वे दोनों पुष्पशय्यापर बैठ गये । फिर तो, परस्पर प्रेमभरे तरह-तरहके मनोहर वाग्विलासोंसे, समयोचित आलिङ्गन आदि कृत्योंसे, प्रेमयुक्त व्यवहारोंसे तथा नये-नये सुखोपभोगसे उस उत्तम दम्पतिकी वह लंबी रात एक मुहूर्तके समान बीत गयी ।

रघुकुलभूषण राम ! इस प्रकार वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज उस महेन्द्राचलकी गुफामें स्वयं विवाहित होकर देवतुल्य परम प्रेमी दम्पती बन गये । दिनमें तो वे परम प्रेमी मित्र बन जाते थे और रातमें प्रिय पति-पत्नी हो जाते थे । प्रभा और दीपककी तरह वे परस्पर घुले-मिले रहते थे, अलग तो कभी होते ही नहीं थे । इस प्रकार जब धीरे-धीरे कुछ मास व्यतीत हो गये, तब देवपुत्रका स्वरूप धारण करनेवाली चूडालाने विचार किया कि अब मैं नाना प्रकारके उत्तम-उत्तम उपभोगोंद्वारा राजा शिखिध्वजकी परीक्षा करूँगी, जिससे इनका चित्त कभी भी भोगोंमें अनुरक्त नहीं होगा । ऐसा सोचकर चूडाला-ने अपनी मायाके बलसे उस वनस्थलीमें देवगणों तथा अप्सराओंके साथ पधारे हुए इन्द्रको दिखलाया । परिवार-सहित इन्द्रको अपने निकट आया हुआ देखकर वनवासी राजा शिखिध्वज उनकी विधिवत् पूजा करके पूछने लगे ।



शिखिध्वज बोले—देवराज ! आपने इतनी दूरसे यहाँ आनेका कष्ट क्यों उठाया ? आप जिस प्रयोजनसे यहाँ पधारे हैं, उसे बतलानेकी कृपा कीजिये ।

इन्द्रने कहा—राजन् ! आपके गुणाधिक्यरूपी सूत्रने हमारे हृदयको बाँध रखा है, जिससे खिंचकर हम आकाशसे यहाँ आ गये हैं । महाराज ! अब उठिये और स्वर्ग चलिये; क्योंकि वहाँ यूथ-के-यूथ देवता तथा देवाङ्गनाएँ आपके गुणोंको सुनकर विस्मय-विमुग्ध हो रहे हैं और वे सब-के-सब आपके शुभागमनकी प्रतीक्षामें बैठे हैं । इसलिये आप पादुका, गुटिका, खड्ग और पारद आदि रसोंको भी लेकर सिद्धमार्गसे स्वर्गलोकमें चलना स्वीकार कीजिये । राजर्षे ! आप जीवन्मुक्त तो हैं ही, अतः देवलोकमें पधारकर आप अनेक प्रकारके भोगोंका उपभोग करें, इसी कारण मैं आपके पास आया हूँ । साधो ! आपके समान जो संत-महात्मा हैं, वे न तो प्राप्त हुई लक्ष्मीका तिरस्कारद्वारा अपमान करते हैं और न अप्राप्तकी कामना ही करते हैं । महात्मन् ! जैसे भगवान् नारायणके शुभागमनसे त्रिलोकी पवित्र हो जाती है, वैसे ही आप बिना किसी विघ्न-बाधाके स्वर्ग पधारें और वहाँ सुखपूर्वक विहार करें, जिससे वह स्वर्ग पवित्र हो जाय ।

शिखिध्वज बोले—देवेन्द्र ! मैं तो सभी देशोंको स्वर्ग-सा ही मानता हूँ; क्योंकि मैं जिस परमात्माको स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सत्ता सदा सर्वत्र वर्तमान है; अतः मेरे लिये कहींपर भी एकदेशी स्वर्ग नहीं है । प्रभो ! मैं सभी जगह संतुष्ट रहता हूँ और सभी स्थानोंमें विचरण करता हूँ । मेरे मनमें किसी प्रकारकी इच्छा तो है नहीं, अतः मैं सर्वत्र आनन्दसे परिपूर्ण रहता हूँ । इन्द्र ! इन्हीं सब कारणोंसे एक स्थानमें स्थित रहनेवाले किसी ऐसे एकदेशी स्वर्गमें जानेकी तो मैं इच्छा ही नहीं करता । इसलिये मैं आपकी आज्ञाका पालन नहीं कर सकूँगा ।

इन्द्रने कहा—साधुशिरोमणे ! जिन्हें ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिनकी बुद्धि परिपूर्ण हो गयी है, उनके लिये भोगोंका उपभोग करना और न करना बराबर है; अतः आपके लिये भोगोंका सेवन करना उचित है । देवराज इन्द्रके यों कहनेपर भी जब राजा मौन ही रहे, तब इन्द्रने पुनः कहा—'राजन् ! जब आपकी ऐसी ही धारणा है, तब मैं भी यहाँसे चला जाता हूँ ।' यों कहकर 'राजन् ! आपका कल्याण हो' यह आशीर्वाद देते हुए इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये । देवराजके अदृश्य होते ही उनके साथका देवसमूह भी क्षणभरमें अदृश्य हो गया ।

(सर्ग १०६-१०७)

राजा शिखिध्वजके क्रोधकी परीक्षा करनेके लिये चूडालाका मायाद्वारा राजाको जार-समागम दिखाना और अन्तमें राजाके विकारयुक्त न होनेपर अपना असली रूप प्रकट करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! इन्द्र-दर्शनकी मायाका उपसंहार करके चूडाला मन-ही मन विचार करने लगी—'बड़े सौभाग्यकी बात है, जो विषय-भोगोंकी लालसा इन नरेशके मनको आकृष्ट करनेमें समर्थ न हो सकी । इन्द्रके आनेपर भी ये निर्विकार शान्त ही रहे । इनके शरीरके अवयवोंकी स्थिति पूर्ववत् समान रही तथा बिना किसी प्रकारके क्षोभ एवं अवहेलनाके इन्होंने इन्द्रके साथ उचित व्यवहार भी किया । अतः अब मैं पुनः एक ऐसे मायाप्रपञ्चकी रचना करूँगी, जिसमें राग-द्वेषकी प्रधानता रहेगी और जो बुद्धिका अपहरण करनेवाला होगा । फिर उसके द्वारा आदरपूर्वक इनकी परीक्षा करूँगी ।' ऐसा निश्चय करके रात्रिमें चन्द्रोदय होनेपर उसने उस वनमें सुन्दरी मदनिकाका रूप धारण कर लिया । उस समय जब राजा शिखिध्वज

नदीके तटपर संध्यावन्दन तथा जप-कर्ममें तत्पर होकर ध्यानस्थ थे और शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी, तब मदनिका काम-मदसे विह्वल हुई-सी संतानक वृक्षोंके एक लताकुञ्जमें प्रविष्ट हुई। वह कुञ्ज सघन पुष्पगुच्छोंसे सुशोभित था तथा वनदेवियोंके शुद्ध अन्तःपुर-सा प्रतीत होता था। वहाँ पुष्पहारोंसे सजी हुई मदनिकाने अपने संकल्पसे एक पुष्पशय्या तैयार की और उसपर मायानिर्मित एक सुन्दर जार पुरुषको लेकर उसके गलेसे लिपटकर लेट गयी।

उधर जपकर्म समाप्त होनेपर जब राजा शिखिध्वज उस स्थानसे उठे और एक कुञ्जसे दूसरे कुञ्जमें मदनिकाका अन्वेषण करने लगे, तब उन्हें उस लतागृहमें मदनिका दीख पड़ी। उसके गलेसे एक मनोहर जार पुरुष लिपटा हुआ था। उस पुरुषके कंधे लंबे केशोंसे आच्छादित थे और शरीरमें चन्दनका अनुलेप लगा हुआ था। उसके सिरकी सजावट शय्यापर इधर-उधरके परिवर्तन एवं परस्परके मर्दनसे अस्त-व्यस्त हो गयी थी। वह मदनिकाकी भुजाको, जिसकी कान्ति सुवर्णकी-सी थी तथा जो मोड़नेके कारण दो भुजा-सी लग रही थी, तकिया बनाकर उसपर अपना कान, नेत्रप्रान्त, कपोल और केश रखकर लेटा हुआ था। तदनन्तर राजाने पुनः देखा—उन दोनों स्त्री-पुरुषोंके मुख परस्पर एक-दूसरेसे सटे हुए हैं और उनपर मुसकराहट खेल रही है। शयन करते समय उनके पुष्पहार हिल रहे हैं। वे कामवेगसे आतुर और व्याकुल हैं। परस्पर आलिङ्गनके बहाने वे एक-दूसरेको अपना प्रेम समर्पित कर रहे हैं। वे एक दूसरेके उन्मुख, समान आनन्दसे परिपूर्ण तथा प्रबल काममदसे भरपूर हो गये हैं। यह सब देखकर भी राजा शिखिध्वजके मनमें जरा-सा भी क्रोध-विकार उत्पन्न नहीं हुआ, उलटे वे परम संतुष्ट हुए और कहने लगे—'अहो! ये दोनों व्यभिचारी कैसे आनन्दमग्न हैं।' सहसा राजाको आया हुआ देखकर जब वे दोनों डर गये, तब राजाने कहा—'तात! भय मत करो। तुम दोनों स्वेच्छानुसार सुखपूर्वक जैसे सोये हो, वैसे ही सोये रहो। मैं इसमें विघ्न नहीं डालूँगा।' यों कहकर राजा वहाँसे चले गये।

तदनन्तर दो ही घड़ीके बाद चूडाला उस प्रपञ्चका उपसंहार करके लतागृहसे बाहर निकली। उस समय उसका शरीर प्रियतमके साथ सम्भोग करनेके कारण प्रफुल्लित दीख रहा था। बाहर आकर उसने देखा कि राजा शिखिध्वज एकान्तमें एक सुन्दर शिलापर बैठे हैं। उनकी समाधि लग गयी है, जिससे उनके नेत्र थोड़े खुले हुए हैं। तब सुन्दरी मदनिका राजाके निकट गयी और क्षणभरतक चुपचाप खड़ी रही। उस समय लज्जाके कारण उसका मुख नीचे झुक गया था और उसकी कान्ति मलिन हो गयी थी तथा मन खिन्न था। क्षणभरके बाद जब राजा शिखिध्वज ध्यानसे विरत हुए, तब मदनिकाको पास ही खड़ी देखा। उसे देखकर उनकी बुद्धिमें जरा-सा भी क्षोभ नहीं हुआ। वे उससे अत्यन्त मधुर वाणीमें कहने लगे—'सुन्दरि! क्या किसीने शीघ्र ही तुम्हारे सुखमें विघ्न डाल दिया? तुमने सुखका उपभोग तो किया है न? (इसमें लज्जित होनेकी क्या बात है; क्योंकि) संसारमें जितने प्राणी हैं, वे सभी सुखके लिये ही तो प्रयत्न करते हैं। अतः तुम जाओ और पुनः अपनी प्रणयगर्भित चेष्टाओंसे अपने उस प्रियतमको संतुष्ट करो। मानिनि! तुम्हारे इस कार्यसे मेरे मनमें किसी प्रकारकी उद्विग्नता नहीं है। यहाँ मेरे और कुम्भमें तो रागका लेशमात्र भी नहीं रह गया है, अतः हम दोनों तो वीतराग हो चुके हैं। तुम तो हमलोगोंसे भिन्न एक तीसरी नारी हो, जो महर्षि दुर्वासाके शापसे उत्पन्न हुई हो; अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो।'

तब मदनिका बोली—महाभाग! आपका कथन बिलकुल सत्य है; परंतु मैं क्या करूँ, स्त्रियोंका स्वभाव ही बड़ा चञ्चल होता है। उनमें पुरुषोंकी अपेक्षा कामका

वेग भी अठगुना बताया जाता है; अतः आप मुझपर क्रोध न करें। महाराज! जब आप संध्यावन्दन तथा जपकर्ममें रत हो गये, तब रात्रिके समय इस गहन काननमें उस कामी पुरुषने मुझे पकड़ लिया। उस समय मैं दीन अबला कर ही क्या सकती थी। राजन्! स्त्रियोंका ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे अपने कामवेगको रोक नहीं सकतीं। अतः प्राणनाथ! एक तो मैं अबला नारी, दूसरे नवयुवती और मूढ़ हूँ; इसी कारण मुझसे यह महान् अपराध हो गया। अब आप मुझे क्षमा करें; क्योंकि क्षमा करना साधु पुरुषोंका स्वभाव ही होता है।

शिखिध्वजने कहा—बाले! तुम्हारे इस कृत्यसे मेरे अन्तःकरणमें क्रोध तो तनिक-सा भी नहीं है, परंतु मैं अब तुम्हें अपनी वधूके रूपमें केवल इस कारणसे स्वीकार करना नहीं चाहता कि साधुपुरुष इस कर्मकी घोर निन्दा करेंगे। इसलिये अङ्गने! अब हम दोनों पहलेकी तरह मित्रभावसे वीतराग होकर वनप्रान्तोंमें नित्य साथ-साथ ही सुखपूर्वक विचरण करेंगे।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार जब राजा शिखिध्वज समत्वभावमें स्थित हो गये, तब उन्हें रागद्वेषकी भावनाओंसे निर्मुक्त देखकर चूडालाका मन प्रसन्न हो गया और वह मन-ही-मन विचार करने लगी—'अहो! ये राजा शिखिध्वज अब सर्वोत्कृष्ट समताको प्राप्त हो गये हैं। रागसे शून्य हो जानेके कारण अब इनमें क्रोधका लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं है। अब ये सचमुच जीवन्मुक्त हो चुके हैं। तभी तो जिन्हें स्वयं इन्द्र प्रदान कर रहे थे, वे उत्तमोत्तम भोग, इनको विचलित नहीं कर सके तथा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ, सुख, दुःख, आपत्ति और सम्पत्ति भी इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ न हो सकीं। एक जीवन्मुक्तमें जितनी निर्दोष महान् ऋद्धियाँ बतायी जाती हैं, वे सब-की-सब इस समय अकेले इन्हींका आश्रय ले रही हैं, अतः ये दूसरे नारायणकी तरह जान पड़ते हैं। इसलिये अब मैं इस कुम्भरूपका परित्याग करके चूडाला ही बन जाऊँगी और इन्हें अपने स्वरूपका स्मरण दिलाऊँगी।' यों विचारकर चूडालाने तुरंत ही मदनिकाके शरीरको छोड़कर वहीं अपनेको चूडालाके रूपमें प्रकट कर दिया। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो चूडाला मदनिकाके उसी शरीरसे निकली



है। तत्पश्चात् वह योगधारणासे युक्त होकर राजाके सामने सुशोभित हुई। राजाने प्रेमपरवशताके साथ निर्दोष अङ्गोंवाली उस कमनीया मदनिकाको ही अपनी प्रियतमा भार्या चूडालाके रूपमें स्थित देखा। उस समय चूडाला भूमितलसे प्रकट हुई लक्ष्मी (सीता) के समान सुशोभित हो रही थी तथा रत्नाकरसे निकली हुई रत्नप्रभाकी भाँति उद्दीप्त हो रही थी। इस प्रकार राजा शिखिध्वजने अपनी प्राणप्रियाको सामने उपस्थित देखा। (सर्ग १०८)

ध्यानसे सब कुछ जानकर राजा शिखिध्वजका आश्चर्यचकित होना और प्रशंसापूर्वक चूडालाका आलिङ्गन करना तथा उसके साथ रात बिताना, प्रातःकाल संकल्प-जनित सेनाके साथ दोनोंका नगरमें आना और दस हजार वर्षोंतक राज्य करके विदेहमुक्त होना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! तदनन्तर अपनी प्यारी पत्नी चूडालाको देखकर आश्चर्यके कारण राजा शिखिध्वजके नेत्र प्रफुल्लित हो उठे । तब वे आश्चर्ययुक्त वाणीसे इस प्रकार बोले—'सुन्दरि ! तुम अपने शरीरसे, व्यवहारसे, मन्द-मुसुकानसे, अनुनय-विनयसे तथा पत्नीसम्बन्धी विलाससे ऐसी उपलक्षित हो रही हो, मानो मेरी भार्या चूडालाकी ही प्रतिमूर्ति हो ।'

चूडालाने कहा—प्रभो ! हाँ, ऐसा ही समझिये, निस्सदेह मैं चूडाला ही हूँ । आज मैंने अपने पहलेके स्वाभाविक शरीरसे साक्षात् आपको प्राप्त किया है । इस वनमें मैंने जो कुम्भ आदिके देहनिर्माणद्वारा माया-प्रपञ्च प्रकट किया था, वह तो केवल आपको प्रबुद्ध करनेके लिये ही था । महाराज ! जब आप मोहवश राज्यका परित्याग करके तपस्याके लिये वनमें चले आये, तभीसे मैं आपको ज्ञानसम्पन्न बनानेके लिये प्रयत्न कर रही थी । भूपते ! इस कुम्भवेषसे मैंने ही आपको प्रबुद्ध किया है । मैंने मायाद्वारा जो कुम्भ मदनिका आदिके शरीरका निर्माण किये थे, उसका एकमात्र प्रयोजन आपको प्रबुद्ध करना ही था । वास्तवमें कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं है । राजन् ! (यदि मेरी बातोंपर विश्वास न आता हो तो) अब तो आप जाननेयोग्य परमात्माको जान चुके हैं, अतः ध्यान लगानेसे आप यह सारा दृश्य अविकल रूपसे देख सकेंगे । इसलिये तत्त्वज्ञ ! अब शीघ्र ही ध्यान लगाकर देखिये ।

चूडालाके ऐसा कहनेपर राजा आसन लगाकर बैठ गये और ध्यानद्वारा उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त अच्छी तरहसे जान लिया । मुहूर्तमात्रके ध्यानसे ही राजाने



राज्य-परित्यागसे लेकर चूडालाके साक्षात्कारपर्यन्त अपने विषयमें जितनी घटनाएँ घटी थीं, उन सबको प्रत्यक्षरूपसे देख लिया । तत्पश्चात् समाधि भंग होनेपर हर्षातिरेकसे राजाके नेत्रकमल विकसित हो उठे, भुजाएँ रोमाञ्चके कारण उज्ज्वल हो गयीं । उन्होंने तुरंत ही दोनों ही भुजाओंको फैलाकर अपनी प्रियतमा पत्नी चूडालाका गाढ़ आलिङ्गन किया । उस समय स्नेह घनीभूत होकर टपक रहा था, आँखोंसे प्रेमाश्रु झर रहे थे और प्रेम स्फुरित हो रहा था । तदनन्तर शिखिध्वजने कहा—'प्रिये ! तुम बालचन्द्रमाके सदृश सुन्दरी हो, फिर भी तुमने अपने पतिके लिये चिरकालतक कितना दारुण कष्ट उठाया है । मैं इस दुस्तर भवकूपमें डूब रहा था,

तुमने अपनी जिस सत्त्वमयी बुद्धिके आश्रयसे मेरा उससे उद्धार किया है, तुम्हारी उस बुद्धिकी उपमा भला, किससे दी जा सकती है ? वह अनुपमेय है। सुन्दरि ! अलौकिक सौन्दर्यवाली नारियोंमें धी, श्री, कान्ति, क्षमा, मैत्री और करुणा आदि उत्तम रूपवती मानी जाती हैं; परंतु तुम तो उन सभीमें मुख्य प्रतीत हो रही हो। तुमने घोर प्रयत्न करके मुझे ज्ञानसम्पन्न बनाया है। इस उपकारके बदलेमें मैं ऐसा कौन-सा कार्य करूँ जिससे तुम्हारा मन प्रसन्न हो। प्रिये ! जो कुलीन स्त्रियाँ होती हैं, वे उद्योगपरायण होकर अनादि कालसे चले आते हुए अत्यन्त गहनसे भी गहन मोहरूपी सागरमें पड़े अपने पतिका उद्धार कर ही लेती हैं। यहाँतक कि कुलाङ्गनाएँ अपने पतिके लिये सखा, भ्राता, सुहृद्, भृत्य, शिक्षक, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, घर, दास आदि सब कुछ बन जाती हैं। अतः जिनमें इहलोक तथा परलोक—दोनोंका सम्पूर्ण सुख प्रतिष्ठित है, उन कुलाङ्गनाओंका सभी प्रयत्नोंद्वारा सर्वदा सम्यक्‌रूपसे आदर-सत्कार करना चाहिये। रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुणरूपी रत्नोंसे विभूषित प्रिये ! तुम पतिव्रता सती हो। तुम्हारी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं और तुम संसार-सागरसे पार हो चुकी हो—ऐसी दशामें तुम्हारे इस उपकारका प्रतिशोध मैं कैसे कर सकूँगा।'

तब *चूडाला बोली*—पतिदेव ! बारंबार शुष्क क्रियाजालमें फँसकर जब आपका आत्मा व्याकुल हो जाता था, तब उसे देखकर मैं आपके लिये अत्यन्त चिन्तातुर हो जाती थी; इसलिये आपके आत्माको ज्ञानसम्पन्न बनाकर मैंने अपना ही तो स्वार्थ सिद्ध किया है—(अपनी चिन्ताका तो नाश किया है। इसमें आपका क्या उपकार किया।) आप तो व्यर्थ ही इस बातको लेकर मेरी प्रशंसा कर रहे हैं।

शिखिध्वजने कहा—वरारोहे ! ठीक है, तुम जिस प्रकारके शुभ स्वार्थका सम्पादन कर रही हो, वैसा ही स्वार्थ सभी कुलाङ्गनाएँ सिद्ध करें।

चूडाला बोली—देव ! 'यह करूँ, यह न करूँ, इसे प्राप्त करूँ' इस प्रकारकी बुद्धिकी [illegible] कोमलतारूप जो स्थिति थी, उसका [illegible] अंदर उपहास करते हैं ! क्योंकि जैसे आकाशमें [illegible] नहीं दीख पड़ते, उसी प्रकार आपमें वे पहलेके तुच्छ तृष्णाओंका समूह तथा कुत्सित संकल्पकी कल्पनाएँ अब दृष्टिगोचर नहीं हो रही हैं। प्रियतम ! अब आपका कैसा स्वरूप बन गया है ! किस वस्तुमें आपकी निष्ठा है और आप क्या चाहते हैं ! प्रिये ! [illegible] अपनी पिछली शारीरिक चेष्टाओंको कैसा देखते हैं !

शिखिध्वजने कहा—प्रिये ! जिस-जिसके अंदर तुम हो, उसी-उसीके अंदर मैं उपस्थित हूँ। मैं स्पृहा और स्पृहासे तथा एकदेशतासे रहित हो गया हूँ, आकाशके समान निर्मल हूँ, शान्त हूँ और वास्तविक परमार्थस्वरूप परमात्मा हूँ। भ्रमरलोचने ! मैं समस्त वस्तुओंकी [illegible] मुक्त एकमात्र चिन्मय परमात्मस्वरूप हूँ। [illegible] ! जो 'तत्' वस्तु—सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वही मैं हूँ। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं कह सकता। [illegible]-सदृश चञ्चल कटाक्षवाली प्रिये ! तुम मेरी गुरु हो, अतः मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम्हारी ही कृपासे मैं इस भवसागरसे पार हो पाया हूँ। अब मैं शान्त, [illegible] ज्ञानस्वरूपमें स्थित, [illegible], [illegible], [illegible] और एकदेशतासे रहित, सर्वव्यापक और [illegible] निर्मल आकाशकी तरह स्थित हूँ।

चूडाला बोली—प्राणनाथ ! [illegible] सम्पन्न तथा मेरे [illegible] हैं। [illegible] है, प्रभो ! बतलाइये, [illegible] चाहते हैं ?

शिखिध्वजने कहा—[illegible] ! [illegible] और

आसक्तिसे रहित हो जानेके कारण मैं प्रारब्धानुसार न्यायतः प्राप्त वस्तुकी न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ। अतः अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो।

चूडाला बोली—जीवन्मुक्तस्वरूप महाबाहो! यदि ऐसी बात है तो अब आप मेरा मत सुनिये और उसे सुनकर तदनुकूल आचरण कीजिये। महाराज! सर्वत्र अद्वैतका बोध होनेसे हमलोगोंके अज्ञानका विनाश हो गया है, अतः अब हमलोग सारी इच्छाओंसे मुक्त होकर आकाशकी तरह निर्मल रूपमें स्थित हैं। प्रभो! इस समय राज्य-शासनद्वारा क्रमशः अपनी अवशिष्ट आयु बिताकर कुछ कालके बाद हमलोग विदेहमुक्त हो जायँगे। इसलिये नाथ! अब आप अपने नगरमें लौट चलिये और राजसिंहासनपर बैठकर राजकाज सँभालिये। रमणियोंकी भूषणस्वरूपा मैं आपकी पटरानी होकर रहूँगी। राजन्! न तो मुझे भोगोंकी इच्छा है, न विभूतियोंकी। मैं तो स्वभाववश जो कुछ भी न्यायतः प्राप्त हो जाता है, उसीसे निर्वाह करती हूँ। यह स्वर्ग, राज्य अथवा क्रिया—कोई भी मेरे लिये सुखदायक नहीं है। मैं तो अपने स्वरूपमें स्थित होकर तदनुकूल व्यापार-से युक्त हो अपनी वास्तविक स्थितिके अनुसार बिना किसी क्षोभके स्थित रहती हूँ। 'यह सुख है और यह दुःख है' इस द्वन्द्वके नष्ट होनेके साथ-साथ मैं शान्त परमपदमें सुखपूर्वक स्थित हूँ।

शिखिध्वजने कहा—विशाल नेत्रोंवाली प्रिये! तुमने अपनी निर्विकार बुद्धिसे जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है। हमें राज्यके ग्रहण अथवा त्यागसे क्या प्रयोजन है। हमलोग सांसारिक सुख-दुःखकी चिन्ता और मत्सरसे रहित मत्सरशून्य और ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हुए यथाप्राप्त स्थितिके अनुसार निवास करेंगे।

इस प्रकार वहाँ उन दोनों निर्दोष एवं प्रेमी पति-पत्नीके बहुत देरतक परस्पर वार्तालाप करते हुए सायंकाल हो गया। तब उन दोनोंने उठकर अपना दैनिक कार्य सम्पन्न किया। वे दोनों जीवन्मुक्त तो थे ही, अतः स्वर्गकी सिद्धिका अनादर करके सर्वथा समचित्त हो वे दोनों एक ही शय्यापर बैठ गये। उनकी वह रात्रि तरह-तरहकी प्रेमभरी चेष्टाओंकी पूर्तिमें ही बीत गयी।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर प्रातः-काल होनेपर वे प्रेमी दम्पति उस सुन्दर कन्दरामें बिछे हुए कोमल एवं चिकने पत्तोंके आसनपर उठकर बैठ गये। उस समय चूडालाने कहा—'प्रभो! आपका यह शान्त तेजःस्वरूप केवल मुनियोंके योग्य है, अतः इसका परित्याग करके अब आपको इन्द्रादि अष्ट लोकपालोंके समान तेजस्वी रूप धारण करना चाहिये।'

उस वनमें चूडालाके यों कहनेपर राजा शिखिध्वजने 'ठीक है, ऐसा ही करूँगा' यों कहकर महाराजका स्वरूप धारण कर लिया और अपनी प्रिया चूडालासे कहा—'कमलदलके सदृश नेत्रोंवाली प्राणवल्लभे! अब तुम्हें चाहिये कि क्षणभरमें ही अपने सत्यसंकल्पसे महान् वैभवसे युक्त विशाल सैन्यदल एकत्र कर दो।' अपने पतिकी यह बात सुनकर सुन्दरी चूडालाने ज्यों ही सेनाका संकल्प किया, त्यों ही उन दोनोंने देखा कि एक विशाल सेना सामने प्रत्यक्ष खड़ी है, जिसने उस काननको ठसाठस भर दिया है। वह हाथी-घोड़ोंसे भरी-पूरी है तथा पताकाओंसे आकाशको पूर्ण-सा कर रही है। जिसकी तुरही आदिके शब्द पर्वतोंकी गुफाओं तथा गहन कोटरोंको प्रतिध्वनित कर रहे हैं। तब उस सेनामें, जिसके चारों ओर राजालोग मण्डलाकारमें खड़े थे तथा हृष्ट-पुष्ट सामन्त जिसकी रक्षा कर रहे थे ऐसे एक मदस्रावी गजराजकी पीठपर वे राजदम्पति सवार हुए। तत्पश्चात् अपनी प्रियतमा महा-रानीसहित महाबली राजा शिखिध्वजने पैदल सैनिकों तथा रथोंसे खचाखच भरी हुई उस विशाल सेनाके साथ उस वनसे प्रस्थान किया। उस महेन्द्र पर्वतसे चलकर राजा शिखिध्वज मार्गमें काननोंसहित पर्वत, देश, नदी

और ग्रामोंको देखते हुए तथा अपना सारा वृत्तान्त एवं तदन्तर्गत घटनास्थल अपनी प्रिया चूडालाको दिखाते हुए थोडे ही समयके बाद अपनी पुरीमें जा पहुँचे, जो स्वर्गके समान शोभायमान हो रही थी।

वहाँ पहुँचनेपर जय-जयकारके तुमुल नादसे जब राजाके सम्मानित सामन्तोंको पता लगा कि महाराज पधार रहे हैं, तब वे उनके स्वागतके लिये सेना लेकर नगरसे बाहर निकले। उस समय तुरहीके तुमुल नादसे निनादित हुई दोनों सेनाएँ एकमेक हो गयीं। तत्पश्चात् राजा शिखिध्वजने उन दोनों सेनाओंके साथ नगरमें



प्रवेश किया। उस समय नगरकी नारियाँ गवाक्षोंसे अञ्जलि भर-भरकर लाजा और पुष्पोंकी वर्षा कर रही थीं। राजा शिखिध्वज व्यापारियोंके मार्गों, जो हर्म्योंसे परम रमणीय था, देखते हुए राजमहलमें प्रविष्ट हुए। वह महल ध्वजा-पताकाओंसे खूब सजाया गया था और राजाके योग्य सारी माङ्गलिक वस्तुओंसे सम्पन्न था। वहाँ राजाने नमस्कार करते हुए प्रजाजनोंका भलीभाँति सम्मान किया। इस प्रकार सात दिनोंतक नगरमें बड़े धूमधामके साथ उत्सव मनाकर राजा अपने अन्तःपुरमें निवास करते हुए अपने राज्यका पालन करने लगे। श्रीराम! इस प्रकार भूतलपर चूडालाके साथ दस हजार वर्षोंतक राज्य करनेके पश्चात् राजाका देहावसान हो गया। वे महाबुद्धिमान् नरेश इस शरीरको त्यागकर परमपदस्वरूप निर्वाणको प्राप्त हो गये।

श्रीराम! राजा शिखिध्वजके भय और विषाद नष्ट हो गये थे। मान और मात्सर्यसे वे रहित हो गये थे तथा वे न्याययुक्त प्राप्त शास्त्रोक्त स्वाभाविक कर्मोंका सम्पादन करनेवाले थे। भोगोंमें उनकी वैराग्यबुद्धि हो गयी थी और वे सबमें समरूप ब्रह्मदृष्टिसे युक्त हो गये थे। इस प्रकार उपर्युक्त बोधके द्वारा उन्होंने मृत्युको—इस मारको जीतकर दस हजार वर्षोंतक एकच्छत्र राज्य किया था।

(सर्ग १०९-११०)

बृहस्पतिपुत्र कचकी सर्वत्याग-साधनसे जीवन्मुक्ति, मिथ्यापुरुषकी आख्यायिका और उसका तात्पर्य

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह शिखिध्वज-की कथा मैंने तुमसे आद्योपान्त कह दी। श्रीराम! राजा शिखिध्वजने जिस प्रकार व्यवहार करते हुए राज्य किया, उसी प्रकार तुम भी राज्य-व्यवहार करो। शिखि-ध्वजकी तरह ही बृहस्पतिके पुत्र कचने भी ज्ञान प्राप्त किया था।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! बृहस्पतिके पुत्र समस्त वैभवोंसे परिपूर्ण कचने किस प्रकार ज्ञान

किया था, उस क्रमको संक्षेपमें मुझसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! देवताओंके आचार्य बृहस्पतिके पुत्र श्रीमान् कचने राजा शिखिध्वजकी तरह ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया था । इसकी कथा तुम सुनो । कचका अभी बाल्यकाल समाप्त ही हुआ था और ज्यों ही यौवन आरम्भ हुआ, त्यों ही वह संसार-सागरको तर जानेके लिये कटिबद्ध हो गया । वह पद और पदार्थका यथार्थ ज्ञाता था । वह अपने पिता बृहस्पतिसे कहने लगा—

कचने कहा—भगवन् ! सब धर्मोंका ज्ञान रखनेवाले पिताजी ! मैं इस संसाररूपी जालसे कैसे बाहर निकल सकता हूँ, यह आप बताइये ।

बृहस्पति बोले—पुत्र ! अनर्थरूप हजारों मगरोंके निवासस्थान इस संसार-सागरसे किसी प्रकारके उद्वेगके बिना किये गये सर्व-त्यागसे तत्काल ही प्राणी बाहर निकल जा सकता है ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! अपने पिताका यह परम पवित्र वचन सुनकर कच सब कुछ परित्याग करके एकान्त वनमें चला गया । पुत्रके चले जानेसे बृहस्पतिको चित्तमें जरा भी उद्वेग नहीं हुआ; क्योंकि जो महान् होते हैं, उनका मन संयोग और वियोग—दोनोंमें सुमेरु पर्वतके सदृश अचल रहता है । वनमें जानेके अनन्तर उसे जब आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तब किसी महारण्यमें उस कचने अपने पिताजीका दर्शन किया । कचने पहले अपने पिताजीकी विधिपूर्वक पूजा की, फिर उन्हें प्रणाम किया । बृहस्पतिने भी अपने पुत्रका आलिङ्गन किया । इसके बाद कचने अत्यन्त मधुर वाणीमें बृहस्पतिसे कहा—

कचने कहा—पिताजी ! मैंने जो सर्व-त्याग किया है, उसका आज यद्यपि आठवाँ वर्ष है, तथापि मुझे अभीतक निर्मल शान्ति प्राप्त नहीं हुई ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! कच अरण्यमें इस प्रकार दीन वचन बोल ही रहा था कि 'सभीका त्याग करो' यों कहकर बृहस्पति आकाशमें जाकर अदृश्य हो गये । बृहस्पतिके चले जानेके अनन्तर कचने अपने शरीरपरसे वल्कल आदिका भी परित्याग कर दिया और शरत्कालके आकाशकी तरह वह दिगम्बर हो गया । वह अनावृत दिशाओंमें रहने लगा । उसका शरीर शान्त और सुन्न हो गया था तथा वह श्वासमात्र ले रहा था । तीन वर्षके बाद खिन्न-चित्त उसने किसी एक जंगलमें फिर अपने गुरु उन्हीं पिताजीका दर्शन किया । भक्तिसे उसने अपने पिताजीका पूजन-अभिवादन आदि किया । पिताने भी अपने पुत्रका आलिङ्गन किया । इसके अनन्तर कच दुःखित होकर गद्गद वाणीसे पूछने लगा ।

कचने कहा—पिताजी ! मैंने सबका त्याग कर दिया, कन्था, दण्ड, कमण्डलु आदिका भी त्याग कर दिया । तथापि अपने आत्मपदमें मेरी स्थिति नहीं हुई । अब मैं क्या करूँ ?

बृहस्पति बोले—पुत्र ! चित्त ही सब कुछ है; अतः उसीका त्यागकर तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ । सर्वज्ञ लोग चित्तत्यागको ही सर्वत्याग कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! पुत्रसे ऐसा कहकर बृहस्पति शीघ्रतासे आकाशमें उड़ गये । इसके अनन्तर अन्तःकरणसे खेद निकालकर वह कच त्यागके उद्देश्यसे चित्तकी खोज करने लगा । खोज करनेपर भी जब उसे चित्तकी प्राप्ति नहीं हुई, तब उसने विवेकपूर्वक विचार किया कि 'देह आदि जो भी कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निरूपण नहीं हो सकता । इसलिये बेचारे अपराधशून्य देह आदिका मैं व्यर्थ ही क्यों त्याग करूँ ! इस परिस्थितिमें अब चित्तस्वरूप महाशत्रुको जाननेके लिये पिताजीके पास

ही जाता हूँ। उनसे जानकर मैं उसका त्याग करूँगा। तदनन्तर शीघ्र ही समस्त शोकोंसे मुक्त हो जाऊँगा।'

रघुवर! ऐसा विचारकर वह कच स्वर्गमें चला गया तथा बृहस्पतिके पास जाकर उसने स्नेहपूर्वक वन्दना और प्रणाम किया। फिर, एकान्तमें उसने उनसे पूछा—'भगवन्! चित्त क्या है? इसका आप मुझे



उपदेश दीजिये और चित्तका स्वरूप भी बतलाइये, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ।'

बृहस्पतिने कहा—आयुष्मन्! चित्त-तत्त्वज्ञ महानुभाव अपने अहंकारको ही चित्त जानते हैं; अतः प्राणीका जो यह भीतरी अहंभाव है, वही चित्त कहा जाता है।

कचने कहा—तैंतीस करोड़ देवताओंके गुरो! महामते! अहंभाव ही चित्तरूप कैसे हो सकता है, उसे मुझसे कहिये। योगियोंमें श्रेष्ठ! मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव-सा है कि किसी प्रकार सिद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिये इसका त्याग कैसे होगा?

बृहस्पतिने कहा—पुत्र! अहंकाररूप चित्तका त्याग तो फूलोंके मर्दनसे भी और नेत्रोंके मीचनेसे भी अत्यन्त सुलभ है; अतः इसके त्यागमें तनिक भी क्लेश नहीं है। तनय! इसका त्याग जिस उपायसे सुलभ होता है, वह उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो। जो वस्तु केवल अज्ञानसे उत्पन्न होती है, उसका परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे विनाश हो जाता है। पुत्र! जैसे मिथ्या भ्रम कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही अहंकार भी वास्तवमें कुछ है ही नहीं। अज्ञानियोंकी दृष्टिसे यह उसी प्रकार असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, जिस प्रकार बालककी दृष्टिसे असत् देनाल प्रतीत होता है। जैसे रज्जुमें भ्रान्तिसे बिना हुए ही साँप दिखायी पड़ता है, जैसे मरुभूमिमें बिना हुए ही जल दिखायी पड़ता है, वैसे ही अज्ञानसे अहंकार भी मिथ्या ही प्रतीत होता है। जैसे चन्द्रमा एक ही है; परंतु नेत्र-दोषसे मिथ्या ही दो दिखायी देता है, वैसे ही यह अहंकार अज्ञानसे ही दिखायी देता है। यह अज्ञानसे प्रतीत होता है; इसलिये तो असत्य नहीं है, और वास्तवमें है नहीं; इसलिये सत्य नहीं है। एक, आदि और अन्तसे रहित, चैतन्यमात्र, सभी ओरसे निर्मल, आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ सर्वानुभवरूप परमात्मा ही सत्य वस्तु है। सभी जगह और सभी प्राणियोंमें निरन्तर सब ओरसे प्रकाश करनेवाला वही एक चिन्मात्रस्वरूप परमात्मा उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार समुद्रकी चञ्चल अनन्त तरंगोंमें जल। विवेकबुद्धिसे विचार करना चाहिये कि यह अहंकार नामकी कौन वस्तु है और किस प्रकार किससे उत्पन्न हुई है? अज्ञानके कारण ही यह प्रतीत होता है; अतः मिथ्या है। इसलिये पुत्र! यह देह आदि मैं हूँ, इस प्रकार परिमिताकार और देश-कालसे परिच्छिन्न मिथ्या विचारको

छोड़ दो। तुम तो देश, काल आदि परिच्छेदोंसे शून्य, स्वच्छ, निरन्तर उदय-स्वभाव, व्यापक, सब पदार्थोंके रूपसे भासमान, निर्मल, अद्वय केवल सच्चिदानन्दमय हो। तुम सर्वदा ही अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त, नित्य चिन्मय परमात्मा हो। कच ! सत्स्वरूप तुम्हारा यह अहंभाव क्या वस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! देवगुरु बृहस्पतिसे अपनी आत्माको परमात्माके साथ एकरूपतासे सम्पन्न करानेवाला उत्तमोत्तम इस प्रकारका परम उपदेश पाकर उनका पुत्र कच जीवन्मुक्त हो गया। जिस प्रकार बृहस्पतिका पुत्र कच ममता और अहंकाररहित, अज्ञानमूलक जडचेतनकी ग्रन्थिसे रहित और परम शान्तबुद्धि होकर ब्रह्ममें स्थित रहा, उसी प्रकार तुम भी निर्विकार होकर स्थित रहो। इस अहंकारको तुम असत् समझो; क्योंकि मिथ्या खरगोशके सींगोंका त्याग और ग्रहण क्या ? तुम एकदेशी नहीं हो। संकल्परहित, सर्वभावरूप सर्वव्यापी, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर, मनसे रहित केवल सच्चिदानन्दघन-स्वरूप हो। निष्पाप श्रीराम ! यह मायामय सम्पूर्ण जगत् अज्ञानसे तो सत्-सा दिखायी पड़ता है और ज्ञानसे वह सब ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि यह अत्यन्त गाढ़, जो संसारकी माया है, उसका पार पाना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि जैसे शरद् ऋतुसे कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह माया परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे तुरंत नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर ! ज्ञातव्य तत्त्वके ज्ञानसे तृप्त हुआ भी मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। भला बतलाइये तो सही कि कौन ऐसा प्राणी है, जो तृप्त होता हुआ भी सामने रखे हुए अमृतरूपी पेयको न पीयेगा ? मुनिश्रेष्ठ ! मुझसे शीघ्र यह बतलाइये कि मिथ्यापुरुष नामकी कौन वस्तु है, जिसने सत्य वस्तु ब्रह्मको असत्य-सा बना रखा है और असत्य वस्तु समस्त जगत्को सत्य-सा बना डाला है !

श्रीवसिष्ठजी बोले—राघव ! मिथ्यापुरुषको जाननेके लिये यह सुन्दर हास्यप्रद आख्यायिका तुम सुनो, जो मेरे द्वारा कही जाती है। महाबाहो ! कोई एक माया-यन्त्रमय पुरुष था। वह केवल बालकके सदृश तुच्छबुद्धि, मूढ़ और अज्ञानसे आवृत था। वह किसी एक निर्जन एकान्त प्रदेशमें उत्पन्न हुआ था और उसी शून्य प्रदेशमें रहता था। वह वास्तवमें आकाशमें नेत्रदोषसे दिखायी पड़नेवाले केशोंके झुंड-सदृश और मरुभूमिमें मृगतृष्णाजलके सदृश मिथ्या ही था। वहाँ वृद्धिको प्राप्त हुए उस मिथ्यापुरुषके मनमें यह संकल्प हुआ कि मेरी प्रियसे प्रिय वस्तु आकाश है, अतः उसे कहीं-पर रखकर स्वयं मैं ही उसकी बड़े आदरसे रक्षा करूँ। इस प्रकार विचार करके आकाशकी रक्षाके लिये उसने एक घरका निर्माण किया। रघुनन्दन ! तदनन्तर उस घरके अंदर उसने यह आस्था बाँध ली कि यह आकाश मेरा है और इसकी मैंने रक्षा की है और उस गृहाकाशसे वह सन्तुष्ट हो गया। इसके अनन्तर कुछ कालके बाद वह उसका घर नष्ट हो गया। जब वह नष्ट हो गया, तब मिथ्यापुरुष इस प्रकार शोक करने लगा—'हा गृहाकाश, तुम नष्ट हो गये, अरे ! तुम एक ही क्षणमें कहाँ चले गये। हा हा ! तुम टूट गये। तुम बड़े अच्छे थे।'

इस प्रकार सैकड़ों बार शोक कर फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्यापुरुषने वहाँपर आकाशकी रक्षा करनेके लिये एक कूपका निर्माण किया और उसी कूपाकाशकी रक्षामें तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। कुछ समयके बाद उसका वह कूप भी नष्ट हो गया। जब कूपाकाशका नाश हो गया, तब वह महान् शोक-सागरमें निमग्न हो गया। कूपाकाशके लिये शोक कर चुकनेके अनन्तर उसने तत्काल ही एक घड़ेका निर्माण किया और घटाकाशकी रक्षामें तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। रघुकुलश्रेष्ठ ! कालसे उसका वह घट भी नष्ट हो गया। भाग्यहीन जिस किसी दिशाका ग्रहण करता है, वही नष्ट हो जाती

है । घड़ेके आकाशका शोक कर लेनेके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिये कुण्डका निर्माण किया और पहलेकी तरह ही कुण्डाकाशकी रक्षाके लिये तत्पर होकर संतुष्ट हो गया । कुछ कालके बाद उसका कुण्ड भी उसी प्रकार विनाशको प्राप्त हो गया, जिस प्रकार तेजसे अन्धकारका नाश हो जाता है । कुण्डाकाशके विषयमें भी उसने महान् शोक किया । कुण्डके आकाशका शोक करनेके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिये एक ऐसे घेरेका निर्माण किया, जिसमें चारों ओर कमरे तथा बीचमें एक बड़ा कमरा था, फिर उसीके आकाशकी रक्षामें तन्मय होकर वह संतुष्ट हो गया । जिसने अनेक प्रजाओंका ग्रास कर लिया है, समयपर वह काल इस घरको भी खा गया । उससे भी वह शोक-निमग्न हो गया । उस चतुःशाल घरके शोकके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिये मेघाकार कुसूल (कोठार) बनाया और फिर उसीके आकाशकी रक्षामें निरत हो संतुष्ट हो गया । उसके उस कुसूलको भी कालने वैसे अपहृत कर लिया, जैसे वायु मेघको अपहृत कर लेता है । उस कुसूलविनाशके शोकसे वह अत्यन्त सन्तप्त हो गया । इस प्रकार घर, चतुःशाल, कुण्ड और कुसूल आदिसे आकाशकी रक्षा करते हुए उस मिथ्यापुरुषका यह कभी समाप्त न होनेवाला काल बीतता ही जाता था । श्रीराम ! इस प्रकार गहन घर, कूप, कुण्ड आदि उपाधियोंसे आकाशको आत्मबुद्धिसे पकड़कर स्थित हुआ वह मिथ्यापुरुष गमनागमनकी आसक्तिसे मूढ़ और विवश होकर एक दुःखसे अति कठिन दूसरे दुःखमें आता और जाता रहता है ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—प्रभो ! मिथ्यापुरुषने प्रसंगसे आपने जिस मायामय पुरुषका कथन किया, वह किस अभिप्रायसे किया है और उसके द्वारा किये गये आकाशरक्षणका भी क्या अभिप्राय है, यह मुझसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! सुनो । अभी तो मैंने मिथ्यापुरुषकी कथा तुमसे कही है, उसका [illegible] तुमसे प्रकट करता हूँ । रघुनन्दन ! मैंने [illegible] जिस मिथ्यापुरुषका उस कथामें उल्लेख किया है, उसे तुम अहंकार ही जानो । वह शून्य आकाशमें मायासे उत्पन्न हुआ है । जिस मायामय आकाशके एक कोनेमें यह जगत् स्थित है, वह स्वयं सृष्टिके आदिमें भी [illegible], असत् और शून्यरूप ही रहता है । उस [illegible] अंदर प्राणियोंसे अत्यन्त अगम्य परमपद [illegible] विराजमान है और उसी ब्रह्मरूप मायाकाशके [illegible] अहंकारका वैसे ही उदय होता है, जैसे आकाशमें [illegible] और वायुसे स्पन्दनका उदय होता है । वह अहंकार ही पूर्वोक्त कथाका मायापुरुष है और वही मिथ्यापुरुष है; क्योंकि मायासे जो अहंकार उत्पन्न हुआ है, वह असत् एवं मिथ्यारूप ही है । कुँआ, कुण्ड, चतुःशाल, [illegible] आदि शरीरोंकी रचना कर मैंने उनके [illegible] की—यों अहंकारने ही आकाशमें संकल्प किया था । जगदाकाररूप विभ्रमोंसे यह अहंकार ही [illegible] मोहित करता है । उस व्यापक, शून्य, [illegible] ब्रह्ममें यह जगत् निश्चय ही मिथ्या है । [illegible] अहंकाररूप पुरुष मिथ्या ही सुख-दुःखका [illegible] हुआ स्थित था । श्रीराम ! आकाशमें [illegible] करते हुए उस मिथ्यापुरुषने घट [illegible] उनके आकाशोंका रक्षण करनेमें अनेक [illegible] ही अनुभव किया था । जो आत्मा है, वह [illegible] भी बड़ा है, परम शुद्ध है, [illegible] कल्याणरूप तथा शुभ है । उसको कौन [illegible] है और कौन उसकी रक्षा कर [illegible] आदिके विनष्ट हो जानेपर [illegible] नष्ट नहीं होता, [illegible] जीवात्मा कभी [illegible] आत्मा शुद्ध, केवल, चिन्मय तथा [illegible]

अत्यन्त सूक्ष्म तथा अहंकारसे रहित नित्य स्वप्रकाशरूप चेतन ही है; इसलिये आकाशके समान उसका नाश नहीं होता। वास्तवमें तो कहीं, किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न मरता ही है, केवल ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें प्रकाशित हो रहा है। आदि, मध्य और अन्तसे तथा उत्पत्ति और विनाशसे रहित वह परमात्मा एक, अद्वितीय, सत्य, परमपदस्वरूप और शान्तिमय है।

(सर्ग १११, ११२, ११३)

सब कुछ ब्रह्म ही है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! सृष्टिके आदिकालमें परब्रह्मसे यह संकल्प-विकल्पात्मक समष्टि मन उत्पन्न हुआ। वह उस परब्रह्ममें स्थित हुआ ही अनेक भिन्न-भिन्न कल्पनाओंका निमित्त बनकर आजतक विद्यमान है। जैसे फूलोंमें सुगन्ध, सागरमें बड़े-बड़े तरङ्ग और सूर्यमें किरणें स्वाभाविक ही रहती हैं, वैसे ही ब्रह्ममें मन भी स्वाभाविक ही रहता है। किंतु राघव! जो पुरुष इन किरणोंकी आदित्यसे अलग भावना करता है, उस पुरुषके लिये ये किरणे, आदित्यसे अलग ही हैं। जिसने केयूरकी सुवर्णसे पृथक्‌रूपसे भावना की, उसकी दृष्टिमें सुवर्णसे पृथक् ही केयूर प्रतीत होता है; क्योंकि उसकी भावनामें केयूर सुवर्ण नहीं है। परंतु जिसने किरणोंकी आदित्य-स्वरूपसे ही भावना की, उसकी दृष्टिमें वे किरणें आदित्यरूप ही ठहरती हैं और वह यह कहता है कि आदित्य रश्मिभेदोंसे शून्य ही है यानी आदित्य और किरणोंका परस्पर कोई भेद नहीं है। जिसने तरङ्गकी जलभिन्नरूपसे भावना की, उसमें एकमात्र तरङ्ग-बुद्धि ही स्थित रहती है, जल-बुद्धि नहीं। किंतु जो पुरुष तरङ्गकी जलरूपतासे भावना करता है उसे सामान्य जल-बुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरङ्गके भेदसे निर्मुक्त निर्विकल्पक कहा जाता है। जो पुरुष केयूर स्वर्णसे भिन्न नहीं है, ऐसी भावना करता है, वह सामान्य स्वर्ण-बुद्धिवाला भेदशून्य निर्विकल्प कहा जाता है। ज्वालापङ्क्ति अग्निसे भिन्न है, जो पुरुष ऐसी भावना करता है उसे अग्नि-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, केवल ज्वाला-बुद्धि ही रहती है। किंतु ज्वालाकी पङ्क्ति अग्निसे भिन्न नहीं है, इस प्रकार जो भावना करता है उसको केवल अग्नि-बुद्धि ही रहती है और उसे निर्विकल्पक कहा जाता है। जो पुरुष निर्विकल्प है, वही महान् है। उसकी बुद्धि कभी क्षीण नहीं होती, सदा एकरस रहती है। उसने प्राप्तव्य वस्तु परमात्माको प्राप्त कर लिया। इसलिये वह सांसारिक पदार्थोंमें कभी नहीं फँसता। स्वप्रकाश स्वयं आत्मा ही अपने आप जब संकल्प करता है, तब वह आत्मा ही भिन्नकी तरह भासनेवाला संकल्पात्मक मन हो जाता है। फिर मन ही अपनी विश्वाकार आकृतिकी भावना कर लेता है। वह विश्वाकार संकल्परूप चित्त इस जगत्‌की जिस रूपसे कल्पना करता है, तत्क्षण ही संकल्पोंसे वह तद्रूप हो जाता है। यह जो जगद्रूप विशाल आकार देखा जाता है, सब मनका संकल्प ही है। वह सत्य तो इसलिये नहीं है कि वह वास्तवमें संकल्परूप होनेके कारण मिथ्या है और सर्वथा सत्य इसलिये नहीं कहा जाता कि वह प्रतीत होता है। किंतु स्वप्नोंके सदृश अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ है; क्योंकि वह स्वप्नके संसार-जालके समान है। जैसे साधारण प्राणीके मनका संकल्प विविध सामग्री-रचनाओंसे सुन्दर लगता है, वैसे ही हिरण्यगर्भका भी यह व्यापक मनका संकल्प सुन्दर लगता है। 'जगत् परब्रह्म-स्वरूप है' इस प्रकारकी भावना करनेपर यह जगत् ब्रह्ममें विलीन हो जाता है। वास्तवमें तो यदि देखा जाय, तो यह जगत् कुछ भी नहीं है। किंतु यदि दृश्य जगत्‌को अपरमार्थतः देखा जाय, तो वह

हजारों शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त हो जाता है। अतः तुम जो कुछ करते हो, उसे निर्मल चिन्मय ब्रह्म ही समझो; क्योंकि ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें वृद्धिको प्राप्त हो रहा है। इसलिये उस रूपसे भिन्न और कुछ भी नहीं है।

(सर्ग [illegible])

भृङ्गीशके प्रति महादेवजीके द्वारा महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागीके लक्षणोंका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! किसी समयकी बात है कि सुमेरु पर्वतके अग्निसदृश उत्तरीय शिखर-पर अपने समस्त परिवारके साथ भगवान् शङ्कर विराजमान थे। अपने परिवारके साथ बैठे हुए उमापतिसे साधारण आत्मज्ञान रखनेवाले महान् तेजस्वी विनम्र भृङ्गीशने, जो वहींपर उपस्थित था, अञ्जलि बाँधकर पूछा—'महाराज! इस क्षणभङ्गुर जगद्रूपी घरके अंदर विश्रामसुखसे किस आन्तरिक निश्चयका अवलम्बन करके मैं समग्र चिन्ताज्वरसे मुक्त होकर निश्चलरूपसे स्थित रह सकता हूँ?'

भगवान् शङ्कर बोले—अनघ! तुम समस्त शङ्काओंसे रहित होकर अविनाशी अचल धैर्यका अवलम्बन कर महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो जाओ।

भृङ्गीशने कहा—प्रभो! ऐसे वे कौन-से लक्षण हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कहा जा सकता है, उन्हें मुझसे भली-भाँति कहिये।

भगवान् शङ्कर बोले—महाभाग! अहंता, पाप और मात्सर्यसे रहित जो मननशील पुरुष उद्वेगसे रहित हो शास्त्रविहित क्रियाओंका अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो कहींपर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षीके सदृश निर्विकार रहता है और जो न्याययुक्त प्राप्त कार्यका निष्कामभावसे आचरण करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है। उद्वेग और हर्षसे रहित जो पुरुष निर्मल समबुद्धिसे शोकजनक परिस्थितियोंमें शोक नहीं करता और हर्षजनक परिस्थितियोंमें हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो शान्तमन मुनि अपने प्रारब्धसे जिस समय जो भी कोई न्यायोचित कार्य प्राप्त हो जाय, उस समय उस कार्यको कामना-रहित हो करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जन्म, स्थिति और विनाशमें तथा उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंमें जिसका मन सम ही रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है।

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो किसीकी अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्धके अनुसार न्याययुक्त प्राप्त हुए सारे पदार्थोंका उपभोग करता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष अहंकारसे रहित और परमात्मामें स्थित होनेके कारण न्यायपूर्वक इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करता हुआ भी ग्रहण नहीं करता, कर्मोंका आचरण करता हुआ भी आचरण नहीं करता एवं पदार्थोंका उपभोग करता हुआ भी उपभोग नहीं करता, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष बुद्धिकी लिप्सासे रहित होकर साक्षीके सदृश समस्त लोकव्यवहारोंका किसी कामनाके बिना अनुभव करता है, वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है। जैसे समुद्र नाना नदियोंके जलोंको समान-रूपसे ग्रहण करता है, वैसे ही जो मनुष्य अपने पास आये बड़े-बड़े सुख-दुःखोंको समानरूपसे ग्रहण करता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष कडुए, [illegible], नमकीन, तीते, मीठे, खारे, स्वादु या अस्वादु [illegible] प्राप्त करके समान बुद्धिसे [illegible] है—वह महा-भोक्ता कहा जाता है।

काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म, सुख, दुःख, जन्म और मृत्युका जिसने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त संशयों, वाणी, मन और शरीरकी सभी चेष्टाओं तथा सम्पूर्ण सांसारिक निश्चयोंका जिस पुरुषने विवेक-पूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। यह जितनी भी सम्पूर्ण दृश्यरूप मनकी कल्पना दिखायी दे रही है, उसका जिस पुरुषने अच्छी तरहसे त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है।

निष्पाप श्रीराम! देवदेवेश भगवान् शङ्करने बहुत दिन पहले भृङ्गीशको इस तरहका उपदेश दिया था। श्रीराम! सदा प्रकाशमान, निर्मलस्वरूप, आदि और अन्तसे शून्य केवल परब्रह्म ही है, ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी पदार्थ नहीं है; क्योंकि इस संसारमें जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब कुछ कल्पोंके कार्यका एकमात्र मूल कारण निर्विकार परमात्मस्वरूप परब्रह्म ही है। वह परमात्मा बड़े-बड़े अनेक सर्गोंसे विशाल आकारवाला होनेपर भी वास्तवमें आकाशके समान निराकार ही है। कहींपर कुछ भी पदार्थ, फिर चाहे वह स्थूल हो, सूक्ष्म हो अथवा कारणरूप हो,—सदा एकरस परब्रह्मसे भिन्न किसी तरह नहीं हो सकता; इसलिये तुम 'मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ,' इस प्रकारका अपने अंदर निश्चय करके स्थित रहो। (सर्ग ११५)

सर्वथा विलीन हुए या विलीन होते हुए अहंकार-रूप चित्तके लक्षण

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—सर्वधर्मज्ञ! भगवन्! अहंकार नामक चित्त जिस समय सर्वथा विलीन हो जाता है या विलीन होने लग जाता है, उस समयके वासनारहित अन्तःकरणका क्या स्वरूप होता है?

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! वासनारहित अन्तः-करणको बलपूर्वक उत्पन्न हुए भी—लोभ, मोह आदि दोष वैसे ही लिप्त नहीं कर सकते, जैसे कमलपत्रको जल लिप्त नहीं कर सकते। अहकार नामक चित्त और पापके विलीन हो जानेपर पुरुष सदा शान्त प्रसन्नमुख रहता है। उस समय साधककी वासनाओंका समूह छिन्न-भिन्न-सा होकर धीरे-धीरे बिल्कुल क्षीण होने लग जाता है। क्रोध और मोहका क्षय होने लगता है। काम और लोभ चले जाते हैं। इन्द्रियाँ और दुःख विकसित नहीं होते। ये सुख-दुःख आदि प्रतीत होनेपर भी, तुच्छ होनेके कारण, उस साधकके मनको लिप्त नहीं कर सकते। चित्तके विलीन हो जानेपर उस श्रेष्ठ साधक पुरुषकी देवतागण भी प्रशंसा करते हैं। उस पुरुषके हृदयमें शीतल चाँदनीरूपी समता उत्पन्न होती है। ऐसा श्रेष्ठ साधक पुरुष उपशान्त, कमनीय, सेव्य, अप्रतिरोधी (दूसरेकी इच्छाका विघात न करनेवाला), विनीत, बलशाली और स्वच्छ श्रेष्ठ शरीरवाला होकर रहता है। जो बुद्धिकी तीक्ष्णतासे प्राप्त करने योग्य है और जिसकी प्राप्ति होनेपर समस्त आपत्तियाँ अस्त हो जाती हैं, उस परमात्म-वस्तुमें जो मनुष्य मोहके कारण प्रवृत्त नहीं होता, उस नराधमको धिक्कार है। श्रीराम! दुःखरूपी रत्नोंकी खानि और जन्म-मरणरूप संसार-सागरके पार होनेकी इच्छावाले पुरुषको निरतिशयानन्दमय परमात्मामें नित्य निरन्तर समुचित विश्राम पानेके लिये 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत् क्या है, परमात्मतत्त्व कैसा है? इन तुच्छ भोगोंसे कौन-सा फल मिलेगा?' इन प्रश्नोंपर विवेकपूर्वक विचार करना चाहिये। यही परम साधन है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त साधनका आश्रय लेना चाहिये।

(सर्ग ११६)

महाराज मनुका इक्ष्वाकुके प्रति, 'मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है'—यह बताते हुए देहमें आत्मबुद्धिका परित्यागकर परमात्मभावमें स्थित होनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तुम्हारे वंशके आदिपुरुष इक्ष्वाकु नामक राजा जिस प्रकारके विवेकपूर्वक विचारसे मुक्त हो गये, उस विचारको तुम सुनो। अपने राज्यका परिपालन करते हुए इक्ष्वाकु नामक राजा किसी समय एकान्तमें जाकर अपने मनमें स्वयं यह विवेकपूर्वक विचार करने लगे कि 'बुढ़ापा, मृत्यु, क्षोभ, सुख, दुःख तथा भ्रमसे युक्त इस दृश्य-प्रपञ्चका हेतु क्या है?' इस प्रकार विचार करते हुए भी वे जब जगत्‌के कारणको न समझ सके, तब उन्होंने एक दिन ब्रह्मलोकसे आये हुए सभामें बैठे तथा पूजित हुए अपने पिता प्रजापति मनुसे पूछा।

इक्ष्वाकुने कहा—भगवन्! आपकी दया ही आपसे पूछनेके लिये मुझे प्रेरित कर रही है। करुणानिधे! 'यह सृष्टि कहाँसे आयी है, इसका स्वरूप कैसा है तथा कब किसने इसकी रचना की है?' यह आप कहिये। भगवन्! विस्तृत जालमें फँसे हुए पक्षीकी भाँति मैं इस विषम संसारजालसे किस प्रकार मुक्त हो सकूँगा?'

मनु बोले—राजन्! तुम्हारे अंदर सुन्दर विकासयुक्त विवेकका उदय हुआ है, तभी तुमने यह प्रश्न किया है। यह प्रश्न मिथ्या संसारजालका उच्छेद करनेवाला तथा सब प्रश्नोंका सार है। महीपते! यह जो कुछ जगत् दिखायी दे रहा है, वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह आकाशमें प्रतीत होनेवाले गन्धर्वनगरकी भाँति तथा मरुस्थलमें प्रतीत होनेवाले जलकी भाँति मिथ्या है। किन्तु जो अविनाशी परब्रह्म है, वही 'तत्' और 'परमात्मा' इत्यादि नामोंसे कहा जाता है। उस परमात्मारूप दर्पणमें यह दृश्यरूप जगत् प्रतिबिम्बकी तरह प्रतीतिमात्र है। इसलिये वस्तुतः संसारमें न तो किसीका बन्धन है और न मोक्ष है। केवल एकमात्र सब विकारोंसे शून्य ब्रह्म ही है। जैसे समुद्रमें एक ही जल अनेक तरङ्गोंके रूपमें प्रतीत होता है, उसी तरह एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही [illegible] अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है। उस ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिये राजन्! तुम द्वन्द्व और [illegible] रहित होकर निर्भय-पदरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाओ।

अज्ञानकी उपाधिसे युक्त जीव कर्मानुसार [illegible] भोगते हुए अनेक योनियोंमें भ्रमण करते रहते हैं। किन्तु वास्तवमें सुख-दुःख और मोह आदि विकार [illegible] ही होते हैं, आत्मामें नहीं। परमेश्वर न तो [illegible] स्वाध्यायद्वारा और न गुरुके द्वारा ही दिखायी देता है। वह तो अपनी स्वच्छ—श्रद्धायुक्त पवित्र और स्थिर बुद्धिसे ही अपने आप दिखायी देता है। [illegible] जैसे मार्गमें राग-द्वेषरहित बुद्धिसे पथिक देखे जाते हैं, वैसे ही अपनी राग-द्वेषरहित बुद्धिसे ही [illegible] अपनी इन्द्रिय आदिका अवलोकन करना चाहिये। अपनी बुद्धिसे देहादि पदार्थमात्रका [illegible] ही त्यागकर अपने अन्तःकरणको शान्तिमय बनाकर [illegible] परमात्ममय हो जाओ। 'मैं ही देह हूँ' यह बुद्धि [illegible] फँसानेवाली है। इसलिये मुमुक्षु पुरुषोंको इस [illegible] बुद्धिको कभी नहीं अपनाना चाहिये। [illegible] भी सूक्ष्मतर सच्चिदानन्दघन हूँ— ऐसी जो [illegible] बुद्धि है, वह संसार-बन्धनसे [illegible] [illegible], कड़े, कुण्डल आदि आभूषणोंका [illegible] ही है, वैसे ही [illegible] परमात्माका संकल्प होनेसे [illegible] अनात्म देहादि दृश्यपदार्थोंका [illegible] अन्तःकरणको [illegible] समाधान [illegible] [illegible] फेन, बुद्बुद और [illegible] आकारोंमें दिखायी देता है, [illegible]

सच्चिदानन्द ब्रह्म ही नाना प्रकारके आकारोंमें प्रकट होता है। वत्स! तुम सङ्कल्परूपी कलङ्कोंसे रहित चित्तको परमात्मामें स्थापित करके कर्म करते हुए भी कर्तापनके अभिमानसे रहित, शान्त और सुखपूर्वक ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित हुए राज्य-पालन करो।

जैसे चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं रत्न आदिके प्रकाश, वृक्षोंके पत्ते तथा झरनोंके कण कल्पित हैं, वैसे ही इस ब्रह्ममें जगत् तथा बुद्धि आदि भी कल्पित ही हैं तथा वही ब्रह्म जगद्रूप होकर अज्ञानियोंके लिये दुःखप्रद हो रहा है। अहो! विश्वको मोहमें डाल देनेवाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके कारण संपूर्ण अङ्गोंमें भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त परमात्माको यह जीव नहीं देख सकता। इसलिये अहंकारसे रहित निर्मल सात्त्विक अन्तःकरणसे 'सभी पदार्थ निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है'—ऐसी भावना करे। 'यह रमणीय है और यह रमणीय नहीं है'—इस प्रकारकी भावना ही तुम्हारे दुःखका कारण है। वह भावना जब सर्वत्र समदृष्टिरूपी अग्निसे जल जाती है, तब कहीं भी दुःखका नामोनिशान भी नहीं रह जाता। निर्वासनारूप अस्त्रसे प्रियाप्रिय-रूप विषमताको परम पुरुषार्थके द्वारा तुम स्वयं ही काट डालो। राजन्! तुम निर्वासनारूप अस्त्रसे वासनारूप कर्म-वनको काटकर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मभाव प्राप्तकर शोकरहित हो जाओ। पुत्र! तुम सदसद्वस्तुके विवेकरूप विचारसे युक्त होकर समस्त कल्पनाओंसे रहित हो जाओ तथा समस्त विशाल भुवनोंको परमात्माके स्वरूपसे परिपूर्ण समझो। तदनन्तर जन्म-मरणरूप रोगसे रहित होकर परब्रह्म परमात्माके आनन्दका अनुभव करते हुए दीर्घकाल-तक स्थिर रहो और समता तथा शान्तिसे युक्त होकर निर्भय चेतन ब्रह्मस्वरूप बन जाओ।

(सर्ग ११७—११९)

सात भूमिकाओंका, जीवन्मुक्त महात्मा पुरुषके लक्षणोंका एवं जीवको संसारमें फँसानेवाली और संसारसे उद्धार करनेवाली भावनाओंका वर्णन करके मनु महाराजका ब्रह्मलोकमें जाना

मनु महाराजने कहा—राजन्! सबसे पहले शास्त्र और सज्जनोंकी संगतिसे अपनी बुद्धि शुद्ध और तीक्ष्ण करनी चाहिये। यही योगीके योगकी पहली भूमिका कही गयी है। इसका नाम 'श्रवण' भूमिका है। सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना 'मनन' नामक दूसरी भूमिका है। संसारके संगसे रहित होकर परमात्माके ध्यानमें नित्य स्थित रहना 'निदिध्यासन' नामक तीसरी भूमिका है। जिसमें वासनाका अत्यन्त अभाव है, वह ब्रह्म-साक्षात्कारसे अज्ञान आदि निखिल प्रपञ्चकी निवृत्ति करनेवाली 'विलापनी' नामकी चौथी भूमिका है। इस 'ब्रह्मवित्' पुरुषको संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। विशुद्ध चिन्मय आनन्दस्वरूपकी प्राप्ति पाँचवीं भूमिका है। इस भूमिकामें जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या जागे हुए पुरुषके सदृश रहता है। अर्धसुप्त पुरुषको संसारकी जैसी प्रतीति होती है, वैसी ही इस 'ब्रह्मविद्वर' जीवन्मुक्त पुरुषको होती है। छठी भूमिकामें एक विज्ञानानन्दघन परमात्माका ही अनुभव रहता है, संसारका अनुभव ही नहीं रहता। जैसे सुषुप्ति अवस्थामें मनुष्यको संसारकी प्रतीति नहीं होती, वैसे ही इस 'ब्रह्मविद्वरीयान्' योगीको जाग्रत् अवस्थामें भी संसारकी प्रतीति नहीं होती। इसे स्वसंवेदनरूप शान्तिमय 'तुर्यावस्था' कहते हैं। केवल विदेह-मुक्तिरूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है। यह अवस्था समता, स्वच्छता और सौम्यतारूप है*। (इस

---

* शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत्।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः॥
विचारणाद्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका॥
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति॥

तुर्यातीत सप्तम भूमिकामें स्थित योगीको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं। इसमें गाढ़ सुषुप्तिकी तरह संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। छठी भूमिकामें स्थित योगीको तो दूसरेके द्वारा जगाये जानेपर प्रबोध होता है। किंतु सातवीं भूमिकामें स्थित योगी मुर्देकी भाँति दूसरेके द्वारा जगाये जानेपर भी नहीं जागता; क्योंकि वह जीता हुआ ही मुर्देके तुल्य है। वह जीता है तो भी थोड़े समय ही जीता है। मरनेपर उसकी आत्मा ब्रह्ममें विलीन हो जाती है, तब उसको भी विदेहमुक्त कहते हैं। यह तुर्यातीत अवस्था परम मुक्तिरूप है।

इन सातोंमें जो पहलेकी तीन भूमिकाएँ हैं, वे जाग्रद्रूप ही हैं और जो चौथी भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गयी है; क्योंकि उसमें जगत् स्वप्नके सदृश प्रतीत होता है। आनन्दके साथ एकात्मभाव हो जानेसे पाँचवीं भूमिका अर्ध-सुषुप्तरूप है तथा अन्य पदार्थोंके ज्ञानसे रहित एकमात्र स्वसंवेदनरूप छठी भूमिका तुर्य शब्दसे कही जाती है। तुर्यातीत शब्दसे कहलानेवाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है। यह अवस्था मन और वाणीसे परे है तथा केवल स्वप्रकाश परब्रह्मरूप ही है। राजन्! इस सप्तम भूमिकाके अवलम्बनसे सब दृश्योंको ब्रह्ममें विलीन करके तुम यदि दृश्यके चिन्तनसे रहित हो जाओगे तो निश्चय ही मुक्त हो जाओगे, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि जिसकी बुद्धि भोगों और सुख-दुःखोंसे लिपायमान नहीं होती, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। 'मैं जीवन-मरण, सत्-असत् सबसे रहित हूँ'—इस प्रकार जो मनुष्य आत्माराम होकर स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा गया है। मनुष्य व्यवहार करे चाहे न करे, गृहस्थ हो चाहे अकेला विचरण करनेवाला यति हो, परंतु 'मैं वास्तवमें कुछ भी नहीं हूँ, केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ' ऐसा निश्चय करनेसे सदा शोकसे मुक्त ही रहता है। 'मैं निर्लेप, अजर, राग-रहित, वासनाओंसे शून्य, शुद्ध अनन्त चिन्मय ब्रह्म हूँ'—ऐसा मानकर पुरुष सदाके लिये शोकसे मुक्त हो जाता है। 'मैं अन्त और आदिसे रहित, शुद्ध-बुद्ध, अजर-अमर और शान्त हूँ तथा सभी पदार्थोंमें समरूपसे स्थित हूँ'—ऐसा मानकर पुरुष सदाके लिये शोकसे परे हो जाता है। क्षीण वासनासे युक्त हो या सर्वथा वासनासे रहित होकर जो पुरुष जिस अर्थका सेवन करता है वह अर्थ उस पुरुषके लिये न सुखजनक होता है और न दुःखजनक ही होता है। अनघ! वासनारहित बुद्धिसे जो कर्म किया जाता है, वह कर्म जले हुए बीजके सदृश रहता है। वह फिर अङ्कुर उत्पन्न नहीं करता अर्थात् भावी जन्मको देनेवाला नहीं होता। देह, इन्द्रिय आदि जो भिन्न-भिन्न करण हैं, उन्हींके द्वारा कर्म किये जाते हैं। ऐसी स्थितिमें जीवात्मा कर्ता नहीं है, इसलिये भोक्ता भी नहीं है। यह परमात्म-विषयक ज्ञानकी वृत्ति यदि भीतर एक बार उत्पन्न हो जाय तो उर्वरा भूमिमें बोये गये धानके सदृश अनिवार्यरूपसे दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है।

राजन्! व्यष्टिचेतनको जबतक विषयभोगकी अभिलाषा बनी रहती है, तभीतक उसकी 'जीव'-संज्ञा है। यह अभिलाषा भी अज्ञानके कारण ही है। जब यथार्थ ज्ञानसे विषयभोगकी अभिलाषा नष्ट हो जाती है, तब यह व्यष्टि-चेतन जीवत्वरहित और निर्विकार होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। राजन्! कर्मानुसार ऊपरके लोकसे नीचेके लोकमें तथा नीचेके लोकसे ऊपरके लोकमें दीर्घकालतक आवागमन करते हुए तुम संसाररूपी अरहटकी चिन्तारूपी रज्जुमें घड़ेके सदृश मत बनो। 'ये पुत्र-कलत्र आदि मेरे हैं और मैं इन पुत्र-कलत्र आदिका हूँ' इस प्रकारके व्यवहाररूपी दृढ़ भ्रमका जो शठ मोहसे सेवन करते हैं, वे नीचीसे भी नीची योनिको

स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः॥
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम्।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत्॥
(नि० पू० १२०। १—५)

प्राप्त होते हैं। 'पुत्र-कलत्र आदिका मैं सम्बन्धी हूँ और पुत्र, कलत्र आदि परिवार मेरा सम्बन्धी है तथा मैं ऐसा हूँ' इस प्रकारके मोहको जिन लोगोंने बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया है, वे महानुभाव ऊँचेसे भी ऊँचे लोकको प्राप्त होते हैं। इसलिये राजन्! तुम अपने आप ही प्रकाशित होनेवाले चिन्मय परमात्माका शीघ्र ही आश्रय लेकर स्थित हो जाओ और समस्त जगत्‌को परिपूर्ण अनन्त विज्ञानानन्दघनरूप ही देखो। जिस समय तुम इस प्रकारके सर्वव्यापी, पूर्ण, चिन्मय परमात्माके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान जाओगे, उसी समय संसारसे तर जाओगे और परब्रह्म हो जाओगे; क्योंकि जो पुरुष विज्ञानानन्दघन-स्वरूप हो गया है, जो संसाररूपी मृत्युसे पार हो चुका है और जिसका चित्त विलीन हो गया है, उस महापुरुषको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसकी उपमा किस आनन्दसे दी जा सकती है? इस परमात्माके स्वरूपको प्राप्त करनेपर अविद्या शान्त हो जाती है। फिर, उसके लिये ब्रह्मकी प्राप्तिके सिवा मोक्ष नामका न कोई देश है, न कोई काल है और न कोई स्थिति ही है; क्योंकि यह जो वासनारूपी अविद्या है, वह अहंकाररूपी मोहके विनाशसे विलीन हो जाती है और अविद्याका यह अभाव ही प्रसिद्ध मोक्ष है। जब योगीपुरुषकी अविद्या नष्ट हो जाती है, तब उसकी नाना प्रकारके शास्त्रार्थोंके विचारकी चञ्चलता शान्त हो जाती है। काव्य, नाटक आदि विषयोंकी उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है और उसके सारे विकल्प-विभ्रम विलीन हो जाते हैं। वह केवल शाश्वत और सम परमात्मस्वरूप होकर सुखपूर्वक स्थित रहता है।

जो वाणीसे अतीत ब्रह्ममें स्थित है तथा विषय-कामनासे रहित है, वह पुरुष संसारमें परम शोभासे सम्पन्न है। वह गम्भीर, प्रसन्न तथा निरन्तर परमात्माके आनन्दमें मत्त योगी स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप परब्रह्ममें रमण करता रहता है। वह सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करनेवाला, ब्रह्मानन्दमें नित्य तृप्त और संसारके आश्रयसे रहित योगीपुरुष पुण्य-पाप और हर्ष-शोक आदि विकारोंसे लिपायमान नहीं होता, जनसमूहमें विचरण करता हुआ भी वह ब्रह्मज्ञानी अपनी देहके छेदन या पूजनसे शोक या हर्षका अनुभव नहीं करता। उस ब्रह्मज्ञानी पुरुषसे प्राणियोंको उद्वेग नहीं होता। वह भी दूसरे प्राणियोंकी प्रतिकूल चेष्टासे उद्वेगवान् नहीं होता। वह ज्ञानीपुरुष अपने शरीरका किसी तीर्थमें त्याग कर दे या किसी चाण्डालके घरमें त्याग कर दे अथवा कभी भी शरीरका त्याग न करे या वर्तमान क्षणमें ही त्याग कर दे, फिर भी वह ज्ञानप्राप्तिकालमें पहलेसे ही अन्तःकरणसे रहित और जीवन्मुक्त हो चुका है। अहंकारकी भ्रान्ति बन्धनकारक है और ज्ञानसे अहंकारका नाश होकर मोक्ष-की प्राप्ति होती है। विभूति और वैभव चाहनेवाले पुरुष-को प्रयत्नपूर्वक उपयुक्त ज्ञानी महात्मा पुरुषकी पूजा, स्तुति, नमस्कार, दर्शन और अभिवादन करना चाहिये। प्रिय पुत्र! जो सांसारिक दोषोंसे सर्वथा रहित हैं, उन जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी सज्जनोंकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा-पूजा करनेसे जो परम पवित्र पद प्राप्त होता है, वह न तो यज्ञों और तीर्थोंसे प्राप्त होता है एवं न तपस्याओं तथा दानोंसे ही।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! यों कहकर मनु-भगवान् ब्रह्मलोकको चले गये और इक्ष्वाकु भी उस मोक्षरूप दृष्टिका अवलम्बन करके स्थिर हो गये।

(सर्ग १२०—१२२)

श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति जीवन्मुक्त पुरुषकी विशेषता, रागसे बन्धन और वैराग्यसे मुक्ति तथा तुर्यपद और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवन्! ऐसा होनेपर श्रेष्ठबुद्धि आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषमें अन्य सिद्धोंकी अपेक्षा कौन-सी विशेषता होती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी बुद्धि सच्चिदानन्द परमात्मामें ही दृढ़रूपसे जम जाती है। यही कारण है कि वह नित्यतृप्त शान्तचित्त पुरुष परमात्म-स्वरूपमें ही स्थित रहता है। मन्त्र, तप एवं तन्त्रकी सिद्धिसे युक्त सिद्धोंके द्वारा प्राप्त की गयी जो आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं, उनमें कौन-सी अपूर्व (महत्त्वकी) विशेषताकी बात है? मन्त्रसिद्धि आदिसे युक्त उन सिद्धोंने प्रयत्नपूर्वक साधन कर जिन अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति की है, उनमें ब्रह्मज्ञानी पुरुष कोई विशेषता नहीं समझता। उस जीवन्मुक्त महात्मामें यही विशेषता है कि वह मूढ़बुद्धि अज्ञानी पुरुषोंके समान नहीं रहता। उस महाबुद्धिका मन सभी वस्तुओंमें आसक्तिके परित्यागके कारण रागरहित तथा निर्मल ही बना रहता है और वह कभी भी विषयभोगोंमें नहीं फँसता है। जिसका स्वरूप समस्त बाहरी चिह्नोंसे रहित है तथा तत्त्वज्ञानसे दीर्घकालिक सांसारिक भ्रमकी निवृत्ति हो जानेके कारण जो परम शान्तिको प्राप्त हो चुका है, उस ज्ञानी महापुरुषमें काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियोंका नित्य अत्यन्त अभाव ही रहता है।

प्रिय श्रीराम! महासर्गके आरम्भमें प्राणी उस परमात्मासे निकलकर अपने अपने कर्मोंके अनुसार अनेक प्रकारके जन्मोंका अनुभव करते हैं। परमात्मासे निकलनेके बाद उन जीवोंके अपने-अपने जो कर्म हैं वे ही सुख और दुःखके कारण होते हैं तथा अपनी-अपनी समझके अनुसार उत्पन्न हुआ जो संकल्प है वही शुभाशुभ कर्मोंका कारण होता है। निष्पाप श्रीराम! ये इन्द्रियाँ जिस-जिस विषयकी ओर निरन्तर दौड़ती हैं, उस-उस विषयमें पुरुष रागके द्वारा बँध जाता है। इसलिये उन विषयोंमें राग न करनेवाला पुरुष ही मुक्त होता है। अतएव तृणसे लेकर देवादि शरीरतकके जितने स्थावर-जङ्गमरूप विनाशशील पदार्थ हैं, उनमें तुमको रुचि नहीं करनी चाहिये। तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो और जो कुछ दान करते हो, उन सब क्रियाओंमें तुम वास्तवमें न कर्ता हो और न भोक्ता हो; क्योंकि तुम उन सबसे मुक्त और शान्तस्वरूप हो। जो महात्मा पुरुष हैं, वे न तो अतीतके विषयमें शोक करते हैं और न भविष्यके विषयमें चिन्ता ही करते हैं। वे तो वर्तमानकालमें जो कुछ न्याययुक्त कर्म प्राप्त हो जाता है, उसीका उचितरूपमें सम्पादन करते हैं। श्रीराम! तृष्णा, मोह, मद आदि जितने त्याज्य भाव हैं वे सब मनमें ही स्थित रहते हैं, इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको अपने विवेक-विचारयुक्त मनके द्वारा ही मनसहित उनका विनाश कर देना चाहिये; क्योंकि जैसे अति तीक्ष्ण लोहेसे लोहा काटा जाता है, वैसे ही सब भ्रमोंकी शान्तिके लिये अति तीक्ष्ण विवेक-विचारयुक्त मनसे दोषसहित मन काटा जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिनायक! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें व्यापक और अभिन्न जो तुर्यरूप है, उसका विशेषरूपसे विवेचन करते हुए बतलाइये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! जो असक्त, सम और स्वच्छ स्वरूपस्थित है वही तुर्य है। जिसमें जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्थिति है, जो स्वच्छ, समरूप और शान्त है तथा जो व्यवहारकालमें साक्षीरूप है, वही तुर्यावस्था कही

जाती है। संकल्पोंका अभाव रहनेके कारण यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञानका अभाव होनेसे यह न सुषुप्त ही है अर्थात् यह इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत है। ज्ञानके द्वारा सामने दिखायी देनेवाले इस जगत्की जो निवृत्ति है, परमात्मामें स्थित एवं भलीभाँति प्रबुद्ध हुए ज्ञानी पुरुषोंकी उसी अवस्थाको तुर्यपद कहते हैं। अहंकारका त्याग होनेपर और चित्तके विलीन हो जानेपर जब समताकी उत्पत्ति हो जाती है, तब उसे तुर्यावस्था कहते हैं।

श्रीराम! इसके अनन्तर अब तुम्हें मैं एक दृष्टान्त बतला रहा हूँ, उसे सुनो। किसी एक विस्तृत घने जंगलमें महामौन धारण करके बैठे हुए किसी एक अद्भुत मुनिको देखकर एक व्याधने उनसे पूछा—'मुने! मेरे बाणके द्वारा घायल एक मृग इधर आया था, वह कहाँ चला गया?' इस प्रकारका उस व्याधका प्रश्न सुनकर उस मुनिने उस व्याधको उत्तर दिया—'सखे! हम जंगलके निवासी मुनि समता और शीलवान् होते हैं। व्यवहारका कारण जो अहंकार है, वह हमलोगोंमें नहीं है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य अकेला अहंकाररूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसंदेह चिरकालसे विलीन हो चुका है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक किसी भी अवस्थाको मैं नहीं जानता। इन अवस्थाओंसे अतीत एकमात्र तुर्यपदमें हो, जहाँ दृश्यका अभाव है, मैं स्थित रहता हूँ।' रघुनन्दन! उस मुनिश्रेष्ठके ऐसे वचन सुनकर वह व्याध उनके अर्थको न समझकर अपनी अभीष्ट दिशाकी ओर चला गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि महाबाहो! तुर्यसे श्रेष्ठ अन्य कोई अवस्था नहीं है। कल्पनासे रहित सच्चिदानन्द परमात्मा ही तुर्य है और वही यहाँ विद्यमान है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है; क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ चित्तका ही विकार होनेसे उसका स्वरूप है। जाग्रत् अवस्थाका चित्त घोर है, स्वप्न अवस्थाका चित्त शान्त है और सुषुप्त अवस्थाका चित्त मूढ़ है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे रहित हुआ चित्त 'मृत' है। जो 'मृत' चित्त है, उसमें एकमात्र सत्त्व ही समरूपसे स्थित रहता है। इसीका समस्त योगीजन बड़े यत्नके साथ सम्पादन करते हैं और मुक्त हो जाते हैं।

समस्त दृश्य-जगत्का बाध करना ही सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्रोंका परम सिद्धान्त है। वहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है; किंतु एक अद्वितीय, क्रियारहित शान्त विज्ञानानन्दघन परब्रह्म ही है। जो शान्त, चेतन, स्वच्छ, सर्वत्र एकरूपसे विद्यमान तथा सर्वशक्तिसम्पन्न 'ब्रह्म' नामसे कहा गया है, उसे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार निर्णय करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और कोई ईश्वररूप कहते हुए आपसमें विवाद किया करते हैं। मनुष्यको रमणीय या अरमणीय वस्तुको देखकर उनमें समभावसे स्थित रहना चाहिये। बस, इतने ही अपने साधनसे यह संसार जीत लिया जाता है। सुख या दुःख अथवा सुख-दुःख-मिश्रित पदार्थके प्राप्त होनेपर उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। बस, इतने ही अपने साधनसे वास्तविक अक्षय अनन्त सुखरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जिसने तीनों लोकोंकी सभी वस्तुओंके साररूप परमात्माका ज्ञान कर लिया है, जो शोभायमान तथा अमृतमय है और जिसका अन्तःकरण पूर्ण चन्द्रमण्डलके सदृश शान्त है, ऐसा परमपदमें स्थित ज्ञानी महात्मा पुरुष विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त करता है। वह कर्मोंको करता हुआ भी कुछ नहीं करता।

(सर्ग १२३—१२५)

योगकी सात भूमिकाओंका अभ्यासक्रम और लक्षण, योगभ्रष्ट पुरुषकी गति एवं महान् अनर्थकारिणी हथिनीरूप इच्छाके स्वरूप और उसके नाशके उपाय

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुने ! सातों योगभूमिकाओंका अभ्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिकामें योगीके चिह्न किस तरहके होते हैं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जीव चौरासी लाख योनियोंमें घूमता हुआ अन्तमें मनुष्य-जन्ममें भाग्योदय होनेपर विवेकी बन जाता है। 'अहो ! संसारकी यह व्यवस्था बिल्कुल असार है। इस व्यवस्थासे मुझे क्या प्रयोजन है ? इन व्यर्थ कर्मोंसे ही मैं अपना दिन क्यों बिता रहा हूँ ? मैं वैराग्यवान् बनकर किस तरह संसार-सागरको तैर जाऊँ'—इस प्रकारके विचारमें जब सद्बुद्धि प्राणी तत्पर होता है, तब उसके हृदयमें भोगों और सांसारिक सङ्कल्पोंमें हर समय वैराग्य रहता है। वह सत्सङ्ग, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना आदि उत्तम क्रियाओंका अनुष्ठान करता है और उन्हींमें प्रसन्न रहता है। तुच्छ व्यर्थ चेष्टाओंमें उसे निरन्तर वैराग्य रहता है। वह दूसरोंके दोषोंको प्रकट नहीं करता और स्वयं यज्ञ, दान, तप, सेवा-पूजा आदि पुण्य कर्मोंका ही सेवन करता है। वह किसीके भी मनमें उद्वेग न पहुँचानेवाले शास्त्रविहित विनययुक्त कर्मोंका आचरण करता है, शास्त्रविपरीत कर्मसे सदा डरता रहता है और सांसारिक विषयभोगोंकी कभी अभिलाषा नहीं करता। वह स्नेह और प्रणयसे पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश-कालोचित वचन बोलता है। वह मन, कर्म एवं वाणीसे सत्पुरुषोंका संग और सेवा करता है। जिस-किसी जगहसे ज्ञानदायक शास्त्रोंको प्राप्त करके उनका विवेक-विचारपूर्वक स्वाध्याय करता है। संसार-सागरको तैर जानेके लिये इस प्रकारके विचारसे सम्पन्न पुरुष प्रथम 'शुभेच्छा' नामक भूमिकाको प्राप्त होता है। इसमें उसे आत्मोद्धारके सिवा और कोई भी इच्छा नहीं रह जाती। इसीको 'श्रवण' भूमिका भी कहते हैं।

इसके बाद अधिकारकी प्राप्ति होनेपर वह 'विचार' नामक दूसरी योगभूमिकामें प्रवेश करता है। उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मोंमें तत्पर रहनेवाले पुरुषोंमेंसे, जिन्होंने अध्यात्म-शास्त्रोंकी प्रशस्त व्याख्या करनेके कारण अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है, उन श्रेष्ठ विद्वानोंका आश्रय लेकर उनके उपदेशानुसार साधन करता है। वह अध्यात्मशास्त्रका श्रवण करके कार्य और अकार्यके स्वरूपको तत्त्वतः जान लेता है। वह मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभको उसी तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप केंचुलको। उपर्युक्त यथार्थ निश्चयसे युक्त पुरुष सत् शास्त्र, गुरु और सज्जनोंकी सेवासे ब्रह्मविषयक रहस्यको विवेक-विचार-पूर्वक यथार्थरूपसे पूर्णतया जान लेता है और उसके अनुसार मनन करता है। वह अध्यात्मविषयक शास्त्रोंके वाक्यार्थमें अपनी बुद्धिको निश्चलतापूर्वक स्थापित करता है, तपस्वियोंके आश्रमोंमें निवास करता है, अध्यात्मशास्त्रोंकी कथाओंका मनन करता है तथा निन्दनीय संसारके विषय-भोगरूप पदार्थोंसे वैराग्य करके पत्थरकी चट्टानरूपी शय्यापर आसीन हो अपनी आयु बिताता है। अध्यात्म-विषयक सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननरूप अभ्याससे तथा निष्काम पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे उस पुरुषको अध्यात्मविषयक यथार्थ दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इस भूमिकाका नाम 'विचारणा' है। इसीको 'मनन' भी कहते हैं।

तीसरी भूमिकामें पहुँचकर विवेकी पुरुष दो प्रकारके असङ्गका अनुभव करता है। श्रीराम ! तुम इसके इस भेदको सुनो। यह असङ्ग दो तरहका है—एक सामान्य और दूसरा श्रेष्ठ (विशेष)। 'मैं न कर्ता हूँ और न भोक्ता ही; मैं सांसारिक कर्मोंके लिये बाध्य नहीं हूँ और न दूसरोंके लिये बाधक हूँ।' इस प्रकारके निश्चयसे

विषयभोगोंकी आसक्तिसे रहित होना ही सामान्य असङ्ग है। 'सुख या दुःखकी प्राप्ति पूर्वकर्मके अनुसार निश्चित और ईश्वरके अधीन है अर्थात् ईश्वरके विधानके अनुसार होती है। इसमें मेरा कर्तृत्व कैसा ? ये विस्तृत विषयभोग अन्तमें संताप देनेवाले होनेके कारण महारोग हैं तथा ये सांसारिक सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं। संयोगका अन्तमें वियोग निश्चित है और ये मनके सारे विकार बुद्धिकी व्याधियाँ हैं। सब पदार्थोंको ग्रास बना लेनेके लिये काल सदा तैयार रहता है।' इस तरह अध्यात्मविषयक वचनोंके अर्थमें संलग्न चित्तवाले पुरुषकी सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो आन्तरिक मिथ्यात्वकी भावना है, वह भी सामान्य असङ्ग कहलाता है। इस पूर्वोक्त अभ्यासयोगसे, महापुरुषोंकी संगतिसे, दुर्जनोंकी संगतिके त्यागसे, आत्मज्ञानके प्रयोगसे तथा लगातार अभ्यासयोगद्वारा अपने पुरुष-प्रयत्नसे संसारसागरके पार, सबके सार, परम कारणभूत परमात्माके ध्यानकी स्थिति हस्तामलकवत् दृढ़रूपसे खूब स्पष्ट हो जानेपर जो नाम-रूपकी भावनासे रहित होकर 'न मैं कर्ता हूँ, न ईश्वर कर्ता है, न प्रारब्ध कर्ता है'—यों शान्त और मौनरूपसे स्थित रहना है वही श्रेष्ठ (विशेष) असङ्ग कहलाता है। तथा जो शान्त, आदि-अन्तसे रहित सुन्दर सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहा जाता है। यही श्रेष्ठ असङ्ग नामक तीसरी भूमिका है। इसीको 'निदिध्यासन' भी कहते हैं। इस भूमिकामें स्थित पुरुष सम्पूर्ण संकल्पोंकी कल्पनाओंसे शून्य होकर परमात्माके ध्यानमें स्थित हो जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! असत्कुलमें उत्पन्न, कामोपभोगमें ही प्रवृत्त, अधम तथा योगी महात्माके सङ्गसे रहित मूढ़ मनुष्यका उद्धार कैसे होगा ? तथा पहली, दूसरी, तीसरी भूमिकामें आरूढ़ होकर मरे हुए प्राणीकी कैसी गति होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! प्रवृद्ध रागादि दोषोंवाले मूढ़ पुरुषको सैकड़ों जन्मोंके बाद जबतक काकतालीय न्यायसे या महापुरुषोंके सङ्गसे वैराग्य उत्पन्न नहीं हो जाता, तबतक उसका यह विस्तृत संसार रहता ही है अर्थात् बिना वैराग्यके उसका उद्धार होना कठिन है। वैराग्य उत्पन्न हो जानेपर प्रथम भूमिकाका उदय प्राणीको अवश्य होता है और तदनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रोंका परम सिद्धान्त है! प्रथम आदि भूमिकाओंमें पहुँचकर मरनेवाले प्राणीका भूमिकाओंके अनुसार ही पूर्वजन्मका दुष्कृत नष्ट हो जाता है। तदनन्तर वह योगी देवताओंके विमानोंमें, लोकपालोंके नगरोंमें तथा सुमेरु पर्वतके वन-कुञ्जोंमें, अप्सराओंके साथ रमण करता है। उसके बाद पूर्वजन्ममें किये गये पुण्यों और पापोंका भोगसमूहोंके द्वारा नाश हो जानेपर वे योगी लोग पृथ्वीपर पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीवान् सज्जनोंके घरमें जन्म लेते हैं और वहाँ जन्म लेकर वे लोग पूर्वजन्मके योग-साधनके संस्कारोंके अनुसार योगका ही साधन करते हैं। वहाँपर पूर्व जन्ममें की गयी भावनाओंसे अभ्यस्त हुए योगभूमिकाओंके क्रमका स्मरण करके वे बुद्धिमान् लोग आगेके भूमिका-क्रमका भलीभाँति अभ्यास करने लग जाते हैं।

श्रीराम! ये पूर्वोक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गयी हैं; क्योंकि इन भूमिकाओंमें यथावत् भेदबुद्धि रहनेसे यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत्कालकी तरह ही दिखायी पड़ता है। इन तीनों भूमिकाओंमें योगयुक्त पुरुषोंमें केवल आर्यता (श्रेष्ठता) का उदय होता है, जिसे देखकर मूढ़बुद्धि पुरुषोंको भी मुक्त होनेकी अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका भलीभाँति सम्पादन करता है तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंको सर्वथा नहीं करता है एवं सदाचारमें स्थित रहता है, वह आर्य कहा गया है। श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित, शास्त्रोक्त तथा मनको प्रिय और हितकर यथोचित व्यवहारोंको जो ग्रहण करता है, वह आर्य कहा गया है।

योगीकी वही आर्यता प्रथम भूमिकामें अङ्कुरित, द्वितीय भूमिकामें विवेकके द्वारा विकसित तथा तृतीय भूमिकामें संसारके असङ्ग और परमात्माके ध्यानरूप फलसे फलित होती है। इस तीसरी भूमिका (आर्यता) की प्राप्तिके बीचमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ संकल्पयुक्त भोगोंका चिरकालतक उपभोगकर पुनः योगी ही होता है। क्रमशः तीनों भूमिकाओंका अभ्यास करनेसे अज्ञानके नष्ट हो जानेपर वास्तविक ज्ञानका उदय होनेके बाद जब चित्त पूर्ण-चन्द्रोदयके सदृश हो जाता है, तब चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए युक्तचित्त योगीलोग सम्पूर्ण जगत्में विभागसे तथा आदि और अन्तसे रहित समभावसे परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही अनुभव करते हैं। द्वैतके सर्वथा शान्त हो जानेपर जब अद्वैत ही अचल रह जाता है तब चौथी भूमिकामें गये हुए योगीलोग समस्त संसारको स्वप्नके समान अनुभव करते हैं। इसलिये पूर्वोक्त तीन भूमिकाओंको तो जाग्रत् कहते हैं और चौथी भूमिकाको स्वप्न कहते हैं।

जो पुरुष पञ्चम भूमिकामें पहुँच गया है, वह केवल सत्स्वरूप ब्रह्म बनकर रहता है। इस अर्धसुषुप्त पञ्चम भूमिकाको प्राप्त करके पुरुष समस्त विकारोंसे मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मस्वरूप तत्त्वमें नित्य स्थित हो जाता है। पाँचवीं भूमिकामें स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्तिसे रहता है। बाह्य व्यापारमें लगा हुआ भी निरन्तर चारों ओरसे शान्त होनेके कारण तन्द्रामें स्थितके सदृश दिखायी देता है। वह कभी तो बाहरी व्यवहार करता है और कभी अटल समाधिमें स्थित रहता है। इस भूमिकामें वासनाशून्य होकर अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्या नामकी छठी भूमिकामें चला जाता है। उस भूमिकामें निर्विकल्प होनेके कारण योगी द्वैत और अद्वैतकी भावनासे रहित हो जाता है। वह चिज्जड-ग्रन्थिसे और संदेहसे रहित हो जाता है। वह वासनाओंसे रहित जीवन्मुक्त योगी चित्र-लिखित प्रदीपकी भाँति निर्वाणको न प्राप्त हुआ भी निर्वाणको प्राप्त हुआ-सा स्थित रहता है। (उसको बाहरी ज्ञान नहीं रहता। किंतु दूसरोंके चेष्टा करनेपर बाह्य ज्ञान हो सकता है।) वह जीवन्मुक्त योगी बाहर और भीतरसे शून्य आकाशमें स्थित घटकी तरह बाहर-भीतर संसारसे रहित रहता है तथा सागरमें परिपूर्ण घटके समान बाहर-भीतर ब्रह्मसे परिपूर्ण रहता है। तदनन्तर छठी भूमिकामें स्थित हुआ वह योगी सातवीं भूमिकामें पहुँचता है। सातवीं योग-भूमिका विदेहमुक्तता कही गयी है। वह शान्तस्वरूप, वाणीसे अगम्य और सभी भूमिकाओंकी सीमा है।

शैव उसे शिव कहते हैं, वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं और सांख्यवादी उसे प्रकृति और पुरुषका यथार्थ ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोगोंने अपनी बुद्धिके अनुसार अनेक रूपोंसे सप्तम भूमिकाकी भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेशयोग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया ही जाता है। (इस भूमिकामें स्थित योगीको दूसरोंके द्वारा चेष्टा करनेपर भी संसारका ज्ञान नहीं होता।) श्रीराम! ये सातों भूमिकाएँ मैंने तुमसे कह दीं। इनके अभ्यासयोगसे मनुष्य सम्पूर्ण दुःखोंसे रहित हो जाता है। धीरे-धीरे चलनेवाली अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करनेमें सदा तत्पर, अपने बड़े-बड़े दाँतोंसे ग्लानिको प्राप्त करनेवाली तथा अनन्त अनर्थोंको पैदा करनेवाली एक हथिनी है। उसे यदि किसी तरह मार दिया जाय तो मनुष्य इन उपर्युक्त समस्त भूमिकाओंमें विजयी बन सकता है। वह मदोन्मत्त हथिनी जबतक पराक्रमसे जीत नहीं ली जाती, तबतक कौन ऐसा वीर योद्धा है, जो उपर्युक्त भूमिका-पङ्क्तिरूपी समरभूमियोंमें प्रवेश करनेमें भी समर्थ हो!

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! वह प्रमत्त हथिनी कौन है, वे समरभूमियाँ कौन हैं, वह कैसे मारी जाती है तथा वह चिरकालतक कहाँ रमण करती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! 'मुझे यह मिल जाय,'

ऐसी जो 'इच्छा' है, उसीका नाम हथिनी है। वह शरीर-रूपी जंगलमें रहती है और मत्त होकर अनेक तरहके शोक, मोह आदि विकारोंको उत्पन्न करनेमें लगी रहती है। मतवाले इन्द्रियोंके समूह ही उसके उग्र प्रकृतिके बच्चे हैं। वह जीभसे मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्मरूपी दो दाँतोंसे युक्त वह मनरूपी गहन स्थानमें लीन रहती है। चारों ओर दूरतक फैले हुए वासनाओंका समूह ही इस हथिनीका मद है। और श्रीराम! संसारकी स्मृतियाँ इसकी युद्धभूमियाँ हैं। यहाँपर पुरुष बार-बार जय और पराजयका अनुभव करता है। यह इच्छा नामवाली हथिनी लोभी मनुष्योंको मारती है। वासना, इच्छा, मनन, चिन्तन, संकल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नाम हैं। यह अन्तःकरणरूपी कोशके अंदर रहती है। बहुत दूरतक फैली हुई तथा सब पदार्थोंमें निवास करनेवाली इस इच्छारूपी हथिनीपर अवहेलनापूर्वक 'धैर्य' नामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्रसे प्रहार करके सब प्रकारसे विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

'यह वस्तु मुझे इस प्रकार प्राप्त हो जाय!' यह इच्छा जबतक अन्तःकरणके भीतर प्रकट रहती है, तभीतक यह महाभयंकर कुत्सित संसाररूपी महाविषसे उत्पन्न विषूचिकारूपी महामारी बनी रहती है। 'यह मुझे मिल जाय' यह जो संकल्परूप इच्छा है, बस, यही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना ही मोक्ष है, यही ज्ञानका सार है। इच्छारहित विशुद्ध अन्तःकरणमें महापुरुषोंके पवित्र और सात्त्विक प्रसन्नता पैदा करनेवाले हितमय उपदेश दर्पणमें तैल-बिन्दुकी भाँति जम जाते हैं। एकमात्र विषयोंके स्मरणका परित्याग कर देनेसे इच्छारूपी संसारका अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। विषके तुल्य अनेक प्रकारका अनर्थ पैदा करनेवाली इस इच्छाको तनिक-सी बढ़ते ही विषयोंके विस्मरणरूप शस्त्रसे काट डालना चाहिये। इच्छासे युक्त जीवात्मा दीनताको कभी भी नहीं छोड़ सकता। सुन्दर असंवेदनमें यानी उत्तम रूपसे विषयोंका स्मरण न होनेमें श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने अंदर संकल्पोंसे रहित होकर मृतककी तरह स्थित रहे।

'यह मुझे मिल जाय' इस तीव्र इच्छाको ही उत्तम पुरुष 'संकल्प' कहते हैं और जो संसारके पदार्थोंकी भावनासे रहित होना है, उसीको 'संकल्पका त्याग' कहते हैं। श्रीराम! संकल्पको ही तुम स्मरण समझो। और विस्मरण (संकल्पके अभाव) को विद्वान् लोग कल्याण-रूप समझते हैं। संकल्पमें पहलेके अनुभव किये हुए पदार्थोंकी तथा भविष्यमें होनेवाले पदार्थोंकी भी भावना की जाती है। मै ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वरसे चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, किंतु इसे कोई सुनता नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेयका सम्पादक है। इसकी भावना लोग अपने हृदयमें क्यों नहीं करते?

श्रीराम! सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके व्यापारोंसे रहित और ध्यान-समाधिमें लीन बैठा हुआ पुरुष उस परम पदको प्राप्त करता है, जहाँ एकच्छत्र साम्राज्य भी तृणके सदृश तुच्छ है। इस विषयमें अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है? संक्षेपसे मैं इतना ही कहता हूँ कि संसारका संकल्प ही सबसे बढ़कर बन्धन है और उस संकल्पका अभाव ही मोक्ष है। संसारके स्मरणके अभावको ही स्वाभाविक 'चित्त-विनाशस्वरूप योग' कहते हैं और वह अक्षय योग शान्तरूपसे नित्य स्थित है। श्रीराम! शिव, सर्वव्यापी, शान्तिमय, चिन्मय, अज और कल्याणरूप ब्रह्मके साथ जो जीव-ब्रह्मके एकत्वका निश्चय है, वही वास्तविक सर्वत्याग है। श्रीराम! अहंता-ममताकी भावना रखनेवाला मनुष्य दुःखसे कभी छुटकारा नहीं पाता; किंतु अहंता-ममताकी भावनासे रहित हुआ मनुष्य मुक्त हो जाता है।

(सर्ग १२६)

भरद्वाज मुनिके उत्कण्ठापूर्वक प्रश्न करनेपर श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा जगत्‌की असत्ता और परमात्माकी सत्ताका प्रतिपादन करते हुए कल्याणकारक उपदेश

श्रीभरद्वाजजीने पूछा—गुरो ! निश्चय ही श्रीरामभद्र तो परम योगी, सबके वन्दनीय, देवताओंके भी ईश्वर, जन्म-मरणसे रहित, विशुद्ध ज्ञानमय, समस्त उत्तम गुणोंकी खान, समस्त ऐश्वर्योंके आधार तथा तीनों लोकोंके उत्पादन, रक्षण एवं अनुग्रह करनेवाले थे। उन ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण पूर्णज्ञानी और विशुद्धबुद्धि रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामभद्रने मुनिवर वसिष्ठजीके द्वारा उपदिष्ट इस अति प्राचीन समस्त ज्ञानरूपी सारका श्रवण कर क्या और भी कुछ पूछा था ?

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज ! वसिष्ठ मुनिके वेदान्तशास्त्रके सग्रहरूप वचनोंका श्रवण कर अखिल विज्ञानोंके ज्ञाता कमललोचन श्रीरामभद्र अपने चिन्मय आनन्द-स्वरूपमें स्थित रहे। उस समय वे प्रश्न, उत्तर और विभाग आदि करनेकी पद्धतिसे उपरत हो गये थे। उनका चित्त आनन्दरूप अमृतसे पूर्ण था। वे चिन्मय और सर्वव्यापी होनेके कारण अपने मङ्गलमय स्वरूपमें ही सम-भावसे नित्य स्थित थे। अतः उन्होंने उस समय वसिष्ठजीसे कुछ भी नहीं पूछा।

श्रीभरद्वाजजीने पूछा—मुनिनायक ! कहाँ तो मेरे-जैसे मूर्ख, स्तब्ध, अल्पज्ञ, पापी और कहाँ ब्रह्मा आदि देवता भी जिसकी आकाङ्क्षा करते हैं—उन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अपने स्वरूपमें स्थिति ! मुनीश्वर ! अहो ! मैं किस प्रकार परमात्मपदमें विश्राम पा सकूँगा और इस दुस्तर संसाररूपी महासागरके मोहरूपी जलसे किस प्रकार पार हो सकूँगा ? यह शीघ्र मुझसे कहिये।

श्रीवाल्मीकिजी बोले—शिष्य ! श्रीवसिष्ठजीके द्वारा कथित आरम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण राम-वृत्तान्त, मैंने तुमको सुना दिया, अब तुम अपनी बुद्धिसे पहले विवेकपूर्वक विचारकर पीछे उसका मनन करो। मैं भी इस विषयमें तुमसे जो वर्णन करने योग्य रहस्य है, उसे कहता हूँ, सुनो। भद्र ! यह जो यहाँ संसाररूप अविद्या-प्रपञ्च दीख रहा है, वह तनिक भी सत्य नहीं है। अर्थात् समस्त संसाररूप प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या ही है। विवेकी पुरुष वास्तविक तत्त्वको विवेचनपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, किंतु अविवेकी मनुष्य वाद-विवाद करते रहते हैं। प्रिय मित्र ! वास्तवमें सच्चिदानन्द परमात्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है अतः प्रपञ्चसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? मैं तुमसे आगे जो वेदान्तशास्त्रोंके रहस्य बतलाता हूँ, उनके अभ्याससे तुम अपने चित्तको परम विशुद्ध बना डालो।

मित्र ! यह जो संसाररूप प्रपञ्च दीखता है, इसके मूलमें भी सत्ताका अभाव ही है और इसके अन्तमें भी सत्ताका अभाव ही है। मध्यकालमें भी विचार करनेपर इसकी कोई सत्ता न होनेके कारण केवल प्रतीतिमात्र ही है। अतः विवेकी पुरुष इस संसारमें किसी तरहका विश्वास नहीं करते; क्योंकि अनादि वासनाके दोषसे ही यह असत् संसार दिखायी देता है। इसका गन्धर्वनगरके सदृश मिथ्या स्वरूप है और यह अनेक प्रकारके भ्रमोंसे भरा है। भद्र ! तुम चिन्मय रूपागरूपी अमृत-रसनाका अभ्यास न कर विषय-वासनारूपी विषलताका आश्रय कर क्यों व्यर्थ मोहमें फँसे हो ? सखे ! यह समस्त जगत् न तो आरम्भमें है और न अन्तमें ही है। इसलिये तुम यह भी समझ लो कि मध्यमें भी यह है ही नहीं। इस जगत्‌का सारा वृत्तान्त स्वप्न-जैसा है। अज्ञानमूलक ये सारे भेद जलमें बुद्‌बुदोंकी तरह क्षण-क्षणमें उत्पन्न होते रहते हैं; और अज्ञानका नाश होते ही एकमात्र ज्ञानरूप समुद्रमें विलीन हो जाते हैं। अकेला अज्ञानरूपी समुद्र ही समस्त जगत्‌को व्याप्त करके स्थित है। इस समुद्रमें

अविद्यारूप वायुसे उत्पन्न सबसे बड़ा यह 'अहम्' नामका तरङ्ग है। उन-उन विषयोंमें चित्तके गिरनेके जो नाना प्रकार हैं, उनके हेतुभूत राग आदि दोष इस समुद्रके छोटे-छोटे कल्पित तरङ्ग हैं। ममता ही इसमें आवर्त है, जो स्वतः ही इच्छानुसार प्रवृत्त होता रहता है। इस समुद्रमें राग और द्वेष बड़े-बड़े मगर हैं, उन्हीं दो मगरोंसे मनुष्य पकड़ लिया जाता है और उसका निश्चय ही अनर्थरूपी पातालमें प्रवेश हो जाता है। यह प्रवेश किसीसे भी रोका नहीं जा सकता। भद्र! प्रशान्त तथा अमृतरूप तरङ्गोंसे पूर्ण केवल आनन्दामृतके समुद्रमें ही प्रवेश करना चाहिये। व्यर्थ द्वैतरूप मकरोंसे पूर्ण लवणसागरके तरङ्गोंमें क्यों प्रवेश करते हो?

प्रसिद्ध परमात्माका जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी लोगोंके लिये अज्ञानसे आवृत रहता है। इसलिये जैसे साधारण मनुष्यको जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्योंको अनात्मामें आत्माका और आत्मामें अनात्माका भ्रम हो जाता है। मित्र! वास्तवमें न तो असद् वस्तुकी उत्पत्ति होती है और न सद् वस्तुका कभी अभाव होता है। केवल मायाद्वारा रचित चित्र-विचित्र रचनाओंके ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। इसलिये प्रचण्ड बने हुए अज्ञानकी इस व्यामोह-शक्तिको विशुद्ध सत्त्वके बलसे जीतकर विश्वासयुक्त मनसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि साधनोंका अनुष्ठान करो। इसके अनन्तर ध्यान-समाधिके द्वारा अपने-आप ही परमात्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करो, जिसके द्वारा अज्ञानसे आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात्रि दिनके रूपमें परिणत हो जाय। केवल पुरुष-प्रयत्नरूप कर्मोंसे महेश्वरकी कृपा प्राप्त होनेपर ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तु परमपदरूपी परमात्माकी प्राप्ति कर लेते हैं। भरद्वाज! तुम अपने विवेकसे इस मोहका स्पष्टरूपसे त्याग कर दो। फिर तो तुम असाधारण परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त कर लोगे। इसमें संदेह नहीं है। पुत्र! कामना और आसक्ति होनेपर शत्रुस्वरूप हुए जिस पुण्यकर्मसे तुम्हें इस प्रकारका बन्धन प्राप्त हुआ है, कामना और आसक्तिसे रहित होनेपर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्यकर्मसे ज्ञानके द्वारा तुम मोक्ष पा जाओगे; क्योंकि रागादि दोषोंसे रहित सज्जनोंका यह सत्कर्मोंका संवेग प्राणियोंके पूर्वजन्मके पापोंको नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापोंको वैसे ही शान्त कर देता है, जैसे वर्षाका जलसमूह दावानलको।

मित्र! संसारचक्रके आवर्तरूपी भ्रममें यदि तुम भ्रमण करना नहीं चाहते तो सारे काम्य-कर्मोंको छोड़कर केवल ब्रह्ममें आसक्त हो जाओ। ब्रह्ममें प्रीति न होकर जबतक बाह्य विषयोंमें आसक्ति है, तभीतक विकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखायी देता है। जैसे जलके तरङ्गयुक्त होने-पर ही समुद्र अपने तटको ओर जाकर उससे टकर खा करके विक्षिप्त होता है, जलके निश्चल रहनेपर तो वह केवल जलरूप ही दिखायी देता है। इसी प्रकार ब्रह्ममें चित्तकी स्थिरता होनेपर केवल ब्रह्म ही दिखायी देता है। किंतु जैसे समुद्रकी तरङ्गोंसे तृण विचलित रहते हैं, वैसे ही जो हर्ष और शोकसे विचलित हो जाते हैं, वे लोग श्रेष्ठ नहीं माने जाते। सखे! वह सारा जीवसमूह हर्ष-विषाद आदि अवस्थारूप झूलेपर निरन्तर आरूढ है। इसे राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि रूप छः झूलोंमें झुलाकर काल क्रीडा करता है। अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो? इस तरह क्रीडा करनेवाला काल ही अनेक उपायोंसे एकके पीछे एक अनेक सृष्टियोंको उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता है। जब देवगण भी दुष्ट कालके पिण्डसे छुटकारा नहीं पाते, तब क्षणभङ्गुर विनाशशील शरीरोंकी तो बात ही क्या? इसीलिये भरद्वाज! अनेक तरङ्गोंसे युक्त इस जगत्को क्षणभङ्गुर देखकर ज्ञानी पुरुष तनिक भी

शोक नहीं करता । अतः तुम अमङ्गलरूप शोकको छोड़ दो, कल्याणकारी वस्तुओंका विचार करो और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माका चिन्तन करो । जो पुरुष देव, द्विज और गुरुओंके ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्तवाले हो गये हैं और जो वेदादि सत्-शास्त्रोंमें विश्वासपूर्वक प्रामाण्य बुद्धि रखते हैं, उन पुरुषोंके ऊपर परमात्माका परम अनुग्रह होता है ।

भरद्वाजजीने कहा—भगवन् ! आपके प्रसादसे मैंने पूर्णरूपसे ब्रह्म और जगत्‌का सारा तत्त्व जान लिया । वैराग्यरूप साधनसे बढ़कर दूसरा कोई बन्धु नहीं है और संसारकी प्रीतिसे बढ़कर दूसरा कोई शत्रु नहीं है । अब मैं महाराज वसिष्ठजीद्वारा समस्त ग्रन्थमें कहे गये ज्ञानरूपी रहस्यका सम्पूर्ण निचोड़ थोड़े शब्दोंमें सुनना चाहता हूँ । कृपाकर कहिये ।

श्रीवाल्मीकिजी बोले—भरद्वाज ! मुक्ति देनेवाले इस महान् ज्ञानको तुम सुनो । इसके केवल सुननेसे ही तुम फिर संसाररूपी सागरमें नहीं डूबोगे । जो देव वास्तवमें एक होता हुआ भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका होकर स्थित है, उन सच्चिदानन्दरूप परमात्माको नमस्कार है । जब सारे प्रपञ्चका अपने कारणमें लय किया जाता है, तब जिस उपायसे परम तत्त्व प्रकाशित होता है, उस उपायको तुम्हें क्रमसे श्रुतिके अनुसार कहता हूँ । अपने अन्तःकरणसे तत्त्वका सदा ही विचार करना चाहिये । इसीसे वह परमात्मा प्राप्त किया जा सकता है । उसके प्राप्त होनेपर पुरुष फिर शोक नहीं करता । सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रसे प्राप्त विवेकसे वैराग्ययुक्त होकर पुरुषको उसी तत्त्वका बार-बार चिन्तन करना चाहिये । (सर्ग १२७)

श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा लय-क्रमका और भरद्वाजजीके द्वारा अपनी स्थितिका वर्णन, वाल्मीकिजी-द्वारा मुक्तिके उपायोंका कथन, श्रीविश्वामित्रजीद्वारा भगवान् श्रीरामके अवतार ग्रहण करनेका प्रतिपादन एवं ग्रन्थश्रवणकी महिमा

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज ! निषिद्ध कर्म, सकाम कर्म तथा विषयोंके साथ इन्द्रियोंके सम्बन्धसे जनित सुख-भोगसे रहित शम, दम और श्रद्धासे युक्त पुरुष कोमल आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको लीन करके तबतक ॐकारका उच्चारण करता रहे, जबतक मन पवित्र और प्रसन्न न हो जाय । तदनन्तर अपने अन्तःकरणकी विशुद्धिके लिये प्राणायाम करे और उसके बाद विषयोंसे इन्द्रियोंको धीरे-धीरे खींच ले । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस-जिसकी जिस-जिससे उत्पत्ति हुई है, उस-उसको जानकर उन-उनके उपादानकारणमें उन सबको विलीन कर दे । पहले अपने-आपको चराचर विश्वमें अनुभव करे । इसके बाद सारे विश्वको अपने आत्माके अंदर अनुभव करे; फिर विवेकके द्वारा इसका भी अभाव करके केवल आत्मामें ही स्थित रहे । तदनन्तर प्रकृतिसहित ब्रह्मके स्वरूपमें आत्मभावना करे । इसके पश्चात् परम कारणरूप भेदरहित निर्विशेष निराकार शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मामें आत्मभावना करे ।

(अब देह, इन्द्रिय आदिमें जिसकी जिससे उत्पत्ति हुई है, उसका उसमें लय करनेका प्रकार बतलाते हैं—)अपने स्थूल देहके मांस आदि, जो पार्थिव भाग हैं उनका पृथिवीमें, रक्त आदि जो जलीय भाग हैं उनका जलमें तथा जो तैजस भाग हैं उनका अग्निमें विवेकके द्वारा विलय कर दे । श्वासादि प्राणवायुका महावायु-में और आकाश-अंशका आकाशमें लय कर दे । अपने श्रोत्रेन्द्रियका दिशाओंमें और त्वगिन्द्रियका विद्युत्‌में लय कर दे । चक्षुरिन्द्रियका सूर्यमें तथा रसनेन्द्रियका उसके देवता वरुणमें (एवं घ्राणेन्द्रियका अश्विनीकुमारोंमें) लय

कर दे। समष्टि प्राणका वायुमें, वाणीका अग्निमें और हस्तेन्द्रियका इन्द्रमें लय कर दे। अपने पादेन्द्रियका विष्णुमें तथा गुदा-इन्द्रियका मित्रमें लय कर दे। उपस्थेन्द्रियका कश्यपमें लय करके मनका चन्द्रमामें लय कर दे। बुद्धिका ब्रह्मामें लय कर दे। मित्र! इन्द्रियोंके रूपमें देवता ही स्थित हैं। इनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश-द्वारा लय करनेका आदेश श्रुति-वाक्यको प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ। मैंने अपने मनसे किसी तरहकी कोई कल्पना करके इन अर्थोंको तुम्हारे सामने प्रकट नहीं किया है। इस तरह अपनी देहको उसके कारणमें विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे। (इसके बाद पूर्वोक्त क्रमसे परमात्मामें आत्मभावना करे।) सारे ब्रह्माण्डके भीतर जो यह सदाशिवरूप परमात्मा व्यापक है, वही सम्पूर्ण भूतोंका आधार तथा कारण कहा गया है। वही परमात्मा जगत्के व्यवहारमें यज्ञके रूपमें स्थित है।

(*अब पृथ्वी आदि भूतोंके लयका क्रम बतलाते हैं*——) योगीको चाहिये कि वह पृथ्वीका जलमें लय करके उस जलको फिर तेजमें लीन कर दे। तेजको वायुमें विलीन करके उस वायुको फिर आकाशमें विलीन कर दे और आकाशका समस्त भूतोंकी उत्पत्तिके कारणभूत महाकाश-में लय कर दे। योगी उस महाकाशमें एकमात्र लिङ्गशरीर धारण किये हुए स्थित रहे। वासनाएँ, सूक्ष्मभूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि——इन सबको पण्डितलोग लिङ्गशरीर कहते हैं।* तदनन्तर वह योगी बाहर निकलकर वहाँ 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' यों चिन्तन करे। फिर वह बुद्धिमान् योगी सूक्ष्म और निराकार अव्याकृत प्रकृतिमें अपने लिङ्गशरीरको भी विलीन करके स्थित रहे। जिसमें यह समस्त जगत् रहता है वह अव्यक्त अव्याकृत (माया) नाम और रूपसे रहित है। उसीको कोई प्रकृति, कोई माया तथा कोई परमाणु एवं कोई अविद्या कहते हैं। उस अव्याकृतमें प्रलयकाल-में सभी प्राणीपदार्थ लयको प्राप्त होकर अव्यक्तरूपसे अवस्थित रहते हैं। जबतक दूसरी सृष्टि नहीं होती तबतक वे सभी प्राणी-पदार्थ परस्परके सम्बन्धसे शून्य तथा आस्वादसे रहित होकर उस अव्याकृत (प्रकृति) स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं और प्रलयके अनन्तर सृष्टि-कालमें फिर उसी प्रकृतिभूत अव्याकृतसे सब उत्पन्न हो जाते हैं। सर्गके आदिमें प्रकृतिसे अनुलोम-क्रमसे सृष्टि होती है और प्रलयके आरम्भमें प्रतिलोम-क्रमसे प्रकृतिमें सारी सृष्टि विलीन हो जाती है। इसलिये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे रहित होकर अविनाशी तुरीय पदकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मका ध्यान करे। पूर्वोक्त प्रकारसे लिङ्गशरीरको भी कारणमें विलीन करके स्वयं सच्चिदानन्द परमात्मामें प्रविष्ट हो जाय।

श्रीभरद्वाजजीने कहा——महाराज! मैं अब लिङ्गशरीर-रूपी बेड़ीके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो गया हूँ और सच्चिदानन्दका अंश होनेसे सच्चिदानन्द ब्रह्ममें प्रविष्ट हो गया हूँ। अंश और अंशीका वस्तुतः अभेद होनेके कारण 'अब मैं समस्त उपाधियोंसे रहित परब्रह्म परमात्मा ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध और व्यापक हूँ। जैसे जलमें छोड़ा हुआ जल, दूधमें छोड़ा हुआ दूध और घीमें छोड़ा हुआ घी—सब-के-सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते हैं, किसी पृथक्रूपसे गृहीत नहीं होते, वैसे ही सर्वभावसे नित्य आनन्दस्वरूप सर्वसाक्षी, परम कारण चेतन परब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ। नित्य, सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोषरहित, अक्रिय, शुद्ध, परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ। पुण्य और पापसे रहित, जगत्का परम कारण अद्वितीय, आनन्दमय, अविनाशी और चिन्मयस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त, प्रकृतिके सत्त्व, रज, तम——तीनों गुणोंसे अतीत, सर्वव्यापक और

*वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्माविद्ये तथैव च॥
दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः।
(नि० पू० १२८। १८-१९)

सर्वस्वरूप ब्रह्मका निष्काम भावसे अपने कर्तव्यका पालन करते हुए सदा ध्यान करना चाहिये। इस रीतिसे परब्रह्मविषयक अभ्यास करनेवाले पुरुषका मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और मनके विलीन हो जानेपर उसे स्वयं ही अपने आत्मस्वरूपका अनुभव हो जाता है। आत्माका अनुभव होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त होकर आत्मामें आनन्दका अनुभव होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने-आप अपने परमानन्द परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर 'मुझसे अतिरिक्त कोई दूसरा सच्चिदानन्दमय परमात्मा नहीं है। मैं ही अद्वितीय परब्रह्म हूँ'—इस प्रकार हृदयमें परमात्माका अनुभव हो जाता है। गुरो! आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया। मेरी बुद्धि सर्वथा निर्मल हो गयी। अब मेरा यह संसार चिरकाल-तक स्थिर नहीं रह सकता। भगवन्! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ज्ञानियोंके लिये कौन-सा कर्म विहित है? क्या उन्हें कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये और यदि करना चाहिये तो क्या केवल प्रवृत्तिरूप कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये या निवृत्तिरूप कर्मोंका भी?'

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुमुक्षु पुरुषोंको वही कर्म करना चाहिये, जिसमें कोई दोष नहीं हो, विशेष करके मुमुक्षुको काम्य और निषिद्ध कर्म कभी नहीं करना चाहिये। संकल्पोंसे रहित होकर जब जीवात्मा ब्रह्मके लक्षणोंसे युक्त हो जाता है, तब उसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मस्वरूप बन जाता है। 'देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे परे जो जीवात्मा है तथा उससे भी परे जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वही मैं हूँ' इस प्रकार निश्चयपूर्वक जब जीवात्मा एकत्वभावसे ध्यान करता है, तब वह सदाके लिये मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब जीवात्मा कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्वसे तथा सम्पूर्ण देहादि उपाधियोंसे एवं सुख और दुःखोंसे रहित होता है, तब वह सर्वथा मुक्त समझा जाता है। जब जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको अभेदरूपसे देखने लगता है, तब यह जीवात्मा संसारसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे रहित होकर जब जीवात्मा तुरीय आत्मानन्द-रूपमें प्रवेश करता है, तब वह सर्वथा मुक्त समझा जाता है; क्योंकि शास्त्रोंके विवेकपूर्वक विचारसे, गुरुके वाक्योंका अर्थ और भाव यथार्थ समझनेसे तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनके अभ्याससे सब प्रकारसे सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है, यह वेदोंका आदेश है'। इसलिये भरद्वाज! तुम सब कुछ छोडकर केवल ध्यान समाधिके लिये अभ्यासमें अपना मन तत्परतापूर्वक स्थिर करो। जब महामना साधु-स्वभाव श्रीरामचन्द्रजी अपने ब्रह्मरूपमें समाधिस्थ थे, उस समय ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजीसे श्रीविश्वामित्रजी कहने लगे।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—ब्रह्मपुत्र महाभाग वसिष्ठजी! आप महान् हैं। आपने अपना गुरुत्व शीघ्र ही हमलोगोंको दिखला दिया; क्योंकि अपने दर्शन, स्पर्श और वाक्यप्रयोगसे जो कृपा करके शिष्यके शरीरमें शिव-स्वरूप परमात्मभावका समावेश करा दे, वही सच्चा गुरु है। गुरुवाक्य-श्रवणसे होनेवाले ज्ञानमें शिष्यकी श्रद्धा-पूर्वक पवित्र बुद्धि ही कारण है। यह ज्ञानकी प्राप्ति ही गुरु और शिष्यके समागमका वास्तविक प्रयोजन है। विभो! आप तो परमपदमें स्थित हैं, परंतु हमलोग अभीतक यज्ञादि कार्योंमें लगे हुए हैं। बड़े कष्टके साथ जिसके लिये मैंने स्वयं राजा दशरथसे प्रार्थना की है और जिस उद्देश्यसे मैं यहाँ आपके पास आया हूँ, उस मेरे निर्विघ्न यज्ञसिद्धिरूप कार्यका स्मरण करते हुए आप श्रीरामचन्द्रजीको अब समाधिसे उठानेकी कृपा कीजिये। मुने! मेरे उस समस्त कार्यको आप अपने शुद्ध मनसे स्वयं

न बनाइये, क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समाधिसे उठनेपर उनके अवतारके जो अन्य प्रयोजन, देवताओं और ऋषियोंके कार्य हैं, उनका भी हमलोग सम्पादन कर लेंगे। जब मैं श्रीरामचन्द्रजीको अपने आश्रममें ले जाऊँगा, तब वे राक्षसोंका नाश करेंगे और उसके बाद अहल्याको शापसे मुक्त करेंगे। तदनन्तर निश्चयपूर्वक भगवान् शङ्करका धनुष तोड़कर जनकदुलारी सीताके साथ अपना विवाह करेंगे। इस संसारमें पिता-पितामहके राज्यका त्यागकर वनवासके निमित्त वनमें पहुँचकर अभय और निःस्पृह श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंका वध करके दण्डकारण्यके निवासी मुनियो, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियोंका उद्धार करेंगे। सीताहरणके निमित्त रावण आदिका वध करके श्रीरामचन्द्रजी इन्द्रके वरदानद्वारा युद्धमें मरे हुए वानर आदिको पुनर्जीवित हुए दिखलायेंगे। तदनन्तर साध्वी सीताकी अग्निमें प्रवेशके द्वारा शुद्धिके उद्देश्यसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने चरित्रकी आदर्शता दिखलायेंगे। जो लोग भगवान् श्रीरामका दर्शन करेंगे, उनके चरित्रका स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान्के स्वरूपका दूसरोंको बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओंमें स्थित अपने भक्तोंको भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्ति प्रदान करेंगे। इस प्रकार तीनों लोकोंका तथा मेरा भी हित इन महापुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा सम्पूर्णरूपसे सम्पन्न होगा। सज्जनो! आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार कीजिये। इनके नमस्कारसे ही आपलोग सारे संसारको जीत लेंगे अर्थात् आपलोगोंको किसी दूसरे साधनकी आवश्यकता न होगी। आपलोग चिरकालतक बढ़ते रहें।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज! इस प्रकारका विश्वामित्रजीका भाषणरूप श्रीरामचन्द्रजीकी भावी चरित्ररूप दुर्लभ कथा सुनकर श्रीवसिष्ठ आदि सभी श्रेष्ठ योगीन्द्र तथा सिद्ध पुनः भगवान् श्रीरामकी चरणकमलरजके आदरमें यानी नमस्कारमें तथा उनके स्मरणमें स्थित हो गये। जानकीपति श्रीरामकी भावी कथा सुननेसे भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तृप्त नहीं हो सके। इसलिये उन सबने दूसरोंके द्वारा कहे गये उन गुणसागर भगवान्के गुणोंका पुनः श्रवण किया तथा सुने हुए गुणोंका दूसरोंसे वर्णन किया। तदनन्तर महर्षि भगवान् वसिष्ठजी मुनिवर विश्वामित्रजीसे कहने लगे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—मुनि विश्वामित्रजी! इन श्रोताओंको आप साफ-साफ बतला दीजिये कि ये राजीवलोचन रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी पूर्वमें देव या मनुष्य क्या थे।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—सज्जनो! आप सब लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजीमें विश्वास कीजिये कि परमपुरुष परब्रह्म परमात्मा ये ही हैं। इन्होंने ही विश्वके कल्याणके लिये विष्णुरूपसे क्षीरसागरका मन्थन किया था। गूढ़ अभिप्रायसे भरे उपनिषदादि शास्त्रोंके तत्त्वगोचर साक्षात् परब्रह्म ये ही हैं। परिपूर्णपरानन्द, समस्तरूप, श्रीवत्सके चिह्नसे सुशोभित भगवान् विष्णुरूप यही श्रीरामचन्द्रजी जब भक्तिसे भलीभाँति प्रसन्न होते हैं, तब सब प्राणियोंको परम पुरुषार्थरूप मोक्ष देते हैं। कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्रजी शिवरूपसे संसारका संहार करते हैं और यही ब्रह्मारूपसे विनाशशील संसारकी रचना करते हैं। यही विश्वके आदि, विश्वके उत्पादक, विश्वके धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं। यही भगवान् ऋक्, यजु., सामवेदमय हैं, तीनों गुणोंसे परे अति गहन यही हैं और शिक्षा, कल्प आदि छः अङ्गोंसे समन्वित वेदात्मा अद्भुत पुरुष भी यही हैं। विश्वका पालन करनेवाले चतुर्भुज विष्णुभगवान् यही हैं, विश्वके रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसारका संहार करनेवाले त्रिलोचन भगवान् शिव भी यही हैं। ये अजन्मा होते हुए भी

अपनी योगमायाके सम्बन्धसे अवतार लेते हैं। ये सबसे महान् हैं। ये सदा जागते रहते हैं और रूपरहित हुए भी ये विश्वरूप हैं। ये भगवान् ही इस विश्वको अपने संकल्पसे धारण करते हैं। ये राजा दशरथजी धन्य हैं, जिनके पुत्र परमपुरुष परमात्मा हुए। वह दशग्रीव रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्तसे चिन्तन करेंगे। क्षीरसागरमें शयन करनेवाले विष्णुभगवान् ही श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं। अपनी इन्द्रियोंको रोक रखनेवाले योगीलोग ही श्रीरामचन्द्रजीको वस्तुतः जानते हैं। हमलोग तो इनके इस सगुण साकार स्वरूपका ही निरूपण या दर्शन करनेमें समर्थ है। वसिष्ठजी! हमलोगोंने ऐसा सुना है कि ये ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशके पापोंका सर्वथा विनाश करनेवाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहारमें लगाइये।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज! यों कहकर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये। तदनन्तर महातेजस्वी वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहने लगे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—चिन्मय महापुरुष महाबाहु श्रीराम! यह विश्रामका समय नहीं है। उठो और इस संसारके लिये आनन्दकारक बनो। पुत्र! विनाशशील राज्य कार्योंका अवलोकन करके देवताओं और मुनियोंको सकटसे उद्धार करनेके भारका वहन करो और सुखी रहो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! गुरु वसिष्ठजीके उपर्युक्त वचनोंको सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी समाधिसे सचेत हो गये और सावधान होकर कहने लगे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महामुने! वेदो, आगमों, पुराणों और स्मृतियोंमें भी गुरु-वाक्यका पालन करना ही विधि कहा गया है और उसके विरुद्ध आचरण करना निषेध कहा गया है। यों कहकर उन महात्मा वसिष्ठजीके चरणोंमें अपने सिरसे नमस्कार कर सबके आत्मस्वरूप करुणासागर श्रीरामचन्द्रजी सबसे बोले—'सभ्य पुरुषो! आप सब लोग हमारे इस निर्णयको अच्छी तरह सुन लीजिये। इससे आपलोगोंका बड़ा कल्याण होगा। कल्याणकामी पुरुषके लिये इस संसारमें परमात्मज्ञान तथा परमात्मज्ञानी गुरुसे बढ़कर कुछ भी नहीं है।'

सिद्ध आदि सब लोगोंने कहा—श्रीरामचन्द्रजी! आप जैसा कह रहे हैं, वैसा ही आपकी दयासे हमलोगोंके मनमें पहलेसे ही स्थित है और अब तो वह सब आपके इस संवादसे और भी विशेष दृढ़ हो गया है। महाराज श्रीरामचन्द्रजी! आप सुखी होइये, आपको नमस्कार है। अब हमलोग वसिष्ठजीसे भी अनुमति लेकर जहाँसे आये थे, वहीं जा रहे हैं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! यों कहकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति करते हुए वे सब-के-सब चल दिये। श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। श्रीरामचन्द्रजीकी यह सब कथा मैंने तुमसे कह सुनायी। इसी क्रमयोगसे तुम भी साधन करते हुए सुखी रहो। मुनिवर वसिष्ठजीकी वचन-पङ्क्तिरूपी रत्नमालासे विभूषित यह जो श्रीरामचन्द्रजीकी कथा मैंने तुमसे कही है, वह सम्पूर्ण कवियों और योगियोंके लिये सेवनयोग्य है तथा परम गुरुकी दयादृष्टिसे वह मुक्तिमार्गको देती है। जो कोई मनुष्य वसिष्ठजी और श्रीरामचन्द्रजीके इस संवादको प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक सुनेगा, वह किसी अवस्थामें रहते हुए भी एकमात्र श्रवणसे ही मुक्त हो जायगा और परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेगा।

(सर्ग १२८)

निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध सम्पूर्ण

निर्वाण-प्रकरण (उत्तरार्ध)

कल्पना या संकल्पके त्यागका स्वरूप, कामना या संकल्पसे शून्य होकर कर्म करनेकी प्रेरणा, दृश्यकी असत्ता तथा तत्त्वज्ञानसे मोक्षका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! जब पुरुष देह, प्राण आदिमें अहंता, ममता आदि कल्पनाओंको त्याग देगा, तब फिर उससे कोई भी कर्म नहीं बन सकता। ऐसी दशामें शरीरके भरण-पोषणकी चेष्टासे भी विरत हो जानेके कारण उस देहधारी जीवका शरीर शीघ्र ही गिर सकता है। अतः जीवित पुरुषके लिये यह कल्पना-त्यागपूर्वक व्यवहार कैसे सम्भव है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जीवित पुरुषके लिये ही कल्पनाओंका त्याग सम्भव है। जो जीवित नहीं है, उसके लिये नहीं। इस कल्पना-त्यागका यथार्थ स्वरूप क्या है, यह बतलाता हूँ, सुनो। कल्पनाके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् अहंभावना (आत्माको देहमात्र मान लेने) को ही कल्पना कहते हैं तथा आत्माको आकाशके समान अपरिमित, अनन्त और व्यापक जानकर परमात्माके वास्तविक स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही तत्त्वज्ञ पुरुषोंके मतमें कल्पनाका या संकल्पका त्याग कहलाता है। संकल्पशून्य होकर चुपचाप स्थित रहनेसे ही उस परमपदकी प्राप्ति होती है, जहाँ उच्च कोटिका साम्राज्य भी तिनकेके समान तुच्छ प्रतीत होता है। समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलोंको सोये हुए पुरुषकी भाँति सर्वथा भूलकर प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कार्यके लिये संकल्पशून्य होकर मनुष्यको चेष्टा करते रहना चाहिये। अपने कर्मोंमें यदि वासनारहित प्रवृत्तिका अभ्यास हो जाय तो यही उच्चकोटिका धैर्य है, जो भावी जन्मरूपी ज्वरका निवारण कर देता है। वासना और संकल्पसे शून्य होकर प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्यका अनुसरण करते हुए चाकके ऊपर घूमनेवाले घट आदिकी भाँति धीरे-धीरे उपरत होते हुए कर्मोंमें लगे रहना चाहिये।

सम, शान्त, कल्याणमय, सूक्ष्म, द्वित्व और एकत्वसे रहित, सर्वत्र व्यापक, अनन्त तथा शुद्धस्वरूप परब्रह्म परमात्माके प्राप्त होनेपर किसलिये कौन खिन्न हो सकता है? जो पुरुष संकल्पशून्य और शान्त हो गया है अर्थात् जिसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, उसे अपने शरीरके रहने या न रहनेसे कोई प्रयोजन नहीं है तथा इस लोकमें किसी कर्मके किये जाने अथवा न किये जानेसे भी उसका कोई, किञ्चित् मात्र भी प्रयोजन नहीं है। रघुनन्दन! जैसे सुवर्ण ही कड़े और बाजूबन्दके रूपमें प्रतीत होता है; किंतु वास्तवमें सुवर्णसे पृथक् इन आभूषणोंके नामरूपकी सत्ता नहीं है, उसी प्रकार यह जो कुछ जगत्‌रूपमें दिखायी देता है, प्रतीतिमात्र ही है। परमात्मासे पृथक् इसकी सत्ता नहीं है। परमात्मासे भिन्न इसकी सत्ताका अनुभव न होनेको ही ज्ञानी पुरुषोंने इस जगत्‌का नाश माना है। जगद्-भ्रमका निवारण हो जानेपर इसके अधिष्ठानरूपसे अवशिष्ट जो परमात्मा है, वही परमार्थ सत्य है।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभो! 'मैं' और 'मेरा' इत्यादि जो दृश्य है, उसको असत् मानकर उसका चिन्तन न करनेवाले ज्ञानी पुरुषको कर्मोंके त्यागसे कौन-सा अशुभ और कर्मोंके सम्पादनसे कौन-सा शुभ फल प्राप्त होता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन! जबतक देहरूपी उपाधि विद्यमान है, तबतक इस भावनामय सूक्ष्म कर्मका क्या त्याग हो सकता है और क्या अनुष्ठान। देहके रहते हुए यह जीव-चेतन बाह्य और आभ्यन्तर जिस-जिस वस्तुकी भावना करता है, वह-वह तत्काल उसको

प्रतीत होने लगती है। भले ही, उसका आकार सत्य हो या भ्रमसे भरा हुआ असत्य। यदि वह किसी वस्तुकी भावना नहीं करता तो इस संसार-भ्रमसे पूर्णतया मुक्त हो जाता है। वह भ्रम सत्य हो या असत्य, इस विचारसे क्या प्रयोजन है? बोध होनेके पश्चात् इस दृश्यकी प्रतीतिका स्वयं ही लय हो जानेसे जो इसका अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है, उसीको जगत्‌का त्याग, अनासक्ति एवं मोक्ष माना गया है। इसलिये जबतक यह शरीर विद्यमान है, तबतक कर्मोंका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। परंतु जो अज्ञानी कर्मका आदर करते हैं, वे उसके मूलको नहीं छोड़ते हैं। मनका जो वासनात्मक संकल्प है, वही अपने कर्मका मूल है। जबतक यह शरीर है, तबतक ज्ञानके बिना उस मानसिक संकल्पका उच्छेद नहीं हो सकता। परंतु जो तत्त्वज्ञानके द्वारा मनके संकल्पोंका निवारण कर देता है, वह संसाररूपी वृक्षका मूलोच्छेद कर डालता है। (सर्ग १-२)

समूल कर्मत्यागके स्वरूपका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि न तो असत् वस्तुकी सत्ता हो सकती है और न सत्-वस्तुका अभाव ही, तब दृश्य विषयोंके प्रति उन्मुखताका निवारण स्वयं सुगम हो जाता है। (क्योंकि दृश्यकी असत्ताका प्रतिपादन किया जा चुका है। जो वस्तु है ही नहीं, उसका चिन्तन कोई समझदार मनुष्य कैसे करेगा?) विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह अपने शुभाशुभ कर्मको नष्ट कर दे। आत्माके साथ कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनोंसे रहित है। इस तत्त्वज्ञानके द्वारा कर्मोंका नाश स्वतः सिद्ध हो जाता है। समस्त कर्मोंके मूलभूत मानसिक संकल्पका विनाश करनेसे संसार पूर्णतः शान्त हो जाता है। जब कर्मके मूल कारणका भलीभाँति विचार किया जाता है, तब समस्त कर्मोंका अभाव अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। (क्योंकि जब चित्त और उसका संकल्प ही मिथ्या है, तब उससे होनेवाला कर्म सत्य कैसे हो सकता है!) अथवा चिन्मय आत्मा अपने भीतर जिस चित्त नामक कर्मबीजका—क्रिया, करण और कर्तारूप त्रिपुटीका निर्माण करता है, वह उस आत्मासे किञ्चिन्मात्र भी भिन्न नहीं है। इसलिये बाहर और भीतर (जाग्रत् तथा स्वप्न-सुषुप्तिमें) जो पदार्थोंकी प्रतीति होती है, वह आत्मस्वरूप ही है, आत्मासे भिन्न नहीं है।

किंतु वास्तवमें रघुनन्दन! सम्पूर्ण कर्मोंका विस्तार यह शरीर है। उसका मूल अहंकार है और शाखा-प्रशाखाएँ संसार। चिन्तन या भावनाका जहाँ बाध हो जाता है, उस अहंकारशून्य स्थितिसे इस संसारका मूलोच्छेद हो जानेके कारण वह उसी तरह शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशून्य वायु। जैसे नदीके प्रवाहमें पड़ा हुआ तृण-काष्ठ आदि सब कुछ स्वभावतः बहता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी कर्मेन्द्रियोंसे किसी प्रकारके मनोविकारके बिना ही अधसोये पुरुषकी भाँति स्वाभाविक चेष्टा होती रहती है। वासनाशून्य निरतिशय ब्रह्मानन्दके प्राप्त हो जानेपर विषय-सुख अत्यन्त नीरस हो जाते हैं। फिर न वे बाहर अपना प्रभाव डाल पाते हैं, न भीतर। विषयों और वासनाओंसे रहित, शान्त और ब्रह्मानन्दके अनुसंधानसे हीन जो संकल्परहित स्थिति है, उसीको कर्मत्याग कहते हैं। दीर्घकालके भूले हुए कर्मकी भाँति विषयोंका पुनः स्मरण न होना कर्मत्याग कहलाता है। जो मिथ्या ज्ञान रखनेवाले पुरुष मूल-त्यागके बिना केवल कर्मेन्द्रिय-संयमरूप त्याग करते हैं, वे मूढ़ पशुतुल्य हैं। उनको वह कर्मत्यागरूपिणी पिशाची खा जाती

है। किंतु जो मूलसहित कर्मत्यागके द्वारा शान्ति पा चुके हैं, उनके लिये इस जगत्में किसी कर्मके करने या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। जिसका समूल त्याग कर दिया जाता है, वही वास्तवमें त्याग है। मूलका उच्छेद किये बिना जो ऊपरसे कर्मका त्याग किया जाता है, वह वृक्षकी जड़ न काटकर उसकी शाखा काटनेके समान व्यर्थ है। जिस कर्मरूपी वृक्षकी जड़ न काटकर केवल शाखामात्रका उच्छेद किया जाता है, वह पुनः सहस्रों शाखाओंसे विस्तारको प्राप्त हो केवल दुःख देनेके लिये बढ़ता रहता है। प्रिय रामभद्र! संकल्पशून्यतारूप त्यागसे ही वास्तवमें कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरे किसी क्रमसे नहीं। ज्ञानके द्वारा कर्मत्यागके सिद्ध हो जानेपर वासनारहित जीवन्मुक्त पुरुष घरमें रहे या वनमें, दीन-हीन अवस्थाको पहुँच जाय या लौकिक उन्नतिको प्राप्त हो, उसके लिये सभी अवस्थाएँ एक-सी हैं। जिसका चित्त शान्त है, उस पुरुषके लिये घर ही दूरवर्ती निर्जन वन है। परंतु जिसका चित्त शान्त नहीं है, उस पुरुषके लिये निर्जन वन भी जनसमुदायसे भरा हुआ नगर है। (सर्ग ३)

संसारके मूलभूत अहंभावका आत्मबोधके द्वारा उच्छेद करके परमात्मस्वरूपसे स्थित होनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! चेतन आत्माके स्वरूपका तत्त्वतः बोध प्राप्त होनेपर जब अहंता आदिके साथ ही सम्पूर्ण जगत् शान्त हो जाता है, तब तेल समाप्त होनेपर बुझे हुए दीपककी भाँति सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। 'कर्मोंका त्याग त्याग नहीं है। 'जहाँ जगत्का भान ही नहीं है, वह एकमात्र शुद्ध आत्मा ही अहंता आदि विकारोंसे रहित एवं अविनाशी है।'—इस प्रकारका बोध ही वास्तविक त्याग कहा गया है। 'यह स्त्री, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं, यह शरीर, इन्द्रिय आदि ही मैं हूँ' इस प्रकारकी अहंता-ममताका सर्वथा अभाव होनेपर जो शेष रहता है वही कल्याणमय, शान्त, बोधस्वरूप परमात्मा है। उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानके द्वारा अहंताका क्षय हो जानेपर ममताका आधारभूत सारा संसार ही विनष्ट हो जाता है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण एकमात्र शान्तस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही स्थित रहता है। अहंकारकी भावना करनेवाला जीवात्मा एकमात्र अहंभावनाका त्याग कर देनेमात्रसे बिना किसी विघ्न-बाधाके शान्तस्वरूप हो जाता है। यह मुक्ति इतने ही मात्र साधनसे सिद्ध हो जाती है। तब फिर संसारमें भटककर व्यर्थ कष्ट क्यों उठाया जाय? 'मैं देह आदि नहीं हूँ। विशुद्ध चेतनमात्र हूँ।' इस बुद्धिको भी यदि कोई द्वैतभ्रम ही कहे तो उसके लिये यह उत्तर है कि यह बुद्धि परमार्थ-स्वभावको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। चिन्मय परमात्मा तो आकाशके समान विशद है। उसमें भ्रम कहाँ ठहर सकता है? न भ्रम है, न भ्रमका साधन है, न भ्रमका फल है और न भ्रमका कोई आश्रय ही है। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब अज्ञानजनित ही है। ज्ञानका प्रकाश होते ही यह अज्ञानजन्य अन्धकार नष्ट हो जायगा। यह जो सब ओर फैला हुआ प्रपञ्च दृष्टिगोचर होता है, वास्तवमें यह है ही नहीं, केवल एक शान्तस्वरूप परमात्मा ही है।

जो अपने अंदरकी मनोवृत्तिको जीत रहा है या जीत चुका है, वही विवेकका पात्र है और उसे ही पुरुष कहते हैं; क्योंकि उसीने पुरुषार्थ करके अपना जीवन सफल किया है। जब मनुष्य अस्त्र-शस्त्रोंकी मार और रोगोंकी पीड़ाएँ भी सह लेता है, तब 'मैं यह शरीर आदि नहीं हूँ' इतनी-सी भावनामात्रको सह लेनेमें कौन-सा कष्ट है; क्योंकि संसारके जितने पदार्थ हैं, उन सबका अङ्कुर (कारण) अहंभाव ही है। इसलिये ज्ञानके द्वारा उस अहंभावका उन्मूलन हो जानेपर संसार-की जड़ अपने आप उखड़ जाती है। जैसे मुँहसे निकली हुई भाप निःसार होनेपर भी सारवान् स्वच्छ दर्पणको मलिन कर देती है और उसके मिट जानेपर वह दर्पण पुनः स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार इस अहंभावरूपी निःसार बाष्पसे भी सारवान् परमात्मारूपी दर्पण मलसे आवृत-सा हो जाता है; किंतु उस अहंभावके शान्त होते ही शुद्ध स्वच्छरूपसे प्रकाशित होने लगता है। अहंभावशून्य परब्रह्म परमात्मामें विलीन हुई यह अहंता भी ब्रह्मरूप ही हो जाती है, अतः उसका पृथक् कोई नाम रूप नहीं रह जाता। अहंकार ही इस जगत्का बीज है। परंतु ज्ञानाग्निके द्वारा जब वह अहंकाररूपी बीज दग्ध हो जाता है, तब जगत् और बन्धन इत्यादिकी कल्पना ही नहीं रह जाती।

वह परब्रह्म परमात्मा सत्स्वरूप और कल्याणमय है। जैसे घट-बुद्धिसे घटमें एकदेशिता होनेपर मृत्तिकाके स्वरूपका विस्मरण हो जाता है, उसी प्रकार अहंतासे परमात्माके स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है। अहंकाररूपी बीजसे ही यह दृश्य-प्रपञ्चकी सत्ता-रूपिणी लता उत्पन्न हुई है, जिसमें अनन्त जगत्रूपी फल पैदा होते और नष्ट होते रहते हैं। नित्य परमात्म-तत्त्वके ज्ञानसे जब अहंकारको सर्वथा नष्ट कर दिया जाता है, तब यह संसाररूपिणी मृगतृष्णा सर्वथा शान्त हो जाती है। निष्पाप रघुनन्दन! किसी दूसरे सहायक साधनोंके बिना ही अपने प्रयत्नमात्रसे सिद्ध होनेवाली अहंभावकी निवृत्तिके सिवा मुझे दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं दिखायी देता। (सर्ग ४)

उपदेशके अधिकारीका निरूपण करते हुए वसिष्ठजीके द्वारा भुशुण्ड और विद्याधरके संवादका उल्लेख—विद्याधरका इन्द्रियोंकी विषयपरायणताके कारण प्राप्त हुए दुःखोंका वर्णन करके उनसे अपने उद्धारके लिये प्रार्थना करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे स्वच्छ निर्मल वस्तुपर तेलकी एक बूँद भी पड़ जाय तो अपना प्रभाव डाल देती है, उसी प्रकार शुद्ध चित्तवाले पुरुषको दिया हुआ थोड़ा-सा भी उपदेश उसपर अपना प्रभाव डाल देता है। परंतु जिनका चित्त अहंभावके कारण बढ़ा हुआ है, उन्हें दिया हुआ उपदेश उसी तरह लागू नहीं होता, जैसे दर्पणमें मोती नहीं घुस सकता। इस विषयमें विद्वान्लोग इस प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं, जिसे बहुत दिन पहले सुमेरु पर्वतके शिखरपर भुशुण्डजीने मुझसे कहा था।

प्राचीन कालकी बात है, सुमेरु पर्वतके शिखरकी एक एकान्त गुफामें किसी समय अध्यात्मचर्चाके प्रसङ्गमें मैंने भुशुण्डजीसे पूछा—'भुशुण्डजी! यह तो बताइये, कौन ऐसा मूढ़बुद्धि, आत्मज्ञान-शून्य तथा चिरंजीवी पुरुष है, जिसका आपको स्मरण है?' प्रिय श्रीराम! मेरे इस प्रकार पूछनेपर भुशुण्डजीने यह उत्तर दिया।



भुशुण्डजी बोले—महर्षे ! पूर्वकालमें लोकालोकान्तर पर्वतकी चोटीपर एक विद्याधर रहता था । उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं थीं । इसके कारण उसे बड़ा खेद था । अतएव वह सूख-सा गया था । यद्यपि उसे आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं था, तथापि वह श्रेष्ठ और विचारशील था । उसने अनेक प्रकारसे तप किये थे, यम और नियमोंका पालन किया था । इससे उसकी आयु कभी क्षीण नहीं होती थी । इसीलिये वह पहले चार कल्पोंतक जीवित रहा । तदनन्तर चौथे कल्पके अन्तमें उचित कारण-सामग्री जुट जाने अर्थात् चिरकालसे अभ्यस्त तप और नियम आदिका प्रभाव पड़नेसे उसके भीतर विवेकका उदय हुआ । उसने सोचा—'बारंबार जन्म, बारंबार मरण और बारंबार वृद्धावस्थाकी प्राप्ति न हो, इसका क्या उपाय है । अबतक संसारबन्धनसे मुक्त न होनेके कारण मुझे लज्जा होती है; अतः ऐसी कौन-सी एक वस्तु है, जो सदा निर्विकारभावसे स्थित रहती है ।' यों सोचकर पाँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा स्थूलशरीर—इन अठारह अवयवोंसे युक्त अपनी पुरीको चिरकालतक धारण करनेसे विरक्त-चित्त होकर वह विद्याधर कुछ पूछनेके लिये मेरे पास आया । अब उसे संसारमें कोई रस नहीं मिल रहा था । मेरे समीप आकर उसने बड़े आदरके साथ मुझे नमस्कार किया, तब मैंने भी उसका आतिथ्य-सत्कार किया । तत्पश्चात् अवसर पाकर उसने यह उत्तम बात कही ।



विद्याधरने कहा—भुशुण्डजी ! जो परम उदार, दुःखहीन, क्षय और वृद्धिसे वर्जित तथा आदि और अन्तसे रहित है, उस पावन पदका आप मुझे शीघ्र उपदेश दीजिये । महर्षे ! इतने समयतक मैं जडस्वरूप बनकर मोहकी प्रगाढ़ निद्रामें सोया हुआ था । अब तीव्र वैराग्यके कारण अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे मैं जाग उठा हूँ । मनके महान् रोग कामसे मैं बहुत पीड़ित हूँ । अज्ञानकी वृत्तियों और दुर्वासनाओंमें पड़कर क्षुब्ध हूँ । मेरी चेष्टाओंका अन्त होना बहुत कठिन हो रहा है । अहंभावके रूपमें स्थित जो मोह है, उससे आप मेरा

शीघ्र उद्धार कीजिये। पहले सहस्रों बार उपभोगमें लाये हुए शब्दादि विषयोंसे ही अत्यन्त तुच्छ सुखके लिये जो इन्द्रियोंद्वारा सम्पर्क स्थापित किया जाता है, वह अपने आपको धोखा देना है। ऐसी विडम्बनाओंसे बारंबार ठगे जाकर मनुष्य चिरकालसे अत्यन्त खिन्न रहते हैं। विषय-भोग आरम्भमें रमणीय प्रतीत होते हैं। किंतु वे क्षणमें ही नष्ट हो जानेवाले हैं। उनमें शीघ्र ही विकार पैदा हो जाता है। वे संसारबन्धनके हेतु हैं; अतएव बड़े भयकर हैं।

मेरा नेत्र सुन्दर रूप निहारनेके लिये अत्यन्त चञ्चल तथा सुन्दरी नारीका मुँह देखनेके लिये लालायित रहता था। बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाशकी सहायतासे मनको दूषित करनेके लिये विषयोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करके इसने मुझे भारी दुःखमें डाल दिया। नारीके शरीरमें जो ये वस्त्र और आभूषण आदि हैं, ये ही उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, वास्तवमें वह रक्त-मांस आदिका पिण्ड है। इस तरहका विचार न करके केवल रूपमात्रका अनुसरण करनेके स्वभावसे युक्त होनेके कारण ये नेत्र अयोग्य विषयकी ओर भी दौड़ पड़ते हैं।

तात! यह घ्राणेन्द्रिय इस ससारमें अनर्थकी प्राप्तिके लिये ही चारों ओर दौड़ लगा रही है। तेज दौड़नेवाले घोड़ेकी भाँति इसे मैं रोक नहीं पाता हूँ। मेरी यह रसना शास्त्रके अनुसार भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके चिरकालसे नाना प्रकारके रसोंका आस्वादन कर रही है। इसने मुझे गजराजों और गीदड़ोंसे भरे हुए दुःखके पहाड़ोंपर चढ़ाकर बड़ा तंग किया है। जैसे ग्रीष्म ऋतुमें प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यके तापको रोकना असम्भव है, उसी प्रकार मेरी त्वगिन्द्रियमें जो दूसरोंके आलिङ्गनकी लम्पटता आ गयी है, उसे मैं रोक नहीं सकता। मुने! जैसे नयी-नयी घास चरनेकी इच्छा हरिणको विषम सङ्कटमें (तिनकोंसे ढके हुए कूपमें) डाल देती है, उसी प्रकार मेरी ये श्रवणशक्तियाँ सुमधुर शब्दोंके रसास्वादनकी अभिलाषा लेकर मुझे विषम संकटमें डाल देती हैं। विनम्र सेवकोंके मुखसे निकली हुई, प्रियकारिणी (आनन्ददायिनी), विनयपूर्ण तथा वाद्यगीतकी मधुर ध्वनिसे मिली हुई सुन्दर शब्द-सम्पत्तियोंका मैंने श्रवण किया है।

खनखनाते हुए मणियोंके आभूषण जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, ऐसी सुन्दरी स्त्रियों तथा जो अपनी सौन्दर्य-सम्पदासे सबके मनको हर लेती हैं, ऐसी राज्यलक्ष्मियों, दिशाओं तथा समुद्र और पर्वतोंकी तटभूमियोंका मैंने बारंबार अवलोकन किया है। मैंने विनयशालिनी प्रियतमाओंद्वारा लाये गये, स्वादिष्ठ मधुर आदि रसोंके चमत्कारोंसे मनको मोह लेनेवाले तथा उत्तम गुणोंसे सुशोभित छः प्रकारके रसोंका चिरकालतक आस्वादन किया है। मैंने सब ओर भोगभूमियोंमें रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कामिनियों, मनोहर हारों, फूल-बिछी शय्याओं तथा शीतल, मन्द, सुगन्ध हवाओंका बिना किसी विघ्न-बाधाके भलीभाँति स्पर्श (आलिङ्गन) प्राप्त किया है। मुने! चन्दन, अगुरु आदि ओषधियों, भाँति-भाँतिके फूलों तथा ढेर-के-ढेर कपूर एवं कस्तूरी आदिके संचयसे प्रकट होनेवाली सुगन्धोंका, जो मन्द-मन्द वायुसे प्रेरित होकर मेरी नासिकातक पहुँचती थीं, मैंने दीर्घकालतक अनुभव किया है। मैंने शब्द आदि विषयोंका बारंबार श्रवण, स्पर्श, दर्शन, रसास्वादन तथा सुगन्ध-सेवन किया है। पर अब तीव्र वैराग्यके कारण ये विषय मेरे लिये रसहीन हो गये हैं। अतः शीघ्र बताइये, अब मैं पुनः किस वस्तुका सेवन करूँ? चिरकालतक अकण्टक राज्य किया, सुन्दरियोंका उपभोग किया और शत्रुओंकी बड़ी भारी सेनाओंको मिट्टीमें मिला दिया। यह सब करके अब कौन-सी अपूर्व वास्तविक वस्तु शेष है, जिसकी प्राप्ति की जाय?

विषयोंकी इन दुरन्त वनश्रेणियोंमें इन्द्रियरूपी लुटेरोंने मुझे चिरकालतक उसी तरह ठगा है, जैसे धूर्त

किसी भोले-भाले बच्चेको ठग लेते हैं । मतवाले हाथी ऐरावतके कुम्भस्थलको विदीर्ण कर देना सरल है; परंतु कुमार्गमें प्रवृत्त हुई अपनी इन इन्द्रियोंको रोकना सरल नहीं है । जो लोग जितेन्द्रिय तथा महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं, वे ही इस भूतलपर मनुष्य कहे जाने योग्य हैं, इनके अतिरिक्त लोग मानवोंको तो मैं मांसकी बनी हुई चलती-फिरती मशीनें समझता हूँ । भोगोंकी आशाका परित्याग कर देनेके सिवा दूसरे कोई ऐसे साधन नहीं हैं, जो इन्द्रियरूपी महान् रोगोंकी शान्ति कर सकें । इनकी शान्तिके लिये न तो ओषधियाँ, न तीर्थ और न मन्त्र ही लाभकारी सिद्ध होते हैं । जैसे विशाल वनमें बहुतसे-लुटेरे यात्रा करनेवाले अकेले पथिकको महान् कष्टमें डाल देते हैं, उसी प्रकार विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन इन्द्रियोंने मुझे अत्यन्त खेदजनक अवस्थामें पहुँचा दिया है । गहरे गड्ढे और इन्द्रियाँ एक-सी ही हैं, दोनों ही प्राणियोंको नीचे गिरानेमें अत्यन्त कुशल हैं । उनमें दोषरूपी विषधर सर्प वास करते हैं तथा इनमें विषयरूपी लाखों रूखे काँटे होते हैं । राक्षस और अपनी इन्द्रियाँ दोनों एक-से स्वभाववाले हैं । दोनों अपने ही पालन-पोषणमें तत्पर, अनार्य, दुःसाहसी तथा अन्धकारमें विहार करनेवाले होते हैं । जीर्ण बाँस आदिकी लकड़ियाँ और इन्द्रियाँ भीतरसे खोखली, निस्सार, टेढ़ी, गाँठवाली तथा एकमात्र जलानेके ही योग्य होती हैं । दुखियोंका उद्धार करनेवाले महात्मन् ! इस प्रकार इन इन्द्रियोंके कारण मैं विपत्तिके समुद्रमें डूबा हुआ हूँ । मेरे पास आत्मरक्षाका कोई साधन नहीं है । आप स्वयं ही कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये; क्योंकि संसारमें जो कोई भी श्रेष्ठ संत-महात्मा हैं, उनका समागम बड़े-से-बड़े शोकको हर लेनेवाला है, ऐसा सभी सत्पुरुष कहते हैं । (सर्ग ५-६)



भुशुण्डजीद्वारा विद्याधरको उपदेश—दृश्य-प्रपञ्चकी असत्ता बताते हुए संसार-वृक्षका निरूपण

भुशुण्डजी कहते हैं—ब्रह्मन् ! विद्याधरके उस पवित्र वचनको सुनकर मैंने उसके प्रश्नके अनुसार सुस्पष्ट पदोंसे युक्त वाणीद्वारा उसे इस प्रकार उत्तर दिया—'विद्याधर ! यह बड़ी अच्छी बात है कि तुम अपने कल्याणके लिये जाग उठे हो । सौभाग्यका विषय है कि तुम्हें चिरकालके बाद संसाररूपी अन्धकारपूर्ण कूपसे ऊपर उठनेकी इच्छा हुई है । आज विवेकसे युक्त हुई तुम्हारी पवित्र बुद्धि अग्निसे व्याप्त सुवर्णकी भाँति अद्भुत शोभा पा रही है । मुझे विश्वास है कि विवेकसे निर्मल हुई तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणीके तात्पर्यको सुन्दर ढंगसे अनायास ही ग्रहण कर सकती है; क्योंकि स्वच्छ दर्पणमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब अनायास ही प्रकट हो जाता है । इस समय मैं जो कुछ कहूँ, वह सब तुम्हें स्वीकार कर लेना चाहिये; क्योंकि मैंने चिरकालतक अनुसंधान करके इस विचारको निश्चित किया है । अतएव तुम्हें इस विषयमें कोई दूसरा विचार नहीं करना चाहिये । जो कुछ अहंकार आदि तुम्हारे अन्तःकरणमें प्रतीत हो रहा है, वह सब तुम नहीं हो । इन दृश्योंमें ही कोई आत्मा है, जिसे ढूँढ़कर प्राप्त करना है, ऐसा विचारकर यदि चिरकालतक अपने भीतर ढूँढ़ते रहोगे तो भी तुम्हें अपने स्वरूपभूत आत्माकी उपलब्धि नहीं होगी । इसलिये दृश्यमात्र ही जिसका लक्षण है, उस अज्ञानको छोड़कर तुम उसके साक्षीको आत्मा समझो ।

जैसे मृगतृष्णामें जलकी प्रतीति होनेपर भी वास्तवमें वहाँ जल नहीं होता है, उसी प्रकार सारा विश्व अवस्तु-रूप होनेके कारण सद्रूपसे प्रतीत होनेपर भी असत् ही है । अथवा ऐसा समझो कि यह जो कुछ भासित होता है, वह सब ब्रह्म ही है या यों समझो कि वह कुछ

भी नहीं है अथवा कोई अनिर्वचनीय वस्तु ही है। तुम अहंताको ही इस विश्वका बीज—मूलकारण समझो; क्योंकि उसीसे पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और नदी आदिके सहित यह जगत्-रूपी वृक्ष प्रकट हुआ है और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिरूपी रससे परिपूर्ण जो ऊपरके भुवन हैं, वे ही इस वृक्षके मूल भाग हैं। चारों युग इसमें लगे हुए घुन हैं। अज्ञान ही इसकी उत्पत्तिकी भूमि है। जीवमात्र इसपर बसेरे लेनेवाले करोड़ों पक्षी हैं। भ्रान्ति-ज्ञान इस वृक्षका विशाल तना है और तत्त्वज्ञानसे उपलब्ध होनेवाला मोक्ष ही इस वृक्षको दग्ध करनेवाली अग्नि है। इन्द्रियों-द्वारा विषयोंकी उपलब्धि और मनसे होनेवाले संकल्प-विकल्प आदि इस वृक्षके विविध भाँति-भाँतिके सौरभ (सुगन्ध) है। विशाल आकाश महान् वन है। ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसों दिशाएँ उपशाखाएँ हैं। इस तरह संसाररूपी वृक्ष अपने मूलभागसे पातालको, मध्यभागसे सम्पूर्ण दिशाओंको और शिखाभागसे अन्तरिक्षको परिपूर्ण करके वास्तवमें असद्रूप होता हुआ भी सत्‌के समान प्रतीत होता है। (सर्ग ७)

संसार-वृक्षके उच्छेदके उपाय, प्रतीयमान जगत्‌की असत्ता, ब्रह्ममें ही जगत्‌की प्रतीति तथा सर्वत्र ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर! पातालसहित यह पृथ्वी जिसका आधार (मूलभाग) है, लोकालोकपर्यन्त फैले हुए पर्वतोंकी कन्दराएँ जिसकी वेदी हैं, ऐसा यह संसार-रूपी वृक्ष अहंकाररूप बीजसे उत्पन्न होता है। ज्ञानरूपी अग्निसे जब इसका बीज दग्ध हो जाता है, तब कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। यहाँ जो कुछ प्रतीत हो रहा है, सब असत्य ही है। मायाके हाथी-घोड़ोंकी तरह कहींसे यों ही पैदा हो गया है। संकल्प-विकल्पको त्याग देने-मात्रसे इस संसार-भ्रमका नाश हो जाता है। शुद्धात्मन्! तुम पहले पतनके हेतुभूत अविवेक-पदमें स्थित थे। किंतु अब उससे भिन्न उस पुण्यमयी दूसरी विवेक-पदवीको प्राप्त हो गये हो, जो तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली है। अतः मेरा अनुमान है कि इस मनके द्वारा अब फिर तुम नीचे नहीं गिरोगे। इसलिये तुम मन और वाणीकी चेष्टासे रहित, निर्मल, सच्चिदानन्द परमात्मपदका आश्रय लेकर सम्पूर्ण दृश्यसमूहको त्याग दो।

निष्पाप विद्याधर! दृश्यको याद न रखते हुए सब प्रकारके तापसे शून्य एवं शान्त सच्चिदानन्दघन-स्वरूपसे स्थित रहो। अहंकारकी सत्ता नहीं है, इस भावनासे अहंकाररहित होकर यदि तुम्हारा चेतन-स्वरूप चिन्मय परमात्मामें पूर्णरूपसे मिलकर एक हो जाय तो दूसरी कोई प्रकाशित वस्तु है ही नहीं, फिर तुम्हारे स्वरूपभूत ब्रह्मकी किससे उपमा दी जाय।

चिन्मय परमात्मासे भिन्न माने गये इस जगत्‌के स्फुरणको तुम चिन्मय परमात्मासे ही उत्पन्न हुआ जानो; क्योंकि काष्ठ, जल और दीवार सबमें ही परमात्मा विराजमान है। सभी स्थानोंमें मृत्तिका समूह परस्पर गुँथा हुआ स्थित है। ब्रह्म और जगत्‌में जो भेद कहा गया है, वह असत् है। जैसे सुवर्ण और कटकमें भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत्‌में भी भेद नहीं है। (सर्ग ८–१०)

चिन्मय परब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुकी सत्ताका निराकरण, जगत्की निःसारता तथा सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र-विचार और आत्मप्रयत्नके द्वारा अविद्याके नाशका प्रतिपादन

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर! जैसे 'महाकाशमें घटाकाश उत्पन्न हुआ है' अपने मनसे इस तरहकी कल्पना करना भ्रममात्र ही है; उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें प्रपञ्चात्मक असद्रूप अहंभावकी भावना केवल भ्रम ही है। सम्पूर्ण कल्पनाओंका अधिष्ठान वह ब्रह्म परम सूक्ष्म है। उसीकी कल्पना यह आकाश आदि जगत् है। देश, काल आदि जगत् तथा इसके सहस्रों अवान्तर कार्यरूपी विस्तारोंमें भी एकमात्र घन, सूक्ष्म, चिन्मय ब्रह्मके विस्तारके सिवा दूसरा कोई वास्तविक रूप हो, यह सम्भव नहीं है। चिन्मय परमात्माका विस्तार होनेसे ही काल, आकाश, नौका, जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत् और स्वप्नमें भी जगत् उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। विद्याधर! यह जगत् किसी पटपर अङ्कित हुए विशाल राज्यके चित्रके समान सुन्दर जान पड़ता है। इसमें सहस्रों खुर (पैर), मस्तक, नेत्र, हाथ और मुख, मुखोंकी चेष्टाएँ तथा तर्क-वितर्क दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें परिमित जगहमें ही नाना प्रकारके पर्वत, शरीर, दिशा, देश और नदी आदि दृश्य वस्तुओंका चित्रण हुआ है। यह भीतरसे शून्य और निःसार है। अनेक प्रकारके रंगोंसे रँगा हुआ है। वैराग्य-भावके प्रकट होते ही इसका विनाश हो जाता है। इस चित्रमय जगत्में देवता, असुर, गन्धर्व, विद्याधर, बड़े-बड़े नाग और मनुष्य आदि प्राणी अङ्कित हैं। जैसे नूतन चित्र अंगुलियोंद्वारा किया गया मर्दन नहीं सह सकता, उसी तरह यह जगत् विचारको नहीं सहन कर पाता अर्थात् जैसे हाथसे रगड़नेपर चित्र मिट जाता है, उसी तरह विवेकपूर्वक विचार करनेपर यह जगत् भी नहीं टिक पाता है। मानसिक संकल्प-विकल्पसे ही यह प्रकाशमें आता है। हृदयको क्षुब्ध कर देनेवाली काम-वासनारूप जालके समूहोंसे निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्तरूपी विकारोंसे युक्त, स्त्री-पुत्र आदिमें फैलते हुए स्नेहसे मिश्रित तथा मिथ्या होनेके कारण अजात विषयोंके बारंबार आस्वादनके द्वारा प्रसारको प्राप्त हुआ जो जीवात्माका संकल्प है, वह चित्रलिखित विशाल राज्यके रूपमें वर्णित यह संसार है। विद्याधर! मन, अहंकार, बुद्धि आदि जो कुछ भी विकल्पक ज्ञान है, उस सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुष-प्रयत्नसे शीघ्र नष्ट हो जाती है।

इतना प्रसंग सुनानेके बाद श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! संसार-सागरको पार करनेकी इच्छावाले विरक्त श्रेष्ठ पुरुषके साथ तथा परमात्मज्ञानीके साथ भी बैठकर इस संसारके विषयमें विवेकी मनुष्यको विचार करना चाहिये (कि यह क्या है? इसका परिणाम, मूल और सार क्या है? तथा इससे मुक्त होनेका क्या उपाय है?)। विवेकी पुरुषको उचित है कि वह जहाँ-कहींसे भी विरक्त, ईर्ष्यारहित एवं परमात्मज्ञानी श्रेष्ठ पुरुषको ढूँढ़ निकाले और यत्नपूर्वक उसका संग और सेवा करे। ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान रखनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! तुम यह अच्छी तरह जान लो कि श्रेष्ठ पुरुषका संग सिद्ध हो जानेपर साधकको महान् श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है, जिससे अविद्याका आधा भाग तत्काल नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अविद्याका आधा भाग तो सत्संगसे नष्ट होता है और एक चौथाई भाग शास्त्रोंके तात्पर्यकी आलोचनासे दूर हो जाता है; फिर जो चतुर्थ भाग शेष रह जाता है, उसे मनुष्यको अपने प्रयत्नसे परमात्म-साक्षात्कारके द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। यदि संसार-बन्धनसे मुक्त होनेकी एकमात्र उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाय तो वह इच्छा वैराग्यके द्वारा उस पुरुषको भोगों और उसके साधनोंसे दूर हटा देती है। भोग-इच्छाका नाश हो जानेपर अविद्याका चतुर्थ अंश अपने यत्नसे नष्ट

हो जाता है । सत्संग, शास्त्रोंके अर्थका विवेकपूर्वक विचार और अपना प्रयत्न—इन सब साधनोंकी एक साथ प्राप्ति होनेपर एक ही समयमें अथवा एक-एक साधनके प्राप्त होनेपर क्रमशः अविद्यारूपी मलका नाश होता है । अविद्याका नाश हो जाना ही जिसका एकमात्र स्वरूप है, ऐसा जो अविद्याकी निवृत्तिके पश्चात् तत्त्व शेष रहता है, उस नाम और अर्थसे रहित परम वस्तुको वास्तवमें नित्य सत्य होनेके कारण सत् और प्रतीत न होनेके कारण असत् भी कहा गया है । वह परमार्थ वस्तु आनन्दघन, जरा आदि विकारोंसे रहित, अनन्त और एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है । संकल्पमात्रसे स्फुरित होनेवाला नाम-रूपात्मक जगत् तो वास्तवमें है ही नहीं । प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयकी जो त्रिपुटी है, उसके मोहसे तुम सर्वथा रहित हो । अतः निर्वाण ब्रह्मरूपसे सर्वत्र व्याप्त हुए सदा शोकशून्य अवस्थामें स्थित हो ।

(सर्ग ११-१२)

त्रसरेणुके उदरमें इन्द्रका निवास और उनके गृह, नगर, देश, लोक एवं त्रिलोकके साम्राज्यकी कल्पनाका विस्तार

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर ! किसी समयकी बात है, कहीं किसी कल्पवृक्षमें उसकी युगल शाखामें ब्रह्माण्डरूपी गूलरका फल प्रकट हुआ । उसके भीतर तीनों लोकोंके स्वामी देवताओंके राजा इन्द्र उसी तरह निवास करते थे, जैसे शहदके छत्तेमें मधु-मक्खियोंका स्वामी । वे गुरुके उपदेश और अपने अभ्याससे अविद्याके आवरणका नाश करके महात्मा हो गये थे । अपने अन्तःकरणमें सदा परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहते थे । पूर्वापरका ज्ञान रखनेवाले विद्वानोंमें उनका सबसे ऊँचा स्थान था । तदनन्तर एक समय प्रभावशाली भगवान् नारायण और शिव आदि, जब कहीं अपने लोकातीत परमधाममें विराजमान थे, उस समय उन देवराज इन्द्रने अकेले ही अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निज्वालाको धारण करनेवाले महापराक्रमी असुरोंके-सा युद्ध किया, उसमें उनकी पराजय हुई और उन्हें तुरंत ही युद्धभूमिसे भागना पड़ा । शत्रु उनके पीछे पड़ गये थे; अतः वे बड़े वेगसे दसों दिशाओंमें भागते फिरे । उन्हें कहीं भी ऐसा आश्रय नहीं मिला, जहाँ वे विश्राम ले सकें । इतनेमें ही उनके शत्रुओंकी दृष्टि कहीं इधर-उधर चली गयी । उस समय इन्द्रको छिपनेके लिये थोड़ा-सा अवसर मिल गया । उन्होंने अपने संकल्पजनित स्थूल साकार रूपको शान्त करके अपने अन्तःकरणके भीतर ही सूक्ष्मभूतमें विलीन कर दिया और अत्यन्त अणुरूप होकर बाहर सूर्यकी किरणोंमें स्थित किसी त्रसरेणुके भीतर संकल्पमात्रसे प्रवेश किया, वहाँ उन्हें शीघ्र ही विश्राम प्राप्त हुआ । फिर तो उन्हें युद्धकी बात भूल गयी और इसीलिये वहाँसे बाहर निकलनेका संकल्प भी निवृत्त हो गया । वहाँ उन्होंने अपने रहनेके लिये एक घरकी कल्पना की और क्षणभरमें उन्हें अनुभव हुआ कि घरका निर्माण हो गया और मैं उसमें रह रहा हूँ । उस संकल्पकल्पित भवनके भीतर एक कमलके आसनपर बैठकर वे उसी तरह आनन्दका अनुभव करने लगे, जैसे अपने स्वर्गीय सदनमें सिंहासनपर बैठकर किया करते थे ।

उस घरमें रहते हुए इन्द्रने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जिसके परकोटे और महल मणि, मोती तथा मूँगे आदिसे बने हुए थे । उस नगरके भीतर जाकर देवराजने जब इधर-उधर दृष्टिपात किया, तब उन्हें एक देश दिखायी दिया, जो अनेकानेक पर्वत, ग्राम, गोशाला, नगर और काननोंसे सुशोभित था । तत्पश्चात् वैसे ही संकल्पसे युक्त हुए इन्द्रने एक विशाल लोकका

अनुभव किया, जिसमें बहुत-से पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, नदियाँ, नरेश और उनके राज्यकी सीमाएँ दृष्टिगोचर होती थीं। वह लोक क्रिया तथा काल आदिकी कल्पनाओंसे युक्त था। इसके बाद उसी तरहके सङ्कल्पका आनन्द लेनेवाले देवेन्द्रने वहाँ तीनों लोकोंको देखा, जो पाताल, पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य और पर्वत आदि अनेक पदार्थोंसे भरे-पूरे थे। फिर उसी त्रिलोकीमें भोगराशिसे विभूषित हुए इन्द्र देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए। कुछ कालके बाद उन्हें एक पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम था कुन्द। तत्पश्चात् वे प्रशंसाके योग्य देवराज इन्द्र जीवनके अन्तमें शरीरका परित्याग करके मोक्षको प्राप्त हो गये। इसके बाद उनके पुत्र कुन्द त्रिलोकीके राजा हुए। फिर वे भी अपने एक पुत्रको जन्म देकर जीवनके अन्तमें कालके अधीन हो परमपदको प्राप्त हुए। तदनन्तर कुन्दका पुत्र भी पिताकी ही भाँति दीर्घकालतक राज्य करनेके पश्चात् अपने पुत्रको राजसिंहासनपर बिठाकर जीवनके अन्तमें परमपदको प्राप्त हो गया। सुन्दर! इस प्रकार उस देवराज इन्द्रके सहस्रों पौत्र राज्यपर प्रतिष्ठित हुए और कालके गालमें चले गये। आज भी वहाँ उन्हींके पौत्रोंका राज्य है, जिनमेंसे अंशक इस समय राजसिंहासनपर प्रतिष्ठित है।

(सर्ग १३)

इन्द्र-कुलमें उत्पन्न हुए एक इन्द्रका विचार-दृष्टिसे परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके इस त्रिलोकीके इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित होना तथा अहंभावनाके निवृत्त होनेसे संसार-भ्रमके मूलोच्छेदका कथन

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर! पहले जिनकी चर्चा की गयी है, उन्हीं इन्द्रके कुलमें कोई उत्तम गुणोंसे सम्पन्न कान्तिमान् बालक उत्पन्न हुआ, जो देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुआ। कुछ कालके पश्चात् बृहस्पतिके उपदेशसे उन इन्द्रके उस वंशजको आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाला ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर तो उसे जानने योग्य आत्मतत्त्वका ज्ञान हो गया। वह प्रारब्धके अनुसार जो कुछ प्राप्त होता, उसीमें संतोष करता था। इस प्रकार रहते हुए उस इन्द्रवंशी देवराजने तीनों लोकोंका राज्य किया।

ज्ञान-बलसे सुशोभित होनेवाले उन देवेन्द्रके मनमें किसी समय ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि 'मैं भलीभाँति ध्यान लगाकर महत्तत्त्वका साक्षात्कार करूँ।' ऐसा विचार कर वे एकान्तमें बैठ गये और बाहर-भीतरके सम्पूर्ण विक्षेपोंसे रहित शान्त-चित्त हो ध्यान-समाधि लगाकर परब्रह्मके स्वरूपको विचार-दृष्टिसे देखने लगे। उन्होंने अनुभव किया कि परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न है। सर्व-वस्तुस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सब प्रकारसे सर्वदा सर्वमय है। सबके साथ सर्वत्र विद्यमान है और सबमें व्यापक है। उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंसे रहित होता हुआ भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंसे युक्त है। आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला है तथा निर्गुण होकर भी गुणोंको भोगनेवाला है। वह चराचर सभी प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है। अचर और चररूप भी वही है। सूक्ष्म होनेके कारण वह जाननेमें नहीं आता है। वह अति समीपमें है और दूरमें भी है। चन्द्रमा और सूर्यके रूपमें वही है। उसीने पृथ्वीका रूप धारण कर रखा है और वही पर्वत तथा समुद्रके रूपमें है, वह सर्वत्र सारभूत एवं गुरु है। वही आकाशरूपसे विद्यमान है। सर्वत्र संसृति और जगत्के रूपमें भी वही है। वह सभी स्थानोंमें मोक्षरूपसे

विद्यमान है। सभी जगह वह चिन्मय तत्त्वरूपसे स्थित है। वह सर्वत्र सभी पदार्थोंके रूपमें है और शास्त्रमें सब ओरसे सबसे रहित है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् और उदारचित्त उस इन्द्रने देरतक ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको एकमात्र परमात्मामें स्थित देखते हुए हमलोगोंके द्वारा अनुभवमें लाये जानेवाले इस जगत्‌का भी अवलोकन किया। तदनन्तर इस सृष्टिके ब्रह्माण्डमें विचरता हुआ वह इन्द्र वहाँके इन्द्रलोकमें पहुँचकर जब इन्द्रके समीप गया, तब उसका 'मैं इन्द्र हूँ' यह संस्कार जाग उठा और वह प्रारब्धवश वहाँका इन्द्र हो गया। तत्पश्चात् वह सैकड़ों वृत्तान्तोंसे सुशोभित इस त्रिभुवनके राज्यका शासन करने लगा। त्रसरेणुके उदरमें निवास करनेवाला जैसे यह परम कान्तिमान् तथा इन्द्रकुलमें उत्पन्न इन्द्र बनाया गया है, वैसे ही इधर-उधर ऐसे व्यवहारवाले लाखों इन्द्र इस चेतन आकाशमें हो चुके हैं और मौजूद हैं।

विद्याधर! तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि जगत् अहंकारका कार्य है। अहंकारके भीतर जगत कल्पित है और जगत्‌के अंदर अहंकार व्यापक है। जो पुरुष संकल्प-शून्यतारूप ज्ञानसे जगत्‌के बीजभूत अहंभावका मार्जन कर देता है, उसने मानो जगत्-रूपी मलको जलके द्वारा ही पूर्णरूपसे धो डाला है। अतः विद्याधर! अहंता नामकी भी कोई वस्तु नहीं नहीं है। वह अवास्तविक होनेके कारण खरगोशके सींगकी भाँति असत् एवं बिना कारणके ही प्रकट हुई है। (सर्ग १४-१५)

शुद्ध चित्तमें थोड़े-से ही उपदेशसे महान् प्रभाव पड़ता है, यह बतानेके लिये कहे गये भुशुण्डवर्णित विद्याधरके प्रसंगका उपसंहार, जीवन्मुक्त या विदेहमुक्तके अहंकारका नाश हो जानेसे उसे संसारकी प्राप्ति न होनेका कथन

भुशुण्डजी कहते हैं—मुने! मैं इस प्रकार उपदेश दे ही रहा था कि उस विद्याधर-राजका सारा दृश्य-



विषयक संकल्प शान्त हो गया। उसकी समाधि लग गयी। मैंने बारबार उसे इधर-उधरसे हिला-डुलाकर जगाया; परंतु परम निर्वाण पदको प्राप्त वह विद्याधर फिर सामनेके दृश्य विषयोंकी ओर उन्मुख नहीं हुआ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! भुशुण्डजीका बताया हुआ विद्याधरका इतिहास मुझे स्मरण हो आया; इसीलिये मैंने तुमसे कहा था कि शुद्ध चित्तमें उपदेश उसी तरह प्रभाव डालता है, जैसे पानीमें तेलकी बूँद। अहंभावना ही दुःखनामक सेमरके वृक्षका मुख्य बीज है। उस अहंभावनाके समान ही 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि भी उस वृक्षका आदिकारण है; क्योंकि यही रागादिरूपिणी शाखाओंके विस्तारका कारण है। पहले बीजरूपिणी अहंभावना होती है। फिर वृक्षरूपिणी ममभावना होती है। तत्पश्चात् शाखारूपिणी इच्छा (राग) की प्रवृत्ति होती है। यह इच्छा ही इदंपदार्थके रूपमें सैकड़ों अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाली तथा संसार-भ्रमका धारण-पोषण करनेवाली है।

रघुनन्दन ! मेरु पर्वतके शिखरपर पक्षिराज मुक्तात्मा मुनि काकभुशुण्डजी मुझसे पूर्वोक्त विद्याधरकी कथा सुनाकर चुप हो गये। श्रीराम ! तत्पश्चात् मैं उन मुनिसे और उस सिद्ध विद्याधरसे भी विदा लेकर मुनिमण्डलीसे मण्डित अपने आश्रमपर आ गया। इस प्रकार आज मैंने तुमसे काक-भुशुण्डजीद्वारा कही गयी कथासे प्रतिपादित विषयका वर्णन किया है, जिसके अनुसार यह ज्ञात हुआ कि भुशुण्ड-जीके थोड़े से उपदेशसे ही विद्याधरको तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परम शान्ति मिल गयी। रघुनन्दन ! पक्षिराज भुशुण्डके साथ जब मेरा समागम हुआ था, तबसे आजतक ग्यारह महायुग व्यतीत हो चुके हैं।

श्रीराम ! यह सबको ज्ञात है कि बीजके भीतर सैकड़ों शाखाओंसे युक्त तथा पत्र, पुष्प और फलसे सम्पन्न वृक्ष विद्यमान है; क्योंकि बीजारोपणके पश्चात् प्रकट हुए उस वृक्षको सब लोग अपनी आँखोंसे देखते हैं, इसी तरह अहंकाररूपी सूक्ष्म बीजके भीतर समस्त दृश्यज्ञानसे युक्त यह शरीर वर्तमान है, यह विवेकी पुरुषोंने विचार-दृष्टिसे देखा है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप हुए जीवन्मुक्त पुरुषका शरीर लोकदृष्टिसे विद्यमान होनेपर भी वह अहंतामूलक अभिमानको नहीं प्राप्त होता। अतएव उससे संसाररूपी वृक्षका प्राकट्य नहीं होता अथवा जो विदेहमुक्त होकर निरतिशय आनन्दस्वरूप परमात्मामें प्रतिष्ठित हो चुका है, उस पुरुषके बोधरूपी महाग्निसे दग्ध हुए असत्स्वरूप अहंतारूपी बीजके भीतरसे फिर इस संसाररूपी वृक्षका प्रादुर्भाव नहीं होता। (सर्ग १६-१७)



मृत पुरुषके प्राणोंमें स्थित जगत्के आकाशमें भ्रमणका वर्णन तथा परब्रह्ममें जगत्की असत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! सम्पूर्णतः नाश-रूप मृत्यु कभी नहीं होती है। अपने दूसरे संकल्पोंका कुछ कालतक स्थिर रहना ही मरण कहलाता है। प्राणके भीतर चित्त है और चित्तके भीतर विविध आकार-प्रकारसे युक्त जगत् वैसे ही विद्यमान हैं, जैसे बीजके भीतर वृक्ष। पुरुषकी मृत्यु हो जानेपर उसके शरीरसे निकले हुए प्राण बाह्याकाशमें भरे हुए वायुसमूहके साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे समुद्रके जल नदियोंके जलके साथ मिलकर एक हो जाते हैं। आकाशमें विद्यमान वायुके भीतर मृत प्राणियोंके प्राण हैं। उन प्राणोंके भीतर उनका मन है और उस मनके भीतर जगत्को उसी प्रकार स्थित समझो, जैसे तिलमें तेल रहता है। रघुनन्दन ! जैसे वायुमें स्थित सुगन्ध इधर-उधर ले जायी जाती है, उसी तरह प्राण-वायुमें स्थित आकाशात्मक जगत् इधर-उधर यत्र-तत्र ले जाये जाते हैं। जैसे घड़ेको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचा देनेपर उसके भीतरके आकाशमें कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार स्पन्दन आदिसे युक्त चित्तमें तीनों जगत्का भ्रम रहनेपर भी चेतन आत्मामें वस्तुतः वह स्पन्दन और भ्रम नहीं होता है। जगत् और इसका भ्रम दोनों उदित नहीं हैं। यदि उदित हों तो भी वायुद्वारा किये गये इस पृथ्वीके परिभ्रमण आदिको इसके ऊपर स्थित हुए प्राणी उसी तरह नहीं देख पाते हैं, जैसे नौकाके भीतर बैठे हुए मनुष्य उसकी गतिको नहीं देखते हैं। वे तीनों लोक देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही हैं और अहंकार भी इन देश, काल आदिके साथ सम्बन्ध रखनेके कारण देश-कालादि रूप ही है। अतः देश-कालादिरूप जगत् और अहंकारमें भेद नहीं है। अज्ञानीमें जिस प्रकार विकल्प-सम्पत्तिका उदय होता है, उस प्रकार ज्ञानीमें निश्चय ही उसका उदय नहीं होता है। चेतन आकाशरूप परमात्मा सर्वव्यापी और अनन्त हैं। इसलिये वह विकल्प-सम्पत्ति इसका स्वरूप न होनेके कारण सत्स्वरूपा नहीं है।

परम चेतन—परब्रह्म परमात्मा सर्वस्वरूप सर्वशक्तिमान् है इसलिये उसमें गुण, वस्तु, क्रिया और जाति आदिसे अनन्तरूपताको प्राप्त तथा नाना प्रकारके कार्योंका आरम्भ करनेवाले दिगन्तवर्ती जनसमुदायसे परिपूर्ण ये सब संसार चञ्चल जलाशयके भीतर प्रतिबिम्बित क्षणभङ्गुर नगरों एवं अपने अन्तःकरणमें स्थित समस्त उपकरणोंसे भरे महानगरोंके समान असद्रूपसे ही स्थित हैं। (सर्ग १८)

जीवके स्वरूप, स्वभाव तथा विराट् पुरुषका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जो वास्तवमें न परम अणुरूप कहा जा सकता है और न स्थूल, शून्य या अन्य कुछ ही, वरं जो चिन्मय, स्वानुभवरूप और सर्वव्यापक है, वही जीव कहा जाता है। जिस-जिस पदार्थका जो भाव—असाधारण स्वरूप है, उसके रूपमें उन-उन पदार्थमें स्थित होकर जो तदाकार भासित होता है, उसे तुम जीव ही समझो; क्योंकि बारंबार देखनेपर उन-उन पदार्थोंके आकारमें उसीका अनुभव होता है। श्रीराम! जीव जहाँ जिस प्रकार जो-जो संकल्प करता है, वहाँ वह तत्काल वैसा ही आकार धारण कर लेता है। जैसे चलना या हिलना-डुलना आदि चेष्टा वायुका स्वभाव है, उसी प्रकार विचित्र वस्तुओंका अनुभवरूप संसार जीवका स्वभाव ही है। इस बातका अपने अनुभवसे ही निर्णय कर लेना चाहिये। बालकको होनेवाले यक्षभ्रमके समान इसका हम उपदेशके द्वारा साधन नहीं करना चाहते। जीव चैतन्यघनस्वरूप होनेके कारण ही अहंभावनासे ही देश, काल, क्रिया और द्रव्यकी शक्तियोंका निर्माण करके स्थित होता है।

सर्वप्रथम परब्रह्म परमात्मासे मनोमयरूपसे उदित विराट् पुरुष (हिरण्यगर्भ) प्रकट हुआ। अतः वह आकाशके समान विशद, शान्त, नित्य, अनन्तस्वरूप और प्रकाशमय है। वह अद्वितीय विराट् पुरुष सबसे उत्कृष्ट परमेश्वररूप है। वह पञ्चभूतात्मक न होनेपर भी पञ्चभूतात्मक-सा भासित होता है। वह अपने ही संकल्पसे कल्पित अनेक कल्पोंमें तथा क्षणभरमें स्वेच्छानुसार स्वयं प्रकट होता है और बारंबार प्रकट होकर फिर स्वयं ही अदृश्य हो जाता है। वह आकाशस्वरूप, सर्वव्यापी, अनन्त परमेश्वर स्थूल, सूक्ष्म, व्यक्त एवं अव्यक्तरूप हो सबके बाहर-भीतर स्थित है। वह वास्तवमें किंचिद्रूप न होनेपर भी व्यवहारकालमें किंचिद्रूप अवश्य है।

श्रीराम! उस विराट् पुरुषके मूर्तामूर्त-स्वरूप आठ अङ्ग हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियसहित प्राण, छठी इन्द्रिय मन और अहंकार। उसी पुरुषने चार मुखोंसे युक्त होकर शब्द और अर्थकी कल्पनासे युक्त ऋक् आदि चारों वेदोंका गान किया है। उसीने भारतीय सदाचारकी मर्यादा स्थापित की है, जो आज भी यथावत्‌रूपसे चली आ रही है। ऊपर अनन्त आकाश उस पुरुषका मस्तक है। नीचेका भूतल आदि उसके पैरोंका तलवा है। मध्यवर्ती आकाश उसका उदर है तथा यह ब्रह्माण्डमण्डप उसका शरीर है। अनन्त लोक-लोकान्तर उस पुरुषके पार्श्वभाग हैं। जल रक्त है। पर्वत मांसपेशियाँ हैं और सदा अविच्छिन्नभावसे बहनेवाली नदियाँ उसकी नाड़ियाँ हैं। समुद्र रक्तके आधार (रक्त-सञ्चयकी पेशियाँ) हैं। द्वीप ही कोशोंको आवेष्टित करनेवाली आँतें हैं। दिशाएँ फैली हुई भुजाएँ हैं। तारिकाएँ रोमावली हैं। उनचास वातस्कन्ध प्राणवायु हैं। सूर्यमण्डल प्रचण्ड नेत्र है और बड़वानल उसका पित्त है। चन्द्रमण्डल संकल्पात्मक मन है तथा परब्रह्म ही कारणभूत आत्मा है। चन्द्रमारूपी मन ही शरीररूपी वृक्षका मूल कर्मरूपी विटपका बीज तथा सम्पूर्ण भावपदार्थोंका उत्पादन

एवं संवर्धन करनेसे आनन्दका कारण है। इस प्रकार भाँति-भाँतिके आचारोंसे युक्त विराट् पुरुष सहस्रों बार प्रकट हो चुके हैं तथा सैकड़ों महाकल्प बीत चुके हैं, भविष्यमें होनेवाले हैं और इस समय भी विद्यमान हैं। रघुनन्दन! जो ब्रह्मसे अभिन्न है; अतएव जिसका महान् सम्बन्ध अनन्त कालतक बना रहता है, उस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्ताके द्वारा परम विराट् पुरुष सब देश-कालमें स्थित रहता है। (सर्ग १९)

जगत्‌की संकल्परूपता, अन्यथादर्शनरूप जीवभाव तथा अहंभावनारूप महाग्रन्थिके भेदनसे ही मोक्षकी प्राप्तिका कथन और ज्ञानबन्धुके लक्षणोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! यह पञ्चभूतात्मा संकल्पपुरुष (विराट्) स्वयं जैसा-जैसा संकल्प करता है, वह ब्रह्मरूप आकाश भी वैसा ही प्रतीत होने लगता है। अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत्‌को विराट् पुरुषका एक संकल्प ही मानते हैं। वास्तवमें कहीं कोई वस्तु न तो स्थूल है और न सूक्ष्म ही है। भ्रमसे जहाँ जिस प्रकारकी कल्पनाका विस्तार होता है, वहाँ तत्काल वैसा ही अनुभव होने लगता है। मन चन्द्रमासे उत्पन्न हुआ है और चन्द्रमा मनसे। जैसे कुहरेसे आच्छादित हुई वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, उसी तरह अज्ञानसे आवृत आत्माका भी यथार्थ ज्ञान न होकर, जो अन्य प्रकारसे देखना या समझना है, वही जीवका स्वरूप है। इसीलिये विषयात्मक वस्तुओंमें उसकी प्रवृत्ति होती है। वह प्राण और इन्द्रिय आदि जड वस्तुओंसे तादात्म्यभावको प्राप्त होकर अपने यथार्थ-स्वरूपको उसी प्रकार नहीं देख पाता, जैसे जन्मान्ध मनुष्य मार्ग नहीं देख सकता। जगत्‌के रूपमें बढ़ी हुई अविद्या-शक्तिसे आवृत होकर जीव अपने अद्वैत स्वरूपमें ही द्रष्टा-दृश्य आदि द्वैतकी कल्पना करके उसमें अभिनिवेश (सुदृढ आग्रह) कर बैठता है। जैसे वायु स्पन्द-शक्तिसे आवृत होती है, उसी तरह उस अविद्या-शक्तिसे आच्छादित हुआ जीव अपने यथार्थ स्वरूपको नहीं देख पाता। अज्ञानकी सबसे बड़ी गाँठ है अहंभावना। वह मिथ्या विषयभूत और असत् है। उसका जो भेदन है, उसीको तत्त्वज्ञ पुरुषोंने मोक्ष कहा है।

श्रीराम! मनुष्यको सदा ज्ञानी ही होना चाहिये, ज्ञानबन्धु नहीं। मैं अज्ञानीको अच्छा समझता हूँ, परंतु ज्ञानबन्धुको नहीं।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन बताया जाता है? ज्ञानबन्धु होनेका क्या फल है और ज्ञानी होनेपर कौन-सा फल प्राप्त होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जैसे शिल्पी जीविकाके लिये ही शिल्पकलाको सीखता है, उसी प्रकार जो मनुष्य केवल भोगोपार्जनके लिये शास्त्रको पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है किंतु स्वयं शास्त्रके कथनानुसार अनुष्ठानमें लगनेका प्रयत्न नहीं करता, वह ज्ञानबन्धु कहलाता है। शास्त्रोंके अभ्याससे जिसे शाब्दिक बोध तो प्राप्त हो गया है, परंतु विनाशशील भोग-व्यवहारोंमें उनसे वैराग्य आदिके रूपमें उस बोधका कोई फल नहीं दिखायी देता, उसका वह बोध केवल शिल्प है—तत्त्व-ज्ञानकी कथा कहकर दूसरोंको ठगनेके लिये चातुर्यपूर्ण कलामात्र है; उस कलासे केवल जीवननिर्वाह मात्र करने-वाला होनेके कारण वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहलाता है। जो केवल भोजन और वस्त्रमात्रसे संतुष्ट हो भोजन आदिकी प्राप्तिको ही शास्त्राध्ययनका फल समझते हैं, वे शास्त्रोंके अर्थको शिल्पकलाके रूपमें धारण करनेवाले हैं। ऐसे पुरुषोंको ज्ञानबन्धु जानना चाहिये। तत्त्वज्ञ पुरुष परमात्म-ज्ञानको ही ज्ञान मानते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे-दूसरे ज्ञान हैं, वे ज्ञानाभासमात्र हैं; क्योंकि उनके द्वारा सार-

तत्त्व परब्रह्म परमात्माका बोध नहीं होता । जो परमात्म-ज्ञानको न पाकर अन्य प्रकारके ज्ञानलेशकी प्राप्तिसे ही संतुष्ट हो लौकिक सुखके लिये कष्ट-साध्य चेष्टाएँ किया करते हैं, वे ज्ञानबन्धु माने गये हैं । मनुष्यको चाहिये कि इस संसारमें आहारकी प्राप्तिके लिये शास्त्रानुकूल अनिन्द्य कर्म करे । आहार भी उतना ही करे, जितनेसे प्राणोंकी रक्षा हो सके । प्राणरक्षा भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही करे । तत्त्वज्ञानकी इच्छा सबके लिये अत्यन्त आवश्यक है, जिससे फिर कभी जन्म-मरण आदि दुःखोंकी प्राप्ति न हो ।* (सर्ग २०-२१)

ज्ञानीके लक्षण, जीवके बन्धन और मोक्षका स्वरूप, ज्ञानी और अज्ञानीकी स्थितिमें अन्तर, दृश्यकी असत्ता तथा परब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो तत्त्वज्ञानके द्वारा ज्ञातव्य परब्रह्म परमात्मामें दृढ़ निष्ठा हो जानेके कारण पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखादि प्रारब्धका, शब्द आदि जड विषयोंका तथा चित्तका भी सद्रूपसे अनुभव नहीं करता है, वह ज्ञानी कहलाता है । परमात्माके स्वरूपको यथार्थ रूपसे जान लेनेपर जिस तत्त्वज्ञके समस्त व्यवहार उस तत्त्वज्ञानके अनुरूप ही होते हैं एवं जिसके चित्तकी सम्पूर्ण वासनाओंका अभाव हो चुका है, वह ज्ञानी कहलाता है । जो परमात्म-लाभसे संतुष्ट हो स्वाभाविक-रूपसे परम शान्त है तथा जिसकी सभी चेष्टाओंमें बुद्धिमान् पुरुषोंको आन्तरिक शान्तिका अनुभव होता है, वह ज्ञानी कहलाता है । जो बोध मोक्षका कारण है, पुनर्जन्मका कभी नहीं, उसीका नाम ज्ञान है । उसके सिवा दूसरा जो शब्दज्ञानका चातुर्य है, वह शिल्प-जीविका—जीवननिर्वाहकी कलामात्र है । उसे भोजन, वस्त्रको जुटानेवाली व्यवस्था समझना चाहिये । प्रारब्धके अनुसार जो भी कार्य प्राप्त हो जाय, उसमें जो पुरुष कामना और संकल्पसे रहित होकर प्रवृत्त होता है तथा जिसका हृदय शरत्कालके आकाशकी भाँति आवरण-शून्य ज्ञानके आलोकसे प्रकाशित है, वह पण्डित (ज्ञानी) कहलाता है ।

ये जो जगत्के विविध पदार्थ हैं, वे किसी कारणके बिना ही उत्पन्न-से होते हैं । इसलिये ये वास्तवमें हैं ही नहीं, तो भी विद्यमानकी भाँति प्रतीत होते हैं । जो असत्य होते हुए भी भासित हो रहे हैं, उन पदार्थोंकी प्रतीतिमें एकमात्र यह अज्ञान ही कारण है । इस अज्ञानका ज्ञानकालमें तत्काल नाश हो जाता है । यह जीव अपनेसे भिन्न जड अहंकार और शरीर आदिका जब अनुभव करता है, तब तत्काल ही उनके साथ अपना तादात्म्य मानकर उनको अपना स्वरूप समझ बैठता है । यही इसका संसार-बन्धन है और जब यह अपनेको चिन्मय समझता है, तब सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप ही हो जाता है । यही इसका मोक्ष है । यह जीव जो अज्ञान-निद्रामें पड़कर अचेत हो रहा है, जब जाग उठता है, तब परमात्मरसके आवेशसे परमात्मरूपताको ही प्राप्त हो जाता है—ठीक उसी प्रकार जैसे हेमन्त ऋतुमें सोया हुआ-सा आमका वृक्ष वसन्त ऋतुमें रसावेशके कारण प्रबुद्ध-सा होकर जब पल्लवित एवं पुष्पित हो जाता है, तब 'सहकार' नाम धारण करता है । जो दृश्य शोभाके पारदर्शी ज्ञानी पुरुष परादृष्टि (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें इस विस्तृत दृश्यप्रपञ्चके विद्यमान होनेपर भी इसका भान नहीं होता (वे सबको परब्रह्म ही समझते हैं) । जो परादृष्टिको प्राप्त हो चुके

---

* अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम् ।
प्राणा संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥
(नि० उ० २१ । १०)

हैं, उन्हें दृश्य-प्रपञ्चका भान न होनेके कारण उनकी चेष्टा भी वास्तवमें चेष्टा नहीं होती। ज्ञानी पुरुष दृश्य-दर्शनके अभिमानसे बँधते नहीं, इसलिये बन्धनमुक्त साँड़की भाँति सांसारिक कर्मबन्धनके सम्बन्धसे रहित रहते हैं। वे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कर्मोंके लिये उसी तरह काम और संकल्पसे रहित होकर चेष्टाएँ करते हैं, जैसे वृक्षके पत्तोंको कम्पित करनेमें वायु। जो संसारके पारदर्शी पुरुष सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टिको प्राप्त कर चुके हैं, वे कर्मकी प्रशंसा नहीं करते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे नदीके तटपर निवास करनेवाले पुरुष कूपकी प्रशंसा नहीं करते। किंतु अज्ञानी पुरुषोंकी इन्द्रियाँ अधःपतनके हेतुभूत विषयोंपर इस प्रकार गिरती हैं, जैसे गीध मांसके ऊपर टूट पड़ता है। इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मनके द्वारा वशमें करके समाहित-चित्त हो उस परब्रह्म परमात्माके चिन्तनमें लग जाय।

जैसे सुवर्ण कटक, कुण्डल आदि आभूषणोंसे भिन्न नहीं है, उसी तरह ब्रह्म भी सृष्टिसे भिन्न नहीं है; इसीसे 'सृष्टि' आदि शब्दोंका अर्थ तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें कल्याणमय ब्रह्म ही कहा गया है। जैसे कल्पके अन्तमें जब एकमात्र अन्धकार ही छा जाता है, तब यह सारा व्यवहार निर्विभाग और निराभास ही रहता है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें यह जगत् विभाग और आभाससे रहित ही रहता है। जैसे अवयवरहित आकाशमें दिशाओंके विभागरूप आकाशके अवयवोंकी अभिन्न सृष्टि भासित होती है, उसी प्रकार अवयवरहित शिवस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्नरूपसे विद्यमान है। इस प्रकार जगत्के भीतर अहंकार और अहंकारके भीतर जगत् है। ये दोनों एक दूसरेमें उसी प्रकार स्थित हैं, जैसे केलेके तनेकी छालमें तना और तनेमें उसकी छाल होती है।

जिस ग्वालेका मन गोशालाके बर्तनों (दूध दुहनेके पात्रों) में लगा हुआ है, वह घरमें रहकर घरके काम करता हुआ भी उन्हें नहीं देख पाता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष जीवन-निर्वाहके लिये सब कार्य करता हुआ भी ब्रह्मचिन्तनमें रत होनेके कारण उन्हें नहीं देखता है। जिसके भीतर तुच्छ दृश्य-प्रपञ्चकी भावना नहीं है, वह जीते-जी आकाशके समान निर्मल और बन्धनसे छूटे हुएकी भाँति मुक्त है। जो पुरुष सांसारिक पदार्थोंमें अभावरूपताकी भावना नहीं करता, मोक्षके लिये यत्न न करनेवाले उस पुरुषका जन्म-मरणरूपी अनन्त दुःख कभी शान्त नहीं होता। तत्त्वज्ञानी पुरुष यहाँ सम्राट्के समान शोभा पाता है। उसे प्रारब्ध-वश जो कोई भी वस्त्र देकर उसके शरीरको ढक देता है, जो कोई भी भोजन करा देता है तथा वह जहाँ-कहीं भी सो जाता है। वह समग्र विशुद्ध वासनाओंसे युक्त होकर भी वासनारहित ही रहता है। भीतरसे शून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा होता है अर्थात् उसका अन्तःकरण पूर्ण परब्रह्मकी भावनासे भरा होता है और जैसे आकाशमें वायु चलती है, उसी तरह उसकी भी साँस चलती रहती है (परंतु वह देह और उसकी वासनाओंसे रहित हुआ परब्रह्मरूपसे ही स्थित रहता है)। तत्त्वज्ञानी पुरुष निर्वाण-दशाको प्राप्त हो मनके द्वारा ब्रह्मभावका मनन करनेसे जब परमानन्दमें निमग्न हो जाता है, तब नींदमें पड़े हुए मनुष्यकी भाँति आसन, शय्या अथवा सवारीमें स्थित वह यत्नपूर्वक जगानेसे भी नहीं जागता। रघुनन्दन! तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी—दोनोंके सम्पूर्ण उत्पत्ति-विनाशशील कर्मोंमें वासना-शून्यताके सिवा दूसरा कोई अन्तर नहीं होता (अर्थात् ज्ञानी वासनारहित होकर कर्म करता है और अज्ञानी वासनायुक्त होकर)।

यह सारा दृश्य-प्रपञ्च नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर उत्पन्न होता है, इसलिये असत् है। परंतु जो न तो कभी नष्ट हुआ और न उत्पन्न ही हुआ, वही सत्स्वरूप परमात्मा है और वह परमात्मा ही तुम हो। ज्ञानसे जगत्-रूपी भ्रमका मूल (अज्ञान) नष्ट हो जाता है। फिर

तो ढूँढ़नेपर भी इस भ्रमका पता नहीं चलता। जैसे मृगतृष्णा जल नहीं दे सकती, उसी तरह निर्मूल हुआ भ्रम संसाररूपी अङ्कुर नहीं उत्पन्न कर सकता। जैसे जला हुआ बीज अङ्कुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे छिन्न हुई अहंभावना दिखायी देनेपर भी मनोभूमिमें संसाररूपी वृक्षका अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकती। मानसिक विकारोंसे रहित वीतराग तत्त्वज्ञानी पुरुष कर्म करे या न करे, उसकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता। वह तो मनके संकल्पसे रहित एवं नित्य शान्त हुआ परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता है। जो लोग योगका आश्रय लेकर शान्त बने हुए हैं, वे योगी भी चित्तका उपशमन होनेपर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं; क्योंकि उनकी भोग-वासनाएँ मूलतः क्षीण नहीं होतीं। (कारण यह है कि इन वासनाओंकी खानरूप जो चित्त है, वह तो उनका बना ही रहता है।) अनन्त, अव्यक्त एवं सुन्दर चिदाकाशरूप कर्पूर अपने भीतर स्वयं जो चमत्कार प्रकट करता है, उसीको वह जगत्‌रूपसे जानता है। रघुनन्दन! इस तरह यह जगत् तत्त्वज्ञानी पुरुषको उसका सांसारिक भ्रम दूर हो जानेके कारण प्रकाशमय तथा शान्त अक्षय ब्रह्मरूप ही भासित होता है, जब कि अज्ञानीको यह परमार्थतः परब्रह्म परमात्मामें स्थित होकर भी भोगजनित आनन्दके अनुगत ही प्रतीत होता है। (इस प्रकार दोनोंकी दृष्टियोंमें भेद है।) (सर्ग २२)

मरुभूमिके मार्गमें मिले हुए महान् वनमें महर्षि वसिष्ठ और मङ्किका समागम एवं संवाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! पहलेकी बात है। मङ्किनामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो बड़े कठोर व्रतका पालन करते थे। उन्हें मेरे उपदेशसे किस प्रकार निर्वाणपदकी प्राप्ति हुई, यह बताता हूँ, सुनो। एक समय तुम्हारे पितामह राजा अजके किसी कार्यसे बुलानेपर मैं आकाशमण्डलसे इस पृथ्वीपर आया। तुम्हारे पितामहकी नगरी अयोध्याको आते समय मैं भूतलपर विचरता हुआ किसी ऐसे विशाल वनमें आ पहुँचा, जहाँ बड़ी कड़ाकेकी धूप पड़ रही थी। श्रीराम! अविच्छिन्नरूपसे धूल उड़नेके कारण वह सारा जंगल धूसर हो रहा था। वहाँ तपी हुई बालूके कण खूब चमक रहे थे। उस वनका कहीं ओर-छोर नहीं दिखायी देता था। वहाँ कहीं-कहीं निकृष्ट श्रेणीके गाँवके चिह्न दृष्टिगोचर होते थे। मैं उस जंगलमें जाकर ज्यों ही इधर-उधर घूमने लगा, त्यों ही मुझे अपने सामने एक पथिक दिखायी दिया जो श्रमसे थककर इस प्रकार कह रहा था।



पथिक कह रहा था—अहो! जैसे दुष्ट पुरुषोंका पापपूर्ण सङ्ग संताप देनेवाला ही होता है, इसी प्रकार

प्रचण्ड आतपसे तपते हुए ये सूर्यदेव इस समय सब ओरसे खेद ही प्रदान कर रहे हैं। मेरे सारे मर्मस्थल मानो जलते जा रहे हैं। इस धूपमें आग-सी जल रही है। सारी वन-श्रेणियाँ तप्त हो उठी हैं। इनके पत्ते और फूल सिकुड़ गये हैं। इसलिये यह सामने जो छोटा-सा गाँव दिखायी दे रहा है, मैं पहले इसीमें प्रवेश करता हूँ। वहाँ शीघ्रतापूर्वक थकावट दूर करके तीव्र गतिसे अपना रास्ता लूँगा। (यों कहकर वह सामनेके छोटे-से गाँवमें, जहाँ किरातोंकी वस्ती थी, ज्यों ही घुसने लगा त्यों ही मैंने उससे यह बात कही——सुन्दर शरीरवाले साथी! जान पड़ता है, तुम्हें वीतराग अकिंचन पुरुषों-के संचरण योग्य मार्गका ज्ञान नहीं है। मरुभूमिके मार्ग-में मिले हुए इस महान् जंगलके राही! तुम्हारा स्वागत है। नीचेके मार्गसे चलनेवाले राहगीर मनुष्य देशके इस मार्गपर, जहाँ जनसमुदायसे भरे हुए गाँवका अभाव है, थोड़ा-सा विश्राम कर लेनेपर भी चिरस्थायी विश्राम प्राप्त नहीं कर सकोगे। (तात्पर्य यह कि तुम सकाम कर्मके पथपर चल रहे हो। इस सकाम-कर्मोपासनाद्वारा दक्षिणमार्गसे स्वर्गादि लोकोंमें जाकर कुछ कालतक मनोऽनुकूल सुख भोगनेपर भी वहाँ देहाभिमानसे बँधे रहनेके कारण चिरस्थायी परमानन्दस्वरूप मोक्ष नहीं पा सकोगे।) पामरोंके आवासस्थान इस गाँवमें (देहाभिमानियों-के निवासस्थान इस शरीरमें) विश्राम नहीं मिल सकता। जैसे नमकीन पानी पीनेसे प्यास बढ़ती ही है, घटती नहीं, उसी प्रकार यहाँ सुखभोगकी इच्छा बढ़ती है, परंतु पूरी नहीं होती। यहाँ रहनेवाले प्राणी काम, धनकी आसक्ति और द्वेष आदिमें ही पुरुषार्थकी पराकाष्ठा समझते हैं। इनके विचार जले हुए हैं। इसलिये ये आपातरमणीय सकाम कर्मोंमें ही रमते रहते हैं, जिससे उनमें कुलीनता-के कारण विस्तारको प्राप्त होनेवाली, उदार, शीतल तथा ब्रह्मानन्दसे सुशोभित होनेवाली विवेकयुक्त बुद्धि नहीं होती। जैसे मधुमिश्रित विषके कण पलभरके लिये स्वादमें मीठे होते हैं, किंतु दूसरे ही क्षण अपनी ओरसे विराग उत्पन्न कर देते हैं और अनिवार्यरूपसे मृत्युदायक होते हैं, उसी प्रकार ग्राम्य सुखभोग क्षणभरके लिये मधुर प्रतीत होते हैं किंतु दूसरे ही क्षण विराग पैदा कर देने तथा प्रायः मार डालनेवाले होते हैं (अतः इनके उपभोगसे तुम्हें चिर विश्रामकी उपलब्धि नहीं हो सकती)।' निष्पाप श्रीराम! जब मैंने ऐसी बात कही, तब मेरे वचनसे उसे इतनी शान्ति मिली, मानो उसने अमृतमय जलसे स्नान कर लिया हो। तत्पश्चात् वह मुझसे इस प्रकार बोला।

पथिकने कहा——भगवन्! आप कौन हैं? आप भीतरसे पूर्णकाम आत्मज्ञानी महात्मा जान पड़ते हैं। आप इस जगत्को शान्तभावसे देख रहे हैं। क्या आपने अमृतका पान किया है? क्या आप सम्राट् या विराट् पुरुष हैं? सम्पूर्ण अर्थोंसे रिक्त होते हुए भी आप परिपूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे हैं। मुने! आपका शान्त, कान्तिमान्, अप्रतिहत, सब ओरसे निवृत्त तथा शक्तिशाली तेजस्वी रूप जो दिखायी देता है, यह कैसे? आप पृथिवीपर स्थित होकर भी ऐसे जान पड़ते हैं, मानो समस्त लोकोंके ऊपर आकाशमें खड़े हों। आपकी संसारमें कहीं भी आस्था नहीं है, तथापि मुझ-जैसे लोगों-के उद्धारके लिये आप अत्यन्त दृढ़ आस्थासे युक्त दिखायी देते हैं। आप पूर्ण चन्द्रमाके समान सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त होते हुए भी निष्कलङ्क हैं। आपका अन्तःकरण शीतल है। आप प्रकाशमान, समत्वबुद्धिसे युक्त तथा रसायनकी राशिसे सम्पन्न होकर अपनी सहज शोभासे प्रकाशित हो रहे हैं। महाभाग ब्रह्मर्षे! मैं शाण्डिल्य गोत्रमें उत्पन्न ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम मङ्कि है। मैं तीर्थयात्राके लिये निकला था। मैंने दूरतकका रास्ता तै करके बहुत-से तीर्थोंका दर्शन किया है और अब दीर्घ-कालके पश्चात् अपने घरको जानेके लिये उद्यत हुआ हूँ। इस ब्रह्माण्डके भीतर बिजलीकी चमकके समान क्षण-

भङ्गुर भूतोंको देखकर मेरा मन संसारसे विरक्त हो रहा है। अतः अब मुझे घर लौटनेका उत्साह नहीं है। भगवन्! मुझपर कृपा करके आप अपना यथार्थ परिचय दीजिये; क्योंकि साधु पुरुषोंके हृदयरूपी सरोवर स्वच्छ एवं गम्भीर होते हैं। दर्शनमात्रसे ही मित्रता[1] करनेवाले आप-जैसे महात्माओंके सामने आ जानेपर ही समस्त प्राणी कमलोंके समान विकसित और आश्वस्त होते हैं। प्रभो! मैं समझता हूँ कि मेरा यह मन मोहवश संसार-भ्रमजनित दुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं है। अतः आप मुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेकी कृपाद्वारा अनुगृहीत कीजिये।

तब मैंने कहा—महाबुद्धे! मैं आकाशवासी वसिष्ठ मुनि हूँ। राजर्षि अजके किसी आवश्यक कार्यसे मैं इस मार्गपर उपस्थित हुआ हूँ। ब्रह्मन्! अब तुम विषाद न करो; क्योंकि मनीषी पुरुषोंके मार्गपर आ गये हो और प्रायः संसार-सागरके दूसरे तटपर आ पहुँचे हो। जो महात्मा नहीं है, उसकी बुद्धि और वाणी इस तरहके वैराग्य-वैभवसे उदार नहीं होती तथा उसकी आकृति भी इतनी शान्तिपूर्ण नहीं दिखायी देती। जैसे धीरे-धीरे सानपर घिसनेसे मणि साफ होकर चमक उठती है, उसी प्रकार राग आदि मलोंके पक जानेसे चित्तमें विवेकका उदय होता है। बताओ, तुम क्या जानना चाहते हो? और इस संसारको क्यों छोड़नेकी इच्छा रखते हो? मैं तो यह मानता हूँ कि साधक अपने ही प्रयत्नोंसे महात्माओंके दिये हुए उपदेशको सफल बनाता है। जिसकी वासना रागादि मलोंसे रहित हो गयी है, अतएव जिसका हृदय वैराग्य आदि उत्तम साधनोंसे सम्पन्न है तथा जिसकी बुद्धि नित्यानित्य एवं सारासारके विवेकसे सुशोभित है, ऐसा साधक ही महापुरुषोंके उपदेशरूपी तेजसे शोकरहित विशुद्ध परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करनेका अधिकारी होता है, दूसरा नहीं। इसलिये जन्म आदि सम्पूर्ण दुःखोंसे पार होनेकी इच्छा रखनेवाले तुमसे मैं यह कहता हूँ कि तुम उपदेश पानेके योग्य हो। अतः अपना पूर्व वृत्तान्त बताओ।

(सर्ग २३)

मङ्किके द्वारा संसार, लौकिक सुख, मन, बुद्धि और तृष्णा आदिके दोषों तथा उनसे होनेवाले कष्टोंका वर्णन और वसिष्ठजीसे उपदेश देनेके लिये प्रार्थना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जब मैंने ऐसी बात कही, तब मङ्कि मेरे चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरकर मार्गमें चलते हुए ही इस प्रकार बोले।

मङ्किने कहा—भगवन्! जैसे नेत्र बारंबार दसों दिशाओंकी ओर दृष्टिपात करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी संत-महात्माकी खोजके लिये अनेक बार दसों दिशाओंमें भ्रमण किया; परंतु संशयका विनाश करनेवाला कोई श्रेष्ठ महापुरुष मुझे नहीं मिला। आज आपको पाकर मैंने समस्त शरीरोंके सारोंके भी सार इस ब्राह्मणशरीरका फल पा लिया। भगवन्! संसाररूपी दोष प्रदान करनेवाली दशाओंको देखते-देखते मैं उद्विग्न हो उठा हूँ। मुने! संसारके सभी सुख अन्ततोगत्वा अवश्य ही दुःखरूपमें परिणत हो जाते हैं, इसलिये वे अत्यन्त दुःखरूप ही हैं। इन सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा तो दुःख ही श्रेष्ठ है। अन्तमें सुदृढ़ दुःखकी प्राप्ति करानेके कारण ये लौकिक सुख मुझे दुःखने ही टाल रहे हैं, मानो मेरे लिये दुःख ही सुखके रूपमें प्राप्त हुआ हो।

---

[1] मित्रका दूसरा अर्थ सूर्य है। सूर्यके सामने कमल खिलते हैं, अतः यहाँ 'मित्रता' शब्द मैत्री तथा सूर्यरूपता दोनों अर्थोंका वाचक है।

दाँत, केश और आँतोंके साथ ही मेरी अवस्था भी अब जरासे जर्जर हो गयी है। मेरा मन पीपलके उड़ते हुए सूखे पत्ते आदिके संचयसे गदे गाँवोंके मध्यभागकी भाँति मलिन हो गया है तथा मेरी जीविका भी नाना प्रकारकी भोग-वासनारूपी दुर्गन्धोंको अपने अङ्गमें धारण करनेवाली गृध्रतुल्य इन्द्रियोंके कारण निकृष्ट गाँवोंकी स्थितिके समान अत्यन्त पापपूर्ण एवं दुःखदायिनी हो गयी है। मेरी बुद्धि काँटेदार वृक्षपर फलनेवाली बेरके समान विकराल एवं कुटिल है। आयाससे युक्त और अज्ञानान्धकारसे आच्छादित जो विषयोंकी निरन्तर चिन्ता है, उसमें रत रहकर मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थ गवाँ दी है। ब्रह्म-साक्षात्काररूपी प्रकाश मुझे इस जीवनमें अभीतक नहीं मिला। स्वजनोंमें आसक्त हुआ यह जीवन जीर्ण हो चला, परंतु अबतक मैं संसारको पार न कर सका। जन्म-मरणका भय देनेवाली भोगोंकी अभिलाषा दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। कण्टकयुक्त और अपवित्र स्थानमें स्थित बिलावेके वृक्षकी भाँति मेरा मन भी क्रूरतासे युक्त और अपवित्र विषयोंमें रत है। यह सारे शरीरमें फैलने या रेंगनेवाले अर्जुनवात नामक रोगके समान चञ्चल है तथा असत् होनेपर भी सङ्कल्पद्वारा बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ करनेवाला है। इसकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हुई तथा शरीरोंके मरनेपर भी इसकी मृत्यु नहीं हुई। यह केवल दुःख देनेके लिये ही उछल-कूद मचाता है। मैंने अवस्तुको ही वस्तु समझा है। मेरा मनरूपी हाथी मतवाला हो गया है और इन्द्रियाँ मुझे काटे डालती हैं। न जाने मेरी क्या दशा होगी। मैंने ज्ञानी पुरुषोंकी सेवा करके वह शास्त्रीय दृष्टि नहीं प्राप्त की, जो संसार-सागरसे पार करनेके लिये नौकाके समान है। तात! इसलिये इस प्रकार सब ओरसे अनर्थोंकी ही प्राप्ति होनेके कारण मैं अत्यन्त भयंकर मोहमें डूब गया हूँ। इस मोह सागरसे उद्धार पानेके लिये भविष्यमें जो कल्याणकारी उपाय हो, उसीको मैं पूछ रहा हूँ। अतः कृपा करके आप उसे बताइये। श्रेष्ठ महात्मा पुरुषका सङ्ग प्राप्त होनेपर मोहका नाश हो जाता है और समस्त आशाएँ निर्मल हो जाती हैं—ठीक उसी तरह जैसे शरत्काल आनेपर कुहरे मिट जाते हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं। संतोंकी महिमाके विषयमें जो ऐसी बात कही गयी है, वह आपके द्वारा मुझे भवरोगको शान्त करनेवाले बोधकी प्राप्ति करनेके साथ ही सत्य एवं सफल हो। (सर्ग २४)

संसारके चार बीजोंका वर्णन और परमात्माके तत्त्वज्ञानसे ही इन बीजोंके विनाशपूर्वक मोक्षका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजीने (मैंने) कहा—ब्रह्मन्! संवेदन, भावना, वासना और कलना—ये चार ही शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ इस संसारमें अनर्थ पैदा करनेवाले हैं। ये सभी मिथ्या होनेके कारण निष्प्रयोजन हैं, तथापि अविद्यासे विस्तारको प्राप्त हो रहे हैं। वेदन और भावन—इन दोको समस्त दोषोंका आश्रय समझो। इनमें भी जो भावन है, उसीमें सारी आपत्तियाँ निवास करती हैं—ठीक वैसे ही, जैसे वसन्तऋतुके द्वारा प्रवर्तित रसमें ही पुष्प, पल्लव आदिसे समृद्ध लताएँ विद्यमान रहती हैं (क्योंकि लताका सारा वैभव उस रसका ही परिणाम होता है)। यह संसारमार्ग बड़ा गहन है। इसपर वासनाका आवेश लेकर चलते हुए प्राणीके ऊपर विचित्र परिणामवाले अनेक प्रकारके घटना-चक्र आते रहते हैं। जो

१. पहले-पहल इन्द्रियोंसे जो विषयोंका उपभोग होता है उसीको संवेदन कहते हैं। २. विषयोंके नष्ट हो जानेपर उनका बारबार चिन्तन ही भावन कहा गया है। ३. बारंबार विषय-चिन्तनसे जो चित्तमें विषयोंका दृढ संस्कार जम जाता है, उसका नाम वासना है। ४. उस वासनाके कारण मृत्युकालमें भावी शरीरके लिये जो स्मृति होती है, उसको कलना कहते हैं।

विवेकी है, उसका संसारभ्रम वसन्तके अन्तमें ग्रीष्म ऋतुके तापसे सूख जानेवाले पृथ्वीके रसकी भाँति वासना-सहित नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार वसन्त ऋतुका रसप्रवाह कदलीवनमें फैलनेवाली कदलीका विस्तार करती है, उसी प्रकार वासना मनोरूपी काँटेदार झाड़ी-का प्रसार करती है। यहाँ अद्वितीय विशुद्ध सच्चिदानन्द-घन परमात्माके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। जैसे अनन्त आकाशमें शून्यरूपताको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार असीम परमात्मामें चैतन्य सत्ताके सिवा और कोई वस्तु नहीं है। जैसे बालकको वेतालके न होनेपर भी अज्ञानवश उसके होनेका भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार असत् होकर भी सत्की भाँति भासित होनेवाला यह संसार परमात्मतत्त्वको न जाननेके कारण ही अनुभवमें आ रहा है। परमात्मतत्त्वके ज्ञानका प्रकाश होते ही यह क्षणभरमें नष्ट हो जाता है। जो वस्तु तत्त्वज्ञानसे ज्ञात होती है, वह ज्ञानस्वरूप ही कही जाती है; क्योंकि अज्ञान ज्ञानका विरोधी है, इसलिये वह ज्ञानरूपसे नहीं जाना जाता। इस तरह विचार करनेसे ज्ञेय और ज्ञान दोनों एकरूप सिद्ध होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य—इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी बोधरूपता ही सार है। जैसे आकाशमें फूल नहीं होता, उसी तरह द्रष्टा आदिकी त्रिपुटीमें ज्ञानरूपतासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं होती। 'यह मेरा है' इस तरहकी ममता ही बन्धनमें डालनेवाली है और 'मैं यह शरीर आदि नहीं हूँ' इस प्रकार जो अहंताका अभाव है, वह ममताके बन्धनको दूर करके मुक्ति प्रदान करनेवाला है—जब यह समग्र पूर्णतया अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान कहाँ रहा! अपनी वासना और अभिमानके अनुसार राग आदि रससे रञ्जित लोग हथेलीसे ताडित हुए गेंदके समान खूब इधर-उधर उछल-कूदकर अन्तमें नरकोंके गर्तमें गिर जाते हैं। वहाँ दीर्घ-कालतक तरह-तरहकी वासनाओंके कल्लोलोंसे भलीभाँति जर्जर हो कालान्तरमें पुनः स्थावर, कृमि-कीट आदि दूसरे-दूसरे रूपोंमें प्रकट होते हैं। (मानव-जन्म तो उनके लिये दुर्लभ ही बना रहता है।) (सर्ग २५)

भावना और वासनाके कारण संसार-दुःखकी प्राप्ति तथा विवेकसे उसकी शान्ति, सर्वत्र ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन एवं मुक्तिके मोहका निवारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—ब्रह्मन्! संसारके ये सभी पदार्थ वनमें बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डोंके समान एक-दूसरेसे कोई लगाव नहीं रखते। भावना ही इन्हें एक-दूसरेसे जोड़नेके लिये शृङ्खला है। अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि वासनाके वशीभूत होकर विवश हुए ये समस्त प्राणी विभिन्न जन्मोंमें विचित्र प्रकारके सुख-दुःखोंको भोगते रहते हैं। अहो! यह वासना बड़ी विषम है, जिसके वशमें होकर लोग असत् विषयोंसे ही अपने मनमें तृप्तिका अनुभव करते हैं, यद्यपि यह तृप्ति उनका भ्रम ही है। जैसे रूपका अवलोकन दृष्टिका प्रसारमात्र है, उसी प्रकार अहंकारयुक्त जगत् जीवात्माके अविवेक और प्रमादसे पूर्ण मानसिक सङ्कल्पका विस्तारमात्र है। जैसे वायु अपनी चेष्टाका प्रसार करती है, उसी प्रकार विशुद्ध जीवात्मा वास्तवमें शुद्ध होनेपर भी किंचित् अविवेक-जनित प्रसरणमात्रसे अहङ्कारयुक्त असत् जगत्का विस्तार करता है। जैसे जड आकाश शून्यमात्र है, वायु स्पन्दनमात्र है और लहर आदि जलमात्र ही हैं, उसी प्रकार यह जगत् भी जीवात्माकी भावना या सङ्कल्पमात्र ही है। 'ब्रह्म' शब्दसे जिस सत्ताका प्रतिपादन किया जाता है, वही सम्पूर्ण पदार्थोंका अपना वास्तविक रूप है। इसमें किसी तरहकी शङ्का नहीं

है। इसलिये सब कुछ अविनाशी ब्रह्ममय ही है।

प्रिय विप्रवर! आकाशके समान निर्मल आत्मामें मनको विलीन करके स्थित हुए ज्ञानयोगीको नाम और रूपकी प्रतीति ही नहीं होती। स्वरूपस्थितिके लिये उसके द्वारा किया गया अभ्यास जबतक दृढ़ नहीं हो जाता, तभीतक उसे अपने मनमें स्वप्न-विकारके समान नाम-रूपका भान होता है। मन जहाँ जो कुछ निर्माण या प्रसार करता है, वहाँ वह स्वयं ही उन-उन वस्तुओंका रूप धारण करके स्थित हो जाता है। अतः मनसे भिन्न किसी दृश्य वस्तुकी सत्ता न होनेके कारण यह दृश्य-प्रपञ्च वास्तवमें है ही नहीं। फिर कौन कहाँ किसकी सृष्टि करता है? जब जीवात्मामें अहंताकी रेखा खिंच जाती है, तभी वह संसार-भ्रमरूप भाव-विकारसे युक्त हो जाता है और जब अहंताकी वह रेखा मिट जाती है, तब वह अपने स्वरूपमात्रमें स्थित हो सहज शान्तिसे सुशोभित होता है। परमात्मा मोक्षस्वरूप, मनसे रहित, मौनी, कर्ता, अकर्ता और शीतल है। वह ज्ञानस्वरूप एवं शान्त ही है। वह दृश्य-प्रपञ्चसे शून्य होता हुआ ही सर्वत्र परिपूर्ण है। जैसे किसी यन्त्रद्वारा बनाये गये पुतलेका शरीर वासना और चेष्टासे शून्य होता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा वास्तवमें वासनारहित एवं स्पन्दनशून्य है। वह व्यवहार-परायण प्रतीत होकर भी अपने यथार्थ स्वरूपमें ही स्थित रहता है।

जैसे झूलते हुए झूलेमें सोये हुए बालकके अङ्ग नहीं हिलते, झूलेके हिलनेसे ही उन अङ्गोंका हिलना प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुषमें स्वरूपानुसंधानके सिवा दूसरी कोई चेष्टा नहीं होती; वे परेच्छासे ही चेष्टाशील दिखायी देते हैं, स्वतः नहीं। आशा, चेष्टा, एषणा और कामना आदिसे रहित तथा बहिर्मुख वृत्तिसे शून्य जो अखण्ड आत्मबोध है, वह शान्त, अनन्त आत्मस्वरूप ही है। अतः उसे शरीर आदिका अनुसंधान होना कैसे सम्भव है। समस्त कामनाओंसे रहित जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषको, जो द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीसे रहित निराकार ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर चुका है, शरीरका अनुसंधान कैसे हो सकता है। समस्त वस्तुओंकी अपेक्षा (इच्छा) ही सुदृढ़ बन्धन है और उनकी उपेक्षा ही मुक्ति है। जो उस मुक्तिमें विश्राम कर रहा है, उसे किस वस्तुकी इच्छा हो सकती है। तत्त्वज्ञानी विद्वान् केवल अपने यथार्थ स्वरूपमें ही स्थित रहता है। उसकी सारी इच्छाएँ और चेष्टाएँ शान्त हो जाती हैं तथा उसकी सब उत्कण्ठाएँ दूर हो जाती हैं। उसे अपने शरीरका भी भान नहीं होता।

श्रीराम! मेरे इस उपदेशको सुनकर मङ्किने वहीं अपने महान् मोहको भी उसी तरह पूर्णरूपसे त्याग दिया, जैसे साँप अपनी केचुलको छोड़ देता है। प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्यको वासनाशून्य होकर करते हुए मङ्किमुनि सौ वर्षोंके पश्चात् एक पर्वतपर समाधिमें स्थित हो गये। वे आजतक वहाँ प्रस्तरके समान निश्चल होकर बैठे हैं। उनकी नेत्र आदि समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो गयी हैं। कभी-कभी दूसरोंद्वारा जगाये जानेपर ज्ञानयोगी मङ्कि समाधिसे जग भी जाते हैं।

(सर्ग २६)

आत्मा या ब्रह्मकी समता, सर्वरूपता तथा द्वैतशून्यताका प्रतिपादन; जीवात्माकी ब्रह्मभावनासे संसार-निवृत्तिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! सर्वत्र व्यापक परमात्मा एक होता हुआ ही सभी रूपोंमें विराजमान है। उसमें अज्ञानवश ही अनेकताकी कल्पना हुई है। ज्ञान हो जानेपर तो न वह एक है और न अनेक

या सर्वरूप ही; फिर उसमें नानात्वकी कल्पना कैसे हो सकती है। आदि-अन्तसे रहित सारा आकाश चित्तत्त्व—सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मासे परिपूर्ण है। फिर शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होनेपर भी उस चेतन तत्त्वका खण्डन कैसे हो सकता है। अमावास्याके बाद जब प्रतिपदाको चन्द्रमाकी एक कला उदित होती है, तब समुद्र आनन्दके मारे उछलने लगता है और जब प्रलयकालकी प्रचण्ड वायु चलती है, तब वह सूख जाता है। परंतु आत्मतत्त्व कभी किसी अवस्थामें न तो क्षुब्ध होता है और न क्षीण ही होता है। वह सदा समभावसे सौम्य बना रहता है। जैसे नावपर यात्रा करनेवाले पुरुषको स्थावर वृक्ष और पर्वत आदि चलते-से प्रतीत होते हैं तथा जैसे सीपीमें लोगोंको चाँदीका भ्रम होता है, उसी प्रकार चित्तको चिन्मय परमात्मामें देहादिरूप जगत्की प्रतीति होती है। यह शरीर आदि चित्तकी कल्पना है और शरीर आदिकी दृष्टिसे चित्तकी कल्पना हुई है। इसी प्रकार देह और चित्त दोनोंकी दृष्टिसे जीवभावकी कल्पना हुई है। वास्तवमें ये सब-के-सब परमपदस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें बिना हुए ही प्रतीत होते हैं अथवा ये सब-के-सब चिन्मय परम तत्त्वसे भिन्न नहीं हैं; ऐसी दशामें द्वैत कहाँ रहा? परब्रह्म परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर यह सब कुछ एकमात्र शान्तस्वरूप ब्रह्म ही सिद्ध होता है। अतः ब्रह्मके सिवा जगत् आदि दूसरा कोई पदार्थ नहीं है और न दूसरी कोई भ्रान्ति ही है।

रघुनन्दन! वासनायुक्त जीवात्माकी भावनासे जगत् सम्पत्तिका प्रादुर्भाव होता है और वासनाशून्य जीवात्माकी ब्रह्मभावनासे संसारकी निवृत्ति होती है। जीवात्माका जो वासनारहित विशुद्ध स्पन्दन (भावना) है, उसे स्पन्दन माना ही नहीं गया है, जैसे समुद्रमें भवर आदिके द्वारा भीतर घुमती हुई तरङ्ग स्पन्दनशील होनेपर भी स्पन्दनशून्य ही मानी जाती है। किंतु जन्मकी कारणभूता जो जीवात्माकी दृश्यभावना है, उसके भीतर जो वासनारस विद्यमान है, वही अङ्कुर प्रकट करता है; अतः उसीको असङ्गरूप अग्निसे जलाकर भस्म कर देना चाहिये। मनुष्य कर्म करता हो या न करता हो; परंतु शुभाशुभ कार्योंमें वह जो मनसे डूब नहीं जाता, उसकी इस अनासक्तिको ही विद्वान् पुरुष असङ्ग मानते हैं अथवा वासनाको उखाड़ फेंकना ही असङ्ग कहा गया है। अहंभावका त्याग करना ही संसार-सागरसे पार होना है और उसीका नाम वासनाक्षय है। इसके लिये अपने पुरुषार्थके सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। श्रीराम! तुम तो आत्माराम और पूर्णकाम हो ही। सारी इच्छाओंसे रहित निश्शङ्क हो समस्त कार्य करते हुए भी केवल अपने चिन्मय स्वरूपमें ही स्थित हो। भय तुमसे सदा दूर ही रहता है। अतः अपनी सहज शान्तिके द्वारा सबके मनोऽभिराम बने रहो।

(सर्ग २७-२८)

परमार्थ-तत्त्वका उपदेश और स्वरूपभूत परमात्मपदमें प्रतिष्ठित रहते हुए व्यवहार करते रहनेका आदेश देते हुए वसिष्ठजीका श्रीरामके. प्रश्नोंका उत्तर देना तथा संसारी मनुष्योंको आत्मज्ञान एवं मोक्षके लिये प्रेरित करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तुम आकाशके समान विशद और तत्त्वके ज्ञाता हो। एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मपदमें तुम्हारी स्थिति है। तुम सर्वत्र सम सौम्य और सम्पूर्णानन्दमय हो, तुम्हारा अन्तःकरण ब्रह्मस्वरूप एवं विशाल है। निष्पाप रघुनन्दन! जो पुरुष अपनी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके सदा ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो आत्माराम, शान्त एवं उदार-भावसे कार्य करता है, वह कर्मबन्धनके दोषसे रहित

होता है। जो समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित अपनी बुद्धिगुहा—हृदयाकाशमें विराजमान परमात्मपदमें स्वेच्छानुसार स्थित रहता है, वह अपने आत्मामें ही रमण करनेवाला परमेश्वररूप ही है। जो लोग सदा अन्तर्मुख रहकर बाहरके कार्योंका सम्पादन करते रहते हैं, उनके जीवित रहते हुए भी उनके मनमें उसी तरह वासना नहीं उत्पन्न होती, जैसे जड पत्थरोंमें वह नहीं उत्पन्न होती। जगत् न तो द्वैतरूपमें है और न अद्वैतरूपमें ही।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! यदि ऐसी बात है तो अहंभावकी प्रतीतिरूप वसिष्ठ-नामक आप यहाँ कैसे स्थित हैं? यह बताइये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! श्रीरघुनाथजीके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजी आधे मुहूर्ततक चुपचाप ही बैठे रह गये। उनकी यह चेष्टा सुस्पष्ट ज्ञात हो रही थी। उनके चुप हो जानेपर सभामें जो बड़े-बड़े लोग बैठे हुए थे, वे संशयके समुद्रमें गोते लगाने लगे। तब श्रीरामचन्द्रजीने फिर पूछा—'भगवन्! आप मेरी ही तरह चुपचाप क्यों बैठे हैं? संसारमें कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, जिसका उत्तर आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष न दे सकें।'

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन! मुझमें कुछ कहनेकी शक्ति न होनेके कारण मेरे पास युक्तियोंका अभाव हो गया हो ऐसी बात नहीं है। परंतु यह प्रश्न जिस कोटिका है, उसमें चुप हो जाना ही इसका उत्तर है। प्रश्नकर्ता दो प्रकारके होते हैं—एक तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। अज्ञानी प्रश्नकर्ताको अज्ञानी बनकर ही उत्तर देना चाहिये और ज्ञानीको ज्ञानी बनकर। परम सुन्दर श्रीराम! तत्त्वज्ञ पुरुषको उसके प्रश्नका कलङ्कयुक्त उत्तर नहीं देना चाहिये। परंतु कोई भी ऐसी वाणी नहीं है, जो निष्कलङ्क हो और तुम केवल ज्ञानी ही नहीं, परम ज्ञानी हो। अतः तुम्हारे प्रश्नका मौन ही उत्तर है। जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञानके पूर्व इस रूपमें उपस्थित किया जाता है जिससे उसके विषयमें उपदेश वाणीकी प्रवृत्ति हो सके। अतः अज्ञानसे ही उसको ससकल्प वाणीका विषय बताया गया है एवं उसका कल्पित स्वरूप ही उपदेशका विषय होता है। किंतु तत्त्वज्ञानके पश्चात् जो उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है, उसे मौन अर्थात् वाणीका अविषय ही कहा गया है। इसीलिये तुम-जैसे तत्त्वज्ञशिरोमणिको मौनके रूपमें ही सुन्दर उत्तर दिया गया है। प्रिय रघुनन्दन! वक्ता पुरुष स्वयं जैसा होता है, उसके अनुरूप ही वह उपदेश करता है। मैं ज्ञेय ब्रह्मरूप ही हूँ। अतः उस परमपदमें प्रतिष्ठित हूँ, जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है। जो वाणीसे अतीत पदमें प्रतिष्ठित है, वह वाणीरूप मलको कैसे ग्रहण कर सकता है। मैं मौन रहकर उस तत्त्वका प्रतिपादन कर रहा हूँ, जो अनिर्वचनीय है—जिसका वाणीद्वारा ठीक-ठीक वर्णन हो नहीं सकता, क्योंकि वाणी संकल्परूप कलङ्कसे युक्त होती है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! वाणीमें जो-जो दोष आते हैं, उनका आदर न करके विधिरूपसे और निषेधरूपसे यह बताइये कि वास्तवमें आप कौन हैं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! यदि तुम मुझसे मेरे स्वरूपका परिचय सुनना चाहते हो तो इस विषयको यथावत् सुनो। 'तुम कौन हो,' 'मैं कौन हूँ' और 'यह जगत् क्या है' इसका विवेचन किया जा रहा है। तात! यह जो निर्विकार अनन्त चिन्मय परमात्मा है, वही मैं हूँ। इसमें बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका सर्वथा अभाव है तथा यह समस्त कल्पनाओंसे परे है। मैं निर्मल अनन्त चेतन हूँ, तुम अनन्त चेतन हो, सारा जगत् अनन्त चेतन है और सब कुछ अनन्त चेतनमात्र ही है। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मामें मैं विशुद्ध

ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हूँ। मुझमें भेदज्ञानकी दृष्टि है ही नहीं। अतः मैं किसी भी वस्तुको अपनेसे भिन्न कहना नहीं जानता। जीवित रहकर व्यवहारपरायण होता हुआ भी जो परम शान्त है, उस ज्ञानी पुरुषकी जो मुर्देके समान स्थिति है, उसीको परमपद कहते हैं। जो बाहर-भीतरके साधनोंसे रहित, शान्त, अनन्त, साधनरूप और सम है, जिसे न सुख कहा जा सकता है न दुःख, जो 'अहं' भी नहीं है तथा 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादि श्रुतिके द्वारा जिसके स्वरूपका निर्देश कराया गया है, वह कल्याणस्वरूप तत्त्व ही परम पद है। उसे मैं अपनेसे भिन्न नहीं समझता। वस्तुतः उसे दूसरा कोई नहीं जानता। लोकैषणासे विरक्त ज्ञानी पुरुषके द्वारा आत्मामें ज्ञातापनकी भाँति उसका स्वयं ही अनुभव किया जाता है। उस परम पद-में न अहंता (मैं-पन) है न त्वत्ता (तू-पना), न अहंताका अभाव है और न अन्यता ही। वह केवल निर्वाणस्वरूप विशुद्ध कल्याणमय कैवल्य ही है। इस चेतन जीवात्माका चेत्य विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही चित्तरूपता है, यही इसका संसार है और यही महान् कष्ट देनेवाला बन्धन है। चेतन जीवात्माका चेत्य विषयोंकी ओर उन्मुख न होना ही अचेत्यरूपता है। इसीको मोक्ष समझो। यही शान्त एवं अविनाशी परमपद है। जो दिशा और देश-काल आदिकी सीमासे बँधा हुआ नहीं है, वह शान्तस्वरूप शान्तात्मा परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान है, उसमें चेत्य (दृश्य) की सम्भावना ही नहीं है। फिर कौन, किसका और किस प्रकार चिन्तन करता है? ये जो मन-बुद्धि आदि हैं, ये सब अन्तर्मुख दशामें चैतन्यरूप ही हैं। मन-बुद्धि आदि शब्दोंके अर्थरूपसे भावित होनेपर वे ही जडरूप मानी गयी हैं। समस्त दृश्योंका बाध हो जानेपर जो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा अवशिष्ट रह जाता है, उसमें और शून्य आकाशमें क्या अन्तर है—इसे साधारण लोग नहीं जानते—विद्वान् ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। उनका कहना है, कि वह परमात्मा चिन्मय और निरतिशयानन्दस्वरूप है, इसलिये वाणीका विषय नहीं होता। जैसे अन्धकारमें देखनेका प्रयत्न करनेसे नेत्रोंमें कुछ सदसद्रूप आभास दीखता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें जो आभास परिलक्षित होता है, वही यह जगत् है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस रूप-में जो जीवोंको अपने अज्ञानका बोध होता है, उससे सुरक्षित अज्ञानरूपी वायुका सहारा पाकर उनकी अविद्याग्नि प्रज्वलित होती रहती है। फिर जब उन्हें 'मैं ब्रह्म हूँ' यह यथार्थ बोध होता है, तब वही वायु उस अविद्याग्निको दुर्बल पाकर बुझा देती है।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्दरूपसे स्थित हुए तत्त्वज्ञानी पुरुषोंकी संसारके भानसे रहित तथा दुःखरूप क्षोभसे शून्य जो स्थिति है, उसीको मोक्ष कहते हैं और वही अविनाशी पद है। परमात्मज्ञानके साथ सांसारिक पदार्थोंके ज्ञानसे युक्त हो मनुष्य मुनि बन जाता है। परंतु जो परमात्माके अज्ञानके साथ-साथ सांसारिक पदार्थों-के ज्ञानसे शून्य होता है, वह पशु एवं वृक्ष बन जाता है। जैसे सुषुप्तावस्थामें स्वप्नका लय हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर उस तत्त्वज्ञके समाहित अन्तःकरणके भीतर सारे दृश्य-प्रपञ्चका लय हो जाता है। फिर तो केवल अपना परमात्मस्वरूप ही लक्षित होता है। जैसे आकाशमें नीलिमाकी प्रतीति भ्रममात्र ही है, उसी प्रकार कल्याणस्वरूप परमात्मामें पृथ्वी आदि पाञ्चभौतिक जगत्की प्रतीति भ्रमके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जैसे आकाश नील आदि वर्णोंसे रहित निर्मल है, उसी प्रकार शिवस्वरूप परमात्मा भी दृश्य-प्रपञ्चसे रहित एवं निर्मल है। जिस पुरुषकी बुद्धिमें यह निश्चय हो गया है कि यह सारा दृश्य-प्रपञ्च असत् (मिथ्या) ही है, वह समस्त विशुद्ध वासनाओं-से युक्त होनेपर भी उन वासनाओंसे रहित ही है। सर्वव्यापी शुद्ध-बुद्ध परमात्मामें बन्धन और मोक्षरूप

होना असम्भव है; इसलिये यहाँ न दुःख है न सुख, न पुण्य है न पाप और न किसीका कुछ नष्ट ही हुआ है। जिस अहंकारमें यह ममताबुद्धि होती है, वह भी दो चन्द्रमा और स्वप्नके नगरकी भाँति असत् (मिथ्या) ही है; इसलिये सब कुछ निराकार एवं निराधार है। समस्त द्वैतसे रहित तत्त्वज्ञ पुरुष व्यवहारपरायण हो अथवा काष्ठ या पाषाणके समान निश्चल होकर चुपचाप बैठा रहे, सभी अवस्थाओंमें वह ब्रह्मस्वरूपताको ही प्राप्त है। रघुनन्दन ! जो ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंद्वारा पूर्णरूपसे सेवित है, जिसे दूसरा कोई छीन नहीं सकता तथा जो ज्ञानस्वरूप, निर्मल, शिव, अजन्मा, अविनाशी, नित्य-सिद्ध, सम, परमार्थ सत्य तथा शान्त ब्रह्मपद है, वही तुम हो। तुम उस परमपदमें नित्य प्रतिष्ठित हो।

अहंभावना ही सबसे बड़ी अविद्या है, जो मोक्षकी प्राप्तिमें रुकावट डालनेवाली होती है। मूढ़ मनुष्य उस अविद्याके द्वारा ही जो मोक्षका अन्वेषण करते हैं, वह उनकी पागलोंकी-सी चेष्टा है। अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली अहंता ही अज्ञानकी सत्ताका पूर्ण परिचय देनेवाली है; क्योंकि जो तत्त्वज्ञानी शान्त पुरुष है, उसमें ममता या अहंता नहीं रहती। अहंताका भलीभाँति त्याग करके आकाशकी भाँति निर्मल तथा मुक्त हुआ ज्ञानी पुरुष सदाके लिये निश्चिन्त हो जाता है; उसका शरीर रहे या न रहे; उसकी उपर्युक्त स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता। जो तत्त्ववेत्ता पुरुष भीतरकी मानसिक तरङ्गोंसे कभी क्षुब्ध नहीं होता, बाहरसे भी अस्तगत सूर्यकी भाँति शान्त रहता है और जिसे सदा प्रसन्नता बनी रहती है, वह मुक्त कहलाता है। इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर भी वह सदा शान्त बना रहता है—हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता। व्यवहारमें संलग्न रहनेपर भी द्वैतभावका अनुभव नहीं करता तथा भीतरसे पूर्ण परमानन्दमें निमग्न रहता है। जैसे समुद्रमें जलरूप आधारकी सत्ता ही नावों या जहाजोंको क्रय-विक्रयकी वस्तुओंका दुःखद भार वहन करनेके लिये अवसर देती है, उसी प्रकार जीव और जगत्की जड सत्ता ही तृष्णाके पाशमें बँधे हुए मनुष्योंको इस जगत्में केवल दुःखका भार वहन करनेके लिये प्रेरित करती है। जो-जो वस्तु संकल्पसे प्राप्त होती है, वह संकल्पसे ही नष्ट भी हो जाती है। इसलिये जहाँ इस संकल्पकी सम्भावना ही नहीं है, वही सत्य एवं अविनाशी पद है। विचार करनेसे जिन पुरुषोंके सम्पूर्ण विशेष (भेदभाव) शान्त हो चुके हैं, उनके लिये केवल अहंताका नाश करनेवाली मुक्तिका उदय होता है। उनका कुछ बिगड़ता नहीं। अज्ञानी पुरुषो ! मोक्षकी प्राप्तिके लिये भोगोंके त्याग, विवेक-विचार तथा मन और इन्द्रियोंके निग्रहरूप पुरुषार्थ—इन तीनके सिवा चौथी किसी वस्तुका उपयोग नहीं है। अतः अनात्मवस्तुका त्याग करके तुमलोग शीघ्र अपने आत्माकी ही शरणमें आ जाओ।

(सर्ग २९-३०)

निर्वाणकी स्थितिका तथा 'मोक्ष स्वाधीन है' इस विषयका सयुक्तिक वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! ब्रह्मके अतिरिक्त न नाश है न अस्तित्व, न अनर्थ है न जन्म-मृत्यु, न आकाश है न शून्यता और न नानात्व ही है। अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं। जैसे मिथ्या अवभासित होनेवाले संकल्पनगरका नाश किसी प्रकार सम्भव नहीं—क्योंकि वह तो मिथ्या है ही, फिर उसका विनाश कैसा, उसी तरह जगत् और अहंकार आदि भी असत् हैं, अतः उनके लिये 'नाश' शब्दका प्रयोग नहीं होता; क्योंकि असत् वस्तु स्वयं ही विद्यमान नहीं रहती। स्वप्नपुरुषकी भाँति जिन

अज्ञानियोंकी दृष्टिमें यह संसार विद्यमान है, वे पुरुष तथा वह सृष्टि—सब-के-सब मृगतृष्णाकी जलतरङ्गके समान मिथ्या ही हैं। यही कारण है कि जो लोग असत्पदार्थोंको ही सत्-सा मानते हैं, उनकी उस मान्यताको हमलोग वन्ध्यापुत्रकी वाणीकी तरह निर्णयात्मक नहीं समझते। इसीलिये जलसे परिपूर्ण महासागरकी तरह तत्त्वज्ञानियोंकी पूर्णता कोई अपूर्व ही होती है—वे सदा चिदानन्दसे परिपूर्ण रहते हैं; क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांशके फेरमें नहीं पड़ते। वे व्यवहारयुक्त हों अथवा व्यवहारशून्य—किसी भी अवस्थामें पर्वतकी भाँति निश्चल और वायुशून्य स्थानमें रखे हुए समप्रकाशयुक्त दीपककी तरह एकरस रहते हुए सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं।

श्रीराम ! अज्ञानी पुरुष तो इस जगत्में वासनारूप ही है और वह वासना तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर ठहरती नहीं; परंतु कोई भी उस वासनाके असली स्वरूपपर विचार नहीं करता, इसी कारण यह संसार उपस्थित हुआ है। वास्तवमें तो जिस पुरुषको इस संसारका भ्रम है, वह असत् ही है और असत् पदार्थ तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर मृगतृष्णाके जलकी भाँति लक्षित होता नहीं; फिर किसीके लिये भी कौन-सा संसार कहाँसे आ गया। 'यह सारा दृश्य जगत् सद्ब्रह्म ही है' ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जानेपर कल्याणमय ब्रह्मरूपका उदय होता है। जिसे परम पदमें विश्राम प्राप्त हो चुका है, ऐसे समदर्शी—तत्त्वज्ञानीके आचरणमें शान्तरूपता अथवा राग-द्वेषशून्य व्यवहार दोनों परिलक्षित होते हैं। अथवा जो निर्वाणरूप सप्तम भूमिकामें पहुँच चुका है, उस ज्ञानीकी शान्तरूपता ही अवशेष रह जाती है; क्योंकि वह तो वासनारहित मुनि हो जाता है, फिर वह व्यवहार कैसे कर सकता है। परंतु जबतक उस ज्ञानीका निर्वाण (सप्तम भूमिकाकी प्राप्ति) सुदृढ़ नहीं हो जाता, तबतक वह राग-द्वेष और भय आदिसे रहित हो व्यवहार करता है। तथा सप्तम भूमिकामें सुदृढ़ रूपसे स्थित हुए ज्ञानीका मन शान्त हो जाता है। उसके राग-द्वेष, भय, क्रोध आदि विकार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा वह मुनि होकर शिला न होते हुए भी शिलाकी तरह सदा निश्चलरूपसे स्थित रहता है।

राघव ! आत्मा ही बाह्यताकी भावना करनेसे बाह्य और आत्मत्वकी भावना करनेसे आत्मरूप होता है, इसलिये परब्रह्म-तत्त्वमें तत्-तत् भावना ही उसके बाह्य और आन्तर होनेमें कारण है। अन्तःकरणमें जो जाग्रत्-स्वप्नादिकी विभ्रान्ति है, वही बाह्यता कही जाती है। वस्तुतः तो जैसे दूधको दो पात्रोंमें रख देनेसे उस दूधमें कोई भेद नहीं होता, उसी तरह स्वप्न और जाग्रत्में थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं है। उनमें जो जाग्रत्में स्थिरता और स्वप्नमें अस्थिरताकी प्रतीति होती है, वह तो केवल भ्रान्तिमात्र है। उसी तरह जाग्रत्में आधारता और स्वप्नमें आधेयता-की प्रतीति भी जल और उसकी तरङ्गकी भाँति भेदशून्य ही है। जैसे आत्माके अन्यत्वज्ञानसे स्वप्नकालके पदार्थोंमें भी अन्यताकी प्रतीति होती है और आत्मैक्यका ज्ञान हो जानेपर उस आत्मासे भिन्न कुछ नहीं दीखता, उसी तरह जाग्रत्-कालमें जबतक शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक पदार्थोंमें अन्यरूपता प्रतीत होती है। आत्मतत्त्वका बोध हो जानेपर तो सभी एकरूप-से ही दीखते हैं। परमात्माका जो कल्पनाओंसे रहित तथा शान्त रूप है, उसकी जिस जिस रूपमें भावना की जाती है, वह उसी रूपमें परिणत हो जाता है। स्वप्नादिके ज्ञानके भलीभाँति शान्त हो जानेपर परमात्माका जो शुद्ध रूप अवशिष्ट रहता है, उसे 'यह है' न तो ऐसा ही कह सकते हैं और न 'यह नहीं है' ऐसा ही कह सकते हैं; अतः वह वाणीका विषय नहीं है।

वत्स राम ! चितिका जो बाह्य पदार्थोंकी ओर प्रसरण है, वह तो (अज्ञानयुक्त) अनुभवसे ही सिद्ध है। जब विचारसे उस अनुभवका बाध हो जाता है, तब पुरुषको असत् पदार्थका अनुभव नहीं होता। उस समय उसके अनुभवमें यह बात आती है कि जैसे बालक असत्य प्रेतका अनुभव करता है, वैसे ही मैं भी व्यर्थ ही अबतक असत् पदार्थका अनुभव करता रहा। जब अपने अंदर 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव होने लगता है, तब वह अहंभाव भी दुःख (बन्धन) का ही कारण होता है और जब अहंकारका अनुभव नहीं होता, तब वह मुक्तिका कारण बन जाता है; अतः बन्धन और मुक्ति तो अपने ही अधीन हैं। श्रीराम ! जिस पुरुषकी वासना सुदृढ़ हो गयी है, वह जैसे संकल्पद्वारा रचित रूपालोक और मानसिक व्याधियोंका अनुभव करता है, उसी तरह असत् दुःखका भी स्वप्नद्रष्टाकी तरह आश्रय ग्रहण करता है; परंतु जिसकी वासनाएँ क्षीण हो गयी हैं, उसे जैसे संकल्पशून्य रूपालोक और मानसिक व्याधियोंका अनुभव नहीं होता, वैसे ही वह प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए दुःखका भी सोये हुए पुरुषकी भाँति उपभोग नहीं करता। इसलिये जैसे देश, काल और क्रियाके सम्पर्कसे पदार्थोंमें उत्पन्न हुई भावना पदार्थरूपताको प्राप्त होती है, वैसे ही वासना ही अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्तिमें कारण होती है। जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले मेघ और कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म हो जानेसे उसी आकाशके रूपमें परिणत हो जाते हैं, वैसे ही वासना अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्तिके स्वरूपमें परिणत हो जाती है।

आत्मामें जो यह जगत् आदि भासित होता है, वह 'मैं कौन हूँ ?' और 'यह कैसे उत्पन्न हुआ ?' इस प्रकारके विचारसे ही शान्त हो जाता है। 'जब अहंताकी सत्ताका अभाव ही मोक्ष है, तब इतनेको ही लेकर मूढ़ताका आश्रय क्यों ग्रहण किया जाय ?' ऐसा ज्ञान सत्सङ्ग और विचारसे शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रकाशसे अन्धकारका और दिनसे रात्रिका विनाश हो जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके सङ्गसे अहंतारूपी बन्धन नष्ट हो जाता है।

रघुनन्दन ! जैसे आकाशमें चाहे जितने घने बादल छा जायँ और महासागरमें तरङ्गें उठने लगें, किंतु उनसे आकाश तथा महासागरमें किसी प्रकारकी हानि अथवा वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित ज्ञानीको इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें कुछ भी लाभ-हानिका अनुभव नहीं होता। समस्त विकारोंसे शून्य एवं परिपूर्णस्वरूप शान्त ब्रह्मका विचार कर लेनेपर—परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर यह सारा जगत्-प्रपञ्च मृगतृष्णाके जलकी भाँति असत् सिद्ध हो जाता है। उस समय अहंताका भी विनाश हो जाता है; तब भला, उस ज्ञानीको संसारके मनन आदिका भ्रम कहाँ, कैसे और किस कारणसे हो सकता है। (सर्ग ३१-३२)

जीवकी बहिर्मुखताके निवारणसे भ्रान्तिकल्पनाके निवर्तक उपाय तथा परलोककी चिकित्साका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वत्स राम ! यदि सत्पुरुषोंके समागमसे विकासको प्राप्त हुई अपनी बुद्धिरूप पुरुषार्थके द्वारा पुरुषको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई तो फिर उसके अतिरिक्त उसकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। एकमात्र अहंताको छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं। उसकी भावना न करनेसे जब उस अहंताका शमन हो जाता है, तब दूसरा कोई मोक्ष पाना शेष नहीं रह जाता अर्थात् अहंताका नाश ही मोक्ष है। पत्थरके सदृश निश्चल वृत्तिवाले जिस पुरुषके लिये यह सारा जगत् असत् होता हुआ भी सत्की तरह शान्त हो गया

है, उस महात्माको नमस्कार है। जिसका चित्त परब्रह्ममें पूर्णतया लीन हो गया है, उसे पत्थरके सदृश बाहरका ज्ञान नहीं होता और भीतर चितिरूपताकी भावनासे उसकी संकल्प-शून्य-सी अवस्था हो जाती है, जिससे उसके लिये यह सारा दृश्य-प्रपञ्च शान्त हो जाता है।

श्रीराम! प्राणियोंके लिये दो व्याधियाँ बड़ी भयंकर हैं—एक तो यह लोक और दूसरा परलोक। क्योंकि इन्हीं दोनोंसे पीड़ित होकर सभी प्राणी भीषण दुःख भोगते हैं। इनमें जो अज्ञानी जीव हैं, वे इस लोकमें व्याधिग्रस्त होनेपर उसके निवारणके लिये भोग-रूपी कुत्सित औषधोंद्वारा जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं; परंतु परलोकरूपी व्याधिके लिये वे कुछ भी चिकित्सा नहीं करते। तथा जो उत्तम पुरुष हैं, वे परलोकरूपी महाव्याधिकी चिकित्साके लिये अमृत-तुल्य शम, सत्सङ्ग और आत्मविचाररूप उपायोंद्वारा प्रयत्न करते हैं। जो लोग परलोकरूपी व्याधिकी चिकित्साके लिये सदा सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्गकी उत्कट इच्छा उत्पन्न होनेपर अपनी शम-शक्तिद्वारा विजयी होते है। जो पुरुष इस लोकमें ही नरकरूपी व्याधिकी चिकित्सा नहीं कर लेता, वह रोगग्रस्त होकर औषधरहित स्थान (नरक) में जाकर फिर क्या करेगा। इसलिये अज्ञानियो! तुमलोग इहलोककी चिकित्सामें ही अपने जीवनको मत गँवा दो। इसीके साथ-साथ आत्मज्ञानरूपी औषधोंद्वारा परलोककी भी चिकित्सा कर लो। अरे! यह आयु तो वायुके वेगसे हिलते हुए पत्तेके ऊपर पडे हुए छोटे-से जल-कणके समान क्षणभङ्गुर है, अतः पूर्ण प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही परलोकरूपी महाव्याधिकी चिकित्सामें जुट जाओ; क्योंकि शीघ्र ही यत्नपूर्वक परलोकरूपी महा-व्याधिकी चिकित्सा कर लेनेपर इस लोककी व्याधि तत्काल ही अपने-आप नष्ट हो जाती है।

राघव! जितने जन्तु हैं, वे सभी संवित्मात्र (आत्माके ही स्वरूप) हैं और उस संवित्के संकल्पका जो विस्तार है, वही जगत् है। ऐसा यह सारा जगत् एक छोटे-से परमाणुके भीतर सैकड़ों पर्वतोंके विस्तारसहित विद्यमान है। आत्मचितिका जो प्रसरण है, वह बाह्य तथा आन्तर विषय है। उन विषयोंका विस्तार चेतन-आकाशमें ही अनुभव होता है, इसलिये जगत्का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता। यदि मनुष्य अपने पुरुषार्थके चमत्कार-से भोगरूपी कीचड़के समुद्रमें फँसे हुए अपने आत्माका उद्धार नहीं कर लेता तो फिर उसके उद्धारका दूसरा कोई उपाय नहीं है। जो मनुष्य अपने आत्माको काबूमें नहीं कर सका है, अतएव विषयभोगरूपी दलदलमें फँसा है, वही मूढ़ सम्पूर्ण आपत्तियोंका पात्र है। जैसे बाल्यावस्था जीवनकी प्रथम सीढ़ी मानी जाती है, वैसे ही भोगोंका सर्वदा त्याग, जो रागोंसे शान्ति प्रदान करनेवाला है, मोक्षका प्रथम सोपान है; परतु जो अज्ञानी हैं, उनकी जीवन-रूपी नदियाँ करुण-क्रन्दनोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त भयावनी होती हैं। उनमें वासनावृत्तियोंसे उत्पन्न अनेक प्रकारके विक्षोभरूपी कठोर साथ-साथ बहनेवाली भँवरियाँ हैं। जैसे अज्ञानसे दो चन्द्रमा, बाल-वेताल, मृगतृष्णाका जल और स्वप्न-संसार—ये सभी प्रकट होते हैं, वैसे ही अज्ञानियोंके लिये जीवकी बहिर्मुखताके कारण अनेक प्रकारके सर्ग उत्पन्न होते रहते हैं। संवित्की बहिर्मुखताके भ्रमसे आकाश-मण्डलमें (गन्धर्व-नगर आदि) बहुत-से जगत् सत्-से अनुभूत होने लगते हैं; परंतु विचार करनेपर वे सत्य नहीं ठहरते। संवित्का निर्वाण—बहिर्मुखताका न होना जगत्का लय है और संवित्का उन्मीलन जगत् है। वास्तवमें तो न कुछ अंदर है न बाहर, जो कुछ है वह सनातन ब्रह्म ही है।

चिद्रूप, अजन्मा, अव्यक्त, एक, अविनाशी, ईश्वर, स्वत्व और भावत्वसे रहित ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। वह आकाशसे भी अत्यन्त शान्त है। जैसे आत्मामें स्वप्नका अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्रमें अविद्या-जनित संसाररूपी तरङ्गें भी भ्रान्तिरूप ही हैं। वास्तवमें तो परमात्मामें न स्वप्न है न सृष्टि ही है। ब्रह्म एक ही है, उसमें न तो कोई आभास है, न चित्स्वरूप कोई दूसरा धर्म है और न जडता है। वह न सत् है, न असत् है; बल्कि वह सत्-असत्से विलक्षण सम, अविनाशी और द्वैतभावसे रहित है। पूर्वोक्त स्थितिके अनुसार आचरण करनेवाले जिस सत्पुरुषको यथार्थ आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसे मुनियोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है। जैसे संकल्प-जनित नगरकी सृष्टि पुनः उसका संकल्प न करनेसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही विषयानुभवसे उत्पन्न अहंकाररूप जगत् पुनः अनुभव न करनेसे चिद्ब्रह्ममें लीन हो जाता है। वास्तवमें तो यहाँ किसी भी पदार्थका कोई स्वभाव है ही नहीं। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, ये सभी महाचितिरूप जलकी द्रवस्वरूपा हैं। वे ही अनुभूतियाँ महाचेतनरूपी वायुके स्पन्दन हैं तथा इन्हींको ब्रह्मरूपी आकाशकी शून्यता भी जानना चाहिये। जैसे वायु और उसका स्पन्दन—दोनों अभिन्न हैं, वैसे ही ब्रह्म और उसकी सृष्टिमें भी कोई भेद नहीं है।' परंतु अपने स्वरूपकी भ्रान्ति हो जानेपर उनमें विभिन्नता प्रतीत होती है, यद्यपि वह स्वप्नमें देखी गयी अपनी मृत्युके समान असत्य है। जबतक ब्रह्मविचार स्पष्ट नहीं हो जाता, तभीतक यह भ्रान्ति रहती है; परंतु विचार स्पष्ट होते ही वह भ्रान्ति ब्रह्मरूपताको प्राप्त हो जाती है।

(सर्ग ३२)

जगत्के स्वरूपका विवेचन और ब्रह्मके स्वरूपका सविस्तर वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम! तुम ऐसा समझो कि सुखके प्राप्त होनेपर दुःखका और दुःखके प्राप्त होनेपर सुखका नाश हो जाता है; अतः ये दोनों ही नाशवान् हैं और जिसका नाश नहीं होता, वह अविनाशी आत्मा है। बस, अब इस विषयमें विशेष शास्त्रोपदेश करना व्यर्थ है। जिसके मनमें इच्छाओंकी परम्परा बनी हुई है, उसे सुख-दुःखादि अवश्य ही प्राप्त होते रहते हैं। इसलिये यदि उन सुखादि रोगोंकी भलीभाँति चिकित्सा करना अभिप्रेत है तो पहले इच्छाका ही परित्याग करना चाहिये। परमपदरूप परमात्मामें अहंकार और इस जगत्की भ्रान्ति है ही नहीं। वह तो शान्त, निरालम्ब, सर्वात्मक, अविनाशी मोक्षरूप है। वास्तवमें तो न अहं है, न जगत् है; क्योंकि जो शान्त और अद्वितीय है, वह तो सर्वात्मकरूप है। ऐसी दशामें उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व कैसे और कहाँसे सम्भव हो सकते हैं। ज्ञान भी आत्मस्वरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह सब तद्रूप ही है। इसलिये अहंकारसहित सारा जगत् परमात्मासे अभिन्न है। एक आत्मा ही जब अज्ञानके कारण अनेकरूपताको प्राप्त हुआ-सा दीखता है, तब वही संसार कहलाता है और वह संसार स्वयं असत् है, इसी कारण तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर उसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती। जैसे प्रवहणशील होनेके कारण सागर तरङ्गोंके रूपमें प्रतीत होता है, उसी तरह चिद्रूप होनेके कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्तासे निर्मल जगत्के रूपमें विकसित हुआ-सा जान पड़ता है। जैसे मेघाच्छादित आकाशमें वृक्ष, हाथी, घोड़े और मृग आदिका आकार परिलक्षित होता है, वैसे ही अवयव एवं आकाररहित परब्रह्ममें सृष्टि और अहंकारका रूप दीख पड़ता है। यह सारा जगत् परब्रह्ममें उसका अवयव-सा प्रतीत होता है। रामभद्र! उसकी उपमा यों समझो—जैसे वटवृक्ष और

उसके बीजमें कार्य-कारणभाव है, वैसी ही कार्य-कारणता जगत् और ब्रह्ममें है। वस्तुतः तो न तुमलोग हो, न हमलोग हैं, न ये जगत् हैं और न आकाश आदि ही हैं; बल्कि सर्वोपद्रवशून्य अपरोक्ष ब्रह्म ही सर्वत्र अशेषरूपसे वर्तमान है।

रघुकुलतिलक! जैसे वायु और स्पन्दनमें भेद-प्रतीति होती है, वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म और जीवात्मामें भी अज्ञानसे भेद प्रतीत होता है; अतः इस विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि चित् और अचित्‌का भेददर्शन ही संसार है तथा अद्वितीय ब्रह्म और जीवात्माकी एकता ही मोक्ष है। इस प्रकार यह सारा जगत् निर्विकार परब्रह्ममय है, अतः इसे भी निर्विकार, आदि-अन्तरहित और निरामय ही समझो। संकल्पजनित नगरके समान द्वैताद्वैत-विकाररूप यह जगत् जीवके अपने ही संकल्पसे उत्पन्न होता है और अपने ही संकल्पसे नष्ट भी हो जाता है। वस्तुतः इस जगत्-रूप ब्रह्ममें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता—ठीक वैसे ही, जैसे जलकी तरङ्गका उठना वास्तवमें उत्पन्न होना नहीं है और उसका नष्ट होना वास्तवमें नाश नहीं है; क्योंकि दोनों अवस्थाओंमें वह एकमात्र जल ही है।

रघुनन्दन! क्षणमात्रमें ही एक देशसे दूसरे अत्यन्त दूर देशमें प्राप्त हुए संवित् (ज्ञान) का उन दोनों देशोंके मध्यमें जो निर्मल रूप होता है, वही परब्रह्म परमात्माका सर्वोत्कृष्ट रूप है। जीवन्मुक्तोंकी स्थिति तथा आचारके अनुसार व्यवहार करते हुए उस निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छासे रहित चित्स्वरूपसे सुमेरु-गिरिकी तरह कभी चलायमान न होना ही विद्या है तथा भलीभाँति विवेक-विचारपूर्वक अन्वेषण करनेपर जिसकी उपलब्धि नहीं होती, वही अविद्या है। अविद्याका अभाव हो जानेपर क्या कहीं चिति और चेत्यका भेद सम्भव हो सकता है? अर्थात् नहीं। और भेदका अभाव हो जानेपर फिर चिति अपने अंदर कैसे किसीको प्रकट कर सकेगी; इसलिये शान्ति—विषयशून्य चिन्मात्र स्थिति ही स्वतः प्रकट होती है। वास्तवमें तो ब्रह्म और जगत् एक ही हैं, अज्ञानके कारण वे अनेक-से अर्थात् विभिन्न जान पड़ते हैं। अज्ञानसे ही सर्वव्यापी, परिपूर्ण तथा शुद्ध ब्रह्म अपूर्ण एवं अशुद्ध-सा प्रतीत होता है। वही ब्रह्म अज्ञानसे निर्विकार होते हुए विकारयुक्त, शान्त एवं समरूप होते हुए अशान्त एवं विषम, सत् होते हुए अदृश्य होनेके कारण असत्, तद्रूप होते हुए अन्यरूप, विभाग-रहित होते हुए विभागवाला, जडतारहित होते हुए जडतायुक्त, निर्विषय होते हुए विषयी, अवयवशून्य होते हुए सावयव, स्वप्रकाश होते हुए घनान्धकार और पुरातन होते हुए नूतनके समान प्रतीत होता है। वह परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म होकर जगत्-समूहोंको अपने उदरमें समेट लेनेवाला है।

वत्स राम! वह अनन्त और अपार होकर भी किसी एक स्थानपर नियतरूपसे स्थित नहीं रहता तथा आकाश-में भी वनकी कल्पना और पर्वतका निर्माण करनेमें तत्पर रहता है। (अर्थात् असम्भवको भी सम्भव कर सकता है।) वह सूक्ष्म पदार्थोंमें सबसे सूक्ष्म, स्थूलोंमें सबसे स्थूल, गरिष्ठोंमें सबसे अधिक गरिष्ठ और श्रेष्ठोंमें सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है तथा कर्ता, कर्म और कारणसे रहित है। वह जगत्‌का उद्गमस्थान होकर भी नित्य अरण्यकी भाँति शून्य है और असंख्य पर्वतोंकी कठोरतासे युक्त होनेपर भी आकाशके लवांशसे भी कोमल है। वह प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कालस्वरूप होकर प्रायः सबसे परे, प्राचीन होनेपर भी कोमल और नवीन, प्रकाशस्वरूप होकर भी अन्धकारके सदृश मलिन और प्रलयकालीन तमःस्वरूप होकर भी प्रकाशरूपसे सर्वत्र व्याप्त है। वह प्रत्यक्ष होते हुए भी आँखोंकी पहुँचके बाहर, परोक्ष होते हुए भी सामने उपस्थित, चिद्रूप होते हुए भी जड और जड होते हुए भी चिद्रूप है। वह ब्रह्म जगद्भावरूप होकर अभाव और

अहंभावरूप होकर अनहंभाव तथा अन्यरूप होकर आत्मरूप और आत्मरूप होकर अन्यरूप-सा स्थित है। इस चिद्रूपी परिपूर्ण सागरके भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरङ्गें, द्रवता ही जिनका स्वभाव है, स्फुरित-सी हो रही हैं। यह चिद्रूप परमदेव यद्यपि देश-काल आदि अवयवोंसे रहित है, तथापि रात-दिन असद्रूप जगत्का वैसे ही विस्तार करता रहता है, जैसे जल तरङ्गसमूहका। इस चिद्रूपी जलकी जो द्रवता है वही जगत् कहलाता है। उस जगत्के संवित्द्वारा उपलब्ध स्वादिष्ट रूप, रस आदि विषय ही अङ्ग हैं और वह भुवनरूपी आवर्तोंसे युक्त है। इस उद्दीप्त चितिके प्रकाशित रहने-पर सम्पूर्ण प्रकाशशील पदार्थोंकी श्री उसके सामने शान्त हो जाती है और पुनः उसीसे उत्पन्न भी होती है, जैसे सूर्य आदिके तेजसे उनका अपना प्रकाश। यह चिदाकाश रङ्गभूमिके समान है, इसमें नियति (ईश्वरका विधान) रूपी नर्तकी भुवन-रचनारूपी नाटकके विभ्रमोंसे युक्त होकर अनवरत कार्यमें संलग्न हो रात-दिन नाचती रहती है। इस परब्रह्म परमात्माका उन्मेष ही जगत्का सौन्दर्य है और निमेष ही प्रलयका सूचक है। वास्तवमें तो वह उन्मेष और निमेषसे रहित होकर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है।

(सर्ग ३४-३५)

जीवन्मुक्तिकी प्रशंसा तथा 'इच्छा ही बन्धन है और इच्छाका त्याग ही मुक्ति है' इसका सविस्तर वर्णन और उससे छूटनेके उपायका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम! जितने अनर्थस्वरूप सांसारिक पदार्थ हैं, वे सभी जलमें आवर्त-की भाँति भिन्न-भिन्न रूप धारण करके चमत्कार पैदा करते हैं अर्थात् इच्छाओंको उत्पन्न करके चित्तको मोहमें डाल देते हैं; परंतु जैसे सभी लहरें जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः नश्वर स्वभावके ही हैं। जैसे बालककी चिन्तासे कल्पित यक्ष-पिशाच आदिका रूप उसके सामने आकाशमें दीख पड़ता है; परंतु मुझ-जैसे ज्ञानीके लिये वह कुछ भी नहीं है, उसी तरह मेरी दृष्टिमें तत्त्वतः यह विश्व कुछ नहीं है, परंतु अज्ञानीके चित्तमें यही सत्य-सा प्रतीत होता है। यह विश्व पत्थरपर खुदी हुई पुतलियोंकी सेनाकी भाँति रूपालोक तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयसे शून्य है, फिर इसमें विश्वता कैसी? परंतु अज्ञानियोंके लिये यह रूपालोक और मनन आदिसे युक्त प्रतीत होता है। श्रीराम! जगत्को जगद्रूपसे जानना भ्रम है और इसे जगद्रूपसे न जानना भ्रमशून्यता है। राघव! त्वत्ता और अहंता आदि सारे विभ्रम-विलास शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इसीलिये मुझे ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता—ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें कानन दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रीराम! जिसकी चेष्टा प्रारब्धप्राप्त कर्मोंमें कठपुतली-की तरह इच्छाशून्य तथा व्याकुलतारहित होती है, वही विश्रान्त मनवाला जीवन्मुक्त मुनि है। जीवन्मुक्त ज्ञानीको इस जगत्का जीवन बाँसकी तरह बाहर-भीतर-से शून्य, रसहीन और वासनारहित प्रतीत होता है। जिसकी इस दृश्य-प्रपञ्चमें रुचि नहीं है और हृदयमें जिसे चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अच्छा लगता है, उसने मानो बाहर-भीतरसे शान्ति प्राप्त कर ली और वह इस भवसागरसे पार हो गया।

रघुनन्दन! शास्त्रज्ञोंका कहना है कि मनका इच्छा-रहित हो जाना ही समाधि है; क्योंकि मनको जैसी शान्ति इच्छाका त्याग कर देनेसे प्राप्त होती है, वैसी सैकड़ों उपदेशोंसे भी उपलब्ध नहीं होती। इच्छाकी उत्पत्तिसे जैसा दुःख प्राप्त होता है, वैसा दुःख तो नरकमें भी नहीं मिलता; और इच्छाकी शान्तिसे



शेषनागपर भगवान् विष्णु, स्वर्गमें इन्द्र और पातालमें प्रह्लाद

(उपशम-प्रकरण, सर्ग ४०)

जैसा सुख मिलता है, वैसे सुखका अनुभव तो ब्रह्मलोकमें भी नहीं होता। इसीलिये समस्त शास्त्रों, तपस्याओं, यमों और नियमोंका पर्यवसान इतनेमें ही है कि इच्छामात्रको ही दुःखदायक चित्त कहते हैं और उस इच्छाकी शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। प्राणीके हृदयमें जैसी-जैसी और जितनी-जितनी इच्छा उत्पन्न होती है, उतनी-उतनी ही उसके दुःखोंके बीजोंकी मूँठ बढ़ती जाती है तथा विवेक-विचारद्वारा जैसे-जैसे उसकी इच्छा क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके दुःखोंकी चिन्तारूपी विषूचिका शान्त होती जाती है। सांसारिक विषयोंकी इच्छा आसक्तिवश ज्यों-ज्यों घनीभूत होती जाती है, त्यों-त्यों दुःखोंकी चिन्तारूपी विषैली तरङ्गें बढ़ती जाती हैं। यदि अपने पौरुष-प्रयत्नके बलसे इस इच्छारूपी व्याधिकी चिकित्सा न की जा सकी तो मैं यह दृढ़तापूर्वक समझता हूँ कि इस व्याधिसे छूटनेके लिये दूसरी कोई औषध है ही नहीं। यदि एक ही साथ सम्पूर्ण इच्छाओंका पूर्णतया त्याग न किया जा सके तो धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके ही उसका त्याग करना चाहिये। रहना चाहिये इच्छा-त्यागके साधनमें संलग्न ही; क्योंकि सन्मार्गका पथिक दुःखभागी नहीं होता। जो नराधम अपनी इच्छाओंके क्षीण करनेका प्रयत्न नहीं करता, वह मानो दिन-पर-दिन अपने-आपको अन्धकूपमें फेंक रहा है। इच्छा ही दुःखोंको जन्म देनेवाली इस संसृतिरूपी बेलका बीज है। यदि उसे आत्मज्ञानरूपी अग्निसे भलीभाँति जला दिया जाय तो यह पुनः अङ्कुरित नहीं होती।

रघुकुलभूषण राम! इच्छामात्र ही संसार है और इच्छाका अवेदन—अभाव ही निर्वाण है। इसलिये निरर्थक नाना प्रकारके उलट-फेरमें न पड़कर केवल ऐसा यत्न करना चाहिये कि इच्छा उत्पन्न ही न हो। जिसे अपनी बुद्धिसे इच्छाका विनाश करना दुस्साध्य प्रतीत होता हो, उसके लिये गुरुका उपदेश और शास्त्र आदि निश्चय ही निरर्थक हैं। जैसे अपनी जन्मभूमि जंगलमें हरिणीकी मृत्यु निश्चित है, वैसे ही नानाविध दुःखोंका विस्तार करनेवाली इच्छारूपी विषके विकारसे युक्त इस जगत्में मनुष्योंकी मृत्यु बिल्कुल निश्चित है। यदि मनुष्य इच्छाद्वारा बालकों-जैसा मूढ़ न बना दिया जाय तो उसे आत्मज्ञानके लिये बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़े। इसलिये सब तरहसे इच्छाको ही शान्त करना चाहिये; क्योंकि उसकी शान्तिसे परम पदकी प्राप्ति होती है। इच्छारहित हो जाना ही निर्वाण है और इच्छायुक्त होना ही बन्धन है; इसलिये यथाशक्ति इच्छाको जीतना चाहिये। भला, इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है? जन्म, जरा और मृत्युरूप करञ्ज और खैरके वृक्ष-समूहोंका बीज इच्छा ही है, अतः उसे शमरूपी अग्निसे सदा भीतर-ही-भीतर जला डालना चाहिये। जहाँ-जहाँ इच्छाका अभाव है, वहाँ-वहाँ मुक्ति निश्चित ही है; अतः विवेक-वैराग्य आदि उपायोंकी प्राप्तिपर्यन्त अपनी शक्तिके अनुसार उत्पन्न हुई इच्छाका सर्वथा विनाश कर डालना चाहिये। इसी तरह जहाँ-जहाँ इच्छाका सम्बन्ध है, वहाँ-वहाँ पुण्य-पापरूपी दुःखराशियों तथा विस्तृत पीडाओंसे युक्त बन्धन-पाशोंको उपस्थित ही समझो। ज्यों-ज्यों पुरुषकी आन्तरिक इच्छा शान्त होती जाती है, त्यों-त्यों उसका मोक्षके लिये कल्याणकारक साधन बढ़ता जाता है। विवेकहीन आत्माकी इच्छाको जो भलीभाँति पूर्ण करना है, यही मानो संसाररूपी विष-वृक्षको सींचना है।

(सर्ग ३६)

तत्त्वज्ञान हो जानेपर इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं और यदि कहीं उत्पन्न होती-सी दीखे तो वह ब्रह्मस्वरूप होती है—इसका सयुक्तिक वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यदि आत्माके अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरी वस्तु विद्यमान हो, तब तो इच्छापूर्वक उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाय; परंतु जब उसके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता है ही नहीं, तब आत्मासे भिन्न किस पदार्थकी इच्छा कैसे की जाय ? वह चिदात्मा आकाशरूप है और स्वयं आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है तथा जगत्का आभास भी आकाशस्वरूप ही है—ऐसी दशामें यहाँ इच्छाका विषय ही क्या है। जहाँ निर्वाण है, वहाँ दृश्य-प्रपञ्च आदि नहीं रहते और जहाँ दृश्य-प्रपञ्च वर्तमान है, वहाँ निर्वाणका रहना असम्भव है। इस प्रकार छाया और आतपकी भाँति इन दोनोंके परस्पर सहयोगका अनुभव नहीं होता। यदि ये दोनों एक साथ रहते तो परस्पर बाधित होनेके कारण दोनों असत्य हो जाते और असत्यमें निर्वाण रहता नहीं; क्योंकि निर्वाणका अनुभव अजर-अमर और दुःखरहित रूपसे होता है। अधम प्राणियो ! दृश्य-प्रपञ्च तो आत्माको बन्धनमें डालनेवाला है, अतः तुमलोग उसे भस्म क्यों नहीं कर डालते और स्पष्टरूपसे स्फुरित होती हुई परमार्थ-वस्तुका दर्शन क्यों नहीं करते।

जब कार्य-कारणभाव आदि सब कुछ ब्रह्मरूप ही भासने लगता है तभी इस विस्तृत चिन्मात्रस्वरूप प्रत्यगात्मामें ब्रह्मता सिद्ध होती है। अतः जो लोग इस एकमात्र चिदाकाशस्वरूप सर्वात्मक ब्रह्मके सर्वत्र व्याप्त रहते हुए ब्रह्मज्ञानके लिये अन्य साधनोंका अन्वेषण करते फिरते हैं, उन मृगरूपी शिष्योंसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। जब न दुःख है न सुख है, जगत् भी शान्त और मङ्गलमय है तथा चिन्मात्रतासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब इच्छा कहाँसे उत्पन्न हो सकती है। जैसे मिट्टीके बने हुए योद्धाओंकी सेनामें मिट्टीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वैसे ही सद्रात्मक जगत् और अहंता आदि दृश्य-प्रपञ्चमें ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—मुनीश्वर ! यदि ऐसी बात है तब तो इच्छाका उदय हो या न हो; क्योंकि वह भी तो ब्रह्मरूप ही ठहरी। ऐसी दशामें उसके विधि-निषेधसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर इच्छा ब्रह्मरूप ही हो जाती है, उससे भिन्न नहीं रहती; अतः तुमने जैसा समझा है वह बिल्कुल सत्य है; किंतु इस विषयमें मेरी यह बात और सुनो। जब-जब आत्मज्ञानका उदय होता है, तब-तब इच्छा शान्त हो जाती है। जैसे सूर्योदय होनेपर रात्रि विलीन हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञान हो जानेपर इच्छा आदि सभी विकार शान्त हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों ज्ञानका उदय होता है, त्यों-त्यों द्वैतकी शान्ति और वासनाका विनाश होता जाता है। ऐसी स्थितिमें भला, इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है। सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंसे वैराग्य हो जानेके कारण जिसकी किसी विषयमें इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं, उस पुरुषकी अविद्या शान्त हो जाती है और निर्मल मुक्तिका उदय हो जाता है। फिर तो उसका दृश्य-प्रपञ्चविषयक वैराग्य और अनुराग—दोनों नष्ट हो जाते हैं। उस समय उसका एकमात्र ऐसा स्वभाव ही हो जाता है कि उसे द्रष्टा और दृश्यकी शोभा रुचती ही नहीं। ऐसी परिस्थितिमें उस तत्त्वज्ञानीकी इच्छा और अनिच्छा—दोनों ही ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है अथवा तत्त्वज्ञानीमें अवश्य ही इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती। यदि किसी मनुष्यको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो

गयी तो उसकी इच्छा शान्त हो जाती है; क्योंकि प्रकाश और अन्धकारकी तरह इच्छा और तत्त्वज्ञान—ये दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते । और जिसकी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं, उसको भला, कौन किस प्रयोजनके लिये क्या उपदेश दे सकता है । जो इच्छाओंका अत्यन्त क्षीण हो जाना, समस्त प्राणियोंको आह्लादित करना अथवा आत्मानन्दका अनुभव है, वही तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका लक्षण है । तत्त्वज्ञानीको जब किसी भी भोगपदार्थमें स्वादका अनुभव नहीं होता, तब सारा दृश्य-प्रपञ्च उसे फीका लगने लगता है । उस समय उसकी इच्छाका प्रसार रुक जाता है और तभी उसे मुक्ति भी मिल जाती है । तत्त्वज्ञान हो जानेसे जो एकता और अनेकता अर्थात् द्वैताद्वैतके प्रपञ्चसे मुक्त होकर शान्त हो गया है, उसके इच्छा और अनिच्छा आदि सभी भाव शिवात्मक—परब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं । उसका न इच्छासे न अनिच्छासे, न सद्वस्तुसे न असद्वस्तुसे, न अपनेसे न परायेसे, न जीवनसे न मरणसे—यों किसीसे भी सरोकार नहीं रह जाता ।

रघुवीर ! जिसे निर्वाणका तत्त्वज्ञान हो गया है, उसके हृदयमें तो इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं । यदि कदाचित् उसमें इच्छा-सी उत्पन्न हो भी जाय तो वह शाश्वत ब्रह्मस्वरूप ही होती है । 'यह जगत् न दुःखरूप है न सुखरूप, बल्कि अज, शिवस्वरूप और शान्त है'—ऐसी भावनासे जिसका अन्तःकरण शिलाकी भाँति सुदृढ़ हो गया है, उसे विद्वान् लोग तत्त्वज्ञ कहते हैं । इस प्रकार पूर्ववर्णित परमात्मतत्त्वका निश्चय करके जो धीरात्मा योगी निरतिशयानन्दस्वरूप परमात्माकी भावनासे विषको अमृतरूपमें परिवर्तित कर देनेकी भाँति दुःखका सुखरूपमें अनुभव करता है, वह प्रबुद्ध कहा जाता है । जगत्की सत्ताका अभाव समझमें आ जानेपर जब एकमात्र दृश्यानुभवरहित चिन्मय आकाश ही सर्वत्र व्याप्त दीखता है, तब सबमें समानरूपसे रहनेवाले, सौम्य, शान्त एवं आनन्दमय परमात्मामें स्थिति हो जानेपर जीवका अहंताका भ्रम मिट जाता है । यह जो कुछ चराचरात्मक जगत् दिखायी पड़ रहा है, वह सब शान्त चिदाकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है । इसके सिवा और जो कुछ दीखता है, वह दूसरेके मनोराज्यके नगरकी तरह असत् है । स्वप्नमें देखे गये नगर और बालकद्वारा कल्पित प्रेतकी तरह यह जो कुछ दीख रहा है, उसमें असत्यताके अतिरिक्त और क्या है अर्थात् वह निश्चय ही असत्य है । चूँकि सत्य ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' आदि रूपसे असत्-सा भासित होता है, इसलिये यह भ्रान्ति भ्रान्तिग्रस्त पुरुषके बिना ही स्फुरित होती है; अतएव यह असत्य है ।

रामभद्र ! वास्तवमें तो चाहे इच्छा हो या अनिच्छा, सृष्टि हो अथवा प्रलय; इससे यहाँ न तो किसीकी कोई हानि है और न इससे कुछ लाभ ही है । ये जो इच्छा-अनिच्छा, सत्-असत्, भाव-अभाव और सुख-दुःख आदिकी कल्पनाएँ हैं, इनमेंसे किसीका भी तत्त्वज्ञानीके चिदाकाशमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है । विवेकद्वारा प्राप्त हुई शान्तिसे तृप्त हुए जिस विवेकीकी इच्छाएँ दिन-पर-दिन क्षीण होती जाती हैं, उसीको मोक्षका अधिकारी कहा जाता है । किंतु जिस अविवेकीका हृदय इच्छारूपी छुरीसे छिद गया है, उसमें ऐसी भीषण वेदना होती है, जिसे वे मणि, मन्त्र और महौषध आदि भी मिटानेमें समर्थ नहीं हो सकते । वस्तुतः तो इस परमात्मामें जगत् आदि कुछ भी पदार्थ न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है; बल्कि निद्रागत स्वप्नकी तरह केवल प्रतिभासित होता है । प्रतिभासमात्र होनेके कारण पृथ्वी आदि कारणोंसहित इस देहकी भी सत्ता नहीं है, केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही स्थित है ।

रघुकुलतिलक! योगीलोग ज्ञानरूप विशोधन-चूर्णके प्रयोगसे आधे क्षणमें ही जगत्को आकाशरूपमें और

आकाशको तीनों लोकोंके रूपमें परिवर्तित कर देते हैं। जैसे आकाशमें सिद्धसंकल्पद्वारा कल्पित असंख्य नगर गुप्तरूपसे स्थित रहते हैं, वैसे ही अनन्त चिन्मय परब्रह्मके संकल्पमें सहस्रों सृष्टियाँ अन्तर्हित रहती हैं। जैसे महासागरमें उठी हुई विशाल लहरियाँ परस्पर संयुक्त होनेपर भी एक-दूसरीसे पृथक्-सी स्थित जान पड़ती हैं; परंतु वास्तवमें वे जलसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही महान् चेतन-ब्रह्ममें बहुत-सी बड़ी-बड़ी सृष्टियाँ परस्पर मिली हुई होनेपर भी पृथक्-सी स्थित हैं। वास्तवमें तो वे उससे पृथक् नहीं हैं। श्रीराम! सारे भूत-प्राणी अविनाशी परम शिवस्वरूप ब्रह्ममें स्थित हैं और उसीमें ये सारी सृष्टियाँ भी आकाशमें शून्यताके उल्लासकी भाँति स्वच्छन्दरूपसे स्थित हैं। राघव! काल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड-समूह, उसके भीतर चौदह भुवन, उन भुवनोंमें 'अहं' 'त्वं' आदि भोक्ता, भोक्ताओंके भोगोंके साधनभूत इन्द्रियसमूह, इन्द्रियोंके विषय शब्द-स्पर्श आदि और अद्भुत भोग—यह सब कुछ एकमात्र शान्त, अज, अव्यय चिदाकाश ही है—यों निश्चय हो जानेपर राग आदि किसी भी विकारका उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। (सर्ग ३७)

चेतन ही जगत् है—इसका तथा तत्त्वज्ञानी और जगत्के स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! ब्रह्मका स्वरूप सबसे सूक्ष्म है, इसलिये जो-जो वस्तु जिस-जिस रूपसे अत्यन्त अणुस्वरूप है, वह-वह उसी-उसी रूपमें सूक्ष्मभूत ब्रह्मवस्तु है। ऐसी दशामें ब्रह्मवस्तु ही सर्वत्र वर्तमान है। जैसे घटादि पदार्थ अगल-बगल तथा ऊपर-नीचे सर्वत्र मिट्टी ही है, उससे भिन्न नहीं, वैसे ही इस जगत्को जिसने जिस रीतिसे परीक्षा करके देखा, उसे वस्तुतः यह ब्रह्मस्वरूप ही दीख पड़ा। जैसे सुवर्णके भूषणादि सैकड़ो रूपोंमें परिवर्तित हो जानेपर भी उन रूपोंमें सुवर्णत्व ही वर्तमान रहता है, वह दूसरा कुछ नहीं हो जाता, वैसे ही शान्त ब्रह्मके अनेकों जगद्भाव तथा जीवभावमें परिणत होनेपर भी वह उनमें अपने शान्तब्रह्मस्वरूपसे ही स्थित रहता है।

राघव! जिस महात्मा पुरुषकी दृष्टिमें सारा विश्व ही निराकार चेतनाकाशरूप ब्रह्ममें प्रतीत होता है, उस मनो-व्यापारशून्य योगीको किसी निमित्तसे किसी पदार्थकी इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? जो पूर्णतया शान्त तथा विशेषरूपसे इच्छाओंसे रहित हो गया है, उस सत्ता-असत्ता अर्थात् वैभव एवं दारिद्र्यको समानरूपसे देखनेवाले ज्ञानीकी महिमाका आकलन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है। जो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, आत्म-प्रकाशसम्पन्न और चिदाकाशरूप हो गये हैं, उनका न कुछ बिगड़ता है और न कुछ बनता है; किंतु जो अज्ञानी है, उसके मृगतृष्णारूपी नदीके तटके समान भ्रान्त आत्मामें जन्म-मरण असत् होते हुए भी भ्रमवश सत्-से प्रतीत होते हैं। जब उनकी सम्यक्रूपसे परीक्षा कर ली जाती है, तब न तो भ्रान्ति रह जाती है, न परीक्षक रहते हैं और न जनन-मरणका ही नाम-निशान रह जाता है। उस समय केवल अविनाशी शान्त ब्रह्म ही रह जाता है। जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ एवं दिशाएँ हैं, जो क्रिया, काल और आकाशादि हैं, तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, उन सबमें शिव-स्वरूप चिदाकाश ब्रह्म ही व्याप्त है। इसी तरह जो बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीनों काल हैं, जो जगत् है तथा जो जरा, मरण और पीड़ा आदि हैं, वे सभी महाचिदाकाशस्वरूप ब्रह्म ही हैं। जो वासनारहित हो गया है, जिसे वर्तमान भोग नीरस मालूम देते हैं और भावी भोगोंकी जिसे इच्छा नहीं है, ऐसे साधकके लिये सत्-शास्त्रके अतिरिक्त आत्मसुखकी प्राप्तिका हेतु और क्या हो सकता है।

रघुनन्दन ! जिसे संसारको क्षीण कर देनेवाले स्वाभाविक सत्य अर्थका साक्षात्कार हो गया है, वह पुरुष संकल्परहित हो जाता है; क्योंकि वह संकल्पको आत्मासे पृथक् जानता ही नहीं, इसलिये यह संकल्पाभास असत् है। जिसके आवरण क्षीण हो गये हैं और जिसकी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं, वह परमानन्दरूपी अमृतसे परिपूर्ण हो जाता है और निरतिशयानन्द-स्वरूप ब्रह्म-सत्तासे ही सुशोभित होता है। जैसे पूर्णिमाके चन्द्रमासे सारा आकाश-मण्डल उद्दीप्त हो जाता है, वैसे ही जिसकी बुद्धि ज्ञानालोकसे प्रकाशित है और जो समस्त संदेहरूपी घोर अन्धकारात्मक कुहासेको छिन्न-भिन्न कर देनेके लिये वायुके समान है, उस पुरुषसे सारा देश उद्भासित हो उठता है। विचारजन्य तत्त्वज्ञानसे देखनेपर जिसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, वह सदाके लिये सत्ताहीन है; इसलिये जगत्का रूप स्वरूपरहित है और ब्रह्म स्वयं अपने ही रूपमें स्थित है।

श्रीराम ! जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुषोंको स्वप्न सत्-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिमें मेरा शरीर भी सत् ही है; परंतु मेरी दृष्टिमें वह निश्चय ही उसी प्रकार असत् है, जैसे सुषुप्त पुरुषकी दृष्टिमें स्वप्न। उसके साथ जो मेरा व्यवहार होता है, वह [illegible]-स्वरूप ही है; परंतु वे जो कुछ देखते हैं, [illegible] करें, उनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैं उनके वसिष्ठरूपमें तो कुछ नहीं हूँ, किंतु स्व-स्वरूपसे प्रकाशमें स्थित हूँ। यह व्यापक ब्रह्मसत्ता मानो तुम्हारे ही लिये वसिष्ठरूपसे प्रकट हुई है और मेरी यह वाणी भी ब्रह्म-सत्तारूप ही है। जिसे प्रतिकूल दुःख आदि भी अनुकूल प्रतीत होते हैं, उस शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तत्त्वज्ञानीके हृदयमें न तो भोगोंकी इच्छा ही जाग्रत् होती है और न मोक्षेच्छा ही। मनुष्योंका जो यह बन्धन और मोक्षका भ्रम है, यह तो स्वभावके ही अधीन है। यह संसार-पीड़ा तो मोहके कारण ही उत्पन्न हुई है। कैसा आश्चर्य है कि गौके खुरमें सागरका भ्रम हो रहा है। जब-जब ज्ञान-रूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशसे स्थित होता है, तब-तब भोगरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है और उसका अस्तित्व रहते हुए भी वह अनुभवमें नहीं आता। यों भोगान्धकारके नष्ट हो जानेपर बुद्धि आदि सामग्री-समूह अज्ञानकी सत्तासे रहित हो जाता है और ब्रह्माकार-वृत्तिके प्रकाशसे उद्भासित हो उठता है। इसीलिये यह दीपकके प्रकाशकी तरह ब्रह्मभूत होकर चारों ओर भासित होने लगता है। (सर्ग २८-२९)

जीवन्मुक्तके द्वारा जगत्के स्वरूपका ज्ञान, स्वभावका लक्षण तथा विश्व और विश्वेश्वरकी एकता और स्वात्मभूत परमेश्वरकी पूजाका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! विषयभोग भवरूपी महान् रोग है, भाई-बन्धु आदि सुदृढ़ बन्धन हैं और धन-सम्पत्ति महान् अनर्थके कारण हैं—यों समझकर अपने द्वारा आत्मामें ही शान्ति-लाभ करना चाहिये। जैसे सुषुप्ति-अवस्थामें पड़े हुए पुरुषको स्वप्नका भान नहीं होता और स्वप्नद्रष्टाको सुषुप्तिका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मस्वरूपमें स्थित पुरुषको जगत्का भान नहीं होता और जगज्जालमें फँसा हुआ ब्रह्मस्वरूपसे अनभिज्ञ रहता है। परंतु जिसकी बुद्धि पूर्णतया शान्त हो गयी है तथा जो जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी है, वह ब्रह्म और जगत्के प्रकाशमान रूपको वैसे ही जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्नद्रष्टाको क्रमशः उनके रूपकी जानकारी रहती है। तत्त्वज्ञानीको इस सम्पूर्ण जगत्के यथार्थ स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है, जिससे वह [illegible] मेघके समान शुद्धात्मा होकर भलीभाँति शान्त हो जाता है।

रामभद्र ! जैसे जहाँ सूर्य रहेंगे वहाँ प्रकाशका रहना अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार जहाँ तत्त्वज्ञानी पुरुष होंगे, वहाँ विषयोंसे पूर्ण वैराग्य रहेगा ही। [illegible]

जो कर्ता, कर्म और करण आदि सामग्रियोंसे रहित, द्रष्टा, दृश्य और दर्शनसे शून्य तथा उपादेय पदार्थोंसे हीन है, दीवालरूपी आधारके बिना ही आविर्भूत हुआ है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे जाग्रत्-कालमें जो राग और वासनासे रहित सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है, उसे तत्त्वज्ञ पुरुष स्वभाव कहते हैं, और उसमें परिनिष्ठित हो जाना मुक्ति कहलाती है। ऐसी निष्ठा प्राप्त हो जानेपर तत्त्वज्ञानीको कर्ता, कर्म और करणसे हीन, द्रष्टा, दृश्य और दर्शनसे शून्य तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसे रहित ब्रह्म जगद्रूपसे स्थित जान पड़ता है अर्थात् जगत् ब्रह्मस्वरूप ही प्रतीत होता है। उस समय उस ज्ञानीको ऐसा लक्षित होता है कि प्रकाशमान वस्तुमें प्रकाशमान वस्तु प्रकाशित हो रही है, पूर्णमें पूर्ण स्थित है और द्वैताद्वैतरहित प्रत्यगात्मामें द्वैताद्वैतशून्य ब्रह्म ही अखण्ड एकरसरूपसे स्थित है। वस्तुतः तो ब्रह्मके सृष्टिरूपमें स्थित होनेपर भी आकाशमण्डलके सदृश शान्त एवं सत्यस्वरूप स्वयं परमात्मा ही अपने सत्यस्वरूपमें शिला-जठरकी भाँति अक्षुब्ध हुआ स्थित है। जैसे भविष्यमें जिस नवीन नगरका निर्माण करना होता है, उसका नक्शा पहलेसे ही चित्तमें वर्तमान रहता है, उसी तरह यह पूर्ण प्रकाशस्वरूप जगत् ब्रह्ममें ही स्थित है। जैसे गन्धर्वनगर एवं तल-मलिनता आदि दोषोंका बाध हो जानेपर आकाश अकस्मात् ही अपने शून्यस्वभावसे दीखने लगता है, उसी तरह तत्त्वज्ञान हो जानेपर जब सृष्टि उत्पत्ति-विनाशसे रहित मिथ्या सिद्ध हो जाती है, तब हठात् आनन्दघन ब्रह्म ही विशेषरूपसे भासित होने लगता है।

रघुकुलभूषण राम! जैसे किसी सहायककी अपेक्षा किये बिना ही वायुमें स्पन्दन होता है और जैसे सूर्य आदिकी प्रभाका प्रसार होता है, वैसे ही यह जगत् परब्रह्म परमात्मामें स्थित है और उसीसे प्रादुर्भूत होता है। जैसे जलमें द्रवत्व, आकाशमें शून्यता और वायुमें स्पन्दन ओतप्रोत है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें अनिर्वचनीय विवर्तरूप यह जगत् है। महाचिद्रूप महाकाशमें जो यह जगत् भासित होता है, वह चिद्रूप ही है, जो मणिमें उसकी निर्मलताकी तरह स्फुरित होता है। जैसे वायु और उसके स्पन्दनका भेद कथनमात्र है, वास्तविक नहीं, वैसे ही विश्व और विश्वेश्वरका भेद भी असत्-रूप ही है। जो तीनों कालोंमें सत् है और जिसमें द्वैतकी सम्भावना नहीं है, वह महाचिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही विश्व-रूपमें भासता है। वास्तवमें तो न विश्व ही सत् है और न विश्वका स्वरूप ही। जो रूप ब्रह्मका है, वही रूप जगत्का है तथा जो रूप आकाशका है, वही रूप उसके गुण सारी शून्यताका है; फिर इनमें द्वैत-अद्वैतका होना असम्भव है। पत्थरपर खुदी हुई सेनामें पाषाणत्वकी तरह एकात्मा, सर्वव्यापक, निर्मल, चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्माके स्थित रहते कार्य-कारणकी विचित्रता कहाँसे और कैसे सम्भव हो सकती है तथा द्वैतके सम्भव न होनेके कारण आकाशमें आकाशशून्यता कैसे हो सकेगी।

वत्स राम! ज्ञान-प्राप्तिके लिये पूर्ण विवेकरूपी उपचारसे यथाप्राप्त पूजन-सामग्रीद्वारा बुद्धिपूर्वक स्वभाव-रूप परमेश्वरकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि विचार, शम, सत्सङ्ग और त्यागरूपी पुष्पोंद्वारा पूजित हुआ परमेश्वर तुरत मोक्षरूपी फल प्रदान करता है। सज्जन-शिरोमणे! वह परमेश्वर तो अपना आत्मा ही है। एक-मात्र यथार्थ अनुभवरूपी पूजन-सामग्रीसे पूजित होनेपर, जो सर्वोत्तम मोक्ष-फल प्रदान करनेवाला है, वह आत्मा-रूपी ईश्वर जहाँ वर्तमान है, वहाँ उसे छोड़कर भला, कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो किसी दूसरेका आश्रय ग्रहण करेगा। मनुष्यको अपने अंदर शमरूपी अमृतके सिंचन-से विवेकको धीरे-धीरे ऐसा बढ़ाना चाहिये, जिससे वह विषयोंकी भ्रान्तिसे पुनः नष्ट न हो जाय। उसे चाहिये कि वह देहकी सत्ताकी अवहेलना करके उसमें स्थित तात्त्विक वस्तुका साक्षात्कार करे और लज्जा, भय,

विषाद, ईर्ष्या, सुख और दुःखपर समानरूपसे विजय प्राप्त करे।

राघव! जैसे संकल्पकी शान्ति हो जानेपर संकल्प-नगर सदाके लिये शान्त हो जाता है तथा जैसे जाग्रत् पुरुषके लिये स्वप्न नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्म-ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सारा जगत् सदाके लिये अस्त-सा दीख पड़ता है। यदि कोई पुरुष अविद्या-स्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेशसे 'मैं कृतार्थ हो गया हूँ' यों अपनेको मानने लगता है तो अज्ञानी होनेके कारण वह वास्तवमें अकृतार्थ ही है। मूर्खतासे विमोहित होनेके कारण ही वह अपनेको कृतार्थ मानने लगता है, परंतु दूसरे ही क्षण जब उसे नाना प्रकारके कष्ट आ घेरते हैं, तब उसे अपनी अकृतार्थताका ज्ञान होता है। विद्वानोंका मत है कि जो कल्पित उपाय है, वह क्षणभरमें ही भाव, अभाव और इनके विलास-विलाससे दुःखदायी हो जाता है; अतः वह निर्वाणका उपाय नहीं है। जगद्भ्रमका पूर्णतया ज्ञान हो जानेपर जो वासनारहित स्थिति प्राप्त होती है, उसीको निर्वाण कहा जाता है। उसके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण विषय स्वतः ही नीरस हो जाते हैं। (सर्ग ४०–४२)

जगत्की असारताका निरूपण करके तत्त्वज्ञानसे उसके विनाशका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुवीर! जो अज्ञानरूपी ज्वरसे मुक्त हो गया है और जिसका आत्मा ज्ञान-प्राप्तिसे शान्त हो गया है, उसका यही लक्षण है कि उसे फिर भोगरूपी जल रुचिकर नहीं लगता। जैसे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जाग जानेपर उस स्वप्नद्रष्टाको न तो किसी प्रकारका आनन्द देते हैं और न उसकी दृष्टिमें उनकी सत्ता ही रहती है, उसी तरह 'यह मैं हूँ, यह जगत् है' इत्याकारक भ्रमसे प्रतीत हुए पदार्थ तत्त्वज्ञानीके लिये न तो आनन्ददायक होते हैं और न अपना अस्तित्व ही रखते हैं। जैसे विभ्रमस्वरूप यक्षनगर वास्तवमें मिथ्या हैं, वैसे ही अहंता और जगत् भ्रमरूप ही हैं। वस्तुतः तो वे मिथ्या ही हैं। जैसे आवरणशून्य होनेके कारण विभ्रमरूपी यक्ष जंगलमें प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये चौदह भुवन भी प्रतीत होते हैं। सत्ताकी उत्पत्तिसे शून्य यह विस्तृत दृश्य-प्रपञ्च द्रष्टाके संकल्पसे होनेवाला होनेसे द्रष्टाका स्वरूप ही है अथवा कुछ भी नहीं है; क्योंकि परमार्थ चिद्रूप सत् क्या कहीं तुच्छ दृश्यरूपसे स्थापित किया जा सकता है? अर्थात् कदापि नहीं। जैसे वसन्तऋतुका रसप्रवाह वृक्ष और लताओंके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अपने स्वरूपमात्रसे परिपूर्ण कर देनेवाली आत्मचेतनता ही सृष्टिके रूपमें परिणत हुई है।

रघूद्वह! यह जो जगत्का आभास है, वह विशुद्ध चिन्मात्रका आभासरूप ही है; फिर इसमें एकत्व और द्वित्वकी कल्पना कैसे हो सकती है। सज्जनो! तुमलोग चिन्मय आकाशरूप हो जाओ, परम रस निरतिशयानन्दका पान करो और निर्वाणानन्दस्वरूप नन्दनवनमें निश्शङ्क होकर निवास करो। अरे भ्रान्तबुद्धि मनुष्यो! तुमलोग संसाररूपी काननमें इन अत्यन्त शून्य मरुस्थलियोंमें मृगमरीचिकाके पीछे भागते हुए हिरनोंकी तरह क्यों भटक रहे हो? तुमलोगोंकी बुद्धि त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णाके जलकी चकाचौंधमें पड़कर अंधी हो गयी है और तुम्हारे हृदयको अज्ञानने नष्ट कर लिया है, अतः तुमलोग व्यग्र होकर तृष्णाके पीछे मत दौड़ो। बाह्य और आन्तरिक भोगरूपी मृगतृष्णाके जलका पान करनेवाले हिरनरूपी जीवो! तुमलोग व्यर्थ ही परिश्रम करके अपनी आयु मत गँवाओ, मत गँवाओ। यह जगत् गन्धर्वनगरके समान है। इसमें विवेकका अपहरण करनेवाले महान् अहंकारसे युक्त होकर तुमलोग अपना विनाश मत करो। इन तुच्छस्वरूप दीखनेवाले सांसारिक

विषयभोगोंको दुःखरूप ही समझो। मनुष्यो! ये मानव-देह वायुके झोंकेसे चञ्चल हुई पीपलवृक्षकी ऊपरी शाखाके पत्तोंपर स्थित ओसकी बूँदोंके सदृश क्षणभङ्गुर हैं अतः तुमलोग इन अन्धकारपूर्ण गर्भशय्याओंपर शयन मत करो। आदि-अन्तरहित पारमार्थिक ब्रह्मभावमें लगातार शान्तभावसे स्थित रहो। द्रष्टा-दृश्य आदि विरुद्ध स्वभावरूपी दोषसे अपना पतन मत कर डालो। यह संसार तो अज्ञानीकी ही दृष्टिमें सत्य है। वास्तवमें तो इसमें कुछ भी सत्य नहीं है। 'यह मै हूँ और यह मेरा है' इस प्रकारके अभिमानरूपी भ्रान्तिकी सर्वथा शान्ति ही मुक्ति है और वह मुक्ति जिस-किसी भी प्रकारसे स्थित योगीकी अपने स्वरूपकी सत्ता ही है।

रघुकुलतिलक राम! जो संसार-मार्गमें चलते-चलते थकावटसे चूर हो गया है, उस पथिकके लिये निर्वाणता, वासनाशून्यता, त्रिविध तापशून्यता और उत्कृष्ट ज्ञान—ये शान्ति प्रदान करनेवाले विश्रामस्थान हैं। यह जगत्‌रूपी पदार्थ परस्पर अनिर्वचनीय है। इसे तत्त्वज्ञानी जैसा समझता है, वैसा मूर्ख नहीं जानते और जैसा मूर्ख जानता है, वैसा तत्त्वज्ञानी नहीं समझते अर्थात् अज्ञानीके लिये यह दुःखमय है और ज्ञानीके लिये आनन्दमय ब्रह्म है। जीवन्मुक्त ज्ञानीके लिये भ्रान्तिकी शान्ति हो जानेपर जगत्‌का स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टिमें तो एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान दीखता है। जैसे खूब जले हुए घास-फूसोंकी भस्मराशि वायुके वेगसे उड़कर न जाने कहाँकी कहाँ चली जाती है, वैसे ही सत्पुरुषोंकी संगतिसे आत्मस्वरूपमें विश्राम प्राप्त हो जानेपर इस जगत्‌का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। क्योंकि जो समस्त प्राणियोंकी रात्रिके समान है, उस परमानन्दमें संयमी पुरुष जागता रहता है और जिस संसारमें प्राणी जागते रहते हैं, वह तत्त्वद्रष्टा ज्ञानीके लिये रात्रिके समान है। जैसे जन्मान्धको रूपका अनुभव नहीं होता, वैसे ही ज्ञानीको जगत्‌का अनुभव नहीं होता और यदि कदाचित् होता भी है तो वह भ्रम-तुल्य एवं असद्रूप ही होता है। अज्ञानियोंके लिये दुःखरूपसे प्रसिद्ध जो तीनों लोक हैं, वे अज्ञानियोंकी ही दृष्टिमें हैं, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें उनका अस्तित्व नहीं है; क्योंकि वे सत् नहीं हैं।

श्रीराम! जैसे नदियोंका जल जबतक समुद्रमें नहीं मिल जाता तबतक नदी, प्रवाह आदि सैकड़ों नाम-रूपोंमें व्यवहृत होता है, किंतु जब वह समुद्रमें मिलकर एकाकार हो जाता है, तब एकमात्र जल ही कहलाता है, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तररूपमें जो अर्थों एवं अनर्थोंका समुदाय संकल्पसे प्रतीत होता है, वह व्यापक मन ही है; क्योंकि उसीसे अर्थोंकी प्रतीति होती है। जैसे जल और उसकी तरङ्गमें कोई भेद नहीं है, वैसे ही मन और सांसारिक पदार्थोंमें भिन्नता नहीं है।

संसारके सभी पदार्थ संकल्परूप ही हैं, इसलिये विवेकी पुरुष उनकी कामना नहीं करते। मन भी संकल्परूप है, इसी कारण सम्यक् ज्ञान हो जानेसे मन और पदार्थ दोनोंकी शान्ति हो जाती है। जैसे मिट्टीकी मूर्तिमें कोई पुरुष अज्ञानवश शत्रुताकी कल्पना कर लेता है, किंतु ज्यों ही विवेकसे उसे ज्ञात होता है कि यह मिट्टी है त्यों ही उसकी शत्रुता और भय—दोनों उस मूर्तिसे निकल जाते हैं, वैसे ही ज्ञानीके ये अर्थ और मन—दोनों ही स्वतः नष्ट हो जाते है। जैसे पास ही सोये हुए पुरुषका स्वप्न और डरपोक बच्चेके सामने दीखनेवाला पिशाच असत् है, उसी तरह प्रारब्धानुसार प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि भोगोंका साधनभूत जगत्, संसारकाल दैवकृत जन्मादि विकार, उसका भोक्ता अज्ञानी और अज्ञानीके शब्दादि विषय—ये सभी असत् हैं। जैसे धीर-वीर पुरुषकी दृष्टिमें पिशाचबुद्धिका अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टिमें अज्ञानीके जगत्‌की सत्ता नहीं रहती। अज्ञानी तो चिरकालतक ज्ञानीको भी अज्ञ ही समझता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो वन्ध्या भी पुत्र-पौत्रोंके विस्तारद्वारा बढ़ती है, जो सर्वथा असम्भव है।

रामभद्र! यह संसार तो मनसे ही उत्पन्न होता है

और परमात्मज्ञानसे शान्त हो जाता है, परंतु मनुष्य सीपीमें चाँदीके भ्रमकी भाँति संसारभ्रममें पड़कर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। संसारके अभाव और परब्रह्म परमात्माके वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना ही ज्ञान है। निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' इत्याकारक भ्रमरूप जो सत्ता है, वह तो दुःखका ही कारण होती है। इस अहंकारका स्वरूप मृगतृष्णाके जलके सदृश असत् एवं शून्य है—ऐसा ब्रह्मज्ञान हो जानेपर अहंकार पूर्णतया शान्त हो जाता है। बोधस्वरूप ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान न होनेसे यह अज्ञानी जीवात्मा देश-काल आदि सामग्रीके बिना ही जगद्रूपताको प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः तो [illegible] एक ही है। यद्यपि शुद्ध चिदात्मामें [illegible] होना सम्भव नहीं है, तथापि [illegible] बोधनके लिये उसमें उसकी कल्पना [illegible]। अतः तत्त्वज्ञानके द्वारा मूलाज्ञानका उपशम हो जानेपर [illegible] मनुष्योंका अभिमान नष्ट हो जाता है, तब वे [illegible] परमात्मामें लीन हो जाते हैं। उन्हें [illegible] प्राप्ति हो जाती है, जिससे वे शान्त एवं [illegible] होकर निरन्तर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही [illegible] रहते हैं। (सर्ग ९३)

प्राणियोंके श्रान्त हुए मनरूपी मृगके विश्रामके लिये समाधिरूपी कल्पद्रुमकी उपयोगिताका वर्णन

श्रीरामजीने कहा—मुनिवर! अब आप समाधिरूपी वृक्षके स्वरूपका, जो विवेकी पुरुषोंके जीवनोपयोगी फलोंसे सुशोभित, लताओंसे परिवेष्टित, पुष्पोंसे सुरभित और मनरूपी मृगको विश्राम देनेवाला है, क्रमशः वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन! मैं उस समाधिरूपी वृक्षका वर्णन कर रहा हूँ, सुनो। वह विवेकी पुरुषरूपी वनमें उत्पन्न हुआ है और ऊपरको बढ़ता ही जा रहा है। पत्रों, पुष्पों और फलोंसे लदा हुआ वह वृक्ष ज्ञानी जनोंको सर्वथा जीवन प्रदान करनेवाला है। विद्वानोंका कहना है कि दुःखके कारण अथवा स्वयं ही—जिस-किसी भी प्रकारसे इस संसाररूपी वनसे उत्पन्न हुआ जो परम वैराग्य है, वही उस समाधिरूपी वृक्षका बीज है और चित्त उस बीजके उगनेके लिये उत्तम क्षेत्र है, जो शुभकर्म-समूहरूपी हलसे जोता गया है, रात-दिन शान्ति आदि जलसे सींचा गया है और प्राणायामरूपी जल-प्रवाहसे युक्त है। जब विवेकी जनरूपी काननमें चित्तरूपी भूमि विवेकद्वारा परिष्कृत हो जाती है, तब संसारसे वैराग्यरूप समाधि-वृक्षका बीज स्वयं ही जाकर उस भूमिमें गिरता है। उस समय दृढ़ बुद्धि[illegible] पुरुषको चाहिये कि अपने चित्तरूपी भूमिमें गिरे हुए उस ध्यान-समाधिबीजको खेदरहित होकर यत्नपूर्वक सींचता रहे तथा कायिक, वाचिक और मानसिक [illegible] दानसे, अमानित्व आदि गुणोंसे और तीर्थ[illegible] निवासरूपी शान्तिमयी वृत्तिसे उस बीजकी [illegible]-पूर्वक रक्षा करता रहे। इस प्रकार [illegible] पश्चात् जब उस बीजमें अङ्कुर [illegible] उसकी रक्षाके लिये रखवाली करनेमें [illegible] संतोष नामक पुरुषको उसकी प्रियपत्नी मुदिता[illegible] रक्षकरूपमें नियुक्त कर देना चाहिये। [illegible] अङ्कुरका विनाश कर डालनेके लिये [illegible] वासनाओंमें स्थित आशारूपी [illegible] अनुरागरूपी पक्षियों और [illegible] रक्षकके द्वारा भगा देना चाहिये। [illegible] खेनसे अत्यन्त कोमल [illegible] तथा अचिन्त्य [illegible] रूपी सूर्यकी धूपसे तमोगुण[illegible] कर देना चाहिये। उस अङ्कुरका [illegible]

लिये उसपर तरङ्गोंके समान चञ्चल एवं विनाशी सम्पत्तिरूपी नारियाँ तथा दुष्कृतरूपी मेघोंद्वारा प्रेरित वज्र टूटे पड़ते हैं, इसलिये धैर्य, औदार्य, दया आदि मन्त्रो तथा जप, स्नान, तप और दम आदिके सहयोगसे प्रणवार्थ-चिन्तनरूपी त्रिशूलके द्वारा उनका निवारण कर देना चाहिये। इस प्रकार जब उस ध्यान-बीजकी भलीभाँति रक्षा की जाती है, तब उससे विवेक नामक नवीन अङ्कुर उत्पन्न होता है, जो जन्मसे ही उन्नतिशील और सौन्दर्यशाली होता है।

राघव! तदनन्तर उस अङ्कुरसे अपने-आप दो पत्ते निकलते हैं, जिनमें एक है 'शास्त्र-चिन्तन' और दूसरा है 'सत्पुरुषोंका सङ्ग'। आगे चलकर जब यह संतोषरूपी त्वचासे वेष्टित और वैराग्यरूप रससे अनुरञ्जित होता है, तब यह तना, दृढमूलता और समुन्नतिको धारण करता है। इस प्रकार शास्त्र-चिन्तनरूपी वर्षाके जलसे आप्लावित होकर जब इसका हृदय वैराग्यरूपी रससे परिपुष्ट हो जाता है, तब यह अपनी आयुके थोडे ही समयमें परमोत्कृष्ट उन्नतिको प्राप्त हो जाता है। धीरे-धीरे शास्त्रार्थचिन्तन, सत्पुरुष-समागम और वैराग्यरूपी रससे जब वह अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट हो जाता है, तब राग-द्वेषरूपी बंदरोंद्वारा क्षुब्ध किये जानेपर वह जरा-सा भी कम्पित नहीं होता। तदनन्तर विज्ञानसे अलंकृत आकारवाले उस वृक्षसे आत्मरससे सुशोभित तथा दूर देशतक विस्तार करनेवाली ये स्फुटता (आत्मतत्त्वका स्पष्ट आविर्भाव), सत्यता, सत्ता (आत्मरूपसे स्थिति), धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्यता आदि लताएँ (शाखा-प्रशाखाएँ) उत्पन्न होती हैं। यों गुणरूपी पत्तों तथा यशरूपी पुष्पोंसे लदी हुई इन लताओंसे समृद्ध हुआ वह ध्यान-समाधि-वृक्ष संन्यासी (अहंकार-त्यागी)के लिये कल्पवृक्षका काम करता है।

रामभद्र! इस प्रकार जब वह उत्तम ज्ञानरूपी (समाधिरूपी) वृक्ष लता, पल्लव और पुष्पोंसे विभूषित हो जाता है, यशरूपी पुष्पगुच्छोंसे उसकी अद्भुत छटा दीखने लगती है, उसमें गुणरूपी पल्लव लहलहाने लगते हैं और उसकी आकृति प्रज्ञारूपी मञ्जरियोंसे सुशोभित हो जाती है, तब वैराग्य-रसको टपकानेवाला वह वृक्ष दिन-पर-दिन आगामी (मूलाज्ञानके उच्छेदक ब्रह्मसाक्षात्काररूपी) ज्ञानका प्रदाता होता है। उस समय वह वर्षाकालीन मेघकी तरह सारी दिशाओंको शीतल कर देता है और सम्पूर्ण सांसारिक तापको वैसे ही शान्त कर देता है, जैसे दिनमें प्रकट हुए सूर्यके तापको रातमें चन्द्रमा शान्त कर देता है, जैसे मेघोंकी घटा छाया पैदा कर देती है, वैसे ही वह वृक्ष उपशमरूपी छायाका विस्तार करता है। वह उपशम चित्तको ऐसा सुदृढ़ बनाता है, जैसे पूर्वी हवा बादलको घना कर देती है, वह परमात्मज्ञानके मूलबन्धको वैसे ही अपने-आप सुदृढ़ कर लेता है, जैसे कुलपर्वत अपने मूलको। तथा वह अपने ऊपर कैवल्य नामक फलके उत्पन्न होनेमें सहायक शान्ति आदि माङ्गलिक पुष्पगुच्छोंकी रचना करता है। पुरुषके हृदय-काननमें जब प्रतिदिन छायावितानसे संयुक्त विवेकरूपी कल्पवृक्ष वृद्धिंगत होता रहता है, तब भूतलके त्रिविध तापोंका हरण करनेवाली बुद्धिरूपी लता उल्लसित हो उठती है और उससे मनोहर शीतलता प्रकट होती है। उसी छायामें मनरूपी मृग, जो अनेक जन्मोंमें भटकनेवाला प्राचीन बटोही है और मार्गमें नानावादियोंके कोलाहलसे व्यग्र हो गया है, संसाराटवीमें भटकते-भटकते थककर—यहाँ विश्राम पाकर सुखकी साँस लेता है।

राघवेन्द्र! सत्तामात्र ही जिसका आत्मा है, ऐसे पुरुषरूपी चमड़ेका अपहरण करनेके लिये काम आदि छः शत्रु उसके पीछे पड़े हैं और वह नाना प्रकारके असार शरीरादिरूप कँटीली झाड़ियोंमें अपनेको छिपाता फिरता है, जिससे उसका मुख छिन्न-भिन्न हो गया है।

वासनारूपी वायुसे प्रेरित होकर संसाराटवीमें भटकता हुआ यह मनोमृग अहंतारूपी मृगमरीचिकाकी ओर सर्वदा दौड़ते रहनेसे अन्तःकरणकी तृष्णारूपी विषके दाहसे अत्यन्त व्याकुल हो गया है। बड़े-बड़े भोगोंमें यह आदरबुद्धि रखनेवाला है। इसी कारण दूर देशमें उत्पन्न हुए हरे-हरे तृणरूपी विषय-भोगोंके लिये दौड़ते रहनेसे इसका शरीर जर्जर हो गया है और पुत्र-पौत्रके पालनकी व्यग्रतासे संतप्त होकर यह अनर्थरूपी गड्ढेमें जा गिरा है। सम्पत्तिरूपी लतामें फँसकर जब यह लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, उस समय प्राप्त हुए सङ्कटोंसे इसका शरीर घायल हो जाता है और जब यह ताप-शान्तिके लिये तृष्णारूपी सुहावनी सरिताके निकट जाता है, तब हर्ष-शोक आदि तरङ्गोंसे आहत होकर दूर जा पड़ता है। फिर यह व्याधिरूपी दुष्ट व्याधोंके भयसे भाग छूटनेमें ही लग जाता है। उस समय उसे दैव-प्रारब्धकी कुछ भी सम्भावना नहीं रहती, जिससे वह मानो व्याध आ पहुँचा है—इस प्रकारके भयसे अपने आकारको संकुचित कर लेता है।

राजकुमार ! यह मनोमृग ज्ञानेन्द्रियोंके आस्वादके विषयभूत स्थानोंसे उत्पन्न दुःखरूपी बाणोंसे भयभीत, काम-क्रोधादि शत्रुओंके आक्रमणसे व्यग्र और पत्थरके प्रहारके सदृश दुःखानुभवके संस्कारोंसे युक्त है। स्वर्ग-नरकरूपी ऊँचे-नीचे स्थानोंमें बारंबार चढ़ने और गिरनेसे यह अत्यन्त व्याकुल हो गया है। काम-क्रोधादि विकार-रूपी पत्थरोंकी निरन्तर चोट लगनेसे इसका शरीर चूर-चूर हो गया है। तृष्णारूपी सुन्दर लताकुञ्जोंमें प्रवेश करते-करते इसकी देह क्षत-विक्षत हो गयी है। इसे परमात्माकी मायाका कुछ भी ज्ञान नहीं है, इसलिये इसने अपनी बुद्धिसे नाना प्रकारके मिथ्या व्यवहारोंकी कल्पना कर ली है। जिसे काबूमें लाना अत्यन्त कठिन है, ऐसे कामरूपी गजेन्द्रकी गर्जनासे यह भयभीत हो गया है और इन्द्रियसमूहरूपी गाँवमें पहुँचकर पुनः उनके मारे भागनेमें ही तत्पर है। विषयरूपी सर्पोंके अत्यन्त विषैले फुत्कारोंसे इसे मूर्च्छा आ गयी है। यह कामुक कामिनीरूपी भूमिमें पहुँचकर प्रायः विषयरससे अत्यन्त मर्दित हो गया है। क्रोधरूपी दावानलसे दग्ध हो जानेके कारण इसकी पीठपर छाले पड़ गये हैं, जिसकी गर्मीसे यह छटपटा रहा है और सदा विषयोंमें बारंबार भ्रमण करनेके कारण भीषण दुःखोंकी प्राप्तिसे उसके भीतर भी जलन हो रही है। अपने आत्मामें संलग्न नाना प्रकारकी अभिलाषाएँ ही मानो मच्छर हैं, जो इसे डँसने जानेके लिये इसके पीछे पड़ गये हैं। भोगोंके लोभसे उत्पन्न मनोहर प्रमोदरूपी सियार बहुत दिनोंसे इसके पीछे दौड़ रहा है। एक तो यह यों ही अपने कर्म और कर्तृत्वके चक्करमें पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, उसपर दरिद्रतारूपी सिंह इसका पीछा कर रहा है। यह पुत्र-कलत्रादिमें आसक्तिरूपी व्याधोंके फुसलानेसे अंधा हो गया है, जिससे इसका शरीर गजेन्द्रके पर्वत-शिखरसे लुढ़ककर गड्ढेमें गिर रहा है। मानरूपी सिंहकी दहाड़से इसका हृदय काँप उठा है, जिससे यह भयभीत हो गया है और प्रसिद्ध मृत्युरूपी व्याधके प्रहार करनेका अगस्त्य-पुण्यकी तरह सुखपूर्वक निर्दोष करनेका ढोंग रहा है। निर्जन वनमें गर्वरूपी अजगर इसे शीघ्र ही निगल जानेके लिये ताक लगाये बैठा है। अनेकविध कामनाओंकी सिद्धिके लिये यह जहाँ-तहाँ अपने गजतुण्ड-तुल्य दाँतोंको छिपाता फिर रहा है अर्थात् दीनता प्रकट कर रहा है। युवावस्थारूपी प्रियतम पतिने इसका किञ्चित्-सा आलिङ्गन करके इसका परित्याग कर दिया है। उन झंझावात-सदृश कुपित हुई इन्द्रियोंने इसे नरकादि दुर्गम स्थानोंमें ले जाकर डाल दिया है। इस प्रकार यह मनोमृग जब जन्मान्तरार्जित पुण्यके उदयसे कभी सत्सङ्ग आदि साधनसे युक्त होकर इस पूर्वोक्त समाधिके नीचे आ

जाता है, तब वह वैसे ही विश्राम-सुखका अनुभव करता है जैसे रातके अंधकार और शीतसे पीड़ित प्राणीको सूर्योदय होनेपर आनन्द प्राप्त होता है।

श्रोताओ! आत्मज्ञानसे शून्य मूर्खलोग ताली, तमाल और मौलसिरीके वृक्ष-गुल्मोंमें बने हुए विश्रामस्थानोंमें प्रचुर पुष्पोंके विलासरूपी हासोंके समान तुच्छ अनित्य भोगमें फँसे रहनेके कारण जिस निरतिशयानन्दका नाम भी नहीं जान पाते, उस मोक्ष नामक परम आनन्दको तुमलोगोंका अपना मनरूपी मृग इस समाधि-वृक्षके नीचे आनेसे प्राप्त कर सकता है। (सर्ग ४४)

जीवात्माके ध्यान-वृक्षपर चढ़नेका और वास्तविक सुखकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—शत्रुसूदन राम! इस प्रकार जब इस मनोमृगको उस समाधि-वृक्षकी छायामें विश्राम-सुखका अनुभव होने लगता है, तब वह उसीसे प्रेम करने लगता है; और किसी वृक्षके नीचे नहीं जाता। तदनन्तर इतने समयके बाद वह विवेकपूर्ण समाधिवृक्ष पारमार्थिक आत्मस्वरूपभूत मोक्षफलको पूर्णरूपसे प्रकट करता है। तब उस उत्तम वृक्षके नीचे बैठा हुआ अपना यह मनोमृग उस ध्यानद्रुमकी शाखाओंके अग्रभागमें लटकते हुए मोक्ष-रूपी पावन फलको देखता है। उस फलका आस्वादन करनेके लिये विशाल अध्यवसायसे युक्त तथा जड दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव कर देनेवाला विरक्त पुरुष ही उस वृक्षपर चढ़ता है। उस उत्तम फलको प्राप्त करनेकी इच्छासे विवेकपूर्ण ध्यान-वृक्षपर चढा हुआ पुरुष पुरानी केंचुलका परित्याग करनेवाले साँपकी तरह अपने प्राक्तन संस्कारोंका त्याग कर देता है। वह अपनेको उस ऊँचे स्थानपर चढा हुआ देखकर अट्टहास करने लगता है और विचारता है—'ओह! इतने समयतक मै कैसा दीन बना रहा।' उस समय वह करुणा* आदि जिनका स्वरूप है, ऐसी उस वृक्षकी शाखाओंके मध्यमें भ्रमण करता हुआ लोभरूपी सर्पको वशमें करके सम्राट्की तरह सुशोभित होता है। न तो वह प्राप्तवस्तुकी उपेक्षा करता है और न अप्राप्तकी इच्छा; बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियोंमें उसका अन्तःकरण चन्द्रमाकी भाँति सौम्य एवं शीतल हो जाता है। वह उसकी दृष्टिमें स्त्री, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति आदि सारे पदार्थ स्वप्नमें उत्पन्न हुएके समान लगने लगते हैं। उन्मत्तकी चेष्टाके समान जिसका आकार है तथा जो तरङ्गोंकी तरह क्षणभङ्गुर आधारवाली है, ऐसी संसाररूपी नदीकी चालोंको अपने सामने उपस्थित देखकर वह हँसता है। उसमें लोकैषणा, दारैषणा, वित्तैषणा आदि कोई भी एषणा नहीं रहती। पूर्णपदमें विश्रान्त होनेके कारण वह जीता हुआ ही मृतक-तुल्य हो जाता है। उसकी दृष्टि केवल शुद्ध-बोधस्वरूप सर्वोत्कृष्ट उस परमात्म ज्ञानरूप फलपर ही लगी रहती है, जिससे वह परमोच्च स्थानपर आरूढ़ हो जाता है। संतोषरूपी अमृतसे परिपुष्ट हुआ वह पुरुष अपनी पूर्वदशाका बारंबार स्मरण करके अनर्थस्वरूप अर्थोंके (धनोंके) नाश हो जानेपर भी परम संतुष्ट ही रहता है।

रघुनन्दन! इस प्रकार परमार्थरूप फल प्रदान करनेवाली उस महापदवीपर गमन करता हुआ वह ज्ञानी पुरुष वाणीके अगोचर भूमिका—जीवन्मुक्त स्थितिको प्राप्त हो जाता है। दैववश बिना प्रयत्न किये ही कहींसे अकस्मात् भोगोंके प्राप्त हो जानेपर भी वह उनसे विरक्त ही रहता है। वह मौनी पुरुष सासारिक वृत्तियोंसे उपराम, परम आनन्दयुक्त और अंदरमें परिपूर्ण मनवाला होकर किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो जाता है। वह योगी पुरुष आकाशकी तरह समतायुक्त होकर सम्पूर्ण

---

* आदिपदसे यहाँ—

'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।'

(गीता १६। १–३ में वर्णित)

दैवीसम्पत्तियोंका ग्रहण है।

दृश्य बुद्धिका परित्याग करके निरतिशयानन्द ब्रह्मभावरूप फलको ग्रहण करता है और उसीसे परितृप्त होता है। इस प्रकार जो लोकैषणासे विरक्त हो गया है, दारैषणाका त्याग कर चुका है और धनैषणासे पूर्णतया मुक्त हो गया है, वही उस परमपदमें विश्राम पाता है। जिस पुरुषकी दृश्य पदार्थोंमें आत्यन्तिकी विरक्ति देखी जाती है, वही वास्तवमें तत्त्वज्ञानी है; क्योंकि अज्ञानीमें दृश्यका त्याग करनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। परमात्मनिष्ठ होनेके कारण जो तृष्णासे रहित हो गया है तथा तीनो एषणाओंका परित्याग कर चुका है, उस ज्ञानीका ध्यान इच्छा न रहते हुए भी अपने-आप होता रहता है।

रघुवीर! विषयोंसे जो आत्यन्तिक विरक्ति है, वही समाधि कहलाती है। जिसने उसका सम्पादन कर लिया, वह निश्चय ही मनुष्यरूपमें परब्रह्म है, उसे हमारा प्रणाम है। जिसकी विषय-विरक्ति अत्यन्त सुदृढ़ हो गयी है, निस्संदेह उसके ध्यानको इन्द्रसहित देवता और असुर भङ्ग करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। बुद्धिमानो! विश्व शब्दका अर्थ तो मूर्खोंके लिये ही है, वह पण्डितोंका विषय नहीं है; इसलिये जिस परमानन्द ब्रह्ममें तत्त्वज्ञानी और मूर्ख तथा विश्व और विश्वेशका अभेदरूपसे भान होता है, उसीमें तुमलोग भी विश्राम करो; क्योंकि इस जगत्‌में मनन आदि भूमिकाओंमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले विवेकियों अथवा पर[illegible]में आरूढ़ हुए सिद्धों—सभीने यह निर्णय किया है कि पदार्थोंमें परमात्मासे अतिरिक्त सत्ता-असत्ता [illegible] अद्वैत नहीं है। इस निर्वाणकी प्राप्तिके लिये तीन प्रकार[illegible] उपाय हैं—एक शास्त्रार्थचिन्तन, दूसरा [illegible] संगति और तीसरा ध्यान। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। यद्यपि जगद्-भ्रान्ति निर्मूल है, तथापि [illegible] ज्ञानसे उसका शीघ्र ही विनाश नहीं हो जाता। [illegible] ज्ञानसे मनुष्यका अज्ञान उसी प्रकार नहीं दूर होता, जैसे चित्रलिखित अग्निसे सर्दी नहीं मिटती। जैसे अज्ञानीके अज्ञानके कारण जगद्-भ्रम बढ़ता जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके ज्ञानके प्रभावसे वह भ्रम नष्ट हो जाता है। तत्त्वज्ञानीके चित्तमें जगत् [illegible] संकल्पमात्र ही है; क्योंकि बोध हो जानेपर [illegible] दृष्टिमें निस्संदेह न तो अहंकार रह जाता है और न जगत्‌की स्थिति ही रहती है। उसमें तो [illegible] प्रकाशस्वरूप जगत्‌की कोई अपूर्व ही स्थिति [illegible]। परंतु जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है, उसका चित्त [illegible] गीले काष्ठकी भाँति बोध और अबोध—दोनोंसे [illegible] रहता है। इन दोनों ज्ञान और अज्ञानमें [illegible] प्रबल होता है, वह तद्रूप होकर ही रहता है। [illegible] तत्त्वज्ञानी ब्रह्मके सिवा जगत्के भान-[illegible] बिल्कुल नहीं मानता। (सर्ग ९५)

ध्यानरूपी कल्पद्रुमके फलके आस्वादनसे मनकी स्थितिका तथा मुक्तिके विभिन्न साधनोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब परमार्थरूप फलका ज्ञान हो जाता है और मुक्तिकी स्थिति दृढ़ हो जाती है, तब बोध भी शान्त हो जाता है और अनन्त परमात्मस्वरूपका प्रकाश करनेवाली परमार्थ-दशा ही शेष रह जाती है। मनस्ता—मननस्वभावता न मालूम कहाँ विलीन हो जाती है और निर्बाध, विभागरहित, सर्वव्यापक, पूर्ण, विशुद्ध, सद्रूपिणी परमानन्दमयता ही रह जाती है। उस समय जीवात्माके परमार्थस्वरूपताको प्राप्त हो जानेपर मन, वासना, कर्म, हर्ष, [illegible] चले जाते हैं—इसका कुछ भी पता नहीं [illegible]। जिसे सम्पूर्ण भोगोंसे विरक्ति हो गयी है, [illegible] इन्द्रिय-वृत्तियाँ पूर्णतया शान्त हो गयी हैं, [illegible] जिसके लिये नीरस हो गये हैं, जो अपने [illegible] रमण करनेवाला है, जिसकी मनोवृत्तियाँ [illegible] गयी हैं तब जो बिना प्रयत्नके ही [illegible] चुका है, ऐसे योगीकी [illegible]

जाती है; फिर इस विषयमें विचार ही कौन करे।

विषयोंसे जो दृढ़ वैराग्य और परम उपरति है, वही ध्यान कहलाता है और वही जब भलीभाँति परिपक्व हो जाता है, तब वज्रके समान सुदृढ़ अर्थात् वज्रध्यान हो जाता है। यह जो भोगोंसे वैराग्य है, यही अङ्कुरित होनेपर परम उपरति होकर, ध्यान कहा जाता है और दृढ़ होनेपर उसीकी समाधि संज्ञा होती है। जो दृश्यप्रपञ्चके स्वादसे मुक्त हो गया है और जिसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है, उस मुनिकी तो अविराम निर्विकल्प समाधि लगी रहती है। जब भोग अच्छे नहीं लगते, तब यथार्थ ज्ञानका उदय होता है और जिसे विषय-भोग रुचिकर नहीं लगते, वह ज्ञानी कहा जाता है। जिस ज्ञानीको अपने स्वभावमें विश्राम प्राप्त हो चुका है, उसका स्वभाव भोगी कैसे हो सकता है; क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, फिर उस स्वभावके क्षीण हो जानेपर भोगिता कहाँसे और कैसे प्राप्त हो सकती है। श्रीराम! साधकको चाहिये कि वह पहले वेदान्त श्रवण करे, फिर स्वाध्याय करे, तत्पश्चात् प्रणव आदिका जप करे। तदनन्तर ध्यान-समाधिमें लीन हो। समाधिसे विरत होनेपर वह थका हुआ साधक पुनः पूर्ववत् श्रवण, पाठ और जपका ही आश्रय ले।

राघवेन्द्र! जो संसारका भार ढोते-ढोते अत्यन्त थक गया है और संकटोंको झेलते-झेलते जिसका शरीर जर्जर हो गया है, अतएव विश्राम करना चाहता है, उसके उस विश्राम-क्रमको सुनो—जैसे पथिक यज्ञ-यूपोंसे दूर हट जाता है, वैसे ही ऐसा पुरुष अज्ञानियोंको दूरसे ही त्याग देता है और तत्त्वज्ञानियोंका अनुगामी होकर स्नान, दान, तप और यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है तथा सदा परोपकारमें तत्पर रहता है, जिससे 'परप्रज्ञानुग' कहा जाता है। वह सभी जनोंका प्रिय तथा शास्त्रानुकूल पवित्र कर्मोंका रसिक होता है और सभीके साथ सौम्य व्यवहार करता है। ऐसे पुरुषकी नवीन संगति, जो नवनीतके समान स्वच्छ, स्नेहभरी, कोमल, मनोहर और सुस्वादु होती है, सम्पर्कमें आनेवाले जनको सुख प्रदान करती है। विवेकी पुरुषके चरित्र, जो चन्द्रमाके किरणसमूहकी तरह अत्यन्त शीतल और पवित्र होते हैं, सुननेवाले मनुष्यको पूर्ण रूपसे शीतल कर देते हैं।

सत्पुरुषोंके सङ्गसे जैसी निर्भय शान्ति प्राप्त होती है, वैसी शान्ति राशि-राशि पुष्पोंसे भरे हुए उद्यानखण्डोंमें भी नहीं मिलती। ज्ञानी पुरुषोंकी संगति मन्दाकिनीके जलकी तरह लोगोंके पापोंका प्रक्षालन करके विशुद्धता प्रदान करती है। संसार-सागरसे पार जानेकी इच्छावाले विरक्त ज्ञानी पुरुषोंके समागमसे मनुष्यका हृदय वैसे ही शीतल हो जाता है, जैसे हिम और पुष्पहारोंसे निर्मित घरोंमें निवास करनेपर होता है। क्रमशः किये गये न्यायोचित निष्काम कर्मसे बुद्धि विशुद्ध हो जाती है और बुद्धिके निर्मल होनेपर जैसे स्वच्छ दर्पण प्रतिबिम्बको तुरंत धारण कर लेता है, वैसे ही मनुष्य शास्त्रोंके अभिप्रायको अपने अन्तःकरणमें यथार्थरूपसे ग्रहण कर लेता है। फिर विवेकी पुरुषके हृदयमें शास्त्रार्थ-रससे सुशोभित उत्तम प्रज्ञा उन्नतिको प्राप्त होती है। जिसका आत्मा साधु-समागमसे शुद्ध तथा शास्त्रार्थ-चिन्तनसे परिमार्जित हो गया है, वह प्राज्ञ पुरुष परम शोभा पाता है, प्राज्ञ पुरुष शास्त्र और सत्पुरुषोंके सङ्गका ऐसा अनुसरण करता है, जिससे इनमें अत्यन्त आसक्ति होकर इन्हींका अनुभव होता रहता है। क्रमशः सज्जनताको प्राप्त करके वह शास्त्रार्थकी भावनासे पूर्णतया भावित हो जाता है। फिर भोगोंका तिरस्कार करके वह पिंजरेसे छूटे हुए सिंहकी तरह शोभा पाने लगता है। भोगोंके पीछे दौड़ना बहुत बड़ा दुर्भाग्य है, इसलिये दिन-पर-दिन उसका त्याग करनेवाले विवेकी पुरुषके द्वारा उसका कुल उसी प्रकार चमकने लगता है, जैसे चन्द्रमासे तारोंका समूह।

राघव ! जिन्होंने तीनों लोकोंको तृण-तुल्य समझ लिया है, उनकी प्रशंसा महात्मालोग वैसे ही करते हैं, जैसे स्वर्गलोकमें स्वर्गवासी कल्पवृक्षका गुण गाते हैं । ऐसा पुरुष भूतलपर उदित हुए चन्द्रमाके समान होता है, अतः जिनके नेत्र विस्मयसे उत्फुल्ल हो गये हैं ऐसे साधु-महात्मा सौहार्दवश उसका दर्शन करनेके लिये आते हैं । भोगोंके प्रति उसकी आदरबुद्धि सदाके लिये नष्ट हो जाती है । इसलिये न्याययुक्त भोगोंके प्राप्त होनेपर भी वह उनका आदर नहीं करता । तदनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला व्यक्ति वैद्यका आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट कल्याणकी प्राप्तिके लिये वह स्वयं ही सत्सङ्ग करता है । उस सत्सङ्गके परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि परम उदार हो जाती है, जिससे वह अत्यन्त निर्मल जलवाले सरोवरोंमें प्रविष्ट हुए गजराजकी तरह शास्त्रार्थ-चिन्तनमें निमग्न हो जाता है । जैसे सूर्यदेव अन्धकारमग्न प्राणीको अपने निकट आनेपर अपने प्रकाशसे पूर्ण कर देते हैं, वैसे ही सज्जन पुरुष अपने सम्पर्कमें आये हुए मनुष्यको विपत्तियोंसे उबारकर दैवी सम्पत्तियोंसे युक्त कर देता है ।

जो विवेकी है, उसकी बुद्धि पहलेसे ही दूसरेका धन ग्रहण करनेसे विरत रहती है; क्योंकि उसे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए अपने ही धनसे संतोष रहता है तथा पर-धनके ग्रहणसे विरत एवं संतोषामृतसे परिपूर्ण हुआ वह क्रमशः अपने स्वार्थोंकी भी उपेक्षा कर देना चाहता है । वह याचकको ऋण और शाक आदि जो कुछ अपने पास मौजूद रहता है, वह सब दे देना है । यहाँतक कि उसी अभ्यासयोगसे वह अपना शरीर भी दे डालता है । विवेकी पुरुषको चाहिये कि पहले वह पर-धनके ग्रहणसे यत्नपूर्वक विरत हो जाय । जब इसका पूर्णतया अभ्यास हो जाय, तब उसे विवेकबलसे स्वार्थोंसे आसक्ति हटा लेनी चाहिये ।

श्रीराम ! जैसे सरोवर वर्षाके जलसे ही भरता है, उसी तरह मनुष्यका अन्तःकरण संतोषसे ही परिपूर्ण होता है । जैसे वसन्त ऋतुके आगमनसे सुन्दर पुष्पोंसे लदे हुए वृक्षोंसे वन लहलहा उठता है, वैसे ही मनुष्य पुरुष संतोषसे ही गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और रसगर्भिणी ओजस्विताको पाकर शोभित होने लगता है । किंतु जो असतुष्ट है और सदा धनके लिये लालायित रहता है, उसकी प्रकृति दीन हो जाती है और वह पादपीठ (खडाऊँ या पनही) की रगड़से पिसे हुए कीडेकी भाँति चेष्टा करता रहता है तथा एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता रहता है । जो धनके लोभी होते हैं, उनकी आकृति विकृत हो जाती है । उन्हें क्षुब्ध समुद्रमें गिरे हुए तथा लहरोंके थपेड़ोंसे व्याकुल हुए जीवोंकी भाँति कभी स्वस्थ स्थिति प्राप्त नहीं होती । अर्थसम्पत्ति और नारी—ये दोनो ही उत्ताल तरङ्गोंकी तरह क्षणविध्वंसी हैं और सर्पके फनकी छत्रछायाके समान हैं, अत. कौन विद्वान् उनमें मन लगायेगा । धनके उपार्जन और रक्षणमें जो यन्त्रणाएँ भोगनी पडती हैं, उन्हें जानता हुआ भी जो मूढ़ धनकी अभिलाषा करता है, वह मनुष्य होते हुए भी पशु-तुल्य है; अतः उसका स्पर्शतक नहीं करना चाहिये । * जो सतोषरूपी हँसुआसे मनके बाह्य इन्द्रिय-व्यापारोंको और आन्तरिक संकल्प आदिको एक साथ ही काट डालता है, उसका क्षेत्र—ज्ञानोत्पत्तिका उत्पत्ति-स्थान हृदय—प्रकाशित हो उठता है । पुरुषको चाहिये कि पहले संसारसे विरक्ति प्राप्त करे । [illegible] जानेपर सत्पुरुषोंका सङ्ग और शास्त्रोंका अभ्यास करे । शास्त्रोंके अर्थोंकी दृढ़ भावना करके [illegible] तब यहाँ उसे मनोहर सुख होता है और [illegible] दृढ़तासे परमार्थतत्त्वकी प्राप्ति होती है । (सर्ग ४६-४७)

---

* सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्तुङ्गभङ्गुराः । कस्तास्वहिफणच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥
अर्थोपार्जनरक्षाणां जानन्नपि कदर्थनाम् । यः स्पृशति मूढात्मा नरो दृश्यः स न संस्पृशेत् ॥
(नि० पू० स० ४६ । ४९-५०)

वैराग्यके दृढ़ हो जानेपर पुरुषकी स्थिति, आत्माद्वारा विवेक नामक दूतका भेजा जाना, विवेक-ज्ञानसम्पन्न पुरुषकी महिमा तथा जीवके सात रूपोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! जब संसारसे विरक्ति सुदृढ़ हो जाती है, सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, बुद्धिद्वारा शास्त्रों—'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थका ज्ञान हो जाता है, भोगोंकी तृष्णा नष्ट हो जाती है, विषय नीरस लगने लगते हैं, श्रेष्ठताका उदय हो जाता है, चिन्मय आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है तथा हृदयमें परमात्मप्राप्तिकी पूर्ण श्रद्धा हो जाती है, उस समय विवेकी पुरुष उसी प्रकार धनकी कामना नहीं करता, जैसे लोग अन्धकारको नहीं चाहते और जो सम्पत्ति उसके पास पहलेसे मौजूद रहती है, उसे वह जूँठी पत्तलकी तरह त्याग देता है। यद्यपि इन्द्रियोंके भोगरूपी विषय बारंबार उसकी इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आते हैं तथापि उसे उनका अनुभव नहीं होता; क्योंकि उसका मन सर्वथा शान्त हो गया रहता है। अतः विवेकी पुरुष एकान्त स्थानोंमें, दिशाओंके छोरोंमें, सरोवरोंपर, काननोंमें, उद्यानोंमें, पुण्य-प्रदेशोंमें अथवा अपने ही घरोंमें, रुचिर वाटिकाओंमें, आयोजित भोजनादि व्यापारोंमें तथा शास्त्रोंके तर्कपूर्ण विचारोंमें आसक्ति न होनेके कारण वहाँ चिरकालतक स्थित नहीं रहता। यदि कहीं वह उन स्थानोंमें कुछ देरतक ठहर गया तो वहाँ भी वह तत्त्वज्ञका ही अन्वेषण करता है; क्योंकि वह विवेकी, पूर्ण शान्त, इन्द्रिय-निग्रही, स्वात्माराम, मौनी और एकमात्र विज्ञानस्वरूप ब्रह्मका ही कथन करनेवाला होता है। इस प्रकार अभ्यासके बलसे वह शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही परम पदस्वरूप परमात्मामें विश्राम प्राप्त कर लेता है।

राघव ! एकमात्र बोधके साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण जहाँ वस्तुतः न बोधता है, न पदार्थ है और न पदार्थोंका अभाव है, उसे परमपद कहते हैं। जिन्हें परमात्मतत्त्वसाक्षात्काररूप परम पदमें विश्राम प्राप्त हो चुका है तथा जो मनोलयकी अवस्थाको पहुँच चुके हैं, ऐसे सज्जनोंको विषय उसी प्रकार नहीं रुचते, जैसे हृदयहीन पत्थरोंको दूधके स्वादका अनुभव नहीं होता। जैसे दीपक अन्धकारका नाश कर देता है, वैसे ही निर्मल परमात्मपदमें स्थित ज्ञानी पुरुष अपने हृदयस्थित अज्ञानरूपी अन्धकारको तथा बाहरी राग, द्वेष, भय आदिको दूर हटा देता है। जिसमें तमोगुणका सर्वथा अभाव है जिसके सम्पूर्ण अंश रजोगुणसे रहित हो गये हैं तथा जो सत्त्वगुणको भी लाँघ चुका है, वह मनुष्यरूपमें सूर्य है; अतः उसे प्रणाम करना चाहिये। ये जितने चराचर जीव तथा भूत-प्राणी हैं, वे सब-के-सब स्वेच्छानुसार उपहार-सामग्री प्रदान करके निरन्तर उसी परमात्माका पूजन करते हैं। इस प्रकार जब अनेक जन्मोंतक यथाभिमत इच्छासे यह परमात्मा पूजित होता है, तब अपने पुजारीपर प्रसन्न हो जाता है। फिर तो प्रसन्न हुआ स्वयंदेवाधिदेव महेश्वररूप परमात्मा पूजककी शुभ कामनासे उसे ज्ञान प्रदान करनेके लिये अपने पावन दूतको तुरंत प्रेरित करता है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! परमेश्वररूप परमात्मा किस दूतको प्रेरित करता है और वह दूत किस प्रकार ज्ञानोपदेश करता है—यह मुझे बतलाइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रामभद्र ! परमात्मा जिस दूतको प्रेरित करता है, उसका नाम विवेक है, वह सदा आनन्द देनेवाला है। वह अधिकारी पुरुषके हृदयरूपी गुफामें वैसे ही स्थित हो जाता है, जैसे आकाशमें चन्द्रमा। वही विवेक वासनायुक्त अज्ञानी जीवको ज्ञान प्रदान करता है और धीरे-धीरे इस संसारसागरसे उद्धार कर देता है। यह ज्ञानरूप अन्तरात्मा ही सबसे

बड़ा परमेश्वर है। वेद-सम्मत जो प्रणव है, वह इसी-का बोधक शुभ नाम है। नर, नाग, सुर, असुर—सभी जप, होम, तप, दान, पाठ, यज्ञ और कर्मकाण्डद्वारा नित्य इसीको प्रसन्न करते हैं। वही परमात्मा सर्वत्र विचरण करता है, जागता है और देखता है। इसीलिये इसके आँख, कान, हाथ, पैर सर्वत्र व्याप्त* हैं। यही चिन्मय परमात्मा विवेक-दूतको उद्बुद्ध करके उसके द्वारा चित्तरूपी पिशाचको मारकर जीवको अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थितितक पहुँचा देता है। इसलिये सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पोंको, विकारोंको तथा अर्थसंकटोंको छोड़कर अपने पुरुषार्थसे स्वयं ही उस चिन्मय परमात्माको प्रसन्न कर लेना चाहिये; क्योंकि इस संसाररूपी रात्रिके घने अन्धकारमें, जिसमें मनरूपी पिशाच घूम रहा है और अज्ञानरूपी काली घटा छायी हुई है, परमात्मा ही पूर्णिमाके चन्द्रमाकी तरह सर्वत्र प्रकाश करता है।

यह संसार एक भीषण समुद्रके समान है। इसका भीतरी भाग मरणरूपी अगाध भँवरोंके कल्लोलोंसे आकुल हो रहा है। यह तृष्णारूपी तरङ्गोंसे चञ्चल हो रहा है। इसे अपना मनरूपी प्रचण्ड वायु उद्वेलित कर रही है। यह चराचर भूतरूप जलकणोंसे व्याप्त है और इन्द्रिय-रूपी मकरोंसे भरे रहनेके कारण अत्यन्त गहन है। इस समुद्रको पार करनेके लिये विवेक ही महान् जहाज है। इस प्रकार शास्त्रविहित अभीष्ट पूजनसे प्रसन्न हुआ परमात्मा पहले विवेकरूपी पावन दूत भेजकर सत्सङ्ग, शास्त्राभ्यास और परमार्थ वस्तुके उत्तम ज्ञानद्वारा जीवको अनिर्वचनीय, निर्मल एवं सर्वोच्च पदतक पहुँचा देता है। रघुनन्दन! जिनका विवेक परिपुष्ट हो गया है और जिन्होंने वासनारूपी मलका परित्याग कर दिया है, उन महात्माओंके अंदर कोई अपूर्व ही महत्ता उत्पन्न होती है। वस्तुतः भ्रान्तिके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे वासना और भ्रान्ति अपने-आप निवृत्त हो जाती है। भला स्वप्नका स्वप्नरूपसे ज्ञान हो जानेपर उसमें सत्यत्वकी भावना किसे हो सकती है। वासनाका अभाव ही संसारका उपशमन है। वासना ही महाकाय पिशाचिनी है, इसीलिये बुद्धिमान् लोग इसका विनाश करनेमें तत्पर रहते हैं।

पूर्वाभ्यासवश पुरुषोंकी अज्ञानप्रयुक्त उन्मत्तता जैसे-जैसे उत्पन्न हुई रहती है, वैसे-वैसे ही वह ज्ञानके भलीभाँति अभ्यस्त होनेसे समयानुसार धीरे-धीरे विनष्ट भी हो जाती है। ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञमें दीक्षित होकर मनरूपी यूपयज्ञस्तम्भको सुदृढ़रूपसे गाड़ देता है और संसारकी असत्ताके अनुभवद्वारा विश्व-विजय करके सर्वस्वत्यागरूप दक्षिणा देकर सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लेता है। उस समय चाहे अंगारोंकी वृष्टि हो, प्रलयकालकी वायु चलने लगे अथवा भूतल उड़कर आकाशमें चला जाय, परंतु ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपमें ही समभावसे स्थित रहता है। पूर्ण वैराग्यसे जिसका मन सर्वथा शान्त हो गया है और जिसने अपने मनको पूर्णतया निरुद्ध कर लिया है, ऐसा पुरुष सदा वज्र-तुल्य सुदृढ़ समाधिमें ही स्थित रहता है। इसके अतिरिक्त उसकी दूसरी स्थिति नहीं होती; क्योंकि बाह्य पदार्थोंसे अत्यन्त वैराग्य हो जानेसे मन जैसा पूर्णरूपसे शान्त होता है, वैसा शान्त वह [illegible] शास्त्राभ्यास, उपदेश, तप और [illegible] आदिसे नहीं होता।

वासनासे रहित हो जानेपर तो सभी जीव समान हैं, परंतु वासनाकी विषमताके कारण वे सूखे पत्तोंकी तरह उड़-उड़कर विभिन्न स्वर्ग-नरक आदि लोकोंमें गिरते हैं।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्! जैसे [illegible]

---

* सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
(गीता १३।१३)
'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' श्रुतियाँ भी ऐसा ही प्रतिपादन करती हैं।

सातों समुद्रोंमें क्षीर आदिके भेदसे सात प्रकारके जल हैं उसी प्रकार सात प्रकारके रूपोंको धारण करनेवाले जीवोंके भेदको आप वर्णन करनेकी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन ! किसी प्राचीन कल्पके किसी जगत्में कहींपर कुछ जीव सुषुप्ति-अवस्थामें स्थित थे। वे अपने प्राणयुक्त शरीरोके कारण जीवित ही थे। उनमें जो लोग स्वप्न देख रहे थे, उनके स्वप्न-सदृश ही इस जगत्को समझना चाहिये और उन्हीं जीवोंको 'स्वप्नजागर' कहा जाता है। उन सोये हुए जीवोंका जो अपने-आप प्रकट हुआ स्वप्न-प्रपञ्च है, वही कभी-कभी जब हमलोगोंका विषय बन जाता है, तब हमलोग उनके 'स्वप्ननर' कहलाते है। चिरकालके पश्चात् जब उनका वह स्वप्न जाग्रत्-रूप हो जाता है, तब उनके स्वप्नके वे जीव 'स्वप्न-जाग्रत्' कहे जाते हैं। वास्तवमें वे उनके स्वप्नमें ही स्थित है। इस स्वप्न-प्रपञ्चके समाप्त होनेपर यदि ज्ञान हो गया, तब तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं और यदि ज्ञान न हुआ तो गाढ निद्राके वशीभूत होकर वे सङ्कल्पानुसार उसी प्रकारके दूसरे शरीर धारण कर लेते हैं और उसी तरहका दूसरा कल्पित जगत्कल्प देखते हैं; क्योंकि कल्पनाभासरूपी आकाशकी कहीं निरवकाशता नहीं रहती। चिरकालके अभ्याससे जिन जीवोंका जागराभिमान घनीभूत संकल्पमें है तथा जिनके मनकी चेष्टाएँ भी संकल्पमें ही हैं, वे जीव 'संकल्पजागर' कहलाते हैं। वे संकल्पका उपशमन हो जानेपर पुनः पूर्ववत् अथवा उससे भी विलक्षण व्यवहार करने लगते हैं, अतः उनके शरीरमें हमलोग 'संकल्प-पुरुष' रूपसे स्थित माने जाते हैं। जो विशाल आत्मावाले प्रधान पुरुष ब्रह्माके रूपसे अवतीर्ण हुए हैं और पहलेके उत्पत्तिविकासरूप स्वप्नसे रहित हैं, वे 'केवलजागर' कहे गये है। पुनः वे ही जीव जब प्रौढ होकर जन्मान्तरोंमें जन्म धारण करते जाते हैं और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें विचरते रहते हैं, तब 'चिरजागर' कहलाते है। वे चिरजागर जीव ही जब पापरूप दुष्कर्मोंके आवेशसे जड-स्थावररूपमें प्रकट होते हैं और जाग्रत्-अवस्थामें भी घनीभूत अज्ञानसे परिपूर्ण हो जाते हैं, तब 'घनजागर' कहे जाते हैं। जो शास्त्रार्थचिन्तन और सत्सङ्गके द्वारा उपदेश ग्रहण करके ज्ञानसम्पन्न हो गये है और जाग्रत्को भी स्वप्न-सरीखे देखते हैं, वे 'जाग्रत्स्वप्न' कहलाते हैं। जिन्हें यथार्थज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है और जो परमपदमें विश्राम कर चुके हैं, तुरीय भूमिकाको प्राप्त हुए वे जीव 'क्षीणजाग्रत्' कहे जाते हैं।

(सर्ग ४८—५०)

दृश्य जगत्की असत्ता, सबकी एकमात्र ब्रह्मरूपता तथा तत्त्वज्ञानसे होनेवाले लाभका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! सृष्टिका वास्तवमें कोई कारण नहीं है, इसीलिये न यह उत्पन्न होती है और न नष्ट। जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है। परंतु जब सृष्टिका कारण ही कल्पित एवं मिथ्या है, तब उससे होनेवाला सृष्टिरूप कार्य भी कल्पित और मिथ्या ही सिद्ध होता है। जैसे प्रशान्त महासागरके भीतर लहर और भँवर आदि उससे अभिन्न रूपमें ही स्थित हैं, उसी प्रकार क्षोभरहित परब्रह्ममें जगत् और चित्त आदि स्थित है, जो इस ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। जैसे अपने भीतर अनेक बर्तनोंको रखनेवाला मिट्टीका लौंदा एक रूपसे ही स्थित रहता है, उसी प्रकार अपने उदरमें अनेक ब्रह्माण्डभाण्डको धारण करनेवाला सर्वात्मा निर्मल ब्रह्म भी एक ही है। जैसे सुवर्ण अपने भीतर कड़ा, कुण्डल आदि अनेक नाम-रूपवाले आभूषणोंको धारण करता है और उन सबके रूपमें स्वयं ही स्थित होता है, उसी प्रकार सुवर्णस्थानीय ब्रह्म ही दृश्यजगत्के रूपमें स्थित है। ज्ञानी पुरुष स्वप्नकालमें स्वप्नको ही जाग्रत्रूप जानते हैं; क्योंकि

उन्होंने वासनाओंसे व्यग्र मनको ग्रहण नहीं किया है और वे जाग्रत्-कालमें जाग्रत्को भी स्वप्न समझते हैं; क्योंकि उन्हें सत्यस्वरूप आत्माका बोध हो चुका है।

जैसे पता लगानेपर मृगतृष्णाका जल मिथ्या सिद्ध होता है, उसी प्रकार बारंबार इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आनेपर भी यह दृश्य-प्रपञ्च तत्त्वज्ञान होते ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जैसे प्रज्वलित अग्निमें घी और इन्धन सब विलीन होकर एकरूप हो जाते हैं, वैसे ही विज्ञानकालमें जगत्, मन और द्रष्टा आदि सब एकमात्र ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं। जाग्रत्को स्वप्नवत् मिथ्या समझ लेनेपर वह अपनी दृढ़ताको छोड देता है और अत्यन्त कोमल बन जाता है। तात्पर्य यह कि उसके मिथ्यात्वका दृढ निश्चय हो जाता है। देश, कालरूप निमित्तके बिना ही जाग्रत् और स्वप्नका निर्माण करके यथास्थित बोधस्वरूप साक्षी चेतन आत्मा ही जगत्के रूपमें घनीभावको प्राप्त-सा हुआ है। इस प्रकार विचारके द्वारा जब जाग्रत् भी क्षणभङ्गुर या मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तब स्वत. क्षीण होने लगता है और उसके प्रति होनेवाली वासना उसी प्रकार घटने लगती है, जैसे वर्षाका जल शरत्कालमें क्षीण होने लगता है। विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें अत्यन्त तुच्छताको प्राप्त हुई दृश्य-लक्ष्मी विद्यमान होनेपर भी रुचिकर नहीं लगती। स्वप्नकी भाँति उसे मिथ्या [illegible] उसमें रस नहीं लेता है। महामते! जैसे [illegible] पुरुषोंको सामने दिखायी देनेपर भी [illegible] जल उनकी प्यास नहीं बुझा सकता, [illegible] असत्य विषय किसी भी [illegible] प्रतीत हो सकते हैं?

श्रीराम! जिसे असत्य समझ [illegible] उपादेयबुद्धि कैसे रह सकती है? [illegible] है, जो स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर उसमें [illegible] सुवर्णको लेनेके लिये दौडता हो। जब [illegible] स्वप्नके समान मिथ्या समझ लिया गया, तब [illegible] होनेवाली आसक्ति दूर हो जाती है तथा [illegible] सम्बन्धमें जो चेतन और जड ग्रन्थिरूप [illegible] है, उसका उच्छेद हो जाता है। [illegible] दीखनेवाला जो भ्रान्तिरूप सम्पूर्ण जगत् [illegible] अज्ञानसे ही है। तत्त्वज्ञान होनेपर [illegible] दीपकके प्रकाशके समान यह प्रकाशित [illegible] और इसकी अन्धकाररूपता दूर हो [illegible]। जैसे बादलोंके हट जानेपर केवल स्वच्छ [illegible] है, उसी प्रकार जगत्‌की भ्रान्ति दूर हो जानेपर [illegible] शुद्ध परब्रह्म परमात्माका ही अनुभव होता है।

(सर्ग ५[illegible])

सृष्टिकी असत्यता और एकमात्र अखण्ड ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह जगत् मूढ पुरुषकी दृष्टिमें है; इसीलिये उसके मनमें भी है। परंतु जो विवेकी पुरुष है, वह शास्त्रद्वारा निश्चित तथा पूर्वापरसे समन्वित अर्थको ही देखता है और उसीको ग्रहण करता है। शास्त्रनिषिद्ध वस्तु दृष्टिपथमें आ जाय तो भी वह न तो उसकी ओर देखता है और न उसे ग्रहण ही करता है।

सभी प्रकारोंसे युक्त यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम जगत् दिखायी देता है, वह सब प्रलयके अन्तमें नष्ट हो जाता है। सृष्टिके पहले जो संसारकी [illegible] हो चुकी थी, वही फिर आविर्भूत हुई है—[illegible] करना असम्भव है; क्योंकि नष्ट हुई वस्तुका फिर [illegible] कैसे सम्भव हो सकती है। यदि [illegible] तब यह संदेह मिट जा सकता [illegible] या अन्य? परंतु हम तो अनुभव [illegible] हैं; अतः नष्टकी उत्पत्ति कैसे [illegible] हैं? [illegible]

वस्तु उपलब्ध होकर भी अभाव दशाको प्राप्त हो जाती है, वह नष्ट ही है; क्योंकि उपलब्धका अदर्शन ही नाश है। यदि नाशकी कोई और परिभाषा हो तो वह कैसी है, यह तुम्हीं बताओ। यदि कहें कि नष्ट हुई वस्तु ही फिर उत्पन्न हुई है तो ऐसी प्रतीति किसको होती है? अतः जो वस्तु उत्पन्न है, उसका नाश अवश्य होता है। और पुनः-पुनः दूसरेकी ही उत्पत्ति या प्रवृत्ति होती है; यही कहना उचित है।

वृक्षके बीच-बीचमें जो स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप अवयव है, उनमें समस्त वृक्ष-शरीरको व्याप्त करके स्थित एक बीज-सत्ता ही है। जब सर्वत्र एक ही सत्ता है, तब उसमें कार्यकारणभावकी कल्पना कैसे की जा सकती है? विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाणसे यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाशके समान निर्मल केवल बोधस्वरूप परमात्मा ही है, क्योंकि सब कुछ परमात्माका ही स्वरूप है। वह परमपदस्वरूप परमात्मा वाणीका अविषय, अव्यक्त, इन्द्रियातीत, नाम-रूपसे रहित, सर्व-भूतस्वरूप, शून्यमय है तथा सत् एवं असत् भी वही है। वस्तुतः वह न वायु है, न आकाश है, न मन है, न बुद्धि आदि है और न शून्यरूप ही है। वह कुछ न होकर भी सर्वस्वरूप है। कोई और ही (विलक्षण एवं अनिर्वचनीय) परम व्योम (चिन्मय आकाशरूप) है। उस परमपदमें स्थित एवं समस्त कल्पनाओंसे मुक्त तत्त्वज्ञानी ही उस परमात्मवस्तुका अनुभव करता है, दूसरे लोग तो केवल अभ्यासमें लाये गये शास्त्रोंके अनुसार ही उसका वर्णन करते है। वास्तवमें वह परमात्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है, न इनका मध्य है, न अन्त है, न बोध है और न अबोध ही है।

योगी लोग उस परमात्मपदको सर्वात्मक और समस्त पदार्थोंसे रहित देखते हैं। वह आदि पद ज्ञानयोगी महात्माओंकी दृष्टिमें सर्वरूप, सर्वात्मक, सर्वार्थरहित और सर्वार्थपरिपूर्ण है। जिसका अन्तःकरण स्वच्छ है, जो तत्त्वज्ञ एवं शान्त है और परम प्रकाशस्वरूप परमात्माको प्राप्त है, वही उसके यथार्थ स्वभावको देख या समझ पाता है। जैसे सुवर्ण-पिण्डके भीतर आभूषण तथा मुद्रा आदिका समूह कल्पित है, उसी प्रकार 'यह', 'तुम' और 'मैं' इत्यादिके रूपमें प्रतीत होनेवाला भूत, वर्तमान और भविष्यकालके जगत्का भ्रम उस परमात्मामें कल्पनासे ही स्थित है, वास्तवमें नहीं। परब्रह्मरूपी काष्ठ-स्तम्भमें यह त्रिलोकीरूपिणी पुतली यद्यपि खुदी हुई नहीं है तो भी प्रतीत हो रही है, साक्षीरूपी शिल्पीकी दृष्टिमें समायी हुई है। खम्भेमें तो खुदी हुई पुतलियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। परंतु उस क्षोभरहित परब्रह्म परमात्मारूपी महासागरमें बिना हुए ही ये सृष्टिकी तरङ्गें दृष्टिगोचर हो रही हैं, नित्य निरतिशयानन्दमय जलसे भरे हुए चैतन्य-रूपी सरोवरमें चिन्मय मेघोंकी अमृतमयी वर्षाके समान ये दृष्टिगत सृष्टियाँ भासित हो रही हैं। वह परमात्मा विभागशून्य—अखण्ड एकरस है तो भी उसमें ये सृष्टि-दृष्टियाँ विभागपूर्वक स्थित प्रतीत होती हैं। ब्रह्म क्षोभ-रहित है तो भी उसमें ये क्षुभित-सी देखी जाती है तथा वह परमात्मा सच्चिदानन्दघन है। उसमें इन दृष्टिगत सृष्टियोका कहीं पता नहीं है तो भी ये उसके भीतर प्रतीत होती हैं। (सर्ग ५२)

परमात्मामें सृष्टिभ्रमकी असम्भवता, पूर्ण ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण तथा सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते है—रघुनन्दन! उस शुद्ध बुद्ध परमात्मामें सृष्टिके कारणभूत मल, आकार, बीज, माया, मोह और भ्रम आदि किसीका भी होना वास्तवमें सम्भव नहीं है। वह केवल (अद्वितीय), शान्त, अत्यन्त निर्मल

और आदि-अन्तसे रहित है । वह इतना सूक्ष्म है कि उसके भीतर आकाश भी प्रस्तरके समान स्थूल कहा जा सकता है । जिसकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है, उस दृश्य-प्रपञ्चकी सत्ता यहाँ कदापि सम्भव नहीं है । तथा जो सदा स्वानुभवैकगम्य नित्य परमात्मवस्तु है, उसकी सत्ताका निराकरण करनेकी शक्ति किसमें है ? संसार ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण चैतन्यमय ही है । इसमें जो जड आकारकी प्रतीति होती है, वह भ्रमसे ही है । इसलिये सब कुछ एक, अजन्मा, शान्त, द्वैताद्वैतसे रहित तथा निरामय ब्रह्म ही है । पूर्ण परब्रह्म परमात्मासे पूर्णका ही विस्तार हो रहा है । पूर्णमें पूर्ण ही विराज रहा है । पूर्णसे पूर्णका ही उदय हुआ है तथा पूर्णमें पूर्ण ही प्रतिष्ठित है । वह पूर्ण ब्रह्म शान्त, सम, उत्पत्ति-विनाशसे रहित, निराकार, अजन्मा, आकाशकी भाँति व्यापक, विशुद्ध और अद्वितीय है । वह सर्वरूप है और सत्-असत् स्वरूप तथा एक होकर ही सदा स्थित रहता है । सबका आदि वही है । मोक्ष उसका अपना ही स्वरूप है तथा वह उत्कृष्ट ज्ञानरूप है ।

'तू', 'मैं' और 'यह जगत्'—इत्यादि जो शब्द हैं, इनका अर्थ ब्रह्म ही है और वह ब्रह्ममें ही विद्यमान है । वह ब्रह्म शान्त, सबमें समानरूपसे ही प्रकाशित होनेवाला तथा सत् है । वह पृथक् स्थित न होकर ही अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है । समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी तथा विस्फोट आदिसे युक्त होकर भी यह जगत् वास्तवमें अजन्मा तथा काष्ठमौनके समान निष्क्रिय ब्रह्मरूप ही है । उस ब्रह्ममें न तो ज्ञातापन है, न कर्तापन है, न जडता है और न भोक्तापन है, न शून्यता है, न अर्थरूपता है और न आकाशरूपता ही है । वह सत्य, घन, अद्वितीय, जन्म आदिसे रहित, सर्वव्यापी, सर्वरूप, शान्त, अनादि, अनन्त तथा एक रूप ही है । मरना-जीना, सत्य-असत्य तथा शुभ और अशुभ जो कुछ भी है, वह सब एकमात्र जन्मरहित चेतनाकाश-स्वरूप है । जैसे लहरोंका समुदाय जलरूप ही होता है, उसी प्रकार सब कुछ ब्रह्म ही है । जगत्‌में भी परम शान्त चेतनाकाशस्वरूप ब्रह्म ही [illegible] जगत् है, जो आदि और अन्तमें अव्यक्त तथा मध्यमें ही इस प्रकार व्यक्त होता है । जैसे जल ही तरङ्ग आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत्‌रूपमें भासित होता है । जो उत्पन्न होता है और उत्पन्न है, वह कार्यरूप तथा जो उत्पन्न नहीं होता है और उत्पन्न नहीं है, वह कारणरूप भी उस चेतन परमात्मासे भिन्न नहीं है । अतः इस सृष्टिका उससे भिन्न कोई कारण नहीं है । जैसे प्रयत्नपूर्वक खोज करनेपर भी खरगोशके सींगका पता नहीं चल सकता, वैसे ही इस सृष्टिका वास्तविक कोई कारण नहीं उपलब्ध होता ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जैसे वटबीजके भीतर भावी विशाल वृक्ष विद्यमान होता है, वैसे ही चिन्मय परमाणु परमात्मामें यह सारी सृष्टि विद्यमान रहती है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जहाँ बीज है, वहीं वटवृक्षकी विशाल शाखा हो सकती है; क्योंकि वह सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होती और फैलती है; परंतु जब सम्पूर्ण भूतोंका प्रलय हो जाता है, तब [illegible] बीज शेष रह जाता है और उसका सहकारी कारण भी क्या रहता है; जिसके संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति हो । जो शान्त परब्रह्म है, उसमें जगत्‌की कल्पना हो सकती है । उसमें तो परमाणु[illegible] भी [illegible] नहीं होता, फिर बीजत्व कैसे आ सकता है ? इस प्रकार विचार करनेपर बीजभूत कारणका होना जब सर्वथा असम्भव है, तब जगत्‌की सत्ता किस प्रकार, किस साधनसे, किस निमित्तसे, कहाँ और कब हो सकती है, इसलिये जो ब्रह्मरूप परमात्मा है, वही अपने स्वरूपभूत संकल्पसे यह जगत् बनकर स्थित

है। यहाँ न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न उसका नाश ही होता है, जैसे आकाशमें अवकाश और जलमें द्रवत्व है, उसी प्रकार परमात्मामें सृष्टि स्थित है। (सर्ग ५३-५४)

ब्रह्ममें ही जगत्की कल्पना तथा जगत्का ब्रह्मसे अभेद, पाषाणोपाख्यानका आरम्भ—वसिष्ठजीका लोकगतिसे विरक्त हो सुदूर एकान्तमें कुटी बनाकर सौ वर्षोंतक समाधि लगाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उत्पत्ति, विनाश, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदि सभी पदार्थ सृष्टिके आरम्भ-कालमें उत्पन्न नहीं हुए थे; क्योंकि इनकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं था। जैसे नदियोंकी तरङ्ग-लेखा पहलेकी भाँति आज भी बह रही है, वैसे ही चेतनका संकल्प ही कल्पके आदिसे प्रलयपर्यन्त पदार्थोंके स्वभावका व्यवस्थापक है। पदार्थोंकी रचना दृष्टियोंमें ही प्रकट है। उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे जल-तरङ्गोंकी शोभा ही नदियोंकी रचना बन गयी है, उसी तरह चेतन आकाशमें विद्यमान चैतन्यरूप बीजकी सत्ता ही उसके भीतर सृष्टिरूपताको प्राप्त हो गयी है अर्थात् सृष्टिकी सत्ता चेतन सत्तासे पृथक् नहीं है। सब प्रकारके भेदज्ञानका निवारण हो जानेपर पुरुषमें जो एक शुद्ध ज्ञानका उदय होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है। इसीसे वह मुक्त कहा जाता है। इसलिये उसमें बन्धन और मोक्षकी दृष्टियाँ कैसे रह सकती है ? चेतन आकाशमें जो यह जगत्-नामक मलिनता प्रतीत हो रही है, पूर्वोक्तरूपसे विचार करनेपर यह निष्कलंक एवं निर्वाणरूप ब्रह्म ही सिद्ध होता है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ यह ब्रह्म व्याप्त न हो। यह जगत् अनेक रूप नहीं है, अपितु आकाशमें शून्यत्व तथा समुद्रमें द्रवत्वके समान ब्रह्मसे अभिन्न ही है।

रघुनन्दन! चिन्मय आकाश परब्रह्म परमात्मामे सर्वत्र और सदा सब कुछ भलीभाँति विद्यमान है। साथ ही वह सर्वथा स्वच्छ है अर्थात् वह अपनी मलिनतासे ब्रह्मको दूषित नहीं करता है। वैसे ही जैसे सम्पूर्ण आकाशमें नीलरूपसे भासित होनेवाली शून्यता अपने मलसे मलिनता पैदा करके उसे दूषित नहीं करती। श्रीराम ! इस विषयमें पाषाणाख्यान सुना रहा हूँ, सुनो—यह अविद्यारूपी रोगको दूर करनेके लिये रसायन है। पूर्वकालमें मैंने ही जो कुछ देखा था, उसीका इस आख्यायिकामें वर्णन है। यह विचित्र होनेके साथ ही इस प्रसगके अनुकूल है। एक समयकी बात है, मै जानने योग्य परमात्म-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेनेके कारण पूर्णकाम हो गया था। इसलिये मेरे मनमें यह इच्छा हुई कि घनीभूत भ्रमसे भरे हुए इस लोकव्यवहारको छोड़ दूँ, तब ध्यानमें एकतान होकर धीरे-धीरे दीर्घकालिक विश्रामके लिये सम्पूर्ण चञ्चलताका त्याग करके मैंने एकान्त स्थानमें रहनेकी अभिलाषा की और शीघ्रतापूर्वक शान्तिकी ओर अग्रसर होने लगा। उस समय मै किसी देवताके स्थानमें स्थित था और जगत्की विविध एवं क्षणभङ्गुर गतियोंका अवलोकन कर रहा था। इतनेमें ही मै यह सोचने लगा कि इस लोककी अवस्था बड़ी नीरस है। देखनेमें सुन्दर और परिणाममे विनाशशील होनेके कारण आपातरमणीय है, इसलिये मै ऐसा मानता हूँ कि यह कहीं किसीको, किसी भी कारणसे और कभी भी सुख नहीं दे सकती। अतः कौन-सा ऐसा प्रदेश होगा, जो बिल्कुल सूना हो और जहाँ रहनेसे इन पाँचो बाह्य विषयोंकी वेदनाएँ अनुभवमें न आवे ? मेरे विचारसे तो यह आकाश ही, जो सब ओरसे सूना होनेके कारण विक्षेपके उपकरणोसे रहित है, मेरी समाधिके लिये अधिक उपयोगी होगा।

मैं इसके किसी दूरवर्ती कोनेमें उत्तम योगयुक्तिका आश्रय लेकर स्थित रहूँगा, आकाशके एक कोनेमें संकल्पसे ही कुटी बनाकर उसके भीतर सुदृढ हो वासनारहित होकर निवास करूँगा।'

ऐसा सोचकर निर्मल आकाशमें ज्यों ही मैं आगे बढ़ा, त्यों ही देखता हूँ कि इस आकाशका भी सारा अन्तःप्रान्त विक्षेपके कारणोंसे व्याप्त है। अनेक प्रकारके भूतगण यहाँ विचर रहे हैं। तब मैं आकाशवर्ती भूतगणोंको त्यागकर वहाँसे दूरातिदूर एकान्त स्थानमें जा पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत और सूना था। वहाँ बहुत धीमी-धीमी हवा चल रही थी। स्वप्नमें भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे। न तो वहाँ मङ्गलसूचक शुभ शकुन होते थे और न उत्पातसूचक अपशकुन। तुम उस स्थानको संसारी पुरुषोंके लिये अलभ्य समझो। उस शून्य प्रदेशमें मैंने अपने संकल्पसे ही एक कुटीका निर्माण किया। उसका भीतरी भाग स्वच्छ एवं विशद था। उसकी दीवारोंमें कहीं छेद नहीं थे। इसलिये वह घनीभूत जान पड़ती थी तथा देखनेमें कमल-कोशके समान सुन्दर जान पड़ती थी। फिर मैंने मन-ही-मन यही संकल्प किया कि यह कुटी समस्त भूतोंके लिये अगम्य हो जाय। तदनन्तर मैं उन सब भूतोंके लिये अगम्य कुटीमें प्रविष्ट हुआ। वहाँ पद्मासन लगाकर शान्त-चित्त हो मैंने अन्तर्मन मौन धारण कर लिया। साथ ही यह निश्चय किया कि मैं इसके बाद ही मैं इस समाधिसे उठूँगा। इसके बाद मैं निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो गया। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो मैंने निद्राकी मुद्रा धारण कर ली हो। मेरी बुद्धिमें समता थी। मैं निर्मल आकाशके समान शुद्धभावसे अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित था। ऐसा लगता था मानो आकाशसे खोदकर मेरी प्रतिमा प्रकट की गयी हो। वह सौ वर्षोंका समय मेरे लिये एक पलके समान व्यतीत हो गया; क्योंकि समाधिमें चित्तको एकाग्र करनेवाले पुरुषके लिये बहुत समयतक रहनेवाली कालकी गतियाँ भी थोड़ी प्रतीत होती हैं। तदनन्तर काल्पनिक अहंकाररूपी पिशाच इच्छारूपिणी पत्नीके साथ कहींसे मेरे पास आ धमका। (सर्ग ५५-५६)

अहंकाररूपी पिशाचकी शान्तिका उपाय—सृष्टिके कारणका अभाव होनेसे उसकी असत्ता तथा चिन्मय ब्रह्मकी ही सृष्टिरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीरामभद्र! अज्ञानसे अपने अन्तःकरणमें अहंभावरूपी पिशाचकी कल्पना कर ली गयी है, जो वास्तवमें है नहीं। जैसे हाथमें दीपक लेकर ढूँढ़नेवालेको अन्धकारका स्वरूप नहीं दिखायी देता, वैसे ही विचारशील पुरुष यदि देखे तो उसे अज्ञानकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अज्ञता-रूपिणी पिशाचीके स्वरूपपर विचार करते हुए जैसे-जैसे उसकी ओर देखा जाता है, वैसे-ही-वैसे वह छिपती जाती है। सृष्टिकी सत्ता होनेपर ही अविद्याका अस्तित्व सम्भव हो सकता है, और किसी हेतुसे नहीं। परंतु यह सृष्टि तो कभी उत्पन्न हुई ही नहीं। केवल अज्ञानियोंके अनुभवमें आती है। वास्तवमें वह है नहीं। जैसे आकाशमें कभी वृक्ष पैदा नहीं हुआ, उसी प्रकार सृष्टिका कोई कारण न होनेसे वह पूर्वकालमें भी उत्पन्न नहीं हुई थी। मनसहित छः इन्द्रियोंसे ग्रहण न होने-वाला निराकार परब्रह्म मनसहित छः इन्द्रियोंसे गृहीत होने-वाले साकार जगत्का वस्तुतः कारण कैसे हो सकता है? कहते हैं बीजरूपी कारणसे अङ्कुररूपी कार्य उत्पन्न होता है। परंतु जहाँ बीज भी नहीं है, वहाँ अङ्कुर कैसे हो सकता है? कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। अज्ञानमें फल, पल्लव, फूलों-सा वृक्ष स्वप्नमें देखा गया है। उसी प्रकारसे

रहनेवाला चिन्मयाकाशरूप ईश्वर ही अपने स्वरूपमें सृष्टि-रूपसे स्फुरित हो रहा है। उसका स्वभाव ही सृष्टिके नामसे विख्यात है। अतः चिन्मय होनेके कारण यह सृष्टि चैतन्यरूप ही है। सृष्टिके आरम्भमें विषयज्ञानशून्य जो शुद्ध एक अजन्मा अव्यय आदि और अन्तसे शून्य परब्रह्म स्थित था, वही हमारे समक्ष सृष्टिरूपसे विराजमान है। वास्तवमें यहाँ सृष्टि नामकी कोई वस्तु है ही नहीं और न ये भूगोल तथा खगोल आदि ही हैं। सब कुछ शान्त, अवलम्बनशून्य, ब्रह्ममात्र ही है और ब्रह्ममें ही स्थित है। भाव्य, भावक और भाव आदिकी जो निरन्तर उत्पत्ति प्रतीत होती है, वह सब स्वच्छ चिन्मयाकाश ही स्वयं अपने आपमें स्थित है। ऐसी अवस्थामें कहाँसे सृष्टि हुई, कहाँसे अविद्या आयी और कहाँ अज्ञता एवं अहंकार आदिकी स्थिति है? सब शान्त, चिद्घन ब्रह्म ही तो है। इस प्रकार मैंने तुमसे अहंकारकी शान्तिका उपाय बताया है। अहंभावको यदि अच्छी तरह जान लिया जाय तो बालकल्पित पिशाचकी भाँति वह स्वतः शान्त हो जाता है।

समस्त सृष्टियाँ ब्रह्ममें ही कल्पित हैं—इस दृष्टिसे परमात्मा ब्रह्मका कोई अणु अंश भी ऐसा नहीं है, जो सृष्टियोंसे ठसाठस भरा हुआ न हो। परंतु वे सृष्टियाँ भी वास्तवमें कहीं उपलब्ध नहीं होती हैं। वह सब कुछ परब्रह्म-रूप आकाश ही है। सृष्टियोंमें कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग भी ऐसा नहीं है, जो सदा ब्रह्मस्वरूप न हो। इसलिये ब्रह्म और सृष्टि इन नामोंमें ही उच्चारणमात्रका भेद है, इनसे प्रतिपादित होनेवाली वस्तुमें नहीं। सृष्टि ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है। अग्नि और सूर्यकी उष्णताओंके समान इनमें तनिक भी भेद नहीं है। श्रीराम! व्यवहारमें लगे हुए ज्ञानीके लिये भी यह सब कुछ शान्त, एक, अनादि, अनन्त, स्वच्छ, निर्विकार, शिलाके सदृश अत्यन्त घन और मौन ब्रह्मरूप ही है। (सर्ग ५७-५८)

समाधिकालमें वसिष्ठजीके द्वारा अनन्त चेतनाकाशमें असंख्य ब्रह्माण्डोंका अवलोकन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघवेन्द्र! तदनन्तर, (सौ वर्षोंके पश्चात्) मैं ध्यानसे जगा—समाधिसे विरत हुआ। उस समय वहाँ मुझे एक मधुर ध्वनि सुनायी दी, जो बड़ी मनोरम थी; परंतु उसके पद और अक्षर अधिक स्पष्ट नहीं थे। वह ध्वनि पदार्थ और वाक्यार्थ-का बोध करानेमें समर्थ नहीं थी। किसी नारीके कण्ठसे निकली हुई वाणीके समान उसमें स्वाभाविक कोमलता और मधुरता थी, स्वरमें काफी लोच था, उच्चस्वरसे उच्चारित न होनेके कारण उस ध्वनिमें गम्भीरता (दूरसे सुनायी देनेकी योग्यता) नहीं थी। इस प्रकार उसके विषयमें मैंने कुछ कालतक तर्क-वितर्क किया, वह आवाज ऐसी लगती थी, मानो भ्रमरोंका गुंजारव हो रहा हो, तन्त्रीके तार झंकृत होने लगे हों। वह न तो किसी बालकका रोदन था और न द्विजबालकके वेदाध्ययनका स्वर ही। कमलकोषमें गुंजारव करनेवाले भ्रमरकी ध्वनि-से वह आवाज मिलती-जुलती थी। उस शब्दको सुन-कर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। मैं दसों दिशाओंमें दृष्टि फैलाकर वह शब्द करनेवाले प्राणियोंका अन्वेषण करने लगा। उस समय वहाँ मेरे हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ—'अहो! आकाशका यह भाग लाखों योजनकी दूरी लाँघकर बहुत ऊँचाईपर स्थित है। जिन मार्गोंसे सिद्ध पुरुष ही विचरण करते हैं, उनसे भी शून्य यह प्रदेश है। इसलिये इस एकान्त स्थानमें ऐसे शब्दकी उत्पत्ति कहाँसे हो रही है? मैं यत्नपूर्वक दृष्टिपात करने-पर भी शब्द करनेवालेको नहीं देख रहा हूँ। मेरे सामने यह जो अनन्त निर्मल आकाश है, सब ओरसे सूना-ही-सूना दीख रहा है। प्रयत्नपूर्वक देखनेपर भी यहाँ मुझे कोई प्राणी नहीं दीखता है। अच्छा तो मैं अपने इस देहाकाशको ध्यानके द्वारा यहीं ज्यों-का-त्यों स्थापित करके चेतनाकाशस्वरूप होकर अव्याकृत आकाशके

साथ उसी तरह एक हो जाता हूँ, जैसे जलबिंदु साधारण जलके साथ मिलकर एकरूप बन जाता है।' यों सोचकर मैं इस शरीरका त्याग करनेके लिये पद्मासनसे बैठ गया और समाधि लगानेके लिये मैंने पुनः अपनी आँखें बंद कर लीं। तदनन्तर इन्द्रिय-सम्बन्धी बाह्य विषयोंका तथा आन्तरिक विषयोंका भी स्पर्श त्याग-कर मैं एकमात्र संकल्परूप चित्ताकाश बन गया। इसके बाद क्रमशः उस चित्ताकाशको भी त्यागकर मैं बुद्धितत्त्वके स्थानमें पहुँच गया। फिर उसे भी छोड़कर चेतनाकाशमय अपने वास्तविक स्वरूपमें पहुँच गया।

फिर तो चैतन्यमय महाकाशके साथ एक होकर मैं असीम और सर्वव्यापी बन गया। निराकार और निराधार रहकर समस्त पदार्थोंका आधार बन गया। तब वहाँ मुझे झुंड-के-झुंड त्रैलोक्य, सैकड़ों संसार तथा लाखों या असंख्य ब्रह्माण्ड दिखायी देने लगे। वे सब ब्रह्माण्ड मायामय निर्मल आकाशमात्र रूपवाले थे। अतः वे परस्पर एक दूसरेकी दृष्टिमें नहीं आते थे। वे नाना प्रकारके आचार-विचारोंसे सम्पन्न थे; परंतु एक दूसरेके लिये शून्यरूप ही थे। परम चेतन आकाशके कोषमें स्थित हुए वे सब लोक शून्यतारूप ही थे, सत्य नहीं थे। कबसे उनकी सृष्टि हुई थी, यह किसीको ज्ञात नहीं था। वे सब-के-सब अज्ञानरूप दोषसे युक्त चिन्मय परमात्मामें अनादिकालसे ही कल्पित थे। चैतन्यके चमत्कारसे चमत्कृत चेतनाकाशमें सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश तथा मेरु आदि पर्वतोंसे युक्त स्वप्नके समान वे लोक भासित होते थे तथा रजोगुण और तमोगुणसे कलुषित जान पड़ते थे। वास्तवमें कारणोंका ज्ञान न होनेसे कारणरहित पृथ्वी आदिका अनुभव तो भ्रममात्र ही था। अतः ब्रह्मरूप अधिष्ठानकी सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान थे। उस अधिष्ठान सत्ताको न लेकर तो वे स्वरूपतः विद्यमान नहीं ही थे। मृगतृष्णाके जल-प्रवाह तथा आकाशकी नीलिमाके समान वे केवल भ्रमरूप अनुभवसे ही उत्पन्न हुए थे। अतः स्वरूपतः सत्य नहीं थे। परंतु सत्यरूप अधिष्ठानकी सत्तासे सत्य जान पड़ते थे। परब्रह्मरूपी गूलरके वृक्षमें भोग आदि विचित्र रसोंसे परिपूर्ण ब्रह्माण्डरूपी फल लगे थे, जो हवाके झोंकोंसे झूम रहे थे। देवता, असुर और मनुष्य आदि प्राणी उन फलोंके भीतर जन्तुओंके समान प्रतीत होते थे। तुम, मैं और यह आदि अभिमानपूर्ण बुद्धिके द्वारा अत्यन्त दृढ़ बनाये गये वे सब लोक गीली मिट्टीके बने हुए उन खिलौनोंके समान जान पड़ते थे, जो सूर्यकी किरणोंसे सूखकर कड़े हो गये हों।

वास्तवमें वे जगत् परमार्थ चैतन्यरूप ही थे, तथापि उससे भिन्नके समान प्रतीत होते थे। अप्राप्त होकर भी प्राप्त-से जान पड़ते थे तथा सदा असत् होकर भी सद्रूप-से भासित होते थे। परमात्मारूपी सूर्यके तेजके भीतर वे केवल आभासरूप थे और वायुके स्पन्दनकी भाँति स्वतः उत्पन्न हुए थे। श्रीराम! उस समाधिकालमें मैंने अनन्त चेतनाकाशके भीतर अकारण ही उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाले बहुत-से लोक देखे, जो तिमिर रोग (रतौंधी) से युक्त आँखोंवाले पुरुषके द्वारा देखे गये भ्रममात्र ही सिद्ध होते थे। (सर्ग ५९)

श्रीवसिष्ठजीका समाधिकालमें अपनी स्तुति करनेवाली स्त्रीका अवलोकन और उसकी उपेक्षा करके अनेक विचित्र जगत्का दर्शन करना तथा महाप्रलयके समय सब जीवोंके प्रकृतिमें लीन हो जानेपर पुनः किसको सृष्टिका ज्ञान होता है, श्रीरामके इस प्रश्नका उत्तर देना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर उपर्युक्त रूपसे पूर्वोक्त शब्दके कारणका विचार करता हुआ मैं आवरणरहित चेतनाकाशमें बहुत दिनोंतक इधर-उधर भ्रमण करता रहा। इतनेमें [illegible]

ध्वनिके समान वह शब्द मेरे कानोंमें पड़ा। क्रमशः उसके पद स्पष्ट होने लगे। फिर मुझे यह मालूम हुआ कि किसी-के द्वारा आर्या छन्दका पद गाया जा रहा है। फिर जहाँसे वह शब्द प्रकट हो रहा था उस स्थानपर दृष्टि पड़ी। वहाँ मुझे एक स्त्री दिखायी दी, जो दूर नहीं थी। वह सुवर्ण-द्रवके समान गौरकान्तिसे आकाशमण्डलको प्रकाशित कर रही थी। उसके गलेके हार तथा शरीरके वस्त्र कुछ-कुछ हिल रहे थे। उसके नेत्रप्रान्त अलकावलियोंसे किंचित् आवृत हो रहे थे। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो दूसरी लक्ष्मी आ गयी हो। उसका मुखमण्डल पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर था। वह जब हँसती थी, तब फूलोंके ढेर-से झरते जान पड़ते थे। आकाशका कोश ही उसके रहनेका घर था। उसका सौन्दर्य चन्द्रमाकी किरणोंको लज्जित कर रहा था। वह ऐसी जान पड़ती थी मानो मोतियोंके समूहसे उसका निर्माण हुआ हो। वह कमनीय कान्ति-मती नारी मेरा अनुसरण करनेके लिये उद्यत जान पड़ती



थी। मेरे पास खड़ी हो मधुर मुस्कान और उत्तम भाव-विन्यास-से सुशोभित वह मनोहारिणी स्त्री मधुर स्वरसे कोमल वाणीमें इस आर्या छन्दका पाठ करने लगी;—

असदुचितरिक्तचेतन-
संसृतिसरिति प्रमुह्यमानानाम्।
अवलम्बनतटविटपिन-
मभिनौमि भवन्तमेव मुने॥

'मुने! आपका अन्तःकरण उन राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंसे सर्वथा शून्य है, जो असत्पुरुषों-के ही हृदयमें रहने योग्य हैं। आप संसार-सरितामें डूबकर मोहित होनेवाले प्राणियोंके आश्रयभूत तटवर्ती वृक्ष हैं; अतः मै सब ओरसे आपकी ही स्तुति करती हूँ।'

श्रीराम! यह सुनकर मैने उस मनोहर मुख एवं मधुर स्वरवाली स्त्रीकी ओर देखा और यह सोचकर कि 'यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन है?' उसकी अव-हेलना करके मै आगे बढ़ गया। तदनन्तर लोकसमूहोंसे युक्त माया दिखायी दी, उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। फिर उसका भी अनादर करके मै आकाशमें विचरण करनेको उद्यत हुआ। इसके बाद मैने आकाशमें स्थित हुई जगन्मायाका निरीक्षण करनेके लिये चिन्मया-काशरूपसे ज्यों ही चेष्टा की, त्यों ही वे सारे-के-सारे उग्र जगत् उसी तरह शून्यरूप हो गये जैसे स्वप्न, संकल्प (मनोराज्य) तथा कहानीमें वर्णित जगत् शून्यरूप होते हैं। इस प्रकार बताये गये वे सभी लोक होनेवाले प्रलयकालके दृश्यको वैसे ही नहीं जान पाते हैं, जैसे एक ही घरमें सोये हुए अनेक पुरुष एक दूसरेके स्वप्नमें होनेवाले रण-कोलाहलको नहीं सुनते हैं। श्रीराम! चेतन-में ही सब कुछ है, चेतनसे ही सब कुछ है, चेतन ही सब कुछ है और चारो ओरसे चेतन-ही-चेतन है। सारी सत्ता चिन्मय तथा सद्रूप ही है। यही मैने वहाँ पूर्णरूपसे देखा।* यह जो दृश्योंका दर्शन होता है, वह भ्रममात्र

* चिति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित्।
चित्सत्सर्वात्मिकेत्येतद् दृष्टं तत्र मयाखिलम्॥
(नि० प्र० उ० ६० । २३)

है । आकाशमें प्रतीत होनेवाले वृक्षकी मञ्जरी है । सब कुछ चेतनाकाशका स्वरूप ही है । इस बातका मुझे वहाँ अनुभव हुआ । समष्टि बुद्धिरूप आकाशके साथ एकरूप होकर व्यापक, अनन्त एवं बोधस्वरूप हुए मैंने इसका अनुभव किया । सम्पूर्ण जगत्का यह मायाजाल ब्रह्माकाशरूप ही है, दसों दिशाएँ ब्रह्माकाश ही हैं तथा कला, काल, देश, द्रव्य और क्रिया आदि भी ब्रह्माकाशरूप ही हैं । जो सब प्रकारके नाम और रूपसे रहित, पाषाणकी प्रतिमाके समान मौन और ज्योति-स्वरूप है, वही परब्रह्म परमात्मा यत्किंचित् नाम-रूपात्मक होकर जगत् कहलाता है । वहाँ समाधि-कालमें ऐसे लाखों जगत् भी अनुभवमें आये थे, जिनमें चन्द्रमण्डल भी उष्ण थे और सूर्य भी शीतलताकी मूर्ति जान पड़ते थे । श्रीराम ! कोई जगत् गिर रहे थे, कितने ही आकाशमें उड़ रहे थे और बहुतेरे सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रान्तिपूर्ण पदोंमें प्रतिष्ठित थे । इस तरह चैतन्य समुद्रके चञ्चल बुद्बुदोंके रूपमें दिखायी देनेवाले उन असंख्य लोकोंमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो मैंने न देखी हो ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! महाकल्पके विनाशकालमें जब समस्त भूतोका समुदाय मूलप्रकृतिमें विलीन हो जाता है, तब पुनः किसको किस तरह सृष्टिका ज्ञान होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र ! महाप्रलय-कालमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थोंका विनाश हो जानेपर ब्रह्मासे लेकर स्थावरतकके सभी जीव-जगत् जब मूलप्रकृतिमें विलीन हो जाते है, तब पुनः जिस प्रकार इस जगत्का अनुभव होता है, यह बताता हूँ, सुनो । महाप्रलयके पश्चात् जो ब्रह्म शेष रहता है, वह शब्दादि व्यवहारसे वर्णन करने योग्य नहीं होता । उसे मुनिजन परमार्थ चैतन्यघन कहते हैं । यह जगत् उसका हृदय है । अतः उससे भिन्न नहीं है । वही परमात्मदेव यह संकल्प करता है कि जगत् मेरा अपना स्वभाव और हृदय है । [illegible] वह जगत्की सत्ता नहीं मानता है । इस प्रकार जब हम विचार करते हैं, तब जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं रहती है । फिर क्या नष्ट होता है और क्या उत्पन्न । जैसे परम कारण परमात्मा अविनाशी है, वैसे ही उसका हृदय भी । महाकल्प आदि भी उसके अवयव ही हैं । अतः वे भी परमात्मासे भिन्न नहीं हैं । केवल अज्ञान ही यहाँ जगत् और परमात्मामें भेदकी प्रतीति कराता है, परंतु विचारपूर्वक देखा जाय तो उस अज्ञानका भी यहाँ पता नहीं लगता है । अतः एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सदा और सर्वत्र विराजमान है । जगत्, उसकी उत्पत्ति तथा विनाश सर्वथा मिथ्या कल्पना हैं । इसलिये कभी कहीं किसीका कुछ भी न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है । यह जो दृश्य जगत् है, वह सब शान्त, अजन्मा, ब्रह्मरूपसे ही स्थित है । यह अनादि जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ है । यहाँ इस जगत्के रूपमें केवल ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है । इस प्रकार विचारदृष्टिसे देखनेपर अष्ट सिद्धियोंसे युक्त ऐश्वर्य भी तृणके समान निःसार ही सिद्ध होता है । ऐसा जानने-वाला अधिकारी पुरुष अपनेमें स्वभावतः निश्चल रहके अपने आत्मामें ही पूर्ण संतुष्ट रहता है । (सर्ग ६०-६१)

वसिष्ठजीके द्वारा चिदाकाशरूपसे देखे गये जगतोंकी अपनेसे अभिन्नताका कथन, आकाशगत [illegible] स्त्रीके कार्य तथा सम्भाषण आदिके विषयमें श्रीरामके प्रश्न और वसिष्ठजीके उत्तरका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! उस समय आपने पक्षियोंकी भाँति आकाशमें उड़ते हुए जो जगत्-समूहका अवलोकन किया था, वह जगत् कैसे स्थित [illegible] था या सम्पूर्ण चिदाकाशमात्र [illegible] ?

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन ! उस समय तो मैं सर्वव्यापी, अनन्तात्मा चिन्मयाकाशरूप हो गया था, उस अवस्थामें मेरा कहीं आना-जाना कैसे सम्भव हो सकता था ? न तो एक स्थानपर खड़े हुए पुरुषकी भाँति ही स्थित था और न गतिशील ही था, इस प्रकार परमात्म-स्वरूप चिदाकाशमें ही रहकर मैने अपने इस व्यापक शरीरके द्वारा यह सारा जगत्समूह देखा था। जैसे शरीरा-भिमानीके रूपमें स्थित होनेपर मै पैरसे लेकर मस्तकतक-के अपने सभी अङ्गोंको देखता हूँ, उसी प्रकार मैंने इन चर्मचक्षुओंके बिना भी चिन्मय नेत्रसे सारे जगत्समुदाय-का अवलोकन किया था। इस विषयमें तुम्हारे लिये प्रमाण है, सपनेमें देखा हुआ संसार-विभ्रम; क्योंकि स्वप्नमें जो दृश्य अनुभूत होता है, वह चेतनाकाशरूप ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ नहीं है । जैसे वृक्ष अपने पत्र, पुष्प और फल आदिको देखता है, वैसे ही मैंने भी अपने ज्ञानरूपी नेत्रसे सारे जगत्को देखा था । जैसे अवयवी अपने अवयवोंको अपनेमें ही अभिन्नरूपसे देखता है, उसी प्रकार मैंने इन समस्त सर्गोंको अपनेसे अभिन्न ही देखा और समझा था । श्रीराम ! बोधस्वरूप परमात्माके साथ एकताको प्राप्त हुआ मैं आज इस समय भी उन विविध सर्गोंको शरीर, आकाश, पर्वत, जल और स्थलको भी उसी तरह देख रहा हूँ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! कमलनयन ! आप जब इस प्रकार अनुभव कर रहे थे, तब आर्याछन्दका पाठ करने-वाली उस कान्तिमती नारीने क्या किया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वह भी चिन्मयाकाशरूप-से ही आकाशमें मेरे समीप विनयपूर्वक खड़ी थी और उसी आर्याछन्दका पाठ कर रही थी। उस समय वह देवाङ्गना-सी जान पड़ती थी। जैसे मेरा शरीर चिन्मयाकाशमय था, उसी प्रकार उसका भी था । मैंने उस पूर्वशरीरसे वैसी ललना कभी नहीं देखी थी । मेरा शरीर चेतन-आकाश-मात्र था, वह भी चेतनाकाशमय रूप धारण किये हुए थी और सारा जगज्जाल भी उस समय वहाँ चिन्मयाकाशरूप-से ही स्थित था ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! शरीरमें स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणोंके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुए वर्णोंद्वारा जो वाक्य सम्पन्न होता है, वह आकाश-शरीरधारिणी उस स्त्रीके मुखसे कैसे प्रकट हुआ ? विशुद्ध चेतनाकाशरूप आत्माओंको रूपका दर्शन और आभ्यन्तर मनका अनुभव होना कैसे सम्भव है ? उस समय आपने जो जगत्के दर्शन और सम्भाषण आदि व्यवहार किये थे, उनकी सङ्गति कैसे लगती है ? आप इस विषयमें अपना यथार्थ निश्चय बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जैसे स्वप्नमें चिन्मयाकाश आत्मा ही बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थोंके रूपसे प्रकट होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकालमें भी यह सारा दृश्य प्रपञ्च चिन्मयाकाशरूपसे ही स्थित था। केवल वही दृश्य चिन्मयाकाशरूप रहा हो, ऐसी बात नहीं है, किंतु ये जितने पदार्थ हमलोगोंकी बुद्धिके विषय हैं, ये सब-के-सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिन्मयाकाशरूप ही है । हमारे लिये जैसा वह था, वैसा ही सारा जगत् है । जैसे स्वप्नमें पृथ्वीपर खेती आदिके रास्तोंपर आने-जाने-के तथा पर्वत-प्रासाद आदिके ऊपर शयन आदिके जो व्यवहार होते हैं, वे सब चिदाकाशरूप ही हैं, उसी तरह उस समय 'मैं,' 'तुम', 'वह स्त्री' तथा 'वह' और 'यह' सब कुछ चिदाकाशरूप ही था । रघुनन्दन ! तदनन्तर जैसे स्वप्नमें स्वप्नगत मनुष्योंके साथ व्यवहारकार्य चलता है, उस समय उस स्त्रीके साथ मेरा वार्तालाप-व्यवहार भी उसी तरह आरम्भ हुआ । जैसे वह स्वप्न-सदृश व्यवहार चिदाकाशरूप ही था, उसी प्रकार तुम मुझको, इस आत्माको तथा जगत्को भी चिदाकाशरूप ही समझो ।

(सर्ग ६२)

स्वप्नजगत्की भी ब्रह्मरूपता एवं सत्यताका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुने ! मुख, जीभ आदि अवयवोंसे रहित एकमात्र संकल्परूप देहसे आपका उस स्त्रीके साथ सम्भाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशामें आपने क च ट त प आदि वर्णोंका कैसे उच्चारण किया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! चिदाकाशस्वरूप तत्त्वज्ञानियोंके संकल्पमय देहवाले मुखसे क च ट त प आदि वर्णोंका किसी कालमें भी वैसे ही उच्चारण नहीं होता, जैसे मृतकोंके मुखसे कोई अक्षर नहीं निकलता है। (स्वप्नकी भाँति ही वहाँ भी हुआ ।)

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! जब यह जगत् स्वप्नरूप ही है, तब जाग्रत्-रूपसे कैसे स्थित है ? तथा असत्य होकर ही यह सत्य-सा कैसे हो गया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! यह सब जगत् कैसे स्वप्नमय ही है, यह सुनो—स्वप्नके समान ही ये जगत् न तो आत्मासे भिन्नरूप हैं, न आत्माके समान सत्यरूप हैं और न स्थिर ही हैं। ये सब-के-सब एकमात्र अनिर्वचनीय आत्मसत्तासे स्थित हैं। वे सब जगत् एक-दूसरेको किंचिन्मात्र भी नहीं देख पाते तथा कोठीके भीतर रखे गये जड बीजोंकी एक राशिकी तरह भीतर-ही-भीतर सड़-गलकर नष्ट भी हो जाते हैं। नष्ट होकर भी वे चेतन-रूप ही रहते हैं, सर्वथा शून्य नहीं हो जाते। वे आपसमें एक-दूसरेको नहीं जानते। अज्ञानसे उनका चेतना-रूप ढक जानेके कारण निरन्तर सोये हुएके सदृश स्वप्नका अनुभव करते हैं। सोये हुए स्वप्नरूप जगज्जालकी व्यवस्थाके अनुसार व्यवहार करनेवाले जो राक्षस स्वप्नमें स्वप्नगत देवताओंद्वारा मारे गये, वे अब भी उसी स्वप्नमें स्थित हैं। श्रीराम ! बताओ तो सही, इस तरह जो स्वप्नमें मारे गये, वे क्या करते हैं ? अज्ञानके कारण मुक्त नहीं हुए तथा चेतन होनेके कारण पत्थरके सदृश भी स्थित न रहे। वे लोग पर्वत, सागर, पृथ्वी तथा अनेक जीव-जन्तुओंसे भरे इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको चिरकाल-तक उसी तरह अनुभव करते हैं जैसे हमलोग (इसीलिये उनका अपना-अपना स्वप्न चिरकालकी अनुवृत्तिसे हमलोगोंके अनुभवकी तरह जाग्रदवस्थारूप ही हो जाता है।) उनके कल्प और जगत्की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी हमलोगोंकी है और हमलोगोंके जगत्की स्थिति भी वैसी ही है जैसी उन लोगोंकी है। उनके स्वप्नके वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुषके भी अनुभवसे सत्य ही हैं; क्योंकि अपनी तथा दूसरेकी सत्ताका निमित्तभूत जो अधिष्ठानस्वरूप चेतन है, वह सर्वव्यापी होनेके कारण सत्य एवं सम है। जैसे आत्मामें वे स्वप्नके पुरुष सत्य हैं, वैसे ही दूसरे पुरुष भी, जिनका प्रत्येक स्वप्नमें मुझे अनुभव होता है, वे सत्य ही हैं। तुमने अपने स्वप्नमें जो अनेक नगर तथा नागरिक देखे थे, वे सब वैसे ही अब भी स्थित हैं; क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वस्वरूप है। भीतमें, आकाशमें, पाषाणमें, जलमें और स्थलमें सर्वत्र भिन्न-भिन्न पदार्थोंके अंदर चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है। वही सम्पूर्ण विश्वरूपसे स्थित है; अतः चिन्मात्र परमात्माके सर्वव्यापी होनेसे जहाँ तहाँ सर्वत्र ही जगत् हैं। इनकी संख्या यहाँ कैसे बतलायी जा सकती है ? तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह सारा जगत् परब्रह्म ही है; परंतु अज्ञानियोंके मनमें दृश्य-प्रपञ्चरूपसे स्थित है।

(सर्ग ६३)



श्रीवसिष्ठजीके पूछनेपर विद्याधरीके द्वारा अपने जीवन-वृत्तान्तका वर्णन, अपनी युवावस्थाके व्यर्थ बीतनेका उल्लेख

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तदनन्तर मैंने उस सुन्दरी ललनासे, जिसके नेत्र नील कमल-से विलसित, खिले हुए मालती-पुष्पके समान शोभा पाते थे, उसकी ओर देखकर कौतुकपूर्वक पूछा—'कमलपुष्पके भीतरी भाग—केसरकी-सी सुनहरी कान्तिवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो ? मेरे पास किसलिये आयी हो ? किसकी पुत्री या पत्नी हो ? क्या चाहती हो ? कहाँ गयी थी ? और कहाँकी रहनेवाली हो ?'



विद्याधरीने कहा—मुने ! मै अपना वृत्तान्त ठीक-ठीक बतला रही हूँ, सुनिये । यद्यपि परायी स्त्रीके साथ एकान्तमें वार्तालाप करना उचित नहीं है तथापि मैं बड़े कष्टमें हूँ और संकटसे छुटकारा पानेके हेतु प्रार्थना करनेके लिये आयी हूँ; अतः आप करुणावश मुझसे बिना किसी हिचकके मेरा समाचार पूछ सकते हैं। महर्षे ! परमोत्कृष्ट चिन्मय आकाशके किसी छोटे-से कोनेमें आपका यह आश्रमरूपी विलक्षण संसार बसा हुआ है । इसमें पाताल, भूतल और स्वर्ग—ये तीन प्रकोष्ठ (बड़े-बड़े आँगन) हैं । वहाँ हिरण्यगर्भ ब्रह्माके आकारमें स्थित हुई मायाने कल्पना नामक एक कुमारी-(गृह-स्वामिनी) का निर्माण किया है । इन तीनोंमें जो भूतल है, वह कंगनकी-सी आकृतिवाले द्वीपों और समुद्रोंसे घिरा हुआ है; अतः उनके रंगोंसे अनुरञ्जित हो ताम्रवर्णका दिखायी देता है; साथ ही कुछ ऊँचा भी है । इस प्रकार यह भूतल उपर्युक्त कंगनसे विभूषित जगल्लक्ष्मीकी कलाईके समान जान पड़ता है । द्वीपों और समुद्रोंके अन्तमें चारों ओरसे दस हजार योजनोंतक सुवर्णमयी भूमि स्थित है । उसके अन्तिम छोरपर लोकालोक नामसे विख्यात पर्वत है, जो जगल्लक्ष्मीकी ऊँची कलाईके समान शोभा पानेवाले इस भूपीठको कंगनके समान चारों ओरसे घेरे हुए है । उस लोकालोक पर्वतके शिखरोंपर रत्नमयी बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, जो आकाशके समान निर्मल हैं । उन शिलाओंके बीचमें लोकालोक पर्वतके उत्तर भागमें उसके पूर्ववर्ती शिखरकी जो एक शिला है, उसके भीतर मै निवास करती हूँ । उस शिलाका त्वचा-भाग कभी क्षीण न होनेवाले वज्रसार मणिके समान कठोर है । विधाताने मुझे वहाँ बाँध रखा है और इस प्रकार विवश होकर मै उस प्रस्तर-यन्त्रमें वास कर रही हूँ । मुने ! मै समझती हूँ कि उस शिलामें रहते हुए मेरे असंख्य युग बीत गये । केवल मैं ही नहीं बँधी हूँ, मेरे पतिदेव भी उसके भीतर वैसे

ही बँधे हैं, जैसे सायंकालिक कमलकोशमें भ्रमर बँध जाता है। उस शिलाके कोटरमें, उसके संकीर्ण स्थानमें पतिके साथ रहकर मैंने दीर्घकालतक सुख-दुःखका अनुभव किया है और इस अनुभवमें मेरे असंख्य वर्ष-समूह बीत गये हैं; किंतु अभीतक हम दोनों अपने एकमात्र दोष (कामना) के कारण मोक्ष नहीं पा रहे हैं। उसी तरह परस्पर ममता बाँधे हम दीर्घकालसे वहीं रहते हैं।

मुनीश्वर ! उस पाषाणके संकटमें केवल हमीं दोनों नहीं बँधे हैं, हमारा सारा परिवार भी वहीं बँधा पड़ा है। उसमें बँधे हुए मेरे पति ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए हैं और प्राचीन कालके वृद्ध पुरुष हैं। यद्यपि वे सैकड़ों वर्षोंसे जी रहे हैं तथापि एक स्थानसे दूसरे स्थानतक चल नहीं सकते। वे बचपनसे ही ब्रह्मचारी हैं। वेदाध्ययनमें तत्पर रहते और छात्रोंको पढ़ाते हैं, किंतु आलसी हैं। एकान्त स्थानमें अकेले ही बैठे रहते हैं। उनके बर्तावमें कुटिलता नहीं है। वे चपलतासे कोसों दूर रहते हैं। वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! मै उन्हींकी भार्या हूँ; किंतु मुझमे एक व्यसन है। मै उन पतिदेवके बिना पलभर भी देह धारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ। ब्रह्मन् ! मेरे पतिने मुझे पत्नीरूपमें किस प्रकार प्राप्त किया और हम दोनोंका यह स्वाभाविक स्नेह परस्पर किस प्रकार बढ़ा, यह बताती हूँ, सुनिये।

पहलेकी बात है, मेरे पतिने जन्मके पश्चात् बाल्यावस्थामें ही किंचित् ज्ञान प्राप्त कर लिया और एक सत्पुरुषकी भाँति अपने निर्मल गृहमें वे रहने लगे। उन दिनों उन्होने विचार किया कि मै वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाला ब्राह्मण हूँ। मुझे अपने ही अनुरूप ऐसी भार्या कहाँसे प्राप्त हो सकती है, जो उत्तम जन्मके कारण शोभा पा रही हो ? इस प्रकार चिरकालतक चिन्तन करके उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और स्वयं ही मेरे नायने अनिन्द्य सौन्दर्यसे युक्त अङ्गवाली मुझ नारीको मानसिक संकल्पसे प्रकट किया। मानो चन्द्रदेवने निर्मल चाँदनी प्रकट की हो। मनसे उत्पन्न होनेके कारण मैं उनकी मानसी भार्या हुई और जैसे वसंत ऋतुमें मन्दार वृक्षकी उत्तम एवं सुन्दरी मञ्जरी बढ़ती है, उसी प्रकार मैं भी बढ़ने लगी। मैं निरन्तर लीला-विलासमें ही निरत रहने लगी। मेरे नेत्र लीला-पूर्ण तिरछी चितवनसे देखने लगे। मुझे सदा गाना-बजाना ही प्रिय लगने लगा। भोगोसे कभी मुझे तृप्ति नहीं होती थी। मेरा दिनोदिन भोगोमें अनुराग बढ़ता गया। आदरणीय महर्षे ! मेरे पतिदेव दीर्घसूत्री और स्वाध्यायशील होनेके कारण तपस्यामें ही लगे रहे। उन्होंने किसी तरहकी भी अपेक्षा मनमें लेकर मेरे साथ अबतक विवाह नहीं किया। इसलिये यौवनसम्पन्न तरुणी स्त्री मै उन्हें प्राप्त न कर सकनेके कारण व्यसनकी आगसे उसी प्रकार जलने लगी, जैसे कोई कमलिनी आगसे झुलस रही हो। फूलोंकी वर्षासे हरी-भरी सारी उद्यान-भूमियाँ मेरे लिये तपी हुई बालुकाराशिसे आच्छादित सूनी मरुभूमियोंकी भाँति दाहक प्रतीत होने लगीं। जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु और मनोहर हैं, उन्हें देखकर मेरी ये आँखें आँसुओंसे भर आतीं। मै रमणीय स्थानमें रोती। जो स्थान न रम्य है न अरम्य—मध्यम कोटिका है, वहाँ मै सौम्य हो जाती और जो असुन्दर स्थान है वहाँ मैं प्रसन्न रहती। न जाने मुझ दीना नारीकी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी ? भगवन् ! इस प्रकार मेरे नवीन यौवनके बहुत-से दिन व्यर्थ बीत गये।

(सर्ग ६४)

विद्याधरीका वैराग्य और अपने तथा पतिके लिये तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके हेतु उसकी वसिष्ठ मुनिसे प्रार्थना

विद्याधरी बोली—मुने! तदनन्तर जैसे शरत्काल बीतनेपर रसहीन हुए पल्लवोंकी लाली मिट जाती है, उसी प्रकार दीर्घकालके पश्चात् मेरा वह अनुराग विरागके रूपमें परिणत हो गया। मैं सोचने लगी—'मेरा स्वामी बूढ़ा होनेके कारण एकान्तवासका रसिक, नीरस और स्नेहशून्य हो गया। यद्यपि उसकी बुद्धिमें कुटिलता नहीं है, तो भी वह मेरी ओरसे सदा मौन ही रहता है; अतः मै समझती हूँ कि मेरे जीवनका कोई फल नहीं है, इसलिये अब इसे रखनेसे क्या लाभ। बचपनसे ही विधवा हो जाना अच्छा है, मर जाना भी अच्छा है अथवा रोगोंका आक्रमण तथा दूसरी-दूसरी विपत्तियोंका टूट पड़ना भी अच्छा है; परंतु जिसका स्वभाव मनके अनुकूल न हो, ऐसे पतिका मिलना अच्छा नहीं। उसी स्त्रीका जीवन सफल है, जिसका पति सदा उसके अनुकूल चलता हो; वही धन-सम्पत्ति सार्थक है, जिसका साधु-पुरुष उपयोग करते हैं तथा वही बुद्धि, वही साधुता और वही समदर्शिता उत्तम है, जो मधुर एवं उदार है। यदि पति और पत्नी एक-दूसरेके प्रति पूर्ण अनुराग रखते हो तो उनके मनको आधि-व्याधियाँ, विपत्ति-समूह तथा दुर्भिक्ष लानेवाले उपद्रव भी कष्ट नहीं पहुँचा सकते। जिन स्त्रियोंके पति प्रतिकूल स्वभाववाले हों अथवा जो स्त्रियाँ विधवा हो गयी हों, उनके लिये फूलोंसे भरी हुई पुष्प-वाटिकाएँ तथा नन्दनवनकी भूमियाँ भी मरुभूमिके समान दुःखद हो जाती हैं। संसारके सारे पदार्थ स्त्रियोंद्वारा स्वेच्छानुसार त्याग दिये जाते हैं, परंतु वे किसी भी दशामें पतिको नहीं त्याग सकतीं।

मुनीश्वर! अब मेरा वह पतिविषयक अनुराग वैसे ही विरागरूपमें परिणत हो गया है, जैसे पालेकी मारी या जलायी कमलिनीका राग क्रमशः नीरस हो जाता है। मुने! अब मुझे समस्त पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो गया है, इसलिये मैं इस समय आपके उपदेशसे अपनी मुक्ति चाहती हूँ। जिन्हें मनोवाञ्छित वस्तुओंकी प्राप्ति नहीं हुई, जिनकी बुद्धि परमात्मपदमें विश्राम न पा सकी तथा जो मरणतुल्य दुःखोंके प्रवाहमें बहे जा रहे हैं, ऐसे लोगोंके लिये जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है। मेरे पतिदेव भी अब मोक्ष पानेके लिये ही दिन-रात चेष्टा करते रहते हैं। जैसे राजा किसी राजाकी सहायतासे दूसरे राजापर विजय पानेके लिये सचेष्ट होता है, इसी प्रकार मेरे पति भी मनके द्वारा ही मनको जीतनेके प्रयत्नमें सावधानीके साथ लगे हुए हैं। ब्रह्मन्! आप मेरे उन पतिका और मेरा भी अज्ञान दूर करनेके लिये न्याययुक्त वाणीद्वारा उपदेश देकर आत्मतत्त्वका ज्ञान कराइये। जब मेरे पति मेरी उपेक्षा करके ही परमात्म-तत्त्वके चिन्तनमें लग गये, तब वैराग्यने मेरे लिये ससारकी स्थितिमें नीरसता पैदा कर दी।

मै संसारकी वासनाके आवेशसे शून्य हूँ, इसलिये आकाशमें विचरनेकी शक्तिरूप सिद्धि प्रदान करनेवाली खेचरी मुद्रानामक तीव्र एवं अभीष्ट धारणाको बाँधकर सुस्थिरचित्त हो गयी हूँ। उक्त धारणाके द्वारा आकाशमें विचरनेकी शक्ति पाकर मैने पुनः दूसरी धारणाका अभ्यास किया, जो सिद्ध पुरुषोंका सङ्ग एवं उनके साथ सम्भाषणरूप फल देनेवाली है। (इसीलिये आज यहाँ आकर आपके साथ वार्तालाप करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकी।) तत्पश्चात् मै अपने निवासभूत ब्रह्माण्डके

पूर्वापर भागघटित (नीचे-ऊपरके सम्पूर्ण) आकारको भलीभाँति देखनेकी इच्छासे तदाकार भावनामयी धारणा बाँधकर स्थित हुई। वह धारणा भी मेरे लिये सिद्ध हो गयी। फिर मैं अपने उस ब्रह्माण्डके अंदरकी सभी वस्तुओंको देखकर जब बाहर निकली, तब वह लोकालोक पर्वतकी स्थूल शिला मुझे दिखायी दी। मेरे पतिदेव केवल शुद्ध वेदार्थके एकान्तचिन्तनमें ही लगे रहते हैं। उनकी सारी एषणाएँ दूर हो चुकी हैं। वे न तो किसीका आना जानते हैं न जाना—उन्हें न तो भूतकालका पता रहता है, न वर्तमान और भविष्यका ही। अहो! उनकी कैसी अद्भुत स्थिति है? परन्तु वे मेरे पति विद्वान् होते हुए भी अबतक परमपदको प्राप्त न कर सके। अब वे और मैं दोनों ही परमपदको पानेकी इच्छा रखते हैं। ब्रह्मन्! आपको हमारी यह प्रार्थना सफल करनी चाहिये; क्योंकि महापुरुषोंके पास आये हुए कोई भी याचक कभी विफलमनोरथ नहीं होते। दूसरोंको मान देनेवाले महर्षे! मैं आकाशमण्डलमें सिद्ध-समूहोंके बीच सदा घूमती रहती हूँ; परंतु यहाँ आपके सिवा दूसरे किसी ऐसे महात्माको नहीं देखती जो अज्ञानके गहन वनको दग्ध करनेके लिये दावानलके तुल्य हो। ब्रह्मन्! करुणासागर! संत-महात्मा अकारण ही प्रार्थीजनोंकी मनोवाञ्छा पूर्ण किया करते हैं, इसलिये आपकी शरणमें आयी हुई मुझ अबलाका आप तिरस्कार न करें। तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर मुझे और मेरे पतिको कृतार्थ करें। (सर्ग ६५)

श्रीवसिष्ठजीका विद्याधरीके साथ लोकालोकपर्वतपर पाषाणशिलाके पास पहुँचना, उस शिलामें उन्हें विद्याधरीकी बतायी हुई सृष्टिका दर्शन न होना, विद्याधरीका इसमें उनके अभ्यासाभावको कारण बताकर अभ्यासकी महिमाका वर्णन करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! ब्रह्माण्डके पूर्ववर्णित ऊर्ध्व आकाशमें संकल्पद्वारा कल्पित आसनपर बैठे हुए मैंने, उसी आकाशमें कल्पित आसनपर स्थित हुई वह नारी जब मेरे पूछनेपर उपर्युक्त बातें कह चुकी, तब पुनः उससे प्रश्न किया—'बाले! शिलाके पेटमें तुम-जैसे देहधारियोंकी स्थिति कैसे हो सकती है? उसमें हिलना-डुलना कैसे होता होगा? तथा तुमने वहाँ किस लिये घर बनाया?'

विद्याधरी बोली—मुने! जैसे आपलोगोंका यह संसार बहुत ही विस्तृतरूपसे प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार उस शिलाके उदरमें सृष्टि और संसारसे युक्त हम-लोगोंका जगत् भी स्थित है। वहाँ भी यहाँकी भाँति ही देवता, असुर, गन्धर्व, पृथ्वी, पर्वत, पाताल, समुद्र, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा आदि सब वस्तुएँ हैं।

मुने! यदि आप मेरी बातको असम्भव समझते हों तो आइये, उस सृष्टिको अच्छी तरह देख लीजिये, मेरे साथ चलनेके लिये कृपा कीजिये; क्योंकि बड़े लोगोंको आश्चर्ययुक्त वस्तुएँ देखनेके लिये बड़ा कौतूहल होता है। रघुनन्दन! तब मैंने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली और शून्य (आकाश)-रूप हो, शून्यरूपधारिणी उस नारीके साथ शून्य आकाशमें उसी तरह उड़ना आरम्भ किया, जैसे आँधी या बवंडरके साथ फूलोंकी सुगन्ध उड़ती है। तदनन्तर दूरतकका रास्ता तै करनेके बाद आकाशकी शून्यताको लाँघकर मैं उस नारीके साथ

आकाशवर्ती भूतसमुदायके पास जा पहुँचा । चिरकालके बाद आकाशमें प्राणियोंके संचारमार्गको पारकर मै लोकालोक पर्वतके शिखरके ऊपर आकाशभागमें पहुँच गया, उस शिखरके पूर्वोत्तर भागमें स्थित चन्द्रतुल्य उज्ज्वल बादलके पीठभागसे नीचे उतरकर वह नारी मुझे उस ऊँची शिलाके पास ले गयी, जो तपाये हुए सुवर्णकी बनी जान पड़ती थी। मैंने उस शुभ्र शिलाको जब अच्छी तरह देखना आरम्भ किया, तब उसमें वह जगत् मुझे नहीं दिखायी दिया । केवल वह सुवर्णमयी शिला ही अग्निलोक (सुमेरु) के उच्चतम तटकी भाँति दृष्टिगोचर हुई । तब मैंने उस कान्तिमती नारीसे पूछा—'तुम्हारी वह सृष्टिभूमि कहाँ है ? उस लोकके रुद्र, सूर्य, अग्नि और तारे आदि कहाँ हैं तथा भूर्भुवः आदि सातों भिन्न-भिन्न लोक कहाँ हैं ? समुद्र, आकाश और दिशाएँ कहाँ हैं ? प्राणियोंके जन्म और नाश कहाँ हो रहे हैं ? बड़े-बड़े मेघोंकी घटाएँ कहाँ घिरी हुई हैं ? ताराओंकी तड़क-भड़कसे युक्त आकाश यहाँ कहाँ दिखायी देता है ? कहाँ हैं शैलशिखरोंकी वे श्रेणियाँ ? कहाँ है महासागरोंकी पङ्क्तियाँ ? कहाँ हैं मण्डलाकार सातों द्वीप और कहाँ है तपाये हुए सुवर्णके सदृश वह भूमि ? कार्य और कारणकी कल्पनाएँ कहाँ हैं ? भूतों और उनके भवनोका भ्रम कहाँ हो रहा है ? कहाँ हैं विद्याधर और गन्धर्व ? कहाँ हैं मनुष्य, देवता और दानव तथा कहाँ हैं ऋषि, राजा और मुनि ? नीति-अनीतिकी रीतियाँ कहाँ चलती हैं ? हेमन्त ऋतुकी पाँच पहरवाली रातें यहाँ कहाँ हो रही है ? स्वर्ग और नरकके भ्रम कहाँ हैं ? पुण्य और पापकी गणना कहाँ हो रही है ? कला और कालकी क्रीडाएँ कहाँ होती है ? देवताओं और असुरोंमें कहाँ वैर देखे जाते हैं तथा द्वेष और स्नेहकी रीतियाँ कहाँ उपलब्ध होती हैं ?' मेरे इस प्रकार पूछनेपर निर्मल नेत्रवाली उस सुन्दरीने आश्चर्यचकित दृष्टिसे मेरी ओर देखकर इस प्रकार कहा ।

विद्याधरी बोली—सर्वस्वरूप ब्रह्मर्षे ! मैं भी अब पहलेकी भाँति अपने उस सम्पूर्ण जगत्‌को तो इस शिल के भीतर नहीं देख रही हूँ; परंतु मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदिका पहले वर्णन किया है, उन सबको दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्बकी भाँति इस शिलामें प्रतिबिम्बित देखती हूँ । इस समय जो कुछ दीखता है, वह पहले देखे गये नगरसे भिन्न-सा है । मुने ! मुझे जो उस जगत्‌का कुछ-कुछ दर्शन हो रहा है, उसमें नित्यका मेरा अनुभव ही कारण है । आपको यह अनुभव नहीं है, इसीलिये आपको उसका दर्शन नहीं हो रहा है । इसके सिवा चिरकालतक हमलोगोंमें जो यह एक अद्वैतकी चर्चा चलती रही है, उससे विशुद्ध आतिवाहिक (सूक्ष्म मनोमय) देहका विस्मरण हो गया है । इसके कारण भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और मुझको स्फुटरूपसे उसका दर्शन होता है । मैंने चिरकालसे जिसका अत्यन्त अभ्यास किया था, मेरा वह जगत् भी आकाश-लताके समान अदृश्य हो गया है; क्योंकि मैं स्पष्टरूपसे उसे नहीं देख पा रही हूँ । जो संसार पहले मेरे लिये अत्यन्त प्रकट था, उसीको इस समय मैं दर्पणमें प्रतिबिम्बितकी भाँति अस्पष्टरूपसे देख रही हूँ । नाथ ! हम दोनोंमें परस्पर दीर्घकालतक जो सम्भाषण हुआ, उससे अपने अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य

(धारणाभ्यास-जनित मनोमयदेहरूपता) का विस्मरण हो गया। प्रभो! जो अभ्यासजनित संस्कार शुद्ध चेतन आकाशके रससे उद्बुद्ध होकर प्रकाशित होता है, उसीके आकारका आन्तरिक चित्त भी हो जाता है। बाल्यावस्थासे लेकर अबतक यही वस्तुस्थिति देखी जाती है। भगवन्! यह जो आपके साथ संवाद हुआ है, इसने अपने जगत्के निरन्तर अभ्यासके कारण पूर्व जगत्के भ्रमसे युक्त हुई मुझको निश्चय ही वशमें कर लिया। इसीलिये वह सस्कार लुप्त-सा हो गया। भूत और वर्तमानकालके दो भ्रमोंमेंसे वर्तमानकालका भ्रम ही बलवान् होनेके कारण विजयी हुआ।

मैं एक पाषाण-शिलामें निवास करनेवाली अबला हूँ, बाला एवं आपकी शिष्या हूँ; फिर भी मैं तो इस शिलाके भीतर स्थित हुई सृष्टिको देखती हूँ और आप सर्वज्ञ होकर भी नहीं देखते। देखिये, यह अभ्यासका विस्तार कैसा आश्चर्यजनक है। अभ्याससे अज्ञानी भी धीरे-धीरे ज्ञानी हो जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है और बाण अपने महान् लक्ष्यको भी वेध डालता है। देखिये, यह अभ्यासकी प्रबलता कैसी है? मुने! अभ्याससे कटु पदार्थ भी मनको प्रिय लगने लगता है—अभीष्ट वस्तु बन जाता है। अभ्याससे ही किसीको नीम अच्छा लगता है और किसीको मधु। निकट रहनेका अभ्यास होनेपर जो भाई-बन्धु नहीं है, वह भी भाई-बन्धु (आत्मीय) बन जाता है और दूर रहनेके कारण बारबार मिलनेका अभ्यास न होनेसे भाई-बन्धुओंका स्नेह भी घट जाता है। भावनाके अभ्याससे ही यह आतिवाहिक शरीर भी, जो केवल विशुद्ध चेतनाकाशरूप है, आधिभौतिक बन जाता है। यह आधिभौतिक शरीर भी धारणाके अभ्यासकी भावनासे पक्षियोंके समान आकाशमें उड़नेकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है। देखिये, अभ्यासकी कैसी महिमा है! निरन्तर अभ्यास करनेसे दुस्साध्य पदार्थ भी सिद्ध (सुलभ) हो जाते हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और विष भी अमृत हो जाते हैं। जिसने इष्ट वस्तुके लिये अभ्यास छोड़ दिया है, वह मनुष्योंमें अधम है। वह कभी उस वस्तुको नहीं पाता। ठीक उसी तरह जैसे वन्ध्या स्त्री अपने गर्भसे पुत्र नहीं पाती। जो नराधम अपनी अभीष्ट वस्तुके लिये अभ्यास (बारंबार प्रयत्न) नहीं करता, वह अनिष्ट वस्तुमें ही रत रहता है; इसलिये वह अनिष्टको ही प्राप्त होता है और एक नरकसे दूसरे नरकमें गिरता रहता है। जिससे संसार असार बन जाता है। पर विवेकका सेवन करनेवाले जो श्रेष्ठ पुरुष आत्म-विचार नामक अभ्यासको नहीं छोड़ते, वे निश्चय ही इस बढ़ी-चढ़ी विस्तृत माया-नदीको पार कर जाते हैं। इष्ट वस्तुके लिये किया गया चिरकालिक अभ्यासरूपी सूर्य प्रजाजनोंके समक्ष ऐसा प्रकाश फैलाता है, जिससे वे देहरूपी भूतलपर रहकर जन्म-मरण आदि सहस्रों अनर्थोंको पैदा करनेवाली इन्द्रियरूपिणी रात्रिको नहीं देखते। बारंबार किये जानेवाले प्रयत्नको अभ्यास कहते हैं, उसीका नाम पुरुषार्थ है। उसके बिना यहाँ कोई गति नहीं है। अपने विवेकसे उत्पन्न हुए दृढ़ अभ्यास नामक अपने कर्मको यत्न कहते हैं। उसीसे यहाँ सिद्धि प्राप्त होती है, और किसी उपायसे नहीं। इन्द्रियोंपर विजय पानेमें समर्थ वीरपुरुषके लिये अभ्यास-

रूपी सूर्यके तपते रहनेपर भूमिमें, जलमें और आकाशमें भी ऐसी कोई अभिलषित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती। भूमण्डलमें तथा पर्वतकी समस्त निर्जन गुफाओंमें जितने भयके कारण हैं, वे सब अभ्यासशाली पुरुषके लिये अभयदायक बन जाते हैं।

(सर्ग ६६-६७)

श्रीवसिष्ठजीके द्वारा आतिवाहिक शरीरमें आधिभौतिकताके भ्रमका निराकरण

विद्याधरीने कहा—अतः मुने! अब हम दोनों निर्मल परमात्मामें सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणा-द्वारा अपने प्राचीन आतिवाहिक भावका पुनः अभ्यास करें। ऐसा करनेसे ही इस शिलाके भीतरका जगत् प्रकट होगा।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! उस पर्वतपर विद्याधरीने जब यह युक्तियुक्त बात कही, तब मैं पद्मासन लगाकर बैठ गया और समाधिमें स्थित हो गया। उस समय सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंकी भावनाका त्याग हो जानेपर चिन्मात्रस्वरूप होकर मैंने उस पूर्वके अर्थकी—आधिभौतिक देहादिकी भावना एवं उसके संस्कार-मलका भी सर्वथा त्याग कर दिया। तत्पश्चात् चेतनाकाशरूपताको प्राप्त हो मैंने उसी तरह उत्तम दृष्टि प्राप्त कर ली, जैसे शरत्काल आनेपर आकाश निर्मलताको धारण कर लेता है। तदनन्तर सत्यस्वरूप परमात्माके सुदृढ़ ध्यानाभ्याससे मेरी देहमें आधिभौतिकताकी भ्रान्ति निश्चय ही दूर हो गयी तथा तत्काल ही उदय एवं अस्तसे रहित होनेपर भी नित्य उदित रहनेवाली और अत्यन्त निर्मल महाचेतनाकाशरूपता प्रकट-सी हो गयी। इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेजसे देखने लगा, तब वास्तवमें मुझे न तो वह आकाश दीख पड़ा और न वह पाषाणशिला ही कहीं दिखायी दी। सब कुछ केवल परमतत्त्वमय ही दृष्टिगोचर हुआ। मैंने स्वरूपबोधके पहले कभी जिसकी आकृति शिलामयी देखी थी, बोधके पश्चात् उसे स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाशरूप ही देखा, पृथ्वी आदि विकारोंके रूपमें उस सद्-वस्तुको कहीं नहीं देखा। प्रिय श्रीराम! यह जो वर्तमान-कालका दृश्य-प्रपञ्च मनको प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है, यह आधिभौतिक देह आदिकी कल्पनाद्वारा अत्यन्त असद्रूपसे ही प्रकट हुआ है। अतः इसे तुम प्रत्यक्ष ही असत् समझो और उस योगिप्रत्यक्षको ही मुख्य प्रत्यक्ष जानो; क्योंकि उसमें सद्रूप परमात्माके यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार होता है। अहो! परमेश्वरकी माया कैसी विचित्र है, जिससे प्राक्-प्रत्यक्षमें (अर्थात् पहलेसे ही जो प्रत्यक्ष है, उस साक्षी चेतनमें) तो परोक्षताका निश्चय हो रहा है और इस परोक्ष मनमें प्रत्यक्षभावकी कल्पना आ गयी है। यद्यपि सुवर्णसे कड़ा बनता है—इसका सभीको अनुभव है, तथापि यह निश्चय है कि सुवर्ण कड़ा नहीं है। उसी प्रकार सूक्ष्मशरीरमें आधिभौतिकता नहीं है। यह जीव विचार न करनेके कारण भ्रमको यथार्थ और यथार्थको भ्रम समझ रहा है। अहो! यह कैसी मूढ़ता है। जैसे

सीपीमें चाँदी, मृगतृष्णामें जल और एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाकी बुद्धि मिथ्या ही है, उसी प्रकार आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीरमें आधिभौतिकता (स्थूल-रूपता) की बुद्धि भी मायासे ही हो रही है, वह वास्तविक नहीं है। जो असत् है, उसे सत्य मान लिया गया है और जो सत्य है, उसे असत् समझ लिया गया है। अहो! जीवके अविचारसे उत्पन्न हुए इस मोहकी कैसी महिमा है! जो आदि प्रत्यक्ष (सूक्ष्मशरीर) को छोड़कर इस वर्तमान प्रत्यक्ष (स्थूलशरीर) में ही सत्यबुद्धि करके स्थित है। वह मानो मृगतृष्णाका जल पीकर तृप्तिका अनुभव करता हुआ सुखपूर्वक बैठा है।

विषयोंका जो सुख है, वह क्षणभङ्गुर है, इसका सबको बारंबार अनुभव होता है। इसलिये उस सुख-को दुःखरूप ही कहा गया है तथा जो नित्य, अनादि और अनन्त आत्मसुख है, उसीको वास्तविक सुख बताया गया है। अज्ञानीकी दृष्टिमें यह जगद्रूप भ्रान्ति ही सत्यरूपताको प्राप्त हो गयी है। मदिरा पीकर मतवाले हुए पुरुषको ये सुस्थिर वृक्ष और पर्वत भी नाचते-से प्रतीत होते हैं। जो योगियोंके प्रत्यक्ष अनुभवमें आये हुए, सर्वत्र अप्रतिहत, अद्वैत बोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्-स्वरूप ब्रह्मकी सत्ता प्रत्यक्ष होनेपर भी दूसरे तुच्छ प्रत्यक्ष नेत्र आदि इन्द्रियोंसे दीखनेवाले रूप आदि विषयको सत्य मानकर उसका आश्रय लेते हैं, वे महान् मूर्ख हैं। अपने-आपको ही धोखा देनेवाले उस तृणतुल्य अधम पुरुषोंसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है।

(सर्ग ६८)

विद्याधरीका पाषाण-जगत्‌के ब्रह्माजीको ही अपना पति बताना और उन्हें समाधिसे जगाना, उनके और देवतादिके द्वारा वसिष्ठजीका स्वागत-सत्कार, वसिष्ठजीके पूछनेपर ब्रह्माजीका उन्हें अपने यथार्थ स्वरूपका परिचय देना और उस कुमारी नारीको वासनाकी देवी बताना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तदनन्तर अबाध चेष्टावाली वह विद्याधरी उस शिलाके भीतर स्थित हुई सृष्टिमें प्रविष्ट हुई। फिर मैं भी उसके साथ संकल्परूप होकर वहाँ जा पहुँचा। वह उद्यमशील तथा उत्कृष्ट शोभासे युक्त नारी उस जगत्‌के ब्रह्मलोकमें पहुँचकर ब्रह्माजीके सामने बैठ गयी और बोली—'मुनिश्रेष्ठ! यही मेरे पति हैं, जो मेरा पालन करते हैं। इन्होंने पूर्वकालमें मेरे साथ विवाह करनेके लिये अपने मनके द्वारा मुझे उत्पन्न किया था। ये पुरातन पुरुष हैं और मैं भी अब जरावस्थाको आ पहुँची हूँ। इन्होंने आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया; इसलिये मैं विरक्त हो गयी हूँ। इनको भी वैराग्य हो गया है। ये उस परम पदको प्राप्त करना चाहते हैं, जहाँ न कोई द्रष्टा है, न दृश्य है और न शून्य ही है। इसलिये मुनीश्वर! आप मुझको और इनको भी तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर उस परब्रह्म परमात्माके पथमें लगा दीजिये, जो वैज्ञानिक प्रत्यक्ष रहनेवाली सारी सृष्टियोंके मूल कारण हैं।'

मुझसे ऐसा कहकर वह उन ब्रह्माजीको जगानेके लिये इस प्रकार बोली—'नाथ! ये मुनिनाथ वसिष्ठजी आज इस घरमें पधारे हैं। ये मुनि दूसरे ब्रह्माण्ड-रूपी घरमें रहनेवाले ब्रह्माजीके पुत्र हैं। प्रभो! गृहस्थके घरपर आये हुए अतिथिके योग्य पूजाद्वारा आप इन गृहागत महर्षिका पूजन कीजिये। समाधिसे उठिये और अर्घ्य, पाद्य देकर इन मुनीश्वरकी पूजा कीजिये; क्योंकि आप-जैसे महात्माओंको महापुरुषोंकी पूजासे प्राप्त होनेवाला महान् फल ही रुचता है।'

श्रीराम! उस विद्याधरीके ऐसा कहनेपर वे परम बुद्धिमान् ब्रह्माजी समाधिसे जाग उठे। नीतिके ज्ञाता उन विद्वान् ब्रह्माने धीरेसे अपनी आँखें खोलीं। मानो शिशिर ऋतुकी समाप्ति होनेपर वसन्त ऋतुने पृथ्वीपर

उत्पन्न हुए दो फूलोंको विकसित कर दिया हो। उनके वे विभिन्न अङ्ग धीरे-धीरे अपनी-अपनी सजगता (ज्ञानयुक्त चेष्टा) प्रकट करने लगे, मानो वसन्त ऋतुके नूतन पल्लव नूतन रसकी अभिव्यक्ति कर रहे हों। तदनन्तर देवताओं, सिद्धों और अप्सराओंके समुदाय चारों ओरसे वहाँ उसी तरह आ पहुँचे, जैसे प्रातःकाल विकसित कमलोंसे सुशोभित सरोवरमें झुंड-के-झुंड हंस आ गये हों। ब्रह्माजीने सामने खड़े हुए मुझको और उस विलास-शालिनी विद्याधरीको देखा। देखकर वे प्रणवपूर्वक स्वरसहित उच्चरित होनेवाली सुन्दर वेदवाणीके समान मधुर वचन बोले—

उस दूसरे संसारके ब्रह्माजीने कहा—मुने! आपने हाथपर रखे हुए आँवलेके समान इस असार संसारके सारतत्त्वको देख और जान लिया है। आप ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाले महामेघ हैं। आपका स्वागत है। महर्षे! इस समय आप इस अत्यन्त दूरवर्ती मार्गपर आ पहुँचे हैं। बहुत दूरका रास्ता तै करनेके कारण आप बहुत थक गये होंगे। यह आसन है, इसपर बैठिये।

उनके ऐसा कहनेपर मैं बोला—'भगवन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।' ऐसा कहता हुआ मैं उनकी दृष्टिके संकेतसे दिखाये गये एक मणिमय पीठपर बैठ गया। फिर तो देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि और विद्याधरोंद्वारा मेरी स्तुति की जाने लगी। इसके बाद पूजा, नमस्कार तथा अन्य समुचित नीतियुक्त व्यवहार सम्पादित हुए। दो घड़ीमें जब सम्पूर्ण भूतगणोंद्वारा किया गया प्रणाम-समारोह शान्त हुआ, तब उन ब्रह्माजीसे मैंने कहा—'भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी ब्रह्मदेव! यह क्या बात है कि यह नारी मेरे पास गयी और कहने लगी कि 'आप अपने ज्ञानोपदेशसे प्रयत्नपूर्वक हमें बोधकी प्राप्ति कराइये।' देव! आप तो सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी तथा समस्त ज्ञानोंमें पारंगत हैं। जगत्पते! बताइये, यह काममूढ़ा स्त्री आपके विषयमें क्या कहती है। देव! जब आपने इसे अपनी पत्नी बनानेके लिये ही उत्पन्न किया था तब फिर इसे उस पदपर क्यों नहीं प्रतिष्ठित किया, इसको वैराग्यकी ओर आप क्यों ले गये?'

दूसरे जगत्के ब्रह्माजी बोले—मुने! सुनिये, जैसी बात है, उसे आपके सामने ठीक-ठीक बता रहा हूँ; क्योंकि सत्पुरुषोंके सामने सब बातें यथार्थ और पूर्णरूपसे कहनी चाहिये। मुने! वह जो शान्त, अजन्मा, अजर एवं अनिर्वचनीय परमार्थ सद्वस्तु ब्रह्म है, उसीको चेतन अथवा चित्तत्त्व कहते हैं। चैतन्य ही उसका एकमात्र स्वरूप है। उसी परमात्माने अपने स्वरूपभूत चैतन्यसे मुझे प्रकट किया है। मैं चिदाकाशरूप ही हूँ और सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता हूँ, जब सृष्टि उत्पन्न होकर यथावत् रूपसे स्थित हो जाती है, तब मेरा व्यावहारिक नाम स्वयम्भू होता है। वास्तवमें न तो मैं उत्पन्न होता हूँ और न कुछ देखता ही हूँ। मैं समस्त आवरणोंसे मुक्त रहकर चेतनाकाशरूप हो चेतनाकाशमें ही स्थित हूँ। यह जो आप मेरे सामने हैं और मैं आपके सामने हूँ तथा हमलोगोंमें जो यह परस्पर सम्भाषण हो रहा है, यह वैसा ही है, जैसे समुद्रमें एक तरङ्गके आगे दूसरी तरङ्ग हो और स्वयं समुद्र ही उन तरङ्गोंके घात-प्रतिघातके रूपमें शब्द कर रहा हो। इस विषयमें मेरी ऐसी ही मान्यता है। इस प्रकार समुद्रसे तरङ्गोंकी कल्पनाके समान जिसने अपनी और दूसरेकी दृष्टिसे देखे जानेवाले भेदकी किंचित् कल्पना कर ली है तथा कालवशात् अपने स्वरूपको भी किंचित् भुला देनेके कारण जिसकी आकृति कुछ मलिन-सी हो गयी है, वह मैं चिदाभासमात्र ही हूँ। ऐसे रूपवाले मुझ ब्रह्माके अन्तःकरणमें जो ममता और अहंताकी वासना

उदित हुई है, वह उस कुमारी स्त्रीसे भिन्न जो आप हैं, आपको अन्य-सी प्रतीत होती है और मुझे अनन्य-सी जान पड़ती है। वह वासना हम दोनोंकी दृष्टिसे उदित (प्रकट) भी है और अनुदित (अप्रकट) भी। वस्तुतः मै अविनाशिनी सत्तावाला हूँ; क्योंकि कभी मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है। मै आत्मरूपसे अपने आपमें ही स्थित हूँ। स्वभावसे ही मै अच्युत, अपने आत्मामें रमण करनेवाला तथा स्वयं ही सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ। यह कुमारी स्त्रीके रूपमें जो सामने खड़ी है, वासनाकी अधिष्ठात्री देवी ही है। यह न तो मेरी गृहिणी है और न गृहिणी बनानेके निमित्त मैंने इसका सत्कार ही किया है। अपनी वासनाके आवेशवश इसके मनमें यह भाव उत्पन्न हो गया कि 'मैं ब्रह्माजीकी पत्नी हूँ।' इस भावनाको लेकर यह स्वयं ही अत्यन्त दुःख उठा रही है और वह भी व्यर्थ। यही सारे जगत्के भीतर वासना बनकर बैठी हुई है। (सर्ग ६९)

पाषाण-जगत्के ब्रह्माद्वारा वासनाकी क्षयोन्मुखता एवं आत्मदर्शनकी इच्छा बताकर शिलाकी चितिरूपता तथा जगत्की परमात्मसत्तासे अभिन्नताका प्रतिपादन करके वसिष्ठजीको अपने जगत्में जानेके लिये प्रेरित करना

अन्य जगत्के ब्रह्माजी कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ! (मैने अपने संकल्पसे कल्पित दो परार्ध वर्षोंकी आयु बिता दी) अब चिदाकाशरूप मै निरतिशयानन्दस्वरूप, ब्रह्माकाशमयी परम कैवल्यरूपा स्थितिको प्राप्त करना चाहता हूँ, इसीसे यहाँ मेरी वासनाद्वारा रचे गये इस ससारमें नित्य, नैमित्तिक, दैनन्दिन और आत्यन्तिक ये चारो प्रकारके प्रलय उपस्थित हो गये है। मुनीश्वर! इस महाप्रलयकालमे अब मैने इसे त्याग देने—इस वासनाका मूलोच्छेद करके इसे अपनी सत्तासे गिरा देनेके उद्योग-का निश्चित रूपसे आरम्भ कर दिया है, इसीसे यह विरसताको प्राप्त अर्थात् विनाशोन्मुख हो गयी है। जब मै चित्ताकाशरूपताको त्यागकर आदि चेतनाकाशरूप महाकाश होने जा रहा हूँ, तब यहाँ महाप्रलयका आना और वासनाका विनाश होना अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि यह विरस होकर मेरे मार्गकी ओर दौड रही है। भला, ऐसा कौन उदारबुद्धि प्राणी है, जो अपने जन्मदाताका अनुसरण न करता हो? आज यहाँ चारो युगोका विनाश उपस्थित है, अन्तिम कल्प, अन्तिम मन्वन्तर तथा अन्तिम कलियुगकी समाप्तिका समय आ गया है, इसलिये आज ही प्रजा, मनु, इन्द्र तथा देवताओंका यह अन्तकाल आ पहुँचा है। आज ही यह कल्पका अन्त, महाकल्पका अन्त, मेरी वासनाका अन्त और मेरे देहाकाश-का भी अन्त होनेवाला है। ब्रह्मन्! इसीलिये यह वासना अब क्षीण होनेको उद्यत है, जब कमलोंसे भरा हुआ सरोवर ही सूख रहा हो, तब गन्धलेखा कहाँ ठहर सकती है? केवल अभिमान ही जिसका शरीर है, ऐसी इस वासनाको स्वभावतः स्वयं ही आत्मदर्शनकी इच्छा होती है। आत्मसाक्षात्कारके लिये किये गये धारणाभ्यास-रूप योगसे इसने अन्य ब्रह्माण्डमें जाकर वहाँ आपके जगत्का दर्शन किया, जहाँ धर्म आदि चारों वर्गोंके अनुष्ठानमें लगी हुई स्वतन्त्र प्रजा निवास करती है। आकाशमें विचरती हुई इस विद्याधरीने उसी सिद्धिकी सामर्थ्यसे लोकालोक पर्वतके शिखरकी शिला देखी, जो इसके अपने जगत्की आधारभूत है तथा हमारी दृष्टिमें केवल आकाशरूप ही है। जिस जगत्‌रूपी पर्वतपर यह जगत् है और जिसमें उसकी शिलारूपता है, वह तथा हमारे जगत्‌रूप पदार्थोंमें ऐसे-ऐसे अनेक दूसरे जगत् भी हैं। यह जगत्‌रूपी भ्रान्ति जिनकी समझमें आ गयी अर्थात् जिनकी दृष्टिमें यह चेतनाकाशके साथ एकरूपताको प्राप्त हो गयी, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते

हैं और शेष जितने लोग हैं, वे भ्रमके ही भागी होते हैं।

मुने ! इस विद्याधरीको वैराग्यके कारण उत्पन्न अपने मनोरथको सिद्ध करनेकी इच्छा हुई। इसीलिये इसने अन्य बहुत-सी धारणाओंका अभ्यास करके उनके प्रभावसे आपका दर्शन प्राप्त किया। आदि-अन्तसे रहित एवं अनामय विद्यारूपा ब्रह्मकी चिन्मयी मायाशक्ति सब ओर व्याप्त है। इस जगत्‌में कोई भी कार्य न तो कभी उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं। केवल चित् ही द्रव्य, काल और क्रियाके रूपमें प्रकाशित हो तप रही है। ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन और बुद्धि आदि हैं, सब-के-सब चेतनरूपी शिलाकी मूर्तियाँ हैं। इनका न कभी उदय होता है और न अस्त ही। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें। यह चिच्छक्ति ही शिलाका आकार धारण करके स्थित है। जैसे स्पन्दन वायुका स्वरूप है, उसी प्रकार सारा जगत्-समुदाय इस चिच्छक्तिका अभिन्न अङ्ग है। यह जो चितिरूपा शिला है, आदि-अन्तसे रहित है। किंतु भ्रमसे सादि और सान्त बन जाती है। निराकार होती हुई भी साकार हो जगत्‌रूप अङ्गोंसे युक्त बनकर स्थित हो जाती है। जैसे महाकाशके भीतर दूसरे-दूसरे आकाश (घटाकाश, मठाकाश आदि) महाकाशकी सत्तासे ही विद्यमान हैं, अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् शून्यरूप होते हुए भी शान्तस्वरूप सर्वव्यापी चेतनाकाश परमात्मामें उसीकी सत्तासे सर्वत्र विद्यमान है। परंतु वे अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते हैं, इस दृष्टिसे उनके विषयमें 'हैं' और 'नहीं हैं'—ये दोनों बातें कही जा सकती हैं। मुनिवर वसिष्ठ ! अब आप यहाँसे अपने जगत्‌को जाइये और इस समय अपने पूर्व-कल्पित एकान्तवर्ती आसनपर समाधि लगाकर परम शान्तिका अनुभव कीजिये। मेरे जो कल्पित बुद्धि आदि जागतिक पदार्थ हैं, वे प्रलयको प्राप्त हो परम अव्यक्त तत्त्वमें मिल जायँ; क्योंकि इस समय हम परब्रह्म परमात्मपदको प्राप्त हो रहे हैं। (सर्ग ७०)

पाषाण-शिलाके भीतर बसे हुए ब्रह्माण्डके महाप्रलयका वर्णन तथा ब्रह्माके संकल्पके उपसंहारसे सम्पूर्ण जगत्‌का संहार क्यों होता है, इसका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! ऐसा कहकर वे भगवान् ब्रह्मा सम्पूर्ण ब्रह्मलोकवासियोंके साथ पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटनेवाली समाधिमें स्थित हो गये। उन्हींका अनुसरण करती हुई वह वासनाकी अधिष्ठात्री देवी सती-साध्वी कुमारी विद्याधरी भी उन्हींकी भाँति ध्यानमग्न हो शान्त हो गयी। उसका कोई भी अंश (स्मृति-बीजभेद) शेष नहीं रह गया। वह आकाशरूपिणी (शून्यस्वभावा) हो गयी। ब्रह्माजीका संकल्प धीरे-धीरे विरस होने लगा। जिस समय उनके संकल्पमें विरसता आयी, उसी क्षणसे तुरंत ही पर्वत, द्वीप और समुद्रोंसहित पृथ्वीकी तृण, गुल्म, लता और धान आदिको उत्पन्न करनेकी सारी शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होने लगी। जैसे हमलोगोंके अङ्ग संवेदनशक्तिके क्षीण होनेपर नीरस हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माजीकी अङ्गभूता पृथ्वीकी संवेदनशक्तिका उपसंहार होनेसे वह नीरसताको प्राप्त हो गयी। ब्रह्माजीके द्वारा उपेक्षित होनेपर पृथ्वी आदि तथा असुर आदि—ये दो तरहके महाभूत सब ओरसे क्षुब्ध हो उठे। चन्द्रमा, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि और यम—ये सब-के-सब महाप्रलयके कोलाहलसे व्याकुल हो गये। उनका अधिकार एवं प्रभाव ब्रह्मलोकमें मिल गया। वे अपने स्थानसे नीचे गिरने लगे। भूकम्पोंके कारण बड़े-बड़े पर्वत जोर-जोरसे झूमने और झोंके खाने लगे, मानो वे झूला झूलनेके सुखका अनुभव कर रहे हों। उनके ऊपरकी वृक्षश्रेणियाँ

कटकट शब्दके साथ टूट-टूटकर गिरने लगीं । भूकम्पके कारण कैलास, मेरु और मन्दराचलकी कन्दराएँ हिलने लगीं और कल्पवृक्षोंसे टूटकर लाल रंगके पुष्पगुच्छोंकी वर्षा होने लगी । रघुनन्दन ! लोकान्तर-पर्वत, नगर, समुद्र और वनपर्यन्त सारा जगत् कल्पान्तकालकी उत्पात-वायुके झोंकेसे परस्पर टकराकर हताहत होते हुए प्राणियोंके कोलाहलसे व्याप्त एवं जीर्ण-शीर्ण हो गया, मानो रुद्रदेवके बाणोंसे दग्ध हुआ त्रिपुर-नगर भरे हुए समुद्रमें गिर रहा हो ।

रघुनन्दन ! जब विराट्स्वरूप स्वयम्भू ब्रह्माने अपने प्राणोंका आकर्षण एवं निरोध किया, तब वातस्कन्धनामसे स्थित आकाशजन्मा वायुने अपनी मर्यादा (ग्रह, नक्षत्र आदिको धारण करनेकी जिम्मेदारी) छोड़ दी । ब्रह्माजीने जब प्राणवायुरूप वातस्कन्धका अपने भीतर उपसंहार करना आरम्भ किया, तब पूर्वोक्त मर्यादाको त्यागकर साम्यावस्थाको पहुँचनेके लिये वायुमें क्षोभ उत्पन्न हुआ और उस क्षोभके कारण निराधार होकर आकाशमण्डलसे तारे टूट-टूटकर वैसे ही भूमिपर गिरने लगे, जैसे कहीं आग लगनेपर यदि जोरसे हवा चलती हो तो बड़े-बड़े लुआठे उडने और गिरने लगते हैं । उस समय आकाशसे भूतलपर गिरते हुए तारे वृक्षसे झड़ते हुए फूलोंके समान जान पडते थे । ब्रह्माजीका संकल्परूप ईंधन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब जैसे जलती हुई लपटें बुझ जाती है, वैसे ही सिद्धोंकी गतियाँ भी शान्त हो गयीं, अपनी शक्तिका नाश हो जानेपर प्रलय-वायुके वेगसे पतली रूईके समान आकाशमें उड़ते और भटकते हुए सिद्धसमुदाय मूक होकर नीचे गिरने लगे । भूकम्पसे चञ्चल हुए देवगिरि सुमेरुके शिखर, इन्द्रादि देवताओंके नगरों तथा कल्पवृक्षोंके समूहोंसहित धडाधड़ धराशायी होने लगे ।

रघुनन्दन ! पहले न तो कोई असत् वस्तु थी और न सत् ही; किंतु सभी विकारोंसे रहित एकमात्र चिन्मय परमाकाश ही था; जो अकेला ही सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त था । उसी परमाकाशने अपने स्वरूपका परित्याग न करके निर्विकार रहते हुए ही अपनी आकाशताकी अपनेसे भिन्न वस्तुके रूपमें कल्पना की । उसे अपनेसे पृथक् चेत्यके रूपमें जाना, चिद्रूप होनेसे वह चेतन कहा गया है । जैसे लोग संकल्प-नगरको शून्यरूप होते हुए भी साकार देखते हैं, वैसे ही अजन्मा परमात्मा शून्यरूप आकाशको ही देहरूप देखने लगा । आकाशमें आकाशको ही अपना शरीर मानने लगा । श्रीराम ! इस प्रकार विचार करनेसे सिद्ध होता है कि ये जो ब्रह्मा हैं, वे ही यह वर्तमान जगत् बनकर स्थित हैं । विराट् ब्रह्माका जो देह है, वही यह जगत् है । संकल्पाकाशरूप ब्रह्माजीको जो भ्रम हुआ है, वही इस जगत्के रूपमें भासित हो रहा है और उसीको ब्रह्माण्ड कहा गया है । संकल्पसे ही जिसकी कल्पना हुई है, वह यह सारा जगत् आकाशरूप ही है । वास्तवमें न तो जगत् है और न कहीं त्वत्ता-मत्ता ('तुम' और 'मैं' के भाव) ही हैं । चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा स्वयं ही अद्वैत आत्माकाशमें जगत् आदिरूप प्रकाशसे प्रकाशित हो आस्वाद या अनुभवका विषय हो रहा है । जैसे वायु अपनी गतिशीलताके कारण अनुभवमें आती रहती है । यह जगत् अद्वैतको छोड़ देनेपर कुछ है, ऐसा जान पड़ता है और द्वैतको त्याग देनेपर कुछ भी नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है । वास्तवमें जगत् द्वैत और अद्वैत—दोनोंसे रहित, शून्य, निर्मल और निरामय चेतनाकाशरूप ही समझो । राघवेन्द्र ! अनादि, नित्यानुभवरूप जो एकमात्र साक्षी चेतन है, वही दृश्य बनकर स्थित है । उससे भिन्न दूसरी कोई दृश्य नामक वस्तु नहीं है । सत्यानुभवरूप परमात्मामें जो अनेक प्रकारके अज्ञान प्रतीत होते हैं, वे ही विचित्र भ्रम पैदा करके सुविस्तृत दृश्य जगद्रूप महान् दृश्य उपस्थित करते हैं । (सर्ग ७१-७२)

ब्रह्मा और जगत्‌की एकताका स्थापन तथा द्वादश सूर्योंके उदयसे जगत्‌के प्रलयका रोमाञ्चकारी वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघवेन्द्र ! ये विराट्‌रूपधारी विधाता समष्टि मनरूप होनेके कारण स्वयं ही मन है, अतः इनके लिये दूसरे मनकी आवश्यकता नहीं है। यही नहीं, ये विराट् पुरुष स्वयं ही इन्द्रियाँ है। अतः इन्हें दूसरी इन्द्रियोंके उपभोगकी आवश्यकता नहीं होती। इन्होंने ही तो अन्य सब शरीरोंमें इन्द्रियोंकी सृष्टि की है। इन्द्रियसमुदाय इनकी कल्पनामात्र ही है। इन्द्रिय और चित्तमें अवयवावयवी-भाव सम्बन्ध है। इन्द्रियाँ अवयव है और चित्त अवयवी—इन दोनोंका शरीर एक है, अतः इनमें थोडा-सा भी भेद नहीं है। पूर्णतः एकता है। संसारके जो कोई भी कार्य हैं, वे सब-के-सब उस विराट् पुरुषके ही है। क्योंकि ब्रह्माके संकल्प ही विभिन्न व्यष्टि वृत्तिसे अपनेमें भेदका आरोप करके जगद्-व्यवहारके रूपमें चल रहे हैं। उसीकी सत्तासे अनन्ताकार जगत्‌की सत्ता है और उसके संकल्पके उपसंहारसे ही जगत्‌का संहार है। वायु और उसकी चेष्टामें जैसी एकता है, वैसी ही एकता या एकसत्ता ब्रह्मा और जगत्‌की भी है। जगत्, ब्रह्मा और विराट—ये तीनों पर्यायवाची शब्द है। जगत् और ब्रह्मा शुद्ध चेतनाकाशरूप परमात्माके संकल्पमात्र ही हैं।

रघुनन्दन ! मेरे सामने ब्रह्मलोक था। ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो गये थे। मैंने धीरे-धीरे सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टि डाली। उस समय अपने सम्मुख देखा, मध्याह्न कालमें तपते हुए सूर्यके अतिरिक्त पश्चिम दिशामें भी एक दूसरा सूर्य प्रकट हुआ, जो स्पष्ट दिखायी देता था वह पश्चिम दिशाके मध्यभागमें दाह-सा उत्पन्न कर रहा था, मानो किसी पर्वतके ऊपर वहाँकी वनस्थलीमें दावानल प्रज्वलित हो उठा हो। आकाशमें अग्निलोक प्रकट हो गया हो अथवा महासागरमें बड़वाग्नि उद्दीप्त हो उठी हो। फिर तो क्रमशः नैर्ऋत्यकोण, दक्षिण दिशा, अग्निकोण, पूर्वदिशा, ईशान कोण, उत्तर दिशा, वायव्यकोण तथा पश्चिम[1] दिशामें भी एक-एक सूर्य प्रकाशित हो उठा। उन सबको देखकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। मै विधाताकी प्रतिकूलतापर विचार करने लगा। इतनेमें ही भूतलसे भी शीघ्र ही एक सूर्य प्रकट हुआ, मानो समुद्रसे बड़वानल ऊपरको उठ गया हो। फिर दिशाओंके मध्यवर्ती आकाशमें ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ। दिशाओके मध्यवर्ती सूर्यको ग्यारहवाँ कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि उसके ऊपर भी बारहवाँ सूर्य प्रकट हो चुका था। इस प्रकार एक भूतलपर, एक मध्य आकाशमें और एक उससे भी ऊपर—तीन सूर्य एकके ऊपर एकके क्रमसे दिखायी देते थे। इस तरह कुल मिलाकर बारह सूर्य प्रकट हुए थे। इनमें ग्यारहवाँ सूर्य भगवान् रुद्रका ही शरीर था और उसके भीतर तीन सूर्योंके रूपमें मानो तीन नेत्र प्रकट हो गये थे। वह अकेला ही बारह सूर्योंके बराबर देदीप्यमान था। वह बारह सूर्योंका समुदाय-सा जान पडता था, जो सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रचण्ड दाह उत्पन्न कर रहा था। जैसे दावानल सूखे वनको जला देता है, वैसे ही वह समस्त जगत्‌को दग्ध करने लगा। इन सूर्योंके उदय होनेसे समस्त ब्रह्माण्डमण्डलको सुखा देनेवाला ग्रीष्म ऋतुका भीषण दिन प्रकट हो गया था। कहीं भी उल्मुको (लुआठो) के समूह नहीं दिखायी देते थे। बिना अग्निके ही अग्निदाह हो रहा था (अर्थात् सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे ही सब कुछ स्वाहा हो रहा था, लौकिक अग्नि नहीं दिखायी देती थी)। कमलनयन श्रीराम ! बिना अग्निके ही होनेवाले उस अग्निदाहसे मेरे सारे अङ्ग दावानलसे झुलसे हुएकी भाँति व्यथित हो उठे। तब मै उस प्रदेशको छोडकर बहुत दूर चला आया।

---

१. पश्चिम दिशामें सूर्यके प्रकट होनेका जो पहले वर्णन आ गया है, उसका यहाँ अनुवादमात्र है। तात्पर्य यह कि अबतक आठों दिशाओं तथा मध्याह्नकालिक सूर्यको लेकर नौ सूर्य वसिष्ठजीके दृष्टिपथमें आ गये थे।

राघवेन्द्र ! वहाँसे मैंने दसों दिशाओंमें उदित हो तपते हुए बारह सूर्योंके समुदायको देखा, जिसके प्रचण्ड तेजसे सातों विशाल महासागर काढ़ेकी भाँति खौल रहे थे और उनसे महान् खल-खल शब्द प्रकट हो रहा था। समस्त लोकों और नगरोंके भीतरी भाग प्रचण्ड ज्वालाओं तथा अंगारोंसे भर गये थे। आगकी लपटें लाल रंगके गाढ़े कपड़ोंके समूहकी भाँति दिखायी देती थीं, जिन्होंने सारे पर्वतोंको सिन्दूरी-रंगका बना दिया था। लोकपालोंके जलते हुए बड़े-बड़े घरोंमें ज्वालाव्याप्त दिशारूपी वस्त्र सुस्थिर विद्युत्‌की भाँति दीप्तिमान् दिखायी देते थे। नगरोंके समूह कटकट और चटचट शब्दके कोलाहलसे परिपूर्ण हो रहे थे। भूतलसे शिलाके समान घनीभूत दण्डाकार धूम प्रकट करके वे बारह सूर्य समस्त भुवनोंके निवासमण्डपको मानो सहस्रों काँचके खम्भोंसे सुशोभित कर रहे थे। प्राणियोंके निवासभूत नगरोंके धराशायी होने और फटनेसे भयानक चटचट शब्द हो रहे थे। तारे टूट-टूटकर गिर रहे थे। सभी स्थानोंमें अपने-अपने घरोंके भीतर तापसे जलते हुए जन-समुदाय इधर-उधर भाग रहे थे। चीखने-चिल्लानेके साथ मरे-पचे प्राणियोंके दग्ध शरीरोंसे सम्पूर्ण दिशाओंमें दुर्गन्ध फैल रही थी। समुद्रकी तपी हुई जलराशिमें राँधे जाते हुए जलचरोंके समुदाय छटपटा रहे थे। सम्पूर्ण दिशाओंमें फैली हुई आगसे गाँवों और नगरोंका सब कुछ स्वाहा हो गया था। वहाँ कोई रोनेवाला भी नहीं रह गया था। दिग्गजोंके शरीर दग्ध होकर फट गये थे। वे अपने दाँतोंसे दिगन्त पर्वतोंको उठाये हुए ही जल गये थे। पर्वतोंकी गुफाओंमें भरे हुए धूममण्डल उन सूर्योंके कुण्डलोंसे जान पड़ते थे। धराशायी होते हुए पर्वतोंसे पिसकर कितने ही नगरोंके समुदाय चूर-चूर हो गये थे। गिरिराजोंपर निवास करनेवाले गजराजोंको वे सूर्यमण्डल पच-पचकी आवाजके साथ पका रहे थे। सन्तापसे तप्त होकर उछलते हुए प्राणियोंको देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो उनके निवासभूत समुद्रों और पर्वतोंको भी ज्वर आ गया हो। उन सूर्योंके तापसे हृदय फट जानेके कारण निःसार हुए विद्याधर और उनकी अङ्गनाएँ नीचे गिर रही थीं। वृद्ध लोग जोर-जोरसे रोने-चिल्लानेके कारण थक गये थे और कुछ योगी लोग ब्रह्मरन्ध्रको फोड़कर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हो अमर पद (मोक्ष) में प्रतिष्ठित हो चुके थे। स्वर्गलोकमें जलती हुई ज्वालाओंद्वारा भूतलसे लेकर पातालतकका भाग खूब तप रहा था। सूखते हुए समुद्रमें निरन्तर पकते हुए भयंकर जलचर उछलते और छटपटाते दिखायी देते थे। जलरूपी इन्धन न मिलनेसे मानो बड़वानल उछलकर आकाशमें चला गया था और वहाँ सहस्रों रूप धारण करके मानो गगनाङ्गनाओंको पकड़कर नृत्य कर रहा था। महाप्रलयकालका प्रचण्ड अनल ज्वालारूपी पलाश-पुष्पके समान लाल रंगवाले वस्त्रसे सुशोभित हो नटराजकी भाँति ताण्डव नृत्य-सा करनेके लिये उद्यत हुआ था। उल्मुक ही मानो उसके लिये पुष्पहार थे। वेगसे फटते हुए बाँस आदिके फट-फट शब्द मानो उसके पैरोंकी धमक थे। वह उद्भट भटकी भाँति श्रीरोचित शब्द करता हुआ कालरूपी भुजाओंको ऊपर उठाये, धूमरूपी केश छिटकाये, जगत्‌रूपी जीर्ण कुटीमें नृत्य कर रहा था। उस समय वनोंके समूह, ग्राम, नगर, मण्डल, द्वीप, दुर्ग, जंगल, स्थल, पृथ्वीके समस्त छिद्र, उसके ऊपरका महान् आकाश, दसों दिशाएँ, द्युलोक तथा उसके ऊपरका भाग—ये सब-के-सब जल रहे थे। गड्ढे, रहट, बाजार, हाट, अट्टालिका और नगरसमूहसे सुशोभित दिशाओंके तटप्रान्त, पर्वतोंके शिखर, सिद्धोंके समूह, पर्वत, सागर, सरोवर, तालाब, तलैया, नदी, देवता, असुर, मनुष्य, सर्प तथा पुरुष-समूह रुद्रदेवके नेत्रोंकी सनसनाती हुई ज्वालाओंसे दग्ध हो रहे थे।

अनेक सूर्योंके उदय और अस्त आदिसे विन्ध्याचल भी व्यथित हो उठा था। आकाश [illegible] कमलोंसे सुशोभित सरोवरके समान दिखायी देता था।

धूममालाएँ भ्रमरावलियोंका भ्रम उत्पन्न करती थीं। उस महाप्रलयकालमें छाती पीट-पीटकर रोती हुई जगल्लक्ष्मीके हृदयस्थलपर रखे हुए हाथकी कलाईमें यह दग्ध हुई पृथ्वी सोनेके कंगन-सी जान पड़ती थी। समुद्र क्वाथके समान दिखायी देते थे, फेन-राशिके विकाससे पुष्ट हो रहे थे तथा सूर्यके प्रतिबिम्बरूपी तिलकसे अलंकृत अपने मुखपर तरङ्गरूपी हाथोंसे आघात करते हुए मानो (सिर पीट-पीटकर) रो रहे थे। सुवर्ण-द्रव, निकटवर्ती पर्वत, इन्द्र, कल्पवृक्ष, देवागार तथा गुहागृहोंसे युक्त सुन्दर आकारवाला सुमेरु पर्वत उस समय उसी तरह पिघल गया, जैसे कड़ी धूप होनेपर बर्फ गल जाता है। बाहर-भीतरसे शीतल एवं शुद्ध हिमवान् पर्वत उस प्रचण्ड प्रलयाग्निसे लाखके समान क्षणभरमें पिघल गया। श्रीराम! उस अवस्थामें भी मलय-पर्वत अपने निर्मल सौरभको नहीं छोड सका था; क्योंकि उदारचेता महापुरुष विनाशके समय भी अपने उत्तम गुणका परित्याग नहीं करते हैं। महान् पुरुष स्वयं नष्ट होता हुआ भी दूसरोंको आह्लाद ही प्रदान करता है। किसीको भी दुःख नहीं देता है। ठीक वैसे ही, जैसे चन्दन दग्ध होनेपर भी जीवधारियोंको आनन्द ही देता है।* उत्तम वस्तु कभी अवस्तुता (असत्ता या निकृष्ट अवस्था) को नहीं प्राप्त होती, जैसे सोना प्रलयाग्निसे दग्ध हो जानेपर भी सर्वथा नष्ट नहीं होता है। (सर्ग ७३—७५)

प्रलयकालके मेघोंद्वारा भयानक वृष्टि होनेसे एकार्णवकी वृद्धि तथा प्रलयाग्निका बुझ जाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब भूमण्डल और पर्वत-समूहका विस्तार अंगार-राशिसे भर गया, सर्वत्र ज्वालामालाओंका समूह छा गया और द्वादश सूर्योंका तेज सुस्पष्टरूपसे प्रकाशित होने लगा; जब ब्रह्मरूपी प्रस्तररहित सरोवरमें ज्वालारूपी दलोंसे सुशोभित एवं चिनगारीरूप केसरो एवं उल्मुकोसे युक्त प्रलयाग्निरूपी कमलिनीके वायुप्रधान सर्प एवं पर्वतरूप मूल पातालतक महान् अङ्गाररूपी कीचड़में मग्न हो गये, तब आकाशको सञ्चरणके योग्य देख मशकमें पानी ढोनेवाले ऊँटोंकी सेनाके समान कल्पान्तकालिक संवर्तक नामवाले मेघोंके समूह जो काजलकी भाँति काले थे, गर्जन-तर्जन करते हुए निकट आ गये। फिर तो वहाँ प्रबल प्रचण्ड धार वृष्टि होने लगी। आकाशमें वज्रकी कठोर गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी, मानो सारा ब्रह्माण्ड फूटा और फटा जा रहा हो। जैसे दावानलके प्रज्वलित होनेपर सारे वनमें भीषण लपटें छा जाती हैं, उसी प्रकार आकाशरूपी वनमे विद्युत्का प्रकाश छा जानेके कारण वह वर्षा बडी भयावनी जान पड़ती थी। पृथ्वी चटचट शब्दके साथ टूटने लगी, उसकी अङ्गारराशियाँ फूट-फूटकर बुझने लगीं। मेघोंकी गर्जनाओंके साथ ही बढ़ती हुई घोर वृष्टिसे लोक-लोकान्तर धराशायी होने लगे। अंगारयुक्त जगत्‌रूपी गेहमें विलास करनेवाली वह वृष्टि धरतीकी ज्वालारहित वाष्प-शोभासे सत्कृत हुई। उस शोभाने प्रकट होकर मानो सखीकी भाँति उसकी अगवानी की।

तदनन्तर जब पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चारो महाभूतोंमें परम विक्षोभ उत्पन्न हो गया, तब उस महाप्रलयकी वेलामें तीनों लोक ऐसे जान पडते थे, मानो तमालके वन उड़ रहे हों। सारी त्रिलोकी भस्ममेघ, धूम-मेघ, महाकल्पान्तकारी मेघ, वाष्परूपी मेघ तथा ऊपर छाये हुए जलकणरूपी मेघ—इन पाँच प्रकारके मेघोंसे आच्छादित हो रही थी। आकाशमें लगातार खम्भोंके समान मोटी मूसलधार वृष्टि हो रही थी, कल्पान्तकालकी

* तस्यामपि दशायां तु मलयोऽमलसौरभः। आसीत्यजत्युदारात्मा न नाशेऽप्युत्तमं गुणम्॥
नश्यन्नपि महान् ह्लाद न खेदं सम्प्रयच्छति। चन्दनं दग्धमप्यासीदानन्दायैव जीवताम्॥
(निर्वाण-प्रकरण उ० ७५। ५१-५२)

आगको बुझा देनेवाली उस अन्धाधुंध वर्षासे ढम-ढमकी घनी घोर आवाज हो रही थी । उस समय सारे समुद्र नदियोंके समूहोंद्वारा, जिनमें गङ्गा एक छोटी तरङ्ग-सी जान पड़ती थी, भरे जा रहे थे । आकाशवर्ती भयानक मेघोंकी ही भाँति वे सरिताएँ भी अपनी जलराशिसे समुद्रोंको परिपूर्ण कर रही थीं । पर्वतोंका आधारपीठ भूतल जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड-खण्ड हो चुका था, इसलिये उन पर्वतोंके तटप्रान्त गल गये थे । इधर उन्हें प्रलय-कालकी वायु उड़ा रही थी । इस अवस्थामें उन लुढ़कते हुए पर्वतोंके गिरनेसे संसारके सारे समुद्र उनके द्वारा सकीर्ण-से हो रहे थे । समुद्रकी तरङ्गोंद्वारा ऊपर फेंके गये प्रस्तरखण्डोंसे बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाली प्रलयवायु समुद्रकी गर्जनाके समान भीषण एवं गम्भीर घोष करती हुई त्रिलोकीकी सारी दिशाओंके तटप्रान्तको नष्ट-भ्रष्ट किये देती थी । प्रचण्ड वायुके टकरानेसे पर्वत-समूहोंकी गुफाओंमें जो भाँय-भाँयकी आवाज उठ रही थी, उससे सारा संसार व्याप्त हो गया था । लोकपालोंके नगर झोंके खा-खाकर चक्कर काटते हुए सब ओर गिर रहे थे । बड़े-बड़े पर्वतोंके विस्तृत भाग नष्ट हो गये थे ।

उस समय धूम और भस्मके बादल प्रकट होने लगे, पानीकी बाढ़से जनपद और नगरोंके समूह जलशायी होने लगे । ऊँची-ऊँची तरङ्गे उठने लगीं और भूतल तथा पर्वत डूबने लगे । भँवरोंमें पड़कर घर्घर-ध्वनि करने-वाले और आपसमें टकराकर एक दूसरेको विदीर्ण कर देनेके लिये उद्यत ऊँचे-ऊँचे पर्वत समुद्रमें बिखरे पत्तोंके समान चक्कर काट रहे थे । घूमते हुए सैकड़ों धूमकेतुओंके उत्पात उठ रहे थे । इससे इस जगत्‌की ओर देखना अत्यन्त कठिन हो गया था । सातवें पातालतकका सारा संसार अपने स्थानसे च्युत हुए द्वीपों और सागरोंसहित भूमण्डलके बड़े-बड़े खण्डों और लुढ़कते हुए अन्य पाताल-मण्डलोंसे पूर्ण-सा जान पड़ता था । नीचे सातवें पातालतक, मध्यमें भूमण्डल एवं पर्वतोंतक और ऊपर आकाश-मण्डलतक एकार्णव बना हुआ सारा जगत् प्रलय-वायुसे परिपूर्ण हो रहा था ।

(सर्ग ७६-७७)

बढ़ते हुए एकार्णवका तथा परिवारसहित ब्रह्माके निर्वाणका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जब वायु, वर्षा, हिम और दूसरे-दूसरे उत्पातोंके आगमनसे भूमण्डल नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्रके जलका वेग इस तरह बढ़ने लगा जैसे कलियुगमें राजाका वेग । वह एकार्णव आकाश-गङ्गा-के प्रवाहमें पड़ी हुई मेघधाराओंके गिरनेसे वेगपूर्वक बढ़ने लगा । तत्काल प्रकट हो मेरु और मन्दराचलके समान प्रकाशित होनेवाली सहस्रों सरिताओंने भी उसे बढ़ानेमें योग दिया । इस प्रकार जलसे भरे होनेके कारण वह एकार्णव उच्चताके अभिमानसे युक्त हो गया । उसने बड़े-बड़े पर्वतोंको सूखे तिनकोंके समान पकड़कर अपनी विस्तृत भँवरोंमें डाल दिया । वे वहीं चक्कर काटने लगे । उस एकार्णवने ऊँची उठती हुई उत्ताल तरङ्गोंके अग्रभागसे सूर्यमण्डलको भी निगल लिया । प्रचण्ड वायुके द्वारा उत्पन्न किये गये अपूर्व जल-प्रवाहरूपी कुछ पर्वतोंसे युक्त हुआ वह महार्णव महान् घुर्घुर और भयानक घर्घर ध्वनिके साथ अपने विशाल वेगको बढ़ाता जा रहा था । ब्रह्माण्ड-खण्डों-के बारंबार एक-दूसरेसे टकरानेके कारण उसकी ऊँचाई बढ़ती जा रही थी और वह ऊपर-नीचे लाखों योजनोंतक फैले हुए उच्चतम पदार्थोंको भी आत्मसात् करता जा रहा था । पंखयुक्त पर्वतोंके समान उठी हुई अनन्त तरङ्ग-समूहरूपी भुजाओंद्वारा वह महासागर पुष्कर और आवर्तक नामक कल्पान्तकारी मेघोंका मानो आलिङ्गन कर रहा था । त्रिलोकीको अपना ग्रास बनाकर पूर्णतः तृप्त हो गम्भीर स्वरमें गीत-सा गा रहा था और [illegible]से

अलंकृत अपनी तरङ्गमयी भुजाओंको उठाकर नृत्य-सा करता-जान पड़ता था । रघुनन्दन ! उस समय न तो आकाश था,न दिगन्त था, न नीचेका लोक था, न ऊपर-का लोक था, न कोई भूतवर्ग था और न कहीं सृष्टि ही थी । सर्वत्र केवल जल-ही-जल दृष्टिगोचर होता था।

रघुनन्दन ! जब तपोलोकपर्यन्त सारा जगत् प्रलय-कालके एकार्णवमें निमग्न हो गया, तब सत्यलोकके निकट आकाशमें स्थित होकर मैंने महान् प्रकाशसे युक्त ब्रह्मलोक-पर उसी प्रकार दृष्टि डाली, जैसे सूर्य प्रातःकाल संसार-पर अपनी प्रभा बिखेरते हैं । दृष्टि डालते ही समाधिमें अविचलभावसे स्थित हुए परमेष्ठी ब्रह्मा अपने मुख्य-मुख्य परिवारके साथ दिखायी दिये, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो पत्थरकी बनी हुई प्रतिमा हो । वहाँ देवताओं तथा शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंका समुदाय भी बैठा था । शुक्र, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण, अग्नि तथा अन्य देवर्षि भी वहाँ देखनेमें आये । देव, गन्धर्व, सिद्ध और साध्योंके नायक भी वहाँ उपस्थित थे । वे सब-के-सब पद्मासन लगाये इस तरह ध्यानमग्न होकर बैठे थे, मानो चित्रमें अङ्कित किये गये हों । वे निष्प्राणके समान वहाँ चेष्टाशून्य होकर बैठे थे । तदनन्तर पूर्वोक्त बारह सूर्य भी उसी स्थानपर आये और उन्हीं लोगोंकी भाँति पद्मासन लगाकर ध्यानमें मग्न हो गये । इसके बाद दो ही घड़ीमें मैंने अपने सामने बैठे हुए ब्रह्माजीको इस अवस्थामें देखा । वे ब्रह्मका चरम साक्षात्कार प्राप्त करके अविद्याकल्पित सारे प्रपञ्चका बाध हो जानेसे निद्रारहित (प्रबोधको प्राप्त) हो गये थे । जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नमें देखे गये पदार्थसमूहको बाधित और केवल अपनेको ही अवशिष्ट देखता है, वैसे ही वे आत्मावशिष्ट दिखायी दिये । फिर, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके परिवारके जितने लोग थे, उन सबको मैंने वहाँ वैसे ही तिरोहित पाया, जैसे तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंकी वासना तत्त्वज्ञानसे बाधित होकर अदृश्य हो जाती है । जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष अपने सामनेके स्वप्नगत नगरको नहीं देखता है, वैसे ही मैंने वहाँ किसीको भी नहीं देखा । उस समय वह ब्रह्मलोक तथा उनका ब्रह्माण्ड, जो ब्रह्माजीके सङ्कल्पसे ही बना था, निर्जन वन-सा सूना हो गया । जैसे भूतलपर अकस्मात् कोई भयंकर दुर्घटना होनेसे कोई नगर सर्वथा नष्ट हो गया हो, वही दशा उस ब्रह्माण्डकी हुई थी । तदनन्तर आकाशमें स्थित हुए मैंने ध्यान लगाकर यह जाना कि सभी लोग ब्रह्माजीके समान ही नाम-रूपका परित्याग करके निर्वाण-पदको प्राप्त हो गये हैं । वासनाका लय हो जाने-पर वे सब-के-सब अपने विशुद्ध ब्रह्मरूपमें स्थित हो जाने-के कारण अदृश्य हो गये थे । जैसे जगे हुए पुरुषोंके स्वप्नलोक उनके स्वप्नरूपमें ही लीन हो जानेसे दृष्टिगोचर नहीं होते हैं । जैसे स्वप्नमें अपना शरीर आकाशमें उड़ता दिखायी देता है, किंतु जागनेपर वह वासना शान्त हो जानेके कारण कुछ भी नहीं दीखता है,इसी प्रकार जाग्रत्-कालमें भी वासना रहनेपर ही शरीर दिखायी देता है । तत्त्वज्ञानके द्वारा वासनाका सर्वथा क्षय हो जानेपर कुछ भी नहीं दिखायी देता । वासनाका क्षय होनेसे द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूपी रोग शान्त हो जाता है, वासनाकी सत्ता रहनेपर ही यह सृष्टिनामक पिशाची प्रकट होती है ।

रघुनन्दन! सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माको सृष्टि रचनेकी इच्छा उत्पन्न होती है । तदनन्तर पूर्वकालकी जगत् वासनाओं-का जगद्रूपमें उद्भव होता है । इसलिये वासनाकी शान्ति-को निर्वाण समझना चाहिये और वासनाकी सत्ताको ही संसाररूपी भ्रम जानना चाहिये । चित्तकी वृत्तिको जगा-कर बहिर्मुख कर देनेसे बन्धन होता है और उसे परमात्मामें लीन कर देनेपर निर्वाण प्राप्त होता है । चित्तवृत्तिका जागरण ही संसाररूपी शिशुको प्रकट करनेवाला गर्भाशय है । उससे उत्पन्न हुआ यह जगत् असत् होकर भी सत्के समान भासित होता है । चित्तके संकल्पका जाग्रत्

होना ही बन्धन बताया गया है और उसे भुलाकर—आत्मामें लीन करके अपने चैतन्य-स्वरूपका अनुभव करना ही मोक्ष कहा गया है। रघुनन्दन! बन्ध, मोक्ष आदिकी सारी शङ्काएँ छोड़कर निर्वाणरूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, विशुद्ध, केवल बोधस्वरूप, द्वैताद्वैतसे रहित, परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हुए आकाशके समान विशद अन्तःकरणसे युक्त, बन्धनमुक्त तथा शान्तभावसे स्थित रहना चाहिये। (सर्ग ७८-७९)

ब्रह्मलोकवासियों तथा द्वादश सूर्योंका निर्वाण, अहंकाराभिमानी रुद्रदेवका आविर्भाव, उनके अवयवों तथा आयुधका विवेचन, उनके द्वारा एकार्णवके जलका पान तथा शून्य ब्रह्माण्डकी चेतनाकाशरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस तरह ब्रह्मलोकके वे सभी निवासी जैसे बत्ती जल जानेसे दीपक बुझ जाते हैं, वैसे ही वासनाका नाश होनेसे अदृश्य हो गये। ब्रह्माजीके ब्रह्मलीन हो जानेपर पूर्वोक्त बारह सूर्य अपनी प्रभासे प्रकाशित हो पृथ्वी आदि जगत्की भाँति उस ब्रह्मलोकको भी जलाने लगे। ब्रह्माजीके लोकको दग्ध करके उन्हींकी भाँति ध्यानपरायण हो वे भी तैलरहित दीपककी भाँति शान्त हो गये—निर्वाण पदको प्राप्त हो गये। तदनन्तर जैसे रातमें अन्धकार भूमण्डलको व्याप्त कर लेता है, वैसे ही उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त उस एकार्णवकी बाढ़ने विधाताके उस लोकको भी जलसे आप्लावित कर दिया। इस प्रकार जब ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा ब्रह्माण्ड एकार्णवके जलसे परिपूर्ण हो गया, तब वे कल्पान्तकारी मेघ छिन्न-भिन्न हो उस जलराशिमें ही विलीन हो गये।

इसी बीचमें मैंने वहाँ एक भयंकर रूप देखा, जो आकाशके मध्यभागसे प्रकट हुआ था। उसे देखकर मैं कुछ डर गया। उसकी आकृति कल्पान्तकालिक जगत्के समान काली थी। उसने सारे आकाशको व्याप्त कर रखा था और देखनेमें ऐसा जान पड़ता था, मानो कल्पभरकी सारी रातोंका एकत्र संचित हुआ अन्धकार ही देह धारण करके खड़ा हो गया हो। वह प्रातःकालके एक लाख सूर्योंका प्रकाशमान तेज अकेला ही धारण करता था। उसके तीन नेत्र थे, जो तीन सूर्योंके समान दिखायी देते थे और सुस्थिर विद्युत्-समूहके समान भयंकर जान पड़ते थे। उन नेत्रोंकी प्रभासे उसका मुखमण्डल अत्यन्त देदीप्यमान दिखायी देता था। वह पुरुष अपने अङ्गोंसे ज्वालापुञ्ज बिखेर रहा था। उसके पाँच मुख, दस भुजाएँ और प्रत्येक मुखमें तीन-तीन नेत्र थे। उसने अपने हाथमें एक त्रिशूल ले रखा था। उस अनन्त आकाशमें उसका वह विशाल शरीर व्याप्त हो रहा था। वह पुरुष आगेकी ओर बढ़ा आ रहा था। आकाशके समान विशाल और मेघके समान श्याम शरीरको धारण करके वह खड़ा था। एकार्णवमें डूबे हुए ब्रह्माण्डसे बाहर आकाशमें उसकी स्थिति थी। वह ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश हाथ-पैर आदि शरीरको धारण करके दृष्टिपथमें आ रहा हो। अपनी नासिकासे निकली हुई साँसके आने-जानेसे वह उस एकार्णवको कम्पित किये दे रहा था। वह अपने बाहुदण्डसे क्षीरसागरको विक्षुब्ध कर देनेवाले भगवान् विष्णुके समान जान पड़ता था। ऐसा लगता था, मानो उस कल्पान्तकालीन महासागरकी जलराशि ही पुरुषरूप धारण करके खड़ी हो गयी हो अथवा जिसका कोई कारण नहीं, वह सबका कारणभूत अहंकार ही मूर्तिमान् होकर आ गया हो या कुलपर्वतोंका समूह ही अपने पंखसमूहोंद्वारा उड़नेकी लीला करता हुआ समस्त

आकाशको परिपूर्ण करके ऊपरको उठ गया हो। उसके हाथमें त्रिशूल था और उसके तीन नेत्र थे। इन लक्षणोसे मैने पहचान लिया कि ये भगवान् रुद्र हैं। तब मैने दूरसे ही उन परमेश्वरको नमस्कार किया।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! रुद्रदेवने वैसा भयंकर रूप क्यों धारण किया था? वे काले और विशालकाय क्यो हुए थे? उनके पाँच मुख कौन-कौन और कैसे हैं? वे कैसे और कौन-सी दस भुजाएँ धारण करके वहाँ उपस्थित हुए? उनके तीन नेत्र कौन-कौन-से थे? उनका शरीर ऐसा भयंकर क्यों था? वे अकेले क्यों थे? वहाँ प्रकट होनेमें उनका प्रयोजन क्या था? वे किससे प्रेरित होकर आये थे? उन्होने वहाँ क्या किया था? और उनकी छाया कौन थी? ये सब बातें मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! वे परमेश्वर वहाँ अहंकारके अभिमानीरूपसे रुद्रनामधारी होकर प्रकट हुए थे। उस समय उनकी जो मूर्ति दिखायी दी थी, वह निर्मल आकाशरूपी ही थी। वे महातेजस्वी भगवान् रुद्र आकाश-रूपधारी होनेके कारण आकाशके समान ही श्यामवर्णसे युक्त दिखायी देते थे। चेतनाकाशमात्र ही उनका सारभूत स्वरूप है, इसलिये वे आकाशात्मा कहे गये हैं। सम्पूर्ण भूतोके आत्मा और सर्वव्यापी होनेके कारण ही वे विशालकाय बताये गये हैं। उन अहंकाररूपी रुद्रकी प्रत्येक शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है, उन्हींको ज्ञानी पुरुष उन रुद्रदेवके पाँच मुख बताते है। इसीलिये ज्ञानेन्द्रियाँ सब ओरसे प्रकाशस्वभाव कही गयी हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) तथा उनके पाँच विषय (बोलना, ग्रहण करना, विचरना, मलत्याग करना और विषयसुखकी उपलब्धि कराना)—ये दस क्रमशः उनकी दाहिनी-बायीं भुजाएँ हैं। उस प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूतोंसे परित्यक्त होकर आकाशमात्र रूपधारी वे रुद्रदेव एक क्षणतक वहाँ सबको विक्षुब्ध करते हुए-से स्थित रहते हैं। फिर कारणभूत अहंकार-शरीरसे रहित हो परम शान्त हो जाते हैं। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण; भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीन काल; चित्त, अहंकार और बुद्धि—ये त्रिविध अन्तःकरण; अ, उ और म्—ये प्रणवके तीन अक्षर तथा ऋक्, साम और यजुष्—ये तीन वेद ही उन भगवान् रुद्रदेवके नेत्ररूपसे स्थित हैं। उन्होंने अपनी मुट्ठीमें त्रिलोकीरूप त्रिशूलको धारण कर रखा है। उस समय समस्त भूतगणोंमें भी उनके सिवा दूसरा कोई स्थित नहीं था। इसलिये वे वहाँ अहंकारात्मक रुद्रके रूपमें देहाभिमानी-से होकर खड़े थे।

श्रीराम! तदनन्तर मैने देखा, वे परमेश्वर वहाँ उद्यमपूर्वक श्वास-वायुके वेगसे उस महासागरको पी जानेके कार्यमें प्रवृत्त हुए। उनके फैले हुए मुखका भीतरी भाग ज्वालामालाओंसे व्याप्त दिखायी देता था। उनकी श्वास-वायुसे आकृष्ट हुआ महासागर उनके भीतर उसी तरह समा गया, मानो वह बड़वानलमें विलीन हो गया हो। अहंकारस्वरूप भगवान् रुद्र ही कल्पपर्यन्त बडवानल होकर समुद्रमें निवास करते है और उसका जल पीते रहते हैं। किंतु प्रलयकालमें वे सारे समुद्रको ही पी जाते हैं। जैसे जल पातालमें, साँप बिलमें और पाँचों प्राणवायु प्राणियोंके मुखाकाशमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वह सारा समुद्र वेगपूर्वक रुद्रदेवके मुखके भीतर एक ही क्षणमें समा गया। उन श्यामरूपधारी रुद्रने थोडी ही देरमें उस जलको इस तरह पी लिया, जैसे सूर्यदेव अन्धकारको और सत्पुरुषोका सङ्ग दोष-समूहको पी जाता—नष्ट कर देता है। तत्पश्चात् ब्रह्म-लोकसे लेकर पातालतक सारा स्थान धूलि, धूम, वायु, समुद्र तथा भूतगणोसे रहित होकर शून्य, सम एवं शान्त आकाशमात्र रह गया। रघुनन्दन! उस समय वहाँ आकाशके समान निर्मल तथा चेष्टारहित केवल ये

चार पदार्थ ही दिखायी देते थे—एक तो वे नील गगनकी-सी आकृतिवाले भगवान् रुद्र ही दिखायी देते थे, जो आकाशके मध्यभागमें बिना किसी आधारके स्थित थे। दूसरा ब्रह्माण्ड-सदनका निचला भाग था, जो सातों पातालोंसे भी नीचे बहुत दूर दृष्टिगोचर होता था। वह पृथ्वी और आकाशके तल-भाग-सा जान पड़ता था। तीसरा पदार्थ था, ब्रह्माण्डमण्डलके ऊपरका भाग, जहाँ अत्यन्त दूर होनेके कारण दृष्टि नहीं पहुँचती थी; अतएव वह दुर्लक्ष्य आकाशके समान नीला जान पड़ता था। ब्रह्माण्डके वे ऊर्ध्व और अधोभाग अत्यन्त दूर होनेके कारण एक दूसरेसे विलग थे। उन दोनोंके बीचमें जो अनादि,अनन्त और विस्तृत ब्रह्मके समान निर्मल आकाश था, उसीको उस समय मैंने चौथे पदार्थके रूपमें देखा था। इन चारोंके सिवा दूसरी कोई वस्तु यहाँ मेरे देखनेमें नहीं आयी।

पार्थिव पदार्थोंका वह भाग, जो ब्रह्माण्ड-कपाल कहलाता है, कमलदलके समान स्थित है। जल आदि वस्तुएँ आधाररूपसे आश्रय लेनेके लिये उसीकी ओर दौड़ती हैं, जैसे बच्चे अपनी माँकी ओर दौड़े जाते हैं। जैसे प्याससे प्राणी जलकी ओर भागे जाते हैं, उसी प्रकार वे जलादि पदार्थ ब्रह्माण्ड नामक महाशरीरके निकटतम भागकी ओर दौड़ते हैं। जैसे शरीरसे जुड़े हुए हाथ-पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़ संयोगकी स्थितिको नहीं छोड़ते हैं, वैसे ही तैजस आदि पदार्थ भीतरसे ब्रह्माण्ड-शरीरका ही आश्रय ले अपनी स्थितिको नहीं छोड़ते हैं।

इस ब्रह्माण्डको यद्यपि किसीने धारण नहीं किया है तथापि वह परमात्माकी अचिन्त्य धारणात्मिका शक्तिसे अच्छी तरह धारित ही है। उसीके कारण यह पतनोन्मुख होनेपर भी गिरता नहीं है। यह सारा जगत् आकाररहित होनेपर भी स्वप्ननगरके समान साकार दिखायी देता है। जैसे चैतन्य शक्तिका प्रकाश होता है, वैसा ही यह जगत् भी स्थित है। जैसे आकाशमें श्यामता और शून्यता है, जैसे वायुमें गतिशीलता है, उसी तरह चेतनाकाश परमात्मामें यह जगत् स्थित है।

(सर्ग ८०)

रुद्रकी छायारूपिणी कालरात्रिके स्वरूप तथा ताण्डव-नृत्यका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर उस समय उस महाकाशमें मैंने देखा, भगवान् रुद्र मत्त-से होकर अकाण्ड ताण्डवमें प्रवृत्त हो रहे हैं। उनकी आकृति बहुत दूरतक फैली हुई थी। उनका शरीर आकाशके समान ही व्यापक दिखायी देता था। उनका आकार बहुत बड़ा था। उन्हें देखकर ऐसा लगता था, मानो एकार्णवका जल ही तत्काल देह धारण करके खड़ा हो गया हो। इसके बाद मुझे दिखायी दिया कि उनके शरीरसे छाया-सी निकल रही है, जो ताण्डव-नृत्यमें उनका अनुकरण एवं अनुसरण करनेवाली है। उस समय मेरे मनमें यह प्रश्न उठा कि द्वादश सूर्योंके विद्यमान न रहनेपर जब आकाशमें महान् अन्धकार छा रहा है, तब यह छाया कैसे स्थित हुई है? मैं इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि वह तत्काल नृत्य करती हुई शीघ्रतापूर्वक उनके आगे जाकर खड़ी हो गयी। उसका शरीर भी बहुत विस्तृत था तथा वह भी अपने तीन नेत्रोंसे सुशोभित हो रही थी। उसका रंग घोर काला था। वह बहुत ही दुर्बल थी। उसके अङ्गोंमें नस-नाडियोंके जाल सुस्पष्ट दिखायी देते थे। वह जरासे जर्जर हो रही थी। आकृति विशाल थी, मुखपर आगकी ज्वालाएँ व्याप्त थीं। वनके चञ्चल पत्र-पुष्प आदि मुकुट बनकर उसके मस्तककी शोभा बढ़ाते थे। वह कोयलेके समान काली थी मानो काली रात्रि ही उसका रूप धारण करके आ गयी हो, अन्धकारलक्ष्मी ही मूर्तिमती

हो गयी हो। वह बहुत लंबी थी। उसका मुँह विकराल दिखायी देता था। वह इस तरह खडी थी मानो आकाशको नापनेके लिये उद्यत हो। अपने बड़े-बडे घुटनों और भुजाओंके भ्रमणसे वह समस्त दिशाओंको मानो नाप लेना चाहती थी। वह ऐसी दुर्बल थी मानो बहुत कालतक उसे उपवास करना पडा हो। उसके विशाल शरीरमें सर्वत्र गड्ढे-ही-गड्ढे दीख रहे थे। वह काजलकी-सी काली और मेघमालाकी भाँति वायुके वेगसे चञ्चल जान पड़ती थी। जब वह बहुत बड़ी और दुर्बल होनेके कारण खड़ी होनेमें भी असमर्थ हो गयी, तब विधाताने मानो उसे नस-नाड़ियोंकी लंबी रस्सियोंसे बाँध दिया (जिससे वह अच्छी तरह खड़ी रह सके)। नस-नाड़ियों और अँतड़ियोंकी रस्सियोंद्वारा उसके सिर और हाथ-पैर आदि सभी अङ्ग इस तरह बँधे हुए दिखायी देते थे, मानो मूलसे लेकर शाखाओंके अग्रभागतक सूतोंसे बँधी हुई काँटेदार वृक्षकी झाड़ी हो। अनेक वर्णोंके सूर्यादि देवताओं तथा दानवोंके मस्तकरूपी कमलोंके समूहोंकी माला उसके कण्ठमें शोभा दे रही थी। श्वासे प्रज्वलित तथा निर्मल प्रभासे पूर्ण अग्निकी ज्वाला ही उसके लिये आँचल थी। उसके लंबे-लंबे कानोंमें नाग झूल रहे थे। उसने दो मनुष्योंकी लाशोंको कुण्डलके रूपमें धारण कर रखा था। जैसे सूखी लौकीकी लतामें दो बड़े-बड़े फल लटक रहे हों, उसी प्रकार उसकी छातीमें कुछ-कुछ हिलते हुए काले रंगके दो स्तन दिखायी देते थे, जो बहुत बडे होनेके कारण जाँघ-तक लटक रहे थे। उसके शरीरको देखकर मैंने यह अनुमान कर लिया कि यह वही कालरात्रि है, जिसके विषयमें साधु पुरुषोंने यह निर्णय किया है कि 'ये भगवती काली है।' उसके तीन नेत्र आगकी ज्वालासे परिपूर्ण थे। ललाटप्रान्त इन्द्रनील मणिके समान चमक रहा था। उसकी दोनों ठोढ़ियाँ गहरी होनेके कारण भयंकर जान पड़ती थीं। वात-स्कन्ध (प्रवह आदि वायु)-रूपी तागोंमें पिरोयी हुई तारावलियाँ उसके कण्ठदेशमें मुक्ताहारका काम दे रही थीं। वह वर्षा करनेवाले कल्पान्त-कालके मेघोंकी भाँति शोभा पानेवाली भ्रमणशील भुजाओंद्वारा सम्पूर्ण दिङ्मण्डलको व्याप्त करके खडी थी। वे भुजाएँ अपने नखोंकी कान्ति बिखेर रही थीं। हिमालय और सुमेरु पर्वत उसके दोनों कानोंमें चाँदी और सोनेकी बालियाँ बनकर शोभा बढ़ा रहे थे। ब्रह्माण्डरूपी घुँघुरुओंसे बनी हुई विशाल माला उसके कटिभागमें करधनीका काम दे रही थी। शिखर, वन और नगररूपी पुष्पगुच्छोंसे युक्त तथा पुराने नगर, वन, द्वीप और ग्रामरूपी कोमल पल्लवोंसे अलंकृत सातों कुलपर्वत उस भगवती कालीके गलेकी पुष्पमालाएँ बने हुए थे।

श्रीराम! उस देवीके अङ्गोंमें मैंने पुर, नगर, ऋतु, तीनों लोक, मास तथा दिन-रातरूपी फूलोंकी मालाएँ देखी थीं। उसके शरीरमें व्यक्त रूपसे स्थित नगर, ग्राम और पर्वत आदि मानो पुनर्जन्म पानेके आनन्दसे उल्लसित हो उसके साथ-साथ नाच रहे थे। कभी-कभी वह नहीं नाचती थी तो भी पर्वत, वन और काननोंसहित नाना आकारवाला सारा जगत्, जो मरकर फिर लौटा था, नाचता ही रहता था। वह कालरात्रि जब चतुराईके साथ नृत्य करने लगती थी, तब चन्द्रमा, सूर्य, दिन और रात उसके नखाग्र-भागकी रेखाओंके भीतर विद्यमान प्रभामें मिलकर घूमते हुए सुवर्ण-सूत्रके समान दीर्घाकार प्रतीत होते थे। जब भगवती कालरात्रिका ताण्डव-नृत्य होने लगता था, तब इन्द्र आदि देवता और असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्तिसे और-ही-और बनकर वायुसे उडाये गये मच्छरोंके समान अथवा अस्थिर विद्युत्के समान आते-जाते दिखायी देते थे। भगवतीके शरीरमें जो सर्ग दिखायी देता था, उसमें सृष्टि-प्रलय, सुख-दुःख. भव-अभव,

इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण एवं भ्रम आदि विभिन्न प्रकारके भाव कभी सदा एक साथ और कभी पृथक्-पृथक् रूपसे सुशोभित होते थे। सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त देवी कालरात्रि चैतन्य-शक्तिरूपा जगन्मयी, अनन्त एवं विशाल आकाशकोशके सदृश विशुद्ध शरीरवाली है। वह देवी (सूप) कुदाल, ओखली, चटाई, फाल, घट, पिटारी, मूसल, डोल या बाल्टी, बटलोई और खम्भे—इत्यादि वस्तुओंको भी फूलके समान मानकर उनकी माला धारण करके नृत्य करती थी। (सर्ग ८१)

रुद्र और काली आदिके रूपमें चिन्मय परमात्म-सत्ताकी ही स्फूर्तिका प्रतिपादन तथा सच्चिदानन्दघनका विलास ही रुद्रदेवका नृत्य है—इसका कथन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! जब प्रलय-कालमें सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी कालरात्रि अपने किस शरीरसे नाच रही थी ? सूप, फाल और घट आदिसे (जो उस समय नष्ट हो चुके थे) उसका माला धारण करना क्या है ? यदि ये सब वस्तुएँ थीं ही तो फिर त्रिलोकीका नाश क्या हुआ ? और यदि त्रिलोकी नष्ट हो गयी थी तो कालीके शरीरमें इन सब वस्तुओं-की स्थिति क्यों और कैसे सम्भव हुई ? निर्वाणको प्राप्त हुआ जगत् फिर आकर नाचने कैसे लगा ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वास्तवमें न वह पुरुष था, न वह स्त्री थी, न वह नृत्य हुआ न वे दोनों रुद्र और काली वैसे विशेषणोंसे युक्त ही थे। उनके आचार-व्यवहार भी वैसे नहीं थे और उनकी वे आकृतियाँ भी नहीं थीं। जो कारणोंका भी परम कारण है,—वह अनादि, चिन्मय आकाशस्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशरूप, अविनाशी, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द-घन, शिवस्वरूप साक्षात् ब्रह्म ही भैरव (रुद्र) के आकारमें दिखायी देता था। जगत्का नाश हो जानेपर उस रुद्रदेवके रूपमें स्थित हुआ वह चेतनाकाशस्वरूप परमात्मा ही था। चेतन होनेके कारण वह परमात्मा अपने चैतन्यस्वभाव वैभवको छोड़कर नहीं रह सकता। जैसे सुवर्ण कटक-कुण्डल आदिके रूपमें अवस्थित होता ही है, वह उन आकृतियोंका सर्वथा त्याग करके नहीं रहता, उसी प्रकार परमात्मा भी लीलाके लिये उमा, महेश्वर आदि सगुणरूप धारण करता ही है। वह अपने लीला-स्वभावको सर्वथा छोड़ नहीं सकता। बुद्धिमान् रघुनन्दन ! तुम्हीं बताओ, सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि आकृतियोंको क्यों नहीं धारण करेगा ? क्योंकि वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार ब्रह्म भी सकल्पद्वारा एकसे अनेक रूपमें प्रकट होता है, यह उसका श्रुतिप्रसिद्ध स्वभाव है। कोई भी पदार्थ अपने स्वभावके बिना कैसे रह सकता है ?

रघुनन्दन ! जन्म, मरण, माया, मोह, मन्दता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षणकाल, दीर्घकाल, सत्, असत्, सदसद्भाव, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, रूप आदि विषयोंका बाह्य इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण, उन्हीं विषयोंका मनके द्वारा चिन्तन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तेज, जल, वायु, आकाश तथा पृथिवी आदिके रूपमें जो यह दृश्य-प्रपञ्च फैला हुआ है, यह सब शुद्ध, निरामय चेतनाकाशरूप परमात्मा ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपताका परित्याग न करता हुआ ही सर्व-स्वरूप होकर स्थित है। मैंने जिस चिन्मय परमाकाशका वर्णन किया है, वह परमात्मा ही यहाँ शिव कहा गया है। यह सनातन पुरुष है। यही विष्णुरूपसे स्थित होता है

और यही पितामह ब्रह्मा है। यही चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि, वायु, मेघ और महासागर है। यही भूत, भविष्य और वर्तमान काल है। जो वस्तु है और जो नहीं है, वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है।

श्रीराम! मैंने जिस चिन्मय परमाकाशस्वरूप परमात्माका वर्णन किया है, वही श्रुतियोंमें शिव कहा गया है और वही प्रलयकालमें रुद्र होकर नृत्य करता है। विद्वानों और पुण्यात्माओंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! उस रुद्रदेवकी जो आकृति बतायी गयी है, वह वास्तवमें उसकी आकृति नहीं है। उस समय सच्चिदानन्दघनरूप आकाश ही उस आकारमें स्फुरित होता है। तत्त्वदृष्टिसे मैंने वह आकृति उस समय शान्त चेतनाकाशरूप ही देखी। मैंने ही उसे यथावत्‌रूपसे जाना। दूसरा कोई पुरुष जो तत्त्वदृष्टिसे रहित है उसे उस रूपमें नहीं देखता है। जैसे सुवर्ण ही विभिन्न आकृतियोंसे सुशोभित होनेवाले कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारोंके रूपमें स्थित होता है, वैसे ही सत्स्वरूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभावसे रुद्ररूप धारण करके विराजमान होता है। जो चिद्घन परमात्माका स्पन्द है, वही भगवान् शिवका स्पन्द (स्फुरण) है। वही हम लोगोंके सामने वासनावश नृत्यरूपके रूपमें प्रकाशित होता है। अतः प्रलयकालमें वे भगवान् शिव भयंकर आकृतिवाले रुद्र होकर जो वेगपूर्वक नृत्य करते हैं, उसे सच्चिदानन्दघन परमात्माका अपना सहज विलास ही समझना चाहिये।　　(सर्ग ८२-८३)

शिव और शक्तिके यथार्थ स्वरूपका विवेचन

श्रीरामजीने पूछा—मुने! अब यह बताइये कि जो काली नृत्य करती है, उसका क्या स्वरूप है? तथा वह जिन सूप, फाल, कुदाल और मूसल आदि वस्तुओंकी माला धारण करती है, उनका स्वरूप क्या है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! वे जो भैरव या रुद्र बताये गये हैं, उन्हींको चेतनाकाश-स्वरूप शिव कहते हैं। उनकी जो मनोमयी स्पन्दशक्ति है, उसे काली समझो। वह शिवसे भिन्न नहीं है। जैसे वायु और उसकी गति-शक्ति एक हैं, जैसे अग्नि और उसकी उष्णता या दाहक-शक्ति एक ही हैं, वैसे ही सच्चिदानन्दघन शिव और उनकी स्पन्दशक्ति (क्रियाशक्ति)-रूपा माया दोनों सदा एक ही हैं। जैसे गतिशक्तिसे वायु और उष्णताशक्तिसे अग्नि ही लक्षित होते हैं, उसी प्रकार अपनी स्पन्दशक्तिके द्वारा निर्मल चिदानन्दघन शान्तस्वरूप शिवका ही प्रतिपादन होता है। स्पन्दन या मायाशक्तिके द्वारा ही शिव लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं। शिवको ब्रह्म ही समझना चाहिये, उस शान्तस्वरूप शिवका वर्णन बड़े-बड़े वाणीविशारद विद्वान् भी नहीं कर सकते। मायामयी जो स्पन्दनशक्ति है, वही ब्रह्मस्वरूप शिवकी इच्छा कही जाती है। वह इच्छा इस दृश्याभास-रूप जगत्‌का उसी तरह विस्तार करती है, जैसे साकार पुरुषकी इच्छा काल्पनिक नगरका निर्माण करती है। इस प्रकार शिवकी इच्छा ही कार्य करती है। निराकार ब्रह्म-शिवकी वह मायामयी स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा ही इस सम्पूर्ण दृश्यजगत्‌का निर्माण किया करती है। वही अपने अन्तर्गत चिदाभासके द्वारा उद्दीप्त होकर जीव-चैतन्य अथवा चितिशक्ति कही गयी है। वही जीनेकी इच्छा-वाले प्राणियोंका जीवन है। वह स्वयं ही जगत्‌के रूपमें परिणत होनेके कारण समस्त सृष्टिकी प्रकृति (उपादान) है। दृश्याभासोंमें अनुभूत होनेवाले उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्यरूपी चार प्रकारके फलोंका सम्पादन करनेके कारण वही क्रिया भी कहलाती है। ब्रह्माण्डरूप धारण करनेवाली वह शक्ति या काली प्रलयकालमें जब समुद्र आदिके जलसे भीगी होती है, तब वड़वाग्निकी शिखाके समान तपनेवाले ग्रीष्मऋतुके

प्रचण्ड सूर्य आदिकी ज्योतियोंसे सुखायी जाती है; इसलिये उसे 'शुष्का' भी कहते हैं। दुष्टोंपर स्वभावतः अत्यन्त क्रोध करनेके कारण वह 'चण्डिका' कही गयी है। उसकी अङ्गकान्ति उत्पल—नील कमलके समान है; इसलिये उसका नाम 'उत्पला' भी है। एकमात्र जयमें प्रतिष्ठित होनेके कारण उसे 'जया' कहा गया है। सिद्धियोंका आश्रय होनेसे वह 'सिद्धा' कही गयी है। चूँकि जया है, इसीलिये 'जयन्ती' भी है। विजयका आधारभूत होनेसे उसे 'विजया' कहा गया है। अत्यन्त पराक्रमके कारण वह 'अपराजिता' नामसे प्रसिद्ध है। उसका निग्रह करना किसीके लिये भी दुष्कर कार्य है, अतः उसका नाम 'दुर्गा' है। ओंकारकी सारभूता शक्ति होनेसे वह 'उमा' कही गयी है। अपने मन्त्रका गान या जप करनेवालोंके लिये त्राणकारक तथा परमपुरुषार्थरूप होनेके कारण उस देवीका नाम 'गायत्री' है। जगत्के प्रसवकी भूमि होनेसे उस जगज्जननीका नाम 'सावित्री' है। स्वर्ग और अपवर्गके साधनभूत कर्म उपासना एव ज्ञानमयी दृष्टियोंका प्रसार करनेके कारण उस देवीको 'सरस्वती' कहा गया है। पार्वतीरूपमें उस देवीके अङ्ग और शरीर अत्यन्त गौर हैं, इसलिये वह 'गौरी' कहलाती है। वह महादेवजीके आधे शरीरमें संयुक्त है (अतएव भगवान् शिवको 'अर्धनारीश्वर' कहते हैं)। सुप्त और जाग्रत् जितने भी त्रिभुवनके प्राणी हैं, उनके हृदयमें नित्य-निरन्तर अकारादि मात्राओंसे रहित शब्दब्रह्म (प्रणव) के नादका उच्चारण होता रहता है। वह नाद अर्धमात्रास्वरूप होनेसे 'इन्दुकला' कहलाता है। वह इन्दुकला ही 'उमा' है। शिव और शिवा (रुद्र और काली) दोनों ही आकाशरूप हैं। अतः उनका शरीर काला दिखायी देता है (इसीलिये उन्हें काल-भैरव और काली कहते हैं)।

स्पन्दन (स्फुरण) मात्र ही जिसका एक स्वरूप है, वह भगवती काली 'क्रियाशक्ति' है। वही 'दान दे', 'स्नान करे' और 'अग्निमें आहुति दे' इत्यादि विधि-वाक्योंद्वारा विहित दान, स्नान और यज्ञ आदि श्रेष्ठ शरीर धारण करती है। वास्तवमें वह अनादि, अनन्त चिति-शक्ति है और अपनी इच्छासे ही अपनेमें सम्पूर्ण वैदिक क्रियारूपसे प्रकाशित होती है। वह आकाश-रूपिणी है। वही स्पन्दन (स्फुरण) रूप धर्मवाली कान्तिमती दृश्य लक्ष्मीके रूपमें प्रकट होती है। उस काली देवीके जो नाना प्रकारके अभिनय और नृत्य हैं, वे ही ब्रह्माजीकी सृष्टिमें ये जन्म, जरा और मरणकी रीतियाँ हैं। वह नील कमलिनीके समान कान्तिवाली होनेके कारण 'काली' कहलाती है। वही 'क्रियाशक्ति' एवं 'ब्रह्मांण्डकालिका'[1] कही गयी है। वह अपने ही अवयवभूत इस दृश्य लक्ष्मीको हृदयमें धारण करती है।

रघुनन्दन जैसे शून्यता आकाशका अङ्ग है, गतिशीलता वायुका अङ्ग है, चाँदनीमें खिलनेवाले कुमुद आदि पुष्प चाँदनीके अङ्ग हैं, उसी तरह क्रिया एवं दृश्य-जगत् चितिशक्तिके अङ्ग हैं। वास्तवमें उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल समझना चाहिये। उसमें थोड़ी-सी भी निश्चलता या चेष्टाशीलता नहीं है। इसलिये चितिशक्तिके खजानेमें मौजूद सारी सृष्टिपरम्पराएँ आत्माकी सत्यताके कारण ही सत्य प्रतीत होती हैं। वह भी उसीको, जो उनकी भावना करता है। दूसरेके लिये वे सब-की-सब असत्य ही है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानके जितने भी संकल्प तथा स्वप्नके नगरसमूह है, वे सब सत्य ही हैं, अन्यथा वह परब्रह्म सर्वरूप है, यह कथन कैसे ठीक हो सकता है? अन्य देशोंमें स्थित जो पर्वत, ग्राम आदि हैं, वे वहाँ जानेसे दूसरेको भी उपलब्ध होते हैं, उसी तरह कोई योगसिद्ध पुरुष यदि परकायप्रवेश-सिद्धिके द्वारा स्वप्नद्रष्टाके हृदयमें जाकर उसका मनरूप होकर देखे तो वह उसके स्वप्नगत पदार्थोंको उपलब्ध कर सकता है। जैसे गाढ़ निद्रामें

१. ब्रह्माण्डरूपी बीजकोशोंका निर्माण करनेवाली।

सोये हुए पुरुषको उठाकर एक स्थानसे दूसरे स्थानपर रख दिया जाय तो भी उसके शरीरके लुढ़के होनेपर भी उसका स्वप्नगत नगर नहीं लुढ़कता है; वैसे ही नृत्य करती हुई कालरात्रिके शरीरके चालित होनेपर भी उसके भीतर सोया हुआ जगत् न तो चालित होता और न लोटता है। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब होता है, उसी तरह कालीके शरीरमें जगत्की स्थिति है। (सर्ग ८४)

प्रकृतिरूपा कालरात्रिके परमतत्त्व शिवमें लीन होनेका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जो तत्त्वज्ञ नहीं हैं, उसकी दृष्टिमें वह चितिशक्ति ही क्रिया-रूप है। वह अनामय (निर्विकार) है तथापि स्वभावसे ही नृत्य करती है। उस क्रिया-रूपा चिति-शक्तिके कुदाल और पिटारी आदि आभूषण हैं। जैसे वायुकी गति या चेष्टा वायुसे भिन्न नहीं है, वैसे ही शिवस्वरूप परमात्माकी इच्छा-स्वरूपा वह कालरात्रि उससे भिन्न नहीं है। जैसे वायुके भीतरकी चेष्टा वायुरूप ही है; अतएव उसे चेष्टा नहीं भी कह सकते हैं, वैसे ही शिवकी इच्छा शिवके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, अतएव शिवरूप ही है। इसीलिये वह अनिच्छा ही है। इस दृष्टिसे शिवमें इच्छाका अभाव है।

वह कालरात्रि जब उस महाकाशमें नृत्य कर रही थी, उस समय उसने प्रेमावेशवश स्वयं अपने आवरणकारी अंशको हटाकर निकटवर्ती शिवका वैसे ही स्पर्श कर लिया, जैसे समुद्रजलकी रेखा अपने नाशके लिये ही वडवानलका स्पर्श कर लेती है। परम कारणरूप शिवका स्पर्श होते ही वह कालरात्रि धीरे-धीरे क्षीण होकर अव्यक्त भावको प्राप्त होने लगी। पहले तो वह अपने विशाल आकारका परित्याग करके पर्वताकार बन गयी। फिर नगराकार होकर विचित्र कल्पना-रूप पल्लवसे सुशोभित वृक्षके समान सुन्दरी बन गयी। इसके बाद उस आकारको भी छोडकर वह व्योमाकार हो शिवके ही स्वरूपमें वैसे ही प्रविष्ट हो गयी, जैसे नदी अपने वेगको शान्त करके महासागरमें मिल जाती है। तदनन्तर शिवासे रहित हो वे शिवस्वरूप परमात्मा एकाकी शिवरूपमें ही शेष रह गये। उस पूर्ववर्णित आकाशमें वे सर्वसंहारकारी रुद्र सारे उपद्रवोंकी शान्ति होनेपर अकेले शान्तभावसे स्थित हुए।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! शिवजीका स्पर्श प्राप्त होते ही वह परमेश्वरी शिवा क्यों शान्त हो गयी? यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! वह शिवा परमेश्वर शिवकी इच्छारूपा प्रकृति कही गयी है। वही जगन्मायाके नामसे विख्यात है। वह परमेश्वर शिवकी स्वाभाविक स्पन्द-शक्ति है। वे परमेश्वर प्रकृतिसे परे पुरुष कहे गये हैं। वायु भी उन्हींका स्वरूप है। वे शिवरूप-धारी शान्त परमात्मा शरत्कालके आकाशकी भाँति निर्मल एवं परम शान्तिमान् हैं। स्पन्दन (स्फुरणा या चेष्टा) मात्र ही जिसका स्वरूप है, वह परमेश्वरकी इच्छारूपा चिति-शक्ति भ्रमरूपिणी प्रकृति है। वह तभी-तक इस संसारमें भ्रमण करती है, जबतक कि नित्य-तृप्त, निर्विकार, अजर, अनादि, अनन्त एवं अद्वैत परमात्मा शिवका साक्षात्कार नहीं कर लेती। यह प्रकृति एकमात्र चैतन्यधर्मिणी है। अतः उसे चिति-शक्ति ही समझना चाहिये। यह चिति देवी जब शिवका स्पर्श करती है, तब पूर्णतः शिवस्वरूप ही हो जाती है। जैसे नदी समुद्रका स्पर्श करते ही अपने नाम और रूपको त्यागकर उसके भीतर समा जाती है, वैसे ही प्रकृति पुरुषका स्पर्श प्राप्त करते ही उसके भीतर एकताको प्राप्त हो अपनी प्रकृति-रूपताका परित्याग कर देती

है। उस समय प्रकृति चिति—निर्वाण-रूप परम पदको प्राप्त हो तद्रूप बन जाती है, जैसे नदी समुद्रमें मिलकर समुद्ररूप हो जाती है। रघुनन्दन! वह चिति शक्ति तभीतक मोहवश इन व्याकुल सृष्टिपरम्पराओ और उनकी जन्म आदि दशाओंमें भ्रमण करती रहती है, जबतक कि परब्रह्म परमात्माका दर्शन नहीं कर लेती। उनका दर्शन कर लेनेपर वह तत्काल उन्हींमें समा जाती है। (सर्ग ८५)

रुद्रदेवका ब्रह्माण्डखण्डको निगलकर निराकार चिदाकाशरूपसे स्थित होना तथा वसिष्ठजीका उस पाषाण-शिलाके अन्य भागमें भी नूतन जगत्को देखना और पृथ्वीकी धारणाके द्वारा पार्थिव जगत्का अनुभव करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जब मै खड़ा-खड़ा वह सब देख रहा था, तब मुझे दिखायी दिया कि वे भगवान् रुद्र तथा ब्रह्माण्डके वे दोनो खण्ड या कपाल चित्र-लिखितके समान निश्चेष्ट हैं। तदनन्तर एक ही मुहूर्तमें आकाशके बीच रुद्रदेवने ब्रह्माण्डके उन दोनो खण्डोंको अपनी सूर्यरूपिणी दृष्टिसे उसी तरह देखा, जैसे द्युलोक और भूलोकको देख रहे हों। फिर पलक मारते-मारते उन दोनों ब्रह्माण्डखण्डोको अपनी श्वास-वायुके द्वारा खींचकर उन्होने पाताल-गुफाके समान मुँहमें डाल लिया। इस प्रकार ब्रह्माण्डखण्डरूपी दुग्धसार तथा मिष्टान्नराशिको अपना ग्रास बनाकर वे भगवान् रुद्र उस समस्त आकाशमे चिदाकाशरूप होकर अकेले ही रह गये। तदनन्तर वे एक ही मुहूर्तमें बादलके समान हल्के और छोटे हो गये। फिर छड़ीके समान और उसके बाद बित्ते भरके हो गये। तत्पश्चात् जिन्हें वैसे विशाल रूपमें देखा गया था, वे रुद्र मुझे काँचके टुकड़ेकी एक कणिकाके समान दिखायी दिये। इसके बाद मैंने आकाशसे दिव्यदृष्टिद्वारा देखा, वे परमाणुके बराबर हो गये थे। परमाणुरूप होनेके पश्चात् वे अदृश्य हो गये। इस तरह भरे-पूरे जगत्से लेकर रुद्र-शरीरतक वह सारा महान् आरम्भ मेरे देखते-देखते शरत्कालके मेघखण्ड-की भाँति विलीन हो गया। श्रीराम! जैसे भूखा हिरन छोटे-से पत्तेको निगल जाता है, उसी प्रकार भगवान् रुद्रने जब इस प्रकार आवरणोंसहित समस्त ब्रह्माण्डको उदरस्थ कर लिया, तब दृश्यरूपी मलसे रहित केवल चेतनाकाश-रूप शान्त परमात्मा परब्रह्म ही शेष रह गया। उसका न कहीं आदि है न अन्त। चिन्मय आकाशमात्र ही उसका स्वरूप है। रघुनन्दन! इस तरह मैंने पाषाण-खण्डके कोटरमें दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बकी भाँति उस महान् विभ्रमरूप ब्रह्माण्ड एवं उसके महाप्रलयका दृश्य देखा था।

तदनन्तर उस विद्याधरीका, उस शिलाका तथा उस संसारभ्रमका स्मरण करके मै वैसे ही आश्चर्य-चकित हो गया, जैसे कोई गाँवका रहनेवाला गँवार पहले-पहल राजद्वारपर पहुँचकर विस्मयसे विमुग्ध हो जाता है। इसके बाद मैंने पुनः उस सुवर्णशिलाको ध्यानसे देखना आरम्भ किया। फिर तो मुझे कालीके शरीरमें स्थित हुए संसारकी भाँति उसमें सर्वत्र नूतन सर्ग दृष्टिगोचर होने लगे। वह घनीभूत मण्डलाकार सुवर्णमयी विस्तृत पाषाणशिला एकरूपमें ही स्थित थी और सन्ध्याकालके मेघकी भाँति परम सुन्दर दिखायी देती थी। इसके बाद मैंने आश्चर्यचकित हो उस शिलाके दूसरे भागके विषयमें भी उसी परादृष्टिसे विचार करना आरम्भ किया। विचार करते-करते देखता हूँ तो उस शिलाका दूसरा भाग भी उसी तरह जगत्के आरम्भसे ठसाठस भरा हुआ है। वहाँ पूर्ववत् एक छिद्र (आकाश) में नाना पदार्थोंसे सुन्दर संसार बसा हुआ था। उस शिलाके जिस-जिस प्रदेशको मैंने देखा, वहाँ-वहाँ दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भाँति मुझे निर्मल जगत्का दर्शन हुआ।

रघुनन्दन ! तदनन्तर चेतनाकाशस्वरूप निर्विकार अनन्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्मरूपसे स्थित हुए मैंने जब समाहित-चित्त होकर देखा तो अपने शरीरके भीतर ही मुझे सृष्टिरूपी वृक्ष एक अङ्कुरके रूपमें स्थित दिखायी दिया। जैसे डेहरीके भीतर रखा हुआ बीज वर्षाके जलसे भीग जानेपर अङ्कुरित हो जाता है, उसी प्रकार मेरे भीतर सृष्टि-बीज अङ्कुरित हुआ था। जैसे बीजके भीतर विद्यमान अङ्कुर सींचनेसे विकसित हो ऊपरकी ओर निकल आता है, उसी प्रकार मूर्त, अमूर्त, जड और चेतन सभी वस्तुओंमें जगत् विद्यमान है। जैसे सुषुप्तावस्थासे स्वप्नावस्थाको प्राप्त हुए चिन्मात्र पुरुषकी अपनी ही चेतनासे स्वप्नजगत्की दृश्य-लक्ष्मीका विकास होता है अथवा जैसे स्वप्नावस्थाके हट जानेपर जगे हुए पुरुषके समक्ष जाग्रत्-कालका दृश्य-प्रपञ्च विकासको प्राप्त होता है, उसी तरह जिसने सृष्टिके आरम्भमें अपने स्वरूपका पृथक् रूपसे अनुभव किया है, ऐसे आत्मामें इस सृष्टिका उदय होता है। हृदयाकाशमें उदित हुआ यह सर्ग चेतनाकाशसे पृथक् नहीं है।

तदनन्तर पृथ्वीकी धारणासे युक्त होकर मैं ध्यान करने लगा। पृथ्वीकी धारणा करनेपर उसके अभिमानी जीवकी स्वरूपता प्राप्त करके मैं द्वीप, पर्वत, तृण और वृक्षादिरूपी देहसे युक्त हो वहाँके जगत्का अनुभव करने लगा। मैं सम्पूर्ण भूमण्डल बन गया। नाना प्रकारके वन और वृक्ष मेरे शरीरके रोम हो गये। नाना प्रकारकी रत्नावलियाँ मेरे शरीरमें व्याप्त थीं और अनेकानेक नगर मेरे लिये आभूषणका काम दे रहे थे। पृथ्वीका रूप धारण करके मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीप नामक प्राणियोंके भोग्यस्थलों और जंगल-समूहोंसे व्याप्त हो गया। नाना प्रकारके पदार्थोंकी श्रेणियोंसे भरे हुए अनेकानेक मण्डल-कोश दृष्टिगोचर होने लगे तथा मैं लता, सरोवर, सरिता और कमलसमूहोंसे सुशोभित होने लगा।

(सर्ग ८६-८७)

श्रीवसिष्ठजीके द्वारा जल और तेजस्-तत्त्वकी धारणासे प्राप्त हुए अनुभवका उल्लेख

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! अब यह बताइये कि उस समय आपने विभिन्न भूभागोंके भीतर कहीं ब्रह्माण्डोंके दर्शन किये थे या नहीं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! पहले शिलामें जैसे सम्पूर्ण जगत् देखा गया था, वैसे ही उस समय भूमण्डलके सभी स्थानोंमें मुझे जगत्का जाल-सा बिछा हुआ दिखायी दिया। वह सारा दृश्यमय प्रपञ्च द्वैतमय होता हुआ भी वास्तवमें शान्त अद्वैत ही है। सभी स्थानोंमें जगत् है और सर्वत्र सबके आधाररूपसे ब्रह्म विराजमान है। अतः सब कुछ परम शान्त चिदाकाश-स्वरूप ब्रह्म ही है और सभी अनेक प्रकारके आरम्भोंसे परिपूर्ण है। रघुनन्दन! यद्यपि यह दृश्य 'सत्' और 'अहम्' इत्यादि रूपसे अनुभवमें आता है, तथापि उसका अस्तित्व परमार्थ-दशामें है ही नहीं और यदि है तो वह सब अजन्मा—निर्विकार ब्रह्म ही है।

मैंने धारणाद्वारा पृथ्वीका रूप धारण करके जैसे वहाँ नाना प्रकारके जगत् देखे थे, वैसे ही जलतत्त्वकी धारणासे जलरूप होकर वहाँ भी वैसे ही जगत्का दर्शन किया। जैसे काट-छाँटकर स्वच्छ किये गये इन्द्रनीलमणिके समान नील वर्णवाले भगवान् विष्णु शेषनागके अङ्गोंपर भगवती लक्ष्मीजीके साथ विश्राम करते हैं, उसी प्रकार श्याम-शरीरवाले मैंने भी बादलोंके आसनोंपर विद्युन्मयी वनिताके साथ विश्राम किया। रसरूप होनेके कारण मैंने जिह्वासम्बन्धी एक-एक अणुके साथ रहकर उत्तम अनुभव प्राप्त किया, जिसे मैं अपने शरीरका नहीं केवल ज्ञानरूप आत्माका ही

अनुभव मानता हूँ। जलकणका रूप धारण करके हवाके रथपर चढ़कर मैंने आकाशकी निर्मल गलियोंमें सुगन्धकी भाँति विचरण किया। जलकी समता प्राप्त करा देनेवाली उस जलमयी धारणाके द्वारा अजड होकर भी जड (जल)-सा बनकर तथा समस्त पदार्थोंके भीतर ज्ञातारूपसे रहता हुआ भी दूसरोंके द्वारा अज्ञात होकर रहा।

रघुनन्दन! तत्पश्चात् मैं तेजस्तत्त्वकी बढ़ी हुई धारणाके द्वारा चन्द्रमा, सूर्य, तारा और अग्नि आदि विचित्र अवयवोंसे युक्त तेज बन गया। तेजके सदा सत्त्व-प्रधान होनेके कारण मैं प्रकाशरूप बनकर चमक उठा। संसारमें जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाशके ही अङ्ग हैं। अतः सदा प्रकाशकी गोदमें शयन करनेवाले शुक्ल, कृष्ण और अरुण आदि समस्त वर्णोंका मैं स्वरूपदाता पिता हो गया। अपने तेजःस्वरूपसे मैं दिग्वधुओंके लिये स्वच्छ दर्पण बन गया। रात्रिरूपी कुहरेको नष्ट करनेके लिये वायु-स्वरूप हो गया। चन्द्रमा, सूर्य और अग्निका तो जीवन-सर्वस्व ही था। मैं स्वर्गलोकके लिये कुंकुमका आलेप बन गया। मैं तेज बनकर सुवर्ण आदि सुन्दर वर्ण (रंग) बन गया, मनुष्य आदिमें पराक्रम हो गया, रत्न आदिमें चकाचौंध पैदा करनेवाली कान्ति बन गया और वर्षाऋतुमें विद्युत्का प्रकाश हो गया। तेजकी धारणासे तेजोमय होकर मैं उन वृत्र आदि असुरोंके मस्तकपर वज्रका प्रहार बन गया; जो अपने थप्पड़से शत्रुओंका सिर फोड़ डालते थे। साथ ही सिंह आदिके हृदयमें पराक्रम बनकर बैठ गया। रणाङ्गणमें निर्भय विचरण करानेवाला जो उद्भट पराक्रम वीरपुरुषोंके भीतर प्रसिद्ध है, वह भी मैं ही बन गया। वह भी साधारण पराक्रम नहीं, अपितु जो कठोर लोह-कवचोंको तोड़नेवाले खड्गोंके परस्पर आघातोंसे उत्पन्न हुई टंकारध्वनिसे अत्यन्त पटु तथा महान् आडम्बरसे युक्त हो। सूर्यस्वरूप होकर मैंने दसों दिशाओंमें फैले हुए किरणरूपी हाथोंसे जगत्‌रूपी पक्षीको, जिसके बड़े-बड़े पर्वत अङ्ग थे, पकड़ लिया। उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटेसे गाँवके समान दिखायी दिया। चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होनेपर मेरा आकार अमृतसे भरी हुई झीलके समान हो गया। मैं द्युलोकरूपी सुन्दरीका मुख बन गया। निशारूपिणी निशाचरीके हास्य-सा लगने लगा और रात्रिमें यत्र-तत्र प्रवेश करनेवाले पुरुषोंके लिये प्रकाश-दीपका काम देने लगा। मैंने अग्नि बनकर दावानलकी ऐसी ज्वाला फैलायी, जिससे लकड़ियोंका तत्काल विदारण हो जाता था और मेरी दुर्निवार दीप्ति बढ़ जाती थी। बड़े-बड़े काष्ठोंके फूटने और फटनेसे अत्यन्त कठोर शब्द उत्पन्न होते थे। यज्ञाग्नि बनकर मैंने हविष्यादिका भी कल्याणकारी कार्य सम्पन्न किया। कहीं लोहार आदिकी प्रयोगशालाओंमें मैंने तप्त लोहपिण्ड आदिमें रहकर हथौड़े आदिसे ताड़ित होनेपर उन ताड़नकर्ताओंको जलानेके लिये आगकी चिनगारियाँ प्रकट की थीं।

श्रीरामजीने पूछा—मानदाता मुने! उस अवस्थामें आपको सुखका अनुभव हुआ या दुःखका? यह मुझे मेरी जानकारीके लिये बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जैसे सोया हुआ पुरुष चेतन होता हुआ भी जडताका अनुभव करता है, वैसे ही चेतनाकाश अपने संकल्पसे दृश्यभावको प्राप्त होकर जडताका-सा अनुभव करता है। जब ब्रह्म अपनेको पृथ्वी आदिके रूपमें समझता है, तब सुप्तकी भाँति जड-सा बनकर स्थित रहता है। इसका जो सच्चिदानन्दात्मक यथार्थ स्वभाव है, उसका कभी अन्यथाभाव नहीं होता।

(सर्ग ९०-९१)

धारणाद्वारा वायुरूपसे स्थित हुए वसिष्ठजीका अनुभव

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर मैं जगत्‌को देखनेके कौतूहलसे धीर-चित्तवृत्तिके द्वारा वायुमयी विस्तृत धारणा करके वायुरूप हो गया और लता-वल्लरीरूपिणी ललनाओंको नचाने लगा। कमल, उत्पल और कुन्द आदि पुष्पसमूहोंकी सुगन्धका संचय करके उसकी रक्षा करने लगा। नन्दनवनमें मेरा आना-जाना अत्यन्त मधुर और उदार होता था; क्योंकि वहाँ बड़ी मधुर सुगन्ध सुलभ होती थी। चन्द्रमण्डलमें जो श्रेष्ठ अमृत है, उसका चिरकालतक उपभोग करके पूर्णरूपसे घिरे हुए मेघोंकी घटारूप शय्यापर सोकर तथा कमलवनोंको कम्पित करके मैं प्राणियोंके श्रमका निवारण किया करता था। आकाशरूपी पुष्पका मैं ही सौरभ था। अतएव उसके गुणभूत सभी शब्दोंका मैं सहोदर भाई बन गया। प्राणियोंके अङ्गों और उपाङ्गोंमें प्रेरक बनकर उनकी नाड़ीरूप नालियोंमें जल-सा हो गया था। मैं सुगन्धरूपी रत्नोंका लुटेरा, विमानरूपी नगरोंकी आधारभूमि, दाहरूपी अन्धकारका निवारण करनेके लिये चन्द्रमा तथा शीतरूपी चन्द्रमाकी उत्पत्तिके लिये क्षीरसागर था। एक ही क्षणमें मैं समस्त पर्वतोंको उखाड़कर फेंकनेमें समर्थ था। वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकारकी क्रियाएँ करते-करते प्रलयपर्यन्त कभी भी विश्राम नहीं लिया। मेरे वे छः कर्म इस प्रकार थे। हिम और घी आदिको जमा देना—उसका पिण्ड बनाना, कीचड़ आदिको सुखाना, मेघ आदिको धारण करना, तृण आदिमें हलचल पैदा करना, सुगधको इधर-उधर ले जाना तथा ताप हर लेना।

श्रीराम ! इस प्रकार उस समय पृथ्वी आदि पाँच भूतोंका रूप धारण करके मैंने उस त्रिलोकीरूप कमलके उदरमें भलीभाँति विहार किया। पृथ्वी, जल, वायु और तेजके समूहरूप वृक्षोंके शरीरमें निवास करते हुए मैंने मूल-जालके द्वारा पृथ्वीका रस पीया और उसके स्वादका अनुभव किया। अमृतसे पूर्ण घनीभूत अङ्गवाले तथा चन्दन-द्रवके समान शीतलता आदि गुणोंसे सुशोभित चन्द्रबिम्बोंपर जो बर्फकी बनी हुई शय्याओंके समान थे, मैंने अच्छी तरह लोट-पोट किया है। उपभोगके बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमरको देते हुए मैंने सभी दिशाओं और सभी ऋतुओंमें समस्त वनसमूहोंके भीतर नाना प्रकारकी सुगन्धोंसे परिपूर्ण पुष्पराशियोंका अच्छी तरह सेवन किया है। कुमुद, कह्लार और कमलोंसे पूर्ण नलिनी-वनमें मैंने मधुर बोली बोलनेवाली हंसियोंके साथ लीला-पूर्वक कोमल कलकल नाद किया है। रघुनन्दन ! मेरी कृपासे प्रसन्न हुए सूर्य आदि देवताओंने शरीरसे कृष्ण, रक्त, श्वेत, अश्वेत, पीत एवं हरित वर्णोंसे हरे वृक्षोंकी भाँति मेरे शरीरमें स्थिति प्राप्त की थी। समुद्रोंसे घिरी हुई तथा सात द्वीपोंके कारण मानो सात रूप धरनेवाली इस भूमिको मैंने अपनी कलाईमें कंगनकी भाँति धारण कर लिया था। श्रीराम ! समस्त ब्रह्माण्डरूप होनेके कारण यद्यपि सारे पाताल मेरे चरण बन गये थे, मैं भूतलको उदरके रूपमें धारण कर रहा था और आकाश मेरा मस्तक था, तथापि मैंने अपनी परम सूक्ष्म चिन्मात्रस्वरूपताका कभी त्याग नहीं किया था। इस प्रकार चिदाकाशरूपसे स्थित हुए मैंने भूमि, जल, अग्नि और वायुका स्वरूप धारण किया। जैसे प्रसिद्ध चिति शक्ति स्वयं ही स्वप्नमें नगर आदिका रूप धारण करती है, उसी प्रकार मेरेद्वारा भूमि आदिका स्वरूप-धारण माया शक्तिका विस्तार ही था। (सर्ग ९२)

कुटीमें लौटनेपर वसिष्ठजीको अपने शरीरकी जगह एक ध्यानस्थ सिद्धका दर्शन, उनके संकल्पकी निवृत्तिसे कुटीका उपसंहार, सिद्धका नीचे गिरना और वसिष्ठजीसे उसका अपने वैराग्यपूर्ण जीवनका वृत्तान्त बताना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार धारणाके द्वारा सिद्ध हुए पृथ्वी आदिके रूपसे जगत्-शरीरका अवलोकन करनेके बाद पूर्वोक्त कौतुकदर्शनके संकल्प और प्रयत्नसे निवृत्त हो मै पुनः पहलेके समाधि-स्थान आकाश-कुटीरके प्रदेशकी ओर लौट आया। वहाँ आनेपर देखता हूँ कि मेरा अपना शरीर कहीं भी स्थित नहीं दिखायी देता है। वहाँ अपने सामने बैठे हुए किसी दूसरे ही सिद्धपुरुषको मै देख रहा हूँ, जो अकेला है। वह सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर बैठा था और अभीष्ट परम पदको प्राप्त हो चुका था। उसने पद्मासन बाँध रखा था। वह परम शान्त था और समाधिमें चित्तके स्थिर हो जानेसे उसका शरीर हिलता-डुलता नहीं था। भस्मनिर्मित त्रिपुण्ड्की रेखाओंसे युक्त, सौम्य तथा समान विस्तारवाले कंधोंसे उसकी ग्रीवा बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी। उसका मन उदार ब्रह्मतत्त्वमें विश्राम ले रहा था। इसलिये उसका शरीर सुस्थिर और मुख अत्यन्त प्रसन्न था। उस प्रसन्न मुखसे सुशोभित उसके मस्तककी जो निश्चल अवस्था थी, उसके कारण वह सिद्ध बड़ा सुन्दर दिखायी देता था। नाभिके निकट उत्तानभावसे रखे हुए उसके दोनों हाथोंकी शोभा दो प्रफुल्ल कमलोंकी शोभाके समान जान पड़ती थी। उन हाथोंकी शोभाके रूपमें मानो हृदय-कमलके प्रकाश ही बाहर प्रकट हो गये हों—ऐसा जान पड़ता था। उन कर-कमलोंकी प्रभासे यह सिद्धपुरुष प्रकाशित हो रहा था। उसके दोनों नेत्रोंकी पलकें बंद थीं। उसकी बाह्येन्द्रियोंके सारे व्यापार क्षीण हो गये थे। विक्षोभसे रहित तथा पूर्णरूपसे शान्त, अन्तःकरणरूपिणी गुफाको उसने अपनी धीर मनोवृत्तिके द्वारा इस तरह धारण कर रखा था, मानो समस्त उत्पातोंसे रहित शान्त आकाशको धारण किया हो। उस कुटीमें जब मैंने अपना शरीर नहीं देखा और सामने उस मुनिको ही देखा, तब मैंने अपने शुद्ध चित्तके द्वारा वहाँ यों विचार किया।

"जान पड़ता है ये कोई महान् सिद्ध महात्मा हैं, जो मेरी ही तरह सोच-विचारकर एकान्त महाकाशमें विश्राम लेनेकी इच्छासे इस दिगन्तमें आ पहुँचे हैं। 'मै समाधिके योग्य एकान्त स्थान पा जाऊँ, इस चिन्तामें ही पड़कर ये सत्यसंकल्पशाली महात्मा इधर आये है और इन्हें यह कुटी दिखायी दी है। उसके बाद दीर्घकालतक जब मैं नहीं लौटा हूँ, तब मेरे पुनः आगमनकी बात इनके ध्यानमें नहीं आयी है और इन्होंने शवरूपमें पड़े हुए मेरे शरीरको यहाँसे हटाकर स्वयं इस कुटियामें आसन जमा लिया है। मेरा वह शरीर तो अब नष्ट हो गया। अतः अब इस आतिवाहिक देहसे ही मैं अपने सप्तर्षिलोकको चलूँ"—ऐसा निश्चय कर मैं ज्यों ही वहाँसे चलनेको उद्यत हुआ, त्यों ही मेरे पूर्वसंकल्पका क्षय हो जानेसे वह कुटी अदृश्य हो गयी और वहाँ केवल आकाशमण्डल रह गया। फिर तो समाधिमें स्थित हुए वे सिद्धबाबा निराधार होकर नीचेकी ओर गिरने लगे।

मैंने पहले यह संकल्प किया था कि जबतक मैं यहाँ रहूँ, तबतक यह कुटी भी रहे, परंतु अब वह संकल्प क्षीण हो जानेसे कुटिया नष्ट हो गयी और सिद्ध महात्मा क्षण-भरमें वहाँसे गिर पड़े। तब सुजनता या कौतुकवश मैं उन गिरते हुए सिद्धपुरुषके साथ उस मनोमय (आतिवाहिक) शरीरसे ही आकाशसे भूतलकी ओर चला। गिरते समय उनका पैर पूर्ववत् पृथ्वीसे जा लगा और

मस्तक ऊपरकी ओर ही उठा रहा। वे पद्मासन लगाये हुए ही वहाँ गिरे थे। उनके प्राणने अपान वायुको ऊपरकी ओर खींच रखा था। इसीलिये वे पहले जिस प्रकार बैठे थे, उसी अवस्थामें आकाशसे नीचे आ गये। वे सिद्धपुरुष इतने ऊँचेसे गिरनेपर भी समाधिसे जगे नहीं; क्योंकि चित्तके परमात्मामें दृढ़तापूर्वक लगे रहनेके कारण वे अचेतन-से हो रहे थे। साथ ही उनका कोई अङ्ग भी भङ्ग नहीं हुआ; क्योंकि वे योगके प्रभावसे रूईके ढेरकी भाँति बहुत ही हल्के बन गये थे। तब मैंने उन्हें समाधि-से जगानेके लिये प्रयत्न आरम्भ किया और बादलका रूप धारण करके आकाशमें गर्जन-तर्जनके साथ वर्षा आरम्भ कर दी। ओले और वज्र गिरने लगे। जैसे बादल या वर्षा मोरको जगाती है, उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धि-कौशलसे उस दिगन्तमें उन सिद्धपुरुषको जगाया। समाधिसे जागनेके बाद उनके समस्त अङ्गोंकी शोभा प्रकाशित होने लगी और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे। उस समय वे ऐसे लगते थे, मानो वर्षाकालमें धारावाहिक वृष्टिसे विकसित हुआ कमलोंका वन हो। समाधिसे जागनेपर मैंने उनसे शुद्ध भावसे पूछा—'मुनीश्वर! आप कहाँ हैं और यह क्या कर रहे हैं? आप कौन हैं? इतनी दूरीसे आप नीचे गिरे हैं, फिर भी आप अपने चित्तमें उसका अनुभव क्यों नहीं कर रहे हैं?' मेरे इस प्रकार पूछनेपर उन्होंने मेरी ओर देखा। फिर अपनी पूर्वगतिका स्मरण करके वे मुझसे उसी तरह सुन्दर वचन बोले, जैसे चातक मेघसे बोलता है।

सिद्धने कहा—ब्रह्मन्! जबतक मैं अपने वृत्तान्तका स्मरण न कर लूँ, तबतक आप मेरे उत्तरके लिये प्रतीक्षा कीजिये। मैं आपसे अपना सारा पिछला वृत्तान्त कहूँगा।

इतना कहकर उन्होंने अपने पूर्व वृत्तान्तको शीघ्र ही स्मरण कर लिया। इसके बाद वे चन्द्रमाकी किरणोंके समान शीतल एवं मनोहर वाणीमें मुझसे बोले।

सिद्धने कहा—ब्रह्मन्! इस समय मैंने आपको पहचान लिया है। अतः प्रणाम करता हूँ। अबतक ऐसा न करनेसे मेरेद्वारा जो अपराध बन गया है, इसे आप क्षमा करें; क्योंकि क्षमा सत्पुरुषोंका स्वभाव है। मुने! जैसे कमलोंमें भौंरा भ्रमण करता है, उसी प्रकार मैंने सुदीर्घकालतक भोगरूपी सुगन्धसे पूर्ण मोहकारक देवोद्यान-भूमियोंमें चिरकालतक भ्रमण किया है। तदनन्तर चित्तरूपी जल-तरङ्गोंके हिलोरोंसे युक्त दृश्य-रूपिणी नदीमें उसके मण्डलाकार आवर्तों (भँवरों) द्वारा निरन्तर बहाये जाते हुए मैंने दीर्घकालके बाद विवेकका आविर्भाव होनेपर संसारसे उद्विग्न हो इस तरह विचार किया—'अहो! इस संसारमें शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धमात्रको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; अतः इतने ही मात्रमें—ऐसे तुच्छ विषय-भोगमें मै क्यों रमण करूँ? विषयोंमें विषोंकी विषमता भरी है, सुन्दरी स्त्रियाँ कामरूप मोहको ही देनेवाली हैं तथा राग सरस पुरुषको भी विरसता प्रदान करनेवाले हैं; इनमें लोटनेवाला कौन पुरुष नष्ट नहीं हुआ? इस शरीरमें शीघ्र प्राप्त होनेवाली जीर्ण-शीर्ण वृद्धावस्था एक विशाल बगुलीके समान है। वह यही सोचती रहती है कि मैंने इस जीवनरूपी कीचड़ या सेवारमें बहुत बड़ी मछली पा ली है। इसी भावसे वह इस शरीरको तत्काल उदरस्थ कर लेना चाहती है। यह शरीर समुद्रमें दीखनेवाले बुलबुलेके समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। यह सामने स्फुरित होता हुआ ही सहसा दीपशिखाके समान बुझकर अदृश्य हो जाता है।

'यह जीवन एक महानदी है। इसमें नाना प्रकारके विक्षेप बड़ी-बड़ी लहरोंके समान हैं। काल-चक्र ही इसमें भँवरें बनकर उठता है। जन्म और मरण ही इसके दो ऊँचे और विशाल तट हैं तथा इसमें सुख-दुःखकी छोटी-छोटी तरङ्गें उठती रहती हैं।

यौवनका उल्लास ही इसकी कीचड है । वृद्धावस्थाके सफेद केश ही इसके धवल फेन हैं । कभी काकतालीय संयोगसे इसमें सुखके बुद्बुद भी उठ जाते हैं । व्यवहार ही इसके महाप्रवाहकी रेखा है । इसमें नाना प्रकारके जड-रव (मूर्खोंके कोलाहल) ही जलरव (जलकी ध्वनि) हैं । राग-द्वेषरूपी बादल इसे बढ़ाते रहते हैं तथा भूतलपर इसका शरीर सदा ही चञ्चल रहता है । लोभ और मोहके महान् आवर्त इसमें उठते रहते हैं । पात और उत्पातसे इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । इस प्रकार यह जीवन नामक नदी शब्दमात्रसे तो अत्यन्त शीतल है; परतु वास्तवमें त्रिविध तापोंसे अत्यन्त संतप्त रहा करती है । यह महान् खेदका विषय है । संसाररूपी नदीके जलस्थानीय जो इष्ट, मित्र, पुत्र आदिके समागम और धन है, उनमें पहले-पहलेके तो चले जाते हैं और नये-नये आते रहते हैं । (इस प्रकार यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है ।) यहाँ जो पदार्थ प्राप्त है, वे नष्ट हो जाते हैं । अतः उन क्षणभङ्गुर पदार्थोंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । जब प्राप्त हुई वस्तुओंकी यह दशा है, तब जो नये पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनपर भी यहाँ कैसे आस्था हो सकती है ? ससारमें जितनी नदियाँ हैं, उन सबका जल उद्गमस्थानसे आता और समुद्रकी ओर जाता रहता है । परंतु इस शरीररूपी नदीका जो आयुरूपी जल है, वह केवल जाता ही है, फिर आता नहीं । भयंकर शत्रुभूत विषयरूपी चतुर चोर चारों ओर विचरते रहते हैं, वे विवेकरूपी सारा धन हर ले जाते हैं । अब मुझे निरन्तर जागते रहना चाहिये । यहाँ मैं सो कैसे रहा हूँ ? आज यह हुआ, कल यह होगा, यह इसका है और यह मेरा है—इस प्रकार संकल्प-विकल्प करता हुआ मनुष्य बीती हुई आयु और आयी हुई मौतको नहीं जान पाता है । यह कैसी आश्चर्यकी बात है ! खूब खा-पी लिया, अनन्त वनभूमियोंमें विचरण कर लिया और बहुत-से सुख-दुःख भी देख लिये । अब यहाँ और क्या करना या पाना शेष रह गया है ? मैंने ऊँचे शिखरोंवाले मेरु पर्वतकी उद्यान-भूमियोंमें अच्छी तरह भ्रमण किया । लोकपालोंके श्रेष्ठ नगरोंमें भी मैं घूम लिया । परंतु वहाँ भी कौन-सा स्वाभाविक सुख प्राप्त हुआ ?

'धन, मित्र, सुख और भाई-बन्धु कोई भी कालग्रस्त मनुष्यकी रक्षा नहीं कर सकते । मनुष्यका जीवन धूलि-राशिके समान अस्थिर है, उसकी स्थिति सुदृढ नहीं है । जैसे पर्वतशिखरोंपर गिरा हुआ वर्षाका जल प्रतिक्षण व्यर्थ नष्ट होता है, वैसे ही भीतरसे विषयोंमें आसक्त मनुष्य क्षण-क्षणमें क्षीण हो अन्तमें पुरुषार्थशून्य रहकर ही अस्त (मृत्युको प्राप्त) हो जाता है । कोई भी भोग मेरे मनको नहीं लुभा रहे है । यहाँके वैभव भी मुझे सुन्दर नहीं लगते हैं । यह जीवन भी मदमत्त युवतीके कटाक्षपातकी भाँति चञ्चल एवं क्षणभङ्गुर है । मुने ! यहाँ कहाँ, किसको, किस तरह और किस उपायसे आश्वासन प्राप्त हो । पापिनी मृत्यु आज या कल मस्तकपर पैर रख ही देगी अथवा माथेपर विपत्तिका पहाड डाल ही देगी । यह शरीर एक दिन पत्तके समान झड जाने-वाला है । जीवनकी स्थिति भी जीर्ण-शीर्ण ही है । बुद्धि अधीरतासे ग्रस्त है और विषयोंके रस नीरस हो गये हैं । नीरस विषय और उनके मनोरथ मेरी विस्तृत आयुको ले बीते । इनसे मेरे लिये कोई चमत्कारजनक पुरुषार्थ नहीं सिद्ध हुआ । आज मेरा मोह मन्द पड गया है । इस शरीरका इस जगत्में कोई उपयोग नहीं है । विषयोंमें आस्था या आसक्ति न करना ही ऊँची स्थिति है और जीवनके प्रति आस्था रखना ही सबसे अधम अवस्था है । अहो ! यह सम्पत्ति क्या मिली, विपत्ति ही सिरपर आ पडी है, जो भारी मोहमें डालनेवाली है । विवेकी पुरुषको सदा ऐसा ही मानना चाहिये और इस ससारमें कभी आसक्त नहीं होना चाहिये ।

जैसे समुद्रपत्नी सरिताएँ भूतलपर अपने शरीरको आन्दोलित करती हुई समुद्रकी ओर दौड़ रही हैं, उसी प्रकार जनता विषयोंकी ओर दौड़ी जा रही है। यहाँ आयु ही उत्पात-वायु है। मित्र ही बड़े भारी शत्रु हैं। बन्धु ही बन्धन हैं और धन ही बड़ी भारी मौत है। सुख ही अत्यन्त दुःख है। सम्पत्तियाँ ही भारी विपत्तियाँ हैं। भोग ही संसारके महान् रोग हैं तथा रति ही भारी अरति (दुःख) है। यहाँका सुख केवल दु:ख देनेके लिये है और जीवन भी मृत्युकी धरोहर है। अहो! यह मायाका विस्तार कितना दुःखद है !* विषय-सेवनरूप जो भोग हैं, उन्हें सर्पोंका फन ही समझना चाहिये; क्योंकि वे थोड़ा-सा भी स्पर्श होनेपर डँस ही लेते हैं। किंतु विचार-दृष्टिसे देखनेपर प्रतिक्षण विनाश-शील ही हैं। जो भोगोंकी अभिलाषासे उनके प्रति तृष्णा बाँधे बैठे हैं, उन लोगोंका उसी तरह पग-पगपर अपमान होता है, जैसे बन्धन-स्तम्भमें बँधे हुए जंगली हाथियोंका हुआ करता है।

'सम्पत्तियाँ और युवती स्त्रियाँ ये तरङ्गोंकी गोदके समान क्षणभङ्गुर हैं। इतना ही नहीं, वे सर्पके फनकी छाया हैं। कौन विवेकी पुरुष उनमें आसक्त होगा? जो आरम्भमें रमणीय प्रतीत होनेवाले किंतु अन्तमें अत्यन्त नीरस सिद्ध होनेवाले विषयभोगोंमें रमते हैं, वे नरकोंमें ही गिरते हैं†। धन राग-द्वेषादि द्वन्द्व दोषोंसे आक्रान्त हैं। उनका उपार्जन करना भी अत्यन्त कठिन होता है तथा प्राप्त हो जानेपर भी वे स्थिर नहीं रहते हैं। अतः वे अधम पुरुषोंके लिये ही सेवन करने योग्य हैं। जो आरम्भमें मधुर लगती है, परंतु अन्तमें दुःख ही देनेवाली है, वह लक्ष्मी (लौकिक सम्पत्ति) जगत्‌को मोहमें ही डालती है*। उसका विलास क्षणभरके लिये ही होता है। कोई महान्-से-महान् पुरुष क्यों न हों, उनके जीवनमें भी एक दिन मृत्यु अवश्य उपस्थित होगी। देहधारियोंकी आयु शाखाके अग्रभागमें लटकी हुई ओसकी बूँदके समान शीघ्र ही नष्ट होनेवाली है। जरा अवस्थाको प्राप्त होते हुए पुरुषके केश पक जाते हैं, दाँत भी टूट जाते हैं। उसकी और सब वस्तुएँ भी जीर्ण होकर क्षीण हो जाती हैं। परंतु एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है जो जीर्ण नहीं होती है, वह नित्य नयी ही बनी रहती है।† हाथकी अञ्जलिमें रखे हुए जलकी भाँति यह जीवन शीघ्र ही स्खलित हो जाता है। वह नदीके प्रवाहकी भाँति चला जाता है और लौटता नहीं है। इस जगत्‌में जो रमणीय जान पड़ते हैं, उन पदार्थोंमें मैंने अरमणीयता देखी है। स्थिर वस्तुओंमें भी अस्थिरताका दर्शन किया है और सत्य दीखनेवाले पदार्थोंमें भी मुझे असत्यता दिखायी दी है। इसीलिये मैं यहाँसे विरक्त हो उठा हूँ। मनके सर्वथा वासनाशून्य हो जानेपर जब परमात्मामें विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस समय जो आनन्द मिलता है, वह पाताल, भूतल और स्वर्गके भी किन्हीं भोगोंमें नहीं मिल सकता।'

मुने! इस तरह दीर्घकालतक विचार करनेसे अब अहंकारशून्य हो मैंने अपनी बुद्धिके द्वारा स्वर्ग और

---

* उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवातिशत्रवः ।
बान्धवो बन्धनान्येव धनान्येवातिनैधनम् ॥
सुखान्येवातिदुःखानि सम्पदः परमापदः ।
भोगा भवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
जीवितं मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥
(निर्वाणप्रकरण उ० ९३ । ७१—७३)

† आपातरमणीयेषु रमन्ते विषयेषु ये ।
अत्यन्तविरसान्तेषु पतन्ति निरयेषु ते ॥
(नि० प्र० उ० ९३ । ८०)

* आपातमात्रमधुरा दुःखपर्यवसायिनी ।
मोहनायैव लोकस्य लक्ष्मीः क्षणविलासिनी ॥
(नि० प्र० उ० ९३ । ८२)

† जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥
(नि० प्र० उ० ९३ । ८६)

अपवर्गसे भी विरक्ति प्राप्त की है। इस कारण मै भी आपकी ही भाँति चिरकालतक एकान्तमें विश्रामके लिये आकाशके इस स्थानतक आया और यहाँ मुझे आपकी कुटी दिखायी दी। आपकी ही यह कुटी है और आप पुनः यहाँ पधारेंगे, यह बात उस समय मैंने नहीं सोची थी। यह सब तो मुझे आज ही ज्ञात हुआ है। उस समय तो अनुमानसे मैंने यही जाना था कि यह कोई सिद्धपुरुष था, जो यहाँ अपना शरीर त्यागकर निर्वाण पदको प्राप्त हो गया है। भगवन्! यही मेरा वृत्तान्त है और यह मै आपके सामने उपस्थित हूँ। मैंने सब बातें आपको बता दीं। अब आप जैसा उचित समझें, करें। (सर्ग ९३)



श्रीवसिष्ठजी और सिद्धका आकाशमें अभीष्ट स्थानोंको जाना, वसिष्ठजीका मनोमय देहसे सिद्धादि लोकोंमें भ्रमण करना, श्रीवसिष्ठजीका अपनी सत्य-संकल्पताके कारण सबके दृष्टिपथमें आना, व्यवहारपरायण होना तथा 'पार्थिव वसिष्ठ' आदि संज्ञाओंको प्राप्त करना, पाषाणोपाख्यानकी समाप्ति और सबकी चिन्मयब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तत्पश्चात् मैंने सिद्धसे इस प्रकार कहा—'महात्मन्! मैंने भी तो आपके विषयमें कोई विचार नहीं किया, इसीसे उस कुटीको आकाशमें स्थिर नहीं कर दिया। उसे स्थिर कर दिया होता तो आपकी स्थिति भी सुस्थिर हो गयी होती। आपको इस प्रकार नीचे नहीं गिरना पड़ता (अतः हम दोनोंसे परस्पर अपराध हुए हैं, इसलिये दोनों ही दोनोंको क्षमा कर दें)। उठिये, अब हम दोनों सिद्धलोकोंमें चलकर पूर्ववत् निवास करें।' तदनन्तर हम दोनों गुलेलसे फेंके गये दो पत्थरकी गोलियोंके समान एक साथ ही तीव्र गतिसे आकाशमें उड़े। उस समय हमारी स्थिति दो तारोंके समान हो रही थी। ऊपर जाकर हम दोनोंने एक दूसरेको प्रणामपूर्वक विदा किया। फिर वे सिद्ध महात्मा अपने अभीष्ट स्थानको चले गये और मैं अपने अभीष्ट स्थानमें आ गया।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! आपका वह शरीर तो पृथ्वीपर गिरकर धूलके परमाणुओंमें मिल गया होगा! फिर आप किस शरीरसे सिद्ध लोकोंमें विचरे?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! हाँ, मुझे याद आ गया। उसके बादका मेरा वृत्तान्त सुनो। जगत्‌रूपी गृहमें, सिद्धोंके समूहोंमें तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें भ्रमण करते हुए मुझ वसिष्ठकी आत्मकथा इस प्रकार है—एक दिन मैं इन्द्रपुरीमें गया, परंतु वहाँ स्थूल शरीरसे रहित हो आतिवाहिक (सूक्ष्म) देहसे गये हुए मुझको न तो किसीने देखा और न पहचाना ही। मनका मनन ही एकमात्र मेरा स्वरूप था। मैं पृथ्वी आदिसे सर्वथा रहित था। संकल्प-कल्पित पुरुषकी भाँति मेरा कोई दृश्य आकार नहीं था। मुझसे किसीका स्पर्श न होनेके कारण मैं घट-पट आदि पदार्थोंका अवरोधक नहीं था। जगत्‌के पदार्थ-समुदाय भी मुझे कहीं आने-जानेसे रोक नहीं पाते थे। मैं अपने अनुभवकी ओर ही उन्मुख था अर्थात् अपना अनुभव ही मेरा शरीर था तथा अपने समान स्थितिवाले मनोमय पुरुषोंके साथ ही मै व्यवहार करता था।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! यदि देहरहित एवं आकाशस्वरूप होनेके कारण आप किसीको दिखायी नहीं देते थे तो उस सिद्धने आपको उस सुवर्णमयी भूमिमें कैसे देखा था?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! मुझ-जैसा ज्ञानयोगसे सिद्ध हुआ पुरुष संकल्पकल्पित पदार्थोंका जिस तरह अवलोकन करता है, उस तरह असंकल्पित पदार्थोंको

नहीं ग्रहण करता; क्योंकि उसका शरीर सत्यसंकल्पमय होता है। निर्मल अन्तःकरणवाला सूक्ष्म शरीरधारी पुरुष भी लौकिक व्यवहारोंमें मग्न होनेपर क्षणभरमें ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है। उस समय मैंने यह संकल्प किया था कि यह सिद्धपुरुष मुझे देखे। इसलिये उसने मुझे देखा; क्योंकि वह मेरे संकल्पित अर्थका भाजन था। परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध मनोरथवाले दो सिद्धोंमें जो अधिक शुद्ध अन्तःकरणवाला और पुरुषोचित प्रयत्नसे युक्त होता है, वही अपने अभीष्ट-साधनमें विजयी होता है। जब मैं सिद्धसमूहों तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें भ्रमण कर रहा था, उस समय व्यवहार-समूहोंके प्राप्त होनेसे मुझे अपनी आतिवाहिकता विस्मृत हो गयी थी—मैं अपने सूक्ष्म शरीरको भूल गया था। जब ऐसी स्थिति आ गयी, तब मैं उस महाकाशमें दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें प्रवृत्त हुआ। परंतु मेरा रूप ऐसा चञ्चल था कि वहाँ मुझे कोई देख नहीं पाता था। उस समय न तो मुझे सूर्य, चन्द्रमा तथा इन्द्र आदि देख पाते थे और न देवता, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराओंकी ही मुझपर दृष्टि पड़ती थी। वे लोग मेरी बाततक नहीं सुन पाते थे। यह सब सोचकर किसीके हाथ बिके हुए सत्पुरुषकी भाँति मैं मोहमें पड़ गया—किंकर्तव्यविमूढ-सा हो गया। इसके बाद मैंने सोचा, 'मैं तो सत्यकाम हूँ। जो भी संकल्प करूँगा—सत्य होगा', यह बात ध्यानमें आते ही मैंने संकल्प किया—'ये देवतालोग मुझे देखें'। ऐसा संकल्प होते ही उस देवलोकमें मेरे सामने रहनेवाले सभी देवता मुझे तत्काल देखने लगे, जैसे नगरमें आये हुए इन्द्रजालमय वृक्षको सभी दर्शक शीघ्र ही देखने लगते हैं। तत्पश्चात् देवताओंके घरोंमें मेरा सब व्यवहार चलने लगा। मैं अपने यथोचित आचारका पालन करता हुआ निःसंकोच वहाँ रहने लगा जिन लोगोंको मेरे वृत्तान्तका ज्ञान नहीं था, उनमेंसे जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे अपने आँगनमें आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगोंने पृथ्वीसे ही मेरी उत्पत्तिकी कल्पना करके मुझे 'पार्थिव वसिष्ठ' कहा—फिर इसी नामसे लोकमें मेरी प्रसिद्धि हुई। जो लोग आकाशमें रहते थे, उनमेंसे जिन महानुभावोंने मुझे आकाशमें भगवान् सूर्यदेवकी किरणोंसे प्रकट हुआ देखा, उन्होंने लोकमें 'तैजस् वसिष्ठ' नाम देकर मुझे प्रसिद्ध किया तथा जिन आकाशवासी सिद्धोंने वायुसे मेरा प्राकट्य देखा, उन्होंने मुझे 'वात-वसिष्ठ' की संज्ञा दी तथा जिन मुनीश्वरोंने मुझे जलसे उठते देखा, उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम दिया। इस प्रकार दृष्टिभेदसे मेरी यह जन्मपरम्परा कल्पित हुई है। तभीसे लोकमें मैं कहीं पार्थिव, कहीं जलमय, कहीं तैजस् और कहींपर मारुत-वसिष्ठ नामसे विख्यात हुआ।

इस तरह कहीं आकाश आदि पञ्चभूतरूपसे स्फुरित होनेपर भी मैं एकमात्र चिन्मय स्वभाववाला निराकार, चेतनाकाशरूप परब्रह्म ही हूँ तथा तुमलोगोंके बीच उपदेश आदि व्यवहारकी सिद्धिके लिये स्थूल आकारसे युक्त भी दिखायी देता हूँ। जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष सारा व्यवहार करता हुआ भी ब्रह्माकाशरूपसे ही स्थित रहता है, उसी तरह विदेहमुक्त भी ब्रह्मरूपसे ही स्थित होता है। किंतु जिस पुरुषकी बुद्धि संसारवासनावश देह और इन्द्रियके द्वारा भोगनेयोग्य अयोग्य वस्तु—विषयभोगमें आसक्त होती है तथा जिसके मनमें कभी मोक्षकी आकाङ्क्षा नहीं जाग्रत् होती, वह मन्दबुद्धि मानव मनुष्य नहीं, कुत्ता अथवा कीड़ा है* (क्योंकि वह भोगरूपी गंदी चीजको पसंद करता है, मनुष्य तो वही है जो मोक्षके लिये प्रयत्नशील है)। श्रीराम! चित्तका सर्वथा शान्त एवं शीतल होना मोक्ष है तथा उसका संतप्त होना ही बन्धन है। ऐसे मोक्षमें भी लोगोंकी

* संसारवासनाभावरूपे सक्ता नु यस्य धीः।
मन्दो मोक्षे निराकाङ्क्षी स श्वा कीटोऽथवा जनः॥
(नि० प्र० उ० ९५। २६)



राजा बलि और शुक्राचार्य (उपशम-प्रकरण सर्ग ४५-४६)

रुचि नहीं हो रही है। अहो! यह संसार कितना मूढ़ है! यह मानव-समुदाय स्वभावसे ही विषयोंके वशीभूत है। इसीलिये एक दूसरेकी स्त्री और धनका अपहरण करनेके लिये लोलुप हो रहा है। जब वह मुमुक्षु होकर शास्त्रोंके अर्थका विचार करता है, तब यथार्थ दृष्टि (तत्त्व-साक्षात्कार) प्राप्त करके सदाके लिये सुखी हो जाता है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! जब वसिष्ठ मुनि इतना उपदेश दे चुके, तब वह दिन बीत गया। भगवान् सूर्य अस्ताचलको चले गये। इधर उस राज-सभाके लोग सायंकालिक कृत्यके हेतु स्नान करनेके लिये मुनिवर वसिष्ठको नमस्कार करके उठ गये तथा रात बीतनेपर सूर्यदेवकी किरणोंके उदयके साथ ही फिर उस सभामें लौट आये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—कर्तव्यका ज्ञान रखनेवाले रघुनन्दन! यह मैंने तुमसे पाषाणोपाख्यान कहा। इस आख्यायिकासे जो विज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही समझना चाहिये कि सारी सृष्टियाँ चेतनाकाशमें ही स्थित हैं। यहाँ जो कुछ भी दीखता है, उसे चिन्मय ब्रह्म ही समझना चाहिये। जैसे स्वप्न-दर्शनके समय जो नगर प्रकट होता है, वह अपने चिन्मय स्वरूपसे कदापि भिन्न नहीं है। वस्तुतः यह सृष्टि नहीं है, एकमात्र चैतन्य-शक्ति ही विराज रही है। जैसे सोनेके आभूषणोंमें सोना ही सत्य है, अंगूठी आदिके नाम और आकार नहीं। जैसे स्वप्नमें निर्विकार चिति-शक्ति ही पर्वतके रूपमें प्रकाशित होती है, उसी तरह निराकार ब्रह्म ही सृष्टिके रूपमें भासित हो रहा है। ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह सारा दृश्य चिन्मय आकाशरूप, अनन्त, अजन्मा और अविनाशी ब्रह्म ही है। वस्तुतः सहस्रों महाकल्पोंमें भी न तो यह उत्पन्न होता है और न इसका नाश ही होता है। पुरुष चेतनाकाश-रूप ही है। यह जो आप पुरुषोत्तम बैठे हैं, चेतना-काशरूप ही हैं। मैं भी अजर-अमर चेतनाकाश ही हूँ और ये तीनों लोक चेतनाकाश ही हैं। 'मैं अद्वितीय चिन्मात्र ब्रह्म ही हूँ। ये शरीर आदि मेरे नहीं हैं।' जब ऐसा बोध प्राप्त हो जाता है, तब जन्म-मरण आदि अनर्थ कहाँ रह सकते हैं? मैं 'चिन्मात्र निर्मल ब्रह्म हूँ।' इस आत्मानुभवको जो स्वयं ही कुतर्कोंद्वारा खण्डित करते हैं वे आत्महत्यारे हैं। उन्हें विपत्तियोंके महासागरमें डूबना पड़ता है। 'मैं आकाशसे भी स्वच्छ, नित्य अनन्त एवं निर्विकार चेतन हूँ, ऐसी दशामें क्या मेरा जीना, क्या मरना अथवा क्या सुख-दुःख भोगना है? मैं परमाकाशस्वरूप चेतन ब्रह्म हूँ। ये शरीर आदि मेरे कौन होते हैं?' इस तरह विद्वानोंके द्वारा अन्तःकरणमें किये गये अनुभवका जो कुतर्कोंद्वारा अपलाप या खण्डन करता है, वह पुरुष आत्मघाती है। उसे बारंबार धिक्कार है। 'मैं स्वच्छ चेतनाकाश हूँ।' जिस पुरुषका यह स्पष्ट अनुभव नष्ट हो गया हो, उसे विद्वान् पुरुष जीवित शव समझते हैं अर्थात् वह जीता हुआ भी मुर्देके समान है। 'मैं ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हूँ। देह और इन्द्रियाँ मेरी कौन होती हैं।' इस प्रकार अपरोक्षज्ञानके द्वारा जिसने आत्माको उपलब्ध कर लिया है, अविद्या आदि मलोंसे रहित उस विशुद्ध पुरुषको मृत्यु आदि आपदाएँ विमोहित नहीं कर पातीं। जो शुद्ध चिन्मय परमात्माका आश्रय लेकर सुस्थिर हो गया है, उस महापुरुषको मानसिक चिन्ताएँ उसी तरह मोहित नहीं कर पाती हैं, जैसे महान् पत्थरको तुच्छ बाण। जिन पुरुषोंने अपने चिन्मय स्वभावको भुलाकर नश्वर शरीरपर ही आस्था बाँध रखी है, उन्होंने वास्तवमें सुवर्णको त्यागकर भस्मको ही सोना मानकर ग्रहण किया है। 'मैं देहरूप ही हूँ' इस भावनासे पुरुषके बल, बुद्धि और तेजका नाश हो जाता है तथा 'मैं चेतन आत्मा हूँ' इस दृढ़ निश्चयसे उसके बल, बुद्धि और तेजकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। 'मैं न तो छेदा जाता हूँ और न जलाया ही जाता हूँ; क्योंकि मैं वज्रके समान सुदृढ़ चिन्मय परमात्मा हूँ। मेरी

अपने चिन्मय स्वरूपमें ही नित्य स्थिति है। मैं देहाभिमानी नहीं हूँ।' जिस पुरुषको ऐसा निश्चय हो गया है, उसके लिये यमराज भी तृणके समान तुच्छ है। चेतनपुरुष इस जगत्में जिस-जिस वस्तुको जिस रूपसे देखता या समझता है, उस वस्तुका उसी रूपसे अनुभव करने लग जाता है। यह अनुभवसिद्ध बात है। इसलिये ये सब पदार्थ विषामृत (विषको अमृत-) दृष्टिसे देखे गयेके समान स्थित हैं। अतः कोई भी वस्तु चेतन आत्मासे भिन्न नहीं है, यह बात पूर्णतः सिद्ध हो चुकी है।

(सर्ग ९४—९६)

परमपदके विषयमें विभिन्न मतवादियोंके कथनकी सत्यताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! 'यह जगत् परमात्माका स्वप्न है, इसलिये चिन्मय है, ब्रह्माकाशरूप है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है।' इस दृष्टिसे सबको सत्य जगत्का ही अनुभव होता है, असत्यका नहीं। 'पुरुष चिन्मय एवं अकर्ता है। अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व आदि-के क्रमसे इस जगत्की उत्पत्ति होती है।' ऐसी दृष्टि रखनेवाले आचार्य महानुभावोंके मतको भी सत्य ही समझना चाहिये; क्योंकि इस भावका चिन्तन करनेसे ऐसा ही अनुभव होता है। 'यह सारा दृश्य ब्रह्मका विवर्त है—ब्रह्म ही इस दृश्यजगत्के रूपमें भासित हो रहा है' ऐसी बातें कहनेवाले महापुरुषोंका मत भी सत्य ही है; क्योंकि इस तरह आलोचना करनेपर इसी रूपमें समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है। इसी प्रकार जो लोग 'सम्पूर्ण जगत्को परमाणुओंका समूहरूप' ही मानते हैं, उनका वह मत भी सत्य ही है; क्योंकि उन्हें जिस-जिस पदार्थके विषयमें जैसा-जैसा अनुभव हुआ, उस-उस अनुभवके अनुसार की गयी उनकी कल्पना भी ठीक ही है। 'इस लोक या परलोकमें जो कुछ जैसा देखा गया है, वह वैसा ही है। उसे न सत् कह सकते हैं, न असत्। वास्तविक तत्त्व इन दोनोंसे विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है।' इस तरहका जो प्रौढ आध्यात्मिक मत है, वह भी सत्य ही है; क्योंकि वे वैसा ही अनुभव करते हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि 'बाह्य—पृथ्वी आदि चार भूतोंका समुदाय ही जगत् है। इससे भिन्न अन्तर्यामी आत्माकी सत्ता नहीं है।' ऐसा कहनेवाले जो नास्तिक हैं परंतु वे भी अपनी दृष्टिसे ठीक ही कहते हैं; क्योंकि वे इन्द्रियातीत आत्माको अपने स्थूल देहमें ही ढूँढ़ते हैं, परंतु उसे पाते नहीं हैं। क्षणिक विज्ञानवादी जो 'प्रत्येक पदार्थको क्षणभङ्गुर' बताते हैं, उनका वह मत भी युक्ति-संगत ही है; क्योंकि सभी पदार्थोंका निरन्तर परिवर्तन एवं उलट-फेर देखनेमें आता है।

परमपद सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त है। इसलिये उसके विषयमें जो जैसा कहता है, वह सभी सम्भव है। 'जैसे घड़ेके भीतर बंद हुआ गौरैया घड़ेका मुँह खोल देनेपर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देहके भीतर बंद और देहके बराबर आकारवाला जीव कर्मक्षय हो जानेपर उड़कर परलोकमें चला जाता है।' इस मतको माननेवाले लोगोंकी कल्पना भी उनके मतानुसार ठीक है। इसी तरह म्लेच्छोंका यह मत है कि 'जीव देहके बराबर ही बड़ा है। उसे ईश्वरने उत्पन्न किया है। जहाँ शरीर गाड़ा जाता है, वह वहीं रहता है। ईश्वर कालान्तरमें उसके विषयमें विचार करते हैं। तब उन्हीं-की इच्छासे उसकी मुक्ति होती है अथवा वह स्वर्ग या नरकमें डाला जाता है।' आत्मसिद्धिके लिये की हुई म्लेच्छोंकी यह कल्पना उनके भावके अनुसार ठीक कही जा सकती है और उनके देशोंमें वह दूषित नहीं मानी जाती है। जो संत महात्मा हैं, वे 'ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण और जन्म आदिमें भी समभाव' रखते हैं। यह भी ठीक ही है; क्योंकि विभिन्न विचारधाराके विद्वानोंका जो मत है, वह सब सर्वात्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

इसलिये अपने-अपने मतके अनुसार साधन करनेपर उन्हें तदनुसार सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। आस्तिकोंके मतमें 'जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है। अतः पारलौकिक लाभके लिये किये गये तीर्थ-स्नान और अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं।' ऐसी जो उनकी भावित भावना है, उसे सत्य ही समझना चाहिये। 'यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य ही है, किंतु अनिर्वचनीय है' इस प्रकार माननेवाले वादियोंका मत भी असत्य नही है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् ब्रह्मकी जो मायाशक्ति है, वह न तो शून्यरूप है और न सत्य ही है किंतु उसे अनिर्वचनीय समझना चाहिये। इसलिये जो अपने जिस निश्चयमें दृढ़तापूर्वक स्थित है, वह यदि बालोचित चपलता या मूढताके कारण उस निश्चयसे हटे नहीं तो उसका फल अवश्य पाता है।

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तुके विषयमें विद्वानोंके साथ विचार कर ले, विचारके बाद जो निश्चित सिद्धान्त स्थापित हो, उसीको ग्रहण करे। दूसरे जैसे-तैसे निश्चयको नहीं ग्रहण करना चाहिये। शास्त्रोंके स्वाध्याय और सद्व्यवहारकी दृष्टिसे जिस देशमें जो भी उत्तम बुद्धिसे युक्त हो, उस देशमें वही विद्वान् या पण्डित है। अतः सद्ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उसीका आश्रय लेना चाहिये। उत्तम शास्त्रके अनुसार व्यवहार करनेवाले तथा तत्त्वज्ञानके लिये परस्पर वाद-विवाद करनेवाले सत्पुरुषोंमें जो सबको आह्लाद प्रदान करनेवाला और अनिन्दनीय हो, वही श्रेष्ठ है। अत. उसीका आश्रय लेना चाहिये। रघुनन्दन! प्रत्येक जातिमें कुछ ऐसे नामी विद्वान् होते हैं, जिनके सूर्यतुल्य प्रकाशसे दिन प्रकाशित एव सार्थक होते हैं। जो मूढ़ हैं, वे सभी मोहरूपी महासागरमें ससारचक्रके आवर्तन-प्रत्यावर्तन-से ऊपर-नीचे होते हुए तृणके समान बहते रहते हैं।

(सर्ग ९७)

तत्त्वज्ञानी संतोंके शील-स्वभावका वर्णन तथा सत्संगका महत्त्व

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जो विवेकी पुरुष संसारसे विरक्त हो परम पद परब्रह्म परमात्मामें विश्राम कर रहे हैं, उनके लोभ, मोह आदि शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। वे तत्त्वज्ञानी महात्मा न कोई अनुकूल वस्तु पाकर हर्षित होते हैं, न किसीके प्रतिकूल बर्तावसे कुपित होते हैं। न आवेशमें आते हैं, न आहारका संग्रह करते हैं, न लोगोंसे उद्विग्न होते हैं और न स्वयं ही लोगोको उद्वेगमें डालते हैं। वे किसी भी बुरी-अच्छी कामनासे हठपूर्वक कष्टसाध्य वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानमें नहीं प्रवृत्त होते हैं। उनका आचरण मनोरम और मधुर होता है। ये प्रिय और कोमल वचन बोलते हैं। चन्द्रमाकी किरणोंके समान अपने सङ्गसे अन्तःकरणमें आह्लाद प्रदान करते हैं। कर्तव्योका विवेचन करते और क्षणभरमें ही विवादका निर्णय कर देते हैं। उनका आचरण दूसरोंको उद्वेगमें डालनेवाला नहीं होता है। वे सबके प्रति बन्धुभाव रखते हैं और बुद्धिमानोंके समान समुचित बर्ताव करते हैं। बाहरसे उनका आचरण सबके समान ही होता है, किंतु भीतरसे वे सर्वथा शीतल होते है। तत्त्वज्ञानी महात्मा शास्त्रोके अर्थोंमें बड़ा रस लेते है। जगत्में क्या उत्तम, अधम अथवा भला-बुरा है, इसका उन्हें अच्छी तरह ज्ञान होता है। त्याज्य और ग्राह्यका भी वे ज्ञान रखते हैं तथा प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसका अनुसरण करते हैं। लोक और शास्त्रके विरुद्ध कार्योंसे वे सदा विरत रहते हैं। सज्जनोंके बीच रहने या सत्संग करनेके रसिक होते हैं। घरपर आये हुए याचकरूपी भ्रमरका वे प्रफुल्ल कमलोंके समान अपने ज्ञानका अनावृत सुगंध फैलाकर तथा उत्तम आश्रय एवं सुखद भोजन

देकर आदर-सत्कार करते हैं। जनताको अपनी ओर खींचते हैं और लोगोंके पाप-ताप हर लेते हैं। वर्षाकालके मेघोंकी भाँति वे स्निग्ध एवं शीतल होते हैं। धीर स्वभाववाले ज्ञानी पुरुष राजाओंके नाशक और देशको छिन्न-भिन्न करनेवाले व्यापक जन-क्षोभको उसी प्रकार रोक देते हैं, जैसे पर्वत भूकम्पको।

ज्ञानी पुरुष चन्द्रमण्डलके समान सुन्दर अङ्गवाली गुणशालिनी पत्नीके समान विपत्तिकालमें उत्साह एवं धैर्य प्रदान करते हैं और सम्पत्तिके समय सुख पहुँचाते हैं। साधुपुरुष वैशाख मास या वसन्तके समान अपने सुयशरूपी पुष्पसे सम्पूर्ण दिशाओंको निर्मल बनाते, उत्तम फलकी प्राप्तिमें कारण बनते और कोकिलके समान मीठी वाणी बोलते हैं। आपदाओंमें, बुद्धिनाशके अवसरोंपर भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मरण—इन छः ऊर्मियोंके प्राप्त होनेपर, व्याकुलताकी दशामें तथा घोर संकट आनेपर साधु पुरुष ही सत्पुरुषोंके आश्रयदाता होते हैं। काल-सर्पसे भरे हुए अत्यन्त भयंकर संसार-सागरको सत्संगरूपी जहाजके बिना दूसरी किसी नौकासे पार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त उत्तम गुणोंमेंसे एक भी गुण जिसमें उपलब्ध हो, उसके उसी गुणको सामने रखकर उसमें दीखनेवाले सब दोषोंकी उपेक्षा करके उसका आश्रय लेना चाहिये। सारे कामोंको छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे; क्योंकि यह सत्संगरूपी कर्म निर्बाधरूपसे इहलोक और परलोक दोनोंका साधक होता है। किसी समय कहीं भी सत्पुरुषसे अधिक दूर नहीं रहना चाहिये। विनययुक्त बर्ताव करते हुए सदा साधुपुरुषोंका सेवन करना चाहिये; क्योंकि सत्-पुरुषके समीप जानेवाले मनुष्यका उसके शान्ति आदि प्रसरणशील उत्तम गुण अनायास ही स्पर्श करते हैं, जैसे सुगन्धित पुष्पवाले वृक्षके निकट जानेसे उसके पुष्प-पराग बिना यत्नके ही सुलभ हो जाते हैं।

(सर्ग ९८)

सत्का विवेचन और देहात्मवादियोंके मतका निराकरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो वस्तु शास्त्रीय विचारसे उपलब्ध होती है तथा जिसकी सत्ता हेतुओं और युक्तियोंद्वारा सिद्ध है, वही सत् कही गयी है। शेष सभी वस्तुएँ प्रतीतिमात्र हैं। जो तीनों कालोंमें कभी हुई ही नहीं, वह वस्तु सत् कैसे हो सकती है ? मूर्खकी दृष्टिमें इस संसारका जैसा स्वरूप है, उसे वही जानता है। हमलोगोंको उसका अनुभव नहीं है। मृग-तृष्णाकी नदीके जलमें जो मछली रहती है, वही उसकी मिथ्या चञ्चल लहरोंके आवर्तन-प्रत्यावर्तनको जानती होगी। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें तो केवल एकमात्र चेतनाकाश ही बाहर-भीतर, तुम-मैं इत्यादि सब कुछ बनकर प्रकाशित हो रहा है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जिन लोगोंका यह पक्ष (मत) है कि 'जबतक जीवे, तबतक सुखसे जीवे, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है। जो शरीर जलकर भस्म होकर बुझ गया, उसका पुनः आगमन कहाँसे हो सकता है ?' उनके लिये इस संसारमें दुःख-शान्तिका क्या उपाय है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! संवित्का जो-जो निश्चय होता है, वह अपने भीतर अखण्डरूपसे उसीका अनुभव करती है। इस बातका सब लोगोंको प्रत्यक्ष अनुभव है। अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर जैसी बुद्धिका उदय होता है, मनुष्य वैसा ही हो जाता है। यदि संवित्के बोधसे पुरुष दुखी हुआ है तो जबतक यह विरुद्ध बोध रहेगा, तबतक जीव दुःखमय बना रहेगा। यह जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्माकाशका स्फुरणमात्र ही है, ऐसी भावना दृढ़ हो जाय तो वह दुःखका बोध कैसे हो सकेगा ? जो जगत् वस्तुतः कूटस्थ अद्वितीय चेतनाकाशरूप

है, उस जगत्‌से किसको कैसे दुःखका बोध हो सकता है। जीवकी जैसी दृढ़ भावना होती है, उसीके अनुसार वह सुखी या दुखी होता है, ऐसा निश्चय है। जिनके मतमें चेतनसे शरीरोंकी कल्पना हुई है, वे श्रेष्ठ पुरुष वन्दनीय हैं; परंतु जिनके मतमें शरीरसे चेतनकी उत्पत्ति होती है, उन नराधमोंसे बाततक नहीं करनी चाहिये। (ऐसे लोग दुःखसे कैसे छूट सकते हैं।)

(सर्ग ९९-१००)

सबकी चिन्मात्ररूपताका निरूपण तथा ज्ञानी महात्माके लक्षणोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! चिन्मात्र ही पुरुष है, वही इस प्रकार नाना रूपोंमें अवस्थित है। उस चिन्मात्र परम पुरुष परमात्माके सिवा दूसरी किस वस्तुकी सत्ता यहाँ सम्भव हो सकती है ? मेरे सारे अङ्ग चूर-चूर होकर परमाणुके तुल्य हो जायँ अथवा बढ़कर सुमेरु पर्वतके समान विशाल हो जायँ, इससे मेरी क्या क्षति हुई अथवा क्या वृद्धि हुई ? क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप तो सच्चिदानन्दमय है। हमारे पितामह आदिके शरीर मर गये, किंतु उनका चैतन्य तो नहीं मरा है। यदि वह भी मर जाता तो मृत आत्मावाले उनका तथा हमलोगोंका फिर जन्म नहीं होता। किंतु पुरुष अविनाशी चिन्मय ही है। वह आकाशके समान नित्य है। उसका कभी नाश नहीं होता है। 'मैं नष्ट होता हूँ या मरता हूँ' इस तरहका जो शोक है, वह सर्वथा व्यर्थ है। इसलिये न तो मरण दुःखरूप है और न जीवित रहना सुखरूप। यह सब कुछ नहीं है। केवल अनन्त चेतन परमात्मा ही इस तरह स्फुरित हो रहा है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! आदि और अन्तसे रहित परमतत्त्व परमात्माका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर उत्तम पुरुष कैसा—किन-किन लक्षणोंसे सम्पन्न हो जाता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जिसे ज्ञेय वस्तु परमात्माका भलीभाँति ज्ञान हो गया है, ऐसा जीवन्मुक्त श्रेष्ठ पुरुष कैसा होता है तथा वह जीवनपर्यन्त कैसे स्वभावसे युक्त हो किस आचारका पालन करता रहता है, यह बताया जाता है, सुनो। ऐसा पुरुष यदि जंगलमें रहता हो तो वहाँ पत्थर भी उसके मित्र हो जाते हैं। वनके वृक्ष बन्धु-बान्धव और वन्य मृगोंके बच्चे उसके स्वजन बन जाते हैं। यदि वह विशाल राज्यमें रहता हो तो वहाँ जनसमुदायसे भरा हुआ स्थान भी उसके लिये शून्य-सा ही हो जाता है। विपत्तियाँ बड़ी भारी सम्पत्तियाँ हो जाती हैं और नाना प्रकारके व्यसन ही उसके लिये सुन्दर उत्सव बन जाते हैं। उसके लिये असमाधि भी समाधि है। दु.ख भी महान् सुख ही है। वाणीका व्यवहार भी मौन है और कर्म भी अकर्म ही है। वह जाग्रत्-अवस्थामें रहकर भी सुषुप्तिमें ही स्थित है (क्योंकि निर्विकल्प आत्मामें उसकी सुदृढ़ स्थिति है)। वह जीवित रहता हुआ भी देहाभिमानसे शून्य होनेके कारण मृतके ही तुल्य है। वह समस्त आचार-व्यवहारका पालन करता है, तो भी कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होनेके कारण कुछ भी नहीं करता है। वह रसिक होकर भी अत्यन्त विरक्त है। करुणारहित होकर भी सबको अपना बन्धु मानकर सबके प्रति स्नेह रखता है। निर्दय होकर भी अत्यन्त करुणासे भरा हुआ है और स्वयं तृष्णासे शून्य होकर भी पराये हितके लिये तृष्णा रखता है। उसके आचारका सभी अभिनन्दन करते हैं तथापि वह सभी आचारोंसे बहिष्कृत है। शोक, भय और आयाससे शून्य होनेपर भी वह दूसरोंका दु.ख देखकर शोकयुक्त-सा दिखायी देता है। उस पुरुषसे जगत्‌के प्राणियोंको कभी उद्वेग नहीं प्राप्त होता तथा वह भी उनसे कभी उद्विग्न नहीं होता। संसारमें (ब्रह्मा-

नन्दका) रसिक होकर भी वह संसारी मनुष्योंसे अत्यन्त विरक्त होता है। वह प्राप्त हुई वस्तुका न तो अभिनन्दन करता है और न अप्राप्त वस्तुकी अभिलाषा ही। अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थका अनुभव होनेपर भी वह हर्ष और विषादमें नहीं पड़ता। वह दुखी पुरुषके पास दुखियोंकी ही चर्चा करता है, सुखीके पास सुखकी ही कथा कहता है और स्वयं सभी अवस्थाओंमें हार्दिक दुःख-सुखसे पराजित न होकर सदा एक-सा स्थित रहता है। शास्त्रविहित शुभकर्मसे भिन्न दूसरा कोई निषिद्ध कर्म उसे किंचिन्मात्र भी अच्छा नहीं लगता। महात्मा पुरुषोंका यह स्वभाव ही है कि वे शास्त्रविपरीत चेष्टा कभी नहीं करते हैं।

जीवन्मुक्त महात्मा न तो कहीं आसक्त होता है और न किसीसे अकस्मात् विरक्त ही होता है। वह धनके लिये याचक होकर नहीं घूमता है और भीतरसे वीतराग होकर भी ऊपरसे रागयुक्त-सा जान पड़ता है। शास्त्रके अनुसार व्यवहार करते हुए क्रमशः जो सुखदुःख प्राप्त होते हैं, उनसे वस्तुतः वह अछूता रहता है तो भी उनका स्पर्श-सा करता जान पड़ता है। वह उन सुख-दुःखोंसे हर्ष और विषादके वशीभूत नहीं होता। अवश्य ज्ञानी महात्मा दूसरोंके सुखसे प्रसन्न और दूसरोंके ही दुःखसे दुखी देखे जाते हैं, परंतु वे भीतरसे अपने समतापूर्ण स्वभाव-का परित्याग कभी नहीं करते; क्योंकि वे संसाररूपी नाट्यशालाके नट हैं। अपने कहे जानेवाले पुत्र आदि जितने पदार्थसमूह हैं, वे सब वस्तुतः पानीके बुलबुलोंके समान मिथ्या हैं। अतः तत्त्वदर्शी महात्माका उनके प्रति (मोहरूप) स्नेह नहीं होता है। पर वह ज्ञानी महात्मा स्नेहरहित होनेपर भी घनीभूत स्नेहसे आर्द्र हृदयवाले पुरुषकी भाँति यथायोग्य वात्सल्य-वृत्तिका दर्शन कराता हुआ व्यवहार करता है। वह बाहरसे समस्त शिष्टाचारोंके पालनमें संलग्न रहकर भी भीतर सर्वथा शान्त बना रहता है। उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका आवेश नहीं होता तो भी बाहरसे कभी-कभी आविष्ट-सा दिखायी देता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुनीश्वर! अश्वके सदृश ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए कलुषित चित्तवाले दम्भी मनुष्य भी तो झूठमूठमें अपनी तपस्याकी दृढ़ता दिखलानेके लिये ऐसे लक्षणोंसे युक्त हो सकते हैं। फिर, कौन सच्चे महात्मा हैं और कौन दम्भी, इसे कौन जान सकता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! ये लक्षण सत्य हों या असत्य, किंतु ऐसे लक्षणोंसे युक्त स्वरूपका होना हर हालतमें अच्छा ही है (इन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष दम्भी हो तो भी आदरणीय ही है)। जो वेदार्थ-तत्त्व—परमात्माके ज्ञाता हैं, उनमें तो ये गुणसमूह स्वाभाविक अनुभवके बलसे ही प्रतिष्ठित रहते हैं। वे जीवन्मुक्त पुरुष वीतराग तथा क्रियाके फलोंमें आसक्तिसे शून्य होते हुए ही रागयुक्त पुरुषोंके समान चेष्टा करते हैं। वे दुखियोंको देखकर सहसा करुणासे भर जाते हैं। चित्त-रूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए समस्त दृश्यप्रपञ्चको वे कपटभूमिके समान असत् देखते हैं। स्वप्नमें हस्तगत हुए सुवर्णको जैसे जाग्रत्कालमें असत् माना जाता है, वैसे ही वे इस जगत्को असत् समझते हैं।

जिन्हें ज्ञेय पदार्थ—परमात्माका भलीभाँति ज्ञान हो चुका है और जो उन ज्ञानी महात्माओंके समान ही पवित्र अन्तःकरण-वाले हैं, वे ही उन महात्माओंके महत्त्वको ठीक-ठीक जान पाते हैं, जैसे साँपके पदचिह्नोंको साँप ही समझ पाते हैं। श्रेष्ठ पुरुष तो अपने सर्वोत्तम भावको छिपाये फिरते हैं। भला, गाँव और नगरोंके धनोंसे जिसका खरीदा जाना असम्भव है, ऐसी कौन-सी चिन्तामणि बाजारमें बिकनेके लिये आती है? उन तत्त्वज्ञानी महात्माओंका भाव अपने गुणोंको छिपाये रखनेमें ही होता है, दूसरोंके सामने प्रदर्शन करनेमें नहीं; क्योंकि वे वासनासे शून्य, द्वैत-

हीन एवं अभिमानसे रहित होते हैं।* श्रीराम! उन महात्माओंको एकान्तसेवन, असम्मान, बुरी स्थिति तथा साधारण लोगोंद्वारा की गयी अवहेलना—ये सब चीजें जैसा सुख पहुँचाती हैं, वैसा सुख उन्हें बड़ी-बड़ी समृद्धियाँ भी नहीं दे सकतीं।

तत्त्वज्ञानका सारभूत जो निरतिशय आनन्द है, वह एकमात्र अपने अनुभवसे ही जाननेयोग्य है, उसे दूसरेको दिखाया नहीं जा सकता। तत्त्वज्ञ पुरुष भी उसे नहीं देखता, केवल स्वप्रकाशरूपसे उसका अनुभव करता है। 'लोग मेरे इस गुणको जानें और मेरी पूजा करें' ऐसी इच्छा अहंकारियोंको ही होती है। जिनका चित्त अहंकारसे मुक्त है, उनके भीतर ऐसी इच्छाका उदय नहीं होता है।† रघुनन्दन! आकाशमें गमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे तो मन्त्र और औषधके प्रभावसे अज्ञानियोंके लिये भी सिद्ध (सुलभ) हो जाते हैं। कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी, जो लक्ष्यसिद्धिके लिये जैसा क्लेश सहन करनेमें समर्थ हो, वह वैसा ही फल कर्मानुसार अवश्य प्राप्त कर लेता है। चन्दनकी सुगन्धकी भाँति विहित और निषिद्ध कर्मोंका फल सभीके हृदयमें अपूर्व रूपसे विद्यमान है। समय पाकर प्रकट हुए उस फलको उसका अधिकारी जीव अवश्य पाता है। 'यह आकाशगमन आदि फल कुछ भी नहीं है—अत्यन्त तुच्छ है अथवा मनका भ्रममात्र है, या अधिष्ठानभूत चिदाकाशमात्र है'—जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मकी ववंडररूप उन मन्त्रौषधि-साध्य क्रियाओंका साधन कैसे करेगा? उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही किसी भी प्राणीमें उसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। इस पृथ्वीपर, स्वर्गमें अथवा देवताओंके यहाँ भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उस उदारचेता परमात्मज्ञानीको लुभा सके।* जिसके लिये सारा संसार ही तिनकेके समान तुच्छ हो गया है, जिसमें रजोगुणका लेश भी नहीं है, उस ज्ञानी महात्माके लिये एकमात्र परमात्मासे भिन्न दूसरी कौन-सी वस्तु उपादेय हो सकती है?

लोकसंग्रहके लिये जिसने जगत्‌के व्यवहारोंका पूर्णरूपसे निर्वाह किया है, जिसका हृदय परिपूर्ण (निष्काम) है, वह मननशील जीवन्मुक्त पुरुष अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों स्थिर रहकर यथाप्राप्त शिष्टाचारका अनुसरण करता है। जो भीतरसे नित्य शान्त और मौनी है तथा जिसकी मनोभूमि सत्त्वगुणमय हो गयी है, वह महात्मा भरे हुए महासागरके समान सब ओरसे पूर्ण होता है। तथा उसका आशय गम्भीर होनेके साथ ही सुस्पष्ट होता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृतसे भरे हुए सरोवरके समान अपने आत्मामें स्वय ही आनन्दकी हिलोरें लेता है तथा निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमाके समान दूसरोंको भी आह्लाद प्रदान करता है।

'यह सारा विश्व भ्रममात्र है, मिथ्या इन्द्रजाल है'—ऐसे दृढ़ निश्चयके कारण ज्ञानी पुरुष इच्छाओंसे सर्वथा रहित हो जाता है। ज्ञानी महात्मा अपने शरीरके सर्दी-गरमी आदि दुःखोंको भी इस तरह अवहेलना-पूर्वक देखता है, मानो वे दूसरेके शरीरमें हों।

* भावं निगूहयन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः।
ग्राम्यैर्धनैः किलानर्घ्यः कश्चिन्तामणिरापणे॥
तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषा न दर्शने।
निर्वासना गतद्वैता गतमानाः किलाङ्गते॥
(नि० प्र० उ० १०२। २७-२८)

† गुणं ममेमं जानातु जनः पूजा करोतु मे।
इत्यहंकारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम्॥
(नि० प्र० उ० १०२। ३१)

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित्।
यदुदारमनोवृत्तेर्लोभाय विदितात्मनः॥
(नि० प्र० उ० १०२। ३८)

केवल परहितके लिये फल-फूल धारण करनेवाली लताके समान धीर वृत्तिसे तथा करुणाके कारण उदार वृत्तिसे वह महात्मा दुखी प्राणियोंका परिपालन करता है। वह संसारसे विरक्त होकर ऐसी सारभूत स्थितिको अपनाता है, जिसमें जलमात्र ग्रहण करके भी संतोष माना जाता है। साधारण लोगोंके समान यथाप्राप्त व्यवहारका सम्पादन करता हुआ वह महात्मा चराचर भूतोंके ऊपर (परब्रह्म परमात्मामें) ही स्थित होता है।

कोई महात्मा पर्वतकी गुफाको ही घर मानकर उसमें रहता है। कोई पवित्र आश्रममें निवास करता है। कोई गृहस्थाश्रमी होता है और कोई प्रायः इधर-उधर घूमता रहता है। कोई भिक्षाचर्यासे निर्वाह करता है, कोई एकान्तमें बैठकर तपस्या करता है, कोई मौनव्रत धारण किये रहता है, कोई परमात्माके ध्यानमें संलग्न होता है, कोई प्रख्यात पण्डित होता है, कोई श्रुतियोंका श्रोता होता है, कोई राजा, कोई ब्राह्मण और कोई मूढ़के समान स्थित रहता है, कोई सिद्ध गुटिका, अंजन और खड्ग आदिसे सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है, कोई शिल्पकलासे जीवन-निर्वाह करता है, कोई पामरके समान रूप धारण किये रहता है। कोई सारे वैदिक आचारोंका परित्याग कर देता है तो कोई कर्मकाण्डियोंका सरदार बना रहता है, किसीका चरित्र उन्मत्तोंके समान होता है और कोई संन्यास-मार्गका आश्रय लेता है।

शरीर आदि और चित्त आदि कुछ भी पुरुषका स्वरूप नहीं है। केवल चेतन-तत्त्व ही पुरुष है। उसका कभी नाश नहीं होता है। यह आत्मा अच्छेद्य है—इसे कोई काट नहीं सकता। यह अदाह्य है—इसे कोई जला नहीं सकता। यह अक्लेद्य है—इसे कोई पानीसे भिगो या गला नहीं सकता। यह अशोष्य है—इसे कोई सुखा नहीं सकता। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है। तत्त्वज्ञ पुरुष पातालमें समा जाय, आकाशको लाँघकर उसके ऊपर चला जाय अथवा सम्पूर्ण दिशाओंमें वेगपूर्वक भ्रमण करे, जिससे पर्वत आदिसे टकराकर वह पिस जाय या चूर-चूर हो जाय, परंतु उसका जो चिन्मात्र स्वरूप है वह अजर-अमर बना रहता है, वह कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह आकाशके समान अनन्त सदा शान्त, अजन्मा और कल्याणमय परमात्मस्वरूप ही है।

(सर्ग १०१, १०२)

इस शास्त्रके विचारकी आवश्यकता तथा इससे होनेवाले लाभका प्रतिपादन, वैराग्य और आत्मबोधके लिये प्रेरणा तथा विचारद्वारा वासनाको क्षीण करनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! शम,दम आदि साधनसे सम्पन्न पुरुषको चाहिये कि वह उद्वेग छोड़कर प्रतिदिन गुरु-शुश्रूषा आदि नियमपूर्वक करता हुआ इस महारामायण नामक शास्त्रका विचार करे। यह शास्त्र इहलोक और परलोक दोनोंके लिये हितकर तथा कल्याणकारी है। आप सब सभासद् भाँति-भाँतिकी असम्भावना एवं विपरीतभावना आदिको अपने हृदयमें स्थान दिये हुए हैं। इसलिये मिल-जुलकर अभ्यास न करनेसे आप लोगोंका जाना हुआ भी यह आत्मज्ञान भूल जानेके कारण अनजाना-सा हो रहा है। जो जिस वस्तुको चाहता है, वह उसके लिये यत्न करता है। वह यदि थककर उस प्रयत्नसे निवृत्त न हो जाय तो अपनी अभीष्ट वस्तुको अवश्य प्राप्त कर लेना है। इस शास्त्रके सिवा कल्याणका सर्वश्रेष्ठ साधन आजतक न तो हुआ है और न आगे होगा ही। इसलिये परम श्रेयकी प्राप्तिके लिये इसीका बारंबार विचार एवं मनन करना चाहिये। इस शास्त्रका भलीभाँति विचार करके स्थित हुए पुरुषको स्वयं ही उत्तम परमात्मतत्त्वका बोध एवं अनुभव होने लगता है। वरदान और शापकी भाँति यह विलम्बसे अपना फल नहीं प्रकट करता।

यह परमात्मबोध संसार-मार्गके श्रमको हर लेनेवाला है। जो न तो पिताने, न माताने और न शुभ कर्मोंने ही अबतक सिद्ध किया है, वही आपका परम कल्याण यह महारामायण-शास्त्र तत्काल सिद्ध कर देगा, यदि आप अभ्यासपूर्वक इसे भलीभाँति जान लें। साधुशिरोमणे! यह संसार-बन्धनमयी विषूचिका (हैजा) बड़ी भयंकर है और दीर्घकालतक टिकी रहनेवाली है। आत्मज्ञानके सिवा दूसरी किसी दवासे यह कभी शान्त नहीं होती।

मनुष्यो! आपातमधुर, शून्य एवं निस्सार विषयोंका आस्वादन करते हुए तुमलोग खाली हवा चाटनेवाले सर्पोंके समान आकाशरूपी अनन्त संसारकी ओर पैर न बढ़ाओ। बड़े कष्टकी बात है कि तुम्हारे दिन केवल लौकिक व्यवहारमें ही इस तरह बीत रहे हैं कि वे कब आये और कब गये, इसका तुम्हें पता ही नहीं लगता। इन्हीं बीतते हुए दिनोंके द्वारा तुमलोग केवल अपनी मौतकी राह देख रहे हो। लोगो! तुम मान और मोहसे रहित होकर तत्त्वज्ञानके द्वारा उत्तम मोक्ष-पदको प्राप्त करो। अधम संसार-गतिमें न पड़ो। आत्मज्ञानके द्वारा बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंका मूलोच्छेद कर दिया जाता है। जो आज ही मरणरूपी आपत्तिसे बचनेका उपाय नहीं करता है, वह मूढ़ रुग्णावस्थामें, जब मौत सिरपर सवार हो जायगी, तब क्या करेगा?

आदरणीय सभासदो! मैं न तो मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूँ, न राक्षस ही हूँ, अपितु आप लोगोंका सूक्ष्म संविद्रूप विशुद्ध आत्मा हूँ और इस प्रकार उपदेश देनेके लिये यहाँ बैठा हूँ। आपलोग भी शुद्ध चैतन्यमात्र ही हैं। अत्यन्त निर्मल चिन्मात्रस्वरूप मैं आपलोगोंके पुण्यसे ही यहाँ उपस्थित हूँ। आपकी आत्मासे भिन्न नहीं हूँ। जबतक मौतके काले दिन नहीं आ रहे हैं, तभीतक सब वस्तुओंमें वैराग्यरूपी पहला सार पदार्थ समेटकर रख लो। जो इस शरीरमें रहते हुए ही नरकरूपी रोगकी चिकित्सा नहीं कर लेता, वह औषधशून्य प्रदेश (परलोक) में पहुँचकर उस रोगसे पीड़ित होनेपर क्या करेगा? जबतक समस्त पदार्थोंकी ओरसे वैराग्य नहीं प्राप्त होता, तबतक उन पदार्थोंकी वासना क्षीण नहीं होती है। महामते! आत्माका पूर्णरूपसे उद्धार करनेके लिये वासनाको क्षीण करनेके सिवा दूसरा कोई उपाय कभी सफल नहीं होता। पदार्थोंकी सत्ता होती है, तभी उनमें अनुकूलता बुद्धि होनेसे वासना होती है। किंतु ये पदार्थ तो खरगोशके सींग आदिकी भाँति हैं ही नहीं। (फिर उनमें वासना बनी रहनेका क्या कारण है?) जगत्के सभी पदार्थ तभीतक मनोहर प्रतीत होते हैं, जबतक कि उनके स्वरूपपर सम्यक् विचार नहीं किया जाता। विचार करनेपर उनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। अतः वे जीर्ण-शीर्ण होकर न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं।

(सर्ग १०२)

मोक्षके स्वरूप तथा जाग्रत् और स्वप्नकी समताका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निर्मल आत्मस्वरूपका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर जो लौकिक दुःख और सुखसे रहित अक्षय परमानन्दरूपता प्राप्त होती है, वही मोक्ष है। वह शरीरके रहने या न रहनेपर भी समानरूपसे ही उपलब्ध होता है। उसी मोक्ष-सुखमें सबका पूर्ण विश्राम हो।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—स्वप्न और जाग्रत्-दोनों एक समान कैसे हो सकते हैं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नके संसारमें स्वप्नगत बन्धुजनोंके साथ विहार करनेके पश्चात् वहाँ मृत्युको प्राप्त होता है। स्वप्न शरीरकी निवृत्ति ही स्वप्नद्रष्टाकी मृत्यु है। स्वप्न-संसार

मरकर जीव जब स्वप्नगत प्राणियोंसे वियुक्त होता है, तब इस जाग्रत्-संसारमें जागता है और निद्रासे मुक्त कहलाता है। जो स्वप्नका द्रष्टा है, वह स्वप्न-संसारमें अनेकानेक सुख-दुःख-दशाओंका, मोहका तथा रात और दिनके उलट-फेरका अनुभव करके वहाँ मरता—स्वप्न-शरीरका त्याग करता है। फिर निद्रा टूट जानेके कारण निद्राके अन्तमें वह यहाँ शयनस्थानमें मानो नया जन्म लेता है और जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है। तदनन्तर 'ये स्वप्नमें देखे गये बन्धु-बान्धव सत्य नहीं थे' इस विश्वाससे युक्त होता है। जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नके संसारमें मृत्युको प्राप्त होकर अर्थात् स्वप्न-शरीरका त्याग करके दूसरे जाग्रन्मय स्वप्नको देखनेके लिये पुनः जन्म लेता या जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है, उसी तरह जाग्रन्मय स्वप्न देखनेवाला पुरुष जाग्रत्-ससारमें मृत्युको प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्नको देखनेके लिये पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जैसे एक जाग्रत्में मरकर दूसरे जाग्रत्में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्व जाग्रत् प्रपञ्चके विषयमें 'वह स्वप्न एवं असत् था' ऐसी प्रतीतिको नहीं प्राप्त होता, उसी तरह एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नको प्राप्त हुआ पुरुष बादवाले स्वप्नमें स्वप्नकी प्रतीतिको नहीं प्राप्त होता, वरं जाग्रत्की ही प्रतीति ग्रहण करता है। यह उसकी बुद्धिकी मूढ़ताका ही परिणाम है। जैसे बादवाले स्वप्नमें जाग्रत्की प्रतीति भ्रममात्र ही है, वैसे ही पूर्व-जाग्रत्को स्वप्न और असत् न समझना भी मूढ़ता ही है। स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वप्नमें भी फिर अन्य स्वप्न-दर्शनका अनुभव करता हुआ उस स्वप्नको ही जाग्रत्-रूपसे ग्रहण करता है। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न नामकी दो अवस्थाओंमें जीव न तो स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता ही है। किंतु उन-उन जाग्रत् और स्वप्नके शरीरोंमें अभिमान करता और छोड़ता है। यही उसका जन्म लेना और मरना है। स्वप्न-द्रष्टा जीव स्वप्नमें मरकर इस जागरण अवस्थामें जागा हुआ कहलाता है और इस जाग्रत्में मरा हुआ जीव अन्यत्र जाग्रत्रूप स्वप्नमें जागा हुआ कहा जाता है, (इस तरह स्वप्न और जाग्रत्की समता ही सिद्ध होती है)। एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें स्थिति होनेपर दूसरा स्वप्न ही पहले स्वप्नकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे जाग्रत् समझा जाता है। इसी प्रकार जाग्रत्में मरकर दूसरे जाग्रत्रूप स्वप्नमें जगे हुए पुरुषके लिये पहली जाग्रदवस्था अवश्य ही स्वप्न हो जाती है। इस दृष्टिसे जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही अतीत घटनाके समान हैं। वर्तमानकालमें दोनोंमेंसे किसीकी भी सत्ता नहीं है। इस कारण वे परस्पर एक दूसरेके उपमान और उपमेय बने हुए हैं। वर्तमान अवस्थामें तो स्वप्न भी जाग्रत्के समान ही प्रतीत होता है और बीता हुआ जाग्रत् भी स्वप्नके समान ही है। वास्तवमें दोनों ही असत् हैं। केवल चिदाकाश ही स्वप्न और जाग्रत्के रूपमें स्फुरित होता है। सौभाग्यशाली रघुनन्दन! जैसे स्वप्नमें दीखनेवाले नगर, पर्वत और गृह आदि चिन्मय आकाश ही हैं, उसी तरह जाग्रत्में भी ये नगर, पर्वत आदि चिदाकाश-मय ही हैं। स्वप्न और जाग्रत्—दोनों अन्तमें विकल्प-शून्य, शान्त, अनन्त, एक चिन्मात्र ही शेष रह जाते है। इस प्रकार तत्त्वके विषयमें वादियोंका विवाद व्यर्थ है। (सर्ग १०४-१०५)

चिदाकाशके स्वरूपका प्रतिपादन तथा जगत्की चिदाकाश-रूपताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! चेतनाकाशरूप जो परब्रह्म है, वह कैसा है? यह कृपापूर्वक फिर बताइये। आपके मुखारविन्दसे इस अमृतमय उपदेशको सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे समान रूप-रंगवाले दो जुड़वें भाइयोंके व्यवहारके लिये दो पृथक् नाम रखे जाते हैं, वैसे ही अखण्ड सच्चिदानन्दघन स्फटिक शिलामें प्रतिबिम्बकी भाँति स्थित हुए जो दो प्रपञ्च हैं, उनके व्यवहारके लिये दो नाम रख दिये गये हैं—जाग्रत् और स्वप्न । जैसे दो जलोंमें भेद नहीं होता, उसी प्रकार इन जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें भी वास्तविक भेद नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही एक, निर्मल चिन्मात्र आकाशरूप ही हैं । जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सबका प्रादुर्भाव होना है, जो सर्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है तथा जो नित्य सर्वमय है, उस परब्रह्म परमात्माको ही चेतनाकाश या चिदाकाश कहते हैं । स्वर्गमें, भूतलमें, बाहर-भीतर तथा दूसरेमें जो सम नामक ज्योतिःस्वरूप परमतत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वह चिदाकाश कहलाता है । सम्पूर्ण विश्व जिसका अङ्ग है, जिस नित्य सर्वव्यापी परमात्मामें यह मूर्त और अमूर्त जगत् उसी तरह प्रकट है, जैसे मजबूत तागेमें माला, उसीको चिदाकाश कहते हैं । सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्राकी निवृत्ति होनेपर जिससे विश्व प्रकट होता है और जिसकी विक्षेपशक्तिके शान्त होनेपर उसका लय हो जाता है, उस परब्रह्म परमात्माको चिदाकाश कहते हैं । जिसके उन्मेष और निमेषसे (पलकोंके उठाने और गिरानेसे) जगत्‌की सत्ताके लय और उदय होते हैं, जो स्वानुभवरूप होकर अपने हृदयमें स्थित है, उसे चेतनाकाश समझना चाहिये । श्रुतिने 'यह नहीं, यह नहीं' इस प्रकार निषेधमुखसे सबका निराकरण करके जिसे उस निषेधकी अवधि बताकर उसके तटस्थ लक्षणका सर्वथा निर्णय कर दिया है तथा जो सदा सब कुछ होकर भी वस्तुतः कुछ नहीं है, वह सर्वाधार परमात्मा चिदाकाश कहलाता है । बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसे युक्त यह इस तरह दृष्टिगोचर होनेवाला सारा विश्व जैसा है, उसी रूपमें चेतनाकाशमय ही है । अतः इन्द्रियोंसे विषयों-का अनुभव करते हुए भी अन्तःकरणको वासनाशून्य रखकर तत्त्वज्ञानद्वारा शुद्ध-बुद्ध एकमात्र सच्चिदानन्दघनरूप हो सुषुप्तिकी भाँति स्थित रहना चाहिये । वासनाशून्य शान्तचित्त हो जीवित रहते हुए भी पाषाणके समान मौन धारणकर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें निमग्न रहते हुए ही बोलना, चलना और खाना-पीना चाहिये ।

पृथ्वी आदिसे रहित जो स्वप्न-जगत् है और पृथ्वी आदिसे युक्त जो जाग्रत्कालका जगत् है—ये दोनों ही प्रकारके जगत् चिदाकाशरूप हैं । जैसे स्वप्न आदि अवस्थाओंमें केवल चिन्मयमणि (आत्मा) ही विभिन्न वस्तुओंके रूपमें भासित होती है, उसी प्रकार इस जाग्रत्-कालिक दृश्यप्रपञ्चके रूपमें केवल चिदाकाश ही स्फुरित हो रहा है । इस चिदाकाशका जो स्वानुभवैकगम्य निराकार रूप है, वही भूतल आदिके रूपसे दृश्य नाम धारण करके प्रतीतिका विषय हो रहा है । (सर्ग १०६-१०७)

राजा विपश्चित्‌के सामन्तोंका वध, उत्तर दिशाके सेनापतिका घायल होकर आना तथा शत्रुओंके आक्रमणसे राजपरिवार और प्रजामें घबराहट

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस भूतल आदिके रूपसे दृश्यकी प्रतीति होना ही अविद्या है । जिन अज्ञानियोंके अन्तःकरणमें अविद्या विद्यमान रहती है, उनकी उस अविद्याका (ज्ञानके विना) कोई अन्त नहीं है, जिस प्रकार ब्रह्मका कोई अन्त नहीं है । इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा कहता हूँ, सुनो । लोकालोक पर्वतकी किसी स्वर्णमयी-सी शिलाके भीतर विद्यमान चिदाकाशके एक कोनेमें किसी प्रदेशके अन्तर्गत एक त्रिलोकी बसी हुई है, जो इसी त्रैलोक्यके समान है और वहाँ भी यहाँकी व्यवस्थाके अनुसार देश, काल आदिकी मर्यादा नियत हैं । वहाँ जम्बूद्वीप नामक एक भूभाग है, जो सम्पूर्ण भूमण्डलका भूषणरूप है । वहाँकी समतल भूमिपर जहाँ गमनागमनादि

व्यवहार सुगमतापूर्वक होते हैं, एक नगरी थी, जिसका नाम था ततमिति। उस नगरीमें विपश्चित् नामसे विख्यात कोई राजा थे, जो अपनी विद्वत्ताके कारण श्रेष्ठ सभासदोंसे सुशोभित अपनी राजसभामें विशेष शोभा पाते थे। राजा विपश्चित् बड़े स्वाभिमानी नरेश थे। उनकी बुद्धि सदा ब्राह्मणोंके हित-चिन्तनमें लगी रहती थी। इसीलिये वे देवताओंमें ब्राह्मणस्वरूप अग्निदेवका ही भक्तिपूर्वक पूजन करते थे। अग्निके सिवा दूसरे किसी देवताको वे नहीं मानते थे। राजा विपश्चित्के मन्त्रियोंमें चार प्रधान थे, जो चारों दिशाओंमें स्थित चार महासागरोंके समान मर्यादा-पालनके लिये नियुक्त थे। समुद्र मत्स्यों और मगरोंके समूहसे युक्त होते हैं तो वे मन्त्री हाथी और घोड़ोंके समुदायसे सम्पन्न थे। समुद्रोंमें आवर्तों (भँवरों) का व्यूह होता है तो इनके मन्त्रीलोग सैनिकोंके चक्रव्यूहसे युक्त थे। समुद्र तरङ्गमालाओंसे व्याप्त होते हैं तो मन्त्रीलोग सैनिकोंकी श्रेणियोंसे घिरे हुए थे। समुद्रोंमें निष्कम्प पर्वतोंके बलकी अधिकता होती है तो ये मन्त्रीलोग अडिग सैनिकोंकी शक्तिसे सर्वथा बढ़े-चढ़े थे।

एक दिन उनके पास पूर्वदिशासे एक चतुर गुप्तचर आया। उसने एकान्तमें राजासे मिलकर यह बड़ी भयंकर बात सुनायी—'महाराज! पूर्वदिशाके सामन्तकी ज्वरसे मृत्यु हो गयी है, मानो वे शत्रुविजयी आपकी आज्ञा पाकर यमराजको जीतनेके लिये गये हैं। उनके मरनेके बाद आपके दूसरे सामन्त दक्षिण देशके नायक सब ओरसे पूर्व और दक्षिण दिशाको जीतनेके लिये आगे बढ़े, परंतु शत्रुने पूर्व और पश्चिमकी सेनाओंद्वारा आक्रमण करके उन्हें भी मार डाला। उनके मरनेपर आपके तीसरे सामन्त जो पश्चिम दिशाके शासक थे, अपनी सेनाके साथ दक्षिण और पूर्व दिशाओंको शत्रुओंसे छुड़ानेके लिये प्रस्थित हुए, इतनेमें ही शत्रुओंने पूर्व और दक्षिण देशके राजाओंके साथ मिलकर बीच रास्तेमें ही युद्ध करके उन्हें भी स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया।'

वह गुप्तचर इस प्रकार कह ही रहा था कि एक दूसरा गुप्तचर प्रलयकालके जल-प्रवाहकी भाँति राजमहलमें प्रविष्ट हुआ। वह बड़ी उतावलीके साथ आया था और अत्यन्त पीड़ित जान पड़ता था।

उस नये गुप्तचरने कहा—देव! उत्तर दिशाके सेनाध्यक्षपर शत्रुओंने आक्रमण कर दिया है। वे बाँध टूटनेपर वेगसे बहनेवाले जल-प्रवाहकी भाँति सेना-सहित इधर ही आ रहे हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह सुनकर राजाने अब समय बिताना व्यर्थ समझा और अपने सुन्दर महलसे बाहर निकलते हुए इस प्रकार कहा—'सामन्त-नरेशों और मन्त्रियोंको कवच आदिसे सुसज्जित करके शीघ्र बुलाया जाय, शस्त्रागार खोल दिये जायँ, भयानक अस्त्र-शस्त्र बाँटे जायँ, समस्त योद्धा अपने-अपने शरीरमें कवच बाँध लें, पैदल सैनिक शीघ्र तैयार होकर आ जायँ, सेनाओंकी तुरंत गणना की जाय, श्रेष्ठ सैनिकोंको प्रोत्साहित किया जाय, सेनापतियोंकी नियुक्ति हो और सब ओर गुप्तचर भेजे जायँ।'

राजा विपश्चित् रोषावेशमें भरे थे। वे बड़ी उतावलीके साथ जब इस प्रकार आज्ञा दे रहे थे, उसी समय द्वारपाल भीतर आकर महाराजको प्रणाम करके घबराये हुए स्वरमें बोला।

द्वारपालने कहा—देव! उत्तर दिशाके सेनापति दरवाजेपर खड़े हैं और जैसे कमल सूर्यके दर्शनकी इच्छा करता है, उसी प्रकार वे राजाधिराज महाराजका दर्शन चाहते हैं।

राजा बोले—द्वारपाल! जल्दी जाओ। पहले सेनापतिको ही भीतर ले आओ। उनसे सब वृत्तान्त

सुनकर मैं यह जान सकूँगा कि दिगन्तोंमें कैसी घटना घटित हुई है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! राजाके इस प्रकार आदेश देनेपर द्वारपालने सेनापतिको तत्काल भीतर भेजा। राजाने देखा, उत्तर दिशाके नायक सामने खड़े होकर मुझे प्रणाम कर रहे हैं। इनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया है। प्रत्येक अङ्गमें बाण धँसे हुए हैं, जोर-जोरसे साँस चल रही है, मुँहसे खून निकल रहा है, निर्बल होनेपर ही ये शत्रुसे पराजित हुए हैं। सेनापतिने लगातार साँस लेते हुए भी धैर्यपूर्वक अपने शरीरकी व्यथाको सहन करके महाराजको प्रणाम किया और शीघ्रतापूर्वक इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

सेनाध्यक्ष बोले—देव ! आपके तीन दिशाओंके सामन्त बहुत बड़ी सेनाके साथ मानो आपकी आज्ञासे ही यमराजको जीतनेके लिये यमलोकको चले गये। तदनन्तर उनके देशोंकी रक्षा आदि करनेमें मुझे असमर्थ समझकर बहुत-से भूपाल मेरा पीछा करते हुए बलपूर्वक यहाँ आ पहुँचे हैं। महाराजके इस राज्यमें शत्रुओंकी बहुत बड़ी सेना आ गयी है। अब जो कर्तव्य प्राप्त है, उसे कीजिये। शत्रुओंको मार भगाइये। महाराजके लिये किसीपर भी विजय पाना कठिन नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत होनेसे अत्यन्त पीड़ित हुए उत्तर दिशाके सेनानायक जिस समय उपर्युक्त बातें कह रहे थे, उसी समय सहसा दूसरा पुरुष भीतर आकर यों बोला—'नरेश्वर ! इस मण्डलके बहुत-से लोग पीपलके पत्तेकी तरह काँप रहे हैं। चारों ओर शत्रुओंकी बड़ी भारी सेनाएँ खड़ी हैं। जैसे लोकालोक पर्वतके तट सारी वसुधाको घेरे हुए हैं, वैसे ही हमारे शत्रुओंने इस भूमिको घेर लिया है। उनके हाथोंमें चक्र, गदा, प्रास और भालोंके समूह चमक रहे हैं। पताकाओं, अस्त्र-शस्त्रों, अन्य चपल सामग्रियोंसे तथा योद्धाओंसे युक्त रथ इधर-उधर दौड़ रहे हैं। वे उड़नेवाले त्रिपुरसमूहोंके समान जान पड़ते हैं।'

यों कहकर प्रणाम करके वह पुरुष तुरंत लौट गया, मानो समुद्रकी लहर कोलाहल करके शान्त हो गयी हो। राजाके महलमें खलबली मच गयी। उसकी दशा प्रचण्ड आँधीसे व्याप्त हुए विशाल वनके समान हो गयी थी। मन्त्री, राजा, योद्धा, आज्ञाकारी सेवक, हाथी, घोड़े, रथ, स्त्रियाँ, परिचारकवर्ग और नागरिकोंके समुदाय सभी घबराये हुए थे। सबने भयके कारण आत्मरक्षाके लिये अपने हाथोंमें हथियार उठा लिये थे।

(सर्ग १०८)

राजा विपश्चित्‌का अपने मस्तककी आहुतिसे अग्निदेवको संतुष्ट करके चार दिव्यरूपोंमें प्रकट होना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इसी बीचमें जिनके अन्तरिक्ष लोकपर दैत्योंने आक्रमण किया हो, उन देवराज इन्द्रके समीप जैसे मुनि आते हैं, उसी प्रकार राजा विपश्चित्‌के पास उनके अन्य सब मन्त्री आये और इस प्रकार बोले—'देव ! हमने यही निर्णय किया है कि अब हमारे शत्रु साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंद्वारा वशमें किये जाने योग्य नहीं रह गये हैं। इसलिये उनपर दण्डका ही प्रयोग कीजिये।'

राजा बोले—अच्छा, अब आपलोग शीघ्र ही युद्धके लिये जाइये और नगररक्षा एवं व्यूहरचना (मोर्चाबंदी) की व्यवस्था कीजिये। मैं स्नान करके अग्निदेवका पूजन करनेके पश्चात् समराङ्गणमें आऊँगा।

ऐसा कहकर राजाने गङ्गाजलसे भरे हुए घड़ोंद्वारा स्नान किया। तत्पश्चात् वे अग्निशालामें गये। वहाँ शास्त्रीय विधिसे अग्निदेवका आदरपूर्वक पूजन करके उन्होंने इस प्रकार विचार किया—'मैं विजय प्रदान करनेवाले

देवता अग्निको यहीं अपने मस्तककी आहुति दे दूँ ।'

ऐसा निश्चय करके राजा बोले—देवेश्वर अग्निदेव! मेरा यह मस्तक आपको आहुतिके रूपमें समर्पित है। आज मेरे द्वारा यह अपूर्व पुरोडाश दिया जा रहा है। भगवन्! यदि मेरे द्वारा दी हुई मस्तककी इस आहुतिसे आप संतुष्ट हों तो आपके इस कुण्डसे मेरे चार शरीर प्रकट हों। वे चारों भगवान् नारायणकी चार भुजाओंके समान बलवान् और शोभासे दीप्तिमान् हों। उन चार शरीरोंद्वारा मै चारों ही दिशाओंमें बिना किसी विघ्न-बाधाके शत्रुओंका वध करूँ। प्रभो! मेरे मनमें आपके दर्शनकी इच्छा है; अतः आप मुझे दर्शन देनेकी भी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसा कहकर उन महीपालने तलवार हाथमें लेकर अपने मस्तकको उसी प्रकार शीघ्र काट डाला, जैसे किसी बालकने खेल-खेलमें ही कुछ हिलते हुए कमलको तोड़ लिया हो। फिर उन्होंने अग्निदेवके उद्देश्यसे कटे हुए उस मस्तककी ज्यों ही आहुति दी, त्यों ही वे नरेश अपने शरीरके साथ ही अग्निमें गिर पड़े। उस शरीरको अपना आहार बनाकर अग्निदेवने उसे चौगुना करके उन्हें लौटा दिया। सच है, महापुरुषोंके उपयोगमें आयी हुई वस्तु तत्काल ही वृद्धिको प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर वे पृथ्वीनाथ चार शरीर धारण करके अग्निकुण्डसे बाहर निकले। उस समय वे तेजःपुञ्जसे प्रज्वलित हो रहे थे और क्षीरसागरसे प्रकट हुए तेजस्वी नारायणदेवके समान जान पड़ते थे। राजाके वे चारों शरीर सूर्यकी-सी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे और साथ ही उत्पन्न हुए उत्तम मुकुट, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र एवं वस्त्रोंसे सम्पन्न थे। कवच, शिरस्त्राण, किरीट-रत्न, कङ्कण, बाजूबंद, हार और बड़े-बड़े कुण्डलके साथ ही वे चारों शरीर प्रकट हुए थे। वे सबकी रक्षा करनेमें समर्थ और उच्च आशयवाले थे। सबकी आकृति एक-सी थी। वे समान अवयवोंसे सुशोभित थे और सब-के-सब चञ्चल उच्चैःश्रवाके समान उत्तम अश्वोंपर आरूढ थे। उन सबके पास सुनहरे बाणोंसे भरे हुए तरकस थे। वे चारों महामनस्वी थे और सभी एक समान डोरीवाले धनुष धारण किये हुए थे। उन सबके शरीरोंमें सर्वथा समानता थी और वे सभी शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे। वे पुरुष जिस हाथी, रथ और घोड़ेपर सवार होते थे, वह शत्रुओंद्वारा प्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, ओषधि, यन्त्र तथा अस्त्र-शस्त्र आदि दोषोंका लक्ष्य नहीं होता था। वे चारों चन्द्रमाकी प्रभाके समान अपनी हास्य-छटासे चारों ओर प्रकाश बिखेरते थे और आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निदेवसे सुन्दर विग्रहधारी चार विष्णु, चार समुद्र अथवा चार वेदोंके समान प्रकट हुए थे। (सर्ग १०९)



चारों विपश्चितोंका शत्रुओंके साथ युद्ध, भागती हुई शत्रुसेनाका पीछा करते हुए उनका समुद्रतटतक जाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर नगरके समीप पहुँचे हुए शत्रुओंके साथ चारों दिशाओंमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया। चारों विपश्चित् चारों ओर शत्रुओंसे लोहा लेनेके लिये चतुरंगिणी सेनाके साथ समराङ्गणमें जा पहुँचे। उन्होंने शत्रुओंकी सेनाको समुद्रके समान उमड़ती देख उसे पी जानेका विचार किया और सब ओर वायव्यास्त्रका संधान किया, उसके साथ ही पर्जन्यास्त्रको भी छोड़ा। फिर तो उनके भीषण धनुषोंसे बाण आदि अस्त्रोंकी नदियाँ बहने लगीं। साथ ही तलवार आदिकी वर्षा होने लगी। उस महान् युद्धमें शत्रुओंकी सेनाका घोर संहार हुआ। समस्त सैनिक, जो मरनेसे बच गये थे, भागने लगे। वे चारों

विपश्चित् इस तरह भागते हुए शत्रुओंकी सेनाका पीछा करते-करते बहुत दूर चले गये। सम्पूर्ण शक्तियोंसे परिपूर्ण एकमात्र चेतन परमेश्वरसे प्रेरित हो समान अभिप्रायवाले उन चारों वीरोंने सम्पूर्ण दिशाओंमें विजय प्राप्त कर ली। जैसे नदियोंके प्रवाह समुद्रतक जाते हैं, वैसे ही उन्होंने समुद्रके किनारेतक शत्रुओंका पीछा किया। दूरतक बिना विश्राम किये चलते रहनेसे विपश्चित्‌के सैनिकोंके जीवन-निर्वाह और युद्ध आदिके सारे साधन प्रतिदिन छोटी-छोटी नदियोंके जलकी भाँति क्षीण होते गये। उनके शत्रुओंका भी यही हाल हुआ। प्रतिदिन दौड़ते हुए उनकी और शत्रुओंकी सारी सेनाएँ मुमुक्षुओंके पुण्य और पापकी भाँति निरन्तर नष्ट होने लगीं। जब सारे सैनिक नष्ट हो गये, तब उनके वे दिव्यास्त्र सफल होकर आकाशमें ही शान्त हो गये, जैसे जलाने योग्य ईंधन आदिका अभाव हो जानेपर आगकी ज्वालाएँ स्वयं ही बुझ जाती हैं। म्यानों, तरकसों तथा रथ, घोड़े, हाथी और वृक्षसमुदाय आदि स्थानोंमें पड़े हुए अस्त्र-शस्त्र सायंकाल घोंसलोंमें छिपकर नींद लेनेवाले पक्षियोंके समान निश्चेष्ट हो गये। उस समय शून्यतारूपी जलसे भरा हुआ निर्मल आकाश बढ़े हुए विस्तृत एकार्णवके समान जान पड़ता था। उसके अस्त्र-शस्त्ररूपी जल-जन्तु मानो शान्त होकर कीचड़में विलीन हो गये थे। बाणरूपी जलकणोंकी वर्षाके कारण फैला हुआ कुहरा वहाँसे हट गया था, चक्ररूपी सैकड़ों आवर्त अब नहीं उठते थे। वहाँ निर्मल सौम्यता विराज रही थी। बादलोंके वेगपूर्वक वर्षा करनेसे उत्तुङ्ग तरङ्गोंकी भाँति ऊँची-ऊँची जलधाराएँ शान्त हो चुकी थीं। नक्षत्ररूपी रत्नराशि अदर छिप गयी थी और सूर्यरूपी बडवानल उसके एक देशमें विद्यमान था। सूर्य आदिके विस्तृत प्रकाशसे युक्त, गम्भीर एवं प्रभापूर्ण, धूलरहित वह स्वच्छ आकाश महात्माओंके रजोगुणरहित, आत्म-प्रकाशसे पूर्ण, गम्भीर एव प्रसन्न मनकी भाँति शोभा पा रहा था। उन चारों विपश्चितोंने चारों समुद्रोंको आकाशके छोटे भाइयोंके समान देखा, जो विमल, विस्तृत एवं सम्पूर्ण दिशाओंको परिपूर्ण करके स्थित थे। ऊँची-ऊँची तरङ्गें, जिनमें जल-जन्तु भी ऊपरको उठ जाते थे, इस तरह नीचे गिरती थीं, मानो आकाशके टुकड़े-टुकड़े होकर नीचे गिर रहे हों। अपनी उठती हुई तरङ्गोंद्वारा अगवानी-सी करते हुए क्षारसमुद्रके विशाल तटपर जब विपश्चित्‌की सेना पहुँची, तब उन्हें अपने सामने गगनचुम्बी पर्वतके शिखरपर भ्रमरोंके समान काली वनपङ्क्ति शोभा पाती दिखायी दी, जो इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवला, तमाल, हिंताल और ताड़के पत्तोंके ताण्डव-नृत्यसे विभक्त-सी जान पड़ती थी।

(सर्ग ११०—११३)

विपश्चित्‌के अनुचरोंका उन्हें आकाश, पर्वत, पर्वतीय ग्राम, मेघ, कुत्ते, कौए और कोकिल आदिको दिखाकर अन्योक्तियोंद्वारा विशेष अभिप्राय सूचित करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर वहाँ पार्श्ववर्ती मन्त्री आदिने उन चारों विपश्चितोंको उस समय भिन्न-भिन्न वन, वृक्ष, समुद्र, पर्वत, ग्राम, मेघ और वन-चर दिखाये।

तत्पश्चात् उन अनुचरोंने कहा—देव! देखिये, यहाँ युद्धमें लगे हुए सीमाप्रान्तके राजाओंके अस्त्र-शस्त्रोंकी राशियाँ चमचमा रही हैं और इनकी चतुरङ्गिणी सेनाएँ इधर-उधर विचर रही हैं। देखिये, देखिये, युद्धमें वीरोंद्वारा सम्मुख मारे गये सहस्रों वीरोंको विमानोंपर चढ़ा-चढ़ाकर स्वर्गीय अप्सराएँ उन विमानोंद्वारा आकाशमें लिये जा रही हैं। जो युद्धमें सामने आये हुए योद्धाको धर्मके अनुकूल चलते हुए योग्य[1] अवस्थामें वध करता है, वही शूरवीर

[1] १. योग्य अवस्थासे तात्पर्य यह है कि यदि विपक्षी पैदल हो तो स्वय भी उसके साथ पैदल ही लड़ा जाय अथवा उसे

तथा स्वर्गका अधिकारी है, दूसरा नहीं । महाराज ! देखिये, आकाश प्रबल मेघरूपी महासागरसे भरा हुआ है । उधर दृष्टिपात कीजिये, उसने चञ्चल तारोंके विशाल हार पहन रखे हैं । यह देखिये, इधर घने अन्धकारके समान वह नीला दिखायी देता है । उधर दृष्टि डालिये, वह चन्द्रमाकी उज्ज्वल किरणोंसे धोया हुआ-सा जान पड़ता है । आकाश यद्यपि जगत्के सम्पूर्ण दोषोंसे पूर्ण है, फिर भी वह सदा ही अविकारी रहता है । मैं समझता हूँ इस आकाशको तत्त्वज्ञानी पुरुषकी भाँति सर्वानर्थ-शून्यताका सुख प्राप्त है । धूम, बादल, धूल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, संध्या, तारावृन्द, विमान, गरुड़, पर्वत, देवता और असुर—इन सबके क्षोभ आकाशमें ही होते हैं तो भी उनसे प्रभावित होकर यह अपने स्वभाव (निर्विकारता एवं शान्ति) का कभी त्याग नहीं करता । अहो ! जिसका आशय महान् है, उसकी स्थिति अत्यन्त उन्नत एव विचित्र दिखायी देती है ।

यह जो त्रिभुवनरूपी भवन है, इसमें काल और क्रिया—ये दो दम्पति चिरकालसे रहते और इसकी रक्षा करते हैं, ठीक उसी तरह, जैसे माली और मालिन फलोंसे भरे हुए उपवनमें रहते और उसकी देख-भाल करते हैं । यद्यपि काल और क्रियाके द्वारा इस त्रिभुवन-भवनकी रक्षा नहीं होती, अपितु प्रतिदिन इनके द्वारा इसके नाशकी ही व्यवस्था होती रहती है तथापि आजतक नष्ट नहीं हो रहा है, यह कैसी आश्चर्यजनक माया है !

मालूम होता है आकाश वृक्ष आदिकी अधिक उन्नतिको रोकता है—उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता । यदि कहें कि आकाशमे कोई निरोधक व्यापार है ही नहीं, फिर वह किसीकी उन्नतिके अवरोधका कर्ता कैसे हो सकता है तो वह ठीक नहीं है । यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् है और महान्में उसकी महिमासे ही कर्तृत्वका उदय हो जाता है । जहाँ लाखों जगत् उत्पन्न और विलीन होते है, उस आकाशको शून्य कहा जाता है । शून्यतावादीके इस प्रौढ़ पाण्डित्यको धिक्कार है । समस्त प्राणी आकाशसे ही उत्पन्न होते, आकाशमें ही स्थिर रहते और आकाशमें ही विलीन होते हैं । इसलिये शास्त्रसिद्ध ईश्वरका लक्षण आकाशमें घटित होनेके कारण वह ईश्वररूप ही है । जिसमें इस जगत्रूपी भ्रमका उदय और अस्त होता है, जो असीम होनेके कारण समस्त वस्तुओंको अपने शरीरमें धारण करता है और त्रिलोकीरूपी मणियोंका सुविस्तृत आधार है, वह महाकाश चित्स्वरूप है और परब्रह्म ही है; ऐसा मेरा विश्वास है ।

देखिये, यहाँ सुवेल पर्वतके शिखरपर निर्मल कान्तिवाली एक सुवर्णमयी शिला है, जो सारी-की-सारी सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे अपनी प्रभासे इस तरह उद्भासित हो रही है, मानो तटतक -आनेवाली समुद्रकी चञ्चल लहरोंसे फेंका गया बडवानलका कोई कण प्रकाशित हो रहा हो । इस पर्वतीय ग्रामकी गौओंके झुंडमें तुरंत खिली हुई कलिकाओंके दलोंके भीतर छिपे-छिपे गुञ्जारव करनेवाले मदान्ध भ्रमरोंके दर्शनसे उद्दीपित कामनावाले गिरि-गह्वरनिवासी पामर लोगोंको भी जो आनन्द प्राप्त होता है, वह नन्दनवनमें विहार करने-वाले देवताओंको भी सुलभ नहीं है । इस पर्वतराज-के जंगलोंमें बसे हुए ये गाँव अपनी शोभा और महत्तासे चन्द्रमाको भी पराजित कर रहे हैं । जिनके एक बगलमें प्रकाशित मनोहर चन्द्रमण्डल मण्डन (आभूषण) का काम दे रहा है और दूसरी बगलमें जलके भारसे भारे हुए मेघरूपी गजराज विश्राम करते हैं; ऐसे पर्वत-तटोपर बसे हुए इन

कोई योग्य सवारी दे दी जाय । इसी तरह यदि वह शस्त्ररहित हो तो स्वय भी शस्त्रहीन होकर उसके साथ युद्ध किया जाय अथवा उसे भी शस्त्र दे दिया जाय ।

गाँवोंमें जो विलासलक्ष्मी लक्षित होती है, वह ब्रह्माजीके वैभवशाली राज्योंमें भी कहाँ सुलभ है ?

देखिये, स्फटिक मणिके खम्भोंकी राशियोंके समान सुरम्य एवं मोटी धारसे गिरनेवाले निर्झर-सलिलसे सुशोभित इस ग्रामगुफामें ये मोरनियाँ कैसा नृत्य कर रही हैं। जहाँ निर्झरोंसे झरते हुए जलका कलकल नाद फैल रहा है, ऐसे इस पर्वतीय ग्रामके कुञ्जोंमें विलासिनी मयूरियाँ और फूलोंके भारसे झुकी हुई लताएँ भी नाच रही हैं ।

(अब मेघके व्याजसे किसी ऐसे दाताको लक्ष्य करके निम्नाङ्कित बात कही जाती है, जो दान करते समय पात्रापात्र और गुण-अवगुणका विचार न करता हो, इसे अन्योक्ति कहते हैं—) मेघ ! तुम्हारा शील-स्वभाव श्रीमानोंके समान है, आशय (हृदय) महान् (उदार) है । तुम आतप (संताप) को हर लेते हो । तुम्हारी आकृतिसे ही उच्चता और गम्भीरता व्यक्त होती है । तुम पर्वतों (अथवा राजाओं) के शिरोभूषण हो और भूतलके लिये रसके एकमात्र आधार हो । इस प्रकार तुममें बहुतसे गुण हैं, परंतु यह एक ही बात हमारे हृदयको छेदे डालती है कि तुम हर्षसे वर्षा (दान) करते समय ऊसर भूमियोंमें, ताल-तलैयोंमें और वहाँके कटीले वृक्षोंमें भी उसी तरह जलका विभाजन करते हो, जैसा सुन्दर उपजाऊ खेतोंमें किया करते हो (योग्यता-अयोग्यताका कोई विचार नहीं करते हो) ।

(अब दान देनेके पूर्व दान लेनेवालोंके प्रति कठोर और कटुवचन सुनानेवाले दाताको लक्ष्य करके निम्नाङ्कित बात कही जाती है, यह भी मेघान्योक्ति ही है—) जलद ! तुम प्रतिदिन समुद्र और गङ्गा आदि उत्तम तीर्थोंकी जलराशिसे स्नान करते हो, ऊँचे स्थानपर बैठे हो, शुद्ध होकर वनभूमिमें निवास करते और मुनियोंके समान मौनव्रतका आश्रय लेते हो । यद्यपि शरत्-कालमें सब कुछ लुटाकर तुम खाली हो जाते हो तो भी तुम्हारे शरीरपर अत्यन्त उत्तम उज्ज्वल कान्ति ही लक्षित होती है । परंतु ऐसे होकर भी जो तुम जलदानके लिये ऊपर उठकर बिजलीके साथ वज्रकी गडगडाहट पैदा करते हो, यह क्या है ? तुम्हारा ऐसा तुच्छ आचरण क्यों होता है ?

अयोग्य स्थानमें पड जानेपर सारी अच्छी वस्तु भी बुरी हो जाती है । देखो न, मेघरूपी दूषित स्थानको पाकर श्वेत जल भी काला हो गया है । अहो ! मेघने जलकी वर्षा की और उस जलसे सारी पृथ्वी आप्लावित हो गयी । जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन-दुखी प्रेमीको धन-दौलतसे पुष्ट करते हैं, उसी प्रकार जलने भूतलकी मुर्झायी हुई खेतीको हरी-भरी एवं पुष्ट कर दिया । यह कितने हर्षकी बात है ।

(शूरवीर और कायरमें अन्तर बतानेवाली अन्योक्ति—) सिंह और कुत्ता दोनोंमें समानरूपसे पशुता विद्यमान है—दोनों पशु जातिके ही जीव हैं परंतु मेघगर्जन आदिसे होनेवाले कोलाहलको सिंह और ही प्रकारसे सहता है और कुत्ता और ही प्रकारसे । सिंह उस कोलाहलको सुनकर मनमें क्षोभ या भयका अनुभव नहीं करता । वह उपेक्षासे आँखें बंद करके सहन करता है । परंतु कुत्ता मेघ-गर्जनको सुनकर मन-ही-मन भयसे काँप उठता है और भयसे ही आँखें बंद करके उस कोलाहल-को सहन करता है ।

(कुत्ते-जैसे स्वभाववाले मनुष्यको लक्ष्य करके कही गयी अन्योक्ति—) सदा अपवित्र रहनेवाले कुत्ते ! तू अपने प्रियजनों (सजातीय कुत्तों) के ही निकट आने-पर भों-भों किया करता है । तेरा सारा समय गली-कूचोंमें मारे-मारे फिरनेमें ही व्यतीत होता है । मालूम होता है तुझे अपनी चित्तवृत्तिके ही अनुरूप मानकर किसी मूर्खने तुझको अपने इन दुर्गुणोंकी शिक्षा दे दी है । जीवके कर्मोंकी विषमतावश विषम जगत्‌की रचना करनेवाले विधाताने अपनी पुत्री देवशुनी सरमाके पुत्ररूप अपने

दौहित्र कुत्तेमें उसके अनुरूप सभी धर्मोंका एकत्र दर्शन करानेके लिये निम्नाङ्कित सब बातें एक साथ ही रच डालीं। वे सब बातें इस प्रकार हैं—अपने ही बनाये हुए कूडे-करकटके अपवित्र गड्ढेमें रहना, गूह और पीब खाना, जहाँ सबकी दृष्टि पड़ती हो, ऐसी सड़कों या खुली जगहोंमें कुत्सित मैथुनकी इच्छा तथा सबसे निन्दनीय शरीर। इन सबको विधाताने कुत्तोंके ही हवाले कर दिया।

किसीने कुत्तेसे पूछा—'तुझसे बढ़कर नीच कौन है ?' ऐसा प्रश्न करनेवालेसे कुत्तेने हँसकर कहा—'जो मूर्खता (अज्ञान), अपवित्र देहादिका अभिमान तथा अन्धता (विचाररूपी दृष्टिसे वञ्चित होना)—इन दुर्गुणोंका एवं अशुभ वस्तुका सेवन करता है, वह मुझसे भी अधिक नीच है।' प्रश्न करनेवालेने फिर पूछा—'तुझमें कौन-से ऐसे गुण हैं, जिसके कारण तुझे मूर्खसे अच्छा समझा जाय ?' कुत्तेने उत्तर दिया—'शूरता, स्वाभाविक स्वामिभक्ति और धृति (थोड़ेमें ही संतोष कर लेनेकी क्षमता)—ये सुन्दर गुण जो मुझमें हैं, लाखों प्रयत्न करके ढूँढ़नेपर भी मूर्खके पास नहीं पाये जा सकते।' कुत्ता सदा अपवित्र वस्तु खाता है, अपवित्र विष्ठाके ढेरमें ही सदा रमता है, नेवले, चूहे आदि जीवित प्राणियोंको भी चुपचाप खा जाता है और निर्बल बकरीके बच्चे आदिको भी बिना किसी अपराधके ही काट खाता है तथा कुतियाके साथ मैथुनमें प्रवृत्त होनेपर सब लोग आकर उसे ढेले मारते हैं। विधाताने संसारमें बेचारे असमर्थ कुत्तेको जन्मभर दुःख भोगनेके लिये ही रचा है।

(कोई अनुचर शिवलिङ्गपर बैठे हुए कौएकी ओर राजाका ध्यान आकृष्ट करता हुआ कहता है—) शिवलिङ्गके ऊपर बैठकर काँव-काँव करता हुआ यह कौआ अपने आपको ही दृष्टान्तरूपसे दिखाकर कहता है—'लोगो ! अधोगतिमें डालनेवाले जितने पातक हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है शिव-सम्पत्तिका उपभोग। इस महान् पातकमें स्थित हुए मुझ कौएको प्रत्यक्ष देखो।'

नीच कौए ! तू सदा कानोंको कटु प्रतीत होनेवाली काँव-काँवकी आवाज किया करता है और इसके द्वारा तूने मीठी बोली बोलनेवाले हंस आदिके गुणोंको कवलित कर लिया है—मिटा दिया है। अब सरोवरके भीतर कीचड़में घूमता हुआ जो तू अपनी कठोर बोलीसे भ्रमरोंके मधुर गुञ्जारवको छिपाये देता है, यह मेरे सिरपर बाणोंके प्रहारकी-सी वेदना पैदा करता है।

कौआ सरोवरमें आनेपर भी जो नरकसमूह (गन्दी चीजों) को ही खाता है और कमलकी नालको छोड़ देता है, इस विषयमें आपको कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। जिसको जिस वस्तुके खानेका अभ्यास है, उसे सदा वही स्वादिष्ट प्रतीत होती है।

नाना प्रकारके वन-पुष्पोंके केसर लग जानेसे कौएका शरीर सफेद-सा दिखायी देने लगा। इतनेसे ही लोगोंने उसे हंस समझ लिया; किंतु जब उसने सड़े-गले कीडों-मकोड़ोंको निगलना आरम्भ किया, तब उसका असली रूप पहचानमें आ गया—सबने जान लिया कि यह कौआ है।

कौओंके झुंडमें बैठा हुआ कोकिल मौन, चेष्टा, विहार, रूप-रंग और आकार-प्रकारमें कौओंके साथ पूरी समानता रखनेपर भी मीठी बोलीके द्वारा दूरसे ही पहचान लिया जाता है कि यह कौआ नहीं, रुचिर कान्तिवाला कोकिल है—ठीक उसी तरह, जैसे मूर्खोंके बीचमें बैठे हुए पण्डितकी पहचान हो जाती है। अपनी आकृतिसे ही भव्य गुणोंको सूचित करनेवाले सभी पुरुष अनुरूप आन्तरिक चमत्कारसे ही विख्यात हो जाते हैं।

भैया कोकिल ! इस समय यह मधुर कलरव करनेसे कोई लाभ नहीं। इससे तुम्हारा बहुमूल्य गुण नहीं प्रकट हो रहा है। किसी विशाल वृक्षकी कन्दराके भीतर जीर्ण-शीर्ण पत्तोंसे ढके हुए खोखलेमें चुपचाप बैठे रहो। यह कर्ण-कटु काँव-काँवकी रट लगानेवाले कौओंसे भरा हुआ शिशिरका

समय है। सखे! इस समय यह वसन्तका उत्सव नहीं है।

यह कोयलका बच्चा अपनी माता काकीको छोड़कर जो चला गया, यह एक आश्चर्यकी बात है। फिर यह काकी माँ, जो इस बच्चेको चोंच और पंजोसे मार रही है, यह दूसरा आश्चर्य है। मै इन बातोंपर क्षणभर ज्यों ही सोच-विचार करने लगा, त्यों ही यह कोयलका बच्चा भी अपनी माँके समान बढ़नेके लिये उत्साहसे सम्पन्न हो गया। यह तीसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ। वास्तवमें स्वभाव-सुभग भाग्यशाली पुरुष जिस दिशामें आता है, वही उसके लिये माहात्म्यदायिनी बन जाती है।

(सर्ग ११४–११६)

सरोवर, भ्रमर और हंसविषयक अन्योक्तियाँ

विपश्चित्के सहचरोंने कहा—राजन्! देखिये, यहाँ सामने पर्वतके शिखरपर जो सुन्दर सरोवर है, उसमें कह्लार, कमल और उत्पलोंकी नालके लिये ललकते हुए विचित्र कलरव करनेवाले हंस आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं। इससे वह सरोवर ऐसा जान पड़ता है, मानो नक्षत्रोंसहित आकाश ही उसमें प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह सरोवर इस पृथ्वीपर कमलासन ब्रह्माजीका गृह-सा जान पड़ता है। इसमें जो सहस्रदल-कमल खिले हुए हैं, उनकी नालें बहुत ऊपरतक उठी हुई हैं और उनके कोशस्थलोंमें सुन्दर शोभाका भार लिये राजहंस बैठे हुए हैं (ब्रह्मलोकमें भी यही विशेषता है)। इसके सिवा ब्रह्माजीके भवनमें भ्रमरोंके समान काली इन्द्रनीलमणिकी चौकीपर ब्राह्मणलोग विराजमान होते हैं। इस सरोवरमें काले-काले भौंरे ही इन्द्रनीलमणिकी चौकी हैं। उनसे संयुक्त फूलोंपर बैठे हुए पक्षियोंके समूह ही ब्राह्मण-वृन्दका स्थान ग्रहण किये हुए हैं।

पवित्र-हृदयके समान निर्मल कमलोंसे भरा हुआ और हृदयको अत्यन्त आह्लाद प्रदान करनेवाला यह स्वादिष्ठ जलसे परिपूर्ण सरोवर सत्सगके समान सुशोभित होता है। सत्संग भी हृदयारविन्दको पवित्र करनेवाला, मनको आनन्द देनेवाला, अत्यन्त सरस और मधुर होता है। हेमन्तऋतुमें सरस सारसोंसे युक्त यह सरोवर कुहासेसे ढक जानेके कारण कुछ-कुछ दिखायी देता है। बर्फसे ढके रहनेके कारण इसकी श्यामता दूर हो गयी है। यह सफेद-सा दीखने लगा है। अतएव बर्फके बादल-सा जान पड़ता है। इसके जलबिन्दुओंको छूकर बहनेवाली वायु बड़ी कठोर जान पड़ती है।

राजन्! जैसे यह दृश्यजगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं है—विकार आदिसे रहित ब्रह्मरूप ही है, तथापि ब्रह्मसे पृथक्-सा प्रतीत होता है, उसी तरह इस जलमें जो तरङ्ग आदि हैं, वे जलसे भिन्न नहीं हैं तो भी उससे पृथक्-से स्थित हैं। हाय! अपने ही जलसे बहाये जाकर चक्राकार भँवर प्रकट करनेवाले इन जलाशयोंकी एकके बाद दूसरीके क्रमसे उठनेवाली तरङ्ग-परम्परा बड़ी विषम है। (इसका दूसरा अर्थ यों समझना चाहिये—) जिनका अन्तःकरण जड या मूढ़ है, वे अपने ही अज्ञानसे संसारके प्रवाहमें बहते हैं और अपने लिये शुभाशुभ कर्मोंके चक्रका निर्माण करते हैं। उनके मनोरथरूपी तरङ्गोंकी परम्परा संकटमें डालनेवाली होती है।

जलमे उत्पन्न होनेवाले कमल, उत्पल आदिके संसर्गसे जीर्ण हुए इस सरोवरकी उपमा विविध जड योनियोंके सम्बन्धसे जर्जर हुए देहधारी जीवके मनसे दी जाती है। सरोवरमें कमल आदिकी तथा मनमें भिन्न-भिन्न योनियोंके शरीरोंकी जर्जर-दशापर्यन्त जो तरङ्गें (विषय-भोगोंकी अभिलाषाएँ) उठती हैं, उनके वेगसे व्याप्त इच्छा-द्वेष आदि वृत्तियोंके परिवर्तनोंकी भाँति जो असंख्य कमल प्रकट होते है, उन्हें कौन गिन सकता है?

अहो ! जड अथवा जलके संगमका कैसा विचित्र प्रभाव है कि मुकुलावस्थामें कमल भी अपने सौन्दर्य, सौगन्ध्य और माधुर्यादि गुणोंको दोषोंकी तरह गलेके भीतर छिपाये रखता है तथा कुरूप काँटोंको सबके सामने प्रकट करके दिखाता है (यह कुसंगतिका फल है)। जो गुण कमलके तन्तुओंकी भाँति छिद्रयुक्त (सदोष), कमजोर, सूक्ष्म, छिपाये हुए, जडतासे सयुक्त और अधिक होनेपर भी सारहीन हों, उनसे कोई लाभ नहीं है।

भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें विराजमान, सौन्दर्य-माधुर्यकी देवी भगवती लक्ष्मी भी शोभाके लिये ही हाथमें कमल धारण करती हैं; कमलकी इससे बढ़कर प्रशंसा और क्या हो सकती है ?

जो भ्रमर कमलोंके मधुर मकरन्दके मद और आमोद-से मतवाले हो उन्हीं कमलोंपर गुञ्जारव करते हैं, वे अन्य फूलोंके रसास्वादनसे संतुष्ट हुए दूसरे भौंरोंका मानो उपहास करते हैं।

अरे भ्रमर ! तू नाना प्रकारके फूलोंके रसका आस्वादन करता हुआ समस्त पर्वतोंके लताकुञ्जोंमें जो प्रतिदिन चक्कर लगाता रहता है, उससे आजतक संतुष्ट क्यों नहीं हो रहा है ? जान पड़ता है तेरा हृदय शुद्ध नहीं, दूषित है। मालूम होता है अबतक तुझे वनोंसे सारतत्त्व नहीं प्राप्त हुआ (तभी तो तुझमें असंतोष बना रहता है)।

मधुप ! तू कमलकुलके मकरन्दका आस्वादन करनेमें प्रवीण है; अतः कमलोंसे भरे हुए सरोवरमें ही चला जा। मकरन्दसे पुष्ट हुए अपने इस शरीरको बेरोंकी झाड़ियोंमें इनके कण्टकरूपी आरोंसे विदीर्ण न कर।

हंस ! तुम जलकाक, बगुले और कौए आदि हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए इस तालाबमें सदा अकेले न रहा करो। आपत्तिकालमें भी समान शील, अवस्था और भाषावाले स्वजनवर्गके साथ रहना ही अच्छा फल देने-वाला होता है। (सर्ग ११७)

बगुले, जलकाक, मोर और चातकसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्योक्तियाँ

अब राजाके सहचर-सहचरियोंने कहा—राजन् ! देखिये, बगुला प्रायः गुणहीन होता है, तो भी इसमें एक गुण अवश्य है, यह 'प्रावृट्-प्रावृट्' कहकर सदा वर्षाकालका स्मरण दिलाता है।

ओ बगुले ! तालाबमें बैठनेपर तू अपनी सफेद पाँखों-से हंस-सा ही जान पड़ता है, परंतु मेरी एक सलाह मान ले—जलकाकोंके साथ मैत्री, प्राणिवधकी क्रूरता और कर्णकटु वाणी—इन दोषोंको त्यागकर तू स्पष्ट रूपसे हंस बन जा। (तू अपनेमें रूप-रंगके साथ गुण भी हंसोंके ही संचित कर।)

'इस तरह स्वार्थके लिये लोगोंका गला घोंटा जाता है' इस बातको अपने व्यवहारसे दिखाता हुआ मद्गु (जलकाक) मेरा गुरु बन गया है—ऐसा कहकर दुष्ट लोग उसकी प्रशंसा करते हैं।

गर्दन ऊँची किये और सुन्दर सफेद पंख फैलाये बगुलेको आकाशमें उड़ता देख लोगोंने जाना कि यहाँ हंस ही आ गया, किंतु जब वह तलैयामें उतरकर कीचड़-भरे जलसे मछली पकड़ने लगा तो सब लोगोंको निश्चय हो गया कि यह बगुला ही है।

जो बहुत समयतक अपनी अत्यन्त चपलताका परिचय दे चुके थे, वे ही बगुले जब मछलियोंको पकड़नेके लिये तपस्याका ढोंग रचने लगे—तपस्वीकी तरह ध्यान लगाकर बैठे; तब वहाँ इसी स्वभाववाले धूर्तोंको अन्धकारकी प्रतीक्षामें ध्यान लगाकर बैठा देख तटपर खड़ी हुई एक चतुर नारीको बड़ा विस्मय हुआ।

बगुला, जलकाक और अन्यान्य हिंसक जलजन्तु सदा एक ही स्थानमें रहते हैं तो भी मूर्ख और विद्वानोंकी बुद्धिके समान इनकी बुद्धिका एक-दूसरेसे मेल नहीं है।

वह देखिये, खञ्जनकी चोंचमें पड़ा हुआ कीट किट-किटा रहा है। यह उसके पूर्वसंचित पाप या दुर्भाग्यकी पताका है, जो ऊँचे स्थानमें फहरा रही है।

मोरका हृदय ऊँचा और उदार होता है। वह जब इन्द्रसे जलकी याचना करता है, तब इन्द्र उसके उसी गुणसे संतुष्ट होकर वर्षाद्वारा सारी पृथ्वीको जलसे भर देते हैं।

ये मोर स्तन पीनेवाले बच्चोंकी तरह मेघोंका अनुसरण करते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि मलिनका पुत्र मलिन ही होता है।

सत्पुरुषोंके हृदयकी भाँति निर्मल महान् सरोवरको छोड़कर मोर मेघका थूका हुआ पानी क्यों पीता है? मेरी समझमें इसका एक ही कारण है, स्वाभिमानी मयूर किसीके सामने सिर झुकाना नहीं चाहता। मेघका पानी पीते समय उसका सिर ऊँचा रहेगा; किंतु सरोवरका जल पीते समय उसके सामने नतमस्तक होनेका भय है।

राजन्! देखिये, जिनके पङ्खरूपी मेघ सुशोभित हो रहे हैं तथा जो अपने पङ्खोंके कान्तिमान् चन्द्रचिह्नको कम्पित कर रहे हैं, वे मोर वर्षा ऋतुके बच्चोंकी भाँति नाच रहे हैं।

चकित चातक! तुम गरममें वनप्रान्तके भीतर सूखे वृक्षके खोंखलेमें रहनेका जो आग्रह दिखा रहे हो, इससे तुम्हारा अत्यन्त अभिमान सूचित हो रहा है। यह अभिमान दावानलमें जल जानेकी सम्भावनासे दूषित है, अतः तुम्हारे लिये सुखद नहीं हो सकता। भैया! मेरी सलाह मानो तो कदली-वनके निकटवर्ती शीतल हरित तिनकोंको चरो, नहरोंके पानी पीओ और कदली वनमें विश्राम करो। (मेघसे बरसते हुए जलके सिवा दूसरे किसी जलको नहीं पीऊँगा, इस दुराग्रहको छोड़ दो।)

ओ मयूर! यह समुद्रकी जलराशिसे भरे हुए पेट-वाला और आकाशमें ऊपर उठनेकी इच्छावाला जलधर (मेघ) नहीं है। दावानलसे जले हुए वनवृक्षोंके खोंखलेके अग्रभागसे प्रकट होनेवाली धूममालाका मण्डल है, जो इस पर्वतसे अभी-अभी ऊपरको उठा है।

(सर्ग ११८-११९)

वायु, ताड़, पलाश, कनेर, कल्पवृक्ष, वनस्थली और चम्पकवनका वर्णन करते हुए सहचरोंका महाराजसे राजाओंकी भेंट स्वीकार करके उन्हें विभिन्न मण्डलोंकी शासन-व्यवस्था सौंपनेके लिये अनुरोध करना तथा विपश्चितोंका अग्निसे वरदान प्राप्त करके दृश्यकी अन्तिम सीमा देखनेके लिये उद्यत होना

सहचर कहते हैं—राजन्! यहाँ पुष्प-परागोंसे विभूषित नाना प्रकारकी वायु बह रही है, जो केलेकी कलियोंके स्वच्छ गुच्छको विकसित करनेमें विशेष निपुण है।

यह ताडका पेड़ खम्भेकी तरह सीधा खड़ा है; अतः इसपर किसीका चढ़ना कठिन है। इसीलिये यह किसी याचकको किंचिन्मात्र भी न तो फल देता है और न पत्ता ही। इसकी यह ऊँची आकृति भी याचकोंकी अभिलाषाको पूर्ण न कर सकनेके कारण रूपहीन ही है—शोभा नहीं पाती है।

राजन्! जो गुणहीन जड (वृक्ष अथवा उदारता आदि गुणोंसे रहित मूर्ख) हैं, उनके लिये राग (शृङ्गार) ही शोभावर्द्धक होता है। वह फूला हुआ पलाशका पेड़ राग—फूलोंके शृङ्गारसे ही वनमें राजाकी भाँति सुशोभित होता है।

भैया! आओ, मैंने कुछ और ही समझा था; परंतु यह कनेर है, विकारका ही भाजन है। इसे देख मनमें यह सोचकर विषाद होता है कि कहाँ-से-कहाँ मैं इसके पास आ गया। इसमें सुगन्ध तो नाममात्रको नहीं है। गुणहीन जन्तुकी भाँति इसका अनुसरण करनेसे क्या लाभ होगा?

पृथ्वीनाथ! देखिये, कल्पवृक्षोंके वनकी शीतल छायामें विश्राम करते हुए ये सिद्ध और विद्याधररूप पथिक वीणा आदि वाद्योंके साथ गीत गा रहे हैं। देखिये न, वनमें इस कल्पवृक्षके एक-एक पत्तेपर देव-सुन्दरियाँ विश्राम करती, गाती और हँसती हैं!

उदार बुद्धिवाले! ये सिद्ध, विद्याधर आदि नन्दनवनमें भी वैसा आनन्द नहीं पाते हैं, जैसा कि इन शुद्ध, शान्त, नीरव वनस्थलियोंमें पाते हैं। ये रमणीय और निर्जन वनस्थलियाँ मुनिके विरागी चित्तको और विषयीके रागी हृदयको समानरूपसे आनन्द प्रदान करती हैं।

देखिये, खिले हुए चम्पाके वन जब हवासे हिलते हैं, तब जलते हुए पर्वतोंके समान जान पड़ते हैं। उस अवस्थामें वहाँसे दूर मँडराते हुए भ्रमर और छाये हुए मेघ धूममालाके समान प्रतीत होते हैं।

महाराज! देखिये, क्षार समुद्रके तटका यह भूभाग उपहार हाथमें लेकर आये हुए राजाओंसे भर गया है और उन सबका कोलाहल यहाँ व्याप्त हो गया है, जो बड़ा भला मालूम होता है।

देव! पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके क्षार सागरतक इस जम्बूद्वीपमें जो नरेश इस भयंकर युद्धसे जीवित बच गये हैं, उन सबके मस्तकपर अपने चरण रखनेका अनुग्रह कीजिये तथा भिन्न-भिन्न जनपदोंके भूभागकी प्रत्येक दिशामें चिरकालिक रक्षाके लिये नीतिशास्त्रके अनुसार क्षमापूर्वक योग्य व्यक्तियोंको शान्त चित्तसे शासन-व्यवस्थाका अधिकार दीजिये। तत्पश्चात् अस्त्र-शस्त्र और अनुपम सेनाओंका बँटवारा कर दीजिये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर उन चारों विपश्चितोंने समुद्रतटकी भूमिपर बैठकर राज्यका यह सारा प्रयोजन (मण्डलकी सीमा बाँधने आदिका कार्य) सिद्ध किया। इतनेमें ही मेघमालाके समान काली रात आयी और सब ओर फैल गयी। तत्पश्चात् वे सभी विपश्चित् जो दिनका कार्य पूरा कर चुके थे, सोनेके लिये अपनी शय्याओंपर आरूढ़ हुए। वे नदियोंके प्रवाहकी भाँति बहुत दूर समुद्रतक चले आये थे। इसलिये मन-ही-मन आश्चर्यसे चकित हो इस प्रकार विचार करने लगे—'यह सब ओर फैली हुई दृश्य-जगत्‌की शोभा कितनी विस्तृत होगी? इस जम्बूद्वीपके बाद खारे पानीका समुद्र है। उसके बाद प्लक्षद्वीपकी भूमि है। तत्पश्चात् क्षार समुद्रसे दुगुना बड़ा इक्षुरसका समुद्र है। उसके बाद कुशद्वीप है। तदनन्तर सुराका सागर है। इसी प्रकार क्रमसे सात समुद्र और सात द्वीपोंके बाद अन्तमें क्या होगा? फिर उसके बाद भी क्या होगा? यह दृश्यरूपिणी माया न जाने कितनी बड़ी और कैसी होगी? इसलिये हमलोग भगवान् अग्निदेवसे प्रार्थना करें। उनके वरदानसे हम अनायास ही इन सम्पूर्ण दिशाओंका अन्तिम सीमातक अवलोकन कर सकेंगे।' ऐसा सोचकर यथास्थान बैठे हुए वे सब विपश्चित् एक साथ ही भगवान् अग्निका आवाहन करने लगे। तब भगवान् अग्निदेव इन चारोंके समक्ष साकार होकर प्रकट हुए और बोले—'पुत्र! मुझसे वर माँगो।'

विपश्चित् बोले—देव! सुरेश्वर! हम इस पञ्चभूतात्मक दृश्यजगत्‌का अन्त देखना चाहते हैं, जहाँतक इस देहसे जाना सम्भव हो सके, वहाँतक इस देहसे, जहाँ यह न जा सके वहाँ मन्त्रके प्रभावसे संस्कारयुक्त किये गये इसी शरीरसे, तथा जहाँ इस संस्कारयुक्त शरीरकी भी गति न हो सके, वहाँ मनसे जाकर हम दृश्य जगत्‌का अन्त देखें। जो जिस रूपमें मनसे प्रत्यक्ष होनेयोग्य तथा जाननेयोग्य हो उन सभी पञ्चभूतात्मक पदार्थोंका हम दर्शन कर सकें—यह उत्तम वर आप हमें दें। प्रभो! सिद्ध योगी अपने योगके प्रभावसे जहाँतक जा सकते हों, वहाँतकका मार्ग हम इसी शरीरसे तै करें। जहाँ योगियोंकी भी पहुँच न हो, उस अगम्य दृश्यको हम मनसे ही देखें। सिद्ध योगियोंके गम्य मार्गपर चलते समय हमारी मृत्यु न

हो तथा जिस मार्गमें देहका रहना सम्भव ही न हो, वहाँ हमारा मन ही यात्रा करे।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! उनके इस प्रकार वर माँगनेपर 'ऐसा ही होगा' यों कहकर अग्निदेव सहसा एक ही क्षणमें अदृश्य हो गये, मानो बडवानलरूपसे समुद्रमें जानेके लिये उन्हें जल्दी लगी रही हो। इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये। तत्पश्चात् रात्रि आयी और कुछ देर ठहरकर वह भी चली गयी। इसके बाद सूर्यदेव आये। साथ ही उन विपश्चितोंके हृदयमें विशाल समुद्रको लाँघनेकी इच्छा भी आयी। (सर्ग १२०-१२१)



चारों विपश्चितोंका समुद्रमें प्रवेश और प्रत्येक दिशामें उनकी पृथक्-पृथक् यात्राका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तत्पश्चात् प्रातःकाल मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंके मना करनेपर भी वे चारों विपश्चित् हठपूर्वक नीतिशास्त्रके अनुसार पृथ्वीके राज्यविभाग और उनके शासनकी भलीभाँति पूरी व्यवस्था करके दिगन्तके दर्शनकी अतिशय उत्कण्ठासे भर गये, मानो उनके शरीरपर किसी ग्रहका आवेश हो गया हो। उस समय उनका सारा परिवार रोते हुए मुखसे करुणाजनक क्रन्दन कर रहा था। उन चारोंने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और स्वयं आसक्तिशून्य होनेके कारण अभिमान, ईर्ष्या, लोभ, शत्रुओंके पराभवकी इच्छा, राज्य, स्त्री एवं पुत्र आदिको त्यागकर वे यह कहते हुए चल दिये कि 'हमलोग समुद्रके पार जा दिगन्तका दर्शन करके अभी क्षणमें लौटे आ रहे हैं।'

अग्निदेवकी प्रसन्नतासे प्राप्त मन्त्रकी शक्तिसे पाँचों भूतोंपर विजय प्राप्त करके वे उत्तम सिद्ध हो गये थे। अतः उस समय उन्होंने पैदल ही समुद्रमें प्रवेश किया। वे चारों विपश्चित् प्रत्येक दिशामें समुद्रके भीतर प्रविष्ट होकर स्थलकी ही भाँति जलमें भी पैरोंसे ही चलने लगे। जलके भीतर भूपृष्ठकी भाँति तरङ्गसमूहोंपर पैर रखकर अकेले-ही-अकेले जानेको उद्यत वे चारों विपश्चित् अपनी सेनासे बहुत दूर निकल गये। वे एक-एक पग चलकर जब महासागरके भीतर प्रवेश करने लगे, तब तटपर खड़े हुए उनके सम्बन्धी उन्हें तबतक देखते रहे, जबतक कि वे शरत्कालके आकाशमें प्रविष्ट हुए मेघखण्डोंके समान अदृश्य नहीं हो गये। यद्यपि उन्हें चञ्चल गजराजोंके समान उठी हुई तरङ्गमालाओंसे टकराना पड़ता था, तथापि वे तटपर बने हुए पथरीले परकोटोंके समान अपना धैर्य नहीं छोड़ते थे। वे चारों विपश्चित् समुद्रकी जलराशिमें आगे बढ़ने लगे। जलके मगर उनके सहचर (साथी) थे। वे शौर्यसम्पन्न नाकों और केकड़ोंसे व्याप्त भँवरोंमें चारों ओरसे घिर जाते थे। बीचमें जानेपर बहुसंख्यक मेघोंके समान रूपवाली और व्यक्ताव्यक्त किरणराशिसे सुशोभित होनेवाली भ्रान्त मुक्तामणियों तथा वृक्षोंकी लताके समान दीखनेवाली जलमय तरङ्गोंके जलकणरूपी फूलोंद्वारा वे पग-पगपर अपने शरीरको विभूषित एवं सुशोभित करते जा रहे थे।

उन चारों विपश्चितोंमेंसे जो पश्चिम दिशाका अन्त देखनेके लिये प्रस्थित हुआ था, वह अपनेको अमर माननेवाले एक मत्स्यके द्वारा निगल लिया गया। वह मत्स्य मत्स्यावतारधारी भगवान् विष्णुके कुलमें उत्पन्न हुआ था और उसका वेग झेलमकी प्रखर धारमें बहनेवाली नौकाके समान तीव्र था। किंतु उस मत्स्यके लिये उस राजाको पचाना बड़ा कठिन काम था। इसलिये क्षीरसागरमें पहुँचकर उसने उसे उगल दिया; तब वह क्षीरसारको लाँघकर दूर दिगन्तमें चला गया।

दक्षिण दिशाका अन्त देखनेके लिये चला हुआ विपश्चित् जब इक्षुरसके समुद्रमें पहुँचा, तब उसके तटवर्ती यक्षनगरमें निवास करनेवाली एक यक्षिणीने, जो वशीकरण विद्यामें अत्यन्त निपुण थी, उसे देखा। देखकर अपने विद्याके बलसे आकृष्ट करके उसे अपना प्रेमी बना लिया।

पूर्व दिशाकी चरम सीमा देखनेके लिये आगे बढ़ा हुआ विपश्चित् जब गङ्गाजीके मुहानेपर पहुँचा, तब उसने एक मगरपर आक्रमण किया, जो उसे निगल जानेके लिये उद्यत था। उसने उस मगरको गङ्गामें खींचकर चीर डाला, तब गङ्गाने विपश्चित्को पीछे लौटाकर कान्यकुब्ज नगरमें छोड़ दिया।

उत्तर दिशाका अन्त देखनेके लिये चले हुए विपश्चित्ने उत्तर कुरुदेशमें श्रीउमा-महेश्वरकी आराधना करके अणिमा आदि सिद्धियोंको प्राप्त कर लिया। उस सिद्धिके कारण दिगन्तमें मरणका भय उसे बाधा नहीं पहुँचाता था। मार्गमें कितने ही मगर और जलहस्ती उसे निगलते और उगलते गये, किंतु उस सिद्धिके प्रभावसे ही उसके शरीरको कोई क्षति नहीं पहुँची। वह बहुतसे द्वीप-द्वीपान्तरों और कुलपर्वतोंको लाँघता हुआ आगे बढ़ गया।

पश्चिम दिशामें गये हुए विपश्चित्को जिसकी अङ्ग-कान्ति कुशके ही समान थी, कुशद्वीपमें पक्षिराज गरुड़ने अपनी पीठपर बिठा लिया और बड़े वेगसे अनेक समुद्रोंके पार पहुँचा दिया।

पूर्व दिशावाला विपश्चित् कान्यकुब्ज देशसे चलकर जब क्रौञ्चद्वीपके एक पर्वतपर गया, तब वहाँ वनके भीतर रहनेवाला कोई राक्षस उसे निगल गया। परंतु उस राजाने राक्षसकी अँतड़ियोंको काटकर उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर दिया।

दक्षिण दिशाकी ओर गया हुआ विपश्चित् दक्षके शापसे क्षणभरमें यक्ष हो गया। फिर सौ वर्षोंके बाद शाकद्वीपमें उसे उस शापसे छुटकारा मिला।

उत्तर दिशाका यात्री विपश्चित् छोटे-बड़े नदी-नाले और समुद्रोंको बड़े वेगसे लाँघता हुआ स्वादिष्ट जलवाले महासागरके उस पार सुप्रसिद्ध सुवर्णमयी भूमिमें जा पहुँचा, किंतु वहाँ एक सिद्धके शापसे शिला हो गया। तदनन्तर सौ वर्षके बाद अग्निदेवके अनुग्रहसे उस सिद्धने विपश्चित्को शापसे मुक्त कर दिया। इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ।

पूर्वका यात्री विपश्चित् आठ वर्षोंतक नारियलके वृक्षोंसे भरे हुए एक देशके निवासियोंका राजा होकर रहा। वह बड़ा धर्मात्मा था। इसलिये उसे वहाँ अपने पूर्व-जन्मकी स्मृति हो आयी। वह नारियलके फलोंसे जीवन-निर्वाह करने लगा। मेरु पर्वतके उत्तर एक कल्पवृक्षका वन था, जिसमें एक अप्सराके साथ उसने दस वर्षोंतक निवास किया।

पश्चिम जानेवाला विपश्चित् पक्षियोंपर विश्वास जमाने—उन्हें वशमें कर लेनेकी विद्याका मर्मज्ञ था (अतएव पहले गरुड़ने उसे पीठपर बिठाकर समुद्रके पार पहुँचा दिया था)। फिर वह शाल्मलिद्वीपके सुविख्यात सेमलके वृक्षपर एक मादा पक्षीके घोंसलेमें उसके साथ क्रीड़ा करता हुआ कई वर्षोंतक रहा। फिर कोमल लता-वल्लरियोंसे अलंकृत मन्दराचलपर मन्दार वृक्षोंके निकुञ्ज-भवनमें मन्दरी नामवाली एक किन्नरीने विपश्चित्की एक दिन सेवा की।

तत्पश्चात् पूर्व दिशाके विपश्चित्ने क्षीरसागर-तटवर्ती वनके भीतर कल्पवृक्षोंकी वनश्रेणियोंमें नन्दनवनकी देवियों-अप्सराओंके साथ कामासक्त होकर सत्तर वर्ष व्यतीत किये।

(सर्ग १२२-१२३)

विपश्चितोंके विहारका तथा जीवन्मुक्तोंकी सर्वात्मरूप स्थितिका वर्णन

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! जब वे सभी विपश्चित् एक चैतन्यमय थे और उन सबका शरीर भी एक ही था, तब शरीर एक होते हुए उनकी इच्छाएँ विभिन्न कैसे हो गयीं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र! जैसे स्वप्नावस्थामें चित्त स्वयं अपनेमें ही स्वप्न-दृष्ट पदार्थोंके रूपमें नाना प्रकारका हो जाता है, उसी तरह एक चैतन्य घनाकाश सर्वव्यापी अखण्ड होते हुए भी मायावश भिन्न-सा बन जाता है। इसलिये जिस विपश्चित्के समक्ष जो वस्तु आयी, वह उसीमें तन्मयताको प्राप्त होकर उसीके वशमें हो गया। एक देशमें स्थित रहते हुए भी योगी सर्वत्र व्याप्त होकर तीनों कालोंमें सब काम करते और सब पदार्थोंका अनुभव करते हैं। दसों दिशाओंमें स्थित वे विपश्चित् यद्यपि वास्तवमें एक चैतन्यमय थे, तथापि उन्होंने अज्ञानवश वैसा ही व्यवहार किया, जिससे उन्हें सुख-दुःख आदिकी प्राप्ति हुई। जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने भूमिपर शयन किया, द्वीप द्वीपान्तरोंमें सुख-दुःखका उपभोग किया, वन-श्रेणियोंमें विहार किया, मरुस्थलोंकी यात्रा की, पर्वतमालाओंमें निवास किया, सागर-कुक्षियोंमें भ्रमण किया, अनेक द्वीपोंमें विश्राम किया, मेघमालाओंसे आच्छादित पर्वतशिखरोंपर गुप्तरूपसे वास किया, सागरमालाओंमें जन्म धारण किया तथा ओषधियोंमें, जलतरङ्गोंमें, पर्वतों और समुद्रोंके तटोंपर एवं नगरोंमें विविध क्रीडाएँ कीं।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! एक देशमें स्थित रहते हुए भी योगीलोग चारों ओर व्याप्त होकर तीनों कालोंमें सम्पूर्ण कार्य कैसे करते हैं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! इस जगत्में अज्ञानियोंकी दृष्टिमें जो स्थूल वस्तु है, उससे हम ज्ञानियोंका कोई प्रयोजन नहीं है; किंतु ज्ञानियोंकी दृष्टिसे जो चिन्मात्र वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ; सुनो। तत्त्वज्ञोंकी दृष्टिसे चिन्मात्र सत्तासामान्यके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। दृश्यके अत्यन्ताभावका ज्ञान होनेपर सृष्टि और प्रलयकी दृष्टिका विनाश होनेके पश्चात् चिन्मात्र सत्तासामान्यमें निरन्तर विश्रामको प्राप्त हुए सर्वेश्वरका यहाँ सर्वदा सर्वत्व और सर्वात्मत्व ही वर्तमान है। ऐसी दशामें भला बताओ तो सही, कौन कैसे कहाँ कब और क्योंकर उसका निरोध कर सकता है? वह सर्वव्यापी सर्वात्मा जब जहाँ जिस रूपमें प्रकट होना चाहता है, तब वहाँ उसी रूपमें प्रकट हो जाता है; क्योंकि उस सर्वात्मामें कौन-सी वस्तु नहीं है? तुम ऐसा समझो कि अतीत, वर्तमान और भविष्य, स्थूल-सूक्ष्म, दूर निकट तथा निमेष और कल्प आदि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब की सब अपने स्वरूपका त्याग किये बिना ही सत्तासामान्य-स्वरूप सर्वात्मामें सर्वदा ही वर्तमान हैं। किंतु वास्तवमें मायासे उल्लासको प्राप्त हुआ यह दृश्य-प्रपञ्च न उत्पन्न हुआ है और न निरुद्ध हुआ है; बल्कि ज्यों-का-त्यों स्थित है।

महाबाहु श्रीराम! वे विपश्चित् पूर्णतया प्रबुद्ध नहीं थे, बल्कि बोधदृष्टि तथा अबोध-दृष्टिके मध्यमें वे दोलायमान-से स्थित थे। उन अर्धप्रबुद्ध विपश्चितोंमें चारों ओरसे नित्य मोक्ष तथा बन्धनके लक्षण दृष्टिगोचर होते थे। उस पूर्वोक्त संशयग्रस्त धारणासे युक्त होनेके कारण वे विपश्चित् परब्रह्म-प्राप्त योगी न थे, किंतु धारणासे प्राप्त हुए सिद्धिवाले धारणा-योगी थे। राजीवलोचन राम! जिन्हें परम ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है तथा जिनमें अविद्याका लेशमात्र भी नहीं है, वे विपश्चित् यदि ऐसे ज्ञानयोगी होते तो क्या वे अविद्याकी ओर दृष्टिपात करते? वे तो अग्निदेवके वरदानसे सिद्धिप्राप्त धारणा-योगी थे। उनमें अविद्या वर्तमान थी, इसी कारण वे आत्मविचारहीन थे। जीवन्मुक्तोंका भी शरीर देहधर्मसे युक्त रहता है; किंतु उस शरीरके भीतर जो उनका चित्त है वह अचल ही रहता है अर्थात् उसमें देहधर्म नहीं व्याप्त होते। अतः जीवन्मुक्त पुरुषके शरीरको चाहे टुकड़े-टुकड़े करके काट डाला जाय अथवा उसे राजसिंहासनपर बैठाया जाय—इस प्रकारकी रोने और हँसनेकी दोनों अवस्थाओंमें उसे न तो कुछ दुःखका अनुभव होता है और न सुखका ही।

जीवन्मुक्त पुरुषोंका शरीर आदि आत्मस्वभावसे कभी पृथक् नहीं है। इसीलिये जीवन्मुक्त पुरुष मरा हुआ भी मरता नहीं, रोता हुआ भी रोता नहीं और हँसता हुआ भी हँसता नहीं अर्थात् वह मरणादि अवस्थाओंमें हर्ष-शोकसे युक्त नहीं होता। तथापि व्यवहारकालमें अज्ञानी और ज्ञानी जीवन्मुक्तके आचरण प्रायः एक-से ही होते हैं। प्रह्लाद, बलि, वृत्र आदि यद्यपि वीतराग जीवन्मुक्त ही थे पर उनके व्यवहार रागियोंके-से होते थे। हाँ, बन्धन तथा मोक्षका कारण तो वासना और वासनाशून्यता ही है।

(सर्ग १२४-१२५)

मरे हुए विपश्चितोंके संसारभ्रमणका तथा उत्तरदिशागामी विपश्चित्‌के भ्रमणका विशेषरूपसे वर्णन

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! तदनन्तर वे विपश्चित् उन दिगन्तोंमें तथा द्वीपों, सागरों, काननों और पर्वत-भूमियोंमें जाकर क्या करते हुए निवास करते रहे?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स राम! उनमेंसे एक विपश्चित् क्रौञ्चद्वीपके सीमा-भूत पर्वतके पश्चिमी तटपर एक हाथीद्वारा दाँतों एवं गण्डस्थलोंसे उस पर्वतकी शिलापर कमलकी तरह पीस डाला गया। दूसरे विपश्चित्‌को, जिसका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था, एक राक्षसने आकाशमार्गसे ले जाकर समुद्रवर्ती बडवानलमें झोंक दिया, जिससे वह वहीं जलकर भस्म हो गया। तीसरेको एक विद्याधर इन्द्र-सभामें ले गया। वहाँ उसने इन्द्रको प्रणाम नहीं किया, जिससे इन्द्रने कुपित होकर उसे शाप दे दिया। उस शापसे वह जलकर भस्म हो गया। चौथा कुशद्वीपकी सीमापर स्थित पर्वतकी तलहटीमें बहनेवाली नदीके कछारमें बड़ी सावधानीसे जा रहा था, परंतु किसी महाबली मगरने उसके आठ टुकड़े कर दिये, जिससे वह मर गया। इस प्रकार वे चारों भूपाल (विपश्चित्) दिगन्तोंमें जाकर मृत्युको प्राप्त हो गये। मृत्युके पश्चात् उन विपश्चितोंकी संवित्‌ने पूर्व-संस्कारवश आकाशात्मा बनकर आकाशमें ही पृथ्वीमण्डलको देखा फिर दृश्य और दर्शनके मध्यमें, भूमण्डलका अनुभव ही जिसकी आकृति है, उस अविद्याकी निष्ठा—इयत्ताको देखनेके लिये वे द्वीप-द्वीपान्तरोंमें भटकते रहे।

राघव! उनमें जो विपश्चित् पश्चिम दिशाकी ओर चला था, वह सातों द्वीपों तथा सातों महासागरोंको लाँघकर घनभूमि (पूर्वोक्त स्वर्णमयी भूमि) में जा पहुँचा। वहाँ उसे भगवान् जनार्दनके दर्शन हुए। फिर उन्हीं भगवान्‌से अनुपम ज्ञान (ब्रह्मविद्या) प्राप्त करके वह उसी स्थानमें पाँच वर्षतक समाधिस्थ हुआ बैठा रहा। तदनन्तर वह देहका परित्याग करके निर्वाणको प्राप्त हो गया। पूर्व दिशामें गया हुआ विपश्चित् पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलके निकट अपने शरीरको स्थापित करके उसमें चन्द्रत्वकी भावना करता रहा। चिरकालके बाद जब उसका पूर्वशरीर नष्ट हो गया, तब वह चन्द्रलोकमें स्थित हो गया। राजकुमार राम! दक्षिण दिशागामी विपश्चित् शाल्मलिद्वीपमें जाकर अपने शत्रुओंकी जड़ उखाड़ करके आज भी वहाँ राज्य कर रहा है। और उत्तर दिशाको प्रस्थान करनेवाला विपश्चित् सप्तमाम्बुधि—स्वादूदक-सागरमें जा पहुँचा, जिसमें चञ्चल एवं विशाल तरङ्गें किलोल कर रही थीं। वहाँ उसने एक मगरके पेटमें एक हजार वर्षतक निवास किया। उस समय वह उसी मगरके पेटका मांस खाकर जीवन-निर्वाह करता था। इस प्रकार जब वह मगरराज मर गया, तब वह उसके पेटसे निकलकर दूसरे मगरकी तरह समुद्रसे बाहर आया। तदनन्तर हिमके समान स्वच्छ जलसे भरे हुए उस सागरकी अस्सी हजार योजनकी विस्तारवाली घनी भूमिको लाँघकर वह दस हजार योजनके विस्तारवाले एक विशाल मैदानमें जा पहुँचा, जिसकी भूमि स्वर्णमयी थी और मध्यभाग बहुत बड़ा

था। उसमें देवतालोग विहार करते थे। वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। उस भूमिमें देवगणोंके मध्य मरनेसे उस विपश्चित्को उसी प्रकार उत्तम देवत्वकी प्राप्ति हो गयी, जैसे अग्निके बीच पड़ा हुआ काष्ठ क्षणभरमें ही अग्नि-रूप हो जाता है। फिर वह एक प्रधान देवता होकर उस लोकालोक पर्वतपर गया, जो भूमण्डलरूपी वृक्षका थाला-सा स्थित है।

रामभद्र! उसका दिगन्तदर्शनरूपी पूर्वसंस्कार उसे पूर्णतया अभ्यस्त था ही, अतः वह उस उत्कृष्ट निश्चयसे प्रेरित होकर ज्यों ही आगे बढ़ा, त्यों ही उस लोकालोक-गिरिके शिखरसे अन्धकारमय गर्तमें जा गिरा। वहाँ उसने देखा कि पर्वत-शिखर-सरीखे विशालकाय मांसभक्षी पक्षी उसके उस देव-शरीरको नोच-नोचकर खा रहे हैं और पूर्वचिन्तित दिगन्तदर्शनके कार्यमें उसका मनोमय शरीर ही प्रसार कर रहा है; क्योंकि जहाँ उसकी मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश परम पावन था। इसी कारण उस निर्मल हृदयवाले विपश्चित्को अपने सूक्ष्म शरीरमें आधिभौतिकताका बोध तो नहीं हुआ, परंतु मनके व्यापारसे रहित शान्त स्थितिरूप उत्तम बोधकी प्राप्ति नहीं हुई। उसे तो आतिवाहिक शरीरका ही विशेषरूपसे ज्ञान था, इसी कारण उसने अपने मनको आगे बढ़ते हुए देखा। आतिवाहिकके ज्ञानसे उसे गर्भवास-तुल्य अन्धकार दीख पड़ा। उस अन्धकारकी समाप्तिपर ब्रह्माण्डकटाहरूपी भूखण्ड दृष्टिगोचर हुआ, जो वज्र-सदृश सारवान्, स्वर्णमय और करोड़ों योजन विस्तारवाला है। उसके बाद उसे उस भूखण्डसे आठगुना विस्तारवाला जल मिला, जो ब्रह्माण्डकटाहकी भूमिके समान समुद्रकी पीठकी भाँति स्थित था। उसे पार करनेके बाद वह एक तेजयुक्त स्थानमें जा पहुँचा, जो प्रलयाग्निकी घनीभूत लपटोंके पिण्डीभूत कोटरके समान चमकीला था और जहाँ बहुत-से सूर्य अपना प्रकाश फैला रहे थे, जिससे वह अत्यन्त भीषण लग रहा था। उस तैजस आवरणमें वह दाह-शोक आदिसे रहित मनोमय देहसे विचरण कर रहा था। इतनेमें उसे ऐसा भान हुआ कि वह वायुरूप आवरणमें आ पहुँचा। उस समय उसे यह ज्ञात हुआ कि मेरा सूक्ष्म आत्मा ही ले जाया जा रहा है और वह चित्तमात्र आत्मा किस प्रकार ले जाया जा रहा है—यह भी मालूम हुआ। ऐसे ज्ञानके बलसे उस धीरात्माने उस वायुसागरको पार किया। उसके बाद वह उससे भी दसगुने विस्तृत शून्य स्थानमें जा पहुँचा। उसे लाँघकर वह असीम महान् आकाशमें प्रविष्ट हुआ। जिसमें सब कुछ विलीन होता है, जिससे सब कुछ आविर्भूत होता है तथा जो कुछ नहीं है और सब कुछ है, उस महान् आकाशमें मनोमय देहसे भ्रमण करता हुआ वह बहुत दूर चला गया। वहाँ उसने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा जगत् देखा। फिर संसारकी रचनाएँ, सृष्टियाँ और दिशाएँ दृष्टिगोचर हुईं। तत्पश्चात् पर्वत, आकाश, देवता-मनुष्य और पञ्चमहाभूतोंके अन्तमें घनीभूत आकाश दीख पड़ा। पुनः जगत्, दिशाएँ, आकाश और दूसरी अव्यवस्थित सृष्टियाँ परिलक्षित हुईं। यों दीर्घकालसे विहार करता हुआ वह आज भी वहाँ स्थित है। चिरकालसे अभ्यस्त हुए अपने जगत्-सत्यतारूप निश्चयसे वह विरत नहीं हो रहा है; क्योंकि अविद्याका अन्त तो है नहीं किंतु जब उसकी सत्यता जान ली जाती है, तब वह भी ब्रह्मरूप हो जाती है। वास्तवमें तो पूर्णात्मा ब्रह्ममें अविद्या है ही नहीं। यह दृश्य है, यह अविद्या है, यह तो उसकी कल्पना है। राघव! वह विपश्चित् आज भी तत्त्वज्ञान न होनेके कारण उन पूर्वदृष्ट स्थानोंमें ही तथा उन्हींके सदृश अन्य सृष्टियों तथा वनखण्डोंमें अपनी वासनाकी उत्कटताके कारण चिरकालसे दूर-से-दूर बार बार भ्रमण कर रहा है।

(सर्ग १२६–१२८)

शेष दो विपश्चितोंके वृत्तान्तका वर्णन तथा मृगरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको प्राप्त हुए एक विपश्चित्‌का राजसभामें लाया जाना

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! अब यह बतलाइये कि एक विपश्चित् तो भगवत्कृपासे मुक्त हो गया और दूसरा अभीतक अविद्यामें भ्रमण कर रहा है। शेष चन्द्रलोक और शाल्मलिद्वीपमें निरुद्ध हुए उन दोनों विपश्चितोंकी फिर क्या दशा हुई ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! उन दोनों विपश्चितोंमेंसे एक चिरकालसे अभ्यस्त हुई वासनाओंके वशीभूत होकर अनेक प्रकारके शरीरोंसे द्वीप-द्वीपान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ उत्तर-दिग्वर्ती विपश्चित्‌की ही गतिको प्राप्त हुआ। उसीकी तरह परमाकाशरूपी खोखलेमें क्रमशः ब्रह्माण्डके आवरणोंका परित्याग करके लाखों सृष्टियोंको देखता हुआ वह आज भी उसी तरह स्थित है। उन दोनोंमेंसे जो दूसरा था, उसकी चन्द्रमाके निकट अपने शरीरको रखकर अभ्यास करनेके कारण चन्द्रमृगमें पूर्णतया आसक्ति हो गयी, जिससे वह प्रतिमास चन्द्रमाके साथ भ्रमण करनेवाली देहोंसे युक्त हो गया। तत्पश्चात् उनका परित्याग करके वह पर्वतपर मृगरूपमें स्थित है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! चारों विपश्चितोंकी एक ही वासना थी, फिर वह उत्तम अधम फल प्रदान करनेवाली भिन्न-भिन्न कैसे हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुवीर ! प्राणीकी भलीभाँति अभ्यस्त हुई वासना देश, काल और क्रियाके वशसे कोमल और अत्यन्त परिपाकवश दृढमूल होती है। उनमें जो कोमल है, वह अन्यरूपताको प्राप्त होती है, किंतु जो बद्धमूल है, उसमें शीघ्र अन्यरूपता नहीं होती। देश, काल और क्रिया आदिकी जो एकता है, वही वासनाकी एकता है। उन दोनोंमें भिन्नता आ जानेपर जो बलवती होती है, उसीकी विजय होती है। इस प्रकार वे विपश्चित् एक साथ उत्पन्न होकर शरीर-भेदसे चार रूपोंमें हो गये। उनमेंसे आदिके दोको तो अविद्याने आकृष्ट कर लिया, एक वासनाके वशीभूत होकर मृग बन गया और एककी मुक्ति हो गयी।

श्रीराम ! इस प्रकार उन विपश्चितोंका सारा वृत्तान्त मैंने स्पष्टरूपसे तुम्हें कह सुनाया। यह अविद्या कारण ब्रह्मकी भाँति अनन्त ही है; क्योंकि वह तत्स्वरूप ही है। यों वे अज्ञानी विपश्चित् उस ब्रह्माण्ड-मण्डपके अंदर भटकते रहे, परंतु उन्हें अविद्याका ओर छोर नहीं मिला। यह अनन्तरूपा अविद्या ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि वह ब्रह्ममयी है। इसीलिये जबतक इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक इसकी सत्ता है; तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो इसका अस्तित्व ही मिट जाता है। इसी कारण वे विपश्चित् परब्रह्माकाशमें अत्यन्त दूर पहुँचकर अविद्याद्वारा कल्पित कतिपय अन्य संसार-रूपोंमें भटकते रहे। उनमेंसे एक मुक्त हो गया, एक मृग बन गया। शेष दो अपने प्राक्तन प्रबल संस्कारके वशीभूत होकर आज भी कहीं भटक रहे हैं।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिवर ! यह तो आपने हमारे लिये महान् आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुनाया है। मेरे ऊपर आपकी विशेष अनुकम्पा है। अच्छा, अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि वे विपश्चित् जिन लोकोंमें उत्पन्न हुए थे, वे यहाँसे कितनी दूर हैं और वे कितनी दूरीपर कैसे लोकोंमें भ्रमण कर रहे हैं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वे दोनों विपश्चित् जिन लोकोंमें स्थित हैं, वे लोक प्रयत्नपूर्वक विचार करनेपर भी मेरी बुद्धिके विषय नहीं हुए। हाँ, मृगयोनिको प्राप्त हुआ तीसरा विपश्चित् जिस लोकमें स्थित है, वह संसार सम्भवतः हमारी बुद्धिमें है। वह विपश्चित्,

जिसकी बुद्धि तत्रतकके संसार-भ्रमणसे खिन्न नहीं हुई थी, भ्रान्तिवश बहुत-से लोकोंमें भ्रमण करके उस ब्रह्माण्डमें किसी पर्वतकी कन्दरामें मृगयोनिमें उत्पन्न हुआ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यदि ऐसी बात है तो यह बतलाइये कि वह किस दिशामें, किस मण्डलमें, किस पर्वतपर, किस वनमें मृगरूपसे स्थित है? वहाँ वह क्या करता है? शस्यश्यामला भूमिमें निवास करता हुआ कैसे दूब चरता है? बुढ़ापेके समान शिथिल ज्ञानवाला वह अपने उस उत्कृष्ट विपश्चित्-जन्मका कब स्मरण करेगा?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! त्रिगर्तराजने जिस क्रीडामृगको तुम्हें भेंटरूपमें प्रदान किया है और जो तुम्हारे क्रीडामृगागार (अजायबघर)में विद्यमान है, उसीको तुम वह विपश्चित् समझो। तब श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे बालकोंद्वारा लाया गया वह मनोहर मृग उस विशाल राजसभामें प्रविष्ट हुआ। फिर तो सभी सभासद् टकटकी लगाकर उसकी ओर देखने लगे। वह शरीरसे तगडा था और उसका चेहरा भी प्रसन्न था। वह अपने शरीरकी चित्तियोंसे तारारूपी बिन्दुओंसे युक्त आकाशकी विडम्बना कर रहा था, नील कमलरूपी नेत्रोंको बारंबार गिरानेसे सुन्दरी नायिकाओंके चञ्चल कटाक्षोंका तिरस्कार कर रहा था। उसके दर्शनके लिये लालायित हुई सभाका अनादर करनेवाले अपने मनोऽभिराम चकित कटाक्षोंसे खम्भोंमें जड़ी हुई मरकतमणिकी नीली कान्तिको तृण समझकर उसे खानेकी इच्छासे वह चञ्चलतापूर्वक इधर-उधर दौड़ लगा रहा था, क्षणभरमें अपने कान, नेत्र और गर्दनको ऊपर उठा लेता और फिर तुरंत ही नीचे कर लेता—यों अपनी चपलतासे सभासदोंको कौतूहलमें डाल रहा था। इस प्रकार राजा, मुनि और मन्त्रियोंसहित सभी लोग उस मृगको देखकर 'भगवान्‌की माया अनन्त है' यों कहते हुए बहुत देरतक आश्चर्यमें डूबे रहे। (सर्ग १२९)

श्रीवसिष्ठजीके ध्यानसे उत्पन्न हुई अग्निमें मृगके प्रवेशका तथा उसके विपश्चित्-देहकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! तदनन्तर श्रीरामने वसिष्ठजीसे पूछा—'मुने! किस उपायद्वारा प्राक्तन विपश्चित्-देहकी प्राप्ति होकर इस विपश्चित्‌के दुःख-का अन्त होगा?'

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रामभद्र! जैसे आगमें डाल देनेसे सुवर्ण अपने निर्मल रूपको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार इस विपश्चित्‌के लिये भी अग्नि ही शरण है। उसमें प्रवेश करनेसे यह मृग अपने पूर्व विपश्चित्-देहको प्राप्त हो जायगा। यह सब मै अभी करता हूँ और तुमलोगोंको कौतुक दिखलाता हूँ। यह मृग अभी तुमलोगोंके सामने आगमें प्रवेश करेगा।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! उत्तम विचार-वाले मुनिवर श्रीवसिष्ठने वहाँ यों कहकर अपने कमण्डलुके जलसे विधिपूर्वक आचमन करके इन्धनरहित ज्वाला-पुञ्जस्वरूप अग्निका ध्यान किया। उनके ध्यान करते ही सभाके मध्यभागसे अग्निकी लपटें लपलपाने लगीं। उन ज्वालाओंका आकार अङ्गारसे रहित था, उनमें इन्धनका भी सम्पर्क नहीं था; धूम और कज्जलका तो नाम-निशान नहीं था। वे निर्मल ज्वालाएँ धक्-धक् करके धधक रही थीं। उनकी परम मनोहर कान्ति फैल रही थी और वे स्वर्ण-मन्दिर-सी सुन्दर लग रही थीं। खिले हुए पलाशका-सा तो उनका आकार था और वे संध्याकालीन मेघकी-सी रंगवाली प्रकट हुई थीं। उस ज्वालासमूहको देखकर सभासद्‌गण तो दूर हट गये थे, परंतु पूर्वजन्मके भक्तिभावसे आदरसहित देखते हुए उस मृगको उनके दर्शनसे परम हर्ष हुआ। उस अग्निका अवलोकन करनेसे उस मृगका पाप क्षीण हो गया और उस अग्निमें

प्रवेश करनेके लिये उसकी इच्छा जाग्रत् हो उठी। फिर तो वह तुरंत ही सिंहकी तरह उछलकर दूरतक पीछे हट गया। इसी बीचमें मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ध्यानमग्न होकर विचार करने लगे और अपने दृष्टिपातोंसे मृगका पाप नष्ट करते हुए अग्निदेवसे यों बोले—

'ऐश्वर्यशाली हव्यवाहन ! इस मनोहर मृगकी पूर्वजन्मकी भक्तिका स्मरण करके इसपर कृपा कीजिये और इसे विपश्चित् बना दीजिये।' राजसभामें वसिष्ठ-मुनिके यों कहनेपर वह मृग दूरसे दौड़कर उसी प्रकार अग्निमें प्रवेश कर गया, जैसे वेगपूर्वक छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्यमें प्रविष्ट हो जाता है। उस ज्वालासमूहमें प्रविष्ट हुए उस मृगका शरीर दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भाँति संध्याकालीन मेघमें विश्रान्त हुआ-सा स्पष्ट दीख रहा था। तदनन्तर सभासदोंके देखते-देखते ही वह मृग ज्वालाओंके बीचमें मनुष्यके रूपको प्राप्त हो गया। ज्वालाओं-के अंदर वह पुण्याकृति पुरुष दिखायी पड़ा। वह स्वर्ण-सा कान्तिमान् था। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग कमनीय थे, जिनसे वह बड़ा ही सुन्दर लग रहा था।

तदुपरान्त वह ज्वाला-पुञ्ज वायुके झोंकेसे बुझे हुए दीपकके समान उस सभाके मध्यसे ऐसे अदृश्य हुआ, जैसे आकाशसे सायंकालके मेघ विलीन हो जाते हैं। फिर तो वहाँ देवालयकी दीवालोंके टूट जानेपर उसके मध्य स्थित देव-प्रतिमाके समान तथा परदेके अंदरसे बाहर निकले हुए नटकी तरह केवल वह पुरुष ही खड़ा रह गया। वह परम शान्त था। उसके गलेमें रुद्राक्षकी माला शोभा पा रही थी, कंधेपर स्वर्णमय यज्ञोपवीत लटक रहा था और शरीर अग्नितापसे निर्मल हुए वस्त्रोंसे आच्छादित था। इस प्रकार वह तुरंत ही उदित हुए चन्द्रमाके समान भला लग रहा था। सूर्यकी प्रभा-सरीखा वह परमोत्कृष्ट आभासे युक्त था। उसके शरीरकी कान्ति देखकर सभासदोंके मुखसे बरबस निकल पड़ा—'अहो ! कैसी अद्भुत भा (शोभा) है !' इसलिये वह 'भास' नामसे विख्यात हुआ। तत्पश्चात् वह भास वहीं ध्यानमग्न होकर बैठ गया और मन-ही-मन अपने पूर्वजन्मोंके सम्पूर्ण वृत्तान्तोंका स्मरण करने लगा। उस समय सारे सभासद् आश्चर्यचकित होकर चुपचाप बैठे थे। तबतक भास दो ही घड़ीमें अपने सम्पूर्ण वृत्तान्तोंका स्मरण करके उन पूर्वजन्मोंकी स्मृतिसे लौट आया और उसका ध्यान भङ्ग हो गया। उसने उठकर क्रमशः सारी सभापर दृष्टिपात किया। फिर हर्षपूर्वक वसिष्ठजीके निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया और यों कहने लगा—'ब्रह्मन् ! आप ज्ञान-सूर्यरूपी प्राण प्रदान करनेवाले हैं, आपको मेरा प्रणाम है।' तब वसिष्ठजी भी उसके सिरपर हाथ फेरते हुए यों बोले—'राजन् ! चिरकालके बाद आज तुम्हारी अविद्याका सर्वथा विनाश हो जाय।' तदनन्तर जब वह 'श्रीरामजीकी जय हो' यों कहता हुआ उनके चरणोंमें प्रणाम कर रहा था, उसी समय राजा दशरथ अपने आसनसे कुछ उठकर उससे हँसते हुए-से बोले।

श्रीदशरथजीने कहा—भो राजन् ! आपका स्वागत है। आप अनेक जन्मरूपी संसारमें भ्रमण करनेसे थक गये हैं। अतः आइये, यहाँ इस आसनपर विराजिये और विश्राम कीजिये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते है—भरद्वाज ! महाराज दशरथके यों कहनेपर वह भास नामक विपश्चित् विश्वामित्र आदि सभी मुनियोंको प्रणाम करके आसनपर बैठ गया।

तब श्रीदशरथजी बोले—अहो ! खेद है, जैसे जंगली हाथी आलानमें बँधे रहनेके कारण दुःख भोगता है, उसी तरह इस विपश्चित्ने भी चिरकालतक अविद्याके वशीभूत होकर दुःखका अनुभव किया है। अहो ! अज्ञानसे उत्पन्न हुई दुर्दृष्टिकी कैसी विषम गति है ! यह आकाशमें ही अनेक सृष्टियोंके आडम्बर-भ्रमका

दर्शन कराती है । यह कम आश्चर्यका विषय नहीं है, जो सर्वव्यापक आत्मामें ये कितने ससार फैले हुए हैं, जिनमें यह विपश्चित् चिरकालतक भ्रमण करता रहा । अहो ! अपने स्वभावरूप विभवसे सम्पन्न इस चेतन आत्माके संकल्पकी, जो वस्तुतः शून्य है, कैसी अद्भुत महिमा है । यह शून्य होते हुए भी परमात्मघनरूपी आकाशके अंदर इस प्रकारके अनेकों जगत्के रूपमें प्रतीत होता है ।

तदनन्तर श्रीविश्वामित्रजीके द्वारा पूछे जानेपर विपश्चित् भासने अपने देखे हुए विभिन्न दृश्यों, स्थानों, लोकों तथा प्राणियोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया ।

(सर्ग १३०–१३५)

प्राणियोंकी उत्पत्तिके दो भेद, मच्छरके मृगयोनिसे छूटकर व्याधरूपसे उत्पन्न होनेपर उसे एक मुनिका ज्ञानोपदेश

उपर्युक्त प्रसङ्गमें ही विपश्चित् भासने आकाशसे एक विशाल शवके गिरनेकी कथा सुनायी । तदनन्तर अग्निदेवके साथ हुए अपने संवादकी चर्चा करते हुए भासने कहा कि मेरे पूछनेपर अग्निदेवताने शवका आदिसे अन्ततक पूरा वृत्तान्त मुझे सुनाया और यह कहा कि 'वह शव मच्छरकी योनिको प्राप्त हुआ था । उस अतिक्षुद्र शरीर-वाले स्वेदज मच्छरकी आयु केवल दो ही दिनोंकी हुई । उसका शरीर इतना हल्का था कि वह फूँक मारनेसे ही उड़ जाता था ।' इस बातको सुनकर श्रीरामचन्द्रजीके मनमें जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने श्रीवसिष्ठजीसे पूछा ।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभावशाली गुरुदेव ! इस जगत्में क्या समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति योनिसे ही होती है अथवा अन्य किसी प्रकारसे भी सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है—एक ब्रह्ममय और दूसरी भ्रान्तिज । उन दोनोंका वर्णन करता हूँ, सुनो । पूर्वजन्मके अनुभवसे बद्धमूल हुए शरीरतादात्म्यके भ्रमवश प्राणियोंकी जो उत्पत्ति होती है, वह भ्रान्तिज कही जाती है; क्योंकि वह दृश्यके सङ्गसे होती है । नित्यमुक्त ब्रह्माको कभी भी जगद्-भ्रान्ति तो होती नहीं, फिर भी वह सृष्टिके आदिमें चतुर्विध जीवरूपसे जो स्वयं अपने संकल्पसे उत्पन्न होता है, उसका वह जन्म ब्रह्ममय कहा जाता है । व योनिज नहीं होता । श्रीराम ! उस मच्छरने जगद्भ्रान्ति वश जन्म धारण किया था । वह ब्रह्म-विवर्तसे न उत्पन्न हुआ था । अब (अग्निके द्वारा कहा गया उसका अगला वृत्तान्त विपश्चित्से सुनो ।

(अग्निने आगे कहा—) उसने पृथ्वीपर ईखके झुरमुटे हरी-हरी घासोंपर तथा मूँज-कास आदिके अंबारोंमें गूँ हुए दूसरे मच्छरोंके साथ स्वयं भी गूँजते एवं क्रीडा क हुए अपनी आयुका आधा दिन पूरा-का-पूरा भोग-विला में व्यतीत कर दिया । फिर वह बाल-लीलावश अपनी मच्छरीके साथ हरी-हरी घासोंके मध्यभागरूपी हिंडो बहुत देरतक झूला झूलता रहा । झूलेके परिश्रमसे थक जब वह वहीं कहीं विश्राम कर रहा था, तबतक हरि खुराग्ररूपी पर्वतके गिरनेसे चकनाचूर हो गया । प्राण करते समय उसकी दृष्टि हरिणके मुखपर लगी थी, इस पूर्व भावनाके अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रिय ग्रहण करके वह मृगयोनिमें पैदा हुआ । वह हरिण घूम रहा था कि एक व्याधने उसे अपने धनुषद्वारा डाला । मरते समय उसकी दृष्टि व्याधके मुखपर थी, इसलिये अगले जन्ममें वह व्याध होकर पैदा हु वह व्याध अनेक वनोंमें घूमता-घामता किसी मु तपोवनमें जा पहुँचा । वहाँ वह विश्राम कर रहा था उसकी मुनिसे भेंट हो गयी । तब मुनि उसे ज्ञानो करने लगे—

रे व्याध ! तू क्यों भ्रममें पड़ा है ? इस क्षणभङ्गुर संसारमें अपने दीर्घकालव्यापी दुःखके लिये धनुषसे इन मृगोंको क्यों मारता है ? अहिंसा-अभयदान आदि शास्त्रमर्यादाका पालन क्यों नहीं करता ? अरे पुत्र ! वायुसे टकराये हुए मेघमण्डलमें लटकते हुए जलकी बूँदकी भाँति आयु विनाशी है। भोग बादलोंकी घटाके मध्य कौंधनेवाली बिजलीकी तरह चञ्चल हैं। जवानीके भोग-विलास जलके वेगके समान चपल हैं। शरीर क्षण-विध्वंसी है; अतः इस संसारसे भयभीत होकर तू निर्वाणकी ही खोज कर।'*

तब व्याधने पूछा—मुनिराज ! यदि ऐसी बात है तो बताइये कि दुःखका पूर्णतया विनाश करनेके लिये जो न कठोर हो और न कोमल हो—ऐसा कौन-सा व्यवहारक्रम हो सकता है ?

मुनिने कहा—व्याध ! तू इसी समय बाणोंसहित इस धनुषको सदाके लिये त्याग दे और मुनिके-से आचरणका आश्रय लेकर दुःखरहित हो यहीं निवास कर।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रामभद्र ! उक्त मुनिके यों उपदेश देनेपर उसने धनुष और बाणोका परित्याग करके मुनियोका-सा आचरण अपना लिया। फिर बिना माँगे जो कुछ मिल जाता था, उसीपर जीवन-निर्वाह करते हुए वह वहीं रहने लगा। कुछ ही दिनोंमें सारासारकी विवेक-शीलताने उस मौनीके मनमें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे पुष्प गन्धद्वारा मनुष्योंके हृदयमें अपना स्थान बना लेता है।

तदनन्तर व्याधद्वारा किये गये प्रश्नके उत्तरमें मुनिने धारणाके अभ्याससे परकाय-प्रवेशद्वारा देखे गये स्वप्नका, दो जीवोंके सम्मेलनसे दुगुने विश्वदर्शनका, एकता होनेपर एक विश्वके दीखनेका, विस्तारपूर्वक प्रलयदर्शनका, प्रलय-सागरके हटने, गाँवमें ब्राह्मणरूपमें स्थिति, दूसरेके शरीरसे बाहर निकलने आदिका वर्णन करनेके पश्चात् कहा।

मुनि बोले—व्याध ! सृष्टिकी उत्पत्तिका वस्तुतः कोई कारण नहीं है। अतः उसकी उत्पत्तिका अभाव स्पष्ट है। इसलिये सृष्टि शब्द और उसका अर्थ दोनों ही सर्वथा नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ जल आदि है, कहाँ ज्ञान है, कहाँ अज्ञान है और कहाँ जन्म-मरण आदि है ? वास्तवमें तो वह निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसकी अपेक्षा आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी उसी प्रकार स्थूल लगता है जैसे परमाणुओंके निकट पर्वत। वह चिदाकाश अपने आकाशरूप शरीरके विषयमें स्वभावतः जो कुछ संकल्प करता है, उससे वह अपनेको जगद्रूपसे जानता है। जैसे स्वप्नमें केवल चेतन जीव ही नगररूपसे प्रतीत होता है, वास्तवमें वहाँ नगर आदि कुछ भी नहीं है, वैसे ही आत्माकाशमें शान्त, अखण्ड, अप्रत्यक्ष चिन्मात्र ही जगद्रूपसे भासित होता है। जैसे नेत्रोंमें तिमिर रोग हो जानेसे प्रकाशमय आकाशमें धुआँसा-सा दीख पड़ता है, उसी तरह चिद्रूपी दृष्टिमें अज्ञानरूपी तिमिर रोगके कारण जगत्का भान होता है। परंतु वस्तुतः न भान है न अभान, न प्रातिभासिक जगत् है न व्यावहारिक तथा भूताकाश भी नहीं है; बल्कि केवल निराकार, अनादि, अनन्त, अद्वितीय चिदाकाश ही है। जिस हेतुसे कारणके बिना स्वप्नमें केवल शुद्ध द्रष्टा ही भासित होता है, उसी हेतुसे जाग्रत्में भी कारणका अभाव है और उसमें न द्रष्टा है न दर्शन। जैसे एक काल सृष्टि और प्रलय—दोनों रूपोंमें व्याप्त है अथवा बीज अङ्कुरसे लेकर पुष्प-फलपर्यन्त सभी अवस्थाओंमें वर्तमान है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी है। जो एककी दृष्टिमें महान् दीवालरूप है, वही दूसरेकी

* आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरं
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामनीचञ्चलाः ।
लोला यौवनलालना जलरयः कायः क्षणापायवान्
पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥
(नि० प्र० उ० १३६ । ३३)

दृष्टिमें निर्मल आकाश-सा दीखता है। यह बात स्थिर-स्वप्न, संकल्प और भ्रम आदि अवस्थाओंमें देखी गयी है। जैसे आत्मा एक निर्मल चिदाकाशस्वरूप होकर स्वप्नमें जाग्रत्‌की तरह प्रतीत होता है, उसी तरह जाग्रन्मय स्वप्नमें भी भासित होता है। दोनों अवस्थाओंमें उसकी जरा-सी भी अन्यथाप्रतीति नहीं होती। अतः व्याध! समस्त मनोव्यापारका त्याग कर देनेपर तुम जैसा रहते हो, वही तुम्हारा निरामय स्वरूप है, तुम वस्तुतः बाहर-भीतर सर्वत्र अनन्त आत्मारूपसे निरन्तर स्थित हो।

ब्रह्मा आदि जो स्वयंभू अपने-आप उत्पन्न होनेवाले हैं, वे सृष्टिके आदिमें स्वयं ही प्रकट होते हैं; क्योंकि उनके शरीर ज्ञानमात्रस्वरूप होते हैं। अतः उनके जन्म और कर्म नहीं होते। उनकी दृष्टिमें न संसार है, न द्वैत है और न कल्पनाएँ हैं। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप शरीरवाले वे सदा सर्वात्मारूपसे स्थित रहते हैं। सृष्टिके आरम्भकालमें जैसे परब्रह्मस्वरूप ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं, उसी तरह सैकड़ों-हजारों दूसरे जीव भी प्रकट होते हैं; किंतु जो अज्ञानी हैं, वे अपनेको ब्रह्मसे भिन्न मानते हैं। वे असात्त्विक जीव इस जड दृश्यमय द्वैत प्रपञ्चको सत्य समझकर ही पहले मृत्युको प्राप्त हुए थे। अतः अब उनका कर्मसहित पुनः जन्म दिखायी देता है; क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अचेतन देहात्मरूप होकर अवस्तुका आश्रय ग्रहण किया है। सर्वात्मरूप चेतनकी निर्मलता स्वाभाविक है। नित्य ब्रह्म स्व-स्वभावमें ही स्थित है। जिसे वह परमात्म-स्वरूप ज्ञात हो गया है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है। तब जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके विनाशमें कठिनाई ही कौन-सी है। जबतक पाण्डित्यकी—परमात्मस्वरूपके ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तभीतक माया संसारभयको उत्पन्न करनेमें समर्थ होती है। पाण्डित्य वही है, जिससे पुनः इस संसारचक्रमें पतन नहीं होता। इसलिये विशुद्ध ज्ञानसे भरपूर उस पाण्डित्यकी प्राप्तिके लिये अविराम प्रयत्न करना चाहिये। इसके सिवा अन्य किसी उपायसे तुम्हारा यह संसार-भय नष्ट नहीं हो सकता।

(सर्ग १३६–१४२)

पाण्डित्यकी प्रशंसा, चित् ही जगत् है—इसका युक्तिपूर्वक समर्थन

मुनि बोले—व्याध! जो परमधामरूपी गन्तव्य स्थानके मार्गके ज्ञाता हैं तथा जिन्हें आत्मज्ञानका पूर्णबोध है, ऐसे पण्डित जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्रका ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण तृणके समान तुच्छ है। मुझे तो पाताल, भूतल और स्वर्गलोकमें कहीं भी ऐसा सुख अथवा ऐश्वर्य नहीं दीख रहा है; जो पाण्डित्यसे बढ़कर हो। जैसे ज्ञान हो जानेसे मालामें सर्पकी भ्रान्ति तुरंत मिट जाती है, वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टिमें यह अविद्यात्मक दृश्य-प्रपञ्च क्षणमात्रमें ब्रह्मरूपमें परिणत हो जाता है। ब्रह्मका जो प्रतिभास है, वही यह जगत् कहा जाता है। इसी कारण ये पृथ्वी आदि पञ्चभूत कहाँ हैं और इनका कारण कहाँ है अर्थात् जगत्‌की उत्पत्तिमें इन कारणोंकी अपेक्षा नहीं है। जैसे स्वप्नद्रष्टाको स्वप्नमें दीखनेवाले मनुष्योंकी स्थिति काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है, उसी तरह जाग्रत्स्वरूप स्वप्नमें दीखनेवाले मनुष्योंकी स्थिति भी पूर्वकामनाके अनुसार कल्पित है, यथार्थ नहीं है।

व्याध! जैसे स्वप्नावस्थामें तुम्हारे अन्तःकरणके संकल्पमें नगर दीखता है, वैसे ही ब्रह्मके संकल्पमें यह सृष्टि वर्तमान है और जैसी कार्यकारणता तुम्हारे स्वप्नकालमें कही गयी है, वैसी ही कार्यकारणता यहाँ भी है।

यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् असत् है, तथापि स्वप्नकी तरह इसका अनुभव होता है। यदि 'जगत् नहीं है' यों कहा जाय तो पूर्ण चेतन ही इस रूपमें

विकसित होता है। जैसे हमलोगोंका यह जगत् है, वैसे ही आकाशमें अन्य प्राणियोंके लाखों जगत् हैं; परंतु उनकी परस्पर अनुभूति नहीं होती। सरोवर, सागर और कूपमें पृथक्-पृथक् निवास करनेवाले मेढकोंको अपने-अपने निवासस्थानका ही अनुभव रहता है, उन्हें परस्पर एक-दूसरेके दृश्यादिका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। जैसे एक ही घरमें सैकड़ों मनुष्योंके सैकड़ों स्वप्न-नगर होते हैं, उसी प्रकार आकाशमें बहुत-से जगत् भासित होते हैं; परंतु अज्ञानियोंके अनुभवमें आनेसे ही उन आकाशीय जगतोंकी सत्ता है और ज्ञानियोंके अनुभवका विषय न होनेसे वे असत् हैं। जैसे एक घरमें सैकड़ों मनुष्योंके सैकड़ों स्वप्न-नगर विकसित होते हैं और नहीं भी होते, उसी तरह आकाशमें जगत् है और नहीं भी है।

यह भुवन चिन्मात्रमें स्थित है। 'त्वम्', 'अहम्' आदि रूप जगत् भी चिन्मय है। इस न्यायसे उत्पन्न न होता हुआ भी जगत् परमाणुके अंदरतक चला जाता है अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। मै परमाणुरूप हूँ, अतः समस्त जगत्के आकारमें स्थित हूँ। इसी कारण मैं सर्वत्र यहाँतक कि परमाणुके अंदर भी विद्यमान हूँ। यह चिदाकाशरूप मैं चिन्मात्र परमाणु होकर जगद्रूपसे जहाँ स्थित रहता हूँ, वहीं तीनों लोकोंको देखता हूँ। मेरे अन्तरात्मामें तीनों लोकोंका जैसा रूप विकसित होता है, वैसा बाहर नहीं होता; क्योंकि कहीं भी किसीने उसे देखा नहीं है। स्वप्न अथवा जाग्रत्में जब-जब अथवा जहाँ-जहाँ जगत्का जो भान होता है, वह बाह्य एवं आभ्यन्तर-सहित समस्त दृश्य चेतन आत्माका भान ही है। जब स्वप्नमें प्राणीका विस्तृत जगत् भासित होता है, तब वह चिदणुस्वरूप आत्माका ही भान होता है और वह स्वप्न-स्थानरूपसे होता है।

(सर्ग १४३-१४४)

मुनिका व्याधके प्रति बहुत-से प्राणियोंको एक साथ सुख-दुःखकी प्राप्तिके निमित्तका निरूपण करना

इस प्रकार स्वप्न, सुषुप्ति आदिके भेदोंका वर्णन करके मुनिने पुनः कहा—'व्याध! यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय स्वरूपवाला आत्मा आकाररहित होकर भी सर्वाकार है, कल्पनाओंसे शून्य होते हुए भी सृष्टिरूपी शरीर धारण करनेवाला है और शून्यरूप दृश्यात्मक चित्-शरीरसे शून्याकाशको व्याप्त करके स्थित है, तथापि यह आकाशात्मक चिन्मात्र अपने शुद्ध चिदाकाशस्वरूपसे कभी भी तनिक भी भिन्न नहीं है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, लोकान्तर और मेघ आदि भूत-भौतिक पदार्थों-सहित यह दृश्यजगत् सृष्टिके आदिमें भी कारणका अनुभव न होनेसे केवल चिदात्मक ही है। वास्तवमें यह नाम-रूपसे रहित और बोधस्वरूप ही है; क्योंकि अन्ततो-गत्वा मनोलय हो जानेपर यह सारा-का-सारा शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही रह जाता है, कोई अन्य वस्तु नहीं।'

व्याधने पूछा—मुने! प्रलय आदि सैकड़ों महावृत्तान्तों-से जिसकी अनेकों सृष्टियाँ समाप्त हो चुकी हैं, ऐसे आपका उन-उन लोकोंमें कैसा वृत्तान्त घटित हुआ था, उसका रहस्य बतलाइये।

मुनिने कहा—सदाचारकी स्पृहा रखनेवाले साधुस्वभाव व्याध! स्वप्नगत किसी प्राणीके ओजमें स्थित होनेपर उस प्राणीके हृदयस्थित ओजमें जो अपूर्व वृत्तान्त घटित हुआ, उसे सुनो। उस समय वहाँ मेरा आत्मज्ञान-सम्बन्धी सारा चमत्कार विस्मृत हो गया और वर्ष-ऋतुरूप काल धीरे-धीरे व्यतीत होने लगा। मेरा आत्म-चिन्तन छूट गया और बुद्धि पुत्र-कलत्र आदिमें अनुरक्त हो गयी। इस प्रकार उस गृहस्थाश्रममें रहते मेरे सोलह वर्ष बीत गये। तदनन्तर किसी समय एक सम्मान्य विद्वान् मुनि अतिथिरूपसे मेरे घर पधारे।

वे मननशील तथा अगाध ज्ञानसम्पन्न थे। उनकी तपस्या बड़ी उग्र थी। मैंने उनका भलीभाँति आदर-सत्कार किया। तात! जब वे भोजन करके संतुष्ट हो आसनपर शयन करने लगे, तब मैंने जनताके सुख-दुःखके क्रमका विचार करके उनसे यों प्रश्न किया—'भगवन्! चूँकि आप महाज्ञानी हैं। जगत्की सारी गतिविधियाँ आपको विदित हैं। आपमें क्रोध तो लेशमात्र भी नहीं दीखता तथा सुखमें आपकी तनिक भी आसक्ति नहीं है; अतः यह बतानेकी कृपा कीजिये कि जैसे शरत्कालमें फलार्थी पुरुषोंको धान आदिकी प्राप्ति होती है, वैसे ही कर्मशील जीवोंके अपने शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। तो क्या ये सारी प्रजाएँ एक साथ ही अशुभ कर्म करती हैं, जिनके फलस्वरूप दुर्भिक्षादि सभी दोष इन्हें एक साथ ही प्राप्त होते हैं? यदि दुर्भिक्ष एवं अनावृष्टि आदि उपद्रव सबके लिये एक-से ही होते हैं तो इसका क्या रहस्य है तथा किस-किसके दुष्कर्म समान होते हैं?' मेरा यह प्रश्न सुनकर वे मुनि मेरी ओर देखकर मुसकराये और अमृत-प्रवाहकी तरह सुन्दर एवं प्रशंसनीय वचन बोले।

समागत मुनिने कहा—साधो! यह तो बतलाओ, अन्तःकरणके पूर्णतया विवेकसम्पन्न होनेपर इस दृश्यका जो सत् या असत्रूप कारण है, उसे किससे जानते हो। तुम कौन हो और इस जगत्में कहाँ स्थित हो—यों अपने आत्माका पूर्णरूपसे स्मरण करो। मैं कहाँ हूँ? यह दृश्य क्या है? क्या सार है? क्या असार है? यह सब स्वप्नमात्र ही प्रतीत होता है। इसे तुम क्यों नहीं समझते हो? मैं तुम्हारे लिये स्वप्न-पुरुष हूँ और तुम मेरे लिये स्वप्न-पुरुषके तुल्य हो। यह जगत् निराकार अनिर्वचनीय अनादि और कल्पनारहित है। यह चिन्मात्ररूपी काँचकी चमकके समान स्थित है। इस सर्वव्यापक चिन्मात्रका स्वाभाविक रूप ही ऐसा है कि यह जहाँ जैसा समझता है, वहाँ वैसा ही हो जाता है। जब 'यह वस्तुओंके सकारणत्वकी कल्पना करता है, तब सब कुछ सकारण है और जब अकारणत्वकी कल्पना करता है, तब सभी कुछ अकारण है। साधुपुरुष! जैसे बहुत-से वृक्षोंपर एक साथ बिजली गिरती है, वैसे ही कुछ प्राणियोंके कतिपय दुष्कर्म रहनेपर एक साथ ही दुःख आदिके पहाड़ टूट पड़ते हैं। कर्मोंकी कल्पनासे जीवात्माको अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, परंतु जब वह कर्मोंकी कल्पनासे उन्मुक्त हो जाता है, तब उसे कर्मफलका भोग नहीं प्राप्त होता। स्वप्नमय नगरकी भाँति इस जगत्में सहकारी कारण आदि कोई भी कारण नहीं है। इसलिये वह अनादि, चेतन, अजर, मङ्गलमय परब्रह्म ही है। यह स्वप्नवत् जगद्भ्रम कोई बिना कारणके प्रतीत होता है और कोई कारणके साथ। वास्तवमें तो यह मिथ्या ही है।

महामते! ये सारी सृष्टियाँ पहलेसे इसी तरह अकारण ही प्रवृत्त होती आ रही हैं। जैसे आकाशमें देरतक देखते रहनेसे नेत्रोंके सामने चक्राकार गोले दीखने लगते हैं, वैसे ही जगत्में ये ढेर-की-ढेर सृष्टियाँ चक्कर काटती रहती हैं। चित्-शक्तिने ही अपनेमें 'मैं ही अमुक हूँ' यों जिस-जिस भानात्मक रूपकी स्वतः कल्पना की, वह आज भी वैसा ही स्थित है। पुनः वही चित् उससे भी उत्कृष्ट दूसरे महान् यत्नसे उसे अन्यथा करनेमें भी समर्थ है। विद्वान्-द्वारा जहाँ कारणकी कल्पना की जाती है, वहाँ तो कारणकी सारता रहती है और जहाँ उसकी कल्पना नहीं की जाती, वहाँ कारणहीनता ही है। यह विस्तृत जगत् पहले बवंडरकी तरह असत् ही आभासित हुआ और उस समय जैसा भान हुआ वैसा ही आज भी स्थित है। कुछ लोग अपना शुभ-अशुभ पुण्य-पापरूप कर्म मिला-जुलाकर करते हैं, अतः उन्हें उनका फल भी उसी तरह सम्मिश्रित रूपमें मिलता है।

(सर्ग १४५—१४९)

मुनिके उपदेशसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति, पूर्वदेहमें गमनकी असमर्थताके विषयमें प्रश्न करनेपर देह आदिके भस्म होनेके प्रसंगमें मुनिके आश्रम और दोनों शरीरोंके जलने तथा वायुद्वारा उस अग्निके शान्त होनेका वर्णन

मुनिने कहा—व्याध ! उस समय उन मुनिने इस प्रकारकी युक्तिसे मुझे ऐसा ज्ञानोपदेश किया, जिससे तत्काल ही ज्ञेय-तत्त्व मेरी बुद्धिमें बैठ गया। जिन मुनिने यह चन्द्रोदयके समान मनोहर वचन कहा था, वे ही ये मुनिवर तुम्हारे बगलमें बैठे हैं। (उक्त मुनिको दिखाकर कहा—) उनकी ओर दृष्टिपात करो। ये मूर्तिमान् यज्ञके समान हैं। इन्हें दृश्यके पूर्वापरका पूर्ण ज्ञान है। ये ही मेरे अज्ञानका विनाश करनेवाले हैं। यद्यपि मैंने इनसे कहनेके लिये प्रार्थना नहीं की थी, तथापि इन्होंने ही मुझसे यह बात कही थी।

अग्नि बोले—विपश्चित् ! उन मुनिकी वह बात सुनकर वह व्याध उस समय विचारने लगा कि यह स्वप्नसृष्टि प्रत्यक्ष कैसे हो गयी। यों सोचकर उसे महान् विस्मय हुआ।

तब व्याधने कहा—मुने ! भव-तापका अपहरण करनेवाले आपने अभी-अभी जो बात मुझसे कही है, वह तो महान् आश्चर्यजनक है और मेरे मनमें नहीं बैठ रही है। मुनिवर ! स्वप्नमें जिनका आपने अपने उपदेशकरूपसे वर्णन किया था, उन्हींकी जाग्रत्में प्रत्यक्षता बतला रहे हैं और मैं भी उन्हें प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसीलिये मैं इसे परम विस्मयकी बात मानता हूँ।

मुनि बोले—महाभाग व्याध ! तदनन्तर यहाँ मेरी कौन-सी विस्मयजनक घटना घटी, उसका मैं संक्षेपमें वर्णन करता हूँ; सुनो। सहसा उतावली मत करो। तुम्हारे समीप बैठे हुए इन मुनिवरने उस समय वहाँ मुझे ज्ञानोपदेश करनेके लिये वैसा वर्णन किया था और मैं उन महात्माकी उस वाणीसे तुरंत ज्ञानसम्पन्न हो गया। तत्पश्चात् उनकी वाणीके प्रभावसे मुझे अपने पहलेके अनादिसिद्ध सन्मात्ररूप निर्मल स्वभावका स्मरण हो आया, फिर तो मेरे हृदयमें यह भावना जाग उठी कि मैं ही वह मुनि था। ऐसा ध्यान आते ही प्रचुर आश्चर्यवश स्नान किये हुएकी तरह मेरा हृदय आर्द्र हो गया। मैं विषय-भोगकी आसक्तिसे इस-अवस्थाको प्राप्त हो गया है—ठीक उसी तरह जैसे अज्ञानी पथिक मार्गके परिश्रमसे पीड़ित होकर जलके लिये मिथ्याभूत मृगतृष्णाके पीछे दौड़ता है। अहो ! आश्चर्य है, बढ़ते हुए इस मिथ्याज्ञानने, जो सर्वार्थशून्य है, मुझे यह किस दशाको पहुँचा दिया। वास्तवमें तो न मैं हूँ, न यह स्त्री है, न यह घर है और न यह भ्रम ही है—यह सब कुछ मिथ्या है, फिर भी सत्-सा प्रतीत होता है। यह महान् आश्चर्य है। अच्छा, अब इस विषयमें मुझे क्या करना चाहिये। मेरे अंदर बन्धनको तोड़ डालनेमें समर्थ जो ब्रह्माकार वृत्तिरूप अङ्कुर है, वह भी काट डालने योग्य है, अतः तबतक मैं उसीका परित्याग करता हूँ। यों सोच-विचारकर मैंने वहाँ उन मुनिसे इस प्रकार कहा—'मुनीश्वर ! मैं अपने आश्रमस्थित मुनि-शरीरका तथा जिस शरीरको देखनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, उसका भी निरीक्षण करनेके लिये जाता हूँ।'

यह सुनकर वे मुनिवर उस समय ठठाकर हँस पड़े और मुझसे कहने लगे—'वे दोनों शरीर अब हैं कहाँ। वे तो अब बहुत दूर चले गये। अथवा वृत्तान्तज्ञ ! तुम स्वयं ही जाओ और उस वृत्तान्तको देखो। वहाँ घटित हुई घटनाको जब तुम यथार्थरूपसे देख लोगे, तब स्वयं ही जान जाओगे।' मुनिके यों कहनेपर मैंने अपने उस प्राक्तन मुनि-शरीरका स्मरण करके वहाँ जानेकी इच्छासे इस स्वप्नकल्पित रूपका परित्याग कर दिया और चिदात्मारूप अपने जीवको प्राणके द्वारभूत पवनसे संयुक्त

कर दिया। चलते समय मैंने उन मुनिसे कहा—'मुने! अपने प्राक्तन शरीरका अवलोकन करके जबतक मैं लौटता हूँ, तबतक आपको यहीं बैठे रहना चाहिये।' यों कहकर मैं वायुमें प्रविष्ट हुआ। तदनन्तर मैं बड़ी उतावलीके साथ उस वायुरूपी रथपर आरूढ़ होकर पुष्पकी सुगन्धकी तरह उस अनन्त आकाशमें जाकर चिरकालतक भ्रमण करता रहा। परंतु बहुत देरतक भटकते रहनेपर भी मुझे वहाँसे निकलनेके लिये उस प्राणीके गलेका छिद्र आदि कोई मार्ग प्राप्त नहीं हुआ। तब मैंने मुनिके पास जाकर उनसे पूछा—'मुनिराज! यद्यपि मैं स्थावर-पर्यन्त अपने विस्तृत संसारमण्डलमें चिरकालतक भ्रमण करता रहा, तथापि मुझे वह गलेका छिद्र नहीं प्राप्त हुआ—इसका क्या कारण है?' मेरे यों प्रश्न करनेपर वे महाशय मुनि बोले—'कमलनयन! तुम उस शरीर-वृत्तान्तको (उपदेश किये गये बिना ही) स्वयं अपनी बुद्धिसे कैसे जान गये। यदि योगसे एकाग्र हुई बुद्धिके द्वारा तुम स्वयं ही इसका अवलोकन करते हो तब तो हाथपर रखे हुए कमलकी तरह तुम्हें उसका पूर्णतया ज्ञान है ही। तथापि यदि तुम्हें मेरे मुखसे सुननेकी इच्छा है तो मैं उस यथाघटित वृत्तान्तका पूर्णरूपसे वर्णन करता हूँ, सुनो—'

'तुम अपनेको जैसा समझते हो, वैसे व्यष्टि जीवरूप नहीं हो। तुम तो समस्त प्राणियोंके तपरूपी कमलके लिये सूर्यरूप, कल्याणरूपी कमलोंकी खान और भगवान् श्रीहरिके नाभिकमलकी कर्णिका अर्थात् हिरण्यगर्भ हो। वही तुम किसी समय व्यष्टिभावरूप स्वप्न देखनेकी इच्छासे तपस्यामें स्थित होकर उस पुष्ट हुई बुद्धिद्वारा किसी प्राणीके हृदयमें प्रविष्ट हुए। जिस हृदयमें तुमने प्रवेश किया था, वहाँ पृथ्वी और स्वर्गलोक जिसका उदर है, उस विस्तृत त्रिलोकीको देखा था। इस प्रकार यद्यपि तुम वहाँ बड़ी देरतक स्वप्न देखनेमें व्यग्र थे, तथापि तुम्हारे शरीरमें तथा महावनमें सोये हुए उस जीवके शरीरमें, जिसमें तुम स्थित थे, आग लग गयी। फिर तो धुएँसे धूमिल हुए मेघरूपी वस्त्रोंसे आच्छादित आकाश चँदोवा-सा मालूम पड़ने लगा। अलातचक्र-सी उड़ती हुई बड़ी-बड़ी चिनगारियाँ सूर्यमण्डल एवं चन्द्रमण्डल-सी जान पड़ने लगीं। उस अग्निने जले हुए मेघोंपर भस्मपूर्ण धुएँके मेघ-रूपी कम्बलोंद्वारा आकाशको ऐसा आच्छादित कर दिया था मानो वे नीले आकाशदलकी रक्षा कर रहे हों। दूर देशमें स्थित लोगोंने उसे एक जगह स्थिर हुई बिजली-सा देखा। उसकी प्रभासे आकाश पिघले हुए स्वर्ण रससे अनुलिप्त फर्श-सा लग रहा था। उसकी दीप्तिमती चिनगारियाँ उड़-उड़कर आकाशमें पहुँच रही थीं, जो ताराओंकी संख्याको दुगुनी बना रही थीं। वह वक्षःस्थलमें स्थित ज्वालारूपी बालवनिताओंके कटाक्षोंसे आनन्द प्रदान कर रही थी। उस दावाग्निने, जो प्रलयाग्निके समान भीषण थी तथा वेगपूर्वक रेंगते हुए सर्पकी तरह चारों ओर फैल रही थी, तुम्हारे आश्रमके साथ-साथ तुम्हारे तथा उस प्राणीके शरीरको भी जलाकर भस्म कर दिया।'

व्याधने पूछा—मुने! वहाँ उस अग्निदाहकी उत्पत्ति-का प्रधान कारण क्या है तथा वह वन और आपके वे शिष्य—सब-के-सब एक साथ ही कैसे नष्ट हो गये?

मुनिने कहा—व्याध! जैसे संकल्प आदिके विनाश और उदयमें संकल्पकर्ताके मनका स्पन्दन ही कारण है, वैसे ही त्रिजगत्‌का संकल्प करनेवाले विधाताका मनःस्पन्द ही त्रिजगत् है और वही तुरत उसके विनाश और उदयका कारण है। चूँकि ब्रह्माका संकल्पनगर ही जगत् है, इसलिये उनके मनका स्पन्दन ही इस संसारमें प्रजाओंकी उन्नति, क्षय, क्षोभ, वृष्टि और अवृष्टि आदिका कारण है। ब्रह्माका मानसिक संकल्प इस त्रिलोकीका कारण है, अतः यह त्रिलोकी कल्पित है। विद्वानोंकी निर्मल दृष्टिमें चिदाकाशमें चिदाकाशकी ही शोभा विकसित होती है, किंतु जो मूर्ख हैं, उनकी दृष्टिमें

यह जैसी अथवा जिस प्रकारकी भासती है, तन्मयी ही है। वास्तवमें तो वह सत् नहीं है।

समागत मुनिने कहा—मुने! वहाँ उस अग्निने दोनो शरीर, आश्रम, नगर, वे घर और वे वृक्ष आदि सबको सूखे तिनकेके समान शीघ्र ही जलाकर राखका ढेर बना दिया तथा अत्यन्त दाहके कारण जिसकी बड़ी-बड़ी शिलाएँ फट गयी थीं, ऐसे तुम्हारे उस आश्रममें सोये पड़े हुए वे दोनो शरीर भस्म हो गये। इस प्रकार सम्पूर्ण वनको पूर्णरूपसे जलाकर वह आग धीरे-धीरे उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे समुद्रके जलको पीकर अगस्त्यजी शान्त हो गये थे। तत्पश्चात् वह अग्नि अदृश्य हो गयी। उस अग्निके अदृश्य हो जानेपर वायु उस सम्पूर्ण भस्मराशिको, जो पहले हवाके लगनेसे उद्दीप्त होकर फिर अत्यन्त शीतल हो गयी थी, पुण्यराशिकी भाँति कण-कण करके उडा ले गयी। इससे अब पता ही नहीं चलता कि वह आश्रम कहाँ था और वे दोनों शरीर कहाँ चले गये तथा जो पेटीकी तरह बहुत-से लोगोंका निवास-स्थान था, वह नगर जाग्रत्पुरुषके स्वप्ननगरकी तरह कहाँ विलीन हो गया। इस प्रकार जब तुम्हारे तथा उस प्राणीके शरीरका अभाव हो गया, उस समय तुम स्वप्नके भ्रमसे ग्रस्त थे, परंतु इस समय तुम्हारी संवित् ही स्फुरित हो रही है। इसलिये कहाँ बाहर निकलनेका द्वारभूत उस प्राणीके गलेका छिद्र और कहाँ तुम्हारा वह विराट् आत्मा अर्थात् दोनोंमें महान् अन्तर है; क्योंकि ओजसहित जले हुए उस प्राणीका ओजसहित शरीर भी तो जल गया था। मुने! इसी कारण तुम्हें वे दोनों शरीर प्राप्त नहीं हुए हैं; क्योंकि इस समय तुम, जिसका अन्त नहीं है, ऐसे स्वप्न-संसाररूपी जाग्रत्-अवस्थामें स्थित हो। सुव्रत! इस प्रकार तुम्हारा यह स्वप्न ही जाग्रद्भावको प्राप्त हो गया है और हम सब लोग तुम्हारे स्वप्नपुरुष हो गये हैं। यों तुम हमारे स्वप्नपुरुष हो और हमलोग तुम्हारे स्वप्नपुरुष हैं, किंतु यह चिदाकाशरूप आत्मा सर्वदा अपने स्वभावमें ही स्थित है। स्वप्नपुरुष होते हुए जबसे तुम्हें 'मैं जाग्रत्-पुरुष हूँ' ऐसी प्रतीति हुई, तबसे तुम जाग्रत्-पुरुष बनकर पूर्णरूपसे गृहस्थाश्रममें स्थित हो। तात! इस प्रकार वहाँ जैसी घटना घटी थी, वह सारा प्रसंग मैंने तुम्हें पूर्णरूपसे सुना दिया। अब यदि तुम्हें मेरे कथनमें संदेह हो तो तुम स्वयं ही ध्यानद्वारा इस अनुभूत दृश्यको देख सकते हो। इस प्रकार जो आदि और मध्यसे रहित है, जिसका रूप अनन्त है तथा शरीर अपनी विकसन-शक्तिके उत्कर्षसे चञ्चल हो रहा है, ऐसा यह संविद्घन (ज्ञानस्वरूप) चिन्मयात्मा ही स्वयं अपने आपमें अनेक शुभाशुभ सृष्टियोंके रूपमें आकाशमें फैले हुए सूर्यके सुनहले घामकी तरह विकसित होता है।

(सर्ग १५०-१५१)

व्याध और उस मुनिके वार्तालापके प्रसंगमें जीवन्मुक्त ज्ञानीके स्वरूपका वर्णन तथा अभ्यासकी प्रशंसा

समागत मुनिने कहा—मुने! उस प्राणीके शरीर तथा मेरे शरीर आदिका वास्तवमें अस्तित्व न होनेके कारण यह सब आदि-अन्तरहित चिदाकाश ही है। इसका रूप कर्ता, कर्म और करणसे हीन, क्रमशून्य चिद्घन है। ये घट, पट और अवट आदि चिदाकाशके विकास हैं, अत· ये स्पष्ट आकारवाले कहाँसे हो गये। वस्तुतः यह चिन्मात्रका भी विकास नहीं है, बल्कि केवल चिन्मात्राकाश ही है; फिर उसका कैसा और क्या विकास। क्या कहीं आकाशका विकास होता है? भला, शून्य वस्तु कैसे विकसित होगी। चिन्मात्रका विकास महान् चिद्घनरूप शुद्ध ब्रह्म है। वही जगत्की तरह अवभासित हो रहा है। ऐसी दशामें दृश्य कहाँ और द्रष्टापन तो फिर आ ही कहाँसे सकता है? अतः जो कालतः आदि-अन्तशून्य, देशतः आदि-मध्यहीन, वस्तुतः अद्वितीय, कारण, कार्य

और तदधीन प्राणियोसे परे, सत्तामय, भुवन, शैल और दिगन्तोंके कारण नाना-अनानारूप, अप्रमेय, सर्वव्यापक चेतन है, वही सब कुछ है ।

मुनि बोले——व्याध ! ऐसा निर्णय करके मैं इस दृश्यमें स्थित हूँ। मेरा सताप और राग नष्ट हो गया है। मैं आशङ्का और अहकारसे शून्य होकर निर्वाणस्वरूप हो गया हूँ । न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसीका आधार हूँ । मैं मान और आश्रयसे रहित होकर अपने चित्-स्वभावमें स्थित हूँ तथा सर्वथा शान्त होकर सृष्टि-रूपसे प्रकट हूँ । मैं शान्ति-लाभ कर रहा हूँ, चारों ओरसे निर्वाण-सुखमें निमग्न हूँ और केवल आत्मसुखमें स्थित हूँ । मैं विधि-निषेधसे परे हो गया हूँ । अब मेरे लिये न कुछ बाह्य है न आन्तर । इस प्रकार मैं यहाँ यथाप्राप्त स्थितिके अनुसार निवास करता हूँ । तुम तो आज सहसा मेरे सामने आ गये हो ।

व्याधने कहा—मुनिवर ! यदि ऐसी बात है तो मैं, आप और ये समस्त देवता आदि सब-के-सब परस्पर एक-दूसरेके सत्-असत्-स्वरूप स्वप्नपुरुष हो जायँगे ।

मुनि बोले——व्याध ! तुम्हारा कथन ठीक है; क्योंकि यह सब-का-सब परस्पर स्वप्नके समान स्थित है तथा अपनेमें एक-दूसरेका सत्-असत्-सा अनुभव होता है । जिसने दृश्यको जैसा समझा है, उसे तदनुकूल ही उसका अनुभव होता है । वह दृश्य वस्तु अनेक है और एक भी है । (*अज्ञानियोंके लिये अनेक है, किंतु जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनके लिये*) जाग्रत्-कालमें वह स्वप्न-नगरके समान तथा पहले न देखे हुए दूर देशमें स्थित दृश्यमान नगरके सदृश प्रतीतिमात्र ही है; अतः वह न एक है, न सत् है, न असत् है और न सत्-असत् ही है । लुब्धक ! इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ वर्णन कर दिया । मेरे निरन्तर ज्ञानोपदेश करते रहनेसे तुम ज्ञानसम्पन्न हो गये हो । यों तो तुम स्वयं ही ज्ञानवान् हो और सब कुछ जानते हो; अत तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो । प्राज्ञ ! यह ज्ञान अभ्यासद्वारा परिपक्व हुए बिना मनके अंदर वैसे ही नहीं प्रवेश करता, जैसे कमण्डलु आदिके आकारमें परिणत हुए बिना काष्ठमें जल नहीं टिक सकता । एकमात्र गुरु और शास्त्रके सेवनरूपी अभ्याससे बोधमें विश्राम प्राप्त होनेपर जब द्वैत और अद्वैतकी दृष्टि शान्त हो जाती है, तब चित्त निर्वाण कहलाता है । जो अभिमान और मोहसे रहित हैं, जिन्होंने सङ्गदोष——आसक्तिपर विजय प्राप्त कर ली है, जो नित्य अध्यात्म-ज्ञानमें लीन रहते हैं, जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे निवृत्त हो गयी है तथा जो सुख-दुःखसञ्ज्ञक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष ही परमात्माके उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।*

यह सुनकर वह अपने व्याध-कर्मका परित्याग करके मुनियोंके साथ रहकर तपस्या करनेको उद्यत हो गया । फिर तो उसने उन्हीं मुनियोंके साथ उन-उन भावनाओंसे भावित होकर सदा उसी लोकमें निवास करते हुए अनेकों-सहस्र वर्षोंतक अत्यन्त घोर तपस्या की । अपने तप -कालमें ही उसने उन मुनिसे पुनः पूछा——'मुनिवर ! मुझे आत्मविश्रान्ति कब प्राप्त होगी ?' तब मुनिने कहा ।

मुनि बोले—व्याध ! मैंने तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, वह तुम्हारे हृदयके अदर मौजूद तो है, किंतु वह पुरानी लकड़ीके अदर स्थित थोडी-सी अग्निके समान बलहीन है, इसलिये जिसे जला डालना उचित है, उस दृश्यपर वह आक्रमण करनेमें असमर्थ

* निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(नि० प्र० उ० १५४ । १८)
यही श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता (१५ । ५) में ज्यों-का-त्यों है ।

हैं। अभ्यासकी कमीके कारण अभी तुम्हें कल्याणप्रद ज्ञानमें विश्रामकी प्राप्ति नहीं हुई है। कुछ कालके पश्चात् अभ्यासके सुदृढ हो जानेपर तुम्हें पूर्ण विश्राम प्राप्त हो जायगा। (सर्ग १५२—१५५)

मुनिको परमपदकी प्राप्ति, व्याधके महाशवका वर्णन, अग्निका स्वर्गलोक-गमन, भासद्वारा आत्म-कथाका वर्णन तथा बहुत-से आश्चर्योंका वर्णन करके आत्मतत्त्वका निरूपण

तदनन्तर मुनिने भविष्यमें व्याधके तप करके ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त करने, उसकी कायाकी वृद्धि होने, मृत्युको प्राप्त होने, फिर राजा सिंधु बनकर मन्त्रीके मुखसे तत्त्व सुननेकी बातका सविस्तार वर्णन करके कहा—'व्याध! मैंने भविष्यमें होनेवाली सारी घटनाओंका अतीतकी तरह तुमसे वर्णन कर दिया। अब इस समय तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा भलीभाँति सोच-समझकर करो।'

अग्निने कहा—विपश्चित्! मुनिका पूर्वोक्त वचन सुनकर व्याधका चित्त विस्मयसे पूर्ण हो गया। वह क्षणभरतक ठगा-सा खडा रहा। फिर तुरंत वह तथा वे मुनि स्नान करनेके लिये चले गये। इस प्रकार अकारण ही सुहृद् बने हुए वे दोनों व्याध और महामुनि शास्त्र-चिन्तन करते हुए वहाँ तपस्या करने लगे। तदनन्तर थोडे ही समयमें मुनिको निर्वाणकी प्राप्ति हो गयी। वे आयुके अवसानमें अपने पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग करके परमपदमें लीन हो गये। उधर व्याध चिरकालतक तपस्या करता रहा। जब सैकड़ों युग बीत गये, तब उसकी कामना पूर्ण करनेके लिये पद्मयोनि भगवान् ब्रह्मा वहाँ आये। बेचारा व्याध अपनी वासनाके आवेशको निवारण करनेमें समर्थ न हो सका; अतः मुनिद्वारा पहले ही बनायी हुई अपने वरकी व्यर्थताको जानते हुए भी उसने ब्रह्माजीसे वही वर माँगा। तब ब्रह्माजी 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' यों कहकर अपनी अभीष्ट दिशाकी ओर चले गये और वह व्याध अपनी तपस्याका फल भोगनेके लिये पक्षीकी तरह आकाशकी ओर उड़ चला। वहाँ वह गरुडके सदृश महान् वेगसे ऊपर-नीचे टेढ़ी-मेढ़ी अनेक उड़ानें भरता हुआ आकाशको पूर्ण-सा करने लगा। यों करते-करते उसका बहुत-सा समय बीत गया। इतने लंबे समयके बीतनेके पश्चात् भी जब उसके अविद्या-भ्रमका अन्त नहीं आया, तब उस विषयसे उसे वैराग्य हो गया। तदनन्तर वैराग्य हो जानेके कारण उसने आकाशमें ही प्राणोंका विरेचन करनेवाली योगधारणा बाँधकर अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया और उसका शरीर मुर्दा-सा होकर नीचेकी ओर लटक गया। उसका प्राणवायुसमन्वित चित्त तो उस अव्यक्ताकाशमें ही राजा विदूरथकी शत्रुरूपा पूर्वोक्त सिन्धुताको प्राप्त हो गया। (अर्थात् पूर्वोक्त राजा विदूरथके शत्रु राजा सिन्धुका रूप धारण कर लिया) जो सारे भूमण्डलका पालन करनेवाली थी तथा वह शरीर सैकड़ों मेरुका-सा विशालकाय होकर महाशवके रूपमें परिणत हो गया। फिर तो दूसरी पृथ्वीके सदृश वह विशाल शव अशनि एवं वज्रके गिरनेका-सा शब्द करता हुआ आकाशसे भूतलपर गिर पड़ा।

विपश्चितोंमें श्रेष्ठ पुरुष! इस प्रकार मैंने तुमसे उस महाशवका वर्णन कर दिया। जिस भूमण्डलरूप जगत्में वह शव गिरा था, वही यह जगत् है, जो हमलोगोंके स्वप्ननगरके सदृश स्फुरित हुआ है।

भो श्रेष्ठ विपश्चित्! साधुशिरोमणे! तुम पुनः प्रकृत व्यवहारके समान स्थिर भूमण्डलमें अपनी अभीष्ट दिशाको चले जाओ। गतिकोविद! प्रजावर्गके स्वामी इन्द्र स्वर्गलोकमें अपने सौवें यज्ञका अनुष्ठान करना चाहते

हैं। उन्होंने मन्त्रद्वारा मुझे आमन्त्रित किया है, अतः मैं तो वहाँ जाता हूँ।

भास बोले—राजन्! यह कहकर भगवान् अग्नि अपने स्वरूपसे तो वहीं अन्तर्धान हो गये, परंतु अग्नि-रूपसे वे निर्मल आकाशमें बिजलीकी अग्निकी तरह जाते हुए दीख पड़े। तथा मैं भी चित्तद्वारा अपनी प्राक्तन अविद्याके संस्कारोंको वहन करता हुआ पुनः स्वयं अपने दिगन्तगमनरूप कर्मका निर्णय करनेके लिये आकाशमें भ्रमण करता हुआ स्थित रहा। उस समय आकाशमें मुझे फिर अगणित जगत् दृष्टिगोचर हुए। उनकी रूपरेखाएँ भिन्न-भिन्न थीं तथा उनके आचार-विचार भी अनेक तरहके थे। भूपाल! उन लोकोंमें कहीं बहुत-से प्राणी एकीभूत हो गये थे, जिससे उनके अङ्ग छत्ते-सरीखे भासित होते थे। उनमें चेतना थी। वे मन्दगतिसे चलते थे और दर्शकोंके हृदयोंको हर लेते थे। ऐसे बहुत-से प्राणी मुझे आकाशमें दृष्टिगोचर हुए। इस प्रकार मैं चिरकालतक देखता रहा, किंतु स्वप्नकालिक मनोमात्र देह होनेके कारण उनका विनाश होते हुए तो देखा; परंतु मुझे अविद्याका अन्त नहीं दीख पड़ा। तब मैं उस दृश्यवर्गसे उद्विग्न हो गया और किसी एकान्त स्थानमें जाकर मोक्षसिद्धिके लिये तपस्या करनेको उद्यत हुआ।

उसी समय इन्द्रने मुझसे कहा—'विपश्चित्! चित्ता-काशमें तुम्हारे लिये दूसरी मृगयोनि उपस्थित है; क्योंकि तुम्हारी यह चित्-शक्ति चिरकालतक मृगयोनिमें ही संसरण करना चाहती है। इस प्रकार मैंने तुम्हारे अवश्यम्भावी वृत्तान्तको देख लिया है। तुम मृगयोनिमें उत्पन्न होकर राजा दशरथकी उस महापुण्यस्वरूपा सभा-में पहुँचोगे। वहाँ मेरे द्वारा कहा हुआ सारा-का-सारा ज्ञान तुम्हारी समझमें आ जायगा। इसलिये अब तुम संसारसे खिन्न होकर भूतलपर मृगयोनिमें जन्म धारण करो। वहाँ तुम्हें इस सम्पूर्ण कल्पित आत्मवृत्तान्तका पूर्णरूपसे स्मरण होगा। पुनः जब मृगयोनिसे मुक्त हो जाओगे, तब तुम्हें पुरुषरूपकी प्राप्ति होगी। उस समय जब ज्ञानाग्निद्वारा तुम्हारा शरीर दग्ध हो जायगा, तब तुम्हारा हृदयस्थ आत्मज्ञान स्फुरित होगा। उस आत्मज्ञानके स्फुरणसे तुम उस अविद्या नामक भ्रान्तिको, जो चिरकालसे तुम्हारे हृदयमें स्थित है, त्यागकर स्पन्दरहित वायुके समान उत्तम निर्वाणको प्राप्त हो जाओगे।'

देवराज इन्द्रके यों कहनेपर उसी समय 'इस वनमें मैं यह मृग हूँ' ऐसी मेरी निश्चित प्रतिभा उद्भूत हुई। तभीसे मैं उसी श्रेष्ठ पर्वतपर मन्दार-वनके भीतरी कोनेमें तृण और दूर्वाङ्कुरोंका आहार करनेवाला मृग हो गया। रघूद्वह! तदनन्तर एक समय सीमावर्ती एक सामन्त शिकार खेलनेके लिये वहाँ आया। उसे देखकर मैं भयभीत हो गया और छलाँग मारकर भागा; परंतु उसने आक्रमण करके मुझे पकड़ लिया और घर ले जाकर तीन दिनतक वहाँ रखा। तत्पश्चात् वह तुम्हारे मनोविनोदके लिये मुझको यहाँ ले आया। निष्पाप राम! यों मैंने अपनी सारी आत्मकथाका, जो संसारकी मायाके समान तथा नाना प्रकारके आश्चर्यरूपी रससे पगी है, तुमसे वर्णन कर दिया। इस प्रकार नाना प्रकारकी शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे युक्त यह अविद्या अनन्त है। यह आत्मज्ञानके अतिरिक्त और किसी भी उपायसे शान्त नहीं हो सकती।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! जब वह विपश्चित् वहाँ इतना कहकर चुप हो गया, तब उसी क्षण प्रशंसनीय बुद्धिवाले श्रीराम उससे यों बोले।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभो! यदि दूसरेका सङ्कल्पभूत मृग अपने आत्मामें दृष्टिगोचर हुआ है तो इससे सिद्ध हुआ कि इसी प्रकार असंकल्प पुरुष दूसरेके सङ्कल्परूप सृष्टिमें वस्तुएँ देख सकता है। परंतु यह कैसे सम्भव होगा—इसे बतलानेकी कृपा कीजिये।

विपश्चित्ने कहा—राघव ! पहले जिस जगत्के भूतलपर वह महाशव गिरा था, उसी भूमिपर इन्द्र यज्ञके गर्वसे गर्वीले होकर विचरण कर रहे थे । वहीं आकाशमें महर्षि दुर्वासा ध्यानमग्न होकर बैठे थे । इन्द्रको यह पता नहीं था कि ये मुनि हैं । उन्होंने अज्ञानवश मुर्दा समझकर उन्हें पैरसे ठोकर मार दी । इससे महर्षि दुर्वासा कुपित हो गये और इन्द्रको शाप देते हुए बोले—'देवराज ! तुम जिस भूतलपर जाना चाहते हो, तुम्हारे उस अवनितलको ब्रह्माण्डके समान विशाल एवं महाभयकर शव शीघ्र ही चूर-चूर कर देगा । मुर्दा समझकर जो तुमने मेरा अतिक्रमण किया है, इस कारण मेरे शापसे तुम शीघ्र ही उस पृथ्वीको प्राप्त होओगे ।' वस्तुतः तो एक (व्यावहारिक) जगत् न सत् है और न दूसरा (कल्पित) जगत् असत् ही है, क्योंकि ये दोनों, जैसी प्रतिभा उदित होती है, तदनुकूल प्रतीत होते हैं । इसलिये इनमें किसे सत् कहा जाय अथवा किसे असत् कहा जाय । अथवा राघव ! इस प्रसगमें मैं तुम्हें एक दूसरी युक्ति बतलाता हूँ, जिससे बात स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगी, उसे सुनो । महाभाग ! जिसमें सब कुछ है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं सर्वात्मक एवं सर्वव्यापक है, उस ब्रह्ममें सभी कुछ सम्भव है । इसीलिये सर्वात्मामें सकल्पजनित पदार्थ परस्पर मिलते हैं—यह बात अवगत होती है, क्योंकि लोकमें भी देखा जाता है कि जहाँ छाया रहती है, वहीं धूप भी रहता है । ऐसा सम्भव न हो तो उसे सर्वात्मताकी प्राप्ति ही कैसे होगी ? इसलिये सर्वात्मामें संकल्पनगर परस्पर नहीं मिलते हैं—यह भी सत् है और परस्पर मिलते हैं—यह भी सत् है । इस प्रकार जो सत्य नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो मिथ्या नहीं है, वह भी नहीं है; क्योंकि सर्वात्मामें सब कुछ सर्वत्र सर्वथा एवं सर्वदा वर्तमान है ।

रघुनन्दन ! यह ब्रह्मसत्ता ऐसी है, जो स्वयं ही अपनेसे अपना सृजन करती है तथा उसीके प्रभावसे अविद्या सादि एव अनादिरूपसे अनुभूत होती है । इस ज्ञानदृष्टिसे सभी कुछ क्षणभरमें ही प्रमाणभूत हो जाता है और अन्य दृष्टिसे ऐसा नहीं होता, इसीलिये विद्वान्-लोग ज्ञानदृष्टिसिद्ध वस्तुको ही सारभूत मानते हैं । पूर्ण दृष्टि होनेपर ज्ञानता तथा अज्ञानता एवं सत् और असत्की स्थितिका कुछ भी भेद नहीं है; क्योंकि सत्य ब्रह्ममें सत् और असत्—दोनों एक-से हैं, इसलिये सब कुछ काष्ठवत् मौन अर्थात् चिद्रूप ही है । जो दृश्य है, वह अनन्त है, वही ब्रह्मता है और वही परमपद है, इसलिये यह सब कुछ चिदाकाशमयी सर्गश्री भी सृष्टिके आदिमें स्वप्न-तुल्य शान्त ब्रह्मस्वरूप ही है—यह स्वतः सिद्ध हो जाता है । (सर्ग १५६-१५९)

राजा दशरथका विपश्चित्को पुरस्कार देनेकी आज्ञा देते हुए सभाको विसर्जित करना, दूसरे दिन सभामें वसिष्ठजीद्वारा कथाका आरम्भ, ब्रह्मके वर्णनद्वारा अविद्याके निराकरणके उपाय, जितेन्द्रियकी प्रशंसा और इन्द्रियोंपर विजय पानेकी युक्तियाँ

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! विपश्चित् यह कह ही रहा था कि सूर्यदेव मानो उस वृत्तान्तका अवेक्षण करनेके लिये अपने दूरतक फैले हुए किरणरूपी पादोंसे दूसरे लोकको चले गये । तब दिनका अन्त सूचित करनेवाला नगाड़ा अपने शब्दसे दसों दिशाओंको पूर्ण करता हुआ-सा उसी प्रकार बज उठा मानो संतुष्ट हुई दिशाओंसे जय-जयकारकी ध्वनि आ रही हो । इधर महाराज दशरथ विपश्चित्को अपने राज्यके अनुरूप क्रमशः गृह, स्त्री और धन आदि विभव प्रदान करनेके लिये आदेश देते हुए सिंहासनसे उठ पड़े । फिर तो राजा दशरथ

श्रीराम और वसिष्ठ आदि सभी सभासदोंने परस्पर क्रमानुसार एक-दूसरेका प्रणाम आदिके द्वारा सत्कार किया और फिर सभा विसर्जित करके वे अपने-अपने निवास-स्थानको चले गये। वहाँ उन्होंने स्नान-संध्या आदि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर भोजन किया और रात बिताकर प्रातःकाल वे पुनः सभामें आ गये। फिर तो वह सभा पहलेके ही तरह पूर्णरूपसे स्थित हो गयी। तदनन्तर जैसे चन्द्रमा अपनी किरणोंसे अमृतकी वर्षा करता है, वैसे ही मुनिवरने अपने मुखरूपी किरणोंसे आह्लाद उगलते हुए उस यथाप्रस्तुत कथाका क्रमशः वर्णन करना आरम्भ किया।

राजन्! यह अविद्या नहीं है। यह असत् होती हुई सत्-सी स्थित है। उपर्युक्त प्रकारका महान् प्रयत्न करनेपर भी विपश्चित् उसका निर्णय नहीं कर सका। इस प्रकार जबतक इस अविद्याका पूर्णतया ज्ञान नहीं हो जाता तभीतक यह अनन्त प्रतीत होती है; किंतु पूर्णरूपसे जान लिये जानेपर तो मृगतृष्णा-नदीके समान इसका अस्तित्व ही मिट जाता है।

श्रीरामजीने पूछा—गुरुदेव! भासद्वारा वर्णित मुनि और व्याधका जो सुख-दुःखादि नाना दशाओंसे युक्त वृत्तान्त है, यह क्या किसी कारणान्तरसे घटित हुआ था या स्वभावज है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! यह अपना आत्मा परमात्मारूप महासागर है। इसमें इसी प्रकारके शून्यात्मक प्रतिभारूप आवर्त निरन्तर अपने-आप स्वाभाविक ही उठते रहते हैं।

श्रीराम! सत्य वस्तुमें 'यह जाग्रत् है, यह स्वप्न है' इस प्रकारकी जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसका उन दोनोंकी समानरूपताका पूर्णरूपसे अनुभव हो जानेपर विनाश हो जाता है। जो जाग्रत् है, वही स्वप्न है और जो स्वप्न है, वही जाग्रत् है; क्योंकि कालान्तरमें 'निश्चय ही यह ऐसा नहीं है' ऐसी बाध-बुद्धि दोनोंमें समान होती है। जैसे जीवनपर्यन्त नियमरहित सैकड़ों स्वप्न होते हैं, उसी तरह निर्वाणरहित महान् अज्ञानमें सैकड़ों जाग्रत् भी होते हैं। जैसे लोग उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले बहुत-से स्वप्नोंका स्मरण करते हैं वैसे ही पूर्वजन्मकी स्मृति करानेवाले योगसे सम्पन्न प्रबुद्ध पुरुषोंको सैकड़ों जन्मोंका भी स्मरण होता है। जैसे दृश्य और जगत्—दोनों नित्य ही एकार्थक हैं, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न—ये दोनों शब्द भी एकार्थक कहे जाते हैं।

रघुकुलभूषण राम! जैसे तरङ्गें नदीके जलमें द्रवरूपसे स्थित हैं, उसी तरह सृष्टिरूपी लहरें चित्स्वभाव (चेतनका सकल्प) होनेके कारण चेतनमें ही स्थित हैं। यह चित्की छाया ही 'जगत्' नामसे प्रस्फुरित होती है। यह आकाररहित होते हुए भी मूर्तिमती-सी होकर द्रव्यकी छायाके समान व्याप्त है। आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है। यदि आत्माद्वारा आत्माकी रक्षा न की गयी तो फिर उसकी रक्षाका दूसरा कोई उपाय नहीं है। जीवकी बाल्यावस्थाको ज्ञानहीन होनेके कारण पशुता-सी और वृद्धावस्थाको मृत्यु-तुल्य ही समझना चाहिये। यदि विवेकसम्पन्न हो तो युवावस्था ही उसका जीवन है। इस संसारको, जो बिजलीके कौंधनेके समान चञ्चल है, प्राप्त होकर सत्-शास्त्र-चिन्तन एवं सत्पुरुषोंके सङ्गद्वारा अज्ञानरूपी कीचड़से आत्माका उद्धार करना चाहिये। अहो! खेद है। ये मनुष्य कैसे क्रूर हैं, जो कीचड़में फँसे हुए अपने आत्माका भी उद्धार नहीं कर रहे हैं। भला, इनकी क्या गति होगी।* जैसे मिट्टीकी

---

* आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्माऽऽत्मना न चेत् त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः॥
शैशवं बार्धकं ज्ञेयं तिर्यक्त्वं मृतिरेव च।
तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकि चेत्॥
संसारमिममासाद्य विद्युत्सम्पातचञ्चलम्।
सच्छास्त्रसाधुसम्पर्कैः कर्दमात् सारमुद्धरेत्॥

बनी हुई वेताल-सभा उसके रहस्यसे अनभिज्ञ ग्रामीण पुरुषको भय आदि दु:ख प्रदान करनेवाली होती है, किंतु जिसे उसके यथार्थ रहस्यका यों ज्ञान हो गया है कि यह मृन्मयी ही है, उसके लिये वह दु:खदायिनी नहीं होती, वैसे ही यह ब्रह्ममयी दृश्यलक्ष्मी अज्ञानीको भवादि क्लेश पहुँचाती है; किंतु 'यह दृश्य ब्रह्म ही है' यों यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वह कष्टदायिनी नहीं होती। इस दृश्यके तत्त्वका परिज्ञान हो जानेसे यह अशान्त होता हुआ भी शान्त तथा स्थित होता हुआ भी विलीन हो जाता है और दृश्यमान होता हुआ भी दिखायी नहीं पड़ता। जैसे अपने स्वप्नकालमें स्पष्टरूपसे अनुभवमें आया हुआ भी स्वाप्न-जगत् उसका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे अथवा जाग जानेसे असत्य ही हो जाता है, वैसे ही चिदाकाशमें अनुभूयमान अतएव सत्य-सी स्थित हुई भी यह सृष्टि तत्त्वका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे केवल शून्यरूप ही अवशिष्ट रह जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिवर! जब इन्द्रियोंपर विजय पाये बिना इस अज्ञानका उपशमन नहीं होता, तब मुझे यह बतानेकी कृपा कीजिये कि इन इन्द्रियोंको कैसे जीता जा सकता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र! जैसे मन्द दृष्टिवाले पुरुषके लिये सूक्ष्म पदार्थके निरीक्षणमें दीपक उपयोगी नहीं होता, उसी तरह प्रचुर भोगोंमें आसक्त, भौतिक पुरुषार्थ-सम्पादनमें संलग्न, जीविकोपार्जनमें दत्तचित्त तथा इन्द्रियजयविहीन पुरुषके लिये केवल शास्त्रादि साधन उपयोगी नहीं होते। इसलिये तुम इन्द्रियजयमें निमित्तभूत इस युक्तिको अविकल रूपसे श्रवण करो। इस युक्तिके आश्रयसे अपने प्रयत्नद्वारा सम्पादित थोड़ी-सी भी साधन-सम्पत्ति सुखपूर्वक सिद्धिको प्राप्त हो जाती है। इस इन्द्रियरूपी सेनाका चित्त ही सेनापति है, अतः उसपर विजय पा लेनेसे इन्द्रियोंपर स्वतः विजय प्राप्त हो जाती है—ठीक उसी तरह, जैसे जूतेसे सुरक्षित पैरवाले पुरुषके लिये सारी पृथ्वी ही चर्माच्छादित-सी हो जाती है। जो चित्तावच्छिन्न चेतन जीवको संविदाकाशरूप (ज्ञान-स्वरूप) ब्रह्ममें एकीभूत करके अपने स्वरूपमें स्थित है, उस पुरुषका मन शारदीय कुहरेकी तरह स्वयं ही शान्त हो जाता है। जिसने निरन्तर अपने संवेदन (ज्ञान) रूपी प्रयत्नके द्वारा चित्तवृत्तिको विषयरूपी मांससे हटा लिया है, उसे तत्त्वज्ञानियोंका स्वाराज्य पद प्राप्त हुआ ही समझिये। जो स्वधर्मविरुद्ध कार्योंमें आत्मप्रवृत्तिका त्याग करके शम और संतोषका उपार्जन करता हुआ स्थित है, वही जितेन्द्रिय है। जिसका मन अपने अंदर आत्मरसिकता और बाहर नीरसताका अभ्यास करनेमें उद्विग्न नहीं होता, उसका मन शान्त हो जाता है। प्रयत्नपूर्वक भलीभाँति निरोध कर देनेसे मन अपने आश्रय-स्थान (विषयानुधावनरूप दुर्व्यसन) का त्याग कर देता है और जब वह चञ्चलतासे निर्मुक्त हो जाता है तब विवेककी ओर मुड़ता है। विवेकसम्पन्न मन उदारात्मा और विजितेन्द्रिय कहा जाता है। फिर वह भवसागरमें वासनारूपी तरङ्गोंके वेगसे विमोहित नहीं होता। इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर वह साधु-समागम और सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे जगत्‌को यथार्थरूपसे सत्यब्रह्म-स्वरूप देखने लगता है। उस सत्यब्रह्मके अवलोकनसे संसारभ्रम उसी प्रकार शान्त हो जाता है, जैसे जलका ज्ञान हो जानेपर मरुस्थलमें प्रतीत होनेवाली जलकी भ्रान्ति मिट जाती है। चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही यह जगद्रूपसे स्थित है—ऐसा सत्य बोध जिसे प्राप्त हो गया है, उसे बन्ध-मोक्षकी दृष्टि कहाँसे प्राप्त हो सकती है? 'अहं' 'त्वं' आदिरूप यह जगत् अविद्यामात्र ही है। यह मिथ्या होनेके कारण शान्त अतएव केवल शून्य-स्वरूपवाला है और चिदाकाशमें ही स्थित है।

अहो बत नराः क्रूरा गतिः कैवा भविष्यति।
कुर्वन्ति कर्दमोन्मग्ने नात्मन्यपि निजोदयम्॥
(नि॰ प्र॰ उ॰ १६२। १८, २१ से २३)

रघुनन्दन ! जिनका चित्त उस ब्रह्ममें रम गया है और प्राण उसीमें लीन हो गये हैं, वे परस्पर ज्ञानोपदेश करते तथा ब्रह्मविषयक चर्चा करते हुए संतुष्ट होते हैं और आनन्द मनाते हैं । इस प्रकार निरन्तर परमात्मामें युक्तचित्तवाले तथा प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले योगियोंको उस बुद्धियोगकी प्राप्ति होती है, जिससे वे उस परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ।* जब तृणमात्रके सरक्षणमें भी यत्नपूर्वक किया गया साधन ही उपकारी होता है, तब भला, त्रिलोकसमूहका संरक्षण यत्नके बिना कैसे सिद्ध हो सकता है। मनका अङ्कुररूप जो राज्यादि सुख है, वह क्या कोई सुख है ? अर्थात् वह तो अत्यन्त ही तुच्छ है; क्योंकि तत्त्वज्ञानमें पूर्णतया विश्राम प्राप्त हो जानेपर देवराजका पद भी तृणवत् लगने लगता है । जैसे दृश्य-प्रपञ्चमें रत पुरुष सुप्तावस्था अथवा जाग्रदवस्थामें दृश्यको ही देखते हैं, वैसे ही दृश्यसे विरक्त हुए शान्त ज्ञानी महात्मा उस परमपदरूप परमात्माको ही देखते हैं। श्रीराम ! इस परमपदको तुम महान् अभ्यासरूपी वृक्षका फल समझो। यह बिना घोर प्रयत्न किये कभी सिद्ध नहीं हो सकता । यदि अज्ञानी भी मेरे द्वारा कहे गये इस शास्त्रका बारंबार आवृत्तिद्वारा आस्वादन करे, श्रवण करे अथवा वर्णन करे तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है । विचारपूर्वक मनन किये गये इस उत्तम शास्त्रसे जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन ज्ञानोसे अन्य शास्त्र भी उसी प्रकार रुचिकर लगने लगते हैं, जैसे नमकसे व्यञ्जन । तत्त्वज्ञोका विषयभूत जो परम ब्रह्म है, वह सभी अवस्थाओंमें भेदादि मलसे रहित सदा एकरस ही रहता है । उसमें कभी किंचिन्मात्र भी द्वैतादि मलका अस्तित्व नहीं रहता । चिदाकाशमें जो यह जगत् स्फुरित होता है, वह चिदाकाशका स्वभाव है, जो सूर्यकी प्रभाके समान इस चिदाकाशमें ही विकसित होता है ।

(सर्ग १६०–१६५)

दृश्यजगत्‌की चैतन्यरूपता, अनिर्वचनीयता, असत्ता तथा ब्रह्मसे अभिन्नताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्यप्रपञ्चके रूपमें फैला हुआ है । इसलिये ये घट, गड्ढे और पट आदि सब पदार्थ वस्तुतः शुद्ध चैतन्यरूप ही हैं । जैसे स्वप्नमें शुद्ध चेतना ही घट-पटादि पदार्थोंके रूपमें भासित होती है और जैसे जल ही तरङ्गरूपमें प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध चेतन-तत्त्व ही इस दृश्यरूपमें प्रकाशित हो रहा है । तत्त्वज्ञ पुरुष घट-पट आदि समस्त भौतिक पदार्थोंको ब्रह्मघन, चैतन्यघन, परमार्थघन और शान्तस्वरूप एकरस आनन्दघनका ही प्रसार मानते हैं ।

श्रीराम ! आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति—ये जो शब्दार्थ-दृष्टियाँ हैं, तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिये खरगोशके सींगकी भाँति असत् हैं । इनमेंसे कोई कभी भी सम्भव नहीं है । केवल चेष्टाशून्य, शान्तस्वरूप, व्यावहारिक नाम आदिसे रहित, ज्ञाता (साक्षी) परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हैं । वह जो चिन्मय प्रकाशके स्फुरणसे आकाशस्वरूप शरीर (मूर्त जगत्), जो कि बिना दीवालके चित्र-सा पदार्थोंकी सत्तामात्र है, प्रतीत होता है; वास्तवमें अविनाशी ही है । जैसे जलमें तरङ्गें होती हैं, उसी प्रकार शान्तस्वरूप परमात्मामें सदा और सर्वत्र वह जगत्

* तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च तन्नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्ताना भजतां प्रीतिपूर्वकम् । जायते बुद्धियोगोऽसौ येन ते यान्ति तत्पदम् ॥
(नि० प्र० उ० १६३ । ४०-४१)

कुछ अन्तरसे यही दोनों श्लोक गीता (१० । ९-१०) में आये हैं ।

चिन्मयरूपसे ही विद्यमान है। जगत् जिस रूपमें प्रतीत हो रहा है, वैसा ही प्रतीत होता हुआ भी चेतनाकाशरूप होनेके कारण न सर्वथा असत् है और न सत् ही है। सारा दृश्य कुछ है और नहीं भी है। सर्वथा अनिर्वचनीय है। जिस रूपमें इस जगत्की स्थिति है, ऐसा ही इसका रूप है, या ऐसा नहीं है, यह सत् है या असत् है—संसारचक्रके विषयमें उठनेवाले इन प्रश्नोका यथार्थ उत्तर—जगत्का यथार्थ स्वरूप तत्त्वज्ञानी महात्मा ही जानता है, दूसरा नहीं।

रघुनन्दन! चिन्मय आकाशमें ही जो चिन्मय आकाशका स्फुरण हो रहा है, उसीने उसीको जगत् समझा है। तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् वह जगत् कहाँ टिक पाता है? पूर्णपरब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण ब्रह्ममय जगत् उसके प्रकट न करनेपर भी प्रकट हुआ-सा प्रतीत होता है। यह प्रतीति भी ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही है। जो स्वयं मेरे अनुभवमें आ रहा है, उस आत्मतत्त्वको इस प्रकार अत्यन्त विशदरूपसे बारंबार उच्चस्वरसे प्रकट कर रहा हूँ, तो भी कुछ मन्दाधिकारी लोगोंके भीतर जो मूढ़ता घर किये बैठी है, वह स्वप्न-तुल्य जगत्में 'यह जाग्रत् सत्य ही है' ऐसे विश्वासका आज भी त्याग नहीं कर रही है। यह महान् खेदका विषय है। जो समझदार होनेके कारण तत्त्वज्ञानका अधिकारी है, वह भी उस भ्रान्त धारणाको शीघ्र नहीं छोड़ रहा है। यह कैसा मोह है!

(सर्ग १६६—१६८)

जीवन्मुक्त तथा परमात्मामें विश्रान्त पुरुषके लक्षण तथा आत्मज्ञानीके सुखपूर्वक शयनका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जिसकी बुद्धि अन्तर्मुखी है—आत्मस्वरूप परमात्मामें लगी हुई है तथा जिसे सुखके साधन सुख और दुःखके साधन दुःख नहीं दे पाते हैं, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जैसे अज्ञानियोंकी चित्तवृत्ति सब ओर फैले हुए विषयभोगोंमें आसक्त हो उनसे दूर नहीं हटती है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अविचल निष्ठा रखनेवाले जिस तत्त्वज्ञानी पुरुषकी विवेकशालिनी बुद्धि वहाँसे विचलित नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका चित्त अपनी चपलता छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप परमात्मामें विश्राम लेकर वहीं रम गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका मन परमात्मामें विश्राम लेनेके पश्चात् फिर वहाँसे हटकर इस दृश्यजगत्में नहीं रमता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

जो विशुद्ध बोधस्वरूप ज्ञानी महात्मा एकमात्र चेतनाकाशमय परमात्माके चिन्तनमें अनायास ही दृढतापूर्वक संलग्न होनेके कारण किसी लौकिक सुखका अनुभव नहीं करता है, वह परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। जिसके सभी पदार्थोंके विषयमें सारे संदेह विवेकद्वारा वास्तवमें नष्ट हो गये हैं, वह परमपद-स्वरूप परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। व्यवहारमें लगे होनेपर भी जिसके मनमें कहीं किसी भी पदार्थके प्रति अनुराग या आसक्ति नहीं है, वह परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। जो प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करता है तथा जिसके सभी कार्य कामना और संकल्पसे शून्य होते हैं, वह परमात्मामें विश्रान्त कहा गया है। जिस महापुरुषने विश्राम-शून्य, आधाररहित तथा लंबे संसारमार्गमें उसकी चिन्मात्र-रूपताका साक्षात्कार करके आत्मामें विश्राम पा लिया है, उसकी सर्वत्र विजय है। जन्म-जरा आदि सांसारिक दुःखसे ऊपर उठकर भवसागरके पार पहुँचा हुआ श्रेष्ठ ज्ञानी महात्मा परम विश्रान्ति-सुखका अनुभव करता हुआ आत्मामें प्रतिष्ठित होता है।

सारे जगत्का अभाव करके परम पूर्णताको प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष खूब छककर ब्रह्मानन्दमय अमृतका पान करता और सुखसे सोता है; कैसी अद्भुत बात है? आत्मज्ञानी

पुरुष विषयानन्दके अभावमें भी निरतिशय ब्रह्मानन्द पाकर महान् आनन्दमें निमग्न हो जाता है, अविनाशी अद्वैत सुखका अनुभव करता है तथा दूसरे प्रकाशोंसे प्रकाशित न होनेवाले परमात्माके महान् प्रकाशसे सम्पन्न हो सुखसे सोता है; यह कैसी विलक्षण स्थिति है ! जिसके काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि रूप अन्धकारका नाश हो गया है, जो परमात्माके महान् प्रकाशका रसिक बन गया है तथा केवल अमूर्त आनन्दरसमें ही आस्वादका अनुभव करता है, वह आत्मज्ञानी पुरुष ही सुखसे सोता है; यह कितनी अद्भुत बात है ! आत्मज्ञानी पुरुषका जो सुखपूर्वक शयन है, उसमें अनन्त दुःखोंके अनुभवके विषयमें वह विरत होता है और वर्णाश्रमोचित व्यवहारमें लोकसंग्रहके लिये वह लगा रहता है—उससे विरत नहीं होता । बाह्य पदार्थोंमें उसकी आसक्ति नहीं होती है तथा वह आन्तरिक सुखका निरन्तर अनुभव करता रहता है । जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा स्थूलसे भी स्थूल है, उस आत्माको चिदाकाशरूपी शय्यापर सुलाकर आत्मज्ञानी पुरुष अपूर्व सुखसे सोता है । इस हमारे जगत्को अपने आत्मस्वरूप चेतनाकाशके एक कोनेमें स्वप्नके समान देखता हुआ वह विशद चिदाकाशस्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुखसे सोता है । लोकपरम्पराके अनुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोरम तृणराशिसे निर्मित चटाईपर विश्रामको प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है । (सर्ग १६९)

जीवन्मुक्तके स्वकर्म नामक मित्रके स्त्री, पुत्र आदि परिवारका परिचय तथा उस मित्रके साथ रहनेवाले उस महात्माके स्वभावसिद्ध गुणोंका उल्लेख, तत्त्वज्ञानीकी स्थिति, जगत्की ब्रह्मरूपता तथा समस्त वादियोंके द्वारा ब्रह्मके ही प्रतिपादनका कथन

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जीवन्मुक्त पुरुषका मित्र कौन है जिसके साथ वह क्रीडा करता है ? उसकी क्रीडाका क्या स्वभाव है ? अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थिति ही उसकी क्रीडा है अथवा रमणीय भोग-स्थानोंमें विहार करनेसे जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसीको वह अपनी क्रीडा समझता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जो अपना परम्परा-प्राप्त सहज कर्म है, जो लोकसग्रहके लिये किया जानेवाला अपना शास्त्रीय कर्म है तथा जो प्रयत्नसे अभ्यासमें लाया गया सत्-शास्त्रोंका अभ्यास, विचार, सत्संग, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शौच, संतोष, ईश्वर-ध्यान और संयम आदि अपना कर्म है—ये तीनों प्रकारके कर्म, जो निन्द्य या निषिद्ध नहीं हैं, वास्तवमें एक ही हैं । केवल उपाधिभेदसे तीन नामोंद्वारा कहे गये हैं । वह एकमात्र त्रिविध कर्म ही जीवन्मुक्त पुरुषका स्वाभाविक मित्र है । वह मित्र पिताके समान आश्वासन देनेवाला, स्त्रीके समान लज्जाद्वारा अकर्तव्यसे रोकनेवाला तथा जिनका निवारण करना कठिन है, ऐसे सङ्कटोंमें भी सदा साथ देनेवाला है । उसके सेवनमें किसी प्रकारकी शङ्काके लिये स्थान नहीं है । वह परमानन्दकी सिद्धिमें पूर्ण सहायक है तथा क्रोधके अवसरोंपर भी कोपरहित होनेके कारण सान्त्वनारूप अमृत प्रदान करनेवाला है । ऐसे स्वकर्म नामक अपने सस्त्रीक मित्रके साथ वह जीवन्मुक्त पुरुष स्वभावसे ही रमता है, किसी दूसरेसे प्रेरित होकर नहीं ।

श्रीरामजीने पूछा—मुनीश्वर ! उसके इस मित्रकी स्त्री और पुत्र आदि कौन है तथा उनका स्वरूप क्या है ?—उनमें कौन-कौन-से गुण हैं ? यह सक्षेपसे ही मुझे बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते ! इस स्वकर्म नामक मित्रके 'स्नान,' 'दान,' 'तप' और 'ध्यान' नामवाले चार महात्मा पुत्र हैं । उनके सद्गुणोंसे सारी प्रजा उनमें

भलीभाँति अनुरक्त रहती है। इसकी पत्नीका नाम 'समता' है, जो इसे बहुत ही प्रिय है। वह सदा अपने प्रियतमकी हृदयवल्लभा होकर रहती है। चन्द्रलेखाके समान दर्शन-मात्रसे ही लोगोंको आह्लाद प्रदान करती है। सदा संतुष्ट रहती और प्रियतममें अनुराग रखती है। करुणाके कारण सब ओर अपना वैभव बाँटती रहती है। चित्तको चुरा लेनेवाली और आनन्दकी जननी है। सदा पतिके साथ रहती और कभी अलग नहीं होती है। साधो! जो सदा धैर्य और धर्ममें लगायी जाती है, वह 'बुद्धि' ही इस समता रानीकी प्रतीहारी (द्वारपालिका) है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहकर उसे सुख देनेमें तत्पर रहती है। वह उस धर्म-धुरन्धर धन्यभागी वीर पुरुषके आगे-आगे दौड़ती है। इस महातेजस्वी राजाके मित्रकी दूसरी स्त्री 'मैत्री' है, जो राज्यपर बढ़े हुए शत्रुओंको पराजित करनेके लिये राजाको उचित मन्त्रणा प्रदान करती है। वह सदा 'समता'के साथ राजाके कंधे-से-कंधा भिड़ाकर चलती है। इसके सिवा इन माननीय नरेशको आर्य-मर्यादारूपी समस्त कार्योंके विषयमें बड़ी चतुराईके साथ उपदेश देनेवाली आचार्यस्वरूपा 'सत्यता' इसका स्वार्थ सिद्ध करनेवाली धनाध्यक्षा है। इस तरहके उत्तम परिवारवाले मित्र एवं मन्त्रीरूप अपने कर्मके साथ सर्वत्र व्यवहार निर्वाह करता हुआ जीवन्मुक्त पुरुष न तो लौकिक लाभमें हर्ष मानता है और न हानि होनेपर कुपित ही होता है। निर्वाण मोक्षमें मन लगाये रहने-वाला वह मननशील मुनि युद्धादि व्यवहारमें तत्पर होनेपर भी चित्रलिखित योद्धाकी भाँति ज्यों-का-त्यों ही निर्लेप स्थित रहता है। निरर्थक वादविवादोंमें वह पत्थरकी प्रतिमाकी भाँति मूक बना रहता है। बेमतलबकी बातोंको सुननेमें वह परले सिरेका बहरा बना रहता है। लोकाचारके विरुद्ध सभी कर्मोंमें मुर्देके समान निश्चेष्ट होता है और सदाचारका विवेचन करते समय वह सहस्र जिह्वावाले वासुकि एवं देवगुरु बृहस्पतिके समान वक्ता बन जाता है। उसकी वाणीसे सदा पवित्र चर्चा ही प्रकट होती है। अपने या दूसरोंके कुटिलतापूर्ण दोषोंको वह शीघ्र ही ताड़ लेता है। वस्तुविषयक अत्यन्त दुरूह संदेहका भी पलक मारते-मारते निर्णय करके शीघ्र ही उसके स्वरूपका विवेचन कर देता है। उसकी दृष्टिमें समता और हृदयमें उदारता होती है। वह दानवीर होनेके कारण सबको यथायोग्य धन वितरण करता है। उसका स्वभाव कोमल, स्नेहमय और मधुर होता है। वह सुन्दर एवं पुण्यकीर्ति होता है। जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध—तत्त्वज्ञानके प्रकाशसे आलोकित है। वे प्रयत्नसे ऐसे नहीं बनते है। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि आदि कभी दूसरेकी प्रेरणासे प्रकाशित नहीं होते, वह प्रकाश उनका स्वाभाविक गुण होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषोंका यह स्वभावसिद्ध गुण बताया गया है।

शान्त तत्त्वज्ञानी पुरुष चलते-फिरते, खड़े होते, जागते और सोते समय भी सदा एकमात्र सच्चिदानन्द परमात्मामें ही समाहित रहता है। जो भेदमें भी अभेदनिष्ठ है, दुःखमें भी सुखमयी स्थितिवाला है और बाह्य संसारमें रहकर भी अन्तर्मुख होनेके कारण संसारमें नहीं है। ऐसे ज्ञानी महात्माके लिये दूसरा कौन-सा कर्तव्य या प्राप्तव्य शेष रह जाता है? बाहरके कार्य—व्यवहार करता हुआ भी तत्त्वज्ञ पुरुष हृदयसे न तो कुछ त्याग करता है और न ग्रहण ही करता है। वह सदा अकार्य नित्य परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता है। ज्ञानीपुरुष अज्ञानके आवरणसे मुक्त होता है। उसका अन्तःकरण सदा शान्ति और आनन्दका ही अनुभव करता है। उसके शत्रु-मित्रादि-विषयक विकल्प नष्ट हो जाते हैं। उसमें आत्मसुखस्वरूप सार वस्तुकी ही प्रचुरता होती है तथा वह सदा परम शान्तिरूप अमृतसे तृप्त रहता है।

चारों ओर सुन्दर जगत्के रूपमें यह परब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। वह स्फुरण और अस्फुरण (सृष्टि

और प्रलयकाल) में भी अपने निर्विकार स्वरूपमें ही अकेला स्थित रहता है। दृश्य-प्रपञ्चके रूपमें भासित होकर भी निर्मल, प्रशान्त चेतनाकाशरूप ही है। परंतु अज्ञानियोंकी दृष्टिमें अनादिकालसे प्रलय और सृष्टिके उदयरूपसे ही उदित है।

अज्ञ जनताके निश्चयको छोड़कर तत्त्वज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह जगत् सदा निर्विकार ब्रह्मरूप ही है। यदि तरङ्ग चेतन हो और वह युक्तिसे यह समझ ले कि मैं तरङ्ग नहीं, जल ही हूँ तो उसकी तरङ्गता कैसे रह सकती है? वेदान्तियों, जैनियों, सांख्यवादियों, बौद्धों, व्यास आदि आचार्यों, पाशुपतों तथा वैष्णव आदि आगमोंने भलीभाँतिसे प्रतिपादन करके जो-जो दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, उन सबके रूपमें भी हमारा प्रतिपाद्य ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टिसे विभिन्न नामोंद्वारा उस ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। उन वादियोंके अपने-अपने निश्चयके अनुसार पारलौकिक ऐहलौकिक सुख-रूप सारे फलोंके रूपमें वह ब्रह्म ही उपलब्ध होता है। ब्रह्मकी ऐसी ही महिमा है; क्योंकि उसका स्वरूप सर्वात्मक है। (सर्ग १७०—१७३)

निर्वाण अथवा परमपदका स्वरूप, ब्रह्ममें जगत्‌की सत्ताका खण्डन, चिदाकाशके ही जगद्रूपसे स्फुरित होनेका कथन, ब्रह्मके उन्मेष और निमेष ही सृष्टि और प्रलय हैं, मन जिसमें रस लेता है वैसा ही बनता है, चिदाकाश अपनेको ही दृश्य-रूपसे देखता है तथा अज्ञानसे ही परमात्मामें जगत्‌की स्थिति प्रतीत होती है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! सृष्टियाँ ब्रह्मरूपी समुद्रकी तरङ्ग हैं। उनमें चैतन्य ही जल है। जीवन्मुक्तोंके अनुभवमें आनेवाला वह चिन्मय जगत् अज्ञानियोंके दुःखमय जगत्‌से भिन्न है। वह सच्चिदानन्दमयी दूसरी ही सृष्टि है। उसमें द्वैत और एकत्व आदिके दुःखमय भेद किस निमित्तसे रह सकते हैं? दृश्यका अत्यन्ताभावरूप जो बोध है, उसीको परमपद कहा गया है। वही ब्रह्म है और 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान मोक्ष है। ब्रह्म ही सब कुछ है। (क्योंकि 'तत्सर्वमभवत्' इस श्रुतिसे यही बात सिद्ध होती है) तथा वह कुछ भी नहीं है। (क्योंकि 'नेति-नेति' कहकर श्रुतिने इसीका समर्थन किया है)। रघुनन्दन! ज्ञानी पुरुष ब्रह्मको इसी रूपमें जानता है। सम्यक् ज्ञानसे परम निर्वाणरूप मोक्षकी प्राप्ति बतायी गयी है। उसमें ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह सारा विश्व अत्यन्त प्रलयको प्राप्त हो जाता है। वहाँ न अनेकत्व है, न एकत्व; न कुछ है, न कोई है। वह समस्त सद्सद्भावोंकी सीमाका अन्त कहा गया है। जहाँ दृश्यकी सत्ता अत्यन्त असम्भव है, जो शुद्ध बोधका उदय रूप है, जहाँ समस्त विक्षेपोंका अभाव हो जाता है तथा जो निरतिशयानन्दरूपसे स्थित और परम शान्त है, उस चिन्मय परमात्माको ही परमपद समझना चाहिये।

यह परमात्मा जबतक अज्ञात रहता है, तभीतक अविद्या-रूप मलकी स्थिति है। उसका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर सब कुछ विशुद्ध परब्रह्म ही है, यह अचल निश्चय हो जाता है। जो अनादि, अनन्त, चिन्मय परमाकाशरूप है, उस परमात्मामें मल कहाँसे हो सकता है (क्योंकि ज्ञान होते ही अविद्यारूपी मल धुल जाता है)। प्रिय श्रीराम! विचारदृष्टिसे देखा जाय तो कुछ भी स्फुरित नहीं होता है; क्योंकि यह परम चेतन तो अत्यन्त विशुद्ध कहा गया है। जो एकमात्र सच्चिदानन्दमय है, उसका अपने आपमें कल्पित संकल्प ही इस दृश्य-प्रपञ्चके रूपमें फैला हुआ है। वास्तवमें तो परब्रह्ममें न पृथ्वी आदि भूत हैं, न शरीर है और न चैतन्यसे भिन्न दूसरा ही कोई दृश्यभाव है; किंतु एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही अपने संकल्पद्वारा

समष्टि मनोरूप होकर जगत्के आकारमें बारंबार स्फुरित हो रहा है । विचारदृष्टिसे देखनेपर यह जगत्का स्फुरण भी कुछ नहीं है । केवल सच्चिदानन्दघन ही स्वयं अपने स्वरूपमें भासित हो रहा है । जहाँसे वाणी लौट आती है, उस निरतिशयानन्दमय परमपदकी प्राप्तिसे तूष्णीम्भाव—स्वरूपभूत निश्चलता ही शेष रहती है (वह निश्चलता व्यवहारकालमें भी नहीं हटती है) । जीवन्मुक्त पुरुष संसारके व्यवहारमें तत्पर रहता हुआ भी शुद्ध चिदाकाशरूप ही होता है और उसी रूपमें वह मूकवत् स्थित रहता है । ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! चिदाकाश, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति, महान् और परमात्मा—इन सब शब्दोंको पर्यायवाची (समानार्थक) ही समझना चाहिये । ब्रह्म नेत्रकी भाँति उन्मेष और निमेषरूप है अथवा वायुके समान स्पन्द और अस्पन्दरूप है । उसका जैसा प्रलयरूप निमेष है, वैसा ही सृष्टिरूप उन्मेष भी है । इन्हींका नाम जगत् है । उसने आँखें खोलीं तो संसारकी सृष्टि हो गयी और आँखें बंद कीं तो जगत्का प्रलय हो गया । परंतु वह परब्रह्म परमात्मा निमेष और उन्मेष—दोनों अवस्थाओंमें एकरूप ही रहता है । सौम्य रघुनन्दन ! इस कारण यह सम्पूर्ण जगत् जिस रूपमें स्थित है, इसी रूपमें इसे शान्त, अजन्मा, अजर, सभी अवस्थाओंमें स और चिदाकाशरूप ही समझना चाहिये ।

जिसका चित्त जिस वस्तुमें रस लेता है, उसका व चित्त वैसा ही हो जाता है । अतः एकमात्र परब्र परमात्माका रसिक हुआ जो ज्ञानीका मन है, वह ब्रह्मभा को ही प्राप्त हो जाता है और जिसका मन जिसमें र पाता है, उसने उसीको सत् समझा है । जिसकी ज्ञानदृष्टि दृश्य-अदृश्य, सत्-असत् तथा मूर्त-अमूर्त सब कुछ ब्रह्म है, उसकी दृष्टिमें यहाँ अथवा और कहीं भी न तो कर्त्त भोक्ता जीवकी सत्ता है और न उसका अभाव ही (क्योंकि एकमात्र वही ब्रह्मरूपसे शेष रह जाता है)

सहस्रों वादी मिलकर भी सत्से अतिरिक्त वस्तु सत्ताका उपपादन नहीं कर सकते तथा उससे भि जगत्का कोई यथार्थ कारण नहीं उपलब्ध होता इसलिये स्वतः यह बात सिद्ध हो गयी कि आदिकालसे चिदाकाश अपने आपको ही दृश्यरूपसे देखता है ।

जैसे स्वप्नमें 'स्वयं चिन्मय जीवात्मा ही स्वप्न-जग के रूपसे भासित होता है, वैसे ही यहाँ सृष्टिके आरम्भ में चिदाकाशके सिवा इस दृश्यका अन्य कोई कारण न पाया जाता । (सर्ग १७४—१७६

सृष्टिकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें कोई अज्ञानी है ही नहीं (वह एकमात्र ब्रह्मके सिवा दूसरी किसी वस्तुको देखता ही नहीं है) । अतः जिसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसे आकाश-वृक्षके सदृश अज्ञानीके विषयमें विचार करना कैसा होगा ? अज्ञानका बोधस्वरूप आत्माके ही भीतर भान होता है; अतः वही उसका अधिष्ठान है । जगत् अज्ञानका अङ्ग है, अतः अज्ञानरूप ही है । जैसे स्वप्न और सुषुप्ति—दोनों निद्राके अन्तर्गत होनेसे निद्राके ही अङ्ग हैं; इसलिये उन्हें केवल निद्रारूप ही कहा जा सकता है, वै ही जगत्का स्वरूप भी अपने अधिष्ठानभूत चिन्म परमात्मासे भिन्न नहीं है । जैसे शुद्ध जलराशिमें लह भँवर और द्रवता आदिके रूपमें जल ही प्रतीत हो है, वैसे ही ब्रह्ममें सर्ग नामक ब्रह्म ही भासि होता है । जैसे निर्मल वायुमें स्पन्दन, आवर्त अ विवर्त आदिकी प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मरू वायुमें सृष्टिरूपी स्पन्दन भासित होता है । जै महाकाशमें अनन्तता, छिद्रता और शून्यता आदि

आकाशरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सृष्टि भी परात्पर ब्रह्मरूप ही है। जैसे निद्रा आदिमें स्पष्टरूपसे उपलब्ध होनेपर भी ये सारे स्वप्नगत पदार्थ असन्मय ही है, उसी प्रकार ये सृष्टिके पदार्थ भी हैं, स्वतः इनकी सत्ता नहीं है। परंतु सत्स्वरूप परमात्मामें उपलब्ध होनेके कारण उससे अभिन्न ही हैं। जैसे निद्राकालमें मनुष्य एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें स्थित होता है, वैसे ही अजन्मा परमात्मा अपनी सत्तामें ही एक सर्गसे दूसरे सर्गके रूपमें स्थित होते हैं। जैसे साम्प्रतिक सर्वदर्शनरूप परमात्मामें वर्तमान घट, पट आदि शब्द और उनके अर्थ स्थित हैं, उसी प्रकार अद्वितीय महाचैतन्यरूप परमात्मामें भूत और भविष्य कालकी सारी सृष्टियाँ स्थित हैं। जैसे परमात्मामें ही सृष्टिरूप परमात्माका भान होता है, वैसे ही चितिमें ही चिन्मय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गोंका चितिके द्वारा ही भान होता है।

इस जगत्‌में न कोई आकृति है, न संसार है, न संसारका अभावरूप मोक्ष है, न जन्म है, न नाश है, न सत्ता (भावविकार) है और न असत्ता ही है। केवल परम शान्त ब्रह्मका ही अपने आपमें स्फुरण होता है अथवा यहाँ ब्रह्मसे भिन्न किसी प्रकारका स्फुरण भी नहीं है। यद्यपि ब्रह्म अनेकानेक सृष्टिरूपी पुतलियोंके समुदायसे भरा हुआ है, तथापि वस्तुतः उसमें जगत्‌रूपी लताएँ, उनकी चोटियाँ, जड़ें, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ोंका भूमिमें प्रवेश—ये सब अलभ्य हैं। वह आदि-अन्तसे रहित है, कालके द्वारा भी उसके जन्म और नाश नहीं होते तथा वह पूर्णरूपसे विशुद्ध एवं सच्चिदानन्दघन है।

चिन्मय प्रकाशरूप परमार्थाकाश ही, जो सब पदार्थोंसे रहित है, स्वप्नकी भाँति द्रष्टा, दृश्य और दर्शन रूपसे प्रतीत हो रहा है। इसलिये यह जगत् एकमात्र चेतनाकाश ही है। आकाशमें भ्रमवश होनेवाली वृक्षसमूहोंकी स्फुरणाके समान ब्रह्मरूपी समुद्रमें जो नाम-रूपात्मक जलकणोंका स्फुरण हो रहा है, वही यह सृष्टि है। आकाशमें जो वृक्षसमूहकी प्रतीति होती है, वह तो आकाशसे भिन्न-सी लगती है; क्योंकि उसमें आकाशकी शून्यता नहीं दिखायी देती। परंतु परब्रह्मरूपी महासागरमें जो सृष्टिरूपी जलबिन्दु विद्यमान हैं, वे उससे किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं हैं।

(सर्ग १७७–१७९)

श्रीरामका कुन्ददन्त नामक ब्राह्मणके आगमनका प्रसंग उपस्थित करना और वसिष्ठजीके पूछनेपर कुन्ददन्तका अपने संशयकी निवृत्ति तथा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिको स्वीकार करते हुए अपना अनुभव बताना

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! मेरे मनमें एक संदेह है, आप उसका निवारण कीजिये। एक दिनकी बात है, मैं विद्यामन्दिरके भीतर विद्वानोंकी सभामें बैठा था। उसी समय विदेह जनपदसे वहाँ एक श्रेष्ठ तपस्वी श्रीसम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण आया। आकर उसने उस ब्राह्मणसभाको प्रणाम किया। फिर जब वह एक आसनपर बैठ, तब मैंने भी उठकर उसे प्रणाम किया और पूछा—'ब्रह्मन्! आप लंबा रास्ता तै करके आये हैं; इसलिये थक गये होंगे। किसी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यत्नशील-से दिखायी देते हैं। बताइये, आज कहाँसे आपका शुभागमन हुआ है?'

ब्राह्मणने कहा—महाभाग! आपका कहना ठीक है। मैं अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये विशेष प्रयत्नशील हूँ। यहाँ जिस प्रयोजनसे आया हूँ, उसे भी सुन लीजिये। मैं विदेह देशका ब्राह्मण हूँ और विद्याध्ययन कर चुका हूँ। मेरे दाँत कुन्दके फूलकी भाँति उज्ज्वल

हैं; इसलिये मुझे लोग 'कुन्ददन्त' कहते हैं। एक दिन मेरे मनमें संसारसे वैराग्य हुआ और मैं भ्रमजनित क्लेशकी शान्तिके लिये देवताओं, ब्राह्मणों तथा मुनीश्वरोंके स्थानोंमें भ्रमण करने लगा। तब श्रीपर्वतपर एक तपस्वीसे भेंट होनेपर वे मुझे गौरी-आश्रममें स्थित वृद्ध तपस्वीके पास ले गये। वृद्ध तपस्वीने श्रीपर्वतवासी तपस्वीकी, उनके सात भाइयोंकी, उन सबके तपकी, वरदान और शापकी एवं घरके अंदर ही उन सातोंके सप्तद्वीपाधिपति होकर अन्तमें प्रलय-कालमें विलीन होनेकी बातें बतायीं। तदनन्तर उन आठवें अपने मित्र तपस्वीकी मृत्युसे दुखी हुआ मैं उन कदम्ब वृक्षके नीचे रहनेवाले तपस्वीके पास गया। वे तीन मास प्रतीक्षा करनेके बाद समाधिसे विरत हुए। तब मैंने नम्रतापूर्वक उनके सामने अपना प्रश्न उपस्थित किया। इसपर वे इस प्रकार बोले।

कदम्ब वृक्षके नीचे रहनेवाले तपस्वीने कहा—निष्पाप ब्राह्मण! मैं समाधिसे विरत होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता; अतः शीघ्र ही बड़ी उतावलीके साथ मैं फिर समाधिमें ही प्रवेश करूँगा। इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यासके बिना तुम्हें नहीं लगेगा। इसलिये दूसरी युक्ति सुनो और वैसा ही करो। अयोध्या नामसे प्रसिद्ध जो पुरी है, वहाँ दशरथ नामक राजा राज्य करते हैं। उनके पुत्र श्रीराम नामसे विख्यात हैं। तुम उन्हींके पास चले जाओ। उनके कुलगुरु मुनिवर वसिष्ठ सभामें मोक्षके उपायकी दिव्य कथा कहेंगे। ब्रह्मन्! चिरकालतक उस कथाको सुनकर तुम भी मेरी ही भाँति पावन परमपदमें विश्राम प्राप्त करोगे।

ऐसा कहकर वे तापस मुनि समाधिरूपी अमृतके महासागरमें निमग्न हो गये और मैं इस देशमें आपके पास आया हूँ।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—गुरुदेव! वही यह कुन्ददन्त नामक द्विज है, जिसने मेरे पास बैठकर यहाँ मोक्षोपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिताको सुना है। आप इससे पूछिये। इसका संशय निवृत्त हुआ या नहीं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठने कुन्ददन्तकी ओर देखकर पूछा—'निष्पाप विप्रवर कुन्ददन्त! कहो, क्या तुमने मेरे इस उत्तम मोक्षदायक उपदेशको सुनकर ज्ञेय तत्त्वको जाना?'

कुन्ददन्त बोला—भगवन्! समस्त संशयोंका विनाश करनेवाला मेरा चित्त ही इस समय मेरी विजयका सूचक है। मेरे सारे संदेहोंकी निवृत्ति हो गयी और मैंने अवश्य जाननेके योग्य अखण्ड ब्रह्मतत्त्वको जान लिया। विशुद्ध ज्ञेय तत्त्वका मुझे ज्ञान हो गया। मैंने क्षयरहित द्रष्टव्य वस्तुका दर्शन कर लिया और पाने योग्य सब कुछ मैं पा गया। इस समय ब्रह्मरूप परमपदमें विश्राम कर रहा हूँ। मैंने आपके मुखसे सुनकर चिन्मय परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब परमार्थ सच्चिदानन्दघनरूपी मेघ है, जो चिन्मय आकाशमें अपनेसे अभिन्न जगत्‌के रूपमें छाया है। सर्वात्मक होनेके कारण सर्वरूपी सर्वव्यापी परमात्माका सर्वत्र, सदा सबके द्वारा और सब कुछ होना पूर्णरूपसे सम्भव है। सरसोंके एक दानेके छिद्रके भीतर असंख्य ब्रह्माण्डोंका किस प्रकार होना सम्भव है और किस प्रकार उनका होना कदापि सम्भव नहीं है, यह सब मैंने पूर्णरूपसे समझ लिया। जो-जो वस्तु जब जिस रूपमें यहाँ भासित होती है और सम्पूर्ण प्राणियोंके अनुभवमें आती है, वह-वह उस समय उस रूपमें केवल सर्वघन परमात्मा ही है। इस तरह विचार करनेसे सिद्ध हो जाता है कि सब कुछ आदि-अन्तसे रहित एक नित्य विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। (सर्ग १८०—१८५)

सब कुछ ब्रह्म है, जगत् वस्तुतः असत् है, वह ब्रह्मका संकल्प होनेसे उससे भिन्न नहीं है; जीवात्माको अज्ञानके कारण ही जगत्की प्रतीति होती है—इसका प्रतिपादन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! कुन्ददन्तके इस प्रकार कहनेपर प्रशंसनीय महात्मा भगवान् वसिष्ठ मुनिने यह परमार्थोचित वचन कहा।

श्रीवसिष्ठजी बोले—हर्षकी बात है कि महात्मा कुन्ददन्तको शास्त्रश्रवणसे विज्ञानानन्दघन परमात्मामें विश्राम प्राप्त हो चुका है। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है—इस तत्त्वको ये हाथपर रखे हुए आँवलेकी तरह देख रहे हैं। निश्चय ही भ्रममात्र जिसका स्वरूप है, ऐसा यह विश्व इन्हें अजन्मा ब्रह्म ज्ञात होने लगा है। भ्रान्ति इनके लिये ब्रह्मरूप ही हो गयी है। वही ब्रह्म जो शान्त, एक और निर्विकार है। जो जैसे, जिसके द्वारा, जहाँ, जिस प्रकारका, जितना, जब और जिस हेतुसे है, वह वैसे, उसके द्वारा, वहाँ, उस प्रकारका, उतना, उस कालमें और उसी हेतुसे कल्याणमय, शान्त, जन्मादिरहित, मौन, अमौन, अजर, सर्वव्यापी, सुशून्य, अशून्य, आदि-अन्तसे रहित एवं अक्षय ब्रह्म ही है। व्यवहारमें ब्रह्म स्वय दृश्य, स्वयं द्रष्टा, स्वयं चेतन, स्वयं जड, स्वयं सब कुछ और स्वयं कुछ भी नहीं है। वास्तवमें वह सच्चिदानन्द परमात्मा अपने आपमें ही स्थित है। दृश्यजगत् ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही दृश्यजगत् है। यह न तो शान्त है, न अशान्त है; न निराकार है और न साकार ही है।

जैसे जागनेपर स्वप्न आदि निराकार भासित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो जानेपर यह शरीर भी निराकार ही प्रतीत होता है। चैतन्यमात्र ही इसका स्वरूप है। यह स्वप्नकी भाँति अनुभवमें आनेपर भी असत् ही है। ये भ्रमवश दिखायी देनेवाले सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि भाव वास्तवमें नहीं हैं। जैसे चित्रलिखित चित्रवधू चित्रसे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही यह दृश्यमान जगत् परमात्मासे भिन्न नहीं है। जैसे चित्रकारद्वारा बनायी जानेवाली चित्रगत सेना बुद्धिस्थ चित्रसे भिन्न नहीं है, वैसे ही स्रष्टाकी चित्तता-दशामें मूर्त सृष्टि नाना रूपोंमें प्रतीत होती हुई भी उससे भिन्न न होनेके कारण नानात्वसे रहित है।

रघुनन्दन! जैसे समुद्रमें जलराशिका स्फुरण होनेपर ही उसमें भँवर उठते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध चिदाकाशका अपने सत्यसंकल्पके अनुसार जो स्फुरण है, उसीको जगत् कहते हैं। परमात्मचैतन्यमें समुद्रमें जलराशिकी भाँति वस्तुतः चिदात्मक जगत्-भावोंका जो अकस्मात् भान होता है, उसे मनीषी पुरुष संकल्प आदि नाम देते हैं। कालसे, अभ्यासयोगसे, विचारसे, समभावसे, जातिकी सात्त्विकतासे और अन्तःकरणके सात्त्विक एवं निर्मल होनेसे सम्यग्ज्ञान-सम्पन्न यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञ पुरुषकी बुद्धि द्वैत और अद्वैतसे रहित चिन्मात्रस्वरूप हो जाती है। चिदाकाशरूप परमात्मा चिदाकाशमें ही स्फुरित होनेवाले अपने इस रूपको—द्रष्टा-दृश्यरूप जगत्को देखता हुआ सदा साक्षीरूपसे प्रकाशित होता है। वह उससे भिन्न नहीं है। एक चेतनसत्ताके उपजीवी होनेसे द्रष्टा और दृश्य दोनो एक हैं; क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है। जैसे शून्यत्व और आकाशमें कोई भेद नहीं है, उसी तरह जगत् और ब्रह्ममें भी भेद नहीं है।

श्रीराम! सृष्टिके आरम्भकालमें परमात्माके मनमें अपने प्रकृतिसहित विलीन हुए प्राणियोंके पूर्वकृत कर्म-वासनानुसार जो कुछ नियत रूपसे भान हुआ, वह जैसा था और जिस प्रकारके कार्य-कारणभावसे स्थित था, वह आज भी उसी रूपमें स्थित है और वही जगत् कहलाता है। सर्वशक्तिमान् परमात्माको जिस-जिसका जैसे संकल्प होता है, वह-वह उसी रूपमें हो जाता

है। सत्यसंकल्प परमात्माकी संवित् (अनुभूति) सारूप है। अतः उसमें जिस वस्तुका भान हुआ, वह असत्‌रूप कैसे हो सकता है?

रघुनन्दन! चेतन जीवकी जो उत्पत्ति बतायी गयी है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, यह बात समझमें आ जाय। जीवकी उत्पत्ति वास्तविक है, यह बताना अभीष्ट नहीं है। वस्तुतः चेतनस्वरूप जीव चिन्मय परब्रह्म परमात्माका अंश है; इसलिये कृत्रिम नहीं है। किंतु अज्ञानसे चेत्य अर्थात् दृश्य जगत्‌की ओर उन्मुख हो जानेके कारण ही वह जीव शब्दसे कहा जाता है। जीवनसे अर्थात् प्राण और कर्मेन्द्रियोंको धारण करनेसे तथा चेतनसे अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंको धारण करनेसे वह जीव कहलाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस यथार्थ आत्मस्वरूपको भूलकर चिन्मय जीवात्मा जब यह देखने लगता है कि मैं यह मनुष्य आदि शरीर हूँ और यह पृथ्वी आदि मेरा आधार है, तब वह उसीमें दृढ़ आस्था बाँध लेता है। असत्यमें सत्यबुद्धि करके ही जीव भावनावश बँध जाता है और अपने भीतर बारंबार भावना एवं नानात्व-का अनुसरण करने लगता है। जो जिसमें अत्यन्त आसक्त होगा, वह उसे क्यों न देखेगा? जगत्‌की जो भ्रान्ति हो रही है, वह असत्य ही है, तो भी भावनाके कारण इस प्रकार प्रौढ़ताको प्राप्त हो गयी है। सबके कारणभूत सनातन ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कोई जगत्‌का कारण नहीं है। वह कारण भी कार्यताके बिना सम्भव नहीं है और निर्विकार कूटस्थ सच्चिदानन्दघन अद्वितीय ब्रह्ममें कार्यता और कारणता आदिका होना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये इस जगत्‌की प्रतीति अज्ञानके कारण ही हो रही है।

(सर्ग १८६—१८९)



श्रीरामजीके विविध प्रश्न और श्रीवसिष्ठजीके द्वारा उनके उत्तर

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ज्ञानकी ज्ञेयता-पत्ति अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप है, उसे ज्ञेय—जड दृश्य समझ लेना ही बन्धन है और उस ज्ञेयता—जड दृश्यबुद्धिका सर्वथा निवारण ही मोक्ष कहलाता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! ज्ञानकी ज्ञेयता-बुद्धिका निवारण कैसे होता है? उस ज्ञेयता-बुद्धिका सर्वथा निवारण हो जानेपर यहाँ बन्धताबुद्धि कैसे निवृत्त होती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—शम, दम आदि साधनोंसे युक्त सच्चिदानन्द परमात्माका सम्यग्ज्ञानरूप प्रबोध प्राप्त होनेसे भ्रान्ति-बुद्धि दूर हो जाती है। उस भ्रान्ति-बुद्धिके दूर हो जानेपर इस प्रकार ज्ञेयता—जड दृश्यबुद्धिकी अत्यन्ता-भावरूपा परम शान्तिमयी स्वरूपभूता निराकार मुक्ति प्राप्त होती है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! कैवल्य बोधरूप सम्यग्ज्ञान क्या कहलाता है, जिसकी पूर्णरूपसे प्राप्ति हो जानेपर यह जीव बन्धनसे छुटकारा पा जाता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! सबका अधिष्ठानभूत जो चिन्मात्र ज्ञान है, वह त्रिकालमें भी ज्ञेयरूप नहीं हो सकता। वह केवल अव्यय ज्ञान अवर्णनीय है। इस प्रकार जो आन्तरिक बोध है, उसे सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

श्रीरामजीने पूछा—ज्ञानस्वरूप चिन्मय परमात्माके अंदर उससे भिन्न ज्ञेयता क्या है? यह बताइये, साथ ही इस बातपर भी प्रकाश डालिये कि 'ज्ञान' शब्दकी व्युत्पत्ति कैसे करनी चाहिये। अवबोधनार्थक 'ज्ञा' धातुसे भावमें ल्युट् प्रत्यय होनेपर ज्ञान शब्द बनता है या करणमें प्रत्यय होनेपर?*

* 'ल्युट् च' (पा० सू० ३। ३। ११५) इस सूत्रसे भावमें ल्युट् प्रत्यय होता है तथा 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३। ३। ११७) इस सूत्रसे करण और अधिकरण अर्थमें ल्युट् प्रत्यय होता है। 'भावमें' प्रत्यय होनेपर ज्ञान शब्दका अर्थ होगा—जानना, समझना, बोध होना। करणमें प्रत्यय होनेपर ज्ञानका अर्थ होगा—जानका साधन, जिससे जाना जाय वह करण।

श्रीवसिष्ठजीने कहा— रघुनन्दन ! बोधमात्र ही ज्ञान है। अतः यहाँ भावसाधनमात्र ज्ञानको ही ग्रहण किया गया है अर्थात् भावमें प्रत्यय करनेसे जो ज्ञान शब्द बनता है, वही यहाँ अभीष्ट है। ज्ञान और ज्ञेयमें कोई भेद नहीं है, जैसे पवन और स्पन्दनमें (वायु और उसकी गतिशीलतामें) भेद नहीं होता है ।

श्रीरामजीने पूछा—यदि ऐसी बात है तो यह ज्ञान, ज्ञेय आदिका भ्रम, जो खरगोशके सींगकी भाँति मिथ्या ही है, तीनों कालोंमें व्यवहारके योग्य कैसे सिद्ध होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—बाह्य पदार्थोंके भ्रमसे ही यहाँ भ्रमबुद्धि उत्पन्न हुई है, ऐसा जानना चाहिये। वास्तवमें किसी ही बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक पदार्थका अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय आदिका भेद-भ्रम मिथ्या ही है। (स्वप्नकालमें अथवा भ्रान्तिज्ञानमें सहस्रों असत् पदार्थ व्यवहारमें आते हैं। अतः यह ज्ञान और ज्ञेय आदिका भ्रम असत्य होनेपर भी इसका अज्ञानियोंके व्यवहारमें आना असम्भव नहीं है।)

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! तुम, मैं आदि जो यह प्रत्यक्ष दृश्यपदार्थ हैं, जो भूत आदिरूपसे अनुभवमें आता है, वह है ही नहीं, यह कैसे समझा जाय ? कृपया मुझे बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन ! सृष्टिके आरम्भकालमें विराट् पुरुष ब्रह्मा आदिके रूपमें कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसलिये किसी ज्ञेय अथवा दृश्य वस्तुकी सत्ता सम्भव ही नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें होनेवाला जो यह जगत्का दर्शन है, जिसका प्रतिदिन सबको अनुभव हो रहा है, इसके होते हुए आप यह कैसे कह रहे हैं कि यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ; इसलिये कभी किसीको इसका दर्शन भी नहीं हुआ ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! स्वप्नके पदार्थ, मृगतृष्णाका जल तथा संकल्पित पदार्थ—ये सब न तो कभी उत्पन्न हुए और न वास्तवमें कभी देखे गये। फिर भी, भ्रमवश इनकी प्रतीति हो जाती है । इसी तरह मैं, तुम आदि रूप जो जगत् है, यह न कभी उत्पन्न हुआ और न तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर कभी उपलब्ध ही हुआ। इसलिये सर्वथा मिथ्या है, तथापि भ्रमवश इसकी प्रतीति होती है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! मैं, तुम, यह इत्यादि रूपसे पूर्णतः अनुभवमें आनेवाला यह जगत् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न ही नहीं हुआ, यह कैसे समझा जाय ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! कारणसे ही कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। प्रलयकालमें तीनों लोकोंका जो पूर्णतः लय हो गया, तब पुनः इसकी उत्पत्तिके लिये कोई कारण ही नहीं रह गया था (कारण न होनेसे सृष्टि हुई ही नहीं, इसलिये जो कुछ दीखता है, सब मिथ्या प्रतीति मात्र है)।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! महाप्रलय हो जानेपर जो अजन्मा, अविनाशी परब्रह्म अवशिष्ट रह गया, वही नूतन सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण कैसे नहीं हो सकता ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! कारणमें जो कार्य सत्‌रूपसे विद्यमान है, वही उससे प्रकट होता है, जो उसमें है ही नहीं, वह कैसे प्रकट हो सकता है। क्या कभी घटसे पटकी उत्पत्ति होती है ? कभी नहीं।

श्रीरामजीने कहा—महाप्रलय आनेपर जगत् सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें रहता है। वही सृष्टिके समय पुनः उससे प्रकट हो जाता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—परम बुद्धिमान् निष्पाप रघुनन्दन ! महाप्रलयके अन्ततक उस ब्रह्ममें जगत्की सत्ताका

किसने अनुभव किया है तथा उसके वह सत्ता वहाँ किस रूपमें रहती है ?

श्रीरामजीने कहा—ब्रह्ममें जगत्की सत्ता उस समय ज्ञानस्वरूपा ही होती है और ज्ञानियोंके अनुभवमें भी आती है। अतः वह प्राकृत आकाशके समान शून्य-रूप तो नहीं होती। इसलिये उस सत्ताको असत् नहीं कहा जा सकता ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—महाबाहो! यदि ऐसी बात है तो वह ज्ञान ही तीनों लोकोंका स्वरूप है । किंतु जो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है, उसके जन्म और मरण कैसे हो सकते हैं ?

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! यदि इस प्रकार सृष्टि उस ब्रह्ममें स्थित नहीं है तो यह भ्रान्ति कहाँसे और कैसे आ गयी ? यह मुझे बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! कार्य-कारणताका अभाव होनेसे ही ब्रह्ममें न सृष्टि है न प्रलय। यह जो जगत् भासित होता है, वह जिसको और जिस रूपमें भास रहा है। वह सब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी केवल आत्मा ही है।

श्रीरामजीने पूछा—यह बात तो असंगत-सी लगती है। जो यन्त्रका चालक चेतन है, वह जड यन्त्र-रूप कैसे हो सकता है ? द्रष्टा ईश्वर स्वयं ही दृश्य कैसे बन सकता है ? काठ दाहक बनकर अग्निको जला दे, क्या यह कभी सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! द्रष्टा दृश्यभावको नहीं प्राप्त होता; क्योंकि दृश्यकी सत्ता सम्भव ही नहीं है। केवल द्रष्टा ही प्रकाशित होता है, जो एकमात्र सच्चिदानन्दघनस्वरूप एवं सर्वात्मा है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! तब सृष्टिके आदिमें अनादि, अनन्त, शुद्ध चिन्मय ब्रह्म ही जगत्का संकल्प करता है। इसीसे इस जगत्का भान होता है। यदि ऐसा न होता तो चेत्य जगत्का प्राकट्य कैसे हो सकता था ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—किसी भी चेत्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। चेत्यके अत्यन्त अभावके ही कारण चेतनकी नित्यमुक्तता और अवर्णनीयता सिद्ध होती है।

श्रीरामजीने पूछा—यदि ऐसी बात है तो ये अहंता आदि चेत्य कैसे और कहाँसे उत्पन्न हुए हैं, जगत्का भान कैसे होता है और स्पन्दन आदिका अनुभव क्यों होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि कारणकी सत्ता न होनेसे आदिकालमें ही किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। ऐसी दशामें चेत्य कहाँसे होगा ? इसलिये सब कुछ शान्तस्वरूप परब्रह्म ही है। सृष्टिकी प्रतीति केवल भ्रममात्र है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जो वाणीकी पहुँचसे बाहर है, चेत्य और चलन आदिसे रहित है, सदा स्वप्रकाश और निर्मल है, उस नित्यमुक्त परब्रह्ममें किसको किस निमित्तसे और कैसा भ्रम हो सकता है (जब ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं और वह नित्यमुक्त ज्ञानस्वरूप है तो उसमें किसको और कैसे भ्रम हो सकता है ? फिर यह जगत् नामक भ्रम क्या बला है ?) इसका उत्तर मुझे दीजिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! सृष्टिरूप भ्रमका कोई कारण नहीं है; इसलिये यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि उसकी सत्ता त्रिकालमें भी नहीं है। तुम, मैं आदि सब कुछ एकमात्र शान्तस्वरूप निर्विकार ब्रह्म ही है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! फिर तो देश,काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त सभी वस्तुओंकी उत्पत्ति

असम्भव ही है, फिर इन सबकी सत्ता कैसे उपस्थित हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त इन सबकी सत्ता अज्ञानमात्र ही है। अज्ञानसे भिन्न इनकी सत्ता न है, न पहले कभी थी।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! तत्त्वदृष्टिसे कारणके अभावमें द्वैत और एकत्वकी सम्भावना ही नहीं रह जाती। फिर न कोई बोध्य रह जाता है न बोधक। बोध्य-बोधकके अभावमें बोधका होना भी कैसे सम्भव होगा ? (जिसका बोध होता है वह कर्म कारक तो होना ही चाहिये। कर्म माननेपर द्वैतकी आपत्ति होती है और कर्म न माननेपर बोध किस वस्तुका हो, यह प्रश्न खड़ा हो जाता है।)

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अज्ञानी जीव ही बोधके द्वारा अपने अज्ञानविनाशरूप फलका आश्रय होकर आत्मबोधता (बोधकर्मता) को प्राप्त होता है। इसीसे बोध शब्द भी बोध्यता (बोधरूप फलवाली सकर्मकता) को प्राप्त होता है। ये सब बातें अज्ञानियोंको समझानेके लिये ही कहने योग्य हैं। हम-जैसे जीवन्मुक्तोंके लिये नहीं (जीवन्मुक्त पुरुष तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटीसे रहित हो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हो जाता है। उसके लिये बोधकी सकर्मताका निरूपण अनावश्यक हो जाता है)।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! 'मैं जीवन्मुक्त हूँ' ऐसा अनुभव होनेसे यह सिद्ध है कि बोध ही अहंतारूप परिणामको प्राप्त होता है। यह बोध अहंभावको प्राप्त हुआ तो यथार्थ बोध नहीं रह गया। उसमें भिन्नता आ गयी। अनन्त, जलसे भी बढ़कर निर्मल, चिन्मय, परमात्मस्वरूप आप-जैसे जीवन्मुक्त पुरुषोंमें यह बोधभिन्न अहंता कैसे सम्भव होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! बोधस्वरूप जीवन्मुक्तकी स्वरूपभूता जो बोधता है, वही उसमें विशुद्ध अहंता कहलाती है। तत्त्वज्ञानीका मैं और तुम भी उसके स्वरूपभूत ज्ञानसे भिन्न नहीं है। उसमें जो द्वैतरूप व्यवहार देखा जाता है, वह वायु और उसके स्पन्दनकी भाँति अद्वैतरूप ही है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! संसारको स्वप्नकी भाँति मिथ्या समझ लेनेमात्रसे कौन-सा अभीष्ट फल सिद्ध होता है ? स्वप्न आदिमें पदार्थोंकी साकारता कैसे शान्त होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अध्यात्मशास्त्रके पूर्वापरके विवेकपूर्वक विचारसे ज्ञानोदय होनेपर पदार्थोंमें साकारता या स्थूलताकी भावना शान्त हो जाती है। वे सब-के-सब चिन्मय ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा अटल निश्चय हो जाता है। इसी तरह स्वप्नके पदार्थोंमें भी (जागनेपर) स्थूलताकी भावना निवृत्त हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—जिसकी भावना स्थूलताको छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्मताको प्राप्त हो गयी है, वह जगत्‌को कैसा देखता है ? उसका यह संसारभ्रम कैसे शान्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वासनाके क्षीण हो जानेपर पुरुष जगत्‌को उजड़ा हुआ, असत्‌के सदृश, आकाशमें दीखनेवाले गन्धर्वनगरके समान और वर्षाद्वारा मिटाये गये चित्रके तुल्य देखता है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! वासनाके क्षीण हो जानेपर जिसके लिये जगत्‌की स्थिति स्वप्नके तुल्य हो जाती है, उस पुरुषकी जागतिक पदार्थोंके विषयमें जब स्थूलताकी भावना मिट जाती है, तब फिर क्या होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिसकी दृष्टिमें जगत् केवल संकल्परूप है, उस पुरुषकी वह अति सूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर क्रमसे विलीन हो जाती है।

इस तरह सर्वथा वासनाशून्य होकर वह शीघ्र ही निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जो अनेक जन्मोंसे बद्धमूल अनेक शाखा-प्रशाखाओंसे सुशोभित तथा जन्म-मरणरूपी बन्धनमें डालनेवाली है, वह घोर वासना किस उपायसे पूर्णतः शान्त हो जाती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! यथार्थ तत्त्वज्ञानसे जब यह भ्रममात्र दृश्यचक्र स्थूलरूपतासे रहित अनुभूत हो जाता है, तब क्रमशः उसकी वासनाका क्षय होने लगता है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जब दृश्यचक्र स्थूलाकारतासे रहित अनुभूत हो जाता है, तब और क्या होता है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! स्थूलाकारताका भ्रम मिट जानेपर जब जगत्‌की केवल चित्तमात्ररूपता अवगत हो जाती है और चित्तवृत्तियोंके निरोधसे जगत्‌में गौरवबुद्धि नहीं रहती है, तब जगत्‌के प्रति होनेवाली आस्था शान्त हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! चित्त कैसा है ? उसका विचार कैसे किया जाता है ? और उसके स्वरूपका भलीभाँति विचार कर लेनेपर क्या होता है ? यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! चेतनका चेतनीय विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही चित्त कहलाता है। इस समय जो चर्चा चल रही है। यही इसका विचार है। इससे इसकी वासना शान्त हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! चित्तके रहते हुए चेतनका अचेत्य परमात्माकी ओर उन्मुख होना कितनी देरके लिये सम्भव हो सकेगा ? (क्योंकि चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर ही परमात्मामें अटल स्थिति हो पाती है) अतः यह बताइये कि निर्वाण-पद प्रदान करनेवाली जो चित्तकी अचित्तता है, उसका उदय कैसे हो सकता है ? (दूसरे शब्दोंमें चित्तके नाशका ही उपाय बतानेकी कृपा करें।)

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जब चेत्य जगत्‌की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, तब चितिशक्ति जीवात्मा कैसे और कहाँसे उसका चिन्तन या अनुभव करेगा ? चेत्यकी सत्ता न होनेसे चित्तकी सत्ता भी चिरकालसे ही नहीं है। फिर किसके नाशका उपाय बताया जाय ?

श्रीरामजीने पूछा—जिस चेत्यका सबको अनुभव होता है, उसका होना कैसे सम्भव नहीं है ? जिसका अनुभव हो रहा है, उसका इस तरह अपलाप, उसकी सत्ताको अस्वीकार कैसे किया जा रहा है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अज्ञानीकी दृष्टिमें जो जगत्‌-का स्वरूप है, वह सत्य नहीं है और ज्ञानीकी दृष्टिमें उसका जैसा स्वरूप है, वह अद्वितीय ब्रह्ममय होनेके कारण वाणीका विषय नहीं है। (अतः यहाँ अज्ञानियोंके ही जगत्‌की सत्ताका निराकरण किया गया है।)

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! अज्ञानियोंका त्रैलोक्य कैसा है और वह सत्य कैसे नहीं है तथा तत्त्वज्ञानियोंका जगत् जैसा है, वह वाणीका विषय कैसे नहीं हो सकता ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अज्ञानियोंका जो जगत् है, वह आदि-अन्तसे युक्त तथा द्वैतरूप है। परंतु तत्त्व-ज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह नहीं है। उनकी दृष्टिमें जगत्‌की सत्ता सम्भव ही नहीं है; क्योंकि आदिकालसे ही कभी उसकी उत्पत्ति नहीं हुई।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जो आदिकालसे ही उत्पन्न नहीं हुआ, उसकी सत्ता कभी सम्भव नहीं है। वह असद्रूप और आभासशून्य है। यदि जगत्‌का भी यही स्वरूप है तो उसका अनुभव कैसे हो रहा है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जाग्रत्-जगत् स्वप्न जगत्के समान असत् होता हुआ ही सत्के तुल्य प्रतीत हो रहा है। इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई; क्योंकि उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है। यह स्वप्नके तुल्य प्रकट होकर अर्थ-क्रियाकारी भी प्रतीत होता है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! स्वप्न आदिमें और संकल्प एवं मनोरथ आदिमें जो दृश्यका अनुभव होता है, वह जाग्रत् व्यवहारके अनुभवसे उत्पन्न जाग्रत्-रूप संस्कारसे होता है। किंतु यह जाग्रत् किससे अनुभवमें आता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! यदि जाग्रत्के संस्कारसे ही स्वप्नका भान होता है तो सपनेमें गिरा हुआ अपना घर कैसे प्रातःकाल जागनेपर सुरक्षित रूपसे उपलब्ध होता है।

श्रीरामजी बोले—भगवन् ! जाग्रत्-पदार्थका स्वप्नमें भान नहीं होता; किंतु अन्य पदार्थ ही स्वप्नमें भासित होता है। वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है, यह बात मेरी समझमें आ गयी। अब इतना ही पूछना शेष है कि वह अन्य पदार्थरूप ब्रह्म अपूर्व जगत्के रूपमें कैसे भासित होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! सब कुछ अपूर्व-सा ही भासित होता हो, ऐसा नियम नहीं है। कोई पदार्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ है, चित्तमें अपूर्व प्रतीत होता है और कोई जिसका पहले अनुभव हो चुका है, अपूर्व नहीं प्रतीत होता। वह अनुभव सृष्टि-के आदि, अन्त और मध्यमें किये हुए अभ्यासके अनुसार ही भासित होता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! इस तरह आपके उपदेश-से यह बात तो समझमें आ गयी कि जाग्रत्-जगत् भी स्वप्नके समान ही है। किंतु यह स्वप्न-तुल्य प्रतीत होनेवाला जगत्‌रूपी यक्ष भी क्रूर ग्रहकी भाँति कष्ट देता है। अतः किस प्रकार इस रोगकी चिकित्सा की जाय?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! यह जो संसार-रूपी स्वप्न है, इसका क्या कारण हो सकता है? कार्य-से कारण भिन्न नहीं है, यह बात सर्वत्र देखी गयी है। इस प्रकार इस विषयमें विचार करो।

श्रीरामजी बोले—स्वप्नकी उपलब्धिका कारण है चित्त। इसलिये स्वप्न-जगत् चित्तरूप ही है। इसी प्रकार आप-के विचारसे यह जाग्रत्-जगत् भी जो आदि-अन्तसे रहित और असार है, चित्तरूप ही है। इस निश्चयसे जगत्-रूपी रोगकी चिकित्सा स्वतः सिद्ध है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते ! मैं कह चुका हूँ कि चेतनका चेत्यकी ओर उन्मुख होना ही चित्त है। इस दृष्टिसे चित्त महान् चैतन्यघन ही है। वही जगत्के आकारमें स्थित है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्न, जाग्रत् आदि कुछ भी चिन्मय ब्रह्मसे भिन्न नहीं है; क्योंकि आदिकालसे ही यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। इसलिये यह सारा दृश्यमान प्रपञ्च अजर-अमर, शान्त, अजन्मा एवं अखण्ड सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है।

श्रीरामचन्द्रजी बोले—भगवन् ! आपके सदुपदेशसे मैं यह मानता हूँ कि जीवात्माको भ्रान्तिके कारण द्रष्टापन और भोक्तापनके साथ सृष्टिके जन्म नाश आदि सारे भ्रम परमपद-स्वरूप परब्रह्ममें प्रतीत हो रहे हैं।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र ! जो रससे भी रस-तत्त्वके ज्ञाता हैं—सारसे भी सार वस्तुको मथकर निकालने और जाननेमें समर्थ हैं, ऐसे विद्वानोंकी विचार-व्यापारसे युक्त जो कोई नवीन दृष्टि है, वह पहली है तथा समस्त विचारों और शास्त्रके श्रवण, मनन, निदिध्यासनके परिपाकसे परिनिष्ठित जो परम तत्त्वरूप अर्थ है, उसका अपरोक्ष अनुभव करानेवाली जो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माओंकी दृष्टि है, वह दूसरी है। उन्हीं दो दृष्टियोंका अवलम्बन करके मैंने सम्पूर्ण विश्वके स्वरूपपर तबतकके लिये इस प्रकार विचार किया और विचार करना आवश्यक समझा है, जबतक कि यह बोध न हो जाय

कि जितनी भी दृष्टियाँ और उनके द्रष्टाके द्रष्टापन हैं, वे सब त्रिकालमें भी नहीं हैं। सारा जगत्-असत् है—शून्य है। उसकी प्रतीति भ्रममात्र है। वस्तुतः तो न कोई शून्यता है और न भ्रम ही है। नित्य-निरन्तर, सर्वत्र एकमात्र अपरोक्ष परमानन्दस्वरूप परब्रह्म ही विराजमान है। (सर्ग १९०)

अज्ञानसे ब्रह्मका ही जगत्‌रूपसे भान होता है। वास्तवमें जगत्‌का अत्यन्ताभाव है और एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है, इस तत्त्वका प्रतिपादन

श्रीरामजी बोले—मुनिश्रेष्ठ ! यदि ऐसी बात है तब तो यह सारा जगत् सदा सर्वपदार्थरूप परमार्थमय ब्रह्म ही है, जो न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट ही होता है। जगत्‌की प्रतीतिके रूपमें यह भ्रान्ति ही भासित हो रही है। तात्त्विक दृष्टिसे तो वह भ्रान्ति भी नहीं है, केवल परब्रह्मकी ही सत्ता है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! दृश्यकी उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण न द्रष्टा है और न दृश्य ही है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदिकी त्रिपुटी कुछ नहीं है। केवल निर्विकार चिदाकाश ही है। जैसे स्वप्न आदिमें एक ही पुरुष द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीरूप होता है, वैसे ही जाग्रत्‌में भी एकमात्र वह जीवात्मा ही स्वयं द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीको धारण करके विराजमान होता है। अतः भासने योग्य पदार्थ, भान तथा भासक स्वयंप्रकाश चेतन ही है, सर्ग आदिमें सृष्टिके तुल्य स्फुरित होता हुआ वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। अज्ञानी लोगोंको यह सृष्टि भले ही आश्चर्यके तुल्य प्रतीत हो। परंतु ज्ञानी महात्माओंकी दृष्टिमें तो यह स्वभावभूत ब्रह्मरूप ही है। सृष्टिके आदिमें जब कि एक विशुद्ध चेतन ही विद्यमान है, तब उसमें संसारकी उत्पत्तिका क्या कारण हो सकता है ? दृश्यकी सत्ता किसी तरह भी सम्भव न हो सकनेके कारण केवल ब्रह्म ही जगत्‌रूपसे भासित हो रहा है। इस तरह चिदाकाशस्वरूप परमात्मा ही सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिरूपसे स्फुरित होता है। अतः यह जो जगत् है, परमात्मा ही है। शून्यता और आकाशके भेदकी कल्पनाके समान जगत् और ब्रह्मके भेदकी कल्पना भी अज्ञानमात्र ही है। श्रीराम ! इस तत्त्वको समझ लेनेपर भी जबतक यह सुन्दर अनुभवसे युक्त एवं दृढ़ न हो जाय, तबतक साधकको पाषाणकी भाँति मौन एवं निर्विकल्प होकर एकमात्र परमात्मामें ही स्थित रहना चाहिये। जिन विषयभोगोंको बार-बार भोगकर परम वैराग्यके कारण त्याग दिया गया है, उन्हें अज्ञानी पुरुषोंके कहनेपर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। (सर्ग १९१)

श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे ज्ञानी महात्माकी स्थितिका एवं अपने परब्रह्मस्वरूपका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी बोले—मुने ! यहाँ सब कुछ शान्त, आलम्बनरहित, विज्ञानस्वरूप, अनन्त, रागशून्य, कल्पना-रहित एवं विशुद्ध अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त न यह दृश्य है न द्रष्टा है न सृष्टि है, न जगत् है, और न जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि ही है। यह जो कुछ दीखता है वह सब असत् ही है। मुने ! इस भ्रान्तिकी उत्पत्ति कहाँसे होती है ? इस बातका विचार करना भी उचित नहीं है; क्योंकि भ्रान्तिके अभावका अनुभव हो जानेपर भ्रान्ति रहती ही नहीं, तब उसके कारणका विचार करना कहाँतक संगत हो सकता है ? निर्विकार एवं ज्ञानस्वरूप परब्रह्ममें भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। यह जो भ्रान्तिरूपताका ज्ञान है वह

भी ब्रह्मरूप ही है । ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । जैसे मृगतृष्णामें जलका, गन्धर्वनगरका और नेत्रदोषके कारण उत्पन्न दो चन्द्रमाका भ्रम विचारसे उपलब्ध नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या नामक भ्रमकी भी विचारसे उपलब्धि नहीं होती। मुने! वह भ्रान्ति कहाँसे आयी और क्यों आयी, यह प्रश्न भी यहाँ शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जो वस्तु है, उसीपर विचार करनेसे लाभ होता है । जो है ही नहीं, उसपर विचार करनेसे क्या लाभ होगा ? इसलिये कभी कोई भ्रान्ति सम्भव नहीं है । यह आवरणरहित नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही सब ओर व्याप्त है। आज यहाँ जो कुछ भी जगत् भासित होता है, यह परब्रह्म ही है । निरतिशय आनन्दसे परिपूर्ण परब्रह्ममें यह पूर्ण परब्रह्म ही विराज रहा है । जन्मरहित, अमर, इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेके अयोग्य, श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित, निर्विकार तथा सब ओरसे निर्दोष परमपदरूप परमात्मा ही सब ओर परिपूर्ण हो रहा है । वही 'अहम्' (मैं) पदसे कहा गया है । फिर भी वह अहंकारसे सर्वथा रहित है । अनेक रूपसे प्रतीत होनेपर भी वह एक है तथा विशुद्ध एवं सदा प्रकाशमान है ।

आदि, मध्य और अन्तसे रहित जिस परमपदको देवता तथा ऋषि भी नहीं जानते हैं, वही यह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है । कहाँ है जगत् और कहाँ उसकी दृश्यता ? द्वैत और अद्वैतकी भावनाको उभाड़नेवाले जो वाक्य संदेह और भ्रम हैं, उनसे हमारा क्या प्रयोजन है ? वास्तवमें सबका आदि, अनामयस्वरूप एक परम शान्त ब्रह्म ही परिपूर्ण है । अपरिच्छिन्न उदयवाले—सर्वव्यापी इस परब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर अज्ञानीकी दृष्टिमें स्फुरित होनेवाला संसाररूपी पिशाच तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें नष्ट हो जाता है । वह जडकी भाँति व्यवहारमें लगा हो तो भी उस ज्ञानीकी पूर्वकी भेदबुद्धि उसी तरह गल जाती है, जैसे जलके भीतर लहर नष्ट हो जाती है । यहाँ वास्तवमें न तो अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुखका उदय ही है । विद्या-अविद्या, सुख-दुःख—सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है । जितना और जो भी यहाँ है, वह सब विशुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है । ब्रह्मन् ! वह ब्रह्म मैं ही हूँ। सदा ही सब कुछ एकमात्र मैं ही हूँ । मेरा कहीं अन्त नहीं है । मैं परम शान्त हूँ, सब कुछ हूँ, अथवा कुछ नहीं हूँ । एकमात्र सत्-स्वरूप ही हूँ अथवा वह भी नहीं हूँ, मैं ही परम आश्चर्यरूप निर्वाण नामक परमशान्ति-स्वरूप हूँ । (सर्ग १९२-१९३)

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बोधके पश्चात् होनेवाली शान्त एवं संकल्पशून्य स्थितिका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुने ! जिसको बोध प्राप्त हो गया है, वह ध्यानस्थ महात्मा केवल अपने चित्स्वभावमें स्थित रहता है । वह न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्याग ही करता है । समाधि या ध्यानसे उठनेपर भी वह सदा जैसे-का-तैसा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है, जैसे दीपक प्रकाश फैलाता हुआ भी कुछ करता नहीं है, वैसे ही ज्ञानी सब कुछ देखता हुआ भी निष्क्रिय बना रहता है । वह मनके मननसे युक्त होनेपर भी कहीं आसक्त न होनेके कारण वास्तवमें मन, अभिमान और मननसे रहित ही है । उस योगीको समाधिसे उठनेपर विश्वरूप नामक और समाधिकालमें ब्रह्म नामक चिन्मात्रस्वरूप परमार्थ सत्यका ही सर्वत्र दर्शन होता है । उसे सृष्टि और संहार सब चिन्मात्र ही प्रतीत होते हैं । संसार त्रिविध तापोंसे अत्यन्त संतप्त है और निर्वाण अत्यन्त शीतल है (क्योंकि उसमें समस्त तापोंकी शान्ति हो जाती है) । वास्तवमें अत्यन्त शीतल निर्वाण ही शाश्वत है । यह तप्त संसार तो तीनों कालोंमें है ही नहीं । जैसे स्वप्नमें अपने भाई-बन्धुके मरने या जीनेपर भी स्वप्नसे जगे हुए पुरुषकी उस स्वप्नगत

वृत्तान्तमें सत्यता-बुद्धि नहीं होती (अतएव उसे वहाँकी घटनासे हर्ष और शोक नहीं होते हैं) । वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुषको दृश्य पदार्थोंमें सत्यता-बुद्धि नहीं होती (इसलिये अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओंसे उसे हर्ष-शोकका अनुभव नहीं होता ।) भगवन् ! सम्यक् ज्ञान होनेपर देहसे सम्बन्ध रखनेवाले भोगपदार्थों और उनकी प्राप्तिके उपायोंसे ज्ञानीको उसी तरह सर्वथा विरक्ति रहती है, जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषकी स्वप्नगत पदार्थोंमें ममता और आसक्ति नहीं रहती । वैराग्यसे बोधकी और बोधसे वैराग्यको वृद्धि होती है । वे दीवाल और प्रकाशके समान एक-दूसरेसे अभिव्यक्त होते हैं । अन्धकारमें दीपक जलानेसे दीवाल अभिव्यक्त होती है और दीवालपर पड़नेसे प्रकाशकी विशेष अभिव्यक्ति होती है । जिस बोधसे वैराग्य सम्पन्न होता है, वस्तुतः उसीका नाम बोध है । जिससे धन, स्त्री, पुत्र आदिकी सुख-सुविधा-बुद्धि पहलेसे भी बढ़ जाती हो, वह बोध या बुद्धिमानीके रूपमें जडता ही स्थित है । बोधका बोधत्व इतना ही है कि उससे वैराग्यकी वृद्धि हुई अर्थात् वैराग्य होनेसे ही बोध सार्थक समझा जाता है । जिस पुरुषमें वैराग्य नहीं है, उसकी विद्वत्ता भी मूर्खता ही है । बोध और वैराग्यरूपी उत्कृष्ट सम्पत्ति ही मोक्ष कहलाती है । उस मोक्षरूप अनन्त शान्तपदमें स्थित हुए पुरुषको कभी शोक नहीं करना पड़ता । जो सदा अपने आत्मामें ही रम रहा है, शान्त, विरक्त एवं अहंकाररहित हो गया है, उस ज्ञानी पुरुषकी आकाशके समान संकल्प-रहित एवं निर्मल स्थिति हो जाती है । सहस्र-सहस्र प्रयत्न-शील पुरुषोंमेंसे कोई विरला ही ऐसा बलवान् और उत्साही होता है, जो उठकर वासनाजालको उसी तरह छिन्न-भिन्न कर देता है, जैसे कोई-कोई सिंह पिंजड़ेको तोड़ डालता है । जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उस पुरुषके भीतर वासनाशून्य भाव प्रकट होनेपर उसे यह सुदृढ़ बोध प्राप्त हो जाता है कि सारा दृश्य ब्रह्म ही है । इससे उसकी बुद्धि एकमात्र निर्वाणरूप परब्रह्ममें ही सुस्थिर हो जाती है । तत्पश्चात् उसमें मोक्ष नामक अनन्त शान्तिका उदय होता है । (सर्ग १९४)

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा जगत्की असत्ता एवं 'सर्वं ब्रह्म' के सिद्धान्तका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! ज्ञानवान् पुरुषकी समाधि-अवस्थामें अथवा व्यवहारकालमें जो शिलाके समान घनीभूत निश्चल स्थिति है, वह निर्मल मुक्ति कहलाती है । राघव ! पाप और दुःखका निवारण करनेवाले उस मोक्षपदमें स्थित होकर हमलोग समाधि और व्यवहारमें भी इसी तरह समभावसे रहते हैं ।

श्रीराम बोले—महान् ! जैसे मृगतृष्णामें जल, समुद्र आदिके जलमें तरङ्ग और भँवर, सुवर्णमें कटक-कुण्डल आदि आभूषण तथा स्वप्न और संकल्पमें पर्वत—ये सब बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ब्रह्ममें यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, कभी प्रकाशमें नहीं आया । उसका आरम्भ भी नहीं हुआ और उसमें कोई आकार भी नहीं है । इस प्रकार सर्वथा असत् होकर भी वह अज्ञानियोंको भासित होता है । पहले ही यह कुछ भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि इसकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है । इसलिये वन्ध्यापुत्रके समान इस जगत्की सत्ता केवल काल्पनिक है । कल्पनाके सिवा और किसी रूपमें इसकी सत्ता नहीं है । इस जगत्-भ्रान्तिका कारण ही क्या है, जिससे यह प्रकट होती ? कारणके बिना किसी भी कार्यका होना कहीं भी सम्भव नहीं है । वस्तुतः निर्विकार, अजर, अमर ब्रह्म भी इसका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वावस्थाका क्षय हुए बिना कोई भी वस्तु यहाँ कहीं भी सविकार नहीं हो सकती । यदि वाणीका अविषय ब्रह्म ही कारणरूपसे विद्यमान है तो कहाँ, किसको और किस प्रकार जगत् शब्दके अर्थकी प्रतीतियाँ होंगी । वास्तवमें यह जगत् आकाशके समान निर्मल, शिलाके समान घनीभूत

और पाषाणके समान मौन, शान्त, अक्षय ब्रह्म ही है। यह परम समस्वरूप, एक, अनादि, अनन्त, शान्त ब्रह्म, महाकाश ही है। इसमें जगत्‌की बात ही कहाँ है? जैसे जलमें लहरोंके उठने और शान्त होनेसे जलमें भिन्नता नहीं आती, उसी प्रकार ब्रह्ममें सृष्टि और प्रलयसे भी कोई भिन्नता नहीं आती। सारासार-तत्त्वके ज्ञाता कोई महात्मा पुरुष इस विशुद्ध परमपदमें उसी तरह एकताको प्राप्त हो जाते हैं, जैसे जलकी बूँद जलराशिमें मिलकर एक हो जाती है। परब्रह्म परमात्मामें परब्रह्मस्वरूप ही जो अपर जगत्—भासित होता है, वह विचार करनेसे परब्रह्म ही सिद्ध होता है; क्योंकि निर्मल, शान्त, परब्रह्ममें जगत् और उनके व्यवहारोंका होना सम्भव नहीं है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—रघुनन्दन! यदि ऐसा मान ले कि यह दृश्य जगत् कारणभूत ब्रह्ममें उसी प्रकार स्थित है, जैसे बीजमें अङ्कुर तो यहाँ सृष्टि आदिकी सत्ता कैसे नहीं सिद्ध हो सकती?

श्रीरामने कहा—मुने! बीजमें अङ्कुर यदि अङ्कुररूपसे ही रहता तो उसमें ढूँढ़नेपर मिलता। किन्तु बीजको फोड़कर देखनेपर वह दिखायी नहीं देता है। यदि कहीं बीजके भीतर अवयवोंकी सूक्ष्म सत्ता है तो वह तो बीज ही है, अङ्कुर नहीं है। ब्रह्मके भीतर भी जगत्‌की सत्ता इसी तरह सिद्ध नहीं होती है। जो जगत्-सत्ता उपलब्ध होती है, वह यदि सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें हो तो वह तो नित्य ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म अविकारी है। अतः ब्रह्मसे भिन्न जगत्‌की सत्ता कदापि सिद्ध नहीं होती है। यह जो कोई अनिर्वचनीय जगत् दीखता है, तत्त्वज्ञान हो जानेपर अनुभवमें ही नहीं आता है। अज्ञानावस्थामें भी प्रतीत होनेके कारण सत्ता और वस्तुतः असत्तासे परिपुष्ट यह जगत् स्वानुभवैकगम्य होनेसे अनिर्वचनीय ही है। सारा प्रपञ्च परम शान्त, निष्क्रिय, अखण्ड, आभासशून्य, अनादि, अनन्त एवं स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। मुझे अपने उस परमात्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव है, जो जन्म और मृत्युसे रहित, शान्त, अनादि, अनन्त, महान् उपाधिशून्य और निराकार है। जो संवित् (चित्तवृत्ति) भीतर स्फुरित होती है, वही वाक्यरूपमें बाहर प्रकट होती है। जैसे जो बीज भूमिमें बोया गया है, वही अङ्कुररूपसे प्रकट होता है। यह जगत् अज्ञानीकी दृष्टिमें सत्य है और ज्ञानवान्‌की दृष्टिमें मिथ्या। जो इसे ब्रह्म-रूपमें देखता है, उसके लिये ब्रह्म है तथा जो शान्त महात्मा पुरुष हैं, उनके लिये यह शान्त होकर अन्तमें शून्यरूप ही रह जाता है। ब्रह्मन्! मैं चिदाकाश हूँ। आप चिदाकाश हैं। चित् चिदाकाश है। जगत् चिदाकाश है और चिदाकाश स्वयं चिदाकाश है। आप एकमात्र चिदाकाश-भावको प्राप्त हो एकाकाशरूपतामें ही स्थित हैं। गुरुदेव! आप मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं और ब्रह्माकाशभावमें ही स्थित हैं। मैं अपने आकाशतुल्य विशुद्ध स्वरूपानुभवके द्वारा सर्वात्मक चिदाकाश-सदृश आपको ज्ञेय, पूर्णानन्द ब्रह्मसे अभिन्न जानकर प्रणाम करता हूँ। वास्तवमें चित् स्वरूप होनेके कारण ही यह जगत् बिना किसी कारणके ही उसमें उत्पन्न और विलीन होता-सा भासित होता है। अतः यह निर्मल परमाकाशरूप ही है। सम्पूर्ण शास्त्रीय युक्तियों तथा समस्त पदोंसे अतीत जो निर्द्वन्द्व ब्रह्मपद है, उसीको पाकर आप ब्रह्माकाशस्वरूप हो गये हैं। समस्त शास्त्रोंके अर्थोंसे परे, चिह्न अथवा आकारसे रहित, नामरूपसे हीन, अनुभव-स्वरूप, शुद्ध, चिन्मय, एक, अजन्मा एवं सबका आदि निर्मल चिदाकाश ही यहाँ विराजमान है। उसमें किसी प्रकारके नामकी कल्पनाके लिये स्थान नहीं है। उस ब्रह्ममें मलकी आशङ्का ही व्यर्थ है—वह नित्य निर्मल सच्चिदानन्दघन है। (सर्ग १९५)

श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नके अनुसार उत्तम बोधकी प्राप्तिमें शास्त्र आदि कैसे कारण बनते हैं, यह बतानेके लिये श्रीवसिष्ठजीका उन्हें कीरकोपाख्यान सुनाना—लकड़ीके लिये किये गये उद्योगसे कीरकोंका सुखी होना

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले गुरुदेव ! जो यह सत्स्वरूप ब्रह्म केवल अपने अनुभवसे ही जानने योग्य है, बड़े-बड़े महापुरुषोंकी वाणी भी इसका यथार्थ निरूपण नहीं कर सकती। ऐसी अवस्थामें समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित जो परम ज्ञेय ब्रह्म स्वयं प्रकाशरूप है तथा जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे अतीत तुरीयरूपसे उपलब्ध होता है, वह अत्यन्त दुर्गम (दुर्बोध) हो गया है (क्योंकि गुरु और शास्त्र आदि जाग्रत् अवस्थाके ही अन्तर्गत हैं। उनसे) उस तुरीय पदका ज्ञान होना कठिन है। विकल्परूपी सारवाले शब्द-अर्थरूप शास्त्रोंसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। फिर भ्रान्तिरूप अनर्थपरम्पराकी प्राप्तिके लिये गुरु, शास्त्र आदिकी कल्पना क्यों की गयी है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र ! गुरु और शास्त्र आदि जिस प्रकार उत्तम बोधके प्रति कारण होते हैं, वह संक्षेपसे बताता हूँ, सुनो—कभीकी बात है, कीरक देशमें कुछ ऐसे लोग थे, जो बहँगी ढोकर जीवन-निर्वाह करते थे। वे चिरकालसे दरिद्रता एवं दुर्भाग्य-का सामना करते थे। दुःखसे वे इस तरह सूख गये थे, जैसे ग्रीष्मकी प्रचण्ड धूपसे पुराने पेड़ सूख जाते हैं। वे चिथड़ोंकी गुदड़ी सीकर उसे ओढ़ते थे। दुरन्त दरिद्रताके कारण उनका मुँह उदास और हृदय दुखी रहता था। जैसे तालाबका पानी निकल जानेसे कमल सूखने लगते हैं, उसी तरह वे भी क्षीण हो रहे थे। अपनी दुर्गतिसे संतप्त होकर उन लोगोंने आजीविकाके लिये विचार किया कि हम लोग किस युक्तिसे अपना पेट भर सकते हैं। इस विषयपर विधिपूर्वक सोच-विचारकर वे इस निश्चयपर पहुँचे कि हमलोग दिनभर सुबहसे शामतक लकड़ीका बोझ ढोयेंगे और उसीको बेचकर जीविका चलायेंगे। ऐसा निश्चय करके वे लकड़ी लानेके लिये वनके भीतर गये। वे जिस किसी युक्तिसे जीविका चलाते थे, वही आपत्तिमें पड़ जाती थी। वे जिस दिन जो कमाते, उसी दिन वह खा जाते थे। इस तरह प्रतिदिन जंगलमें जाकर वहाँसे लकड़ी लाने और उसे बेचकर किसी तरह जीवन-निर्वाह करने लगे। जिस वनके भीतर वे जाते थे, उसमें गुप्त और प्रकटरूपसे सब प्रकारके रत्न, उत्तमोत्तम काष्ठ और सुवर्ण भी थे। उन बोझ ढोनेवाले लकड़हारोंमेंसे कुछ लोग कुछ ही दिनोंमें उन सुवर्णों और रत्नोंको भी पा गये। मानद ! कुछ कीरकनिवासी चन्दनकी लकड़ियाँ, कुछ अच्छे-अच्छे फूल और फल ला-लाकर बेचते और चिरकाल-तक उनसे जीविका चलाते रहे। कुछ खोटी बुद्धिवाले भाग्यहीन लोग, जो वनकी गलियोंमें घूम-घूमकर जीविका चलानेवाले थे, कभी अच्छी चीजोंको न पाकर खराब लकड़ियाँ ही लाते और उन्हें बेचकर जीवन-निर्वाह करते थे। लकड़ी लानेके लिये उद्यत रहनेवाले वे सब लोग एक बार एक महान् जंगलमें पहुँच गये। वहाँ कुछ लोग उत्तमोत्तम रत्न आदि पाकर दरिद्रतारूपी ज्वरसे शीघ्र ही मुक्त हो गये। एक दिन उस वनके एक प्रदेश-से एक लकड़हारेको चिन्तामणि नामक मणि प्राप्त हो गयी। उस चिन्तामणिसे उन्हें सारे धन-वैभव मिल गये। और वे सभी वहाँ परम सुखी हो बड़े आनन्दसे रहने लगे। लकड़ी लानेके लिये उद्यत होकर वे वनमें जाते थे किन्तु सौभाग्यवश उन्हें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंको देनेवाली मणि मिल गयी और वे स्वर्गके देवताओंकी भाँति निर्द्वन्द्व हो सुखसे रहने लगे। लकड़ीके लिये किये गये उद्योगसे ही बहुमूल्य चिन्तामणि पाकर वे उसके द्वारा समस्त धन-वैभवके सार-सर्वस्वसे सम्पन्न हो महान्

बन गये। उनके दरिद्रताजनित भय, मोह, विषाद और दुःख सदाके लिये मिट गये और वे मन-ही-मन आनन्दमें मग्न रहकर दूसरी लाभ-हानिके विषयमें समताको प्राप्त हो गये। (सर्ग १९६)

कीरकोपाख्यानके स्पष्टीकरणपूर्वक आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें शास्त्र एवं गुरूपदेश आदिको कारण बताना

श्रीरामचन्द्रजी बोले—दूसरोंको मान देनेवाले मुनिश्रेष्ठ! ऐसी कृपा कीजिये जिससे बहँगी ढोनेवाले उन कीरकोंके इस प्रसंगका तात्पर्य भलीभाँति समझमें आ जाय और कोई संदेह न रह जाय।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महातपस्वी श्रीराम! ये जो भूमण्डलके मनुष्य हैं, ये ही वे बहँगी ढोनेवाले कीरक हैं और उनका जो दारिद्र्यजनित दुःख था, वह इन मनुष्योंका महान् अज्ञान है। जो महान् वन बताया गया है, वह सद्गुरु, सत्-शास्त्र आदिका क्रम है। वे जो आहार जुटानेके लिये उद्योगशील थे, उसके द्वारा इन भोगार्थी मनुष्योंकी ओर संकेत किया गया है। अत्यन्त कृपण मनुष्य अन्य सब कार्योंकी उपेक्षा करके मुझे भोगराशियाँ प्राप्त हों, इस उद्देश्यसे शास्त्र आदिमें—उनके बताये हुए उपायोंमें प्रवृत्त होता है। भोगपरवश होकर भोग-सामग्रीके लिये ही शास्त्रोंमें प्रवृत्त होनेपर भी जीव क्रमशः अभ्यास करके अपने लिये परम अभीष्ट आदिपद (परब्रह्म परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है। जैसे लकड़ीके लिये उद्यत हुए भारवाहकको मणि प्राप्त हो गयी, वैसे ही भोग-संग्रहके लिये शास्त्रमें प्रवृत्त हुए मनुष्य भी निष्काम भावसे शास्त्रोक्त साधनोंका अनुष्ठान करके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं। कोई-कोई यह सोचकर कि 'देखूँ तो शास्त्र और विवेक-विचारसे क्या लाभ होता है' यों सन्देहयुक्त कौतूहलवश शास्त्रोंमें प्रवृत्त होता है। फिर तदनुकूल साधन करके उत्तम पदको प्राप्त कर लेता है। जिसे परब्रह्मरूप उत्तम तत्त्वका साक्षात्कार नहीं हुआ, वह पुरुष धन और भोगके लिये सन्देहपूर्वक शास्त्र आदिमें प्रवृत्त होता है (जब उसे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेसे शास्त्र आदिपर पूरा विश्वास हो जाता है, तब तदनुकूल पारमार्थिक साधनोंका आश्रय लेकर) वह उस परमपदको प्राप्त कर लेता है। लोग अपनी वासनाके अनुसार किसी और ही प्रकारके फलकी आशासे शास्त्रोक्त साधनोंमें प्रवृत्त होते हैं, परन्तु बहँगी ढोनेवाले कीरकोंको जैसे मणि मिल गयी, वैसे ही उन्हें भी और ही उत्कृष्ट-फल (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है।

जो स्वभावसे ही निरन्तर परोपकारमें लगा होता है, वह साधु कहा गया है। उसकी चेष्टा, उसका आचार-व्यवहार सबके लिये प्रमाण होता है। साधु पुरुषोंके सदाचारसे प्रेरित होकर ही अज्ञानी लोग शास्त्रोक्त फलमें सदेह रहते हुए भी भोगप्राप्तिकी आशासे शास्त्र आदिमें प्रवृत्त होते हैं। भोगके लिये शास्त्रोक्त कर्ममें प्रवृत्त हुआ पुरुष उससे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेता है, जैसे लकड़ीकी इच्छा रखनेवाले कीरकको वनसे चिन्तामणि प्राप्त हो गयी थी। जिस प्रकार वनसे किसीको चन्दन काष्ठ, किसीको साधारण रत्न और किसीको चिन्तामणि मिल जाती है, उसी प्रकार शास्त्रसे कोई काम, कोई अर्थ, कोई धर्म, कोई धर्म-अर्थ-काम तीनों और कोई सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। रघुनन्दन! शास्त्र आदिमें त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का ही मुख्यरूपसे उपदेश है। ब्रह्मकी प्राप्ति तो वाणीका विषय ही नहीं है। इसलिये ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें भी पद और वाक्योंकी मुख्य वृत्तिसे उसका निरूपण सम्भव नहीं हो सका है। जैसे वसन्त आदि ऋतुओंकी शोभा उनके लाये हुए फूल, फल और पल्लव आदिकी उत्पत्तिसे सूचित होती हुई स्वयं अपने अनुभवसे ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति

शास्त्रके सम्पूर्ण वाक्यार्थोंसे व्यञ्जनावृत्तिद्वारा ध्वनित होती हुई केवल अपने अनुभवसे ही जानी जाती है। जैसे सुन्दरी युवतीमें मणि, दर्पण और चन्द्रमा आदि सबसे बढ़कर स्वच्छ लावण्य उपलब्ध होता है, वैसे ही यद्यपि शास्त्रमें धर्म आदि तीनों वर्गोंसे उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान विद्यमान है, तथापि समस्त पदोंसे परे जो परम बोध है, वह अश्रद्धालु मनुष्यको न तो शास्त्रसे, न गुरुके उपदेश-वाक्यसे, न दानसे और न ईश्वरके पूजनसे ही प्राप्त होता है। रघुनन्दन! ये शास्त्र आदि यद्यपि अश्रद्धालुको ब्रह्म-प्राप्ति करानेमें कारण नहीं हैं, तथापि श्रद्धालुको एकमात्र परमात्मामें विश्राम प्राप्त करानेके पूर्णतः कारण बन जाते हैं; कैसे? सो बताया जाता है, सुनो। शास्त्रका बारबार अभ्यास करनेसे श्रद्धालुका चित्त विशुद्ध हो जाता है, तब वह अनायास शीघ्र ही उस पावन परमपदका साक्षात्कार कर लेता है। सत्-शास्त्रसे अविद्याका सात्त्विक भाग उन्नत बनाया जाता है और उस सात्त्विक भागसे इसका तामसिक भाग क्षीण हो जाता है। सत्-शास्त्ररूपी उत्कृष्ट जलसे अविद्याजनित मलको धोनेवाला पुरुष अचिन्त्य वस्तु-शक्तिके प्रभावसे परम शुद्धिको प्राप्त कर लेता है। जैसे ईखके रससे अपने ही अनुभवसे स्वादिष्ट माधुर्यकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सत्-शास्त्र और सद्गुरुके उपदेशरूप उपायसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थका साररूप आत्मज्ञान प्राप्त होता है। जैसे आकाशमें आलोकके सब ओर फैले रहनेपर भी प्रभा और दीवालके संगसे ही वह सुस्पष्टरूपसे अनुभवमें आता है, उसी प्रकार महावाक्यके श्रवण और उसके अधिकारी पुरुषके योगसे ही आत्मज्ञानका अपरोक्ष अनुभव होता है। वही शास्त्रश्रवण सफल है, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान सफल है, जिससे समता प्राप्त होती है और वही समता सफल है, जिसके जाग्रत् होनेपर जाग्रत्में भी सुषुप्तिकी भाँति परमात्माके स्वरूपमें निर्विकल्प स्थिति हो जाती है। इस प्रकार यह सब कुछ सत्-शास्त्र एवं सद्गुरुके उपदेश आदिसे प्राप्त हो जाता है। इसलिये पूरा प्रयत्न करके सत्-शास्त्र आदिका अभ्यास करना चाहिये। श्रीराम! शास्त्रों-के अर्थका विचार करनेसे, गुरुजनोंके उपदेश-वाक्यसे, सत्संगसे, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-शरण—इन नियमोंके पालनसे और मन एवं इन्द्रियोंको वशमें करनेसे वह सम्पूर्ण विश्वपदसे अतीत, सर्वेश्वर, सबका आदि, अनादि एवं सच्चिदानन्दमय परमपद प्राप्त होता है।*

(सर्ग १९७)

श्रीवसिष्ठजीके द्वारा समता एवं समदर्शिताकी भूरि-भूरि प्रशंसा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलतिलक राम! बोधकी दृढ़ताके लिये मैं पुनः कुछ बातें बता रहा हूँ, सुनो। जो बात बार-बार कही जाती है, वह अज्ञानीके हृदयमें निश्चय ही बैठ जाती है। रघुनन्दन! पहले मैंने स्थिति-प्रकरणका वर्णन किया था, जिससे यह बात भलीभाँति समझमें आ जाती है कि इस प्रकार उत्पन्न हुआ जगत् केवल भ्रममात्र है। तत्पश्चात् उपशमकी युक्तियोंद्वारा यह बात बतायी गयी थी कि इस जगत्में उत्पन्न हुए प्रत्येक पुरुषको उत्कृष्ट उपशमके गुणसे गौरवशाली होना चाहिये। उपशम प्रकरणमें कहे गये उपशमके क्रमिक साधनोंद्वारा मनुष्यका अत्यन्त उपशान्त होकर यहाँ संतापरहित हो जाना चाहिये। जिसने प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त कर लिया है, उस तत्त्वज्ञानी-को सांसारिक व्यवहारोंमें कैसे रहना चाहिये, यह थोड़ी-सी बात मेरे मुँहसे तुम्हें और सुननी है। जगत्में जन्म पाकर

* शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरूणां सत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम।
तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं सर्वेश्वरं परममाद्यमनादिशर्म ॥

(नि० उ० १९७। ३४)

मनुष्यको बाल्यावस्थामें ही जगत्की इस वास्तविक स्थितिका ज्ञान प्राप्त करके यहाँ चिन्तारहित होकर रहना चाहिये। निष्पाप श्रीराम ! जो सबके साथ सौहार्द (मैत्री) को जन्म देनेवाली है और सबको आश्वासन प्रदान करती है, उस समताका पूर्णरूपसे आश्रय लेकर संसारमें विचरण करना चाहिये। समतारूपिणी सुन्दर लताका फल परम पवित्र होता है, जो सम्पूर्ण साधन-सम्पत्तियोंसे युक्त होनेके कारण सुन्दर तथा समग्र सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला है। रघुनन्दन ! जिनकी समग्र चेष्टाएँ समताके कारण सुन्दर होती हैं तथा जो न्यायसे प्राप्त वर्णाश्रम व्यवहारमें लगे रहते हैं, उन महापुरुषोंकी सेवामें यह सारी सांसारिक विभूति सेविकाकी भाँति उपस्थित हो जाती है। समतासे जो सारभूत अक्षय सुख प्राप्त होता है, वह न तो राज्यसे मिल सकता है और न प्रेयसी जनोंके समागमसे ही सुलभ हो सकता है। राघवेन्द्र ! तुम समताको सम्पूर्ण द्वन्द्वोंकी शान्तिकी चरम सीमा, रोषावेश तथा संशयरूपी रोगका नाश करनेवाली और सम्पूर्ण दुःखरूपी आतप (धूप) के तापसे बचानेके लिये मेघ समझो। जो समतारूपी अमृतसे ओतप्रोत है, उसके लिये सारे शत्रु मित्र बन जाते हैं। वह यथार्थदर्शी होता है ऐसा मनुष्य तीनों लोकोंमें दुर्लभ है। प्रबुद्ध हुए अपने चित्तरूपी चन्द्रमाके सारभूत अमृतसे भी बढ़े-चढ़े साम्यका अनुभव करते हुए ही जनक आदि समस्त तत्त्वज्ञ जीवन निर्वाह करते हैं। समताका अभ्यास करनेवाले जीवका क्रोध, लोभ आदि अपना दोष भी शान्ति एवं उदारताके रूपमें परिणत होकर गुण बन जाता है, दुःख भी नित्य-सुख हो जाता है और मृत्यु जीवन बन जाती है।

समतारूपी सौन्दर्यसे सुन्दर लगनेवाले महात्मा-पुरुषको योगशास्त्रवर्णित सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्माके प्रति क्रमसे मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षारूपिणी महिलाएँ सदा गले लगाती हैं। उसके प्रति वे आसक्त-सी रहती हैं। समतासे युक्त पुरुष सदा अभ्युदयशील होता है। समतायुक्त पुरुषके चित्तमें कभी चिन्ताका उदय नहीं होता तथा इस जगत्में ऐसी कोई सम्पत्तियाँ नहीं हैं, जो समतासम्पन्न पुरुषको प्राप्त न हुई हों। जो अपने और पराये सभीके कार्योंमें समभाव रखनेवाला है, साधुस्वभाव (अपराधियोंको भी क्षमा करनेवाला) है, जिसका सबके प्रति उत्तम व्यवहार है तथा जो चिन्तामणिके समान उदार है, ऐसे पुरुषको मनुष्य और देवता सभी चाहते हैं। श्रीराम ! जो सदाचारसम्पन्न और सबका हित करनेवाला है, अत्यन्त प्रसन्न रहता है तथा जिसका चित्त सबके प्रति समान है, ऐसे मनुष्यको न तो आग जलाती है और न जल ही डुबाता या गलाता है। जो पुरुष आनन्द और उद्वेगसे रहित होकर जो कार्य जैसे होना चाहिये, उसे उसी तरह करता है तथा सबको समान दृष्टिसे देखता है, उसकी तुलना करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? सदाचारसम्पन्न और सबका हित करनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुषपर मित्र, बन्धु, शत्रु, राजा, व्यवहारपरायण मनुष्य तथा बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग भी विश्वास करते हैं। तत्त्वज्ञानसम्पन्न समदर्शी पुरुष अपने न्यायप्राप्त स्वाभाविक कर्मकी परम्पराओंमें लगे हुए न तो अनिष्टकी प्राप्तिसे भागते हैं और न इष्टकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट होते हैं। समतासे प्रसन्नचित्तवाले महात्मा पुरुष समस्त देवताओं-द्वारा पूजे जाते हैं। समदर्शी पुरुष जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, न्यायप्राप्त होनेसे जिसपर आक्रमण करता है और अनुचित जानकर जिसकी निन्दा करता है, उसके उन सब कार्योंकी सारी जनता सदा प्रशंसा करती है। समदर्शी पुरुषद्वारा किया गया कार्य शुभ दिखायी दे या अशुभ, देरसे पूरा हुआ हो या आज ही तत्काल हो गया हो, उसे सब लोग उत्तम मानकर उसका अभिनन्दन करते हैं।

लगातार बड़े भयानक सुख-दुःख उपस्थित हों तो भी समदर्शी पुरुष उनसे थोड़ा-सा भी उद्विग्न नहीं होते हैं। राजा शिबिने अपनी इस समदर्शिताके ही कारण शरणमें

आये हुए कबूतरकी रक्षाके लिये प्रसन्नचित्तसे अपना शरीर काटकर निकाला हुआ मांस दे दिया था। प्रिय रघुनन्दन ! समतायुक्त हृदयवाले एक भूपाल (शिखिध्वज) प्राणोंसे भी बढ़कर प्रियतमा भार्याको अपने सामने ही परपुरुषके द्वारा आक्रान्त हुई देख क्षुब्ध नहीं हुए थे। त्रिगर्त देशके राजाने सैकड़ों मनोरथोंसे प्राप्त हुए इकलौते पुत्रको, जो दावमें हारा गया था, अपनी समबुद्धिके ही कारण बिना किसी घबराहटके राक्षसके हाथमें सौंप दिया। राजाओंमें श्रेष्ठ भूपाल जनक उत्सवके लिये सजायी गयी अपनी मिथिलानगरीमें आग लग जानेपर समभावसे ही उसे देखते रहे (उनके मनमें विषाद नहीं हुआ)। समदर्शी शाल्वराजने न्यायतः बेचे गये अपने ही मस्तकको कमलदलकी भाँति तत्काल काट डाला था । सौवीरनरेशने कुन्दपुष्पोंकी राशिके समान कान्तिमान् तथा श्वेतपर्वतके समान सुशोभित ऐरावत हाथीको, जो उन्होंने इन्द्रसे जीता था, यज्ञमें ऋत्विजोंके कहनेसे सूखे तिनकेकी भाँति त्याग दिया—इन्द्रको वापस लौटा दिया। ऐसा उन्होंने अपनी समतायुक्त बुद्धिसे ही प्रेरित होकर किया था। समबुद्धिसे ही अपनी जीविकाके लिये काम-धंधा करनेवाले कुण्डप नामक एक चाण्डालने एक गौको मजदूरीमें लेनेकी शर्त ठहराकर एक ब्राह्मणकी पाँच गौओंको, जो कीचड़में फँस गयी थीं, निकाला और मजदूरीमें मिली हुई उस एक गायको पुष्करतीर्थमें उसी ब्राह्मणके हाथोंमें दान कर दिया था। इससे तत्काल आये हुए विमानपर चढ़कर वह देवलोकको चला गया। समताका भरपूर अभ्यास करनेवाले कदम्बवनवासी एक राक्षसने समस्त प्राणियोंका विनाश करनेवाली अपनी राक्षसी वृत्तिका त्याग कर दिया। बालचन्द्रमाके समान सुन्दर जडभरतने अपनी समबुद्धिताके कारण ही भिक्षामें मिले हुए आगके अङ्गारको गुड़के लड्डूकी भाँति खा लिया था। ऋषि-मुनि और सिद्ध, जो देवताओंद्वारा सम्मानित हुए हैं, वे व्रत एवं तपस्याकी समृद्धिका संचय करते समय समदर्शिताके ही कारण उद्विग्न नहीं हुए थे। रन्तिदेव आदि राजा तथा धर्मव्याध आदि दूसरे साधारण मनुष्य भी समदर्शिताका दृढ़ अभ्यास करनेसे महापुरुषोंके भी पूजनीय हो गये थे। इहलोक और परलोकमें सुखकी सिद्धिके लिये और मोक्षरूप पुरुषार्थमें प्रवृत्तिके लिये भी उत्तम बुद्धिवाले पुरुष सदा समदर्शितासे ही व्यवहार करते हैं। किसी-को भी किसी तरहकी पीड़ा न देता हुआ पुरुष न मरणकी इच्छा करे न जीवनकी। न्यायसे जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसका समतापूर्वक आचरण करता हुआ विचरे। जो समतावश गुण और दोषोंको एक-सा जानता है, जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख और छोटे-बड़े समान हैं, जो मान और अपमानको एक-सा समझता है और प्राप्त व्यवहारोंका भी सुचारुरूपसे सम्पादन करके पवित्र हो गया है। समतासे सुशोभित होनेवाला वह पुरुष सर्वत्र निर्द्वन्द्वभावसे विचरण करता है। (सर्ग १९८)

कर्मोंके त्याग और ग्रहणसे कोई प्रयोजन न रखते हुए भी जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्वभावतः सत्कर्मोंमें ही प्रवृत्तिका प्रतिपादन

श्रीरामने पूछा—मुने ! जीवन्मुक्त पुरुष सदा एकमात्र ज्ञानमें ही स्थित रहते और आत्मामें ही रमते हैं। ऐसी दशामें वे कर्मोंका परित्याग क्यों नहीं कर देते हैं? क्योंकि उन्हें कर्मसे कोई प्रयोजन नहीं है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिसकी हेय दृष्टि और उपादेय दृष्टि अर्थात् अमुक कर्म त्याज्य है और अमुक ग्राह्य है—ये दोनों दृष्टियाँ क्षीण हो गयी हैं, उसे कर्मका त्याग करनेसे क्या प्रयोजन है? अथवा कर्मका आश्रय लेनेकी भी क्या आवश्यकता है? ज्ञानीके लिये इस जगत्में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो उद्वेगकारक होनेके कारण त्याज्य हो अथवा ऐसा कर्म भी नहीं है, जो तत्त्वज्ञके लिये अवश्य करने योग्य होनेसे उपादेय हो। तत्त्वज्ञ

पुरुषको न तो कर्मोंके त्यागसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंका आश्रय लेनेसे। इसलिये वर्ण और आश्रमके अनुसार जो कर्म जैसे होता आ रहा है, उसे वह उसी प्रकार करता रहता है। श्रीराम! जबतक आयु है, तबतक यह शरीर निश्चितरूपसे चेष्टा करता रहता है, अतः वह शान्तभावसे यथाप्राप्त चेष्टा करे। उसका त्याग करनेकी क्या आवश्यकता है? श्रीराम! सदा निर्विकार रहनेवाली समतायुक्त निर्मल बुद्धिसे जो कर्म जैसे किया जाता है, वह सदा निर्दोष ही होता है।

इस भूतलपर कितने ही गृहस्थ जीवन्मुक्त हैं, जो असंग बुद्धिसे यथाप्राप्त वर्णाश्रम-धर्मका अनुसरण करते हैं। उनके सिवा दूसरे राजा जनक-जैसे तत्त्वज्ञ राजर्षि तथा अन्य वीतराग पुरुष भी हैं, जो अनासक्तचित्त एवं चिन्तारहित होकर तुम्हारे सदृश राज्य करते हैं। कुछ लोग वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त वेदोक्त व्यवहारका अनुसरण करते हुए सदा अग्निहोत्रमें लगे रहते हैं और पञ्च-महायज्ञोंसे अवशिष्ट अमृतमय अन्नका भोजन करते हैं। चारों वर्णोंमेंसे कुछ लोग सदा ध्यान और देव-पूजन आदि स्वकर्मका अनुष्ठान करते हुए नाना प्रकारकी चेष्टाओं एवं प्रयत्नोंमें लगे रहते हैं। कुछ महान् आशयवाले महापुरुष अपने अन्तःकरणमें सम्पूर्ण फलोंकी आसक्तियोका त्यागकर सब प्रकारके नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हुए तत्त्वज्ञानी होकर भी अज्ञानीकी भाँति स्थित रहते हैं। कुछ लोग उन सूनी वनस्थलियोंमें ध्यान लगाते हैं, जहाँ सपनेमें भी मनुष्योंके दर्शन नहीं होते और भोले-भाले मृगछौने भरे रहते हैं। कुछ लोग उन पुण्यतीर्थों, आश्रमों या देवालयोंमें रहते हैं, जो पुण्यकी वृद्धि करनेवाले हैं, जहाँ सदा पुण्यात्मा पुरुष निवास करते है तथा जहाँका सदाचार मन और इन्द्रियोंके निग्रहसे सुशोभित होता है। कुछ समतापूर्ण हृदयवाले पुरुष राग-द्वेषका परित्याग करनेके लिये शत्रु-मित्रोंसे भरे हुए अपने देशको छोड़कर अन्य देशमें चले जाते और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगते हैं। कितने ही विद्वान् संसार-बन्धनका उच्छेद करनेके लिये एक वनसे दूसरे वनमें, एक गाँवसे दूसरे गाँवमें, एक स्थानसे दूसरे स्थानमें तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर घूमते फिरते हैं। महापुरी वाराणसीमें, परम पावन तीर्थराज प्रयागमें, श्रीपर्वतपर, सिद्धपुरमें, बदरिकाश्रममें, परम-पुण्यमय शालग्राम तीर्थमें, कलापग्रामकी गुफामें, पुण्यमयी मथुरापुरीमें, कालञ्जर पर्वतपर, महेन्द्र वनकी झाड़ियोंमें, गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर, दर्दुर पर्वतकी चोटियोंपर, सह्य गिरिके भूभागोंमें, विन्ध्यगिरिके कछारोंमें, मलय पर्वतके मध्यभागमें, कैलासके वनसमूहोंमें तथा ऋक्षवान् पर्वतकी गुफाओंमें—इन सबमें, अन्य पर्वतोंपर एवं अन्यान्य वनों और आश्रमोंमें अनेक बहुदर्शी तपस्वी रहते हैं। इनमेंसे कुछ लोगोंने विधिपूर्वक संन्यास लेकर अपने पूर्व-आश्रमके कर्मोंका त्याग कर दिया है। कोई क्रमशः ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंमें स्थित हैं। किन्हींकी बुद्धि तत्त्वज्ञानसे प्रबुद्ध है और कितने ही नित्य उन्मत्तों-सी चेष्टा करते हैं। कोई स्वदेशसे दूर चले गये हैं। कितने ही अपना घर-द्वार छोड़ चुके हैं। कुछ लोग एक ही स्थानपर प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं और कुछ लोग रमते राम होकर भ्रमण करते है। महामते! आकाश और पातालमें निवास करनेवाले इन देवता, दैत्य आदि महापुरुषोंमेंसे किन्हींकी बुद्धि प्रबुद्ध होती है, वे लोक-रहस्यके ज्ञाता, सम्यग् ज्ञानसे निर्मल तथा निर्गुण-सगुण तत्त्वका साक्षात्कार किये होते हैं। कुछ लोगोकी बुद्धि सर्वथा प्रबुद्ध नहीं होती है, इसलिये उनका चित्त संशयके झूलेमें झूलता रहता है। वे पापाचारसे निवृत्त होकर सत्पुरुषोंका अनुसरण करते हैं। कुछ लोगोकी बुद्धि आधी प्रबुद्ध होती है, वे ज्ञानके अभिमानमें आकर शास्त्रोक्त कर्म और आचारको त्याग देते हैं और लोक-परलोक दोनोंसे भ्रष्ट हो जाते हैं।

श्रीराम! इस प्रकार इस जनसमुदायमें जन्म-मरणरूप संसारसे छुटकारा पानेकी इच्छावाले बहुत-से लोग नाना

प्रकारसे व्यवहार करते हुए स्थित हैं। उनकी दृष्टियाँ बहुविध प्रारब्ध-भोगके अनुकूल होती हैं। संसार-सागरसे पार होनेमें न तो वनवास कारण है, न अपने देशमें ही रहना कारण है और न कष्टसाध्य तपस्या ही कारण है। कर्मका परित्याग करना अथवा कर्मोंका आश्रय लेना भी संसारकी निवृत्तिमें कारण नहीं है। सत्कर्मोंके आचरणोंसे जो ख्याति-लाभ और ऐश्वर्य आदि विचित्र फलसमूह प्राप्त होते हैं, वे भी संसार-बन्धनसे छुटकारा दिलानेमें कारण नहीं हैं। संसार-सागरसे उद्धार पानेके लिये तो एकमात्र अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थिति ही कारण है। जिसका मन कहीं भी आसक्त नहीं है, वह भवसागरसे पार हो जाता है। जिसका मन आसक्तिसे रहित है, वह मुनि नित्य शुभ कर्मोंका अनुष्ठान और अशुभ कर्मोंका त्याग करता हुआ फिर संसार-बन्धनमें नहीं आता। जिसकी बुद्धि खोटी—विषयोंमें आसक्त है, जिसने अपने मनको विषयोंमें खुला छोड़ रखा है, वह शठ संसार-समुद्रमें डूबता ही है। जिसकी बुद्धिने विषयोंमें रसानुभव किया है, उसकी वह बुद्धि दुःखपर दुःख देनेवाली है। शहदके घड़ेमे घुसी हुई मक्खीकी तरह उसे न तो वहाँसे हटाया जा सकता है और न मारा ही जा सकता है। काकतालीय संयोगसे कदाचित् मोक्षकी सिद्धिके लिये अपने चित्तकी स्वयं ही परमात्मसाक्षात्कारकी ओर प्रवृत्ति हो जाती है। परमात्माका साक्षात्कार होनेपर तत्त्वकी उपलब्धि करके निर्मलताको प्राप्त हुआ चित्त निर्द्वन्द्व, अनासक्त एवं निर्विकार ब्रह्म ही हो जाता है।

महात्मन्! रघुनन्दन! तुम स्वभावसे ही परमार्थ-स्वरूप और राग आदि दोषसे रहित हो। तुम्हारी बुद्धि सम है। तुम्हारा स्वरूपानुभव नित्य उदित है। तुम महात्मा हो। अतः शोक और शङ्कासे रहित एकाकी रहो। जन्म और मरणसे मुक्त जो पावन परमपद है, वह तुम्हीं हो। विशुद्ध चिन्मय ब्रह्मरूप जगत्में प्रकृति, मल, विकार, उपाधि, उपाधिका बोध आदि कहीं किञ्चिन्मात्र भी नहीं हैं। सुस्पष्टरूपसे नित्य चैतन्यधाम ब्रह्म ही विराज रहा है। 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा समझकर निःशङ्कभावसे एकाकी रहो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! जब मुनीश्वर वसिष्ठजी ऐसा उपदेश दे चुके, तब उस सभाके सभी सदस्य समस्त एषणाओंसे रहित और ध्यानमें एकाग्र हो अपनी निर्मल बुद्धिके द्वारा ब्रह्मपदको प्राप्त हो गये। साथ ही वे मुनि भी मौन हो ब्रह्मानन्दके सहज अपरोक्ष अनुभूतिमें प्रवृत्त हो गये। ठीक उसी तरह, जैसे कमलोंकी राशिमें गुनगुनाता हुआ भ्रमर चुप होकर मकरन्दका पान करने लगा हो। (सर्ग १९९)

सिद्धों और सभासदोंद्वारा श्रीवसिष्ठजीको साधुवाद, देव-दुन्दुभियोंका नाद, दिव्य पुष्पोंकी वर्षा, गुरुपूजनमहोत्सव, श्रीदशरथजी और श्रीरामजीके द्वारा गुरुदेवका सत्कार, सभ्यों और सिद्धोंद्वारा पुनः श्रीवसिष्ठजीकी स्तुति

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! निर्वाणसम्बन्धी वाक्यसंदर्भ (उपदेश) की समाप्ति होनेपर मुनीश्वर वसिष्ठजीने जब क्रमशः प्राप्त हुए अन्तिम वाक्यका विराम कर दिया, जब समस्त सभासद् तथा आकाशचारी देवता भी मुनिके वचनोंके श्रवणसे शान्त एवं विशुद्ध मनोवृत्तिसे युक्त होकर निर्विकल्प समाधिके समान ब्रह्मैकरसताको प्राप्त हो गये तथा जब शास्त्रज्ञानसे सुशोभित होनेवाले उन सब लोगोंका अन्तरात्मा सत्त्वकी पराकाष्ठाको पहुँचकर परम पावन हो गया, तब गगनगुफामें वास करनेवाले सिद्धोंके मुखसे शीघ्र ही ऐसा साधुवाद निकला, जो आकाशमें गूँज उठा। इसी तरह सभामें बैठे हुए भावितात्मा मुनि विश्वामित्र आदिके द्वारा



गन्धर्वों और विद्याधरियोके द्वारा भोगोका प्रलोभन देनेपर भी उद्दालकका उनकी ओर ध्यान न देना
(उपशम-प्रकरण सर्ग ५४)

उच्चस्वरसे दिये गये साधुवादकी ध्वनि भी वहाँ गूँजने लगी। इन सबसे ऐसा महान् कोलाहल प्रकट हुआ, जिसने सम्पूर्ण दिशाओंको भर दिया। वह कोलाहल वायुपूरित छिद्रवाले कीचकोंकी मुरली-जैसी ध्वनिके समान मधुर था। सिद्धोंके साधुवादके साथ ही देवताओंकी दुन्दुभियाँ भी बजने लगीं, जिनकी प्रतिध्वनिसे समस्त पर्वत व्याप्त हो गये। देवताओंकी दुन्दुभियोंके बजनेके साथ ही दिशाओंकी ओरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी, जो हिमकी धारावाहिक वृष्टिके समान मनोहर जान पड़ती थी। उसने सम्पूर्ण दिङ्मण्डलको आच्छादित कर दिया। साधुवादके शब्दोंके साथ देववाद्योंकी ध्वनि तथा पुष्पवृष्टिके घोषका वह मिलित शब्द-समुदाय वहाँ बड़ी शोभा पाने लगा। सारा भुवन भारी कोलाहलसे भरकर अद्भुत शोभा पाने लगा। उत्सववसे मतवाला हो उठा। देवताओं और चारणोंसे भर गया तथा भाँति-भाँतिके फूलोंसे अलङ्कृत होकर राजभवनके समान ही शोभा पाने लगा। धीरे-धीरे दुन्दुभियोंकी तुमुल ध्वनि, सिद्धसमूहोंके साधुवादजनित कोलाहल और पुष्पराशियाँ एक साथ ही द्युलोक और भूलोकके अन्तरालमें उसी तरह फैलने लगीं, जैसे सागरमें उठी हुई उत्ताल तरङ्गें तटवर्ती पर्वतके पास पहुँच जाती हैं। देवताओंका वह कोलाहलपूर्ण समारम्भ जब क्षणभरमें शान्त हो गया, तब सिद्धोंके ये वचन कानोंमें सुनायी देने लगे।

सिद्ध बोले—कल्पपर्यन्त सिद्धपुरुषोंकी अनेकानेक सभाओंमें मोक्षके उपायोंकी सहस्रों बार व्याख्याएँ हुईं और सुनी गयीं, परंतु उनमें जो मोक्षके उपाय बताये गये, वे कोई भी ऐसे नहीं थे। मुनिके इस वाक्य विलाससे—इस महारामायणके श्रद्धाप्रेमपूर्वक श्रवणसे तिर्यग्योनिके जीव, स्त्रियाँ, बालक और सर्प भी परमानन्दको प्राप्त हुए है, इसमें संशय नहीं है। श्रीवसिष्ठजीने नाना प्रकारके दृष्टान्तों, हेतुओं और युक्तियोंद्वारा जैसे श्रीरामचन्द्रजीके प्रति परमात्म-तत्त्वके ज्ञानका वर्णन किया है, वैसे ये साक्षात् अपनी धर्मपत्नी अरुन्धतीजीके प्रति भी करते हैं या नहीं, इसमें संशय है। मुनिवर्णित मोक्ष-उपायके अनुष्ठानसे तिर्यग्योनिके जीव भी दु.ख-शोकसे मुक्त हो गये हैं। फिर इस भूतलपर कौन-से ऐसे मनुष्य हैं, जो इसके अनुष्ठानसे मुक्त न होंगे। हम लोग अपने कानोंकी अञ्जलिसे इस ज्ञानामृतका पान करके परम उत्कृष्ट बोध-श्रीको प्राप्त हुए हैं। हमारी सिद्धियाँ पूर्ण तथा नवीन हो गयी हैं।

सिद्धोंकी इस बातको सुनते हुए वहाँके लोगोंने आश्चर्यसे चकितनेत्र होकर देखा कि सभाकी भूमि कमल, पारिभद्र, पारिजात, संतानक और हरिचन्दन आदि फूलोंकी धारावाहिक वर्षासे भर गयी है। फूलोंके भारसे वहाँका विशाल चँदोवा इस तरह लटक रहा था, मानो जलसे भरा हुआ बादल नीचे झुक आया हो। इस प्रकार उस सभाकी अपूर्व शोभाका दर्शन करते हुए सभासदोंने उस समयके अनुरूप भूरि-भूरि प्रशंसापूर्ण साधुवाद देकर सर्वथा उद्यत हो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा साष्टाङ्ग प्रणाम करके नमस्कारयुक्त कुसुमाञ्जलिसे वसिष्ठजीका पूजन किया। सभामें आये हुए राजाओंकी प्रणामपरम्परा जब कुछ शान्त हुई, तब हाथमें अर्घ्यपात्र लेकर राजा दशरथने मुनिकी पूजा करते हुए कहा—

राजा दशरथ बोले—अरुन्धतीनाथ! गुरुदेव! आपके सदुपदेशसे प्राप्त हुए बोधस्वरूप, क्षय-वृद्धिरहित, सर्वोत्कृष्ट निरतिशयानन्दमय आत्मवस्तुसे मेरे भीतर परम पूर्णता प्रकट हो गयी है। ब्रह्मन्! इस भूतलपर तथा स्वर्गमें देवताओंके यहाँ भी ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है, जो आप पूज्य महापुरुषको कभी पूजनके रूपमें प्राप्त न हुई हो, तथापि मैं अपने लिये अवश्यकर्तव्य इस गुरुपूजनकी विधिको सफल बनानेके लिये अवसरके अनुरूप कुछ प्रार्थना करता हूँ। आप क्षमा करेंगे। मैं पत्नियोंसहित अपने इस शरीरसे, लौकिक और पारलौकिक सुखके लिये संचित किये गये शुभ कर्मसे

तथा समस्त भृत्यों और सामन्तोंसहित इस विशाल राज्यसे आपकी पूजा करता हूँ । प्रभो ! ये सारी वस्तुएँ निजी आश्रमकी भाँति ही आपके अधीन हैं । आप अपनी अभीष्ट इच्छाके अनुसार मुझे अपनी आज्ञाके पालनमें नियुक्त करें ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भूपाल ! हम ब्राह्मणलोग प्रणाममात्रसे ही सतुष्ट हैं । केवल प्रणामसे ही हम प्रसन्न हो जाते हैं । वह प्रणाम आपने किया ही है । राज्यका पालन करना आप ही जानते है, यह आपको ही शोभा देता है । अतः यह सब राज्य यहाँ आपके ही अधिकारमें रहे । ब्राह्मण कहाँ भूमण्डलके पालनका भार उठाते हैं !

राजा दशरथ बोले—मुने ! आपके इस गौरवपूर्ण उपदेशके सामने यह राज्य है ही कितना ! इस तुच्छ वस्तुको अर्पित करते हुए हम विशेष लज्जित हो रहे हैं । अतः भगवन् ! आप जैसा उचित समझें वही करें ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब महाराज दशरथ इस प्रकार कह चुके, तब श्रीराम उन महागुरुके चरणारविन्दोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पित करनेके लिये उनके सामने खड़े हुए और नतमस्तक होकर बोले—'ब्रह्मन् ! आपने महाराजको निरुत्तर कर दिया है । प्रभो ! मेरे पास तो प्रणामके सिवा दूसरी कोई सार वस्तु है ही नहीं । अतः मैं यही लेकर आपके इन दोनों चरणोंकी वन्दना करता हूँ' यों कहकर श्रीरामने गुरुके चरणोंमें मस्तक रखकर वन्दना की और अपनी अञ्जलिके फूल उसी प्रकार चढ़ाये, जैसे वन पर्वतके चरणप्रान्तमें अपने पल्लवोंसे ओसके कण समर्पित करता है । उस समय उनके दोनों नेत्र आनन्दके आँसुओंसे भरे हुए थे । व्यवहारनीतिके ज्ञाता रघुवीरने बड़ी भक्तिके साथ गुरुदेवको बारंबार प्रणाम किया । शत्रुघ्न, लक्ष्मण तथा उन्हींकी तुलनामें आनेवाले जो श्रीरामके दूसरे-दूसरे सखा निकट खड़े थे, उन सबने भी उन्हींकी भाँति शीघ्रतापूर्वक उन मुनीश्वरको प्रणाम किया । दूर खड़े हुए राजाओं, राजकुमारों और मुनियोंने दूरसे ही पुष्पाञ्जलि समर्पण एवं प्रणाम करते हुए वसिष्ठजीकी वन्दना की । उस अवसरपर वहाँ की गयी पुष्पाञ्जलियोंकी वर्षासे आच्छादित मुनिवर वसिष्ठजी उसी तरह दिखायी नहीं देते थे, जैसे हिमकी वृष्टिसे आच्छन्न हो गिरिराज हिमालय दिखायी नहीं देता है ।

जब सिद्धोंकी बातें बंद हुईं, नगाड़ोंकी गड़गड़ाहट शान्त हुई, आकाशसे फूलोंकी वर्षा थम गयी और सभाका कोलाहल कम हो गया तथा प्रणाम करनेके अनन्तर श्रीराम आदिके साथ पूजा करनेवाले सभासद् जब शान्त वायुवाले मेघकी भाँति सौम्यभावको प्राप्त हो गये, तब सबका साधुवाद सुनते हुए अनिन्द्यात्मा मुनिनायक वसिष्ठ विश्वामित्र आदिको सम्बोधित करके मधुर वाणीमें बोले—'गाधिकुलकमल मुनिवर विश्वामित्र, वामदेव, निमि, क्रतु, भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, धृष्टि, नारद, शाण्डिलि, भास, भृगु, भारण्ड, वत्स और वात्स्यायन आदि मुनियो ! आपलोगोंने जो मेरा यह तुच्छ भाषण सुना है, इसमें जो कोई बात स्पष्ट नहीं कही गयी हो, दूषित अर्थसे युक्त हो अथवा निरर्थक हो, उसे इस समय कृपा करके आप मुझे बतावें ।'

सभासद् बोले—ब्रह्मन् ! एकमात्र परमार्थ-तत्त्वसे सुशोभित होनेवाले आपके वचनमें कोई दूषित या अनुचित अर्थ होगा, यह आज नयी ही बात हमारे सुननेमें आयी है । अनन्त जन्मदोषसे हमारा जो पाप या मल संचित था, उसे आपने आज यहाँ उसी तरह धो डाला है, जैसे आग सुवर्णके दोषको दग्ध कर देती है । प्रभो ! जैसे आकाशमें फैली हुई शीतल चन्द्रमाकी दीप्तिसे कुमुद विकसित होते है, उसी तरह परब्रह्मकी व्याख्या करनेवाली और परमानन्दमयी शीतल आपकी वाणीद्वारा हम सब लोग विकासको प्राप्त हुए हैं । समस्त प्राणियोंको महान् बोध प्रदान करनेवाले, एकमात्र गुरु आप मुनिनायकको ये हम सब लोग प्रणाम करते हैं ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—तदनन्तर उन सबने पुनः मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर तथा ऊँची आवाजमें एक साथ 'आप मुनिनाथको नमस्कार है' यह कहकर आकाशसे सिद्धोंद्वारा छोड़े गये नवीन पुष्पाञ्जलि-समूहोंसे वसिष्ठजीको उसी तरह आच्छादित कर दिया, जैसे बादल हिमकी वर्षासे पर्वतको ढक देते हैं। इसी प्रकार रघुनाथजीके अवतारका वृत्तान्त जाननेवाले उन सिद्धोंने राजा दशरथकी तथा चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए लक्ष्मीपति नारायणके अवतार श्रीरामकी भी प्रशंसा की।

सिद्ध बोले—हमलोग चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए भाइयोंसहित नित्यमुक्त राजकुमार श्रीरामको, जो दूसरे नारायणके समान विराज रहे हैं, नमस्कार करते हैं। चारों समुद्र जिसके लिये खाईके समान हैं, उस सम्पूर्ण भूमण्डलके पालक तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालमें भी कभी नष्ट न होनेवाले राजचिह्नोंसे सुशोभित महाराज दशरथको भी हम सिर झुकाते हैं। मुनिसेनाके स्वामी, भूमण्डलके पालक, भगवान् भास्करके समान भूरि तेजस्वी एवं उत्तम यशसे सम्पन्न मुनिवर वसिष्ठको तथा तपोनिधि विश्वामित्रको भी हम प्रणाम करते हैं; क्योंकि इन्हींके प्रभावसे हम सबने भ्रान्तिके विस्तारको भगानेवाली इस परम उत्तम ज्ञानयुक्तिको सुना है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—ऐसा कहकर आकाशसे सिद्धोंने पुनः फूलोंकी वर्षा की और प्रसन्नचित्त होकर पुनः चुपचाप सभामें बैठ गये। इसी प्रकार आकाशगामी सिद्धोंने वहाँ उपस्थित हुए जनसमुदायकी पुनः प्रशंसा की तथा सभासदोंने भी प्रचुर स्तुति करते हुए वहाँ उन सब सिद्धोंका पूजन किया। आकाशमें विचरनेवाले मुनीश्वरों, महर्षियों एवं देवताओंने और पृथ्वीपर विचरनेवाले ब्राह्मणों तथा राजाओंने भी पुष्पयुक्त अर्घ्यदानके साथ उच्चवाणीद्वारा वेगपूर्वक वहाँ उपस्थित जनसमुदायकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। (सर्ग २००)

गुरुके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीका पुनः अपनी परमानन्दमयी स्थितिको बताना तथा वसिष्ठजीका उन्हें कृतकृत्य बताकर विश्वामित्रजीकी आज्ञा एवं भूमण्डलके पालनके लिये कहना, श्रीरामद्वारा अपनी कृतार्थताका प्रकाशन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—तदनन्तर सभामें धीरे-धीरे साधुवादकी ध्वनि शान्त हो गयी, ज्ञानोपदेश पाकर राजालोग अत्यन्त उल्लसित-से दिखायी देने लगे। सब लोगोंका संसारश्रम दूर हो गया और सभी लोग सत्यका अनुसरण करनेवाले चित्तके द्वारा अपने पूर्व चरित्रका, जो अज्ञानसे कलुषित था, स्वयं ही उपहास करने लगे। सभामें बैठे हुए विवेकी पुरुष चित्तवृत्तिको अन्तर्मुखी करके ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अनुभवमें तत्पर हो ध्यानमग्नकी भाँति परम शान्त हो गये। भाइयोंसहित श्रीरामचन्द्रजी गुरुके आगे उन्हींके दीप्तिमान् मुखपर दृष्टि लगाये हाथ जोड़े पद्मासन बाँधे बैठ गये तथा महाराज दशरथ ध्यानस्थ-से होकर अपने भीतर आदि, मध्य और अन्तमें पवित्रता बढ़ानेवाली जीवन्मुक्तकी अलौकिक स्थितिका अनुभव करने लगे। उस समय लोगोंके मनोरथका आदर करते हुए मुनिवर वसिष्ठजी अपने भक्त राजा आदिके द्वारा की जानेवाली पूजा ग्रहण करनेके लिये क्षणभर चुपचाप बैठे रहकर फिर शान्त वाणीमें बोले—'कमलनयन श्रीराम! तुम रघुकुलके आकाशमें चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे हो। बताओ, अब अपनी इच्छाके अनुसार और क्या सुनना चाहते हो? आज कैसी स्थितिका तुम स्वयं अनुभव करते हो? यह स्पष्टरूपसे कहो। मुनिवर वसिष्ठके इस प्रकार आदेश देनेपर राजकुमार श्रीराम गुरुदेवके मुखकी ओर देखते हुए शान्त, मधुर एवं सुस्पष्ट वाणीमें बोले—

श्रीरामने कहा—प्रभो ! मैं आपके कृपाप्रसादसे परम निर्मल हूँ। मुने ! मैं अपने-आपमें ही विश्राम-सुखका अनुभव करता हूँ। बाह्य इन्द्रियोंकी दृष्टिसे परे हूँ। मनकी भी मुझतक पहुँच होनी कठिन है। मैं सर्वथा निर्विकार हूँ। जैसे आकाशको मुट्ठियोंसे नहीं बाँधा जा सकता, उसी प्रकार आशाएँ मुझे बाँध नहीं सकती हैं। जैसे सुगन्ध वृक्षगत पुष्पसे ऊपर उठकर आकाशमें पहुँचकर उस पुष्पसे परे हो जाती है, उसी प्रकार मैं देहातीत और सर्वत्र समभावसे स्थित हूँ। जैसे अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध सभी राजा बहुत काम-धन्धेवाले राज्योंमें सुखपूर्वक विचरते हैं, उसी प्रकार मैं हर्ष, विषाद और आशासे रहित, स्थिर, एक तथा समतापूर्ण दृष्टिसे सम्पन्न एवं आत्मनिष्ठ होनेके कारण सर्वत्र निःशङ्क होकर विचरता हूँ। प्रभो ! मैं सर्वोपरि सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। मुझमें विषयसुखकी बिल्कुल इच्छा नहीं है। मुझे अपनी इच्छाके अनुसार आज्ञा-पालनके कार्यमें नियुक्त कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे आकाश शान्त आकाशमें विश्राम प्राप्त करता है, उसी प्रकार तुम्हें अत्यन्त सम एवं शीतल आत्मामें पूर्ण विश्राम प्राप्त है। वत्स ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि ज्ञानस्वरूप तुमने अपने बोधके द्वारा रघुकुलकी भूत, भविष्य और वर्तमान परम्पराको पवित्र कर दिया है। राघवेन्द्र ! अब तुम मुनीश्वर विश्वामित्रजीकी याचना पूर्ण करके पिताके साथ इस पृथ्वीका पालन करते हुए सुखसे रहो। सौभाग्यशाली राजकुमार ! तुम-जैसे महापुरुषके साथ रहकर पुत्र, भृत्य, बन्धु-बान्धव, पैदल, रथ, हाथी और अश्वमण्डलसहित समस्त रघुवंशी शरीरसे नीरोग, मनसे निर्भय तथा घरोंमें सुस्थिर लक्ष्मीसे सम्पन्न हो सदा अभ्युदयशाली बने रहें।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—सभामें वसिष्ठजीकी यह बात सुनकर सब राजा तथा अन्य लोग अमृतकी धारासे सींचे हुएकी भाँति मनमें अत्यन्त शीतलता एवं शान्तिका अनुभव करने लगे। कमलनयन श्रीराम अपने मनोहर मुखचन्द्रसे उसी प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जैसे सुधा-भरे चारु चन्द्रमाके उदयसे सम्पूर्ण क्षीरसागर उल्लसित हो उठता है। तत्त्वज्ञानविशारद वामदेव आदि मुनि बड़े आदरसे बोले—'अहो ! भगवान् वसिष्ठने अद्भुत ज्ञानका वर्णन किया'। शान्त अन्तःकरणवाले राजा दशरथ भी प्रसन्नतासे प्रकाशित हो रहे थे। उनके सारे अङ्ग संतोषसे ही हृष्ट-पुष्ट हो गये थे। उनपर ज्ञानकी नयी दीप्ति छा रही थी।

तत्पश्चात् श्रीराम बोले—मुने ! मैं ऐसे परमानन्दमें सदा निमग्न हूँ, जिसके प्राप्त होनेपर फिर किसीको कभी खेद नहीं हो सकता। मैं चिरसुखी हूँ। सदा उदित हूँ एवं सनातन पुरुषार्थस्वरूप हूँ।

(सर्ग २०१-२०२)

मध्याह्नकालमें राजासे सम्मानित हो सबका आवश्यक कृत्यके लिये उठ जाना और दूसरे दिन प्रातःकाल सबके सभामें आनेपर श्रीरामका गुरुके समक्ष अपनी कृतकृत्यता प्रकट करना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब इस प्रकार मुनिवर वसिष्ठ तथा श्रीरामचन्द्रजी परस्पर विचार कर रहे थे, उस समय मानो उन दोनोंका संवाद सुननेके लिये भगवान् भास्कर आकाशके मध्यभागमें आ पहुँचे। तुरत ही सम्पूर्ण दिशाओंमें पदार्थसमूहोंको प्रकाशित करनेके लिये श्रीरामकी महामतिके समान धूप तेज हो गयी। कमलोंसे भरे हुए सरोवर उस सभामें बैठे हुए हृदयकमलके खिल जानेसे विकसित आकारसे सुशोभित राजाओंके समान बड़ी शोभा पाने लगे। इतनेहीमें मध्याह्नकालकी सूचना देनेवाले शङ्ख, मुखोंकी स्निग्ध

उद्दाम वायुसे पूरित हो प्रलयकालकी प्रचण्ड वायुसे व्याप्त हुए महासागरोंके समान गम्भीर घोष करते हुए बज उठे। उस समय निदाघकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये सौभाग्यवती स्त्रियोंद्वारा छिड़के गये कर्पूरमिश्रित जलसे वहाँ नूतन जलदमाला-सी छा गयी। फिर महाराज दशरथ समस्त सामन्तों, भूपालों, परिजनों एवं अङ्गरक्षक सेवकों आदिके साथ सभासे उठे। मुनिवर वसिष्ठ, श्रीराम तथा संसद्के अन्य सदस्य भी उठ गये। राजा, राजकुमार, मन्त्री और मुनि परस्पर एक-दूसरेसे सम्मानित हो बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने-अपने निवासस्थानको गये। तत्पश्चात् जब मध्याह्नकालके वाद्योंकी ध्वनि दीवालोंसे टकराकर प्रति-ध्वनित हुई, तब वाक्यप्रयोगमें निपुण मुनिवर वसिष्ठने यह बात कही—'रघुनन्दन! तुमने सुननेयोग्य सब बातें सुन लीं, ज्ञेय तत्त्वोपदेशको पूर्णरूपसे जान लिया। अब तुम्हारे लिये दूसरी कोई जाननेयोग्य उत्तम बात शेष नहीं है। जैसा मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, जैसा तुम शास्त्रोंसे देखते हो और जैसा स्वयं अनुभव करते हो, उन सबकी एकवाक्यता कर लो। महामते! अब समयोचित कार्य करनेके लिये उठो। हमलोग भी स्नान करनेके लिये जा रहे हैं। यह हमारे मध्याह्न-कालिक उपासनाका समय व्यतीत हो रहा है। भद्र! यदि तुम्हें कोई और शुभ प्रश्न पूछना हो तो उसे कल प्रातःकाल पुनः पूछ लेना।'

मुनिनाथ वसिष्ठके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा राजा दशरथने उस सभामें आये हुए समस्त साधुपुरुषों, मुनियों, ब्राह्मणों, राजाओं तथा आकाशचारी देवताओंका भी वसिष्ठ आदिकी बतायी हुई विधिसे श्रीरामके साथ पूजन किया। मणियों और मुक्ताओंकी राशियाँ भेंट कीं, दिव्य पुष्प अर्पण किये, नाना प्रकारके रत्न प्रदान किये, मोतियोंके हार समर्पित किये, प्रेमपूर्वक प्रणाम किया, धन दिया, वस्त्र, आसन, अन्नपान, सुवर्ण, भूमि, धूप, गन्ध और पुष्पमालाएँ प्रदान कीं। इस प्रकार उन प्रशंसनीय भूपालने शास्त्रोक्त रीतिसे उन सबका पूजन किया। तदनन्तर दूसरोंको मान देनेवाले वे नरेश वसिष्ठ आदि देवर्षियों तथा सभासदोंके साथ उस सभासे उसी प्रकार उठे, जैसे सायंकाल चन्द्रमा आकाशसे उदित होते हैं। मधुर वाणी बोलनेवाले वे दशरथ आदि सब राजा और साधु-मुनि एक दूसरेसे सम्मानित हो परस्पर विदा ले स्नेहयुक्त संतुष्ट हृदयसे अपने-अपने आश्रमोंको गये, मानो सातो लोकोंके निवासी देवता इन्द्रपुरीसे अपने-अपने धाममें जा रहे हों। एक दूसरेका क्रमशः प्रेमपूर्वक समादर करके सब विदा ले अपने-अपने घरमें आये और दिनके आवश्यक कार्यमें लग गये। वसिष्ठ आदि समस्त मुनियों तथा दशरथ आदि राजाओंने दिनके आवश्यक कार्य पूर्ण किये। जब वे सब लोग न्यायसे प्राप्त दैनिक कार्य सम्पन्न कर चुके, तब आकाशपथिक सूर्यदेव क्रमशः आगे बढ़ते हुए अस्ताचलको जा पहुँचे। महामति श्रीराम तथा अन्य लोग रातमें भी वैसी ही ज्ञान-चर्चा करते रहे; इसलिये उनकी वह रात शीघ्र ही व्यतीत हो गयी। फिर अन्धकाररूपी धूल और तारारूपी पुष्पराशियोंके कूड़े-करकटको हटाकर जगत्-रूपी भवनको घरकी तरह साफ-सुथरा बनाते हुए सूर्यदेवका शुभागमन हुआ। तत्पश्चात् राजा, राजकुमार, मन्त्री और वसिष्ठ आदि मुनि फिर राजा दशरथकी सभामें आये, उस समय जब दशरथ आदि नरेश और सुमन्त्र आदि सचिव आसनपर विराजमान मुनिवर वसिष्ठकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, कमलनयन बुद्धिमान् श्रीराम गुरु और पिताके सामने उपस्थित हो कोमल वाणीमें इस प्रकार बोले—

श्रीरामने कहा—ब्रह्मन्! आप जैसा कहते हैं, वैसा ही मैं भी मानता हूँ कि मेरी बुद्धि कृतकृत्य हो रही है। मैं परम निर्वाणस्वरूप एवं शान्त हूँ। मुझे किसी बातकी आकाङ्क्षा नहीं है। जो कुछ

कहने योग्य बात थी, आपने कह दी और मैंने ज्ञेय तत्त्वको भलीभाँति जान लिया। अब कृतकृत्यताको प्राप्त हुई आपकी यह वाणी विश्राम करे।

(सर्ग-२०३)

श्रीवसिष्ठ और श्रीरामका संवाद, दृश्यका परिमार्जन, सबकी चिदाकाशरूपताका प्रतिपादन, श्रीरामका प्रश्न और उसके उत्तरमें श्रीवसिष्ठद्वारा प्रज्ञप्तिके उपाख्यानका आरम्भ

श्रीवसिष्ठजी बोले—महाबाहो! तुम फिर मेरी उत्तम बात सुनो; क्योंकि जैसे दर्पण बारंबार पोंछने या परिमार्जित करनेपर अधिक स्वच्छ एवं शोभित होता है, उसी प्रकार बारंबार चर्चा होनेसे भ्रमका निवारण होता है। जिससे बोध शुद्ध होकर निखर उठता है। रूप और नाम—दो ही प्रकारके दृश्य हैं। इनमें पहला अर्थ है और दूसरा शब्द—दोनों ही भ्रम हैं और इनका मार्जन आवश्यक है। अर्थ क्या है? भ्रमको समझनेका एक संकेत। अर्थकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। एक वस्तुको समझनेके लिये अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन सबके अर्थ पृथक्-पृथक् होनेपर भी उनसे अनेक वस्तुओंकी उपलब्धि नहीं होती। इस तरह अर्थ-भ्रमका परिमार्जन हुआ। अर्थके बिना शब्द जलके कलकल नादकी भाँति निरर्थक है, अतः वह शब्दताको छोड़कर अर्थरूपताको प्राप्त होता है; इस तरह अर्थभ्रमके मार्जनके साथ उस शब्द-भ्रमका मार्जन भी हो जाता है। वास्तवमें यह दृश्य स्वप्नकी भाँति चेतनका संकल्पमात्र है। जगत्की उत्पत्ति कब और कहाँ हुई है? जब जाग्रत् ही मिथ्या है, तब स्वप्नकी क्या बात है! क्योंकि जाग्रत् ही संस्कारद्वारा स्वप्नदृष्ट पदार्थ बनकर स्मरणके समान अपने अर्थभूत वस्तुसे शून्य होकर सामने आता है। इसलिये वह चेतनका संकल्पमात्र होकर दूसरे आकारमें विस्तारको प्राप्त हुआ है। जैसे मुझमें स्वप्न-जगत्रूप निर्मल चिदाकाश रूपवान् होता हुआ भी रूपरहित है, उसी प्रकार यह त्रिभुवन भी साकार दीखता हुआ भी निराकार ही है।

श्रीरामने कहा—ब्रह्मन्! इस प्रकार विचार करनेसे न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट ही हुआ है। यह जगत् जैसेका तैसा चिन्मय ब्रह्म है और अपने आपमें ही स्थित है। जैसे द्रव ही जल है, उसी तरह चेतनमें स्फुरण नामक जो स्वरूपका विस्तार है, वही यह जगत् कहा गया है। सम्यग्दर्शनसे जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो गयी है, उसकी दृष्टिमें यह जो जगत्का भान है, वह अभानरूप ही है। वास्तवमें सब कुछ शून्य चिदाकाश ही है और वही परमार्थ है। अज्ञानीकी बुद्धिमें यह जगत् जैसा भी प्रतीत होता हो, होता रहे, उसपर हमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी बोले— रघुनन्दन! तुमने इस विषयको जैसा समझा है और आगमोंने भी जैसा इसका वर्णन किया है, वह सब ज्यों-का-त्यों ठीक है। अब बताओ, हम यहाँ और क्या वर्णन करें?

श्रीरामने पूछा—ब्रह्मन्! बताइये, यह चिन्मय महाकाश ब्रह्माण्डके रूपमें कैसे परिणत हो गया? इस ब्रह्माण्डकी विशालता कितनी है और यह कबतक रहेगा?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप रघुनन्दन! जिसका बिना किसी कारणके भान होता है, उसका वह भान कुछ भी नहीं है। वास्तवमें परमार्थस्वरूप ब्रह्म ही उस रूपमें दीखता हुआ अपने परमार्थस्वरूपसे ही स्थित है। महामते! इस विषयमें कभी किसीने अपने उत्तम बोधकी पुष्टिके लिये मुझसे एक महान् प्रश्न किया था। तुम उस उत्कृष्ट एवं महान् प्रश्नको सुनो। त्रिलोकीमें जिसकी बड़ी ख्याति है और जो दोनों ओरसे दो समुद्रोंद्वारा

घिरा हुआ है, वह कुशद्वीप इसी भूतलपर स्थित सात महाद्वीपोंमेंसे एक है। वह भूमण्डलको कंगनके आकारमें घेरकर बसा हुआ है। वहाँ पूर्वोत्तर दिशामें इलावती नामसे प्रसिद्ध एक सुवर्णमयी-सी नगरी है। उस नगरीके पूर्वभागमें एक राजा थे, जिनका नाम प्रज्ञप्ति था। जगत्के सारे प्राणी उनमें अनुरक्त थे। वे इस सृष्टिमें दूसरे इन्द्रके समान प्रतिष्ठित थे। एक समय किसी कारणवश मैं प्रलयकालमें आकाशसे गिरे हुए सूर्यकी भाँति उस राजाके समीप जा पहुँचा। उसने पुष्प, अर्घ्य और आचमनीय आदिके द्वारा मेरी पूजा की और पास बैठकर मुझसे बहुत से प्रश्न किये।

(सर्ग २०४-२०६)

यह जगत् ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्म ही है, इसका विवेचन

राजाके प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने कहा—राजन्! मैं तुमसे स्पष्ट शब्दोंमें तत्त्वज्ञानकी बात बता रहा हूँ, जिससे तुम्हारे सारे संदेह पूर्णतः निर्मूल हो जायँगे। पहले यह समझ लो कि जगत्के सारे पदार्थ सदा ही असत् हैं और सदा ही ये सत् भी हैं; क्योंकि इनकी स्थिति कल्पनाके अनुसार है। जहाँ अमुक वस्तु इस रूपमें ही है, ऐसी निश्चित बुद्धि होती है, वहाँ वह पदार्थ वैसा ही होता है, फिर वह सत् हो या असत्। इस विषयमें आग्रह नहीं है। जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा चिदात्मा ही स्वप्नगत जगत्के आकारमें भासित होता है, उसी प्रकार सृष्टिके आरम्भमें समस्त कारणोंका अभाव होनेसे चिदाकाश ही इस जाग्रत् जगत्के आकारमें भासित होता है। इसलिये इस जाग्रत्कालिक जगत्में स्वप्नजगत्से भिन्नता क्या है? इस प्रकार विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इस जगत्के रूपमें भासित होता है, इसलिये इस जगत्में ब्रह्मसे भिन्नता क्या रही? इस प्रकार निर्विकार परब्रह्म परमात्माकी ही जगत्के रूपमें स्थिति होनेके कारण जगत् विशुद्ध ब्रह्म ही है। लोक, वेद और महान् शास्त्रोंद्वारा पूर्वापर विचार करके मैंने यही अनुभव किया है और इस अनुभूति—ज्ञानको ही यहाँ प्रकट किया है। समस्त भूतोंमें नित्य चिदात्मा ही सत्तारूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है—इस बातको महात्मा पुरुषोंने भी बारबार कहा है, तथापि जगत्की नित्य चैतन्यरूपताका अपलाप (निराकरण) करके जो मूढ मनुष्य अन्धकारपूर्ण कूपमें रहनेवाले मेढकोंके समान व्यर्थ ही टर्र-टर्र करते हैं; आपाततः वर्तमान नाम-रूपके अनुभवको ही प्रमाण मानकर यह कहते हैं कि संवित् या चेतनता कोई नित्यवस्तु नहीं है। वह शरीरसे ही प्रकट होती है; इसलिये शरीर ही उसका कारण है। दूसरे शब्दोंमें उनका कहना है कि जडसे ही चैतन्यकी अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी भ्रान्त धारणासे जो लोग मोहमें पड़े हुए हैं, वे उन्मत्त हैं—पागल हैं और मूर्ख हैं। ऐसे लोग हमलोगोंकी ज्ञानचर्चामें भाग लेने योग्य नहीं हैं। जिनका मस्तिष्क ठीक है, उनमें और पागलोंमें क्या बातचीत हो सकती है! वैसे ही मूर्खों और तत्त्वज्ञानियोंमें संलाप होना कैसे सम्भव है! जिस विद्वत्कथासे सारे संदेहोंका निवारण न हो जाय, वह तीनों लोकोंमें कहीं भी क्यों न हुई हो, उसे मूर्ख-कथा ही समझना चाहिये।

राजन्! प्रजाजनोंको अपने घरमें रहते हुए भी सम्बन्धशून्य, आकाररहित और दूर देशमें घटित वृत्तान्तोंद्वारा जिस प्रकार शुभाशुभ फलकी प्राप्ति होती है, उसे बताता हूँ, सुनो—ब्रह्म ही अज्ञानवश दृश्य समझ लिया गया है, इसलिये दृश्यके रूपमें प्रतीत होता है और जब उसकी ब्रह्मस्वरूपताका बोध हो जाता है, तब यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्म ही है, ऐसा अनुभव होने लगता है। इसलिये यह जगत् ब्रह्मसंकल्पनगरके रूपमें स्थित है। संकल्पनगरमें जब जिस-जिस वस्तुके विषयमें जैसा संकल्प किया जाता है, वह-वह वस्तु उस समय वैसी ही आकृति धारणकरके अनुभवमें आने लगती है। जैसे तुम्हारे इस संकल्पगृहमें जो

यह प्रजा है, वह तुम्हारे संकल्पके अनुसार बनी है, उसी तरह ब्रह्मके संकल्पसे सम्पन्न हुए जगत्में यह प्रजा ब्रह्म-संकल्पके अनुसार ही होती है। अपने इस संकल्पनगरमें जैसा तुमने चाहा है, वैसा सब कुछ यहाँ स्थित है और आगे जैसा संकल्प करोगे, वैसा ही सब कुछ देखोगे।

राजन्! चिदाकाशके संकल्प-नगरके भीतर स्थित हुए इस दृश्यजगत्का ऐसा स्वभाव ही है कि यह कभी प्रकट होता है कभी लुप्त हो जाता है और फिर क्षण-भरमें ही प्रकट हो जाता है। बच्चोंके संकल्प-नगरके समान तथा आकाशमें स्थित केशोंके वर्तुलाकार गोले आदिकी भाँति ये सत्-असत्-रूप असंख्य सर्ग चेतनाकाशमय परमात्मामें भासित होते हैं। तुम एक संकल्प-नगरका निर्माण करके दूसरे संकल्पके वशीभूत हो स्वयं ही उसी क्षण उसका विनाश कर डालते हो। यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है, वैसे ही चिदाकाशके संकल्प-नगरमें जो उन्मज्जन निमज्जन—उन्मेष-निमेष होते हैं, वह ब्रह्मके स्वभावका निर्मल विकास ही है, ऐसा समझो। इसलिये चैतन्यघन, अनादि-अनन्त ब्रह्माकाश ही त्रिलोकाकाश बना हुआ है। इस कारण वह आज जो कुछ भी करता और सोचता है वह सब उस आवरण-रहित ब्रह्म परमात्माके सत्यसंकल्पसे सैकड़ों योजन दूर और अनेक युगोंके व्यवधानके बाद भी समीप और वर्तमान कालमें किये गये कर्मकी भाँति अपना फल प्रकट करनेवाला होता है। देशान्तर और कालान्तरमें भी जो आवरणशून्य एकमात्र आत्मा है, उसमें देश और काल दोनोंका सदा सांनिध्य रहता है; इसलिये कौन-सा ऐसा कर्म और फल है, जिसे वह न जानता हो। जैसे चमकती हुई मणिमें अपनी कान्तिसे ही दीप्तिविशेषके आविर्भाव-तिरोभावका अनुभव होता है, उसी प्रकार चिदाकाशरूपी मणिमें जगतोंके सृष्टि, प्रलय और विविध फलभोगरूप परिवर्तन अनुभूत होते हैं। शास्त्रके विधि और निषेधसम्बन्धी वचनोंका प्रयोजन है लोकमर्यादाकी रक्षा। वह सर्वव्यापी ब्रह्मके संकल्पमें स्थित है, इसलिये परलोकमें भी जीवको फलकी प्राप्ति करानेवाली होती है। ब्रह्म न कभी उदित होता है, न अस्त। जैसे द्रष्टा, दृश्य आदिकी कल्पनासे युक्त जो तुम्हारा कल्पना-नगर है, वह स्वयं तुम हो, उसी प्रकार ब्रह्मके संकल्पसे प्रकट हुआ जगत् स्वयं ब्रह्म ही है। जब वह जगत्के रूपमें भासित होता है, उस समय 'जगत्की सृष्टि हुई,' ऐसा कहा जाता है; परन्तु यह केवल कहनेके लिये है, वास्तवमें ऐसी बात नहीं है।

चिद्-घन परमात्माका यह सुस्पष्ट स्वभाव हो है कि वह जिस-जिसका संकल्प करता है, तत्काल ही वे पदार्थ वहाँ अवयवोंसहित प्रकट हो जाते हैं। संकल्प-कल्पित पदार्थ स्वभाववश नानारूपसे स्थित होनेपर भी परब्रह्ममें चिन्मय-रूपसे भासित होते हैं तथा स्वभावतः अनेक आकारवाले होनेपर भी उनका सार-तत्त्व एक ही होता है अर्थात् वे सद्रूपसे एक ही होते हैं। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त शक्तिशाली ब्रह्म किंचित्-अकिंचित् तथा सत्-असत् दोनों रूपोंसे स्थित है। वह सर्गात्मक है, इसलिये प्राणियोंमें और तृण-गुल्म तथा पेड़-पौधे आदिमें, जहाँपर जो वस्तु जैसे और जिस स्वभावसे स्थित है वहाँपर वैसे स्वभावसे युक्त होकर वह स्वयं ही विराजमान है।

राजन्! संकल्प-नगररूप इस जगत्में जो असम्भव हो ऐसी कोई बात नहीं है। वह जगत् अपने संकल्प-कर्ता इस चिदात्मा परब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इसलिये तुम सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्म ही समझो।

(सर्ग २०७–२०९)

राजा प्रज्ञप्तिके प्रश्नोंपर श्रीवसिष्ठजीका विचार एवं निर्णय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! यदि ध्यान करनेवाला उपासक आत्मज्ञानके सुखकी अनुभूतिसे वञ्चित होनेके कारण यही चिन्तन करे कि 'मैं इस चन्द्रमामें ही प्रवेश करूँ' तो वह इसीमें प्रवेश करता है । 'मैं चन्द्रमण्डलके सुखसे सम्पन्न होकर चन्द्रमामें प्रवेश करूँ' ऐसा चिन्तन करनेवाला उपासक वैसे ही सुखका भागी होता है, यह निश्चय है । वह उपासक दृढ़ निश्चयके साथ जैसे स्वभावका ध्यान करता है, उसकी अक्षय चेतना वैसे ही स्वभावका अनुभव करती है । जैसे सभी ध्यानकर्ताओंको अपने-अपने संकल्पके अनुसार पृथक्-पृथक् चन्द्रत्वका अनुभव होता है, वैसे ही स्त्रीचिन्तन करनेवाले पुरुषोंको अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार अलग अलग काल्पनिक स्त्रीलाभकी प्रतीति होती है । जो घरसे बाहर न निकलकर भी सातों द्वीपोंका राजा बना बैठा है, उसका वह कल्पनासिद्ध साम्राज्य उसके घरमें ही चिदाकाशके भीतर भासित होता है ।

राजन् ! दान, श्राद्ध, तप और जप आदि अमूर्त कर्मोंका परलोकमें जो मूर्तिमान् फल प्रकट होता है वह कैसे सम्भव है, यह बताया जाता है, सुनो । उनकी बुद्धि उन दान आदि सत्कर्मोंके संस्कारसे भावित होती है । अतः वे परलोकमें अमूर्त रहकर ही मूर्तिमान् फलको देखते और अनुभव करते हैं । वह फल चिन्मय स्वरूपसे ही अनुभवमें आता है । मन और ज्ञानेन्द्रियोंसे वेदना और अवेदनाकार भ्रान्ति होती है । इस भ्रान्तिके द्वारा विषयप्राप्तिके लिये वह चिन्मय जीव मनसहित कर्मेन्द्रियोंसे प्रेरित हो सचेष्ट एवं निश्चेष्ट होता है । फिर उस भ्रान्तिकी निवृत्ति होनेपर वह निर्मल, शान्त, चिन्मय आत्मा ही शेष रहता है । इस लोकमें किये गये दानसे परलोकमें चिन्मय संकल्परूप भिन्न-भिन्न फलकी प्राप्ति होती है । उसे संकल्पस्वरूप जीव प्राप्त करता है । ऐसा विद्वानोंका कहना है । फिर वह फल परलोकमें क्यों न मिले । इस कल्पनामय संसारमें अकृत्रिम संकल्प ही चिन्मय फलरूप होकर चारों ओर उपलब्ध होता है । भले ही वह दान न करनेके कारण दारिद्र्यजनित दुःखके रूपमें प्राप्त हुआ हो अथवा दान करनेसे ऐश्वर्य-भोगके रूपमें उपलब्ध हुआ हो । वह सब का-सब होता है चिन्मय ही । राजन् ! तुमने जैसा पूछा था, उसके अनुसार यह सब मैंने बता दिया । यह सारा जगत् आकारशून्य तथा चिन्मय ब्रह्मका संकल्पमात्र है ।

राजाने पूछा—भगवन् ! सृष्टिके आदिमें जब एक निराकार चिदाकाश ही था, तब उसके द्वारा देहकी कल्पना कैसे सम्भव हुई (क्योंकि शरीरमें ही चैतन्यकी अभिव्यक्ति देखी जाती है, अव्यक्त चैतन्यमें भ्रान्ति आदि नहीं देखी जाती । ऐसी दशामें पहले भ्रान्तिकी सिद्धि हो, तब देहकी सिद्धि हो सकती है और देहकी सिद्धि हो तभी भ्रान्तिकी सिद्धि हो सकती है, यह अन्योन्याश्रय दोष आता है) । तथा शरीरके बिना चैतन्यकी अभिव्यक्ति कैसे सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजी बोले—महामते ! तुमने देह शब्दका जो अर्थ समझा है, वह तत्त्वज्ञानीके प्रति उसी तरह असम्भव है, जैसे आकाशमें पत्थरोंका नाचना । तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें जो ब्रह्म शब्दका अर्थ है, वही देह शब्दका भी अर्थ है । इन दोनोंके अर्थमें वैसे ही भेद नहीं है, जैसे अम्बु और अम्भस् शब्दोंके अर्थमें (अम्बु और अम्भस् दोनों जलके ही वाचक हैं, उसी तरह ब्रह्म और देह एक ही अर्थके बोधक हैं) । स्वप्नदेहके समान यह शरीर भी ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है । यदि कहो कि स्वप्नदेह भी ब्रह्म ही है तो उसे भिन्न-सा मानकर उसका दृष्टान्त क्यों दिया जाता है ? तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि यह तुम्हारे समझनेके लिये युक्तिमात्र दी गयी है । वास्तवमें स्वप्नदेहको उससे भिन्न बताना

अभीष्ट नहीं है; क्योंकि स्वप्न भी ब्रह्म ही है। स्वप्नका तुम्हें अनुभव है, इसलिये उसके द्वारा तुम्हें समझाया जाता है। 'स्वप्नमें यह शरीर कौन है, ये स्वप्नगत पदार्थ किसके हैं अथवा किसमें स्वप्नबुद्धि है' इत्यादि रूपसे विचार करके ज्ञानीके द्वारा समझे गये भ्रमरूपी स्वप्नसे अज्ञानीको बोध कराया जाता है। ब्रह्ममें न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है और न और ही कुछ है। किंतु मन-वाणीसे अगोचर, तुरीय ओङ्कारस्वरूप परम पुरुषार्थमय, स्वयप्रकाश चिदाकाश ही इस जगत्के रूपमें भासित होता है। आज जो यह विश्व इस तरह भासित-सा होता है, इसे अभासित ही समझो। पहले जिस तरह सच्चिदानन्दघनरूपसे भासित था, उसी तरह वह अब भी अत्यन्त निर्मल है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाएँ इसमें कदापि नहीं हैं। यह द्वैत-अद्वैत सब कुछ ब्रह्ममय ही है। पूर्ण परब्रह्म परमात्मासे पूर्ण-का ही प्रसार होता है। अतः पूर्ण परमात्मरूपसे ही यह जगत् स्थित है। न तो कभी इसका भान हुआ है और न अभान। स्फटिक शिलाके घनीभूत मध्यभागकी भाँति यह सदा सच्चिदानन्दघन ही है। लोक, शास्त्र, वेद आदिमें जो वस्तु युक्ति, प्रमाण और अनुभवसे सिद्ध है, वह सिद्ध ही है। वही वस्तु स्वानुभवसे जानी जाती है। अतः परम पुरुषार्थ-रूपसे फल देती है। अन्य सब वस्तुओंका निराकरण करके जिस एक वस्तुका चिरकालतक चिन्तन किया जाता है, उसीकी अवश्य प्राप्ति होती है। लोकमें सब जगह देखा जाता है कि दूसरी-दूसरी वस्तुएँ भी चिरकालतक चिन्तित या भावित होनेपर अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। महात्मन्! मतिमान् नरेश! इस प्रकार मैंने तुम्हारे महान् प्रश्नोंपर विचार करके यह अपना निर्णय बताया है। तुम शीघ्रतापूर्वक इसी मार्गके पथिक बन जाओ तथा मनसे निश्चिन्त, शरीरसे नीरोग और इन्द्रियोंसे वासनाशून्य होकर सर्वश्रेष्ठ हो जाओ। (सर्ग २१०)



सिद्ध आदिके लोकोंकी संकल्परूपता बताते हुए इस जगत्को भी वैसा ही बताना और ब्रह्ममें अहम्भावका स्फुरण ही हिरण्यगर्भ है, उसका संकल्प होनेके कारण त्रिलोकी भी ब्रह्म ही है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इलावती नगरीमें बैठकर राजा प्रज्ञप्तिपर अनुग्रह करनेका जो मेरा प्रयोजन था, उसे पूरा करके उस राजाद्वारा सम्मानित मैंने स्वर्ग-लोकमें जानेके लिये आकाशमार्गका आश्रय लिया।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओंके लोक तथा वहाँके निवासी कैसे दिखायी देते हैं? यह मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर, देवताओं तथा अन्य अपूर्व महात्मा प्राणियोंके लोकोंको यदि तुम विशेष धारणाओंद्वारा देखनेका प्रयत्न करो तो प्रतिरात, प्रतिदिन, आगे, पीछे, ऊपर और नीचे देख सकते हो और न देखना चाहो तो नहीं देख सकते हो। जैसे सिद्धोंके ये कल्पनालोक हैं, उसी तरह हमारा यह लोक भी काल्पनिक ही है।

सिद्धोंने लोकोंकी रचना करके अपने संकल्पसे उन सबको स्थिर कर लिया है। सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार शान्तस्वरूप चिदाकाश ही है। जिसने जैसा दृढ निश्चय किया, उसकी दृष्टिमें यह वैसा ही प्रतीत होता है। उससे भिन्न प्रकारका नहीं। जो वस्तु दृढ निश्चयसे प्रकाशित होती है, वह चिन्मय स्वभावसे युक्त होनेके कारण प्रकाशरूपसे ही भासित दिखायी देती है। किंतु यह विश्व किसीको दृढ निश्चयपूर्वक विदित नहीं है; इसलिये इसमें स्वभावतः चित्सत्ता और स्फूर्तिकी व्याप्ति नहीं है। इसलिये यह सब शून्य और निराकार

है । ब्रह्म जैसा पहले था, ठीक वैसा ही अब भी है । उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं आता । जैसे स्वप्नमें चिदाकाश अपने स्वरूपसे च्युत हुए बिना ही स्वप्नगत पदार्थोंके रूपमें भासित होता है, उसी प्रकार चिदाकाश अपने स्वरूपसे विकृत हुए बिना ही इस विश्वके रूपमें प्रतीत होता है । वह इस विश्व-विवर्तका अधिष्ठान ही है । न तो कारण है और न विकारी है । संकल्पमें चित्त जैसे आकारकी कल्पना करके पर्वत आदिकी लीलासे उदित होता है, वास्तवमें न वह पर्वत है और न वह आकाश है, उसी तरह ब्रह्ममें जगत्‌की स्थिति है । ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें प्रतीत होता है, ब्रह्मसे भिन्न जगत्‌की कोई सत्ता नहीं है । परम बुद्धिमान् जीवन्मुक्त महात्मा सब प्रकारकी चेष्टाओंसे विरत होते हुए भी कठपुतलियोंके समान व्यवहार करते हुए-से प्रतीत होते हैं । जैसे संकल्प-नगर निराकार होता हुआ भी चित्तके समक्ष साकार-सा स्थित होता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें स्थित यह जगत् निराकार होनेपर भी साकार-सा दीखता है; परंतु वास्तवमें निराकार ही है । ये तीनों लोक चिरकालसे अनुभूत और अर्थक्रियाकारी होनेपर भी स्वप्न-नगरके समान निराकार तथा शून्य ही है । चिरकालसे पुरुषके नित्य अनुभवमें आनेपर भी यह जगत्‌रूपी पदार्थ उसी तरह कुछ भी नहीं है, जैसे स्वप्नमें ही अपना मरण । स्वप्नमें मरे हुए पुरुषको अपना दाह-संस्कार भी होता दिखायी देता है । वह असत् होकर भी सत्-सा भासित है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें दीखनेवाला जगत् भी असत् ही है; किंतु भ्रमसे सत्-सा प्रतीत होता है ।

रघुनन्दन ! ब्रह्माकाश चिन्मय होनेके कारण स्वयं ही अपनेको 'मैं अहंकारात्मक समष्टिरूप हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसा अनुभव-सा करता है । उसका यह संवेदन ही परमेष्ठी हिरण्यगर्भका स्वरूप है और यह त्रिलोकी उस हिरण्यगर्भका ही संकल्प है । ऐसी स्थितिमें न तो ब्रह्मा कभी उत्पन्न हुआ और न इस दृश्य जगत्‌की ही उत्पत्ति हुई । अजन्मा परब्रह्म परमात्मा ही पूर्ववत् जैसे-का-तैसा विराजमान है । चिदाकाशमें जो जगत्‌का रूप भासित होता है, वह उसकी प्रातिभासिक सत्ता ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं है । वह मृगतृष्णाके समान मिथ्या ही है । दिखायी देनेपर भी असत् ही है । जगत्‌के रूपमें यह सूनी ही भ्रान्ति प्रकट हुई है अथवा वह भी प्रकट नहीं हुई है । भ्रान्ति क्या है और कहाँसे आयी है, सर्वत्र सदा सब कुछ निराकार ब्रह्म ही तो है । जगत् ब्रह्मरूपी जलका भँवर है । इसमें द्वैत और एकत्व कैसा ? भँवर और जलमें कहाँ द्वैत है, और जब द्वैत ही नहीं है तब एकता भी कहाँ क्या हुई ? जैसे वायु अपने स्पन्दनको, आग अपनी उष्णताको और पूर्ण चन्द्रमा अपनी शीतलताको जानता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी सत्ताको स्वयं ही अर्थरूप होकर जानता है । इस प्रकार यह ब्रह्म सदा ही अपने इस स्वरूप-स्फुरणको तथा 'अहम्' आदि अहंकारात्मक समष्टिको जानता है । सृष्टि, उसका अभाव तथा आकाशरूप ब्रह्म सर्वत्र तथा सर्वदा है । अविद्यादृष्टिसे कभी इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ और विद्यादृष्टिसे देखनेपर यह जगत् कभी कुछ रहा ही नहीं । श्रीराम ! बद्ध-पुरुषकी दृष्टिसे ब्रह्म सदा त्रिभुवन-सा भासित होता है । किंतु मुक्तकी दृष्टिसे यह सब शान्त एवं सम ब्रह्म ही है । यहाँ नाना पदार्थोंकी कोई सत्ता नहीं है । आकाशसे कभी वृक्ष और पर्वत नहीं उत्पन्न होते हैं, उसी तरह ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति नहीं होती है । ऐसा निश्चय करके परम शान्त हो जाना चाहिये ।

श्रीरामजी बोले—ब्रह्मन् ! उस परमपदमें अहंभावका भान होनेपर आगे क्या होता है, आप यह जान चुके हैं । अतः आपसे इस विषयको मैं सुनना चाहता हूँ । मुझे सुननेसे तृप्ति नहीं हो रही है ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! परमपदमें अहंभावकी

स्फूर्ति होनेपर उसमें सबसे पहले आकाशसत्ताका अध्यास होता है; फिर दिक्-सत्ता, कालसत्ता और भेद सत्ताका उदय (अध्यास) होता है। जब आत्माको देह आदिमें अहंका भान होता है, तब देहसे भिन्न स्थलमें 'यहाँ मैं नहीं हूँ' इसका भी अवश्य भान होता है। यह देशकृत परिच्छेद कहलाता है। इस रीतिसे आत्मा ही नाना प्रकारका कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेद स्वीकार करके बिना क्रमके ही द्वैतरूप होकर आकाशमें उदित होता है। फिर इन पूर्वोक्त आकाशात्मक पदार्थभेद-सत्ताओंके नामकरणकी बुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे जाति, गुण और क्रिया आदिकी दृष्टिसे इनमें परस्पर भेद किया जा सके। परंतु वास्तवमें वह सब चिदाकाश ही है। इस प्रकार निराकार परमपदमें अहंभावसे देश, काल आदिकी कल्पनाओंके सिद्ध होनेपर अर्थात् उस परब्रह्म परमात्माके देश-कालादि-रूपसे स्थित होनेपर जो यह दृश्य नामक आभासरूप वस्तुकी प्रतीति होती है, वह सब निर्बाध ब्रह्म ही है, जो ब्रह्मसे भिन्न-सा प्रतीत होता है।

रघुनन्दन! तुम तो समस्त दृश्य पदार्थोंसे मुक्त, सब ओर प्रकाशमान, सर्वस्वरूप, निर्मलस्वभाव, आत्मनिष्ठ, निरतिशय आनन्दमय, परमशान्तचित्त, आकाशके समान मनोहर एवं तृष्णारहित हो। अब तुम धर्मके अनुसार राज्यका पालन करो।

(सर्ग २११-२१३)

सभासदोंका कृतार्थता-प्रकाशन तथा वसिष्ठजीकी आज्ञासे महाराज दशरथका ब्राह्मणोंको भोजन कराना और सात दिनोंतक दान-मानसे सम्पन्न उत्सव मनाना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! महामुनि वसिष्ठजी जब इतना कह चुके, तब तत्काल ही आकाशसे वर्षा करनेके लिये जलसे भरे हुए मेघके समान गम्भीर घोषके साथ देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं। भूतलपर हिमकी वर्षाके समान दिव्य पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी, जिसने समस्त दिग्वधुओंके मुख उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित कर दिये। उस सभामें यथास्थान नीचे बैठे हुए समस्त सभासदोंने वे दिव्य पुष्प लेकर वसिष्ठजीके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पित की और सबने सब प्रकारसे दुःख-शोकको त्याग दिया।

तत्पश्चात् राजा दशरथ बोले—भगवन्! आपके उपदेशसे हमारी आत्मा परमपदमें सुखपूर्वक प्रवेश पानेके योग्य हो गयी है। हम संसाररूपी अत्यन्त विस्तृत एवं दुर्गम मार्गपर चिरकालसे चलते रहनेके कारण थक गये थे। परंतु आज आपकी उपदेश-वाणीसे शुद्ध हो उस परमपदमें उसी तरह विश्रामका सुख उठा रहे हैं, जैसे शरत्कालके उज्ज्वल मेघ हिमालय आदि पर्वतपर विश्राम करते हैं। पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये अवश्य करने योग्य कर्मोंकी अवधि आज पूरी हो गयी—हमलोग कृतकृत्य हो गये। हमने आपत्तियोंकी चरम सीमा देख ली—अब इनसे पिण्ड छूट गया; क्योंकि हमें ज्ञेय-तत्त्वका सम्पूर्ण रूपसे ज्ञान हो गया और हम परमपदमें विश्राम पा रहे हैं।

श्रीरामजी बोले—मुनीश्वर! आपकी वाणी सुनकर इतना सुख मिल रहा था, मानो अमृतका अभिषेक प्राप्त हो रहा हो। उसे बारंबार याद करके मैं परम पूजित और शान्त होनेपर भी रह-रहकर हर्षित-सा हो उठता हूँ। अब मुझे न तो कोई कर्मसे प्रयोजन है और न उसे न करने (छोड़ने) से ही। मैं जैसे हूँ, उसी तरह निश्चिन्त हूँ। आपके उस उपदेश-वचनसे विश्राम-सुखका जैसा उपाय प्राप्त हुआ है, वैसा दूसरा कौन होगा, दूसरी दृष्टि भी कैसी होगी? अहो! हमें विश्रामसुखकी असीम विस्तार-वाली भूमि प्राप्त हो गयी है। आपकी कृपाके बिना मनुष्य इस

ज्ञान-दृष्टिको कैसे जान सकता है ? भला, पुल या जहाजके बिना बालक समुद्रको कैसे पार कर सकता है ?

लक्ष्मणजी बोले—आज मुनिवर वसिष्ठजीकी वाणीसे जो बोध प्राप्त हुआ है, वह अनन्त जन्म-जन्मान्तरोंसे बढ़ी हुई दुर्वासनाओंके कारण उत्पन्न होनेवाले संशयोंका नाशक है तथा जन्म-जन्मान्तरोंसे संचित किये गये सैकड़ों पुण्योंके उत्तम फलको प्रकट करनेवाला है । इस बोधसे विचारके लिये उद्यत हुए मेरे मनमें आज पूर्ण चन्द्रमाके समान आह्लाद प्रदान करनेवाला परमात्मप्रकाश उदित हो गया है । ऐसी निरतिशयानन्द प्रकाशरूप आत्मदृष्टिके प्रत्यक्ष दिखायी देनेपर भी लोग अपने दुर्भाग्यके कारण सैकड़ों दोषपूर्ण दशाओंद्वारा दुःखकी आगसे सूखे काठकी भाँति जलाये जा रहे हैं । यह महान् आश्चर्य है ।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—अहो ! हमारे लिये बड़े हर्षकी बात है कि वसिष्ठ मुनिके मुखसे हमें यह परम पवित्र महान् ज्ञान सुननेको मिला, जिससे हमलोग सहस्रों बार गङ्गामें स्नान किये हुएके समान अत्यन्त पवित्र होकर बैठे हैं ।

नारदजीने कहा—मैंने ब्रह्मलोकमें, स्वर्गमें और भूतऊपर भी आजसे पहले जिसे नहीं सुना था, उस परम तत्त्वज्ञानको सुनकर मेरे दोनों कान पवित्र हो गये।

शत्रुघ्नने कहा—भगवन् ! आपके उपदेशसे मैं परमानन्दमें निमग्न हूँ । शान्त हूँ । परमपदको प्राप्त हो गया हूँ और सदाके लिये परिपूर्ण हूँ। केवल सुखस्वरूपसे स्थित हो गया हूँ ।

राजा दशरथ बोले—हमारे अनेक जन्मोंके संचित पुण्यसे ही इन धीर मुनीश्वरने हमको उस परम उत्तम ज्ञानका उपदेश दिया, जिससे हम सभी परम पवित्र हो गये ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब राजाके साथ समस्त सभासद् वहाँ इस तरहकी बातें कह रहे थे, उस समय महर्षि वसिष्ठ ज्ञानसे पवित्र हुई वाणीद्वारा यों बोले—'राजन् ! रघुकुलचन्द्र ! अब मैं जो कहता हूँ, उसे करो । इतिहास-कथा सुननेके पश्चात् ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये । इसलिये आज इन ब्राह्मणसमूहोंको सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ देकर इनकी अभिलाषा पूर्ण करो । इससे तुम्हें वेदार्थतुल्य इस महारामायणके श्रवणका पूरा-पूरा तथा अक्षय फल प्राप्त होगा। मोक्षकी उपायभूत कथा-वस्तुकी समाप्ति होनेपर एक तुच्छ एवं दरिद्र मनुष्यको भी अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणका पूजन करना चाहिये । फिर आप-जैसे महाराजके लिये तो कहना ही क्या है !

मुनिका यह वचन सुनकर राजा दशरथने सहस्रों वेदवादी ब्राह्मणोंको दूत भेजकर बुलवाया । मथुरामें, सुराष्ट्र देशमें तथा गौड़ देशमें जो ब्राह्मण निवास करते थे, उनके कुलोंसे ब्राह्मणोंको बुलवाकर उन सबका पूजन किया । अधिक-से-अधिक ज्ञान-विज्ञानवाले ब्राह्मणोंको प्रधानता देते हुए भूपालने दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया और उन्हें उनकी रुचिके अनुसार भोजन करानेके पश्चात् दान-दक्षिणा भी दी । इस तरह ब्राह्मणोंका पूजन करके देवताओं, पितरों, राजाओं, पुरवासियों, मन्त्रियों, सेवकों, दीन-दुखियों तथा अन्धोंको भी भोजन एवं दान-मानसे संतुष्ट किया । इस प्रकार संसारकी सीमाके अन्तमें पहुँचे हुए राजा दशरथने उस दिन बड़ा भारी उत्सव किया। महाराज दशरथ अविनाशी परमपदको प्राप्त हो चुके थे। बोधरूपी सूर्यके उदयसे संसाररूपी रात्रिका अन्त हो गया था । इसलिये वे बड़े हर्षसे लगातार सात दिनोंतक महान् उत्सव मनाते रहे । जिसमें दान, भोजन तथा धन-वितरणका कार्यक्रम निरन्तर चलता रहा ।

(सर्ग २१४)

श्रीवाल्मीकि-भरद्वाज-संवादका उपसंहार, इस ग्रन्थकी महिमा तथा श्रोताके लिये दान, मान आदिका उपदेश

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—मेरे शिष्यशिरोमणि परम-बुद्धिमान् भरद्वाज ! इसी प्रकार तुम भी इसी कमनीय तथा निर्मल ब्रह्मात्मदृष्टिका दृढ़तापूर्वक अवलम्बन करके वीतराग संदेहशून्य शान्तचित्त जीवन्मुक्त होकर सुखसे रहो । निष्पाप भरद्वाज ! इस ज्ञानका आश्रय ले तुम्हारी बुद्धि यदि आसक्तिशून्य रही तो घने मोहान्धकारमें पड़ने और मूढ़ होनेपर भी नष्ट नहीं होगी। बेटा भरद्वाज ! तुम्हारी बुद्धि तो स्वाभाविक ही आसक्तिके बन्धनसे मुक्त है । परंतु आज इस मोक्षसंहिताको सुनकर तुम वास्तवमें मुक्ततर हो गये—सर्वश्रेष्ठ जीवन्मुक्त हो गये । इन पवित्र तथा ब्रह्मका प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान करनेवाले मोक्षोपायोंका यदि कोई बालक भी श्रवण कर ले तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है । फिर तुम-जैसे महात्मा पुरुषके लिये तो कहना ही क्या है ? सत्पुरुषोंकी नीति (शिक्षा)से, उनकी उत्तम सेवासे, उनके सामने प्रश्न करनेसे तथा उनकी उदारतापूर्ण ज्ञानचर्चामें भाग लेनेसे प्रमादशून्य श्रेष्ठ-बुद्धिवाले अधिकारी पुरुष उसी प्रकार ज्ञेय आत्मतत्त्वको जान लेते हैं, जैसे श्रीवसिष्ठ-जीके सङ्गसे श्रीराम आदिने जाना था। तृष्णारूपी चर्ममयी रस्सीसे दृढ़तापूर्वक बँधी हुई अज्ञानीके हृदयमें जो देह और इन्द्रिय आदिके प्रति तादात्म्याध्यासरूप तथा पुत्र-कलत्रादिके प्रति ममतारूप ग्रन्थियाँ बद्धमूल हो गयी हैं, वे सब इस मोक्षशास्त्रकी कथाओंपर विचार करते रहनेसे सर्वथा खुलकर एकरसताको प्राप्त हो जाती हैं । बेटा ! दूसरी बहुत-सी बातें कहनेसे क्या लाभ ? इतना ही जान लो कि जो लोग इन महामहिमा-शाली मोक्षोपायोंका ज्ञान प्राप्त करेंगे, वे तत्त्व-वेत्ताओंमें श्रेष्ठतम होकर फिर कभी संसारबन्धनमें नहीं पड़ेंगे । जो सत्पुरुष इस ग्रन्थको बहुश्रुत विद्वान्के सामने स्वयं भलीभाँति विचारकर इसे पूर्णतः समझ लेनेके पश्चात् स्वयं भी सुननेकी इच्छावाले लोगोंको उपदेश देंगे, वे पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होंगे । उन्हें दूसरे वचनोंका आश्रय लेनेकी क्या आवश्यकता है ? जो अर्थानुसंधानकी अपेक्षा न रखकर केवल इसका पारायण करेंगे अथवा जो इस पुस्तकको लिखेंगे तथा जो उत्तम तीर्थक्षेत्रमें व्याख्यानकुशल श्रेष्ठ वक्ताको इसकी कथा कहनेके लिये नियुक्त करेंगे, वे यदि सकामभाववाले होंगे तो राजसूययज्ञके फलसे युक्त हो बारंबार स्वर्गलोकमें जायँगे और यदि निष्काम होकर उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुलमें जन्म तथा सद्गुरुके मुखारविन्दसे सत्-शास्त्रके श्रवणका सुयोग पाकर तीसरे जन्ममें उसी तरह मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, जैसे पुण्यवान् पुरुष धन-सम्पत्तिको पा लेते हैं । पूर्वकालमें अचिन्त्यरूपवाले ब्रह्माजीने मेरेद्वारा रचित इस ग्रन्थपर पूर्ण विचार करके यह बात कही थी कि 'इसमें सत्यस्वरूप ब्रह्मका निर्वचन होनेके कारण यह मोक्षमयी उत्तम संहिता है ।' उन महर्षिकी यह वाणी असत्य नहीं हो सकती । मोक्षोपाय नामक कथात्मक प्रबन्धरूप इस महारामायणकी कथा समाप्त होनेपर उत्तम बुद्धिवाले श्रोताको चाहिये कि वह वक्ताको प्रयत्नपूर्वक सुन्दर भवन देकर अभीष्ट अन्न-पानके दानसे ब्राह्मणोंका पूजन करे । इतना ही नहीं, उन सबको यथाशक्ति मनोवाञ्छित धनकी दक्षिणा आदि भी देनी चाहिये । भरद्वाज ! तुम्हें बोध प्रदान करनेके लिये मैंने सैकड़ों कथा-क्रमोंसे विशाल कलेवर हुए इस निर्मल दृष्टान्तों और युक्तियोंसे सम्पन्न तथा ब्रह्मतत्त्वकी विस्तृत व्याख्यासे युक्त 'महारामायण' शास्त्रको श्रवण कराया है । इसे सुनकर जीते-जी ही समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर ज्ञान, तपस्या और कर्मके फलसे युक्त अक्षय सम्पत्ति प्राप्त करके सदाके लिये पूर्ण परमानन्दमें निमग्न हो जाओ । (सर्ग २१५)

अरिष्टनेमि, सुरुचि, कारुण्य तथा सुतीक्ष्णकी कृतकृत्यताका प्रकाशन, शिष्योंका गुरुजनोंके प्रति आत्मनिवेदन तथा ब्रह्मको एवं ब्रह्मभूत वसिष्ठजीको नमस्कार

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—राजन् ! वसिष्ठजीका श्रीराम आदिके प्रति दिया हुआ यह सदुपदेश मैंने तुमसे कहा—इस ग्रन्थमें बताये हुए तत्त्वमार्गसे चलकर तुम निश्चय ही उस परम पदको प्राप्त कर लोगे ।

राजा अरिष्टनेमिने कहा—भगवन् ! आपकी यह दृष्टि संसार-बन्धनका विनाश करनेवाली है, जिसके पड़ते ही मैं संसार-सागरसे पार हो गया ।

देवदूत बोला—देवाङ्गने ! ऐसा कहकर आश्चर्यसे चकित नेत्रवाले राजा अरिष्टनेमि मुझसे स्नेहयुक्त मधुर वाणीमें बोले—

'देवदूत ! आपको नमस्कार है । प्रभो ! आपका भला हो । सत्पुरुषोंकी मैत्री सात पग साथ चलनेसे ही हो जाती है, ऐसा कहा गया है । उसे आपने सत्य कर दिखाया । अब आप देवराजके भवनको लौट जाइये । आपका कल्याण हो । मैं इस मोक्षशास्त्रकी कथाके श्रवणसे परम संतुष्ट एवं आनन्दमग्न हो गया हूँ । मैंने जो कुछ सुना है उसका चिन्तन करता हुआ अब यहीं रहूँगा । मेरी सारी चिन्ता दूर हो चुकी है ।'

भद्रे ! राजा अरिष्टनेमिके ऐसा कहनेपर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ । जिसे मैंने पहले कभी नहीं सुना था, वह ज्ञानका सारभूत तत्त्व मुझे सुननेको मिला है । उसीसे मेरा अन्तःकरण इस समय अत्यन्त आनन्दमग्न हो गया है । अमृत पीकर छके हुए पुरुषकी भाँति मैं पूर्णतः तृप्तिका अनुभव कर रहा हूँ । तदनन्तर वाल्मीकिजीसे विदा ले मैं यहाँ तुम्हारे निकट मानो तुम्हें उपदेश देनेके लिये ही चला आया था । निष्पाप देवाङ्गने ! तुमने जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया । अब मैं यहाँसे इन्द्रभवनको जाऊँगा ।

अप्सरा बोली—महाभाग देवदूत ! आपको नमस्कार है । आपने मुझे जो तत्त्वज्ञान सुनाया है, उससे मुझे बड़ा संतोष प्राप्त हुआ । मैं कृतार्थ हो गयी । मेरा सारा शोक जाता रहा । अब मैं सदा निश्चिन्त रहूँगी । आपका कल्याण हो । आप अपनी इच्छाके अनुसार देवराज इन्द्रके समीप जाइये ।

अग्निवेश्यने कहा—वत्स कारुण्य ! तदनन्तर वह सुरुचि नामवाली श्रेष्ठ अप्सरा गन्धमादनके समीपवर्ती हिमालयके शिखरपर बैठकर देवदूतके मुखसे सुने हुए उसी तत्त्वज्ञानका चिन्तन करने लगी । बेटा ! क्या तुमने वसिष्ठजीका उपदेशरूप यह महारामायण शास्त्र सुना ? (मोक्षका साधन कर्म है या कर्मत्याग, ऐसा जो तुम्हारा संदेह था, क्या वह दूर हो गया ?) उस समस्त उपदेशपर पूर्णतः विचार और निश्चय करके तुम जैसा चाहो, वैसा करो ।

कारुण्य बोला—भगवन् ! इस समय तत्त्वज्ञान होनेसे मेरी स्मृति, वाणी और दृष्टि-सत्ता सभी निर्विषय हो गये हैं । तात्पर्य यह कि अब मेरे लिये इस लोकमें न तो कुछ स्मरणीय रहा, न वर्णनीय रहा और न दर्शनीय ही रह गया । ठीक वैसे ही, जैसे स्वप्न और वन्ध्यापुत्रके विषयमें स्मृति, वाणी और दृष्टिके लिये कोई आधार नहीं रह जाता है । मेरे लिये सारी सांसारिक स्थिति वैसी ही हो गयी है, जैसी निर्जल मरुप्रदेशमें मरीचिकाकी । अर्थात् जैसे मृगतृष्णाका जल मिथ्या है, उसी तरह यह दृश्यप्रपञ्च भी मेरे लिये असत् हो गया है । अब मुझे न कर्म करनेसे कोई प्रयोजन है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन है; क्योंकि मैं कृतार्थ हो गया, तथापि लोक-संग्रहके लिये न्यायतः प्राप्त कर्म करता रहूँगा । हठात् कर्म छोड़ देनेके लिये भी क्या आग्रह है ।

अगस्ति बोले—सुतीक्ष्ण! ऐसा कहकर अग्निवेश्यका विद्वान् पुत्र कारुण्य, जो कृतकृत्य हो चुका था, वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त हुए कर्मका समय-समयपर यथोचित रीतिसे अनुष्ठान करने लगा। अतः सुतीक्ष्ण! मोक्षका साधन ज्ञान है या कर्म—ऐसा संशय नहीं करना चाहिये। संशय करनेसे जीव परम पुरुषार्थरूपी स्वार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। संशयात्माका विनाश हो जाता है।

अगस्तिमुनिका यह वचन अनेक अर्थोंमें एकताका बोध करानेवाला था। इसे सुनकर सुतीक्ष्णने गुरुदेवको प्रणाम किया और उनके निकट विनयपूर्वक कहा।

सुतीक्ष्ण बोले—भगवन्! आपकी कृपासे मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया। मुझे सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। जैसे दीपक रहनेपर उसके प्रकाशके सहारे नट, नर्तक आदि रङ्गमञ्चपर नृत्य-अभिनय आदि क्रियाएँ करते हैं, उसी तरह जिस साक्षी स्वयं-ज्योति नित्यप्रकाश परमात्माके निष्क्रियरूपसे स्थित होनेपर ही सब सचेष्ट मूर्तियाँ अपनी-अपनी चेष्टाओंमें प्रवृत्त होती है तथा जैसे सुवर्ण ही कंगन, बाजूबंद, केयूर और नूपुरोंके रूपमें स्फुरित होता है एवं जैसे जलमें तरङ्ग-मालाएँ प्रकट होती हैं, उसी तरह जिससे यह सम्पूर्ण दृश्य स्फुरित होता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। उस पूर्ण ब्रह्ममें ही यह पूर्ण ब्रह्मरूप जगत् स्थित है। ऐसा विचारकर मेरे समक्ष वर्ण और आश्रमके अनुसार जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उस व्यवहारका अनुसरण करता हूँ। संत-महात्माओंके वचनका कौन उल्लङ्घन कर सकता है। भगवन्! मैं आपके प्रसादसे ज्ञेय-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ हो गया हूँ। गुरुदेव! आपको नमस्कार है। मै आपके चरणोंमें भूमिपर दण्डवत् पड़ा हूँ। गुरुका कौन-सा प्रत्युपकार करके शिष्य उनके ऋणसे उऋण हो सकते हैं? इसलिये शिष्योंको चाहिये कि वे अपने आपको मन, वाणी और शरीरद्वारा गुरुकी सेवामें समर्पित कर दें। यही उनका गुरुके ऋणसे उद्धार है, दूसरे किसी कर्मसे वे उद्धार नहीं पा सकते। स्वामिन्! मै आपके कृपाप्रसादसे भवसागरसे पार हो गया हूँ और अपने पूर्ण परमानन्दसे सम्पूर्ण जगजालको मैंने पूरित कर दिया है। अब मै संशयरहित हो गया हूँ। 'यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, क्योंकि यह ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता, ब्रह्ममें ही लीन होता और ब्रह्मसे ही जीवन-धारण करता है'—इस प्रकार सामवेदमें श्रुतिके द्वारा जिसका सुस्पष्ट वर्णन किया गया है, उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है। जो ब्रह्मानन्दस्वरूप अथवा ज्ञानोपदेशद्वारा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति करानेवाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे रहित, आकाशसदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्योंके लक्ष्यार्थरूप, एक, नित्य, निर्मल, निश्चल, सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियोंके साक्षी, समस्त भावोंसे परे तथा तीनों गुणोसे रहित हैं, उन पर-ब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजीको हम नमस्कार करते हैं।

(सर्ग २१६)

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध सम्पूर्ण

संक्षिप्त योगवासिष्ठ सम्पूर्ण



क्षमा-प्रार्थना और नम्र निवेदन

योगवासिष्ठ महारामायण ग्रन्थका अद्वैत ब्रह्म-प्रतिपादक शास्त्रोंमें बड़े महत्त्वका स्थान है। इसमें बड़ी ही सुन्दर सुबोध युक्तियों, आख्यानों तथा इतिहास-कथाओंके द्वारा जगत्की असत्ता एवं एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मसत्ताका प्रतिपादन किया गया है। एक ही तत्त्वका प्रतिपादक होनेसे ग्रन्थमें पुनरुक्ति बहुत अधिक है। इस महान् ग्रन्थका सार 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करनेके लिये 'कल्याण' के बहुसंख्यक ग्राहकोंका बहुत पुराना आग्रह था। भगवान्की कृपासे वह आज पूरा हो रहा है। इसमें तत्त्व-निरूपण तो है ही, साथ-ही-साथ शास्त्रोक्त सदाचार, सत्पुरुष-सङ्ग, त्याग-वैराग्ययुक्त सत्कर्म, वस्तु-विवेक, सद्गुण, आदर्श व्यवहार आदिपर भी बड़ा जोर दिया गया है। 'कल्याण' के सम्मान्य पाठक-पाठिकाओंसे सविनय निवेदन है कि वे अपने जीवनको पवित्र तथा परमात्म-प्राप्तिके योग्य बनानेके लिये इन समस्त सदाचार-सद्गुणोंको विशेषरूपसे ग्रहण करें।

इस महान् ग्रन्थमेंसे सार निकालकर प्रसंग चुननेका सारा कार्य श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने किया है। सुन्दर अनुवादका कार्य करनेवालोंमें प्रधान हैं—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' महोदय और दूसरे हैं पं० श्रीरामाधारजी शुक्ल शास्त्री। इन्होंने बड़ी ही लगन तथा बुद्धिमानीसे कार्य किया है। यह विशेषाङ्क इन्हीं महानुभावोंके सत्-प्रयासका फल है। हमलोगोंका तो केवल नाममात्र है।

इसमें जो भूलें रही हैं, उनकी सारी जिम्मेवारी हमारी है और उसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। सारग्राही महानुभावोंको इसमें जो कुछ श्रेष्ठ, सुन्दर, भूलसे रहित दिखायी दे, कृपया उसीको ग्रहण करें।

कई प्रकारकी अड़चनें आ जानेके कारण सब प्रकरणोंके चित्र नहीं बन पाये, इसलिये विशेषाङ्कमें चित्र प्रसङ्गानुकूल नहीं लग सके हैं। चित्रोंपर प्रकरण तथा सर्ग छपे हैं, उसीसे देख लेनेकी कृपा करें। इन सब त्रुटियोंके लिये भी क्षमा-प्रार्थना है।

'कल्याण' के सभी ग्राहक-ग्राहिका, पाठक-पाठिका, प्रेमी-प्रचारक, 'कल्याण' से प्रीति तथा सहानुभूति रखनेवाले एवं खास करके 'कल्याण' में प्रकाशित साधन, सद्भाव, सदाचार, नियम आदिको सानन्द स्वयं ग्रहण करने तथा जनतामें उसकी उपादेयता बतलाकर उनका प्रसार करनेवाले सभी श्रेणियोंके महानुभाव एवं महिलाएँ हमारे लिये परम आदरणीय हैं। हम उनका हृदयसे अभिवादन करते हैं, और उन्हें 'कल्याण' परिवारके ही माननीय तथा अभिन्न-हृदय सदस्य मानकर उनसे प्रार्थना करते हैं कि 'कल्याण' के प्रति वे अपना अहैतुक प्रेम, अनुग्रह, सद्भाव सदा बढ़ाते रहें। हमारी स्वभाव-सुलभ तथा प्रमादजनित त्रुटियोंको बताते रहें और अपने निर्मल प्रेमसे ही उन्हें दूर भी करें। वे हमें अपनी सद्भावनासे बल देते रहें जिससे हमारे जीवनकी गति भगवान्की ओर लगी रहे और हमें उत्तरोत्तर आगे बढ़नेमें सहायता मिले।

हम अपने उन सभी पूज्यचरण पवित्रहृदय, कृपालु, संतो, महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों और लेखक तथा कवि महानुभावों तथा पवित्रहृदया माताओंके श्रीचरणोंमें भक्ति-श्रद्धासहित प्रणाम करते हुए, जानते तथा न जानते हुए बने तथा बननेवाले अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करते हुए उनसे शुभाशीर्वाद चाहते हैं। 'कल्याण' के प्रचार-प्रसारमें हम उन्हींको प्रधान कारण मानते हैं; क्योंकि उन्हींके सद्भावों तथा विचारपूर्ण लेखोंसे 'कल्याण' को सदा शक्ति मिलती रहती है।

इस अङ्कके सम्पादन, चित्रनिर्माण, प्रूफ-संशोधन आदि कार्योंमें जिन-जिनसे हमें सहायता मिली है, उन सभीके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इस विशेषाङ्कमें बहुत-से कृपालु लेखक महानुभावोंके लेख स्थानाभावसे नहीं जा सके हैं, उनसे हम सविनय क्षमा चाहते हैं।

प्रार्थी

हनुमानप्रसाद पोद्दार }
चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

जीवन्मुक्तका स्वरूप और आचार

रह न गया जिसमें किंचित् भी, कहीं, कभी ममताका लेश ।
प्राणि-पदार्थ-परिस्थिति देने लगे सभी समता-संदेश ॥
रहा न जिसमें किसी वस्तु-स्थितिका किंचित्-सा भी अभिमान ।
अहंकारके पूर्ण विलयसे हुआ जिसे पर-तत्त्व-ज्ञान ॥

रहता सदा जगत्में, करता काम सभी विधिके अनुसार ।
पर कुछ भी करता न कभी वह, रहता निर्मल निरहंकार ॥
अभिनय करता यथायोग्य वह सुन्दर नाम-रूप अनुहार ।
पर रहता निर्लेप नित्य वह राग-काम-विरहित अविकार ॥

द्वेष, क्रोध, शोक, भय, चिन्ता, ईर्ष्या, मत्सर, हर्षामर्ष ।
छू सकते न कभी उसको सब, हो अपकर्ष, भले उत्कर्ष ॥
सत्य अहिंसा अपरिग्रह अस्तेय अतुल सब विधि संतोष ।
करुण-हृदय संतत सेवा-रत, शुभ गुणमय जीवन निर्दोष ॥

पर-दुखमें दुखिया-सा होकर यथासाध्य सेवा करता ।
पर-सुखमें कर हर्ष प्रकट, अति अमित मोद मनमें भरता ॥
सुखकी नहीं स्पृहा करता, होता न कभी दुखमें उद्विग्न ।
द्वन्द्वरहित वह रहता निज निर्मल स्व-रूप चिन्मयमें मग्न ॥

कभी न होता किसी जीवका उससे किंचित् भी अपकार ।
सदा सभीके हितमें रहती उसकी बुद्धि-विभूति उदार ॥
पर होते आदर्श सभी उसके विशुद्ध सुन्दर व्यवहार ।
जीवन्मुक्त वही अति पावन परम ज्ञान-विग्रह साकार ॥

शम-दम, परहितरति ईश्वर-गुरु-सेवन उसके सहज सुभाव ।
पर-वैराग्य सहज शुचि रहता, नहीं भोगका किंचित् चाव ॥
नहीं त्यागमें भी होता वह आग्रहवश कदापि अनुरक्त ।
पूर्ण परात्पर सच्चिन्मय आनन्द रूप रहता अविभक्त ॥

करता सहज रूपसे सारे सदाचार संयुत शुभ कर्म ।
नहीं छोड़ता किसी प्रलोभन-भयसे वह अपना सद्धर्म ॥
पर रहता स्वरूपतः वह नित धर्माधर्म-रहित तत्त्वज्ञ ।
नहीं समझ पाते, उसकी अन्तःस्थितिको बाहरसे अज्ञ ॥